# भारतीय राजनीतिक प्रणाली

## (INDIAN POLITICAL SYSTEM)

[ राजस्थान विश्वविद्यालय के द्वितीय वर्ष कला के
विद्यार्थियो के लिए ]

[31 जुलाई 1975 तक के सविधान मे सशोधनो सहित]

लेखक

**पी० के० चड्ढा**

एम० ए०

प्रवक्ता, राजनीति शास्त्र

एम० एस० जे० कॉलेज, भरतपुर

1975

**आदर्श प्रकाशन**

चौडा रास्ता, जयपुर-3

प्रथम संस्करण

1975

मूल्य बाईस रुपये पचास पैसे

मुद्रक
हरिहर प्रिन्टर्स
तथा
देव फाइन आर्ट प्रेस
जयपुर

# प्रथम सस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम सस्करण को अध्यापका, विद्यार्थिया और सामान्य पाठका के समक्ष प्रस्तुत करते हुए लेखक अपार हर्ष का अनुभव कर रहा है। पुस्तक को राजस्थान विश्वविद्यालय के द्वितीय वर्ष के राजनीति शास्त्र के विद्यार्थिया के लिये नवीन पाठ्यक्रमानुसार रचा गया है। यद्यपि विषय क्षेत्र को पाठ्यक्रम तक सीमित रखा गया है परन्तु प्रत्येक अध्याय मे इतनी सामग्री अवश्य रख दी गयी है कि वह बी ए (आनर्स) और स्नातकोत्तर विद्यार्थिया के लिये भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। प्रतियोगिता परीक्षाओ मे बठन वाले विद्यार्थिया के लिय भी पुस्तक लाभकारी सिद्ध हो सकती है। आलोचनात्मक और तुलनात्मक प्रश्ना को, जिनका उत्तर देने म विद्यार्थी कठिनाइयो का अनुभव करते हैं, पुस्तक म सम्बन्धित अध्यायो म पृथक शीर्षको के अन्तगत दिया गया है। लेखक को आशा है कि पुस्तक अध्यापका, विद्यार्थिया और सामान्य पाठका की सभी आवश्यकताओ को पूरा करन म सफल होगी। फिर भी, पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिये यदि अध्यापक या विद्यार्थी या सामान्य पाठक अपने सुझाव देना चाहते ह तो लेखक उन सुझावा का हृदय से स्वागत करेगा। इन सुझावा को दूसरे सस्करण मे आभार सहित सकलित करने का प्रयास किया जायगा।

प्रत्येक अध्याय के अन्त म समीक्षा प्रश्ना की एक सूची दी गयी है। इस सूची मे दिये गये प्रश्न भिन्न भिन्न विश्वविद्यालया की वार्षिक परीक्षाओ, प्रतियोगिता परीक्षाओ के प्रश्नपत्रो म से लिये गये है। इनका अध्ययन एव अभ्यास कर विद्यार्थी विषय का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकते है।

लेखक उन सभी विचारको, लेखको, तथा टीकाकारा के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता है जिनके ग्रन्थो से उसने वाक्याशो को उद्धृत किया है।

लेखक श्री आनन्द मित्तल, सचालक, आदर्श प्रकाशन, चौडा रास्ता, जयपुर, श्री हरिकिशन हरिहर प्रिन्टस, श्री गुप्ता, प्रूफ रीडर तथा कम्पोजिटरा के प्रति अपना आभार प्रकट करता है जिन्होने पुस्तक को समय पर और बडे सुन्दर ढग से प्रकाशित एव मुद्रित कर लेखक को अनुगृहीत किया है।

"रक्षा बन्धन"
अगस्त 21, 1975

—प्रो० के० चड्ढा



# SYLLABUS

## UNIVERSITY OF RAJASTHAN

Second Year Arts, 1976 & Afterwards

### Paper II—Indian Political System

The syllabus would cover in the main the following items

1 Landmarks in Indian National Movement 1885–1947
2 The Constituent Assembly–its structure and approach
3 Outline of Indian Constitution–Federalism, The Indian Presidency, Office of Prime Minister, The Parliament office of Governor, Supreme Court and Judicial Review
4 The Nature and determinants of Indian Politics
5 The Party System and Pressure Groups
6 Elections
7 India's Foreign Policy

# विषय–सूची

## पुस्तक 1—भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में सीमा चिन्ह 1885–1947

## पुस्तक 2–संविधान सभा–संरचना एवं दृष्टिकोण

## पुस्तक 3—भारतीय संविधान की रूपरेखा

## पुस्तक 4—भारतीय राजनीति का स्वरूप और उसके निर्धारक तत्त्व



## पुस्तक 5—राजनीतिक दल प्रणाली और दबाव समूह

## पुस्तक 6 निर्वाचन



## पुस्तक 7—भारतीय विदेश नीति



---

# भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में सीमाचिन्ह
## 1885–1947

अध्याय 1

# भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं कांग्रेस की स्थापना

# (Indian National Movement and Establishment of Congress)

## भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय
## (Rise of National Movement in India)

### परिचय (Introduction)

राष्ट्रीय आन्दोलन कभी भी एक घटना का परिणाम नही होता यद्यपि कोई तत्कालिक घटना उसका प्रधान कारण बन सकती है। वास्तव मे, राष्ट्रीय आन्दोलन अनेक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ के एकत्रीभूत (Cumulative effect) का परिणाम होता है। प्रारम्भ मे इन घटनाओ का स्वरूप बहुत सरल होता है परन्तु धीरे-धीरे उग्र रूप धारण कर लेता है। प्रारम्भ मे तो कुछ घटनायें इतनी सूक्ष्म होती हैं कि उनका प्रभाव दृष्टिगोचर ही नहीं होता परन्तु वे अपने अन्दर धुएँ मे छुपी अग्नि की शक्ति रखती हैं और फिर एकदम विस्फोट होता है। सन् 1857 का विद्रोह कुछ इसी प्रकार का विस्फोट था। यह जहाँ भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम की प्रथम सीढी था वहाँ यह भारतीय असन्तोष की प्रथम अभिव्यक्ति भी था।

राष्ट्रीय आन्दोलन सर्वदा "असन्तोष" का परिणाम होता है जो साम्राज्यों की स्वाभाविक विशेषता है। यह असन्तोष धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रो मे उत्पन्न होता है जो साम्राज्य विरोधी और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावनाओ को जन्म देता है। भारत म उन्नीसवी शताब्दी मे राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय और भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना के कारणो को इसी 'असन्तोष' मे ढूँढा जा सकता है। वास्तव मे, पूव के पचास वर्ष की घटनाओ मे ही इस असन्तोष के अकुर स्फूत होते नजर आते हैं। इस असन्तोष ने ही स्वतन्त्रता के नारे को बुलन्द किया, उसे निखारा तथा उसे स्वरूप प्रदान किया। इन्द्र विद्यावाचस्पति ने ठीक लिखा है कि "जब लम्बी दासता से जजर हुई भारत की भूमि को सशस्त्र क्रान्ति

के विशाल हल ने खोद कर तयार कर दिया और जब सुधारकों के दल ने उसमे मानसिक स्वाधीनता के बीज बो दिये, तब यह सम्भव हो गया कि उसमे राजनीतिक स्वाधीनता के अकुर उत्पन्न हो।"

राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य सवदा विदेशी शासन या कुशासन से मुक्ति प्राप्त करना होता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु किन्ही साधनो का उपयोग—*सवधानिक तथा असवधानिक—उचित समझा जाता है। भारत मे जहाँ काग्रेस* प्रारम्भ म सवधानिक साधनो का प्रयोग करती रही वहाँ गाधी काल मे उसने उग्र (असहयोग, हडताल धरना, बहिष्कार, सविनय अवज्ञा, उपवास आदि) साधनो का प्रयोग किया। भारत मे कुछ ऐसे भी क्रान्तिकारी, आतकवादी राष्ट्रीय नेता थे जो 'हत्या', 'बम की नाति' और 'विस्फोट' म विश्वास करते थे। भारत मे राष्ट्रीय आन्दोलन इन सबके सामूहिक प्रयत्नो का फल था।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्बन्ध म एक बात को समझ लेना अध्ययन की दृष्टि से लाभदायक होगा। वह यह है कि इसके साथ भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का उदय तथा विकास अभेद्य रूप से जुडा (Indissolubly associated) हुआ है। *यद्यपि उसे पूर्णतया पृथक करना कठिन है परन्तु राष्ट्रीय काग्रेस के उदय और* विकास को भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय और विकास समझ लेना भी गलत होगा। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन म अनेक एसे तत्व विद्यमान थे जिनका भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के साथ कोई सम्बन्ध नही। उदाहरणतया काग्रेस का साम्प्रदायिक राजनीति, आतकवाद और क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओ से कोई सम्बन्ध नही था परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन का इन सबसे गहरा सम्बन्ध है। एक दृष्टि से काग्रेस का राष्ट्रीय आन्दोलन से गहरा सम्बन्ध रहा है और वह है राष्ट्रीय भावनाओ के विकास तथा जन जागृति के सम्बन्ध मे।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन म अनेक शक्तियो का सश्लेषण रहा है। जहाँ धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनो ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि तयार की थी वहा अग्रेजो की क्रूर, निदय, अराष्ट्रीय और जातीय भेदभाव की नीतियो ने उसकी अच्छी खासी फसल तैयार कर दी थी। अग्रेजो की साम्राज्यवादी नीतियो ने ही भारत मे आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक असन्तोष को जन्म *दिया जिन्होने अन्तत राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की भावनाओ को जन्म दिया।* राष्ट्रीय एकीकरण की विदेशी घटनाओ ने भी इन भावनाओ को प्रज्वलित किया।

## भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के कारण

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय मे जिन कारणो ने महत्त्वपूर्ण योगदान *दिया उनम मुख्य निम्न थे —*

**1 राजनीतिक एकता**—भारत मे सास्कृतिक और भौगोलिक एकता सवदा *विद्यमान रही है परन्तु राजनीतिक एकता सवदा विद्यमान नहीं रही।* अशोक और अकबर जैसे महान सम्राटो द्वारा स्थापित राजनीतिक एकता भी अल्पजीवी रही।

मुगल साम्राज्य के पतन के साथ भारत फिर से छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखरता हुआ नजर आया परन्तु अंग्रेजों के आगमन से राजनीतिक एकता स्थापित हो गई। "भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने का श्रेय अंग्रेजों को ही प्राप्त है।"

भारत में भिन्न भिन्न जातियाँ हैं, भिन्न भिन्न भाषायें हैं, भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायी हैं, भिन्न भिन्न रीति रिवाज और परम्परायें है, परन्तु फिर भी "मौलिक एकता" है। जैसा कि जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि "सम्पूर्ण प्रायद्वीप के निवासियों की मानसिक पृष्ठभूमि, दृष्टिकोण और विचारधारा में आश्चर्यजनक समानता रही है।"[1] भारत के प्रमुख तीर्थ स्थान चारों दिशाओं में विद्यमान हैं। उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम्, पश्चिम में द्वारिका और पूर्व में पुरी। भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायियों में भी यहाँ सौहार्द विद्यमान रहा है क्योंकि भारत ही उनकी पुण्यभूमि थी। डा० पट्टाभि सीतारमय्या के शब्दों में "जिस चीज को हम भारत में पाते हैं वह यह है कि भिन्न भिन्न लोगों की भिन्न संस्कृतियाँ, समय की गति से, एक महान एकता में गुँथ गई हैं। • हिमालय से केप कोमोरिन तक और द्वारिका से सिलहट तक एक ही संस्कृति थी, एक ही धर्म था, एक ही दर्शन था, एक ही प्रकार की धार्मिक पुस्तकें और वर्णाश्रम धर्म थे, एक ही प्रकार के तरीके और रीति रिवाज थे, सामान्य नागरिक संस्थायें और सामाजिक कानून थे और सामान्य ऐतिहासिक परम्परा थी।"

अंग्रेजी शासन प्रतिगामी शासन था। उन्होंने साम्राज्यीय हितों की रक्षा और भारत के आर्थिक शोषण के लिए राजनीतिक एकता उत्पन्न की थी। सारे देश को एक प्रशासनिक इकाई के अधीन ला दिया। केन्द्रीय ब्रिटिश सरकार सारे भारत के प्रशासन की सर्वोच्च कमाण्डर थी, प्रान्तीय सरकारें तो उसके अभिकरण मात्र थे। वित्त, प्रशासन, विधान, सुरक्षा आदि के क्षेत्र में उसका पूरा नियन्त्रण था। सारे देश के लिए एक कानून, एक ही न्याय व्यवस्था को स्थापित किया गया। अखिल भारतीय सेवाओं ने प्रशासनिक एकता को उत्पन्न किया। संक्षेप में, सारे देश की सर्वोच्च सत्ता केन्द्रीय सरकार के पास थी।

परन्तु इस राजनीतिक तथा प्रशासनिक एकता के परिणाम सर्वदा साम्राज्यीय हितों के अनुकूल नहीं हुए। इसने राष्ट्रीय जागृति को जन्म दिया। जैसा कि जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि भारत की राजनीतिक एकता "सामान्य अधीनता की एकता थी, परन्तु उसने सामान्य राष्ट्रीयता की एकता को जन्म दिया।"[2] इसी एकता ने अखण्ड और स्वतन्त्र भारत के विचार को उत्पन्न किया, इसी ने शोषित भारतीयों के हृदयों में ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त करने के विचार पैदा किये, इसी ने भारतीय

1 Nehru Jawahar Lal Unity of India, P 16
2 Nehru, J L Autobiography, P 437

प्रान्तीय नेताओ मे राष्ट्रीय राजनीतिक सगठन को स्थापित करने की भावनाएं पैदा की और इसी ने उन स्वतन्त्र एव उदार भावनाओ को जन्म दिया जिन्होंने स्वराज्य की माग की। इस राजनीतिक जागति से अग्रेज इतने भयभीत हो गये कि उन्होंने देशवासिया के विरुद्ध देशवासियो के सन्तुलन" (Divide and rule) के सिद्धान्त को अपनाया।

2 **धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन**—अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी के धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलनो ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार करने मे बहुत अधिक सहयोग दिया। ये आन्दोलन धार्मिक और सामाजिक होते हुए भी राष्ट्रीय थे। जी० एन० सिंह के शब्दो म, "इन्होंने भारतवासियो को अपने महान उत्तराधिकार के प्रति सचेत किया और उनम राष्ट्रीय भावना जाग्रत की। धर्म ने राष्ट्रीयता को प्रेरित किया।"[1] इनका मुख्य उद्देश्य पतित हिन्दू समाज की कुरीतियो म सुधार लाना था। परन्तु जैसे जैसे इन्होंने समाज मे स्वस्थ जीवन पर बल दिया वैसे वैसे राष्ट्रीय स्वतन्त्र विचारो का विकास हुआ। 'नव जीवन', 'राष्ट्रीय चेतना', 'देश प्रेम' 'देश भक्ति', 'स्वदेशी', 'स्वराज्य', 'स्वशासन' आदि की भावनाएं इन्ही धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलनो से प्रज्वलित हुई। जो भारतीय ईसाई मिशनरीज (Christian Missionaries) के प्रचारात्मक कार्यो के फलस्वरूप अपनी प्राचीन सस्कृति और सभ्यता को भूल चुके थे, इन्ही आन्दोलनो के फलस्वरूप वे पुन उसी मे विश्वास और गर्व करने लगे, भारतीयो मे आत्म विश्वास और स्वतन्त्रता की भावनाएं जाग्रत हुई और उन्होंने जीवन का आधुनिक ढग पर सगठित करने का प्रयास किया। इन्ही आन्दोलनो के कारण भारतीया म तर्क, विज्ञान और विवेक का विकास हुआ तथा वे मानसिक और आध्यात्मिक जजीरो को तोडने म सफल हुए। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन इन आन्दोलना का ऋणी रहेगा।

जिन धार्मिक और सामाजिक आन्दोलना ने उन्नीसवी शताब्दी मे भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण तथा राजनीतिक जागृति मे सहयोग दिया उनम मुख्य निम्न हैं —

(i) ब्रह्म समाज
(ii) आर्य समाज
(iii) राम कृष्ण मिशन
(iv) थियोसोफीकल सोसायटी

(i) **ब्रह्म समाज**—ब्रह्म समाज की स्थापना राजा राममोहन राय ने अगस्त 20, 1828 को बगाल म की। इसका मूल उद्देश्य हिन्दू धर्म को उसकी बुराइयो

---

1 Singh, G N Landmarks in Indian Constitutional and National Movement (Atma Ram & Sons) 4th edn P 110

से छुटकारा दिलाना तथा ईसाई मिशनरीज द्वारा हिन्दू धर्म के विरुद्ध झूठे प्रचार का खण्डन करना था। ब्रह्म समाज ने सती, छुआछूत, कठोर जाति प्रथा, बाल विवाह, लड़कियों की हत्या, बाधित विधवापन आदि की जो कुरीतियाँ हिन्दू समाज मे विद्यमान थी उन्हे दूर करने मे भरसक प्रयास किया। इसने निराकार, शाश्वत ईश्वर पर बल दिया, अन्धविश्वासो, बहुदेववाद और मूर्ति पूजा का खण्डन किया। इसने हिन्दू धर्म की मौलिक पवित्रता एव श्रेष्ठता पर बल दिया। सक्षेप मे, जो हिन्दू धर्म बुरी तरह से उखड चुका था तथा जिसका दीप बुझता हुआ नजर आ रहा था उसे ब्रह्म समाज तथा अन्य सुधार आन्दोलनो ने बचा लिया।

राजा राममोहन राय का "दर्शन बडा विस्तृत और दृष्टि बिन्दु व्यापक था।"[1] उन्होने धार्मिक सहिष्णुता और स्त्री उद्धार पर अत्यधिक बल दिया। वे "भारतीय राष्ट्रीयता के देवदूत" (The Prophet of Indian Nationalism) और नये युग के "अग्रदूत" भी थे। जिस "अग्नि को उन्होंने प्रज्वलित किया वह तब से भारत मे जलती रही है।" डा आर सी मजुमदार लिखते हैं "राजा राममोहन राय पहले भारतीय थे जिन्होने अपने देशवासियो की कठिनाइयो तथा शिकायतो को ब्रिटिश सरकार के सम्मुख रखा और भारतीयो को सगठित होकर राजनीतिक आन्दोलन चलाने का मार्ग दिखलाया। उन्हे आधुनिक सवधानिक आन्दोलन का अग्रदूत होने का श्रेय भी दिया जा सकता है।"[2] राजा राममोहन राय के सम्बन्ध मे श्रीमती एनी बेसेन्ट लिखती हैं कि उनमे "एक अद्भुत शक्ति, लगन और दृढता थी। उन्होने साहस पूर्वक कट्टरपन्थी सीमा को तोडने का प्रयत्न किया और स्वतन्त्रता का बीज बोया जिसने पुष्पित, पल्लवित और फलवान होकर राष्ट्र के जन जीवन को नई चेतना से अनुप्राणित किया।"[3]

(ii) आर्य समाज—जो कार्य बगाल मे ब्रह्म समाज तथा राजा राममोहन राय ने किया वही कार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उत्तरी-पश्चिमी भारत मे किया। स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना बम्बई मे सन् 1875 मे की। आर्य समाज ने न केवल हिन्दू धर्म की इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रहारो से रक्षा की बल्कि इस्लामिक और ईसाइयत संस्कृति और सभ्यता के जादू को भी तोडा। आर्य समाज ने वेदो की संस्कृति और सभ्यता पर बल दिया। वेदो का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना सब आर्यो का परम धर्म बन गया। स्वामी दयानन्द ने हिन्दू धर्म

1 Sitaramayya, Dr Pattabhi History of the Nationalist Movement in India
2 Majumdar, R C. History of Freedom Movement in Vol I
3 Besant Anne Quoted by Dr Raghuvanshi in his Indian Nationalist Movement and Thought

को उसके मिथ्या विश्वासो से छुटकारा दिलाया उन्होने अस्पृश्यता, जाति प्रथा, बाधित विधवापन, बाल विवाह आदि की भर्त्सना ही नही की बल्कि उन्हें दूर करने का भरसक प्रयास किया। सक्षेप म, आर्य समाज ने हिन्दू जाति मे एक नवीन जीवन का सचार किया।

स्वामी दयानन्द केवल धर्म या समाज सुधारक ही नही थे वे एक महान् देश भक्त भी थे। देश प्रेम, देश भक्ति, स्वतन्त्रता, स्वदेशी, स्वशासन आदि के बारे में उन्होंने अपनी रचना सत्यार्थ प्रकाश में प्रचुर मात्रा मे निडरता पूर्वक लिखा है। स्वामीजी को राजनीतिक समस्याओ का भी गहन अध्ययन था, उन्होने अनेक सूत्रो का पहली बार प्रयोग किया जिनका आने वाले राष्ट्रीय नेताओ ने प्रयोग किया। उदाहरणतया "भारत भारतीयो के लिए है" (India for Indians), वदिक सभ्यता को अपनाओ" (back to Vedas) अपने देश, उसकी सस्कृति और परम्पराओ से प्रेम करे", आदि सूत्र उन्ही के द्वारा प्रचलित किये गये। 'स्वराज्य' (Swaraj), 'स्वदेशी' (Swadeshi) शब्दो का प्रयोग भी पहली बार उन्होने किया। स्वामी जी का कहना था कि 'सुशासन' (good government) कभी भी 'स्वशासन (self government) से अच्छा नही होता। ये ही तत्त्व है जो स्वामीजी को राष्ट्रवादी बनाते हैं और इन्ही तत्वो ने भारतीयो मे राष्ट्रीय भावनाओ का विकास किया। कर्नल अल्कॉट (Col Olcott) लिखते है कि स्वामी दयानन्द ने 'अपने अनुयायियो पर अपूर्व राष्ट्रीयता की छाप छोडी और भारत को भारतीयो का घोषित कर दिया।" एच बी शारदा के अनुसार "राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति स्वामी दयानन्द का एक मुख्य उद्देश्य था। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होने 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया और अपने देश वासियो को विदेशी माल के स्थान पर स्वदेशी माल के प्रयोग की प्रेरणा दी। उन्होंने सबसे पहले हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा स्वीकार किया।' रोमेन रोलैण्ड ने स्वामीजी की तुलना हरकुलीस से की है। उनके शब्दो मे "वे (स्वामी दयानन्द) इलियड के अथवा गीता के एक प्रमुख नायक के समान थे। उनमे हरकुलीस की सी शक्ति थी।"

उत्तरी भारत मे राष्ट्रीय जागृति म आर्य समाज का इतना अधिक हाथ था कि साम्राज्यवादी सरकार की आँखो मे वह अनेक वर्षो तक खटकता रहा। सर वलेण्टाइल शिरोल तो उसे भारत मे ब्रिटिश प्रभुता के लिए बहुत बडा खतरा समझता था।[1]

(iii) रामकृष्ण मिशन—रामकृष्ण परमहस और उनके शिष्य नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) ने भारतीयो को अपने देश और उसकी सस्कृति पर गर्व करना

1 Chirol V Quoted by Hans Kohn in his History of Nationalism in the East, p 68

सिखाया। स्वामी विवेकानन्द ने तो भारतीयों को आशा, आत्मविश्वास, आत्म शक्ति, स्वाभिमान और कार्य का सन्देश दिया। सन् 1893 के शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता की व्याख्या की तथा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारत मानव जगत का आध्यात्मिक गुरु है। भारतीयों को भी उन्होंने यही शिक्षा दी कि जब तक वे विश्व का अपनी आध्यात्मिकता से जीत नहीं लेते तब तक उन्हें अथक प्रयास करना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द के लिए भारत तथा उसकी संस्कृति सब कुछ थी। उनकी पूजा की देवी उनकी मातृभूमि थी। बहिन निवेदिता लिखती है "स्वामी विवकानन्द भारत का नाम लेकर जीते थे। वे मातृभूमि के अनन्य भक्त थे और उन्होंने भारतीय युवकों को उसकी पूजा करना सिखाया।"[1] स्वामीजी को ठीक ही "देशभक्त सन्त" (Patriot Saint) की संज्ञा दी गई है।

स्वामी विवेकनान्द के लिए हिन्दू धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। यह कर्म परायण है। स्वामी विवेकानन्द ने जाति पाति, छूआ छूत की भर्त्सना की तथा दलित जातियों में एक नवीन उत्साह का संचार किया।

**(iv) थियोसोफीकल सोसाइटी**—जो कार्य ब्रह्म समाज ने बंगाल में, आर्य समाज ने उत्तरी और पश्चिमी भाग में, रामकृष्ण मिशन ने बंगाल और शिकागो में किया लगभग वही कार्य थियोसोफीकल सोसाइटी ने भारत के दक्षिणी भाग के लिए किया।

थियोसोफीकल सोसाइटी की स्थापना 1875 में न्यूयार्क में की गई थी। भारत में इसकी शाखा सन् 1882 में मैडम ब्लवटस्की (Madame Blavatski) और कर्नल हेनरी स्टील अल्कॉट (Col Henry Steel Olcott) द्वारा मद्रास में अदियार (Adyar) के स्थान पर की गई। सन् 1893 में श्रीमती एनी बेसेन्ट इसके सदस्य के रूप में भारत आई और बाद में उसके अध्यक्ष पद पर आसीन हुई।

श्रीमती एनी बेसेन्ट हिन्दू धर्म से अत्यधिक प्रभावित थी। उन्होंने इस धर्म को अपना लिया। थियोसोफीकल सोसाइटी ने धार्मिक सहिष्णुता के साथ साथ प्राचीन भारतीय आदर्शों और परम्पराओं का प्रचार भी किया। इस सोसाइटी ने हिन्दू धर्म की "कुरीतियों" (कुरीतियों) से छुटकारा दिला कर उसके 'शानदार भूत' को स्थापित करने का प्रयास किया। एनी बेसेन्ट का तो कहना था कि हिन्दू धर्म और उसकी संस्कृति सर्वोच्च ज्ञान का भण्डार है उसके देवी देवता, उसका दर्शन, उसकी नैतिकता, पश्चिम की संस्कृति और नैतिकता से कहीं अधिक उच्च स्तर पर है। श्रीमती बसेन्ट के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य थे सेन्ट्रल हिन्दू कालिज, जो बनारस हिन्दू

1 Sister Nivedita Quoted by Sarkar and Dutt The Text of Modern Indian History, p 315

विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध हुआ, की स्थापना तथा होम रूल आन्दोलन (Home Rule Movement) का संचालन ।

(v) अन्य सुधार आन्दोलन—उपर्युक्त धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों के अतिरिक्त अनेक अन्य ऐसी संस्थायें भी विद्यमान थी जो सामाजिक सुधारों का प्रचार कर रही थीं तथा राष्ट्रीयता का निर्माण कर रही थी । उदाहरणतया श्री महादेव गोविन्द रानाडे द्वारा सन् 1861 में स्थापित "विधवा पुनर्विवाह समुदाय" (Widow Remarriage Association), दक्षिण शिक्षा सम्बन्धी सोसाइटी (Deccan Education Society) इत्यादि । मुसलमानों में भी अनेक सामाजिक सुधारक हुए जैसे मिर्जा गुलाम महमद, सयद अहमद बरेलवी तथा सर सैयद अहमद खां । सर सयद अहमद खां ने तो मुसलमानों के उत्थान के लिए अलीगढ में सन् 1875 में एम ए ओ कालिज की स्थापना की जो बाद में अलीगढ विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

संक्षेप में, धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों ने भारतीय संस्कृति को उसके पतन से बचाया भारतीयों को उनकी मानसिक और आध्यात्मिक दुर्बलताओं से छुटकारा दिलाया सामाजिक कुरीतियों को दूर किया, अन्ध विश्वासों का खण्डन किया, तर्क और छानबीन की भावना को उत्पन्न किया, विवेक और विज्ञान को जन्म दिया तथा स्वराज्य स्वदेशी और स्वशासन की राष्ट्रीय भावनाओं को प्रज्वलित किया ।

3 पश्चिमी शिक्षा—जहाँ धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने भारत में राष्ट्रीय जागृति के लिए भूमिका तैयार की तथा जन साधारण में अपनी संस्कृति और सभ्यता की उच्च विरासत में विश्वास पैदा किया तथा सामान्य समस्याओं (विशेष कर सामाजिक कुरीतियों) की ओर ध्यान आकर्षित किया वहाँ पश्चिमी (अंग्रेजी)[1] शिक्षा ने भारतीयों में स्वतन्त्रता राष्ट्रीयता और स्वशासन आदि के जीवन प्रेरक विचार भरे । इस शिक्षा ने ही भारतीयों को इस ज्ञान का बोध कराया कि "राजा प्रजा के लिए होता है, प्रजा राजा के लिए नहीं ।'[2] इस शिक्षा ने ही उन्हें सामान्य राष्ट्रीय भाषा (Lingua Franca) का मूल्यवान उपहार दिया, इस शिक्षा ने ही उन्हें ऐसा माध्यम एवं मंच प्रदान किया जिसके द्वारा देश में भिन्न भिन्न स्थानों में बिखरे हुए राष्ट्रीय तत्त्व एकत्रित हो सकते थे, राष्ट्रीय नेता एक दूसरे के निकट आ सकते थे, विचार विमर्श कर सकते थे सभाओं तथा सम्मेलनों का आयोजन कर सकते थे तथा सामान्य कार्यक्रम (सांझा मोर्चा) तैयार कर सकते थे । यह सामान्य अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का ही फल था कि भारतीय इतिहास में पहली बार भारत के

---

1 This was introduced in India under the Act of 1833 by the Law Member Lord Macaulay

Dada Bhai Naoroji

भिन्न भिन्न प्रान्तो से आये हुए लोग बम्बई मे गोकलदास सस्कृत कालिज मे 28 दिसम्बर, 1885 को एकत्रित हुए । वास्तव मे भारतीय एकता का सूत्र यही से प्रारम्भ होता है । सक्षेप में जो राष्ट्रीय शक्तिया प्रान्तो मे बटी हुई थी वे अब सगठित होनी शुरू हो गई और दिन प्रतिदिन प्रबल होती गई । श्री के एम पानिक्कार ने ठीक लिखा है कि "सारे देश की शिक्षा पद्धति और शिक्षा का माध्यम एक होने से भारतीयो की मनोदशा पर ऐसा प्रभाव पडा कि उनके विचारो तथा अनुभूतियो मे एक-रसता होना कठिन न रहा । परिणाम स्वरूप भारतीय राष्ट्रीयता की भावना दिन प्रतिदिन प्रबल होती गई ।"

भारत मे अ ग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ अग्रेजी उदारता या भारतीय उत्थान की भावना का परिणाम नही था । यह तो अ ग्रेजो द्वारा अपने प्रशासनिक एव साम्राज्यीय हितो को सुरक्षित रखने के लिए शुरू की गई थी ।[1] उनका विश्वास था कि अ ग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के बाद भारतीयो का 'अ ग्रेजीकरण' करना सरल हो जायगा और वे (भारतीय) "ब्रिटिश शासन को सहर्ष स्वीकार लेंगे ।"[2] कुछ सीमा तक यह हुआ भी । अ ग्रेजी शिक्षा के कारण भारतीय पश्चिमी सभ्यता, रूढियो, पहरावो और आदतो म रग गये और अपनी प्राचीन और श्रेष्ठ सस्कृति और सभ्यता को भूलने लगे । परन्तु इतना होने पर भी अ ग्रेजी शिक्षा भारतीयो के लिए 'ईश्वरीय वरदान' (a blessing in disguise) भी सिद्ध हुई । इसने भारतीयो के लिए उस ज्ञान भण्डार की खिडकी को खोल दिया जो पश्चिम के स्वतन्त्र, उदार और राष्ट्रीय भावनाओ से भरी पडी थी । इन भावनाओ का प्रभाव भी भारतीयो पर पडना स्वाभाविक था और कुछ समय बाद भारतीयो ने उन्ही स्वतन्त्र राजनीतिक और सामाजिक सस्थाओ की माग करना शुरू कर दिया जिनका अनुभव उन्होंने पश्चिम मे रहकर किया था ।

शिक्षित भारतीय विदेशो मे गये । वहाँ उन्होंने पश्चिम के साहित्य का अध्ययन किया, उनमे नवीन स्फूर्ति और प्रेरणा जागृत हुई । सर आशुतोष मुखर्जी का कहना है कि अग्रेजी भाषा 'स्वतन्त्रता की भाषा है" (English language is the language of freedom) और इसके अध्ययन ने भारतीय मस्तिष्क पर

---

1 अ ग्रेजी शिक्षा प्रणाली को भारत मे शुरू करने के बहुमुखी उद्देश्य थे (i) पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता एव सस्कृति का विकास करना (ii) भारतीय सस्कृति और सभ्यता का विनाश करना, (iii) एक ऐसे वर्ग को उत्पन्न करना जो रक्त और रग मे तो भारतीय हो परन्तु रुचि (स्वादो) विचारो, शब्दो और बुद्धि मे अ ग्रेज हो, (iv) ब्रिटिश भारतीय प्रशासन के लिए सस्ते भारतीय क्लर्कों को उपलब्ध कराना, आदि ।

2 एलफिस्टन, मोस्टुअर्ट कृपाराम बम्वाल की पुस्तक भारतीय राजनीति और शासन से उद्धृत आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, (1967), पृ 28

"नागरिक स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता की छाप डाल दी"।[1] बायरन, वड्सवथ, शली, बक, शरीडन, जान ब्राईट, मिल्टन, मिल, हरबट स्पन्सर, थामस पन, आदि के मानवीय, स्वतन्त्र उदार विचारो ने उन्ह अत्यधिक प्रभावित किया। डा० ईश्वरी प्रसाद के शब्दो मे 'पश्चिम के राजनीति शास्त्र विशेषज्ञ लाक, स्पेन्सर और मैकॉले, जेम्स मिल और बक के लेखो ने न केवल भारतीयो के राजनीतिक विचारो का ही प्रभावित किया, अपितु राष्ट्रीय आन्दोलन की रूप रेखा और सचालन पर भी गहरा प्रभाव डाला"।[2] रमजे मैकडानल्ड का विश्वास है कि "हरबट स्पन्सर का व्यक्तिवाद तथा मार्ले का उदारवाद वह शास्त्र है जिन्ह भारत न हमस छीन कर हमारे ही विरुद्ध प्रयुक्त करना शुरू कर दिया।"। जी० एन० सिह के शब्दो म "इग्लण्ड मे रहने से उन्ह स्वतन्त्र राजनीतिक सस्थाओ की काय पद्धति का गहरा ज्ञान प्राप्त हुआ और इसन उन्ह स्वतन्त्रता के मूल्य का पाठ पढाया और उनके मस्तिष्क से दीनतापूण एव दास्य मनोवत्ति को दूर कर दिया"।[3]

मैजिनी और गरीवाल्डी के राष्ट्रीय एकता के विचारो ने भारतीया म मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय एकता का सचार किया। अमरीका की स्वतन्त्रता की घोषणा, फ्रास की राज्य क्राति, इटली का एकीकरण और यूनान का स्वतन्त्रता सग्राम उनके लिए पथ-प्रदशक बन गय।

लाड मैकॉले न अग्रेजी शिक्षा क परिणामा का पूर्वानुमान कर लिया था यद्यपि उसका उद्देश्य यह न था। मैकाले ने कहा था कि "यूरोपीय शिक्षा प्राप्त करन के बाद एक दिन वे (भारतीय) यूरोपीय सस्थाओ के लिए माग करेंगे और अग्रेज इतिहास के लिए वह अधिकतम गव का दिन होगा।"[4] डा० जकारिया न ठीक लिखा ह कि "अग्रेजो ने 100 वष (अब उस बात को लगभग 150 वष हो गये हैं) पूव शिक्षा का जो काय आरम्भ किया था उससे अधिक हितकर और कोई काय उन्होंने भारतवष म नही किया।"[5]

शिक्षित भारतीय वग के नेता राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रणी नता होन के साथ साथ उसके "राजनीतिक और बौद्धिक" नेता भी थे। ये नवजागरण के अगुआ

1 डा० दत्त तथा सरकार उद्धृत हान्स कोहन, A History of Nationalism in the East, P 72

2 Prasad D I History of Modern India

3 Singh G N Ibid, P 109

4 Speech of Lord Macaulay July 10 1833 Quoted by Keith in his Speeches and Documents on Indian Policy Vol I P 265

5 Dr Zakaria Renascent India

थे। इनमे मुख्य थे डब्लू० सी० बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दादा भाई नौरोजी, गोखले आदि। ससदीय अर्थात् उत्तरदायी सस्थाओ की माग इन्ही नेताओ द्वारा की गई। "भारतवर्ष की शिक्षित जनता के लिए अब यह स्वीकार करना बहुत कठिन था कि विदेशी सत्ता उसके (भारत के) हित मे है।"[1] इनका कहना था कि "यदि अन्य ब्रिटिश उपनिवेशो मे ब्रिटिश ससदीय सस्थाओ को प्रतिरोपित (transplant) किया जा सकता है तो भारत मे भी धीरे-धीरे इनका विकास किया जा सकता है।"[2] जैसे-जैसे शिक्षित मध्यम वर्ग की सख्या मे वृद्धि हुई तथा उनमे असन्तोष बढने लगा वैसे वैसे ससदीय सस्थाओ और स्वशासन की माग दृढ होती गई। रोनॉल्ड शॉ ने ठीक लिखा है कि "पश्चिमी अध्ययन की नई मदिरा ने भारतीयो के मस्तिष्क मे गहराई से प्रवेश किया और भारतीयो ने भी उसका गम्भीरतापूर्वक स्वतन्त्रता एव राष्ट्रीयता के रास्ते से पान किया, जिसके फलस्वरूप उनका दृष्टिकोण क्रान्तिकारी बन गया।"

(4) आर्थिक असन्तोष—जैसा कि गैरट ने लिखा है कि "राष्ट्रीयता मे शिक्षित वर्ग का अनुराग हमेशा ही कुछ हद तक आर्थिक और कुछ हद तक धार्मिक कारण से हुआ है"।[3] भारत मे भी लगभग यही हुआ। इस समय भारत मे सर्वत्र असन्तोष और विद्रोह की भावनाएँ विद्यमान थी। व्यापारी, श्रमिक, हस्तशिल्पी सभी ब्रिटिश सरकार की अराष्ट्रीय आर्थिक नीतियो के कारण असन्तुष्ट थे, भारतीयो का उच्च पदो से बहिष्कृत करने की नीति से शिक्षित वर्ग असन्तुष्ट था, दुर्भिक्ष के समय अपनाई गई उदासीन और दोषपूर्ण नीतियो से जन मानस असन्तुष्ट थे। इस असन्तोष ने ही राष्ट्रीय भावनाओ को जागत कर उन्हे प्रबल बनाया।

ब्रिटिश सरकार ने भारत को इग्लैंड के लिए कच्चे माल की खरीद और बने हुए माल की मण्डी बना रखा था। बडे व्यवस्थित ढग से भारतीय उद्योग धन्धो और व्यापार को नष्ट किया गया था। पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दो मे "लकाशायर से आने वाले कपडे का मूल्य जो 1803 मे तीन लाख था, 1829 मे उनतीस लाख और 1929 मे बहत्तर करोड तक पहुच गया"।[4] विदेशी मशीन से बने माल के साथ प्रतिद्वन्द्विता न कर सकने के कारण भी "दस्तकारियो का आमूल विनाश आकस्मिक ढग से हो गया था"।[5] वस्त्र उद्योग की दुर्दशा को डा० पट्टाभि सीतारामय्या ने इस प्रकार व्यक्त किया है "बीस लाख जुलाहे जीविका से वचित हो गये तीन करोड सूत कातने वाले रोजी खो बठे बढई, लोहार, चमार कुम्हार भी अपनी जीविका खो बैठे"।"[6]

---

1 See Lovett Sir Verney A History of Indian National Movement
2 See Coupland India A Restatement P 88
3 'The interest of the educated class in nationalism has always been partly economic and partly religious' Garrat An Indian Commentary P 119 Quoted by Singh G N Ibid P 110
4 & 6 See Sitaramayya Dr Pattabhi The Nationalist Movement in India p p 5 6
5 See Gadgil D R The Industrial evolution of India in times, P 6

ब्रिटिश सरकार ने भारतीय उद्योग धन्धों को संरक्षण देने के स्थान पर, इंग्लैंड के स्वार्थ के लिए (लंकाशायर और लिवरपूल की मिलों के सहायतार्थ) अबन्ध नीति (Laissez faire) और मुक्त व्यापार (Free Trade) की नीति को अपनाया। सन् 1877 में कपास पर आयात शुल्क (Import duty) हटा कर और भारत के बने माल पर निर्यात शुल्क बढ़ाकर भारत के बचे खुचे उद्योग धन्धों को नष्ट करने का भरसक प्रयास किया गया। इन अराष्ट्रीय नीतियों के कारण भारत का धन प्रचुर मात्रा में बाहर जाने लगा और देश लगभग एक शताब्दी में निर्धन हो गया।[1]

भारत के उद्योग धन्धे नष्ट होने से धरती (कृषि) पर दबाव बढ़ने लगा परन्तु यहां भी दशा अच्छी नहीं थी। अंग्रेजों की भूमि सम्बन्धी नीति, जमींदारी प्रथा, कृषि की परम्परागत दुर्बलताएं इस अतिरिक्त भार को सहन नहीं कर सकती थीं। इस पर शासन व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण एवं व्ययपूर्ण थी। प्रकृति का प्रकोप भी कम न था। वर्षा के अभाव में दुर्भिक्ष पड़ते थे। संक्षेप में, सर्व साधारण की निर्धनता स्थाई हो गई थी और उन्हें कुचले जा रही थी। लगभग 75 प्रतिशत भारतीय ऐसे थे जिन्हें भर पेट भोजन प्राप्त नहीं होता था। स्वयं आर्गिल ने, जो 1872–76 तक भारत सचिव थे, लिखा है कि "भारत की जनता में दरिद्रता और रहन सहन का स्तर जितनी तेजी से गिरता जा रहा है उसका उदाहरण पश्चिमी जगत में नहीं मिलता है।" सन् 1880 में सर विलियम हण्टर ने भी लिखा था कि 'करोड़ों भारतीय हैं जो अपर्याप्त भोजन पर जीवन यापन करते हैं।" लार्ड सेलिसबरी ने भी भारतीयों की इस दुर्दशा को स्वीकार किया।

शिक्षित वर्गों में भी बेकारी का बोलबाला था। महारानी विक्टोरिया की घोषणा (1858) तथा अन्य घोषणाओं ने भारतीयों में बड़ी ऊंची आशाएं जागृत की थीं परन्तु लार्ड लिटन की नीतियों ने उनमें क्षोभ (resentment) और असन्तोष को जन्म दिया। आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठने की अवस्था को कम करने का उद्देश्य भारतीयों को उच्च पदों से वंचित करना था। यहां यह बात भी ध्यान देने की है कि भारत में Indian Association, Calcutta द्वारा आयोजित प्रथम संगठित आन्दोलन भारतीय सिविल सेवाओं के सम्बन्ध में 1877–78 में किया गया था। 25 मार्च 1877 को कलकत्ते के टाऊन हॉल (Town Hall) में जो विराट सभा हुई वह देश के अन्य भागों में हुई सभाओं की पूर्वगामिनी थी।[2] इन सिविल सेवाओं के आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य देश के भिन्न भिन्न लोगों में एकता और सुदृढ़ता की भावना पैदा करना था।[3]

---

1 See Satyapal and Prabodh Chandra Sixty years of Congress, P 72

2 See Singh, G N Ibid, P 111

3 See Bannerji Surendernath A Nation in the making P 44

**(5) आवागमन और सचार साधनों का विकास**—साम्राज्यीय हितो की रक्षा और प्रशासनिक कुशलता के लिए ब्रिटिश सरकार ने भारत मे आवागमन और सचार के आधुनिक साधनो का विकास किया। रेल और सडको के जाल बिछाये गये, डाक, तार, टेलीफोन आदि की व्यवस्था की गई। सन् 1860–1870 के दौरान इन साधनो का प्रचुर मात्रा म विकास किया गया। इन साधनो ने प्रशासनिक सुविधायें अवश्य उत्पन्न कर दी परन्तु साथ ही राष्ट्रीय तत्वो के लिए ये "ईश्वरीय वरदान" सिद्ध हुए। इन्होने "दूरी" को "समीप" मे बदल दिया, दूर-दूर बिखरे हुए स्थानो को मिला दिया, लोग एक दूसरे को समझने लगे, प्रान्तीय नेता राष्ट्रीय एकता मे गुँथने लगे, यात्राओ के कारण नेताओ मे पारस्परिक सम्बन्ध बढने लगे, नेताओ का जनता के साथ सम्पर्क भी बढने लगा राजनीतिक प्रश्नो पर सामान्य कार्यक्रम तैयार होने लगा, राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार करना तथा जन जागृति उत्पन्न करना सम्भव हो सका। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने सिविल सर्विस के सम्बन्ध मे सारे देश का भ्रमण कर राष्ट्रीयता और एकता की भावना का विकास किया। जी० एन० सिंह ने ठीक लिखा है कि "सचार साधनो ने विस्तृत देश को एक सूत्र मे गूँथ दिया और भौगोलिक एक्य सुस्पष्ट हो गया।"[1]

**(6) समाचार पत्र तथा राष्ट्रीय साहित्य**— स्वतन्त्र प्रेस को "चतुर्थ राजसस्था" (Fourth Estate) की सज्ञा दी जाती है। इसका कारण यह है कि छापाखाना तथा पत्र-पत्रिकाएँ न केवल घटनाओ को प्रकाशित करती है बल्कि जन साधारण की समस्याओ और शिकायतो की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करती हैं। वे राजनीतिक शिक्षा ही प्रदान नही करती बल्कि घटनाओ का अवलोकन कर विचारो के दलाल के रूप मे भी कार्य करती हैं। सक्षेप मे, प्रेस का जन-जागृति मे निर्णायक हाथ होता है।

भारत मे प्रेस ने राष्ट्रीय जागृति मे महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रारम्भिक स्थिति मे जब राष्ट्रीय नेताओ के पास कोई सामान्य मच नहीं था तो भारतीय भाषाओ मे प्रकाशित होने वाले पत्रो ने, जिनके मालिक और सम्पादक भारतीय थे, राष्ट्रीय मच (National Platform) का कार्य किया।

सन् 1857 से पूर्व भारत मे गिने चुने राष्ट्रीय पत्र थे जैसे "सम्वाद कौमुदी", "जाम्ये समाचार", 'बगदूत' और "रास्तगुफ्तार'। परन्तु 1857 के विद्रोह के बाद समाचार पत्रो की बाढ सी आ गई। सन् 1877 तक ब्रिटिश भारत मे लगभग 644 समाचार पत्र प्रकाशित होते थे जिनमे 400 से अधिक लौकिक भाषाओ मे प्रकाशित होते थे। केवल बम्बई प्रेसीडेन्सी मे 62 पत्र प्रकाशित होते थे, उत्तरी

---

1 Singh G N Ibid P 112

भारत मे भी लगभग इतने ही पत्र प्रकाशित होते थे, बगाल और दक्षिण भारत मे क्रमश 28 और 20 समाचार पत्र प्रकाशित होते थे ।[1]

जहा भारत मे "अमृत बाजार पत्रिका", "ट्रिब्यून", "पायनियर", 'हिन्दू', "इण्डियन मिरर", 'बगाली", "केसरी" आदि जैसे राष्ट्रीय भावनाओ से ओत प्रोत पत्र विद्यमान थे वहा "टाइम्स ऑफ इण्डिया", "मद्रास मेल", 'स्टेट्समैन", "सिविल एण्ड मिलिटरी गजट", जैसे ऐग्लो इण्डियन पत्र भी थे जो साम्राज्यीय हितो के प्रवक्ता थे । जब कभी ये सरकार समथक पत्र घटनाओ को तोड-मोड कर साम्राज्यीय हितो की रक्षा के लिए राष्ट्र विरोधी नीति अपनाते तो राष्ट्रीय भावनाओ से परिपूण पत्र उनका मुँह तोड उत्तर देते तथा घटनाओ का सही मूल्याकन करते । जैसाकि मुनरो ने लिखा है कि 'एक स्वतन्त्र प्रेस तथा विदेशी राज्य एक दूसरे के विरुद्ध हैं और दोना एक साथ नही चल सकते ।"[2]

भारतीय राष्ट्रीय भावनाओ से ओत प्रोत पत्रो ने भारतीयो मे असन्तोष और अन्यायो के प्रति जागरूकता उत्पन्न की , विदेशी शासन की अपूर्णताओं और असफलताओ का भडा फोडा भारतीयो को यह सिखलाया कि परतन्त्रता उन्नति और विकास मे सबसे बडी बाधा है और परतन्त्रता को समाप्त करने के लिए एक ऐसे राजनीतिक सगठन की आवश्यकता है जिसका उद्देश्य स्वतन्त्रता प्राप्ति हो । अपने सम्पादकीय द्वारा इन पत्रो ने भारतीयो मे देशभक्ति और राष्ट्रीय भावनाओ का सचार किया । "राष्ट्रीय नेताओ ने भी अपनी विचारधारा का प्रचार करने के लिए प्रेस का उपयोग किया' ।[3]

सरकार ने प्रेस की स्वतन्त्रता (विशेष कर देशी भाषाओ मे प्रकाशित होने वाले पत्रो की) का गला घाटने के लिए प्रेस कानूनो और अध्यादेशो का सहारा लिया । लार्ड लिटन के 1878 के Vernacular Press Act का उद्देश्य, जकारिया के शब्दो म, "चिमनी को बन्द करके उमडती हुई असन्तोष की ज्वाला को दबाना था" ।[4] परन्तु इसके विरुद्ध सारे देश में प्रतिक्रिया हुई और लार्ड रिपन ने 1882 में इसे रद्द कर दिया ।

---

1 See Philips India P 94

2 Munro Quoted by Dr Ishwari Prasad in his History of Modern India Vol I P 308

3 See Burns, M The Indian Press P 16

4 The object of the Vernacular Press Act was ' to Smother the rising flame of discontent by blocking the Chimney ' Zacharias Renascent India P 103

राष्ट्रीय प्रेस के साथ राष्ट्रीय साहित्य के विकास ने भी राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में अत्यधिक सहयोग दिया। बंगाली, हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मराठी आदि अनेक भाषाओं में नवीन राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण हुआ। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, राजेन्द्रपाल मिश्र, माइकेल मधुसूदन दत्त, बंकिम चन्द्र चटर्जी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, हेमचन्द्र बनर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन, आदि प्रसिद्ध साहित्यकारों तथा लेखकों ने राष्ट्रीय भावनाओं से ओत प्रोत और जातीय स्वाभिमान से भरे हुए साहित्य का सृजन किया। बंकिम चन्द्र चटर्जी की रचना "आनन्द मठ" को "आधुनिक बंगाली देशभक्ति की गीता" (The Bible of Modern Bengali patriotism) कहा गया है। इस रचना में ही "वन्दे मातरम्" (Bande Matram) गान पहली बार सामने आया। जी० एन० सिंह लिखते हैं कि "आनन्द मठ" ने "बंगाल में क्रान्तिकारी राष्ट्रीयवाद की पाठ्यपुस्तक का काम किया।[1]" "नील दर्पण" नाम का नाटक भी इसी समय प्रकाशित हुआ। हंस कोहन लिखते हैं कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के ध्येय को "स्वप्न में हस्तगत भारत का इतिहास"[2] (History of India gained in a Dream) आदि शब्दों में व्यक्त किया गया।

7 शासक और शासितों में जातीय कटुता—अंग्रेजों का शासन जातीय कटुता, वैमनस्य और घृणा से भरा पड़ा है। यद्यपि 1857 के विद्रोह से पूर्व यह जातीय कटुता तीव्र नहीं थी और भारतीयों तथा अंग्रेजों में पारस्परिक सम्बन्ध भी विद्यमान थे परन्तु विद्रोह के बाद यह कटुता अपनी चरम सीमा पर थी। गरेट की तो यह धारणा है कि इस "जातीय कटुता ने ही भारतीय राष्ट्रीयता को जन्म दिया।"[3]

अंग्रेज भारतीयों को असभ्य, हीन और पशु समझते थे। उनके लिए वे "आधे वन मानुष" (Half Gorilla) और "आधे नीग्रो" (Half Negro) थे जिन्हें केवल भय द्वारा ही समझाया जा सकता था। गरेट के अनुसार इसके तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्त थे—

(i) एक यूरोपियन का जीवन कितने ही भारतीयों के जीवन के बराबर है।

(ii) देशवासी (Oriental) केवल भय को ही समझता है।

(iii) वे (अंग्रेज) वहां (भारत में) लोक हित के लिए नहीं अपितु अपने त्याग के फलों का स्वाद लेने के लिए और साथ ही अपने निजी लाभ के लिए आये थे।[4]"

---

1 Singh, G N Ibid, P 112
2 See Kohn H A History of Nationalism in the East, P 360
3 Garrat An Indian Commentary P 116
4 Garrat Ibid, C P 116

दैनिक व्यवहार में भारतीयो को अपमानित किया जाता था। उन्हें "काली चमडी वाले गुलाम, पत्थरों की पूजा करने वाले और बासो पर भूनने वाले"[1] कहकर निर्दिन किया जाता था। उन पर मनचाहा अत्याचार किया जाता था। अग्रजो द्वारा भारतीयो की हत्यायें साधारण बात थी। इस वातावरण ने जहा भारतीयो मे दीन और दास्य मनोवृत्ति को बढावा दिया वहा उनमे घृणा और अवज्ञा (defiance) की भावना को बढावा भी दिया।

जातीय भेदभाव सवत्र विद्यमान था। भारतीयो पर अविश्वास किया जाता था, उनका बहिष्कार किया जाता था। ऐंग्लो इण्डियन क्लबो म उन्ह घुसने नहीं दिया जाता था। भारतीयो को उच्च पदो से, विशेषकर सेना, पुलिस, गुप्तचर विभाग आदि से वचित रखा जाता था। बिना अभियोग चलाये उन्हे तोप से उडा दिया जाता था[2] और अग्रेज अपराधियो को भी दण्ड नही दिया जाता था। सर थियोडोर मौरीसन लिखते हैं कि "घोर अदालती पापाचार था यह एक निन्दनीय सत्य है कि अग्रेज भारतीयो की हत्या बार बार करते थे।"[3] इतना ही नही सारे देश का निशस्त्रीकरण कर दिया गया। शस्त्र एक्ट (Arms Act) को बडी निर्दयता और क्षुद्रता से कार्यान्वित किया गया। सब साधारण को आतकित करने के लिए सेना का प्रयोग किया गया। इस बबरतापूर्ण व्यवहार ने, जी० एन० सिंह के शब्दो म, "सवसाधारण के मस्तिष्क मे घृणा की ज्वाला को जीवित बनाये रखा।"[4]

8 लार्ड लिटन का दमनकारी शासन—लार्ड लिटन ने अपने शासन काल मे (1876–1880) ऐसे अनेक जनविरोधी और अन्यायपूर्ण काय किये जिन्होने न केवल राष्ट्रीय आन्दोलन को ही उत्तेजित किया बल्कि जातीय भेदभाव, कटुता और विरोध को भी बढावा दिया। ये लार्ड लिटन की भूलें ही थी जो राष्ट्रीय आन्दोलन को सगठित करने मे सहायक हुई तथा उसे तीव्र और उग्र रूप भी प्रदान किया। जसा कि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि 'बुरे शासक प्राय अनजाने म जनता के लिए वरदान बन जाते है।'[5] लार्ड लिटन के शासन काल की मुख्य भूलें निम्न थी —

---

1 Cotton, Henry New India

2 सन् 1872 मे मलेरकोटला के उपद्रव मे, बिना अभियोग निर्णय के 49 सिक्खो को तोप से उडा दिया गया। Quoted by Singh, G N Ibid, P 114

3 Morrison, Sir Theodore Quoted by Garrat in his "An Indian Commentary"

4 Singh, G N Ibid, P 114

5 Bannerjee Surendranath A Nation in the Making

(i) साम्राज्यीय दरबार—सन् 1877 में दक्षिणी भारत भयंकर दुर्भिक्ष से पीडित था। लार्ड लिटन ने दुर्भिक्ष पीडितों की सहायता के स्थान पर दिल्ली में 1 जनवरी 1878 को साम्राज्यीय दरबार का आयोजन किया और विक्टोरिया को भारत की महारानी घोषित किया। इस दरबार पर अपार धन का अपव्यय किया गया था। लार्ड लिटन का यह कार्य रोम के बादशाह नीरो की याद दिलाता है "जो उस समय भी खिलवाड कर रहा था जब रोम जल रहा था।" इसी दरबार से सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को देशवासियों को संगठित करने तथा राष्ट्रीय स्तर पर सम्मेलनों के आयोजन करने का विचार उत्पन्न हुआ। संयुक्त भारत का विचार भी इसी दरबार से उत्पन्न हुआ। उनमें यह भावना जागृत हुई कि 'यदि एक स्वेच्छाचारी वाइसराय की प्रशंसा के लिए देश के राजा तथा अमीर उमरा को एकत्रित होने के लिए बाध्य किया जा सकता है तो देशवासियों को न्यायसंगत ढंग से, स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए क्यों नहीं संगठित किया जा सकता।"

(ii) सन् 1876 में सिविल सर्विस की परीक्षाओं में बैठने की आयु 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी। इसका मुख्य उद्देश्य भारतीयों के लिए उच्च सेवाओं के दरवाजे बन्द करना था।

(iii) सन् 1878 में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट (Vernacular Press Act) द्वारा देशी भाषाओं में प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों पर कड़े नियन्त्रण लगाये गये। इस एक्ट ने जिलाधीशों को भी प्रेस पर नियन्त्रण का अधिकार दे दिया। लोगों ने इसे "गगिंग एक्ट' (Gagging Act) की संज्ञा दी।

उपर्युक्त दोनों बातों का सारे भारत में कड़ा विरोध हुआ और बाद में सरकार को ये दोनों अधिनियम रद्द करने पड़े। इसमें राष्ट्रीय तत्वों को अत्यधिक मनोबल मिला और उनमें यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि वे संगठित विरोध द्वारा अपने कष्टों का निवारण कर सकते हैं।

(iv) शस्त्र एक्ट (Arms Act) का पालन बडी क्षुद्रता से किया गया। इस एक्ट में सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात यह थी कि इसे केवल भारतीयों पर लागू किया गया था अंग्रेजों पर नहीं। एक असहाय और निरपराध जनता का पूरी तरह निःशस्त्रीकरण कर दिया गया। इसने जातीय वैमनस्य को बढ़ावा दिया।

(v) लंकाशायर के स्वार्थ के लिए कपास सीमा शुल्क को समाप्त कर दिया गया। इससे भारतीय उद्योग धंधों और व्यापारियों को अत्यधिक हानि हुई।

(vi) रूसी आतंक के कारण सेना में अनावश्यक वृद्धि की गई, काबुल पर स्वेच्छानुसार आक्रमण किया गया वैज्ञानिक ढंग से सुरक्षा सीमा बनाने की कोशिश की गई। इन सभी बातों पर अत्यधिक व्यय किया गया।

लार्ड लिटन के शासनकाल के उपर्युक्त सभी काम भारतीयों के लिए अपमानजनक होने के साथ साथ असहाय थे। इन सबने मिलकर भारतीयों में उग्र राष्ट्रीय

भावनाओ का विकास किया और घृणा तथा विरोध की अग्नि को लोगो के मस्तिष्क मे जलाये रखा। सर विलियम वडरबन ने ठीक लिखा है कि "लार्ड लिटन के शासन के अन्तिम दिनो मे स्थिति क्रान्ति के छोर पर पहुँच रही थी।"[1]

9 सामाजिक परिवतन अग्रेजो के आगमन से नई नीतियाँ अपनाई गई। इन नीतियो ने नई विचारधाराओ और नये वर्गो को जन्म दिया। प्राचीन रूढ़ियो और विचारधाराओ मे परिवतन होने लगा। आधुनिक सामाजिक व्यवस्था का विकास होने लगा। शहरो के विकास से मध्ययुगी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था नष्ट होने लगी। कल-कारखानो की स्थापना से एक नये पूँजीपति वग का जन्म हुआ जो समय बीतने पर विदेशी पूँजी से प्रतिद्वन्द्विता करने लगा। इसी प्रकार शिक्षा के विस्तार से एक नये मध्यम वग—बुद्धिजीवी, वकील, शिक्षक, पत्रकार, डाक्टर, कारीगर आदि का जन्म हुआ। ये दोनो वग अग्रजी शासन की साम्राज्यीय नीतियो से असन्तुष्ट थे। ये वग ही कुछ समय बाद राष्ट्रीय आन्दोलन की धुरी बन गये।

10 विदेशी शासन के प्रति घृणा—अग्रेज भारत मे विदेशी थे। भारतीयो के हृदय मे उनके लिए घृणा, ईर्ष्या और वमनस्य की भावनाएँ होना स्वाभाविक था। यह बात उन लोगो के हृदय मे विशेष रूप से विद्यमान थी जो मुगल साम्राज्य के शासनकाल मे विशेषाधिकारो का उपभोग करते थे। परन्तु जब उनके साथ अभद्र या सेवको जसा व्यवहार किया जाता था उन्हे यूरोपीय क्लबो, रस्तोरा (Restaurant) आदि मे प्रवेश नही दिया जाता तो उनमे कटुता और विरोध की भावना पदा होना स्वाभाविक था। सन् 1857 के विद्रोह के बाद अग्रेजो ने जो पृथक्त्व की नीति को बडी क्रूरता से लागू किया तथा जातीय भेदभाव की नीति को अपनाया। उससे न केवल भारतीय प्रतिभा को हानि हुई बल्कि उनका विकास भी रुक गया। श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी लिखते हैं कि भारतवासी "भूमिदान, जगल काटने वाले, पानी खीचने वाले अथवा गोरे देवताओ के सेवक थे।"

श्वेत लोगो का व्यवहार बहुत ही अहकारपूर्ण एव हठी था। यहा तक कि यदि अग्रेज किसी भारतीय की हत्या भी कर देते तो भी उन्हे दण्डित नही किया जाता और यदि दण्ड सिद्ध भी हो जाता तो भी या तो उन्हे छोड दिया जाता या उन्हे नाममात्र का दण्ड (Nominal Penalty) दिया जाता। हेनरी कॉटन ने इस अन्याय को इन शब्दो मे व्यक्त किया है यदि किसी चाय रोपक पर किसी असहाय कुली को निदयतापूवक पीटने का अभियोग चलाया जाता है तो इसका निणय करने के लिए चाय रोपको की जूरी बनाई जाती है। यह जूरी स्वाभाविक रूप से अभियुक्त के पक्ष मे होती है। यदि उच्च न्यायालय के हस्तक्षेप या अन्य किसी कारण से दोष सिद्ध हो

---

1 'The state of things at the end of Lord Lytton s reign was bordering upon revolutions Wedderburn, Sir William

जाता है तो अंग्रेजो का सारा जनमत उस निर्णय की निंदा करता है। आंग्ल भारतीय समाचार पत्र भडकाने वाली बात करते हैं विरोध को अपने पत्रों में व्यक्त करते हैं, अपराधी के व्यय के लिए सार्वजनिक चंदे की उगाही की जाती है प्रभावशाली व्यक्तियो द्वारा सरकार के लिए स्मरण पत्र तैयार किये जाते हैं और उनमें अभियुक्त को छोडने के लिए निवेदन किया जाता है।"[1] अंग्रेज शासको तथा अंग्रेज जाति के इस व्यवहार ने भारतीयों के हृदय में घृणा की अग्नि को जलाये रखा और भारतीय सगठित होने की बात सोचने लगे।

11 विदेशी घटनाओं का प्रभाव तथा जन जागृति शिक्षित भारतीय वर्ग अमरीका की स्वतन्त्रता की घोषणा से फ्रांस की राज्य क्रान्ति के 'स्वतन्त्रता समानता और भ्रातृत्व'' के सन्देश से तथा आयरलण्ड के होमरूल आन्दोलन से भली भांति परिचित था। इनके अतिरिक्त यूरोप में सन् 1861 और 1884 के दौरान कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुई जिनका भारतीय मस्तिष्क पर प्रभाव पडना स्वाभाविक था। इन घटनाओ से भारत का साधारण जन-मानस भी प्रभावित हुए बिना न रहा। भारतीयों को यह विश्वास हो गया कि उनके दु खो और कष्टो का कारण विदेशी (अंग्रेजी) शासन ही है और वे अब अनुभव करने लगे कि वे सगठित होकर उन सुविधाओं को (विदेशी शासन से छुटकारा) प्राप्त कर सकते हैं जो यूरोपीय देशों के निवासियो ने सगठित होकर प्राप्त की है। डा० ईश्वरी प्रसाद ने बहुत सुन्दर शब्दों में लिखा है कि 'फ्रांसीसियो को जब इस बात की चेतना हुई कि उनकी सब कठिनाइयों का एकमात्र कारण उनके बूरबन शासक हैं तो उन्होंने एक क्रान्ति करके उन्हें राज्य सिंहासन से उतार दिया। अंग्रेजो को जब इस तथ्य का ज्ञान हुआ कि 'स्टुअर्ट शासक' की स्वेच्छाचारिता के कारण उनकी स्वतन्त्रता को खतरा है तो उन्होंने उसके विरुद्ध गृह युद्ध लडा। इसी प्रकार भारतीयो ने इस विचार से प्रेरित होकर कि उनकी सब विपत्तियो के लिए विदेशी राज्य ही उत्तरदायी है तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की।"[2]

जिन यूरोपीय घटनाओं से भारतीय सगठित होने के लिए उत्साहित हुए उनमें प्रमुख निम्न है —

(i) जर्मनी, इटली, रूमानिया, सर्बिया और माँटीनिग्रो आदि देशो का एकीकरण।

(ii) इंग्लण्ड में द्वितीय और तृतीय सुधार अधिनियम पास हुए जिससे वहाँ मताधिकार के विस्तार के साथ वहाँ प्रजातन्त्र का विकास हुआ।

(iii) फ्रांस में तृतीय रिपब्लिक (Third Republic) की स्थापना।

1 Cotton, Sir Henry New India
2 Prasad Dr I History of Modern India P 311

(iv) इटली और स्पेन म सवधानिक राजतन्त्र की स्थापना ।
(v) अमरीका म गृह युद्ध के फलस्वरूप नीग्रोज को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई ।
(vi) रूस ने भी, अलेक्जण्डर द्वितीय (Alexander II) के शासन काल म, कुछ उदार नीति का अपनाया, आदि ।

**12 प्राचीन भारतीय साहित्य की विदेशी विद्वानों द्वारा प्रशसा**—यूरोप के प्रसिद्ध विद्वाना ने प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन किया और उन्हान प्राचीन भारतीय सस्कृति तथा सभ्यता की प्रशसा की । इन प्रशसका म मुख्य थे सर विलियम जोन्स (Sir William Jones), जैकोबी कोल ब्रूक ( Colbrook ), ए बी कीथ ( A B Keith) मैक्स मूलर (Max Muller), मोनियर विलियम्स (Monier Williams), रौथ (Roth), सैसून (Sassoon), बुर्नूफ (Burnouf) आदि । इन विद्वाना ने 'सस्कृत भाषा की सम्पन्नता और श्रेष्ठता का महत्व का भारतीय सभ्यता के आधारभूत हिन्दू साहित्य का उसके ऐतिहासिक एव साहित्यिक प्रकटीकरण न केवल पश्चिमी जगत के लिए किया बल्कि स्वय भारत के लिए भी किया ।'[1]

अनक भारतीय विद्वाना जसे डा आर डी भण्डारकार, हर प्रसाद शास्त्री रानाडे, राजेन्द्रलाल मित्रा आदि ने भी प्राचीन भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता पर प्रकाश डाला ।[2] इनस पूव स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा विवेकानन्द न भी भारतीय सस्कृति और सभ्यता का गुण गाया था । भारतीय तथा विदेशी विद्वानो की इन खोजा का परिणाम यह हुआ कि भारतीया म हीनता की भावना का अन्त हो गया और उनम चेतना, गव, आत्म विश्वास और आशावाद का जन्म हुआ ।

**13 सिविल सर्विस आन्दोलन**—सिविल सर्विस आदोलन का मुख्य उद्देश्य भारतीया मे एकता और सुदृढता की भावना को जागृत करना था तथा शिक्षित भारतीया को सगठित करना था । जसाकि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि "आन्दोलन तो साधन था प्रतिद्वन्द्विता परीक्षाओ मे प्रवेश के लिए अधिकतम सीमा बढाने और समकालीन परीक्षा की व्यवस्था करने के उद्देश्य भी इस आन्दोलन म शामिल थ परन्तु सिविल सर्विस आन्दोलन म अन्तर्निहित विचार और इसका यथाथ उद्देश्य तो भारतीया म एकता और सुदृढता की भावना को जागृत करना था ।"[3]

शिक्षित एव मध्यम वग के लोगा म असन्तोष का सबसे बडा कारण यह था कि जो वचन तथा प्रतिज्ञायें सरकार इस वग स सन् 1833 स करती आ रही थी उन्ह कभी पूरा नही किया गया । भारतीया का भारतीय प्रशासन म, विशेष कर

1 Chirol India p 80
2 For details see Panikkar, K M The Foundations of New India p 68
3 Bannerji S N A Nation in the Making p 44

उच्च पदो पर, कोई स्थान नही था । सन् 1833 के एक्ट ने यह विश्वास दिलाया था कि उच्च पदो पर नियुक्ति पात्रता (योग्यता) के आधार पर की जायगी और जाति, रग या भाषा आदि के आधार पर कोई भेदभाव नही किया जायगा । परन्तु इस विश्वास को कभी कार्यान्वित नही किया गया । सन् 1833 और सन् 1853 के बीच किसी भारतीय को किसी उच्च पद पर नियुक्त नही किया गया । इसी निराशा और रोष को प्रकट करने के लिए सन् 1853 मे शिक्षित भारतीयो ने, कम्पनी के चार्टर की वृद्धि (extension) के समय, ससद के समक्ष अनेक व्यक्तियो द्वारा हस्ताक्षरित एव प्रार्थना पत्र (Petition) प्रस्तुत किया । इस प्रार्थना पत्र को भारतीय राजनीतिक और सार्वजनिक जागृति का प्रथम प्रदर्शन कहा गया है । सन् 1858 की महारानी विक्टोरिया की घोषणा म इस वचन और विश्वास को फिर दोहराया गया परन्तु इसकी पालना भी इसे तोड कर की जाती थी । (It was mostly honoured in its breach)

भारतीयो के लिए भारतीय उच्च सेवाओ म प्रवेश लेना कठिन था । इसके अनेक कारण थ । प्रथम, य परीक्षायें इग्लण्ड म होती थी, द्वितीय, इन परीक्षाओ का माध्यम अग्रेजी था तृतीय, सन् 1876 म इन परीक्षाओ मे प्रवेश की आयु 21 वर्ष से घटा कर 19 वर्ष कर दी गई थी । ब्रिटिश सरकार का यह कार्य, जैसा कि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है, "भारतीय विद्यार्थियो को इस नौकरी से जान बूझ कर वचित रखने की चाल थी ।"

उपर्युक्त कठिनाइयो के बावजूद भी जो भारतीय इन परीक्षाओ म उत्तीर्ण हो भी जाते तो उनके साथ भेदभाव की नीति अपनाई जाती । उन्हे या तो उच्च सेवाओ म लिया ही नही जाता था उन पर किसी प्रकार का अभियोग लगाकर उन्हे हटा दिया जाता । उदाहरणतया सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सन् 1869 मे आई सी एस की परीक्षा पास की परन्तु उन्हे सेवा म इसलिए नही लिया गया कि उनकी आयु के सम्बन्ध म कुछ विरोध (discrepancy) थी । इस पर श्री बनर्जी ने क्विन बेंच के समक्ष परमादेश (Writ of Mandamus) के लिये प्रार्थना की । इस पर न्यायालय ने श्री बनर्जी को सेवा म लेने लिए आदेश जारी किया । परन्तु दो वर्ष बाद श्री बनर्जी पर अभियोग लगाकर उन्हे सेवा से मुक्त कर दिया गया । इसी प्रकार सन् 1877 म अरविन्द घोष ने आई सी एस की परीक्षा पास की परन्तु उन्हे सेवा मे इसलिए नही लिया गया कि वे घुड सवारी म असफल रहे । इस तरह ब्रिटिश सरकार शिक्षित भारतीयो से भेदभाव की नीति अपना कर उन्हे उच्च पदो से वचित रखती ।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने शिक्षित भारतीयो को सगठित करने के लिए बगाल म सन् 1876 म "इण्डियन एसोसियेसन" (Indian Association) नामक सस्था की स्थापना की । इस सस्था के माध्यम से ही श्री बनर्जी ने 1877-78 म उत्तर और

दक्षिणी भारत का दौरा किया, सभाओ को सम्बोधित किया, तथा भारतीयों को सगठित किया। इस राय म जसाकि सर हेनरी काटन न लिखा है, उन्हें "महान सफलता' मिली। सर हेनरी कॉटन ने तो श्री बनर्जी को 'भारतीय असतोष के पिता' (Father of Indian Unrest) की सज्ञा दी है। श्री लाल मोहन घोष को इंग्लैंड भी भेजा गया जहा उन्होंने कॉमन सभा को एक प्रार्थना पत्र (Memorial) भी प्रस्तुत किया तथा भारतीयो के दृष्टिकोण को ब्रिटिश अधिकारि- के समक्ष प्रस्तुत किया।

14 इल्बर्ट विधेयक (Ilbert Bill)—उन्नीसवी शताब्दी म राष्ट्रीय चेतना के विकास म ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का जो योगदान रहा है उपयुक्त कारणों म उसका उल्लेख किया गया है। परन्तु राष्ट्रीय चेतना को सगठित करन तथा उसे राष्ट्रीय राजनीतिक सस्था का रूप देने म इल्बर्ट विधेयक का मुख्य स्थान रहा है। इल्बर्ट विधयक ही भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना का तत्काल कारण था।

उस समय भारतीय मजिस्ट्रेट अग्रेज अपराधियों के मुकदमे न तो स्वतन्त्रता पूवक सुन सकते थे और न ही उन्हे दण्डित कर सकते थे जबकि अग्रेज मजिस्ट्रेट चाहे व भारतीय मजिस्ट्रेटों से कनिष्ट (Junior) होते थे, ऐसा कर सकते थ। यह जाति भेद नीति की चरम सीमा थी। लार्ड रिपन, जो भारत म सुधारों के लिए प्रसिद्ध हैं इस असगतिपूर्ण अवधता, अनियमितता और ईर्ष्यास्पद भेद को दूर करना चाहता था तथा भारतीय मजिस्ट्रेटों को अग्रेज अपराधियों को दण्ड दन का अधिकार देना चाहता था। इस उद्देश्य से लार्ड रिपन की कायकारिणी परिषद् (Executive Council) के कानूनी सदस्य (Law member) सर कर्टनी पी इल्बर्ट (Sir Courtney P Ilbert) ने विधान परिषद् म सन् 1883 म एक विधेयक प्रस्तुत किया जो इल्बर्ट विधेयक के नाम से प्रसिद्ध है।

भारत म विद्यमान सारी अग्रेज जाति ने इस विधेयक का विरोध एक स्वर से किया और इसे "काले विधेयक' (Black Bill) की सज्ञा दी। इस विरोध ने अभूतपूर्व आन्दोलन (Unprecedented agitation) का रूप धारण कर लिया। विधेयक का विरोध करन के लिए एक यूरोपीय रक्षा समुदाय (European Defence Association) नाम की सस्था का निर्माण किया मुकद्दमा लडने के लिए 1 50,000 रु की धन राशि भी एकत्रित की गई भिन्न भिन्न स्थानो पर सभायें की गई और इस बात का सगठित रूप से प्रचार किया गया कि विधेयक शासक जाति का अपमान है, इसमे ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिल जायगी काले भारतीय मजिस्ट्रेट अग्रेजो का अपमानित करने के लिए सख्त सजायें देंगे इत्यादि। सर हेनरी कॉटन लिखते हैं कि कलकत्ते में कुछ अग्रेजो ने सरकारी भवन के सतरियो को वश म करके लार्ड रिपन को बांधकर वापस इंग्लैण्ड भेजने का षडयन्त्र भी रचा।[1] सरकार इस

1 Cotton Sir Henry New India

आन्दोलन के तूफान का सामना न कर सकी और विधयक को वापिस ले लिया।"[1]

इल्बट विधेयक पर यूरोपीय जाति के विरोध ने भारतीयों की आँखे खोल दी। उन्हें अनुभव हुआ कि विदेशी शासन कितना क्रूर निर्दयी और एक पक्षीय हो सकता है। उन्हें स्पष्ट हो गया कि जहा शासक वर्ग के विशेषाधिकारों का प्रश्न है वहा पर न्याय की आशा नहीं की जा सकती। उनमे यह भावना जागृत हुई कि दमन और शोषण से छुटकारा पाने तथा राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए "राष्ट्रीय सगठन अनिवार्य है। उन्हें यह विश्वास हो गया कि राजनीतिक प्रगति राष्ट्रीय सगठन और राष्ट्रीय सभा की माग करती है सयुक्त एव समायोजित कार्य द्वारा ही न्याय प्राप्त किया जा सकता है तथा इनके द्वारा ही जन जागृति पैदा की जा सकती है तथा सरकार को झुकाया जा सकता है। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी लिखते है कि कोई भी स्वाभिमानी भारतीय अब आँख मूँद कर नहीं बैठा रह सकता था। जो इल्बट विधेयक विवाद के महत्त्व को समझते थे उनके लिए वह देशभक्ति की महान पुकार थी।'[2]

इल्बट विधयक विवाद भारतीयो के लिए चेतावनी थी और इन्होंने इस चेतावनी का मुकाबला करने के लिए अनेक प्रातीय सम्मेलनो, सभाओ और सस्थाओ का निर्माण किया जो भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की पूर्वगामी (forerunners) सिद्ध हुई। सन् 1883 मे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने जो राष्ट्रीय सम्मेलन (National Conference) का बीड़ा उठाया वह यूरोपीय रक्षा सगठन का प्रत्युत्तर था। इस सम्मेलन मे ही उन्होंने लोगो को देश के लिए सगठित होने की बात कही। यह राष्ट्रीय सम्मेलन ही "राष्ट्रीय ससद की दिशा मे प्रथम चरण था।"[3]

## कांग्रेस की पूर्वगामी सस्थायें या भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना से पूर्व स्थापित की गई सस्थायें

## (The fore-runners of Congress or Organizations formed before the Origin of Congress)

सन् 1885 मे काग्रेस की स्थापना से पूर्व भारत मे अनेक प्रकार की सस्थायें

---

1 सरकार और यूरोपीय जाति के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार केवल भारतीय जिलाधीशो और सशन जजो को ही यूरोपियन अपराधियो के मुकदमा का फसला करने का अधिकार दिया गया परन्तु यहा भी यूरोपियन अपराधियो को यह अधिकार दिया गया कि वे जूरी की माग कर सकते थे जिसमे कम से कम आधे सदस्य अवश्य ही यूरोपियन हो।

2 Banerjee, S N A Nation in the Making

3 'The first stage towards a National Parliament' reported by Mr Wilfred Blunt Quoted by Banerjee A Nation in the Making pp 86 87

स्थापित की गई थी। ये संस्थायें मुख्यतया सन् 1843 और 1885 के बीच स्थापित की गई थी। इन संस्थाओं में अधिकांश तो भारत में और कुछ इंग्लैंड में स्थापित की गई थी। बंगाल इन संस्थाओं की स्थापना के लिए न केवल अग्रणी था बल्कि अत्यधिक क्रियाशील भी था।

कांग्रेस की स्थापना से पूर्व स्थापित की गई संस्थाओं की एक विशेषता यह थी कि ये राष्ट्रीय[1] स्तर की नहीं थी, ये सब प्रान्तीय स्तर की थीं। इनके पास कोई "राजनीतिक स्वाधीनता की परिकल्पना" नहीं थी इनके पास कोई राष्ट्रीय कार्यक्रम नहीं था, ये स्वतन्त्रता नहीं प्रशासन में केवल सुधार चाहती थी। इनका क्षेत्र सरकारी कानूनों और शासन कार्यों की आलोचना करने तक सीमित था। अधिक से अधिक ये भारत के सुशिक्षित वर्ग को संगठित करना चाहती थीं। कांग्रेस की इन पूर्वगामी संस्थाओं को "जन संस्थायें" भी नहीं कहा जा सकता। ये बड़े बड़े जमींदारों व्यापारियों और अंग्रेजी पढ़े लिखे थोड़े से लोगों की संस्थायें बनी रहीं। फिर भी, इन संस्थाओं की स्थापना इस बात की द्योतक है कि भारत के शिक्षित तथा उच्च वर्ग में पारस्परिक संगठित होने की भावना का विकास हो रहा था। इन्हीं संस्थाओं ने कांग्रेस की स्थापना के लिए आवश्यक भूमिका तैयार की उसके लिए राष्ट्रीय वातावरण उत्पन्न किया तथा अपने दृष्टिकोण से तथा अपने निर्धारित क्षेत्र में राजनीतिक चेतना का जागृत कर राष्ट्र की अमूल्य सेवा की।

जो संस्थायें इस काल में स्थापित की गई उनमें मुख्य निम्न थी —

**(1) ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी 1843 (British India Society 1843)**— इस सोसाइटी की स्थापना सन् 1843 में बंगाल में की गई थी। इसका उद्देश्य ब्रिटिश भारत में रहने वाले लोगों की वास्तविक अवस्था के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करना तथा उनमें राजनीतिक चेतना उत्पन्न करना था। यह संस्था अधिक लोकप्रिय न बन सकी और सन् 1851 में ब्रिटिश इण्डिया एसोसियेशन में मिल गई।

**(2) ब्रिटिश इण्डिया एसोसियेशन 1851 ( British India Association 1851)**इस एसोसियेशन की स्थापना सन् 1851 में की गई थी। इसके संस्थापकों में मुख्य थे डा॰ राजेन्द्रलाल मित्र प्रसन्नकुमार ठाकुर, रामगोपाल घोष, राजा दिगम्बर मित्र, हरिश्चन्द्र मुकर्जी और प्यारेचन्द मित्र। इस एसोसियेशन ने लगभग 50 वर्ष तक भारत की सेवा की तथा समय समय पर भारतवासियों के लिए राजनीतिक

---

1 ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन ने भारत के भिन्न भिन्न भागों में अपनी शाखाएँ खोलने का प्रयास किया था, परन्तु इसमें उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई थी।

रियायतो की माग की । इसने ब्रिटिश ससद को सन् 1852 म जो प्रतिवदन भेजा उसम निम्न मागें प्रस्तुत की —

(i) ब्रिटिश भारत के लिए पृथक विधान मण्डल हो,

(ii) आई सी एस की भर्ती के लिए प्रतियोगिता परीक्षा की व्यवस्था हो

(iii) प्रान्ता को कुछ सीमा तक स्वतन्त्रता हो ।

यह कहा जाता है कि सन् 1853 के चार्टर एक्ट न उपयु क्त मागो को कुछ सीमा तक स्वीकार किया ।

**3 बाम्बे एसोसियेशन, 1852 (Bombay Association, 1852)**

इस एसोसियशन की स्थापना सन् 1852 म बम्बई म की गई । इ संस्थापको म मुख्य थे जगनाथ शकर सेठ और दादा भाई नौरोजी । शताब्दी अन्तिम चरण मे ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन ने इसका स्थान ले लिया ।

**4 मद्रास नेटिव एसोसियेशन (Madras Native Association)**

इस एसोसियेशन की स्थापना सरकारी कर्मचारियो न मद्रास म की थी ।

**5 ईस्ट इण्डियन एसोसियेशन, 1866 (East Indian Association, 1866)**

इस एसोसियशन की स्थापना सन् 1866 मे इ गलण्ड म दादा भाई नौरोजी द्वारा की गई थी ।

**6 हि दू (Hindu)**

इसकी स्थापना मद्रास मे की गई थी । सवश्री रामवीर राघवाचाय, रगेय नायडु जी० सुब्रह्मम रोयर और एम० सुब्बराव पन्तलु इसके संस्थापको मे से थे । इसने सावजनिक सेवा क क्षेत्र म अद्वितीय काय किया ।

**7 इण्डिया लीग, 1875 (India League, 1875)**

यह पहली भारतीय राजनीतिक संस्था थी जिसकी स्थापना सन् 1875 म, बगाल मे, एक खुली सभा म की गई । इसका उद्देश्य भारतीयो म राष्ट्रीय भावना और राजनीतिक जागति पदा करना था । "यह संस्था भारत म राजनीतिक चेतना का प्रथम चिह्न" था । इसन अभी काय शुरू ही किया था कि इण्डियन एसोसियशन ने इसका स्थान न लिया ।

**8 पूना सावजनिक सभा, 1875 (Poona Sarvajanik Sabha, 1875)**

इस सभा की स्थापना सन् 1875 म पूना म की गई । महादेव गोविन्द रानाडे ने इसकी स्थापना म पूरा सहयोग दिया । बडे बडे जागीरदार, साहूकार और सरदार भी इस सभा के सदस्य थे । इस सभा ने "पश्चिमी भारत को जगान म और साथ ही सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक समस्याओ पर जनमत तयार करन म महत्वपूर्ण काम किया ।'[1]

1 See Kellock Mahadeva Govind Ranade, P 25

### 9 इण्डियन एसोसियेशन, 1876 (Indian Association, 1876)

काग्रेस की स्थापना से पूव भारत मे जितनी भी सस्थायें स्थापित की गई उन सबसे महत्त्वपूरा सस्था "इण्डियन एसोसियेशन" थी। इसकी स्थापना कलकत्ता मे इल्बट हाल मे 26 जुलाई, 1876 को हुई। इसके सस्थापक थे श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और इसके मन्त्री थे श्री आनन्द मोहन घोष। इस एसोसियेशन के मुख्य उद्देश्य निम्न थे —

(i) शिक्षित वग को सगठित करना

(ii) शक्तिशाली एव सतक जनमत तैयार करना

(iii) समान राजनीतिक उद्देश्यो और आकाक्षाओ के आधार पर भारत की विभिन्न जातियो का एकीकरण करना

(iv) हिन्दुओ और मुसलमानो म मैत्रीभाव पदा कर एकता की भावना पदा करना

(v) सावजनिक आन्दोलन मे किसानो के सहयोग को प्राप्त करना।

इण्डियन एसोसियेशन ने अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के काय किये। इसने सरकार की अन्यायपूरा एव साम्राज्यीय नीति की आलोचना की। लाड लिटन की क्रूर नीतियो के विरुद्ध इसने सारे देश मे राष्ट्रीय भावनाओ का सचार किया। इसके तत्वावधान म श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सन् 1877 मे उत्तरी भारत और सन् 1878 मे दक्षिणी भारत का भ्रमण किया तथा सिविल सर्विस की आयु के घटाने (जो 21 वष से 19 वष कर दी गई थी) के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन की भावनायें पैदा कर दी। इसी एसोसियेशन ने ब्रिटिश ससद को एक स्मृति पत्र भी पेश किया। कुछ समय बाद सरकार ने इण्डियन सिविल सर्विस परीक्षा म बठने की आयु को फिर 21 वष कर दिया। भ्रमण के दौरान श्री बनर्जी को सन् 1877 के दिल्ली दरबार को देखने का अवसर मिला तथा उनमे राष्ट्रीय सस्था को निर्मित करने के भाव यही उत्पन हुए। सावजनिक आन्दोलनो का श्रीगणेश भी इसी एसोसियेशन ने किया।

इण्डियन एसोसियेशन ने कलकत्ता म 28 दिसम्बर 1883 से 30 दिसम्बर, 1883 तक एक राष्ट्रीय सम्मेलन (National Conference) का आयोजन किया। यह सम्मेलन भी इल्बट हाल म हुआ। इस सम्मेलन म बम्बई मद्रास अहमदाबाद, लाहौर, इलाहाबाद, नागपुर, मेरठ आदि बडे-बडे नगरो से लोगो ने भाग लिया। इस सम्मेलन की विशेषता यह थी कि इसने प्रान्तीय समस्याओ के स्थान पर राष्ट्रीय समस्याओ पर विचार किया। इसने प्रान्तीय विधान परिषदो के सुधारो तथा अन्य सुधारो की माग की। इस सम्मेलन म ही श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 'सयुक्त कायवाही की आवश्यकता पर बल दिया। इसे ठीक ही "राष्ट्रीय ससद की प्रथम सीढी' (The first stage towards a National Parliament) की सज्ञा दी गई है।

इण्डियन एसोसियेशन ने द्वितीय राष्ट्रीय सम्मेलन सन् 1885 मे बुलाया। यह ठीक उस समय हुआ जबकि बम्बई मे काग्रेस का प्रथम अधिवेशन हो रहा था। इस राष्ट्रीय सम्मेलन मे देश के भिन्न भिन्न भागो से 200 प्रतिनिधियो ने भाग लिया। सन् 1885 मे काग्रेस की स्थापना के बाद इस सम्मेलन के सभी प्रतिनिधि काग्रेस मे सम्मिलित हो गये।

**10 बम्बई प्रेसीडेंसी एसोसियेशन, 1883 (Bombay Presidency Association, 1883)**

इस एसोसियेशन की स्थापना सन् 1883 मे बम्बई मे की गई। सवश्री फिरोजशाह मेहता और बदरुद्दीन तयबजी इसके सस्थापको मे से थे। इस एसोसियेशन ने प्रस्तावो, जलसो आदि द्वारा लोगो मे, सावजनिक विषयो मे दिलचस्पी उत्पन्न की तथा उनमे राजनीतिक चेतना पदा की।

**11 मद्रास प्रा तीय सम्मेलन, 1884 (Madras Provincial Conference, 1884)**

इस सम्मेलन का आयोजन मद्रास महाजन सभा द्वारा सन् 1884 म किया गया।

**12 राष्ट्रीय लीग, 1884 (National League, 1884)**

इस लीग की स्थापना सन् 1884 म बगाल म की गई। इसका उद्देश्य तथा कायक्रम वसा ही था जसाकि बाद मे काग्रेस ने अपनाया।

## काग्रेस का जन्म (Birth of the Congress)

उपयुक्त वणन से स्पष्ट है कि काग्रेस की स्थापना कोई आकस्मिक घटना नही थी। यह किसी एक घटना या किसी एक व्यक्ति के प्रयत्नो का फल नही थी। यह ब्रिटिश शासन द्वारा अनिच्छापूवक (Unintentional) और भारतवासियो द्वारा इच्छापूवक (Intentional) किये गये प्रयासो का फल थी। पश्चिमी शिक्षा पश्चिमी सभ्यता और पश्चिमी विचारधारा ने भारतीयो मे स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और स्वशासन की भावनाए जागृत कर दी थी सन् 1857 के विद्रोह ने विदेशियो के प्रति घृणा और स्वदेश के प्रति प्रेम और बलिदान की भावनाओ को जागत रखा था, धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनो ने भारतीय सभ्यता और सस्कृति की श्रेष्ठता पर बल दिया था, भारतीय समाचार पत्रो ने सामान्य राष्ट्रीय मच की माग की थी, ब्रिटिश सरकार की भारत विरोधी आर्थिक नीतियो न असन्तोष उत्पन्न कर दिया था भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सस्थायें तथा सगठन अपने अपने क्षेत्र मे भारतीय राजनीति को नई दिशा प्रदान कर रही थी। सन् 1877 मे दिल्ली दरबार के अवसर पर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के मस्तिष्क म एक राष्ट्रीय सस्था को स्थापित करने का विचार उत्पन्न हो गया था और सन् 1883 म भारतीय एसोसियेशन (Indian Association) द्वारा आयोजित राष्ट्रीय सम्मेलन (National Conference) इस दिशा की ओर ठोस

कदम था। स्पष्ट है कि कांग्रेस "राजनीतिक दासत्व की अनुभूति" और "धार्मिक पुनरुत्थान द्वारा राष्ट्रीय जागृति" तथा भारतीय नेताओं के प्रयासों का परिणाम थी।

जब उपयुक्त सभी शक्तियाँ राष्ट्रीय मंच की माग कर रही थी तो श्री एलेन ओक्टेवियन ह्यूम (Allan Octavian Hume) ने, जो भारतीय सिविल सेवा के अवकाश प्राप्त सदस्य (a retired member of I C S) थे, कलकत्ता विश्व विद्यालय के स्नातकों को मार्च 1, 1883 को एक खुला पत्र (Open letter) लिख कर उन्हें "अपने देशवासियों" के मानसिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक पुनरुत्थान के लिए एक समुदाय को संगठित करने के लिए प्रेरणा दी।" इस पत्र में श्री ह्यूम ने 'इस शाश्वत सत्य पर बल भी दिया कि सुख और स्वतंत्रता के लिए आत्म त्याग और निस्वार्थता ही विश्वसनीय पथ प्रदर्शक है।' इस पत्र में श्री ह्यूम ने 50 ऐसे निस्वार्थ व्यक्तियों की माग भी की जो अपने देश पर सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तयार हों।

श्री ह्यूम के उपयुक्त पत्र का भारतवासियों पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। दिसम्बर 1884 को देश के भिन्न-भिन्न भागों का प्रतिनिधित्व करने वाले 17 'भले और सच्चे' (good men and true) व्यक्ति मद्रास में दीवान बहादुर रघुनाथ राव (Dewan Bahadur Raghunath Rao) के निवास स्थान पर एकत्रित हुए तथा उन्होंने राष्ट्रीय संस्था बनाने के लिए देश के भिन्न भिन्न भागों में कार्य करने का प्रण लिया। इसी समय भारतीय राष्ट्रीय संघ (Indian National Union) की स्थापना की गई। बाद में दादा भाई नौरोजी के सुझाव पर इसका नाम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस रखा गया जो कांग्रेस के नाम से प्रसिद्ध है। मार्च 1885 में भारतीय राष्ट्रीय संघ ने बड़े दिनों की छुट्टियों में (Christmas holidays) भारत के भिन्न भिन्न भागों के प्रतिनिधियों के एक सम्मेलन के लिए घोषणा पत्र निकाल दिया। इस घोषणा पत्र में सम्मेलन के निम्न उद्देश्य स्पष्ट किये गये थे —

(अ) राष्ट्र के काम में लगे हुए सभी निष्ठावान कार्यकर्ता एक दूसरे से परिचित हो सकें

(ब) आगामी वर्ष के कार्यक्रम को निश्चित किया जा सके, तथा

(स) अप्रत्यक्ष रूप से, यह सम्मेलन राष्ट्रीय संसद के रूप में प्रस्फुटित हो सके।

संघ ने श्री ह्यूम को इस सम्मेलन को आयोजित करने तथा उसके लिए विवरण तयार करने के लिए प्रभारी (In charge) नियुक्त कर दिया।

---

1 Mr Hume emphasized the eternal truth that self sacrifice and unselfishness are the only unfailing guides to freedom and happiness Quoted by Mazumdar Indian National Evolution P 47

इस सम्मेलन को आयोजित करने के लिए ह्यूम को इसलिए नियुक्त किया गया था कि उस समय के नेताओं मे ह्यूम ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो राष्ट्रीय सस्था का निर्माण कर सकते थे और वे इस उद्देश्य में सफल भी हुए। उन्होने इस सस्था (Congress) की स्थापना में सरकारी हमदर्दी और समर्थन प्राप्त किया। ह्यूम इस सम्बन्ध में वाइसराय लार्ड डफरिन (Viceroy Lord Dufferin) से भी मिले तथा इस सस्था के लिए उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। यद्यपि ह्यूम इसे "सामाजिक विषयों" पर विचार करने वाली सस्था बनाना चाहते थे परन्तु लार्ड डफरिन के कहने पर ही उन्होने इसे राजनीतिक स्वरूप दिया। लार्ड डफरिन यह चाहते थे कि नई सस्था इगलण्ड के राजकीय विरोधी दल की भांति कार्य करे सरकार को यह बताये कि शासन मे कहा और क्या दोष हैं और उनको किस प्रकार दूर किया जा सकता है।" इस सम्बन्ध में श्री ह्यूम इगलण्ड भी गये और उन्होंने लार्ड रिपन, डलहौजी, जॉन ब्राइट और श्री स्लेग जैसे अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों की सद्भावनाएँ प्राप्त की। हाउस ऑफ कामन्स (H O C) मे भारतीय विषयों पर दिलचस्पी पैदा करने के लिए, इगलण्ड से लौटने से पूर्व, उन्होने वहा इण्डियन पार्लियामेन्टरी कमेटी (Indian Parliamentary Committee) की स्थापना की।

कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन पूना मे 25 से 28 दिसम्बर 1885 को होना निश्चित हुआ था परन्तु पूना मे हैजा (Cholera) की बीमारी फैल जाने के कारण यह अधिवेशन बम्बई मे हुआ। भारत के भिन्न भिन्न भागो से आये हुए 72[1] प्रतिनिधि श्री वोमेश चन्द्र बनर्जी (Womesh Chandra Banerjee) की अध्यक्षता मे गोकुल दास तेजपाल सस्कृत कॉलिज के भवन मे दिन के 12 बजे 28 दिसम्बर 1885 को राष्ट्रीय महत्त्व के विषयो पर विचार विमर्श करने के लिए एकत्रित हुए। इस तरह उस राष्ट्रीय सस्था का निर्माण हुआ जिसने समय बीतने पर वृहद रूप ग्रहण कर लिया। इसे ठीक ही 'देशी ससद का अकुर' कहा गया है। उस समय से कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन देश के किसी न किसी भाग मे होते रहे हैं। इसने राष्ट्र की भावनाओ को व्यक्त किया है तथा राष्ट्र की अमूल्य सेवायें की हैं।

कूपलैंण्ड का यह विश्वास कि "भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश राज की शिशु थी तथा ब्रिटिश अधिकारियो ने उसके पालन पोषण का आशीर्वाद दिया' पूर्ण सत्य नही है। यह ठीक है कि ब्रिटिश अधिकारियो ने इसकी स्थापना मे और इसके प्रारम्भिक काल मे उसे आशीर्वाद दिया परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है यह

---

1 ये लोग निर्वाचित सदस्य नही थे, इसलिए इन्हे जनता के प्रतिनिधि नही कहा जा सकता। परन्तु ये लोग राष्ट्र के सर्वोत्तम विचारो का प्रतिनिधित्व अवश्य करते थे।

भारतीया के स्वय के प्रयत्नो और राष्ट्रीय भावनाओ का परिणाम थी। जब काग्रेस का अधिवेशन बम्बई मे हो रहा था ठीक उस समय कलकत्ता मे राष्ट्रीय सम्मेलन[1] (A National Conference) हुआ। इस सम्मेलन मे केवल बगाल के ही प्रतिनिधि सम्मिलित नही हुए थे बल्कि मेरठ, इलाहाबाद, बनारस आदि बडे शहरा के प्रतिनिधि भी इसम शामिल हुए थे। बाद म राष्ट्रीय सम्मेलन के सदस्य काग्रेस मे मिल गए। इस तरह काग्रेस केवल ब्रिटिश शासन की शिशु नही थी बल्कि ब्रिटिश और भारतीय दोना के सयुक्त प्रयत्ना का फल थी। डा० जकारिया ने ठीक लिखा है कि काग्रेस "भारत और ब्रिटिश प्रजातन्त्रवादियो के सयुक्त प्रयत्नो का फल थी जो सकीर्ण राष्ट्रीय उद्देश्या से प्रेरित नही थे बल्कि जो सत्य और न्याय के प्रति निष्ठा रखते थे जिनकी पुष्टि मे दोनो अपने अपने देश के गौरव को देखते थे तथा शताब्दी के पारस्परिक लाभकारी सहयोग की परिपूर्ति समझते थे।"[2]

## काग्रेस की प्रकृति तथा स्वरूप

### (Nature and Character of Congress)

काग्रेस की प्रकृति तथा स्वरूप क्या था इसके बारे मे दो विचारधाराए हैं। इसके विरोधियो का कहना है कि यह प्रारम्भ से ही वर्गीय और साम्प्रदायिक सस्था थी। भारतीय रियासता का इसमे कोई प्रतिनिधित्व नही था। शिरोल न अपनी रचना इण्डियन अनरस्ट म लिखा है कि वह केवल एक वग का अथवा एक वग के भी एक खण्ड का प्रतिनिधित्व करती है। इस वग म पश्चिमी शिक्षा पाये हुए व्यवसायी वकील डाक्टर, अध्यापक, सम्पादक आदि मध्यम श्रेणी के लोग है। इसमे कोई स देह नही कि यह वग महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली है परन्तु वह कुल जनसख्या से शताश (One hundredth Part) से अधिक नही है।'[3] कई लोगा तथा वर्गो का इसमे प्रतिनिधित्व नही था अनेक को इसके साथ हमदर्दी नही थी। लार्ड लिटन ने इसे "पढे लिखे छोटे से वग का अग कहा जो भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व नही करती।" डफरिन ने इसे भारतीय जनता की "नगण्य सख्या" (Microscopic minority) की प्रतिनिधि कहा। कुछ का यह कहना था कि यह केवल हिन्दुओ का सगठन है। इसमे मुसलमाना और दलित (अस्पृश्य) वर्गो का किसाना तथा श्रमिको का प्रतिनिधित्व पूर्ण नही।

दूसरी विचारधारा इसके समयका की है जो इसे राष्ट्रीय सस्था मानते हैं। इनका कहना है कि काग्रेस प्रारम्भ से ही एक राष्ट्रीय सस्था थी, वर्गीय या साम्प्रदायिक नही। वे प्रारम्भ से ही राष्ट्र के सभी वर्गो सभी जातियो और सम्प्रदायो

---

1 इस सम्मेलन के मुख्य सगठनकर्ता थे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा अमीर अली।

2 Zacharias Renascent India, P 114

3 Chirol, Sir Valentine Indian Unrest PP 164-155

के हिता का प्रतिनिधित्व करती रही है। इसके सभी काय या निणय राष्ट्रीय भावनाओ से प्रेरित थे साम्प्रदायिक भावनाओ से नही। प्रो० हीरालाल सिह ने ठीक कहा है कि "काग्रेस के कायक्रम मे एक भी बात ऐसी नही ह जिसके विरुद्ध कोई भी वग अ गुली उठा सके।"

प्रारम्भ से ही इसकी सदस्यता सभी वर्गों के लिए खुली थी, किसी विशेष वग या जाति के लिए नही। इसका राष्ट्रीय स्वरूप इस बात से ही स्पष्ट हो जाता है कि जिन लोगो ने इसकी स्थापना की तथा जिन लोगो ने इसका पालन पोषण किया वे केवल हिन्दू ही नही थे बल्कि भिन्न भिन्न प्रदेशो तथा भिन्न भिन्न भाषायें बोलने वाले व्यक्ति थ। महात्मा गाधी ने काग्रेस के राष्ट्रीय स्वरूप को द्वितीय गोल मेज सम्मेलन मे इस प्रकार व्यक्त किया था "यह वही है जो इसका अभिप्राय है अर्थात यह राष्ट्रीय सस्था है। यह किसी विशेष वग या हित का प्रतिनिधित्व नही करती। यह सभी भारतीय हिता और वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है। इस सस्था की उपज एक अ ग्रेज मस्तिष्क, एलेन आक्टेवियन ह्यूम मे हुई, इसका पोषण फिरोजशाँ मेहता और दादा भाई नौरोजी जसे महान पारसियो ने किया। प्रारम्भ स ही काग्रेस मे मुसलमान, ईसाई और एग्लो इण्डियन थे। मैं यह कह सकता हूँ कि सभी धम, सम्प्रदाय तथा मता का इसमे न्यूनाधिक मात्रा मे प्रतिनिधित्व हुआ है। स्वर्गीय बदरुद्दीन तयब ने ता अपने आपको काग्रेस के साथ मिला लिया था, मुसलमान और पारसी काग्रेस के अध्यक्ष रहे है। स्त्रिया भी इसके अध्यक्ष पद पर विराजमान रही हैं। डा० एनी बेसेन्ट इसकी प्रथम स्त्री अध्यक्ष थी तथा उसके बाद श्रीमती सरोजनी नायडू इसकी अध्यक्ष रही। इस तरह यह पूण रूप से एक राष्ट्रीय सस्था है।"

काग्रेस ने कभी भी समस्याओ पर साम्प्रदायिक, प्रादेशिक या वर्गीय दृष्टिकोण से विचार नही किया। इसके वार्षिक अधिवेशनो म सम्मिलित हाने वाले प्रतिनिधि किसी एक जाति सम्प्रदाय या प्रदश से नही होते थ। यह कहना भी सत्य नही कि काग्रेस ने देशी रियासतो या उनके शासका के हिता की रक्षा नही की। यद्यपि काग्रेस के कायक्रम मे रियासतो के सम्बन्धित विषय शामिल नही थे परन्तु उनके हितो की रक्षा काग्रेस ने अवश्य की। जसे सन् 1889 मे काग्रस के हितैषी श्री चार्ल्स ब्रेडला ने कश्मीर के राजा के पक्ष मे, जिसे गद्दी से उतार दिया गया था, ब्रिटिश ससद म आवाज उठाई। इसी तरह सन् 1896 मे काग्रेस न एक प्रस्ताव पास किया जिसम यह अनुरोध किया गया कि 'किसी राजा को शासकीय अव्यवस्था के कारण तब तक गद्दी से न हटाया जाय जब तक उसके दोष की पुष्टि एक ऐसे न्यायालय द्वारा न हो, जिसम भारत सरकार तथा भारतीय राजकुमारो का एक समान विश्वास हो।"

स्पष्ट है कि जिन लोगो ने (विशेषकर यूरोपीय विचारको ने जिनके साम्राज्यीय हित थे तथा साम्प्रदायिक मुसलमानो ने जो धार्मिक कट्टरता मे विश्वास

करते थे तथा जो अंग्रेजी शासकों की चाल में फंस गये) कांग्रेस को वर्गीय संस्था बताने का प्रयास किया है उनकी स्वयं की भावनाएं संकीर्ण तथा पक्षपातीय थी। कांग्रेस की प्रकृति और स्वरूप प्रारम्भ से ही व्यापक और राष्ट्रीय रहा है वर्गीय या साम्प्रदायिक नहीं। यह सत्य है कि प्रारम्भ में यह एक शिक्षित वर्गों की संस्था थी परन्तु उनका दृष्टिकोण सीमित नहीं था बल्कि राष्ट्रीय था, धीरे धीरे यह श्रमिक और गांव के लोगों की संस्था बन गयी। इसने उन करोड़ों लोगों का प्रतिनिधित्व किया है जो अर्द्ध भूखे, अर्द्ध नंगे और अशिक्षित गँवार थे। यह सत्य है कि इसमें हिन्दुओं की संख्या अधिक थी और मुसलमानों तथा अल्पमत वालों की संख्या कम थी। परन्तु इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता कि भारत में हिन्दुओं की जन संख्या भी अधिक है और कांग्रेस में हिन्दुओं की संख्या अधिक है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह स्वाभाविक है। इस आधार पर इसे राष्ट्रीय संस्था न मानना वास्तविक तथ्यों की उपेक्षा करना है। यदि उस समय के मुस्लिम नेता सर सय्यद अहमद (Sir Syed Ahmed) ने अपने आपको कांग्रेस से अलग रखा तो इसमें उनके अपने स्वार्थ हित हो सकते है। यह तथ्य नहीं भुलाया जा सकता कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखने वाले मुस्लिम नेता उस समय भी कांग्रेस के सदस्य थे।

कांग्रेस की प्रकृति और स्वरूप ही एक ऐसा तत्व है जो उसके सारे इतिहास में नहीं बदला। यह सदैव राष्ट्रीय रहा है। इसके साधनों और उद्देश्यों में समय समय पर अवश्य परिवर्तन हुए हैं परन्तु इसके राष्ट्रीय स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसने हमेशा राष्ट्रीय भावनाओं को संवैधानिक तरीकों से सुलझाने का प्रयास किया।

## कांग्रेस के उद्देश्य

### (Aims and objectives of Congress)

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, कांग्रेस के उद्देश्यों में समय समय पर परिवर्तन होता रहा है। प्रारम्भ में कांग्रेस छोटे छोटे सुधारों से ही सतुष्ट थी, वह वन्दनाओं, प्रार्थनाओं द्वारा ही तथा प्रस्तावों और शिष्टमण्डलों द्वारा ही सुधार प्राप्त करने की इच्छा रखती थी। परन्तु जब 1906 में इसमें उग्रवादियों का प्रभाव बढ़ा तो इसने ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक साम्राज्य के उद्देश्य को अपना लक्ष्य निर्धारित कर लिया, यद्यपि इसने स्वदेशी बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा की नीति को अपना तो लिया परन्तु उन्हें कार्यान्वित नहीं किया। जब संवैधानिक साधन वांछित सुधारों को लाने में अपर्याप्त सिद्ध हुए तो हिंसा रहित उग्र तरीकों को अपनाया गया तथा स्वदेशी, बहिष्कार असहयोग और सविनय अवज्ञा और "भारत छोड़ो" के तरीकों को अपनाया गया। सन् 1930 में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य (complete Independence) को अपना लक्ष्य निर्धारित कर लिया, आदि। इस

तरह जसे जसे राष्ट्रीय आन्दोलन मे प्रगति होती गई वसे वैसे काग्रेस के उद्देश्यो मे तथा उसकी प्राप्ति के तरीको म भी परिवतन होता गया।

काग्रेस के प्रथम अधिवेशन म श्री वामेशचन्द्र बनर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे काग्रेस के उद्देश्यो को निम्न प्रकार से व्यक्त किया ,—

(i) साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागो म रहने वाले कायकर्ताओ मे–जो भारतीय हितो के लिए प्रयत्नशील है—आपसी सम्पक और मित्रता को प्रोत्साहन देना।

(ii) लाड रिपन के शासनकाल मे उत्पन्न राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित और दृढ करना तथा भारत के देश प्रेमियो मे वण, धम और प्रान्तीय मतभेदो को सीधे सम्पर्को द्वारा दूर करना।

(iii) महत्त्वपूण वतमान सामाजिक समस्याओ के सम्बन्ध म भारतीय शिक्षित वग के मत को प्रमाणित रूप से एकत्रित करना।

(iv) उस नीति को निर्धारित करना जिसके अनुसार आगामी वर्षो मे भारतीय राजनीतिक नेता जनहित के काय कर सके।

## क्या भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए एक 'रक्षा नली' (अभय दीप) (Safety-Valve) के रूप में की गई थी ?

इस सम्बन्ध मे दो प्रकार की विचारधाराएँ विद्यमान है। एक विचारधारा यह है कि काग्रेस की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य को छिन्न भिन्न होने से रोकने के लिए की गई थी। दूसरी विचारधारा यह है कि काग्रेस उदार भावनाओ का परिणाम थी। ह्यूम तो इसे सामाजिक सस्था बनाना चाहते थे परन्तु लाड डफरिन के कहने पर इसे राजनीतिक स्वरूप दिया गया। लाड डफरिन चाहते थे कि "नई सस्था (काग्रेस) इग्लण्ड के राजकीय विरोधी दल की भाति काम करे सरकार को यह बताए कि शासन मे कहा और क्या दोष है और उनको किस प्रकार दूर किया जा सकता है।"[1] इस तरह यह कहा जाता है कि काग्रेस को भारतीय हितो के लिए तथा भारतवासियो को राजनीतिक रूप से सगठित करने के लिए स्थापित किया गया था।

जो विचारक तथा नेता यह मानते है कि काग्रेस को ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए बनाया गया था उनमे मुख्य है लाला लाजपतराय तथा सर विलियम वैडरबन। इनका यह विश्वास है कि उनीसवी शताब्दी की आठवी दशाब्दी मे भारत मे असन्ताप इतना अधिक था कि स्थिति निश्चित रूप से विस्फोटक थी। यह भी सम्भव था कि शिक्षित वग लोगो को सगठित कर एक दूसरे राष्ट्रीय विद्रोह (सन् 1857 के विद्रोह की भाति) का उत्पन्न कर देता। सर विलियम वैडरबन ने तो

---

1 Mazumdar, Indian National Evolution, P 51

स्पष्ट लिखा है कि "लार्ड लिटन के शासन के अंतिम दिनों में स्थिति क्रांति के छोर पर पहुंच गई थी।" श्री ह्यूम[1] उन गुप्तचर प्रतिवेदनों (C I D Reports) से परिचित थे जिनमें 'षड्यन्त्रकारी संगठनों के तेजी से बढ़ने की बात कही गई थी।" बम्बई प्रेसीडेंसी के दक्षिणी भाग में तो विद्रोह फूट ही पड़े थे।[2] लालाजी कहते है कि ह्यूम ने, जो इस भयंकर विस्फोट का अनुमान कर चुके थे, ब्रिटिश साम्राज्य को बचाने के लिए ही प्रान्तीय नेताओं को एकत्रित कर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। सर विलियम वेडरबर्न के शब्दों में "यह योजना (कांग्रेस की स्थापना) क्रांति का भय दूर करने तथा भारत के राष्ट्रीय उत्साह को भंग करने के उद्देश्य से ही बनाई गई थी।" लालाजी ने अपनी रचना 'यंग इण्डिया' में स्पष्ट लिखा है कि कांग्रेस की स्थापना का मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी साम्राज्य को खतरे से बचाना था, भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करना नहीं। ब्रिटिश साम्राज्य का हित प्रमुख था, भारत का गौण और यह कोई नहीं कह सकता कि कांग्रेस ने इस उद्देश्य का पालन नहीं किया।"[3]

कांग्रेस की स्थापना द्वारा ह्यूम भारतीयों की कल्पनाओं और भावनाओं को भी वश (Capture) में करना चाहते थे। वे उस राष्ट्रीय असन्तोष को समेट लेना चाहते थे जो देश में उमड़ रहा था। वास्तव में, कांग्रेस के माध्यम से वे भारतीयों के तत्कालीन असन्तोष को जानना चाहते थे। इस उद्देश्य में उन्हें सफलता भी मिली। राष्ट्रीय नेताओं ने तत्कालीन असन्तोष को कांग्रेस के मंच पर व्यक्त कर बहा दिया राष्ट्रीय उत्साह ठण्डा पड़ने लगा और राष्ट्रीय नेता ब्रिटिश न्याय की बात कर भिक्षावृत्ति में विश्वास करने लगे कांग्रेस ने संवैधानिक और शांतिमय तरीकों को अपनाया जिससे क्रांतिकारी और आतंकवादियों को नष्ट करने के लिए सरकार को अवसर मिल गया। भारतीयों के असन्तोष का उभार ठण्डा पड़ने लगा। संक्षेप में जिस चीज को ब्रिटिश सरकार तलवार से (आतंक, भय, दमन अपमान, जाति भेदभाव आदि से) प्राप्त नहीं कर सकी ह्यूम ने उसे मीठे शब्दों और मनोहारी

---

1 श्री ए० ओ० ह्यूम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक थे। वह उसके प्रथम सचिव भी रहे। वे भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य थे तथा इस सेवा से निवृत्त (retire) होने से पूर्व अनेक महत्त्वपूर्ण पदों पर रहे थे। इन्हें गुप्तचर विभाग द्वारा तैयार प्रतिवेदनों से अच्छी जानकारी थी।

2 शिक्षित वर्ग में से एक नेता ने अपने आपको शिवाजी द्वितीय कहना शुरू कर दिया था और उसने बम्बई के गवर्नर सर रिचर्ड टेम्पल (H E Sir Richard Temple) के सिर के लिए 500 रु के इनाम की घोषणा भी की थी।

3 See Lala Lajpat Rai s Young India, pp 135–138 and pp 141–142

वायदो से प्राप्त किया ।[1] एक लेखक ने ठीक कहा है कि "काग्रेस की स्थापना द्वारा वे भारत की जागृत राष्ट्रीय चेतना का एक ऐसी दिशा मे ले जाना चाहते थे, जो ब्रिटिश शासन को देश के लिए वरदान मानते हुए शासन सम्बन्धी सुधारो के लिए वैधानिक और शान्तिपूर्ण ढग से यत्न करती रहे ।"

कोई भी अग्रेज चाहे वह कितना ही उदार प्रकृति का क्यो न हो और भारतवासियो से उसकी हमदर्दी चाहे कितनी ही क्यो न हो वह यह नही चाहता था कि कोई भी भारतीय सस्था ब्रिटिश साम्राज्य की जडो को खोखला करे । यह बात स्वय ह्यूम के उन विचारो से स्पष्ट है जो उसने अपने मित्र सर आक्लण्ड कॉलविन (Sir Auckland Colvin) को व्यक्त किये । उन्होने उसे कहा था कि "भारत मे असतोष की बढती हुई शक्तियो से बचने के लिए एक 'रक्षा नली' की आवश्यकता थी तथा काग्रेस से बढकर रक्षा नली कोई दूसरी वस्तु नही हो सकती थी ।"[2] स्पष्ट है कि ह्यूम द्वारा काग्रेस की स्थापना भारतीयो के सुधार या उन्नति के लिए नही की गई थी बल्कि ब्रिटिश राज की नीवो को निश्चित और सुदृढ करने के लिए की गई थी । श्री रजनी पाम दत्त (Shri Rajni Palme Dutt) का भी यही विश्वास है कि असतोष और अग्रेजी विरोधी भावना के विरुद्ध सरक्षण के रूप मे ही काग्रेस की स्थापना की गई ।

डा० नन्दलाल चटर्जी का यह विश्वास है कि काग्रेस की स्थापना रूसी आक्रमण के भय से की गई थी और जब यह भय समाप्त हो गया तो उसके प्रति सरकार का व्यवहार बदल गया । चटर्जी के शब्दो मे "श्री ह्यूम ने काग्रेस की स्थापना का विचार उस समय देश के सम्मुख प्रस्तुत किया जबकि भारत पर रूसी आक्रमण का विशेष भय था, अत यह स्पष्ट है कि उनका उद्देश्य भारतीय आन्दोलन को ठीक दिशा मे परिवर्तित कर देना तथा देश मे रूसियो के हथकण्डो तथा शरारतो को रोकना था जब रूसी आक्रमण का भय समाप्त हो गया तो भारत सरकार का व्यवहार काग्रेस के प्रति एकदम बदल गया ।"[3]

लार्ड डफरिन के ये शब्द भ्रमपूर्ण नजर आते है कि वे काग्रेस को भारत मे इगलैण्ड के विरोधी दल का स्वरूप देना चाहते थे क्योकि यदि वे भारतीयो को राजनीतिक रूप से सगठित करना चाहते थे तो उसकी स्थापना के दो वर्ष बाद ही उसे "भारतीयो की नगण्य सख्या की प्रतिनिधि" (Represents a microscopic

---

1 See Satyapal and Praboth Chandra Sixty years of Congress, P 110

2 Quoted by Sir William Wedderburn in his A O Hume, P 71

3 See Modern Review October, 1950

minority of India) की सज्ञा नही देते । जब काग्रेस की स्थापना के लिए लाड डफरिन ह्यूम से सहयोग कर रहे थे तथा उन्हे इसके लिए आशीर्वाद द रहे थे उस समय भी लाड डफरिन काग्रेस को एक सुदढ राष्ट्रीय सगठन के रूप मे नही देखना चाहते थे । उन्होने ह्यूम के इस सुझाव को स्वीकार नही किया कि बम्बई के गवनर सर रिचड टम्पल काग्रेस के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता करें । उनका कहना था कि ऐसे सगठन की बठको मे सरकार की नीति एव कार्यों की आलोचना होगी और सरकार ऐसे सगठन को समथन नही द सकती ।[1]

जब काग्रेस ने अपने मच से परिषदो म सुधारो और उनके अधिकारो की माग करना शुरू किया, वतमान शासन प्रणाली से असन्तोष व्यक्त किया, और निर्वाचित सदस्यो की सख्या म वृद्धि की माग की तो शासनाधिकारियो तथा शासक जाति ने उसकी निन्दा करनी शुरू कर दी । इतना ही नही उन्होने राष्ट्रीय आदोलन मे फूट डालना शुरू कर दिया । मुसलमानो को पथक किया गया[2] और काग्रेस को "हिन्दू जमात" कहा गया । शिरोल के लिए तो काग्रेस "साम्प्रदायिक हिन्दुओ की प्रवक्ता थी", यह "भारत की केवल शताश जनसख्या का ही प्रतिनिधित्व करती थी ।' काग्रेस को निन्दित करने का एक ही उद्देश्य हो सकता था कि राष्ट्रीय तत्त्वो को निबल कर साम्राज्यीय हितो को सुदढ किया जाय ।

उपयुक्त वणन से लाला लाजपतराय का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि 'काग्रेस की स्थापना का मुख्य उद्देश्य अग्रेजी साम्राज्य को खतरे से बचाना था भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करना नही । ब्रिटिश साम्राज्य का हित प्रमुख था, भारत का गौण ।" काग्रेस ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए एक रक्षा नली थी ।

दूसरी विचारधारा उन विचारको की है, जो पहली विचारधारा का पूणतया खण्डन तो नही करते या उसे पूण असत्य तो नही मानते, परन्तु जो यह कहते हैं कि काग्रेस की स्थापना म ह्यूम के हृदय मे भारतवासियो का हित भी था तथा वे उन्हे अपने अधिकारो के लिए प्रहार करना सिखाना चाहते थे और इसके लिये सगठन की आवश्यकता थी । अपने पक्ष म ये विचारक यह तक प्रस्तुत करते हैं कि 'ह्यूम एक उदार प्रकृति के व्यक्ति थे भारतीयो से उन्हे विशेष सहानुभूति थी स्वतन्त्रता के व पुजारी थे, दुख और दरिद्रता के दृश्य से उनका हृदय कराह उठता था आदि । ये विचारक कहते है कि स्वय लालाजी ने स्वीकार किया है कि भारतीयो के प्रति

1 See Grover British Policy towards Indian Nationalism, P 112

2 यह बात भी ध्यान देने की है कि उस समय के महान मुस्लिम नेता सर सयद अहमद खाँ ने अपने आपको काग्रेस मे पथक रखा । क्या यह काय एम० ए० ओ० कालिज के अग्रेज प्रिंसिपल थीयक का नही था ?

अपने देशवासियो के कायरतापूर्ण व्यवहार से उन्हे बडा दुःख होता था  इतिहास के गम्भीर अध्ययन से उन्हे यह बात भली भाति ज्ञात थी कि कोई सरकार, चाहे वह राष्ट्रीय हो अथवा विदेशी हो, सार्वजनिक मागो को केवल नीचे से दबाव पडने पर ही स्वीकार करती है  अतः वह यह चाहते थे कि भारतवासी अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रहार करे  प्रथम कदम था सगठन। अतः उन्होने सगठन के लिए मन्त्रणा दी।"[1]

लाला लाजपतराय के ये विचार अतिशयोक्तिपूर्ण नजर आते हैं कि 'यह कोई नही कह सकता कि काग्रेस ने उस उद्देश्य का (साम्राज्य की सुरक्षा का) पालन नही किया।' यह कहना बहुत कठिन है कि दादाभाई नौरोजी डब्ल्यू सी बनर्जी, फीरोजशाह मेहता, तैयबजी, रानाडे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जसे राष्ट्रीय नेताओ का *उद्देश्य साम्राज्यीय हितो की रक्षा करना था। यह सत्य है कि काग्रेस के कारण* क्रान्तिकारियो और आतकवादियो का दमन हुआ परन्तु यह ठीक नही है कि काग्रेस ने राष्ट्रीय तत्त्वो को कुचलने मे सहायता की। काग्रेस एक विशुद्ध राष्ट्रीय और स्वदेशी सस्था थी। यह साम्राज्यवाद की पोषक नही थी।

उपर्युक्त दोनो विचारधाराओ मे आशिक सत्याश ही है क्योकि जहा ह्यूम उदारवादी भावनाओ से प्रभावित थे वहा वे ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा भी चाहते थे। इतना अवश्य है कि उन परिस्थितियो में किसी भारतीय द्वारा काग्रेस जसी राष्ट्रीय सस्था की स्थापना करना असम्भव था। ब्रिटिश नौकरशाही इसकी कभी आज्ञा नही देती। काग्रेस की स्थापना का श्रेय तो ह्यूम को देना ही होगा। श्री गोपालकृष्ण गोखले ने ठीक लिखा है कि "कोई भी भारतीय इण्डियन नशनल काग्रेस की स्थापना नही कर सकता था। प्रथम तो इसलिए कि ऐसी महान सस्था की नीव रखने के लिए एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जिसका देश भर में प्रभाव हो। भारतीय नेताओ में उस समय ऐसे कम ही व्यक्ति थे, क्योकि अधिकतर नेता स्थानीय मामलो में उलझे हुए थे। दूसरे, यदि कोई भारतीय ऐसी सस्था की नीव रखने का साहस करता भी तो नौकरशाही उसके इस प्रयत्न को कदाचित सफल न होने देती। नौकरशाही मे उन दिनो राजनीतिक आन्दोलन के प्रति सदेह था और यदि ह्यूम एक अग्रेज तथा प्रसिद्ध पदाधिकारी न होते तो सम्भवत वह उसके द्वारा चलाये जाने वाले इस आदोलन का भी किसी न किसी तरह दमन कर देती।"[2]

यहा यह बात भी ध्यान देने की है कि काग्रेस की स्थापना केवल ह्यूम के प्रयासो का ही फल नही थी। यह उन घटनाओ का स्वाभाविक परिणाम थी जो

---

1 See Lala Lajpat Rai Ibid pp 141 & 142
2 Gokhale, Gopal Krishan Indian National Documents Vol II p 85

ब्रिटिश राज के कारण उत्पन्न हुई थी।[1] यह आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक असन्तोष, जन जागृति और विदेशी शासन के प्रति घृणा की भावना तथा शिक्षित वर्ग की बेचनी और असन्तोष का परिणाम थी। इसमें ब्रिटिश इण्डियन एसासियेशन', पूना सावजनिक सभा भारतीय एसोसियेशन (Indian Association), राष्ट्रीय सम्मेलन तथा ऐसी ही अनेक प्रांतीय संस्थाओं के प्रयासों का फल था। डा आर सी मजूमदार ने ठीक लिखा है कि 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्भव कोई आकस्मिक घटना नहीं थी और न ही इसके तौर तरीकों में कोई नयापन था। सन् 1883 और 1885 में होने वाला राष्ट्रीय सम्मेलन (National Conference) अपने मौलिक स्वरूप में काफी सीमा तक इसके अनुरूप था।"[2] डा पट्टाभि सीतारमय्या के शब्दों में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों के संयोग तथा राजनीतिक दासता की अनुभूति का परिणाम थी तथा यह संस्था राष्ट्रीय पुनरुत्थान का प्रतिपादन करने वाली संस्था थी। कूपलण्ड का विश्वास है कि 'सही अर्थ में भारतीय कांग्रेस ब्रिटिश राज्य की पुत्री थी और ब्रिटिश अधिकारियों ने इसके पोषण का आशीर्वाद दिया।'[3]

## कांग्रेस इतिहास के भिन्न भिन्न काल
## (Different phases of Congress History)

कांग्रेस इतिहास के भिन्न भिन्न कालों को दो आधारों पर बांटा जा सकता है (i) कांग्रेस द्वारा अपनाये गये साधनों के आधार पर (ii) कांग्रेस द्वारा निश्चित किए गये उद्देश्यों के आधार पर।

**(1) साधनों के आधार पर** —साधनों के आधार पर कांग्रेस इतिहास को दो कालों में बांटा जा सकता है। पहला काल "राजनीतिक भिक्षावृत्ति' का काल है जो सन् 1885 से लेकर सन् 1919 तक रहा। इस काल में कांग्रेस के साधन केवल संवैधानिक एवं शान्तिमय थे। प्रार्थनाओं, आवेदन पत्रों, प्रस्तावों और शिष्ट मण्डलों द्वारा कांग्रेस ब्रिटिश जाति की न्याय भावनाओं को जागृत कर आवश्यक सुधारों को प्राप्त करना चाहती थी। दूसरा काल "हिंसा रहित सीधी कार्यवाही का काल है जो सन् 1920 से लेकर 1947 तक रहा। इस काल में सत्याग्रह के अस्त्र का प्रयोग किया गया। इस काल के साधनों की विशेषता यह थी कि इसमें हिंसा का प्रयोग बिल्कुल नहीं था। सरकार की क्रूर नीतियों, दमन

1 जिन कारणों ने राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को स्थापना की उनका वर्णन पहले किया गया है।
2 Majumdar, R C ' History of the Freedom Movement in India
3 Coupland The Indian Problem 1833–1933 p 23

अत्याचार का विरोध भी असहयोग, बहिष्कार, हडताल, सविनय अवज्ञा, उपहास तथा "भारत छोडो" आ दोलनो द्वारा किया गया। राष्ट्रीय आन्दोलन मे काग्रेस द्वारा अपनाये गये ये साधन भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की विशेषता थी। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नही होगा कि राजनीति शास्त्र को काग्रेस की यह अनुपम देन ह। ये साधन युद्ध का एक विकल्प है।

**(2) उद्देश्यो के आधार पर** —उद्देश्यो के आधार पर काग्रस इतिहास का निम्न कालो मे बाटा जा सकता है —

(i) प्रथम काल 1885–1905
(ii) द्वितीय काल 1906–1919
(iii) तृतीय काल 1920–1929
(iv) चतुथ काल 1930–1939
(v) पचम काल 1940–1947

**(i) प्रथम काल 1885–1905** —काग्रेस इतिहास का यह प्रारम्भिक काल था। इस काल की मुख्य विशेषताओ को निम्न बिन्दुओ मे व्यक्त किया जा सकता है

(अ) इस काल मे काग्रेस का उद्देश्य बहुत सीमित था। वह छोटे छोटे सुधारो (piece meal reforms) को ही पर्याप्त समझती थी। विधान परिषदो म सुधार तथा उनकी शक्तियो म विस्तार, निर्वाचित सदस्यो की सख्या मे वृद्धि, काय पालिका और व्यवस्थापिका को पृथक करना तथा भारतीयो का भारतीय प्रशासन मे भाग दिलान तक ही इसके उद्देश्यो की पूर्ति थी। इस काल मे काग्रेस न गम्भीर सुधारो की माग तक नही की। सन् 1895 मे श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण म कहा था कि "वे इस बात से परिचित नही कि किसी भी जिम्मेदार काग्रेसी न लोगो के लिए प्रतिनिधि सस्थाओ की माग की हो" वे "शिक्षित वग के लिए प्रतिनिधि सस्थाओ के सशोधित (modified) स्वरूप से ही सतुष्ट हो जाते।'

(ब) इस काल म काग्रेस ब्रिटिश शासन की पूरा भक्त थी। उसे ब्रिटिश जाति की न्यायप्रियता और औचित्य की भावना पर पूरा आस्था थी। इतना ही नही काग्रेस इस काल म ब्रिटिश शासन को भारत के लिए "ईश्वरीय वरदान' मानती थी। इसका विश्वास था कि भारत का विकास ब्रिटन के साथ स्थाई सम्बन्ध बनाये रखने मे ही है।

(स) इस काल म काग्रेस अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए न केवल सवधानिक तथा शान्तिमय साधनो म विश्वास करती थी बल्कि वन्दना तथा प्राथना भरी भाषा म सुधारो की माग करती थी। वह प्रस्तावो, शिष्टमण्डलो द्वारा अपने पक्ष क औचित्य को सिद्ध कर ही अग्रेजो से सुधार की माग करती थी।

(द) इस काल मे काग्रेस एक मध्यवर्गीय सस्था थी। सवश्री तिलक और

लाला लाजपतराय को छोड़कर इसके नेताओं का जनता के साथ सम्पर्क नहीं था। परन्तु प्रो कूपलण्ड के ये विचार मिथ्या प्रतीत होते हैं कि "कांग्रेस की कमजोरी इस बात में थी कि राष्ट्रीय आंदोलन के सभी शिक्षित वर्गों ने इसका समर्थन नहीं किया था यह अखिल भारतीय देशभक्ति की अभिव्यक्ति नहीं"[1] थी। यद्यपि सर सैय्यद अहमद[2] ने इसका साथ नहीं दिया परन्तु उस समय के सभी प्रमुख नेताओं ने कांग्रेस का साथ दिया। कांग्रेस राष्ट्रीय संस्था थी वर्गीय या साम्प्रदायिक नहीं। इसके सदस्यों में सभी जातियों, धर्मों, भाषाओं और प्रान्तों के लोग थे। समस्याओं पर इसका दृष्टिकोण भी राष्ट्रीय था, सकीर्ण या वर्गीय नहीं। इस काल की कांग्रेस के बारे में केवल यह कहा जा सकता है कि इसके नेता राजनीति में अभी निपुण नहीं थे और उन्हें जनता की भावनाओं का पूरा ज्ञान नहीं था।[3]

(ii) द्वितीय काल 1906–1919 —इस काल में कांग्रेस का उद्देश्य अन्य उपनिवेशों के समान भारत में भी स्वराज्य को प्राप्त करना था। इस उद्देश्य की घोषणा 1906 में, कलकत्ता में हुई कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में, कांग्रेस अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी ने स्वयं की। इसी अधिवेशन में कांग्रेस ने 'स्वदेशी', 'बहिष्कार' और "राष्ट्रीय शिक्षा' के प्रस्तावों को भी स्वीकार किया। परन्तु सन् 1907 में, सूरत में, कांग्रेस में उदारवादियों और उग्रवादियों में विघटन होने के कारण इन प्रस्तावों को कार्यान्वित नहीं किया गया। सन् 1916 तक कांग्रेस उदारवादियों के अधीन रही और वे मूलत संवैधानिक तरीके ही अपनाते रहे।

इस काल की एक विशेषता यह है कि इसी काल में (सन् 1916 में) उग्रवादी (सर्वश्री गोखले और फिरोजशा मेहता की मृत्यु के कारण और एनी बेसेन्ट के प्रयासों के कारण) फिर कांग्रेस में मिल गये। लखनऊ समझौते के फलस्वरूप कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों का उद्देश्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करना निश्चित हुआ तथा लीग भी कांग्रेस के साथ मिल गई। इसी काल में श्री तिलक और एनीबीसेन्ट द्वारा चलाये गये होम रूल आन्दोलन को कांग्रेस के कार्यक्रम में स्वीकार कर लिया गया।

---

1 Its real weakness lay in the fact that the nationalist movement was not supported by all educated Indians it was not expression of a Pan Indian patriotism Coupland India, A Restatement p 90

2 उस समय के प्रमुख नेताओं में केवल सर सय्यद अहमद ही ऐसे मुस्लिम नेता थे जिन्होंने कांग्रेस का साथ नहीं दिया था। सम्भवत उन्होंने यह अलीगढ़ विश्व विद्यालय के प्रिंसिपल श्री बेक (Buck) के समझाने पर किया।

3 See Zacharia Renascent India p 116

इस काल की एक अन्य विशेषता यह है कि, कांग्रेस के 1907 में विघटन के बाद, ब्रिटिश सरकार ने "सुधारों और दमन" (Reforms and Repression) की दोहरी नीति को अपनाया। सन् 1909 के सुधारों ने जहां विधान परिषदों की रचना तथा शक्तियों में सुधार किया वहां इसने साम्प्रदायिक चुनावों का आरम्भ करके भारतीय राजनीति में विष घोल दिया। उग्रवादियों और आतंकवादियों का सफाया करने के लिए कड़े दण्ड दिये गये, स्वयं श्री तिलक को छः वर्ष के कारावास का दण्ड दिया गया, अनेक पर मुकदमें चलाये गये, अनेक को मृत्यु दण्ड दिया गया। नागरिक स्वतन्त्रताओं का हनन किया गया, समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता का गला घोटने के लिए सन् 1908 में समाचार पत्र (असन्तोष की उत्तेजना) अधिनियम पास किया गया सन् 1908 में ही फौजदारी संशोधन अधिनियम बनाया गया, सन् 1911 में षडयन्त्रकारी सभा अधिनियम पास किया गया। परन्तु जितना सरकार ने उग्रवादियों और आतंकवादियों का दमन किया उतना ही क्रांतिकारी आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला। मारपीट, लूट, हत्यायें सामान्य घटनायें हो गईं। सन् 1912 में लार्ड हार्डिंग पर बम भी गिराया गया। सन् 1915 में तो क्रान्तिकारियों ने जर्मन सेनाओं के साथ मिलकर 1857 के विद्रोह के बाद पुनः ब्रिटिश साम्राज्य को उखाड़ फेंकने का प्रयास किया परन्तु यह प्रयास सफल नहीं हुआ।

इसी काल में, सन् 1914 में, प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ। कांग्रेस ने महात्मा गांधी के प्रयासों से सरकार की तन-मन-धन से सहायता की। ब्रिटिश सरकार की युद्ध घोषणाओं से स्पष्ट था कि युद्ध विश्व में "प्रजातन्त्र को सुरक्षित रखने के लिए लड़ा जा रहा है।" भारतीय कांग्रेसी नेता यह विश्वास करते थे कि युद्ध के बाद उन्हें भी स्वशासित संस्थायें प्रदान की जायेंगी। इसी धारा में सरकार ने 1917 की घोषणा द्वारा भारतीय प्रशासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों को अधिक से अधिक संख्या में सम्मिलित करने तथा स्वशासित तथा उत्तरदायी संस्थाओं के क्रमिक विकास' की नीति स्पष्ट की।

इस काल की एक भयंकर दुःखद घटना यह है कि सरकार ने "युद्ध घोषणाओं" और "1917 की घोषणा" की भावनाओं (Spirit) में काम करने के स्थान पर 'शासन ना', रौलट विधेयक' और जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड का सहारा लिया। इन घटनाओं ने सारे देश में निराशा, घृणा और विरोध की भावनाओं को जन्म दिया।

(iii) तृतीय काल 1920–1929—इस काल में कांग्रेस का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत और यदि आवश्यक हो तो ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति ही रहा। परन्तु इस काल की तीन प्रमुख विशेषतायें हैं। एक तो यह कि इसमें कांग्रेस की बागडोर महात्मा गांधी के हाथों में आ गई और सन् 1947 तक यह उन्हीं के हाथों में रही। दूसरी विशेषता यह है कि कांग्रेस ने,

अपने संवैधानिक तरीकों का त्याग दिया और हिंसा रहित निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति को अपनाया। 'असहयोग' और बहिष्कार की नीति इस काल में सक्रिय रूप से प्रयोग में लायी गयी। सन् 1920–22 का असहयोग आन्दोलन इस काल की प्रमुख घटना है जिसे पंजाब और खिलाफत की गलतियों को दूर कराने के लिए शुरू किया गया था। तीसरे यह कि कांग्रेस जन साधारण की संस्था बन गई।

ब्रिटिश संसद द्वारा यद्यपि माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों को *1919* में पास कर दिया गया था परन्तु इन्हें कार्यान्वित *1921* में किया गया। प्रान्तों में द्वैध प्रणाली और भारत सचिव की शक्तियों में परिवर्तन इन सुधारों की मुख्य विशेषतायें थी।

इस काल में कांग्रेस के भीतर एक नये दल का जन्म हुआ जिसे 'स्वराज दल' *(Swaraj Party)* कहते हैं। *विधान परिषदों में प्रवेश के प्रश्न पर कांग्रेसी नेताओं* में भिन्नता होने पर इसका निर्माण किया गया था। जो विधान परिषदों में प्रवेश चाहते थे ताकि अन्दर से उन्हें खोखला करना चाहते थे उन्हें परिवर्तनवादी (Changers) की संज्ञा दी गई। इनमें प्रमुख थे सर्वश्री मोतीलाल नेहरू तथा सी०आर० दास। जो कांग्रेसी परिषदों में प्रवेश नहीं चाहते थे उन्हें 'अपरिवर्तनवादी' (Non Changers) की संज्ञा दी गई। इनमें प्रमुख थे डा० अन्सारी और राज गोपालाचारी।

इस काल की सरकारी भूलों में सर्वोत्तम भूल स्वतः साईमन आयोग की नियुक्ति थी जिसका बहिष्कार भारत के सभी वर्गों ने किया। सरकारी चेतावनी को स्वीकार कर कांग्रेस ने संवैधानिक सुधारों के लिए एक सर्वदलीय प्रतिवेदन तैयार किया जिसे नेहरू रिपोर्ट (Nehru Report) कहते हैं। इस प्रतिवेदन को ठीक ही वर्तमान संविधान का नक्शा (blue print) कहा गया है। इस प्रतिवेदन से स्पष्ट है कि 1928 में भी भारतीयों के मस्तिष्क में भारतीय संविधान की रूप रेखा स्पष्ट थी।

(iv) **चतुर्थ काल 1930–1939**—इस काल में कांग्रेस का उद्देश्य पूर्ण स्वाधीनता (Complete Independence) की प्राप्ति था। कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता के प्रस्ताव को 31 दिसम्बर 1929 को आधी रात के समय लाहौर में रावी नदी के किनारे आयोजित वार्षिक अधिवेशन में पास किया। इसके कुछ दिन बाद ही कांग्रेस कार्यकारिणी ने 26 जनवरी 1930 को स्वाधीनता दिवस मनाने का निश्चय किया।

इस काल की अनेक प्रमुख घटनाएँ हैं जिनमें प्रमुख निम्न हैं —

(अ) कांग्रेस ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में सविनय अवज्ञा *(Civil Disobedience Movement)* का प्रारम्भ नमक कानून को तोड़ कर किया। डन्डी यात्रा इस आन्दोलन की मुख्य विशेषता है जिसकी तुलना श्री रामचन्द्र की लंका पर चढ़ाई से की गई है।

(व) ब्रिटिश साम्राज्य ने एक विरोधी नेता के साथ (वाइसराय लार्ड इरविन ने महात्मा गांधी के साथ) समझौता किया जो इतिहास में गांधी इरविन समझौते के नाम से प्रसिद्ध है ।

(म) इंग्लैण्ड में गोलमेज सम्मेलनों का आयोजन, कांग्रेस ने प्रथम गोल मेज में भाग नहीं लिया । द्वितीय सम्मेलन में कांग्रेस ने भाग तो लिया परन्तु निराशा हुई ।

(क) साम्प्रदायिक प्रश्न पर इंग्लण्ड के प्रधान मन्त्री रेम्जे मैक्डोनाल्ड ने अपना पंचाग निर्णय दिया जो "मैक्डोनाल्ड निर्णय" (MacDonald Award) के नाम से प्रसिद्ध है । परन्तु गांधीजी ने इस निर्णय के विरुद्ध व्रत रखा और अन्त में सवर्ण हिन्दुओं और दलित वर्ग में समझौते द्वारा इसका निर्णय हुआ ।

(ख) ब्रिटिश अनुदारवादी सरकार ने 1935 के सुधारों की घोषणा की । ये इतने प्रतिक्रियावादी थे कि भारत के सभी दलों ने इन्हें अस्वीकार कर दिया ।

(ग) प्रान्तों में सन् 1937 के चुनावों के फलस्वरूप कांग्रेस ने 8 प्रान्तों में मन्त्रिमण्डलों का निर्माण किया । परन्तु 1939 में युद्ध के प्रश्न पर कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने त्याग पत्र दे दिये ।

(५) पंचम काल 1940–1947—यह काल भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में कांग्रेस इतिहास का अन्तिम काल है । इसमें कांग्रेस का उद्देश्य चतुर्थ काल की भांति "पूर्ण स्वाधीनता" रहा । इस उद्देश्य की प्राप्ति इसी काल में हुई । इस काल में कांग्रेस ने सन् 1942 में 'भारत छोड़ो" जैसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये । सविनय अवज्ञा आन्दोलन को सामूहिक और व्यक्तिगत रूप में लागू किया गया । सरकार का दमन चक्र भी तीव्र गति से चला । परन्तु सरकार ने संवैधानिक गतिरोधों को दूर करने का प्रयास भी किया गया । सन् 1942 में सर स्टेफर्ड क्रिप्स अपनी योजनाओं के साथ भारत आये परन्तु यह प्रयास असफल रहे । इसके बाद वेवेल प्लान, कैबिनेट मिशन प्लान द्वारा गतिरोध को समाप्त करने के प्रयास किये गये । परन्तु इन्हें भी सफलता नहीं मिली । सन् 1946 में कांग्रेस ने अन्तरिम सरकार (Interim Government) की स्थापना भी की । अन्त में लार्ड माउंट बैटन योजना के स्वीकृत होने से भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और भारत दो उपनिवेशों—भारत और पाकिस्तान—में विभक्त हो गया । इस तरह भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र हुआ ।

## समीक्षा प्रश्न
## (Review Questions)

1 "बहुत दिनों से अनेक ऐसे तत्त्व काम कर रहे थे जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन या राष्ट्रीय कांग्रेस को जन्म दिया ।" सन् 1858 से 1884 ई० तक की घटनाओं के आधार पर इस कथन की विवेचना कीजिये ।

2 भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के कारणों का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिये। ए० ओ० ह्यूम और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के योगदान को समझाइये।

3 "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म वास्तव में परिस्थितियों का परिणाम था, व्यक्तिगत प्रयत्नों का नहीं" समीक्षा कीजिये।

4 'भारत में राष्ट्रवाद का विकास 1857 के विद्रोह के बाद विकसित हुआ, पहले नहीं" इस कथन की विवेचना कीजिये।

5 "भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ब्रिटिश शासन का स्वाभाविक परिणाम था।" आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।

6 "भारतीय राष्ट्रवाद मूलतः अपनी प्रकृति में राजनीतिक था परन्तु इसकी जड़ें आर्थिक सामाजिक राजनीतिक आदि अनेक कारणों में भी थीं" विवेचना कीजिये।

7 उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में राष्ट्रीयता के विकास के कारणों पर प्रकाश डालिये।

8 भारतीय राष्ट्रीय जागृति में सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों के योगदान का मूल्यांकन कीजिये।

9 "सामाजिक एवं सांस्कृतिक जागरण का भारतीय स्वाधीनता संग्राम में महत्त्वपूर्ण योगदान है" इस कथन की समीक्षा कीजिये।

10 उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राष्ट्रीय एकता के क्या कारण थे?

11 उन कारणों का संक्षिप्त में वर्णन कीजिये जिन्होंने भारत में राष्ट्रीय जागृति का विकास किया। पश्चिमी शिक्षा की भूमिका के सन्दर्भ में इसकी व्याख्या कीजिये।

12 राष्ट्रीयता में शिक्षित वर्ग का अनुराग हमेशा ही कुछ हद तक आर्थिक और कुछ हद तक धार्मिक कारणों से हुआ है।" (गरट, इस कथन के सन्दर्भ में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के कारणों की विवेचना कीजिये।

13 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में प्रान्तीय संगठनों की क्या भूमिका थी?

14 कांग्रेस की स्थापना से पूर्व भी प्रान्तों में ऐसी संस्थायें विद्यमान थीं जो भारतीयों में राष्ट्रीयता का विकास कर रही थीं। इन संस्थाओं का वर्णन कीजिये और राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में उनकी भूमिका पर प्रकाश डालिये।

5 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्गमन कोई अचानक घटना नहीं थी और इसके विचारों और तरीकों में भी कोई अनूठापन नहीं था।" इस कथन की समीक्षा कीजिये।

16 "अपने उद्गमन मे कांग्रेस सरकार द्वारा अनुसमर्थित संस्था थी जिसका उद्देश्य भारत मे असन्तोष की बढती हुई शक्तियो से साम्राज्य की रक्षा के लिए अभय दीप (रक्षा नली) के रूप मे कार्य करना था ।" क्या आप इस कथन से सहमत है ? कारण सहित समीक्षा कीजिये ।

17 ' ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्धारित नीति के अन्तगत तथा उसकी पहल पर वाइसराय के साथ गुप्त रूप से पूर्व निर्धारित एक योजना के अनुसार राष्ट्रीय कांग्रेस का निर्माण वास्तव मे इस उद्देश्य से हुआ था कि वह भारत मे अंग्रेजी शासन का संरक्षण जनता के बढते हुए असन्तोष तथा अंग्रेजी विरोधी भावना से कर सके' (रजनी पाम दत्त) क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? कारण सहित व्याख्या कीजिये ।

18 उन कारणो की विवेचना कीजिये जिनके फलस्वरूप भारत मे राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ एव भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई ।

19 संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये

(अ) ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी, (ब) ब्रिटिश इण्डिया एसोसियेशन, (स) इण्डियन एसोसियेशन । (द) इल्बर्ट विधेयक ।

अध्याय 2

# उदारवादी, उग्रवादी, आतंकवादी और क्रान्तिकारी

## (Liberals, Extremists, Terrorists and Revolutionaries)

---

### परिचय (Introduction)

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन म तीन प्रकार की विचारधाराएँ काय कर रही थी। ये विचारधाराएँ थी—उदारवादी, उग्रवादी और आतंकवादी तथा क्रान्तिकारी। तीनो का उद्देश्य भारतीय राष्ट्र को अंग्रेजी शासन मे मुक्ति दिलाना था परन्तु तीनो के साधन एक दूसरे से इतने भिन्न थे कि वे पृथक पृथक् विचारधाराएँ बन गइ। उदारवादी ब्रिटिश शासन के वरदानो के गुणगान करने मे कभी थकान अनुभव नही करते थे। इन्हे अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति तथा अंग्रेजो की न्यायप्रियता, औचित्य और उपकार की भावना म पूर्ण विश्वास था। अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए ये पूर्णतया संवैधानिक एवं शान्तिमय साधनो का प्रयोग करते थे। इनके प्रस्तावो मे वन्दना और स्तुति की भावना का आभास होता था। उग्रवादी ब्रिटिश परोपकारिता के स्थान पर आत्मविश्वास और स्वावलम्बन मे विश्वास करते थे। इन्हे भारतीय सभ्यता और संस्कृति की महानता और श्रेष्ठता मे अटूट विश्वास था। ये परोपकारिता के स्थान पर आत्म विश्वास पर निभर करते थे। इन्हे ब्रिटिश न्याय पर विश्वास नही रहा था। ये अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए सक्रिय संघर्ष मे (स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा) विश्वास करते थे राजनीतिक भिक्षावृत्ति मे नही। परन्तु इन उग्रवादियो का आन्दोलन भी संवैधानिक था हिंसात्मक नही। आतंकवादी और क्रान्तिकारी उग्रवादियो का ही एक रूप था जो ब्रिटिश शासन की प्रतिक्रियावादी और दमन की नीति के कारण आतंकवादी और क्रान्तिकारी बन गया था। यह असन्तुष्ट नवयुवको का छोटा सा समूह था जिनम राष्ट्रीयता कूट कूट कर भरी हुई थी और जो मातृभूमि के लिए बडे से बडा बलिदान देने के लिए तत्पर रहते थे। ये ब्रिटिश शासन को हिंसा द्वारा उखाड फेंकना चाहते थे। ये हिंसा, राजनीतिक हत्या, राजनीतिक डकैती और राजनीतिक लूट मे विश्वास करते थे। इनका कहना था कि ब्रिटिश शासन पाशविक शक्ति पर

आधारित था । इसे पाशविक शक्ति द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है । "तर्क और नतिक अनुनय का एक टन जो काम नहीं कर सकता वह काम गोली का एक आऊंस (Ounce) आसानी से कर सकता है ।"

## (घ) उदारवादी राष्ट्रीयता या उदारवादियों की विचारधारा
### (Liberal Nationalism or Views of Liberals)

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में उदारवादी राष्ट्रीयता या उदारवादी विचारधारा से अभिप्राय उस विचारधारा से है जो पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता, और पश्चिमी संस्कृति को भारतीय शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति से उत्कृष्टतर समझती थी जो ब्रिटिश शासन के सहयोग में विश्वास करती थी, उसके द्वारा प्रदत्त गुणों का बखान करती थी, उसके प्रति असंदिग्ध भक्ति का प्रदर्शन करती थी, उसकी न्याय और औचित्य की भावना में पूर्ण आस्था रखती थी, उसके भारत में आगमन को ईश्वरीय वरदान समझती थी तथा उसके साथ स्थायी सम्बन्धों को बनाये रखने में विश्वास करती थी ।

कांग्रेस के प्रारम्भिक नेता (दादा भाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, सर फिरोजशाह मेहता, प० मदनमोहन मालवीय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, रास बिहारी, लाल मोहन घोष, आदि) उदारवादी विचारधारा के थे । उन्होंने ब्रिटिश शासन के प्रति भक्ति को कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में बार-बार व्यक्त किया । कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में जितने भी वक्ता थे सब ने ब्रिटिश शासन की न्यायपरायणता में पूर्ण विश्वास प्रकट किया और राज्य भक्ति का प्रदर्शन किया । प्रथम अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी ने अपनी भक्ति को इन शब्दों में व्यक्त किया "आओ, हम पुरुषों की तरह बोलें और घोषणा कर दें कि हम प्रगाढ़ राजभक्त हैं ।" सुरेन्द्रनाथ बनर्जी "इंग्लैण्ड को अपना पथ प्रदर्शक" मानते थे । वे "भारत के साथ इंग्लैण्ड के सम्बन्ध को ऊँचे और शानदार उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ईश्वरीय वरदान" समझते थे । सरदार दयालसिंह मजीठिया ने सन् 1893 में ब्रिटिश शासन की प्रशंसा इन शब्दों में की "यह भारत में ब्रिटिश शासन की कीर्ति का कलश है ।" टी माधवराव ने कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन में ब्रिटिश शासन की प्रशंसा में ये शब्द कहे "कांग्रेस ब्रिटिश शासन का सर्वोच्च यश शिखर और ब्रिटिश जाति का कीर्ति मुकुट है ।"

कांग्रेस में उदारवादियों का बोलबाला होने से उसकी मांग और उद्देश्य बड़े नम्र होते थे । वह छोटे छोटे सुधारों से ही सन्तुष्ट थी । सरकार से वह केवल जिस बात की अपेक्षा करती थी वह यह थी कि वह भारतवासियों की कठिनाइयां समझे तथा ऐसी संस्थाओं की स्थापना करे जिनमें भारतवासियों का प्रतिनिधित्व कांग्रेस के प्रथम तीस वर्षों में उसकी प्रमुख मांगें निम्न प्रकार से थी —

(i) विधान परिषदों का पुनर्गठन तथा उनका विस्तार ।

(ii) विधान परिषदो मे मनोनीत सदस्यो के स्थान पर निर्वाचित सदस्यो की संख्या मे वृद्धि, सदस्यों को बजट पर वाद विवाद करने तथा प्रश्न पूछने व पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार।

(iii) भारतीय उच्च सेवाओ मे (सेना सहित) भारतीयो की नियुक्ति।

(iv) आई० सी० एस० सेवाओ की भाँति उच्च प्रान्तीय सेवाओ के लिए प्रतियोगिता परीक्षाओ की व्यवस्था।

(v) अभियोगो मे जूरी प्रथा (Jury System) की व्यवस्था, इत्यादि।

उदारवादियो की मांगें बड़े नम्र शब्दो और वन्दना की भाषा मे व्यक्त की जाती थी। ये पूर्णतया संवैधानिक साधनो मे विश्वास करते थे। इनके साधन थे—भाषण, समाचार पत्र, प्रस्ताव, आवेदन पत्र, शिष्टमण्डल आदि।

## उदारवादियों के सिद्धान्त या उदारवादी विचारधारा के आवश्यक तत्व
## (Principles of Liberals or Essential features of Liberal Thought)

उदारवादियो के सिद्धान्तो की विस्तारपूर्वक व्याख्या इस अध्याय मे वर्णित "उदारवादी और उग्रवादी विचारधारा—एक तुलनात्मक अध्ययन" मे की गई है। यहा उन्हें दोहराने से कोई लाभ नही।

## उदारवादी विचारधारा की सफलताएँ और असफलताएँ
## (Successes and failures of Liberal Thought)

उदारवादी विचारधारा को जहाँ अनेक सफलताएँ प्राप्त हुई वहाँ उसमें अनेक त्रुटियाँ होने के कारण उसे असफलता का सामना भी करना पड़ा। इन्हें निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है —

### असफलताएँ या कमजोरियाँ
### (Failures or Weaknesses)

उदारवादी विचारधारा मे अनेक कमजोरियाँ थी जिनके कारण वह अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने म असफल रही। इन्ही कमजोरियो के कारण उदारवादी उग्रवादियो की आलोचना के पात्र बने। उदारवादियो की ये कमजोरियाँ मुख्य रूप से निम्न थी —

**1 पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति मे आवश्यकता से अधिक आस्था रखते थे-** उदारवादियो की सबसे बडी कमजोरी यह थी कि वे पश्चिमी रग म इतने रगे हुए थे कि उन्हें भारतीय सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता का आभास ही नही हुआ। वे प्रेरणा के लिए पश्चिम की ओर झाकते थे, अतरात्मा की ओर नही। वे अपने अतीत को पथ प्रदर्शक मानने के स्थान पर एक भार समझते थे। वे इगलैण्ड को अपना पथ प्रदर्शक मानते थे।

**2 भारत मे ब्रिटिश शासन के आधार को समझने मे गलती की—** उदारवादी यह समझ ही नही सके कि ब्रिटिश शासन का भारत म आधार क्या है?

उनका यह विश्वास था कि यह भारत के हित मे है तथा अंग्रेजो का उद्देश्य भारतीयो का उद्धार करना है। परन्तु वास्तविकता यह थी कि ब्रिटिश शासन "लाभो" पर आधारित था जिसका मूल आधार भारत का आर्थिक शोषण था। वे भारतीयो के हित के लिए नही वरन् अपने "प्रयत्नों के फलो" को इकट्ठा करने के लिए भारत आये थे।

**3 उदारवादियों मे आत्म त्याग की भावना का अभाव था**—इसमे कोई सन्देह नही कि उदारवादी "देशभक्त" थे परन्तु वे "राज्यभक्त" अधिक थे, वे राष्ट्र का निर्माण तो चाहते थे परन्तु उनमे उसके लिए आवश्यक त्याग, बलिदान और कष्ट सहन करने की शक्ति नही थी। श्री जी एन सिंह ने ठीक लिखा है कि "तिलक और गोखले को छोडकर कांग्रेस के उदारवादी नेताओ मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए वयक्तिक त्याग करने तथा कष्ट सहन करने की शक्ति नही थी।" लाला लाजपतराय ने भी अपनी रचना "यग इण्डिया" (Young India) मे लिखा है कि उदारवादी आन्दोलन "लगडा और निरुत्साही राजनैतिक आन्दोलन था यह रियायतो और स्वतन्त्रता की माग तो करता था परन्तु यह बलिदान पर आधारित न था।"

**4 उदारवादियों का आन्दोलन जन आन्दोलन न बन सका**—उदारवादी बुद्धिजीवी अवश्य थे परन्तु सामान्य जनता पर वे अधिक प्रभाव नही डाल सके। इनका जनता के साथ सम्पर्क भी नही था। इसी कारण उनका आन्दोलन शिक्षित वर्ग तक सीमित रहा। यह न तो जनता से प्रेरित था और न ही जनता को यह प्रेरित कर सका। लाला लाजपतराय ने ठीक लिखा है कि "यह न तो लोगो द्वारा प्रेरित था और न ही उनके द्वारा आयोजित था। यह आन्दोलन 'अन्दर से नही था।"

**5 उदारवादी अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने मे असफल रहे**—उदारवादियो के उद्देश्य सीमित थे। वे ब्रिटिश शासन से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद नही चाहते थे। उन्होने पूर्ण स्वराज्य की माग कभी नही की। अधिक से अधिक वे उपनिवेशो की भाति प्रतिनिधित्वपूर्ण सस्थाओ की माग करते थे। परन्तु इन सीमित उद्देश्यो को भी वे उन सवैधानिक साधनो द्वारा प्राप्त नही कर सके जिनको उन्होने अपनाया। वे यह समझ नही सके कि विदेशी साम्राज्यीय शासन से, जो पशुशक्ति पर आधारित है, अधिकारो की प्राप्ति केवल सवैधानिक साधनो द्वारा नही हो सकती। उनके लिए ठोस, सक्रिय और उग्र साधना की भी आवश्यकता होती है। इसी कारण उग्रवादियो ने उदारवादी साधनो की "राजनीतिक भिक्षावृत्ति" कहकर निन्दा की।

## सफलताएँ या देन

### (Achievements or Contribution)

यद्यपि उदारवादी आन्दोलन मे अनेक कमजोरिया थी, यद्यपि उद्देश्यो म सफलता नही मिली, यद्यपि वे राजनीतिक भिक्षावृत्ति म ... थे फिर भी वे पक्के देशभक्त थे, उनमे राष्ट्र के निर्माण की अभिलाषा थी

प्रारम्भिक काल मे राष्ट्र की अमूल्य सेवायें की थी। वे न तो कायर थे और न ही भिखारी। डा० रास बिहारी ने ठीक लिखा है कि "हमे उन महान् व्यक्तियो के प्रति (उदारवादियो के प्रति) सद्भावनाएँ अवश्य रखनी चाहिए जिन्होने अपने समय मे अपने आदर्शों को पूरा करने का सतत प्रयत्न किया।" डा० ईश्वरी प्रसाद ने भी ठीक लिखा है कि "अपनी सेवाओ के आधार पर उदारवादी विशेष प्रशसा के पात्र हैं। इन प्रतिभाशाली तथा उच्च चरित्र वालो ने नौकरशाही के बलशाली तथा दृढ होने के बावजूद भी भारत के पुनरुत्थान मे बडा महत्वपूर्ण कार्य किया।" "सर हेनरी कॉटन के शब्दो मे" कांग्रेस के सदस्य (उदारवादी) किसी भी दशा मे सरकारी नीति मे परिवर्तन लाने मे सफल नही हुए लेकिन अपने देश के इतिहास के विकास मे और देशवासियो के चरित्र निर्माण मे निश्चित रूप से सफलता प्राप्त की है।'[1]

उदारवादियो की सफलताओ तथा राष्ट्रीय आन्दोलन मे उनकी देन को निम्न बिन्दुओ मे व्यक्त किया जा सकता है—

**1 भारतीय समाज के भिन्न तत्वो को एकता के सूत्र मे सगठित किया**—उदारवादियो की भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मे सबसे बडी देन यह है कि इन्होने उस समय उन प्रान्तीय तत्वो को एकत्रित कर राष्ट्रीय सूत्र मे गूथा जबकि ये तत्व भिन्न-भिन्न भागो में बिखरे हुए थे, इनमें कोई सामजस्य नही था, सम्पर्क नही था। उदारवादियो ने इन सबमें सम्पर्क स्थापित कर सामजस्य उत्पन्न किया। इन्होने उस भवन (कांग्रेस) की नीव रख दी जिसने समय पाकर एक विशाल, दृढ शक्तिशाली और प्रभावशाली रूप ग्रहण कर लिया। यदि इन तत्वो को प्रारम्भिक काल मे सगठित नही किया गया होता तो आने वाले समय मे राष्ट्रीय स्तर पर आन्दोलन को चलाना कठिन होता। श्री के० एम० मुन्शी ने ठीक लिखा है कि "यदि पिछले तीस वर्षों मे कांग्रेस के रूप मे एक अखिल भारतीय सस्था देश के राजनीतिक क्षेत्र मे कार्यरत न होती तो ऐसी अवस्था मे गाधीजी का कोई भी महान् आन्दोलन सफल न होता और न ही सरदार पटेल की अध्यक्षता मे कांग्रेस इतना कुशल राजनीतिक यन्त्र प्रमाणित होती।"[2]

**2 प्रारम्भिक परिस्थितियो मे सवैधानिक साधन अपनाना ही लाभदायक था**—प्रारम्भिक काल मे उदारवादियो ने सवैधानिक तथा कल्पनापूर्ण साधन अपना कर बडी बुद्धिमता, विवेक और दूरदर्शिता का परिचय दिया। कठोर, दृढ, निरकुश, निर्दयी और सत्तारूढ ब्रिटिश नौकरशाही से मुकाबला करने तथा सुधारों को प्राप्त करने का यही साधन था। यदि उदारवादी उग्रवादियो और क्रान्तिकारियो की भांति उग्र तथा हिंसक साधना को अपनाते तो सम्भवत कांग्रेस

---

1 Cotton Sir Henry New India
2 Munshi, K M Advent of Independence P viii

कभी न पनप सकती और न ही उसका विकास सम्भव होता । क्रान्तिकारियो की भांति उनका भी दमन कठोरता से कर दिया जाता । संवैधानिक और राज्य भक्ति के साधनो को अपना कर उदारवादियो ने न केवल ब्रिटिश समाज के प्रतिष्ठित उदारवादी व्यक्तियो का समर्थन प्राप्त किया बल्कि भारत म ब्रिटिश शासकों का (कम से कम प्रथम 3 वर्षो मे) समर्थन भी प्राप्त किया । पहले वर्षो की सरकारी मित्रता बहुत ही लाभकारी सिद्ध हुई यद्यपि बाद मे नौकरशाही ने इसे शका और फिर विरोध के दृष्टिकोण से देखा । इसके अतिरिक्त राष्ट्र का निर्माण हिंसात्मक या उग्र सिद्धान्तो के आधार पर नही किया जा सकता था । स्थायित्व तो सवधानिक साधनो को अपनाने से ही प्राप्त हो सकता था ।

3 **भारतीय राष्ट्रीयता और जन जागृति के जनक**— उदारवादी ही भारतीय राष्ट्रीयता और जन जागृति के जनक थे । वे साम्प्रदायिकता और प्रन्तीयता की भावनाओ मे बहुत ऊपर थे । काग्रेस के वार्षिक अधिवेशनो,प्रस्तावो तथा शिष्टमडलो द्वारा जहा वे सरकार के समक्ष भारतीय कठिनाइयो और समस्याओ को प्रस्तुत करते थे वहा व जन-जागृति भी पैदा करते थे । वे लोगो को राजनीतिक समस्याओ का ज्ञान करा कर उन्हे राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते थे तथा अपने अधिकारो के प्रति सजग बनाते थे ।

4 **इण्डिया कौंसिल अधिनियम, 1892—(Indian Council Act, 1892)** यह उदारवादियो के प्रयत्नो का ही फल था कि 1892 का इण्डिया कौंसिल अधिनियम पास हुआ । यद्यपि इस अधिनियम से उग्रवादी तो क्या उदारवादी भी असन्तुष्ट थे परन्तु उसने भारत को उस सडक पर लाकर खडा कर दिया जो ससदात्मक भवन की ओर जाती थी । इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकारी बहुमत को विधान परिषदो मे अविश्वास का प्रस्ताव पास करके हटाया नही जा सकता था परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रिम दस्ते न इनका प्रयोग राजनीतिक मच के रूप मे किया जहा इसके सदस्य अपने भेदो को प्रकट कर उनका प्रचार करते थे । प्रधान ने ठीक लिखा है कि 1892 का अधिनियम "सरकारी विचारो और शिक्षित भारतीयो के विचारो म समझौता था । सरकारी विचारो मे विधान परिषदो का एक मात्र उद्देश्य सरकारी निर्णयो की पुष्टि करना था और शिक्षित भारतीय उनको ससद के अकुर के रूप मे देखत थे ।"[1]

## (ब) उग्रवादी राष्ट्रीयता या उग्रवादियो की विचारधारा

## (Extreme Nationalism or Views of Extremists)

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन म उग्रवादी राष्ट्रीयता या उग्रवादी विचारधारा से अभिप्राय उस विचारधारा से है जो विदेशी (ब्रिटिश) शासन से घृणा करती थी,

1 Pradhan India's Struggle for Swaraj

जिसमा ब्रिटिश शासन की न्यायप्रियता और औचित्य म विश्वास नही था, जो ब्रिटिश शासन को भारत के लिए अभिशाप मानती थी, जा पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता के स्थान पर प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता मे विश्वास करती थी, जो विदेशी (अंग्रेजी) शिक्षा के स्थान पर राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करती थी, जो विदेशी न्यायालया के स्थान पर राष्ट्रीय न्याय मण्डला और पचायता की स्थापना चाहती थी, जो स्वदेशी और बहिष्कार के सिद्धान्तों को अपनाती थी, जो राजनीतिक भिक्षावृत्ति, अंग्रेजी उदारता और परोपकारिता के स्थान पर सघप, त्याग, बलिदान, स्वावलम्बन म विश्वास करती थी । सक्षेप मे, उग्रवादी विचारधारा हिन्दू धम के "मुक्तिगुण" म विश्वास करती थी तथा आत्म सयम, आत्म विश्वास और आत्म सामथ्य पर बल देती थी ।

उग्रवादी विचारधारा पूण स्वतन्त्रता (Complete independence) की बात करती थी "औपनिवेशिक स्वराज्य की नही । यह "अधिकार" की माग करती थी "परोपकारिता" की नही । इसके लिए स्वतन्त्रता लोगा का जन्मसिद्ध अधिकार था जिसे "सामथ्य" द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था । अपने उद्देश्या की प्राप्ति के लिए यह सवैधानिक साधनो को अपर्याप्त समझती थी और सक्रिय एव सगठित निष्क्रिय प्रतिरोध (active and organized passive resistance) का समथन करती थी ।

## उग्रवादी विचारधारा के विकास के कारण

उग्रवादी विचारधारा के विकास के लिए कोई एक कारण नही बताया जा सकता । यह तो अनेक देशी तथा विदेशी घटनाओ के एकत्रीभूत प्रभाव का परिणाम थी । सन् 1892 के कौसिल सुधारा म असन्तोष, सरकार द्वारा भारतीय प्रशासन म भारतीयो की उपेक्षा की नीति, आर्थिक असन्तोष, लाड कजन की मूखतापूण नीतिया, दक्षिण अफ्रीका म भारतवासिया क प्रति अमानुषिक व्यवहार तथा एशियाई शक्तिया द्वारा (जापान और एबीसिनिया) पश्चिमी शक्तिया की अजेयता के भाडे का फोड देना आदि कारणा ने उग्रवादी विचारधारा का जन्म दिया । सवश्री बाल गगाधर तिलक, विपिन चन्द्र पाल और लाला लाजपतराय के नेतृत्व म काग्रेस का युवा वग सरकार की नीतियो पर कडी निगरानी रख रहा था जिसने बीसवी शताब्दी के प्रथम पाच वर्षो म उग्र विरोध का रूप धारण कर लिया । श्री जी० एन० सिंह ने ठीक लिखा है कि "वस्तुत लोगा म एक नवीन जीवन का सचार हो गया था और राष्ट्रीय आन्दोलन विस्तृत होकर जन आन्दोलन के रूप म परिणत हो रहा था।"[1]

उग्रवादी विचारधारा के विकास के मुख्य कारण निम्न थे —

---

1 Singh G N Landmarks in India s Constitutional and National Movement p 135

**1 विदेशी घटनाओ के प्रभाव (Effect of Foreign events)** उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम दशक म विश्व मे कुछ ऐसी घटनाए घटित हुई जिहोने भारतवासियो म देशभक्ति, बलिदान और राष्ट्रीयता की भावनाओ को प्रबल बना दिया। इन घटनाओ म मुख्य घटनाए थी–एबीसिनिया द्वारा इटली को (सन् 1896 मे) और जापान द्वारा रूस का (सन् 1905 म) पराजित करना। इन दोनो घटनाओ ने विशेषकर पिछली घटना ने, यूरोपीय श्रेष्ठता और अजेयता के मिथ का भाडा फोड दिया और सारे एशिया मे नये युग का जम हुआ।'[1] एशिया की यूरोप पर इस विजय ने भारतीया मे निराशा और दीनता की भावनाओ को निकाल बाहर किया , उनम आत्मविश्वास, आत्म निभरता, उत्साह और साहस पदा किया। सारा एशिया ही नवीन करवटे लेने लगा। इन घटनाओ के प्रभाव को हेनरी काटन ने इस प्रकार व्यक्त किया है "पूव के इन द्वीप निवासिया के चरित्र ने प्रेरणात्मक उदाहरण प्रस्तुत किया तथा देशभक्ति की शक्ति का उदाहरण भी प्रस्तुत किया। भारत पर इस उदाहरण का प्रभाव बेकार नही गया।'[2] गैरट का विश्वास है कि "इटली की हार ने 1897 मे तिलक के आदोलनो को बल दिया।"[3] डा जकारिया के अनुसार "जापान की सम्मानपूर्ण विजय ने केप केमोरिन से हिमालय पवत तक एक जोश पदा कर दिया। प्रधान का विश्वास है कि भारतीया को इस बात का ज्ञान हुआ कि "भारत जसा गुलाम और निहत्था देश भी इन गुणा (देशभक्ति, बलिदान और राष्ट्रीयता) के द्वारा अपने आपको इग्लैण्ड के घातक बधना से मुक्त कर सकता है।'[4] सक्षेप म, गुलामी से छुटकारा पाने की इच्छा इही घटनाओ स तीव्र हो उठी।"[5]

उपयुक्त उदाहरणा के अतिरिक्त मिस्र, फारस और टर्की के राष्ट्रीय स्वतत्रता के आदोलनो ने भारतीय मस्तिष्क पर अत्यधिक प्रभाव डाला। मैजिनी, गैरीबाल्डी तथा केवर (Mazzini Garribaldi, Cavour) के प्रयासो से इटली का जो एकीकरण हुआ उसने भी भारतीया को प्रभावित किया। इन नेताओ के राष्ट्रीय विचारा से भारतीय नेता इतने अधिक प्रभावित थ कि जन जागृति और स्वदेश प्रेम की भावनाओ को जागृत करने के लिए उहाने इटली के उदाहरण प्रस्तुत किय।

1 Pradhan India s Struggle for Swaraj p 69 Quoted by Singh, G N, Ibid, p 136
2 Cotton, Henry New India p 14
3 Garrat An Indian Commentary, p 134
4 Pradhan, Ibid, p 75
5 See Mukherjee Hirendra Nath India's Struggle for Freedom

2 आर्थिक असंतोष (Economic Dissatisfaction) जैसा कि बेवन ने लिखा है कि "अधिक दरिद्रता और आर्थिक असन्तोष क्रान्ति को जन्म देते है ।" सरकार की आर्थिक नीतिया ने जहा एक ओर शिक्षित मध्यम वर्ग मे असन्तोष उत्पन्न किया वहा औद्योगिक वर्ग भी इन राष्ट्रीय नीतियो से तग आ गया था । शिक्षित भारतीयो के लिए यह खुली चुनौती थी कि सर्वोच्च सिविल पद केवल अंग्रेजो के लिए सुरक्षित हो । इस वर्ग मे बेरोजगारी की समस्या बडी गम्भीर हो गई थी जिसने राजनीतिक असन्तोष को जन्म दिया । श्री० ए० आर देसाई ने ठीक लिखा है कि "मध्यम वर्ग के शिक्षित भारतीयो मे बेकारी के परिणाम स्वरूप जो राजनीतिक असन्तोष उत्पन्न हुआ उससे उग्रवाद की उस विचारधारा को विशेष बल मिला जिसके प्रमुख नेता बाल, लाल, और पाल थे ।"[1] दादाभाई नौरोजी, रमेशचन्द्र दत्त रानाडे, डी एन वाचा और सर विलियम डिग्बी (Sir William Digby) ने अपनी रचनाओ मे विदेशी शासन को भारत की गरीबी का मूल कारण बताया । श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के शब्दो मे "हमारी गरीबी का मुख्य कारण विदेशी शासन है । अंग्रेजो के मालिक बन बैठने से पहले यह देश सम्पन्न एव समृद्ध था और मुसलमानो का शासन, जिसे जुल्मी कहा जाता है, आज के सुधरे हुए शासन से सौ गुना अच्छा था ।" इन विचारधाराओ ने उग्र विचारधाराओ को ठोस बना दिया । जैसाकि प० जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि "इन रचनाओ ने हमारे राष्ट्रीय विचारो के उत्थान मे क्रान्तिकारी कार्य किया ।"

सरकार की औद्योगिक नीति ने भारतीय उद्योग धन्धो को नष्ट कर दिया । इससे लघु उद्योगो तथा घरेलू उद्योगो मे लगे हुए लोग बेरोजगार हो गये । अंग्रेज तो भारत को एक "मण्डी" समझते थे जहा वे लाभ प्राप्त करने के लिए आये थे । यहा से कच्चा माल लेते और बना हुआ माल यहा बेचते । भारतीय उद्योगो को नियमित ढग (Systematic and planned way) से नष्ट किया गया । कपास की बनी चीजो पर जो आयात कर (Import tax), 5% था वह घटाकर $3\frac{1}{2}$% कर दिया गया । इतना ही नही भारतीय मिलो के सूती माल पर $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत का प्रत्यक्ष उत्पादन कर (direct excise duty) लगा दिया गया । इन सब नीतियो का उद्देश्य विदेशी (विशेषकर ब्रिटिश) माल को देशी माल से सस्ता रखना था । इससे जहा भारतीय उद्योगो को बडी हानि हुई वहा 7 करोड पौड से अधिक परिमाण की भारतीय सम्पत्ति भारत से लन्दन के लिए स्थानान्तरित हो गई । श्री जी० एन० सिंह ने ठीक लिखा है कि भारत सरकार द्वारा ब्रिटिश व्यावसायिक, औद्योगिक और

---

1 See Desai, A R Social Background of Indian Nationalism, p 182

वित्तीय स्वार्थों के लिए भारतीय हितो को निलज्जता के साथ बलिदान कर दिया गया।"[1]

सक्षेप मे, ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति राष्ट्रीय हिता के प्रतिकूल थी जिससे सब साधारण जन मे विदेशी शासका के प्रति घृणा और तीक्षपन मे वद्धि हुई। जन साधारण का विदेशी शासको की न्यायप्रियता और सचाई मे से विश्वास उठ गया और ब्रिटिश विरोधी भावनाएँ बढ गई।

**3 प्राकृतिक प्रकोप–अकाल, प्लेग और अकाल** (Natural Calamities-drought, plague and drought) उग्रवादी विचारधाराओ के विकास म प्राकृतिक प्रकोपा का उतना ही हाथ था जितना कि उनके निवारण म सरकार की उदासीनता, सुस्ती और उपेक्षा का। वास्तव म सन् 1896 से 1901 तक के वर्ष प्राकृतिक प्रकोपा, आपदाओ और महामारी के वर्ष थे। अकाल प्लेग और अकाल के चक्र न लोगो के दु खो को बहुत बढा दिया। लोग अकथनीय कष्ट सहन कर रहे थे, अपार जन जीवन की हानि हो रही थी परन्तु सरकार की मशीनरी बडी मन्द गति से काय कर रही थी। सरकार ने लगान म कमी के स्थान पर वृद्धि कर दी। श्री तिलक न अपने समाचार पत्रो द्वारा किसानो को लगान न देने के लिए आन्दोलन चलाया। उन्होंने कहा कि किसान लगान देने के लिए अपनी सम्पत्ति न बेचे। उन्हाने अपन समाचार पत्र मे लिखा कि "क्या तुम ऐसे समय मे भी साहस नही दिखा सकते, जबकि मृत्यु तुम्हारे सिर पर नाच रही है।" लोगा मे यह बात घर कर गई कि उनके दु खो का कारण विदेशी सरकार है। उनका विश्वास हो गया कि यदि राष्ट्रीय सरकार होती तो लोगा का अकाल और भूख से बचाने के लिए सवस्व न्योछावर कर देती।

सन् 1896–1897 म भारत के दक्षिणी भाग म एसा भयकर दुर्भिक्ष पडा कि जिसका उदाहरण उस समय तक के ब्रिटिश भारत के काल मे नही मिलता। 70 000 वग मील का क्षेत्र दुर्भिक्ष से पीडित था। सन् 1897 मे सहायता पाने वाले अकाल पीडितो की सख्या 40 लाख थी।

अभी लोगा को अकाल से राहत मिली नही थी कि सन् 1897–98 म बम्बई प्रेसीडेन्सी के पश्चिमी भाग मे (पूना मे) प्लेग की भयकर बीमारी फैल गई। लोगा की दशा दयनीय हो गई। सरकारी आकडा के अनुसार सन् 1898 मे मरन वालो की सख्या 1,73,000 थी परन्तु मरन वाला की वास्तविक सख्या 2 करोड तक थी। सरकार ने बीमारी का सामना करने के लिए प्रयत्न तो किय परन्तु जिन साधनो का प्रयोग सरकार ने किया वे न केवल अपर्याप्त थे बल्कि कठोर, लोगा की धार्मिक

1 Singh, G N, Ibid, p 140,

भावनाओं से अनभिज्ञ और साम्राज्यीय थे। इससे लोगों में असन्तोष और बढ़ गया। पूना के प्लेग कमिश्नर श्री रण्ड ने सैनिकों से काम लिया। ये सैनिक घरों में घुस कर स्त्री, पुरुष और बच्चों को जांच करते तथा रोग से पीड़ित लोगों को दूर अस्पताल में भेज देते। इससे रूढ़िवादी लोगों में रोष फैला। सैनिक लोगों से दुर्व्यवहार भी करते थे। "एक स्थान पर नौकर को नंगा कर उसके चारों ओर मारे सैनिक नाचे"[1] सैनिक किस तरह लोगों से व्यवहार करते थे उसकी एक झलक रामगोपाल के इन शब्दों से मिल जाती है। वह लिखते हैं कि "प्लेग कमिश्नर रैण्ड के पीछे सेना और पुलिस चलती थी और वे बीमारी वाले मकानों को जबरदस्ती गिरा देते थे और मकानों के निवासियों को जबरदस्ती कैम्पों में भेज दिया जाता था। अनेक स्थानों पर प्लेग के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए बिस्तर और कपड़े जला दिये गये परन्तु, उन्हें कीटाणु रहित वस्त्र नहीं दिये गये। रण्ड और उनके सैनिक मकान के हर हिस्से में, यहां तक कि रसोई घर घर के अन्दर स्त्रियों के कमरों में घुस जाते थे और मनमाना व्यवहार करते थे। सारा काम इस ढंग का था जैसे दुश्मन द्वारा जीते गये किसी शहर को फूंका जा रहा हो।" स्पष्ट है कि विपत्ति से ग्रस्त लोगों की सहायता के स्थान पर अंग्रेज सैनिकों ने उनसे दुर्व्यवहार किया। डी० वी० तहमन्कर ने ठीक लिखा है कि अंग्रेज सैनिकों के दुराचार के कारण प्लेग ग्रस्त लोग महामारी की अपेक्षा उनसे अधिक डरते थे।"

पूना में प्लेग कमिश्नर श्री रैण्ड के उत्तेजनापूर्ण उपायों के विरुद्ध विरोध की भावना भड़क उठी। श्री तिलक ने अपने पत्र केसरी में इन उपायों की कड़ी आलोचनाएँ कीं। कई स्थानों पर तो उपद्रव भी भड़क उठे। दामोदर हरि चापेकर नाम के एक साहसी युवक ने श्री रण्ड और उसके सहायक लेफ्टीनेन्ट आयर्स्ट (Lt Ayerst) को गोली मार दी। डा० ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं कि "दामोदर के हाथों इन दो पदाधिकारियों की हत्या इस तथ्य की सूचक थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन में उग्रवाद का जन्म हो चुका था।"[2] श्रीमती एनी बीसेन्ट का भी यही विचार था कि इन घटनाओं ने ही उग्रवाद को जन्म दिया।

इन दो हत्याओं के बाद महाराष्ट्र में साम्राज्यीय ताण्डव नृत्य प्रचण्ड रूप में सामने आया। दामोदर को फांसी की सजा दी गई, कई अन्य लोगों को भिन्न भिन्न सजायें दी गई और तिलक पर केसरी में लेखों और भाषणों द्वारा उत्तेजना का अभियोग चलाया गया तथा उन्हें 18 मास का कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। उन्हें प्रिवी कौंसिल (Privy Council) में अपील की आज्ञा नहीं दी गई। इससे सारे राष्ट्र में क्रोध की अग्नि भड़क उठी। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है

---

1 (See Dr Lal Bahadur's The Swaraj Party)

2 Prasad Dr I History of Modern India, p 425

कि "तिलक की कैद पर सारा राष्ट्र रो रहा है।" मद्रास के पत्र "हिन्दू" (Hindu) ने इस पर यह टिप्पणी की "बम्बई सरकार के हाल के कारनामा के अतिरिक्त पिछले 40 वर्षों म कोई ऐसी घटना नही घटी जबकि लोगा ने अपनी अधम लाचारी (abject helplessness) का अनुभव किया हो तथा जिसने उनकी राजनीतिक पराधीनता को तीक्ष्णता प्रदान की हो।"[1]

सन् 1899–1900 मे एक बार फिर भयकर अकाल पडा और सरकार की नीति पहले की भाति मन्द गति से चलती रही।

उपयुक्त दारुण दवी आपदाओ और कष्टो के कारण लोगो मे बडा असन्तोष पैदा हुआ और वे अपने दुखो के लिए विदेशी (ब्रिटिश) सरकार को दोषी ठहराने लगे। इन सब कारणो से उग्रवादी भावनाओ का विकास होना स्वाभाविक था।

**4 लार्ड कर्जन का प्रतिक्रियावादी शासन (Reactionary administration of Lord Curzon)** लार्ड कर्जन का प्रतिक्रियावादी शासन भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मे उग्रवादी और क्रान्तिकारी विचारो के विकास के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी था। उसकी "औरगजेबी निरकुशता", उसका "कुशासन", उसकी "दमन की नीति", उसका "स्वेच्छाचारी एव साम्राज्यवादी अहकार", उसमे भारतीयो के प्रति "सहानुभूति का अभाव", 'कुशलता और दक्षता की खोज मे भारतीय भावनाओ और आकाक्षाओ की उपेक्षा" आदि ऐसे तत्व थे जिन्होंने उग्रवाद और क्रान्तिकारी विचारो को जन्म दिया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपनी आत्मकथा म ठीक लिखा है कि "प्रतिक्रियावादी शासक महान सार्वजनिक आन्दोलनो को उत्पन्न करते हैं।"

लार्ड कर्जन का शासन ही केवल प्रतिक्रियावादी नही था। उसके पहले दो गवर्नर जनरलो के शासन भी प्रतिक्रियावादी थे। लार्ड लेन्सडाउन (Lord Lansdown 1888–1894) और लार्ड एल्गिन (1894–1898) भी प्रतिक्रियावादी शासक थे। लार्ड लेन्सडाउन के शासन काल मे मुद्रा चलन (currency) की कठिनाइया उत्पन्न हुई। लार्ड एल्गिन के शासन काल मे भयकर दुर्भिक्ष (Severe famine) पडा। सेवा से निवृत्त होते समय लार्ड एल्गिन ने यूनाइटेड सर्विसेज क्लब (United Services Club) मे भाषण देते हुए ये मूर्खतापूर्ण शब्द कहे "हिन्दुस्तान तलवार के जोर से जीता गया था और तलवार के जोर से ही उसकी रक्षा की जायगी।" लार्ड कर्जन के काल मे ऐसी कठोर नीति अपनाई गई कि भारतीय नवयुवको की आशाओ और आकाक्षाओ को परो तले कुचल दिया गया। रमेशचन्द्र दत्त ने ठीक लिखा है कि कर्जन मे "कुछ ऐसी विशेषताओ का अभाव था जिनके बिना कोई भी व्यक्ति सफल शासक नही बन सकता ... उसका आदर्श था तानाशाही

---

1 Hindu (Madras) Quoted by Andrews The Rise and Growth of the Congress, p 193

शासन ।" अपने कठोर शासन से कर्जन ने भारतवासियों को यह अनुभव करा दिया कि वे "ब्रिटिश साम्राज्य के हिस्सेदार नहीं वरन् गुलाम हैं ।"

लार्ड कर्जन के शासन काल में जिन अप्रिय अधिनियमों को पास कर कार्यान्वित किया गया तथा जिन्होंने भारतीयों में विदेशी शासन के प्रति घृणा उत्पन्न की उनमें मुख्य निम्न थे —

(i) कलकत्ता कार्पोरेशन अधिनियम (The Calcutta Corporation Act, 1899)

(ii) भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम (Indian Universities Act, 1904)

(iii) सरकारी गोप्य विषय अधिनियम (Official Secrets Act, 1904)

(iv) सीमा प्रान्तीय, अफगानिस्तान तथा तिब्बत सम्बन्धी नीति (Frontier Policy and Policy towards Afghanistan and Tibet)

(v) सार्वजनिक सम्मेलनों तथा सभाओं में भारतीयों की निन्दा तथा उन पर अविश्वास (Open denouncement and no onfidence on Indians)

(vi) बंग भंग (Partition of Bengal)

(i) कलकत्ता कार्पोरेशन अधिनियम (The Calcutta Corporation Act, 1899) लार्ड कर्जन भारतवासियों को स्वशासन की शिक्षा देने में विश्वास नहीं करता था जैसा कि लार्ड रिपन करता था । वह स्थानीय सार्वजनिक संस्थाओं के विकास में भी विश्वास नहीं करता था । वह इन संस्थाओं पर सरकारी प्रभुत्व और नियन्त्रण का इच्छुक था । जैसा कि गुरुमुख निहालसिंह ने लिखा है कि 'भविष्य में कुशलता और स्वतन्त्रता के लिए वह वर्तमान में कुशलता का बलिदान करने को तैयार नहीं था।" इस उद्देश्य से सन् 1899 में उसने कलकत्ता कार्पोरेशन अधिनियम पास किया । इसके अनुसार कलकत्ता कार्पोरेशन के सदस्यों की संख्या 75 से घटा कर 50 कर दी गई । जो 25 सदस्यों की संख्या कम की गई वह निर्वाचित सदस्यों (करदाताओं के प्रतिनिधियों) में से थी । इन सदस्यों की संख्या कम करने का उद्देश्य कार्पोरेशन में ब्रिटिश सदस्यों का निश्चित बहुमत देना था ताकि कार्पोरेशन तथा उसकी समितियों में भारतीय अल्पसंख्या में हो जायें । कार्पोरेशन के मनोनीत सदस्यों द्वारा सरकारी आज्ञाओं को मनमाने ढंग से पालन करवाने का यह अच्छा तरीका था । जनता ने इस अधिनियम का घोर विरोध किया और विरोध करने में कार्पोरेशन के 2[illegible] भारतीय सदस्यों ने सामूहिक रूप से त्याग पत्र दे दिया । परन्तु इसका कर्जन जैसे निरंकुश एवं साम्राज्यीय सरकार पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा ।

(ii) भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम (Indian Universities Act, 1904) भारतीय विश्वविद्यालयों पर अधिकारीकरण की नीति लागू करने के लिए सन् 1904 में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पास किया गया । इसका उद्देश्य विश्वविद्यालयों की स्वतन्त्रता को नष्ट करना था । जैसा कि [illegible] ने लिखा है कि इसका 'मुख्य

उद्देश्य विश्वविद्यालयो की सीनेट और सिन्डीकेट का यूरोपीयकरण था और इन विश्वविद्यालयो को पूर्णरूप से सरकारी विश्वविद्यालय बनाना था।"[1] इस अधिनियम ने सीनेट, सिंडीकेट तथा सकायो (Faculties) के सदस्यो की संख्या कम कर दी तथा विश्व विद्यालयो को मान्यता प्रदान करने अथवा न करने के निर्णय को सरकार ने अपने हाथ म ले लिया। भारतीय शिक्षित वग म इससे बडा असन्तोष तथा क्षोभ फला, उन्होने इस काय की व्यापक तथा कटु आलोचना की। उनका यह पूर्ण विश्वास था कि 'वायसराय विश्वविद्यालय व्यवस्था को क्षति पहुचाना चाहते है।[2] इस अधिनियम से विश्वविद्यालय शिक्षा बहुत महगी भी हो गई। इसके द्वार केवल 'सोने' की चाबियो से ही खुल सकते थे अर्थात् शिक्षा केवल धनिक वग के लिए हो गई, निधन शिक्षा प्राप्त नही कर सकते थे।

(iii) **सरकारी गोप्य विषय अधिनियम** (Official Secrets Act, 1904) इस अधिनियम ने न केवल असनिक (Civil) विषयो के भेद को देना दण्डनीय बना दिया बल्कि समाचारपत्रो मे प्रकाशित होने वाली समालोचनाओ का भी गला घोट दिया। सन् 1889 के अधिनियम द्वारा केवल सनिक भेद देना ही दण्डनीय था अब उसमे असनिक (Civil) भेदो को देना भी दण्डनीय बना दिया। सन् 1898 के अधिनियम के अनुसार "साम्राज्य अथवा ब्रिटिश भारत म विधिनिर्मित सरकार के प्रति अभक्ति की भावनायें उत्तेजित करने को अथवा उत्तेजित करने के प्रयत्न को राजद्रोह बना दिया गया। भारतीय दण्ड सहिता (The Indian Penal Code) म एक नया विभाग (153 A) जोडा गया जिसके अनुसार वग द्वेष को प्रोत्साहन देने वाले अपराधी दण्डनीय थे।" श्री नेविन्सन (Nevinson) ने ठीक लिखा है कि 'इस विधेयक के फलस्वरूप भारतीय पत्र और पत्रकार केवल वे ही बातें प्रकाशित कर सकते थे जिनको सरकार पसन्द करे।"

(iv) **सीमा प्रान्तीय, अफगानिस्तान तथा तिब्बत सम्बन्धी नीति** (Frontier Policy and Policy towards Afghanistan and Tibet) लार्ड कर्जन पक्का साम्राज्यवादी था। अपने साम्राज्यीय हितो की रक्षा के लिए वह भारतीय सीमाओ की सुरक्षा चाहता था। इस उद्देश्य से उसने भारत के पडोसी देशो को भारत म मिलाने के लिए सनिक कार्यवाही भी की। सीमा प्रान्त, अफगानिस्तान, तिब्बत चीन तथा फारस सम्बन्धी उसकी नीतियो न भारतीयो म असन्तोष पदा किया। इन सनिक कार्यवाहियो म भारतीय सनिको का प्रयोग किया गया और इनके खर्चों को भारतीय करदाता पर डाल दिया गया।

(v) **सावजनिक सम्मेलनो तथा सभाओ में भारतीयो की निन्दा तथा उन पर अविश्वास व्यक्त करना** (Open denunciation & no confidence on Indians)

---

1 Ronaldshay The life of Lord Curzon Vol II p 193
2 Fraser, Sir Lovat India Under Curzon and After, p 181

लार्ड कर्जन सार्वजनिक सम्मेलनों और सभाओं में भारतीयों की निन्दा करने तथा उन पर अविश्वास को व्यक्त करने में कभी नहीं हिचकता था। वह भारतीयों को मूढ, अयोग्य, असभ्य और अनैतिक मानता था। उच्च सेवाओं के लिए वह भारतीयों को अयोग्य मानता था। वह उन्हें झूठे और बेईमान भी कहता था। वह कहा करता था कि "ईश्वर ने एक ही जाति को शासन करने के हेतु पैदा किया है और वह है अंग्रेज जाति। भारतीयों को शासनाधिकार सौंप कर उस सर्वोच्च सत्ता ईश्वर के नियम का तिरस्कार करना है।" इसलिए कर्जन ने उच्च सार्वजनिक पद केवल अंग्रेजों के लिए सुरक्षित रखे थे क्योंकि "उनमें अपने पैतृकाधिकार, पोषण और शिक्षा के कारण, शासन के लिए अनिवार्य चरित्र बल, शासन के सिद्धान्तों का बोध और मनोयोग था।"[1]

लार्ड कर्जन ने अपने वक्तव्यों में भारतीयों के आत्म सम्मान को पैरों तले रौंदा। वह कहा करता था कि 'भारतीय राष्ट्र नाम की कोई वस्तु नहीं', "सत्य को भारतवासियों ने कभी आदर्श नहीं माना।" सन् 1905 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण(Convocation address) में बोलते हुए कर्जन ने भारतीय चरित्र और नैतिकता पर भयंकर आक्षेप किया। उसने कहा कि "इसमें सन्देह नहीं कि पूर्व में आदर पाने से कहीं पहले सत्य को पश्चिम में कहीं ऊँचा स्थान मिला था। पूर्व में तो धूर्तता तथा कूटनीति सम्बन्धी चालाकियों का सदैव आदर हुआ है।"[2] भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बारे में भी उसने उसकी "शीघ्र मृत्यु" की भविष्य वाणी की। लार्ड कर्जन के ये सब वक्तव्य भारतीयों के लिए ललकार थे। इनके विरोध में भारतीय जनता के हृदय में जो क्रोध और बदले की भावना का दावानल उमड़ा उसने उग्रवाद और क्रांतिकारी भावनाओं को जन्म दिया और बंग-भंग ने तो गंगा में ही आग लगा दी। स्वराज्य,स्वदेशी और स्वशासन का नारा बुलन्द किया गया। इस तरह लार्ड कर्जन का शासन ईश्वरीय वरदान सिद्ध हुआ। उसने राष्ट्रीय चेतना में ऐसे भाव पैदा कर दिये जिन्होंने भारत के भविष्य को ही बदल दिया, कांग्रेस की कब्र खुदने के स्थान पर उसे नया जीवन मिला और वह उग्र रूप धारण कर गई।

(vi) *बंग भंग (Partition of Bengal)*— लार्ड कर्जन का शासन भारत में परिवर्तनों के लिए जाना जाता है। यह मिशनों, लापरवाहियों और त्रुटियों (missions ,omissions, and commissions) के लिए भी प्रसिद्ध है। बंग भंग

---

1 Quoted in Buchan Lord Minto Quoted by Singh, G N, Ibid p 126

2 Undoubtedly truth took a high place in the codes of the West before it had been similarly honoured in the East where craftiness and diplomatic wile have been held in high repute Calcutta University Convocation Speech

इसी नीति का परिणाम था। यह लार्ड कर्जन की क्रूरतम नीतियों, घृणित और मूर्खतापूर्ण कार्यों में सर्वोत्तम कार्य था। भारतीय राजनीति में "फूट डालो और शासन करो" की नीति का यह श्रीगणेश था, भारतीय राष्ट्रीयता को कुचलने का यह तरीका था, होम रूल आन्दोलन की आवाज को दबाने और बंगाली राष्ट्रीयता के विकास को रोकने का यह प्रयास था तथा मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्त को बनाने की यह चाल थी।

उस समय बंगाल का प्रान्त भारत में सबसे बड़ा प्रान्त था। सन् 1901 की जनगणना के अनुसार इसकी जनसंख्या 8 करोड़ थी जो स्पेन की जनसंख्या के बराबर और फ्रांस की जनसंख्या से कुछ कम थी। इसमें बंगाल स्वयं, बिहार, उड़ीसा और छोटा नागपुर के चार बड़े प्रदेश शामिल थे।

बंग भंग की योजना कोई तत्काल योजना नहीं थी। ब्रिटिश नौकरशाही इस प्रश्न पर सन् 1892 से विचार कर रही थी। सन् 1892 में दीवानी और सैनिक विभाग के विशेषज्ञों की एक समिति ने उत्तर पूर्वी सीमा की सुरक्षा के लिए लूशाई पहाड़ियों और चिटगांव कमिश्नरी को असम के साथ मिलाने का सुझाव दिया था। सन् 1896 में सर विलियम वार्ड ने, जो उस समय असम के कमिश्नर थे, यह सुझाव दिया था कि ढाका और मैमनसिंह के जिले असम के साथ मिला दिये जायें। परन्तु इन सुझावों को स्वीकार नहीं किया गया। सन् 1903 में बंगाल के गवर्नर सर एण्ड्रूज फ्रेजर ने भारत के गवर्नर जनरल का सुझाव दिया कि पूर्वी बंगाल के कुछ भाग असम को दे दिये जायें। इन सुझावों को लार्ड कर्जन ने स्वीकार कर लिया और सन् 1903 में ही बंगाल के विभाजन के प्रस्ताव की घोषणा कर दी। 16 अक्टूबर, 1905 को इस योजना को कार्यान्वित कर दिया गया।

बंग भंग द्वारा पूर्व बंगाल और असम के नये प्रदेश का जन्म हुआ जिसमें पूर्वी भाग, ढाका, चिटगांव, राजशाही, मालदा, त्रिपुरा, ब्रह्मपुत्र और सुरमा घाटी के जिले शामिल किये गये। इस प्रान्त में मुसलमानों की बहुतायत थी। पूर्वी बंगाल और असम की कुल जनसंख्या 3 करोड़ 10 लाख थी जिनमें मुसलमान 1 करोड़ 80 लाख थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय के बंगाल जैसे बड़े प्रान्त को कुशलतापूर्वक चलाना कठिन था। यदि इस उद्देश्य को लेकर बंगाल प्रान्त का विभाजन किया जाता या भाषा के आधार पर[1] भी इसका विभाजन किया जाता तो सम्भवत

---

1 यदि हिन्दी भाषाई बिहार और उड़ीसा को बंगला भाषाई बंगाल से पृथक् किया जाता तो सम्भवत भारतीय इसका विरोध नहीं करते। परन्तु विभाजन तो बंगला भाषाई बंगाल का किया गया था, बिहार और उड़ीसा तो बंगाल के साथ रहे।

बगाली राष्ट्रीयता और भारतीय जनता इसका घोर विरोध नही करती। परन्तु इसका उद्देश्य प्रशासनिक सुविधा या सुधार नही था। इसका उद्देश्य बडा कुटिल और गूढ था। यह बगाली राष्ट्रीयता को कुचलना चाहता था, उसम फूट डालन चाहता था, धम के आधार पर लोगा का विभाजित करना चाहता था, मुस्लिम प्रात बनाना चाहता था।[1] लाड कजन ने स्वय मुसलमानो की सभा मे कहा था कि "विभाजन का उद्देश्य केवल शासन की सुविधा ही नही था, वरन् विभाजन द्वारा एक ऐसा मुस्लिम प्रान्त बनाया जा रहा है जिसमे इस्लाम और उसके अनुयायियो की प्रधानता होगी।"[2] एक अन्य स्थान पर लाड कजन ने मुसलमानो को भडकाने वाले ये शब्द कहे "इससे मुसलमानो को वह एकता प्राप्त होगी जो मुसलमान बादशाहो और सूबेदारो के राज के बाद उन्हे नसीब नही हुई।" डा जकारिया न ठीक लिखा है कि बग भग का काय "अपने उद्देश्य और प्रभाव म एक धूततापूण (Machiavellian) काय था।"[3]

बग भग भारतीय जनमत की घोर उपेक्षा थी। श्री गोखले लिखते ह कि "यह योजना अ वकार मे तैयार की गई थी (इसने) देश के अभूतपूर्व विरोध की उपक्षा की वतमान अग्रेज शासका की दृष्टि मे भारत की प्रजा की कोई कीमत नही थी।" श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि "चकित जनता के ऊपर बग भग एक बम्ब के गोले के समान था।" रास बिहारी घोष ने लाड कजन के इस काय को गलत बताया। लाड रोनल्डशे लिखते है कि "प्रा त के जागत बग के अनुसार इस विभाजन द्वारा बगाली राष्ट्रीयता की बढती हुई दृढता पर आक्रमण किया गया था।"[4]

बग भग ने प्रज्वलित अग्नि मे घी की आहूति दे दी। "इसने गगा मे आग लगा दी और सारे बगाल ने अनुभव किया कि उसे अपमानित, उपेक्षित और प्रवचित किया गया है।"[5] यह धोखा था और भविष्य तथा राष्ट्रीय जागृति का नष्ट करने का प्रयास था। यह क्रूर वज्रपात था। इसका विरोध सारे भारत मे एक स्वर से हुआ। बगाल म 16 अक्टूबर 1905 को (जिस दिन बग भग कार्यान्वित किया गया था) भूख हडताल और उपवास के रूप मे मनाया गया, वन्दे मातरम् के गीत गाये

1 See Dr Lal Bahadur The Muslim League Its History Activities, and Achievements
2 Majumdar, A C Indian National Evolution, p 207
3 'The whole purpose and effect of the measure was manifestly machiavellian" Dr Zacharias Renascent India
4 Quoted by Singh, G N, Ibid, P 138
5 Banerjee, Surendra Nath A Nation in the Making, P 187

गये, विदेशी माल की होली जलाई गयी, विदेशी माल की दुकानो पर धरणा दिया गया, जगह-जगह पर विरोध सभायें की गई। केवल बगाल प्रान्त मे 500 सार्वजनिक सभायें की गई। ब्रिटिश ससद को 60,000 हस्ताक्षर सहित एक आवेदन पत्र भी भेजा गया जो बेकार गया। इस सम्बन्ध मे एक शिष्टमण्डल लार्ड कर्जन से मिलने गया परन्तु उसने मिलने से इन्कार कर दिया। बगाल भग के विरोध म भारतीयो की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए सर्वश्री गोखले और लाला लाजपतराय इग्लैण्ड भी भेजे गये परन्तु उनके प्रयास असफल रहे। इग्लण्ड से लौट कर लाला लाजपतराय ने अपने देशवासियो को बताया कि "ब्रिटिश प्रजातन्त्र (जनता) अपने निजी विषयो मे इतनी व्यस्त थी कि वह उसके लिए कुछ भी करने को तैयार नही थी और भारतीय समस्याओ को लोगो तक पहुँचाना कठिन था।"[1] लार्ड मार्ले ने बगभग को एक निश्चित तथ्य (a settled fact) बताया। लार्ड कर्जन ने तो जलते हुए पर नमक छिडका और कहा कि बगभग का विरोध कुछ उपद्रवियो द्वारा बनावटी रचना है। इससे स्वदेशी आन्दोलन "बदले की भावना मे उभडा।" युवक वर्ग यह पूछने लग गया कि "यदि सवैधानिक पद्धति का परिणाम बगाल का विभाजन ही है तो उसको अपनाने का क्या लाभ।"

बग भग को कार्यान्वित करने का समय भी अनुपयुक्त था। इसे ऐसे समय पर कार्यान्वित किया गया (16 अक्टूबर 1905) जब जापान जैसी एशिया की छोटी शक्ति ने रूस जैसी यूरोप की महान शक्ति को पराजित कर दिया था। रूस की पराजय ने यूरोप की अजेयता के मिथ (myth) का भाडा फोड दिया। भारतीय अब यह विचार करने लगे कि विरोधी सभाओ और प्रस्तावो के स्थान पर कुछ और अधिक स्पष्ट, निश्चित और शक्तिशाली, बदले की भावना से, कदम क्यो न उठाये जायें।

बस फिर क्या था, भारत मे एक नये राष्ट्रवाद का जन्म हुआ जिसे उग्र राष्ट्रवाद (Extreme nationalism) की सज्ञा दी जाती है। काग्रेस की भिक्षावृत्ति (Policy of Mendicancy) का अन्त कर दिया गया। उग्र दल जोर पकडता गया। भारतवासी "शताब्दियो की दासता को अपने रुधिर की धार से बहाने को तयार हो गए।" स्वराज्य, स्वदेशी, स्वशासन की नीति अपनाई गई। "बहिष्कार" राष्ट्रवादियो का नारा बन गया। 7 अगस्त 1905 को कलकत्ते के टाउनहाल मे बहिष्कार की नीति अपनाई गई और यह निश्चय किया गया कि "जिस समय तक बगाल विभाजन का अन्त नही कर दिया जाता उस समय तक विदेशी माल का बहिष्कार किया जाय क्योकि अग्रेज जाति भारतीय समस्याओ से पूर्णतया उदासीन है और तत्कालीन सरकार जनमत की पूर्ण अवहेलना कर रही है।"[2] स्वदेशी आन्दोलन प्रबल होता

---

1 Rai, Lajpat Young India Quoted by Singh, G N Ibid p 145
2 Bannerjee S N A Nation in the Making p 129

गया। "परीक्षार्थियो ने विदेशी कागज की कापिया छूने से इन्कार कर दिया, बच्चो ने विदेशी जूते पहनने व ज्वर मे विदेशी दवा खाने से मना कर दिया और विवाह मे मिली ऐसी विदेशी भेंटें अस्वीकार की जाने लगी जो भारत मे भी बन सकती थी।"

सरकार ने दमन की नीति अपनाई तथा मुसलमानो को हिन्दुओ के विरुद्ध भडकाया। सरकार का पक्षपातपूर्ण रवया पूर्वी बगाल के ल० गवनर सर बम्फाइल्ड फुलर के इन शब्दो से स्पष्ट होता है। उन्होंने कहा कि "उसकी दो स्त्रियाँ है, एक हिन्दू और दूसरी मुसलमान, किन्तु वह दूसरी को अधिक चाहता है।' मुसलमानो ने इससे उत्साहित होकर हिन्दू व्यापारियो की दूकानें लूटी, हिन्दू स्त्रियो का अपहरण किया तथा उन पर अत्याचार किये।[1] इन सब घटनाओ ने क्रातिकारी और आतकवादी आन्दोलन को भी जन्म दिया जिसके प्रमुख नेता थे वारीन्द्र कुमार घोष और भूपेन्द्रनाथ दत्त। लाड रोनल्डशे ने ठीक लिखा है कि 'यह भावना ही थी जिसने आन्दोलन को प्रेरक शक्ति प्रदान की।"[2]

5 **धार्मिक जागृति और बाल, पाल और लाल का प्रबुद्ध नेतृत्व** (Religious awakening and Enlightened leadership of Bal, Pal and Lal) उग्र विचारधाराओ को धार्मिक पुनरुत्थान से प्रेरणा मिली। वास्तव मे उग्र राष्ट्रीयता हिन्दू धम पर आधारित थी। जसा कि जी० एन० सिंह ने लिखा है कि *"1905* के राष्ट्रीय आन्दोलन को देश के धार्मिक पुनरुत्थान से प्रेरणा मिली।'[3] हिन्दू सस्कृति, वेद और भारतीय सभ्यता की प्रशसा स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, श्रीमती एनी बेसेन्ट ने की। स्वामी दयानन्द ने इस बात का नारा लगाया कि भारत भारतीयो के लिए है। उन्होने देशवासियो को अपनी सस्कृति और परम्पराओ से प्रेम करना सिखाया। स्वराज्य और स्वदेशी शब्दो का प्रयोग सवप्रथम उन्होंने किया। वे कहते थे 'सुशासन' कभी भी 'स्वशासन' से अच्छा नही होता। श्रीमती एनी बेसेन्ट के लिए "सारी हिन्दू प्रणाली पश्चिमी सभ्यता से बढकर है।" श्री अरविन्द घोष तो हिन्दू धम म ही स्वतन्त्रता की पूर्ति समझते थे। उनके शब्दो म "जीवन का लक्ष्य मुक्ति (स्वतन्त्रता) है और हमारी इस आकाक्षा को केवल हिन्दू धम ही पूरा कर सकता है।" बकिम चन्द्र चटर्जी जसे उपन्यासकारो और रविन्द्रनाथ टैगोर

---

1 See Mazumdar, A C Indian National Evolution and The Modern Review, June 1907

2 "It was sentiment that gave the movement the force it ultima tely acquired" Ronaldshay Life of Lord Curzon, vol II p 322

3 Indeed the National Movement in 1905 derived its inspiration mainly from religious revival in the country" *Singh* G N Ibid, p 144

जसे कवियो ने भारतीय भाषाओ को सम्पन्न करने के साथ राष्ट्रीय कविताओ और उपन्यासो की रचना की। वकिम चन्द्र चटर्जी के 'आनन्द मठ' का 'वन्दे मातरम्' राष्ट्रीय गान वन गया।

उपयुक्त धार्मिक नेताओ तथा राष्ट्रीय उपन्यासकारो और कवियो के अतिरिक्त बाल, पाल और लाल के कुशल तथा प्रवुद्ध (विवेकशील) नेतृत्व ने भारतीया का अपने पूवजा, अपनी सस्कृति और सम्यता मे गव करना सिखाया । ये पश्चिमीकरण के जितने ही विरोधी थे उतने ही वे स्वदेशी, स्वशासन, स्वराज्य के प्रेमी थे । इन्ह पश्चिमी सभ्यता और सस्कृति की श्रेष्ठता मे विश्वास नही था जैसा कि नरम दलीय नेता (गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आनन्दमोहन घोष, मदन मोहन मालवीय आदि) करते थे। तिलक विदेशी शासन को अभिशाप (Curse) मानते थे, विपिन चन्द्र पाल "अधिराज्य स्थिति (Dominion status) से घृणा करते थे । लाला लाजपतराय आत्म विश्वास, त्याग और वलिदान म विश्वास करते थे नरम दल वालो की भाति भिक्षावति मे नही । निडरता, वीरता, देशभक्ति और आत्म त्याग की भावनाएँ इन्ही उग्रवादी नेताओ ने जन साधारण मे जागत की। 15 जून, 1897 के एक लेख मे श्री तिलक ने लिखा कि "यदि हमारे घर मे चोर घुस आयें और हम मे उन्ह बाहर निकालने की सामथ्य न हो तो हमे बिना किसी झिझक के उन्हे अन्दर बन्द करके जला देना चाहिए।"[1] राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करन के लिए इन नेताओ ने धार्मिक उत्सवो[2] का पूरा प्रयोग किया। "आध्यात्मिक लक्ष्य स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद पूर्ण हो सकता है।" अरविन्द घोष के लिए "राष्ट्रीयता राजनीतिक उद्देश्य और भौतिक सुधार के किसी साधन से कही बडी चीज थी।"

सक्षेप मे, उग्र राष्ट्रवादियो की विचारधारा धार्मिक पुनरुत्थान पर आधारित थी। हिन्दू धम उसकी परम्पराओ, उसकी सभ्यता तथा सस्कृति से प्रेम सिखाकर उन्होने पश्चिमी सभ्यता,पश्चिमी सस्कृति,पश्चिमी भाषा, पश्चिमी वेशभूषा तथा पश्चिमी विचारधारा के विरुद्ध तूफान खडा कर दिया। डा० ईश्वरी प्रसाद ने ठीक लिखा है कि "लोकमान्य तिलक ने अपनी शिक्षाओ, कार्यविधि तथा प्रचार के द्वारा भारतीय *जनता की विरोध भावना को जागृत किया और उन्हे विदेशी राज्य का शत्रु बना* दिया।"[3]

---

1 Tilak, Kesari, June 15, 1897

2 श्री तिलक ने महाराष्ट्र मे गणपति और शिवाजी दिवस तथा विपिनचन्द्र पाल ने वगाल मे काली और दुर्गा दिवस को राष्ट्रीय भावनाओ को [illegible] करने के लिए प्रयोग म लिया ।

3 Prasad, Dr I , History of Modern India, p 428

6 **आंग्ल भारतीयो का अहकारयुक्त व्यवहार तथा आग्ल भारतीय पत्रों का भारत विरोधी दृष्टिकोण** (Arrogant behaviour of Anglo Indians and anti–Indian attitude of Anglo Indian Press—अंग्रेजो का भारतीयो के साथ व्यवहार न केवल अहकार युक्त था बल्कि धूतता, निदयता और अमानवीयता का भी था। भारतीयो को काले आदमियो की सज्ञा देकर उनसे घृणा की जाती थी। यदि गोरे भारतीयो के साथ घातक मारपीट भी करते तो गोरे अपराधियो को दण्डित नही किया जाता था। एक मामले मे ब्रिटिश सैनिको ने "एक देशी स्त्री को बलात्कार से मार डाला"[1] परन्तु अपराधियो को दण्डित नही किया गया। सन् 1902 मे सियालकोट मे स्थित 9 लान्सर (9th Lancers) घुडसवार दल के दो सैनिको ने एक रसोइए को इतना पीटा कि वह मर गया। उसका अपराध यह था कि उसने उनके लिए एक देशी स्त्री का प्रबन्ध करने के लिए मना किया था। ये घटनाएँ स्वय मे दुर्भाग्यपूर्ण थी। लार्ड कर्जन ने इनके बारे मे भारत मन्त्री को अपने अभिलेख मे ये शब्द लिखे "पता नही इन अभियोगो के बारे मे आपके क्या विचार है किन्तु इनसे मेरी आत्मा तो कराह उठती है।"[2]

सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि आग्ल भारतीय पत्र ऐसे अपराधों और हत्याओ को प्रोत्साहन देते थे। लाहौर के सिविल एण्ड मिलिट्री गजट जसे महत्त्वपूर्ण पत्र भी शिक्षित भारतीयो को गालिया देते थे। शिक्षित भारतीयो को 'वाचाल बी० ए०, हीन जाति बी० ए०, 'गुलाम, घुडसवार भिखमगे 'नीच जाति, आदि गालिया दी जाती थी।[3] लार्ड कर्जन ने स्वय भी कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षात समारोह मे भारतीय सभ्यता, सस्कृति, चरित्र, नतिकता और राष्ट्रीयता पर आक्षेप किया था। इन सब घटनाओ ने भारतीयो मे क्रोध, घृणा और विरोध की भावनाएँ जाग्रत की जिनमे उग्रवादी भावनाओ को बल मिला।

7 **ब्रिटिश उपनिवेशो मे भारतीयो के साथ अमानवीय व्यवहार** (Inhuman Treatment to Indians in British Colonies)–ब्रिटिश उपनिवेशो मे भारतीयो की स्थिति बडी शोचनीय और अपमानजनक थी। उनके साथ जो अमानवीय व्यवहार होता था उसने भारतीयो मे क्षोभ की भावनाएँ पदा कर दी। दक्षिण

---

1 Ronaldshay Life of Lord Curzon, Vol II, p 71 Quoted by Singh G N Ibid p 142

2 "I do not know what you think of these cases They eat into my very soul Ronaldshay Life of Lord Curzon, Vol II, p 246 Quoted by Singh, G N Ibid, p 141

3 *Nevinson The New Spite in India pp 17–18 Quoted by* Singh G N Ibid, p 142

अफ्रीका मे, विशेषकर बोर उपनिवेशो (Boer Colonies), मे सभी भारतीय बहिष्कृत थे । उन पर व्यक्तिगत कर लगाया जाता था । नटाल और ट्रान्सवाल मे भारतीयो को 3 पौंड पोल टैक्स (Poll tax) देना पडता था । राजनीतिक अधिकार तो दूर उन्हे सामाजिक अधिकार भी प्राप्त नही थे । जो स्थान यूरोपियन लोगो के लिए सुरक्षित थे वहा भारतीय मकान नहीं बनवा सकते थे । अपने नाम पर वे भूमि नहीं खरीद सकते थे । शहर के बाहर कुछ निर्दिष्ट स्थानो म "घूरो"[1] पर उन्हे रहना पडता था । कुछ उपनिवेशो म वे "राज मार्ग पर नही चल सकते थे और न गाडी के पहले और दूसरे दर्जे म यात्रा कर सकते थे । वे वहा का सोना नही रख सकते थे और रात के 9 बजे के बाद घर से बाहर नही रह सकते थे ।"[2] होटला स्कूलो और अस्पतालो म प्रवेश नही ले सकते थे । ये तथा अन्य ऐसी ही शर्तें अपमानजनक थी । ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने इसे स्वय इन शब्दो मे व्यक्त किया "हमारी भारतीय प्रजा के इस अपमान से हमारा रक्त उबलने लगता है ।"[3]

सबसे अपमानजनक बात सन् 1907 मे ट्रान्सवाल की सरकार ने एशियाटिक रजिस्ट्रेशन अधिनियम (Asiatic Registration Act, 1907) पास करके की । उसके द्वारा सभी भारतीयो को अपराधी मान लिया गया और उन्हे अपनी अगुलियो के निशान (Finger-Prints) देकर अपना निबन्धन (registration) कराने के लिए कहा गया । महात्मा गाधी ने इसे शैतानी (पशाची—Satanic Law) कानून की सज्ञा दी और अपना निबन्धन करने से इन्कार कर दिया । इस कानून के विरुद्ध गाधी जी ने वहा सत्याग्रह शुरू कर दिया । भारतीय इस सारे अभद्र और अमानवीय व्यवहार को बडी असहनीय दृष्टि से देख रहे थे । उनके मन मे इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और उग्र भावनाओ को बल मिला । उनका विश्वास बन गया कि उनकी दासता ही उनके अपमान का कारण है और ब्रिटिश सरकार की उदासीनता ही इस अपमान के लिए उत्तरदायी है । इसलिए वे दासता की जजीरो को तोडने के लिए तैयार हो गये ।

**8 राजनीतिक भिक्षावृत्ति मे अविश्वास अथवा नरम दल की असफलता (Loss of faith in Political mendicancy or Failure of Moderates)** बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो मे उग्र राष्ट्रीयता के विकास के कारणो म एक कारण यह भी था कि युवा पीढी का वैधानिक साधनो की उपयोगिता पर विश्वास

1 Besant, Annie How India Wrought for Freedom, p 280
2 Thompson, The Reconstruction of India, p 76
3 "These insults to our Indian fellow subjects made his blood boil' Quoted by Singh, G N Ibid, p 143

उठ चुका था । इस पीढी ने अनुभव कर लिया था कि वाछित सुधारो को कार्यान्वित कराने तथा शिकायतो को दूर करवाने मे याचिकाए, प्रार्थनाए, प्रस्ताव तथा शिष्ट-मण्डल जैसे संवैधानिक उपाय अपर्याप्त हैं । इस वर्ग का अंग्रेजो की न्यायप्रियता और औचित्य की भावना मे कोई विश्वास नही रहा था । युवा पीढी यह प्रश्न करने लग गयी थी कि उन साधनो को अपनाने से क्या लाभ जो बीस वर्षों के प्रयत्नो के बाद भी विधान परिषदो मे वाछित सुधार नही ला सके, भारतीयो को भारतीय प्रशासन मे उनका स्थान नही दिला सके इत्यादि । सन् 1892 के अधिनियम द्वारा जो सुधार लाये गये थे वे न केवल अपर्याप्त थे बल्कि निराशाजनक भी थे ।

इस नई विचारधारा का नेतृत्व बाल, पाल और लाल जैसे कुशल राष्ट्रीय नेता कर रहे थे । तिलक स्पष्ट कहते थे कि "हमारा आदर्श दया की भिक्षा मागना नहीं अपितु आत्म निर्भरता था" । पाल कहते थे "स्वराज्य को अपने सामर्थ्य से प्राप्त करेंगे । लाला लाजपत राय कहते थे कि 'बीस वर्ष के निरन्तर आन्दोलन के बाद हमे रोटी के स्थान पर पत्थर प्राप्त हुए है । अब अंग्रेजो की कृपा के लिए अधिक समय तक गिडगिडाने तथा भिखारी बने रहने का विशेष लाभ नही होगा ।" ये राष्ट्रीय नेता राजनीतिक या प्रशासनिक रियायतो के लिए याचनाओ पर नही 'कठोर सग्राम' और 'बलिदान' पर विश्वास करते थे । इनका विश्वास बन गया था कि "अधिक उग्रवादी एव त्यागमयी साधनो द्वारा शीघ्र और महान परिणामो को प्राप्त किया जा सकता है ।"[1] इनका कार्यक्रम था "बहिष्कार" 'स्वदेशी' और राष्ट्रीय शिक्षा और इनका उद्देश्य था "स्वराज्य" ।

## काग्रेस का विघटन
(Split in Congress)

सन् 1907 मे, सूरत मे, काग्रेस के विघटन होने के बीज काग्रेस के सन् 1905 के बनारस अधिवेशन और सन् 1906 के कलकत्ता अधिवेशन मे देखे जा सकते है । वास्तव मे, इन अधिवेशनो मे उत्पन्न विरोधो ने ही सूरत मे विस्फोट का रूप धारण कर लिया और उग्रवादी काग्रेस से पृथक कर दिये गये ।

### बनारस अधिवेशन, 1905—उग्रदल की स्थापना

भारत मे नवीन राष्ट्रीयता की भावनाएँ जो पिछले दस वर्षों से विकसित हो रही थी उनका स्पष्ट प्रदर्शन 1905 के बनारस अधिवेशन मे हुआ । बनारस अधि-वेशन उस समय हुआ था जबकि लार्ड कर्जन ने अपने औरगजेबी अहकार के कारण

1 Zacharias Renascent India, p 128

मर हेनरी कॉटन[1] की अध्यक्षता म काग्रेस के एक शिष्टमण्डल से मिलने मे इन्कार कर दिया था तथा काग्रेस को "गैस छोडने" वाली सस्था कह कर निन्दित किया था, बग भग के जख्म अभी हरे थे क्योकि मार्ले ने स्पष्ट कह दिया था कि 'बग भग' एक "निश्चित तथ्य" (settled fact) है और गोखले तथा लाला लाजपतराय इग्लैण्ड स खाली हाथ लौटे थे। अधिवेशन मे बोलते हुए लाला लाजपत राय ने अपने देशवासियो से कहा था कि "ब्रिटिश जनता अपने विषयो मे इतनी व्यस्त है कि वह उनके लिए कुछ भी करने को तयार नही है, ब्रिटिश समाचार पत्र भारतीय आकाक्षाओ को व्यक्त करन के लिए तयार नही और भारतीय समस्याओ को लोगो तक पहुँचाना कठिन है" लालाजी ने अपने देशवासियो से यह भी कहा कि "यदि वे स्वतत्रता चाहते हैं तो उन्हे अपने ऊपर निभर करना पडेगा।" लालाजी के भाषण का प्रभाव युवा पीढी पर ही नही पुराने काग्रेसियो पर भी पडा।

बनारस अधिवेशन की अध्यक्षता श्री गोखले कर रहे थे। उन्होने भी अपने अध्यक्षीय भाषण म सरकार के दृष्टिकोण पर खेद प्रकट किया, बग भग की भर्त्सना की और स्वदेशी आन्दोलन पर सहमति प्रकट की। इस अधिवेशन मे बगाल के राष्ट्रवादियो ने जो बलिदान दिये थे उन्हे भी रेकार्ड (record) मे लाया गया। परन्तु विषय निर्धारिणी समिति (Subjects Committee) मे एक विषय पर उदारवादियो और उग्रवादियो मे मतभेद उत्पन्न हो गया। यह विषय था "प्रिन्स ऑफ वेल्स का स्वागत।"[2] उदारवादी प्रिंस ऑफ वल्स का स्वागत करना चाहते थे क्योकि वह सरकार को किसी प्रकार नाराज नही करना चाहते थे। उनकी धारणा थी कि प्रिंस के बहिष्कार का अभिप्राय होगा सवधानिक प्रगति म बाधा प्रस्तुत करना। परन्तु उग्रवादी उदारवादियो के इस तक से सहमत नही थे। वे प्रिंस ऑफ वेल्स का बहिष्कार कर भारतीयो के असन्तोष और रोष को व्यक्त करना चाहते थे। वे सगठित निष्क्रिय प्रतिरोध (Policy of Organized Passive Resistance) की नीति अपनाना चाहत थे। वे सरकार का सहयोग तब तक नही करना चाहते थे जब तक वह भारतीयो को प्रशासनिक और वित्तीय क्षेत्र मे अधिक अधिकार नही देती। लाला लाजपत राय ने अधिवेशन मे बोलते हुए कहा कि "देश मे भीषण दुर्भिक्ष है, त्राहि त्राहि मची हुई है और लोग भूख से मर रहे हैं। इसके अतिरिक्त लार्ड कर्जन के शासन ने भारी असन्तोष उत्पन्न कर दिया है। ऐसे अवसर पर युवराज को आमन्त्रित करना नौकरशाही की चालाकी है। उनका वास्तविक उद्देश्य जनता का ध्यान राजनीतिक असन्तोष

---

1 Sir Henry Cotton was the President of Indian National Congress *in 1904*

2 *प्रिंस ऑफ वेल्स भारत मे 1906 के आरम्भ मे आने वाले थ और सरकार* यह नही चाहती थी कि काग्रेस कोई ऐसा कदम उठाये जो उनके लिए अपमान जनक हो।

से हटा कर जलूसों और तमाशा की ओर लगाना है। हम उनके धोखे में नहीं आना चाहिए।' श्री तिलक ने लालाजी के इन विचारों का पूर्ण समर्थन किया। परन्तु इन वास्तविक तथ्यों के बावजूद भी उदारवादी, अपने बहुमत के कारण, 'प्रिन्स ऑफ वेल्स' के स्वागत' प्रस्ताव को पास कराने में सफल हो गये। परन्तु इस विवाद ने वातावरण पर जो प्रभाव छोड़ा उसमें विच्छेद और अलगाव के बीज विद्यमान थे।

बनारस अधिवेशन के बाद श्री तिलक ने एक सभा को सम्बोधित किया और इस तरह एक नये दल का जन्म हुआ जिसे उग्रवादी दल (गरम दल) कहते हैं। इस दल ने कांग्रेस के अन्तर्गत रह कर ही कार्य करने का निश्चय किया। इस दल ने निष्क्रिय प्रतिरोध (बहिष्कार, असहयोग) और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण (स्वदेशी, स्वराज्य और राष्ट्रीय शिक्षा) के कार्यक्रम को अपनाया। इस दल के प्रमुख नेता थे बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय विपिन चन्द्र पाल और अरविन्द घोष। दूसरी ओर, उदारवादी दल (नरम दल) के प्रमुख नेता थे गोपाल कृष्ण गोखले, सर फिरोजशाह मेहता और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी।

**कलकत्ता अधिवेशन 1906—शक्ति परीक्षा**

कांग्रेस के दोनों पक्षों ने अपने अपने कार्यक्रम के लिए हर सम्भव प्रयास किये तथा एक दूसरे के साधनों की आलोचना की। यह स्वाभाविक था कि जब कांग्रेस अपने वार्षिक अधिवेशन में 1906 में कलकत्ता में एकत्रित हुई तो दोनों के सम्बन्ध तनाव पूर्ण थे। दोनों अपने पक्ष को सुदृढ़ करना चाहते थे। उग्रदल वाले लोकमान्य तिलक का नाम अध्यक्ष पद के लिए प्रस्तुत करना चाहते थे परन्तु उदारवादी इस कड़वी घूंट को निगल नहीं सकते थे। उन्होंने चालाकी से काम लिया। उन्होंने दादाभाई नौरोजी का नाम प्रस्तुत कर इस कठिनाई से छुटकारा पाया। उस समय नौरोजी की आयु 82 वर्ष की थी और उन्हें इंग्लैंड से केवल इसलिए लाया गया था कि कहीं श्री तिलक अध्यक्ष पद पर नियुक्त न हो जायें। अध्यक्ष पद के लिये संकट तो दूर हुआ और इसमें विजय उदारवादियों की हुई। परन्तु इस अधिवेशन में अंतिम विजय उग्रवादियों की हुई। क्योंकि जो प्रस्ताव इसमें पास हुए वे उग्रवादियों के प्रस्ताव थे उदारवादियों के नहीं। स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया गया। कांग्रेस के इतिहास में पहली बार भारत के लिये उपनिवेशों की भांति स्वशासन के उद्देश्य की घोषणा की गई अर्थात् 'औपनिवेशिक स्वराज्य [1] (Dominion Status) कांग्रेस का उद्देश्य बन गया। जी० एन० सिंह

---

1 औपनिवेशिक स्वराज्य का अर्थ उस समय पूर्ण स्वतन्त्रता या ब्रिटेन से सम्बन्ध विच्छेद नहीं था बल्कि इसका अर्थ भारत में वैसी ही शासन व्यवस्था की स्थापना थी जैसी स्वशासित उपनिवेशों में विद्यमान थी।

ने ठीक कहा है कि 1906 का वर्ष राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में विशेष महत्व का है।"[1]

**सूरत अधिवेशन 1907—कांग्रेस का विघटन**

यद्यपि सन् 1906 की कलकत्ता कांग्रेस ने स्वराज्य, स्वदेशी बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा (Swaraj, Swadeshi, Boycott and National Education) के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया था परन्तु उदारवादियों ने इन सिद्धान्तों को कभी भी हृदय से स्वीकार नहीं किया था। वे इनमें संशोधन के इच्छुक थे। उदारवादियों की विचारधारा को डा० वी० पी० एस० रघुवंशी तथा अन्य लेखकों ने इस प्रकार व्यक्त किया है "उदारवादी नेता सरकार की शक्ति का ढिंढोरा पीट कर उग्र विचार धारा का गला घोटने तक का प्रयत्न कर रहे थे।"[2] सूरत अधिवेशन के शुरू होने से पूर्व ही गवर्नर जनरल लार्ड मिन्टो ने उदारवादियों से आगामी सुधारों के बारे में विचार विमर्श करना भी शुरू कर दिया था। उग्रवादी उदारवादियों की इन दोनों बातों से सहमत नहीं थे। वे न तो सन् 1906 के प्रस्तावों में परिवर्तन चाहते थे और न ही वे यह समझते थे कि उदारवादी सरकार के साथ व्यवहार में "साहसी कदम" (bold step) उठाने का साहस कर सकते हैं। इसलिए उन्होंने कांग्रेस पर अपना प्रभुत्व जमाने का निश्चय किया।

कांग्रेस में यह परम्परा चली आ रही थी कि पिछले अधिवेशन में स्वागत समिति (Reception Committee) के अध्यक्ष को ही कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया जाता था। इस तरह उदारवादियों ने डा० रास बिहारी घोष (Dr Rash Behari Ghosh), जो उदारवादी विचारधारा के थे, का नाम अध्यक्ष पद के लिए प्रस्तावित किया। उग्रवादी नेता इसके विरुद्ध थे। तिलक तो खुला चुनाव (Open elections) चाहते थे और इस सम्बन्ध में वे भाषण भी देना चाहते थे परन्तु उन्हें इसकी आज्ञा नहीं दी गई। वास्तव में उग्रवादी लाला लाजपतराय का नाम अध्यक्ष पद के लिए प्रस्तावित करना चाहते थे। इसके द्वारा, एक ओर वे सरकार की अराष्ट्रीय नीतियों के विरुद्ध रोष प्रकट करना चाहते थे और, दूसरी ओर वे उसे बताना चाहते थे कि जिस व्यक्ति को (लाला लाजपतराय को सरदार अजीतसिंह के साथ बिना अभियोग लगाये मई 1907 में माण्डले भेज दिया गया था और 6 महीने बाद वे वापस भारत हाल ही में आये थे) सरकार बिना अभियोग लगाये जेल में धकेल सकती है उस व्यक्ति का सम्मान राष्ट्र में कितना अधिक है। वातावरण को

---

1 See Singh, G N Ibid, P 146

2 रघुवंशी, कुलश्रेष्ठ और कश्यप की रचना "राष्ट्रीय आन्दोलन तथा भारत का संविधान से उद्धृत पृ० 49

देखते हुए लालाजी ने अध्यक्ष पद के लिए खडा होना उचित नही समझा । वातावरण बहुत ही तनावपूर्ण था । अध्यक्ष ने, डा० रास बिहारी घोष ने, अराजक और उच्छृंखल स्थिति से बचने के लिए अधिवेशन को स्थगित कर दिया ।

कांग्रेस के दोनो पक्षो मे भेद इतने गहरे थे कि समझौते के सभी प्रयास असफल रहे । दोना अपने अपने बिन्दुओ पर दृढ रहे । उदारवादियो को अपने बहुमत पर घमण्ड था और उग्रवादियो को अपने भविष्य और सार्वजनिक समर्थन पर विश्वास था । इसका परिणाम यह हुआ कि जब अगले दिन (27-12-1907) अधिवेशन हुआ तो उपद्रव और अव्यवस्था के कारण वह छिन्न भिन्न हो गया । 27 दिसम्बर 1907 के दृश्य को नेविन्सन ने इस प्रकार व्यक्त किया है "भारतीय महिलाएँ पडाल से बाहर खिसक गई, मच के नेता भी खिसक गये तिलक को उनके अनुयायी ले गये परन्तु पडाल म बडा उपद्रव हुआ, कुर्सियाँ फेंक कर मारी गई, लाठियाँ चली और बहुत से सिर फूट गये ।'[1]

28 दिसम्बर, 1907 को उदारवादियो ने पुलिस सरक्षण मे एक सम्मेलन किया । इसमे काग्रेस के 1600 प्रतिनिधियो मे से केवल 1000 प्रतिनिधि उपस्थित हुए । इस सम्मेलन मे लाला लाजपतराय भी उपस्थित थे । असभ्य झगडो से बचने के लिए इस सम्मेलन म काग्रेस के 100 प्रमुख सदस्यो की एक समिति बनाई । इस समिति का उद्देश्य काग्रेस के लिए विधान तयार करना था । काग्रेस का विधान सन् 1908 म बन कर तयार हुआ ।

**मद्रास अधिवेशन, 1908—पुरानी पद्धति मे विश्वास और उपद्रवियों का काग्रेस से निकाला जाना**—काग्रेस के 100 सदस्यो वाली समिति ने जिस सविधान को तयार किया उसे 1908 मे काग्रेस के अधिवशन मे स्वीकार कर लिया गया । इस सविधान मे काग्रेस के उद्देश्य को स्पष्ट रूप से इन शब्दो म व्यक्त किया गया "अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए (अर्थात् अधिराज्य स्थिति का प्राप्त करने के लिए) काग्रेस सव धानिक तरीको का प्रयोग करेगी और उन्ही लागो का इसम प्रतिनिधि के रूप मे स्वीकार किया जायगा जा लिखित रूप मे इस सविधान को स्वीकर करें । इस तरह सन् 1908 का काग्रेस का सविधान सन् 1906 के सिद्धान्ता के सवथा विपरीत था । इसमे निष्क्रिय प्रतिरोध और बहिष्कार की नीति को, जिसमे तिलक तथा अन्य

1 Nevinson The New Spirit in India pp 256 259 Quoted by Singh G N Ibid p 147

उग्रवादी विश्वास करते थे, तिलाजली दे दी। उग्रवादियो का काग्रेस से निकाल दिया गया।

## सूरत विघटन के परिणाम तथा उग्रवादियो का दमन

सूरत विघटन के बडे दुखद परिणाम निकले। इसने जहा सरकार को उग्रवादियो का कठोरता से दमन करने के लिए प्रोत्साहित किया वहा इसने काग्रेस की प्रतिष्ठा और सम्मान को बडा धक्का पहुँचाया। एनी बेसेन्ट ने ठीक लिखा है कि "सूरत का विघटन काग्रेस के इतिहास की सबसे दुखदायक घटना है।"[1]

काग्रेस मे केवल उदारवादी रह गये। इसके सदस्यो की सख्या म कमी होने लगी। सन् 1906 मे इसके अधिवेशनो मे शामिल होने वाले प्रतिनिधियो की सख्या जहा 1600 तक पहुच गई थी, वहा सन् 1908 म केवल 606 सदस्य ही एकत्रित हुए। एक अधिवेशन मे तो एकत्रित होने वाले प्रतिनिधियो की सख्या केवल 207 थी। सन् 1916 म उग्रवादियो के काग्रेस मे सम्मिलित होने पर ही इसकी प्रतिष्ठा और सम्मान बढा तथा इसके सदस्यो की सख्या मे वृद्धि हुई। धीरे-धीरे काग्रेस एक जन आन्दोलन मे बदल गई।

उग्रवादियो का दमन करने के लिए सरकार ने अनेक प्रकार की कठोर नीतिया अपनाई। समाचार पत्रो की स्वतन्त्रता का गला घोटने के लिए सन् 1908 मे समाचार पत्र (असन्तोष की उत्तेजना) अधिनियम (Newspaper Incitement to Offences Act, 1908) पास किया। सन् 1908 म ही फौजदारी सशोधन अधिनियम (Criminal Law Amendment Act, पास किया गया। सन् 1911 म षड्यन्त्रकारी सभा अधिनियम (Seditious Meetings Act) पास किया गया। इसके द्वारा सरकार सार्वजनिक सभाओ तथा वक्ताओ के भाषणो पर प्रतिबन्ध लगा सकती थी।

सरकार ने उग्रवादी नेताओ को अनेक प्रकार के दण्ड दिये। श्री तिलक को सन् 1908 मे केसरी मे "देश का दुर्दैव' और "ये उपाय टिकाऊ नही हैं" नामक लेखो के लिए, राजद्रोह के अपराध मे, 6 वर्ष का कठोर कारावास दिया। अनेक लोगो पर अभियोग चलाये गये, अनेक को सजायें दी गई, अनेक को फासी पर चढा दिया गया। लेखको, प्रकाशको, मुद्रको और सम्पादको तक को नही छोडा गया। सक्षेप म, सन् 1906 से 1911 तक सरकार का दमन चक्र अपनी चरम सीमा पर था, इस काल म आतकवादी अपराध भी अपनी चरम सीमा म थे।

---

1 The Surat episode was the "saddest episode in the history of the Congress" Besant, Annie How India Wrought for Freedom p 465

उपयुक्त दमनकारी नीति उग्रवादियो का सफाया नही कर सकी बल्कि उसने क्रान्तिकारी और आतकवादी रूप धारण कर लिया। यह आन्दोलन भूमिगत (Underground) हो गया। बदले की भावना पदा हुई, गुप्त रूप से प्रचार किया जाने लगा तथा बमो का निर्माण होने लगा।

## उग्रवादियो के सिद्धान्त या उग्रवादी विचारधारा के आवश्यक तत्व

**(Principles of Extremists or Essential features of Extremist Thought)**

उग्रवादियो के सिद्धान्तो की विस्तार पूर्वक व्याख्या इस अध्याय मे वर्णित "उदारवादी और उग्रवादी विचारधारा–एक तुलनात्मक अध्ययन' मे की गई है। यहाँ उन्हे दोहराने से कोई लाभ नही।

**उग्रवादी विचारधाराओं का मूल्याकन**—उग्रवादी विचारधारा की सबसे बडी सफलता यह थी कि इसने राष्ट्रीय आन्दोलन को, जो अभी तक शिक्षित वर्ग तक सीमित था, जन आन्दोलन का रूप दिया। सघर्ष, त्याग और बलिदान द्वारा इसके नेताओ ने जो जन जागृति पदा की वह राष्ट्रीय आन्दोलन म अभी तक पदा नही हुई थी। इन्होने जनता को विदेशियो की परोपकारिता पर निर्भर रहने के स्थान पर स्वावलम्बन और आत्म विश्वास पर निर्भर रहना सिखाया। निरकुश, स्वेच्छाचारी विदेशी सत्ता से भिडन के लिए इन्होने जनता को सक्रिय सगठित निष्क्रिय प्रतिरोध का सिद्धान्त दिया। नैतिकता के ऊपर आश्रित तत्वो के ऊपर निर्भर रहने के स्थान पर आत्म सामर्थ्य पर निर्भर रहना सिखाया।

उग्रवादी आन्दोलन 'बहिष्कार' के रूप मे केवल विरोध का सिद्धान्त नही था, 'स्वदेशी' और 'राष्ट्रीय शिक्षा' के रूप म यह एक रचनात्मक आन्दोलन भी था। बहिष्कार द्वारा इसने लोगो को विदेशी वस्तुओ, विदेशी सस्थाओ और न्यायालयो तथा विदेशी नौकरियो, प्रतिष्ठाओ और उपाधियो पर कुठाराघात करना सिखाया। बहिष्कार के प्रभाव को ऐंग्लो इण्डियन समाचार पत्र "दि इंग्लिशमैन" ने इस प्रकार व्यक्त किया है "बहिष्कार के रूप मे राज के शत्रुओ ने देश मे ब्रिटिश हितो पर कुठाराघात करने का एक अत्यन्त प्रभावशाली शस्त्र पा लिया है।'[1] 'स्वदेशी' और 'राष्ट्रीय शिक्षा द्वारा उग्रवादी आन्दोलन ने भारतीय वस्तुओ, सस्थाओ और स्कूलो का प्रचार किया। यद्यपि उस समय उग्रवादी काग्रेस मे अल्पमत म थे फिर भी वे सन् 1906 म काग्रेस द्वारा 'स्वराज्य, 'स्वदेशी, 'बहिष्कार' और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रस्तावो को पास करने मे सफल हुए। स्वदेशी के प्रभाव को श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने इस प्रकार व्यक्त किया है "मातृभूमि के प्रति भक्ति भाव जो कि स्वदेशी

---

1 Quoted by Desai A R in his Social Background of Indian Nationalism p 307

मे उच्चतम रूप से सुप्रतिष्ठित है, एक प्रभाव है–इतना गुरुगम्भीर और इतना उत्तेजक कि इसका विचार मात्र ही स्फुरण कर देता है और इसका यथार्थ स्पर्श व्यक्ति के मन शिखर को उच्च से उच्च कर देता है।'[1]

उग्रवादियो के सिद्धान्तो की सफलता का सबसे बडा प्रमाण यह है कि आने वाला राष्ट्रीय आन्दोलन इन्ही के सिद्धान्तो पर आधारित किया गया। महात्मा गाधी द्वारा सचालित असहयोग आन्दोलन और सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के तत्व ही सन्निहित थे। गाधी आन्दोलन के यही आधार स्तम्भ थे।

केवल एक दृष्टि मे उग्रवादी राष्ट्रीयता को प्रतिक्रियावादी कहा गया है। प० जवाहरलाल नेहरू ने इसे "सामाजिक रूप से निश्चितत प्रतिक्रियावादी कहा है। इसका कारण यह है कि उग्रवादी आन्दोलन धार्मिक भावनाओ से प्रेरित था। आलोचको का कहना है कि हिन्दू उत्सवो, हिन्दू वीरो और हिन्दुओ के वैदिक अतीत, चन्द्रगुप्त और अशोक के स्वर्णिम युगो, राणा प्रताप एव शिवाजी के वीरतापूर्ण कृत्यो तथा सन् 1857 की रानी झासी की रानी लक्ष्मीबाई के देशप्रेम की स्मृतियो को पुन ताजा' करने से मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति उदासीन हो गये। यह आलोचना केवल अर्द्ध सत्य है। यह नही भुलाया जा सकता कि उस समय के मुस्लिम नेता जो कट्टर पन्थी थे, अपना पृथक् अस्तित्व चाहते थे और ब्रिटिश शासक (लार्ड मिन्टो सहित) अपने साम्राज्यीय हितो की रक्षा के लिए उन्हे भड़का रहे थे। मुस्लिम नेता विदेशी नौकरशाही के बहकावे मे आकर ही राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति उदासीन हुए थे।

## उदारवादी और उग्रवादी विचारधारा–एक तुलनात्मक अध्ययन

### (Liberal and Extremist Ideology–a Comparative Study)

उदारवादी और उग्रवादी दोनो विचारधाराओ मे महान राष्ट्रीय नेता थे, दोनो के नेता साहसी व्यक्ति थे, उनमे देशभक्ति कूट-कूट कर भरी हुई थी, दोनो ही वर्तमान परिस्थितियो से असन्तुष्ट थे, दोनो राजनीतिक संस्थाओ मे, विशेषकर विधान सभा की रचना, उसकी शक्तियो तथा प्रशासन मे सुधार चाहते थे, दोनो सरकार की अराष्ट्रीय और दमनकारी नीति से असन्तुष्ट थे, दोनो भारतीय राष्ट्रीयता के आवश्यक पहलू थे, दोनो भारतीयो म जागृति पैदा करना चाहते थे, दोनो ने राष्ट्र की अपार सेवाएं की है और उन सेवाओ के लिए वे प्रशसा के पात्र हैं, दोनो का अन्तिम उद्देश्य स्वराज्य की प्राप्ति था।

---

1 के० आर० वाधवाल द्वारा उद्धृत भारतीय राजनीति और शासन (1967) पृ० 95

दोनो विचारधाराएँ एक दूसरे की पूरक थी। श्री रामनाथ सुमन ने अपनी रचना "हमारे राष्ट्र निर्माता" मे ठीक लिखा है कि "जब हम उदार एव उग्र दोनो की प्रवृत्तिया का विश्लेषण और अध्ययन करते हैं तो मालूम पडता है कि हमारी राष्ट्रीयता के विकास मे दोनो एक दूसरे के पूरक है और दोनो हमारी राजनीति के स्वाभाविक उपकरण हैं। वस्तुत ये एक ही आन्दोलन के दो पक्ष हैं। पहला बुद्धि पक्ष है दूसरा भाव पक्ष। पहला जहा कुछ सुविधाएँ सहूलियतें प्राप्त करना चाहता है वहा दूसरे का उद्देश्य राष्ट्र मे मानसिक परिवर्तन करना है।"

दोनो विचारधाराओ म महान समानताएँ होते हुए भी तथा एक दूसरे के पूरक होने हुए भी उनम कुछ मौलिक भेद थे। ये भेद मुख्यत उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधनो मे तथा ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति दृष्टिकोण म थे। इन भेदो को, अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से, निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया गया है—

| उदारवादी विचारधारा | उग्रवादी विचारधारा |
|---|---|
| 1 इसके अधिकाश नेता उच्च वर्ग के थे।<br><br>उदारवादी विचारधारा के अधिकाश नेता उच्च वर्ग के शिक्षित व्यक्ति थे। ये पश्चिमी शिक्षा से अत्यधिक प्रभावित थे। इसलिए इनका प्रभाव केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था, इनका आन्दोलन जनता द्वारा प्रेरित नही था।<br><br>उदारवादी विचारधारा के प्रमुख नेता थे दादाभाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, सर फिरोजशाह मेहता, मदन मोहन मालवीय, डब्ल्यू० सी० बनर्जी लाल मोहन घोष सर सी० शंकरन नयर, पी० आनन्द चार्लू डा० रास बिहारी घोष, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, सर सुब्रह्मण्यम् अय्यर, आदि। | 1 इसके अधिकाश नेता मध्यम वर्ग के थे।<br><br>उग्रवादी विचारधारा के अधिकाश के नेता मध्यम वर्ग के व्यक्ति थे। इन्हे राष्ट्रीय शिक्षा म अधिक विश्वास था। इन्हे केवल मध्यम वर्ग का ही समर्थन प्राप्त नही था अपितु सर्व साधारण जनता का समर्थन भी प्राप्त था। इनका आन्दोलन जनता द्वारा प्रेरित था।<br><br>उग्रवादी विचारधारा के प्रमुख नेता थे लोकमान्य बाल गगाधर तिलक, विपिन चन्द्र पाल, अरविन्द घोष, ब्रह्मबान्धव उपाध्याय तथा लाला लाजपतराय। यह आन्दोलन मुख्यता बाल, पाल, लाल के नाम स विख्यात है। |

| उदारवादी विचारधारा | उग्रवादी विचारधारा |
|---|---|
| **2 उदारवादी पश्चिमी (अंग्रेजी) सभ्यता और संस्कृति को भारत के लिए ईश्वरीय वरदान समझते थे।** | **2 उग्रवादी पश्चिमी (अंग्रेजी) सभ्यता को भारत के लिए अभिशाप समझते थे।** |
| पश्चिमी शिक्षा मे रगे इन भारतवासियो पर पश्चिमी सभ्यता, पश्चिमी संस्कृति, पश्चिमी भाषा तथा पश्चिमी सस्थाओ का अत्यधिक प्रभाव था। इनका विश्वास था कि भारत का उद्धार, कल्याण और विकास पश्चिम से सम्बन्ध बनाये रखने मे ही है। ये इन सम्बन्धो को स्थायी एव चिरगामी बनाना चाहते थे। इनकी धारणा थी कि "भारत के साथ इगलण्ड का सम्बन्ध ऊँचे और शानदार उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए ईश्वरीय वरदान है।"[1] | उग्रवादी पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति को भारतवासियो के लिए अभिशाप मानते थे। ये ब्रिटिश शासन के साथ किसी प्रकार का सबध नही बनाये रखना चाहते थे। ये उससे सम्बन्ध विच्छेद चाहते थे। इनका कहना था कि भारत के अध पतन का मुख्य कारण विदेशी शासन है। ये कहते थे कि पहले देश स्वतन्त्र हो, तभी उसकी आर्थिक, सामाजिक और नैतिक उन्नति हो सकती है। |
| उदारवादी "इग्लैड को अपना पथ प्रदर्शक" मानते थे। ये ब्रिटिश शासन द्वारा प्रदत्त लाभो की स्तुति करने मे कभी थकान अनुभव नही करते थे। ये कहते थे कि भारत की राजनीतिक एकता, शासन व्यवस्था सचार व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, स्थानीय सस्थायें, ब्रिटिश शासन की अमूल्य देन हैं। पश्चिमी शिक्षा, साहित्य और विचारधारा ने भारत मे राष्ट्रीयता और प्रजातान्त्रिक विचारधाराओ को जन्म दिया है। | उग्रवादी भारतीय संस्कृति और सभ्यता को पश्चिम की संस्कृति और सभ्यता से श्रेष्ठ मानते थे। वे भारतीय संस्कृति और सभ्यता को ही अपना पथ प्रदर्शक मानते थे। इनका आन्दोलन धार्मिक था और "हिन्दू धर्म" मे ही अपनी मुक्ति के स्रोत देखते थे। अरविन्द घोष ने तो स्पष्ट कहा था कि "जीवन का लक्ष्य मुक्ति (स्वतन्त्रता) है और हमारी इस आकांक्षा को हिन्दू धर्म ही पूरा कर सकता है।" |

1 Bannerjee S N A Nation in the Making p 336

| उदारवादी विचारधारा | उग्रवादी विचारधारा |
| --- | --- |
| **3 उदारवादियो की ब्रिटिश शासन के प्रति भक्ति असन्दिग्ध थी।** उदारवादी ब्रिटिश शासन के भक्त थे। दादा भाई नौरोजी ने कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन मे ही ये शब्द कहे थे "आओ, हम पुरुषो की तरह बोलें और घोषणा कर दें कि हम आचूड राजभक्त है।" ये नेता तो कांग्रेस की स्थापना को ही अंग्रेजी उदारता का फल कहते थे। सरदार दयाल सिंह मजीठिया ने सन 1893 मे कहा था कि "यह भारत मे ब्रिटिश शासन की कीर्ति का कलश है।" टी माधव राव न कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन मे कहा था कि 'कांग्रेस ब्रिटिश शासन का सर्वोच्च यश शिखर और ब्रिटिश जाति का कीर्ति मुकुट है। उदारवादी ब्रिटिश शासन की खुल कर आलोचना नही करते थे। उन्होने कभी ऐसा कार्य करने का प्रयास नही किया जो सरकार को अप्रिय हो। उन योजनाओ को वे कभी स्वीकार नही करते थे जिनमे सरकार के साथ सघर्ष की सम्भावना हो। दमनकारी, अत्याचारी और क्रूर नीतियो, कार्यों तथा कानूनो की आलोचना भी बडी दबी हुई सयत और विनम्र भाषा मे करते थे। | **3 उग्रवादी ब्रिटिश शासन के विरोधी थे।** उग्रवादी ब्रिटिश शासन के भक्त नही थे और न ही वे कांग्रेस को ब्रिटिश उदारता का परिणाम मानते थे। वे ब्रिटिश शासन के गुण नही गाते थे। वे ब्रिटिश शासन के विरोधी थे। राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना को वे भारतीयो के प्रयत्नो का फल मानते थे। इनका कहना था कि ब्रिटिश सरकार ने इसकी स्थापना के लिए जो सहयोग दिया वह ब्रिटिश साम्राज्य को छिन्न भिन्न होने से बचाने के लिए दिया था, भारतीयो की राजनीतिक शिक्षा के लिए नही। उग्रवादी ब्रिटिश शासन की खुलकर आलोचना करते थे। जिन कानूनो या नीतियो को ये राष्ट्रीय अहित मे समझते थे उनकी ये कटु आलोचना करते थे। सरकार की भेदभाव की नीति की ये भर्त्सना करते थे। ये उन योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए तैयार रहते थे जो राष्ट्रीय हित मे होती थी चाहे इनके लिए उन्हे सरकार से सघर्ष ही क्यो न करना पडे। ये ब्रिटिश अन्यायो के प्रति जागृति पैदा करना चाहते थे। |

| उदारवादी विचारधारा | उग्रवादी विचारधारा |
| --- | --- |
| उदारवादी अपनी देश भक्ति के लिए कभी भी ब्रिटिश सरकार द्वारा सताय नही गय , राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए वे कभी जेल नही गये। वास्तव म, उदारवादिया मे कोई ऐसा नेता नही था जो दीघ कारावास, दश निर्वासन और सम्पत्ति के हरण को स्वीकार कर लेता। | उग्रवादी अपनी देशभक्ति के कारण ब्रिटिश सरकार द्वारा अनेक बार सताये गये। इ होने अनेक दु ख और कष्ट झेले। राजद्रोह के अपराध मे इ हे अनेक बार दण्डित किया गया, कठोर कारावास की सजा दी गई तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का हरण किया गया। |
| सरकार न उदारवादियो को उनकी सेवाओ के लिए (यद्यपि उनमे योग्यता भी थी) पदवियो और नियुक्तियो से सम्मानित किया। श्री गोखले को सी० आई० ई० की पदवी प्रदान की गई, अनेक को नाइटहुड' या 'सर' की उपाधि दी गई , कुछ को विधान सभा के लिए मनोनीत किया गया , कुछ को गवनर जनरल की कायकारिणी का सदस्य बनाया गया , कुछ को हाई कोट के न्यायाधीश नियुक्त किया गया। | सरकार उग्रवादियो को राजद्रोही समझती थी। इसलिए योग्यता" होते हुए भी इ हे कभी पदविया से विभूषित नही किया गया। |
| **4 उदारवादी ब्रिटिश शासन के साथ सहयोग करना चाहते थे।** | **4 उग्रवादी ब्रिटिश शासन के साथ असहयोग करना चाहते थे।** |
| उदारवादियो का विश्वास था कि ब्रिटिश शासन के साथ सहयोग करके विपत्तियो का समाधान किया जा सकता है तथा वाछित सुधारो को प्राप्त किया जा सकता है। | उग्रवादी ब्रिटिश शासन के साथ तब तक सहयोग करने के लिए तयार नही थे जब तक वह वाछित सुधारा को कार्यान्वित न कर दें, विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्या को |

| उदारवादी विचारधारा | उग्रवादी विचारधारा |
| --- | --- |
| मन्त्री न बनाया जाये तथा भारतीयों को उच्च पदों में स्थान न दिया जाय आदि। प्रधान उग्रवादी भारतीय प्रशासन का भारतीयकरण करने के इच्छुक थे। | |
| 5 उदारवादी ब्रिटिश न्याय और औचित्य की भावना में विश्वास करते थे। | 5 उग्रवादी ब्रिटिश न्याय और औचित्य की भावना में विश्वास नहीं करते थे।<br>उग्रवादियों का ब्रिटिश न्याय और औचित्य में विश्वास समाप्त हो गया था। वे उदार उदारवादी नहीं परन्तु क्रान्तिकारी और प्रतिक्रियावादी मानते थे। उनकी धारणा थी कि ब्रिटिश राज भारत में उनके उद्धार के लिए नहीं, बल्कि उनका शोषण करने के लिए आया था। अतः ब्रिटिश जाति, ब्रिटिश शासन और ब्रिटिश न्याय में विश्वास न था। |

| उदारवादी विचारधारा | उग्रवादी विचारधारा |
|---|---|
| **6 उदारवादी क्रमिक विकास चाहते थे** उदारवादी एक छलाग से स्वराज्य प्राप्ति करना नही चाहते थे। वे क्रमबद्ध तरीके से विकास चाहते थे। व किश्त दर किश्त सुधारो म विश्वास करत थे। वे 'औपनिवेशिक स्वराज्य' पर बल दत थे। उन्होने कभी भी ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद की बात नही सोची। | **6 उग्रवादी तत्काल विकास चाहते थे** उग्रवादी ब्रिटिश साम्राज्य से तत्काल "स्वराज्य' की माग करते थे वे कहते थे पहले स्वराज्य प्राप्त हो फिर अन्य समस्याओ को सुलझा लिया जायगा। वे स्वराज्य की बाते करते थे, "औपनिवेशिक स्वराज्य" की नहीं। वे ब्रिटिश शासन म सुधार नही चाहत थे, उसका अन्त चाहते थ। |
| **7 उदारवादियो का राजनीतिक आन्दोलन भिक्षावृति पर आधारित था** उदारवादी अपनी मागो के लिए लडना या सघर्ष करना नही जानते थ। उनका राजनीतिक आन्दोलन लगडा (Halting) और निरुत्साही (Half Hearted) होता थ। उनका आन्दोलन नतिक था। वह उन्ही लोगो की दया और सद्भावना पर निर्भर करता था जिनके विरुद्ध वह लडा जाता था। वह अग्रेजो की उपकार नीति पर निर्भर करता था। उदारवादी रियायतें और स्वराज्य चाहते थे परन्तु उनकी प्राप्ति के लिए बलिदान देने या जेल जाने के लिए तैयार नही थ। उग्रवादी इसी कारण उदारवादियो के राजनीतिक आन्दोलन को राजनीतिक भिक्षावृत्ति (Political mendicancy) कह कर निन्दित करते थे। | **7 उग्रवादियों का राजनीतिक आन्दोलन स्वावलम्बन, आत्मविश्वास और आत्म सम्मान पर आधारित था** उग्रवादी अपनी मागो के लिए लडना और सघर्ष करना जानते थे। उनका कार्यक्रम परिकल्पित (Devised) एव नियोजित (Planned) होता था जो मृतक शरीरो मे भी उत्साह पैदा कर देता था। वे स्वावलम्बन, आत्म-विश्वास और आत्म सम्मान म विश्वास करते थे। वे कहते थ राजनीति म परोपकारिता (philanthropy) या उपकार का कोई स्थान नही। लाला लाजपत राय के शब्दो मे 'हम भिखारी नही है", हम "आत्म विश्वास की बात करते है', "हमने गिडगिडाने की नीति का त्याग कर दिया है। हम उस साम्राज्य की प्रजा हैं जहा लोग अपने अधिकार को प्राप्त करने के लिए सघर्ष की नीति का प्रयोग करते हैं।" विपिन चन्द्र |

| उदारवादी विचारधारा | उग्रवादी विचारधारा |
| --- | --- |
| | पाल कहा करते थे "स्वराज्य को हम अपनी सामथ्य से प्राप्त करेंगे, भिक्षावृत्ति या दया से नही।" *तिलक जी का कहना था कि "हमारा* आदर्श दया की भिक्षा मागना नही, अपितु आत्म निभरता है।" तिलक जी के ही शब्दा मे "स्वतन्त्रता मेरा (हमारा) जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं (हम) इसे लेकर रहूगा (रहेंगे) सक्षेप मे, उग्रवादी 'राजनीतिक रियायतो की माग नही करते थे बल्कि "अधिकार" की माग करते थे। |
| **8 उदारवादी सवधानिक साधनो मे विश्वास करते थे।** | **8 उग्रवादी उग्र साधनो में विश्वास करते थे** |
| उदारवादी अपने राजनीतिक उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए केवल सवैधानिक एव शातिमय साधनो का प्रयोग करते थे। इनके मुख्य साधन थे समाचार पत्र, प्लेट फाम (भाषण), काग्रेस के वार्षिक अधिवेशन आवेदन पत्र प्रतिनिधि मण्डल, आदि। हिंसा, निष्क्रिय प्रतिरोध तो दूर उनके प्रोगामो मे "ललकारना" शब्द का प्रयोग भी नही किया जाता था। मदन मोहन मालवीय के शब्दा मे "यद्यपि हमे अभी सफलता प्राप्त नही हुई फिर भी हमे सरकार से बार बार प्राथना करनी है कि वह हमारी मागो पर शीघ्रता से ध्यन दें।" | उग्रवादियो की धारणा थी कि *राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति के* लिए सवधानिक साधन अपर्याप्त हैं जसा कि तिलक जी ने स्पष्ट कहा था कि 'उदार दल सोचता है कि व समझाने से प्राप्त हो सकते हैं। हम सोचते हैं कि वे तीव्र दबाव से प्राप्त हो सकते है।' तिलक जी के ही शब्दा मे "तुम्हारी क्राति रक्तहीन होनी चाहिए परन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि आपको कष्ट न उठाना पडे और जेल न जाना पडे।" इसलिए उग्रवादी सवधानिक साधनो के साथ सगठित निष्क्रिय प्रतिरोध (Organized Passive Resistance) और बहिष्कार (Boycott) का भी प्रयोग करते थे। |

| उदारवादी विचारधारा | उग्रवादी विचारधारा |
| --- | --- |
| | वे 'स्वदेशी' और राष्ट्रीय शिक्षा पर बल देते थे। |
| उदारवादी ब्रिटिश शासन की त्रुटिया और दुबलताओ से अनभिज्ञ नही थे, वे उनके अत्याचार और दमन से भी परिचित थे व जनता के दुखो और कष्टो को भी जानते थे, परन्तु फिर भी वे सवधानिक साधनो द्वारा ही इन्हे दूर कराना चाहते थे। ब्रिटिश ससद और जनता के समक्ष अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए उन्होने अनेक सस्थाओ की स्थापना की जसे सन् 1888 मे इण्डियन एजेसी (Indian Agency), सन् 1889 मे ब्रिटिश कमेटी आफ इण्डियन नशनल काग्रेस (British Committee of Indian National Congress), सन् 1890 मे 'इण्डिया' (India) नामक मासिक पत्रिका भी निकाली गई सन् 1893 में इण्डियन पार्लियामेन्टरी कमेटी (Indian Parliamentary Committee) आदि। उदारवादियो ने चार्ल्स ब्रडला, मैकनील और समुएल स्मिथ जसे भारत से सहानुभूति रखने वाले व्यक्तियो का प्रयोग भी किया। उदारवादियो को ब्रिटिश जाति की स्वतत्र भावना पर इतना विश्वास था कि वे कहते थे कि जब उसे भारतीय पक्ष का सही ज्ञान हो जायगा तो वह उन्हे स्वतन्त्रता दे देगी। | उग्रवादी ब्रिटिश शासन की त्रुटिया और दुबलताओ का पर्दा फाश करते थे और भारतीयो को अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध "सघर्ष" करना सिखाते थे। इनका विश्वास था कि स्वतन्त्रता दान मे प्राप्त नही की जाती इसे "शक्ति" से प्राप्त किया जाता है। |

## (स) आतंकवादी तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन
## (Terrorist and Revolutionary Movement)

क्रान्तिकारी आन्दोलन उन्हीं घटनाओं का परिणाम था जिनके कारण उग्र राष्ट्रीयता का विकास हुआ था। वास्तव में यह उग्र राष्ट्रीयता का ही एक रूप था जो उससे अधिक तीव्र और हिंसात्मक था। ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनाई गई प्रतिक्रियावादी और दमनकारी नीति ने ही इसको जन्म दिया था। श्री माण्टग्यू ने, जो उस समय उप भारत मन्त्री थे, सन् 1910 में स्वीकार किया था कि "पैनल कोड (Penal Code) की सजाओं ने तथा "चाबुक चलाने की नीति" ने साधारण और बिगडे नवयुवकों को शहीद बनाया और विप्लवकारी पक्ष की संख्या बढ़ा दी।"

क्रान्तिकारी 'हत्यारे', 'डाकू' या 'आतंकवादी'[1] नहीं थे। वे पक्के देशभक्त थे। उनमें राष्ट्रीयता कूट कूट कर भरी हुई थी। वे देशभक्ति, आदर्शवादिता और बलिदान की भावनाओं से ओतप्रोत थे और मातृभूमि के लिए बड़े से बड़ा बलिदान देने के लिए तैयार रहते थे। वे इतने अनुशासन प्रिय थे कि दमनकारी कानून, कठोर दण्ड, अमानुषिक व्यवहार, आजन्म कारावास और फांसी भी उन्हें अपने निश्चित मार्ग से विचलित नहीं कर सकते थे। क्रान्तिकारी "अराजकता" फैलाना नहीं चाहते थे बल्कि अंग्रेज हत्यारों (जो देशभक्तों को निर्दयतापूर्वक और अन्यायिक दण्ड देते थे) के हृदय में यह भय उत्पन्न करना चाहते थे कि देशभक्तों की हत्याओं का बदला हत्यायें होगा। वे राष्ट्र के अपमान का बदला लेते थे। वे राजनीतिक हत्यायें या राजनीतिक डकैतियां केवल इसलिए करते थे कि अन्धी और बहरी ब्रिटिश सरकार को यह महसूस करा सकें कि वह *निर्दोष जनता पर अत्याचार न करे।* वे केवल उन पुलिस अधिकारियों, अभियोगों के निर्णय करने वाले उन मजिस्ट्रेटों, सरकारी वकीलों और सरकारी गवाहों को आतंकित करते थे जो अन्याय का साथ देते थे तथा निर्दोष देशभक्तों को निर्दयतापूर्वक दण्ड देते थे या निर्दोष जनता पर अत्याचार करते थे।

क्रान्तिकारी "बम की नीति" (Cult of the Bomb) में विश्वास करते थे। *उनके लिए साध्य की पवित्रता साधना का औचित्य थी।* स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए वे गुप्त हत्याओं, सरकारी सम्पत्ति को नष्ट करने तथा तोड़ फोड़ की कार्यवाहियाँ करते थे। वे कहते थे कि 'अंग्रेज की विधि (कानून) पाशविक शक्ति पर आधारित है और यदि हम पाशविक शक्ति का प्रयोग करते हैं तो वह उचित ही है।'[2] वे लोगों

---

1 क्रान्तिकारियों को बदनाम करने के लिए अंग्रेजों ने ये संज्ञायें उन्हें दी थी, दुर्भाग्य की बात तो यह है कि उदारवादी राष्ट्रवादी भी उनका दमन चाहते थे।

2 Chirol Indian Unrest p 93

को व्यायाम सिखलाते थे, क्रान्ति का पाठ पढाते थे, अस्त्र-शस्त्र चलाना सिखाते थे तथा बमों का निर्माण करना सिखाते थे। भारतवासियो मे "दासता के प्रति घृणा" उत्पन्न करने के लिये वे उन्हें आध्यात्मिक शिक्षा देते थे। श्री बारीन्द्र घोष ने अपने लेख "भारत में गीता के युग के पुनरागमन" (The Age of Gita again in India) मे लिखा कि "श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा था कि जब धर्म का पतन और अधर्म का उत्थान होगा, तब धर्म की संस्थापना के लिये और अधर्म के विनाश के लिये ईश्वरावतार होगा भारतवासियो डरो नही। ईश्वर निष्क्रिय नही रहेगा।" क्रान्तिकारी इन्ही धार्मिक ग्रन्थो का प्रचार करके लोगो को प्राणो की बलि देना सिखाते थे और शत्रु से प्राण लेना सिखलाते थे।

क्रान्तिकारी "बदला" लेते थे आतक नही फैलाते थे। वे अराजकता नही न्याय चाहते थे। वे केवल उन अधिकारियो से बदला लेते थे जो निर्दोष जनता तथा देश भक्तो को असमानुषिक दण्ड देते थे तथा जो अपनी निर्दयता के लिये बदनाम थे। जो अधिकारी राष्ट्र का अपमान करते थे उन्हें ही क्रान्तिकारी अपना निशाना बनाते थे। उदाहरणतया श्री रण्ड और उसके सहायक लेफ्टिनन्ट को चापेकर भाइयो ने गोली इसलिये मारी कि उन्होने बडे क्रूर ढंग से और लोगो की धार्मिक भावनाओ का ध्यान न रखते हुए उन पर अत्याचार किये थे, ऊधमसिंह ने इंग्लण्ड मे जनरल ओ० डायर की हत्या इसलिये की कि उसने पजाब मे जलियावाला बाग मे हजारो की सख्या मे निहत्थे, निर्दोष व्यक्तियो, महिलाओ और बच्चो को बिना चेतावनी दिये गोलियो से भून दिया, मदनलाल ढीगरा ने कर्जन वाइली (जो भारत मन्त्री के ए० डी० सी० थे) को इण्डिया आफिस मे इसलिये गोली का निशाना बनाया कि श्रीगणेश सावरकर को दण्ड दिलाने मे उसका हाथ था, साडर्स की हत्या इसलिये की गयी कि उसने लाला लाजपतराय पर साइमन आयोग के बहिष्कार के जलूस मे लाहौर स्टेशन पर लाठियो की बौछारें की जिसके फलस्वरूप लालाजी की कुछ दिन बाद मृत्यु हो गयी।

रूस और इटली की गुप्त सस्थाओ के नमूने पर क्रान्तिकारियो ने अनेक प्रकार की गुप्त समितियां तथा एसोसियेशन्स स्थापित कर रखी थी। ये देश-विदेश मे स्थापित की गयी थी। इनमे प्रमुख थी "अनुशीलन समिति", "सरस्वती समिति", "युगान्तर ग्रुप", "ईस्ट क्लब", "अभिनव भारत" आदि। विदेशो मे भी "इण्डियन होम रूल सोसायटी" और "गदर पार्टी" जैसी सस्थाओ की स्थापना की गयी थी। ये सस्थायें अपने पत्रो द्वारा क्रान्ति का प्रचार करती थी। इनमे प्रमुख थे "युगान्तर", "सन्ध्या", "नव शक्ति", 'वन्देमातरम्', "यू इण्डिया", 'इण्डियन सोशियालोजिस्ट", "हिन्दुस्तान गदर" आदि। ये क्रान्तिकारी साहित्य को वितरित करते थे, विदेशी क्रान्तिकारी नेताओ की जीवनियो का इन्होने प्रान्तीय भाषाओ मे अनुवाद भी किया था, आदि।

क्रान्तिकारी विदेशी शक्तियो से अस्त्र शस्त्रो तथा सैनिक प्रशिक्षण की सहायता प्राप्त करने से भी नही चूकते थे । समय पाकर उन्होने सन् 1915 म (सन् 1914 म प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया था) जमन सैनिको के साथ मिल कर सन् 1857 के नमूने पर भारत म एक बार फिर विद्रोह को उत्थान की योजना बनाई । जमनी ने इस योजना मे पूर्ण सहायता का विश्वास दिलाया । इस उद्देश्य से श्री पिल्ले (Pillai) ने बर्लिन म भारतीय राष्ट्रीय दल (Indian National Party) को सगठित किया जिसे जमन जनरल स्टाफ (German General Staff) के साथ मिला दिया गया । इस दल के अन्य प्रमुख सदस्य थ हरदयाल (जिन्होने गदर दल का निर्माण अमरीका म किया था), बरकत उल्ला, तारकनाथ दास, के० सी० चक्रवर्ती, हेराम्बा लाल गुप्ता आदि । इसके लिये तीन केन्द्र स्थापित किय गय थे बगाल के लिये बटाविया (Batavia), पजाब के लिये बकाक (Bangkok), मुसलमानो के लिये काबुल । बगाल के लिये सत्येन्द्र सेन और यू० पी० और पजाब के लिय पिंग्ले (Pingley) को अमरीका से भेजा गया था । परन्तु देशद्रोही कृपालसिंह न पजाब पुलिस को सारी योजना की खबर देकर इसे समय से पूव ही नष्ट कर दिया । अत क्रान्तिकारियो का दमन किया गया, भारतीय सेनाओ से हथियार छीन लिय गये और अनेक क्रान्तिकारियो को फासी दी गयी । लाहौर षडयन्त्र केस इसी घटना स सम्बन्धित है ।

क्रान्तिकारियो की गतिविधियाँ मुख्यतया बगाल, महाराष्ट्र और पजाब तक सीमित थी । परन्तु ये प्रान्तीय स्तर तक ही सीमित रहे क्योकि उनके कार्यों को निर्देशित एव नियन्त्रित करने वाली कोई केन्द्रीय सस्था नही थी ।

**क्रान्तिकारियो के प्रोग्राम**

क्रान्तिकारियो के प्रोग्राम मुख्यतया निम्न थे —

(i) प्रबल प्रचार द्वारा शिक्षित वग के मस्तिष्क मे दासता के प्रति घृणा जागत करना ।

(ii) राष्ट्रीय वीरो और शहीदो के चरित्रो के अभिनय द्वारा मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये जनता म उत्साह एव प्रेम पदा करना ।

(iii) शत्रुओ को प्रदशनो और आन्दोलनो द्वारा—वन्देमातरम जलूस, स्वदेशी सम्मेलन, बहिष्कार सभा द्वारा—व्यस्त रखना ।

(iv) नवयुवको को क्रान्तिकारी आन्दोलन मे भर्ती करना, उन्ह सनिक प्रशिक्षण देना, अनुशासन सिखलाना तथा फासी और शूल के भय को मिटाना ।

(v) अस्त्र शस्त्रो को इकट्ठा करना, बम्बो का निर्माण करना ।

(vi) चन्दे या डकैतियो द्वारा धन एकत्रित करना ।

(vii) देश म क्रान्ति लाना, आदि ।

क्रांतिकारी आन्दोलन के उद्देश्य

क्रान्तिकारियो का उद्देश्य औपनिवेशिक स्वराज्य या आत्म निर्णय के अधिकार की प्राप्ति नही था। वे राजनीतिक अधिकारो या स्वशासन की किश्तो से भी सन्तुष्ट नही थे। वे तो पूर्ण स्वाधीनता चाहते थे। वे अग्रेजी शासन का अन्त चाहते थे। वे क्रान्ति द्वारा अग्रेजी साम्राज्य को अपदस्थ करना चाहते थे। जहा कांग्रेस ने 45 वर्ष तक संघर्ष करने के पश्चात 1930 मे पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य को निर्धारित किया वहा क्रान्तिकारियो ने 25 वर्ष पूर्व ही (1905) मे इस लक्ष्य को निर्धारित कर लिया था। इतना ही नही, क्रान्तिकारियो के मस्तिष्क मे उस समय भी समाजवाद की कल्पना थी जब कांग्रेस के मस्तिष्क मे यह विचार अभी उत्पन्न ही नही हुआ था। क्रान्तिकारी सच्चा लोकतन्त्र चाहते थे। वे किसानो और श्रमिको का शासन चाहते थे व शोषण की प्रणाली का अन्त चाहते थे। वे असमानताओ का अन्त चाहते थे। क्रान्ति का अर्थ समझाते हुए अमर शहीद सरदार भगतसिंह ने लिखा था कि "क्रान्ति का यह अर्थ नही कि इसमे खून खच्चर हो। यह बम और पिस्तौल का धर्म नही है। क्रान्ति का सही अर्थ यह है कि ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हो जिसमे किसी प्रकार का शोषण न रहे, पूजीवादी और साम्राज्यवादी राज्य का नष्ट होकर जनता का राज्य स्थापित हो।'

## प्रान्तो में क्रान्तिकारी आन्दोलन

### A बगाल मे क्रान्तिकारी आन्दोलन

बगाल क्रान्तिकारी आन्दोलन का गढ था। यहा क्रान्तिकारियो के नेता सर्वश्री बारीन्द्र कुमार घोष और भूपेन्द्र दत्त थे। श्री बारीन्द्र कुमार घोष बाबू अरविन्द घोष के छोटे भाई थे और श्री भूपेन्द्रनाथ दत्त स्वामी विवेकानन्द के। इनका उद्देश्य क्रान्ति उत्पन्न करना था। 22 मई, 1908 को एक मजिस्ट्रेट के सामने अपने वक्तव्य मे श्री बारीन्द्र कुमार घोष ने स्पष्ट कहा था कि "हमारी दृष्टि सुदूर भविष्य मे क्रान्ति पर जमी हुई है और हम उसके लिए तैयार होना चाहते है।"[1] ये क्रान्तिकारी अपने विचारो का प्रचार "युगान्तर' और "सन्ध्या" नामक दो पत्रो द्वारा करते थे। बगाल के अन्य पत्र जो क्रान्तिकारी विचारो का प्रचार करते थे उनमे मुख्य थे "नव शक्ति' वन्दे मातरम्" "न्यू इण्डिया'। बगाल मे 'अनुशीलन", "सरस्वती", "युगान्तर', "ईस्ट बगाल' जैसी अनेक गुप्त समितिया विद्यमान थी।

बगाल के क्रान्तिकारियो ने सन् 1907 के बाद अनेक प्रकार के आतकपूर्ण कार्य किये। उदाहरणतया मिदनापुर के निकट उप गवर्नर की रेलगाडी को 6 दिसम्बर, 1907 को उडाने का प्रयास किया गया। फरीदपुर के जिले मे ...

1 'We are always thinking of a far off revolution to be ready for it' Sedition Committee Report 191

स्टेशन पर ढाका के भूतपूर्व जिला मजिस्ट्रेट श्री एलन (Allen) पर 23 दिसम्बर 1907 को गोली चलाई गई परन्तु वह घातक सिद्ध नहीं हुई। विहार मे मुजफ्फरपुर के अप्रिय जज किंग्सफाड (Kings ford) की बम्ब द्वारा हत्या के प्रयास मे दो निर्दोष अग्रेज महिलाओ (श्रीमती कनेडी और मिस कनेडी) की हत्या हो गई। इसके लिए प्रफुल्ल चाकी (Profulla Chakie) को फासी की सजा दी गई जो बगालियो के लिए "वीर और शहीद"[1] बन गया। दरोगा (Sub Inspector) नन्दलाल की हत्या नवम्बर 1908 का की गई, आशुतोष विश्वास की हत्या 10 फरवरी 1909 को की गई। उप पुलिस अधीक्षक शमशुल आलम (Dy Supdt of Police Shamsul Alam) की हत्या 24 जनवरी 1910 को की गई। सरीश चन्द्र चक्रवर्ती (Srish Chandra Chakravarti) की हत्या कलकत्ता मे 11 दिसम्बर 1911 को की गई आदि।

सन् 1913 और 1915 के दौरान बगाल म तथा पजाब म क्रान्तिकारी आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था। राजनीतिक हत्यायें, राजनीतिक डकैतिया, लूट और सडको पर रोक लना (holds up on roads) आदि सामान्य घटनाएं थी। बगाल मे सन् 1913 मे 16 और सन् 1914 म 29 अराजकतापूर्ण (outrages) प्रहार किये गये।

क्रान्तिकारियो के विरुद्ध अनेक प्रकार के षडयन्त्र मुकदमे (Conspiracy Cases) चलाये गय। इनम प्रमुख थ अलीपुर षडयन्त्र केस ढाका षडयन्त्र केस, बारीसाल षडयन्त्र केस और हावडा षडयन्त्र केस। इनमे अनेक देशभक्तो पर मुकदमे चलाये गय, अनेक को फासी की सजा दी गई अनेक को आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया, अनेक का आजीवन देश निवासन का दण्ड मिला आदि।

B महाराष्ट्र मे क्रान्तिकारी आन्दोलन

महाराष्ट्र म क्रान्तिकारी आन्दोलन बगाल से भी पहले विद्यमान था। वासुदेव बलवन्त फडके (Vasudev Balwant Phadke) और चापकर भाई (दामोदर चापकर और बालकृष्ण चापकर) महाराष्ट्र म प्रारम्भिक क्रान्तिकारी आन्दोलन के पिता थे। श्री फडके अपने भाषणो म स्पष्ट कहते थे कि "म अग्रेजो को भगाकर जनता का राज कायम करूँगा।" चापकर भाई अपनी कविताओ और श्लोको द्वारा लोगो म क्रान्तिकारी विचारधारा फूँकत थे। व प्राण देन से पूर्व प्राण" लेन की बात कहते थे। अपनी कविताओ म वे इस प्रकार के क्रान्तिकारी शब्दो का प्रयोग करते थे 'राष्ट्रीय युद्ध के लिए हम समर भूमि मे प्राणो की बाजी लगायेंगे, हम अपने रक्त से पृथ्वी को रग देंगे, ये शत्रु हमारे धर्म का नाश करने वाले है हम उन्हे मार कर ही रहेंगे क्या आपको अपनी दासता पर लज्जा नही आती य

1 See Chirol Indian Unrest, p 97

दुष्ट गाया और बछड़ो की हत्या करते है मर जाओ परन्तु अंग्रेजो को मार दो यह देश हिन्दुस्तान कहलाता है फिर यहा अंग्रेजो का राज्य क्यो है।'[1] चापेकर भाइयो ने 1899 मे पूना के बदनाम प्लेग कमिश्नर रण्ड और उसके साथी लेफ्टिनेन्ट आयस्ट की हत्या इसी उद्देश्य से की थी।

महाराष्ट्र के अन्य प्रमुख क्रांतिकारी नेता थे श्यामजी कृष्ण वर्मा और सावरकर भाई (गणेश सावरकर और विनायक सावरकर) थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा तो सन् 1905 मे लन्दन चले गये और वहा उन्होने इण्डिया होम रूल सोसाइटी (Indian Home Rule Society) की स्थापना की। विदेशा मे श्यामजी कृष्ण वर्मा क्रान्तिकारियो के पिता थे।

सावरकर भाइयो ने गणपति उत्सव मनाने के लिए मित्र मेला (Mitra Mela) नाम से एक सोसाइटी सन् 1899 मे शुरू की। सन् 1906 मे इस सोसाइटी को क्रांतिकारी सगठन म बदल दिया गया और इसका नाम 'अभिनव भारत सोसाइटी" (Abhinav Bharat Society or Young India Society) रखा गया। डा० आर० सी० मजुमदार का विश्वास है कि पूना तथा बम्बई म कम ही एसी शिक्षा सस्थाए थी जिनमे एक न एक 'गुप्त समिति या अभिनव भारत की शाखा न हो। इस सोसाइटी की एक शाखा ग्वालियर मे नवभारत सोसाइटी (New Bharat Society) के नाम मे और सतारा म अभिनव सोसाइटी (Abhinav Society) के नाम मे स्थापित की गई थी। सन् 1905 म, स्वदशी आन्दोलन के समय वीर सावरकर न पूना म विदेशी कपडे की होली जलाई जिसन दक्षिण भारत मे हलचल पदा कर दी। नासिक षडयन्त्र केस, ग्वालियर षडयन्त्र केस और सतारा षडयन्त्र केस इन्ही सोसाइटियो स सम्बन्धित थे।

विनायक दामोदर सावरकर छात्रवृत्ति[2] लेकर इंग्लण्ड चले गये और वहा जाकर इण्डिया हाउस के सक्रिय कायकर्त्ता बन गये। यहा उन्होंने मजिनी की स्वलिखित जीवन कथा का अनुवाद मराठी मे किया तथा 1857 के विद्रोह पर "भारतीय स्वतन्त्रता युद्ध" (The Indian War of Independence) के नाम से एक पुस्तक लिखी। दामादर न इन दोनो पुस्तको को अपन भाई गणेश के पास, भेज दिया। ये पुस्तकें क्रान्तिकारियो के लिए पाठ्य पुस्तके बन गई। दामादर इंग्लैंड से महाराष्ट्र के क्रांतिकारियो की गतिविधियों का निर्देशन देता था, उन्ह बम्ब

1 Sedition Committee Report 1918, p 2 Quoted by Singh G N Ibid P 149

2 य छात्रवृत्तियाँ श्यामजी कृष्ण वर्मा न एम० आर० राना की सहायता से भारतीय विद्यार्थिया के लिए शुरू की थी जा इंग्लड म राष्ट्रीय आन्दोलन ...

निर्माण की विधि लिखता था, क्रान्तिकारी साहित्य तथा अस्त्र शस्त्र (20 पिस्तौलें भेजी थीं) भी भेजता था तथा उन्हें राजनीतिक हत्यायें करने तथा आतंकपूर्ण कार्यों को करने के लिए प्रेरित भी करता था।

इसी बीच 'लघु अभिनव भारत मेला" के शीर्षक के अन्तर्गत भड़काने वाली कविताओं के अपराध में गणेश सावरकर को 9 जून, 1909 को आजीवन देश निर्वासन का दण्ड मिला। गणेश सावरकर इस प्रकार के क्रान्तिकारी शब्द अपनी कविताओं में लिखते थे "तलवार हाथ में लो और सरकार का मिटा दो क्योंकि वह विदेशी और दमनकारी है।'[1] विनायक को इसकी सूचना मिलते ही उसने "अंग्रेजों से बदला लेने की अपनी शपथ को दोहराया।"

जिन व्यक्तियों ने गणेश सावरकर को छोटे से अपराध के लिए इतना बड़ा दण्ड दिया था उनकी हत्या करने की योजना बनाई गई। सर विलियम कर्जन वाइली, जो भारत मन्त्री के प्रमुख परामर्शदाता थे, की हत्या लन्दन में इम्पीरियल इंस्टीट्यूट के सम्मेलन के अवसर पर 1 जुलाई 1909 को श्री मदनलाल ढींगरा द्वारा की गई। नासिक के जिला मजिस्ट्रेट श्री जैकसन की हत्या अनन्त कान्हरे द्वारा 21 दिसम्बर, 1909 को कर दी गई। यद्यपि इन अपराधों के लिए इन्हें फांसी का दण्ड दिया गया था परन्तु इससे क्रान्तिकारी आन्दोलन की प्रकृति और उसके कारण स्पष्ट हो जाते हैं। श्री ढींगरा की जेब में जो कागज प्राप्त हुआ उसमें सर विलियम कर्जन वाइली की हत्या के कारण स्पष्ट होते हैं। इस पत्र में ये शब्द लिखे थे "मैंने एक अंग्रेज का खून भारतीय नवयुवकों को फांसी और देश निर्वासन के दण्ड देने के विरुद्ध कड़ा विरोध प्रकट करने के लिए जानबूझ कर बहाया है।"[2]नवम्बर 1909 में अहमदाबाद में लार्ड और लेडी मिन्टो की गाड़ी (Carriage) को उड़ाने का असफल प्रयास भी किया गया।

C पंजाब में क्रान्तिकारी आन्दोलन

पंजाब का क्रान्तिकारी आन्दोलन बंगाल और महाराष्ट्र के क्रान्तिकारी आन्दोलन के समान नहीं था। यहां किसी प्रकार की गुप्त संस्थायें स्थापित नहीं की गई थीं और न ही राजनीतिक हत्याओं या राजनीतिक डकैतियों का सहारा लिया गया था।[3] यहां पर उपद्रवों का कारण "असन्तोष' और स्थानीय सरकार की गलत तथा विवेकशून्य नीतियां थीं।

---

1 'Take up the sword and destroy the Government because it is foreign and oppressive Sedition Committee Report p 8

2 Madan Lal Dhingra Quoted in Acharya Balshastri Hardas Armed Struggle for Freedom p 210

3 सन् 1912 में लार्ड हार्डिंज के प्राण हरण का असफल प्रयास उस समय किया गया था जब वह दिल्ली में प्रवेश कर रहा था और चांदनी चौक नशनल बैंक के पास एक बम फटा।

पजाब का क्रान्तिकारी आन्दोलन मुख्यत भूमि सम्बन्धी आन्दोलन था। यहा असन्तोष का कारण उपनिवेशीकरण विधेयक' (Colonisation Bill) था। इस विधेयक से माल गुजारी म विशेष वृद्धि हुई, चनाव क्षेत्र (Chenab Colony) मे भूमि की चकबन्दी को हतोत्साहित किया तथा सम्पत्ति के विभाजन के अधिकारो मे हस्तक्षेप किया।

पजाब के क्रान्तिकारियो के प्रमुख नेता थे—सरदार अजीतसिंह (जो सरदार भगतसिंह के चाचा थे), भाई परमानन्द, बालमुकन्द, लाला हरदयाल। सरदार अजीतसिंह ने अपने सहयोगियो और मित्रो के साथ मिलकर एक सस्था स्थापित की जिसे "अजुमन-इ-मुहिब्बाने वतन" कहते थे। यह सस्था "भारत माता" के नाम से प्रसिद्ध थी। उपनिवेशीकरण विधेयक का विरोध करने के लिए सरदार अजीतसिंह ने सैयद हैदर रिजा (Syed Hyder Riza) से मिलकर इण्डियन पेट्रिआट्स एसोसियेशन (Indian Patriots Association) नाम की सस्था स्थापित की। इस सस्था ने लायलपुर, रावलपिण्डी, लाहोर तथा अन्य स्थानो पर अनेक सभायें की तथा सरदार अजीतसिंह ने जोशीले भाषण दिये। उन्होने किसानो को विद्रोह के लिए भडकाया और किसानो ने कर न देने की प्रतिज्ञा की। जब सन् 1907 मे "इण्डिया" (India) और "दी पजाबी" (the Punjabee) के सम्पादको और मालिको को एक पत्र के छापने पर (जो अमरीका से आया था और जिसम भारतीय सेना को भडकाया गया था) भयानक सजायें दी गई तो उस समय उत्साह और उद्वेग के कारण उपद्रव हुए। सत्यपाल और प्रबोधचन्द्र ने ठीक लिखा है कि "सरदार अजीतसिंह, सूफी अम्बाप्रसाद, लाला पिण्डीदास और लालचन्द फलक ने पजाब के लोगो म जागृति लाने के लिए वही काय किया जो कि बकिमचन्द्र चटर्जी और दूसरे बगाली लेखको ने बगाल मे किया।"[1]

पजाब मे स्थिति उस समय शान्त हो गई जब वायसराय लार्ड मिण्टो ने उपनिवेशीकरण विधेयक को निषिद्ध (veto) कर दिया।

### D अन्य प्रान्तो मे क्रान्तिकारी आन्दोलन—मद्रास, राजस्थान, बनारस

भारत के अन्य प्रान्त भी क्रान्तिकारी आन्दोलन से प्रभावित हुए बिना नही रहे। मद्रास, राजस्थान और बनारस म क्रान्तिकारियो की गुप्त समितिया विद्यमान थी। अप्रैल, 1907 मे विपिनचन्द्र पाल ने मद्रास प्रेसीडेन्सी का दौरा किया और वहा लोगो मे देशभक्ति और स्वदेशी की भावनाओ का सचार किया। अक्टूबर, 1907 मे अरविन्द घोष के विरुद्ध राजद्रोह के मुकदमे म गवाही देने से इन्कार करने पर विपिनचन्द्र पाल को 6 महीने का दण्ड दिया। विपिनचन्द्र पाल के दो प्रशसको

---

1 See Satyapal and Prabodh Chandra Sixty years of Congress p 256

सुब्रह्मण्यम शिव (Subramniam Siva) और चिदम्बरम पिल्ले (Chidambram Pillai) ने सार्वजनिक सभाओं द्वारा, स्वराज्य के झण्डे को लहरा कर तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार द्वारा 9 मार्च 1908 के दिवस को उनके छूटने की खुशी मे मनाने की योजना बनाई। 12 मार्च 1908 को सभा के आयोजन कर्ताओं को बन्दी बना लिया गया। 13 मार्च, 1908 को टिनेवली मे उपद्रव हुए जिसमे "सरकारी सम्पत्ति को जानबूझ कर नष्ट किया गया, पुलिस चौकियो पर हमले किये गये तथा इमारतो को जलाया गया।"[1] पत्रो के सम्पादको और आन्दोलन के नेताओं पर अभियोग चलाये गये। क्रांतिकारियो ने अपना संगठन पांडेचरी (Pondicherry) में स्थापित किया। यहाँ इनके नेता तिरुमल आचार्य और वी० वी० एस० ऐयर थे जो सदस्यो को पिस्तौल का निशाना लगाने का अभ्यास कराते थे। नीलकान्त ब्रह्मचारी ने कुछ गुप्त समितियो का भी संगठन किया। वाँची एयर (Vanchi Aiyer) ने 17 जून 1911 को टिनेवली के जिला मस्जिट्रेट को गोली मार दी। टिनेवली षडयन्त्र अभियोग इन्ही गुप्त समितियों से सम्बन्धित था जिसमे अनेक सदस्यो को फासी दी गई तथा अन्य कठोर दण्ड दिये गये।

राजस्थान मे क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रमुख नेता अर्जुन लाल सेठ, भारत केसरी सिंह और राव गोपाल थे। बनारस भी कुछ समय तक क्रान्तिकारी गतिविधियो का केन्द्र रहा।

E विदेशों में क्रांतिकारी गतिविधियां—लन्दन, पेरिस, बर्लिन, केलीफोर्निया

क्रातिकारियो की गतिविधिया केवल भारत मे ही नही अपितु विदेशो मे भी सक्रिय थी। इंग्लैंड मे श्यामजी कृष्ण वर्मा क्रातिकारियो के पिता थे। एस० आर० राना कामा, मेडम कामा, विनायक दामोदर, मदनलाल ढींगरा, अन्य प्रमुख क्रान्तिकारी थे। अमरीका मे लाला हरदयाल श्री करतारसिंह सराभा, प० जगत राम हरियानवी बाबू तारकनाथ दास वी० जी० पिंगले भाई परमानन्द आदि प्रमुख क्रान्तिकारी थे। ये क्रान्तिकारी पत्र पत्रिकाओं द्वारा नवयुवको मे क्रान्तिकारी विचारधारा का विकास करते, उन्हे सैनिक प्रशिक्षण देते, अस्त्र शस्त्रो को एकत्रित करते तथा उन्हे भारत भेजते थे।

विदेशो मे क्रान्तिकारियो की गतिविधियो का मुख्य केन्द्र लन्दन मे "इण्डिया हाउस" (India House) था जहा श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा "इण्डियन होम रूल सोसायटी" (Indian Home Rule Society) की स्थापना की गई थी। इस सोसायटी द्वारा सोशियालोजिस्ट (Sociolog[illegible] मे एक पत्रिका निकाली जाती थी जो क्रातिकारी विचारो का प्रचार करती [illegible] में इण्डिया हाउस

1 See Seditio[illegible]

की गतिविधियो के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछे जाने पर श्यामजी कृष्ण वर्मा पेरिस चले गये परन्तु वहा से भी वे इस पत्र द्वारा क्रान्तिकारियो को निर्देशन देते रहे । दिसम्बर 1907 के सोशियालोजिस्ट मे प्रकाशित एक लेख मे उन्होने (श्यामजी कृष्ण वर्मा ने) लिखा कि "भारत मे किसी आन्दोलन को गुप्त रूप से ही चलाया जा सकता है। अंग्रेज सरकार को होश मे लाने के लिए रूसी उपाय ही एक मात्र उपाय हैं । जब तक अंग्रेजो का अत्याचार समाप्त न हो जाय और वे देश से भाग न जायें तब तक उन उपायो को निरन्तर दृढ़तापूर्वक काम मे लाना चाहिए ।"[1] "वन्दे मातरम्" के नाम से एक पत्र जीनेवा (Geneva) से प्रकाशित होता था । इसका सम्पादन मेडम कामा करती थी ।

जब दामोदर सावरकर इंग्लैंड मे सन् 1906 मे पहुँचे तो उन्होन "इण्डिया हाउस" की गतिविधियो मे सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया । जब श्यामजी कृष्ण वर्मा पेरिस चले गये तो "सोसियालाजिस्ट" का सम्पादन दामोदर सावरकर ही करते थे। इन्होने इंग्लैड मे रह कर मजिनी की आत्म कथा का अनुवादन मराठी मे किया तथा उसे प्रकाशित करने के लिये भारत भेज दिया । उन्होन सन् 1857 के विद्रोह पर "भारतीय स्वतन्त्रता युद्ध" के नाम से एक पुस्तक भी लिखी । उन्होने 20 पिस्तौलें भारत के क्रान्तिकारियो के प्रयोग के लिए भेजी । सर विलियम कर्जन वाइली की हत्या भी मदनलाल ढीगरा ने बदले की भावना से की थी ।

अमरीका म क्रान्तिकारियो के नेता लाला हरदयाल थे । उन्होन कैलिफोर्निया मे गदर पार्टी की नीव रखी और सन् 1913 मे "हिन्दुस्तान गदर" नाम से एक पत्रिका भी प्रकाशित करनी शुरू कर दी । 'गदर पार्टी' का उद्देश्य "भारत मे राजनीतिक क्रान्ति लाना तथा अंग्रेजो के चगुल से भारत को छुटकारा दिलाना था ।" एक सभा म लाला हरदयाल ने कहा कि "विदेशो म रहने वाले भारतीयो को एक होकर मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने के लिए प्रथम महायुद्ध के छिडने पर विदेशी राज्य पर गहरा आघात करना चाहिए ।' गदर पार्टी न बर्लिन कमेटी से मिल कर काम करना भी शुरू किया और 22 फरवरी 1915 को जमनी की सहायता से विद्रोह की योजना बनाई परन्तु कृपाल सिंह की देशद्रोहिता के कारण यह योजना असफल हो गई और अनेक देशभक्तो को फासी की सजा दी गयी ।

अमरीका के प्रशान्त महासागर के तट पर दो और सस्थायें विद्यमान थी । एक का नाम था "इण्डो अमरीकन एसोसियेशन" (Indo American Association) और "यग इण्डिया एसोसियेशन" (Young India Association) । इन सस्थाओ का

---

1 Sedition Committee Report (1918) P 6 Quoted by Singh G N Ibid, p 163

मुख्य के द्र कलिफोर्निया था । यूयाक, शिकागो, तथा अमरीका के अन्य महत्वपूण नगरो मे भी इनकी शाखाएँ थी । "इण्डा अमरीकन एसोसियशन" अपन पत्र 'फ्री हि दुस्तान" (Free Hindustan) द्वारा क्रा तिकारी विचारा का प्रचार करती थी । "यग इण्डिया एसोसियेशन" आयरलैड की क्रान्तिकारी सस्याओ के ढग पर सगठित थी । सर वलैनटाइल शिरोल लिखते है कि "इन दोनो सस्याओ,का भारत के भिन भिन स्थानो—दक्षिण, बगाल, पजाब—की सस्थाओ से सम्ब ध था और उनका राजद्रोहपूण समाचार पत्र और साहित्य मुद्रित एव प्रकाशित करने वाला से पत्र व्यवहार होता रहता था ।"[1]

## क्रातिकारी आन्दोलन की असफलता

क्रातिकारी आ दोलन मे अनेक प्रकार की कमजोरिया थी जिसके कारण यह अधिक लोकप्रिय न बन सका और कुछ समय बाद यह शिथिल पड गया । इसकी असफलता के मुख्य कारण निम्न थे —

**1 के द्रीय सगठन का अभाव** (Lack of Central Organization) क्रातिकारी आ दोलन की सबसे बडी कमजोरी यह थी कि इसके पास कोई के द्रीय सगठन नही था जो भिन भिन गुप्त समितिया म पारस्परिक सम्ब ध सहयोग या सम वय उत्पन कर सकती । प्रा ता मे जो भिन भिन गुप्त समितिया थी वे व्यक्तिगत स्तर पर स्थापित की गई थी । निर्देशन देने वाली सामा य सस्था के अभाव मे क्रातिकारी जनता के सामने न तो कोई सयुक्त कायक्रम प्रस्तुत कर सके और न ही कोई रचनात्मक काय दे सके । क्रा तकारी व्यक्तिगत बदले की भावना से काय करते थे ।

**2 यह असन्तुष्ट नवयुवको का आ दोलन था** (It was a movement of dissatisfied young men) क्रातिकारी आ दोलन कभी भी जन आ दोलन न बन सके । जनता का समथन तो दूर उच्च शिक्षित वग की हमदर्दी भी इसे प्राप्त नही थी । इसका मुख्य कारण यह था कि क्रातिकारी हिंसा, हत्या, डकैती, भय और आतक के साधनो मे विश्वास करते थे जिन पर उस समय के वरिष्ठ नेताओ ( सुरेन्द्रनाथ बनर्जी गोपालकृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता) का विश्वास नही था । इतना ही नहीं, उदारवादियो ने तो इस आ दोलन को कुचलने के लिए सरकार से कठोर साधनो के प्रयोग का अनुरोध भी किया । उदाहरणतया सुरे द्र नाथ बनर्जी तथा आशुतोष मुकर्जी ने सरकार से ऐसा अनुरोध किया ।

**3 गाधीजी का राजनीति मे प्रवेश** (Gandhi s entrance into Politics) गाधीजी का भारतीय राजनीति मे प्रवेश क्रा तकारी आ दोलन के लिए घातक सिद्ध हुआ । गांधीजी का आ दोलन हिंसा रहित निष्क्रिय प्रतिरोध का था जिससे जन

---

1 Chirol V Indian Unrest p 147

समूह अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसका क्रांतिकारी साधनो पर जो भी थोड़ा बहुत विश्वास था वह भी समाप्त हो गया। गाधीजी शत्रु को कष्ट देने के स्थान पर स्वय को कष्ट देना पसन्द करते थे। उनके अहिंसक अस्त्र थे सत्याग्रह, हड़ताल, असहयोग, सविनय अवज्ञा, उपवास आदि। एक बार भारतीय राजनीति मे इन साधनो का प्रवेश होने से स्वतन्त्रता प्राप्ति तक ये साधन राष्ट्रीय आन्दोलन पर छाये रहे।

*4 सरकार की दमनकारी नीति (Repressive Policy of Government)* ब्रिटिश सरकार क्रान्तिकारियो का दमन करने के लिए बड़े अमानुषिक ढग से व्यवहार करती थी। क्रान्तिकारियो के लिए "सरसरी अभियोगो" (Summary trials) की व्यवस्था की गई। उनके लिए फाँसी, आजीवन देश निर्वासन, कठोर कारावास तथा अन्य अमानुषिक यातनायें सामान्य बातें थी। अण्डमान इन क्रान्तिकारी अपराधियो का सरकार ने घर बना दिया था। इतना ही नही, नागरिको के सामान्य अधिकारो पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध थे जैसे सार्वजनिक सभाओ तथा समाचार पत्रो पर प्रतिबन्ध थे। थोड़ी सी शका साधारण नागरिक को जेल मे डालने के लिए पर्याप्त थी।

**5 क्रान्तिकारियों के पास साधनों का अभाव था** (Revolutionaries lacked means)—क्रान्तिकारियो के पास धन और शस्त्रो का अभाव था। लोग उन्हे चन्दा देने से घबराते थे क्योकि सरकार चन्दा देने वालो पर अत्याचार से व्यवहार करती थी। दूसरे, डकैतियो द्वारा प्राप्त किया हुआ धन पर्याप्त नही होता था। तीसरे, अस्त्र-शस्त्रो की कमी थी। यद्यपि गुप्त समितियां थी जो बम आदि का निर्माण करती थी परन्तु सरकार की सगठित और शस्त्रो से लैस सैनिक शक्ति का सामना करने के लिए उनके पास सामर्थ्य नही थी।

## क्रान्तिकारी आन्दोलन का महत्त्व

यह सत्य है कि क्रान्तिकारी आन्दोलन असफल हुआ परन्तु इसका महत्त्व इसकी असफलता मे नही बल्कि इसके द्वारा उत्पन्न की गई भावनाओ मे विद्यमान है। सरकारी दमन के कारण यह आन्दोलन अधिक लोकप्रिय न बन सका परन्तु यह लोगो के हृदय मे राष्ट्र प्रेम और बलिदान की भावनायें पैदा कर गया। इन देश भक्तो को "हत्यारो" की सज्ञा देना गलत है, वस्तुत ये उन लोगो की हत्यायें करते थे जो देश के निर्दोष नवयुवको के साथ अन्याय करते थे। इन देशभक्तो के साहस, त्याग और बलिदानो से भयभीत होकर ब्रिटिश प्रशासन ने भारत मे सुधारो और आतक" के दोहरे अस्त्र को अपनाया। इन वीरो ने "पूर्ण स्वतन्त्रता" का वचन तब लिया जब काग्रेस इसकी कल्पना भी नही करती थी। सरकार जितना ही इन देश भक्तो पर अत्याचार करती थी क्रान्तिकारी उतना ही स्वबलिदान का उदाहरण प्रस्तुत कर राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करते थे। हँसते-हँसते, राष्ट्रीय गीत गाते हुए मातृभूमि को प्रणाम करते हुए जिस ढग से क्रान्तिकारी फासी के फन्दे को चूम

ये दृश्य जन साधारण में अवश्य ही उत्साह, त्याग और विदेशी शासन के प्रति घृणा उत्पन्न करते थे। यही कारण है कि क्रांतिकारी भावनाओं का कभी अंत नहीं हुआ और राष्ट्रीय आंदोलन के अंतिम चरण तक ये भारत में विद्यमान रहीं। सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, बी० के० दत्त, जितेन्द्रदत्त तथा सुभाष बोस इसी विचारधारा की संतान थे, इण्डियन नेशनल आर्मी (I N A) और नव-सेना विद्रोह इसी के फल थे। इसलिए यह कहना अधिक उचित होगा कि राष्ट्रीय जागृति में कांग्रेस का संवैधानिक आन्दोलन और क्रांतिकारियों के साधन एक दूसरे के पूरक थे।

## उदारवादी और उग्रवादी नेता

### 1 गोपाल कृष्ण गोखले (1866–1915)

**जीवन परिचय**—श्री गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म महाराष्ट्र के एक निर्धन चितपावन ब्राह्मण परिवार में रत्नागिरी जिले में कोल्हापुर नाम के स्थान पर मई 9, 1866 को हुआ था। जब वे 13 वर्ष के थे तो उनके पिता का देहान्त हो गया। सन् 1884 में 18 वर्ष की आयु में उन्होंने ऐलफिंस्टन कॉलिज (Elphinstone College) बम्बई से बड़ी गरीबी की दशा में बी० ए० की परीक्षा पास की। पूना में एक स्कूल में वे अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। यही स्कूल बाद में फर्ग्यूसन कालिज (Fergusson College) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहीं पर वे इतिहास और अर्थशास्त्र के प्राध्यापक बने तथा बाद में इसी कॉलिज में आचार्य के पद पर आसीन हुए। इन्होंने बर्क की पुस्तक 'रिफ्लेक्शन्स आन दी रेवोल्यूशन इन फ्रांस' (Reflections on the Revolution in France) का गहन अध्ययन किया था तथा इसी कारण उनके विचारों में रूढ़िवादिता की छाप नजर आती है।

श्री गोखले का सार्वजनिक जीवन उसी समय से शुरू हो जाता है जब सन् 1886 में वे दक्षिण शिक्षा समाज (Deccan Education Society) के सदस्य बने। उन्होंने बीस वर्ष तक 70 रु० मासिक वेतन लेकर इस समाज के अधीन कार्य किया। दक्षिण सभा के वे अवैतनिक सचिव भी रहे। अनेक वर्षों तक उन्होंने सार्वजनिक सभा की पत्रिका का सम्पादन भी किया। चार वर्ष तक उन्होंने "सुधारक" का सम्पादन भी किया। सन् 1889 में वे कांग्रेस के सदस्य बने। सन् 1895 में वे कांग्रेस की बम्बई शाखा के मन्त्री रहे। सन् 1899 में वे बम्बई व्यवस्थापिका सभा के लिए प्रदेश के केन्द्रीय क्षेत्र की नगरपालिका के प्रतिनिधि चुने गए। सन् 1902 में वे केन्द्रीय विधान परिषद् के सदस्य चुने गये और अपनी मृत्यु तक[1] वे इसके सदस्य रहे। सन् 1903 में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मन्त्री,

---

1 गोखले जी की मृत्यु फरवरी 19, 1915 को हुई।

गन । सन् 1904 मे उन्हे सी० आई० ई० (C I E)[1] की उपाधि से सुशोभित किया गया । सन् 1905 मे व बनारस काग्रेस के अध्यक्ष चुने गए । सूरत म सन् 1907 मे काग्रेस विभाजन मे वे अत्यन्त दुखी हुये । यद्यपि वे काग्रेस मे दोना वर्गों (नरम दल और गरम दल) मे समझौता कराने का प्रयास करते रहे परन्तु वे 1916 मे दोना वर्गों के विलयन को देखने के लिए जीवित न रहे ।

श्री गोखले सात बार[2] इंग्लैंड गए । सन् 1897 मे उन्होने वेल्वी आयोग (Welby Commission) और सन् 1908 मे हाब्हाउस विकेन्द्रीकरण आयोग के समक्ष गवाही दी । सन् 1912 मे सार्वजनिक सेवाओ के लिए बनाये गये इसलिंग्टन शाही आयोग के व सदस्य नियुक्त हुए । गाधीजी के निमन्त्रण पर गोखले 1912 मे दक्षिण अफ्रीका गये और 1913 मे दक्षिण अफ्रीका मे सत्याग्रह आन्दोलन के लिए उन्होने चन्दा इकट्ठा किया । इस तरह गोखले एक बार सार्वजनिक जीवन मे प्रवेश पाने के बाद जीवन पर्यन्त उसमे सलग्न रहे ।

श्री गोखले का व्यक्तित्व अत्यधिक प्रभावशाली था । उनके व्यक्तित्व की विशेषता यह थी कि वे कठोर स कठोर शब्दो को भी नम्र भाषा मे व्यक्त कर सकते थे । उनके आकडे एव तथ्य सुनिश्चित एव तथ्यपूर्ण होते थे । उनके बजट सम्बन्धी भाषण उनके व्यक्तित्व के प्रतीक थे । वे ब्रिटिश शासन के भक्त थे परन्तु नौकरशाही की आलोचना करने से घबराते नही थे ।

श्री गोखले पर महादेव गोविन्द रानाडे के विचारो का अत्यधिक प्रभाव था । सन् 1887 से 1901 तक वे उन्ही के शिष्य रहे । गोखले जी गुरु की भाति उदारवादी दृष्टिकोण के थे । जसा कि डॉ० जकारिया ने लिखा है कि "किसी गुरु को और अधिक अच्छा शिष्य नही मिला जितना कि रानाडे को गोखले के रूप मे मिला ।" श्री गोखले मिताचार (moderation) से कभी विचलित नही हुए । श्री गोखले फिरोजशाह मेहता के विचारो से भी प्रभावित थे । वे कहा करते थे कि "फिरोजशाह के बिना उचित काम करने की अपेक्षा मैं उनके साथ मिल कर अनुचित काय करना भी पसन्द करूँगा ।"[3]

श्री गोखले उदारवादी थे । बर्क की भाति उन्हे "सावधानी की नीति, क्रमिक विकास और बुद्धि सगत प्रगति" (caution slow progress and rational

---

1 C I E stands for Companion of the Order of the Indian Empire

2 गोखले सन् 1897, 1905 1906, 1908, 1912, 1913 और 1914 मे इंग्लण्ड गए ।

3 Quoted by Varma, Dr V P Modern Indian Pol Thou p 209

progress) मे विश्वास था। वे सवैधानिक आदोलन के समर्थक थे, उग्र आदोलन के नही। उन्हें बहिष्कार की नीति पसन्द न थी। वे अतिवादी उपायो और सावजनिक उत्पात के विरुद्ध थे। वे प्राथना पत्रो, आवेदन पत्रो और शिष्टमण्डलो मे विश्वास करते थे।

श्री गोखले राष्ट्रवादी तथा पक्के देशभक्त थे। उनका कहना था कि "कष्ट सहन के बिना, मैत्री भाव के बिना तथा जीवन की सरलता के बिना राष्ट्रवाद एक जीवन्त शक्ति नही बन सकता।" वे राष्ट्र का एकीकरण चाहते थे तथा लोगो की सामाजिक कुशलता, नैतिक चरित्र और बौद्धिक कुशलता का विकास चाहते थे। अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए उन्होने 12 जून, 1905 को भारत सेवक समाज (Servants of India Society) की स्थापना की। इस समाज द्वारा वे ऐसे देश भक्तो को तैयार करना चाहते थे जो नि स्वाथ भावना से, अनुशासन मे रह कर, मातृभूमि की सेवा करें। इस समाज के मूल उद्देश्य थे, "देश भक्ति की भावनायें पैदा करना, राजनीतिक शिक्षा का प्रसार करना तथा जातियो मे सहयोग और सद्भावना का विकास करना।" स्त्रियो और पिछडी हुई जातियो का ये विशेष रूप से उत्थान चाहते थे।

श्री गोखले स्वशासन के देवदूत थे और नौकरशाही की क्रूरता, निदयता और अनुत्तरदायित्व और सावजनिक इच्छा की उपेक्षा के विरोधी थे। विधान परिषदो मे वे निडर भावना से सावजनिक विरोधी नीतियो की कटु आलोचना करते थे। बग भग की गोखले जी ने कटु आलोचना की। वस्तुत गोखले उस साम्राज्यवाद को निम्न श्रेणी का साम्राज्यवाद कहते थे जो जातीय सर्वोच्चता और अहकार पर आधारित था।

श्री गोखले ब्रिटिश शासन के भक्त थे। वे ब्रिटिश साम्राज्य को ईश्वरीय विधान की योजना का ही एक अग समझते थे। ब्रिटिश न्यायप्रियता मे उन्हे पूर्ण विश्वास था। ब्रिटिश न्यायप्रियता मे उनका विश्वास उस समय भी नही डगमगाया जब दादाभाई नौरोजी जसे सवैधानिक प्रिय नेता भी सन् 1909 के अधिनियम की धाराओ से निराश हो गए थे। इतना ही नही, श्री गोखले ने 1909 के अधिनियम का पूर्ण समथन किया। उनका कहना था कि ब्रिटिश समाज की आत्मा उदारवादी है जो भारत के साथ न्याय करेगी। श्री गोखले भारत के उज्जवल भविष्य की कामना ब्रिटिश ताज के अन्तगत ही करते थे। वे कहा करते थे 'मुझे अपने देश के लक्ष्य और चेतना मे पूरा विश्वास है, मैं इसकी असीमित क्षमताओ मे विश्वास करता हू परन्तु भारत का यह शानदार भविष्य ब्रिटिश ताज की अबाध सर्वोच्चता मे ही प्राप्त किया जा सकता है।"[1]

---

1 Quoted by Varma, Dr V P Ibid p 212

## "क्या गोखले कमजोर दिल उदारवादी थे ?" या "क्या वे छुपे हुए राजद्रोही थे ?"

## Was Gokhale "a faint hearted moderate' ? or "a Seditionist in disguise ?"

गोपाल कृष्ण गोखले के सम्बन्ध मे दो परस्पर विरोधी विचारो को अभिव्यक्त किया गया है। उनके विचारो की उदारवादिता और सवैधानिकता के कारण उग्रवादी उन्हे 'कमजोर दिल उदारवादी" नेता कहते थे और उनकी देश भक्ति और अगाध राष्ट्रीय प्रेम के कारण ब्रिटिश शासक तथा प्रतिक्रियावादी उन्हे "छुपा हुआ राजद्रोही" कहते थे। परन्तु श्री गोखले के सम्बन्ध मे ये दोनो विचार अतिशयोक्तिपूर्ण ही नही अपितु मिथ्या और भ्रमपूर्ण भी है। ये दोनो विचार उनकी योग्यता, प्रतिभा और विचारधाराओ के सही मूल्याकन से परे है।

**क्या गोखले कमजोर दिल उदारवादी नेता थे ?**

श्री गोखले कमजोर दिल उदारवादी नेता नही थे। वे उदारवादी अवश्य थे, उनमे सवैधानिकता कूट कूट कर भरी हुई थी परन्तु वे कमजोर दिल नही थे। उनमे व्यक्तित्व और साहस की कमी नही थी। वे सरकार की निर्भीक आलोचना करने से कभी घबराते नही थे। वेलबी आयोग (Welby Commission) और हाब्हाउस विकेन्द्रीकरण आयोग के समक्ष उनकी गवाही, ब्रिटिश नौकरशाही की क्रूरता और निर्दयता की कटु आलोचना, उनके ये विचार कि "नौकरशाही के साथ जनहित की दृष्टि से सहयोग करने की सारी आशा हमेशा के लिए समाप्त हो गई," सन् 1906 मे सेडिशन मीटिंग बिल (Sedition Meeting Bill) पर उनके द्वारा व्यक्त किया गया विरोध, नमक पर से कर हटाने के लिए उनके द्वारा किया गया प्रयास अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा पर बल, सरकारी नौकरियो मे भारतीयो के साथ सम व्यवहार की माग, भारतीय वित्त पर नियन्त्रण को दूर करने तथा सरकारी खर्चे को कम करने के सुझाव, ये तथा अन्य कार्य गोखले के "कमजोर दिल" होने के प्रमाण नही बल्कि ये उनकी निर्भीकता, निडरता और न्यायप्रियता को अभिव्यक्त करते हैं।

श्री गोखले मे मध्यम वृत्ति और तर्क-सम्मतता कूट-कूट कर भरी हुई थी। उनकी राजनीतिक प्रतिभा और परिपक्वता का ही यह परिणाम था कि वे कठोर से कठोर बात को भी नरम भाषा मे कह सकते थे और कठोर विरोध को भी मधुर शब्दो मे व्यक्त कर सकते थे। सरकार की नीतियो की आलोचना वे ऐसे शब्दो मे किया करते थे "ब्रिटिश शासन से देश मे अब शान्ति और व्यवस्था हुई है परन्तु यह खर्चीला है पाश्चात्य शिक्षा ने स्वतन्त्र विचारो का विकास किया है परन्तु भारतीयो को सत्ता से वचित किये जाने से विकास रुक गया है।

हमारी प्राकृतिक योग्यतायें काम म न आने के कारण कम होती जा रही ह अनेक आर्थिक बुराइया भी उत्पन्न हुई है इन सबका एक मात्र हल यही ह कि भारत म क्रमिक रूप से स्वशासन स्थापित किया जाना चाहिये।"

श्री गोखले नरमवादी (उदारवादी) थे, गरमवादी (उग्रवादी) नही थे। वे आन्दोलन के संवैधानिक साधनो मे विश्वास करते थे, क्रातिकारी या उग्र साधना म नही। वे याचिकाओ, प्रार्थनाओ, भेंटो आदि मे विश्वास करते थे। उनका कार्यक्षेत्र विधान परिषद् के कक्ष थे, गाव की चौपाल नही। वे शिक्षित जनता को अपील करते थे, सर्वसाधारण को नही। व सतर्कता, क्रमिक विकास और तार्किक प्रगति मे विश्वास करते थे। समस्याओ के समाधान मे वे विचार-विमर्श, सयम और समझौता वृत्ति का पालन करते थे। वे सहयोग चाहते थे असहयोग या बहिष्कार नही, वे सुधार चाहते थे, क्राति नही। वे समन्वय चाहते थे, विरोध नही। वे मानव प्रकृति की श्रेष्ठता म विश्वास करते थे, उसकी निकृष्टता मे नही। वे राजनीति का आध्यात्मीकरण चाहते थे। व साध्य साधन की पवित्रता पर बल देते थ। अच्छे साध्य की प्राप्ति क लिए वे कभी भी बुरे साधनो का सहारा नही लेते थे। गोखले जी के इन्ही विचारो से प्रभावित हो कर गाधीजी न उन्हे अपना राजनीतिक गुरु स्वीकार किया।

**क्या गोखले छुपे हुए राजद्रोही थे ?**

श्री गोखले के सम्बन्ध मे यह कथन भी मिथ्या है कि वे छुपे हुए राजद्रोही थ। यह ब्रिटिश शासको और प्रतिक्रियावादी तत्वो की सकीर्णता का द्योतक है, उनकी विचारधाराओ का निष्पक्ष मूल्याकन नही। गोखले वस्तुत ब्रिटिश शासन के अनन्य भक्त थ, उन्हे ब्रिटिश उदारवाद मे अटल विश्वास था, ब्रिटिश आत्मा पर उन्हे भरोसा था, ब्रिटिश राजनीतिक सस्थाओ के प्रति उनकी पूरी आस्था थी, ब्रिटिश न्यायप्रियता और कानून के शासन मे उनकी श्रद्धा थी। ब्रिटिश शासन के वे सच्चे भक्त ही नही बल्कि भारत म ब्रिटिश शासन को 'वरदान' एव "दैवी व्यवस्था" समझते थे। यह सत्य है कि गोखले उस साम्राज्य को निम्न श्रेणी का साम्राज्य मानते थे जो जातीय सर्वोच्चता और अहकार पर आधारित था, यह भी सत्य है कि व परिषदो म सरकार की गलत नीतियो अलोकप्रिय कार्यों और नौकरशाही की क्रूरता और निर्दयता की निर्भीक आलोचना करते थे, परन्तु इन आधारो पर उन्हे छुपे हुए राजद्रोही की सज्ञा देना न्यायसगत नही क्योकि गोखले ब्रिटिश शासन की सर्वोपरि सत्ता (Paramount Power) को स्वीकार करते थ, उसके साथ भारत के स्थायी सम्बन्ध कायम रखने के इच्छुक थ और उसी के सरक्षण म भारत के उज्जवल भविष्य की कल्पना करते थे। सन् 1903 म बजट पर भाषण देते हुए विधान परिषद् म गोखले न कहा था कि 'मुझे अपने देश के लक्ष्य और जनता म पूरा विश्वास ह, मैं इनकी असीमित क्षमताओ म विश्वास करता हू।

परन्तु भारत का यह शानदार भविष्य अंग्रेजी ताज की अबाध सर्वोच्चता में ही प्राप्त किया जा सकता है।" ब्रिटिश न्यायप्रियता और सदभावना में उनका विश्वास उस समय भी समाप्त नहीं हुआ जब दादाभाई नौरोजी जैसे संवैधानिकता प्रिय नेता भी 1909 के सुधारों से हताश हो गये थे। श्री गोखले तो इन सुधारों को, जिनमें साम्प्रदायिकता का विष घोला गया था, कार्यान्वित करने के पक्ष में थे।

श्री गोखले ब्रिटिश स्वभाव को अपील कर उनकी हमदर्दी प्राप्त करना चाहते थे। वे कहा करते थे कि "देश का पुनर्निर्माण राजनीतिक उत्तेजना की आंधी से नहीं बल्कि धीरे धीरे ही हो सकता है, धीमी प्रक्रिया में समस्या का वास्तविक हल था। अंग्रेजों की प्रकृति के श्रेष्ठ पहलू पर विजय पाना और इस प्रकार उनकी सहायता एवं समर्थन प्राप्त करना था।" डा० जकारिया लिखते हैं कि "वह उन थोड़े से सच्चे महान् व्यक्तियों में से है जो दलगत से ऊपर उठकर काय कर सकते थे, वे अपने विरोधी की अच्छाई की भी प्रशंसा करते थे, वे मानव के कार्यों की प्रशंसा समय की उपयोगिता के आधार पर नहीं अपितु उन महान् सिद्धान्तों के आधार पर करते थे जो समय के साथ समाप्त नहीं होते थे।'

श्री गोखले को मैक्यावेलियन तरीकों से घृणा थी। वे नकारात्मक कार्यों के स्थान पर रचनात्मक कार्यों पर बल देते थे, वे शिक्षा विस्तार, कौंसिल सुधार, आर्थिक विकास आदि चाहते थे। वे जागरूक नागरिक चाहते थे परन्तु उन्हें षड्यन्त्र का पाठ नहीं पढ़ाते थे। उन्होंने 1905 में भारत सेवक समिति (Servants of India Society) की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य को उखाड़ने के लिए नहीं बल्कि देशभक्तों की सन्तान पैदा करने, ब्रिटिश के साथ सम्बन्धों को बनाये रखने और शिक्षा विस्तार के लिए की थी। वे स्वदेशी, स्वशासन के भी समर्थक थे, आदि।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि गोपाल कृष्ण गोखले न तो कमजोर दिल उदारवादी नेता थे और न ही छुपे हुए राजद्रोही थे। वे ब्रिटिश राजनीतिक संस्थाओं में और उनकी न्यायप्रियता में विश्वास रखने वाले शुद्ध राष्ट्रीय देश भक्त व्यक्ति थे।

## 2 लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक (1856–1920)

परिचय—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई, 1856 को महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इस परिवार का सम्बन्ध इतिहास के गौरवशाली पेशवाओं से था। इनके पिता सरकारी शिक्षा विभाग में इन्सपेक्टर थे। बचपन में ही श्री तिलक की राजनीति में बड़ी रुचि थी। सन् 1879 में उन्होंने वकालत की डिग्री तो प्राप्त की परन्तु सन् 1880 से ही अपने साथी आगरकर के साथ मिल कर 'केसरी' (साप्ताहिक जो मराठी में प्रकाशित होता था) और "मराठा' (साप्ताहिक जो अंग्रेजी में प्रकाशित होता था) नाम के दो पत्रों का

प्रकाशित करना शुरू कर दिया । इनका उद्देश्य विदेशी शासन के अत्याचारो और अन्यायो का भण्डा फोडना तथा जन जागृति पैदा करना था ।

श्री तिलक ने अपने जीवन के 40 वर्ष सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यो मे बिताये । सन् 1889 मे वे कांग्रेस मे शामिल हो गये । दो बार वे बम्बई विधान परिषद् के सदस्य चुने गये । तीन बार वे कारावास गये ।[1] सन् 1907 मे वे उग्रवादी दल के सन् 1916 मे उन्होने होम रूल आन्दोलन को शुरू किया तथा अप्रैल 1920 म निर्माताओ मे से थे, उन्होने कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल (Congress Democratic Party) की स्थापना की और 1 अगस्त 1920 को परलोक चले गये ।

श्री तिलक का कार्यक्षेत्र बडा विस्तृत था । व एक शिक्षाशास्त्री एव प्रकाण्ड पण्डित थे । ज्योतिष, गणित, विधि दर्शन तथा धर्म म उनकी गति अबाध थी । मराठी और संस्कृत साहित्य पर उन्हे स्वामित्व था । ऋग्वेद, वेदान्त, महाभारत और गीता का उन्हे अच्छा ज्ञान था । उनके तीन बडे ग्रन्थ हैं 'द ओरायन" (The Orion), "द आर्कटिक होम इन द वेदाज" (The Arctic Home in the Vedas) और वैदिक क्रोनोलॉजी और वेदांग ज्योतिष (Vedic Chronology and Vedanga Jyotisha) । गीता पर उन्होने एक भाष्य "गीता रहस्य" के नाम से लिखा । आश्चर्य की बात तो यह है कि ये सब कृतियां कारावास के काल मे रचित की गई ।

श्री तिलक ने राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार के लिए अनेक शिक्षा संस्थाओ की स्थापना की । आगरकर से मिल कर पूना म उन्होने 2 जनवरी 1880 को न्यू इंगलिश स्कूल (New English School) की स्थापना की और यही पर वे बीजगणित के अध्यापक हो गये । सन् 1884 म दक्षिण शिक्षा समिति (Deccan Educational Society) की स्थापना म श्री तिलक का पूरा सहयोग और नेतृत्व था । 2 जनवरी 1885 को फर्ग्युसन कालिज (Fergusson College) की स्थापना की गई । सर्वश्री गोखले और आगरकर से मतभेद होने के कारण श्री तिलक ने 14 अक्टूबर 1890 को दक्षिण शिक्षा समिति से त्यागपत्र दे दिया । श्री तिलक की देख रेख और संरक्षण म तालेगाव मे श्री समर्थ विद्यालय की स्थापना की गई ।

श्री तिलक मानवतावादी थे । सन् 1896–97 और 1898–1899 म (भयंकर अकाल और प्लेग की महामारी के समय) जो सेवायें उन्होने मानव समाज की की व सराहनीय थी ।

श्री तिलक पक्के देशभक्त और स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचारक थ ।

---

1 पहली बार 4 महीने क लिए कोल्हापुर महाराजा के साथ किये गये व्यवहार की आलोचना के कारण, दूसरी बार सन् 1897 म 18 महीने क लिए श्री रैण्ड और लफ्टिनेन्ट आयरस्ट की हत्याओ का उत्तेजन क अपराध म, तीसरी बार सन् 1908 म 6 वर्ष के लिए राजद्रोह (Sedition) के अपराध म ।

उन्होने लोगो को अन्याय के विरुद्ध तीव्र सघर्ष करने की प्रेरणा दी। उन्होने स्वराज्य और बहिष्कार का नारा बुलन्द किया। वे एक महान सगठन कर्ता और निपुण राजनीतिज्ञ थे। वे एक कुशल पत्रकार थे। सम्पादन कला तो मानो उन्हे प्राकृतिक देन थी। उनके लेख प्रभावी और स्वतन्त्र विचारो से भरे होते थे। वे एक निर्भीक आलोचक थे। व हिन्दू धर्म के पक्के अनुयायी थे परन्तु साम्प्रदायिकता से बहुत ऊपर थे।

**तिलक के मुख्य विचार**—श्री तिलक के मुख्य विचारो को निम्न बिन्दुओ म व्यक्त किया जा सकता है ,—

**1 पुनरुत्थानवादी होते हुए भी साम्प्रदायिकता से बहुत ऊपर थे**—श्री तिलक सनातनी थे और उन्ह इसका गर्व था। इसके मुक्ति गुण मे भी उनकी पूर्ण आस्था थी। वे कहा करते थ कि "विश्व मे हिन्दू धर्म को छोडकर अन्य किसी धर्म मे ऐसा *कल्याणकारी वचन नही दिया गया है कि जितनी बार हमे ईश्वर की आवश्यकता* होती ह उतनी ही बार वह हमारे पास आता है।"[1] श्री तिलक हिन्दू धर्म के समर्थक ही नही बल्कि उसमे आवश्यक सुधारो पर भी बल देते थे। परन्तु हिन्दू धर्म या हिन्दू समाज मे सुधारो के लिए व ब्रिटिश नौकरशाही को अयोग्य समझते थ। उनका विश्वास था कि हिन्दू समाज अपनी कुरीतियो को दूर करने की सामर्थ रखता है। वे इसमे ब्रिटिश नौकरशाही के हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। वे कहते थे कि जिन लोगो की सभ्यता और सस्कृति भिन्न है, जिनके जीवन के मूल्य भिन्न ह उन्ह भारतीय समाज के कानूनो को बनाने या उनम सुधार का अधिकार नही होना चाहिए।

कुछ आलोचको का कहना है कि श्री तिलक जनोत्तेजक (Demagogue) थे और हिन्दू देवी देवताओ, मतवादो, धार्मिक भावनाओ और सामाजिक उत्सवो का प्रयोग अपने नेतृत्व को सुदृढ करने के लिए करते थे। परन्तु श्री तिलक की यह आलोचना मिथ्या है। श्री तिलक न सन् 1891 के स्वीकृति आयु अधिनियम (The Age of Consent Act, 1891) का विरोध अपने स्वार्थ के लिए नही किया था बल्कि इसलिए किया था कि सरकार इसमे उन्होने लोगो की सामाजिक और धार्मिक भावनाओ म हस्तक्षेप न कर सके। बग भग का विरोध तिलक ने अपने नेतृत्व को सुदृढ करने के लिए नही अपितु इसलिए किया था कि सरकार राष्ट्र की इच्छा की उपेक्षा कर रही थी और श्री तिलक उसके विरुद्ध जन जागृति पैदा करना चाहते थे। शारदा सदन (Sarda Sadan) का विरोध भी उन्होने इसलिए किया था कि उसकी सस्थापिका पण्डिता रमाबाई धर्म निरपेक्ष शिक्षा और स्त्री सुधार के नाम पर हिन्दू स्त्रियो को ईसाई धर्म म परिवर्तित कर रही थी।

नि सन्देह श्री तिलक हिन्दू धर्म के प्रशसको म से थे और उसक उचित हितो की रक्षा भी करना चाहते थे। यह भी सत्य है कि वे भारतीय सभ्यता और सस्कृति को पश्चिमी सभ्यता और सस्कृति से श्रेष्ठ मानत थ तथा पश्चिम की नकल करन

1 Tilak Quoted by Varma, D V P Ibid p 228,

वाला भी हँसी उडाते थे। परन्तु पॉल, प्राइस, शिगल और पाम दत्त जैसे आलोचकों का यह कहना असत्य है कि श्री तिलक की हिन्दू धर्म में आस्था तथा विश्वास मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक करने के लिए उत्तरदायी था। वास्तव मे, जैसा कि जकारिया ने लिखा है, श्री तिलक "हिन्दुओं की मुस्लिम विरोधी और बदले की भावना के विरोधी थे।"[1]

श्री तिलक के पुनरुत्थानवाद के कारण यदि मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक हुए होते तो जिन्ना, एम०ए० अन्सारी और हसन इमाम उनकी राष्ट्रवादी भावनाओं और समझौते की प्रवृत्ति की सराहना नही करते, शौकत अली और हसरत मुहानी उन्हे अपना गुरु नही मानते। सन् 1916 का कांग्रेस-लीग समझौता श्री तिलक की समझौते की प्रवृत्ति का फल था। अली बन्धुओं की मुक्ति के लिए तिलक ने कांग्रेस मे स्वयं प्रस्ताव प्रस्तुत किया। खिलाफत आन्दोलन का समर्थन भी तिलक करने को तैयार थे यदि मुसलमानो का बहुसंख्यक उसके लिए तैयार था। मुसलमान भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक इसलिए हुए कि उनके कुछ नेता महत्वाकांक्षी थे तथा ब्रिटिश नौकरशाही की "विभाजन करो और शासन करो" की नीति के शिकार हो गये थे।

**2 सक्रिय निष्क्रिय प्रतिरोध के प्रवक्ता या उग्रवादियो के नेता**—स्वराज्य प्राप्ति के लिए श्री तिलक उदारवादियों के संवैधानिक एवं प्रार्थनापूर्ण साधनों का राजनीतिक भिक्षावृति कह कर उपहास करते थे। इनके स्थान पर व सक्रिय निष्क्रिय प्रतिरोध के साधनो—स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा—का प्रतिपादन करते थे। यह श्री तिलक के प्रयासो का ही फल था कि कांग्रेस ने 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया और जब 1907 मे सूरत में उदारवादियों द्वारा इन प्रस्तावों को बदलने का प्रयास किया गया तो कांग्रेस का विघटन हो गया और उग्रवादी दल जो पहले से ही विद्यमान था, पृथक रूप से स्थापित हो गया।

श्री तिलक उग्रवादी अवश्य थे परन्तु हिंसा या क्रान्ति के समर्थक नहीं थे। वैध तरीकों में उन्हे पूर्ण विश्वास था। वे कानून की मर्यादा में रह कर ही राष्ट्रीय आन्दोलन चलाना चाहते थे। सक्रिय निष्क्रिय प्रतिरोध द्वारा वे लोगों को संगठित कार्य में प्रशिक्षण देना चाहते थे ताकि जनता शताब्दियों की दासता, निर्जीवता का त्याग कर कर्मण्य बन जाय। सन् 1896 में दुर्भिक्ष के समय चलाये गये लगान बन्दी आन्दोलन (no rent campaign) का यही उद्देश्य था, होम रूल, स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा धरना आदि का भी यही उद्देश्य था। यह कहा जा सकता

---

1 Tilak was the spokesman of an anti Moslem retaliation" Zacharia Renascent India, p 121

है कि जिस समय उदारवादी ब्रिटिश उदारता और हमदर्दी की भीख माग रहे थे उस समय तिलक लोगो को स्वावलम्बन, आत्म विश्वास और सघर्ष की शिक्षा दे रहे थे।

3 **लोकतान्त्रिक यथार्थवादी**—श्री तिलक निपुण राजनीतिज्ञ थे। वे राजनीति को एक खेल की तरह समझते थे जिसमे प्रतिद्वन्द्वी पक्षो को विजय के लिए निरन्तर सघर्ष करना चाहिए। उनकी राजनीति कल्पना, आदर्शवादिता या सदाचार पर आधारित नही थी। वे "जसे को तैसा" (Tit for tat) की नीति मे विश्वास करते थे। तिलक कहा करते थे कि 'यदि हमारे घर म चोर घुस आये और हमारी भुजाओ मे उन्हे मार भगाने की पर्याप्त सामर्थ्य न हो तो हमे बिना सकोच के उन्हे बन्द करके जीवित जला देना चाहिए।" श्री तिलक के ही शब्दो म "मैं अपने घर की कुंजी चाहता हू, केवल एक परदेशी को बाहर निकाल कर सन्तोष नही करना चाहता। मै पूरी रोटी चाहता हू आधी नही।" श्री तिलक यह भी कहते थे कि जो प्राप्त हो जाय उसे ले लो और जो प्राप्त नही हुआ है उसके लिए सघर्ष जारी रखो।

4 **गणपति और शिवाजी उत्सवो का सार्वजनिक उपयोग**—महाराष्ट्र मे गणपति और शिवाजी उत्सव व्यक्तिगत स्तर पर मनाये जाते थे। श्री तिलक ने इन उत्सवो को सार्वजनिक स्तर पर मनाने के लिए प्रेरित किया। सन् 1893 से गणपति उत्सव और सन् 1895 से शिवाजी उत्सव सार्वजनिक स्तर पर मनाने शुरू हुए। इन सार्वजनिक उत्सवो का प्रयोग श्री तिलक ने राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए किया। इनके द्वारा लोगो मे सगठन, त्याग, बलिदान राष्ट्रीय गर्व, राष्ट्रीय सेवा, अनुशासन, आत्म विश्वास, आत्म सामर्थ्य, भाईचारे और सामूहिक सघर्ष की भावनाएँ पैदा की गई। लोगो मे पौरुष और साहस उत्पन्न करने के लिए गौहत्या विरोधी समितियो, अखाडा और लाठी क्लबो की स्थापना की गई। इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सार्वजनिक सभाओ, जलूसो आदि का आयोजन किया गया। श्री तिलक का पूर्ण विश्वास था कि शिक्षित और अशिक्षित लोगो मे भाईचारे और सयुक्त मोर्चे की भावनाएँ पैदा करने के लिए ये साधन (सार्वजनिक उत्सव, सार्वजनिक सभायें तथा जलूस) महत्त्वपूर्ण है। श्री तिलक कहा करते थे कि सामूहिक समारोह जहा शिक्षित वर्ग मे नई स्फूर्ति पैदा करते हैं वहा ये अशिक्षित वर्ग मे (जन समूह मे) भावनात्मक जागृति उत्पन्न करते है तथा उनका दृष्टिकोण व्यापक, उदार एव राष्ट्रीय बनाता है। राष्ट्रीय आन्दोलन को, वास्तव म जन आन्दोलन का रूप श्री तिलक के इन्ही क्रियाकलापो से प्राप्त हुआ।

सार्वजनिक उत्सवो म श्री तिलक गीता जैसी महान धार्मिक पुस्तको और शिवाजी जसे महान राष्ट्रीय नेताओ के जीवन से उदाहरण प्रस्तुत कर लोगो की राष्ट्रीय भावनाओ को जागृत करते थे, उन्हे अन्याय और अत्याचार से भिड़ना सिखाते थे, विरोधी शासन से सघर्ष करना सिखाते थे।

श्री तिलक कहा करते थे कि यदि उद्देश्य उच्च, सत्, नैतिक, सार्वजनिक एवं स्वार्थ या आसक्ति रहित है तो उसे प्राप्त करने के लिए किन्ही साधनों का प्रयोग उचित और न्यायिक है। क्योंकि श्री तिलक शिवाजी को, गीता के अर्थ में, एक विभूति (Vibhuti) मानते थे इसलिए उनके द्वारा अफजल खा की हत्या को न्यायोचित मानते थे। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि श्री तिलक राजनीतिक हत्याओं को बढावा देते थे या उन्हे निमन्त्रण देते थे यद्यपि यह भी ठीक है कि वे किसी व्यक्ति के इस प्रकार के कार्य की भर्त्सना भी नहीं करते थे। वे कहा करते थे कि "महान् पुरुष नैतिकता के साधारण सिद्धान्तो से ऊपर होते हैं।'

**5 विदेशी शासन के आलोचक एवं स्वतन्त्रता के पुजारी**—श्री तिलक विदेशी शासन से घृणा करते थे। वे उसके कटु आलोचक थे तथा उसकी अराष्ट्रीय नीतियों की भर्त्सना करते थे। उनका विश्वास था कि भारतीयों के दुःख, नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक पतन मुख्यतः विदेशी शासन का परिणाम है। इसलिए वे इससे समझौता करना नहीं चाहते थे बल्कि उसे नष्ट करना चाहते थे, वे इससे सुधारों की भीख नहीं मांगते थे बल्कि अपने अधिकार की मांग करते थे, वे विदेशियों की दया के पात्र बनना नहीं चाहते थे बल्कि अपने सामर्थ्य और आत्म विश्वास पर बल देते थे। वे कहते थे 'स्वतन्त्रता दी नहीं जाती ली जाती है', "याचना वृत्ति से स्वराज्य की नैतिक और बौद्धिक नींव कमजोर होती है।" "जिन लोगों ने इस संसार में स्वराज्य का उपभोग नहीं किया वे परलोक में भी स्वराज्य के अधिकारी नहीं हो सकते।'[1] वे कहा करते थे कि स्वतन्त्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा। वे स्वतन्त्रता को धर्म, नैतिकता और आध्यात्म के लिए अनिवार्य मानते थे। वे इसे ईश्वरीय गुण मानते थे। वे कहा करते थे कि 'स्वतन्त्रता के अभाव में नैतिक और आध्यात्मिक जीवन सम्भव नहीं।' स्वतन्त्रता से उनका अभिप्राय "स्वशासन', 'आत्म निग्रह की पूर्णता', "आध्यात्मिक स्वतन्त्रता' से था "अपने में केन्द्रित और अपने पर निर्भर जीवन ही स्वराज्य है।"

स्वराज्य की मांग पर श्री तिलक किसी प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। वे कहा करते थे कि पहले राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाय फिर सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का समाधान धीरे-धीरे अपने आप हो जायगा। वे कहते थे "स्वराज्य भारत की नींव है न कि भावी उन्नति की चरम सीमा।"

**6 जन जागृति और जन आन्दोलन के निर्माता**—आधुनिक भारत में सर्वश्री तिलक और गांधी ही ऐसे दो महान नेता थे जिन्होंने जनता में आश्चर्यजनक जागृति, साहस और निर्भीकता उत्पन्न कर दी। जिस जन आन्दोलन की नींव श्री तिलक ने रखी

---

1 Speeches and writings of Tilak pp 276–280, Quoted by *Varma, Dr V P, , Ibid, p 247*

थी उसी पर गाधीजी ने अपने राजनीतिक आन्दोलनो (असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन आदि) के प्रासाद को तैयार किया। स्वय गाधीजी ने 1 जून 1947 की प्रार्थना सभा मे स्वीकार किया कि "मैंने अन्तरात्मा का मूल्य तिलक महाराज से सीखा है।" यह श्री तिलक के सतत प्रचार और अथक प्रयासो का फल था (स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, होम रूल आन्दोलन आदि द्वारा) कि लोगो मे विदेशी सरकार के अन्यायो के विरुद्ध असन्तोष उत्पन्न हुआ और शक्तिशाली साम्राज्यवादी नौकरशाही दुर्ग उन्हे अपना अकृत्रिम शत्रु समझने लगा। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने ठीक लिखा है कि "यदि भारतवर्ष की जनता मे राजनीतिक चेतना पर्याप्त होती तो तिलक क्रामवेल के समान देश के सफल नायक होते।"

राजनीतिक जीवन मे श्री तिलक "भारतीय राष्ट्रवाद के भीष्म थे।"[1] अपने देशवासियो को उन्होने सर्वप्रथम स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार, और राष्ट्रीय शिक्षा के अमूल्यवान उपहार दिये। स्वराज्य से वे स्वशासन लाना चाहते थे, स्वदेशी से लोगो मे भारतीय वस्तुओ और संस्थाओ के लिए अनुराग उत्पन्न करना चाहते थे, बहिष्कार द्वारा विदेशी सरकार से असहयोग करना सिखाते थे तथा राष्ट्रीय शिक्षा द्वारा राष्ट्र का नव निर्माण चाहते थे।

राष्ट्र के प्रति श्री तिलक की अमूल्यवान सेवाओ को गाधीजी ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है "लोकमान्य तिलक मातृभूमि के अनन्य भक्त थे। वे देशप्रेम के अतिरिक्त और किसी धर्म को नही जानते थे। जन्म से ही वे लोकतन्त्रवादी थे। उन्होंने अपने मनोबल से देश की सेवा की। उनका जीवन बिलकुल निष्कपट और निष्कलंक था। किसी अन्य व्यक्ति ने उनकी सी असाधारण दृढता से स्वराज्य का प्रचार नही किया। उनके देशवासी उनमे पूर्ण विश्वास रखते थे। श्री तिलक सदैव आशावादी रहे और कभी हतोत्साहित नही हुए। वे अपने जीवन मे भारत को स्वतन्त्र देखने की आशा रखते थे। यदि वे अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सफल नही हुए तो इसमे उनका कोई दोष नही था। उन्होंने निश्चित ही स्वराज्य को निकट लाने मे महत्वपूर्ण काम किया।'

## राष्ट्रीय आन्दोलन को तिलक की देन

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को श्री तिलक की अनेक देनें थी जिनमे मुख्य निम्न है —

1 राष्ट्रीय आन्दोलन के आधार को श्री तिलक ने विस्तृत किया। जो आन्दोलन अभी तक शिक्षित वर्ग तक सीमित था उसे मध्यम वर्ग तथा जन आन्दोलन मे परिणत किया। जन जागृति और जन आन्दोलन के श्री तिलक निर्माता थे।

---

1 "In political life, Tilak was the Bhisma of Indian nationalism" Varma, Dr V P, Ibid, p 226

2 श्री तिलक ने विद्यार्थियों ... में स्वावलम्बन और गर्व की भावनाएँ पैदा कर दी। धार्मिक भावनाओं और उत्सवों का सार्वजनिक उत्सव कर लोगों का ध्यान और व्यायाम व अखाड़ों का पाठ भी तिलक ने पढ़ाया।

3 उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में उग्रवाद का जन्म दिया और राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय निष्क्रिय प्रतिरोध के मन्त्र को बताया। बहिष्कार आन्दोलन का विस्तार भी तिलक ने किया।

4 "स्वतन्त्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा" इसका नारा दिया श्री तिलक ने। स्वराज्य के नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक पहलू पर बल दिया।

5 स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा जैसे रचनात्मक काम लोगों के सामने प्रस्तुत किये।

उपर्युक्त सभी बिन्दुओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख पहले किया जा चुका है इसलिए यहाँ उसे दोहराने में कोई लाभ नहीं।

**क्या तिलक असन्तोष के जनक थे? या क्या तिलक क्रान्तिकारी थे?**

विरोधियों का विशेषकर वॉलेन्टाइन शिरोल और हॉयलण्ड जैसे ब्रिटिश इतिहासकारों और ब्रान्सन तथा डा० खानखोरे जैसे भारतीय आलोचकों का मत है कि तिलक 'राज्य सत्ता के प्रति असन्तोष की प्रेरणा देने वालों में सबसे खतरनाक'[1] 'भारतीय अशान्ति के जन्मदाता'[2] 'क्रान्ति के उपासक' तथा "हिंसा के समर्थक" थे। शिरोल लिखते हैं कि 'तिलक पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हत्याओं को जन्म देने वाले वातावरण का निर्माण किया।'[3] जॉन एस० हॉयलण्ड लिखते हैं कि तिलक "भौतिक बल के सिद्धान्तों के साथ खिलवाड़ करते आये थे।'[4] ब्रान्सन का कहना था कि तिलक के लेख 'विद्रोह की प्रच्छन्न धमकी से भरे'[5] पड़े हैं तथा वे स्वराज्य अथवा बम का उपदेश देते थे। डा० पी० एस० खानखोरे लिखते हैं कि श्री तिलक क्रान्तिकारी युवकों के गुरु और शिक्षक थे।[6]

---

1 & 2 One of the most dangerous pioneers of disaffection, ' The Father of Indian Unrest' Chirol Indian Unrest pp 40 & 41

3 'Tilak had been the first to create the atmosphere which breeds murders Chirol India p 122

4 Tilak had been 'coquetting with doctrines of physical force , Hoyland, John S Gokhale, p 25

5 *Tilak s articles contained "a covert theory of mutiny'* and preached ' Swarajya or bombs Branson the advocate general who conducted the prosecution case against Tilak in 1908

6 See articles of Khankhore, Dr P S published in Kesari in 1953 and 1954

श्री तिलक के विचारो पर व्यक्त की गई उपयुक्त आलोचनायें न केवल एक तरफ है वल्कि मिथ्या, अधूरी और सही मूल्यान्कन से बहुत परे है। यह नही भूलना चाहिए कि श्री तिलक पक्के देशभक्त थे, भारतीयो की दीनता, दुख, पतन, अज्ञानता और आर्थिक दुदशा को देखकर उनका हृदय कराह उठता था। वे जन जागृति चाहते थे सशस्त्र क्रान्ति या विद्रोह नही। वे उग्रवादी अवश्य थे परन्तु हिंसावादी या क्रान्तिकारी नही। वे लोगो को सगठन की शक्ति और महत्व का पाठ अवश्य पढाते थे, उन्हे राजद्रोही नही बनाते थे। उनके लेख तथा भाषण उत्तेजनापूर्ण एव महान राष्ट्रीय नेताओ के साहस, त्याग और बलिदान की कहानियो और घटनाओ से भरपूर अवश्य होते थे परन्तु वे राजनीतिक हत्याओ या राजनीतिक डकैतिया को निमन्त्रण नही देते थे और न ही उनका समथन करते थे। श्री तिलक ने निरपेक्ष हिंसा का समथन कभी नही किया यद्यपि उन्होने निरपेक्ष अहिंसा को भी कभी अगीकार नही किया।

श्री तिलक क्रान्तिकारी नही थे और न ही उन्होने किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन का सगठन या नेतृत्व किया। उन्होंने क्रोपाटकिन, वेकुनिन और लेनिन जसे रूसी क्रान्तिकारियो के साधनो को कभी नही अपनाया यद्यपि श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा सावरकर बन्धुओ जसे क्रान्तिकारियो से उनका सम्पक था परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता, जसाकि डा० पी० एस० खानखोरे ने अपने लेखो मे सिद्ध करने का प्रयास किया है, कि श्री तिलक क्रान्तिकारियो के गुरु या शिक्षक थे या तिलक स्वय क्रान्तिकारी थे। यह सत्य है कि श्री तिलक ने शिवाजी द्वारा अफजल खा की हत्या को न्यायोचित ठहराया, यह भी सत्य है कि उन्होने चापेकर बन्धुओ तथा अन्य क्रान्तिकारियो के कार्यो की सावजनिक भत्सना कभी नही की परन्तु इससे उनके स्वय क्रान्तिकारी होने का प्रमाण नही मिलता। वे राजनीति मे "जसे को तैसा" (Tit for tat) म विश्वास करते थे और राजनीति मे "सहयोग को अन्योन्याश्रित" (Cooperation is mutual) समझते थे। वे सरकार से उतना ही सहयाग करना चाहते थे जितना वह जन इच्छा का आदर करती थी। बग भग के समय ब्रिटिश सरकार ने जन इच्छा की उपेक्षा की इसलिए उन्हाने सरकार की कडी आलोचना की। श्री तिलक गीता के इन वाक्या को दोहराते थे "हे पाथ! नपुसकता का मत प्राप्त हो यदि हमारे शिक्षक व निकटतम सम्बन्धी भी अन्याय का पक्ष ग्रहण करे तो उनका वध कर देने तक म कोई दोष नही है, शत यह है कि यह काय अनासक्त भाव से किया जाय।' स्पष्ट है कि श्री तिलक उच्च साध्य की प्राप्ति के लिए किन्ही साधना के प्रयोग को उचित समझते थे। श्री तिलक की राजनीति म कल्पना आदशवादिता, भावुकता और सदाचार का कोई स्थान नही था। उनकी राजनीति लोकतान्त्रिक यथार्थवादी (Democratic Realism) थी। वे इसे ऐसा खेल समझते थे जिसमे प्रतिद्वन्द्वी पक्षा को विजय के हेतु सघष करने के लिए तयार रहना चाहिए।

श्री तिलक राजनीतिक सगठन और आन्दोलन के वैधानिक तरीको म विश्वास करत थे। वे कानून को तोड़ना नही चाहते थे वल्कि उसकी मर्यादा क दायरे मे रह कर ही स्वराज्य, स्वदशी बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के सिद्धान्ता का प्रसार करते थे। उनका यह पूर्ण विश्वास था कि तत्कालीन परिस्थितिया म जहाँ निरकुश साम्राज्यवादी विदेशी सरकार विद्यमान है तथा जनता राजनीतिक अधिकारा से अनभिज्ञ है) हिंसा कभी सफल नही हो सकती। इसलिए वे सक्रिय प्रतिरोध का प्रचार करते थे।

श्री तिलक पूर्ण राष्ट्रवादी और पक्के देशभक्त थे। जिस समय गोखले तथा अन्य उदारवादी ब्रिटिश उदारता, परोपकारिता और हमदर्दी की भीख मागत थ तथा ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक शब्द कहने से थरति थे उस समय श्री तिलक ने जनता को स्वावलम्बन, आत्मविश्वास, आत्म सामर्थ्य का पाठ पढाया, उसे अन्याय, अत्याचार और जन विरोधी नीतियो के विरुद्ध सघर्ष करना सिखाया, उसे निर्भीकता पूवक अपने विचार व्यक्त करने की शक्ति दी। वे लोगो को अपनी सामूहिक शक्ति को पहचानने की प्रेरणा देते थे। ब्रिटिश नौकरशाही श्री तिलक को अपना सबसे बडा राजनीतिक शत्रु तथा भारतीय असतोष का जनक इसलिए मानती थी क्योकि वे ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्हे कोई भी प्रलोभन अथवा अनुग्रह अपने स्वनिर्धारित माग से भ्रष्ट नही कर सकता था। जितना ही सरकार उन्हे निदय तथा कठोर दण्ड देती उतना ही उन्ह अपने सिद्धान्तो मे अटल विश्वास हो जाता। स्वय माण्टेग्यू ने स्वीकार किया था कि 'भारत म केवल एक ही अकृत्रिम उग्रराष्ट्रवादी थे और वे थे तिलक।"[1]

श्री तिलक ब्रिटिश शासन को भारत के लिए अभिशाप समझते थे इसलिए वे उसके विरुद्ध निरन्तर सघर्ष करते रहे। भारतवासियो के दुःख, दारिद्रय, पतन आर्थिक निगम (economic drain) और शोषण के लिए विदेशी सरकार को दोषी ठहराते थे। इसलिए वे स्वराज्य चाहते थे। वे कहते थे "कोई राष्ट्र तब तक शक्तिशाली और स्वस्थ नही हो सकता जब तक वह स्वतन्त्र नही है।'[2] इसी उद्देश्य को लेकर श्री तिलक ने परिस शाति सम्मेलन के अध्यक्ष क्लेमेशो (Clemenceau) को 21 मार्च 1919 के एक स्मरण पत्र (Memorandum) म भारत के लिए आत्म निर्णय के सिद्धात (Right of Self-Determinism) की माग की। उन्होने इस स्मरण पत्र मे लिखा था कि 'एशिया और शान्ति के लिए यह बात नितान्त आवश्यक

---

1 See Chintamani C Y Indian Politics Since the Mutiny, P 117

2 'No nation can be strong and healthy unless it is free" Tilak Quoted by Varma Dr V P in his Modern Indian Political Thought P 274

है कि भारत को आत्मशासन प्रदान करके पूर्ण स्वतन्त्रता का गढ बना दिया जाय।" उस समय श्री तिलक औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) से ही सन्तुष्ट थे यद्यपि उनके हृदय मे पूर्ण स्वतन्त्रता की कल्पना थी। विदेश नीति पर वे ब्रिटिश सरकार को निमन्त्रण देने के लिए तैयार थे। वे प्रान्तो का भाषा के आधार पर बाटना चाहते थे तथा भारत के लिए सघात्मक सरकार के इच्छुक थे।

सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि श्री तिलक क्रान्तिकारी और भारतीय असन्तोष के जनक नही थे। भारतीय असन्तोष तो ब्रिटिश सरकार की अराष्ट्रीय और दमनकारी नीतियो, अत्याचार, अन्याय और आर्थिक शोषण का फल था। श्री तिलक ने तो उस असन्तोष को केवल चिन्हित किया तथा जन समूह का उसका बोध (ज्ञान) करा करके उसके विरुद्ध उसे सघर्ष करने के लिए तयार किया। यह नही भुलाया जा सकता कि उनके आदर्श, त्याग, बलिदान, योग्यता, देशभक्ति के कारण ही राष्ट्र ने उन्हे "लोकमान्य" की पदवी प्रदान की थी "असन्तोष के जनक" की नही। यह साम्राज्यवादी व्याख्या थी जिसने उन्हे असन्तोष के जनक बताया", राष्ट्र तो उन्हे देश "भक्तो के आदर्श" (Prince of patriots) मानता था और मानता है।

वस्तुत स्थिति यह है कि देश भक्तो के प्रति साम्राज्यवादियो का दृष्टिकोण सवदा विरोधपूर्ण, दमनकारी और निन्दा से भरपूर रहा है क्योकि वे (देशभक्त) ही ऐसे व्यक्ति होते है जो जन जागृति पैदा कर साम्राज्यवाद की कब्र खोदते है। यही स्थिति लोकमान्य बाल गगाधर तिलक के साथ थी। जहा अग्रेजी शासक, अग्रेजी नौकरशाही तथा अन्य साम्राज्यवाद के समर्थक श्री तिलक को "भारतीय असन्तोष के जनक" कहकर निन्दित या अपमानित करना चाहते थे वहा राष्ट्र उन्हे अपना "सर्वोत्तम पुत्र", "अकृत्रिम देशभक्त" और "स्वतन्त्रता का पुजारी" समझता था तथा समझता है।

## तिलक और गोखले–एक तुलनात्मक अध्ययन

तिलक और गोखले दोनो ही महाराष्ट्र के तेजस्वी सुपुत्र थे, दोनो चितपावन ब्राह्मण थे, दोनो की बौद्धिक प्रतिभा तथा चरित्र असाधारण कोटि का था, दोनो देश भक्त और पूर्णतया स्वार्थ रहित व्यक्ति थे, दोनो ने देश के लिए महान् त्याग किये थे, दोनो ने अपने-अपने व्यक्तित्व से लोगो को प्रभावित किया। गाधीजी लिखते है कि "तिलक उन्हे हिमालय की तरह उच्च तथा अगम्य दिखाई पडते थे और गोखले उन्हे गगा की पवित्र धारा के सदृश प्रतीत होते थे जिसमे वे आसानी से गोता लगा सकते थे।'

दोनो मे कुछ समानताएँ होते हुए भी उनकी विचारधाराओ मे मूलभूत भेद पाये जाते थे। देश के लिए यह दुर्भाग्य की बात थी कि दोनो एक दूसरे के कार्यकलाप मे सहयोग न कर सके। गोखले इंग्लण्ड और भारत के पारस्परिक सम्बन्ध बनाये रखना चाहते थे, तिलक स्वराज्य चाहते थे। गोखले प्रशासनिक सुधारो एव छोट छोट

परिवर्तनो से ही सन्तुष्ट थे परन्तु तिलक इनसे सन्तुष्ट नही थे, वे ब्रिटेन से सम्बन्ध विच्छेद चाहते थे। गोखले का ब्रिटिश न्यायप्रियता पर विश्वास था तिलक को उस पर विश्वास नही था, गोखले विदेशी शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति को श्रेष्ठ मानते थे, तिलक भारतीय सभ्यता और संस्कृति को श्रेष्ठ मानते थे, गोखले राजनीतिक भिक्षावृत्ति (संवैधानिक साधन) मे विश्वास करते थे, तिलक स्वावलम्बन और संघर्ष को स्वतन्त्रता के लिए अनिवार्य समझते थे। गोखले शिक्षित वर्ग को प्रभावित करते थे, तिलक साधारण जनता को। बी० सी० पाल लिखते हैं कि "वे भारत की सरकार को लोकप्रिय बनाना चाहते है परन्तु उनका उद्देश्य यह नही है कि सरकार किसी भी अर्थ मे ब्रिटेन के हाथ से निकल जाय, इसके विपरीत हम उसे स्वायत्त अर्थात ब्रिटेन के नियन्त्रण से पूर्ण स्वतन्त्र चाहते हैं।' डा० पट्टाभि सीतारमैया ने गोखले और तिलक के विचारो मे भिन्नता को इस प्रकार व्यक्त किया है "गोखले नरम दल के प्राण थे, तिलक उग्रदल के कर्णधार थे, गोखले सरल स्वभाव के थे तथा उनमे सज्जनता कूट कूट कर भरी हुई थी तिलक उग्र स्वभाव के थे और सरकार की क्रूर नीतियो की खुले शब्दो मे आलोचना करते थे, गोखले प्रचलित संविधान मे सुधार चाहते थे, तिलक उसका पुनर्निर्माण चाहते थे, गोखले उच्च साधनो मे विश्वास करते थे, तिलक साध्य की प्राप्ति के लिए समस्त सम्भव उपायो तथा साधनो को उचित समझते थे, गोखले नौकरशाही के साथ सहयोग के इच्छुक थे, तिलक उससे भिड़न्त चाहते थे, गोखले शासन प्रबन्ध और उसमे सुधार की आवश्यकता पर बल देते थे, तिलक राष्ट्र-निर्माण पर बल देते थे, गोखले का आदर्श था प्रेम और बलिदान, तिलक का आदर्श था सेवा और कष्ट झेलना, गोखले विदेशियो का हृदय जीतना चाहते थे, तिलक उन्हे बाहर निकालना चाहते थे, गोखले दूसरो की सहायता मे विश्वास करते थे, तिलक स्वावलम्बन पर विश्वास करते थे, गोखले अपने समय के साथ थे, तिलक अपने समय से बहुत आगे थे, गोखले उच्च वर्ग और बुद्धिजीवियो की तरफ देखते थे, तिलक सर्वसाधारण और करोडो की ओर देखते थे, गोखले का अखाडा था परिषद भवन, तिलक की अदालत थी गाव की पचायत, गोखले अंग्रेजी मे लिखते थे, तिलक मराठी मे, गोखले का उद्देश्य था स्वशासन तिलक का उद्देश्य था स्वराज्य।"[1]

## तिलक और गाधी—एक तुलनात्मक अध्ययन

तिलक और गाधी राष्ट्रीय आन्दोलन के अपने अपने काल के महान नेता थे। एक (तिलक) प्रथम महायुद्ध से पूर्व के काल के और दूसरे (गाधी) महायुद्ध के पश्चात् के काल के छत्र रहित सम्राट ही नही थे बल्कि राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रणी नेता भी थे। दोनो ने अपने अपने व्यक्तित्व के प्रकाश, त्याग और बलिदान से राष्ट्रीय आन्दोलन को गति प्रदान की। दोनो लोकप्रिय नेता थे। दोनो का जीवन

1 Sitaramayya, Dr. Pattabhi, The History of Congress, p. 166

निर्मल और निष्कलंक था। दोनो का जीवन राष्ट्र की सेवा मे बीता। दोनो ने अपने अपने ढग से राष्ट्रीय आदोलन को सीचा तथा उसका विकास किया। जिस प्रासाद की आधारशिला तिलक ने डाली थी उस प्रासाद को गाधी ने पूरा किया। दोनो स्वतत्रता के इच्छुक थे, एक उसकी प्राप्ति को देखने के लिए जिदा नही रहा, दूसरा इतना भाग्यशाली था कि वह इसे अपने जीवन मे प्राप्त कर सका।

तिलक और गाधी के विचारा मे समानताएँ होते हुए भी कुछ मूल भेद थे। इन भेदा को निम्न बिदुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

**1 तिलक निरपेक्ष अहिंसा के उपासक नहीं थे, गांधी की अहिंसा निरपेक्ष थी**—तिलक और गाधी के विचारो मे सर्वोत्तम अतर यह है कि तिलक यदि निरपेक्ष हिंसा का समर्थन नही करते थे तो निरपेक्ष अहिंसा को भी उन्होने कभी अगीकार नहीं किया था। दूसरी ओर, गाधीजी की अहिंसा निरपेक्ष, सार्वभौम और अपरिवर्तनशील थी। तिलक कहते थे कि इस अपूर्ण जगत मे ऐसे अवसर आते है जबकि व्यक्ति को अहिंसा और विनम्रता त्यागनी पडती है। वह कहते थे महापुरुष नैतिकता के सामान्य नियमा से ऊपर होते हैं। यदि कार्य आसक्ति रहित और अहकार से ऊपर उठ कर किया जाय तो उसके करने से पाप नही लगता। तिलक जी का विश्वास था कि गीता का यही उपदेश है। श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है कि "हे पार्थ! नपुसकता को प्राप्त मत हो।" "यदि हमारे शिक्षक व निकटतम सम्बन्धी भी अन्याय का पक्ष ग्रहण करें तो उनका वध कर देने तक मे कोई दोष नही है, शर्त यह है कि कार्य अनासक्त भाव से किया जाय।" इसी आधार पर तिलक ने शिवाजी द्वारा अफजल खा की हत्या को न्यायोचित ठहराया। दूसरी ओर, गाधीजी की अहिंसा का क्षेत्र बहुत विस्तृत था किसी भी क्षेत्र मे और किसी भी रूप मे वे अहिंसा को त्यागने के लिए तैयार नही थे। उनके लिए "अहिंसा ही सत्यश्वर का दर्शन करने का सीधा और छोटा मार्ग है।"[1] गाधीजी कहते थे "मै तो अहिंसा और सत्य हेतु देश को होमने के लिए तैयार हूँ, देश के लिए अहिंसा और सत्य को नही।" गाधीजी के लिए "अविनय', 'तिरस्कार', 'अहकार', 'द्वेष', 'वर-डाह' 'विवशता का अनुचित लाभ' हिंसा है।[2] डा० वी० पी० वर्मा ने दोनो के भेदो को इस प्रकार व्यक्त किया है "यदि गाधी मुझे ईसा, तॉल्सतॉय, थारो, रामकृष्ण तथा भारतीय इतिहास के अन्य सतो का स्मरण दिलाते है तो तिलक का नाम सुन कर मुझे मूसा, लूथर, प्रताप, शिवाजी, दयानन्द और विवेकानन्द का स्मरण हो आता है।"[3]

---

1 Harijan Sewak, dated 10 11 1933

2 From Mangal Prabhat dated 29 7 1930

3 Varma, Dr V P Modern Indian Political Thought, pp 224 225

2 **तिलक साध्यो (उद्देश्यो) की पवित्रता पर बल देते थे, गाधी साध्य साधनो दोनो की पवित्रता पर बल देते थे**—तिलक साध्यो की पवित्रता पर ही बल देते थे उनको प्राप्त करन के साधना पर नही। वे कहते थे कि यदि विरोधी छल कपट का प्रयोग करता है, व्यक्ति के विचारो और मन्तव्यो की गलत व्याख्या करता है तो ऐसे समय मे उदासीनता का रवया अपनाना अपने पक्ष को निश्चित रूप से हानि पहुँचाना है। तिलक कहते थे कि यदि मन मे दुर्भाव नही तो ऐसे व्यक्तियो के विरुद्ध कटु भाषा का प्रयोग पाप या अनतिकता नही होती। दूसरी ओर, गाधीजी के लिए "साध्य और साधन अपरिवर्तनीय शब्द है", "साध्य और साधन मे वही सम्बन्ध है जो बीज और पेड मे", "कोई व्यक्ति साधनो का ध्यान रखता है तो साध्य स्वय अपना ध्यान रखेगा।" तिलक जी का कहना था कि "साध्य साधनो का औचित्य है" (end justifies the means) जबकि गाधीजी कहते थे कि "यदि पवित्र साध्य के लिए पवित्र साधन उपलब्ध नही तो उस साध्य को त्याग देना ठीक है।"

3 **तिलक प्रजातान्त्रिक यथार्थवादी थे, गाधीजी यथार्थवादी नही थे**—तिलक की राजनीतिक विचारधारा पर महाभारत तथा हिन्दू धर्म की अन्य पुस्तको का प्रभाव अत्यधिक था। उनका राजनीतिक आदर्श श्रीकृष्ण, कौटिल्य शिवाजी और पेशवाओ जैसा था। वे न तो कल्पनावादी थे और न ही हॉब्स और बिस्मार्क की भाति यथार्थवादी। वे मैकियावली और ट्राइटस्के (Trietschke) की भाति राजनीति मे पशु शक्ति और छल कपट का खुला समर्थन करते थे। वे वस्तुत प्रजातान्त्रिक यथार्थवादी थे। तिलक एक निपुण राजनीतिज्ञ थे और राजनीति को वे एक खेल की भाति खेलना चाहते थे जिसमे प्रतिद्वन्द्वी पक्षो को विजय के लिए सघर्ष मे सलग्न रहना चाहिए। वे कहा करते थे कि "यदि हमारे घर मे चोर घुस आये और हमारी भुजाओ मे उन्हे मार भगाने की पर्याप्त सामर्थ्य न हो तो हमे बिना सकोच के उन्हे बद करके जीवित जला देना चाहिए।"[1] तिलक कहते थे कि किसी सीमा से अधिक 'दया या 'क्षमाशीलता व्यक्ति को नपुसक बना देती है। राजनीति मे तिलक की नीति "जसे को तसे' (Tit for tat) की थी। तिलक कहते थे "दुष्टो के नाश और साधुओ की रक्षा के लिए ईश्वर स्वय प्रकट होता है।"[2]

सक्षेप मे, तिलक किसी कार्य की नैतिकता को उसके उद्देश्य और मन्तव्य से देखते थे उसके बाह्य परिणामो से नही।

दूसरी ओर, गाधीजी राजनीति मे यथार्थवादी नही थे। वे स्वभाव से राजनीतिज्ञ नही थे, वे धार्मिक पुरुष थे। राजनीति मे तो उन्हे आवश्यकता वश आना पडा। उनके विचारो पर 'गिरी प्रवचन' तॉल्सतॉय, थोरो, रस्किन, रायचन्द भाई और नरसी मेहता के विचारो का अत्यधिक प्रभाव था। वे राजनीति का ...

1 Quoted by Varma, Dr V P Ibid, p-282

2 (God manifests Himself in order to protect the good ... destroy the wicked' Quoted by Varma, Dr V P Ibid p 28

की भांति नही वलिक मानवता एव नतिकता और अहिंसा के नियमो पर खेलते थे। वे विरोधी को दु ख पहुँचाने के स्थान पर स्वय कष्ट सहन मे विश्वास करते थे। विरोधी की विवशता से लाभ उठाना गाधीजी के लिए अनैतिकता ही नही हिंसा भी थी। गाधीजी विरोधी के लिए कटु शब्दो के प्रयोग को भी हिंसा समझते थे।

4 **तिलक कानून की मर्यादा मे काम करते थे गाधी अनतिक कानूनो को तोडने की शिक्षा देते थे।** राजनीतिक आदोलन को चलाने की पद्धतियो म भी तिलक और गाधी के विचारो म भेद थे। तिलक कानून की मर्यादा मे रह कर ही अनैतिक कानूनो की आलोचना करते थे तथा उनके विरुद्ध जन जागृति पैदा करते थे। वे कानून को तोडना या उस पर अतिक्रमण करना नही चाहते थे। वे स्वराज्य आदोलन को कानून की मर्यादा मे ही चलाते थे। उनका बहिष्कार और स्वदशी आ दोलन भी कानून की परिधि म था। व उदारवादियो के सवैधानिक तरीको का राजनीतिक भिक्षावृति कह कर उपहास अवश्य करते थे पर तु कानून को भग करने की अनुमति उ होंने कभी नहीं दी। दूसरी ओर, गाधी जी व्यक्ति का यह पवित्र और प्रश्नातीत (unimpeachable) अधिकार समझते थे कि जिस कानून को उसकी अ तरात्मा स्वीकार नही करती या जिसे वह अनैतिक मानती है उसे वह भग करे। गाधी जी ने स्वय 1930 मे डण्डी म नमक कानून (Salt Law) को भग किया। वास्तव म, गाधी जी के सत्याग्रह का सारा सिद्धात ही इसी मा यता पर आधारित था और दक्षिण अफ्रीका तथा भारत म उ होंने उसका प्रयोग भी किया।

5 **पश्चिमी शिक्षा, सभ्यता और सस्कृति के सम्बन्ध मे तिलक और गाधी के विचारो मे भिन्नता**—तिलक भारतीय प्राचीन सभ्यता और सस्कृति को पश्चिमी सभ्यता और सस्कृति की तुलना म श्रेष्ठ समझते थे। वे राष्ट्रीय पुनर्निमाण म स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा के महत्व को भी समझते थे तथा उसका प्रचार भी करते थे। पर तु फिर भी, वे इस बात को नही भूलते थे कि जन जागृति मे पश्चिमी शिक्षा और पश्चिमी उदार सस्थाओ तथा विचारो का भी योग रहा है। इतना ही नही तिलक को पश्चिमी प्रतिनिधि प्रजाता त्रिक प्रणालिया तथा सस्थाओ से अनुराग भी था। पर तु गाधीजी न केवल पश्चिमी शिक्षा के कटु आलोचक थे वलिक पश्चिमी सभ्यता, पश्चिमी सस्कृति और पश्चिम की नकल पर आधारित प्रतिनिधि प्रजाता त्रिक ससदा को भी अस्वीकार करते थे। "हि द स्वराज" म गाधी जी ने य त्रो (मशीनो) पर आधारित पश्चिमी सभ्यता की भर्त्सना की है। ब्रिटिश ससद की तुलना गाधीजी ने बाझ और वश्या स्त्री स की ह। गाधीजी राजनीतिक सत्ता से नैतिक नियमो के प्रभुत्व का अधिक महत्व देते थे। वे कहते थे कि एक अच्छा नतिक व्यक्ति एक बडी सभा (ससद) म लागो का अधिक अच्छा प्रतिनिधित्व कर सकता है।

तिलक गणितज्ञ थे, उ ह सख्या की शक्ति म विश्वास था। वे बहुमत का साथ लेकर चलने मे अधिक विश्वास करते थ। गाधीजी गणितज्ञ नही थे, वे सख्याओ म विश्वास नही करते थे। सख्याये उनके लिए दुर्बलता की निशानी थी। वे अन्तरात्मा

की आवाज से काय करते थे और जिस काय को वे न्यायोचित समभते थे उसे अकेले करने के लिए तैयार होते थे।

6 **विधान परिषदो मे प्रवेश के सम्बन्ध मे अन्तर**—यद्यपि तिलक गाधी के द्वारा सचालित असहयोग आन्दोलन को देखने के लिए जीवित नही रहे परन्तु विधान परिषदो मे प्रवेश के सम्बन्ध मे उनके विचार स्पष्ट थे। अप्रेल 1920 म तिलक द्वारा स्थापित काग्रेस लोकतान्त्रिक दल (Congress Democratic Party) का उद्देश्य ही 1919 के अधिनियम के अन्तगत स्थापित परिषदा के लिए चुनाव लडना था। तिलक सरकार से असहयोग करने के समथक म थे परन्तु उनका कहना था कि लोग इसका पूणतया पालन नही कर सकेंग। वे कहते थे कि यदि राष्ट्रवादी परिषदो मे नही गये तो दूसरे लाग (सरकार के पिच्छलग्गू, रूढिवादी साम्प्रदायिक या प्रतिक्रियावादी लोग) परिषदो मे जायेंगे और इस प्रकार उनका देश के विरुद्ध प्रयोग करेंगे। तिलक कहते थे कि "व्यक्तिगत रूप से मेरा विश्वास है कि परिषदा म जाना अच्छा है, और जब आवश्यक हो तो बाधा डाली जाय और उसी प्रकार जब आवश्यक हो तो सहयोग किया जाय।"[1] दूसरी ओर, गाधीजी परिषदा मे प्रवेश क विरोधी थे। वे सरकार से पूणतया असहयोग कर स्वराज्य चाहते थे। इसी उद्देश्य को लेकर उन्होने 1920–1922 मे असहयोग आन्दोलन को सचालित किया। परन्तु इस उद्देश्य म उन्ह उस समय सफलता नही मिली।

यद्यपि असहयोग आन्दोलन की विचारधारा का निरूपण गाधीजी न किया परन्तु इस आन्दोलन के तत्व गोखले, तिलक और अरविन्द घोष की विचारधारा मे विद्यमान थे। सन् 1905 म ही गोखले ने कहा था कि यदि बग भग रद्द न किया गया तो "जनता के हित मे हम नौकरशाही के साथ हर प्रकार के सहयोग को तिलाजलि देनी पडेगी।" सरकार से असहयोग की विचारधारा तिलक की स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा की विचारधारा मे सम्मिलित थी। अरविन्द घोष तो निष्क्रिय प्रतिरोध क समथक थे और बहिष्कार को नतिक दृष्टि से उच्च मानते थे।

7 **हिन्दू धर्म की रूढियो के सम्बन्ध मे भिन्नता**—तिलक और गाधी दोनो ही हिन्दू धम के उपासक थे दोनो उसकी श्रेष्ठता मे विश्वास करते थे, दोनो धर्म को राष्ट्रीयता का आवश्यक तत्व मानते थे, परन्तु जहा तिलक हिन्दू धर्म की रूढियो और सास्कृतिक मान्यताओ के साथ समझौता करने के लिए तयार थे वहा गाधीजी उसकी गलत रूढिया से समभौता करने के लिए तैयार नही थे। तिलक की विचारधारा म पुरातनप्रियता और अन्धविश्वास का भी स्थान था परन्तु गाधीजी की विचारधारा मे इनका स्थान नही था। गाधीजी धम की मान्यताओ को अपने अनुभवो के तराजू म तोलते थे, जो उसम खरी उतरती थी उन्ह ही

1 Tilak Quoted by Varma, Dr V P Ibid p 287

वे स्वीकार करते थे । तिलक हिन्दू धर्म की असामाजिक रूढियो मे सुधार चाहते थे परन्तु सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र मे विदेशी नौकरशाही के हस्तक्षेप को स्वीकार नही करते थे । वे कहते थे कि जिन लोगो की (अंग्रेजो की) सभ्यता और संस्कृति भिन्न है, उन्हे भारतीय समाज मे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही । गाधीजी सामाजिक सुधार को स्वीकार करते थे चाहे वह विदेशियो द्वारा ही क्यो न लाया जाय । तिलक एक राजनीतिज्ञ की भाति अल्पमतो के हितो की रक्षा करने के लिए तत्पर रहते थे परन्तु वे हिन्दू धर्म के हितो की रक्षा भी चाहते थे अल्पमत के हितो की रक्षा के लिए वे बहुमत (हिन्दुओ) के हितो का बलिदान करने के लिए तयार नही थे । दूसरी ओर, गाधीजी ने सारे राष्ट्रीय आन्दोलन मे अल्पमत वालो को रिझाने का कार्य किया चाहे ऐसा करते समय उन्हे बहुमत के हितो की बलि ही देनी पडती । परन्तु अन्त तक गाधीजी अल्पमत वालो को सन्तुष्ट न कर सके और 1947 मे देश का विभाजन हुआ ।

## 3 लाला लाजपत राय[1] *1865–1928*
## (Lala Lajpat Rai 1865–1928)

बाल, पाल और लाल भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक नेताओ मे प्रमुख नेता थे । बाल और पाल की भाति लालाजी उग्रवादी विचारधारा के थे । स्वराज, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा से उन्हे अटूट प्रेम था । राष्ट्रीयता तो उनमे कूट कूट कर भरी हुई थी । वे सवैधानिक आन्दोलन मे विश्वास करते थे परन्तु विदेशियो के बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध का भी सहारा लेते थे । वे अंग्रेजो की मित्रता चाहते थे परन्तु स्वराज के लिये वे आत्म विश्वास पर बल देते थे । वे कहा करते थे कि 'अपने अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति पर विश्वास न करो । तुम केवल स्वय अपने प्रयासो से ही ऊँचा उठ सकते हो । याद रखो राष्ट्रो का निर्माण स्वय अपने द्वारा ही होता है ।" अत लालाजी राष्ट्रीयता के विदेशी शत्रुओ को समाप्त करने के उद्देश्य से जन साधारण को सगठित करना चाहते थे ।

लालाजी उदारवादियो की भिक्षावृत्ति मे विश्वास नही करते थे । परन्तु वे हिसा और क्रान्ति पर बल भी नही देते थे । वे तो आत्म निर्भरता और आत्म बल पर बल देते थे । वे कहा करते थे कि "हम आवश्यकता हिंसा की नही दृढता की है, अस्थिरता की नही दृढ सकल्प की है, अवसरवादिता की नही सिद्धान्तवादिता की है ।"

लाला जी निश्चित ही साहसी, निर्भीक और निष्ठापूर्ण देशभक्त थे । जैसाकि

---

1 लाला लाजपतराय मुन्शी राधाकृष्ण के पुत्र थे । उनका जन्म पजाब के लुधियाना जिले की जगराँव तहसील के दुधिया गाव मे *28 जनवरी, 1865* का हुआ था । साइमन आयोग का विरोध करते हुए, लाहौर स्टेशन पर जलूस की अगुवाही करते हुए लाठिया के प्रहार के कारण 17 नवम्बर 1928 को उनकी अस्पताल मे मृत्यु हो गयी ।

वी० पी० वर्मा ने लिखा है कि "यह निर्विवाद है कि लाला लाजपत राय रणजीतसिंह के बाद पजाब के महानतम व्यक्ति थे। स्वाधीनता के सेनानियो की पक्ति म उनका उच्च स्थान ह।"[1] लालाजी ने स्वय अपने सम्बन्ध मे वन्दे मातरम् मे लिखा था कि "मेरा मजहब हकपरस्ती, मेरी मिल्लत कौम परस्ती, मेरी अदालत अन्त करण और मेरी जायदाद मेरी कलम" है। लालाजी को पजाब मे वही स्थान प्राप्त था जो महाराष्ट्र मे बाल गगाधर तिलक और बगाल मे विपिनचन्द्र पाल को था। लाला जी को ठीक ही शेरे-पजाब (Sher-i Punjab), पजाब केसरी, की सज्ञा दी जाती है।

भारतीय राष्ट्रीय नेताओ मे सम्भवत लालाजी ही ऐसे नेता थे जो सुयोग्य लेखक, ओजस्वी पत्रकार, महान वक्ता और राजनीतिक योद्धा थे। उन्होने अपनी आत्म कथा के अतिरिक्त अनेक महान नेताओ की जीवनिया लिखी, 1892–93 म उन्होने गैरीबाल्डी, 1895 म मेजिनी और 1898 म स्वामी दयानन्द की जीवनिया लिखी। उन्होने श्रीकृष्ण, अशोक, शिवाजी, गुरुदत्त की जीवनिया लिखी। लालाजी ने समाचार पत्रो क माध्यम से सैयद अहमदखा की रचनाओ—द कॉजज आफ द म्युटिनी (The Causes of the Mutiny), सोशल रिफॉर्मर (Social Reformer) अलीगढ इन्स्टीटयूट गजट (Aligarh Institute Gazette)—की कटु आलोचना की। लालाजी के इन आलोचनात्मक पत्रो की तुलना जूनियस के 'खुले पत्रो' से की गयी है।[2] लालाजी अनेक पत्रो का सम्पादन भी करते थे पजाबी (The Punjabi), वन्दे मातरम और पीपुल के माध्यम स उन्होने स्वराज और सामाजिक सुधारो का सन्देश फलाने की कोशिश की। लालाजी ने अनेक पुस्तको की रचना भी की। यग इण्डिया, इग्लइण्स डैट टु इण्डिया, द पोलीटिकल फ्यूचर ऑफ इण्डिया, द फाइट फार क्रम्ज (The Fight for Crumbs), एन काल टू यग इण्डिया, एन ओपिन लटर टू लायड जार्ज, सल्फ डिटरमिनेशन फार इण्डिया, द यूनाइटड स्टेटस आफ अमरिका, अनहेपी इण्डिया, तवारीखे हिन्द, द स्टोरी आफ माइ डिपोर्टेशन आदि प्रमुख है।

लालाजी महान शिक्षाशास्त्री, समाजशास्त्री और समाज सुधारक थ। वे पक्के आर्य समाजी थे। नि स्वार्थ, निडरता और समाज सेवा के भावो को उन्होने इसी सगठन से प्राप्त किये थे। लालाजी[1] जून 1886 को लाहौर म स्थापित किये गये डी ए वी कालिज के सस्थापको मे से एक थे। वे राष्ट्रीय शिक्षा के उपासक थ परन्तु साथ ही म वे पश्चिमी शिक्षा की उपलब्धियो से लाभ उठाना चाहते थे। वे भूत की भारतीय सस्कृति को वतमान की भारतीय सस्कृति अर्थात हिन्दूवाद या राष्ट्रवाद के साथ मिलाना चाहते थे। वे सामाजिक और आध्यात्मिक विकास के लिये धार्मिक विकास को आवश्यक समझते थे। वे कहा करते थे "धर्म को जीवन स निष्कासित

1 Varma, Dr V P Modern Indian Political Thought P 301
2 See Varma, Dr V P Ibid, P 302

करना बहुत ही खतरनाक है।"[1] इस तरह लालाजी परम्परा और आधुनिकता का मिश्रण चाहते थे।

लालाजी सामाजिक कार्यकर्ता भी थे। सन् 1897 में लालाजी ने पंजाब में अकाल पीड़ितों की सहायता की तथा 1899 में राजपूताना में अकाल के समय और 1905 में कांगड़ा में भूचाल के समय पीड़ितों की सहायता की।

लालाजी पहले भारतीय नेता थे जिन्होंने समाजवाद, बाल्शेविकवाद, पूँजीवाद, और श्रमिक संगठनों की समस्याओं पर विचार किया। लाला जी जहां एक ओर पूँजीपतियों और जमींदारों की शक्ति में वृद्धि के विरोधी थे वहां दूसरी ओर यूरोप में मजदूरों द्वारा अपनाये गए तरीके भी उन्हें पसंद नहीं थे। लाला जी इस बात को जानते थे कि साम्यवाद से छुटकारा पाने के लिए समाज के पिछड़े हुए वर्गों के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाना अनिवार्य है। वे कहा करते थे कि "संतुष्ट तथा स्वशासित भारत (साम्यवाद) के विरुद्ध रक्षा कवच का कार्य कर सकता है और असंतुष्ट तथा उत्पीडित भारत उसके लिए सर्वाधिक उर्वरा भूमि सिद्ध होगा।"[2]

लालाजी पक्के राष्ट्रवादी और राजनीतिक योद्धा थे।[3] उनकी राष्ट्रवादिता कोरी आदर्शात्मक, अस्पष्ट या अनिश्चित नहीं थी। राष्ट्रवाद पर उनके विचार उन्नीसवीं शताब्दी के इटली के राष्ट्रवादियों से मिलते जुलते थे। वे इस बात को स्वीकार करते थे कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने आदर्श निर्धारित करने का अधिकार है और इसमें किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप को अन्यायिक एवं अप्राकृतिक मानते थे। लोगों की सहमति को वे किसी भी सरकार का वैध आधार मानते थे। लालाजी का यह पूर्ण विश्वास था कि भारत संसदात्मक प्रणाली के योग्य है। उनका कहना था कि लार्ड लिटन और लार्ड कर्जन जैसे कट्टर निरकुंशतावादियों ने ही आतंकवादियों और क्रान्तिकारियों को जन्म दिया है। अपनी रचना अनहैपी इण्डिया में लालाजी ने अंग्रेजों के मैक्यावेलियन तरीकों का इन शब्दों में व्यक्त किया है 'अंग्रेजों ने भारतीय धन और भारतीय खून से भारत को जीता है।"[4] उनका कहना था कि "राष्ट्रवाद शहीदों के रक्त से फलता फूलता है।"[5] उनका विश्वास था कि भारतीयों की मुक्ति का एक ही विकल्प है 'स्वशासन' (Home rule)

सन् 1905 में लाला जी गोखले के साथ इंग्लैण्ड गये ताकि बंग भंग की योजना को कार्यान्वित करने से रोका जा सके। परन्तु ब्रिटिश जनता, समाज, संसद

1 Quoted by Varma, Dr V P Ibid p 309

2 Quoted by Varma Dr V P Ibid p 308

3 कांग्रेस की स्थापना के तीन वर्ष बाद अर्थात 1888 में लालाजी कांग्रेस में शामिल हो गए।

4 & 5 Quoted by Varma, Dr V P Ibid, p 306

व नेता और प्रेस भारतीय विवेक और समस्या के प्रति उदासीन थी। अत लालाजी को अत्यधिक निराशा हुई और ब्रिटिश न्यायप्रियता पर से उनका विश्वास उठ गया। सन् 1905 के काग्रेस के बनारस अधिवेशन मे लाला जी ने कहा 'अग्रेजी जनता भारत के राजनीतिक प्रश्नो मे कुछ रुचि नही रखती और न भारतीयो की चिन्ता करती है।" उन्होने अपने भाषण म यह भी कहा कि "भारत यदि स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहता है तो उसे अग्रेजो से भिक्षा वृत्ति की प्रवृत्ति का परित्याग करके अपने पैरो पर खडा होना पडेगा।"

सन् 1907 म सरदार अजीतसिंह के साथ मिल कर लालाजी न नई बस्तिया के विधयक (Colonization Bill) का विरोध किया। उन्हे सरदार अजीतसिंह के साथ 6 महीने के लिये माण्डले म देश निकाला दे दिया गया। परन्तु इस देश निकाले ने लालाजी को "राष्ट्रीय नेता" (national hero) बना दिया। 7 सितम्बर 1907 को उन्हे रिहा कर दिया गया। यद्यपि राष्ट्रवादियो का नया दल उन्हे सूरत अधिवेशन का अध्यक्ष बनाना चाहता था पर तु उदारवादियो के विरोध के कारण उन्होने अपना नाम वापस ले लिया। सूरत विच्छेद के बाद भी लाला जी ने उदारवादियो से सम्पर्क बनाये रखे। क्योकि सरकार उन्हे उग्रवादी मानती थी अत उन्हे प्रथम युद्ध के दौरान भारत वापस आने की आज्ञा नही दी गयी। विदेशो मे रह कर ही लाला जी राष्ट्रीयता का प्रचार करते रहे।

प्रथम महायुद्ध के बाद जब लालाजी 1919 म भारत लौटे तो उस समय पजाब मार्शल ला और जलियावाला बाग हत्याकाण्ड से कराह रहा था। सितम्बर 1920 म लालाजी काग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये। उनकी अध्यक्षता म ही काग्रेस ने असहयोग आन्दोलन के प्रस्ताव को पास किया। यद्यपि व इस आन्दोलन से सहमत नही थे पर तु एक बार प्रस्ताव पास होने के बाद उन्होने उसका हृदय से साथ दिया। परन्तु जब चौरी चौरा काण्ड के प्रश्न पर गाधी जी ने असहयोग आन्दोलन को वापस ले लिया तो "द पिपुल" के प्रथम अक मे अपने विचारो को व्यक्त करते हुए उन्होने लिखा कि 'राजनीति म अतिशय भावुकता और नाटकीय आचरण के लिए स्थान नही है राजनीति का सम्बन्ध प्रथमत और तत्वत राष्ट्र के जीवन के तथ्यो से है और उसमे देखना पडता है कि उन तथ्यो के आधार पर उसकी प्रगति की क्या सम्भावनाये है। पैगम्बर, स्वप्न दृष्टा तथा कल्पनावादी पृथ्वी के लावण्य होते है। उनके बिना ससार फीका पड जायगा। परन्तु किसी राष्ट्र की मुक्ति का आन्दोलन मनुष्य स्वभाव को शीघ्र बदलने के प्रयत्न पर आधारित नही किया जा सकता, विशेष कर जबकि वह शासन तलवार के बल पर थोपा गया हो और तलवार के बल पर ही कायम हो।"[1]

सन् 1925 म लालाजी केन्द्रीय व्यवस्थापिका म स्वराज दल के उप-नेता

1 Quoted by Varma Dr V P Ibid pp 303–304

नियुक्त किये गये । परन्तु एक तो उन्हें स्वराज दल की "बाहर चले जाओ" की नीति (walk out policy) से सन्तोष नहीं था और दूसरे वे मुसलमानों को अत्यधिक रियायतें देने के पक्ष में नहीं थे । लालाजी हिन्दू मुस्लिम एकता के समर्थक थे परन्तु उन्हें कांग्रेस की यह नीति पसन्द न थी कि मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए हिन्दुओं के हितों का बलिदान दिया जाय । वे धर्म को राजनीति से पृथक रखते थे । जब मोपलास (Moplas) ने हिन्दुओं पर अत्याचार किये तो उन्हें अत्यन्त खेद हुआ ।

कुछ समय तक लालाजी का सम्बन्ध हिन्दू महासभा से भी रहा । सन् 1925 के हिन्दू महासभा के कलकत्ता अधिवेशन की अध्यक्षता लालाजी ने की । उन्होंने हिन्दू महासभा के प्रोग्राम और नीतियों को भी निर्धारित किया ।

लाला जी साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली के भी विरोधी थे । वस्तुत वे पंजाब की राजनीति से इतने अधिक परिचित थे कि उन्होंने समस्या का समाधान करने के लिए पंजाब के विभाजन का भी सुझाव दिया जिसे 20 वर्ष बाद 1947 में ही राष्ट्रीय नेताओं ने स्वीकार किया ।

30 अक्टूबर 1928 को लाहौर में लाला जी साइमन आयोग के बहिष्कार करने के लिए जलूस का नेतृत्व कर रहे थे । उसी जलूस में अंग्रेज हत्यारों ने लालाजी पर लाठियों की बौछार की । सायं को भाषण देते हुए लालाजी ने एक विराट सभा में कहा कि मेरे शरीर पर लगा हुआ लाठी का प्रत्येक प्रहार ब्रिटिश साम्राज्य के कफन में एक कील की तरह सिद्ध होगा । लालाजी की यह भविष्यवाणी ठीक सिद्ध हुई और 1947 में देश स्वतन्त्र हुआ । इसी भाषण में लालाजी ने ब्रिटिश सरकार को यह चेतावनी भी दी थी कि कहीं ब्रिटिश अत्याचार, आतंकवाद और क्रान्ति तथा हिंसा को जन्म न दे दे । लालाजी की यह भविष्यवाणी भी ठीक सिद्ध हुई और भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव जैसे क्रान्तिकारियों ने जन्म लिया । लाठियों के पड़े घावों को लाला जी सहन न कर सके और 17 नवम्बर 1928 को उनकी मृत्यु हो गयी ।

## समीक्षा-प्रश्न

## (Review Questions)

1 "अपने प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस पूर्णत 'नरम दल' के नेताओं के प्रभाव में थी, जिनका विश्वास शुद्ध संवैधानिक साधनों में था और जिनके आन्दोलन का लक्ष्य यही था कि भारतीय शासन व्यवस्था में थोड़े बहुत सुधार कर दिये जायें ।' इस कथन के प्रकाश में उदारवादियों की नीति की समीक्षा कीजिए ।

2 भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के 'उदार काल' (1885–1907) से आप क्या समझते हैं ? इन वर्षों में कांग्रेस भारतीयों में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करने में कहाँ तक सफल हुई ?

3 "राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक वर्षों में उदारवादियों द्वारा अपनायी गयी संवैधानिक नीति राष्ट्रीय आन्दोलन के उद्देश्यों को प्राप्त करने में उचित थी।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? कारण लिखिए। उदारवादियों द्वारा अपनायी गयी संवैधानिक नीति क्या थी ?

4 "एक कमजोर दिल नेता"—गोपाल कृष्ण गोखले के सम्बन्ध में इस विचार से आप कहाँ तक सहमत हैं ? भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी देन का मूल्यांकन कीजिए।

5 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रारम्भिक नीति और कार्यक्रम का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। क्या तत्कालीन परिस्थितियों में यह नीति उचित थी ?

6 भारतीय राजनीति में उग्रवाद के उदय के कारणों का विवेचन कीजिए।

7 उन कारणों की विवेचना कीजिए जिनके फलस्वरूप भारत में उग्रवाद का विकास हुआ। लाला लाजपतराय की भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को देन का मूल्यांकन कीजिए।

8 'राजद्रोह के सबसे बड़े खतरनाक अग्रदूतों में से एक और भारतीय असन्तोष के वास्तविक जनक' (शिरोल) तिलक के सम्बन्ध में दिये गये इस विचार से क्या आप सहमत हैं ? भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में तिलक के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

9 उदारवादी और उग्रवादी कौन थे ? इनकी विचारधाराओं और साधनों में क्या अन्तर था ? क्या उग्रवादी असंवैधानिक साधनों का प्रयोग करते थे ?

10 भारतीय राजनीति में 'नरम' और 'गरम' दलों की नीति और कार्य पद्धति की तुलना कीजिए और इन दोनों दलों के 1905 से 1916 ई० तक के पारस्परिक सम्बन्धों के इतिहास का वर्णन कीजिए।

11 गोखले और तिलक की राजनीतिक विचारधाराओं एवं कार्य-प्रणालियों की तुलनात्मक विवेचना कीजिए। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में उनकी क्या देन है ?

12 भारतीय राजनीति में उग्र स्कूल के उद्भव के क्या कारण थे ? इसने कांग्रेस आन्दोलन के स्वरूप को किस प्रकार परिवर्तित किया ?

13 'बंगाल विभाजन कर्जन के शासन काल की सबसे बड़ी भूल थी।" इस कथन के सन्दर्भ में भारत में उग्रवाद के विकास पर प्रकाश डालिये।

14 भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन के संगठन, सिद्धान्तों तथा प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए तथा उसकी असफलता का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

15 बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों की उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिए जिनमें उग्रवादी एवं आतंकवादी आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ।

16 बीसवीं शताब्दी की दूसरी दशाब्दी में भारतीय राजनीति में 'युयुत्सु राष्ट्रवाद' (militant nationalism) के विकास के क्या कारण थे ? उस

अपने उद्देश्य मे कहा तक सफलता मिली ? राष्ट्रीय आदोलन मे उसका क्या योगदान है ?

17 तिलक "अपने जीवन काल मे पूर्ण स्वराज की स्थापना चाहते थे। यदि वे असफल हुए तो यह उनका दोष नही था। निश्चित ही उन्होने इसे अनेक वर्ष निकट ला दिया।" (गाधी) इस कथन के सदर्भ मे तिलक की उपलब्धियो का उल्लेख कीजिए।

18 सक्षिप्त टिप्पणिया लिखिए

(अ) बग भग, 1905, (ब) सूरत विभाजन, 1907 (स) राजनीतिक भिक्षावृत्ति (द) गदर पार्टी।

---

अध्याय 3

# 1909 से 1919 तक भारतीय राजनीति

## (Indian Politics from 1909 to 1919)

**1909–1919 दशाब्दी का महत्व**—जैसा कि गुरुमुख निहालसिंह ने लिखा है कि "ब्रिटिश राज्याधीन भारत के इतिहास मे सन 1909 से 1919 तक का काल भारत के इतिहास मे सबसे छोटा काल है परन्तु इसका महत्व इसके वर्षो की सख्या के आधार पर नही आका जा सकता।"[1] यह कथन सत्य से भरपूर है। एक के बाद एक महत्त्वपूर्ण घटना का घटित होना ही इस दशाब्दी की प्रमुख विशेषता है। यह दशाब्दी 1909 मे मार्ले–मिन्टो सुधारो से शुरू होकर 1919 के माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारो पर समाप्त होती है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन, सवैधानिक विकास, प्रशासन, राष्ट्रीय जागृति आदि का कोई ऐसा क्षेत्र नही जो इस दशाब्दी मे घटित होने वाली घटनाओ से प्रभावित न हुआ हो। इन महत्वपूर्ण घटनाओ को निम्न शीर्षको के अन्तर्गत व्यक्त किया जा सकता है—

**1 राष्ट्रीय आन्दोलन और सवैधानिक विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण घटनायें**—सर्वप्रथम, सन् 1909 के मार्ले-मिन्टो सुधारो मे जहा परिषदो की रचना और शक्तियो[2] म विस्तार करके प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तो को आरम्भ करने की कोशिश की गयी वहा पृथक निर्वाचन प्रणाली को अपना कर प्रजातन्त्र विरोधी सिद्धान्त को

---

1 Singh G N Landmarks in Indian Constitutional and National Development (1959) Atma Ram & Sons Delhi-6, p 221

2 मार्ले मिण्टो सुधारो म विधान परिषदो के सदस्यो की सख्या को बढा दिया गया था। विधान परिषदो म अब तीन प्रकार के सदस्यो की व्यवस्था थी– सरकारी, निर्वाचित और गैर-सरकारी मनोनीत। परिषदो को वित्तीय विवरण पर विचार करने, उन पर प्रस्ताव प्रस्तुत करने, सार्वजनिक महत्व के विषयो पर प्रस्ताव प्रस्तुत करने, विचार करने, पूरक प्रश्न पूछने, वोट लेने आदि के अधिकार दे दिये गये थे।

भी भारतीय राजनीति मे शामिल कर दिया गया था। इस तरह इन सुधारो द्वारा साम्राज्यीय हितो की रक्षा और भारतीय राष्ट्रीय हितो का खण्डित करने का प्रयास किया गया। दूसरे, जहा मार्ले मिण्टो सुधारो द्वारा उदारवादियो और 'भारत के विचारशील व्यक्तियो"[1] का समथन प्राप्त करने की कोशिश की गयी वहा 1910 के इण्डियन प्रेस एक्ट[2] (The Indian Press Act, 1910), 1911 के राजद्रोह पूण मीटिंग वजन एक्ट (The Prevention of Sedition Meetings Act, 1911) और 1913 के फौजदारी कानून (सशोधन) (Criminal Law (Amendment) Act, 1913) द्वारा उग्रवादियो और क्रान्तिकारियो के कठोर दमन का प्रयास भी किया गया।[3] तीसरे, दमनकारी और निदयी कानूनो के बाद भी क्रान्तिकारियो की गतिविधियो मे कोई कमी न आई, सडको पर लूट मार, दिन मे डकैतिया और हत्याये सामान्य घटनायें थी। जनवरी 24, 1910 को डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट शमसुल आलम की हत्या की गई, 1910 मे हावडा (Howrah) और ढाका षडयन्त्र अभियोग चलाये गये, 1912 मे वायसराय लाड हार्डिंग की सवारी पर बम फैंक कर उसकी हत्या का प्रयास किया गया।[4] 1915 का वष क्रान्तिकारियो की गतिविधियो के कारण कलुषित वष[5] के नाम से प्रसिद्ध है। इसी वष, 1857 के विद्रोह के बाद एक बार फिर भारतीय क्रान्तिकारियो ने जमन अभिकर्ताओ (agents) के साथ मिल कर व्यापक व्युत्थान (General uprising) का निष्फल प्रयास किया।[6] चौथे, युवा पीढी के प्रभाव के कारण मुस्लिम लीग ने 1913 मे, लखनऊ अधिवेशन मे, स्वराज्य प्राप्ति

1 Buchan Lord Minto, P 392 Quoted by Singh G N Ibid P 240

2 For details See Singh G N Ibid, pp 241–243 specially P 243

3 1909–14 तक भारतीय राजनीति म शिथिलता आ गयी, उदारवादी नेता गोखले और मेहता किसी गतिमान और उत्तेजित नीति को अपनाने के लिय तैयार नही थे, उग्रवादी नेता श्री तिलक माण्डले जेल मे 6 वष की सजा भुगत रह थे, राष्ट्रीय दल (उग्रवादी दल इसी नाम मे जाना जाता था) लाला लाजपत राय और विपिनचन्द्र पाल की शिथिलता के कारण कमजोर पड गया था और अरविन्द घोष राजनीति से स्वय अलग हो गये थे।

4 For details See Singh G N Ibid pp 245–248

5 See Singh, G N Ibid, p 248

6 इस व्यापक व्युत्थान के प्रमुख नेता थे पिल्लाई (Pillai) जिन्होंने बर्लिन मे इण्डियन नेशनल पार्टी का निर्माण किया था, श्री हरदयाल जिन्होंने अमरीका मे गदर पार्टी का गठन किया था। अन्य क्रान्तिकारी नेता थे बरकतुल्ला, तारकनाथ दास, के० सी० चक्रवर्ती, हेरम्बलाल गुप्त, रास विहारी, पिंगले आदि।

को अपना उद्देश्य बना लिया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि मुस्लिम लीग का उद्देश्य "ब्रिटिश ताज की छत्रच्छाया में, संवैधानिक साधनों द्वारा, भारत में निज स्वशासन प्राप्त करना है। इस तरह मुस्लिम लीग ने, कांग्रेस की भांति राजनीतिक समस्याओं पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाना शुरू कर दिया। पांचवें, 1907 के सूरत विभाजन के 9 वर्ष बाद, गोखले और मेहता की मृत्यु के बाद, कांग्रेस के उदारवादी और उग्रवादी दोनों पक्षों का 1916 में पुनर्मिलन हुआ। छठे, 1916 की कांग्रेस लीग योजना (लखनऊ समझौता) के अनुसार भारत के दो महत्वपूर्ण राजनीतिक दल और दो प्रमुख जातियाँ एक दूसरे के निकट आयीं। सातवें, 1916–17 में श्री तिलक ने 'मराठा' और "केसरी' के माध्यम से और श्रीमती एनी बेसेन्ट ने "कॉमन वील' और 'न्यू इण्डिया' के माध्यम से होम रूल आन्दोलन का उग्र प्रचार करना शुरू कर दिया। इससे भारतीयों में न केवल अपार जन जागृति का संचार हुआ अपितु उन्हें संगठित राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति का अनुभव भी होने लगा। राष्ट्रीय आन्दोलन की दृष्टि से इस दशाब्दी की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि सभी राष्ट्रीय शक्तियों ने संयुक्त रूप से भारत के लिये स्वशासन की मांग की। राष्ट्रीय आन्दोलन की दृष्टि से इस दशाब्दी की सबसे दुर्भाग्यपूर्ण घटना यह है कि लखनऊ समझौते में कांग्रेस ने अपने प्रजातान्त्रिक राष्ट्रीय और धर्म निरपेक्ष सिद्धान्तों का बलिदान दे दिया और मुसलमानों के लिये पृथक निर्वाचन प्रणाली गुरुभार और साम्प्रदायिक वीटो के सिद्धान्तों को स्वीकार करके भारत के विभाजन की नींव रख दी। जैसाकि आर० सी० मजूमदार ने लिखा है कि "1916 के कांग्रेस अधिवेशन में उस पाकिस्तान की नींव को रखा जिसका पूर्ण स्वरूप तीस वर्ष बाद दृष्टिगोचर हुआ।"[1] आठवें, सबके विरोध होने पर भी ब्रिटिश सरकार ने, युद्ध के बाद, भारतीय राष्ट्रीयता, सामान्य नागरिक स्वतन्त्रताओं और सुधारों के (1919 के) विरोध को कुचलने के लिये 1919 में दो रौलट विधेयकों को प्रस्तुत किया। इनमें से एक ही कानून बन पाया। नवें, 13 अप्रैल, 1919 को, हिन्दू नव वर्ष के दिन, अमृतसर के जलियांवाला बाग में जनरल ओ डायर ने "निर्दोष, निरपराध निशस्त्र" स्त्री पुरुषों और बच्चों पर गोलियों की बौछार करके निर्दय हत्यायें कीं जो हिटलर के गैस चेम्बर्स में भस्म किये गये यहूदियों की हत्याओं को भी फीका कर देता है।

संवैधानिक विकास की दृष्टि से भी यह दशाब्दी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 20 अगस्त 1917 को माण्टेग्यू ने भारत के प्रति ब्रिटिश नीति के उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया। इस घोषणा में कहा गया था कि ब्रिटिश नीति का लक्ष्य भारत में शनैः शनैः उत्तरदायी शासन की स्थापना है। यह घोषणा अत्यन्त क्रान्तिकारी थी। इसने भारतीयों के स्वराज्य के अधिकार को स्वीकार कर लिया और भारत

---

1 Majumdar R C History of the Freedom Movement in India, Vol II, p 353

को उस सड़क पर लाकर खड़ा कर दिया जो प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता की ओर ले जाती थी। इसने आने वाले 30 वर्षों के लिए कांग्रेस को आन्दोलन के आधार को भी प्रदान कर दिया।

2 स्वतन्त्र भावनाओं के विकास की दृष्टि से भी यह दशाब्दी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रथम महायुद्ध के शुरू होने से राष्ट्रवादी, प्रजातान्त्रिक और स्वतन्त्र भावनाओं को बल मिला। युद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों की इन घोषणाओं ने कि 'युद्ध निरंकुश शासनों के विरुद्ध लड़ा जा रहा है", विश्व में प्रजातन्त्र को सुरक्षित रखने और राष्ट्रों को आत्म निर्णय का सिद्धांत प्रदान करने के लिये इसे लड़ा जा रहा है।" भारतीयों की स्वशासन की भावनाओं को बल दिया। होम रूल लीग के नेताओं ने स्वशासन, स्वदेशी और राष्ट्रीय भाषा का जोरदार प्रचार किया। इनके प्रचार की विशेषता यह थी कि ये स्वशासन की माग राज्य भक्ति या युद्ध प्रयत्नों में सहायता के उपलक्ष में नहीं बल्कि अपने अधिकार के रूप में करते थे। दूसरे, जो भारतीय युद्ध में भरती होकर विदेशों में गये थे और जिन्होंने ब्रिटिश सैनिकों और अन्य मित्र राष्ट्रों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर युद्ध जीता था उनमें स्वतन्त्रता, आत्म विश्वास, आत्म शक्ति और आत्म त्याग की भावनायें घर कर गयी थी। जब ये सैनिक युद्ध के बाद स्वदेश लौटे तो उन्होंने भी स्वशासन की माग की।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों पर लादी गयी अपमानजनक शर्तों और फिजी में शर्तबन्द श्रम (Indentured Labour) की दुर्दशा ने भारतीयों को एहसास करा दिया कि यदि वे स्वतन्त्र होते या उनकी स्वयं की सरकार होती तो भारतीयों के साथ ऐसा व्यवहार न होता। इससे भी स्वशासन की माग को बल मिला।

3 प्रशासनिक दृष्टि से भी इस दशाब्दी में अत्यन्त महत्वपूर्ण घटनायें घटित हुई। प्रथम, श्री हाबहाउस की अध्यक्षता में भारतीय विकेन्द्रीकरण आयोग की रिपोर्ट फरवरी 1909 में प्रस्तुत की गयी। इसमें जहां भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों के सम्बन्धों का विश्लेषण किया गया था वहाँ प्रान्तीय सरकारों और स्थानीय सरकारों (संस्थाओं) के साथ सम्बन्धों का भी विश्लेषण किया गया था। इसने प्रशासनिक तरीकों को सरल बनाने और अधिकारियों के नियन्त्रण में ढिलाई लाने के अनेक सुझाव दिये।[1] दूसरे 1911 में हाईकोर्ट अधिनियम द्वारा हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की अधिकतम संख्या 20 निश्चित कर दी गई, सम्राट को नवीन हाई कोर्ट्स के निर्माण का अधिकार दे दिया गया और गवर्नर जनरल को अस्थायी अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार दिया गया। तीसरे, भारतीय इतिहास में पहली बार ब्रिटिश सम्राट जार्ज पन्चम, साम्राज्ञी मेरी और एक प्रमुख राज

1 See Singh, G N, Ibid, pp 222 —227

मत्री के साथ, भारत आये। सम्राट और साम्राज्ञी के सम्मान मे 12 दिसम्बर 1911 को दिल्ली म एक शानदार दरबार किया गया। उसने एक ओर साम्राज्य सम्बन्धो को सुदृढ करने और दूसरी ओर भारतीयो की सद्भावना और भक्ति को प्राप्त करने का प्रयास किया। चौथे, भारत की राजधानी कलकत्ते से बदल कर दिल्ली कर दी गयी और उसे साम्राज्यी नगर बनाने का निश्चय किया गया। सारे भारत पर सुचारु रूप से नियन्त्रण रखने के लिये यह आवश्यक था। पाचवें बग भग को रद्द कर दिया गया और बगाल को एक गवर्नर प्रान्त बना दिया गया। 21 मार्च 1912 को लार्ड कारमाइकेल बगाल के प्रथम गवर्नर बने। बिहार, छोटा नागपुर और उडीसा को कार्यपरिषद् युक्त गवर्नर प्रान्त बना दिया गया। और असम को चीफ कमिश्नर प्रान्त बना दिया गया।[1] इन सब परिवर्तनों से प्रान्तीय स्वायत्तता की मृग मरीचिका दिखाई दी थी परन्तु भारत सचिव लार्ड क्रीव के हाउस ऑफ लार्ड्स म 24 जून 1912 को दिये गये भाषण ने इन आशाओ पर पानी फेर दिया। लार्ड क्रीव ने कहा था कि उन्हें "इस दिशा म भारत का कोई भविष्य दिखाई नही देता।"[2] छठे 21 अगस्त 1912 को लार्ड इस्लिंग्टन (Lord Islington) की अध्यक्षता म एक राजकीय आयोग (Royal Commission) की नियुक्ति की गयी जिसे साम्राज्यीय और प्रान्तीय सेवाओ की वर्तमान स्थिति उनकी नियुक्ति पदोन्नति तथा की शर्तों आदि के सम्बन्ध म अपने सुझाव देने के लिये कहा गया। जब जनवरी 1917 म इसकी रिपोर्ट प्रकाशित की गयी (यद्यपि इसे 1915 म ही प्रस्तुत कर दिया गया था) तो भारतीयो ने इसकी निन्दा की। यह न केवल भारतीय आकाक्षाओ के विपरीत थी बल्कि जातीय सर्वोच्चता पर भी आधारित थी। सातवें, सन् 1915 म भारत सरकार अधिनियम 1915 द्वारा, कानूनो को सहितानिद्ध (Codify) करने के लिये एक कासालिडेटिंग एक्ट (Consolidating Act) पास किया गया। आठवें, 1916 के भारत सरकार अधिनियम ने देशी रियासतो और नेपाल के नागरिको को भी सैनिक और प्रसैनिक पदो के लिये योग्य बना दिया।

4 भारतीयो के सम्मान की दृष्टि से भी यह दशाब्दी महत्वपूर्ण है। यद्यपि इस दशाब्दी मे भारत को अन्य स्वशासित उपनिवेशो की भाति स्वशासन प्रदान नही किया गया परन्तु फिर भी साम्राज्यीय सम्मेलनो, साम्राज्यीय युद्ध परिषदो और शान्ति सम्मेलनो आदि मे पहली बार भारत को बराबरी का दर्जा दिया गया। भारत ने अन्य ब्रिटिश अधिराज्यो के समान वर्साय के शान्ति सम्मेलन मे भाग लिया और भारत राष्ट्र सघ (League of Nations) का स्वतन्त्र सदस्य बना। इस

---

1 ये सब परिवर्तन 1912 मे न्यायपालिका आदेशो और उद्घोषणाओ द्वारा किये गये थे जिनमे से कुछ परिवर्तनो को 1912 के भारत अधिनियम म शामिल कर लिया गया था।

2 See Singh G N Ibid, P 229

तरह, जैसाकि गुरमुख निहालसिंह ने लिखा है कि "विदेशी मामलों में भारत को एक अधिराज्य का दर्जा दे दिया गया।"[1] सन् 1917 में ही भारत के प्रतिनिधि के रूप में भारत मन्त्री को, साम्राज्यीय युद्ध केबिनेट और साम्राज्यीय युद्ध सम्मेलन में, निमन्त्रित किया गया। सन् 1918 में साम्राज्यीय युद्ध केबिनेट में भारत के प्रतिनिधि के रूप में भारत सरकार ने सत्येन्द्र सिनहा को नियुक्त किया।

5 सुधारों की दृष्टि से भी यह दशाब्दी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 1909 के मार्ले मिन्टो सुधारों के कार्यान्वित होते ही नये सुधारों की मांग उठ खड़ी हुई। नये सुधारों की मांग गोखले ने 1915 में अपनी राजनीतिक वसीयत (political testament) द्वारा[2] की जिसमें प्रान्तीय सरकारों को केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से मुक्त रखने का सुझाव दिया गया था। परन्तु इस वसीयत में किसी प्रकार की उत्तरदायी सरकार की कल्पना नहीं की गयी थी। सन् 1916 में वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने आते ही सुधारों पर अपने प्रस्तावों को एक सरकारी पत्र (despatch) द्वारा भारत सचिव को भेजा। इन प्रस्तावों से प्रोत्साहित होकर साम्राज्यीय विधान परिषद के सभी 19 भारतीय निर्वाचित सदस्यों ने सुधारों पर एक आवेदन पत्र तैयार किया जो इतिहास में "19 के आवेदन पत्र" (ज्ञापन) (The Memorandum of the Nineteen) के नाम से प्रसिद्ध है। इस ज्ञापन में भी 'उत्तरदायी सरकार" के सुझाव का अभाव था। इसी समय भारत परिषद के एक सदस्य श्री लियोनल कर्टिस[3] (Lionel Curtis)के सहयोगी श्री विलियम ड्यूक ने (जो बंगाल के भूतपूर्व उप-गवर्नर और अब भारत परिषद् के सदस्य थे) सुधारों से सम्बन्धित एक योजना तैयार की जो ड्यूक आवेदन पत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें द्वैध प्रणाली का सुझाव दिया गया था। 1916 में ही कांग्रेस लीग योजना में सुधारों की योजना

1 Singh, G N Ibid, P 239

2 गोखले ने यह योजना बम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंग्टन के सुझाव पर तैयार की थी और उनकी मृत्यु से कुछ दिन पूर्व ही तैयार हुई थी। परन्तु इसमें उत्तरदायी सरकार के सुझाव का अभाव होने से यह योजना अपर्याप्त थी। इस योजना को अगस्त 1917 में प्रकाशित किया गया था। यह उसी दिन से पुरानी पड़ गयी थी जिस दिन इसे प्रकाशित किया गया था।

3 श्री कर्टिस "इंग्लिश राउण्ड टेबल ग्रुप' के नेता थे। इनका विश्वास था कि भारत में प्रतिनिधि शासन तुरन्त स्थापित हो सकता है और उत्तरदायी शासन का बाद में धीरे धीरे विकास हो सकता है। इस ग्रुप के विवादों में ही पहली बार द्वैध योजना का उदभव हुआ यद्यपि ड्यूक आवेदन पत्र का जिक्र किसी भी सरकारी दस्तावेज में नहीं किया गया था फिर भी यही द्वैध योजना ही 1919 के सुधारों का आधार थी।

स्वीकार की गयी थी परन्तु इसे सरकार ने स्वीकार नहीं किया यद्यपि सरकार ने माना कि स्वायत्तशासित भाग को स्वीकार कर लिया।

इस पृष्ठभूमि में भारत सचिव भारत में आए। माण्टेग्यू नवम्बर 10, 1917 को भारत आये और लगभग 6 महीनों तक भारतीय नेताओं, राजनीतिक दलों, प्रतिनिधि मण्डलों[1] और प्रशासनिक अधिकारियों के साथ बातचीत करने के बाद 8 जुलाई 1918 को एक रिपोर्ट प्रकाशित की गयी जो माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है। यह रिपोर्ट भी निराशाजनक थी, केन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना तो दूर प्रान्तों में भी पूर्ण उत्तरदायी सरकार का सुझाव नहीं दिया गया था, प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्व का प्रावधान के विषयाधिकारों के आधार पर किया गया था। श्री तिलक ने इसे 'सूर्यहीन उषा'[2] की संज्ञा दी और जितेन्द्रलाल बनर्जी ने इसे, 'धोखापूर्ण, अन्यायपूर्ण, निराशाजनक और बहुत ही निराशाजनक और अपूर्ण'[3] की संज्ञा दी। एनी बेसेण्ट ने इसकी आलोचना यह कह कर की कि "इंग्लैण्ड के लिए देना मान्य नहीं थी और भारत के लिए लेना मान्य नहीं थी। यह योजना तो देना इंग्लैण्ड के लिए अशोभनीय था और भारतीयों के लिए इसे स्वीकार करना अपमानजनक था।'[4] सन् 1919 में इसी माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड की रिपोर्ट के आधार पर 1919 का भारत सरकार अधिनियम बनाया गया जिसमें त्रुटियाँ होते हुए भी उत्तरदायी सरकार की ओर (भले ही आंशिक रूप में) पहली शुरुआत थी। भारतीय देशी रियासतों के नरेशों को भी भारतीय प्रशासन में सम्बन्धित मामलों में शामिल करने का प्रयास था।

6 आर्थिक कठिनाइयाँ और प्राकृतिक प्रकोप (असंतोष) की दृष्टि से भी यह दशाब्दी महत्वपूर्ण है। प्रथम, युद्ध ऋण और भरती के तरीके "अनधिकृत आपत्तिजनक और अत्याचार पूर्ण" होने से भारतीयों में असंतोष का कारण बन हुए थे। दूसरे अनिवार्य वस्तुओं की कमी होने के कारण वस्तुओं की कीमतें आश्चर्यजनक

---

1 कुल मिलाकर 110 प्रतिनिधि मण्डल श्री माण्टेग्यू से मिले और उन्होंने 330 लोगों से भेंट की। देखिये पवते, टी० वी० बाल गंगाधर तिलक (शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी) अनुवादक भगवानदास गुप्त पृ० 411

2 तिलक पवते, टी० वी० पृ० उ० पृ० 427

3 बनर्जी जितेन्द्रलाल पवते, पृ० उ० पृ० 428

4 उदारवादियों ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में माण्टफोर्ड रिपोर्ट का स्वागत किया और उन्होंने कांग्रेस से पृथक होकर 1918 में भारतीय राष्ट्रीय उदार दल (All India National Liberal Federation) की स्थापना की परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति तक कांग्रेस में उग्रवादियों का प्रभाव रहा। गांधीजी के सत्याग्रह के तरीके उदारवादी नहीं उग्रवादी थे।

तरीके से बढ़ रही थी, पूँजीपति तथा व्यापारी स्थिति का अनुचित लाभ उठा रहे थे, 1917 म वर्षा की कमी के कारण अकाल की स्थिति थी, प्लेग, एन्फ्लूऐंजा, हैजा और मलेरिया की बीमारियों से साधारण जन मानस अत्यन्त दुखी थे। लाखों लोग (एक अनुमान के अनुसार लगभग एक करोड) मौत के शिकार हो गये, चम्पारन, अहमदाबाद और खेड़ा आदि में किसानों और मजदूरों ने सत्याग्रह द्वारा अपने असन्तोष को व्यक्त किया। सर्वत्र असन्तोष विद्यमान था।

7 कांग्रेस उद्देश्यों और साधनों मे परिवर्तन[1] की दृष्टि से भी यह दशाब्दी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अभी तक कांग्रेस का उद्देश्य "ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज को प्राप्त करना' था परन्तु अब उसका उद्देश्य 'सम्भव हो तो ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर और आवश्यक हो तो उसके बाहर स्वराज प्राप्त करना" बन गया। इसका अर्थ यह था कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक भी हो सकता था। दूसरा परिवर्तन कांग्रेस के साधनों म किया गया। अभी तक स्वराज्य प्राप्ति को केवल संवैधानिक साधनों द्वारा प्राप्त करना था परन्तु अब इसकी प्राप्ति सभी शान्तिमय और उचित उपायों द्वारा की जा सकती थी। इसका अभिप्राय यह था कि कांग्रेस अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये "अहिंसक सीधी कार्यवाही' के साधनों (असहयोग, सविनय अवज्ञा, हड़ताल, धरणा, हिजरत, उपवास, आदि साधनों) का प्रयोग कर सकती थी।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि 1909–1919 की दशाब्दी महत्वपूर्ण घटनाओं से भरपूर थी।

## उदारवादियों और उग्रवादियों का पुनर्मिलन
### (Reunion of Moderates and Extremists)

इस काल की एक अन्य महत्वपूर्ण घटना कांग्रेस के दोनों पक्षों के पुनर्मिलन की थी। कांग्रेस जो 1907 मे सूरत म, विभक्त हो गयी थी वह 1916 मे लखनऊ म पुनः एक हो गयी। दोनों पक्षों के मिलने से राष्ट्रीय आन्दोलन म पुनः जान आ गयी।

माण्डले जेल से स्वतन्त्र होने के कुछ समय बाद ही तिलक ने एक वक्तव्य म (27 अगस्त 1914 को) अनेक बातों का स्पष्टीकरण किया और उन्होंने अपनी राज भक्ति का भी परिचय दिया। उन्होंने इस बात को निरर्थक और बेहूदा बताया कि किसी समय उनकी सरकार से शत्रुता थी और वे ब्रिटिश शासन को भारत से उखाड़ना चाहते थे। इतना ही नहीं, उन्होंने देश मे हो रही हिंसक घटनाओं की निन्दा

1 वास्तविक रूप से ये परिवर्तन कांग्रेस के 1920 के नागपुर अधिवेशन मे किये गये थे यद्यपि इसकी भूमिका 1918–1920 की घटनाओं ने तैयार कर दी थी।

दी थी। क्योंकि युद्ध शुरू हो चुका था इसलिये उन्होंने कहा कि "इस संकट के समय में प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है कि वह यथासम्भव सहयोग और सहायता प्रदान करे।"[2]

श्री तिलक के उपर्युक्त वक्तव्य को श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने कांग्रेस के दोनों पक्षों को मिलाने का सुअवसर समझा। इस उद्देश्य को लेकर उन्होंने श्री गोखले और सर फिरोजशाह मेहता से भेंट की। परन्तु ये दोनों उग्रवादियों के कांग्रेस में प्रवेश के विरोधी थे। इनका विश्वास था कि उग्रवादियों के कांग्रेस में प्रवेश से उस पर श्री तिलक का आधिपत्य हो जायगा और वे नौकरशाही से भिड़ने का बीड़ा उठायेंगे। उग्रवादियों को कांग्रेस में न मिलने देने के लिये सर फिरोजशाह मेहता ने कांग्रेस के आगामी अधिवेशन (1915 का अधिवेशन) के लिये बम्बई को चुना और इसकी अध्यक्षता के लिये सत्येन्द्र प्रसाद सिन्हा का नाम रखा गया। श्री मेहता का विश्वास था कि बम्बई में 'अपने व्यक्तित्व और प्रभाव के कारण' वे उग्रवादियों को कांग्रेस में प्रवेश नहीं लेने देंगे। परन्तु, जैसाकि विधाता को मंजूर था, 19 फरवरी 1915 को गोखले जी की मृत्यु हो गयी और कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन से कुछ सप्ताह पूर्व नवम्बर 1915 में सर फिरोजशाह मेहता चल बसे। अब उदारवादियों में कोई ऐसा नेता नहीं था जो उसका नेतृत्व सम्भाल सकता, वाचा वृद्ध हो गये थे, सत्येन्द्र सिन्हा, यद्यपि वे बम्बई कांग्रेस के अध्यक्ष थे, की रुचि कांग्रेस में समाप्त हो गयी थी, श्री मालवीय उदारवादियों का नेतृत्व सम्भालने की स्थिति में नहीं थे, गांधीजी ने अभी तक भारत में अपनी राजनीतिक गतिविधियों पर स्पष्ट दृष्टिकोण नहीं अपनाया था। स्पष्टतया कांग्रेस और देश का नेतृत्व लोकमान्य तिलक के हाथों में था। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के प्रयासों द्वारा बम्बई कांग्रेस ने कांग्रेस संविधान के अनुच्छेद 20 में संशोधन कर दिया। इस संशोधन में कहा गया था कि "उन सब संस्थाओं द्वारा बुलायी गयी सार्वजनिक सभायें कांग्रेस के लिये प्रतिनिधि चुन सकेंगी जिनकी स्थापना 1915 से दो वर्ष पूर्व हो चुकी हो और जिनका उद्देश्य वैध उपायों से ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य प्राप्त करना हो।' इस संशोधन के पास हो जाने से उग्रवादियों का कांग्रेस में मिलना सम्भव हो गया। 1 जनवरी 1916 में श्री तिलक ने आशिक सुले द्वार [3] द्वारा कांग्रेस में प्रवेश की इच्छा को व्यक्त कर दिया। परिणामस्वरूप उग्रवादियों ने 7 वर्ष बाद लखनऊ में पुनः कांग्रेस अधिवेशन में भाग

---

1 See Athalye Lokamanya Tilak, P 216 Quoted by Singh G N Ibid P 277

2 Quoted by Singh G N Ibid, P 277

3 *See Gupta D C Indian National Movement & Constitutional Development*, P 72

लिया। ज्योंही श्री तिलक अपने साथियों के साथ कांग्रेस पण्डाल में आये उनका हार्दिक स्वागत और सम्मान किया गया।

## कांग्रेस लीग योजना या लखनऊ समझौता, 1916
## (Congress-League Scheme or Lucknow Pact, 1916)

लखनऊ समझौते के कारण या समझौता क्यों?

सन् 1906 में भारत में मुस्लिम लीग की स्थापना ब्रिटिश स्वीकृति से हुई थी और उन्हीं से प्रोत्साहन पाकर मुस्लिम नेता उस समय 'पृथक निर्वाचन प्रणाली' की मांग कर रहे थे (और इसमें उन्हें सफलता भी मिली क्योंकि 1909 के सुधारों में इस प्रणाली को लागू कर लिया गया था) जिस समय कांग्रेस बंग-भंग का विरोध करने में जीवन मरण की बाजी लगा रही थी। परन्तु ब्रिटिश-मुस्लिम घनिष्ठता 1910[1] तक ही रहा और 1911 में, जब सरकार ने मुसलमानों की उपेक्षा करके बंग भंग को रद्द कर दिया, यह बदलता हुआ नजर आया। मुसलमानों को महसूस हुआ कि ब्रिटिश शासक अपने हितों के लिये मुसलमानों के हितों की उपेक्षा कर सकते हैं। उन्होंने अनुभव किया कि 'कांग्रेस के साथ मित्रता करने में ही उनके अधिकार सुरक्षित हैं।"[2] वायसराय लार्ड हार्डिंग की कांग्रेस के प्रति मेलजोल की नीति ने भी उन्हें स्पष्ट कर दिया कि उनकी गति भी कांग्रेस के साथ सहयोग करने की ही है।

दूसरी ओर, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी कुछ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो रही थीं जिनसे भारतीय मुसलमान अंग्रेजों से असन्तुष्ट थे। सन् 1911, 1912 और 1913 के त्रिपाली और बाल्कन युद्धों में और प्रथम महायुद्ध में अंग्रेजों ने टर्की के सुल्तान के प्रति, जिसे मुसलमान खलीफा (आध्यात्मिक मुखिया) समझते थे, विरोधी नीति का अनुसरण किया जिससे भी भारतीय मुसलमान रुष्ट थे। प्रथम महायुद्ध में टर्की के खलीफा ने जर्मनी का साथ दिया था। जब शेखउल हिन्द महमूदुल हसन मौलाना हुसैन अहमद मदनी, मौलवी अजीज गुल, हसरत मोहानी और मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली ने टर्की के प्रति हमदर्दी दिखाई तो सरकार ने उन्हें

---

1 1910 में ही अलीगढ़ कालिज के अंग्रेज प्रिंसिपल और नवाब वकार उल मुल्क (Waqar-ul mulk), जो लीग के संस्थापकों में से थे, मतभेद उत्पन्न हो गये। नवाब साहब का मुसलमानों में बड़ा सम्मान था, अंग्रेजों के प्रभाव से मुक्ति पाने के लिए आगा खां ने 1910 में ही लीग के मुख्य कार्यालय को अलीगढ़ से बदल कर लखनऊ कर दिया। See Gupta, D C Ibid p 73

2 See Bahadur, Dr Lal The Muslim League—Its H[illegible] Activities and Achievements

नजरबन्द कर दिया । सरकार के इस कार्य से भारतीय मुसलमानों का अंग्रेजों से क्रुद्ध होना स्वाभाविक था ।

तीसरे बदरुद्दीन तयबजी और रेहमत उल्ला जैसे राष्ट्रवादी मुसलमान पहले से ही मुसलमानों को कांग्रेस का साथ देने के लिये परामर्श दे रहे थे । मौलाना आजाद जैसे युवक मुस्लिम नेता अपने पत्र 'अल हिलाल' (Al Hilal) द्वारा हिन्दू मुसलमानों के सामान्य हितों राष्ट्रवाद और स्वतन्त्रता के विचारों का प्रचार कर रहे थे । मुहम्मद अली भी अपने पत्रों द्वारा (उर्दू में हमदर्द और अंग्रेजी में 'द कॉमरेड)[1] राष्ट्रवाद की विचारधारा का विकास कर रहे थे । जिन्ना ने, जो इस समय पक्के राष्ट्रवादी थे, पृथक निर्वाचन प्रणाली को "अहितकर जहर' Obnoxious virus)[1] की संज्ञा दी थी जिसे भारतीय राजनीति में "बुरे इरादे" से आरम्भ किया गया था ।

चौथे, मुस्लिम लीग में युवा पीढ़ी का प्रभाव बढ़ता जा रहा था । इस पीढ़ी की माग पर ही लीग के नवीन संविधान का निर्माण करने के लिये कलकत्ते में दिसम्बर 1912 में लीग परिषद की बैठक बुलाई गयी । इस बैठक में जिन्ना[2], सर इब्राहीम रहीम अतुल्ला, मौलाना मुहम्मद अली, मजहरुल हक, हसन इमाम, मुहम्मद शफी, वजीर हसन जैसे प्रगतिशील मुस्लिम नेताओं ने भाग लिया । इस बैठक में लीग के नये संविधान के मसविदे को तैयार किया गया जिसे लीग ने लखनऊ में 22 मार्च 1913 के अधिवेशन में स्वीकार कर लिया । इस संविधान में, अन्य बातों के सहित, लीग के निम्न उद्देश्य निर्धारित किये गये —

(i) लोगों में ब्रिटिश क्राउन के प्रति भक्ति को बनाये रखना तथा उसकी वृद्धि करना,
(ii) भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों और हितों की सुरक्षा करना तथा उनका विकास करना,
(iii) मुसलमानों और भारत की अन्य जातियों में पारस्परिक मित्रता और संगठन को (एकता को) बढ़ावा देना ।
(iv) ब्रिटिश क्राउन की छत्रच्छाया में, संवैधानिक साधनों द्वारा, भारत के लिये स्वशासन को प्राप्त करना ।

मुस्लिम लीग के उपर्युक्त उद्देश्यों और नीति का कांग्रेस ने, दिसम्बर 1913 के कराची अधिवेशन में, एक विशेष प्रस्ताव द्वारा स्वागत किया ।

---

1 Quoted by Chaudhri Binayendra Mohan Muslim Politics in India p 20 Also see Gupta D C Ibid p 73

2 मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक नीति के कारण जिन्ना उससे अभी तक पृथक थे । दिसम्बर 1912 में पहली बार जिन्ना ने लीग के अधिवेशन में भाग लिया ।

पाचवें, राष्ट्रीय एकता और सामान्य कार्यक्रम को निश्चित करने में जिन्ना के प्रयत्न भी बहुत लाभकारी सिद्ध हुए। जिन्ना के प्रयासों से ही 1915 में लीग का अधिवेशन उसी स्थान पर (बम्बई में) हुआ जहाँ कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। लीग अधिवेशन में मदन मोहन मालवीय, गांधी और सरोजनी नायडू जैसे कांग्रेसी नेताओं ने भाग लिया। जब कांग्रेसी नेता मुस्लिम अधिवेशन में पहुँचे तो उनका बड़ा सम्मान किया गया। कांग्रेस अध्यक्ष एस० पी० सिन्हा और लीग के अध्यक्ष मजहरुल हक (Mazharul Haq) ने आपस में विचार विमर्श किया। दोनों संगठनों ने निश्चय किया कि वे पारस्परिक सहयोग द्वारा देश में संवैधानिक सुधारों की योजना तैयार करेंगे और सरकार से अनुरोध करेंगे कि उसे स्वीकार कर कार्यान्वित करे। जिन्ना के प्रस्ताव पर ही, सुधारों की सामान्य योजना तैयार करने के लिये, कांग्रेस और लीग के सदस्यों की एक संयुक्त समिति का गठन किया गया। इस समिति ने पहले कलकत्ता में और फिर लखनऊ में सुधारों की योजना पर विचार विमर्श किया। विचार विमर्श के फलस्वरूप सुधारों की जो योजना तैयार की गयी वह इतिहास में कांग्रेस लीग योजना के नाम से प्रसिद्ध है। सन् 1916 में लखनऊ में कांग्रेस और लीग ने अपने पृथक पृथक अधिवेशन में इस योजना को स्वीकार कर लिया। क्योंकि यह योजना लखनऊ में स्वीकार की गयी थी इसलिये इसे लखनऊ समझौता भी कहते हैं। सन् 1917 में कांग्रेस और लीग ने इसका अनुसमर्थन भी कर दिया था।[1]

**कांग्रेस लीग योजना की विशेषतायें**—कांग्रेस-लीग योजना के दो भाग थे। एक भाग साम्प्रदायिक समस्या से सम्बन्धित था और दूसरा भाग संवैधानिक सुधारों से।

**(अ) साम्प्रदायिक समस्या से सम्बन्धित विशेषतायें**—कांग्रेस लीग योजना में साम्प्रदायिक समस्या से सम्बन्धित मुख्य विशेषतायें निम्न थीं—

(i) केन्द्रीय विधान सभा में कुल सदस्यों की संख्या 150 हो, इसमें 120 गैर सरकारी निर्वाचित सदस्य हों जिनमें एक तिहाई सदस्य मुसलमान होने चाहिये।

(ii) मुसलमानों के लिये पृथक निर्वाचन पद्धति और गुरुभार की प्रणाली को स्वीकार कर लिया गया परन्तु उन्हें साधारण निर्वाचन क्षेत्रों में मतदान के अधिकार को छोड़ना पड़ा। जिन प्रान्तों में मुसलमानों का बहुमत था वहां उन्हें जन संख्या से कम परन्तु जिन प्रान्तों में वे अल्प संख्या में थे वहां उन्हें जन संख्या से अधिक स्थान दिये गये। उदाहरणतया बंगाल में मुसलमानों की जन संख्या 52.7 प्रतिशत थी

---

1 गांधीजी का कांग्रेस लीग योजना में कोई हाथ नहीं था परन्तु वे इसके समर्थकों में से थे और उन्होंने इसके पक्ष में हजारों हस्ताक्षर करवा के उसका गुजरात में बहुत अधिक प्रचार कर दिया। See पवत, टी० बी० पू० उ० पृ० 409

(xi) सेना के पदा सहित, सभी प्रकार के पदों पर भारतीयों को लिया जाना चाहिये।

(xii) भारत परिषद (India Council) को समाप्त कर दिया जाय।

(xiii) भारत सचिव के वेतन ब्रिटिश राज्य से दिये जायें और उसकी स्थिति औपनिवेशिक सचिव की भांति होनी चाहिये। भारत सरकार, भारत सचिव के नियन्त्रण से यथा सम्भव मुक्त हो।

(xiv) भारत सचिव की सहायता के लिए दो अधिकारी हों जिनमें एक सदस्य भारतीय हो।

(xv) कार्यपालिका अधिकारियों को न्याय सम्बन्धी अधिकार नहीं होने चाहिये।

(xvi) सर्वोच्च न्यायालय उच्च न्यायालय के अधीन हो।

**कांग्रेस लीग योजना का मूल्यांकन**— भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में कांग्रेस लीग योजना कांग्रेस की भयंकर भूल थी। यह ऐसी भयंकर भूल थी जिसने, जैसाकि आर० सी० मजूमदार ने लिखा है, 1916 के कांग्रेस अधिवेशन में उस पाकिस्तान की नींव रख दी जिसका पूर्ण स्वरूप तीस वर्ष बाद दृष्टिगोचर हुआ।"[1] उस समय के कांग्रेसी नेता इस बात का अनुभव ही न कर सके कि यह कांग्रेस के मौलिक सिद्धान्तों के विपरीत है। जैसा कि गैरट ने भी लिखा है कि "परिणामों का किंचित मात्र भी विचार न करते हुए कांग्रेस ने कार्य किया है।"[2]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कांग्रेस लीग योजना ने भारत की दो बड़ी जातियों और दो बड़ी राजनीतिक संस्थाओं में समझौता या एकता उत्पन्न कर दी परन्तु इस एकता को प्राप्त करने के लिए कांग्रेस को बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। "पृथक निर्वाचन पद्धति गुरुभार और साम्प्रदायिक निषेधाधिकार" का स्वीकार करके कांग्रेस ने साम्प्रदायिक मांगों का घी की आहुति दे दी। यहीं से कांग्रेस की मुस्लिम लीग के प्रति तुष्टिकरण की नीति का अध्याय शुरू होता है। एक बार निर्वाचन की साम्प्रदायिक प्रणाली को स्वीकार करके कांग्रेस उसे कभी अस्वीकार न कर सकी, यहां तक कि 1932 के निन्दनीय मैकडानल्ड पंचाट में भी वह साम्प्रदायिकता के विरुद्ध आवाज न उठा सकी, इसमें गांधीजी ने केवल दलित वर्गों को पृथक करने के विरुद्ध ही आमरण अनशन किया था। मुस्लिम लीग की मांगें दिन प्रतिदिन बढ़ती गई जिन्हें कांग्रेस कभी भी तुष्ट न कर सकी।

---

1 'The Congress action in 1916 well and truly laid the foundations of Pakistan thirty years later' Majumdar R C History of the Freedom Movement in India vol II, p 353

2 See Garrat An Indian Commentary p 179

इस योजना द्वारा जिस राष्ट्रीय एकता की अपेक्षा की गयी थी वह अल्प कालीन रही और खिलाफत आन्दोलन के समाप्त होते ही राष्ट्रीय एकता खण्डित हो गयी। साम्प्रदायिक वर्गों और साम्प्रदायिक हठ धर्मिता ने फिर सिर निकालना शुरू कर दिया। कांग्रेस-लीग समझौता ऐसी कड़वी गोली थी जिसने कांग्रेसियों के जीवन भर के सिद्धान्तों—राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र और धर्मनिरपेक्षता को निगल लिया। यह अन्ततः राष्ट्रीय जीवन के लिए घातक सिद्ध हुई। ब्रिटिश सरकार को, जो भारत की प्रमुख जातियों को विभक्त करके अपने साम्राज्यीय हितों को सिद्ध करना चाहती थी—अपनी "फूट डालो और शासन करो" की नीति के लिए आधार मिल गया और उन्होंने योजना के साम्प्रदायिक भाग को 1919 के सुधारों में लागू कर दिया परन्तु सुधारों के भाग को ठुकरा दिया।

कांग्रेसी नेताओं के पक्ष में केवल यही तर्क दिया जा सकता है कि उन्होंने इस योजना को केवल इस आशय से स्वीकार किया था कि यह रियायतों की अन्तिम किश्त सिद्ध होगी। परन्तु दुर्भाग्य से यह रियायतों की प्रथम किश्त सिद्ध हुई। इस समझौते ने यह भी सिद्ध कर दिया कि हिन्दू मुसलमानों में कोई अन्तर्निहित या *अलंघनीय सीमायें नहीं जिन्हें पार नहीं किया जा सकता।* उचित परिस्थितियों के उपलब्ध होने पर दोनों में सामान्य हितों पर मतैक्यता को प्राप्त किया जा सकता था अर्थात दोनों जातियों में समझौता हो सकता था। लखनऊ समझौते का समर्थन करते हुए श्री तिलक ने कहा था कि 'लखनऊ में दो अत्यधिक महत्त्व की बातें हुई हैं एक तो यह कि स्वराज की एक निश्चित मांग सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया और दूसरी यह कि हिन्दू और मुसलमानों ने संयुक्त स्वर से इसकी मांग की। हमने एकता के इस अस्त्र को गढ़ा है और यही आज सबसे महत्वपूर्ण घटना है।"[1]

## होम रूल आन्दोलन
## (Home Rule Movement)

**अर्थ तथा उद्देश्य**—साधारण भाषा में होम रूल शब्द के अर्थ हैं स्वशासन अर्थात् हम अपने घर के स्वामी हों, हम पर स्वयं का शासन हो और हमारे शासक अपने कार्यों के लिए हमारे प्रति (विधान सभाओं के माध्यम से) उत्तरदायी हों। दूसरे शब्दों में, होम रूल नौकरशाही शासन की कल्पना नहीं करता वह ऐसी शासन प्रणाली की कल्पना करता है जो जनता के प्रति उत्तरदायी हो। श्री जोसेफ बप्टिस्ट[2] के लिए यह नारा था 'स्वयं के शासन का सरलतापूर्वक बोध कराने'[3]

---

1 देखिए—पर्वत, टी० वी० पू० उ० पृ० 385–386

2 श्री जोसेफ बप्टिस्ट पूना होम रूल लीग के अध्यक्ष थे।

3 वही, पृ० 397

का ढग था । श्री तिलक के लिये यह "सुधार करने के लिये राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने"[1] का माध्यम था । श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के लिए यह "सोये हुए भारतीयों को जगाने" और स्वशासित उपनिवेशो की भाति भारत को बराबरी का दर्जा दिलाने की टमटम[2] थी ।

होम रूल आन्दोलन पूर्णतया सवधानिक आन्दोलन था । यह हिंसक आन्दोलन नही था, यह ब्रिटिश शासन का अन्त नही चाहता था, यह भारत को ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक नही करना चाहता था । इसने तो भारत के लिए "पूर्ण स्वतन्त्रता की माग भी नही की थी जैसाकि बाद मे 1929 मे काग्रेस ने की थी । इसका उद्देश्य तो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तगत, सवधानिक साधनो द्वारा, अन्य ब्रिटिश उपनिवेशो की भाति, भारत को स्वशासन दिलाना चाहता था । कॉमन वील (Common Weal)[3] के प्रथम अग मे ही ऐनी बेसेन्ट ने इसके उद्देश्यो को इस प्रकार व्यक्त किया था "राजनीतिक सुधारो से हमारा अभिप्राय ग्राम पचायतो से लेकर जिला बोर्डों और नगरपालिकाओ, प्रान्तीय विधान सभाओ और राष्ट्रीय ससद तक पूर्ण स्वशासन स्थापित करना । इन सब सस्थाओ को वैसा ही स्वशासन प्राप्त होना चाहिये जसाकि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य उपनिवेशो को प्राप्त है चाहे वे वहा किसी नाम से जानी जाती हो । यदि ब्रिटिश ससद मे अन्य स्वशासित उपनिवेशो के प्रतिनिधि लिये जायें तो भारत को भी वहा पर प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होना चाहिये ।"[4]

दूसरे, होम रूल आन्दोलन युद्ध काल मे अग्रेजो को परेशान करना नही चाहता था । वस्तुत वह युद्ध प्रयासो मे साम्राज्य की अधिकतम सहायता करने के लिए लोगो को प्रेरित करता था । परन्तु उसका यह भी विश्वास था कि स्वशासित भारत युद्ध प्रयासो मे और अधिक सहायता कर सकता है ।

तीसरे, होम रूल आन्दोलन, सोये हुए भारतीयो को जगाना चाहता था ताकि युद्ध काल मे लोगो के "दबाव डालने के प्रयासो मे शिथिलता न आये ।"[5] यह भारतीयो का "अवसर पर चोट मारना"[6] सिखाना चाहता था । यह लोगो को

---

1 पवते, टी० वी० पू० उ० पृ० 369

2 'I am an Indian Tom tom, waking up all the sleepers so that they may wake and work for the motherland ' Annie Besant Quoted in Levetts V A History of National Movement p 107

3 ऐनी बेसेन्ट द्वारा प्रकाशित साप्ताहिक पत्र । इसका प्रथम अक 2 जनवरी, 1914 को निकाला गया था ।

4 Besant, Annie India Bound or Free pp 162–163

5 पवते, टी० वी० द्वारा उदधृत, पू० उ० पृ० 369 ।

6 पवत, टी० वी० द्वारा उदधृत, पू० उ० पृ० 368 ।

इस योजना द्वारा जिस राष्ट्रीय एकता की अपेक्षा की गयी थी वह अल्प कालीन रही और खिलाफत आन्दोलन के समाप्त होते ही राष्ट्रीय एकता खण्डित हो गयी। साम्प्रदायिक वर्गों और साम्प्रदायिक हठ धर्मिता ने फिर सिर निकालना शुरू कर दिया। कांग्रेस-लीग समझौता ऐसी कड़वी गोली थी जिसने कांग्रेसियों के जीवन भर के सिद्धान्तों—राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र और धर्मनिरपेक्षता को निगल लिया। यह अन्तत राष्ट्रीय जीवन के लिए घातक सिद्ध हुई। ब्रिटिश सरकार को, जो भारत की प्रमुख जातियों को विभक्त करके अपने साम्राज्यीय हितों को सिद्ध करना चाहती थी—अपनी "फूट डालो और शासन करो" की नीति के लिए आधार मिल गया और उन्होंने योजना के साम्प्रदायिक भाग को 1919 के सुधारों में लागू कर दिया परन्तु सुधारों के भाग को ठुकरा दिया।

कांग्रेसी नेताओं के पक्ष में केवल यही तर्क दिया जा सकता है कि उन्होंने इस योजना को केवल इस आशय से स्वीकार किया था कि यह रियायतों की अन्तिम किश्त सिद्ध होगी। परन्तु दुर्भाग्य से यह रियायतों की प्रथम किश्त सिद्ध हुई। इस समझौते ने यह भी सिद्ध कर दिया कि हिन्दू मुसलमानों में कोई अन्तर्निहित या अलंघनीय सीमायें नहीं जिन्हें पार नहीं किया जा सकता। उचित परिस्थितियों के उपलब्ध होने पर दोनों में सामान्य हितों पर मतैक्यता को प्राप्त किया जा सकता था अर्थात् दोनों जातियों में समझौता हो सकता था। लखनऊ समझौते का समर्थन करते हुए श्री तिलक ने कहा था कि "लखनऊ में दो अत्यधिक महत्त्व की बातें हुई हैं एक तो यह कि स्वराज की एक निश्चित माँग सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गयी और दूसरी यह कि हिन्दू और मुसलमानों ने संयुक्त स्वर से इसकी माँग की। हमने एकता के इस अस्त्र को गढ़ा है और यही आज सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है।"[1]

## होम रूल आन्दोलन
### (Home Rule Movement)

**अर्थ तथा उद्देश्य**—साधारण भाषा में होम रूल शब्द के अर्थ हैं स्वशासन अर्थात् हम अपने घर के स्वामी हों, हम पर स्वयं का शासन हो और हमारे शासक अपने कार्यों के लिये हमारे प्रति (विधान सभाओं के माध्यम से) उत्तरदायी हों। दूसरे शब्दों में, होम रूल नौकरशाही शासन की कल्पना नहीं करता, यह ऐसी शासन प्रणाली की कल्पना करता है जो जनता के प्रति उत्तरदायी हो। श्री जार्ज अरुण्डेल[2] के लिये यह लोगों को "स्वयं के शासन का सरलतापूर्वक बोध कराने"[3]

---

1 दत्ता—पन्त, टी० वी० पू० उ० पृ० 385–386

2 श्री जार्ज अरुण्डेल पूना होम रूल लीग के अध्यक्ष थे।

3 वही, पृ० 397

का ढग था । श्री तिलक के लिये यह "सुधार करने के लिये राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने"[1] का माध्यम था । श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के लिए यह "सोये हुए भारतीयो को जगाने" और स्वशासित उपनिवेशो की भाति भारत को बराबरी का दर्जा दिलाने की टमटम[2] थी ।

होम रूल आन्दोलन पूर्णतया सवधानिक आन्दोलन था। यह हिंसक आन्दोलन नही था, यह ब्रिटिश शासन का अन्त नही चाहता था, यह भारत को ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक नही करना चाहता था । इसने तो भारत के लिए "पूर्ण स्वतन्त्रता की माग भी नही की थी जैसाकि बाद मे 1929 मे काग्रेस ने की थी । इसका उद्देश्य तो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तगत, सवैधानिक साधनो द्वारा, अन्य ब्रिटिश उपनिवेशा की भाति, भारत को स्वशासन दिलाना चाहता था । कॉमन वील (Common Weal)[3] के प्रथम अग मे ही ऐनी बेसेन्ट ने इसके उद्देश्यो को इस प्रकार व्यक्त किया था "राजनीतिक सुधारा से हमारा अभिप्राय ग्राम पचायता से लेकर जिला बोर्डों और नगरपालिकाओ, प्रान्तीय विधान सभाओ और राष्ट्रीय ससद तक पूर्ण स्वशासन स्थापित करना । इन सब सस्थाओ को वैसा ही स्वशासन प्राप्त होना चाहिये जसाकि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य उपनिवेशो को प्राप्त है चाहे वे वहा किसी नाम से जानी जाती हो । यदि ब्रिटिश ससद मे अन्य स्वशासित उपनिवेशा के प्रतिनिधि लिये जायें तो भारत को भी वहा पर प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होना चाहिये ।"[4]

दूसरे, होम रूल आन्दोलन युद्ध काल म अग्रेजो को परेशान करना नही चाहता था । वस्तुत वह युद्ध प्रयासो मे साम्राज्य की अधिकतम सहायता करने के लिए लोगा को प्रेरित करता था । परन्तु उसका यह भी विश्वास था कि स्वशासित भारत युद्ध प्रयासो मे और अधिक सहायता कर सकता है ।

तीसरे, होम रूल आन्दोलन, सोये हुए भारतीयो को जगाना चाहता था ताकि युद्ध काल म लोगा के "दबाव डालने के प्रयासो मे शिथिलता न आय ।"[5] यह भारतीयो को "अवसर पर चोट मारना"[6] सिखाना चाहता था । यह लोगो को

---

1 पवते, टी० वी० पू० उ० पृ० 369

2 "I am an Indian Tom tom waking up all the sleepers so that they may wake and work for the motherland ' Annie Besant Quoted in Levetts V A History of National Movement, p 107

3 ऐनी बेसेन्ट द्वारा प्रकाशित साप्ताहिक पत्र । इसका प्रथम अक 2 जनवरी, 1914 को निकाला गया था ।

4 Besant Annie India Bound or Free pp 162–163

5 पवते, टी० वी० द्वारा उद्धृत, पू० उ० पृ० 369 ।

6 पवते, टी० वी० द्वारा उदधृत, पू० उ० पृ० 368 ।

शिक्षित कर जनता को संगठित करना चाहता था। इसी उद्देश्य से "स्वदेशी, स्वशासन और राष्ट्रीय शिक्षा के नारा को बुलन्द किया गया। श्री तिलक कहते थे कि 'आप जो चाहते हैं उसे सरकार से लेने के लिए, उसे विवश कर देना चाहिये।"[1]

चौथे, यह उदारवादियों और उग्रवादियों में समझौता कराकर संयुक्त मोर्चा बनाना चाहता था ताकि उदारवादियों की निष्क्रियता के कारण उग्रवादी (जो अब राष्ट्रवादी दल कहलाता था) क्रान्तिकारियों के प्रभाव में न आ सकें। डा० जकारिया लिखते हैं कि ऐनी बेसेन्ट की योजना "उग्रवादी राष्ट्रीय व्यक्तियों को क्रान्तिकारियों से समझौता करने से रोकने की थी। वे भारतीयों को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन दिला कर सन्तुष्ट रखना चाहती थी और वे कांग्रेस में उग्रवादियों को उदारवादियों के साथ दुबारा लाना चाहती थी।'[2]

**इण्डियन होम रूल लीग की स्थापना**—ऐतिहासिक दृष्टि से "होम रूल लीग' का सम्बन्ध आयरिश नेता रेडमाण्ड से है जिसने आयरलण्ड की स्वतन्त्रता के लिए इसकी स्थापना की थी। क्योंकि ऐनी बेसेन्ट[3] इस लीग के नेताओं से प्रभावित थी इसलिये उन्हीं के सुझाव पर उन्होंने भारत में होम रूल के कार्यक्रम को तैयार किया। इस उद्देश्य को लेकर ऐनी बेसेन्ट 1914 में कांग्रेस में शामिल हुई। उन्होंने अपनी सारी योजना[4] को उदारवादी नेता सर फिरोजशाह मेहता, गोखले और अन्य कांग्रेसियों के समक्ष रखा। परन्तु वे उनके कार्यक्रम को सम्भवतः इसलिये नहीं अपनाना चाहते थे कि इस प्रकार का संगठन कांग्रेस को प्रतिच्छादित करने के साथ निर्बल भी कर देता।[5] यह अनुभव करते हुए कि उदारवादियों में राष्ट्र में प्रेरणा फूकने का साहस नहीं, ऐनी बसेन्ट ने कॉमन वील (Common Weal) और न्यू इण्डिया (New India) द्वारा होम रूल के विचारों का प्रसार करना शुरू कर

---

1 पर्वत, टी० वी० द्वारा उद्धृत, पू० उ० पृ० 395

2 Zacharia Renascent India, p 165

3 श्रीमती एनी बसेन्ट आयरलण्ड की रहने वाली थी। उन्हें भारतीय संस्कृति से इतना लगाव था कि उन्होंने भारत को ही अपनी मातृ भूमि बना लिया था। वे भारत में 1893 से रह रही थी। भारत में वे थियोसाफिकल सोसाइटी की अध्यक्षा थी और भारतीयों के धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक तथा राजनीतिक उत्थान में पर्याप्त दिलचस्पी रखती थी।

4 इस योजना में भारतीयों में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने के लिए धार्मिक सामाजिक और शिक्षा का कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया था।

5 See Banerjea, S N A Nation in Making p 237 Also see Gupta D C Indian National Movement & Constitutional Development p 78

दिया। इन पत्रों में ही श्रीमती बेसेन्ट ने भारत के लिए "स्वशासन", "बराबरी का दर्जा", आदि की माग की। साथ ही उन्होंने भारतीयों का मित्र बन[1] सर्वप्रथम आन्दोलन शुरू करने की प्रेरणा दी। 1915 की बम्बई कांग्रेस में श्रीमती बेसेन्ट ने एक बार फिर कांग्रेस द्वारा होम रूल आन्दोलन को स्वीकार कराने का प्रयास किया परन्तु यहा भी उनके प्रस्ताव को अनियमित कह कर अस्वीकार कर दिया गया।

श्री बाल गंगाधर तिलक माण्डले जेल में 6 वर्ष व्यतीत करने के बाद 1914 में पूना आ गए थे। आते ही उन्होंने अनुभव किया कि राष्ट्रवादी दल शिथिल पड रहा है, कांग्रेस, उदारवादियों के प्रभाव के कारण निर्जीव संस्था बन गयी है और राष्ट्रीय जीवन में प्राण फूंकने के लिए किसी गतिशील और ओजस्वी संस्था की आवश्यकता है। इस उद्देश्य से उन्होंने राष्ट्रवादी दल (The Nationalist Party) को पुनर्गठित करना शुरू कर दिया और कांग्रेस के दोनों पक्षों को मिलाने का प्रयास किया। परन्तु गोखले और मेहता के जीवित रहते यह सम्भव न हुआ। यह 1916 में ही, उनकी मृत्यु के बाद, सम्भव हो सका।

श्री तिलक ऐनी बेसेन्ट के होम रूल शब्द के प्रति आकर्षित हो चुके थे। वे कांग्रेस को भी एक "प्रचार संस्था में बदलना चाहते थे'[2], उसे "अधिक प्रगतिशील, अधिक लड़ाकू और सक्रिय"[3] संस्था बनाना चाहते थे। इन उद्देश्यों को लेकर ही उन्होंने 28 अप्रैल 1916 को बेलगांव (पूना) में इण्डियन होम रूल की स्थापना कर दी। यहीं पर उन्होंने होम रूल आन्दोलन पर अपना प्रथम भाषण दिया। 'केसरी' और 'मराठा' द्वारा श्री तिलक ने होम रूल आन्दोलन का जोरदार प्रचार शुरू कर दिया। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने, जो पहले ही होम रूल का प्रचार कर रही थी, 1 सितम्बर 1916 को सारे भारत में इण्डियन होम रूल लीग की शाखायें खोलने की अपील निकाल दी। 3 सितम्बर 1916 को इण्डियन होम रूल लीग की मद्रास शाखा का (गोखले हाल में) औपचारिक उद्‌घाटन कर दिया गया। सारे देश में होम रूल की लहर दौड पडी और इसके लिए सारे देश में सभायें की गयी और भाषण दिये गये। अनेक उदारवादी कांग्रेसी भी इसमें शामिल हो गये। इस आन्दोलन के प्रमुख नेता थे, श्री तिलक, श्रीमती ऐनी बेसेन्ट, जी० एस० अरुण्डेल, बी० पी० वाडिया, चिन्तामणि, एन० सी० केलकर, गोविन्दराघव अय्यर, नारायण राव वैद्य, जिनराजदास, पी० के० तेलंग, जमनादास, जोसेफ बप्टिस्टा, डी० वी०

---

1 ऐनी बेसेन्ट के अथक प्रयासों से ही 1915 की बम्बई कांग्रेस में एक प्रस्ताव पास किया गया जिसके फलस्वरूप राष्ट्रवादी दल (उग्रवादियों के लिए) के लिये कांग्रेस में शामिल होना सम्भव हुआ। मुस्लिम लीग और कांग्रेस में, लखनऊ में, सहयोग की भावना पैदा करने में भी ऐनी बेसेन्ट का काफी हाथ था।

2&3 देखिये पवते, टी० वी०, पू० उ० पृ० 365–367

गोखले, आर० पी० करंदीकर, के० पी० खाडिलकर आदि। कांग्रेस-लीग योजना के बाद जब लीग ने भी राष्ट्रीय उद्देश्यो को अपना लिया तो मुहम्मद अली जिन्ना भी होम रूल लीग मे शामिल हो गए और उन्हे बम्बई शाखा का अध्यक्ष चुन लिया गया। इसके साथ बम्बई बार सघ (Bar Association) के अनेक सदस्य होम रूल आन्दोलन के सदस्य बन गये।

इण्डियन होम रूल के कार्य

पूना और मद्रास की होम रूल लीगें पृथक पृथक सगठन थी परन्तु दोना म पूर्ण सहयोग था, दोना के उद्देश्य एक थे, दोनो की विचारधारा एक जैसी थी, दोनो समान सिद्धान्तो (स्वशासन और समान प्रतिष्ठा) का प्रचार करती थी, दोना सवैधानिक साधनो द्वारा (प्रचार, भाषण, जनमत द्वारा) अपने उद्देश्यो को प्राप्त करना चाहती थी, दोनो के सदस्य एक दूसरे के सदस्य थे।

श्री तिलक और श्रीमती ऐनी बेसेन्ट दोनो कुशल राजनीतिज्ञ थे। वे राजनीति को परोपकारिता या उदारता की बात नही समझते थे। इसलिये वे स्वशासन का माग "उपहार" के रूप मे नही "अधिकार" के रूप मे करते थे। श्रीमती बेसेन्ट ने स्पष्ट कहा था कि "भारत युद्धकालीन राजभक्ति का इनाम नही मागता, वह अपने बेटो के रक्त और बेटियो के आसुओ के बदले मे स्वतन्त्रता की किश्त का सौदा नही करता। वह तो एक राष्ट्र होने के नाते अपने अधिकार चाहता है और साम्राज्य की प्रजा की विभिन्न जातियो के बीच न्याय की माग करता है।"[1] एक अन्य स्थान पर भी ऐनी बसेन्ट ने लिखा है कि "भारत अब राज्य के शिशु गृह म एक शिशु की भाति बन्द नही रहना चाहता। भारत को स्वराज्य देना आवश्यक है।"

श्री तिलक युद्ध (प्रथम महायुद्ध) को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए दैवी अवसर मानते थे। उनका कहना था कि यदि युद्ध विश्व मे लोकतन्त्र की रक्षा के लिये और पराधीन राष्ट्रो को आत्म निर्णय के अधिकार देने के लिए[2] लडा जा रहा है तो भारत को भी स्वशासन और आत्म निर्णय का अधिकार मिलना चाहिय। जब कभी भी उन्हे युद्ध सम्मेलनो म आमन्त्रित किया जाता तो वे 'स्वशासन' (Self Government) और 'समान प्रतिष्ठा' (Equality of Status) के प्रश्न को युद्ध सहायता के प्रश्न के साथ जोड देते।[3] श्री तिलक का कहना था कि यदि लोगो को 'लकडहारा'

---

1 See Besant Annie How India Wrought for freedom p 575

2 ब्रिटेन तथा अन्य मित्र राष्ट्र युद्ध काल म इन सिद्धान्तो की बार बार व्याख्या कर रहे थ।

3 See Singh G N Ibid p 279

और 'मास्की' ही समझा जाना है तो उन्हे लडने के लिए कहना उचित नही। इस तरह श्री तिलक युद्ध सम्मेलनो मे स्वशासन की माग को प्रस्तुत करने और सेना सहित अन्य उच्च पदो पर भारतीयो की नियुक्ति की माग करते। वे सरकार से यह निश्चित आश्वासन चाहते थे कि युद्ध के बाद देश स्वतन्त्र देश होगा। वे कहते थे "स्वरक्षा और स्वराज सदैव साथ-साथ चलते हैं।"[1]

पूना और मद्रास की होम रूल लीग के नेताओ ने होम रूल का प्रचार करने के लिए सारे देश का भ्रमण किया, जगह-जगह पर भाषण दिये, लोगो को सगठित होने के लिए प्रेरित किया, उनमे देश भक्ति, निडरता, आत्म-सम्मान, त्याग और स्वशासन की भावनायें पैदा कर दी। इन नेताओ की "प्रचार यात्रायें विजय यात्राओ" से कम न थी। हजारो की सख्या म लोग इनके भाषणो को सुनने आते। परिणाम स्वरूप लोगो मे अद्वितीय जागृति उत्पन्न हो गयी और होम रूल सारे देश की जबान (talk of the country) बन गया। देश नये विचारो मे आन्दोलित हो उठा। श्री जवाहरलाल नेहरू लिखते है कि "देश के वातावरण म बिजली सी दौड गयी, हम नवयुवक एक अजीब उत्साह और स्फूर्ति का अनुभव कर रहे थे। हम यह आशा करते थे कि भविष्य मे इसका परिणाम कुछ होगा।"[2]

**होम रूल आन्दोलन का दमन**—सन् 1917 म होम रूल आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था, सारा देश इसी के विचारो से प्रफुल्लित था उत्साहित था। परन्तु ब्रिटिश नौकरशाही को यह नवजीवन पसन्द नही था।[3] उसने इसके दमन के लिए हर सम्भव उपाय उठाये, प्रेस एक्ट, चादर एक्ट और भारत सुरक्षा अधिनियम का सहारा लिया गया। जो प्रेस और पत्र होम रूल आन्दोलन का समर्थन कर रहे थे उनसे जमानतें ली गयी तथा उन्हे जब्त कर लिया गया। 26 मई, 1916 को न्यू इण्डिया से 2,000 रु० की जमानत मागी गयी, उसे दे दिया गया और 28 अगस्त, 1916 को उसे जब्त कर लिया गया। इसी पत्र से फिर 10,000 रु० की जमानत मागी गयी।[4] कॉमन वील से 5,000 रु०[5] की जमानत मागी गई और भी जमानतें मागी गयी। कुल मिला कर श्रीमती बेसेन्ट ने 20,000 रु०[6] जमानत के रूप मे जमा कराये। इन जमानतो के विरुद्ध की गयी अपीलें सफल नही हुई।

होम रूल आन्दोलनो के सम्बन्ध मे दिये गये भाषणो को लेकर सरकार ने श्री तिलक से एक वर्ष तक अच्छे व्यवहार के अनुबन्ध के लिए 20,000 रु० का मुचलका (निजी बाण्ड) और दस दस हजार रुपये की दो जमानतें देने के आदेश दिये।

---

1 देखिए, पवते, टी० वी०, पू० उ० पृ० 427
2 Nehru, J L Autobiography
3 पवते, टी० वी० पू० उ० पृ० 369
4 See Singh, G N Ibid, p 280
5&6 देखिए पवते, टी० वी० पू० उ० पृ० 370

श्री तिलक ने इस आदेश के विरुद्ध बम्बई हाइकोर्ट मे अपील की जिसने 9 नवम्बर 1916 के निर्णय द्वारा इस आदेश को रद्द कर दिया। हाइकोर्ट ने राजद्रोह की उस व्याख्या को भी इन्कार कर दिया जिसके अन्तर्गत श्री तिलक को 1897 मे सजा किया जा रहा था।

सरकार श्री तिलक और श्रीमती ऐनी बेसेन्ट की गतिविधियो से इतना परेशान थी कि उसने इन नेताओ की साधारण नागरिक स्वतन्त्रताओ पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। श्रीमती बेसेन्ट के बम्बई और मध्य प्रदेश मे प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और श्री तिलक का पजाब और बाद मे दिल्ली जाना वर्जित कर दिया गया। मद्रास मे लार्ड पेन्टलण्ड की सरकार इतनी घबरा गयी थी कि उसने एक अध्यादेश द्वारा विद्यार्थियो को राजनीतिक आन्दोलन मे भाग लेने से वंचित कर दिया,। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट को भारत सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत नजरबन्द कर दिया गया। कुछ सप्ताह बाद उनके सहयोगियो अरुण्डेल[1] और वाडिया[2] को भी गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार का यह विश्वास था कि नेताओ पर पाबन्दी से आन्दोलन शिथिल हो जायगा परन्तु हुआ ठीक इसके विपरीत। श्रीमती एनी बेसेन्ट और उसके साथियो की गिरफ्तारी से आन्दोलन का दावानल भडक उठा[3], सारे देश मे विरोध सभायें हुई और नेताओ की रिहाई के लिये प्रस्ताव पास किये गये। वे लोग भी आन्दोलन मे शामिल हो गये जो इससे अब तक अलग थे। जिन्ना ने इसी समय आन्दोलन मे भाग लिया। सर एस० सुब्रह्मण्यम ने श्रीमती बेसेन्ट और उनके साथियो की गिरफ्तारी के विरोध मे अपनी "सर" की उपाधि को त्याग दिया।[4] कांग्रेस ने सरकार से स्वराज्य की किश्त देने के लिये भी अनुरोध किया। माण्टेग्यू की 20 अगस्त 1917 की घोषणा से यह आन्दोलन शिथिल पड गया। सरकार ने 17 सितम्बर 1917 को श्रीमती ऐनी बेसेन्ट और उनके साथियो को रिहा कर दिया। श्रीमती बेसेन्ट की ख्याति इतनी बढ गयी कि कांग्रेस ने उन्हे 1917 मे (कलकत्ता अधिवेशन) अपना अध्यक्ष चुन कर सरकार की दमनकारी नीति के विरुद्ध भारतीय जनता की इच्छाओ का प्रदर्शन किया। राष्ट्र ने मुँहतोड उत्तर दिया। यह भारतीय जनता की ब्रिटिश दमनकारी नीति पर करारी चपेट थी।

**होमरूल आन्दोलन का महत्व**—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मे होम रूल आन्दोलन का अत्यधिक महत्व है। इसने उस समय स्वतन्त्रता की ज्योत को जलाये रखा जब कांग्रेस निष्प्राण नजर आती थी, उसने ही लोगो मे नये विचारो और

---

1 अरुण्डेल न्यू इण्डिया के लिये लेख लिखते थे

2 वाडिया न्यू इण्डिया के उप सम्पादक थे।

3 देखिये काश्यप डा सुभाष सवधानिक विकास और स्वाधीनता सघर्ष पृ० 73

4 देखिये पवते, टी० वी पृ० उ० पृ० 404

नये उत्साह का सचार किया। स्वदेशी, स्वशासन और राष्ट्रीय शिक्षा के विचारों का प्रसार किया। के० वी० पुन्निया लिखते है कि होम रूल आन्दोलन से सारा देश "नये विचारो से आन्दोलित हो उठा।" लोगों में "ऐसा नव जीवन भर उठा जैसा पहले कभी न था।"[1] इसने राष्ट्र के समक्ष स्वशासन की ठोस योजना प्रस्तुत की और उसकी प्राप्ति के लिये भारत के सभी वर्गों म सयुक्त मोर्चे की भावना का आह्वान किया। इसने इस विचारधारा को जन्म दिया कि यदि काग्रेस अपने राजनीतिक उद्देश्यो को प्राप्त करना चाहती है तो इसका नेतृत्व ऐसे लोगो के हाथो मे होना चाहिये जो अपना सारा समय राष्ट्र की सेवा मे लगा सके। होम रूल भारत का लक्ष्य बन गया। विदेशो मे भी इस आन्दोलन का प्रभाव हुआ। श्रमिक दल ने अपने नॉटिंघम अधिवेशन म भारत के लिये 'होम रूल' का समर्थन किया और इस उद्देश्य से ससद मे एक समिति नियुक्त की जो उस माग पर बल दे सके।

## मैसोपोटामिया की अस्तव्यस्तता या धाधलेबाजी

**( Messopotamian Muddle )**

प्रथम महायुद्ध मे तुर्की के शामिल होने[2] के बाद इसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही के सचालन का कार्य भारत सरकार के हाथो मे था।[3] परन्तु शीघ्र ही मैसोपोटामिया से युद्ध सचालन म दोषो की अफवाये फैलने लगी। इस पर ब्रिटिश सरकार ने युद्ध सचालन की जाच करने के लिये 1916 मे ससद सदस्यो के एक आयोग (Parliamentary Messopotamian Committee) की नियुक्ति की। इस आयोग की रिपोर्ट मई 1917 मे प्रकाशित हुई जब भारत मे होम रूल आन्दोलन चोटी पर पहुच चुका था। इस रिपोर्ट ने जहा भारत सरकार की अयोग्यता, अकुशलता और अक्षमता का प्रदर्शन किया वहा भारतीयो की राजनीतिक सुधारो की माग का समर्थन भी किया।

मैसोपोटामिया आयोग की रिपोर्ट मे कहा गया था कि मैसोपोटामिया मे सैनिक अभियान की असफलता का कारण "आवश्यक मात्रा म सैनिक और सामग्री की सहायता का अभाव" था, सैनिको के लिये सामान्य आराम की चीजें और डाक्टरी सुविधायें भी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही थी। रिपोर्ट ने ब्रिटेन और भारत म सनसनी पैदा कर दी। यह दावे फीके पड गये कि पूर्व के देशो के लिये निरकुश और अनुत्तरदायी शासन ही उपयुक्त थे। डा० जकारिया लिखते हैं कि यह "पुरानी कपोल कल्पना कि स्वदेश के पूर्व म मौके पर बैठे हुए शान्त और सुदृढ व्यक्ति ही

---

1 Punniah K V The Constitutional History of India

2 तुर्की युद्ध म 5 नवम्बर 1914 को शामिल हुआ था और उसने इसमे जर्मनी का साथ दिया।

3 ब्रिटिश युद्ध विभाग ने फरवरी 1916 मे मैसोपोटामिया मे सैनिक सचालन के कार्यो को अपने हाथ मे लिया।

प्रभावपूर्ण ढग से काय कर सकते हैं।"[1] भूतपूर्व उप भारत मन्त्री माण्टग्यू ने वट आलोचना करते हुए कहा कि "हमारे आधुनिक उद्देश्यों की दृष्टि स भारत सरकार अत्यधिक काष्ठवत, लौहवत, अपरिवतनशील और बहुत अधिक प्रादिकालीन है।"[2]

रिपोट म सुधारो की माग का समथन किया गया था। आयोग के एक सदस्य कर्नल जोसिया वेजवुड (Col Josiah Wedgwood) ने सुझाव दिया था कि भारतीयो को अपने प्रशासन मे भाग लेने के अवसर मिलने चाहियें। ब्रिटिश जनमत के प्रबुद्ध भाग ने भी भारत के लिय प्रजातान्त्रिक सस्थाओ का सुझाव दिया था।[3] स्वय माण्टेग्यू ने अपने भाषणो म भारत सरकार के लिये अधिक स्वतन्त्रता, भारतीय विधान परिषदो के लिये अधिक अधिकारो भारत परिषद के अधिकारा म कमी आदि की माग की थी। माण्टेग्यू ने भारतीयो की इस माग का भी समथन किया कि ब्रिटिश नीति की तत्काल घोषणा कर दी जाय।

ससद म हुई आलोचना के फलस्वरूप भारत सचिव आस्टिन चेम्बरलेन ने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया और ई० एस० माण्टेग्यू को भारत सचिव नियुक्त कर दिया गया। भारतीया को भारतीय प्रशासन मे अधिक मात्रा मे लेने के लिये और भारत मे उत्तरदायी शासन के क्रमिक विकास के लिये 20 अगस्त 1917 को श्री माण्टेग्यू ने एक घोषणा की जो इतिहास मे इसी नाम से प्रसिद्ध है। इस घोषणा से भारतीय जितने अधिक प्रसन्न हुए थे उतने ही 1918 की माण्टफोर्ड रिपोर्ट और 1919 के गवनमेंट आफ इण्डिया एक्ट से निराश हुए।

## अगस्त 20, 1917 की घोषणा
### ( August 20, 1917 Declaration )

ब्रिटिश सरकार अगस्त 20, 1917 की घोषणा का यदि टाल सकती तो सम्भवत इसे कभी भी घोषित नही करती। जिस चीज को (स्वशासित सस्थाओ का निर्माण तथा उत्तरदायी सरकार की स्थापना) सन् 1909[4] और सन् 1912[5] मे

---

1 Zacharia Quoted by Suda, J P Indian Constitutional Development & National Movement, p 87

2 Montague described the Government of India as "too wooden too iron too inelastic, too anti diluvian to be of any use for the modern purposes we have in view Quoted by Singh G N Ibid p 282

3 श्री कर्टिस के नेतृत्व में इङ्गलिश राउण्ड टेबल ग्रुप भारत म प्रजातान्त्रिक सुधारो का समथन कर रहा था।

4 सन् 1909 मे लाड मार्ले ने स्पष्ट रूप से कहा था कि यदि यह सिद्ध किया जाय कि 1909 के अधिनियम का मन्तव्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारत मे ससदात्मक प्रणाली की स्थापना है तो उसका उससे कोई सम्बन्ध नही।

5 सन् 1912 म लार्ड क्रू (Lord Crew) ने कहा था कि वह स्वशासित उपनिवेशों की परम्परा के अनुकूल भारत के भविष्य की कल्पना नही करते।

'अनुपयुक्त एव असम्भव समझा जाता था उसे ही सन् 1917 मे न केवल सम्भव ही समझा गया अपितु आवश्यक और वाछनीय भी समझा गया। स्वाभाविक है कि इस घोषणा के कुछ ऐसे ठोस कारण रहे होगे जिनके वशीभूत होकर ब्रिटिश सरकार को यह घोषणा करनी पडी।

**अगस्त 20, 1917 की घोषणा को अभिव्यक्त करने के कारण**

अगस्त 20, 1917 की घोषणा को अभिव्यक्त करने के मुख्य कारण निम्न थे —

**1 ब्रिटिश सरकार की नीतियो के प्रति असतोष**—भारत सरकार की नीतियो से न केवल उग्रवादी ही असन्तुष्ट थे बल्कि उदारवादी भी असतुष्ट थे। दक्षिण अफ्रीका मे भारतीयो पर ढाये गये अत्याचार तथा अपमान, कनाडा मे भारतीयो को नागरिकता प्रदान करने से इन्कार तथा सरकार की दमन की नीतिया कुछ ऐसे काय थे जिससे भारतीय अत्यन्त रुष्ट एव उत्तेजित हो रहे थे। इससे क्रान्तिकारी और आतकवादियो का भी प्रभाव बढने लगा था।

**2 प्रथम महायुद्ध की घोषणाओ ने भारतीयो की आशाओ को उभार दिया**—प्रथम महायुद्ध ने सारी स्थिति को ही बदल डाला। इसी के प्रभाव के कारण भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस तथा अन्य उग्रवादियो की आशाएँ बढने लगी। 'विश्व मे प्रजातन्त्र को सुरक्षित रखने के लिए', तथा 'आत्म निर्णय' जसी युद्ध घोषणाओ ने भारतीय जनमत पर अत्यधिक प्रभाव डाला। भारत के बुद्धिजीवी ही नही अपितु साधारण नागरिक भी यह प्रश्न करने लग गये थे कि यदि युद्ध विश्व म प्रजातन्त्र को सुरक्षित रखने के लिए लडा जा रहा ह तथा पराजित राष्ट्रो म आत्म निर्णय' के सिद्धान्त को लागू किया जायगा तो क्या भारत मे स्वशासित सस्थाओ का निर्माण किया जायगा। श्री एस० पी० सिन्हा ने तो ब्रिटिश सरकार से भारत के प्रति उनकी नीति को स्पष्ट करने के लिए कहा।

**3 होम रूल आन्दोलन**—सन् 1916 मे श्री ऐनी बेसेन्ट ने मद्रास मे और लोकमान्य तिलक ने महाराष्ट्र म होम रूल आन्दोलन का सगठन किया। इस आन्दोलन ने भारत मे आश्चयजनक राजनीतिक चेतना उत्पन्न कर दी। इस आन्दोलन ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सामान्य असन्तोष को जन्म दिया। इस आन्दोलन की कायवाही से सरकार इतनी भयभीत हो गई थी कि उसे ऐनी बेसेन्ट को नजरबन्द करना पडा और तिलक जी से अनुचित जमानतें मागी गई। परन्तु इससे भारतीय जनमत और अधिक उत्तेजित हुआ। बाद म सरकार को ऐनी बेसेन्ट का रिहा करना पडा।

**4 राष्ट्रीय एकता की भावना तथा स्वशासन की माग**—इस समय भारत नवीन विचारो से पलमट मार रहा था। भारतीय स्वशासन, स्वराज्य और स्वदेशी की माग कर रहे थे। भारतीयो म एक नवीन जीवन का सचार हो रहा था। उन्होने एक सगठित दृष्टिकोण अपना लिया था। काग्रेस, जो 1907 म गरम और

नरम दलो म विभक्त हो गई थी, वह गोखले और फिरोजशाह की मृत्यु के बाद, एक हो गई थी। इतना ही नही, श्री तिलक और श्रीमती एनी बेसन्ट के नतृत्व म काग्रस अब व्यावहारिक रूप से उग्रवादियो के हाथो म थी। काग्रेस और मुस्लिम लीग भी 1916 क लखनऊ समझौते के कारण एक दूसरे के निकट आ गई थी। सवत्र एकता की भावना नजर आ रही थी।

5 सुधारो की माग —जब लार्ड चेम्सफोर्ड गवनर जनरल बन तो उन्होन सुधारो पर अपनी योजनाएँ बनाकर भारत मन्त्री को प्रस्तुत की। इसस भारत में सुधारो की माग बढी तथा उन्नीस व्यक्तियो न सुधारो क बार म अपना स्मरण पत्र (Memorandum of Nineteen) प्रस्तुत किया। मैसोपोटामिया आयोग का प्रतिवेदन भी जुलाई 1917 म प्रकाशित हुआ। उसन भारतीय सरकार को 'अकुशल' बताया था। श्री मो टग्यू, भारत मन्त्री न भी कहा कि "हमारे आधुनिक उद्देश्यो क लिए भारत सरकार निष्प्राण, कठोर, हठी एव सुधार विरोधी है।" "अत्यधिक काष्ठवत, लौहवत, अपरिवतनशील और बहुत अधिक आदिकालीन बताया था।"[1] उन्होंने यह भी कहा कि युद्ध प्रयासो म भारतीयो का सहयोग प्राप्त करन क लिए उन्हे उत्तरदायी सरकार का अ श देना आवश्यक है। क्योकि युद्ध अभी चल रहा था इसलिए ब्रिटिश सरकार न अनुभव किया कि भारत के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति को स्पष्ट करके भारतीय जनमत को शान्त करना आवश्यक है ताकि वह युद्ध प्रयासो के लिए तयार हो सके। इस उद्देश्य से एडविन मान्टेग्यू न ब्रिटिश कामन सभा मे अगस्त 20, 1917 को निम्न घोषणा की।

**घोषणा**—'साम्राज्य सरकार की नीति, जिससे भारत सरकार पूर्ण रूप स सहमत है यह है कि शासन के प्रत्येक विभाग मे भारतीयो को अधिक से अधिक मात्रा मे सम्मिलित किया जाय और स्वशासन सस्थाओ का क्रमिक विकास किया जाय ताकि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत (अथात अ ग क रूप मे) भारत म उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो सक मै यह और कहना चाहूगा कि इस नीति की प्रगति क्रमश कई किस्तो म ही हो सकती है। ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार जिन पर भारत के विभिन्न लोगो की उन्नति और भलाई का उत्तरदायित्व है, प्रत्येक किस्त क समय और परिमाण का निणय करगी जिसमे य इस बात का ध्यान म रखेगी कि जिन लोगो को सेवा के नये अवसर प्रदान किये जा रहे हैं उनस कितना

---

1 The Government of India is too wooden too iron too inelastic too anti diluvian to be of any use for the modern purposes we have in view Mr Edwin Montague The Indian Annual Register 1919 p IX Quoted by Gurmukh Nihal Singh in his Landmarks in Indian Constitutional and National Movement Vol I p 282 (1959)

सहयोग प्राप्त हुआ है और उन पर उत्तरदायित्व का कितना बोझा डाला जा सकता है।"[1]

## घोषणा का मूल्यांकन अथवा घोषणा में प्राचीनता एवं नवीनता

मोन्टेग्यू की घोषणा अनेक दृष्टिकोणों से नवीन, महत्त्वपूर्ण, क्रांतिकारी एवं प्रगतिशील थी परन्तु साथ में यह प्राचीन, उदासीन और घिसी पिटी भी थी। जहाँ नरम दल वालों ने "मैगना कार्टा" (Magna Carta) कह कर इस घोषणा का स्वागत किया वहाँ गरम दल वाले इससे असन्तुष्ट थे। श्रीराम शर्मा का मत है कि इस घोषणा ने "भारत के संवैधानिक इतिहास में एक अध्याय को समाप्त कर दिया और एक नये अध्याय को आरम्भ कर दिया।"[2] इस घोषणा ने परोपकारी निरंकुशता (benevolent despotism) का हमेशा के लिए अन्त कर दिया। भारतीय सन्दर्भ में यह अब एक पुरातन घटना बन गई।

**(अ) घोषणा में प्राचीन, उदासीन, एवं घिसे पिटे तत्व**—अगस्त 20, 1917 की घोषणा में जो प्राचीन, उदासीन एवं घिसे पिटे तत्त्व विद्यमान थे वे निम्न हैं —

**1 घोषणा में प्राचीन आश्वासनों को केवल दोहराया गया था**—घोषणा में यह कहा गया था कि भारतीयों को प्रशासन की प्रत्येक शाखा में अधिक मात्रा में लिया जायगा। परन्तु इस आश्वासन या वचन अथवा प्रतिज्ञा में कोई नवीनता नहीं थी क्योंकि भारत सरकार ने 1833 के चार्टर एक्ट की इस धारा को पहले भी 1853 में, 1858 में और 1861 में दोहराया था और "आधुनिक भारतीय इतिहास के पृष्ठ टूटी हुई प्रतिज्ञाओं के खण्डों से भरे पड़े हैं।"[3]

**2 घोषणा में निश्चितता और स्पष्टता का अभाव था**—घोषणा पर सबसे बड़ी आपत्ति यह थी कि इसमें निश्चितता और स्पष्टता का अभाव था। घोषणा में यह तो कहा गया था कि भारत में स्वशासित संस्थाओं का क्रमिक विकास किया जायगा परन्तु उस क्रमिक विकास का न तो समय निश्चित किया गया था और न ही उसकी मात्रा का। कब और किस मात्रा में स्वशासन की किस्त प्रदान की जायगी इसमें कुछ नहीं कहा गया था। इस घोषणा पर दूसरी आपत्ति यह थी कि यह 'अनिश्चित क्रमिक प्रगति' भी इस बात पर निर्भर कर दी गयी कि 'भारतीयों से कितना सहयोग' प्राप्त होता है। घोषणा का यह भाग उसकी प्रगतिशीलता पर एक ब्रेक थी। इसका अभिप्राय यह था कि यदि ब्रिटिश सरकार को भारतीयों से सहयोग प्राप्त नहीं होता तो वे भारत में स्वशासित संस्थाओं का क्रमिक विकास भी नहीं करेंगे। दूसरे शब्दों में, ब्रिटिश सरकार ने स्वशासन रूपी घोड़े को देने का वचन तो

1 Report on Indian Constitutional Reforms page 1

2 It closed one chapter in the Constitutional History of India and opened another' Sharma Sri Ram A Constitutional History of India (1954) p 154

3 Bannerjee, S N A Nation in the Making p 303

दिया परन्तु उसकी लगाम को अपने हाथों में रख लिया। इस घोषणा पर तीसरी आपत्ति यह थी कि भारत में स्वशासित संस्थाओं का निर्माण भारतीयों की योग्यताओं पर निर्भर करता था और इस योग्यता के निर्णायक स्वयं भारतीय नहीं थे बल्कि इस योग्यता का निर्णय ब्रिटिश संसद ने करना था। बाद वाली घटनाओं ने (1919 के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित की गई व्यवस्था) सिद्ध कर दिया कि अंग्रेज अभी भी भारतीयों की प्रशासनिक योग्यता पर विश्वास नहीं करते थे जबकि भारतीयों को अपनी प्रशासनिक योग्यता पर पूर्ण विश्वास था। ब्रिटिश सरकार का भारतीयों की प्रशासनिक योग्यता पर यह अविश्वास ही बाद के संघर्ष का कारण बना। स्पष्ट है कि घोषणा का उद्देश्य भारतीयों को तत्काल स्वशासित संस्थायें प्रदान करना नहीं था बल्कि भारतीय राष्ट्रीयता की उमड़ती हुई भावनाओं को शिथिल करना था।

3 घोषणा में उदासीनता प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी—अगस्त 20, 1917 की घोषणा इस विचार पर आधारित थी कि स्वतन्त्रता केवल उन लोगों को प्राप्त हो सकती है जो स्वतन्त्रता प्रिय हों। परन्तु इस विचार के अनुसार जिस व्यवस्था को 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित किया गया था वह स्वतन्त्रता के दर्शन और सिद्धान्तों के विपरीत थी। यदि ब्रिटिश संसद और ब्रिटिश सरकार को ही भारत की "प्रगति की किस्त का निर्णायक बनना" था तो घोषणा में इस धारा का औचित्य ही समाप्त हो जाता है कि वे भारत में स्वशासित संस्थाओं का निर्माण करना चाहते थे। भारतीय तभी ही अपनी स्वतन्त्र विचारधाराओं का परिचय दे सकते थे यदि स्वशासित संस्थायें स्थापित की जातीं, वयस्क एवं संयुक्त मताधिकार के आधार पर विधानमण्डलों के निर्वाचन कराये जाते और संवैधानिक सरकार की स्थापना की जाती। परन्तु ये सब बातें 1919 के अधिनियम में, जिसे घोषणा की प्रथम किस्त कहा जा सकता है, अनुपस्थित थीं। स्वाभाविक है कि घोषणा के इस भाग ने भारतीयों की राष्ट्रीय भावनाओं, मनोवेगों और सम्मान को अत्यधिक चोट पहुँचाई।

(ब) घोषणा में नवीन एवं क्रान्तिकारी तत्त्व—यद्यपि घोषणा में प्राचीन, उदासीन और घिसे पिटे तत्त्व विद्यमान थे परन्तु इसमें कुछ ऐसे तत्त्व भी विद्यमान थे जो नवीन युग के द्योतक थे। जैसा कि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि "आंग्ल भारतीय इतिहास के पृष्ठ टूटी हुई प्रतिज्ञाओं के खण्डों से भरे पड़े हैं परन्तु अब सम्भवतः एक नूतन अध्याय आरम्भ होने को था।" ये नवीन तत्त्व ऐसे क्रान्तिकारी तत्त्व थे कि यदि इन्हें पूर्णतया लागू कर दिया जाता तो स्वशासित संस्थाओं और उत्तरदायी सरकार की स्थापना तत्काल हो जाती।

घोषणा के नवीन तत्त्वों को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है —

1 प्राचीन विचारधारा में साहसिक परिवर्तन—अभी तक भारत में अंग्रेजों की नीति 'परोपकारी निरंकुशता (benevolent despotism) की थी। वे भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना को न केवल अनुपयुक्त बल्कि 'असम्भव' भी मानते

थे। लार्ड मार्ले और लार्ड मिन्टो ने 1909 मे इसी आश्वासन को दोहराया था। परन्तु इस घोषणा म पहली बार 'भारत मे उत्तरदायी शासन की स्थापना' की बात कही गयी थी। यही बात घोषणा म सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी। यद्यपि इसकी स्थापना 'क्रमिक' और 'अग्रेजा की सम्भावना पर निर्भर' कर दी गई थी परन्तु इसने ब्रिटिश सरकार की भारत के प्रति नीति के उद्देश्य को न केवल स्पष्ट कर दिया बल्कि इसे निर्धारित भी कर दिया। इसने 'परोपकारी निरकुशता' का हमेशा के लिए अन्त कर दिया। इस घोषणा से होम रूल आन्दोलन की नेता ऐनी बेसेन्ट इतनी प्रभावित हुई कि वह अपनी उग्रता भूल गई और एकदम नरम पड गई। काग्रेस ने भी अपने सत्याग्रह के विचार को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया।

**2 आगामी तीस वर्षों के काग्रेस आन्दोलन का आधार**—इस घोषणा से न केवल काग्रेस की नीतियो को बल मिला बल्कि उसे एसा आधार भी प्रदान कर दिया कि जिसका राग अलाप कर काग्रेस ब्रिटिश सरकार पर दबाव डाल सकती थी कि वह भारत मे स्वशासित सस्थाओ का निर्माण कर। इसी आधार पर काग्रेस ने अपने सघष का तीव्र बनाया, जनता के सहयाग को प्राप्त किया तथा ब्रिटिश सरकार से अपना वचन पूरा करने के लिए कहा। इसी आधार पर काग्रेस ने सुधारा की माग द्वारा जन जागृति बनाये रखी तथा विकेन्द्रीकरण और हस्तान्तरण की वृत्तिया को बढावा दिया।

**3 भारत को स्वतन्त्रता की सडक पर लाकर खडा कर दिया**—भारत के शतरजी इतिहास मे यह घोषणा एक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति (momentous utterance) थी क्योकि इसन भारत को उसी दिन स्वतन्त्रता की सडक पर लाकर खडा कर दिया जिस दिन इसे अभिव्यक्त किया गया था। यह स्वशासित अथवा उत्तरदायी सरकार की सडक पर प्रथम माग शिला (mile stone) थी। यह एक क्रान्तिकारी घोषणा भी थी क्योकि एक बार अपनी नीति के उद्देश्य को स्पष्ट करन के बाद ब्रिटिश सरकार के लिए उससे विचलित होना असम्भव था। स्पीयर (Spear) ने ठीक लिखा है कि 'ब्रिटिश शासन के अन्तिम तीस वर्षा के लिए यह प्रलेख स्वशासन की ओर ब्रिटिश नीति का आरम्भ था।"[1] ए० बी० कीथ के शब्दा म, "1917 की घोषणा म "उत्तरदायी सरकार" शब्द के उल्लेख ने ब्रिटिश सरकार को इस बात के लिए वचनबद्ध कर दिया कि वह भारत सरकार के उस स्वरूप को स्थापित कर जो स्वशासित उपनिवेशा मे विद्यमान थी।"[2]

---

1 This document was the starting point of British policy towards self government for the final thirty years of British rule Spear India p 342

2 'The inclusion of the term "responsible government in the declaration of August 1917 irrevocably committe Britain to concede to India the same form of government as existed in the self governing Dominions Keith A B A Constitutional History of India

**4 भारतीयो की स्वराज्य की माग और उनकी योग्यता को स्वीकार कर लिया** इस घोषणा से ब्रिटिश सरकार ने न केवल भारतीया के स्वराज्य के अधिकार को स्वीकार कर लिया वल्कि भारतीया की योग्यता और शासन करन की क्षमता को भी स्वीकार कर लिया। अब भारतीयो पर विश्वास किया जाना था कि वे अपने दश का शासन चला सकते है, शासन क प्रत्येक विभाग म उन्ह पदो पर नियुक्त किया जाना था। क्योकि भारतीया को अपनी प्रशासनिक योग्यता पर पूर्ण विश्वास था इसलिए उन्होन घोषणा का स्वीकार कर लिया।

**5 राष्ट्रीय एकता को बल मिला**— इस घोषणा ने यह सिद्ध कर दिया कि यदि सभी राष्ट्रीय दल एव अन्य तत्त्व मिल कर काय करें तो वे सरकार से अपनी मागो को स्वीकार करवा सकने ये और सरकार के लिए सगठित लोकमत की अवहलना करना कठिन होगा। यह घोषणा इस बात का परिणाम थी कि काग्रेस के दोनो दल (नरम दल और गरम दल) एक हो गये थे, काग्रेस और मुस्लिम लीग लखनऊ समझौते के फलस्वरूप एक दूसरे के अधिक निकट आ गई थी, राष्ट्र मे होम रूल आन्दोलन के कारण आश्चयजनक जागृति उत्पन्न हो चुकी थी। डा० ईश्वरी प्रसाद के शब्दो मे "सन् 1916 मे राष्ट्रीय आन्दोलन इतना प्रबल हो चुका था कि उसका कुछ परिणाम निकलना अनिवाय था'। श्री राम शर्मा के शब्दो मे "सभी प्रकार की शर्तों को एक तरफ रख कर इस घोषणा का सभी राजनीतिक दलो न स्वागत किया।"[1]

**6 यह एक क्रान्तिकारी घोषणा थी** प्रo कूपलण्ड का मत है कि यह घोषणा एक क्रान्तिकारी घोषणा थी। जिस चीज को ब्रिटिश सरकार 1909 और 1912 म असम्भव समझती थी उसी चीज क लिए 1917 मे वचनबद्ध होना इस बात का प्रतीक है कि परिस्थितिया तथा राष्ट्रीय आन्दोलन ने सरकार की नीति मे एक क्रान्तिकारी परिवतन ला दिया था।

## माण्टेग्यू का भारत आगमन और माण्टफोर्ड रिपोर्ट

**(Montague's visit to India and Montford Report)**

20 अगस्त 1917 की घोषणा के लगभग तीन महीने बाद माण्टग्यू अपने मिशन के सदस्या के साथ 10 नवम्बर 1917 को भारत पहुचे। इस मिशन का उद्देश्य भारत की राजनीतिक दशा की जाच करना तथा भावी सुधारो की योजना ब्रिटिश ससद मे प्रस्तुत करने से पूर्व उस पर समीद पर भारतीय जनता, राजनीतिक

---

1 So all ifs and buts were ignored and the announcement was welcomed by almost all parties in India ' Sharma Sri Ram A Constitutional History of India, p 154

दलो सावजनिक सस्थाओ तथा ब्रिटिश नौकरशाही आदि के विचारो का अनुमान लगाना था।[1]

श्री माण्टेग्यू इस निश्चय से भारत आये थे कि वे उत्तरदायी सरकार की सारभूत खुराक (substantial dose) भारतीयो को प्रदान करेंगे। इसी आशय पर, भारत आने पर, ब्रिटिश प्रधान मन्त्री का अपने प्रथम पत्र मे उन्होने लिखा था कि "मेरे भारत आने का अर्थ यह है कि हम लोग कोई बहुत बडी बात करने जा रहे है। मैं इग्लैण्ड लौटकर कोई खोखलापन नही दिखा सकता। वह बात युगान्तरकारी होनी चाहिये अन्यथा वह निरथक है वह भारत के भावी सविधान की केन्द्रशाला (कुजी) होनी चाहिये।"[2] परन्तु भारत म ठहरने और ब्रिटिश नौकरशाही स विचार-विमर्श के बाद उन्हाने अनुभव हुआ कि वह सुधारो के लिये केवल तैयार ही नही बल्कि उसे भी बहुत धीमी गति से चलन के लिये आग्रह कर रही है। अपनी डायरी मे श्री माण्टग्यू लिखते है कि क्या ही अच्छा होता यदि मैं इस घृणित नौकरशाही को समझा सकता कि हम क्राति के मोड पर (भूकम्प पर) खडे है।'[3] परिणाम स्वरूप माण्टफोड रिपोट म जिन सुझावा की सिफारिश की गयी वे माण्टेग्यू की इच्छानुसार नही थे। उन्हे तो इसी बात म सन्तोष था कि "युद्ध के अत्यन्त सकटपूर्ण समय मे मैंने भारत को छ महीने तक शान्त रखा है, मैंने राजनीतिज्ञो को अपने मिशन के अतिरिक्त और किसी विषय पर ध्यान ही नही देने दिया।"[4]

श्री माण्टग्यू भारत म लगभग 6 महीने (मई 1918 तक) भारत म रहे और इस दौरान म उन्होने वायसराय लार्ड चेम्सफोड के साथ सारे भारत का दौरा किया।

---

1 एक मत यह भी है कि सुधारो की योजना मार्च 1916 मे ही तयार कर ली गयी थी और लार्ड चेम्सफोर्ड को, जिसे भारत का वायसराय नियुक्त किया जा रहा था, दिखा दी गयी थी। माण्टेग्यू जब भारत आये तो उनका उद्देश्य उस योजना के समथन म आवश्यक वातावरण तैयार करना था ताकि उनका समथन करने के लिय भारतीयो का एक दल तैयार हो जाय। दखिय पवत, टी० वी० पृ० उ० पृ० 410। भारत आने से पूर्व माण्टग्यू न सुधारो म सम्बन्धित 1916 की काग्रेस लीग योजना को देख लिया था परन्तु वह उसे कार्यान्वित करना नही चाहते थे।

2 Montague An Indian diary, p 8 Quoted by Singh G N Ibid p 292

3 'I wish I could get the damned Bureaucracy to realise that we are sitting on an earthquake" Montague An Indian Diary p 288

4 Montague An Indian Diary, p 288

उन्होंने राजनीतिक दलों, नेताओं और सार्वजनिक संस्थाओं के प्रतिनिधि मण्डलों[1] और ब्रिटिश नौकरशाही से विचार-विमर्श किया। मई 1918 में माण्टग्यू इंग्लैण्ड लौट गये।

8 जुलाई 1918 को सुधारों से सम्बन्धित एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई जो माण्टफोर्ड रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इसे माण्टफोर्ड रिपोर्ट केवल इसलिये कहते हैं कि इसे भारत मन्त्री ई० एस० माण्टेग्यू और भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने तैयार किया था। क्योंकि दोनों ने इसे संयुक्त रूप से तैयार किया था इसलिये इसे संयुक्त रिपोर्ट (Joint Report) भी कहते हैं।

माण्टफोर्ड रिपोर्ट रचयिताओं की इस मान्यता पर आधारित थी कि संसदीय अनुभव की कमी के कारण भारतीयों को एक दम उत्तरदायी शासन सौंपना उचित नहीं, फिर भी, भारत में स्वशासन का क्रमशः अधिकाधिक विकास किया जाना चाहिये और उत्तरदायित्व की कुछ मात्रा तो तत्काल सौंप देनी चाहिये। भारत के भावी संवैधानिक विकास के लिये जिन चार मुख्य सिद्धान्तों को निर्धारित किया गया था वे निम्न प्रकार से थे। यही चार सिद्धान्त सन् 1919 के अधिनियम के आधार थे —

(i) स्थानीय निकायों पर जनता का नियन्त्रण हो और उन्हें बाह्य नियन्त्रण से अधिकतम सम्भव स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

(ii) प्रान्त ही ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ क्रमशः अधिकाधिक उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये शीघ्र कदम उठाये जाने चाहियें। यद्यपि हमारा उद्देश्य, जब परिस्थितियाँ अनुकूल हों, पूर्ण उत्तरदायित्व प्रदान करना होना चाहिये परन्तु उत्तरदायित्व के कुछ अधिकार तो तत्काल प्रदान कर देने चाहिये। इस उद्देश्य से विधान प्रशासन और वित्तीय क्षेत्र में प्रान्तों को भारत सरकार के नियन्त्रण से उस सीमा तक अधिकतम सम्भव स्वतन्त्रता हो जो भारत सरकार के उत्तरदायित्वों के निभाने से मेल खाती हो। स्पष्टतया इस सिद्धान्त में प्रान्तों में द्वैध योजना का सुझाव था।

(iii) भारत सरकार पूर्णतया ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी होनी चाहिये यद्यपि कुछ मामलों में उसके (भारत सरकार के) अधिकार निर्विवाद होने चाहिये। भारतीय विधान परिषद् को अधिक प्रतिनिधिक बनाने के लिये उसकी सदस्य संख्या में वृद्धि की जाय और उसे भारत सरकार को प्रभावित करने के अवसर अधिक प्राप्त होने चाहियें।

(iv) जिस अनुपात में उपयुक्त परिवर्तन किये जायें उसी अनुपात में भारत सरकार और प्रान्तों पर संसद और भारत सचिव के नियन्त्रण में ढिलाई (relaxation) आनी चाहिये।

---

1 "सब मिलाकर मि० मॉण्टग्यू से 110 प्रतिनिधि मण्डल मिले और उन्होंने 330 लोगों से भेंट की ... लेकिन इसमें कांग्रेस लीग योजना का विरोध नहीं किया गया था। देखिये पवन पू० उ० पृ० 411

उपर्युक्त चार सिद्धान्तो के आधार पर सुधारो की विस्तृत योजना तैयार करने के लिये अनेक विशिष्ट समितिया बनाई गई जैसे लाड साउथ बारो की अध्यक्षता मे मताधिकार समिति, श्री रिचड फीथम की अध्यक्षता मे शक्तियो के विभाजन की समिति, लाड क्रीव की अध्यक्षता मे गृह प्रशासन समिति, लाड मेस्टन की अध्यक्षता मे वित्तीय समिति आदि।

साम्प्रदायिक समस्या पर भी माण्टफोड रिपोट ने विस्तार से विवेचन किया था। इसे राष्ट्र विरोधी और प्रजातन्त्र विरोधी स्वाकार करते हुए भी पृथक निर्वाचन प्रणाली को जारी रखने का सुझाव दिया गया। इतना ही नही पृथक निर्वाचन प्रणाली को सिक्खो को भी देने का सुझाव दिया गया।

माण्टफोड रिपोट के उपयुक्त सुझावो से स्पष्ट है कि इसने भारतीयो की स्वशासन की माग का स्वीकार नही किया। 20 अगस्त 1917 की घोषणा द्वारा जो आशायें बाधी गयी थी वे फीकी पड़ गयी। केन्द्र मे उत्तरदायी सरकार की स्थापना तो दूर प्रान्तो मे भी इसे आशिक रूप से स्वीकार किया गया था और उसे भी अनेक सीमाओ द्वारा मर्यादित किया गया था। पृथक निर्वाचन प्रणाली के विष को भी जारी रखा गया। यह स्वाभाविक था कि रिपोट पर भारतीयो की प्रतिक्रियायें उग्र और कटु होती। रिपोट निराशाजनक, असन्तापजनक और अपूर्ण थी। श्री तिलक के लिये यह "सूर्यहीन उषा' थी। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के लिये "यह इगलण्ड के लिये देने योग्य नही थी और भारत के लिये लेने योग्य नही थी।" विठ्ठलभाई पटेल के लिये "ये सुझाव बहुत ही पिछड़े हुए थे। केलकर के लिये ये निराशापूर्ण और "भारतीय नेताओ को उनके ही रस मे पकाने का दुष्टतापूर्ण प्रयास था।" डा० सुब्रह्मण्यम अय्यर के लिये "यह जहर था" जिसे स्पश न करने की चेतावनी उसने देशवासियो को दी। जितेन्द्रलाल बनर्जी के लिये "सुधार अनिच्छापूर्ण, अल्प, नाकाफी और बहुत ही निराशापूर्ण तथा अधूरे थे।' सारी रिपोट मे, जसा कि बी चक्रवर्ती ने कहा था, "शान्ति व्यवस्था और सुशासन का ही गीत गाया गया है।'[1]

इस रिपोट मे सुझावो की सबसे दु खद बात यह थी कि यह "भारतीयो की योग्यता मे अविश्वास पर आधारित थी। ऐनी बसेन्ट ने लिखा है कि "भारत को जो दिया जा रहा है वह आत्म निर्णय नही, विदेशी निर्णय है।"[2]

भारत मे यूरोपीय सगठनो ने माण्टफोड रिपोट मे सुधारो के प्रस्तावो का घोर विरोध किया। इनका यह कहना था कि अयोग्य होते हुए भी भारतीयो को

1 देखिये पवते, टी० वी० पृ० उ० पृ० 427-428 Also see Singh G N Ibid, p 343 (foot note)

2 देखिये काश्यप, डॉ० सुभाष सवधानिक विकास और स्वाधीनता सघष। (1972) रिसच दिल्ली, पृ० 78

सुधारो की अधिकतम किश्त देना उचित नही । इण्डो ब्रिटिश एसोसियेशन का दृष्टिकोण तो बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण था और उसने राजनीतिक सुधारो की नीति के विरोध मे, ब्रिटेन और भारत मे, जनमत जागृत करने का हर सम्भव प्रयत्न किया ।

## अखिल भारतीय राष्ट्रीय उदार सघ

### ( An All–India National Liberal Federation )

माण्टफोर्ड रिपोर्ट पर काग्रेस का दृष्टिकोण मिश्रित था । जहा उदारवादियो के लिये माण्टफोर्ड रिपोर्ट प्रगतिशील और तात्विक थी वहा उग्रवादियो के लिये यह असन्तोषजनक और निराशाजनक थी । उदारवादियो का कहना था कि रिपोर्ट रचयिताओ की सच्चाई, सहानुभूति और सद् इरादो की द्योतक थी । उनकी धारणा थी कि इसमे सशोधनो की आवश्यकता होते हुए भी (विशेष कर केन्द्र मे उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने के लिये) यह उत्तरदायी शासन की ओर एक महान प्रगति थी । उनका विश्वास था कि यह शासको के दृष्टिकोण मे वास्तविक परिवर्तन की परिचायक है इसलिये भारतीय नेताओ को भी अपने दृष्टिकोण मे परिवर्तन कर रिपोर्ट को स्वीकार कर लेना चाहिये । उन्हे इस बात का भी भय था कि यदि इस रिपोर्ट को स्वीकार नही किया गया तो उग्रवादियो की अस्वीकृति और यूरोपीयो के विरोध के कारण कही सुधारो का सुअवसर हाथ से न निकल जाय । दूसरी ओर उग्रवादियो का दृष्टिकोण रिपोर्ट के पक्ष मे नही था । उनका कहना था कि रिपोर्ट भारतीयो की योग्यता मे अविश्वास पर आधारित है, इसमें सशोधन या सुधार की कोई सम्भावना नही । इसलिये इसे अस्वीकार कर देना चाहिये । रिपोर्ट पर उग्रवादियो की प्रारम्भिक प्रतिक्रियायें उग्र और कटु होने से उदारवादियो ने अपने पृथक सगठन को जन्म देने के विचार का दृढ किया और उन्होने काग्रेस के विशेष अधिवेशन मे जो अगस्त माह के अन्त मे 1918 मे बम्बई मे हुआ, भाग नही लिया । नवम्बर 1918 मे सुरेन्द्र नाथ बनर्जी की अध्यक्षता मे उदारवादियो का एक सम्मेलन बम्बई मे हुआ जहा अखिल भारतीय राष्ट्रीय उदार सघ की स्थापना की गई । एक प्रस्ताव द्वारा उदारवादियो ने माण्टफोर्ड प्रस्तावो का स्वागत किया और उन्हे वर्तमान शासन प्रणाली मे निश्चित विकास माना । उन्होने इस अगस्त 1917 की घोषणा के अनुकूल मानकर प्रस्तावो को उत्तरदायी शासन की ओर महान प्रगति कहा । इस तरह काग्रेस मे एक बार फिर विभाजन हुआ जो फिर कभी एक न हो सकी । इस बार उदारवादी काग्रेस से अलग हुए थे ।

### समीक्षा–प्रश्न

### (Review Questions)

1 "ब्रिटिश राज्याधीन भारत के इतिहास मे सन् 1909 से 1919 तक का काल भारत के इतिहास मे सबसे छोटा काल है परन्तु इसका महत्व इसके वर्षों की सख्या के आधार पर नही आँका जा सकता । वस्तुत यह युग

गत्यन्त महत्वपूर्ण घटनाओ से परिपूर्ण है ।" (गुरमुख निहाल सिंह) इस कथन की विवेचना कीजिये ।

2 सन् 1906 से 1919 तक काग्रेस की राजनीति की प्रगति की रूपरेखा दीजिये । इस काल म सरकार का राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति क्या व्यवहार था ?

3 प्रथम महायुद्ध का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर क्या प्रभाव पडा ? काग्रेस और लीग की नीतियो पर इसने क्या प्रभाव डाला ?

4 उन कारणो का उल्लेख कीजिये जिनके कारण 1916 म काग्रेस लीग समझौता हुआ । राष्ट्रीय आन्दोलन मे इसका क्या महत्व है ? क्या काग्रेस ने लीग को सन्तुष्ट करने के लिये अपने राष्ट्रीय उद्देश्यो और सिद्धान्तो का बलिदान द दिया ?

5 'होम रूल आन्दोलन विशुद्धत सवधानिक और प्रचारात्मक आन्दोलन था । इसने देश मे एक सनसनी पैदा कर दी ।" इस कथन की विवेचना कीजिये और बताइये कि इस आन्दोलन का भावी राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास पर क्या प्रभाव पडा ?

6 एनी बेसेन्ट और तिलक द्वारा शुरु किये गये होम रूल आन्दोलन के क्या उद्देश्य थे ? राष्ट्रीय चेतना के विकास म इसकी क्या भूमिका थी ?

7 सन् 1914 और 1919 के मध्य महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओ का सक्षिप्त वर्णन कीजिय । क्या ये घटनायें प्रथम महायुद्ध का परिणाम थी या कि राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वाभाविक विकास थी ?

8 "20 अगस्त, 1917 की घोषणा ने भारतीय सवधानिक विकास मे एक युग को समाप्त कर दिया और एक नये युग को जन्म दिया" (माण्टफोर्ड रिपोर्ट) व्याख्या कीजिये ।

9 सक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये —
(अ) लखनऊ समझौता (ब) होम रूल आन्दोलन (स) 20 अगस्त 1917 की माण्टेग्यू घोषणा (द) उन्नीस का आवेदन पत्र (य) मैसोपोटामिया धांधलेबाजी (दुघटना) ।

अध्याय 4

# गांधी युग का प्रारम्भ

## (The Beginning of Gandhian Era)

दक्षिण अफ्रीका में अहिंसक निष्क्रिय प्रतिरोध के प्रयोगों के अनुभव से आप गांधीजी सन् 1915 में भारत वापस आये। भारतीय राजनीति में तत्काल सक्रिय भाग लेने के स्थान पर उन्होंने एक प्रेक्षक और अध्ययक की तरह उसका गहरा अध्ययन किया। यही कारण है कि सन् 1916 की कांग्रेस लीग योजना के निर्माण में गांधीजी का सक्रिय योगदान नहीं था यद्यपि वे इसके पूर्ण समर्थक और प्रचारक थे। परन्तु जब भारत में अहिंसक प्रयोगों (चम्पारन सत्याग्रह, अहमदाबाद आन्दोलन और खेड़ा सत्याग्रह) के बाद वे भारतीय राजनीतिक रंग मंच पर आये[1] तो अन्त तक (1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति तक) वे इसके दार्शनिक, निर्देशक और निर्माता बने रहे। यही कारण है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के 1920 से 1947 के काल को गांधी युग कहा जाता है। इस युग में ही सत्याग्रह के अस्त्रों (असहयोग, हड़ताल, धरणा, हिजरत, कर-बन्दी, बहिष्कार, उपवास आदि अस्त्रों) का उपयोग किया गया। इस युग में गांधी द्वारा जो प्रमुख आन्दोलन निर्देशित किये गये वे थे असहयोग आन्दोलन (1920-1922) सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930–34) व्यक्तिगत सत्याग्रह (1940), भारत छोड़ो आन्दोलन (1942) आदि।

प्रारम्भ में गांधीजी पूर्ण सहयोगी थे। उन्हें ब्रिटिश नागरिकता, उसकी उदारता और न्यायप्रियता में पूर्ण विश्वास था। इस विश्वास के आधार पर ही गांधीजी ने प्रथम महायुद्ध के दौरान भारतीयों को ब्रिटिश सरकार की तन, मन, धन से सहायता देने के लिये अनुरोध किया। परन्तु युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार के विश्वासघातों, उसकी दमनकारी नीति और भारतीय भावनाओं के प्रति उसकी उदासीनता ने गांधीजी को सहयोगी से असहयोगी बना दिया। मुख्यतया रौलट विधेयकों जलियांवाला बाग का हत्याकाण्ड, सर माइकेल ओ' डायर की पंजाब में

---

1 भारतीय राजनीति में गांधीजी का सक्रिय योगदान 1920 में असहयोग आन्दोलन से शुरू होता है।

दमनकारी नीति, मार्शल लॉ, हण्टर समिति की रिपोर्ट जिसमे सरकारी अपराधो की अवहेलना की गयी थी और हत्यारा को छोड दिया गया था और खिलाफत के प्रश्न पर ब्रिटिश सरकार के विश्वासघातो ने ही गाधीजी को असहयोगी बनाया था।

**चम्पारन सत्याग्रह** गाधीजी द्वारा भारत म सत्य और अहिंसा का यह प्रथम प्रयोग था। चम्पारन म नील की खेती करन वाले किसानो की दशा दयनीय और असहाय थी। कानून द्वारा उन्हे अपने मालिको के लिय खेतो मे नील की खेती करनी पडती थी। सार्वजनिक कार्यकर्ताओ और पत्रो द्वारा शिकायतो को दूर कराने के सभी प्रयास निष्फल गये। बृजकिशोर प्रसाद और नन्दकिशोर लाल आदि बिहार के सार्वजनिक कर्ताओ के अनुरोध पर गाधीजी अप्रल 1917 म चम्पारन पहुचे। गाधीजी नील की खेती कराने वाले मालिको के सगठन और तीरहुत के कमिश्नर से बात करना चाहते थे परन्तु इनम उन्हे कोई सफलता न मिली अपितु चम्पारन के जिला मजिस्ट्रेट न उन्हे शान्ति भग होने के नाम पर, चम्पारन को छोडने के आदेश दिये जिन्हे गाधीजी ने मानने म इन्कार कर दिया। गाधीजी पर अभियोग चलाया गया। बिहार के उप राज्यपाल के दखल देने पर अभियोग को वापस ले लिया गया परन्तु गाधीजी की निडरता और साहस ने चम्पारन को सारे देश का विषय बना दिया। गाधीजी के प्रयासो से चम्पारन के किसानो की दशा की जाच करन के लिय एक जाच समिति का गठन किया गया। गाधीजी इस समिति के सदस्य थे। इसी समिति की रिपोर्ट पर चम्पारन भूमि सुधार अधिनियम पास किया गया जिसने किसानो की अनेक शिकायतो को दूर कर दिया। देश ने, विशेष कर किसानो ने, सत्याग्रह के प्रथम पाठ को चम्पारन मे सीखा।

**अहमदाबाद सत्याग्रह** अहमदाबाद म वेतनो की वृद्धि के प्रश्न पर मिल मालिको और मजदूरो म सघर्ष चल रहा था। श्रीमती अनुसूइया बाई के अनुरोध पर गाधीजी फरवरी 1918 मे अहमदाबाद पहुचे। उन्होने मिल मालिको से अनुरोध किया कि वे "वतन वृद्धि" के प्रश्न को विवाचन (Arbitration) द्वारा निश्चित करा ले। मालिको के इन्कार करने पर गाधीजी न मजदूरो को अहिंसक, शान्तिपूर्ण और एक जुट होकर हडताल करने का परामर्श दिया। यह हडताल 21 दिन तक चली। अन्त मे मजदूरो के वेतनो मे 35 प्रतिशत की वृद्धि कर हडताल को समाप्त किया गया। सत्याग्रह के अस्त्र की यह दूसरी विजय थी।

**खेडा सत्याग्रह** अहमदाबाद की हडताल समाप्त ही हुई थी कि गाधीजी का ध्यान बम्बई प्रान्त के खेडा जिले की ओर आकर्षित हुआ जहा किसान, फसल के नष्ट होने पर, सरकार से राजस्व को स्थगित करने का अनुरोध कर रहे थे। गाधीजी न खेडा म कर-बन्दी आन्दोलन को चलाया। सर्वश्री वल्लभ भाई पटेल इन्दूलाल यज्ञनीक, महादेव देसाई आदि ने इस आन्दोलन मे भाग लिया। यद्यपि सरकार ने दमन की नीति अपनायी, स्वय सेवको को बन्दी बनाया गया, किसानो की चल सम्पत्ति और पशुओ को बेचा गया, फिर भी किसान (सत्याग्रही) निडर, शान्त और दृढ रहे। अन्त

मे सरकार और किसानो के मध्य एक समझौता हुआ जिस पर कर बन्दी आन्दोलन स्थगित कर दिया गया।

इस तरह जहा उपयुक्त तीन सत्याग्रह आन्दोलनो की सफलता न गांधीजी को प्रोत्साहित किया वहा भारतीय जन साधारण को सत्याग्रह आन्दोलन का प्रशिक्षण प्राप्त हुआ। लोगो म अद्वितीय जागृति उत्पन्न हुई और स्वतन्त्रता के लिये दुःख सहन और सगठन बनाने की भावनायें पैदा हुई।

## रौलट या काला अधिनियम
## (Rowlatt or Black Act)

क्रान्तिकारियो और आतकवादियो का दमन करने के लिये प्रथम महायुद्ध के दौरान भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत नौकरशाही को अनेक शक्तियो से विभूषित किया गया था। यह अनुभव करते हुए कि युद्ध के बाद ये विशेष शक्तियाँ समाप्त हो जायेंगी वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड न न्यायाधीश सिडनी ए० टी० रौलट की अध्यक्षता मे 10 दिसम्बर 1917 को एक समिति का गठन किया जिसे "राजद्रोह के अस्तित्व की जाच करने के लिये और उससे निपटने के लिये कहा गया था।"[1] इस समिति की नियुक्ति का उद्देश्य 'कोई शिकायत दूर करना नही था बल्कि बगाल के तथाकथित क्रान्तिकारी षड्यन्त्र से निपटने के लिये कार्यकारिणी को अधिक शक्तिया दे कर सशक्त करने के लिये नये कानून बनवाना था।'[2] इस तरह ब्रिटिश नौकरशाही क्रान्तिकारियो और आतकवादियो के दमन के बहाने राष्ट्रवादियो और सुधारा के विरोध करने वालो को कुचलने के लिये पहले मे ही अपने शस्त्रागार म दुधारा (Double edged) अस्त्र को सुरक्षित कर लेना चाहती थी।

रौलट समिति की रिपोर्ट अप्रैल 1918 मे, मोन्टफोर्ड रिपोर्ट के प्रकाशित होने के ठीक बाद प्रकाशित की गयी थी। इस रिपोर्ट मे तिलक के कार्यों और उनके विरुद्ध राजद्रोह के मुकदमो की विशद व्याख्या की गयी थी। जैसाकि पवते न लिखा है कि "ऐसा प्रतीत होता था कि सर वेलेन्टाइल शिरोल ने जो गैर सरकारी तौर पर लिखा था उसी की इस सरकारी रिपोर्ट द्वारा पुष्टि करने की कोशिश की गयी थी।"[3] इस रिपोर्ट म स्पष्ट कहा गया था कि क्रान्तिकारी अपराधो से निपटने के लिये साधारण फौजदारी कानून अपर्याप्त है, प्रान्तीय सरकारो को नजरबन्दी (internment) की शक्तिया प्राप्त होनी चाहिये और कुछ परिस्थितियो मे बिना ज्यूरी (Jury) की सहायता के राजनीतिक अपराधो की जांच की व्यवस्था होनी चाहिये। समिति ने दण्डात्मक और प्रतिबन्धात्मक (punitive and preventive) दोनो प्रकार के उपायो का सुझाव दिया। इन सिफारिशो के आधार पर ही

1 पवते, टी० वी पू० उ० पृ० 440
2 वही पृ० 413
3 वही पृ० 438

साम्राज्यीय विधान परिषद (Imperial Legislative Council) मे दो विधेयक प्रस्तुत किये जिन्हे रौलट विधेयक कहा जाता है। इन्हे रौलट विधेयक केवल इसलिये कहा जाता है कि ये रौलट समिति की सिफारिशो पर आधारित थे। भारतीयो ने अपना विरोध प्रकट करने के लिये इन्हे "काले बिलो" की सज्ञा दी थी।

इन काले बिलो का विरोध सारे भारत ने एक स्वर से किया। परिषदो के अन्दर व बाहर, उग्रवादियो, उदारवादियो और मुस्लिम लीग के सदस्यो तथा सर्वसाधारण जनता ने प्रेस और मच के माध्यम से इनका विरोध किया। खापर्डे, विट्ठल भाई, मालवीय, सुरेन्द्रनाथ, राजा साहिब महमूदाबाद, मजहरूल हक, जिन्ना आदि ने इनका विरोध किया। श्रीनिवास शास्त्री ने तर्कों के आधार पर इन्हे वापस लेने का अनुरोध किया। सर तेजबहादुर सप्रू ने चेतावनी दी कि इन दमनकारी कानूनो से देश एक भयकर आन्दोलन की भवरो मे फस जायगा।"[1] कुछ सदस्यो ने इन्हे सुधारो के अन्तगत स्थापित की जाने वाली परिषदो के गठित होने तक स्थगित करने का सुझाव दिया। गाधीजी ने भी चेतावनी दी थी कि यदि इन विधेयको को पास कर दिया गया तो वे इसका विरोध सत्याग्रह द्वारा करेंगे। सवत्र विरोध और चेतावनियो के बाद भी सरकारी मतो के आधार पर 18 मार्च, 1919 को एक विधेयक[2] पास हो गया और 21 मार्च को वह कानून बन गया जिसे 'अराजकतापूर्ण और क्रान्तिकारी अपराध कानून, *1919 (Anarchical and Revolutionary Crimes Act 1919)* की सज्ञा दी गयी। चिन्तामणि लिखते है कि "परिषदो के गैर भारतीय सदस्यो और मनोनीत सदस्यो सबने विधेयको का तमाम रूप से विरोध किया परन्तु सरकार अपनी बात पर अडी रही और तनिक भी न झुकी।"[3]

अराजकतापूर्ण और क्रान्तिकारी अपराध कानून बहुत ही अन्यायपूर्ण और अपमानजनक था। यह राष्ट्र की प्रतिष्ठा पर धब्बा था। इसके अन्तगत नौकरशाही उचित राजनीतिक आन्दोलन का गला घाट सकती थी, नेताओ को बन्दी बना कर देश निकाला दे सकती थी, बिना अभियोग लगाये उन्हे अनिश्चित काल तक जेलो मे सडा सकती थी, न्यायालय ऐसी गवाही (Evidence) स्वीकार कर सकती थी जो इण्डियन एविडेन्स एक्ट के अनुसार मान्य नही थी, न्यायालय अपनी कार्यवाही को गुप्त रख सकती थी। नौकरशाही लोगो को जमानत देने के लिये या अपना पता देने के लिये या किसी स्थान पर रहने के लिये या किसी निर्दिष्ट काम से दूर रहने के लिये या थाने मे हाजरी देने के आदेश दे सकती थी। इस कानून की सबसे दुखद बात

1 Quoted by Singh G N Landmarks in Indian Constitutional & National Development p 359

2 See Singh G N Ibid p 357

3 Chintamani, C Y Indian Politics Since the Mutiny P 115

यह थी कि इसके अंतर्गत "दलील अपील या वकील का अधिकार"।[1] संक्षेप में इस कानून ने नागरिकों की उन सामान्य नागरिक स्वतन्त्रताओं को समाप्त कर दिया जिनकी रक्षा के लिये भारतीयों ने प्रथम महायुद्ध में खून[2] बहाया था।

महात्मा गांधी पहले ही सरकार को चेतावनी दे चुके थे कि यदि रौलट विधेयकों को पास किया गया तो वे सत्य के आधार पर अहिंसक सत्याग्रह द्वारा इसका विरोध करेंगे। रौलट एक्ट (अराजकतापूर्ण और क्रान्तिकारी अपराध कानून, 1919) के पास होने के बाद गांधीजी के पास सत्याग्रह शुरू करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प न था। इस उद्देश्य से उन्होंने बम्बई में सत्याग्रह सभा का निर्माण किया और 6 अप्रैल 1919 को हड़ताल की घोषणा कर दी। क्योंकि दिल्ली में इसकी सूचना समय पर प्राप्त नहीं हुई वहां 30 मार्च, 1919 को हड़ताल की गयी। दिल्ली में स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में एक जलूस निकाला गया। गोली की चेतावनी मिलने पर स्वामीजी ने अपना सीना (Chest) नंगा कर दिया। इस उत्साह और निडरता को देखकर पुलिस ने गोली नहीं चलाई परन्तु रेलवे स्टेशन पर हिंसक घटनायें हुई और गोली भी चलाई गयी।

सारे देश में 6 अप्रैल 1919 को हड़ताल की गयी, सभाओं का आयोजन किया गया, उपवास रखे गये और प्रार्थनायें की गयी। इस हड़ताल की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह पूर्ण, शान्तिमय और सफल हड़ताल थी। गांव और नगर बन्द थे, सवारियों और बैलगाडियों का चलना बन्द था, हलों तक को नहीं जोता गया।[3]

## जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड
## (Jallianwalla Bagh Tragedy)

6 अप्रैल 1919 को सारे देश में हड़ताल बड़ी शान्तिपूर्ण हुई परन्तु पंजाब दिल्ली, और बंगाल में कुछ दुर्घटनायें हुई। इस चिन्ता से स्वामी श्रद्धानन्द और पंजाब के कांग्रेसी नेताओं—डा० सत्यपाल और डा० किचलू के निमन्त्रण पर गांधीजी बम्बई से 7 अप्रैल को गाड़ी से रवाना हुए। दिल्ली के पास पलवल (अब हरयाणा में) नामक स्टेशन पर उन्हें दिल्ली और पंजाब में जाने से मनाही के आदेश[4] दिये गये। गांधीजी ने इस आदेश को मानने से इनकार कर दिया। इस पर उन्हें बन्दी बनाकर वापस बम्बई भेज दिया गया। अहमदाबाद में गांधीजी की गिरफ्तारी की सूचना मिलते ही लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गयी और अनेक हिंसक घटनायें घटी।

1 See Pts I to III of Criminal & Revolutionary Act 1919,
2 देखिये सीकरी, एम० एल० भारतीय संविधान का इतिहास, पृ० 365
3 देखिये राजेन्द्र प्रसाद आत्म कथा पृ० 116
4 गांधीजी को यह आदेश भारत सरकार ने, दिल्ली और पंजाब सरकार के

पजाव ने युद्ध काल मे सरकार की पुरषो, धन और पदार्थो (Men, Money and Material) से अत्यधिक सहायता की थी परन्तु सरकार द्वारा दमन भी पजाब मे ही सबसे अधिक किया गया था। इस कारण पजाब मे असन्तोष और उत्तेजना का वातावरण था। यद्यपि पजाब क्रांतिकारियो का गढ था परन्तु अब पजाब के नेता आन्दोलन को शान्तिपूर्ण और वैधानिक ढग पर चलाना चाहते थे।[1] 10 अप्रल, 1919 तक पजाब म शान्ति थी। 9 अप्रल 1919 को अमृतसर म "राम नवमी" (Ram Naumi) का उत्सव बडी शान्ति से मनाया गया। इस उत्सव मे मुसलमानो ने भी भाग लिया। हिन्दू मुसलमानो की इस एकता को देखकर पजाब के उप गवनर सर माइकेल ओ डायर (Sir Michael O' Dwyer) आश्चयचकित रह गये। नगर म उत्तेजना पदा करने के लिये 10 अप्रल, 1919 को अमृतसर के दो प्रमुख नेताओ, डा० सत्यपाल और डा० किचलू को नजरबन्द कर धमशाला निष्कासित कर दिया गया। शहर म इन नेताओ की गिरफ्तारी की खबर फलते ही हडताल की घोषणा कर दी गयी और लोगो की भीड डिप्टी कमिश्नर के मकान की ओर बढने लगी। इस समय तक भीड पूणतया शान्त और अहिंसक थी।[2] पुलिस ने उन्हे रेलवे लाइन के पास तितर बितर होने का आदेश दिया परन्तु भीड के इनकार करने पर पुलिस ने उस पर गोलियो की बौछार की जिससे दो व्यक्ति मारे गये और अनेक घायल हुए। मरो हुओ को कधो पर लेकर भीड उत्तेजित होकर वापस लौटी। अनेक हिंसक घटनायें घटी, रास्ते म यूरोपीय स्त्री पुरुष और बच्चो को बुरी तरह पीटा गया, नेशनल बैंक और ऐलाइ स बैंक को आग लगा दी गयी उनके यूरोपीय मैनेजरो की हत्या की गयी, टाउनहाल और सावजनिक इमारतो को आग लगाई गयी, टेलीफोन के तार काट दिय गय, मिस शेरवुड (Miss Sherwood) नाम की एक प्रचारिका को गली में अधमरा छोड दिया गया।

पजाव के गवनर सर माइकेल ओ डायर ने जाल धर सैनिक डिवीजन के कमाण्डेन्ट ब्रिगडियर जनरल ओ डायर (Brig -General O Dyer) को अमृतसर शहर की कमाण्ड द दी। जनरल डायर 11 अप्रल को अमृतसर पहुँचा। वह बदले की भावना से अमृतसर आया था, वह आतक फलाना चाहता था, वह लोगो को ऐसा सबक सिखाना चाहता था कि व कभी हँस न सक। इस उद्देश्य स उसने 12 अप्रैल को अनेक गिरफ्तारिया की, सारे शहर मे 144 धारा लगादी, जलूसो और सभाओ पर प्रतिबन्ध लगा दिय। परन्तु इन सबकी घोषणा शहर के सभी स्थानो पर नही की गयी थी।

---

1 See Singh, G N Ibid p 362

2 The Disorders Inquiry Committee Report Quoted by Singh G N Ibid p 363

जनरल डायर के कारनामो से जनता उत्तेजित थी। पुलिस अत्याचारा का निन्दा करने के लिये और मृतको के लिये शोक प्रस्ताव पास करने के लिय हिन्दू नव वर्ष के दिन, 13 अप्रैल 1919 को साय 4½ बजे जलियावाला बाग म एक सावजनिक सभा का आयोजन किया गया। अधिकारियो ने सभा को रोकने का कोई प्रयत्न नही किया। जब लगभग 20,000 पुरुष, स्त्रिया व बच्चे, बूढे और जवान, बाग मे एकत्रित हो गये तो जनरल ओ डायर 100 भारतीय सिपाहियो 50 अग्रेज सिपाहियो और दो जिरहबख्तर कारो (armoured cars) के साथ बाग म पहुँचा। बाग का रास्ता इतना तग था कि जिरहबख्तर कारो को बाग के बाहर ही छोडना पडा। डायर सिपाहियो के साथ बाग के अन्दर गया और एक ऊँची टेकडी स बिना चेतावनी दिये 'निर्दोष, निरपराध निशस्त्र पुरुषो और बच्चो पर" अन्धाधुन्ध गोलियो की बौछार करनी शुरू करदी। गोलिया दस मिनट तक लगातार बरसती रही और तभी बन्द हुई जब सारा बारूद समाप्त हो गया। कुल मिलाकर 1650 गोलिया चलायी गयी। सरकारी आकडो के अनुसार 379 की मृत्यु हुई और 200 घायल हुए, सेवा समिति के आकडो के अनुसार 500 की मृत्यु हुई और 1000 से अधिक घायल हुए। लाला गिरधारी, पजाब चैम्बर ऑफ कामस के उप अध्यक्ष, के अनुसार मरने वालो की सख्या 1000 से कम न थी। इस निमम नर सहार काण्ड की सबसे दु खद बात यह थी कि मृतको और घायलो को सिपाहियो ने अपने बूटो से लताडा, मृतको और घायलो को बिना पानी और डाक्टरी सहायता के खून से लतपत, पीडा से कराहते हुए लोगो को सारी रात भर बाग म ही पडे रहने दिया।

जनरल डायर सम्भवत जलियावाला बाग के हत्याकाण्ड से सन्तुष्ट नही था। वह ब्रिटिश सत्ता को बनाय रखने के लिय हर सम्भव काय करन को इच्छुक था। जिन अमानवीय और बबर विपदाओ को लोगो पर ढाया गया वे विषय म एक मात्र उदाहरण हैं। जिस गली म शेरवुड पर आक्रमण किया गया था उसम कई दिन तक लोगो को कोडे मारे गय और लोगो को पेट के बल रेंगकर चलने को बाध्य किय गये, नलों म पानी का बन्द करना, बिजली काटना, भिखमगो व साधुओ तक को बेत लगाना, पुरुषो को कोडे मारना, तीसरे दर्जे का टिकट न देना, अफसरो को सलामी देना सैनिक अफसरो के समक्ष और थाने म हाजरी देना, नगर को बिना इजाजत न छोडना, सावजनिक भोजनालयो को बन्द करना अपराधियो को वकील चुनने की आज्ञा न देना, मार्शल ला के पोस्टरो को हटाने पर दण्ड देना मेला म गड्डे निशानो की भाड पर गोलिया चलाना आदि सामान्य बातें थी।

सारे पजाब म मार्शल लॉ लागू कर दिया गया। यद्यपि सरकार का कथन था कि मार्शल लॉ की घोषणा 10 अप्रैल को कर दी गयी थी परन्तु वास्तविकता यह

थी कि अमृतसर और लाहौर में इसकी घोषणा 15 अप्रैल को और अन्य जिलों में 17 अप्रैल को की गयी।[1] जलियाँवाला बाग की प्रतिक्रिया के रूप में लाहौर, कसूर, गुजरावाला आदि स्थानों में अनेक हिंसक घटनायें घटीं। सरकार ने हर स्थान पर लोगों पर गोलियों की बौछारें कीं। गुजरावाला में तो हवाई जहाजों और मशीनगनों द्वारा गोलियाँ चलायी गयीं।

गाधी सहित अनेक भारतीय नेताओं ने पंजाब आने की इच्छा व्यक्त की परन्तु उन्हें इजाजत नहीं दी गयी। पंजाब से सूचनाओं का बाहर जाना भी बन्द कर दिया गया। पंजाब की घटनाओं पर अपना रोष प्रकट करने के लिये कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी नाइटहुड (Knighthood) की उपाधि को त्याग दिया और गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद के भारतीय सदस्य शंकरन् नायर ने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया। सारे देश में पंजाब काण्ड की निष्पक्ष जाच की माग की जाने लगी। सरकार ने चार महिने तक चुप्पी ठाने रखी। बाद में अनुभव करते हुए कि लोगों के रोष की सीमा खत्म हो गयी सरकार ने लार्ड हण्टर की अध्यक्षता में एक जाच समिति की नियुक्ति की। इसके अन्य सदस्य थे जस्टिस रैंकिन, मि० राइस, मेजर जनरल सर जार्ज बैरो, सर चिमनलाल सितलवाद और साहबजादा सुल्तान अहमद। बाद में पण्डित जगतनारायण और टामस स्मिथ को भी इस समिति में शामिल कर लिया गया।[2]

हण्टर समिति के समक्ष अपने बयानों में जनरल डायर ने स्वीकार किया कि "निर्दय हत्या करने में उसका मूल उद्देश्य अच्छी तरह से गोली चलाना था ताकि दोबारा किसी को गोली चलाने का अवसर ही न मिले।" उसने इस बात को भी स्वीकार किया कि वह "लोगों के नैतिक बल को नष्ट करना चाहता था" और घायलों को मेडीकल सहायता देना उसका कर्तव्य नहीं था।"

कांग्रेस ने सारे काण्ड की जाच करने के लिये अपनी एक पृथक समिति का निर्माण किया। श्री के० सन्तानम इसके मन्त्री थे और मोतीलाल नेहरू, सी० आर० दास०, अब्बास तय्यबजी, एम०आर० जयकर, फजलुल हक और महात्मा गाधी इसके सदस्य थे। इस समिति का निश्चित मत था कि जलियावाला बाग का हत्याकाण्ड "निर्दोष, निरपराध, निशस्त्र पुरुषों और बच्चों का सुनिश्चित क्रूर हत्याकाण्ड था, जो अपनी हृदयहीनता और कायरतापूर्ण पाशविकता के लिये आधुनिक समय में बेमिसाल है।"[3] समिति का यह मत भी था कि इस हत्याकाण्ड के लिये सरकार ही उत्तरदायी थी, उसने नेताओं को नजरबन्द कर, लोगों पर गोलियां चलाकर उन्हें भड़काया था।

---

1 दखिये पवते, टी० बी० पू० उ० पृ० 443
2 See Singh, G N Ibid p 371
3 पवने, टी वी द्वारा उद्धृत, पृ० 449

हन्टर समिति की रिपोट प्रकाशित होने से पूर्व ही पंजाब सरकार ने अत्याचार से सम्बन्धित अधिकारियों को मुक्त करने के लिये क्षतिपूर्ति अधिनियम (Indemnity Act) पास कर दिया। जब 1920 में हन्टर समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो वह और भी निराशाजनक थी। उसने सारे काण्ड पर और प्रशासन के कुकर्मों को छुपाने की कोशिश की। सर माईकेल ओ डायर को कोई दण्ड नहीं दिया, जनरल डायर को सेवा से मुक्त कर दिया गया परन्तु उसके कुकर्मों को, उसके निर्णय की, जो स्थिति की युक्तिमूलक आवश्यकताओं को नहीं समझ सका था, एक भयंकर भूल बताया और उसके आचरण को कर्तव्य से सत्यनिष्ठ परन्तु गलत धारणा पर आश्रित बताया। इतना ही नहीं, ब्रिटिश जनता, ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश संसद में उसकी कर्तव्य परायणता और वफादारी के गुण गाये गये। जिस व्यक्ति को भारतीय खूनी राक्षस, हृदयहीन और क्रूर समझता था ब्रिटिश समाज उसे साम्राज्य का शेर और रक्षक समझता था। उसके प्रशंसकों द्वारा उसे एक तलवार और 20,000 पौंड की थली भेंट की गयी।[1] अपराधों और अत्याचारों को बढ़ावा देने वाले अनेक पदाधिकारियों को कोई दण्ड नहीं दिया गया।

हन्टर समिति की रिपोट और उस पर अपनाये गये ब्रिटिश सरकार के रवैये ने ही गांधीजी को सहयोगी से असहयोगी बना दिया। एक अन्य घटना जिसने गांधीजी को असहयोगी बनाया वह थी 'खिलाफत का प्रश्न।'

## खिलाफत आन्दोलन

### (The Khilafat Movement)

सन् 1918–19 के वर्ष भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में अत्यन्त असन्तोष और क्लेश के वर्ष थे। रौलट विधेयकों और जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड से लोगों में रोष की अग्नि का संचार हो रहा था। ठीक इसी समय खिलाफत के प्रश्न पर भारतीय मुसलमान भी चिन्तित, बेचैन और उत्तेजित हो रहे थे। मुसलमानों के लिये तुर्की का सुल्तान इस्लाम जगत का खलीफा (धार्मिकगुरु ईश्वर का प्रतिनिधि) था। प्रथम महायुद्ध में टर्की ने जर्मनी का साथ दिया था। इस तरह जहां भारतीय मुसलमानों की धार्मिक भक्ति तुर्की के प्रति थी वहां उनकी राजनीतिक भक्ति ब्रिटेन (मित्र राष्ट्र) के प्रति थी। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री लॉयड जार्ज ने (5 जनवरी 1918 को) भारतीय मुसलमानों को विश्वास दिलाया था कि "युद्ध के बाद इंगलैण्ड तुर्की के प्रति प्रतिशोध की नीति नहीं अपनायेगा उसके साम्राज्य को छिन्न भिन्न नहीं होने देगा और उसके एशियाई प्रदेशों और थ्रेस के धार्मिक स्थानों को हानि नहीं पहुंचायेगा।

---

1 उधमसिंह ने 21 वर्ष बाद सर माईकेल ओ डायर की 13 मार्च 1940 को हत्या करके पंजाब के हत्याकाण्ड का बदला लिया जिसमें उसके पिता की जान गयी थी।

ब्रिटेन के इसी विश्वास पर भारतीय मुसलमानो का सन्तोष हो गया और उन्होने अन्य भारतीयो की तरह ब्रिटिश सरकार की तन मन धन से सेवा की।

परन्तु अक्टूबर 1918 से ही ये अफवाहे फैलनी शुरू हो गयी कि युद्ध के बाद तुर्की पर अपमानजनक शर्तें थोपी जायेंगी, उसके साम्राज्य को छिन्न भिन्न किया जायगा और उसके धार्मिक नेतृत्व को भी नष्ट करने का प्रयास किया जायगा। इसका विरोध करने के लिये ही भारतीय मुसलमानो ने खिलाफत आन्दोलन को शुरू किया जिसके मुख्य तीन उद्देश्य थे —

(i) तुर्की साम्राज्य को छिन्न भिन्न होने से रोकना,

(ii) तुर्की पर अपमानजनक शर्तो को लादने से रोकना,

(iii) तुर्की के सुल्तान के धार्मिक नेतृत्व को स्थायी बनाये रखना।

इस तरह खिलाफत आन्दोलन भारत मे विदेशी प्रश्न को लेकर देशीय आधार पर चलाया गया था। इस आन्दोलन के प्रमुख नेता थे—मुहम्मद अली, शौकत अली और अबुल कलाम आजाद। इनके नेतृत्व मे भारतीय मुसलमानो ने अपने आपको खिलाफत आन्दोलन मे सगठित कर 27 अक्टूबर 1919 को खिलाफत दिवस के रूप मे मनाया। 24 नवम्बर 1919 को दिल्ली मे एक खिलाफत सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमे हिन्दुओ ने भी भाग लिया। इस सम्मेलन की अध्यक्षता महात्मा गाधी ने की। गाधीजी ने, जो स्वय हिन्दू मुस्लिम एकता के पुजारी थे और जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये इनकी एकता पर बल देते थे, इस अवसर को हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये सुअवसर समझा। उन्होने अपने अध्यक्षीय भाषण मे न केवल खिलाफत आन्दोलन का समर्थन किया बल्कि हिन्दू मुस्लिम एकता और सहयोग पर भी बल दिया। कुछ समय तक तो ऐसा महसूस होने लगा कि 1857 के विद्रोह के बाद जो हिन्दू मुस्लिम सदभावना समाप्त हो गयी थी कही वो पुन लौट तो नही आयी।

अपने अध्यक्षीय भाषण मे ही गाधीजी ने असहयोग आन्दोलन की ओर सकेत कर दिया था। उन्होने कहा था कि "सहयोग देने से इनकार करना लोगो का अविच्छेद्य अधिकार है यदि खिलाफत जैसे महान प्रश्न पर भी सरकार धोखा दे सकती है तो हम असहयोग के अतिरिक्त और कर ही क्या सकते है ?"

गाधीजी के अनुरोध पर ही 19 जनवरी 1920 को डा० एम० ए० अन्सारी के नेतृत्व मे एक शिष्टमण्डल वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड से मिला परन्तु उसका फल नही हुआ। एक अन्य मुस्लिम शिष्टमण्डल मार्च 1920 को मौलाना मुहम्मद अली के नेतृत्व मे इग्लैण्ड भेजा गया। परन्तु वहा भी, भारत सचिव माण्टेग्यू की सम्भावना होते हुए भी, उसे सफलता नही मिली और वह खाली हाथ भारत लौट आया।

14 मई 1920 को सीवर्स सन्धि (Treaty of Sevres) की शर्तों का प्रकाशित किया गया। इनके प्रकाशित होते ही भारतीय मुसलमानो मे उत्तेजना का

सचार हुआ । गाधीजी के कहने पर उन्होने असहयोग आन्दोलन को स्वीकार कर लिया । खिलाफत आन्दोलन की शाखाये सारे भारत म खोल दी गयी। मुस्लिम धार्मिक सस्थाओ ने भी इस आन्दोलन मे सहयोग दिया । मुस्लिम उलेमाओ न अपने आपको जमीयत उल उलेमा (Jamiat ul-ulema) मे सगठित करके आन्दोलन में सहयोग दिया । उलेमाओ न यह "फतवा निकाल दिया कि सरकार के साथ किसी प्रकार का सहयोग करना हराम है ।"[1]

परन्तु जब भारतीय मुसलमान खिलाफत आन्दोलन को (असहयोग आन्दोलन के अ ग के रूप मे) चला रहे थे तो तुर्की की राजनीति मे शीघ्र और उग्र परिवर्तन हुए जिनको देख कर भारतीय मुसलमान हक्के बक्के रह गये । स्वय तुर्कियो ने सुल्तान अब्दुल हमीद और उसकी खिलाफत को समाप्त कर दिया । तुर्की के नये शासक कमाल पाशा की रुचि धर्म म नही थी । अत उसने सल्तनत और खिलाफत को समाप्त करके तुर्की मे धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना कर दी । जब बांस ही न रहा तो बासुरी बजाने का प्रश्न ही नही था, जब स्वय तुर्कियो ने खिलाफत को समाप्त कर दिया तो भारतीय मुसलमानो के लिये विदेशी प्रश्न के आधार पर आन्दोलन चलाना व्यर्थ था । इन सब घटनाओ ने भारतीय मुसलमानो मे अस्थिरता और उदासीनता को जन्म दिया, हिन्दू मुस्लिम एकता को हमेशा के लिये समाप्त कर दिया और मापला विद्रोहो ने साम्प्रदायिक दगो को बढावा दिया । सक्षेप म, भारतीय राजनीतिक आन्दोलन म इस विदेशी तत्त्व को जोडना अराजनीतिकता और अदूरदर्शिता का द्योतक था ।

## असहयोग आन्दोलन (1920-1922)
## (Non Cooperative Movement 1920-1922)

**कारण** यद्यपि पिछले पृष्ठो मे असहयोग आन्दोलन के कारणो का विस्तारपूर्वक व्याख्या की गयी है फिर भी विद्यार्थियो की सुविधा के लिये उन्हे यहा सक्षेप मे लिख देना अनुचित न होगा । आन्दोलन के प्रारम्भ होने के मुख्य कारण निम्न थे—

**1 माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारो से असन्तोष**—प्रथम महायुद्ध के दौरान भारतीयो ने तन, मन, धन से अ ग्रेजो की सहायता की थी । अ ग्रेजो न भारतीयो की इस सहायता की प्रशसा भी की । अ ग्रेज यह भी घोषणा कर रहे थे कि युद्ध "विश्व मे प्रजातन्त्र को सुरक्षित" (to make the world safe for democracy) रखने के लिए लडा जा रहा था । राष्ट्रपति विल्सन न अपने चौदह सिद्धान्तो म आत्म निर्णय के सिद्धान्त की बात कही थी । इन सब बातो न भारतीयो म यह आशा जाग्रत कर दी थी कि युद्ध के पश्चात उनके देश म स्वशासित सस्थाओ की स्थापना की जायगी। परन्तु जो सुधार योजनाएँ जुलाई 1918 म प्रकाशित की गई उनसे भारतीय न

---

1 ङा० राजेन्द्र प्रसाद, आत्म कथा, पृ० 20

केवल असन्तुष्ट हुए बल्कि निराश भी हुए। जैसाकि ऐनी बेसेन्ट ने लिखा है कि "ऐसे सुधारों का देना जहां इंग्लैण्ड के अनुदार दृष्टिकोण का सूचक था वहां इनको स्वीकार करना भारत के लिए अपमानजनक था।"

2 **आर्थिक कठिनाइयाँ**—सन् 1917 से 1920 तक भारतीयों को अनेक प्रकार की आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिससे उनमें असन्तोष की भावना जागृत हुई। सर्वप्रथम, युद्ध प्रयासों के कारण कृषि विकास की ओर ध्यान नहीं दिया गया था जिससे अनाज की कीमतें बहुत बढ़ गईं। दूसरे, अंग्रेजों का व्यवहार बिहार के चम्पारन और गुजरात के खेड़ा किसानों के प्रति इतना अमानुषिक था कि उससे भारत में असन्तोष उत्पन्न हुआ। तीसरे, प्राकृतिक प्रकोप भी इस समय प्लेग और इन्फ्लूएन्जा के रूप में प्रकट हुआ। चौथे, जो लोग युद्ध के दौरान भरती किये गये थे उन्हें युद्ध के बाद निकाल दिया गया। ये लोग बेकार हो गये और रोजगार उपलब्ध न होने से असन्तोष का जन्म होना स्वाभाविक था। संक्षेप में, प्रथम युद्ध के बाद सारा भारत आर्थिक संकट और राजनीतिक निराशा में डूबा हुआ था।

3 **रौलट विधेयक**—युद्ध के संकट का सामना करने के लिए जो अस्थाई विशेषाधिकार ब्रिटिश नौकरशाही को दिये गये थे वह युद्ध के बाद भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहती थी अपितु क्रान्तिकारियों तथा आतंकवादियों का सफाया करने के लिए तथा सामान्य रूप में भय उत्पन्न करने के लिए उन्हें अपने पास रखना चाहती थी। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए जस्टिस सिडनी रौलट की समिति की सिफारिशों के आधार पर केन्द्रीय व्यवस्थापिका में दो विधेयक प्रस्तुत किये गये जो रौलट विधेयकों के नाम से प्रसिद्ध है। विधान मण्डल में गैर सरकारी सदस्यों ने एकमत से इन विधेयकों का विरोध किया परन्तु सरकारी बहुमत के कारण ये विधेयक पास हो गये। इन विधेयकों का विरोध "काले विधेयक (black Acts) कह कर किया गया। सारे भारत में इनका विरोध करने के लिए प्रदर्शन किये गये, जलूस निकाले गये तथा हड़तालें की गईं। परन्तु ब्रिटिश निरंकुश एवं निष्ठुर सरकार तथा नौकरशाही पर इनका प्रभाव न पड़ा।

4 **जलियावाला बाग हत्याकांड**—पंजाब में माईकल ओ डायर का दमनकारी शासन, उसके द्वारा सेना में भारतीयों को भरती करने के लिए अपनाये गये अत्याचारी तरीके तथा जबरदस्ती वसूल किये गये युद्ध सहायता धन और नेताओं पर ढाये गये अत्याचार ही पंजाब में हुए उपद्रव तथा दंगों के लिए उत्तरदायी थे। डायर ने पंजाब में मार्शल ला लागू कर दिया तथा दंगा को दमन करने के लिए सेना की सहायता ली। इसी सम्बन्ध में 13 अप्रेल 1919 को जलियावाला बाग का अमानुषिक हत्याकाण्ड हुआ। जनरल डायर ने बिना चेतावनी दिये निहत्थे अ. **मया,** स्त्रियों और बच्चों पर उस समय तक गोली चलाई जब तक बारूद समाप्त गया। यह सारा काण्ड इतनी निर्दयता से किया गया कि डायर ने घायल

म ही तड़पने छोड़ दिया। आश्चर्य की बात तो यह है कि जनरल डायर ने यह सारा काण्ड जान बूझकर आतंक और भय पैदा करने के लिए किया। इस काण्ड ने गहन असन्तोष को जन्म दिया जो असहयोग आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ।

**5 सरकार की दमनकारी नीति तथा अमानुषिक व्यवहार**—पंजाब में मार्शल ला प्रशासन ने लोगों पर जो अत्याचार ढाये उनका उदाहरण विश्व में कहीं नहीं मिलता। सेडीशन एक्ट (Sedition Act) और प्रेस एक्ट का खुलमखुला प्रयोग किया गया। लोगों को अनेक प्रकार के अपमानों और तिरस्कारों को सहन करना पड़ा। नलों में पानी बन्द करना, बिजली काटना, पेट के बल रेंग कर चलना (उस गली में जहाँ मिस शेरवुड की हत्या की गई थी) स्त्रियों के सामने पुरुषों को नंगा करके बेंत लगाना, तीसरे दर्जे का टिकट न देना, नगर को बिना इजाजत न छोड़ना, सार्वजनिक रसोई घरों को बन्द करवाना, मार्शल ला के पोस्टरों को हटाने में सजायें देना, अपराधियों को वकील चुनने की आज्ञा न देना, सन्देहास्पद व्यक्तियों को बिना किसी वारन्ट के गिरफ्तार करना आदि मामूली बातें थी। सर वेलेंटाइन शिरोल (Sir Valentine Chirol) के शब्दों में "जनता को खुले आम कोड़े लगवाना, बिना किसी अपराध के गिरफ्तार करना, सम्पत्ति जब्त करना, आदि दमनकारी कार्य विद्रोहियों और आतंकवादियों को दण्ड देने के लिए नहीं किए गए थे, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र को अपमानित एवं आतंकित करने के लिए किए गये थे।"[1] स्पष्ट है कि ये सब बातें भारतीयों के लिए न केवल अपमानजनक थीं अपितु असहनीय भी थीं। संक्षेप में, जो अंगारे दमन और आतंक की बर्फ के नीचे ढके हुए थे वे असहयोग के रूप में प्रकट हुए।

**6 खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमानों में असन्तोष**—मुसलमानों के खलीफा टर्की के सुल्तान, के प्रति ब्रिटिश सरकार की क्रूर नीति से भारतीय मुसलमान न केवल असन्तुष्ट थे बल्कि उत्तेजित भी हो रहे थे। उन्होंने अपने आपको खिलाफत सम्मेलन (Khilafat Conference) में संगठित किया। नवम्बर 24, 1919 को दिल्ली में हिन्दू मुसलमानों की एक सभा आयोजित की गई। इस सभा के लिए महात्मा गांधी को अध्यक्षता करने के लिए निमन्त्रित किया गया। यह पहला अवसर था कि मुस्लिम सभा के लिए एक हिन्दू को अध्यक्ष पद के लिए निमन्त्रित किया गया था। गांधीजी ने, जो पहले ही हिन्दू मुस्लिम एकता के पक्के समर्थक थे, इस अवसर को हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए उपयुक्त अवसर समझा।

संक्षेप में माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों से असन्तोष, आर्थिक कठिनाइयाँ, रौलट विधेयक, सरकार की दमनकारी और अपमानजनक नीति जलियांवाला बाग हत्या काण्ड और खिलाफत के प्रश्न ही असहयोग आन्दोलन को शुरू करने के कारण थे। इन्हीं घटनाओं के फलस्वरूप गांधीजी भी एक सहयोगी से असहयोगी बन गये और

---

1 Chirol, Sir Valentine India—Old and New,

इन अत्याचारो को समाप्त करने के लिए ही उन्होने मार्च 10, 1920 को असहयोग आन्दोलन की घोषणा कर दी।

**कांग्रेस द्वारा असहयोग आन्दोलन को स्वीकार करना**—महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन के प्रस्ताव को कांग्रेस के विशेष अधिवेशन मे, जो 1920 मे कलकत्ता मे हुआ, प्रस्तुत किया। इस प्रस्ताव का उद्देश्य उस समय तक "अहिंसक असहयोग की नीति को अपनाना था जब तक कि उपयुक्त न्याय दूर नही हो जायें" और "स्वराज्य की स्थापना न हो जाय।" उग्रवादी नेता तथा बाद मे जिन्होने स्वराज्य दल की स्थापना की जैसे देशबन्धु चितरंजन दास, बिपिन चन्द्रपाल प० मदन मोहन मालवीय ऐनी बेसेन्ट आदि नेताओं ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। परन्तु इनके विरोध के बावजूद यह प्रस्ताव 884 के विरुद्ध 1886 मतो से पास हो गया। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन मे, जो नागपुर म दिसम्बर 1920 मे हुआ, कलकत्ता अधिवेशन के असहयोग आन्दोलन के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया। यह कहा जाता है कि इस वार्षिक अधिवेशन मे असहयोग आन्दोलन का विरोध करने के लिए चितरंजन दास पूर्वी बंगाल और असम से 250 प्रतिनिधियो को अपने खर्चे पर लाये थे। परन्तु महात्मा गांधी के तर्को से चितरंजन दास भी प्रभावित हुए बिना न रह सके और कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन ने भी असहयोग आन्दोलन को पास कर दिया।

**असहयोग आन्दोलन का उद्देश्य**—असहयोग आन्दोलन के उद्देश्य मुख्यत दो थे (1) अहिंसक असहयोग द्वारा अमुक अन्यायो को दूर करना, (2) स्वराज्य की स्थापना करना। जैसाकि पट्टाभि सीतारमय्या ने लिखा है कि असहयोग आन्दोलन का उद्देश्य 'शान्तिमय व उचित उपायो से स्वराज्य प्राप्त करना।' कूपलण्ड के शब्दो म असहयोग आन्दोलन का उद्देश्य "ब्रिटिश भारत की जो भी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाएँ हैं उन सब का बहिष्कार कर दिया जाय और इस प्रकार सरकार की मशीनरी बिल्कुल ठप्प हो जाय।'

**असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम**—असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम निम्न प्रकार से निश्चित किया गया —

1 सरकारी उपाधियां और अवैतनिक पद छोड़ दिये जायें।
2 स्थानीय संस्थाओ के नामजद सदस्य त्याग पत्र दे दें।
3 सरकारी दरबारो, उत्सवो और भोजो मे शामिल न हुआ जाय।
4 सरकारी स्कूलो तथा कालेजो का बहिष्कार किया जाय तथा उनके स्थान पर राष्ट्रीय पाठशालाओ और कालेजो का निर्माण किया जाय।
5 सरकारी न्यायालयो का धीरे धीरे बहिष्कार किया जाय तथा जनता की पंचायतो की स्थापना की जाय।
6 सरकारी कार्य के लिए तथा सैनिक व असैनिक भर्ती के लिए तथा

मैसोपोटेमिया म सेवा के लिए कोई भारतीय अपनी सेवायें अर्पित नहीं करे।

7 विधान सभाओं का बहिष्कार किया जाय अर्थात् उम्मीदवार अपना नाम वापस ले लें तथा मतदाता अपने मतो का प्रयोग नहीं करें।

8 विदेशी माल तथा कपडे का बहिष्कार किया जाय तथा स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग किया जाय।

9 अस्पृश्यता का अन्त किया जाय।

10 हिन्दू मुस्लिम एकता को बढावा दिया जाय।

**असहयोग आन्दोलन की प्रगति**—कलकत्ता अधिवेशन के बाद गाधीजी ने सारे भारत की यात्रा कर असहयोग आन्दोलन का प्रचार किया। लोग महात्मा गाधी के कह बिना असहयोग आन्दोलन में भाग ले रहे थे। किसानो म तो विशेष उत्साह था। राय बरेली और प्रतापगढ के किसानो मे तो विशेष जोश था। पचायतों का निर्माण किया गया जो सफलतापूवक काम करने लगी। उम्मीदवारो ने, जो चुनाव मे खडे हुए थे अपने नाम वापस ले लिये, दो तिहाई से अधिक मतदाताओ ने अपने मत नही डाले, अनेक स्थानो पर मत पटिया खाली पडी रही, विद्यार्थी सरकारी स्कूलो तथा कालिजो से बाहर आ गये, राष्ट्रीय स्कूलो और कॉलिजो का निर्माण किया गया। काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, बगाल और पजाब के राष्ट्रीय विश्वविद्यालयो और दिल्ली के जामिया मिलिया की स्थापना इसी समय की गयी। हजारो वकीलो ने (मोतीलाल नेहरु, जवाहरलाल नेहरु, राजेन्द्र प्रसाद, सी० आर० दास लाला लाजपत राय, सी० राजगोपालाचार्य, पटेल, आदि) अपनी वकालत छोड दी। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया तथा उनकी होली जलाई गयी। चरखा कातना राष्ट्रीय एकता का प्रतीक बन गया और चरखा राष्ट्रीय चिन्ह बन गया। खद्दर और गाधी टोपी ने राष्ट्रीय पोशाक का रूप ले लिया। सम्मानित व्यक्तियो न अपनी उपाधियो को त्याग दिया। गाधी ने कैसरे-हिन्द टगोर न 'सर' और सेठ जमनालाल बजाज ने 'राय बहादुर' और अवैतनिक मजिस्ट्रेट की उपाधि त्याग दी। सर शकरन नायर ने कौंसिल की सदस्यता से त्याग पत्र दे दिया। हिन्दुओ और मुसलमानो म जो एकता इस समय देखने को मिली वह 1857 की स्वतन्त्रता की लडाइ के बाद पहली बार दिखाई दी। नेहरू जी लिखते हैं कि 'सवत्र हिन्दू मुस्लिम की जय का बोलबाला था।" मुस्लिम उलेमाओ और मुल्लाओ ने सरकार की सेवा करना हराम' (Sin) घोषित कर दिया। अली बन्धुओ (मौलाना मोहम्मद अली और मौलाना शौकत अली), मौलाना अबुल कलाम आजाद और डा० अन्सारी असहयोग आन्दोलन मे सक्रिय भाग ले रहे थे। भारतीयों ने बहिष्कार की नीति का अनुसरण करते हुए सरकारी उत्सवो और सरकारी मेहमानो का बहिष्कार किया। फरवरी 1921 मे जब कनॉट के ड्यूक (Duke of Connaught) भारत आये तो उनका स्वागत बहिष्कार और हडतालो से किया

गया। इसी तरह 7 नवम्बर 1921 को जब वेल्स के राजकुमार (Prince of Wales) भारत आये तो उनका स्वागत भी हड़ताल से किया गया।

इस आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसने लोगों में आत्म-विश्वास पैदा कर दिया था। राष्ट्रीय वेदी पर लोग अपना जीवन न्यौछावर करने के लिए उत्सुक थे। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है कि 'जब से भारत का सम्बंध ब्रिटेन के साथ स्थापित हुआ इसके इतिहास में जनता का क्षोभ तथा उत्साह इस सीमा तक पहले कभी नहीं पहुंचा था। इस दीर्घकाल में देश को अपने इतने अधिक सुपुत्रों की स्नेहपूर्ण एवं अडिग सेवा पहले कभी नहीं प्राप्त हुई थी। जनता का अपनी योग्यता में तथा अपनी कठिनाइयां स्वयं दूर कर लेने की क्षमता में इतना प्रबल विश्वास पहले कभी नहीं रहा था।'[1]

**सरकार का दमन चक्र और असहयोग आन्दोलन**—असहयोग आन्दोलन की प्रगति से सरकार अत्यधिक चिन्तित हुई और उसने असहयोगियों का दमन करने के लिए अपना दमन चक्र शुरू कर दिया। असहयोग आन्दोलन की गति और तीव्रता के साथ सरकारी कठोरता, निष्ठुरता और अमानुषिकता में तेजी आयी। आन्दोलन का निर्दयतापूर्वक दमन करने के लिये कोई भी बहाना पर्याप्त था। सरकार की नजरों में चरखा रखना देशद्रोहिता का चिह्न बन गया और उसके रखने वाले को तंग किया जाता था। 'सरकारी अराजकता और पाशविकता' अपनी चरम सीमा पर थी। अधिकांश नेताओं को बन्दी बना लिया गया था। अली बन्धु, मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजन दास, लाला लाजपत राय, सुभाषचन्द्र बोस आदि बड़े बड़े नेता भी बन्दी बना लिये गये थे। सन् 1921 के अन्त तक 50,000 व्यक्तियों से अधिक को कारागार में ठूंस दिया गया था। प० जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं कि "लोग अपने यौवन को जेल में बिता रहे थे।"[2] सभी सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे और राष्ट्रीय स्वयं सेवकों को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया था।

दूसरी ओर, असहयोग आन्दोलन से ब्रिटिश पदाधिकारी भी इतने भयभीत हो गये थे कि वे उन भारतीयों पर भी विश्वास नहीं करते थे जो उनके घरों में नौकर थे। वे हमेशा अपनी जेबों में रिवाल्वर (Revolver) रखते थे और यह कहा जाता है कि इलाहाबाद के किले को अंग्रेजों के लिए सुरक्षित रख लिया गया था।

---

1 Never before in the history of India, its connection with Britain, had popular indignation and popular enthusiasm been greater Never before during this long period had the country secured the loving and ungrudging services of her sons Never before had the faith of the people in themselves and in the country's ability to solve its own difficulties burned bright" —Dr Rajendra Prasad

2 'People were spending their youth in prison' Nehru, J L.

**गाधीजी की वायसराय रीडिंग को फरवरी 1922 की चेतावनी**—सरकार के अमानुषिक दमनचक्र के विरुद्ध गाधीजी ने फरवरी 1922 को वायसराय रीडिंग को एक पत्र लिखा जिसमे उन्होने उन्हे चेतावनी दी कि यदि एक सप्ताह के भीतर दमन-नीति मे परिवर्तन नही किया गया तो वे अवज्ञा आन्दोलन शुरू कर देंगे। परन्तु दुर्भाग्य से, एक सप्ताह समाप्त होने से पूर्व ही चौरीचौरा काण्ड हो गया और सविनय अवज्ञा की बात के साथ-साथ असहयोग आन्दोलन भी स्थगित हो गया।

**चौरीचौरा काण्ड तथा असहयोग आन्दोलन को स्थगित करना**—जब असहयोग आन्दोलन सशक्त और प्रभावशाली बन रहा था, जब भारतीयो मे आशावाद की जागृति स्वावलम्बन, उत्तेजना और निर्भीकता उत्पन्न हो गई थी, जब "निर्बल शोक और आग्रहपूर्ण प्रार्थनाओ का स्थान उत्तरदायित्व के एक नये भाव और स्वावलम्बन की एक नयी भावना' ने ले लिया था, सक्षेप मे, जब असहयोग आन्दोलन जन आन्दोलन बन गया था उस समय एक हिंसक घटना ने उमडती हुई ज्वालाओ पर वर्षा का काम किया। 5 फरवरी 1922 को असहयोगी सत्याग्रहियो का एक जलूस चौरी चौरा गाव (उत्तर प्रदेश मे गोरखपुर जिले म) से गुजर रहा था। जलूस के पिछले भाग पर पुलिस ने लाठिया बरसाई, इस पर जलूस पीछे मुडा। एक थानेदार तथा 21 सिपाहियो ने अपने आपको थाने मे छुपा लिया परन्तु सत्याग्रहियो की भीड ने थाने को ही आग लगा दी और थानेदार तथा सिपाहियो की हत्या हो गई। इस घटना की सूचना जब महात्मा गाधी को मिली तो उन्हे अत्यधिक दुख एव सताप हुआ। उनकी चिन्ता और मानसिक पीडा बढ गई। इस पर गाधीजी ने असहयोग आन्दोलन को 12 फरवरी 1922 मे अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया।

यद्यपि असहयोग आन्दोलन को बन्द करने का तत्कालीन कारण चौरीचौरा का काण्ड था परन्तु वास्तविकता यह थी कि सभी प्रमुख नेताओ के बन्दी कर लिए जाने पर योग्य नेतृत्व का अभाव हो गया था। जनता मे प्रतिशोध लेने की भावना बलवती हो रही थी। हिंसात्मक घटनायें बढ रही थी और गाधीजी के अहिंसक आन्दोलन मे हिंसा का कोई स्थान नही था। जैसाकि गाधीजी ने स्वय लिखा है कि "अहिंसा मानव जाति का विशिष्ट गुण है जबकि हिंसा पशुओ का गुण है।"[1] गाधीजी को यह भी नजर आ रहा था कि हिंसा की घटनाएँ बढने से सरकार भी खून बहाने और आतक से राज करने में कभी हिचकिचाहट नही करेगी। इसलिए उन्होने आन्दोलन को वापस ले लिया।

**असहयोग आन्दोलन स्थगित करने पर गाधीजी की आलोचना**—गाधीजी द्वारा असहयोग आन्दोलन को स्थगित किये जाने की सूचना जब अन्य कांग्रेसी नेताओ को जो उस समय जेल मे थे मिली तो उन्होने गाधीजी के इस कार्य की आलोचना की। प० जवाहर लाल नेहरू, प० मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपत राय, सुभाष चन्द्र बोस आदि नेताओ ने कहा कि 'एक स्थान के पाप के कारण सारे

1 'Non violence is the law of our species as violence is the law of the brute "Gandhi Mahatama

भारत को दण्ड देना" गलत है। "जब जनता का उत्साह चरम सीमा पर था उसे मैदान छोडने के लिए कहना दुर्विपाक (राष्ट्रीय सकट) से कुछ कम न था।"[1] जवाहर लाल नेहरु के शब्दो म "हमने बडे आश्चय और उद्वेग के साथ जेल मे सुना कि गाधी जी ने हमारे सघष के उग्र पहलुओ को रोक दिया है और सविनय अवज्ञा आदोलन का स्थगित कर दिया है।"[2] जब सभी मोर्चों पर भारतीय आगे बढ़ रहे थे उस समय पीछे लौटने के लिए कहना न केवल सैद्धातिक भूल थी बल्कि व्यावहारिक भूल थी। इसके स्थगित होने से हिन्दू मुस्लिम एकता को ऐसा धक्का लगा कि दोनो जातियाँ फिर कभी एक दूसरे का सहयोग न कर सकी।

गाधीजी के प्रति असन्तोष की लहर का लाभ उठाकर 4 माच 1922 को सरकार ने उन्ह गिरफ्तार कर लिया तथा उन पर 18 माच 1922 को अहमदाबाद मे ब्रूमफील्ड की अदालत म मुकदमा शुरू किया गया। गाधीजी को सरकार के विरुद्ध जनता मे विद्रोह भावना जागृत करने के अपराध म 6 वष की जेल की सजा दी। पर तु उनका स्वास्थ्य बिगडने के कारण उ हे 5 फरवरी 1924 को रिहा कर दिया।

**असहयोग आन्दोलन का मूल्याकन**—असहयोग आन्दोलन के मूल्याकन को दो दृष्टिकोणो से देखा जा सकता है एक इसकी आलोचना और असफलता के रूप मे और दूसरे इसके महत्त्व के रूप मे।

**(अ) असहयोग आन्दोलन की असफलता**—असहयोग आन्दोलन अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने म असफल रहा। न तो यह उन अमानुषिक विधेयको को दूर करा सका जिनको दूर कराने के लिये इसे शुरू किया गया था और न ही सरकार को दमन चक्र बन्द करने के लिये बाध्य कर सका। (पजाब और खिलाफत के अन्यायो को) "एक वष मे स्वराज्य प्राप्ति का वचन न केवल अविवकपूर्ण था बल्कि बालक सदृश्य भी था।"[3] इतना ही नही खिलाफत के प्रश्न को भारतीय राजनीति म घुसेडना गलत था। जसाकि पोलक ने लिखा है कि "खिलाफत की बुनियाद गलत थी" और जब मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व मे टर्की मे धम निरपेक्ष गणराज्य की स्थापना की गयी और 1922 मे खिलाफत के पद का ही समाप्त कर दिया गया तो भारत म खिलाफत आन्दोलन की जड ही कट गई। खिलाफत आन्दोलन को भारतीय राजनीति मे घुसेडना न केवल धम निरपक्षता के सिद्धान्त की उल्लघना थी बल्कि यह वह दूरगामी त्रुटि सिद्ध हुई जिसकी कीमत देश के विभाजन के द्वारा चुकानी पडी इससे न केवल काग्रेस लीग की मित्रता नष्ट हो गई बल्कि मोपला विद्रोह

1 'To sound the order of retreat just when public enthusiasm was reaching the boiling point was nothing short of a national calamity Bose Subhash The Indian Struggle p 90

2 Nehru Jawahar Lal Autobiography, p 81

3 Bose, Subhash Chandra The Indian Struggle p 104

(Mopala Revolt) हुए जिन्होने न केवल अंग्रेजो को बल्कि हिन्दुओ को भी मार डाला । साम्प्रदायिक दगे इतने बढे कि दोनो जातिया फिर कभी एक दूसर का सहयोग न कर सकी । मुसलमान और हिन्दू विरोधी खेमो मे विभक्त हो गय, मुसलमान अपने आपको तन्जीम (Tanzim) आन्दोलन मे और हिन्दू सगठन (Sangathan) आन्दोलन मे सगठित कर रहे थे ।

असहयोग आन्दोलन को एक दम बन्द कर देने से सारे देश में घोर निराशा फैल गई और जन साधारण का उत्साह मन्द पड गया । वे लोग भी अब खिन्न तथ पश्चाताप कर रहे थे जिन्होने इसमे हिस्सा लिया था क्योकि काग्रेसी देशभक्तो न विधान सभाओ का बहिष्कार किया था इसलिये जो लोग निर्वाचित हुए थे वे न केवल सरकारी पिटठू, स्वार्थी, और अवसरवादी थे बल्कि जमीदार और पूजीवादी भी थे जो अनुदार नीति अपनाते थे । गाधीजी की प्रतिष्ठा को भी धक्का लगा ।

(ब) असहयोग आन्दोलन का महत्त्व—असहयोग आन्दोलन असफल होने के बाद भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है । यह असहयोग आन्दोलन ही था जिसने काग्रेस को मध्यवर्गीय सस्था के स्थान पर साधारण नागरिको की सस्था बना दिया, जो राष्ट्रीय आन्दोलन अभी तक बुद्धिजीवियो तक सीमित था वह जन आन्दोलन बन गया[1], इसने उदासीन और मृतक शरीरो मे स्वावलम्बन आत्मविश्वास उत्तेजना और निर्भीकता भर दी, इसने उत्तरदायित्व की भावनाए पैदा कर दी । कारावास (जेल) स्वतन्त्रता सग्रामियो के लिए ससुराल और तीर्थ स्थान बन गये ।

असहयोग आन्दोलन ने काग्रेस के स्वरूप और स्वभाव म ही मूलभूत परिवतन कर दिया । काग्रेस एक "गतिशील" (dynamic) सस्था बन गयी और "राष्ट्रीय आन्दोलन क्रान्तिकारी आन्दोलन बन गया।" सरकार की सत्ता को मानन से इनकार करना अत्याचारी कानूनो का विरोध करना और सीधी कायवाही का सहारा लेना साधारण सी बात हो गयी । स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए सघर्ष करना एक उद्देश्य बन गया । सीतारमय्या के शब्दो म 'निबल क्रोध और आग्रहपूर्ण प्रार्थनाओ का स्थान उत्तरदायित्व के एक नय भाव और स्वावलम्बन की एक नयी भावना न ले लिया।" कूपलैण्ड के शब्दो मे गाधीजी ने वह काम किया जिसे तिलक नही कर सके थे । राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रान्तिकारी ही नही बनाया बल्कि लोकप्रिय भी बनाया केवल नगरो म ही जागृति पदा नही की अपितु देहातो मे भी जागृति पदा कर दी ।' असहयोग आन्दोलन न राष्ट्रीय भावनाओ का विकास किया । भारत के निवासियो ने अपने आपको एक झण्डे के अधीन कर लिया । स्वदेशी वस्तुओ से प्रेम भारतीयो के लिय राष्ट्रीयता का प्रतीक बन गया । चर्खा और खद्दर राष्ट्रीय

---

1 See Griffiths, Modern India, p 67

चिन्ह बन गये । खादी स्वाधीनता के सिपाहियों की पोशाक बन गई । स्वदेश प्रेम की गूंज कान कानों से आने लगी । सुभाष चन्द्र बोस के शब्दों में "1921 के वर्ष ने देश को निःसन्देह एक सुव्यवस्थित पार्टी-संगठन प्रदान किया । इससे पूर्व कांग्रेस एक वैधानिक दल था और वह मुख्यतः एक बातचीत करने वाली संस्था थी । महात्माजी ने इसको एक नया संविधान ही नहीं दिया अपितु उसे एक क्रांतिकारी संगठन में परिवर्तित कर दिया । देश के एक कोने से दूसरे कोने तक एक जैसे नारे लगाये जाने लगे और एक जैसी नीति और एक जैसी विचारधारा सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगी । अंग्रेजी भाषा का महत्व जाता रहा और कांग्रेस ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया । खादी अब कांग्रेसियों की नियमित पोशाक बन गई ।"[1]

असहयोग आन्दोलन भारतीय समाज की बुराइयों को दूर करने में भी सहायक हुआ, विशेषकर अछूतोद्धार और शराब बन्दी के विषयों में । इस आन्दोलन से खादी का प्रचार हुआ जिससे न केवल हजारों जुलाहों को जीविका कमाने का साधन प्राप्त हुआ बल्कि स्वदेशी वस्तुओं के प्रति लोगों की भावनायें जागृत हुईं । ये सब तत्व मिल कर ब्रिटिश राज के आधारों को ही काटने लगे ।

असहयोग आन्दोलन ने ही आने वाले जन आन्दोलनों की नींव रखी । जैसा कि माईकेल ब्रेकर (Michael Brecher) लिखते हैं कि "यद्यपि आन्दोलन स्थगित हो गया परन्तु लोग उसकी महानता की स्मृति को भूल न सके और कुछ ही समय के बाद इस स्मृति ने राष्ट्र को एक और व्यापक तथा गम्भीर आन्दोलन चलाने की प्रेरणा दी ।"

असहयोग आन्दोलन से ही भारतीय राजनीति में "गांधी युग" (Gandhian era) का आरम्भ हुआ । वास्तव में असहयोग आन्दोलन की सारी योजना और कार्यक्रम उन्हीं का था । यह ऐसे सत्य पर आधारित आंदोलन था कि इसमें असत्य (हिंसा) के आते ही गांधीजी ने इसे त्याग दिया । यद्यपि गांधीजी सत्याग्रह का प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में कर चुके थे परन्तु भारतीय राजनीति में यह पहला संगठित प्रयोग था और इसके बाद भारतीयों ने इसका प्रयोग निर्भीकता से किया ।

## स्वराज दल
## (Swaraj Party)

जिस समय असहयोग आन्दोलन महात्मा गांधी द्वारा संचालित किया गया था तो उस समय भी कांग्रेस में तीन प्रकार की वृत्तियां काम कर रही थीं । एक वृत्ति उन लोगों की थी जो गांधीजी के भक्त होने के कारण उनकी अहिंसक असहयोग की नीति में पूर्णतया विश्वास करते थे । दूसरी वृत्ति उन लोगों की थी जो अहिंसक असहयोग तथा बहिष्कार की नीति में विश्वास तो नहीं करते थे परन्तु जिन्होंने,

1 See Bose, Subhash Indian Struggle, p 112

कांग्रेस के सदस्य होने के नाते, बहुमत के निर्णय (असहयोग आन्दोलन के निर्णय) को स्वीकार कर लिया था। तीसरी वृत्ति उन लोगों की थी जो असहयोग आन्दोलन में केवल इसलिये सम्मिलित हुये थे कि खिलाफत के प्रश्न को उसमें शामिल कर लिया गया था। चौरीचौरा काण्ड के बाद जब असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया गया तो तीसरी वृत्ति वाले लोग न केवल कांग्रेस से पृथक हो गये बल्कि उसके विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी भी बन गये। दूसरी वृत्ति वाले लोग इससे न केवल असन्तुष्ट थे बल्कि उन्होंने इसे "महात्माजी की बहुत भारी तथा भद्दी गलती कहा।"[1] इन्हीं लोगों की धारणा थी कि गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन को स्थगित करके राष्ट्रीय एकता तथा संगठन को गहरा आघात पहुंचाया है। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद अपनी आत्म-कथा में लिखते हैं कि "यदि इस समय कांग्रेसी नेता बाहर (जेल से) होते तो वे गांधीजी को पदच्युत कर देते और सत्याग्रह आन्दोलन को जारी करते।"[2] इन्हीं लोगों ने इस बात को कहना आरम्भ कर दिया कि बहिष्कार की नीति ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने में अपर्याप्त थी, असहयोग आन्दोलन अपने उद्देश्य में असफल रहा है तथा वह राष्ट्र में जागृति पैदा नहीं कर सका है। इन्हीं लोगों ने विधान मण्डलों में प्रवेश (Council entry) पर बल दिया तथा इन्होंने कांग्रेस के एक अंग के रूप में स्वराज दल का निर्माण किया।[3]

**कांग्रेस का गया अधिवेशन, स्वराज दल का निर्माण तथा उसे कांग्रेस के एक अंग के रूप में स्वीकार करना**—सन् 1922 में कांग्रेस का अधिवेशन गया (Gaya) में हुआ। इस अधिवेशन की अध्यक्षता श्री सी०आर० दास ने की। इस अधिवेशन में उन लोगों ने, जिनका विश्वास असहयोग आन्दोलन पर नहीं था, विधान मण्डलों के निर्वाचन लड़ने और उनमें प्रवेश प्राप्त करने के लिये एक प्रस्ताव पेश किया। प्रस्ताव के पक्ष में 890 मत और प्रस्ताव के विपक्ष में 1748 मत पड़े। इस तरह यह प्रस्ताव रद्द कर दिया गया। इस पर सी०आर० दास ने, जो विधान मण्डलों में प्रवेश के पक्ष में थे, अपने अध्यक्ष पद से त्याग पत्र दे दिया।

सी०आर० दास ने 1 जनवरी, 1923 में अपने सहयोगियों के साथ मिल कर कांग्रेस के भीतर ही एक नये संगठन को जन्म दिया जिसका नाम स्वराज दल रखा गया। इस दल के अध्यक्ष थे श्री सी०आर० दास तथा इसके सचिव थे श्री मोतीलाल नेहरू। इस दल के अन्य प्रमुख नेता थे विट्ठल भाई पटेल (Vithalbhai Patel) हकीम अजमल खां (Hakim Ajmal Khan), एन०सी० केलकर (N.C.

1 Das, C R

2 राजेन्द्र प्रसाद आत्मकथा पृ० 182

3 स्वराज दल का विचार सी० आर० दास का था और उन्होंने इसे कलकत्ते की अलिपुर जेल में ही अपने साथियों के साथ बातचीत करके बनाने का निर्णय कर लिया था।

Kelkar), एम०आर० जयकर (M R Jaykar) वी० अभयकर (V Abhayankar), सी० एस० रगा अय्यर (C S Ranga Iyer)।

काग्रेस का एक विशेष अधिवेशन मौलाना अबुल कलाम आजाद की अध्यक्षता मे दिल्ली मे सितम्बर 1923 मे हुआ। इस समय काग्रेस में उन लोगो की सख्या बढ गई थी जो विधान मण्डलो मे प्रवेश के समर्थक थे। इसलिये ये लोग गया प्रस्ताव को बदलने मे सफल हो गये और काग्रेस दो पक्षो मे विभक्त हो गई। जो विधान मण्डलो मे प्रवेश के समर्थक थे उन्हे परिवर्तनवादी (Changers) कहा जाने लगा और जो विधान मण्डलो मे प्रवेश के समर्थक नही थे उन्हे अपरिवर्तनवादी (Non Changers) कहा जाने लगा। अन्त मे, दोनो पक्षो मे एक समझौता हुआ और यह निश्चित किया गया कि परिवर्तनवादियो और अपरिवर्तनवादियों दोनो को अपने-अपने कार्यक्रम पर चलने की स्वतन्त्रता होगी। इस तरह काग्रेस 1907 के सूरत अधिवेशन की भाति विभाजित होने से बच गई और महात्मा गाधी और सी०आर०दास मे हुए 1924 के कलकत्ता समझौते (Calcutta Pact, 1924) के अनुसार, स्वराज दल को काग्रेस ने अपने "विधान मण्डल प्रवेश अग" (Council entry wing) के रूप मे मान्यता दे दी तथा स्वराज दल काग्रेस का एक अग बन गया। गाधीजी ने भी, जो विधान मण्डल मे प्रवेश के विरोधी थे, विधान मण्डलो मे प्रवेश के लिए मौन स्वीकृति दे दी।

## स्वराजवादियों के उद्देश्य

स्वराजवादियो का उद्देश्य गाधीवादियो की भाति ब्रिटिश साम्राज्य के अदर औपनिवेशिक स्वराज (Dominion Status) की प्राप्ति थी। परन्तु स्वराजवादियो का विश्वास था कि काग्रेस ने विधान मण्डलो का बहिष्कार करके एक भयकर भूल की थी क्योकि इससे उसने स्वतन्त्रता की लडाई मे एक सुविधाजनक अवस्था (Vantage point) को अपने हाथ से खो दिया था तथा निर्वाचनो मे उन लोगो को निर्वाचित होने का अवसर दे दिया था जो न केवल उदारवादी थे बल्कि अवसरवादी और सरकारी पिट्ठू भी थे। इससे दोहरी हानि हुई थी। एक तो सरकार को यह आडम्बर रचने का अवसर मिला कि वह जनता की इच्छाओ द्वारा विभागो का सचालन कर रही है और दूसरे लोगो मे, असहयोग आन्दोलन के समाप्त हो जाने से भारतीय जनता के पास कोई कार्यक्रम न होने से, उदासीनता और निराशा की भावना का सचार हुआ।

इसलिए स्वराजवादियो के उद्देश्य थे निर्वाचन लडे जाये, अधिक मात्रा मे निर्वाचित स्थानो को प्राप्त करके विधान मण्डलो मे प्रवेश किया जाय, अवाछित तत्त्वो (उदारवादियो अवसरवादियो और सरकारी पिट्ठुओ) को विधान मण्डल मे निर्वाचित होने से रोका जाय, 'एकरूप, अविच्छिन्न और सतत अडगा' (Uniform, Continuous and Consistent opposition) द्वारा सरकार का विरोध किया जाय सरकार के कार्यो मे इतनी अधिक बाधा प्रस्तुत की जाय कि वह अपनी नीतियो मे

परिवतन लाने के लिए वाध्य हो जाय । स्वराजवादी विधान मण्डल म स्वशासन की माग करना चाहते थे । उनकी राजनीतिक लडाई का स्थल विधान मण्डल था।

स्वराजवादी उस उदासीन और निराशा के वातावरण का अन्त कर देना चाहते थे जो असहयोग आन्दोलन के एकदम समाप्त करन से उत्पन्न हो गया था। वे लाखों मे प्राण फूकना चाहते थे उनमे आशा की जोत जगाना चाहते थे। श्री दशबन्धु चितरन्जन दास ने सन् 1925 म बगाल की विधान सभा म स्वराज दल के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुये कहा था कि "यह कहा गया है कि हमारा नारा है नष्ट करो, नष्ट करो । हम नष्ट करना क्या चाहते हैं ? हम किससे मुक्त होना चाहते हैं ? हम उस प्रणाली को नष्ट करना चाहते है हम उससे मुक्त होना चाहते है जो हमारे लिये हितकर नही है और जो हमारे लिए कोई हित नही कर सकती । हम उसे नष्ट करना चाहते है क्योकि हम उसके स्थान पर एक ऐसी प्रणाली का निर्माण करना चाहते हैं जो सफलतापूवक काय कर सके और जो हम इस योग्य बनायेगी कि हम सवसाधारण का हित कर सकें । '

**स्वराजवादियो का कायक्रम**

स्वराजवादियो का कायक्रम उनके द्वारा प्रकाशित 'चुनाव घोषणा पत्र' (Election Manifesto) से स्पष्ट हो जाता है जिसे निम्न बिन्दुओ म व्यक्त किया जा सकता है—

(i) निर्वाचन म भाग लेकर विधान मण्डलो म बहुमत प्राप्त किया जाय।

(ii) सरकार से यह माग की जाय कि शासन तन्त्र और व्यवस्था पर जनता के अधिकार का तुरन्त स्वीकार किया जाय तथा उसे प्रभावी बनाया जाय ।

(iii) यदि सरकार इस माग का स्वीकृत नही करती, तो बजट को अस्वीकार कर गतिरोध उत्पन्न किया जाय तथा 'एकरूप, अविच्छिन्न और सतत अडगा द्वारा सरकार का चलना असम्भव कर दिया जाय।

(iv) उन सरकारी प्रस्तावो तथा कानूनो का विरोध किया जाय जो नौकरशाही को सुदृढ एव शक्तिशाली बनाते हैं ।

(v) उन प्रस्तावो को विधान मण्डलो म प्रस्तुत किया जाय जो राष्ट्रीय हित म हो तथा जिनसे कांग्रेस के उद्देश्यो की पूर्ति होती हो ।

(vi) यदि स्वराजवादी परिवतन लाने म असफल हुए तो व अपने पद त्याग देंगे तथा गाधीजी के नेतृत्व म सविनय अवज्ञा आन्दोलन म शामिल हो जायेंगे ।

**सन् 1923 के निर्वाचनो मे स्वराजवादियो की सफलता**—स्वराज दल ने अपने 'निर्वाचन घोषणा पत्र' के अनुसार 1923 के निर्वाचनो म भाग लिया । अपने कायक्रम का समथन प्राप्त करने के लिए देशबन्धु चितरन्जन दास ने सारे भारत का दौरा किया । दक्षिण म एक स्थान पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि 'यदि

विद्रोही हू ? मैं कांग्रेस के विरुद्ध या भारत की किसी संस्था के विरुद्ध विद्रोह करूंगा। मैं स्वराज्य चाहता हू, स्वतन्त्रता चाहता हू। मैं अपने जीवन मे कभी भी कायर न रहा। मैं अपना जीवन बलिदान करने के लिए तैयार हू मेरी परीक्षा ले लो तथा मैं यह सिद्ध करूंगा कि क्या मैं आपके स्तर तक नही पहुच पाऊंगा।'

सन् 1923 के निर्वाचनो मे स्वराज दल को न केवल आशातीत सफलता मिली बल्कि आश्चर्यजनक सफलता भी मिली। केन्द्रीय विधान सभा (Central Legislative Assembly) मे स्वराज दल को 145 स्थानो मे से 45 स्थान प्राप्त हुए। मध्य प्रान्त (C P) म इसे पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। बगाल मे यह ही एक दल था जिसे काफी स्थान प्राप्त हुये थे परन्तु वहा यह स्वय अकेले सरकार बनाने के लिय पर्याप्त स्थानो को प्राप्त नही कर सका था। बम्बई और यू० पी० में भी पूर्ण बहुमत नही मिला। मद्रास, पजाब, बिहार और उडीसा मे यह दल बहुत कमजोर था। परन्तु, फिर भी, यह उदारवादियो और स्वतन्त्र उम्मीदवारों का सफलतापूर्वक विरोध करने म सफल हुआ। मौलाना अबुल कलाम आजाद लिखते हैं कि "दल की सबसे बडी सफलता यह थी कि उसने उन स्थानो पर भी कब्जा कर लिया जो स्थान मुसलमानों के लिए सुरक्षित थे।

देशबन्धु चितरजन दास के कारण ही बगाल म वे लोग निर्वाचन मे विजयी हुए जो राजनीति म बिलकुल नवीन थे तथा वे लोग पराजित हुए जो मूलत राजनीतिज्ञ और भारत मे प्रतिष्ठित, माननीय तथा प्रसिद्ध व्यक्ति समझे जाते थे[1]।

**केन्द्र तथा प्रान्तो में स्वराजवादियो के कार्य**—केन्द्रीय विधान सभा मे श्री मोतीलाल नेहरू इस दल के नेता थे तथा लाला लाजपतराय इस दल के उपनेता थे। यद्यपि केन्द्रीय विधान सभा मे स्वराजवादियों का पूर्ण बहुमत नही था परन्तु, फिर भी, इसने कुछ निर्दलीय और पण्डित मदन मोहन मालवीय के नेतृत्व मे राष्ट्रीय दल (National Party) के सदस्यों के सहयोग से अपनी स्थिति सुदृढ कर ली थी। अनेक बार इसने सरकार को महत्वपूर्ण प्रश्नो पर पराजित किया, बजट तथा अन्य विधेयकों को पास होने मे बार-बार रोका। स्वराज दल ने 1924, 1925 मे अनेक राष्ट्रीय महत्व के प्रस्तावो को विधान सभा मे न केवल प्रस्तुत किया बल्कि उनमे से अनेक को पास भी करवाया। उदाहरणतया, 8 फरवरी, 1924, को स्वराजवादियों ने केन्द्रीय विधान सभा मे एक प्रस्ताव पारित कर उसे पास करवाया यद्यपि इस प्रस्ताव का सरकार ने घोर विरोध किया था। प्रस्ताव के पक्ष मे 76 और विपक्ष म 48 मत पडे। इस प्रस्ताव मे कहा गया था कि "यह सभा परिषद्-सहित गवर्नर जनरल को संस्तुति (recommend) करती है कि वह भारत मे पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए भारतीय शासन अधिनियम के संशोधन के लिए कदम उठाये तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए (i) शीघ्र ही एक प्रतिनिधिक गोल मेज सम्मेलन का आयोजन करे जो अल्पसंख्यकों के हितो और अधिकारों के उचित संरक्षण का ध्यान रखते हुए भारतवर्ष के लिये एक संवैधानिक योजना को

तयार करे, और (ii) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का विघटित करके उक्त य को नव निर्वाचित भारतीय विधान मण्डल के सम्मुख स्वीकृति के लिये रखा जाय फिर उसे ब्रिटिश ससद के सम्मुख सविधि (कानून, Statute) बनाने के लिए प्र किया जाय ।

उपर्युक्त प्रस्ताव के फलस्वरूप सरकार ने, गृह सदस्य (Home Member) सर एलेक्जेंडर मुडीमेन (Sir Alexander Muddiman) की अध्यक्षता में "सुधारो की जाच करने वाली एक समिति" (Reform Enquiry Committee) को नियुक्त किया । जब स्वराज दल के नेता श्री मोतीलाल नेहरू को इस समिति का सदस्य बनाया गया तो उन्होने इसकी सहायता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। परन्तु श्री जिन्ना और सर तेज बहादुर सप्रू ने इस समिति का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया ।

स्वराज दल ने केन्द्रीय विधान सभा मे और भी अनेक प्रकार के प्रस्ताव प्रस्तुत किये जिनका मूल उद्देश्य लोक कल्याणकारी नीतिया को अपनाने दमनकारी कानूनो को समाप्त करने तथा सैनिक विद्यालय खोलने आदि से था। इतना ही नही वे अपना विरोध प्रकट करने के लिए अनेक बार विधान मण्डल से बाहर चले गये आदि । श्री सी० वाई० चिन्तामणी के शब्दो मे "मार्च 1926 से व्यवस्थापिका सभा के अवसान तक के मध्य मे यह साधारण दृश्य था कि कांग्रेसी व्यवस्थापिकाओ के भीतर जाते तथा तुरन्त बाहर चले आते । इस काय के मम को वह ही समझते थे ।"

प्रान्तो म भी स्वराज दल की नीति न केवल 'अडगा अपनाने की रही बल्कि सरकार को ठप्प करने की भी रही । मध्य प्रान्त मे स्वराज दल के नेता श्री एस० बी० ताम्बले (S B Tamble) थे । मध्य प्रान्त म स्वराज दल की अपना नीति के कारण ही सविधान अशत नष्ट हो गया और 1924–26 म द्वैध प्रणाली को स्थगित करना पडा । यहा पर बजट ग्रान्ट न मिलने के कारण मन्त्रियो के स्थान खाली रहे । बगाल म भी स्थिति इसी प्रकार की थी । यहा पर भी 1924–27 और फिर 1929 म कुछ महीनो के लिए द्वैध प्रणाली स्थगित कर दी गयी । यहा पर विधान मण्डल म स्वराज दल के नेता श्री सी० आर० दास थे। उन्होने बगाल विधान मण्डल म यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि सरकार तथा जनता के विचारो म विरोधाभास है तथा भारत म ब्रिटिश शासन न केवल निरकुश एव स्वेच्छाचारी है बल्कि जनमत की इच्छा की अवहेलना ही नही बल्कि उसका अपमान भी है तथा विधान मण्डल केवल धोखा एव तमाशा है । प्रतिदिन किसी न किसी विधान मण्डल मे स्वराजवादी बाहर निकल जाते उन्होने सरकार को एक पराजय के बाद दूसरी पराजय दी । बगाल म तीन बार मन्त्रिमण्डल बनाए गये परन्तु उन्हे पराजित किया गया नौकरशाही के लिए तो वहा प्रलय थी । परन्तु फिर भी सरकार जन इच्छा से प्रभावित नही हुई और वह निरकुश बनी रही । अब

प्रान्ता मे जहा स्वराजवादियो का बहुमत नही था वहा अवरोध और असहयोग की नीति अर्थहीन सिद्ध हुई ।

**स्वराज दल का पतन**

स्वराजवादियो का कार्यक्रम निषेधात्मक था इसलिए उसके सदस्यो मे उसके सिद्धान्ता के प्रति आस्था, समय बीतने पर, शिथिल होती गई । केवल अवरोध के लिये अवरोध को अधिकाधिक तर्कहीन समझा जाने लगा । अन्त मे जब यह 1925 मे काग्रेस मे पुन मिल गई तो इसका अस्तित्व ही खतम हो गया ।

स्वराज दल के पतन के मुख्य कारण निम्न थे —

(i) **जवाबी सहयोग की नीति** (Responsive Cooperation) (उत्तरदायित्व पूर्ण सहयोग) जसे जसे समय बीतता गया वैसे वैसे स्वराजवादियो ने सरकार के साथ सहयोग की नीति को अपनाना शुरू कर दिया । इस काय का प्रारम्भ मध्य प्रान्त के स्वराज दल के नेता श्री एस० बी० ताम्बले ने गवनर की परिषद् की सदस्यता को स्वीकार करके किया । ताम्बले का उदाहरण ही स्वराज दल मे फूट का पूवसूचक (Forerunner) बन गया । बम्बई मे एन० सी० केलकर, एम० आर० जयकर, डा० बी० एस० मुन्जे (B S Moonje) जैसे बडे-बडे स्वराजवादी इस नई लहर के समथक हो गये । सन् 1924 मे तो सी० आर० दास ने स्वय सरकार से सहयोग करने के लिए छ शर्तें रखी थी । 1925 म पण्डित मोतीलाल नेहरू ने थल सेना के भारतीयकरण के लिए बनाई गयी स्कीन समिति (Skeen Committee) की सदस्यता स्वीकार कर ली । श्री विटठल भाई केन्द्रीय विधान सभा के अध्यक्ष चुन लिये गये । इतना ही नही, स्वय अनेक स्वराजवादियो ने स्वराज दल की सदस्यता से त्याग पत्र दे दिया । इसका परिणाम यह हुआ कि स्वराजवादियो का काग्रेस पर प्रभाव कम हो गया और 1925 मे वह काग्रेस के साथ फिर मिल गये ।

(ii) **स्वराज दल के नेता की मृत्यु** (Death of its Leader)—स्वराज दल के असगठित होने तथा उसका पतन होने का एक मुख्य कारण यह भी था कि इसके नेता श्री चितरजन दास की असामयिक मृत्यु 16 जून, 1925 को हो गई । इससे न केवल दल की शक्ति क्षीण हुई बल्कि उसमे फूट भी पड गई ।

(iii) **स्वराजवादी अवसरवादी थे** (Swarajists were opportunists)—यदि सभी नही तो कुछ तो अवश्य ही स्वराजदल मे अवसरवादी लोग थे । वे मूलत उदारवादी थे जो न केवल 'आन्दोलन की गद' से घबराते थे बल्कि उनम शासन के विरुद्ध लडने, कष्ट उठाने और त्याग की भावना का भी अभाव था । वे तो केवल विधान मण्डलो म भाषण देना, बातचीत करना तथा तक प्रस्तुत करना जानते थे । सक्रिय सघर्ष (जेल जाना, लाठिया खाना, हडतालें करना आदि) और स्व बलिदान उनके बस की बात नही थी । डा० जकारिया के शब्दो मे "स्वराजवादियो की स्थिति उन व्यक्तियो जसी थी जो अपनी रोटी खाना भी चाहते थे तथा उसे अपने पास

तैयार करे, और (ii) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का विघटित करके उक्त योजना को नव निर्वाचित भारतीय विधान मण्डल के सम्मुख स्वीकृति के लिय रखा जाय और फिर उसे ब्रिटिश ससद के सम्मुख सविधि (कानून, Statute) बनाने के लिए प्रस्तुत किया जाय।

उपयु क्त प्रस्ताव के फलस्वरूप सरकार ने, गृह सदस्य (Home Member) सर एलेक्जैडर मुड्डीमेन (Sir Alexander Muddiman) की अध्यक्षता मे "सुधारो की जाच करने वाली एक समिति" (Reform Enquiry Committee) को नियुक्त किया। जब स्वराज दल के नेता श्री मोतीलाल नेहरु को इस समिति का सदस्य बनाया गया तो उन्होने इसकी सहायता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। परन्तु श्री जिन्ना और सर तेज बहादुर सप्रू ने इस समिति का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया।

स्वराज दल ने केन्द्रीय विधान सभा मे और भी अनेक प्रकार के प्रस्ताव प्रस्तुत किये जिनका मूल उद्देश्य लोक कल्याणकारी नीतियो को अपनाने, दमनकारी कानूनो को समाप्त करने तथा सनिक विद्यालय खोलने आदि से था। इतना ही नही वे अपना विरोध प्रकट करने के लिए अनेक बार विधान मण्डल से बाहर चले गये, आदि। श्री सी० वाई० चिन्तामणी के शब्दो मे "मार्च 1926 से व्यवस्थापिका सभा के अवसान तक के मध्य मे यह साधारण दृश्य था कि कांग्रेसी व्यवस्थापिकाओ के भीतर जाते तथा तुरन्त बाहर चले आते। इस कार्य के मर्म को वह ही समझते थे।"

प्रान्तो मे भी स्वराज दल की नीति न केवल 'अडगा' अपनाने की रही बल्कि सरकार को ठप्प करने की भी रही। मध्य प्रान्त में स्वराज दल के नेता श्री एस० बी० ताम्बले (S B Tamble) थे। मध्य प्रान्त मे स्वराज दल की अडगा नीति के कारण ही सविधान अशत नष्ट हो गया और 1924–26 में द्वैध प्रणाली को स्थगित करना पडा। यहा पर बजट ग्रान्ट न मिलने के कारण मन्त्रियों के स्थान खाली रहे। बगाल में भी स्थिति इसी प्रकार की थी। यहा पर भी 1924–27 और फिर 1929 मे कुछ महीनो के लिए द्वैध प्रणाली स्थगित कर दी गयी। यहा पर विधान मण्डल में स्वराज दल के नेता श्री सी० आर० दास थे। उन्होंने बगाल विधान मण्डल मे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि 'सरकार तथा जनता के विचारो मे विरोधाभास है तथा भारत मे ब्रिटिश शासन न केवल निरकुश एव स्वेच्छाचारी है बल्कि जनमत की इच्छा की अवहेलना ही नही बल्कि उसका अपमान भी है तथा विधान मण्डल केवल धोखा एव तमाशा है। प्रतिदिन किसी न किसी विधान मण्डल मे स्वराजवादी बाहर निकल जाते, उन्होने सरकार को एक पराजय के बाद दूसरी पराजय दी। बगाल में तीन बार मन्त्रिमण्डल बनाये गये परन्तु उन्हे पराजित किया गया नौकरशाही के लिए तो वहा प्रलय थी। परन्तु फिर भी सरकार जन इच्छा से प्रभावित नहीं हुई और वह निरकुश बनी रही। अब

प्रान्तो मे जहा स्वराजवादियो का बहुमत नही था वहा अवरोध और असहयोग की नीति अर्थहीन सिद्ध हुई ।

**स्वराज दल का पतन**

स्वराजवादियो का कार्यक्रम निषेधात्मक था इसलिए उसके सदस्यो म उसके सिद्धान्तो के प्रति आस्था, समय बीतने पर, शिथिल होती गई । केवल अवरोध के लिये अवरोध को अधिकाधिक तर्कहीन समझा जाने लगा । अन्त मे जब यह 1925 मे कांग्रेस मे पुन मिल गई तो इसका अस्तित्व ही खतम हो गया ।

स्वराज दल के पतन के मुख्य कारण निम्न थे —

**(i) जवाबी सहयोग की नीति** (Responsive Cooperation) (उत्तरदायित्व पूर्ण सहयोग) जसे जैसे समय बीतता गया वैसे वैसे स्वराजवादियो ने सरकार के साथ सहयोग की नीति को अपनाना शुरू कर दिया । इस कार्य का प्रारम्भ मध्य प्रान्त के स्वराज दल के नेता श्री एस० बी० ताम्बले ने गवर्नर की परिषद की सदस्यता को स्वीकार करके किया । ताम्बले का उदाहरण ही स्वराज दल मे फूट का पूर्वसूचक (Forerunner) बन गया । बम्बई मे एन० सी० केलकर, एम० आर० जयकर, डा० बी० एस० मुंजे (B S Moonje) जसे बडे-बडे स्वराजवादी इस नई लहर के समर्थक हो गये । सन् 1924 मे तो सी० आर० दास ने स्वय सरकार से सहयोग करने के लिए छ शर्तें रखी थी । 1925 मे पण्डित मोतीलाल नेहरू ने थल सेना के भारतीयकरण के लिए बनाई गयी स्कीन समिति (Skeen Committee) की सदस्यता स्वीकार कर ली । श्री विट्ठल भाई केन्द्रीय विधान-सभा के अध्यक्ष चुन लिये गये । इतना ही नही स्वय अनेक स्वराजवादियो ने स्वराज दल की सदस्यता से त्याग पत्र दे दिया । इसका परिणाम यह हुआ कि स्वराजवादियो का कांग्रेस पर प्रभाव कम हो गया और 1925 मे वह कांग्रेस के साथ फिर मिल गये ।

**(ii) स्वराज दल के नेता की मृत्यु** (Death of its Leader)—स्वराज दल के असंगठित होने तथा उसका पतन होने का एक मुख्य कारण यह भी था कि इसके नेता श्री चितरंजन दास की असामयिक मृत्यु 16 जून, 1925 को हो गई । इससे न केवल दल की शक्ति क्षीण हुई बल्कि उसमे फूट भी पड गई ।

**(iii) स्वराजवादी अवसरवादी थे** (Swarajists were opportunists)—यदि सभी नही तो कुछ तो अवश्य ही स्वराजदल म अवसरवादी लोग थे । वे मूलत उदारवादी थे जो न केवल 'आन्दोलन की गर्द' से घबराते थे बल्कि उनम शासन के विरुद्ध लडने, कष्ट उठाने और त्याग की भावना का भी अभाव था । वे तो केवल विधान मण्डलो मे भाषण देना, बातचीत करना तथा तर्क प्रस्तुत करना जानते थे । सक्रिय सघर्ष (जेल जाना, लाठिया खाना, हडतालें करना आदि) और स्व बलिदान उनके बस की बात नही थी । डा० जकारिया के शब्दो म "स्वराजवादियो की स्थिति उन व्यक्तियो जसी थी जो अपनी रोटी खाना भी चाहते थे तथा उसे अपने पास

(vii) साम्प्रदायिक दगे—स्वराजवादियो ने स्वय अनुभव किया कि साम्प्रदायिक दगो उत्पन्न होने से हिन्दू-मुसलमानो के मतभेद तीव्र हो गये है। इससे न केवल स्वराज दल की एकता को क्षति हुई बल्कि हिन्दुओ के हितो को भी काफी हानि पहुची। काग्रेस के गया अधिवेशन से पूर्व ही जमीयत उल-उलेमा ने एक फतवा जारी किया था जिसमे विधान मण्डल प्रवेश को 'ममनून' घोषित किया गया था।

स्वराज दल की 'अडगा नीति', 'विरोध की नीति', 'सरकार को बजट तथा अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नो पर पराजित करने की नीति', तथा 'विधानमण्डल से बाहर जाने की नीति' न तो सरकार के कार्य को रोक सकी और न ही उसे जन इच्छा के अनुकूल बना सकी। जब कभी स्वराजवादी गतिरोध उत्पन्न करते तो गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर, जैसी भी स्थिति होती, अपने विशेषाधिकारो का प्रयोग कर उस गतिरोध को समाप्त कर देते, बजट अस्वीकृत होने पर भी प्रमाणित कर दिये जाते।

**स्वराज दल का मूल्यांकन**—स्वराज दल की 'अडगा' नीति दोषपूर्ण एव अव्यावहारिक थी।" विपिनचन्द्र पाल और जोसफ बप्तिस्ता (Joseph Baptista) तो इसे 'निरर्थक (Futile) मानते थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इसे "निरर्थक और अर्थशून्य" (Futile and Meaningless) मानते थे। विधान मण्डल से बाहर निकल आने की नीति को सर तेज बहादुर सप्रु ने चक्कर लगाने वाली देश भक्ति" की सज्ञा दी है। इसकी अडगा नीति से कोई ठोस परिणाम भी नही निकले। न ही तो यह अपने स्वराज्य के उद्देश्य को निकट ला सके और न ही द्वैध प्रणाली को समाप्त करा सके।

यह ठीक है कि स्वराज दल की नीतिया हमे आज तर्कशून्य और अव्यावहारिक प्रतीत होती है परन्तु उस समय जो कार्य स्वराजवादियो ने किया वह न केवल सराहनीय था बल्कि उपयोगी भी था। इन्होने उस समय राष्ट्रीय ज्योति को जगाये रखा जिस समय (असहयोग आन्दोलन के स्थगित होने के कारण) देश मे उदासीनता, निराशा और उत्साहीनता फैली हुई थी। इन्होने उस समय देश के सामने अपना कार्यक्रम प्रस्तुत किया जब देश के समक्ष कोई निश्चित राजनीतिक कार्यक्रम (उद्देश्य) न था। सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे (1930–34) भारतीय जनता ने जो सक्रिय भाग लिया उसके लिए भूमि तो वे स्वराजवादियो ने राष्ट्रीय भावनाओ का विकास करके ही तैयार की थी। उन्होने सरकार की निरन्तर आलोचना द्वारा न केवल उसे अप्रिय बनाया बल्कि यह भी सिद्ध कर दिया कि सरकार भारत की जन-इच्छा के अनुसार नही चलाई जा रही। इसका प्रभाव ब्रिटिश तथा विदेशी जनता पर भी पडा जो इस बात को जानने लग गई कि भारतीय जनता वर्तमान भारतीय शासन पद्धति से अप्रसन्न है। एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड लिखते है "कि मेरे विचार से अडगा लगाने की नीति बिल्कुल ठीक थी क्योकि उसने ब्रिटिश अनुदार दल वालो को भी इस बात का कायल कर दिया कि द्वैध प्रणाली अव्यवहार्य है।"[1] उन्होने ही भारतीयो के

1 Quoted by Pollock in his Mahatma Gandhi, p 165

रखना भी चाहते थे। एक तरफ वे लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए उग्रवाद का बात करना आवश्यक समझते थे परन्तु वे ममदवाद म भी पूर्ण विश्वास करते थे। परिणाम स्वरूप जिस मार्ग का स्वराजवादियों ने अनुसरण किया उसम सहयोग का अर्थ था असहयोग।"

**(iv) स्वराजवादियो की नीतियो मे तर्कहीनता और विरोधाभास**—केवल 'अड़गा' और 'विरोध' नीति नकारात्मक होती है सकारात्मक नहीं। इतना ही नहीं उनकी नीतियो म विरोधाभास भी था। एक तरफ तो व 1919 के अधिनियम द्वारा स्थापित व्यवस्था (द्वैध प्रणाली) का अन्त करना चाहते थे और दूसरी ओर वे उसके लिए (विधान मण्डलो के लिए) स्थापित निर्वाचित प्रणाली म भाग लेते थे। एक तरफ वे विधान मण्डलो को क्रियाहीन सिद्ध करना चाहते थे और दूसरी ओर वे विधान मण्डलो को अपनी नीतियो का प्रचार करने का यन्त्र अथवा माध्यम मानते थे। एक तरफ वे अतिवादी और सहयोग की बात करते थे और दूसरी ओर व 'गुप्त सहयोग' और 'जवाबी सहयोग (Responsive Cooperation) के लिए तयार थे। कहा जाता है कि सी० आर० दास ने बगाल के गवर्नर स यह गुप्त समझौता कर लिया था कि यदि वे सभी राजनीतिक बन्दियो को छोड़ दें तथा मन्त्रियो को उत्तर दायित्व सौंप दें तो वह बगाल म मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सकते ह।

**(v) 1926 के निर्वाचनो मे स्वराजवादियो की असफलता**—1926 के निर्वाचनो म स्वराजदल के सदस्यो को विधान मण्डलो म 1923 की तुलना म भारी असफलता का सामना करना पड़ा। केवल मद्रास प्रेसीडेंसी को छोड़कर बाकी सब स्थानो पर उसे भारी क्षति हुई। उत्तरप्रदेश (U P) और पजाब म जहा साम्प्रदायिक वमनस्य बहुत अधिक था ता इन्हे सबसे भारी हानि हुई। उन्हे अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने का पूर्ण अवसर मिल चुका था परन्तु वे उनम असफल सिद्ध हुए थे। इससे स्वराजवादी काग्रेस म मिल गये। सुभाष काश्यप ने ठीक लिखा है कि "जिस प्रकार असहयोग आन्दोलन के असफल होने पर काग्रेस का सक्रिय नेतृत्व स्वराजवादियो की झोली मे आ गिरा था, उसी प्रकार अब स्वराजवादियो के असफल हो जाने पर काग्रेस की बागडोर वापस गाधीजी के हाथ मे चली गई'।[1]

**(vi) राष्ट्रवादी दल का निर्माण (Formation of the Nationalist Party)**—केन्द्रीय व्यवस्थापिका म प० मदन मोहन मालवीय श्री जयकर और लाला लाजपत राय जैसे काग्रेसी नेताओ ने एक नवीन दल का सगठन किया जिसे उन्होंने 'राष्ट्रीय दल' का नाम दिया। हिन्दू महासभा के साथ मिलकर इन्होने काफी स्थानो को प्राप्त कर लिया।

---

1 काश्यप सुभाष सवधानिक विकास और स्वाधीनता सघर्ष (1972) पृ० 114 (रिसर्च दिल्ली)

(VII) साम्प्रदायिक दंगे—स्वराजवादियों ने स्वयं अनुभव किया कि साम्प्रदायिक दंगे उत्पन्न होने से हिन्दू मुसलमानों के मतभेद तीव्र हो गये हैं। इससे न केवल स्वराज दल की एकता को क्षति हुई बल्कि हिन्दुओं के हितों को भी काफी हानि पहुंची। कांग्रेस के गया अधिवेशन के पूर्व ही जमीयत उल उलेमा ने एक फतवा जारी किया था जिसमें विधान मण्डल प्रवेश को 'ममनून' घोषित किया गया था।

स्वराज दल की 'अड़ंगा नीति', 'विरोध की नीति', 'सरकार को बजट तथा अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर पराजित करने की नीति', तथा विधानमण्डल से बाहर जाने की नीति' न तो सरकार के कार्य को रोक सकी और न ही उसे जन इच्छा के अनुकूल बना सकी। जब कभी स्वराजवादी गतिरोध उत्पन्न करते तो गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर, जैसी भी स्थिति होती, अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग कर उस गतिरोध को समाप्त कर देते, बजट अस्वीकृत होने पर भी प्रमाणित कर दिये जाते।

**स्वराज दल का मूल्यांकन**—स्वराज दल की 'अड़ंगा' नीति दोषपूर्ण एवं अव्यावहारिक थी।" विपिनचन्द्र पाल और जोसफ बप्तिस्ता (Joseph Baptista) तो इसे 'निरर्थक'( Futile) मानते थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इसे 'निरर्थक और अर्थ शून्य' (Futile and Meaningless) मानते थे। विधान मण्डल से बाहर निकल आने की नीति को सर तेज बहादुर सप्रू ने चक्कर लगाने वाली देश भक्ति" की संज्ञा दी है। इसकी अड़ंगा नीति से कोई ठोस परिणाम भी नहीं निकले। न ही तो यह अपने स्वराज्य के उद्देश्य को निकट ला सके और न ही द्वैध प्रणाली को समाप्त करा सके।

यह ठीक है कि स्वराज दल की नीतियां हमें आज तर्कशून्य और अव्यावहारिक प्रतीत होती हैं परन्तु उस समय जो कार्य स्वराजवादियों ने किया वह न केवल सराहनीय था बल्कि उपयोगी भी था। इन्होंने उस समय राष्ट्रीय ज्योति को जगाये रखा जिस समय (असहयोग आन्दोलन के स्थगित होने के कारण) देश में उदासीनता, निराशा और उत्साहीनता फैली हुई थी। इन्होंने उस समय देश के सामने अपना कार्यक्रम प्रस्तुत किया जब देश के समक्ष कोई निश्चित राजनीतिक कार्यक्रम (उद्देश्य) न था। सविनय अवज्ञा आन्दोलन में (1930–34) भारतीय जनता ने जो सक्रिय भाग लिया उसके लिए भूमि तो वे स्वराजवादियों ने राष्ट्रीय भावनाओं का विकास करके ही तैयार की थी। उन्होंने सरकार की निरन्तर आलोचना द्वारा न केवल उसे अप्रिय बनाया बल्कि यह भी सिद्ध कर दिया कि सरकार भारत की जन-इच्छा के अनुसार नहीं चलाई जा रही। इसका प्रभाव ब्रिटिश तथा विदेशी जनता पर भी पड़ा जो इस बात को जानने लग गई कि भारतीय जनता वर्तमान भारतीय शासन पद्धति में अप्रसन्न है। एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड लिखते हैं "कि मेरे विचार से अड़ंगा लगाने की नीति बिल्कुल ठीक थी क्योंकि उसने ब्रिटिश अनुदार दल वालों को भी इस बात का कायल कर दिया कि द्वैध प्रणाली अव्यवहार्य है।"[1] उन्होंने ही भारतीयों के

---

1 Quoted by Pollock in his Mahatma Gandhi, p 165

प्रतिनिधियो की गोलमेज परिषद का माग की जिसे वाद म सरकार ने स्वीकार किया । मुडीमेन समिति (सुधारो की जाच के लिए बनाई गई समिति) की नियुक्ति भी उन्ही की माग पर आधारित थी। इस तरह उन्होन न केवल भारतीय सवधानिक विकास मे योग दिया वल्कि राष्ट्रीयता की ज्योति को भी जगाये रखा। श्री सुभाष काश्यप लिखते है कि "स्वराजवादियो ने राष्ट्रीय आन्दोलन की ज्योति को किसी न किसी रूप मे जलाये रखा और विधान मण्डलो मे अवरोध का माग अपना कर राष्ट्रीयता की वाणी को अवरुद्ध होने से बचा लिया।"[1]

## साइमन आयोग

### (Simon Commission)

साइमन आयोग के जीवन तत्त्व सन् 1919 के अधिनियम की धारा 84 (a) मे ही दर्शित होते हैं। अधिनियम की इस धारा मे यह व्यवस्था की गई थी कि सुधारो को कार्यान्वित करने के 10 वष वाद एक सवधानिक आयोग की स्थापना की जायगी जो इस वात की जाच करेगा कि अधिनियम के अन्तगत स्थापित व्यवस्था कहा तक सफल हुई है तथा क्या भारत उत्तरदायी शासन की दिशा मे और अधिक प्रगति करने की स्थिति मे है या नही। इस व्यवस्था के अनुसार आयाग की नियुक्ति 1931 मे होनी चाहिए थी क्योकि सुधारा को 1 अप्रेल, 1921 को कार्यान्वित किया गया था। और यदि यह मान भी लिया जाय कि सुधारा को ब्रिटिश ससद न 1918 मे पास कर दिया था तो भी इस आयाग की नियुक्ति 1929 मे होनी चाहिए थी। परन्तु आयोग की नियुक्ति 5 नवम्बर, 1927 को गवनर जनरल लाड इरविन न एक घोषणा में की।

इस आयोग को निश्चित समय से (2 वष) पूव नियुक्त करने के निम्न कारण वताये जा सकते हैं —

(i) ब्रिटिश सरकार भारतीय जनमत को सन्तुष्ट करना चाहती थी। जलियावाला वाग हत्याकाण्ड और अमानुषिक अत्याचार की नीति के कारण जो विश्वास ब्रिटिश सरकार ने खो दिया था उस वह पुन प्राप्त करना चाहती था।

(ii) इग्लैंड की राजनीतिक परिस्थितिया न भी अनुदार दल व भारत मत्री लाड विर्कनहैड का इस सम्बन्ध मे जल्दी करन के लिए विवश किया। 1929 म इग्लैंड म चुनाव होन जा रहे थ जिसम श्रमिक दल (Labour Party) की विजय की सम्भावना थी। अनुदार दल भारत के राजनीतिक भविष्य का भपन विरोधी दल के हाथा म सौंपना नहा

---

1 काश्यप, सुभाष, पू० उ० पृ० 115

चाहता था कि कहीं वह भारत के पूर्ण स्वराज्य की माग को स्वीकार न करले।

(iii) सन् 1924–27 मे भारत मे उथल-पुथल और साम्प्रदायिक दगो का बोलबाला था और अनुदार दल की हार्दिक इच्छा थी कि इस समय आयोग को नियुक्त किया जाय ताकि वह भारत के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के बारे मे सही अन्दाजा न लगा सके।

(iv) एक विचार यह भी है कि सरकार ने इस आयोग की नियुक्ति विवशता मे की थी। भारत मे क्रान्तिकारी विचारो का विकास हो रहा था। इन्हे दवाने के लिए तथा उदारवादियो का समर्थन प्राप्त करने के लिए आयोग को शीघ्र नियुक्त किया गया। लाला लाजपत राय लिखते है कि "भारत मे युवक आन्दोलन के जन्म ने आयोग की शीघ्र नियुक्ति मे सहायता की।"

(v) भारत मे साम्यवाद के विकास को रोकने के लिए भी आयोग को जल्दी नियुक्त किया गया। "रूस मे साम्यवादी क्रान्ति की सफलता और समाजवादी राज्य की स्थापना ने भारत के क्रान्तिकारी राष्ट्रवादियो मे समाजवादी और साम्यवादी सिद्धान्तो के प्रति रुचि उत्पन्न कर दी।"[1] कारखानो मे कई प्रकार के श्रमिक सगठन उत्पन्न हो गये जिन्होने हड़तालें करके राष्ट्रीय आन्दोलन मे सहयोग दिया। युवक सघो और विद्यार्थी सघो का जन्म भी इसी काल मे हुआ।

**साइमन आयोग का उद्देश्य**—साइमन आयोग का उद्देश्य भारत मे शासन पद्धति के क्रियान्वयन, शिक्षा की वृद्धि, ब्रिटिश भारत मे प्रतिनिधिक सस्थाओ के विकास की जाँच करना था और इस सम्बन्ध मे प्रतिवेदन देना था कि क्या भारत मे उत्तरदायी शासन की स्थापना करना वाछनीय है या कि नही और यदि है तो किस सीमा तक तथा इस समय भारत को जिस मात्रा मे उत्तरदायी शासन प्राप्त है उसे किस सीमा तक विस्तृत, सशोधित या प्रतिबन्धित करने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दो मे, साइमन आयोग ने इस बात का निर्णय करना था कि क्या भारतीय अपना शासन करने के योग्य है कि नही और प्रतिवेदन से स्पष्ट है कि आयोग ने न केवल भारतीय स्वराज्य से आखें मूद ली बल्कि वर्तमान परिस्थितियो मे निरकुश शासन तथा साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को ही उचित समझा।

**साइमन आयोग की रचना**—साइमन आयोग मे कुल 7 सदस्य थे। इस आयोग के अध्यक्ष सर जॉन साइमन थे जो ब्रिटिश लिबरल पार्टी के सदस्य थे। उन्ही के नाम पर इस आयोग का नाम साइमन आयोग पडा। आयोग के सभी सदस्य

---

1 Desai, A R Social Background of Indian Nationalism

अंग्रेज थे और भारतीयों में आश्चर्य और आक्रोश उत्पन्न करने वाला यही एक मुख्य तत्त्व था।

लार्ड बिर्केनहैड को इस बात की चेतावनी दी गई थी कि यदि आयोग के केवल अंग्रेज सदस्य ही रखे गये तो उसका बहिष्कार किया जायगा परन्तु उसने इस चेतावनी की जरा चिन्ता न की बल्कि इसके उत्तर में यह कहा कि भारतीयों को निराकृत करने (वंचित excluded) का कारण यह है कि भारत में अनेक वर्ग तथा सम्प्रदाय हैं और किसी वर्ग को असन्तुष्ट किये बिना इस आयोग में शामिल नहीं किया जा सकता और यदि सभी वर्गों के प्रतिनिधियों को लिया जाय तो आयोग के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक हो जायगी। लार्ड बिर्केनहैड ने दूसरा कारण यह बताया कि "आयोग ने अपना प्रतिवेदन ब्रिटिश संसद को प्रस्तुत करना है इसलिए संसद के सदस्य ही इस आयोग के सदस्य हो सकते हैं।"

**साइमन आयोग का बहिष्कार**—साइमन आयोग की नियुक्ति भारतीयों के लिए अशुभ, दुःखद और अनिष्टकर थी। यह जले पर नमक छिड़कने के समान था। यह भारतीय जनता और उसकी योग्यता का अपमान था। यही कारण है कि भारत के सभी वर्गों ने 'प्रत्येक स्तर पर और प्रत्येक रूप में' इसका बहिष्कार किया। भारतीयों ने इसकी आलोचना "राजनतिक धूर्तता" कह कर की। क्या हिन्दू महासभा, क्या उदारवादी, क्या कांग्रेस, क्या मुस्लिम लीग सभी ने आयोग का विरोध किया। 11 दिसम्बर 1927 को इलाहाबाद में जो सर्वदलीय सम्मेलन हुआ उसमें आयोग में एक भी भारतीय न लिये जाने की कड़ी भर्त्सना की गई। दुर्भाग्य की बात तो यह थी कि इस आयोग ने भारत के भावी संविधान के लिये प्रतिवेदन प्रस्तुत करना था परन्तु कोई भारतीय इस आयोग में नहीं था। यही कारण था कि सभी ने इस आयोग का विरोध किया। केवल दक्षिण की जस्टिस पार्टी और सर मुहम्मद शफी के नेतृत्व में लीग के थोड़े से प्रतिगामी पक्ष ने कमीशन के स्वागत करने का निश्चय किया लेकिन श्री जिन्ना और उनके वामपन्थी अनुयायी कांग्रेस के साथ हो गये। मिस विल्किनसन के शब्दों में 'अमृतसर काण्ड के पश्चात् ब्रिटिश सरकार के किसी भी कार्य की भारत में इतनी भारी निन्दा नहीं हुई जितनी कि साइमन आयोग की।"

भारतीय अपने देश के संविधान के निर्धारण में भाग लेने के अधिकार से वंचित कर दिये गये थे। यह भारतीयों की क्षमता, कुशलता, योग्यता और बुद्धिमत्ता का अपमान था। सर तेज बहादुर सप्रू (Sir Tej Bahadur Sapru) के शब्दों में "भारतीयों का बहिष्कार (क्योंकि किसी भारतीय को आयोग में नहीं लिया गया था) निश्चित रूप से भारत वर्ष के लोगों का अपमान एवं तिरस्कार है क्योंकि यह बात केवल उन्हें निम्न स्तर पर ही नहीं रख देती बल्कि इससे भी अधिक दूषित बात यह है कि इसके द्वारा स्वयं अपने देश के विधान को निश्चित करने में उनके भाग लेने का

लाड विर्क हैड का यह कथन भी मिथ्या था कि क्योकि आयोग ने ब्रिटिश ससद को प्रतिवेदन प्रस्तुत करना है इसलिए केवल ब्रिटिश ससद के सदस्य ही उस आयोग के सदस्य हो सकते है। वास्तविकता यह है कि उस समय भी दो भारतीय ब्रिटिश ससद के सदस्य थे। लाड सिन्हा उस समय ब्रिटिश लाड सभा के सदस्य थे और शपूरजी सकलतवाला (Shapurji Saklatwala) ब्रिटिश कॉमन सभा के सदस्य थे। यदि लाड बिर्क हैड इस आयोग मे भारतीयो को नियुक्त करना चाहता तो कर सकता था परन्तु ब्रिटिश सरकार को इस आयोग मे किसी भारतीय का नियुक्त न कर उनका अपमान करना था तथा अनुदारवादी प्रतिवेदन प्रस्तुत करवाना था ताकि भारत मे ससदात्मक तथा उत्तरदायी प्रणाली का विकास न हो सके। ब्रिटिश सरकार तो भारतीय सवधानिक प्रगति का नियन्त्रण अपने हाथ मे रखना चाहती थी।

उपर्युक्त सभी कारणो से भारतीयो ने साइमन आयोग का पूर्ण बहिष्कार किया। जब आयोग बम्बई मे 3 फरवरी 1928 को पहुँचा तो उसका स्वागत काले झण्डो, हडतालो, तूफानी प्रदर्शनो और 'साइमन वापस जाओ' के नारो से किया गया। जहा कही भी आयोग गया वही पर उसका स्वागत इसी प्रकार किया गया। जगह-जगह पर आयोग के विरोध मे जलूस निकाले गये। लखनऊ की स्थिति एक सैनिक शिविर के तुल्य रही। सामाजिक उत्सव भी पुलिस के पहरे मे होते थे। परन्तु पुलिस की लाठिया तथा सरकारी अत्याचार और दमन भारतीयो के विरोध का दमन न कर सका। लाहौर मे जब आयोग पहुचा तो उसका विरोध करने के लिये लाला लाजपत राय एक बडे जलूस का नेतृत्व कर रहे थे। पुलिस की लाठिया उन पर भी बरसाई गयी जिससे कुछ सप्ताह बाद अस्पताल मे उनकी मृत्यु हो गई। मरते समय लालाजी ने ये शब्द व्यक्त किये जो उनके साथ ही अमर हो गये "मेरे शरीर पर लाठियो का प्रत्येक प्रहार ब्रिटिश साम्राज्य की शवपटी मे कील का काम करेगा।'

लालाजी की मृत्यु ने आयोग के विरुद्ध प्रदर्शनों मे और भी उत्तेजना पैदा कर दी। इससे पजाब और बगाल मे आतकवादियो के कार्यों को बल मिला। भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका के सदन मे बम का विस्फोट किया। जिस अफसर (Saunders) ने लालाजी पर लाठियो की बौछारो का आदेश दिया था उसे लाहौर मे मार दिया गया। इस विद्वेषपूर्ण वातावरण मे आयोग को अपनी जाच समाप्त करनी पडी और जो प्रतिवेदन इस आयोग द्वारा प्रस्तुत किया गया वह भी इसी वातावरण का परिणाम था।

साइमन रिपोर्ट—भारतीयो के कडे विरोध और बहिष्कार के बावजूद आयोग ने दो वर्ष के कडे परिश्रम से प्रतिवेदन को तैयार किया। इस प्रतिवेदन को तैयार करने के लिए वह दो बार भारत आया। यह प्रतिवेदन मई 1930 को प्रकाशित किया गया। परन्तु दोनो बार आयोग के समक्ष केवल सरकारी गवाह ही पेश हुए। जनता ने

किसी रूप मे आयोग का साथ नही दिया । इसकी मुख्य सिफारिशें निम्न थी —

(अ) भारत के स्वरूप के सम्बन्ध मे—आयोग ने भारत के वधानिक स्वरप की कल्पना सघीय आधार पर की । प्रतिवेदन मे यह आशा व्यक्त की गई थी कि देशी राज्य भी ब्रिटिश भारत मे सम्मिलित हो जायेंगे । परन्तु वतमान समय मे उसने एक ऐसी परामश परिषद् (Council of Greater India) की सिफारिश की जिसमे देशी राज्यो और ब्रिटिश भारत दोनों का प्रतिनिधित्व हो । इसका काय समान हित के विषयो पर विचार विमश करना होगा ।

(ब) केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध मे—केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध म प्रतिवदन मे निम्न सिफारिशे की गई थी —

(i) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का निर्माण सघात्मक शासन के सिद्धान्तानुसार होना चाहिए ।

(ii) केन्द्रीय व्यवस्थापिका के दो सदन होने चाहिए, सघीय सभा (Federal Assembly) और राज्य परिषद (Council of States) । सघीय सभा के सदस्यो का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से प्रातीय सभाओ के द्वारा जन सख्या के आधार पर किया जाय । सघीय सभा का यह अप्रत्यक्ष निर्वाचन सघीय सिद्धान्त के विरुद्ध था । राज्य परिषद् का निर्माण भी प्रान्तीय आधार पर रखा गया था । इसमे प्रत्येक राज्य को 3 सदस्य भेजने की सिफारिश की गई थी ।

(iii) प्रतिवेदन मे केन्द्रीय कायकारिणी के सम्बन्ध मे कोई परिवतन की सिफारिश नही की गई थी अर्थात केन्द्रीय कायकारिणी पहले की भाति अनुत्तरदायी एव निरकुश ही रहनी थी । इसका स्वरूप पहले की भाति सरकारी ही रखा गया था । वह तो केवल भारत मन्त्री और ब्रिटिश ससद के प्रति उत्तरदायी थी । प्रतिवेदन के इस भाग से स्पष्ट है कि अग्रेजो की दृष्टि मे अभी भी भारतीय अपने कार्यों के सम्पादन के योग्य नही थे ।

(iv) आयोग ने केन्द्र मे द्वैध प्रणाली के सुझाव को मानने से इनकार कर दिया ।

(v) भारतीय सेना सम्राट के अधीन ही रखी गई । परन्तु इस आवश्यकता को स्वीकार किया गया कि उसका शनै शनै भारतीयकरण किया जाय ।

(स) प्रान्तीय सरकारो के सम्बन्ध मे—प्रान्तीय सरकारो के सम्बन्ध म प्रतिवेदन मे निम्न सिफारिशें की गई थी —

---

1 "Faith which had prompted the adoption of the Parliamentary system had not been justified

(i) आयोग इस निश्चय पर पहुँचा कि अंशत निहित त्रुटियों के कारण और अंशत साम्प्रदायिक विरोध (प्रतिद्वन्द्विता) के कारण द्वैध प्रणाली असफल सिद्ध हुई है। इसलिए आयोग ने यह सिफारिश की कि "द्वैध प्रणाली को समाप्त कर दिया जाय और जहा तक सम्भव हो सके वहा तक प्रत्येक प्रान्त अपने स्वय के क्षेत्र म स्वतन्त्र होना चाहिए।"[1] अर्थात् प्रान्तीय शासन का सम्पूर्ण क्षेत्र मन्त्रियो को सौप दिया जाय, जो व्यवस्थापिका सभा से हो और उसके प्रति उत्तरदायी हो। आयोग का यह भी मत था कि कानून और व्यवस्था के उत्तरदायित्व के बिना उत्तरदायी सरकार को खण्डित (निष्फल) करना है।

(ii) प्रान्तीय स्वायत्तता की सिफारिश करने के बाद भी आयोग ने सिफारिश की कि प्रान्तीय गवर्नरो के पास कुछ रक्षा कवच होने चाहिए ताकि प्रान्त की सुरक्षा और अल्पमत दलो के हितो की रक्षा की जा सके। इसलिए महत्त्वपूर्ण मामलो मे गवर्नर को अपने मन्त्रियो के निर्णयो के उल्लघन करने का विशेषाधिकार होना चाहिए। इतना ही नही, गवर्नर जनरल का प्रान्तो पर नियन्त्रण भी ज्यो का त्यो बना रहा।

(iii) प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओ का विस्तार किया जाय और अधिक महत्त्वपूर्ण प्रान्तो मे 200 से 250 तक सदस्यो को शामिल किया जाय।

(iv) आयोग ने सार्वभौम वयस्क मताधिकार के प्रस्ताव को अव्यावहारिक बताया परन्तु साथ मे यह भी कहा कि मताधिकार का विकास किया जाय।

(v) प्रान्तीय विधान सभाओ का निर्वाचन प्रत्यक्ष हो।

प्रादेशिक पुनर्गठन के सम्बन्ध मे—

आयोग ने बर्मा को भारत से और सिंध को बम्बई प्रान्त से अलग करने सुझाव दिया परन्तु उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त मे स्वराज्य की माग को स्वीकार नही किया।

(ब) साम्प्रदायिक समस्या के सम्बन्ध मे—आयोग ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को अरुचिकर, दूषित एव हानिकारक बताया परन्तु साथ ही तत्कालीन परिस्थितियो मे उसे आवश्यक बताया। यह भी सुझाव दिया गया कि जिन प्रान्तो म मुसलमानो की सख्या बहुत कम है वहा विधान सभाओ म उन्हे विशेष प्रतिनिधित्व दिया जाय।

(क) वैधानिक विकास के सम्बन्ध मे—आयोग ने सिफारिश की कि वैधानिक विकास क्रमिक होना चाहिए। सामयिक परीक्षण को समाप्त कर देना चाहिए। विधान को इतना लचीला बना दिया जाय कि वह स्वय ही विकसित हो।

---

1 Each Province should, as far as possible, be mistress in her own affairs

(ख) भारत परिषद् के सम्बन्ध मे — आयोग ने भारतीयो की इस माग को स्वीकार नही किया कि भारत परिषद् को समाप्त कर दिया जाय। आयोग ने केवल यह सिफारिश की कि उसकी शक्तियो म कमी कर दी जाय।

**साइमन आयोग के प्रतिवेदन का मूल्याकन**—साइमन आयोग के प्रतिवेदन के सम्बन्ध म दो विचार हैं। एक विचार साम्राज्यवादियो का है जिनके लिए "यह प्रतिवेदन सरकारी पत्रो म एक महत्त्वपूर्ण पत्र रहेगा।" ए०बी० कीथ के शब्दो म, भारतीयो द्वारा साइमन आयोग का बहिष्कार एक त्रुटिपूर्ण कदम था।"[1] कूपलण्ड का मत है कि 'साइमन आयोग का प्रतिवेदन तब तक की भारतीय समस्याओ का सबसे अधिक सम्पूर्ण अध्ययन था और इसने राजनीति शास्त्र के पुस्तकालय को एक और उच्च कोटि की रचना प्रदान की।[2]

दूसरा विचार भारतीय जनमत का था जिसने इसे बिल्कुल ठुकरा दिया। भारतीय जनमत द्वारा इस प्रतिवेदन को ठुकराये जाने के ठोस कारण निम्न थे —

(i) इस प्रतिवेदन मे औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) का जिक्र तक न था।

(ii) केन्द्रीय प्रशासन म उत्तरदायी सरकार की स्थापना की सिफारिश नही की गई थी।

(iii) प्रान्तीय स्वायत्तता को गवनर के विशेषाधिकारो के अधीन रखा गया था।

(iv) साम्प्रदायिक प्रणाली और अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली को जारी रखने की सिफारिश की गई थी।

स्पष्ट है कि साइमन रिपोट म भारतीय जनता की अभिलाषाओ तथा आकाक्षाओ की पूर्ण उपेक्षा की गई थी। यह प्रतिवेदन जहा एक ओर निराशाजनक था वहा इसम निष्पक्षता और उदारता का भी अभाव था। श्री रिचर्ड बी० ग्रग (Richard B Gregg) का मत है कि आयोग के सदस्यो न कई तथ्यो का जान बूझकर इस प्रकार उल्लेख किया कि इग्लण्ड और अमरीका के लोग यह समझने लगे कि भारतीय समस्या बडी जटिल तथा कठिन है।' भारतीयो ने मागी थी रोटी और उन्ह मिल पत्थर।

साइमन आयोग भारतीयो की समस्याओ को कभी नही समझ सका क्योकि वह भारतीय जनता के साथ सम्पर्क म नही आया, वह तो केवल सरकारी गवाहो से ही मिल सका। वह नवीन उमडते हुए भारत के यौवन को नही पहचान सका। श्री एण्ड्रूज (Andrews) का मत है कि 'इसने अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन से सारे देश म पैदा हुए परिवतन और जनता की अभिलाषाओ और आकाक्षाओ की पूरी उपक्षा की।

---

1 Keith A B A Constitutional History of India P 204

2 Coupland, Indian Problems 1833–1935 p 100

इसने उस भारत को अपने सम्मुख रखा जो राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होने के 30 वर्ष पूर्व था, राष्ट्रीय जागृति के परिणामस्वरूप उदीयमान युवक भारत का इसमें परिचय नहीं मिलता ।"[1] सर शफात अहमद खां के शब्दों में "इसने केन्द्र में उत्तरदायित्व के मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर कोई ध्यान नहीं दिया है इसके अनुसार गवर्नर जनरल शाहजहां से भी अधिक शक्तिशाली और शाहआलम से भी अधिक अनुत्तरदायी बन गया होता ।[2] सर शिवा स्वामी आयर का मत है कि "प्रतिवेदन को फटे कागजों की रद्दी की टोकरी में डाल देना चाहिए ।"[3] यह प्रतिवेदन इतना सड़ा हुआ था कि ब्रिटेन के श्रमिक दल की सरकार ने भी इसकी ओर ध्यान नहीं दिया । प्रथम गोल मेज सम्मेलन में भी इसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया । परन्तु अनुदारवादी सरकार के तत्वाधान में सर सेम्यूल होर (Sir Samuel Hoare) के काल में, इस प्रतिवेदन को स्वागत मिला और 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में इसकी बहुत सी सिफारिशों को मूर्त रूप मिला ।

## नेहरू प्रतिवेदन, 1928
### ( Nehru Report, 1928 )

साइमन आयोग में सभी श्वेत सदस्यों को नियुक्त करते समय अनुदार दल के भारत सचिव लार्ड बिर्केनहैड ने भारतीयों को चुनौती दी थी कि वे एक मत होकर एक स्वीकृत विधान को संसद के सम्मुख उसके विचारार्थ प्रस्तुत करें । यह चुनौती दो बार दी गई थी । एक बार लार्ड सभा में भाषण देते हुए 7 जुलाई 1925 को दी गई थी और दूसरी बार 1927 में उस समय दी गई जब साइमन आयोग के श्वेत सदस्यों की नियुक्ति की गई । इस चुनौती को देते समय लार्ड बिर्केनहैड को विधान-बनाने के कार्य में न केवल भारतीयों की योग्यता पर अविश्वास था बल्कि उसकी यह भी धारणा थी कि भारतीय अपने जातीय वैमनस्य के कारण (क्योंकि भारत में भिन्न भिन्न जातियां हैं जिनके विचार न केवल एक दूसरे से भिन्न हैं बल्कि एक दूसरे के विरोधी भी हैं) कभी भी एक मत होकर किसी स्वीकृत विधान को प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे । भारतीय राष्ट्रवादियों ने साइमन आयोग का बहिष्कार करते समय इस चुनौती को स्वीकार कर लिया । डा० राजेन्द्र प्रसाद का यह भी मत है कि भारतीयों में संविधान बनाने का प्रयत्न केवल (लार्ड बिर्केनहैड) चुनौती का उत्तर देने में ही प्रभावित नहीं था बल्कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अन्य दलों की सहमति से तैयार हुए संविधान, के द्वारा अपने देशवासियों के सामने अपने विचारों और मांगों को भी पेश करना चाहती थी ताकि एक ओर, भारतीयों को उन मांगों से अवगत करा दिया जाय तथा दूसरे, सरकार पर उन्हें मानने के लिए दबाव डाला जाय ।

---

1 Andrews India and the Simon Commission p 39

2 Sir S A Khan The Indian Federation

3 ' It should be placed on the scrap heap " Aiyer, Sir Sivaswamy

**सव दलीय सम्मेलन (All Parties Conference)**—काग्रेस कायकारिणी ने एक सवदलीय सम्मेलन दिल्ली मे 28 फरवरी 1928 को आयोजित किया। इस सम्मेलन मे 29 सगठनो तथा दलो ने भाग लिया जिसम मुख्य थे—कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, खिलाफत समिति, भारतीय ईसाई काग्रस, राष्ट्रीय उदारवादी सघ आदि। इस सम्मेलन म कुछ प्रारम्भिक और मूल आधारो पर विचार किया गया तथा यह निर्णय लिया गया कि भारत की वधानिक समस्या पर विचार "पूर्ण उत्तरदायी शासन' के आधार पर होना चाहिए। इसके बाद सम्मेलन की बठक स्थगित कर दी गई।

सम्मेलन की दूसरी बठक 11 मई, 1928 को बम्बई म डा० एम० ए० अन्सारी की अध्यक्षता मे हुई। इस सम्मेलन ने एक समिति की नियुक्ति की जिसे एक विधान निर्माण का काय सौंपा गया तथा उसे अपना प्रतिवेदन 1 जुलाई 1928 तक प्रस्तुत करने के लिए भी कहा गया।

समिति के कुल सदस्य 9 थे जिसके सभापति श्री मोतीलाल नहरू तथा सचिव जवाहरलाल नेहरू थे। इस समिति के अन्य सदस्य थ सर तेज बहादुर सप्रू, सर अली इमाम एम० एस० अणे, सरदार मगलसिंह श्री शुवब कुरेशी, जी० आर० प्रधान और सुभाषचन्द्र बोस। इस समिति ने 3 महीने के कठिन परिश्रम और 25 बठको के पश्चात एक विधान तयार किया जो सवसम्मत था अर्थात जो समिति के सभी सदस्यो को स्वीकार था। समिति ने जो प्रतिवेदन 10 अगस्त 1928 को प्रस्तुत किया वह 'भारतीय बुद्धिमत्ता का प्रथम वैधानिक पुष्प" था। यह प्रतिवेदन ही नेहरू प्रतिवेदन के नाम से प्रसिद्ध है।

**प्रतिवेदन (Report)**—नेहरू प्रतिवेदन द्वारा भारत के सम्बन्ध म जो खाका खीचा गया था उसकी मुख्य बातें निम्न थी —

1 **प्रभुसत्ता के सम्बन्ध मे**—नेहरू प्रतिवेदन की सबसे बडी विशेषता यह थी कि उसम यह स्पष्ट कर दिया गया था कि "प्रभुसत्ता भारत के लोगो म निहित है अर्थात सरकार जिन शक्तियो का प्रयोग करती है वह लोगो द्वारा प्रदत्त हैं और लोग ही अन्तिम सत्ता के आधार हैं।

2 **स्वशासित उपनिवेश के सम्बन्ध मे**—प्रतिवेदन मे कहा गया था कि भारतवर्ष के लिए 'स्वशासित उपनिवेशो के विधान के आदश पर आधारित पूर्ण उत्तरदायी सरकार ही उपयुक्त रहेगी।' ब्रिटिश साम्राज्य म भारत का वही स्थान हो जो न्यूजीलैण्ड, कनाडा और आस्ट्रेलिया आदि का है और भारत को कॉमनवल्थ आफ आस्ट्रेलिया की भाति कॉमनवल्थ आफ इण्डिया (Commonwealth of India) का नाम दिया जाय। प्रतिवेदन उत्तरदायी सरकार म क्रमिक विकास के सिद्धान्त स सहमत न था। प्रतिवेदन म कहा गया था कि औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) की उपलब्धि "हमारे विकास की दूरस्थ अवस्था नही, अपितु

अगला तात्कालिक कदम है।" स्पष्ट है कि प्रतिवेदन मे औपनिवेशिक स्वराज्य को स्वीकार करते हुए भी पूर्ण स्वतन्त्रता के लक्ष्य के विचार का त्यागा नही गया था।

**3 साम्प्रदायिक वमनस्य के निवारण के सम्बन्ध मे**—प्रतिवेदन मे कहा गया था कि प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क मे से दूसरे व्यक्ति के निराधार भय को हटा दिया जाय और समस्त जातियो को सुरक्षा का आश्वासन दिया जाय। इसके लिए प्रतिवेदन मे निम्न सुझाव दिये गये थे —

**(i) मूल अधिकारो की घोषणा**—भारत के विधान मे मूल अधिकारो की घोषणा की जाय ताकि समस्त जातिया अपने धर्म और संस्कृति सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें। प्रतिवेदन मे 19 मूल अधिकारो की व्याख्या की गई थी जिनमे से मुख्य है कानून के समक्ष समानता का अधिकार, स्त्री पुरुष की समानता, मातृत्व की रक्षा, बच्चो की सुरक्षा वृद्धावस्था, अशक्ति और बेरोजगारी की स्थिति मे आर्थिक सुरक्षा, स्वतन्त्रता का अधिकार, अन्तःकरण की स्वतन्त्रता, किसी धर्म को अपनाने तथा उसका प्रचार करने की स्वतन्त्रता, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, बिना शस्त्रो के शान्तिमय तरीका से एकत्रित होने की स्वतन्त्रता, सघ तथा समुदाय की स्वतन्त्रता, इत्यादि। दलित वर्गों, महिलाओ और श्रमिको का सुरक्षा की गारटी दी गई थी।

**(ii) धर्म निरपेक्ष राज्य**—भारत के कॉमनवल्थ (Commonwealth of India) तथा किसी प्रान्त का कोई अपना धर्म नही होगा। राज्य न तो किसी धर्म का प्रचार करेगा और न ही किसी धर्म का कोई विशेष सुविधाएँ ही देगा। धर्म, जाति, लिंग, भाषा किसी आधार पर नागरिको म भिन्नता नही की जायगी। सक्षेप म, प्रतिवेदन मे भारत के लिए एक धर्म निरपेक्ष राज्य की कल्पना की गई थी।

**(iii) साम्प्रदायिक या पृथक निर्वाचन का उन्मूलन**—प्रतिवेदन म न केवल साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का दूषित माना गया था बल्कि हानिकारक भी बताया गया था क्योंकि, समिति का मत था यह पद्धति ही जातीय वैमनस्य को जन्म देती है तथा उसका विकास करती है। इसलिए प्रतिवेदन म कहा गया था कि साम्प्रदायिक या पृथक निर्वाचन पद्धति को समाप्त कर उसके स्थान पर सयुक्त निर्वाचन पद्धति को स्थापित किया जाय। परन्तु अल्पमत वालो के लिए "आरक्षण (Reservation of Seats) गारण्टिया और सास्कृतिक स्वायत्तता" को स्वीकार करते हुए भी प्रतिवेदन न किसी सम्प्रदाय के लिये निर्वाचन म गुरुभार (weightage) का स्वीकार नही किया। 'गुरुभार' का अस्वीकार करते हुए प्रतिवेदन म कहा गया था कि "राष्ट्रीय हितो के लिए विचारित किसी भी प्रतिनिधित्व प्रणाली म उसे कोई स्थान नही दिया जा सकता।" इसम कहा गया था कि केन्द्र तथा उन प्रान्तो म जहा मुसलमानो की सख्या अल्प है वहा उनके लिए कुछ स्थान सुरक्षित कर दिये जायें तथा उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त (N W F P) म जहा हिन्दुओ की सख्या अल्प है वहा उनके लिए कुछ स्थान सुरक्षित कर दिये जायें जिससे जातीय गुत्थी स्थायी

बनी रहे । सुरक्षित किये जाने वाले स्थानो की सख्या उस जाति के आकार (जनसं के आधार पर) के अनुपात म होनी चाहिये । किसी अल्पमत को कोई अन्य प्रकार की विशेष सुविधा या गुरुभार प्रदान नही किया जाना चाहिए । प्रतिवेदन में ह कहा गया था कि "एक सम्प्रदाय दूसर सम्प्रदाय के ऊपर निरंकुश शासन करे, इ बात को सहन नही किया जा सकता ।" अल्पसख्यक सुरक्षित स्थान के लिए निर्वाच लड सकते थे परन्तु अन्य स्थानो के लिए (सुरक्षित स्थाना के अतिरिक्त) चुनाव ल पर कोई प्रतिबन्ध नही हाना चाहिए ।

(iv) **नये प्रान्तों का निर्माण**—भारत के मुसलमान इस बात की माग क रहे थे कि सिन्ध को बम्बई प्रान्त से पृथक कर दिया जाय और उत्तरी पश्चिमी सीम प्रान्त को एक पृथक प्रान्त का स्थान दिया जाय । नेहरू प्रतिवेदन मे इन दोनो मार्गों को स्वीकार कर लिया गया था और कहा गया था कि इन दोना प्रान्ता को स्वत प्रान्तो की स्थिति प्रदान की जाय । यह सिफारिश इसलिए की गई थी ताकि मुस्लि बहुमत प्रान्ना को हिन्दू बहुमत प्रान्ता के साथ सन्तुलित किया जा सके तथा या मुस्लिम बहुल प्रान्तो (पजाब, बगाल सिध और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त) का निर्माण हो सके । स्पष्ट है कि नेहरू प्रतिवेदन "साम्प्रदायिकता की कठिनाइया का ठीक ठीक सामना करने के लिए भारतीया द्वारा अब तक की गई सुस्पष्टतम चेष्टा थी ।

**4 शासन व्यवस्था के सम्बन्ध मे**—केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन व्यवस्था के सम्बन्ध म नेहरू प्रतिवेदन म निम्न व्यवस्थाये सुझाई गई थी —

(i) **गवर्नर जनरल एक सवधानिक अध्यक्ष होना चाहिए**—दश का शासन ब्रिटिश सम्राट के हाथ म हो और गवनर जनरल उसका प्रतिनिधि हो जिस भारत राजस्व से वेतन तथा भत्ते दिय जायें उसकी स्थिति एक सवधानिक अध्यक्ष की हो तथा वह लोकप्रिय मन्त्रिया की सम्मति से काय करे । गवनर जनरल प्रधान मन्त्री की नियुक्ति करे परन्तु अन्य मन्त्रिया तथा पदाधिकारिया की नियुक्ति (मन्त्री, राजदूत आडिटर जनरल आदि) गवनर जनरल प्रधानमन्त्री के परामश से कर । प्रधान मन्त्री के अतिरिक्त केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के सदस्या की सख्या 6 निश्चित की गई थी । मन्त्रिमण्डल का निर्माण व्यवस्थापिका सभा के दोना सदना म स हो और वह उसक प्रति सयुक्त रूप से उत्तरदायी हो । प्रतिवदन म यह भी कहा गया था कि विधान क लागू हान क प्रथम तीन वप तक, भ्रष्टाचार क आराप क अतिरिक्त न ता केन्द्रीय और न ही प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल को हटाया जाय । परन्तु तीन वप क बाद उसे अविश्वास क प्रस्ताव द्वारा ⅔ बहुमत स हटाया जा सकता था ।

(ii) **केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के दो सदन हो**— नहरू प्रतिवदन म व्यवस्था की गई थी कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका के दो सदन हो एक सीनेट (जो उच्च सदन हागा) तथा दूसरा प्रतिनिधि सदन (जो निम्न सदन हागा)। उच्च सदन क सदस्यो की सख्या 200 निर्धारित की गयी थी जिनका निवाचन 7 वष क लिए प्रान्तीय विधान सभाओ द्वारा एकल सक्रमणीय मत तथा अनुपातिक निर्वाचन प्रणाली द्वारा कि

जाना था । दूसरे शब्दो मे, उच्च सदन का निर्वाचन अप्रत्यक्ष होना था । निम्न सदन के सदस्यो की सख्या 500 निर्धारित की गई थी । इसका निर्वाचन प्रत्यक्ष वयस्क मताधिकार के आधार पर होना था । नेहरू प्रतिवेदन मे प्रा`ता के लिए उच्च सदन की व्यवस्था नही की गई थी ।

के`द्रीय व्यवस्थापिका को यह अधिकार दिया गया था कि वह शा`ति व्यवस्था और सुशासन बनाये रखने के लिए कानून बना सकती है ।

(iii) **प्रतिरक्षा**—प्रतिरक्षा के लिये नेहरू प्रतिवेदन मे एक प्रतिरक्षा समिति का सुझाव दिया गया था । इस समिति के जो सदस्य निश्चित किये गये थे वे ये प्रधान म`त्री, प्रतिरक्षा म`त्री, विदेश मन्त्री, सर्वोच्च सेनापति, वायु तथा जल सेना के मुख्य सेनापति, जनरल स्टाफ के अध्यक्ष तथा अ`य दो विशेषज्ञ । इस समिति का काय था प्रतिरक्षा के सम्ब ध मे और अ`य प्रश्नो पर परामश देना ।

व्यवस्थापिका सभा को सेना के बजट पर विवाद करने और उसके प्रति मत प्रकट करने का अधिकार दिया गया था । यद्यपि आपत्कालीन स्थिति म सरकार को (कायपालिका को) यह अधिकार दिया गया था कि वह सुरक्षा के लिये धन व्यय कर सकती थी ।

(iv) **शक्तियो का बटवारा**—नेहरू प्रतिवेदन म के`द्र और प्रा`तो के मध्य शक्तियो के बटवारे की योजना बनाई गई थी और यह कहा गया था कि अवशिष्ट शक्तिया के`द्र के पास रहगी ।

(v) **लोक सेवायें**—लोक सेवाओ पर के`द्रीय व्यवस्थापिका सभा का निय`त्रण हो ।

(vi) **महत्वपूर्ण विषय**—महत्त्वपूर्ण विषयो का निर्णय उपनिवेश और ब्रिटिश कॉमनवैल्थ के अ`य सदस्यो के पारस्परिक विचार विमश द्वारा किया जायगा ।

(vii) **सर्वोच्च `यायालय**—अ`तिम न्यायालय के रूप मे भारत म एक सर्वोच्च `यायालय का सुझाव दिया गया था । प्रिवी का`सिल को सभी अपीलें ब`द करने के लिये कहा गया था । केवल विशेष परिस्थितियो मे ही परिषद-सहित राजा के पास अपील की व्यवस्था की जानी थी । अ`य सघीय सविधानो की भाति भारत की सर्वोच्च `यायालय भी सविधान की व्याख्या करेगी तथा के`द्र और प्रा`तो के आपसी झगडो का निर्णय करेगी ।

(viii) **हाई कमिश्नर**—प्रतिवेदन म कहा गया था कि अ`य उपनिवेशो की भाति भारत को कॉमनवैल्थ को दूसरे देशो म अपने हाई कमिश्नर तथा प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया जाय ।

5 **देशी राज्यो के सम्ब`ध मे** देशी राज्यो के अधिकारो और उनकी स्वत`त्रता की सुरक्षा के सम्ब`ध मे नेहरू प्रतिवेदन सहमत था । पर`तु प्रतिवेदन म यह स्पष्ट कहा गया था कि उ`ह भारतीय राष्ट्रीयता को नष्ट [illegible] स्वत`त्रता नही होगी । अर्थात् उ`ह भारतीय अल्स्टर (Ulster) के रूप म [illegible]

करने क किसी प्रयास को सहन नही किया जा सकता । यदि सघीय-सविधान ... जाय तो उन्हे उसम सम्मिलित होने का अधिकार तभी दिया जाय जब उनक ... म स्थापित निरकुश शासन नष्ट कर दिया जाय तथा वहा उत्तरदायी सरकार ... स्थापना हो जाय । इस तरह नई केन्द्रीय सरकार ब्रिटिश सरकार से देशी राज्यो ... प्रति उन समस्त अधिकारो और कर्त्तव्यो को ले लेगी जो सावभौम सत्ता (Para- mountcy) मे निहित थी । इस तरह सावभौम सत्ता (Paramountcy) ... नही होनी थी वल्कि ब्रिटिश सरकार की उत्तराधिकारी के रूप म उस नई ... को दे दिया जाना था ।

6 **प्रान्तो के सम्बन्ध मे** केन्द्र की भाति प्रान्तो म भी नेहरू प्रतिवेदन म, उत्तरदायी सरकार की स्थापना का सुझाव दिया गया था । प्रान्त की कार्यपालिका को प्रान्त की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी रखा गया था, प्रान्त की ... विधान मण्डल म निहित की गई थी । विधान मण्डलो का निर्वाचन वयस्क मताधिकार द्वारा होना था । एक लाख जनसख्या के पीछे एक प्रतिनिधि निर्वाचित करने ... व्यवस्था की गई थी । प्रान्त के मुख्य मन्त्री को गवनर नियुक्त करेगा परन्तु ... मन्त्रियो की नियुक्ति गवनर मुख्य मन्त्री के परामश से करेगा । प्रात क मन्त्रिमण्डल ... सदस्या की सख्या 5 निर्धारित की गई थी ।

**नेहरू प्रतिवेदन के प्रति दलो की प्रतिक्रिया**—नेहरू प्रतिवेदन को 10 अगस्त 1928 को प्रस्तुत किया गया था । लखनऊ म जो सवदलीय सम्मेलन 28, 29 ... 30 अगस्त 1928 का हुआ उसम इस सवसम्मति से (unanimously) स्वीकार कर लिया गया था । परन्तु जब दिसम्बर 22, 1928 का कलकत्ता म इस ... समथन क लिये भिन्न भिन्न दलो की पृथक पृथक बठका म प्रस्तुत किया गया ... प्रतिवेदन पर सकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विचार किया जाने लगा । भारत ... मुसलमान अपने विचारो म विभक्त हो गये थे । डा० अन्सारी, हकीम अजमल ... तथा मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे राष्ट्रवादी मुसलमान प्रतिवदन को पूर्ण ... स्वीकार करने के पक्ष म थ परन्तु सर मुहम्मद शफी (Mohammed Shafi) ... नतृत्व मे साम्प्रदायिक मुसलमान इस अस्वीकार करना चाहते थ और मोहम्मद अली जिन्ना इसम ऐसे सशोधना पर बल देना चाहते थ जो इसक वास्तविक ... को ही नष्ट कर देते थ । जिन्ना न इसक विकल्प के रूप म अपना चौदह सूत्री ... (Jinnah s Fourteen Points) प्रस्तुत किया जिनम मुसलमानो के हितो ... अधिकारो की रक्षा क लिय विशष व्यवस्था की गई थी तथा उनके लिए ... माग की गयी थी । सिक्ख भी नेहरू प्रतिवेदन मे सन्तुष्ट नही थ क्योकि व भी ... म हान स अपने लिय सरक्षण (Reservation) चाहत थे । कुछ हरिजना का भी ... था कि उनके अधिकारो की उपेक्षा की गई है । भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने ... विचारो म एक मत नही थी । यद्यपि काग्रेस न नेहरू प्रतिवेदन को अपने 19... के कलकत्ता अधिवेशन म स्वीकार कर लिया परन्तु सुभाष चन्द्र बोस नेताजी ...

नेहरू तथा श्रीनिवास आयंगर जसे काग्रेस के युवक सदस्य औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) से स तुष्ट नही थे, वे पूर्ण स्वतन्त्रता (Complete indepen dence) के पक्ष म थे। इस कठिनाई को महात्मा गाधी के हस्तक्षेप (मध्यस्थता) द्वारा दूर किया गया और काग्रेस ने देश के राजनीतिक ढाचे के लिए 'औपनिवेशिक स्वराज्य' को स्वीकार कर लिया। परन्तु साथ मे सरकार को यह चेतावनी दी गई कि यदि दिसम्बर 31, 1929 तक अर्थात् एक वर्ष के भीतर, नेहरू प्रतिवेदन को स्वीकार न किया गया तो काग्रेस का उद्देश्य "पूर्ण स्वतन्त्रता' होगा।

**नेहरू प्रतिवेदन का महत्त्व** – नेहरू प्रतिवेदन "भारतीय बुद्धिमत्ता का प्रथम पुष्प था।" यह भारतीयो की राजनीतिक परिपक्वता और सूझबूझ का परिचायक था। यह "राजनीतिक विकास की दिशा मे एक महान पग था।" यह उन सब चुनौतियो का उत्तर था जो ब्रिटिश सरकार के अनुदार दल के भारत मन्त्री लार्ड बिर्कनहैड ने दी थी। इस प्रतिवेदन ने सिद्ध कर दिया था कि 1928 मे भी भारतीय नेता भारतीय सवधानिक ढाचे के रूप के बारे मे बिल्कुल स्पष्ट थे। अग्रेजो का यह दावा कि भारतीय प्रशासन करने की योग्यता नही रखते तथा उनमे जातीय मत्रीभाव और सौहार्द विद्यमान नही उनकी "विभाजन करो और शासन करो की नीति का परिणाम था। कूपलैण्ड के शब्दो मे "यह केवल इस चुनौती का ही उत्तर नही था कि भारतीय राष्ट्रीयता रचनात्मक कार्यों के लिए अयोग्य थी बल्कि साम्प्रदायिक विष को निष्पक्ष रूप से नष्ट करने के लिए भारतीयो द्वारा जो प्रयत्न किये गये थे यह उनमे सबसे अधिक निष्कपट एव स्पष्ट था।"

नेहरू प्रतिवेदन अनेक दृष्टिकोणो से व्यवहारिक और समयानुकूल था। जहा साइमन प्रतिवेदन का महत्त्व उसके पुरातन असामयिक और भारतीयो की राष्ट्रीय भावनाओ के विपरीत होने म था वहा नेहरू प्रतिवेदन का महत्त्व उसके रचनात्मक होने, तत्कालीन परिस्थितियो के अनुकूल होने तथा भारतीयो की राष्ट्रीय भावनाओ के अनुरूप होने मे था। यदि साइमन प्रतिवेदन ब्रिटिश राजनीति के आदर्श एव अव्यावहारिक सिद्धान्तो पर लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ था तो नेहरू प्रतिवेदन व्यावहारिक तथा राष्ट्रीय सिद्धान्तो पर लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ था।

नेहरू प्रतिवेदन म भारत की तत्कालीन समस्याओ पर पूर्ण विचार किया गया था तथा जो उनका हल निकाला गया वह भी तर्कसगत और व्यावहारिक था। जहा, एक ओर, नेहरू प्रतिवेदन म स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय एकता पर बल दिया गया था वहा अल्पमत वालो के भय को भी सरक्षण द्वारा दूर करने का प्रयास किया गया था। प्रत्येक नागरिक के विकास के लिए इसम मूल अधिकारो की भी व्यवस्था की गई थी। जिस तरह भारत के वर्तमान सविधान म (1950 के सविधान म) सभी नागरिको को मूल अधिकार प्राप्त हैं तथा उनम किसी प्रकार का भेदभाव नही किया जाता उसी तरह की व्यवस्था नेहरू प्रतिवेदन म भी की गई थी। देशी राज्यों

के सम्बन्ध में भी नेहरू प्रतिवेदन युग-प्रवर्तक था। वास्तविकता यह है कि नेहरू प्रतिवेदन और वर्तमान संविधान में इतनी अधिक समता है कि इसे वर्तमान संविधान का प्रारम्भिक क्रम या नकशा (Blue Print) कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

नेहरू प्रतिवेदन की अनेक लेखकों ने प्रशंसा की है। जी० आर० प्रधान के शब्दों में "यह सर्वोत्तम योजना है जिसने शक्तिशाली अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के दावों में सामंजस्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है।" डॉ० जकारिया के शब्दों में 'प्रतिवेदन अत्युत्तम और व्यवहारकुशल प्रतिवेदन है ... यह प्रतिवेदन तत्व रूप में पढ़ने और अध्ययन करने योग्य है क्योंकि इसमें जिन विषयों पर विचार किया गया है उनमें से प्रत्येक पर यह प्रकाश डालता है। यह प्रतिवेदन व्यावहारिक ज्ञान का प्रदर्शन करता है जो न तो अपने आपको सैद्धान्तिक कल्पनाओं में खोता है और न ही निरर्थक बातों का आश्रय लेता है।'[1] सर शफात अहमद खां के शब्दों में "नेहरू प्रतिवेदन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनात्मक प्रयास था। अब तक जो भी इस प्रकार के प्रयास अन्य संगठनों द्वारा किये गये उनमें इसका अपना एक विशेष महत्त्व था। इसने देश के सम्मुख एक महान आदर्श उपस्थित किया था जिसके स्थान की कभी पूर्ति नहीं हो सकती।"

नेहरू प्रतिवेदन इतना प्रगतिवादी (Progressive) था कि ब्रिटिश सरकार ने उसे स्वीकार नहीं किया।

## जिन्ना के चौदह प्वाइन्ट (सूत्र) या नेहरू प्रतिवेदन पर मुसलमानों की प्रतिक्रिया

## (Jinnah's Fourteen Points or Muslim Reaction to Nehru Report)

नेहरू प्रतिवेदन के प्रति भारतीय मुसलमानों का दृष्टिकोण मिश्रित था। डॉ० अन्सारी, हकीम अजमल खाँ, टी० ए० के० शेरवानी और मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे राष्ट्रवादी मुसलमान प्रतिवेदन को पूर्णतया स्वीकार करने के पक्ष में थे, सर मुहम्मद शफी जैसे मुसलमान उसे अस्वीकार करना चाहते थे, आगा खाँ जैसे मुसलमान अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के इच्छुक थे। इन मुसलमानों का कहना था कि नेहरू प्रतिवेदन ने 'गुरुभार' (Weightage) और 'पृथक् निर्वाचन प्रणाली' (Separate Electorate) का परित्याग करके लखनऊ समझौते की उल्लंघना की है। इनके लिए नेहरू प्रतिवेदन मुसलमानों के लिए 'मौत का सन्देश पत्र' (death warrant) था। इन मुसलमानों का हिन्दुओं पर यह भी आरोप था कि बहुमत के कारण वे अपना प्रभुत्व को मुसलमानों पर जमाना चाहते

---

1 Dr Zacharias Renascent India pp 251–252

है। चौथा ग्रुप जिन्ना का था जो इस बात मे विश्वास करता था कि हिन्दू मुस्लिम एकता के बिना कोई विकास सभव नही। इस उद्देश्य को लेकर ही जिन्ना ने 31 दिसबर, 1928 को सभी मुस्लिम दलो का एक सम्मेलन दिल्ली मे बुलाया। परन्तु इस सम्मेलन मे कोई समझौता न हो सका और इसे स्थगित कर दिया गया। सम्मेलन ने सभी दलो के साथ विचार-विमर्श करने का अधिकार जिन्ना को दे दिया था। समझौते के रूप मे जिन 14 प्वाइन्टस (Points) को जिन्ना ने मुस्लिम लीग के मार्च 1929 के दिल्ली अधिवेशन मे प्रस्तुत किया वे ही इतिहास मे "जिन्ना के चौदह प्वाइन्टस" के नाम से प्रसिद्ध है। ये प्वाइन्टस निम्नलिखित थे—

1 भारत का भावी सविधान सघीय आधार पर होना चाहिए जिसमे अवशिष्ट शक्तिया (residuary powers) एकको (प्रान्तो) के पास हो।

2 सभी प्रान्तो को समान स्वायत्त शासन का अधिकार होना चाहिए।

3 विधान सभाओ सहित, सभी निर्वाचित सस्थाओ मे अल्पसख्यको के लिये उचित एव पर्याप्त प्रतिनिधित्व की व्यवस्था होनी चाहिए। जिन प्रान्तो मे अल्पसख्यको का बहुमत है उसे अल्पमत या समान मे नही बदलना चाहिये।

4 केन्द्रीय विधान सभा मे मुसलमानो का एक-तिहाई प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये।

5 पृथक निर्वाचन प्रणाली को जारी रखा जाय परन्तु किसी भी जाति को स्वेच्छा से सयुक्त प्रतिनिधित्व (joint electorate) की प्रणाली अपनाने का अधिकार होना चाहिये।

6 किसी भी भावी प्रादेशिक पुनर्विभाजन का पजाब, बगाल और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त मे मुस्लिम बहुमत पर कोई प्रभाव नही होना चाहिये।

7 धर्म, विश्वास, उपासना, उत्सव, प्रचार, सम्मेलन और शिक्षा की स्वतन्त्रता सभी को होनी चाहिए।

8 किसी भी विधान सभा मे प्रस्तुत किसी विधेयक, प्रस्ताव या उसके भाग पर यदि किसी जाति के तीन-चौथाई सदस्यो का विरोध हो तो उसे स्वीकार नही किया जाना चाहिए।

9 सिन्ध को बम्बई प्रान्त से पृथक कर दिया जाय।

10 दूसरे प्रान्तो की भांति उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और बलूचिस्तान में सुधारो को लागू किया जाय।

11 सभी सेवाओ मे योग्यता की आवश्यकताओ के अनुरूप, अन्य भारतीयो की तरह मुसलमानो को भी पर्याप्त स्थान दिये जायें।

12 मुस्लिम संस्कृति, भाषा और धर्म के लिये संविधान में संरक्षण की व्यवस्था की जाय।

13 किसी भी केन्द्रीय या प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल में मुसलमानों के एक सदस्य होने चाहिये।

14 संविधान में परिवर्तन तभी होना चाहिये जब संघ की सभी इका उस पर सहमति प्रकट करें।

जिन्ना के उपर्युक्त चौदह प्वाइन्टस को किसी भी मुस्लिम समूह ने स्वीकार नहीं किया। राष्ट्रवादी मुसलमानों का कहना था कि ये प्वाइन्टस अल्पसंख्यकों की भारत की साम्प्रदायिक समस्या का पूर्ण हल नहीं। मौलाना आजाद के नेतृत्व में राष्ट्रवादी मुसलमान मुस्लिम लीग से पृथक हो गये और राष्ट्रवादी मुस्लिम दल (Nationalist Muslim Party) के नाम से उन्होंने अपने पृथक संगठन का निर्माण कर लिया। मुहम्मद शफी और आगा खाँ भी इनसे सन्तुष्ट नहीं थे।

जिन्ना के चौदह प्वाइन्टस के अनेक परिणाम निकले। प्रथम जिन्ना, शफी और आगा खाँ एक दूसरे के निकट आ गये, दूसरे, मुस्लिम लीग हमेशा के लिए कांग्रेस से अलग हो गयी, तीसरे, लीग मुसलमानों के लिये पृथक मातृभूमि (A separate homeland for the Muslims) की माँग करने लगी, चौथे, ब्रिटिश शासकों ने भारतीयों में साम्प्रदायिक भिन्नता का लाभ उठाते हुए 'विभाजन करो और शासन करो' की नीति का विस्तार कर दिया। मैकडानल्ड पंचाट ने जिन्ना के इन चौदह प्वाइन्टस को प्राय स्वीकार कर लिया। पाँचवें, लार्ड बिर्कनहैड की यह चेतावनी अलघ्य (insurmountable) प्रतीत होने लगी कि भारतीय एक मत होकर अपने लिए संविधान का निर्माण नहीं कर सकते।

इंगलैण्ड में निर्वाचन, मजदूर दल की सरकार तथा इरविन घोषणा—इंगलैण्ड में मई 1929 में चुनाव हुए जिसमें अनुदार दल की पराजय हुई। परन्तु विजयी होने पर भी मजदूर दल का पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो सका। परिणाम स्वरूप उदार दल के सदस्यों के सहयोग से मजदूर दल ने सरकार का निर्माण किया। रैम्जे मैकडोनल्ड ब्रिटिश प्रधान मन्त्री बने। चुनाव से कुछ दिन पूर्व ही मैकडोनल्ड ने राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन में कहा था कि मुझे आशा है कि कुछ वर्षों में नहीं अपितु कुछ महीनों में ही राष्ट्रमण्डल के देशों में एक और देश अधिराज्य के रूप में सम्मिलित हो जायेगा—यह अधिराज्य दूसरी नस्ल का होगा परन्तु राष्ट्रमण्डल में उसे बराबरी का स्थान प्राप्त होगा। मेरा अभिप्राय भारत से है।' मजदूर दल के सत्ता में आते ही लार्ड बिर्कनहैड के स्थान पर वजवुड बेन को भारत सचिव नियुक्त किया गया। भारतीय विषयों पर विचार विमर्श करने के लिये लार्ड इरविन को लन्दन बुलाया गया जो जून से अक्टूबर 1929 तक इंगलैण्ड रहे। 25 अक्टूबर 1929 को वे भारत लौटे और 31 अक्टूबर को उन्होंने एक घोषणा की जो इरविन घोषणा के नाम से प्रसिद्ध है।

इरविन घोषणा मे कहा गया था कि "1917 की घोषणा मे यह बात अन्तर्निहित है कि अन्ततः भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त हो।" इस घोषणा मे यह भी कहा गया था कि साइमन रिपोर्ट के प्रकाशित होने के शीघ्र बाद लन्दन मे गोल मेज सम्मेलन बुलाया जायगा जिसमे सम्राट की सरकार ब्रिटिश भारत और देशी रियासतो के प्रतिनिधियो से मिलेगी ताकि अंतिम प्रस्तावो पर (भारतीय संवैधानिक समस्या के सम्बन्ध मे) अत्यधिक सहमति प्राप्त हो सके जिसे सरकार संसद के समक्ष प्रस्तुत करेगी।

इरविन घोषणा मे शब्दावली को बडी सावधानी से प्रयोग किया गया था। इसमे न तो औपनिवेशिक स्वराज की स्थापना की बात कही गयी थी और न ही उसके लिये कोई तिथि निश्चित की गयी थी। फिर भी, जैसा कि डॉ० जकारिया ने लिखा है, बेन और इरविन ने भारतीय समस्या के प्रति न्याय, ईमानदारी और समानता का दृष्टिकोण अपनाया।"

इरविन घोषणा के 24 घण्टे के भीतर ही (1 नवम्बर 1929) भारत के प्रमुख नेता दिल्ली मे एकत्रित हुए। इसमे कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य, उदारवादी नेता हिन्दू महासभाई आदि शामिल हुए।[1] इन नेताओ ने एक घोषणा पत्र निकाला[2] जिसमे "भारतीय जनता को सतुष्ट करने के लिये" वायसराय के प्रयासो की प्रशंसा की गयी थी। घोषणा मे यह भी कहा गया था कि भारतीयो मे विश्वास पैदा करने के लिये और उनसे सहयोग प्राप्त करने के लिये सरकार को कुछ कार्य करने चाहिये। (जैसे राजनीतिक बंदियो को छोड दिया जाय) और कुछ बिन्दुओ को स्पष्ट कर देना चाहिये। घोषणा मे यह आशा भी व्यक्त की गयी थी कि "सम्मेलन को इसलिये नही बुलाया जा रहा था कि वह इस बात पर विचार विमर्श करे कि अधिराज्य को कब स्थापित किया जाय बल्कि उसे इसलिये बुलाया जा रहा था कि वह भारत के लिये अधिराज्य संविधान के निर्माण पर विचार विमर्श करे।"

**ब्रिटिश संसद मे विवाद तथा भारतीय नेताओ की निराशा**— ब्रिटिश संसद मे लार्ड इरविन की घोषणा पर उग्र प्रतिक्रिया हुई। चर्चिल, लार्ड बिर्केनहेड, लार्ड रीडिंग और अन्य अनुदारवादी राजनीतिज्ञो ने सरकार पर आलोचना का पहाड गिरा

---

1 दिल्ली मे जो नेता इकट्ठे हुए उनमे प्रमुख थे गाधी, दोनो नेहरू, डॉ० अन्सारी, प० मदन मोहन मालवीय सरदार पटेल, डॉ० मुंजे श्री ऐनी बेसेंट, सर तेज बहादुर सप्रू, श्रीनिवास शास्त्री, इत्यादि। इन सब नेताओ ने घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये थे।

2 सब श्रीसुभाष चन्द्र बोस और श्री निवास आयंगर ने घोषणा पर हस्ताक्षर नही किये।

दिया । भारत के लिये औपनिवेशिक स्वराज के प्रस्ताव को चर्चिल ने "अपराध (Crime) की संज्ञा दी । मजदूर दल में इतनी क्षमता या साहस नहीं था कि व अपने चुनाव घोषणाओं को पूरा कर सके । वह भारतीय समस्या के समाधान के लिए अपने अस्तित्व को भी खतरे में नहीं डालना चाहता था । परिणाम स्वरूप विरोधियो को सन्तुष्ट करने के लिये बड़े अस्पष्ट शब्दो का प्रयोग किया गया और यह बताने का प्रयास किया कि भारत के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है । वायसराय लार्ड इरविन ने भारतीय नेताओं की घोषणा का न तो कोई उत्तर ही दिया और न ही राजनीतिक बन्दियों को मुक्त किया ।

ब्रिटिश संसद में हुए वाद विवाद के फलस्वरूप, कुछ बातो का स्पष्टीकरण करने के लिए मोतीलाल नेहरू, सप्रू, पटेल, जिन्ना आदि के साथ गांधीजी ने 23 दिसम्बर 1929 को लार्ड इरविन से भेंट की ।[1] परन्तु इरविन इस बात निश्चित उत्तर देने में असमर्थ थे कि "गोल मेज सम्मेलन को भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज के आधार पर नवीन संविधान का निर्माण करने के लिए बुलाया जा रहा है । इस तरह वायसराय से यह भेंट निरर्थक सिद्ध हुई और गांधीजी दिल्ली से खाली हाथ लौटे ।

**पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार—कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन**— दिसम्बर 1929 के अन्तिम दिनों में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन, प० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में, रावी के किनारे आरम्भ हुआ । 31 दिसम्बर 1929 को मध्यरात्रि समय कड़ाके की सर्दी में परन्तु साहस जोश और त्याग की भावना में कांग्रेस ने वह प्रस्ताव पास किया जो 'पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रस्ताव' के नाम से प्रसिद्ध है ।[2] इस प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस ने अपने विधान की प्रथम धारा में उल्लिखित "स्वराज्य' शब्द के अर्थ को 'पूर्ण स्वतन्त्रता" में परिवर्तित कर दिया । दूसरे शब्दों में भारत के लिए 'पूर्ण स्वतन्त्रता' की प्राप्ति कांग्रेस का लक्ष्य निर्धारित कर दिया गया । प्रस्ताव में जिन अन्य महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया गया था उनमें प्रमुख थी (i) नेहरू प्रतिवेदन को वापस ले लिया गया, (ii) गोल मेज सम्मेलन में भाग लेना व्यर्थ है, (iii) सभी कांग्रेसियों से अनुरोध किया गया कि वे अपना सारा ध्यान स्वतन्त्रता प्राप्ति में लगा दें (iv) कांग्रेसी चुनाव में भाग न लें और विधान सभाओं तथा सरकारी समितियों से त्याग पत्र दे दें तथा (v) अखिल भारतीय कांग्रेस समिति को इस बात के लिए अधिकृत कर दिया गया कि वह जब उचित समझे अहिंसक सविनय

---

1 इसी दिन कोल्हापुर से लौटते समय दिल्ली के निकट वायसराय की ट्रेन के नीचे बम फटा था और वे बाल बाल बचे थे ।

2 सुभाष और आयंगर इस प्रस्ताव से सन्तुष्ट नहीं थे । वे लाहौर अधिवेशन से उठकर चले गये और उन्होंने 'कांग्रेस प्रजातान्त्रिक दल (Congress Democrat Party) के नाम से पृथक संगठन का निर्माण किया ।

अवज्ञा आन्दोलन को शुरू कर दे। इस तरह "पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रस्ताव" ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन की भूमिका को तयार कर दिया।

**स्वतन्त्रता दिवस**—कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने 2 जनवरी 1930 को एक प्रस्ताव पास किया जिसमे 26 जनवरी 1930 को स्वतन्त्रता दिवस मनाने का निश्चय किया गया। सारे भारत मे प्रतिज्ञाओ सहित यह दिवस हर गाव और नगर मे मनाया गया। प्रतिज्ञा मे स्वतन्त्रता के अधिकार को भारतीय लोगो का अहर्नीय (inalienable) अधिकार बताया गया था। प्रतिज्ञा मे यह भी कहा गया था कि "हम उस शासन के अधीन रहना, जिसने हमारे देश का चौमुखी विनाश किया है, ईश्वर और मनुष्य के प्रति अपराध समझते हैं। परन्तु हम इस बात को भी स्वीकार करते है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये हिंसा ही प्रभावकारी उपाय नही। इसलिये हम ब्रिटिश सरकार मे यथासम्भव स्वेच्छापूर्वक असहयोग की नीति अपनायेंगे और कर-बन्दी (लगान बन्दी) सहित सविनय अवज्ञा आन्दोलन की तयारी करेगे।

**देश मे अशान्त वातावरण**—सन् 1928–29 मे भारत मे राजनीतिक आर्थिक कठिनाइयो के कारण असन्तोष फल रहा था, युवक सघो का विस्तार हो रहा था और क्रान्तिकारी घटनायें फल रही थी। युवा पीढी नेहरू प्रतिवेदन के "औपनिवेशिक स्वराज" और कांग्रेस के अहिंसक साधनो से असन्तुष्ट थी। बगाल, बम्बई और पजाब मे अनेक युवक सघो और विद्यार्थी सघो का निर्माण हो चुका था। श्रमिक वर्ग मे भी चेतना और उग्रता का विकास हो चुका था। बम्बई की कपडा मिलो, कलकत्ता की पटसन मिलो और जमशेदपुर के लोहा उद्योगो मे गम्भीर हडताले हुई थी। इनसे न केवल सामान्य जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पडा बल्कि उद्योग भी अस्त व्यस्त हो गये। जब मार्च 1929 मे श्रमिक सघो के 31 नेताओ को बन्दी[1] बनाया गया तो श्रमिक वर्ग के असन्तोष की सीमा न रही। लाहौर मे क्रान्तिकारियो ने साण्डर्स (Saunders) की, जिसने लाला लाजपत राय पर लाठियो की बौछार की थी, हत्या कर दी। सरदार भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने केन्द्रीय विधान सभा मे बम फेंककर भारतीयो मे जागृति पैदा करने की कोशिश की।[2] जब क्रान्तिकारियो ने जेल मे अभद्र व्यवहार और साधारण सुविधाओ की अनुपस्थिति के विरुद्ध भूख हडताल शुरू कर दी तो सरकार का दृष्टिकोण कठोर ही रहा। भूख हडताल के कारण एक क्रान्तिकारी जतेन्द्रनाथ दास की मृत्यु हो गयी। देश ने उसे शहीद का सम्मान दिया। इसकी मृत्यु ने देश की युवा पीढी मे अद्वितीय जोश पैदा कर दिया। किसानो की दशा भी बहुत दयनीय थी। सन् 1928 मे वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व मे, बारदोली के किसानो ने कर बन्दी आन्दोलन को सफलता पूर्वक चलाया था। इसने न केवल गुजरात के किसानो मे बल्कि सारे देश मे अद्वितीय जागृति पैदा कर

---

1 यह अभियोग "मेरठ षडयन्त्र अभियोग" के नाम से प्रसिद्ध है।

2 यह अभियोग लाहौर षडयन्त्र अभियोग के नाम से प्रसिद्ध है।

दी थी। इस आन्दोलन की सफलता पर ही गाधीजी ने पटेल को उनके साहस के लिये 'सरदार' की उपाधि दी थी।

उपयुक्त सभी घटनाओ से गाधीजी को विश्वास हो चला था कि यदि अहिंसक सविनय अवज्ञा आन्दोलन को शुरू न किया गया तो भारत हिंसक आन्दोलन मे फस जायगा।

## सविनय अवज्ञा आन्दोलन–नमक सत्याग्रह (डाण्डी यात्रा)
## (Civil Disobedience Movement–Salt Satyagraha (Dandi March)

31 दिसम्बर 1929 की मध्य रात्री को 'पूर्ण स्वतन्त्रता" के प्रस्ताव के पास हो जाने के बाद से गाधीजी इस बात पर गम्भीरता से विचार कर रहे थे कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन को किस प्रकार आरम्भ किया जाय। साबरमती मे 14 से 16 फरवरी 1930 को हुई काग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक मे एक प्रस्ताव द्वारा गाधीजी को आन्दोलन शुरू करने के लिय अधिकृत कर दिया गया था। गाधीजी ऐसे कानून को तोड कर सविनय अवज्ञा आन्दोलन को शुरू करना चाहते थे जो भारत के गरीब से गरीब और असहाय से असहाय व्यक्ति पर भी प्रतिकूल प्रभाव डाल रहा था। इसके लिये उन्होने नमक कानून को चुना और डाण्डी मे इस कानून को तोडकर आन्दोलन को शुरू करने के विचार को व्यक्त किया। नमक सत्याग्रह मे वे सब तत्व विद्यमान थे जो उच्च कोटि की रणनीति (Strategy) मे विद्यमान होते हैं। जैसाकि ताराचन्द ने लिखा है कि इसमे "आवश्यक शक्तियो का सामान्य सचालन अनुशासन सगठन, कार्यरीति (युक्ति) की सरलता, युद्ध के यन्त्रों साधनों तथा शत्रु की सेनाओ को सब ओर से घेरने और ललकारने की सामान्य उपलब्धि, ड्रामा आदि सभी तत्व विद्यमान थे। यह एक अजीब युद्ध था जिसमे हानिया, दुर्घटनायें तथा कष्ट सभी एक पक्ष के लिये थे।"[1]

नमक सत्याग्रह को शुरू करने से पूर्व, अपने सामान्य आचरण के अनुसार, गाधीजी ने वायसराय लार्ड इरविन को 2 मार्च, 1930 को एक पत्र लिखा। इस पत्र को आश्रम निवासी रजिनाल्ड रेनाल्ड्स (Reginald Raynolds) द्वारा वायसराय तक पहुचाया गया। इस पत्र मे गाधीजी ने वायसराय को यह समझाने का प्रयास किया कि ब्रिटिश शासन भारतीयो के लिय अभिशाप क्यो है और वे नमक कानून को क्यो तोडना चाहते हैं।

इस पत्र से पूर्व गाधीजी अपने पत्र यग इण्डिया द्वारा सरकार को पहले ही देश की बिगडती हुई आर्थिक और राजनीतिक स्थिति से अवगत करा चुके थे। यग इण्डिया मे गाधीजी ने भारतीय असन्तोष को व्यक्त किया था और यह विचार

1 Tara Chand History of the Freedom Movement in India, Vol iv pp 124 125

व्यक्त किया था कि यदि इसे दूर करने का प्रयास नही किया गया तो देश म हिंसक शान्ति की सम्भावना हो सकती है।

वायसराय लार्ड इरविन ने गाधीजी के पत्र और विचारो का बडे संक्षेप म उत्तर दिया। उन्होने इस बात पर दुःख प्रकट किया कि गाधीजी ऐसे कार्य को करने जा रहे है जिससे न केवल सार्वजनिक कानून की उल्लंघना होगी बल्कि सार्वजनिक शांति भी खतरे म पड जायगी। गांधीजी ने अपने प्रत्युत्तर म लिखा कि "बडी नम्रता से मैंने रोटी की माग की थी परन्तु मुझे पत्थर मिला है। अंग्रेज जाति केवल शक्ति को पहचानती है। मुझे वायसराय के उत्तर पर तनिक भी आश्चर्य नही। जिस शान्ति को राष्ट्र जानता है वह केवल सार्वजनिक कारागार की शांति है। मैं इस कानून को अस्वीकार करता हू और लादी गयी शान्ति की दुःखद एकरसता को तोडना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हू क्योकि इसम स्वतन्त्र द्वार की कमी के कारण राष्ट्र का सास रुक (गला घुट) रहा है।'

**डाण्डी यात्रा** अपनी योजना के अनुसार गाधीजी ने 12 मार्च, 1930 को प्रात 6½ बजे 61 वर्ष की आयु म साबरमती आश्रम से उस ऐतिहासिक यात्रा को शुरू किया जिसका इतिहास मे कोई दूसरा उदाहरण नही। यह यात्रा डाण्डी यात्रा के नाम से विख्यात है क्योकि डाण्डी[1] नामक स्थान पर नमक बना कर नमक कानून की उल्लंघना की जानी थी। सुभाष चन्द्र बोस ने इस यात्रा की तुलना इल्बा (Elba) से लौटने पर नैपोलियन की 'पेरिस मार्च" और राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने के लिये मुसोलिनी की 'रोम मार्च' से की है।

डाण्डी यात्रा म, गाधी सहित, 79 सदस्य थे। यात्रा शुरू होने पर लगभग 75000 लोगो ने गाधीजी तथा उनकी पार्टी को प्रतिज्ञाओ और शुभकामनाओ के साथ विदाई दी। नेहरूजी ने गाधीजी और स्वय सेवको के मनोभाव को इस प्रकार व्यक्त किया है "उनमे प्रतिज्ञा की अग्नि है, दुःखी देशवासियो का असीम प्रेम है। इससे भी बढ कर सत्य प्रेम और स्वतन्त्रता प्रेम है जो क्रमश झुलसा देता है तथा प्रेरित करता रहता है।" जैसे जैसे यात्रा अपनी मंजिल की ओर आगे बढी वैसे वैसे राष्ट्र और विश्व की नजर डाण्डी पर पडने लगी। डाण्डी की गूंज सारे राष्ट्र म दृष्टिगोचर होती थी। स्वतन्त्रता, प्रेरणा, उत्साह त्याग और बलिदान पर्यायवाची प्रतीत होते थे। वल्लभ भाई पटेल सदेश वाहक के रूप म यात्रा के आगे आगे चलते और लोगो को गाधीजी के आगमन की सूचना देते और यात्रा का उद्देश्य समझाते। जारो लोगो ने गाधीजी तथा उनकी पार्टी का अभिनन्दन किया। रामगोपाल लिखते कि "गाधीजी के छोटे दल की यात्रा का प्रभाव विजयी सेना के बडे जलूस के समान जो राष्ट्र को नव उद्देश्य की प्राप्ति की घोषणा कर रहा था।'

1 डाण्डी एक गाव का नाम है जो गुजरात के समुद्री तट पर स्थित है। साबरमती आश्रम से यह 241 मील की दूरी पर स्थित है।

241 मील के फासले की याना को 24 दिन मे तै किया गया और यात्रा 5 माच को डाण्डी पहुची । 6 अप्रल, 1930 को समुद्र मे स्नान करने के वाद, गाधीजी न किनारे पर पडे नमक को उठाकर उस साम्राज्य के कानून की उल्लघना की जिस पर कभी सूय अस्त नही होता था । सरोजनी नायडू ने "कानून तोडने वाला" कह कर गाधीजी का अभिवादन किया ।

डाण्डी मे पुलिस ने कोई हस्तक्षेप नही किया, कोई लाठी या गोली नही चलायी, किसी को बन्दी नही बनाया । इसका कारण यह था कि नमक सत्याग्रह और डाण्डी याना का सरकार बडी गम्भीरता से नही ले रही थी । इसे वह पागलपन के सिवाय कुछ नही समझती थी । उसका विश्वास था कि यह तो या स्वय समाप्त हो जायगी या इसे वापस ले लिया जायगा । इग्लिश दैनिक पत्रो और सम्वाददाताओं ने नमक सत्याग्रह और डाण्डी यात्रा की खिल्ली तक उडाई । दी स्टेटसमैन (Th Statesman) ने अपने सम्पादकीय मे लिखा था कि "महात्मा गाधी समुद्र का पानी को उस समय तक उवाल सकते है जब तक औपनिवेशिक स्वराज प्राप्त नही हो जाता । ब्रेल्सफोड ने डाण्डी यात्रा को "शान्ति की किन्डरगाटन अवस्था" कह कर पुकारा । उन्होने इस विचार की हँसी उडाई कि "समुद्र के पानी को केतली में उबाल कर सम्राट को अपदस्थ किया जा सकता है ।"

जहा विदेशी पत्रकारो ने नमक सत्याग्रह और डाण्डी यात्रा की खिल्ली उडाई वहा राष्ट्रीय पत्रकारो ने इन विचारो की नैतिकता, पवित्रता और शुद्धता का अत्य धिक प्रचार किया । देशवासियो को स्वतन्त्रता की नई प्रेरणाओ से ओत प्रोत किया । बाम्बे क्रानिकल (Bombay Chronicle) ने लिखा कि "मानव जाति के इतिहास में देश भक्ति की लहर कभी भी इतनी शक्तिशाली नही थी जितनी कि इस समय था । भारतीय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के इतिहास म यह महान आदोलन की महान रहेगी ।'

डाण्डी म नमक कानून क तोडने की सूचना मिलते ही सार राष्ट्र म बिजली दौड गयी । भारतीय खून म हलचल पैदा होगी माना गाधीजी ने उनम नया खून फूक दिया हो । जगह-जगह पर नमक कानून को तोडा गया । जहा नमक कानून को नहीं तोडा जा सकता था वहा अन्य कानूना को तोडा गया, उदाहरणतया मध्य प्रात में "जगल कानून' (Forest Law) और कलकत्ता मे 'राजद्रोह सभा अधिनियम (Sedition Law) का तोडा गया । शराब अफीम और विदशी कपडे की दुकाना पर धरणे दिय गय, जलूस निकाले गय, सावजनिक सभायें की गयी, कारखाना और मिला म हडतालें की गयी, बहिष्कार की नीति सवत्र अपनायी गयी एक स्थान पर 200 राजस्व कमचारिया (पटेल और पटवारियो) ने अपने पद स त्याग पत्र दे दिये कर-बन्दी (No-tax Campaign) का भी शुरू किया गया, भारतीय सेना और पुलिस मे अपील की गयी कि व सत्याग्रहियों को अपना भाई समझें ।

आदोलन मे गति और प्रेरणा फूकने के लिये गाधीजी ने धरसना नमक वक्स (Dharsana Salt Works) पर सामूहिक धावा बोलने का निश्चय लिया और वायसराय को एक पत्र द्वारा इस निश्चय की सूचना दी । परन्तु इससे पूर्व कि गाधीजी रसना नमक वक्स पर धावा बोल पाते उन्हे 5 मई, सुबह 1 बजे गिरफ्तार कर िया गया और उन्हे पूना म यवदा जेल पहुचा दिया गया । गाधीजी की गिरफ्तारी देश म सनसनी पदा कर दी । विदेशा मे भी गाधीजी की गिरफ्तारी पर खेद प्रकट या गया । पनामा, सुमात्रा, नरोबी, फ्रास जमनी आदि देशा म भारतीयो ने हडतालें की तथा प्रदशन किये ।

जसे जसे आदोलन म गति आती गयी वैसे वसे सरकार का दमन चक्र बढता गया और बबरता की सीमा तक पहुच गया । नेताओ को बन्दी बना लिया गया, निहत्थे सत्याग्रहियो पर लाठिया बरसायी गयी, प्रदशन करने वाली भीडो पर गोलियो ी बोछारें की गयी, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त मे लोगा को आतकित करने के लिये बख्तरबन्द गाडियो का प्रयोग किया गया, बडी सख्या म लोगो को गिरफ्तार किया गया एक अनुमान के अनुसार एक लाख लोगो को जनवरी 1931 तक बन्दी बना लिया गया था, अवैध नमक को जप्त किया गया, परदे म स्त्रियो की तलाशी ली गयी, सभाओ और जलूसो पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये कांग्रेस तथा उसकी समितिया को ही नही बल्कि उनसे सम्बन्धित या उनसे हमदर्दी रखने वाली सस्थाओ को भी अवैध घोषित कर दिया गया । जेलो म कोडे लगाना और सावजनिक स्थानो पर सावजनिक रूप से दण्डित करना सामान्य बाते थी । अध्यादेश पर अध्यादेश जारी किय गये, राष्ट्रीय भावना को व्यक्त करने के सभी साधनो पर प्रतिबन्ध लगा दिये गय 1910 के प्रेस ऐक्ट को पुन जीवित किया गया, दैनिक पत्रो पर पाबदिया लगा दी गयी, उनस जमानतें ली गयी तथा उन्हे जप्त कर लिया गया । दमन के बाद भी सत्याग्रही वही काय करते जिसकी मनाही अध्यादेश करते । सत्ता का उल्लघन प्रतिदिन की घटनाये थी । सारे दश म अनिश्चितता का वातावरण था ।

आदोलन के दौरान "अधिकारियो ने इस प्रकार का व्यवहार किया माना ब्रिटिश शासन उखड रहा हो और बबर से बबर तरीके अपना कर भी उसे बचाना आवश्यक हो ।' गाधीजी ने सरकारी अत्याचार दमन और बबरता को इन शब्दो मे व्यक्त किया, "डायरवाद भी इनके सामने फीका पड जाता है ।" मजिस्ट्रेसी और पुलिस को इतने अधिकार दे दिये गये कि मानो "उनकी इच्छा ही कानून हो ।' बारदोली और बोरसद मे पुलिस अत्याचारो का नरक अवर्णनीय है । बोरसद म 21 जनवरी 1931 को सिपाहियो न स्त्रियो को नीचे फेंककर अपने बूटो म उनकी छातियो को लताडा । अधिकारियों न उन लोगों का मानभजन किया जो आन्दोलन म शामिल नही थ । उनका अपराध केवल यह था कि उन्होंने पुलिस अत्याचार और दमन क बाद गली कूचो म घायल और खून म लथपथ पडे सत्याग्रहियो को भोजन, पानी या सहारा दिया था ।

गाधीजी की गिरफ्तारी और सरकार का दमन सत्याग्रहियो को हता न कर सका और गाधीजी की अनुपस्थिति मे भी आन्दोलन तीव्र गति से चलता प्रोग्राम के अनुसार 21 मई 1930 को 2,500 सत्याग्रहियो द्वारा सरोजनी और अली इमाम के नेतृत्व मे धरसना नमक डिपो पर धावा बोला गया। गा के पुत्र मनीलाल और उनके सचिव प्यारेलाल भी स्वयसेवको मे थे। धरसना सरकारी दमन और सत्याग्रहियो के अनुशासन को वेब मिलर, जाज सोकोल ब्रेलसफोर्ड आदि विदेशी पत्रकारो ने अपने पत्रो के भेजे गये सम्पादकीय मे व्यक्त किया है। मैनचेस्टर गार्जियन (Manchester Guardian) के लिये लिखी गयी रिपोर्ट मे ब्रेलसफोर्ड ने लिखा था कि सत्याग्रहियो के लिये "लाठी के प्रहार का सामना करना सम्मान का प्रश्न बन गया और शहीद होने की भावना से हजारो स्वय सेवक घाट स्नान के लिये बाहर जाते।" न्यू फ्रिमैन के सम्वाददाता वेब मिलर ने धरसना के आखो देखे हाल का इस प्रकार व्यक्त किया है "अठारह वर्ष तक 22 देशों मे सवाद सग्रह के काम मे मैंने असख्य उपद्रव, सघर्ष, गली कूचो मे जम कर लडी गयी लडाइया और विद्रोहो को मैंने देखा है। परन्तु जिन दु खद दृश्यो को मैंने धरसना मे देखा है उन्हे मैंने कभी नही देखा। कभी ये दृश्य इतने पीडाजनक होते थे कि कुछ क्षणों के लिये मुझे आखें फेर लेनी पडती थी। सबसे आश्चर्यजनक बात स्वयसेवकों के अनुशासन की थी। ऐसा दिखाई देता था कि वे गाधीजी की अहिंसा से ओत प्रोत थे" किसी सत्याग्रही ने पुलिस प्रहार को रोकने के लिये हाथ तक नही उठाया जिन पर प्रहार होता वे गिर जाते जो बच रहते वे कतार को तोडे बिना शान्ति से तब तक चलते रहते जब तक वे पुलिस प्रहार से गिर नही पडते। प्रत्येक सत्याग्रही जानता था कि कुछ ही मिनटो मे उसे नीचे गिरा दिया जायगा परन्तु फिर भी किसी के चेहरे पर सकोच या भय नही था कोई लडाई नही थी, कोई सघर्ष नहीं था सत्याग्रही केवल आगे बढते रहे जब तक उन्हे प्रहार से गिरा ही नही दिया जाता।' [1]

वडाला नमक डिपो पर 22 मई 1930 को धावा बोला गया। यहा के दृश्य के बारे मे रामगोपाल लिखते है कि 'गाली की प्रत्येक आवाज सत्याग्रहियों के लिये मातृभूमि की पुकार थी और घायल सत्याग्रहियो की दर्द की कूक साहस का सकेत थी।' ताराचन्द ने भी लिखा है कि "यह एक ऐसा युद्ध था जिसमे एक पक्ष दूसरे पक्ष की पशु शक्ति के आधार पर आतक फैलाने की इच्छा के विरुद्ध कष्ट सहन करने की इच्छा रखता था। गाधीजी ने अपने कार्यक्रम की सत्यता और औचित्य को प्रस्तुत कर दिया था और जन मानस से उसकी पुष्टि कर दी थी। लुई फिशर लिखते है कि "भारतीय न ही तो झुके और न ही पीछे हटे। इसी ने इंगलैण्ड को शक्तिहीन और भारत को अजेय बना दिया था।"

1 Webb Miller Quoted by Tara Chand p 126 127

उत्तर पश्चिमी सीमा प्रात म खान अब्दुल गफ्फार खा–फ्रन्टियर गाधी क नेतृत्व म 'खुदाये खिदमतगार" (Khudai Khidmatgar)–रेड शर्ट (Red Shirt)–नाम की सस्था को स्थापित किया । इसका उद्देश्य भी देश को स्वतन्त्र कराना तथा भूखो को रोटी और नगो को कपडा देना था । पेशावर म 10 दिन तक ब्रिटिश सत्ता (25 अप्रैल स 4 मई 1930) बिल्कुल समाप्त हो गयी और सत्ता लोगो क हाथो म आ गयी ।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सम्बन्ध म राम गोपाल लिखते है कि "यह सारा मामला भारतीय था सत्याग्रही भारतीय थे, गोली तथा लाठी बरसाने वाले सिपाही भारतीय थे, शारीरिक और मानसिक यातना देने वाले भारतीय थे और प्रतिशोध (बदले) के रूप म जिन पुलिस कर्मचारियो को दण्डित किया गया व भारतीय थे ।"

तीन महीने के आतक अत्याचार और दमन क बाद, जिसम सैकडो व्यक्तियो को अपनी जान स हाथ धोने पडे और हजारो व्यक्ति घायल हुए, सरकार सविनय अवज्ञा आन्दोलन पर नियन्त्रण करने म सफल हुई । फिर भी आन्दोलन नही हुआ यह भूमिगत हो गया । "भारत 1930' (India 1930) म सरकार न स्वय स्वीकार किया कि गुजरात म "कर बन्दी आन्दोलन को पर्याप्त सफलता मिली,'

## सविनय अवज्ञा आन्दोलन की उपलब्धियाँ

सविनय अवज्ञा आन्दोलन की अनेक उपलब्धिया भी थी । इसकी सबसे बडी उपलब्धि यह थी कि भारतीय राष्ट्रीयता स्वतन्त्रता के लिये लालायित हो उठी । स्वतन्त्रता क बारे म भारतीयो के हृदय म अब कोई भिझक या शका नही थी । इससे सभी प्रभावित थे और सभी के मुख पर एक ही आवाज थी कि अग्रेजो को अवश्य ही भारत स चले जाना चाहिये । "इसने यह सिद्ध कर दिया कि भारतवासी लहू और आँसू बहा कर भी जीवित रहना जानते है ।"[1] इस आन्दोलन की दूसरी उपलब्धि यह थी कि इसने अहिंसा की शक्ति को प्रदर्शित कर दिया । तीसरे, स्त्रिया ने भी इस आन्दोलन मे अपनी शक्ति त्याग और बलिदान का परिचय दिया । चौथे काग्रेस तथा उसस हमदर्दी रखने वाले सगठनो पर प्रतिबन्ध लग जाने स समाचारो को प्रसारित करने के लिये और लोगो को सगठित करने के लिय "प्रभात फेरिया' (Prabhat pheris) और वानर सेना (Vanar Sena) जैसी सस्थाओ को जन्म दिया गया । पाचवे, विशेष दिवसो को राष्ट्रीय स्तर पर मनाने के विचार को फैलाया गया—स्वतन्त्रता दिवस, गाधी दिवस, मोतीलाल नेहरू दिवस, फ्रन्टियर दिवस शहीद दिवस, झण्डा दिवस आदि मनाये जाने लगे ।

**आन्दोलन के प्रति मुसलमानो का दृष्टिकोण**—असहयोग आन्दोलन की भाति मुस्लिम लीग न सविनय अवज्ञा आन्दोलन म कोई भाग नही लिया । जिन्ना ता

1 (From Dyarchy to Self Govt Pt I, Iqbal

तरीका के कटु आलोचक थे। जिन्ना का कहना था कि "हम गाधी के साथ शामिल होने से इन्कार करते हैं क्योंकि उनका आन्दोलन भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये नहीं अपितु भारत के 7 करोड मुसलमानो को हिन्दू महासभा के आश्रित बना देने के लिये है। इतना ही नही, जिन्ना मुस्लिम वर्गो और सगठनो को गोल मेज सम्मेलन म भाग लेने के लिये प्रेरित करते रहे और औपनिवेशिक राज्य की माग करते रहे। वायसराय लार्ड इरविन ने मुसलमानो को काग्रेस से पृथक रखने का पूरा प्रयास किया। 13 मई 1930 को वायसराय लार्ड इरविन ने मुसलमानो को सुरक्षा का विश्वास इन शब्दो म दिया 'राजनीतिक समस्या के किसी समाधान को तब तक सन्तोषजनक नहीं माना जायगा जब तक उसे महत्वपूर्ण अल्पमता का समर्थन प्राप्त नही होगा।" इस तरह वायसराय ने मुसलमानो को वीटो का अधिकार देकर उनकी असदिग्ध भक्ति को खरीद लिया। परन्तु इस पर भी अब्बास तैयबजी, अबुल कलाम आजाद, अन्सारी सयद मेहमूद तसद्दुक एमहद खा, शेरवानी रफी अहमद किदवाई, अब्दुल गफ्फार खा जैसे राष्ट्रवादी मुसलमानो और जमायत उल उलामा, अहरारुल इस्लाम, खुदाई खिदमतगार और राष्ट्रवादी मुसलमानो के सगठनो ने काग्रेस का साथ दिया।[1]

**समझौते का प्रयास** जब आन्दोलन चल रहा था और सरकार का दमन जारी था तो अग्रेज पत्रकार सोलोकोम्ब और सर तेजबहादुर सप्रू तथा एम० आर० जयकर जैसे उदारवादियो ने काग्रेस और सरकार के बीच मे समझौता कराने का प्रयास किया। परन्तु समझौते के ये प्रयास असफल रहे क्योकि वायसराय काग्रेस की इन मागो को मानने के लिये तयार नही थे कि ब्रिटिश साम्राज्य से अलग होने का भारतीयो के अधिकार को स्वीकार किया जाय, राष्ट्रीय-सरकार की स्थापना कर उसे लोगो के प्रति उत्तरदायी बनाया जाय सार्वजनिक ऋणो के सम्बन्ध म भारतीयो को निष्पक्ष जाच का अधिकार दिया जाय और राजनीतिक बन्दियो को छोड दिया जाय। वायसराय काग्रेस की इन मागो को असम्भव समझते थे, इसलिये समझौते के प्रयत्न असफल हुए।

## प्रथम गोल मेज सम्मेलन
## (First Round Table Conference)

गोल मेज सम्मेलन का विचार स्वय ब्रिटिश शासको का नहीं था। स्वराज दल ने सर्वप्रथम 8 फरवरी 1924 को केन्द्रीय विधान सभा म एक प्रस्ताव म भारत की सवैधानिक समस्या पर विचार करने के लिये एक प्रतिनिधिक गोल मेज सम्मेलन की माग की थी परन्तु ब्रिटिश शासक उस समय इसके लिये तयार नहीं थे। मोतीलाल नेहरू पील और वाल्डविन एस सम्मेलन बुलाने के घोर विरोधी थे। परन्तु जब 1928 म सर्वदलीय सम्मेलन की असफलता के बाद भारतीय राजनीति म साम्प्रदायिकता का जोर हो गयी थी, सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कारण राष्ट्रीय भावनायें बढे वेग स बढ

1 See Tara Chand Ibid, P 128

लगो और 1930 मे साइमन आयोग की रिपोट प्रकाशित होने से उसकी उग्र आलो चना होने लगी तो ब्रिटिश सरकार ने 12 नवम्बर 1930 को इग्लैंड मे गोल मेज सम्मेलन का आयोजन किया।

**गोल मेज सम्मेलन का गठन** गोलमेज सम्मेलन मे कुल 89 सदस्यो ने भाग लिया। इसमे 57 ब्रिटिश भारत के थे, 16 भारतीय देशी राज्यो के थे और 16 ब्रिटेन के प्रमुख तीन राजनीतिक दलो के सदस्य थे। सम्मेलन मे भाग लेने वाले सदस्यो को भारत के प्रतिनिधि कहना गलत होगा। **प्रथम** इसलिये कि इनका चयन न तो भारतीय जनता न निर्वाचन द्वारा किया था और न ही भारतीय राजनीतिक दलो ने इनका चयन किया था। **दूसरे,** भारत के प्रमुख राष्ट्रीय दल कांग्रेस ने इसमे भाग नही लिया था। **तीसरे,** वायसराय लार्ड इरविन ने इनका चयन राष्ट्रीयता के आधार पर नही बल्कि सम्प्रदाय, जाति,वर्ग और हितो के आधार पर किया था। **चौथे** वायसराय ने ऐसे लोगो का चयन किया जो उग्र राष्ट्रीय विचारो के नही थे, जो नम्र स्वभाव के थे, जो बहिष्कार की नीति मे विश्वास नही करते थे तथा जो भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रखने के ही इच्छुक थे।'[1] ब्रेल्सफोर्ड ने ठीक लिखा है कि "सेंट जेम्स प्रासाद म भारतीय नरेश, हरिजन, सिक्ख, मुसलमान, हिन्दू, ईसाई, जमीदार, मजदूर सघो और वाणिज्य सधा के प्रतिनिधि सम्मिलित थे परन्तु भारत माता (काग्रेस) वहा उपस्थित नही थी।" यह 'बिना दूल्हे के बरात थी।" स्पष्ट है कि जिन सदस्यो ने प्रथम गोलमेज सम्मेलन मे भाग लिया वे सिवाय अपने आप के भारत म और किसी का प्रतिनिधित्व नही करते थे।

**सम्मेलन की कार्यवाही** 12 नवम्बर, 1930 को ब्रिटिश सम्राट जार्ज पचम ने सेंट जेम्स प्रासाद म सम्मेलन का उद्घाटन किया। सम्मेलन की अध्यक्षता प्रधान मन्त्री मैकडोनल्ड ने की। सम्मेलन 19 जनवरी 1931 तक चला। मैकडोनल्ड ने अपने अध्यक्षीय भाषण म ही उन आधारो का उल्लेख कर दिया जिन पर विचार-विमर्श किया जाना था। ये आधार मुख्यतया तीन थ (i) भारत के लिये सघीय व्यवस्था। इसमे ब्रिटिश प्रान्त और देशी रियासतो को सम्मिलित करने का प्रस्ताव था। (ii) भारत म उत्तरदायी सरकार। इसके अन्तर्गत केन्द्र और प्रान्तो म उत्तरदायी सरकार की स्थापना का प्रस्ताव था। परन्तु केन्द्र म सुरक्षा और विदेश विभाग गवर्नर जनरल के अधीन रखने का भी प्रस्ताव था। (iii) अन्तरिम काल म रक्षात्मक विधान (Statutory Safeguards) की व्यवस्था की जायगी।

सम्मेलन के पूर्णाधिवेशन (Plenary Session) म ही जो 17 स 21 नवम्बर तक हुआ, उन आधारो का समर्थन कर दिया जिन पर भारत का भावी सविधान निर्मित किया जाना था। विवाद का आरम्भ करते हुए सप्रू ने भारतीय सघ और अखण्ड (United India) भारत की माग की। देशी रियासतो के राजाओ की आ

1 S = Tara Chand Ibid, p 142

से बोलते हुए बीकानेर के राजा ने 'सघ ग्रौर 'स्वशासन' के विचारो का समर्थ किया । भोपाल के नवाव ने भी सत्ता के हस्तान्तरित करने की माग का समर्थन करते हुए कहा कि 'हम केवल स्वशासित ग्रौर सघीय ब्रिटिश भारत के साथ ही मिल सकते हैं ।" जिन्ना ग्रौर मोहम्मद शफी ने भी सघ ग्रौर ग्रधिराज्यो की समानता के विचार का समर्थन किया । जयकर का तो यह कहना था कि "यदि ग्राप भारत को ग्राज ग्रौपनिवेशिक स्वराज्य दे दें तो स्वतन्त्रता की ग्रावाज ग्रपने ग्राप समाप्त हो जायगी ।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन की यही सबसे बडी उपलब्धि थी कि किसी भी ग्रल्पमत ने स्वशासन की माग का विरोध नही किया । सभी भारतीयो को सत्ता हस्तान्तरित करने के पक्ष म थे ग्रौर उत्तरदायी सरकार की स्थापना के पक्ष म थे । इसकी दूसरी उपलब्धि यह थी कि 'सामान्य हित के लिय सामान्य विषय पर विचार करने हेतु भारतीय एक स्थान पर एकत्रित हुए ।'

सम्मेलन की सबसे दुखद ग्रसफलता साम्प्रदायिक प्रश्न पर थी । ग्रल्पमत समिति, जिसे बहुसख्यक ग्रौर ग्रल्पसख्यको की मागो के समाधान करने का काम सौपा गया था वह इनका समाधान करने म ग्रसफल रही ग्रौर इसी के कारण सम्मेलन ग्रसफल हुग्रा । बहुसख्यक 'सयुक्त निर्वाचन प्रणाली" के पक्ष म थे यद्यपि वे ग्रल्पसख्यको के लिय स्थानो को सुरक्षित रखने के लिय तयार थे । डा० ग्रम्बेडकर ने दलित वर्गों के लिय पृथक निर्वाचन की माग की । जिन्ना ने ग्रपनी 14 मागो पर बल दिया ग्रौर सिक्ख सदस्य सरदार उज्जलसिह ग्रपने हितो के सरक्षण की माग करने लगे । इस तरह ग्रल्पसख्यको ने चेतावनी दी कि जब तक सविधान ग्रल्पमतो के हितो की रक्षा नही करता ग्रौर उनमे सुरक्षा की भावना पदा नही करता तब तक उन्हे कोई सविधान स्वीकार नही होगा । ग्रखण्ड भारत का जो स्वरूप सम्मेलन के प्रारम्भ मे उभरता हुग्रा नजर ग्रा रहा था वह डूबता हुग्रा नजर ग्राने लगा । एसा होना स्वाभाविक भी था क्योकि साम्प्रदायिकता, जाति वर्ग या हित के ग्राधार पर मनोनीत किय गये सदस्यो से इससे ग्रधिक ग्रच्छे व्यवहार की ग्राशा भी नही की जा सकती थी । जिन हितो का प्रतिनिधित्व करने के लिय उन्हे वहा मनोनीत किया गया था उन्होने ठीक वैसा ही किया । उन्हे भारतीय स्वतन्त्रता की नही ग्रपनी जाति वर्ग या हितो के ग्रधिकारो की सुरक्षा की चिन्ता थी ।

समस्याग्रो का वर्णन करते हुए वेन ने 29 नवम्बर 1930 को कहा था कि सबसे गम्भीर समस्या हिन्दू-मुस्लिम मतभेदो की है । वस्तुत ब्रिटिश शासक इस सम्मेलन द्वारा यही प्रदर्शित करना चाहते थे । ताराचन्द ने ठीक लिखा है कि सम्मेलन का उद्देश्य भारत की एकता को प्रदर्शित करने के स्थान पर उसकी भिन्नताग्रो का प्रचार करना था ।

काग्रेस सम्मेलन म पृथक रह कर भारतीय स्वतन्त्रता के हितो की रक्षा ग्रधिक ग्रच्छे ढग से कर सकी । ब्रिटिश सरकार ग्रौर जनता भारतीय स्वतन्त्रता की

माग के महत्व को समझने लगी । सम्मेलन मे भारत के लिये संघीय व्यवस्था और आरक्षण सहित उत्तरदायी सरकार के सिद्धात को स्वीकार कर लिया ।

## गाधी–इरविन समझौता या दिल्ली समझौता–5 मार्च, 1931
## (Gandhi–Irwin Pact or Delhi Pact–5 March, 1931)

कारण—सन् 1930 के अन्त होते होत ब्रिटिश राजनीतिज्ञो ने अनुभव कर लिया था कि काग्रेस को तुष्ट किये बिना भारत की सवधानिक समस्या के बारे म कोई निर्णय लेना सम्भव नही । दी टाइम्स जसे पत्रो ने भी लिखा था कि "गाधी, दोनो नेहरुग्रो, मालवीय या पटेल के बिना किसी भी भारतीय शिष्टमण्डल को प्रतिनिधि मण्डल के रूप मे नही देखा जा सकता ।" दूसरे सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कारण काग्रेस के महत्त्व और प्रभाव मे वृद्धि से सरकार की बेचनी भी बढ रही थी, गुजरात, यू० पी०, और बगाल के कुछ भागो मे कर बन्दी आन्दोलन (no tax campaign) से सरकार परेशान थी, बगाल और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त म आतकवादियो की गतिविधियो से सरकार चिन्तित हो रही थी, कानून की अवज्ञा, कर्मचारियो की हत्या, दगे आदि साधारण बात बन गयी थी । ये सब घटनाये सरकार के नैतिक अस्तित्व को धराशाही किये जा रही थी । ठीक इस समय ब्रिटेन गम्भीर विश्व आर्थिक मन्दी से घिरा हुआ था और वह स्थिति को हाथ से निकलने देना नही चाहता था । सारी स्थिति को शान्त करने के लिये और काग्रेस की सदभावना और सहयोग को प्राप्त करने के लिये प्रधानमन्त्री मैक्डोनल्ड, भारत सचिव वेजवुड बेन और वायसराय लार्ड इरविन इच्छुक हो रहे थे । यही कारण है कि प्रथम गोल मेज सम्मेलन के समाप्त होने के बाद जब उदारवादी नेता सप्रू न प्रधान मन्त्री मैक्डोनल्ड से राजनीतिक बन्दियो के प्रति दया की अपील की तो उन्होन सहानुभूतिपूर्ण उत्तर दिया । 26 जनवरी 1931 को गाधी सहित काग्रेस कार्यकारिणी समिति के सभी सदस्यो को छोड दिया गया और काग्रेस सगठन पर लगी कानूनी पाबन्दिया को हटा लिया ।

दूसरी ओर गाधीजी भी सरकार से साथ समझौते का रास्ता ढूढ रहे थे । वे अनुभव कर रहे थे कि 1920 के आन्दोलन की भाति सविनय अवज्ञा आन्दोलन को सारे राष्ट्र का समर्थन नही था, मुसलमानो ने इसमे भाग नही लिया था, हिंसा की घटनाये बढ रही थी और लोगो का साहस ढीला पड रहा था । जेल से छूटने के बाद बम्बई म एक वक्तव्य मे गाधीजी ने कहा था कि "मै शान्ति के लिये लालायित हूँ यदि इसे सम्मानपूर्वक प्राप्त किया जा सकता हो ।"

जब प्रथम गोल मेज सम्मेलन के बाद उदारवादी नेता सर्वश्री सप्रू, जयकर और वी० एस० शास्त्री भारत वापस लौटे तो उन्होने गाधीजी से अनुरोध किया कि वे वायसराय लार्ड इरविन से भेंट करें । इनके अनुरोध पर ही गाधीजी 17 फरवरी 1931 को लार्ड इरविन से मिले । इन दोनो की बातचीत 15 दिन तक चलती रही । 5 मार्च 1931 को शान्ति के इच्छुक, दोनो नेताओ म एक समझौता हुआ

जो इतिहास म गाधी इरविन समझौते या दिल्ली समझौत के नाम स प्रसिद्ध है। जसाकि रामगोपाल न लिखा है कि "राजनीतिक आन्दोलनो के इतिहास म पहली वार वायसराय न कानून तोडने वाले आन्दोलन क नेता के साथ समझौता किया।"[1]

गाधी-इरविन समझौते की शर्तों को, अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से, तीन भागो म बाटा जा सकता है (1) गाधीजी द्वारा स्वीकृत शर्तें, (2) इरविन द्वारा स्वीकृत शर्तें (3) सवधानिक समस्या पर बातचीत के आधार की शर्तें।

1 **गाधीजी द्वारा स्वीकृत शर्तें**—गाधी-इरविन समझौते म गाधीजी न जिन शर्तों को स्वीकार किया उनम प्रमुख प्रग्राकित थी—

(i) सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर दिया जायगा।
(ii) काग्रेस द्वितीय गाल मेज सम्मेलन म भाग लेगी।
(iii) सभी प्रकार के विरोध का समाप्त कर दिया जायगा।
(iv) राजनीतिक अस्त्र के रूप मे ब्रिटिश वस्तुओ के विरुद्ध बहिष्कार की नीति को रोक दिया जायगा परन्तु देशी वस्तुओ क प्रचार का अधिकार होगा।
(v) पुलिस व्यवहार के सम्बन्ध म किसी सावजनिक जाँच की माग नहीं की जायगी क्योकि ऐसा करन से आरोप और प्रत्यारोप को जन्म मिलेगा।
(vi) यदि काग्रेस इस समझौते क उत्तरदायित्वो का नही निभायगी तो सरकार कानून और व्यवस्था लागू करन के लिये उचित कायवाही कर सकेगी।

2 **इरविन द्वारा स्वीकृत शर्तें** गाधी-इरविन समझौते म इरविन न जिन शर्तों को स्वीकार किया उनम प्रमुख निम्न थी —

(i) गर-भारतीय वस्तुओ (विदेशी कपडे) और मादक वस्तुओ (शराब और अफीम) की दुकाना पर शान्तिपूर्ण धरणे के अधिकार को स्वीकार किया गया।
(ii) आन्दोलन से सम्बन्धित सभी अध्यादेशो (ordinances) और विज्ञप्तिया (ordinances) को वापस ल लिया जायगा।
(iii) आन्दोलन के सम्बन्ध म बनाय गये सभी राजनीतिक बन्दियो को जिनक विरुद्ध हिंसा के आराप थ, छोड दिया जायगा।
(iv) समुद्र क निकटवर्ती प्रदशो म बिना नमक कर दिय नमक बनान की आज्ञा दी जायगी। परन्तु स्थानीय बाजारो म ही लोगो का नमक बचन की आज्ञा होगी उन्हे शहर के लोगो क साथ व्यापार करने की आज्ञा नही दी जायगी।
(v) जुमान और जमानतो को, यदि उन्ह वसूल नही किया गया, माफ कर दिया जायगा।

---

1 Ram Gopal How India strugged for Freedom

(vi) अतिरिक्त पुलिस को वापस ले लिया जायगा।

(vii) अचल सम्पत्ति का, जिसे तृतीय पक्ष को वेचा नही गया हो, वापस कर दिया जायगा।

(viii) गैर-कानूनी आधार पर प्राप्त की गयी राशि (dues) की दशा मे सरकार क्षतिपूर्ति की व्यवस्था करेगी।

(ix) जिन सरकारी कर्मचारियो ने आन्दोलन के दौरान अपने पदो को त्याग दिया था उनकी पुन नियुक्ति के सम्बन्ध म सरकार उदार नीति का अनुसरण करेगी।

3 **बातचीत का आधार**—गाधी इरविन समझौते की यह विशेषता भी थी कि इसमे गोल मेज सम्मेलन मे सवैधानिक समस्या पर बातचीत के आधार का भी उल्लेख किया गया था। इसमे कहा गया था कि "जहा तक सवैधानिक प्रश्नो का सम्बन्ध है, भावी बातचीत का उद्देश्य होगा भारत के लिये सवैधानिक सरकार की उस योजना पर आगे विचार करना जिस पर प्रथम गोल मेज सम्मेलन म चर्चा हुई थी। उस योजना के मुख्य अग हैं—सघात्मक व्यवस्था, भारतीयो की अपनी उत्तरदायी सरकार तथा सुरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, अल्पसख्यको की स्थिति, भारत का वित्तीय ऋण और दायित्वो का निवाह जसे कुछ मामलो म भारत के हित म आवश्यक आरक्षण और रक्षोपाय।"

**समझौते पर प्रतिक्रिया**—गाधी इरविन समझौते पर मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। काग्रेस का वामप थी वग और भारत की युवा पीढी इसकी कटु आलोचक थी। सुभाष च द्र बोस के लिये यह समझौता निन्दनीय था क्योकि यह "सरकार के प्रति आत्म समर्पण था।" नेहरू के लिय यह एक "सदमा" था क्योकि आरक्षण और उत्तरदायी सरकार मे कोई मेल नही था। नेहरूजी अपनी आत्मकथा मे लिखते ह कि "मुझे समझौते की धारा 2 से बहुत सदमा हुआ।" इन दोनो नेताओ का विश्वास था कि समझौत द्वारा गाधीजी ने "आन्दोलन मे भारत का बेच दिया है।"

समझौते से युवा पीढी अत्यन्त रुष्ट थी। उसका विश्वास था कि समझौता अपने किसी उद्देश्य को प्राप्त न कर सका। समझौते पर अभी स्याही भी नही सूखी थी कि सरकार ने भगतसिंह, राजगुरु और सुखदव जैसे देशभक्त वीरो को 23 मार्च 1931 को फासी दे दी। इस तरह युवा पीढी की गाधी इरविन समझौते पर यह प्रतिक्रिया थी कि यह न तो इन वीरो की रक्षा कर सका, न नमक कानून को रद्द करवा सका जिसके विरुद्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू किया गया था, न अहिंसा की नीति पर अटल रह सका जिसे आन्दोलन के दौरान अहिंसक अस्त्र के रूप म प्रयोग किया गया था और न ही स्वतन्त्रता के लिय किसी ठोस नीति का स्वीकार करा सका। इस तरह बिना कुछ दिये या वचनबद्ध हुए सरकार आन्दोलन को समाप्त करवाने म सफल हुई। जसाकि एच० मुखर्जी ने लिखा ह कि "साम्राज्यवाद न राष्ट्रवाद के साथ सधि तो अवश्य की परन्तु अपनी शर्तो पर।" डी टाइम्स ने

भी लिखा कि "इस प्रकार की विजय किसी वायसराय को बहुत कम मिला है
यही कारण है कि जब समझौते का समर्थन करने के लिये कांग्रेस की बैठक 29 मार्च
1931 को हुई तो गाधीजी का स्वागत काले झण्डो से किया गया और बड़ा
कठिनाई से समझौते का अनुसमर्थन किया गया।

कांग्रेस का दक्षिण पन्थी वर्ग ही समझौते का समर्थक था। उसका विश्वास था
जैसाकि डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है, कि 'यह पहला अवसर था जब ब्रिटिश
सरकार ने भारतीय जनता की प्रतिनिधि संस्था से समानता के आधार पर बातचीत
और समझौता करना स्वीकार किया। इससे कांग्रेस का महत्त्व बढ गया।" नेहरू
जी ने भी आत्मकथा में लिखा है कि "समझौते के बाद वे लोग भी कांग्रेस के
निकट आने शुरू हो गये जो उपप्लव के दिनों में उससे दूर थे, सम्प्रदायवादियों
(Communalists) ने भी कांग्रेस से समझौता करने का प्रयास किया।" के० एम०
मुंशी का भी मत है कि समझौता 'भारतीय इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण
घटना है।'"

यह सत्य है कि कांग्रेस ने समझौते का कराची में अनुसमर्थन कर दिया, यह
भी सत्य है कि गाधीजी ने समझौते को दोनो पक्षो की विजय कहा परन्तु समझौता
किसी रूप मे कांग्रेस की विजय नही थी। युवा पीढी का यह विचार सत्य प्रतीत
होता है कि बिना कुछ प्राप्त किये गाधीजी ने आत्म समर्पण कर दिया।' अधिक
से अधिक शब्दो में यह कहा जा सकता है कि समझौता कर्त्ताओं की सद् इच्छा का
व्यक्त करता है। जैसाकि जकारिया ने कहा है कि 'समझौता दोनो पक्षों की उच्च
देश भक्ति और सद्भावना का स्मारक चिह्न है।" परन्तु यह बात दोनो के
अनुयायियो, विशेष कर ब्रिटिश नौकरशाही या वायसराय लार्ड इरविन के उत्तराधि
कारी लार्ड विलिंग्टन के लिये नही कही जा सकती।

दूसरी ओर, चर्चिल जैसे कट्टर अनुदारवादियो का विश्वास था कि 'इरविन
ने ग्रेट ब्रिटेन को बेच दिया है।' और "ब्रिटिश साम्राज्य (अब) अर्ध नग्न फकीर की
कृपा पर निर्भर करता है। समझौता ब्रिटिश नौकरशाही के लिये, जिसे सत्ता के
घमण्ड में असभ्य व्यवहार की आदत पड गयी थी, अवश्य कलशबद्ध के (असुविधा
जनक) था। अब उसे ऐसा निश्चित व्यवहार करना था जिसकी उसे आदत नही
थी। उसे अब समझौते के एक पक्ष के रूप में व्यवहार करना था, शांतिपूर्ण धरणा
सहन करना था, गैर कानूनी रूप से प्राप्त की गई राशि की सूचिया तैयार कर
थी। इस समानता या अपमान की स्थिति को सहन करने के लिये ब्रिटिश नौकरशाही
तैयार नही थी। यही कारण है कि लार्ड विलिंग्टन के वायसराय बनते ही नौकरशाही
ने समझौते की उपेक्षा ही नही की बल्कि उसकी खुल्लमखुल्ला उल्लंघना भी की। जब
गाधीजी ने समझौते की उल्लंघना की शिकायत वायसराय से की और इंग्लैण्ड
इंग्लैण्ड जाने की अनिच्छा प्रकट की तो वायसराय ने इन शिकायतो को निराधार
बताते हुए शिमला में 25 अगस्त 1931 को द्वितीय समझौता (Second Settl-

ment) किया जिसमे गाधी इरविन समझौते की पुष्टि की गयी । गाधीजी के सुझाव पर वायसराय ने सम्मेलन के सदस्यो मे मदन मोहन मालवीय और सरोजनी नायडू के नामो का जोड दिया। उनका नाम व्यक्तिगत स्थिति म रखा गया था। परन्तु वायसराय ने डॉ० अंसारी के नाम को यह कह कर जोडने से इन्कार कर दिया कि मुसलमानो का इसमे आपत्ति है। इस तरह यहा भी वायसराय विलिंग्टन ने कांग्रेस को हिन्दू जमात सिद्ध करने का प्रयास किया।

गाधीजी एस० एस० राजपूताना नामक जहाज से 29 अगस्त 1931 को द्वितीय गोल मेज सम्मेलन मे भाग लेने के लिये इंग्लण्ड रवाना हो गये। कांग्रेस ने, कराची सम्मेलन मे, केवल गाधी को ही अपना एक मात्र प्रतिनिधि नियुक्त किया था।

## द्वितीय गोल मेज सम्मेलन

### (Second Round Table Conference)

द्वितीय गोल मेज सम्मेलन इंग्लैण्ड म 7 सितम्बर, 1931 का शुरू हुआ और 1 दिसम्बर 1931 को समाप्त हुआ। प्रथम गोल मेज सम्मेलन की भाति द्वितीय गोल मेज सम्मेलन भी साम्प्रदायिक समस्या का समाधान न कर सकने के कारण असफल हुआ।

**प्रतिकूल परिस्थितियां**—द्वितीय गोल मेज सम्मेलन मे परिस्थितिया भारत के अनुकूल नही थी। इंग्लैण्ड मे सरकार के स्वरूप और भारत मे विलिंग्टन के वायसराय के पद पर आने से भारत सरकार की विचारधारा मे परिवतन हो चुका था। यद्यपि अब भी प्रधान मन्त्री पद पर रम्जे मैकडोनल्ड थे परन्तु अक्टूबर चुनावो के कारण उनका दल बहुमत खो चुका था। नव निर्वाचित म अनुदारवादियो और उदारवादियो की स्थिति प्रभावपूर्ण थी। उप प्रधान मन्त्री पद पर अनुदारवादी नेता बेल्डविन थे, ब्रिटिश सरकार का स्वरूप राष्ट्रीय था और भारत सचिव पद पर वेजवुड बेन के स्थान पर कट्टर अनुदारवादी सेमुअल होर विराजमान थे। अनुदारवादी गाधी इरविन समझौते से क्रुद्ध थे, व कांग्रेस के साथ समानता साझेदारी या समझौते के आधार पर विचार-विमर्श करने के लिये तैयार नही थे, व उसकी मागा को विवेकहीन समझते थे और उसको कुचलने पर उतारू थे। इसलिये सम्मेलन मे अनुदारवादियो ने भारत के प्रतिक्रियावादी तत्वो से मिल कर ऐसी चालें चली कि मूल प्रश्न पीछे रह गये और तुच्छ प्रश्न उभर कर सामने आये। डा० जकारिया लिखते है कि "1930 म श्री बेन के अधीन सम्मेलन पिथरा की वास्तविक संयुक्त मन्त्रणा था परन्तु 1931 मे श्री सेमुअल होर के अधीन यह मन्त्रणा करने वाला आडम्बरीय समाज की कष्टकारी बपौती थी जिसे समाप्त किया जा रहा था।'

**सम्मेलन का गठन**—सम्मेलन में कुल 107 सदस्यो ने भाग लिया। कांग्रेस की ओर मे उसके एक मात्र प्रतिनिधि महात्मा गाधी ने सम्मेलन मे भाग लिया। कांग्रेस को छोड कर बाकी सब भारतीय सदस्यों की नियुक्ति साम्प्रदायिक

या वर्गीय आधारो पर की गयी थीं। वे भारतीय राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे बल्कि अपने सम्प्रदाय, वग या हित का ही प्रतिनिधित्व करते थे। जबकि गाधोजी ने कहा था कि 'अन्य सब दल साम्प्रदायिक हैं। काग्रेस ही केवल सारे भारत और सब हितो के प्रतिनिधित्व का दावा कर सकती है। यह कोई साम्प्रदायिक सस्था नही। किसी भी रूप म यह साम्प्रदायिकता की कट्टर शत्रु है। काग्रेस नस्ल रग और धम का भेद भाव नही जानती। इसका मच सबके लिये खुला है। काग्रेस ही केवल ऐसी सस्था है जिसका प्रभाव 70,000 ग्रामो पर है। काग्रेस ही सारे अल्पमतो का प्रतिनिधित्व करती है।' सम्मेलन म अब उन ब्रिटिश प्रतिनिधियो को लिया गया था जैसे लार्ड बर्किनहैड, सेमुअल होर, जो या तो साम्राज्यीय था काग्रेस विरोधी दृष्टिकोण अपनाते थे। उन ब्रिटिश राजनीतिज्ञो को सम्मेलन म नही लिया गया जो भारत के प्रति उदार या सदभावना की नीति अपनाते थे।

सम्मेलन की कायवाही—सम्मेलन ने दो विषयो पर विचार विमश किया (i) भारत के भावी सवधानिक ढाचे पर और (ii) अल्पसख्यको के प्रतिनिधित्व पर। परन्तु दोनो विषयो पर कोई समझौता न हो सका। जहाँ गाधी तथा अन्य हिन्दू सदस्य "भारतीय हितो मे आरक्षण सहित उत्तरदायी सघीय सरकार की बात करते थे वहा मुस्लिम सदस्य इसे असाध्य (unworkable) मानते थे। देशी रियासतो के प्रतिनिधियो को भारतीय स्वतन्त्रता म अब कोई रुचि नही थी क्योकि उन्हे भय था कि कही भारतीय स्वतन्त्रता से उनके पृथक अस्तित्व को ही खतरा उत्पन्न न हो जाये। दरभगा के महाराजाधिराज और बॉबिल के राजा ने, जो स्वय बड जमीदार थे, जमीदारो के लिये पृथक् सरक्षणो पर बल दिया।

सबसे दु खद दृश्य अल्पसख्यको की उस समिति म देखने को मिले जहा न केवल मुस्लिम सदस्यो का दृष्टिकोण ही अराष्ट्रीय और प्रतिक्रियावादी था बल्कि सिक्खों, दलित वर्गों और अन्य अल्पमत वालो और वर्गों का दृष्टिकोण भी प्रतिक्रियावादी था। मुस्लिम सदस्य पजाव और बगाल म पूण बहुमत चाहते थे लखनऊ समझौते के अनुसार गुरुभार चाहते थे तथा केन्द्र म ⅓ प्रतिनिधित्व चाहते थे, सिक्ख मुसलमानों की भाति पजाव म गुरुभार चाहते थे यूरोपीय बगाल मे गुरुभार की बात कर रहे थे, डा अम्बेदकर के नेतृत्व म दलित वग पृथक निर्वाचन की माग कर रहे थ, जमीदार जमीदारो के वर्गीय हितो का सरक्षण चाहते थे।

सम्मेलन म ब्रिटिश साम्राज्यवादियो और भारतीय प्रतिक्रियावादी तत्वो ने गाठ-गाठ (समझौता) कर रखी थी। मुसलमानो द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण के सम्बन्ध म टाइम्स लिखते हैं कि 'उन व्यक्तियो स बात करना असम्भव है जो मत धम की परम सत्यता म ही विश्वास करते हैं।' उनके नेता से बात करना मानो दीवार के साथ बात करना है। अग्रेजो के दृष्टिकोण को सेमुअल होर के इन शब्दों म व्यक्त किया जा सकता है कि "हमें व्यक्ति को व्यक्ति के समक्ष झुकने के लिये कहना नहीं चाहिए।"

द्वितीय गोल मेज सम्मेलन मे गाधीजी ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाकर साम्प्रदायिक समझौते की बात कर रहे थे। परन्तु उनके अथक प्रयासो और अपीलो का कोई प्रभाव नही हुआ। 8 अक्टूबर, 1931 को गाधीजी ने कहा कि "बड़े दु ख और मान मर्दन के साथ मुझे इस बात की घोषणा करनी पड रही है कि भिन्न भिन्न समूहो के प्रतिनिधियो के साथ औपचारिक बातचीत द्वारा साम्प्रदायिक समस्या पर समझौता करने मे मैं असफल हुआ हू।[1]"

1 दिसम्बर 1931 को सम्मेलन के समापन भाषण मे मैकडोनल्ड ने एक वक्तव्य दिया जिसमे उसने भारत के लिये सरक्षणो सहित उत्तरदायी सरकार सघीय व्यवस्था, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रा त को गवनर प्रान्त बनाने और सिन्ध को पृथक करने के सकेत दिये थे। इस पर गाधीजी ने कहा कि हमारे "रास्ते और नीतिया" अलग-अलग है। मुस्लिम लीग मैकडानल्ड के वक्तव्य पर बहुत प्रसन्न थी और आगा खा मुसलमानो की मागो को स्वीकार कराने के लिये मुस्लिम लीग और अखिल भारतीय मुस्लिम सम्मेलन को मिला कर एक मुस्लिम सगठन बनाने की अपील कर रहे थे।

उपयु क्त वर्णन से स्पष्ट है कि द्वितीय गोल मेज सम्मेलन म भारत के विरुद्ध अनेक शक्तियाँ काम कर रही थी। ब्रिटिश शासक भारत की प्रतिक्रियावादी शक्तियो से समझौता करके साम्राज्यीय चालें चल रहे थे और भारत की प्रतिक्रियावादी शक्तिया जो साम्प्रदायिकता पर ही पल रही थी सकीर्ण दृष्टिकोण को अपना कर ब्रिटिश खेल को ही खेल रही थी। जहा काग्रेस भारत की स्वतन्त्रता और अखण्डता के लिये सयुक्त रूप प्रस्तुत करना चाहती थी वहा लीग तथा अन्य मुस्लिम सदस्य अपना पृथक अस्तित्व जताने म तुले हुए थे।

इतना होने पर भी सम्मेलन ने सघीय न्यायपालिका, सघीय विधान मण्डल के सगठन और भारतीय रियासतो के अखिल भारतीय सघ मे सम्मिलित होने के सम्बन्ध म कुछ निर्णय ले लिये थे। साम्प्रदायिक समस्या के निर्णय को ब्रिटिश प्रधान मन्त्री मैकडोनल्ड पर छोड दिया गया था। यही पर उस मकडोनल्ड पचाट या साम्प्रदायिक पचाट के स्रोत विद्यमान थे जिसकी घोषणा अगस्त 1932 म की गई थी और जिसके विरुद्ध गाधीजी ने आमरण अनशन रखा।

## सविनय अवज्ञा आन्दोलन का पुन आरम्भ
## (Resumption of Civil Disobedience Movement)

गाधीजी इग्लैण्ड से खाली हाथ लौटे। 28 दिसम्बर, 1931 को वे जब बम्बई पहुचे तो उन्होने देखा कि भारत अध्यादेशो द्वारा शासित हो रहा था। गाधी इरविन समझौते की उल्लघना खुल्लमखुल्ला की जा रही थी। काग्रेस और सरकार एक दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप कर रहे थे। सरकार का कहना था कि काग्रेस उत्तर प्रदेश मे कर बन्दी आन्दोलन को उत्साहित कर रही थी, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त म खान अब्दुल गफार खाँ और उनके भाई खा साहिब के नेतृत्व म

खुदाई खिदमतगार सविनय अवज्ञा आन्दोलन की तैयारी कर रहे थे। बगाल म क्रान्तिकारियो की हिंसक घटनाये बढ रही थी। दूसरी ओर विलिंग्टन काग्रेस के साथ किसी प्रकार का समझौता या साझेदारी करने के लिये तैयार नही थे। वे तो काग्रेस को कुचलने पर तुले हुये थे। इसीलिए देश म अध्यादेशो का जाल बिछा रखा था, उत्तर प्रदेश और सीमा प्रान्त मे अध्यादेशो द्वारा शासन चल रहा था, बगाल तो सैनिक शासन के अधीन था। ऐसे अध्यादेश जारी किये गये थे कि अपराधियो की अनुपस्थिति म भी उन पर मुकदमे चलाये जा सकते थे। आर्थिक कठिनाइयो के बावजूद भी सरकार भूमि कर वसूल करने पर उतारू थी। नेहरू, शरवानी, पुरुषोत्तम दास टण्डन, खान अब्दुल गफार खा, खाँ साहिब आदि नेता जेलो म थे।

गाधीजी ने दमन और अत्याचार को देखते हुए 29 दिसम्बर 1931 को वायसराय लार्ड विलिंग्टन से, बिना किसी पूर्व शर्त के भेंट की प्रार्थना की। परन्तु वायसराय ने भेंट देने और सरकार द्वारा अपनाये गये कठोर उपायो के बारे म बात करने स इनकार कर दिया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन को शुरू करने के अतिरिक्त काग्रेस के पास अब और कोई विकल्प नही था। अत काग्रेस ने 3 जनवरी 1932 का कर बन्दी सहित सविनय अवज्ञा आन्दोलन को फिर से शुरू करने की घोषणा कर दी।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के शुरू होते ही सरकार ने कठोर अध्यादेशो और दमन के पहाड को काग्रेसिया पर गिरा दिया। दो दिन के अन्दर (2 जनवरी से 4 जनवरी 1932 तक) 5 अध्यादेश जारी किये गये और अन्य 5 अध्यादेश फरवरी से जुलाई 1932 तक जारी किये गये।[1] गाधीजी तथा सरदार पटेल को, जो काग्रेस के अध्यक्ष थे, 4 जनवरी 1932 को ही बन्दी बना लिया गया। काग्रेस तथा उसकी सहायक संस्थाओं को अवैध घोषित कर दिया गया, उसके कार्यालयो और सम्पत्ति पर सरकार ने कब्जा कर लिया, काग्रेसियो के घरो और सम्पत्ति तथा उनके गहनों और फर्नीचर तक को नष्ट किया गया, काग्रेसिया को डाक-तार की सुविधाओं से वंचित कर दिया गया काग्रेस स्वयं सेवको को किसी प्रकार का आश्रय देना अपराध बना दिया गया सार्वजनिक सभाओं, जलूसो पर पाबन्दी लगा दी गयी, राष्ट्रीय पत्रो को या तो जप्त कर लिया गया या उन पर कठोर नियन्त्रण लगा दिये, लोगो की भीड पर लाठियाँ बरसाना सामान्य बात थी। हजारो की तादाद म लोगो को (स्त्रिया सहित) बन्दी बनाया गया। सुभाष बोस लिखते हैं कि "एक सप्ताह म ही काग्रेस दल म अगर किसी का कुछ भी महत्व था, उसे जेल मे डाल दिया गया। लोगो को न केवल इसलिए बन्दी बनाया गया कि वे ब्रिटिश वस्तुओ के विरुद्ध बहिष्कार की नीति का प्रचार करते थे बल्कि उन्हें इसलिये भी बन्दी बनाया

1 See Tara Chand Ibid, P 179

गया कि वे "भारतीय वस्तुओं को खरीदन" का प्रचार करते थ। सरकार का यह विश्वास था कि वह काग्रेस के साथ युद्ध की स्थिति म है, क्योंकि वह उसकी सत्ता को उखाडना चाहती है इसलिए उम (काग्रेस को) कुचलना आवश्यक है। जसा कि समुअल हार न कहा था कि हमारी सत्ता को ललकारने वाले का दमन करने क लिय हम हर सम्भव काय करने के लिये दृढ सकल्प थे।'

काग्रेस की प्रत्येक गतिविधि का दमन सरकार ने बडी निदयता से और पूरी शक्ति के साथ किया। भारत के सामान्य जीवन पर सरकार का पूरा नियन्त्रण था, भारत अध्यादेशो द्वारा शासित था। अत्याचार और दमन की कोई सीमा नही थी। बटरैण्ड रसल लिखते हैं कि "नाजियो के दुष्कर्मों के प्रति लोगो की रुचि म कोई कमी नही परन्तु इग्लैण्ड म बहुत कम ऐसे लोग है जो यह अनुभव करते है कि ऐसे दुष्कम ब्रिटिश द्वारा भारत म भी किये जा रहे है। सेमुअल होर ने कॉमन सभा मे स्वय स्वीकार किया कि जो उपाय अपनाये गय वे "प्रचण्ड और उग्र थे।

परन्तु सरकार के द्वारा बर्बर तरीके अपनाय जाने पर भी वह काग्रेस, सत्याग्रहियो, स्वय सेवको और भारतीयो के साहस को "छ सप्ताह" म जिसकी घोषणा विलिंग्टन ने की थी कुचलना तो दूर उन्हे ढीला भी न कर सकी। 18 महीनो तक यह आन्दोलन चलता रहा। प्रतिबन्धो और कठिनाइयो के बावजूद भी काग्रेस का वार्षिक अधिवेशन दिल्ली मे श्री रणछोरदास की अध्यक्षता म हुआ जिसम 700 प्रतिनिधियो न भाग लिया। अत्यधिक गिरफ्तारियाँ होने से आन्दोलन स्वय ढीला पडने लगा। 8 मई 1933 को गाधीजी को जेल से रिहा कर दिया गया, 19 मई को गाधीजी ने 12 सप्ताह के लिये आन्दोलन को रोक दिया और 14 जुलाई को इसे रोक दिया। यद्यपि व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन 9 महीनो तक और चलता रहा परन्तु उसे भी 7 अप्रैल 1934 को समाप्त कर दिया।

आन्दोलन को स्थगित करना अपनी पराजय को स्वीकार करना था। सुभाष बोस और विठ्ठल भाई पटेल न इसकी कडी आलोचना की और गाधीजी के नेतृत्व को ही चेतावनी मिलनी शुरू हो गयी। 28 नवम्बर 1934 को गाधीजी स्वय काग्रेस से पृथक हो गये और अपना समय हरिजनो के उद्धार म व्यतीत करन लगे।

## मैकडोनल्ड या साम्प्रदायिक पचाट
## (Mac Donald or Communal Award)

प्रथम और द्वितीय गोल मेज सम्मलन म साम्प्रदायिक समस्या का निवारण करने के लिए "अल्पमता की उप समिति' (Minorities Sub-committee) का गठन किया गया। परन्तु जिना और डा॰ अम्बेदकर के साम्प्रदायिक और सकुचित दृष्टिकोण के कारण यह समिति साम्प्रदायिक समस्या का कोई विश्वसनीय एव सभी को स्वीकृत हल न निकाल सकी। द्वितीय गोल मज सम्मलन के अत म ने कहा कि 'साम्प्रदायिक समस्या को हल करने का उत्तरदायित्व

भारतीयो का है । यदि वे इस समस्या का कोई ऐसा हल न निकाल सके जो सभी को स्वीकृत हो तो ब्रिटिश सरकार को स्वय अपनी ओर स इसका कोई हल निकालना पडेगा ।' साम्प्रदायिक समस्या का जो हल ब्रिटिश सरकार ने निकाला वह इतिहास म मैकडोनल्ड या साम्प्रदायिक पचाट के नाम से प्रसिद्ध है । इस पचाट की घोषणा 17 अगस्त 1932 को की गयी । घोषणा करते समय मैकडोनल्ड ने यह भी कह दिया कि इसे लागू करने से पूव यदि भारतीय किसी और योजना पर सहमत हो जाते है तो ब्रिटिश सरकार को वह योजना स्वीकार होगी ।

साम्प्रदायिक पचाट की योजना को केवल प्रान्तीय विधान सभाओ म ही लागू किया जाना था । केन्द्रीय विधान सभा के निर्णय के प्रश्न को अनिर्णीत छोड दिया गया था क्योकि उसम देशी रियासतो के प्रतिनिधित्व का प्रश्न भी अन्तर्निहित था ।

## साम्प्रदायिक पचाट की विशेषताएँ

साम्प्रदायिक पचाट की मुख्य विशेषताये निम्न थी —

1 **साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली की विविधता**—साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की जिस प्रणाली को अर्थात् अल्पमतो के लिये पृथक निर्वाचन की जिस प्रणाली को 1909 के अधिनियम मे लागू किया गया था तथा जिसे 1919 के अधिनियम मे 10 वर्गों और हितो म विभक्त कर दिया गया था उसे इस पचाट ने 17 वर्गों और हितो मे विभक्त कर दिया । इस पचाट ने उन वर्गों और हितो को अल्पमत मान कर पृथक निर्वाचन और निश्चित स्थान प्रदान कर दिये जिन्होने इसकी माग तक नही की थी । उदाहरणतया स्त्रियो और आग्ल भारतीयो ने पृथक निर्वाचन की माग नही की थी परन्तु उन पर भी यह पद्धति लागू कर दी गयी । उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त को छोडकर, प्रत्येक प्रान्तीय विधान सभा म स्त्रियो के लिए लगभग 3 प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिए गए और उन्हें भी विभिन्न समुदायो म विभक्त कर दिया गया ।

साम्प्रदायिक पचाट ने जिन वर्गों और हितो को अल्पमत स्वीकार किया उनम मुख्य निम्न थे —

(1) मुसलमान (2) दलित वग (3) पिछडी जातिया, (4) भारतीय ईसाई, (5) आग्ल भारतीय, (6) यूरोपियन, (7) वाणिज्य (8) उद्योग, (9) चाय और बागान सघ, (10) जमीदार (11) श्रम, (12) विश्वविद्यालय, (13) सिक्ख (पजाब म) (14) मराठा (बम्बई म), और (15) स्त्रियाँ ।[1]

इस पचाट की विशेपता यह थी कि इसने प्रत्येक अल्पमत को पृथक निर्वाचन पद्धति और निश्चित स्थान प्रदान कर दिए । दलित वर्गों को पृथक निर्वाचन और

1 See Tara Chand History of the Freedom Movement in India Vol IV p 182

निश्चित स्थान देने के अतिरिक्त उन्हें साधारण निर्वाचन में भी एक अतिरिक्त मत देने का अधिकार दे दिया गया।

2 **गुरुभार की पद्धति** साम्प्रदायिक पंचाट की दूसरी विशेषता यह थी कि इसमे गुरुभार की पद्धति को अद्वितीय ढंग से अपनाया गया। उदाहरणतया जिन प्रान्तो मे हिन्दू बहुमत था वहाँ मुसलमानों को गुरुभार तो प्रदान किया गया परन्तु जिन प्रान्तो में मुस्लिम बहुमत था उनमें हिन्दुओ को गुरुभार प्रदान नहीं किया गया। उदाहरणतया जनसंख्या के आधार पर मुसलमानों को मद्रास में 17 स्थान मिलने चाहिये थे परन्तु उन्हें 29 स्थान प्राप्त हुए, यू० पी० में उन्हें 35 स्थानो के स्थान पर 66, बिहार में 20 के स्थान पर 40 और सी० पी० मे 5 के स्थान पर 14 स्थान प्राप्त हुए। दूसरी ओर बंगाल में हिन्दुओ की जनसंख्या 43 प्रतिशत थी परन्तु उन्हें स्थान 32 प्रतिशत ही प्राप्त हुए। पंजाब में हिन्दू 27 प्रतिशत थे उन्हें स्थान भी 27 प्रतिशत ही मिले।

साम्प्रदायिक पंचाट ने मुसलमानों, सिक्खो और यूरोपियों के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया और हिन्दुओं के प्रति नग्न अन्याय का। जिन प्रान्तो में मुसलमानो का बहुमत था वहां उनके बहुमत को कम तो किया गया परन्तु उसका लाभ हिन्दुओ को नहीं दिया गया। उसका लाभ सिक्खो और यूरोपीयों को दिया गया। उदाहरणतया पंजाब मे मुसलमानो की जन संख्या 57 प्रतिशत थी परन्तु उन्हें स्थान 49 प्रतिशत दिए गए, पंजाब में सिक्खो की जन संख्या 13 प्रतिशत थी परन्तु उन्हें स्थान 18 प्रतिशत प्राप्त हुए। बंगाल मे मुसलमानो की जनसंख्या 55 प्रतिशत थी परन्तु उन्हें स्थान 47 6 प्रतिशत दिये गये। बंगाल मे यूरोपीयो की जनसंख्या 01 थी परन्तु उन्हें स्थान 10 प्रतिशत प्राप्त हुए। बंगाल में यूरोपीयो को उनकी जनसंख्या के अनुपात में 1000 गुणा स्थान देने का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश पूंजी की रक्षा करना तथा जातियों में शक्ति संतुलन को बनाये रखना था।

**आलोचना**—साम्प्रदायिक पंचाट की अनेक आधारो पर आलोचना की गयी जिसमें मुख्य निम्न है—

1 **स्वस्थ राजनीतिक दलो के विकास में बाधक**—साम्प्रदायिक पंचाट ने सभी निर्वाचन व्यवस्था को ऐसे ढांचे पर खड़ा किया था—पृथक निर्वाचन प्रणाली (क्षेत्र), साम्प्रदायिक मतदान प्रणाली सुरक्षित स्थान, गुरुभार पद्धति—कि भारत में कभी भी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक या अन्य स्वस्थ सिद्धान्तो के आधार पर राजनीतिक दलो का विकास ही न हो सके और भारत की किसी विधान सभा में (केन्द्र या प्रान्तो मे) किसी दल, जाति या वर्ग के स्वयं के बहुमत के आधार पर मन्त्रिमण्डल का निर्माण न हो सके। हिन्दू बहुमत वाले प्रान्तो में मुसलमानो के लिये गुरुभार और मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तो में सिक्खो और यूरोपीयों को गुरुभार देने का उद्देश्य यही था। इस तरह साम्प्रदायिक पंचाट भारतीय राजनीति में ऐसा विष था जो सर्वदा संकीर्ण और साम्प्रदायिक भावनाओं को प्रोत्साहन देता रहता

और जिसने विधान मण्डलो मे "षडयन्त्रो, दलवदलुओ, सिद्धातहीन और सगठ शून्य गठबन्धनो (समझौतो) के लिए द्वार खोल दिये।"

2 **प्रजातान्त्रिक उत्तरदायी, स्वशासन के विपरीत** साम्प्रदायिक पचा प्रजातान्त्रिक, उत्तरदायी और स्वशासन सिद्धान्तो के सवथा विपरीत था। किसी भ प्रजातान्त्रिक देश म जाति, धम, या लिंग के आधार पर पृथक निर्वाचन प्रणाली लागू नही किया गया था। भारतीयो को विभक्त करने की यह क्रूर चाल था। जसाकि ताराचन्द ने लिखा है कि 'देश के टुकडे करने और राष्ट्रीयता के विका को रोकने का इससे अच्छा और कुशल तरीका क्या हो सकता था।" यह बात भ ध्यान देने की है कि भारत की साम्प्रदायिक समस्या इतिहास का परिणाम नहीं थी। यह ऐसा विदेशी विचार था जिसे विदेशी हितो की रक्षा के लिये गढा गया था। जब ब्रिटिश शासक भारत को एक राष्ट्र नही मानते थे और उसे केवल भि भिन्न जातियो, धर्मो सस्कृतियो और समूहो का ही पुज मानते थे तो उन्होने भार के लिए प्रजातान्त्रिक उत्तरदायी और स्वशासन के ढोग को रचा ही क्यो।

3 **राष्ट्रीय एकता पर क्रूर प्रहार**—साम्प्रदायिक पचाट भारतीय राष्ट्रीयता और हिन्दू एकता पर क्रूर प्रहार था। इसीलिए यह घृणा, तिरस्कार और विरोध का पात्र बना। वस्तुत यह ब्रिटिश सरकार की "फूट डालो और शासन करो की नीति' का ही वृहद रूप था। इसने न केवल मुसलमानो को बल्कि भारत के अन्य समूहो, विशेष कर दलित वर्गों को भी सामान्य जीवन स पृथक करने का प्रयास किया।

4 **साम्प्रदायिक पचाट अन्यायपूर्ण था**—इस पचाट की घोषणा करते समय मकडोनल्ड ने यह दावा किया था कि यह किसी के साथ पक्षपात नही करता और सभी के हितो का ध्यान रखता है। परन्तु मैकडोनल्ड के ये दावे मिथ्या थे। प्रथम यह हिन्दुओ के प्रति सकीर्ण और अन्यायपूर्ण था परन्तु मुसलमानो यूरोपीय और ऐंग्लो इण्डियनो के प्रति उदार था। दूसरे यह साम्प्रदायिक समस्या का हल हल नही था। सयुक्त निर्वाचन प्रणाली से ही जातीय वैमनस्य और घृणा का दू किया जा सकता था, पृथक निर्वाचन प्रणाली और गुरुभार की पद्धति के वि द्वारा नही।

5 **गांधी जी का विरोध**—गाधीजी के लिए साम्प्रदायिक पचाट असह्य था। उनका विश्वास था कि इससे हिन्दुओ मे स्थायी फूट पैदा हो जायगी हि समाज विघटित हो जायगा, अस्पृश्यता की बीमारी सदा के लिये भारत म जड़ें ज लेगी। इसीलिए उन्होने इसका विरोध करने के लिए आमरण अनशन क किया।

**गांधीजी का आमरण अनशन तथा पूना समझौता**—मार्च 1932 म ( गाधीजी न सेमुअल होर को चेतावनी दी थी कि यदि सरकार न दलित वर्गों का भारत क सामान्य जीवन स पृथक करने का प्रयास किया तो अपने जीवन का अ

लगाकर भी वे इसका विरोध करेंगे। मैक्डानल्ड पचाट की घोषणा होने के बाद गाधीजी ने जो उस समय जेल म थे, 18 अगस्त, 1932 को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मैक्डोनल्ड को एक पत्र लिखा जिन्होंने पचाट को वापिस लेने की बात की प्राथना की और यह चेतावनी भी दी कि यदि इसे वापिस नही लिया गया तो वे आमरण अनशन (मरण व्रत) रखेंगे। क्योंकि प्रधान मन्त्री का उत्तर विलम्ब से मिला तथा पचाट के विरुद्ध पहले से ही असन्तोष था इसलिए गाधीजी ने 20 सितम्बर, 1932 से आमरण अनशन की घोषणा कर दी।

गाधीजी के आमरण अनशन की घोषणा ने सारे देश मे चिन्ता और व्याकुलता फैला दी। कुछ नेताओ ने इसकी आलोचना की और कुछ ने गाधीजी के जीवन को बचाने का प्रयास किया। डा० अम्बेदकर ने इसे राजनीतिक धूतता (Political stunt) कहा और अन्य आलोचको ने इसे बलपूवक अपनी बात मनवाने का तरीका कहा। मदन मोहन मालवीय ने गाधीजी के जीवन को बचाने के लिए बम्बई म हिन्दू नेताओ का एक सम्मेलन बुलाया। बाद मे इस सम्मेलन का स्थान पूना कर दिया। सम्मेलन मे, विचार विमश के बाद 25 सितम्बर, 1932 को जो हिन्दू नेताओ म समझौता हुआ वह इतिहास मे पूना समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते का बाद मे हिन्दू महासभा ने अनुसमथन कर दिया और ब्रिटिश सरकार ने भी इसे स्वीकार कर लिया। 26 सितम्बर 1932 को गाधीजी ने अपने अनशन को समाप्त कर दिया।

**पूना समझौता**—पूना समझौते की मुख्य विशेषताए (शर्ते) निम्न थी—

1 दलित वर्गों ने अपने लिए पृथक निर्वाचन पद्धति को त्याग दिया। वे सामान्य निर्वाचन के ही अग बने रहे।

2 पूना समझौते के लिए सवर्ण हिन्दुओ को बहुत बडी कीमत चुकानी पडी। उन्हे दलित वर्गों को कई प्रकार के सरक्षण देने पडे। उदाहरणतया जहा मैक्डोनल्ड पचाट ने दलित वर्गों को प्रान्तीय विधान सभाओ मे कुल 71 स्थान प्रदान किये थे वहा पूना समझौते से उन्हे 148 स्थान प्राप्त हुए जो दुगने से भी अधिक थे। दूसरे, *दलित वर्गों के लिए रखे गये सुरक्षित स्थानो के लिये दोहरे* निर्वाचन की व्यवस्था की गयी, प्रथम, साम्प्रदायिक पद्धति द्वारा और द्वितीय सयुक्त पद्धति (Joint electorate) द्वारा। दूसरे शब्दो मे, दलित वर्गों के लिए सुरक्षित निर्वाचन क्षेत्र मे दलित वर्गों के पजीकृत (registered) मतदाता साम्प्रदायिक निर्वाचन द्वारा 4 उम्मीदवारो के पनल (Panel) को निर्वाचित करते जिनमे से एक उम्मीदवार को सयुक्त निर्वाचन द्वारा (जिसमे हिन्दू दलित वग) निर्वाचित कर लिया जाता। तीसरे, दलित वर्गों को अन्य सामान्य स्थानो के लिए भी, जो उनके लिए सुरक्षित नही थे, एक अतिरिक्त मत का अधिकार दिया गया।

3 केन्द्रीय विधान सभा म भी दलित वग सामान्य निर्वाचन के अग बने रहे। वहा भी, प्रान्तीय विधान सभाओ की भाति उनके लिए स्थान सुरक्षित कर

दिए गए जा सामान्य स्थानो के 18 प्रतिशत[1] के बराबर थ । इनके निर्वाचन व्यवस्था भी वही थी जो प्रान्तो मे थी ।

4 स्थानीय सस्थाओ और सावजनिक सेवाओ मे दलित वर्गों को [illegible] स्थान दिये गय तथा उनके विकास के लिए आर्थिक सहायता की व्यवस्था [illegible] गयी ।

5 पूना समझौते को बाद मे, सामान्य सहमति द्वारा, समाप्त [illegible] सकता था ।

**पूना समझौते का मूल्याकन**—पूना समझौने की उपर्युक्त विशेषताओं [illegible] स्पष्ट है कि यह समझौता केवल दलित वर्गों (Depressed classes) स सम्बन्धि[illegible] था । इसने किसी रूप मे अल्प मतो के लिए पृथक निर्वाचन प्रणाली या साम्प्रदायि[illegible] प्रतिनिधित्व की प्रणाली या गुरभार की प्रणाली को समाप्त नही किया [illegible] वास्तविक रूप से भारतीय एकता और अखण्डता के लिए घातक थी तथा जि[illegible] आधार पर ब्रिटिश शासक 'फूट डालो और शासन करो" की नीति का [illegible] कर रहे थे । क्योकि पूना समझौता ब्रिटिश शासन की मूल नीतियो पर प्रहार [illegible] करता था सम्भवत इसीलिए उन्होने (ब्रिटिश शासको ने) इस स्वीकार कर लि[illegible] पूना समझौता सम्प्रदायिक समस्या का हल नही था, अधिक से अधिक यह [illegible] या सीमित हल था । डा० इकबाल नारायण न ठीक लिखा है कि [illegible] समझौत द्वारा साम्प्रदायिक निणय की विभाजन की नीति को एक नवीन [illegible] प्रदान किया, जो केवल शाब्दिक अथ क दृष्टिकोण से कम घणित था । घाव [illegible] कम हो गयी परन्तु घाव की गहराई वसी ही रही ।"[2]

पूना समझौत से दलित वर्गों को विशेष लाभ हुए । प्रथम उन्हे जनस[illegible] के अनुपात स कही अधिक स्थान प्राप्त हुए, दूसरे हिन्दुओ न अस्पृश्यता दूर [illegible] क लिए भरसक प्रयास शुरू कर दिये । अखिल भारतीय अस्पृश्यता विरोधी [illegible] (All India Anti Untouchability League) की स्थापना की गया जि[illegible] शाखायें सार भारत म खोली गयी । गांधीजी न भी उनके उद्धार क लिय 'हरिजन' नामक साप्ताहिक पत्रिका निकालनी शुरू की । हिन्दू सावजनिक स्थानो [illegible] दलित वर्गों के लिए खोल दिया गया । कोय न ठीक लिखा है कि पूना सम[illegible] से 'दलित वर्गों को भौतिक और गांधीजी का आध्यात्मिक लाभ प्राप्त हुए । हिन्दुओ न भी दलित वर्गों के राजनैतिक महत्त्व को समझना शुरू कर दिया ।

**तृतीय गोल मेज सम्मेलन (17 नवम्बर–24 दिसम्बर 1932)**
**(Third Round Table Conference 17 Nov–24 Dec 1932)**

सन 1932–35 क दौरान ब्रिटिश शासको न दोहरी नीति का अनु[illegible] किया । एक ओर सवधानिक विकास का ढोग रचा गया और दूसरा ओर [illegible]

---

1 दलित वर्ग [illegible] [illegible] सवधानिक विकास और स्वाधीनता [illegible]
2 [illegible] [illegible] 179 ।

का दमन किया गया। भारतीय राजनीतिक दलो से सम्पक बनाये रखने के लिय भारत सरकार ने, काग्रेस को छोडकर, एक परामशदात्री समिति (Consultative Committee) की स्थापना भी। सेमुग्रल होर ने, जो भारतीयो से सवैधानिक प्रश्ना पर विचार विमश का इच्छुक नही था, 27 जून 1932 को घोषणा कर दी कि तृतीय गोलमेज सम्मेलन का परित्याग कर दिया गया है। परतु जब भारतीय उदारवादिया ने परामश समिति से त्याग पत्र दे दिया तो वायसराय न घोषणा की कि भारतीय प्रतिनिधिया का विचार विमश के लिये इग्लण्ड बुलाया जायगा।

अत तृतीय गोल मेज सम्मेलन इग्लैण्ड मे 17 नवम्बर से 24 दिसम्बर, 1932 तक हुआ। यह सम्मेलन प्रथम दो सम्मेलनो की तुलना मे आकार मे बहुत छोटा और कायवाही मे निर्जीव था। वस्तुत यह सम्मेलन केवल दिखावा मात्र था। काग्रेस ने इसमे भाग नही लिया था, ब्रिटिश श्रमिक दल ने इसमे भाग लेने से इनकार कर दिया था, क्योकि उसके प्रतिनिधि के रूप मे वेजवुड वेन और ली स्मिथ सरकार को स्वीकार नही थे। भारतीय,नरेशो की रुचि इसम नही थी। यही कारण है कि नरेशो के स्थान पर उनके मन्त्रिया या अधिकारिया ने इसमे भाग लिया।

सम्मेलन के समक्ष कोई मूलभूत प्रश्न उसके विचार के लिये नही थे। इस लिये इसकी कायवाही म कोई जान नही थी। सम्मलन म केवल उ ही बातो की पुष्टि की गयी जिन पर निणय प्रथम और द्वितीय सम्मेलन मे लिय गये थे।

**विधान सभा के चुनाव**—जब काग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को वापस ले लिया और विधान परिषद के लिए होने वाले भावी चुनावा मे हिस्सा लेने का निणय ले लिया तो सरकार ने काग्रेस पर लगायी गयी पाबन्दियो को हटा लिया। नवम्बर 1934 म जो चुनाव हुए उनम काग्रेस को आशातीत सफलता प्राप्त हुई केवल पजाब को छोडकर बाकी सभी प्रान्तो मे काग्रेस को बहुमत मिला। दक्षिणी भारत म कुछ प्रतिष्ठित स्थाना पर विजय प्राप्त कर यह सिद्ध कर दिया कि काग्रेस अब भी लोकप्रिय सस्था है और सरकार की बबरतापूण नीति तथा दमनकारी कानून उसके महत्त्व को कम नही कर सके।

**श्वेत पत्र (The White Paper)**—27 जून, 1932 को कॉमन सभा म दिये गय भाषण म ही सेमुग्रल होर ने घोषणा कर दी थी कि भारत के भावी सविधान के सम्बन्ध मे सरकार स्वय अपनी ओर से एक श्वेत पत्र (White Paper) जारी करेगी। तृतीय गोल मेज सम्मेलन की समाप्ति के बावजूद सरकार ने यह श्वेत पत्र 15 माच, 1933 को जारी किया। इस पत्र म जो सविधान की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी थी वह यूनाधिक मात्रा म साइमन रिपोट पर ही आधारित थी। स्वाभाविक था कि इस श्वेत पत्र से कोई सन्तुष्ट नही था। भारतीय विधान भारतीय राजनीतिक दलो यहाँ तक कि ब्रिटिश श्रमिक दल न भी इसकी आल

की। यह भारतीयो के साथ "धोखा" और उनकी "उपेक्षा" के अतिरिक्त और कुछ नही था।

इस श्वेत पत्र पर विचार-विमर्श करने के लिये लार्ड लिनलिथगो की अध्यक्षता म ससद के दोनो सदनो के 32 सदस्यों (प्रत्येक सदन से 16 सदस्य लिये गए) की एक सयुक्त प्रवर समिति (Joint Select Committee) का गठन किया गया। इस समिति ने अपनी बठकें 12 अप्रल 1933 से शुरू की और 18 मास के प्रयास के बाद 22 नवम्बर 1934 को अपनी रिपोर्ट को प्रकाशित किया। इसी रिपोर्ट के आधार पर एक विधेयक (Bill) तैयार किया गया जिसे 22 जनवरी 1935 को प्रकाशित किया गया, 24 जुलाई, 1935 को ससद ने इसे कुछ सशोधनों सहित पास कर दिया और 2 अगस्त[1] को सम्राट की स्वीकृति मिलने पर यह भारत सरकार अधिनियम 1935 बन गया।

## समीक्षा प्रश्न
## (Review Questions)

1 "सन् 1919 की घटनाओ ने भारत की आत्मा पर बहुत गहरा आघात पहुँचाया और भावनाशील भारतीयों के लिये उन सब बडी से बडी बुराइयों का जो अग्रेजी शासन म थी वे एक प्रतीक बन गयी।" सन् 1919 के पजाब म लगाये गये मार्शल लॉ और जलियां वाला बाग की दुर्घटनाओ को ध्यान मे रखते हुए इस कथन की विवेचना कीजिये।

2 काग्रेस द्वारा सन् 1920 मे आरम्भ किये गये असहयोग आन्दोलन की विचारधारा तथा कार्यक्रम का सक्षिप्त वर्णन कीजिये। यह आन्दोलन सफल क्यों नही हो सका ?

3 खिलाफत आन्दोलन के सम्बन्ध म आप क्या जानते हैं ? राष्ट्रीय आन्दोलन म इसकी क्या भूमिका है ?

4 उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिये जिनके फलस्वरूप 1923 म स्वराज पार्टी का निर्माण हुआ। कौंसिल (परिषद्) प्रवेश करने के पक्ष म उनके नेताओं द्वारा क्या तर्क उपस्थित किये गये ? स्वराज पार्टी को अपने उद्देश्यों म कहाँ तक सफलता मिली ?

5 साइमन आयोग की मुख्य सिफारिशों पर सक्षेप म प्रकाश डालिये। क्या इसकी सिफारिशें भारतीयों की आकाक्षाओं की पूर्ति करती थी ?

6 'भारतीय बुद्धिमत्ता का प्रथम पुष्प नेहरू प्रतिवेदन' के सम्बन्ध म इस कथन की विवेचना कीजिये। वर्तमान भारतीय सविधान और नेहरू प्रतिवेदन म क्या समानताएँ हैं ? क्या यह वर्तमान सविधान की रूपरेखा (blue print) थी ?

---

1 For dates in this paragraph see Gupta D C Ibid p 169

7 उन परिस्थितियो का वर्णन कीजिये जिनमे काग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रस्ताव (31 दिसम्बर 1929) को पास किया। मुस्लिम लीग का इस प्रस्ताव के प्रति क्या दृष्टिकोण था ?

8 सन् 1930 के महात्मा गाधी द्वारा सचालित सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सक्षिप्त वर्णन दीजिय। यह आन्दोलन किस मात्रा मे सफल हुआ ?

9 सन् 1931 का गाधी इर्विन समझौता किन परिस्थितियो मे सम्पन्न हुआ। इसकी प्रमुख शर्तें (विशेषतायें) क्या थी ? क्या ब्रिटिश नौकरशाही ने इन्हे ईमानदारी से कार्यान्वित किया ?

10 साम्प्रदायिक पचाट से आप क्या समझते है ? गाधीजी ने इसके विरुद्ध क्यो मरण व्रत रखा ? पूना समझौते मे इसका कहा तक समाधान किया गया ?

11 "गोल मेज सम्मेलनो का इतिहास असफलताओ का इतिहास है" इस कथन के सन्दर्भ मे 1930-1931 के गोल मेज सम्मेलनो की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिय।

2 सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिय —
(i) रौलट (काला) अधिनियम, (ii) जलियावाला बाग हत्याकाण्ड, (iii) खिलाफत आन्दोलन (iv) जिन्ना के चौदह सूत्र (v) पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव (vi) डण्डी यात्रा (vii) द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (viii) साम्प्रदायिक पचाट (ix) पूना समझौता।

---

थी । यह भारतीयों के साथ "धोखा" और उनकी "उपेक्षा" के अतिरिक्त और कुछ नहीं था ।

इस श्वेत पत्र पर विचार विमर्श करने के लिये लार्ड लिनलिथगो की अध्यक्षता में संसद के दोनों सदनों के 32 सदस्यों (प्रत्येक सदन से 16 सदस्य लिये गये) की एक संयुक्त प्रवर समिति (Joint Select Committee) का गठन किया गया। इस समिति ने अपनी बैठकें 12 अप्रैल 1933 से शुरू कीं और 18 मास के प्रयास के बाद 22 नवम्बर 1934 को अपनी रिपोर्ट को प्रकाशित किया । इसी रिपोर्ट के आधार पर एक विधेयक (Bill) तैयार किया गया जिसे 22 जनवरी 1935 को प्रकाशित किया गया, 24 जुलाई, 1935 को संसद ने इसे कुछ संशोधनों सहित पास कर दिया और 2 अगस्त[1] को सम्राट की स्वीकृति मिलने पर यह भारत सरकार अधिनियम 1935 बन गया ।

## समीक्षा प्रश्न
## (Review Questions)

1 "सन् 1919 की घटनाओं ने भारत की आत्मा पर बहुत गहरा आघात पहुँचाया और भावनाशील भारतीयों के लिये उन सब बड़ी से बड़ी बुराइयों का जो अंग्रेजी शासन में थी वे एक प्रतीक बन गयी ।" सन् 1919 के पंजाब में लगाये गये मार्शल लॉ और जलियां वाला बाग की दुर्घटनाओं को ध्यान में रखते हुए इस कथन की विवेचना कीजिये ।

2 कांग्रेस द्वारा सन् 1920 में आरम्भ किये गये असहयोग आन्दोलन की विचारधारा तथा कार्यक्रम का संक्षिप्त वर्णन कीजिये । यह आन्दोलन सफल क्यों नहीं हो सका ?

3 खिलाफत आन्दोलन के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ? राष्ट्रीय आन्दोलन में इसकी क्या भूमिका है ?

4 उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिये जिनके फलस्वरूप 1923 में स्वराज पार्टी का निर्माण हुआ । कौंसिल (परिषद्) प्रवेश करने के पक्ष में उसके नेताओं द्वारा क्या तर्क उपस्थित किये गये ? स्वराज पार्टी को अपने उद्देश्यों में कहाँ तक सफलता मिली ?

5 साइमन आयोग की मुख्य सिफारिशों पर संक्षेप में प्रकाश डालिये । क्या इसकी सिफारिशें भारतीयों की आकांक्षाओं की पूर्ति करती थी ?

6 'भारतीय बुद्धिमत्ता का प्रथम पुष्प" नेहरू प्रतिवेदन के सम्बन्ध में इस कथन की विवेचना कीजिये । वर्तमान भारतीय संविधान और नेहरू प्रतिवेदन में क्या समानतायें है ? क्या यह वर्तमान संविधान की रूपरेखा (blue print) थी?

---

1 For dates in this paragraph see Gupta, D C Ibid, p 169

उन परिस्थितियो का वर्णन कीजिये जिनमे कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रस्ताव (31 दिसम्बर 1929) को पास किया। मुस्लिम लीग का इस प्रस्ताव के प्रति क्या दृष्टिकोण था ?

सन् 1930 के महात्मा गाधी द्वारा सचालित सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सक्षिप्त वर्णन दीजिये। यह आन्दोलन किस मात्रा मे सफल हुआ ?

सन् 1931 का गाधी इर्विन समझौता किन परिस्थितियो मे सम्पन्न हुआ। इसकी प्रमुख शर्तें (विशेषतायें) क्या थी ? क्या ब्रिटिश नौकरशाही ने इन्हे ईमानदारी से कार्यान्वित किया ?

साम्प्रदायिक पचाट से आप क्या समझते हैं ? गाधीजी ने इसके विरुद्ध क्यो मरण व्रत रखा ? पूना समझौते मे इसका कहा तक समाधान किया गया ?

"गोल मेज सम्मेलनो का इतिहास असफलताओ का इतिहास है" इस कथन के सन्दर्भ मे 1930-1931 के गोल मेज सम्मेलनो की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।

सक्षिप्त टिप्पणिया लिखिये —

(i) रौलट (काला) अधिनियम, (ii) जलियावाला बाग हत्याकाण्ड, (iii) खिलाफत आन्दोलन (iv) जिन्ना के चौदह सूत्र (v) पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव (vi) डण्डी यात्रा (vii) द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (viii) साम्प्रदायिक पचाट (ix) पूना समझौता।

म स 11 स्थान प्राप्त हुए थ । पांचवें, उदारवादियो का इन निर्वाचनो म सफाया हो गया । जस्टिस दल जिसका 1922 से मद्रास विधान सभा पर नियन्त्रण था, केवल 21 स्थान प्राप्त कर सका ।

**काग्रेस मन्त्रिमण्डलों का निर्माण** निर्वाचनो म विजयी होने के पश्चात काग्रेस क समक्ष काग्रेस मन्त्रिमण्डलो के निर्माण की समस्या थी । इस विषय पर काग्रेस म दो प्रकार की विचारधाराएँ काय कर रही थी । सुभाष चन्द्र बोस और नेहरू क नतृत्व म काग्रस समाजवादी दल मन्त्रिपदो को स्वीकार करने का विरोधी था परन्तु राजगोपालाचारी डॉ० राजन्द्र प्रसाद और सरदार पटेल के नतृत्व वाला काग्रेसी वग मन्त्रिपदो को स्वीकार करने के पक्ष म था । अन्त म महात्मा गाधी के हस्तक्षप से 'समझौता फार्मूला' निकाला गया, जिसे "विश्वास धारा (assurance clause) भी कहते हैं जिस पर दोनो पक्ष सहमत थ । इस विश्वास धारा म कहा गया था कि विधान सभाओ के काग्रेसी सदस्य मन्त्रिपदो को तभी स्वीकार करेंगे यदि प्रान्तो क गवनर यह आश्वासन दें कि वे अपनी शक्तियो का प्रयोग नही करेंगे और सवधानिक गतिविधियो म मन्त्रियो के परामश अस्वीकार नही करेंगे । प्रान्तो के गवनरो ने ऐसा आश्वासन देने से इन्कार दिया । भारत सचिव लाड जेटलण्ड ने भी ब्रिटिश ससद म कहा कि ऐसा आश्वासन नही दिया जा सकता । इसस सवधानिक गतिरोध उत्पन्न हो गया । उन छ प्रान्तो म जहाँ काग्रेस का बहुमत था वहा गवनरो न अल्पमत वालो से अन्तरिम मन्त्रिमण्डलो (Interim Ministeries) का निर्माण किया और अन्य पाँच प्रान्तो म मिली जुली सरकारो (Coalition Governments) का निर्माण किया गया ।

छ प्रान्तो म सवधानिक गतिरोध अर्थात काग्रेस गवनर विवाद लगभग तीन महीन तक चलता रहा । अन्तरिम मन्त्रिमण्डलो के निर्माण के बाद भी गवनर प्रान्तीय विधान सभाओ का आहूत करने की स्थिति म नही थे क्योकि न तो अन्तरिम मन्त्री बहुमत को अपन साथ कर सकते थे और न ही वार्षिक बजट पास हो सकता था । इस तरह प्रान्तो म स्थिति कुछ बिगड रही थी । दूसरी ओर, यूरोप म हालात गम्भीर हो रहे थ । परिणामस्वरूप गह सरकार की अनुमति पर वायसराय लाड लिनलिथगो ने 21 जून 1937 को एक वक्तव्य म घोषणा की जिसम कहा गया था कि प्रान्त की कायपालिका शक्ति गवनर के नाम पर चलायी जाती है परन्तु मन्त्रालयिक क्षेत्र (ministerial field) म गवनर मन्त्रियो के परामश पर ही काय करने के लिए बाध्य है । मन्त्री केवल प्रान्तीय विधान सभाओ क प्रति ही उत्तरदायी हैं । इस विचार का कोई आधार नही कि गवनर, विशेष उत्तरदायित्वो के सीमित क्षेत्र को छोड कर प्रान्त क दनिक प्रशासन म हस्तक्षेप करन क लिए स्वतन्त्र हैं या उनके पास एसी कोई शक्ति है । लाड लिनलिथगो के इस वक्तव्य न 1935 क अधिनियम म कोई परिवतन नही किया और न ही यह काग्रेस क लिय पूणतया सन्तोषजनक था परन्तु फिर भी काग्रेस ने वायसराय के "सान्त्वना युक्त स्वर का

---

मित्रतायुक्त" भावा मे उत्तर दिया और इसे "सम्मानित समझौता" (gentleman's agreement) समझ कर काग्रेस सदस्यो को मन्त्रिपद स्वीकार करने की आज्ञा दे दी परन्तु साथ मे यह भी स्पष्ट कर दिया कि काग्रेस "अधिनियम से भिडन (resist) के लिए और रचनात्मक कायक्रम को कार्यान्वित करने" के उद्देश्य से ही मन्त्रिपदो को स्वीकार कर रही थी । परिणामस्वरूप 7 जुलाई 1939 को काग्रेसी सदस्यो ने छ प्रान्तो मे अपने मन्त्रिमण्डलो का निर्माण किया और इसके साथ ही गवनरो द्वारा नियुक्त किये गए अन्तरिम मन्त्रिमडलो ने त्याग पत्र दे दिये ।

**काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो के काय** भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास म यह पहला अवसर था जबकि काग्रेस ने स्वतन्त्रता आदोलन के साथ प्रशासन के उत्तरदायित्व को ग्रहण किया और उस नौकरशाही से मिल कर काय किया जिसका वह विरोध करती थी । राजद्रोही (काग्रेसी) अब शासक बन गए थे । अपने 28 महीनो के शासन काल म काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने जो रचनात्मक काय किये वे उनकी प्रशासनिक योग्यता, क्षमता उत्साह और सार्वजनिक कल्याण की भावना के द्योतक है । जसाकि कूपलैंड ने लिखा है कि 'काग्रेस उन पर उचित गव कर सकती थी । मन्त्रियो की सफलतायें इतनी पर्याप्त थी कि इसके नेताओ ने दिखा दिया कि वे काय भी कर सकते थे और आन्दोलन भी चला सकते थे । उनम और उनके अनुयायियो म समाज सुधार की यथाथ भावना थी ।"

काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने जो सुधार काय किये उनमे प्रमुख थे भूमि सुधार, किसानो की ऋण और साहूकारो के शिकजा से मुक्ति (अर्थात ऋण मुक्ति और भाडेदारी सुधार) जेल, गह और पुलिस प्रशासन मे सुधार । श्रमिको की दशा सुधारन के लिए श्रम कानून बनाये गय, काय के घण्टो मे कमी की गयी और श्रमिक सघो को मान्यता दी गयी । शिक्षा के क्षेत्र मे सुधारो के साथ गाधीजी की बुनियादी शिक्षा का भी प्रयोग किया गया, राजनीतिक बन्दियो को छोडा गया और मद्य निषेध की नीति का श्रीगणेश किया गया ।

**काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो पर आरोप** काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो पर दो प्रकार के आरोप लगाये जाते है । प्रथम, उन पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि उन्होने प्रातो मे एकात्मक शासन स्थापित करके प्रान्तीय स्वायत्तता और उत्तरदायी शासन की उल्लघना की थी । इस आरोप का आधार यह था कि काग्रेस हाइ कमाण्ड (The Congress High Command) का काग्रेसी मन्त्रिमडलो और सदस्यो पर अत्यधिक नियन्त्रण था और वह मन्त्रिमडलो के कायक्रम म हस्तक्षेप करती थी । काग्रेस पर यह आरोप सत्याश रा पर है । य आलोचक भूल जात है कि उन परिस्थितियो म, जब साम्राज्यीय, प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक शक्तियाँ मिलकर राष्ट्रीय शक्तियो के विकास म बाधा प्रस्तुत कर रही थी और साम्प्रदायिक भावनाओ का उभार रही थी, उस समय काग्रेसी सदस्यो और मन्त्रिमण्डलो के कायक्रमो पर नियन्त्रण अति आवश्यक था । दूसरे उत्तरदायी सरकार को सुचारू रूप म चलान

द्वारा नियन्त्रित और अनुशासित दलों की आवश्यकता होती है और कांग्रेस ही उस समय एक ऐसा दल था जो इस प्रकार की व्यवस्था बनाए रख सकता था। यह कहना ठीक नहीं कि कांग्रेस हाई कमाण्ड कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के दैनिक शासन में हस्तक्षेप करते थे। कांग्रेस हाई कमाण्ड का कांग्रेसी सदस्यों के ऊपर नियन्त्रण तथा कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को संगठित रखना प्रान्तीय स्वायत्तता और उत्तरदायी शासन का विरोधी नहीं था अपितु गैरकांग्रेसी प्रान्तों में मुख्य मन्त्रियों का विधान सभाओं में बहुमत होते हुए भी उन्हें पदच्युत कर देना, क्योंकि गवर्नर को उनका कार्य पसन्द नहीं था, अवश्य ही प्रान्तीय स्वायत्तता और उत्तरदायी सरकार के विरुद्ध था। सिन्ध के मुख्य मन्त्री खान बहादुर अल्लाबख्श को विधान सभा में बहुमत होते हुए भी केवल इसलिए पदच्युत किया गया था कि वे गवर्नर के विश्वासपात्र नहीं थे। दूसरे सिन्ध, बंगाल और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्तों में अल्पमत में होते हुए भी मन्त्रिमण्डलों को पदारूढ़ रखना गैर-संवैधानिक था।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों पर दूसरा आरोप मुस्लिम लीग द्वारा लगाया गया। इसका कहना था कि कांग्रेसी प्रान्तों में मुसलमानों और अन्य अल्पमतों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को कुचला गया था, मुसलमानों के साथ अत्याचार किए गए थे और वस्तुतः इन प्रान्तों में हिन्दू राज्य की स्थापना कर दी गयी थी। परन्तु मुस्लिम लीग के ये आरोप सदा झूठे और ईर्ष्या तथा साम्प्रदायिक भावना से ओतप्रोत थे। सन् 1937 में निर्वाचनों में पूर्णतया पिट जाने के बाद और कांग्रेस द्वारा उसके साथ मिल कर, कांग्रेसी बहुमत वाले प्रान्तों में मिली-जुली सरकारों के निर्माण करने से इन्कार करने के बाद लीग ने इन साम्प्रदायिक हथकण्डों को अपनाया था और ब्रिटिश नौकरशाही ने इसमें उसका पूरा सहयोग दिया था। मुस्लिम लीग को इस बात का भी भय था कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की कार्यकुशलता और लोकप्रियता से उसके सम्मान और अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो जायगा। इसलिए लीग ने इन साम्प्रदायिक भावनाओं को उभार कर मुसलमानों को कांग्रेस से पृथक करने की कोशिश की और अन्य मुस्लिम संगठनों को अपनी लपेट में लेने का प्रयास किया।

**कांग्रेस लीग मन्त्रिमण्डलों का औचित्य या क्या कांग्रेस को लीग के साथ मिल कर मिले जुले मन्त्रिमण्डलों का निर्माण करना चाहिए था?**

कुछ आलोचकों का मत है कि 1937 के चुनावों में विजयी होने के पश्चात कांग्रेस को कांग्रेस बहुमत वाले प्रान्तों में मिली जुली सरकारों का निर्माण करना चाहिए था। इनका कहना है कि लीग के साथ मिले जुले मन्त्रिमण्डलों के निर्माण से इनकार करके कांग्रेस ने व्यावहारिक भूल की और इसके दूरगामी परिणाम निकले। इनका कहना है कि इससे लीग कांग्रेस से बिल्कुल पृथक हो गयी और अंग्रेज शासकों को साम्प्रदायिक खाई चौड़ी करने का अवसर मिल गया। इस आलोचना में भी सत्यांश की कमी है। आलोचक भूल जाते हैं कि उत्तरदायी सरकारों के संचालन के

लिए न केवल राजनीतिक उद्देश्यो पर मतैक्यता की आवश्यकता होती है बल्कि ठोस राष्ट्रीय दृष्टिकोण और दलीय अनुशासन एव नियन्त्रण की आवश्यकता भी होती है। **प्रथम**, जब-जब काग्रेस ने लीग के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई तब तब मुस्लिम लीगी नेताओ की साम्प्रदायिक मागो मे विस्तार हुआ। **दूसरे**, काग्रेस और लीग के राजनीतिक दृष्टिकोणो मे अन्तर था। जहा काग्रेस का दृष्टिकोण राष्ट्रीय और उसकी नीतिया समाज कल्याण पर आधारित थी वहा लीग का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और नीतिया मुस्लिम समाज के कल्याण पर आधारित थी। **तीसरे**, काग्रेस ने मन्त्रिपद को इस उद्देश्य से नही ग्रहण किया था कि वे 1935 के अधिनियम को कार्यान्वित करना चाहती थी बल्कि इस उद्देश्य से ग्रहण किया था कि वे इसे अन्दर से नष्ट भ्रष्ट करके यह सिद्ध करना चाहती थी कि उत्तरदायी शासन मे गवनर के विशेष उत्तरदायित्वो का होना अनावश्यक और असवैधानिक था। दूसरी ओर लीग 1935 के अधिनियम के अन्तगत प्रान्तीय व्यवहार को स्वीकार कर चुकी थी। सिद्धान्तो और उद्देश्यो की भिन्नता के कारण काग्रेस लीग मिली जुली सरकारो का स्थायित्व हमेशा खतरे म रहता। **चौथे**, स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने के बाद काग्रेस के लिए मिली जुली सरकारो की कल्पना भी अतार्किक थी। **पाचवें**, काग्रेस की नीतियो के पीछे पूर्ण बहुमत था, उनके सदस्यो पर उसका पूरा नियन्त्रण था जबकि लीग की नीतिया के पीछे केवल तुच्छ मत था। लीग तो सारी मुस्लिम जाति का भी प्रतिनिधित्व नही करती थी। जमीयत उल उलेमा ए हिन्द, दी अहरार (The Ahrars), दी मोमिन (The Momins), दी शियास (The Shias), कृषक प्रजा पार्टी, यूनियेनिस्ट दल आदि मुस्लिम सगठन विद्यमान थे जिनकी उपेक्षा करके काग्रेस लीग को भारतीय मुसलमानो की एकमात्र प्रतिनिधि सस्था नही मान सकती थी और लीग ने इसकी माग की थी।

## द्वितीय महायुद्ध और भारत
## (The Second World War & India)

सितम्बर 1, 1939 को जमनी ने पोलण्ड पर आक्रमण कर दिया। इस पर ब्रिटेन और फास ने जमनी के विरुद्ध सितम्बर 3, 1939 को युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध की घोषणा करत समय ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने ब्रिटिश राष्ट्रमण्डलीय देशो से भी ऐसा ही करने की अपील की। इस पर ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की ससदा ने युद्ध की घोषणा कर दी। परन्तु भारत मे केन्द्रीय या प्रान्तीय विधान परिषदा से परामश किये बिना और भारतीय जनता, उसके प्रतिनिधियो और नेताओ को विश्वास मे लिये बिना ही वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने स्वय ही यह घोषणा 3 सितम्बर 1939 को कर दी कि भारत भी जमनी के विरुद्ध ब्रिटेन के साथ युद्ध मे शामिल है। वायसराय की यह घोषणा न केवल 40 करोड भारतीयो की उपेक्षा थी बल्कि यह इस बात का भी द्योतक थी कि 'ब्रिटिश सरकार भारत को अपनी

इच्छा की कठपुतली मात्र समझती है और युद्ध जैसे प्रश्न पर भी भारतीयो क मान निणय के अधिकार को मानने के लिये तयार नही।"

वायसराय लाड लिन्लिथगो ने भारत का युद्ध म शामिल हा नहीं अपितु आन्तरिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिये अनेक कठोर अध्यादेशो क[illegible] किया, 1935 के अधिनियम म तत्काल सशोधन करवाकर (Governmen[illegible] India Amending Act) प्रान्तीय स्वायत्तता को अर्थहीन बना दिया। इन कार्यवाहियो पर लीपापोती करने के लिये वायसराय न गाधीजी को शिमला 4 सितम्बर 1939 को आमन्त्रित किया।

**युद्ध तथा कांग्रेस**—युद्ध काल म कांग्रेस अंग्रेजो की सहायता करन की इच्छुक थी। परन्तु उसका विश्वास था कि लोगो को युद्ध कार्यों म सहायता देने क लिये तभी कहा जा सकता था जब वे स्वय स्वतन्त्र हो, दूसरो के बराबर हो। स्वय परतन्त्र रहकर दूसरो की स्वतन्त्रता के लिये युद्ध म कूदना अतार्किक, अव्यावहारिक और गलत था। नेहरूजी न भी लिखा है कि "हमारे लिये स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता जब हम स्वय ही स्वतन्त्रता प्राप्त न हो।" ब्रेल्सफोर्ड ने भी ठीक लिखा है कि 'वे जो स्वय पराधीन थे, दूसरो को स्वतन्त्र कराने के लिये युद्ध म कस भाग ले सकते थे।' इसलिये कांग्रेस ने माग की कि ब्रिटेन अपने युद्ध उद्देश्यो को स्पष्ट करे अपने साम्राज्यवाद का अन्त करे और भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करे।

कांग्रेस कार्यकारिणी समिति गाधीजी के इस विचार से सहमत नहीं थी कि युद्ध काल म ब्रिटेन की सहायता बिना शर्त की जाय। वर्धा प्रस्ताव म कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने नाजी शक्तियो की भर्त्सना की ब्रिटिश विश्वासघातो को गिनाया ब्रिटिश नीति पर विरोध प्रकट किया और इस बात पर दुःख व्यक्त किया कि वायसराय की घोषणा, अध्यादेशो और सवैधानिक सशोधन ने भारतीय जनमत की उपेक्षा की है। इस प्रस्ताव मे स्पष्ट कहा गया था कि "सहयोग समान स्तर वालो मे पारस्परिक सहमति के आधार पर ही' हो सकता है। प्रस्ताव मे कांग्रेस न स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि—

'यदि युद्ध का उद्देश्य यथा स्थिति की रक्षा करना है अर्थात साम्राज्यवादी बस्तिया, उपनिवेशो अन्तर्निहित स्वार्थों और विशेषाधिकारो की रक्षा करना है तो भारत का उससे कोई सरोकार नही। परन्तु यदि प्रश्न प्रजातन्त्र पर आधारित विश्व व्यवस्था का है तो भारत को उसम गहरी दिलचस्पी है यदि ब्रिटेन प्रजातन्त्र की रक्षा और विकास के लिये युद्ध लड रहा है तो उसे अपने उपनिवेशो म साम्राज्यवाद को अवश्य समाप्त करना होगा, भारत मे पूर्ण प्रजातन्त्र की स्थापना करनी होगी भारत की जनता को यह अधिकार देना होगा कि वह अपनी सवधानिक सभा बनाकर बिना बाह्य हस्तक्षेप के अपना सविधान तयार कर सके, अपने बारे मे स्वय निर्णय कर सके तथा अपनी नीति स्वय निर्धारित कर सके। स्वतन्त्र प्रजातान्त्रिक भारत

ही विदेशी आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक रक्षा के लिये स्वेच्छा से और सहप मित्र देशा के साथ सहयोग करेगा।"

**युद्ध और मुस्लिम लीग**—युद्ध सहायता के प्रश्न पर मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण शर्तहीन (unqualified) नहीं था। उसका दृष्टिकोण न केवल शर्तों से युक्त था बल्कि भारतीय राष्ट्रीयता के लिये घातक, सामाजिक सामन्जस्य के लिये सकीण और स्वार्थों की पूर्ति की दृष्टि से चेतावनी पूर्ण था। लीग ने अपने 18 सितम्बर, 1939 के प्रस्ताव म काग्रेस पर स्पष्ट आरोप लगाया था कि काग्रेस शासित प्रा तो मे मुसलमानो की "स्वत त्रता, व्यक्तिगत सम्पत्ति और सम्मान" को पाव तले कुचला जा रहा है। लीग ने ब्रिटिश सरकार को युद्ध सहायता इस शत पर देने का आश्वासन दिया कि काग्रेस शासित प्रान्तो मे मुसलमाना को न्याय और साम्य व्यवहार दिलाने के लिये गवनर अपनी विशेष शक्तियो का प्रयोग करे और लीग को "भारतीय मुसलमानो की एक मात्र प्रतिनिधि सस्था स्वीकार किया जाय।" लीग ने यह माग भी की कि सवधानिक विकास के सम्बन्ध मे काग्रेस को न तो किसी प्रकार का आश्वासन दिया जाय और न ही लीग की अनुमति और समथन के बिना किसी सविधान का निर्माण किया जाय। इन सारी मागो के पीछे लीग के दो उद्देश्य काम कर रहे थे। पहला काग्रेस को बदनाम करके उसके प्रभाव मे कमी करके, अन्य मुस्लिम सदस्यो और सगठनो को, विशेष कर वे जो काग्रेस की नीतियो का समथन कर रहे थे, लीग की लपेट मे लाया जाय। दूसरा, ब्रिटिश शासको की कृपा से राजनीतिक और सवैधानिक विकास मे 'वीटो" का अधिकार प्राप्त कर लिया जाय। जसा कि बाद की घटनाओ से स्पष्ट है कि लीग इन दोनो उद्देश्या मे सफल हुई।

**ब्रिटिश सरकार की निराशापूर्ण घोषणायें**—काग्रेस की स्वतन्त्रता की माग के प्रति ब्रिटिश सरकार का दृष्टिकोण बहुत ही निराशापूर्ण, दुर्भाग्यपूर्ण और अस्पष्ट था। न तो ब्रिटिश प्रधानमन्त्री, न भारत म त्री और न ही वायसराय के वक्तव्यो मे "भारत की स्वतन्त्रता" और "ब्रिटिश युद्ध लक्ष्या" के बारे मे कोई स्पष्ट आश्वासन दिया गया था। इ ह तो टालने की कोशिश की गयी थी। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के लिये ब्रिटन का तत्काल उद्देश्य "आत्म रक्षा" था, ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के एक अन्य सदस्य के लिय "युद्ध जीतना" ही ब्रिटेन का लक्ष्य था। भारत म त्री लार्ड जेटलण्ड ने लार्ड सभा मे भाषण देते हुए "फूट डालो और शासन करो" की नीति के आधार पर भारतीयो मे विभाजन रखा खीचने का प्रयास किया और जीवन मरण के समय काग्रेस की स्वतन्त्रता की माग को निराशाजनक बताया। वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने 17 अक्टूबर, 1939 को एक वक्तव्य म काग्रेस की स्वत त्रता की माग को अव्यावहारिक बताते हुए पुराने घिसे पिटे औपनिवेशिक स्वराज्य के वायदे को दोहराया गया और उन्हे भी युद्ध के बाद देने का आश्वासन दिया। यह भी कहा गया कि 1935 के अधिनियम मे, अल्पमतो के विचारो का ध्यान रखते हुए आवश्यक परिवर्तन किये जायेंगे। इसमे लीग के "वीटो' की माग को भी अप्रत्यक्ष रूप से

स्वीकार कर लिया गया था। तत्काल के लिये, युद्ध प्रयासो में भारतीयों को सम्बद्ध करने के लिये वायसराय ने परामर्श समिति (Consultative Committee) का सुझाव दिया।

**कांग्रेस मन्त्रि मण्डलों के त्यागपत्र**—ब्रिटिश सरकार के उपयुक्त वक्तव्य हतोत्साहित करने वाले थे। गाधीजी ने इन वक्तव्यो पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि "कांग्रेस ने मागी थी रोटी, उसे मिले पत्थर।" परिणामस्वरूप असम को छोड़ 7 प्रान्तो म कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने त्याग पत्र दे दिये। सर्वप्रथम मद्रास के मन्त्रिमण्डल ने 28 अक्टूबर, 1939 को त्याग पत्र दे दिया। असम म कांग्रेसी मुख्य मन्त्री श्री बारदोलाय के त्याग पत्र देने पर सर मुहम्मद सादुल्ला ने अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया।

प्रान्तो म कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो के त्याग पत्र देने पर गवनरो ने सेक्शन 93 के अन्तगत प्रान्तो के प्रशासन को अपने हाथो म ले लिया और उत्तरदायी शासन समाप्त हो गये। प्रान्तो म पुन निरकुश शासनो की स्थापना हो गयी। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो के त्यागपत्र देने से एक दुष्परिणाम यह निकला कि लीग को साम्प्रदायिक विष फैलाने और मुक्ति दिवस मनाने का अवसर मिल गया। वायसराय भी मुसलमानों की ओर अधिक झुक गये।

**मुक्ति दिवस और पृथक मुस्लिम राज्य की मांग**—राजनीतिक कारणो से कांग्रेस ने मन्त्रिपदो से त्याग पत्र दिये थे परन्तु जिन्ना तथा लीग ने इस अवसर का साम्प्रदायिक भावनाये फैलाने और उन्हे उग्र बनाने के लिये प्रयोग किया। इस उद्देश से जिन्ना ने 22 दिसम्बर 1939 को 'मुक्ति दिवस" (Deliverance Day) के रूप मे मनाने की अपील निकाल दी। इस पर गाधीजी ने जिन्ना से अपील की कि वे ऐसा नही करें परन्तु इसका कोई परिणाम न निकला। परिणाम स्वरूप मुसलमानो ने सारे देश मे मुक्ति दिवस बडे धूम धाम और आनन्द के साथ मनाया। सभायें की गयी, प्रस्ताव पास किये गये और कांग्रेस शासन के अत्याचार, उत्पीडन और अन्याय से छुटकारा पाने पर सुख और चैन की गहरी अनुभूति प्रकट की गयी। लीग के सदस्यो ने साम्प्रदायिक भावनाओ का प्रचार तीव्र कर दिया और पृथक मुस्लिम राज्य की मांग दृढ होती गयी। जिन्ना 1938 म ही 'मुस्लिम बहुमत प्रान्तो के सघ और गैर मुस्लिम प्रान्तो के दो पृथक सघो की माग कर ही चुके थे'। रहमत अली और सर अब्दुल लतीफ ने पृथक मुस्लिम राज्य की स्थापना के लिये उग्र प्रचार शुरू कर दिया। रहमत अली तो स्पष्ट कहते थे कि 'हम मुसलमान हैं, हिन्दू नही पाकिस्तानी हैं हिन्दुस्तानी नही, एशिया के निवासी है भारत के नही।[1] मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन म 24 माच 1940 को एक प्रस्ताव पास किया जो लाहौर प्रस्ताव के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रस्ताव मे लीग ने भारत के मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तो को पृथक

---

1 Quoted by Gupta, D C Ibid, P 184

कर एक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य (जिसे पाकिस्तान का नाम दिया गया) की माग की थी। दूसरे शब्दो म, लीग के लाहौर प्रस्ताव मे भारत के विभाजन और पजाब, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त, सिध, बगाल और असम को मिलाकर एक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य की माग की गयी थी। धर्म के आधार पर पृथक मुस्लिम राज्य की माग सवथा न्यायोचित नही थी परन्तु लीग की सकीर्णता, जिन्ना की हठधर्मिता और ब्रिटिश शासको के प्रोत्साहन से यह माग दिन प्रति दिन फलती फूलती गयी।

## अगस्त प्रस्ताव (8 8-1940)
## (August Offer 8-8-1940)

प्रान्ता मे कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो के त्याग पत्र देने से भारत मे सवधानिक सकट उत्पन्न हो गया था। सात प्रान्तो मे (जहा काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने त्याग पत्र दिये गये थे) सेक्शन 93 लागू कर दिया गया था और प्रान्तो का प्रशासन गवनरो के अधीन आ गया था। कांग्रेस स्वतन्त्रता की माग कर रही थी और ब्रिटिश सरकार उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता की माग को स्वीकार करने के लिये तैयार नही थी। अल्पमतो, व्यापारियो और सेवाओ के हिता की आड मे ब्रिटिश सरकार अपने विशेष उत्तरदायित्वो को दोहरा रही थी। कांग्रेस का कथन था कि युद्ध साम्राज्यीय हितो की रक्षा के लिये लडा जा रहा था इसलिये युद्ध प्रयासा मे उसकी सहायता करना सम्भव नही।

कांग्रेस कायकारिणी समिति की एक बठक रामगढ म 20 माच, 1940 को हुई। इसमे एक प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस ने अपनी स्वतन्त्रता की माग को दोहराया। प्रस्ताव मे कहा गया था कि "किसी स्वतन्त्र देश के सविधान का निर्माण करने के लिये सवधानिक सभा ही एक मात्र लोकतन्त्रात्मक उपाय है सवधानिक सभा ही साम्प्रदायिक तथा अन्य कठिनाइया को सुलझाने का एक मात्र उपयुक्त साधन है।" प्रस्ताव म यह भी कहा गया था कि "यदि अल्पसख्यक वर्गो के कुछ अधिकारा के सम्बन्ध मे आपस मे समझौता न हो सका तो पचनिणय (Arbitration) द्वारा समझौते का प्रयास किया जायगा।" प्रस्ताव मे यह भी कहा गया था कि "सवधानिक सभा का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होना चाहिये और यदि कोई अल्पसख्यक वग अपने लिये पृथक निर्वाचन मण्डल बनाना चाहते है तो बना सकते हैं परन्तु सवधानिक सभा मे उनका प्रतिनिधित्व उनकी जनसख्या के आधार पर ही होना चाहिये।" इस प्रस्ताव मे गाधीजी के नेतृत्व और उत्तरदायित्व म सविनय अवज्ञा आन्दोलन को शुरू करने की बात भी कही गयी थी। परन्तु गाधीजी ने 1 जून, 1939 को स्पष्ट कर दिया था कि "हम ब्रिटेन के विनाश म अपनी स्वतन्त्रता की तलाश नही करते।" नेहरूजी ने भी कहा था कि "ब्रिटेन की विपत्ति भारत का सुयोग नही है।'

कांग्रेस कायकारिणी समिति की एक अन्य बैठक दिल्ली मे 3–7 1940 को हुई। इस बैठक म कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा युद्ध सहायता के

को भारत की स्वतन्त्रता और अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के प्रश्न के साथ जोड दिया। दूसरे शब्दों मे, कांग्रेस का कहना था कि वह तन मन धन (Men, Money & Material) से सुरक्षा प्रयासो मे पूर्ण सहयोग देने के लिये तयार है। यदि ब्रिटिश सरकार भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दे और तत्काल ऐसी अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करदे जिसे केन्द्रीय विधान सभा के सभी निर्वाचित सदस्यों का विश्वास प्राप्त हो।

इसी समय यूरोप मे युद्ध की गम्भीर स्थिति से इंग्लण्ड मे राष्ट्रीय सरकार का निर्माण हुआ जिसमे चेम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल ब्रिटिश प्रधान मन्त्री बने और लार्ड जेटलण्ड के स्थान पर एमरी ने भारत सचिव का पद ग्रहण किया। इन दोनो का दृष्टिकोण भारत के प्रति सहानुभूति पूर्ण नही था। चर्चिल ने प्रधान मन्त्री के पद को सम्भालने के कुछ समय बाद ही एक वक्तव्य मे कहा था कि "वह महामयी सम्राट का प्रथम प्रधान मन्त्री इसलिये नही बना था कि वह साम्राज्य का दिवाला निकाल दे। परन्तु युद्ध की गम्भीर परिस्थितियो ने चर्चिल को बाध्य किया कि वह भारतीय नेताओ के साथ विचार विमर्श कर उन्हें पटाने का प्रयत्न करे। अत कांग्रेस के उपर्युक्त प्रस्तावो के उत्तर मे वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने 8 अगस्त, 1940 को एक वक्तव्य दिया जो भारतीय सवैधानिक इतिहास मे "अगस्त प्रस्ताव" के नाम से प्रसिद्ध है। अगस्त प्रस्तावो की मुख्य विशेषतायें निम्न थी —

(i) गवनर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् का विस्तार किया जायगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कुछ प्रतिनिधिक भारतीयो को कार्यकारिणी परिषद मे सम्मिलित करने के लिये उन्हें निमन्त्रण दिये जायेंगे।

(ii) युद्ध प्रयासो मे भारतीय ज्ञान अनुभव को प्राप्त करने के लिये तथा भारतीय जनमत को जानने के लिये एक युद्ध परामर्श परिषद (War Advisory Council) की स्थापना की जायगी। इसके कुल सदस्यों की सख्या 20 होगी तथा इसमे भारतीय रियासतो और भारतीय राष्ट्रीय जीवन के अन्य हितो के प्रतिनिधि भी सम्मिलित होंगे। इसकी बैठकें नियमित रूप से समय समय पर होगी।

(iii) युद्ध के बाद भारत के राष्ट्रीय जीवन के प्रमुख तत्त्वो के प्रतिनिधियों की एक सस्था स्थापित की जायगी जो भारत के भावी सविधान की रूप रेखा निश्चित करेगी।

(iv) भारत के सविधान निर्माण का काय मुख्यत भारतीयो का ही उत्तर दायित्व (जिम्मदारी) होगा।

(v) भावी सवधानिक योजना मे अल्पमत के हितो पर पूरा ध्यान दिया जायगा और भारत की शान्ति तथा कल्याण के अपने उत्तरदायित्व को ब्रिटिश सरकार किसी ऐसी शासन प्रणाली को नहीं सौंप सकेगी

जिसकी सत्ता को भारतीय राष्ट्रीय जीवन के विशाल एव शक्तिशाली तत्व अस्वीकार करते हो। दूसरे शब्दा म, भारत का भावी सविधान भारतीया के पारस्परिक समझौते पर निभर करता है।

(vi) युद्ध काल म, जबकि राष्ट्रमण्डल जीवन मरण के सघप म सलग्न है तो भारत की सवैधानिक समस्याओ के सम्बन्ध म कोई निर्णय नही लिया जा सकता।

(vii) ब्रिटिश सरकार भारत म औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना का वचन देती है। भारत म ब्रिटिश नीति का उद्देश्य "ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल म स्वतन्त्र एव समान साझेदारी' की प्राप्ति है।

(viii) युद्ध काल म ब्रिटिश सरकार भारतीय राजनीतिक दलो म समझौत और युद्ध प्रयासा म सहयोग का स्वागत करगी।

**अगस्त प्रस्तावों का मूल्याकन—महत्व तथा आलोचना**—अगस्त प्रस्तावा का भारतीय सवधानिक इतिहास मे निश्चित महत्त्व है। ये प्रस्ताव भारतीय सवधानिक विकास के सम्बन्ध म ब्रिटिश सरकार द्वारा अब तक की गई घोषणाओ म सबसे आगे बढे हुए थे। इनमे भारत के लिये "औपनिवेशिक स्वराज्य" की स्थापना का वचन दिया गया था, "ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल म स्वतन्त्र और समान साझेदारी का विश्वास दिलाया गया था तथा, और जो सबसे महत्वपूर्ण बात थी, यह स्वीकार किया गया था कि भारतीय सविधान के निर्माण का काय मुख्यत भारतीयो की ही जिम्मदारी थी। प्रो० कूपलैण्ड का मत है कि अगस्त प्रस्ताव "सवधानिक समस्या को सुलझान की दिशा म अत्यन्त महत्वपूर्ण एव सराहनीय प्रयत्न थे।'

परन्तु प्रो० कूपलण्ड का उपयुक्त मत एकतरफा है क्योकि इन प्रस्तावो द्वारा ब्रिटिश सरकार ने काग्रेस और लीग मे स्थायी विभाजन रेखा खीचने की कोशिश की, साम्प्रदायिक समस्या को उभाडने की कोशिश की और सवैधानिक समस्या के स्थायी हल को टालने की कोशिश की। काग्रेस के दृष्टिकोण से य प्रस्ताव इतन निराशापूर्ण और असन्तापजनक थे कि काग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद ने प्रस्तावा पर विचार करन के लिये वायसराय के निमन्त्रण को ठुकरा दिया और वे उससे मिलने नही गये।

अगस्त प्रस्ताव अपूर्ण, निराशापूर्ण एव असन्तोपजनक थे। डा० पट्टाभि सीतारमय्या लिखते है कि "इन प्रस्तावो म बहुत सी ऐसी बातें दोहराई गयी थी जिन्हे छोडा जा सकता था।" काग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता की माग की थी परन्तु य प्रस्ताव केवल "स्वतन्त्र और समान साझेदारी तक सीमित थे" और इन शब्दो (स्वतन्त्र और समान) को भी स्पष्ट नही किया गया था, काग्रेस तत्काल अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की माग कर रही थी परन्तु इनम कार्यकारिणी परिषद् के विस्तार की बात कही गई थी, काग्रेस सभी विभागो पर भारतीया का नियन्त्रण चाहती थी परन्तु इनम सुरक्षा विभाग के हस्तान्तरण की बात तक नही की गयी थी, काग्रेस कायकारिणी परिषद

म भारतीय राजनीतिक दलो के प्रतिनिधियो को, जिन्हे विधान सभा म सभी निर्वाचित सदस्यो का विश्वास प्राप्त हो, लेना चाहती थी परन्तु इनमे इसका कोई विश्वास नही दिलाया गया था, काग्रेस अस्थायी राष्ट्रीय सरकार को विधान सभा के प्रति उत्तरदायी बनाना चाहती थी परन्तु इनमे सदस्यो को 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत गवनर जनरल के अधीन रखने की बात ही कही गई थी। सक्षेप म यदि काग्रेस तत्काल पूर्णतया प्रतिनिध्यात्मक सरकार की स्थापना नही तो कम से कम उसका सार (Substance) तो अवश्य चाहती थी परन्तु इन प्रस्तावो म उसकी भलक तक नही थी।

अमीय चटर्जी (Amiya Chatterji)) ने ठीक लिखा है कि 'विस्तृत कार्यकारिणी परिषद् तो द्वैध प्रणाली भी नही थी प्रस्ताव बलात हस्तक्षेप थे।" इस तरह इन प्रस्तावो म सत्ता हस्तान्तरण करने का लेश मात्र भी विश्वास नही दिलाया गया था, परन्तु युद्ध म भारतीय सहयोग की अपेक्षा की गयी थी।

अगस्त प्रस्तावो मे एक अन्य गम्भीर दोष यह था कि इनमे अल्पमत वालो को, विशेषकर मुस्लिम लीग को, भारतीय सवैधानिक विकास मे बाधा प्रस्तुत करने के लिये प्रोत्साहन दिया गया था। यह कहना कि "ब्रिटिश सरकार अपने उत्तरदायित्वो को किसी एसी शासन प्रणाली को सौप नही सकती जिसकी सत्ता को भारत के राष्ट्रीय जीवन के विशाल एव शक्तिशाली तत्व अस्वीकार करते हो।" स्पष्टतया मुस्लिम लीग को यह विश्वास दिलाना था कि भारत के किसी ऐसी भावी सविधान को उस समय तक स्वीकार नही किया जायगा जब तक कि उस पर उसकी सहमति प्राप्त नही हो जाती। इस तरह इन प्रस्तावो ने भारतीय सवैधानिक विकास म भारत के विभाजन और पाकिस्तान की माग को सुदृढ करने के लिये लीग को स्वर्ण अवसर प्रदान किया था। दूसरे शब्दो म, इन प्रस्तावो ने अल्पमत को वीटो (Veto) का अधिकार देकर बहुमत को उसकी दया के पात्र बनाने की कोशिश की।

मुस्लिम लीग ने अगस्त प्रस्तावो के इस तत्व का स्वागत किया कि उसकी सहमति के बिना किसी भावी सविधान को स्वीकार नही किया जायगा परन्तु फिर भी उसने इन प्रस्तावो को यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि इनमे भारत के विभाजन के सम्बन्ध म कुछ नही कहा गया।

क्योकि भारत के सभी प्रमुख दलो ने अगस्त प्रस्तावो को अस्वीकार कर दिया था इसलिये न तो गवनर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् का विस्तार ही किया गया और न ही युद्ध परामर्श परिषद् की स्थापना की गई।

व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन—ब्रिटिश सरकार ने 'जब काग्रेस की पूर्ण स्वतन्त्रता की माग को अस्वीकार कर दिया, जब उसने इस बात को मानने से भी इन्कार कर दिया कि बिना भारतीयो की सहमति के भारत को युद्ध म घसीटने से भारतीयो की इच्छाओ एव भावनाओ की अवहेलना हुई है और जब गाधीजी की माग करने पर भी, इस बात की स्वतन्त्रता भी नही दी गई कि वे युद्ध के विरुद्ध

प्रचार या भापण दे सकें और युद्ध प्रयासो म सहायता देने से लोगा को मना कर सकें तो गाधीजी ने युद्ध के विरोध मे अपने भावा को व्यक्त करने के लिये सीमित रूप मे व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन को शुरू कर दिया ।

व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन को 17 अक्टूबर, 1940 को पनूर स्थान से शुरू किया गया । यह आन्दोलन जसा कि नाम से ही स्पष्ट है व्यक्तिगत था, सामूहिक नही यह युद्ध का नतिक विरोध था यह प्रतीकात्मक था आघातमक नही । काग्रेस युद्ध काल मे ब्रिटिश कठिनाइयो को बढाना नही चाहती थी और न ही उनसे अनुचित लाभ उठाना चाहती थी । गाधीजी ने तो जून, 1940 म ही कह दिया था कि वे 'ब्रिटिश विनाश पर अपनी स्वतन्त्रता नही चाहते ।" नेहरूजी ने भी कहा था कि "इग्लैंड की कठिनाई भारत का सौभाग्य नही । ' गाधीजी किसी रूप म जन आन्दोलन आरम्भ करने के पक्ष म नही थे । क्योकि यह आन्दोलन सीमित एव व्यक्तिगत था इसलिये गाधीजी ने आचाय विनोबा भावे को प्रथम सत्याग्रही मनोनीत किया । धीरे धीरे यह आन्दोलन राष्ट्रव्यापी बन गया । सभी नेता जेलो मे चले गय और मई 1941 तक हजारो व्यक्ति जेलो म थे ।

**कायकारिणी परिषद् विस्तार तथा राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की स्थापना—** 22 जुलाई 1941 को गवनर जनरल लाड लिनलिथगो ने कायकारिणी परिषद् का विस्तार कर दिया । 13 सदस्यो वाली इस परिषद म भारतीयो की सख्या 8 थी, जिसम 4 हिन्दू 3 मुसलमान और 1 पारसी था । केवल सख्या की दृष्टि स यह कहा जा सकता था कि कायकारिणी परिषद् म भारतीयो का बहुमत है और सरकार बहुमत की इच्छा के अनुसार प्रशासन चला रही है परन्तु वस्तुत यह परिषद किसी रूप म राष्ट्रीय सरकार नही कही जा सकती क्योकि भारत के प्रमुख दलो ने काय-कारिणी परिषद् म सम्मिलित होने से इनकार कर दिया था इसलिए जिन व्यक्तियो को इसम नियुक्त किया गया वे भारतीय राजनीतिक दलो का प्रतिनिधित्व नही करत थ । उन्हे केवल गवनर जनरल द्वारा नामाकित किया गया था, व सिवाय अपन आपक और किसी का प्रतिनिधित्व नही करत थ, व विधान सभा क प्रति उत्तरदायी नही थे वे तो केवल गवनर जनरल के प्रति ही उत्तरदायी थे । इस तरह गवनर जनरल की विस्तृत कायकारिणी परिषद् राष्ट्रीय परिषद नही थी ।

राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की स्थापना भी 22 जुलाई 1941 को की गई । इसके सदस्यो की सख्या 30 रखी गई । इसके सदस्य भी गवनर जनरल द्वारा नामाकित किय गय थ । इसम प्रान्तो और दशी रियासतो के प्रतिनिधियो को सम्मि-लित किया गया था । उदाहरणतया पजाब, बगाल और असम क मुख्य मन्त्रियो (इन प्रान्तो म लीग का बहुमत होने से यहा मन्त्रिमण्डलो न त्याग पत्र नही दिय थ) क्रमश सर सिकन्दर हयातखा, फजलुल हक और सर मुहम्मद सादुल्ला को इस राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद का सदस्य बनाया गया परन्तु मुस्लिम लीग के कहने पर इन्होन

राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् से त्याग पत्र दे दिये। वह परिषद भी राष्ट्रीय सुरक्षा परिष[द] नहीं कही जा सकती क्योंकि इसमें भी भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों ने भाग नहीं लिया।

**चर्चिल की निराशापूर्ण घोषणा**—14 अगस्त, 1941 को अटलांटिक चार्टर द्वारा मित्र राष्ट्रों ने (ब्रिटेन और अमेरिका) पहली बार अपने युद्ध उद्देश्यों को प्रकाशित किया। इस चार्टर में कहा गया था कि मित्र राष्ट्र किसी प्रकार का प्रादेशिक विस्तार नहीं चाहते तथा वे सभी लोगों द्वारा अपनी शासन पद्धति के चुनने के अधिकार का सम्मान करते हैं। दूसरे शब्दों में, इस चार्टर द्वारा मित्र राष्ट्रों ने राष्ट्रों के आत्म निर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। पूछे जाने पर कि क्या अटलांटिक चार्टर भारत पर लागू होता है, चर्चिल ने 9 सितम्बर, 1941 को एक वक्तव्य में कहा कि 'यह चार्टर यूरोप में नष्ट हुए राष्ट्रों पर ही लागू होता है। जो देश ब्रिटिश क्राउन के प्रति भक्ति रखते हैं उनकी समस्या बिल्कुल पृथक है क्योंकि वहां प्रश्न स्वशासित संस्थाओं के क्रमिक विकास का है।" मई 1941 से, जबसे चर्चिल ब्रिटेन की मिली जुली सरकार के प्रधान मन्त्री बने थे तब से उन्होंने स्प[ष्ट] रूप से कहना शुरू कर दिया था कि वे "साम्राज्य के प्रधान मन्त्री इसलिये नहीं बने कि उसका दिवाला निकाल दें।"

चर्चिल के उपर्युक्त वक्तव्य से न केवल कांग्रेस में निराशा उत्पन्न हुई बल्कि राष्ट्र में भी असंतोष बढ़ा। इस वक्तव्य से ब्रिटिश अनुदारवादी दल के भावी और विचारों को भी स्पष्ट कर दिया। कम से कम इतना तो स्पष्ट हो गया कि युद्ध काल में ब्रिटिश सरकार भारत की स्वतन्त्रता की मांग को स्वीकार नहीं करेगी।

**सत्याग्रहियों की रिहाई तथा आन्दोलन को स्थगित करना**—सन् 1940 ई. में यूरोप और एशिया में मित्र राष्ट्रों की युद्ध में दुर्दशा हो रही थी। यूरोप में पोलैण्ड, नार्वे, डेन्मार्क, हालैण्ड, बेल्जियम तथा फ्रांस का पतन हो गया था। ब्रिटेन पर युद्ध का दबाव अत्यधिक बढ़ रहा था। 7 दिसम्बर, 1941 को जापानी जहाजों ने पर्ल हार्बर पर गम्भीर बमबारी की थी। एशिया में जापान ने फिलिपाइन द्वीप समूह, हिन्द चीन, मलाया, जापान के अधिकार में आ गये थे। बर्मा पर जापानी आक्रमण की सम्भावना थी। इस तरह युद्ध भारत के दरवाजे पर खड़खड़ाने लगा था। इससे न केवल ब्रिटिश सरकार ही चिन्तित हुई बल्कि कांग्रेस भी भारत की सुरक्षा के बारे में विचार करने लगी। भारत की संविधानिक समस्या का समाधान करने के लिए ब्रिटेन पर अमेरिका का दबाव बढ़ रहा था। ब्रिटिश सरकार ने भी भारत के सहयोग की आवश्यकता को अनुभव करते हुए तथा संवैधानिक गतिरोध को समाप्त करने और सद्भावना के वातावरण को उत्पन्न करने के लिये, सत्याग्रहियों को, विशेषकर आजाद, नेहरू जैसे प्रमुख कांग्रेसी नेताओं को रिहा कर दिया। गांधीजी नेताओं की इस रिहाई पर प्रसन्न नहीं थे क्योंकि वे व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित करना नहीं चाहते थे। परन्तु दिसम्बर, 1941 में

बारदौली अधिवेशन मे (जो 23 30 दिसम्बर 1941 तक बारदौली मे हुआ)। व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर दिया।

फरवरी, 1942 म चीन के राष्ट्रपति च्याग काई शेक भारत की यात्रा पर आये। जहा उन्होने भारतीयो से युद्ध प्रयासो मे सहयोग के लिए अनुरोध किया वहा उन्होने ब्रिटिश सरकार से भी अपील की कि वह भारत की स्वतन्त्रता की माग को स्वीकार करले।

## क्रिप्स प्रस्ताव मार्च 1942
## (Cripps Proposals—March, 1942)

**क्रिप्स प्रस्ताव क्यो ? (Why Cripps Proposals ?)**—जब तक अमेरिका द्वितीय महायुद्ध म उलझा हुआ नही था तब तक अमरीकी प्रशासन और जनता इस बात से विशेष रूप से चिन्तित नही थी कि ब्रिटेन भारत की सवधानिक समस्या का हल किस प्रकार से करता है। परन्तु पल हार्बर पर अमरीकी नौ सेना की भीषण क्षति, युद्ध की बिगडती हुई स्थिति और पूव म जापान की आश्चयजनक सफलताओ ने उन्हे भी अनुभव करा दिया कि 'युद्ध प्रयासो मे भारत के स्वच्छिन्न सहयोग की आवश्यकता है।' रगून के जापानियो के कब्जे म आने के दो दिन बाद अर्थात 9 माच, 1942 को भारत की समस्या के समाधान के सम्बन्ध म रूजवल्ट ने चर्चिल को भारतीय राजनीतिक गतिरोध को समाप्त करने के लिए अनुरोध किया। रूजवेल्ट न यह भी कहा था कि "अटलाटिक चार्टर सारे विश्व मे समान रूप से लागू होना चाहिये।'

अमरीका क अतिरिक्त चीन क राष्ट्रपति च्याग काई शेक और आस्ट्रेलिया के ... मन्त्री इवाट (Evatt) ने भारतीय समस्या के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए ... शीघ्र एव तत्काल समाधान के लिए आग्रह किया। फरवरी, 1942 की अपनी भारत यात्रा क दौरान श्री च्याग ने ब्रिटिश सरकार से यह अपील भी की "यदि भारतीय विचु (गम्भीर समस्या) का समाधान शीघ्र एव तत्काल नही किया गया तो खतरा दिन प्रतिदिन बढता जायगा।" ब्रिटिश ससद के अनक सदस्या ने भारतीय समस्या के सतोषजनक समाधान के लिये अनुरोध किया।

भारत म काग्रेस का दृष्टिकोण स्पष्ट, दृढ एव निश्चित था। वह आश्वासनो से नही वास्तविकताओ से सम्बन्धित थी। वह धुरी राष्ट्रो (अर्थात् फासीवाद नाजीवाद और सनिकवाद) क पक्ष म नहीं थी और न ही वह उनकी सहायता करना चाहती थी और न ही उनस सहायता लेना चाहती थी। वह पूण स्वतन्त्रता चाहती थी और भारतीय स्वाधीनता की माग को ब्रिटिश शासको स स्वीकार कराना चाहती थी। साथ म वह ब्रिटिश शासको के भारत विरोधी दृष्टिकोण का विरोध भी करना चाहती थी। इसलिये काग्रेस न सामूहिक सत्याग्रह क स्थान पर व्यक्तिगत सत्याग्रह का सचालन किया और 'युद्ध सहायता का स्वतन्त्रता और लाकतन्त्र के साथ जोड

दिया। मुस्लिम लीग ने युद्ध सहायता के प्रश्न को "पाकिस्तान की मांग" और देश के विभाजन के साथ जोड़ दिया।

जापान दक्षिणी पूर्वी एशिया में बड़ी तेजी से बढ़ रहा था। सिंगापुर, मलय इण्डोनेशिया अण्डमान, निकोबार द्वीप और रंगून पर उसका अधिकार हो गया था। जिन भारतीय सेनाओं ने जापानी सेनाओं के आगे आत्म समर्पण किया था वे आई एन ए में भरती होकर भारतीय मुक्ति के लिये कटिबद्ध हो चुकी थी। अब भारत पर जापानी आक्रमण की शंकाएं बढ़ गयी थी। इस तरह जापान की दक्षिणी पूर्व एशिया में आश्चर्यजनक सफलता युद्ध की बिगड़ती हुई स्थिति, मित्र राष्ट्रों के दबाव और भारत पर जापानी आक्रमण की शंकाओं से ब्रिटिश शासकों ने भारतीय राजनीतिक और संवैधानिक गतिरोध को दूर करने का प्रयास किया। इस उद्देश्य से तथा युद्ध प्रयासों में भारतीय राजनीतिक दलों का सहयोग प्राप्त करने के लिये 11 मार्च, 1942 को चर्चिल ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स के मिशन की घोषणा की।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स समाजवादी नेता थे और वे अपने उदार विचारों के कारण प्रसिद्ध भी थे। इसके अतिरिक्त वे हाल ही में रूस के साथ संधि करने के दुष्कर कार्य में सफल भी हुए थे। क्रिप्स प्रयासों से ही रूस युद्ध में शामिल हुआ था। महात्मा गांधी और नेहरू के वे व्यक्तिगत मित्रों में भी थे। इसलिए उनका भारत में स्वागत होना स्वाभाविक था। परन्तु जब उन्होंने प्रस्तावों को प्रस्तुत किया तो गांधीजी ने कहा कि यदि आपके प्रस्ताव यही थे तो आपने आने का कष्ट ही क्यों किया? यदि भारत के सम्बन्ध में आपकी यही योजना है तो मेरा आपको यही परामर्श है कि आप अगले हवाई जहाज से इंग्लैण्ड वापस चले जायें।

प्रस्ताव—सर क्रिप्स 22 मार्च 1942 को एक मसविदे(draft declaration) के साथ दिल्ली पहुंचे। आते ही उन्होंने सभी राजनीतिक दलों (कांग्रेस लीग, हिन्दू महासभा राजाओं के प्रतिनिधियों राष्ट्रवादी मुसलमानों, उदारवादियों तथा अन्य राजनीतिक दलों) से विचार विमर्श करना शुरू कर दिया। ब्रिटिश सरकार की ओर से 30 मार्च 1942 को जिन प्रस्तावों को भारतीयों के समक्ष उन्होंने प्रस्तुत किया उन्हें क्रिप्स प्रस्ताव कहते हैं।

क्रिप्स प्रस्ताव दो प्रकार के थे। एक वर्तमान स्थिति से सम्बन्धित तथा दूसरे भविष्य से सम्बन्धित थे। वर्तमान से सम्बन्धित प्रस्तावों में युद्ध के दौरान भारतीयों के रचनात्मक सहयोग और सक्रिय भाग की बात कही गई थी और भविष्य के प्रस्तावों में संवैधानिक समस्या की बात कही गई थी जिसे युद्ध के बाद कार्यान्वित किया जाना था।

(अ) वर्तमान से सम्बन्धित प्रस्ताव—वर्तमान से सम्बन्धित प्रस्ताव निम्न लिखित थे —

(1) देश की परिषद् [illegible] ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल और संयुक्त राष्ट्र संघ में भारतीय नेताओं को प्रमुख वर्गों को [illegible] सक्रिय [illegible] प्रभावपूर्ण ढंग से सक्रिय भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जायगा।

(ii) विश्व युद्ध प्रयत्नो के रूप म, केवल सुरक्षा विभाग अ ग्रेजो के पास रहेगा । दूसरे शब्दा म, सक्ट काल म या जब तक नवीन सविधान बन कर कार्यान्वित नही कर दिया जाता तब तक भारत की रक्षा, नियन्त्रण और निर्देशन का उत्तरदायित्व अ ग्रेजो के हाथो मे रहेगा ।

(iii) अ य सभी विभागा को भारतीया को सौप दिया जायगा ।

(iv) कायकारिणी परिषद् के सदस्य गवर्नर जनरल के केवल नामाकित सदस्य नही होगे बल्कि उन्हे सभी राजनीतिक दलो के परामश पर चुना जायगा ।

(ब) भविष्य से सम्बन्धित प्रस्ताव—भविष्य से सम्बन्धित प्रस्ताव निम्न लिखित थे —

(i) स्वशासित अधिराज्य के रूप मे भारतीय सघ की स्थापना की जायगी । भारत की स्थिति अ य अधिराज्यो के समान होगी । उसे आ तरिक और बाह्य स्वत त्रता होगी तथा उस ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से सम्ब ध विच्छेद करन का अधिकार होगा ।

(ii) युद्ध के तत्काल बाद सविधान बनाने के उद्देश्य से एक निर्वाचित सविधानिक सभा का निर्माण किया जायगा ।

(iii) सविधान निर्माण के काय म ब्रिटिश प्रा त और भारतीय राज्य (दशी रियासतें) सहभागी होगी अथति सविधान निर्माण म दोनो के प्रतिनिधि भाग लेंगे ।

(iv) सवधानिक सभा के निर्माण स पूव प्रा तीय विधान मण्डलो के लिये निर्वाचन कराये जायेंग । प्रा तीय विधान मण्डल सवधानिक सभा के लिये निर्वाचन मण्डल का काय करेंगे ।

(v) सवधानिक सभा का निर्वाचन प्रा तीय विधान मण्डलो क निम्न द्वारा अनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के आधार पर जायगा । सवधानिक सभा के सदस्या की सख्या निवाचन मण्डल क प्रतिशत भाग के बराबर होगा । दशी रियासतो के प्रतिनिधिया नरशा द्वारा जन सख्या के अनुपात म नियुक्त किया जायगा । ब्रिटि प्रा तो और दशी रियासतो के प्रतिनिधिया की शक्तिया समान होगी

(vi) सवधानिक सभा द्वारा बनाय गय सविधान को ब्रिटिश सरकार स्वीकार करगी और निम्न दो शर्तों क आधार पर उसे कार्यान्वित करगी ।

(क) यदि कोई प्रा त नवीन सविधान को स्वीकार नही करता तो उस वतमान सवैधानिक स्थिति बनाय रखन का अधिकार होगा । यदि किसी प्रा त की विधान सभा 60% क बहुमत स सघ म सम्मिलित होन का निश्चय न कर तो उसक सघ प्रवेश का अन्तिम

निर्णय जनमत सग्रह द्वारा किया जायगा। सघ से पृथक रहने वाले प्रान्त को अपना पृथक सविधान बनाने का अधिकार होगा जिसका स्थान और महत्व भारत के सविधान की तरह होगा। देशी रियासतो को भी इस बात की स्वतन्त्रता होगी कि वे उस नवीन सविधान को स्वीकार करे या कि अस्वीकार करें।

(ख) सवधानिक सभा और ब्रिटिश सरकार के मध्य एक सन्धि की जायगी जिसमें उन सभी विषयो का उल्लेख किया जायगा, जो सत्ता हस्तान्तरण से उत्पन्न होगे। इस सन्धि मे जातीय और धार्मिक अल्पसख्यको के हितो का सुरक्षा की व्यवस्था भी की जायगी।

(vii) क्रिप्स प्रस्तावो के मूलभूत आधारो मे कोई परिवतन नही किया जा सकता था। उन्हे पूर्णतया स्वीकार या अस्वीकार करने के लिये कहा गया था।

**क्रिप्स प्रस्ताव—आगे बढे हुए थे (Cripps Propasals—an advance)**—भारतीय राजनीतिक और सवधानिक गतिरोध को दूर करने के लिये ब्रिटिश सरकार द्वारा अब तक किये गये प्रयासो मे क्रिप्स प्रस्ताव काफी आगे बढे हुए थे। ये कुछ सुनिश्चित और कुछ स्पष्ट भी थे। इनमें भारत के प्रमुख दलो और जातियो को प्रसन्न करने का प्रयास भी किया गया था। काग्रेस को प्रसन्न करने के लिये, इन प्रस्तावो मे अधिराज्य की स्थिति को स्वीकार किया गया था, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से पृथक होने के भारतीयो के अधिकार को स्वीकार किया गया था तथा सविधान का उत्तरदायित्व स्वय भारतीयो को सौंपा गया था। विचार विमर्श के प्रारम्भिक दौर में प्रस्तावो के उद्देश्यो को स्पष्ट करते हुये सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने कहा था कि "इनका उद्देश्य भारत के लिए पूर्ण और निरपेक्ष आत्मनिर्णय और स्वशासन है।" ये प्रस्ताव इस दृष्टि से भी आगे बढे हुये थे कि सविधान निर्माण का उत्तरदायित्व स्वय भारतीयो का था और ब्रिटिश सरकार उस सविधान को कार्यान्वित करने के लिए बाध्य थी जिस पर भारतीय सहमत हो।

इन प्रस्तावो मे मुस्लिम लीग को प्रसन्न करने का प्रयास भी किया गया था। इन प्रस्तावो म यह सुझाव कि प्रान्त नवीन सविधान को स्वीकार करने के लिये स्वतन्त्र होंगे इस बात का प्रतीक था कि इनमे पाकिस्तान की माग को अप्रत्यक्ष रूप मे स्वीकार किया गया था। इतना ही नहीं, इन प्रस्तावो म लीग को यह आश्वासन भी दिया गया कि यदि वह पाकिस्तान की माग पर दृढ रही तो वह अपने उद्देश्य म सफल हो सकती है।

**क्रिप्स प्रस्तावो की आलोचना या अस्वीकृति**—क्रिप्स प्रस्ताव वास्तविकता से बहुत दूर थे। ये "जादूगर की पिटारी मात्र ही थे जो दिखावटी एव चमकीले थे परन्तु वस्तुत खोखले और भ्रमपूर्ण थे। ये केवल 'तमाशा' मात्र थे जिनका उद्देश्य भारत

तथा विश्व की आखो मे धूल झोकना था। ये ईमानदारी रहित प्रचार हथकडे थे जो अन्तर्राष्ट्रीय मित्रो को शान्त कर यह प्रदर्शित करना चाहते थे कि भारत की समस्या इतनी जटिल है कि इसका समाधान युद्ध काल मे नही हो सकता। नेहरूजी ने अपने मित्र क्रिप्स को ठीक ही "शैतान के वकील" की सज्ञा दी।

भारत के सभी राजनीतिक दलो ने क्रिप्स प्रस्तावो को अस्वीकार कर दिया यद्यपि प्रत्येक ने अपनी अस्वीकृति के भिन्न भिन्न कारण प्रस्तुत किये। काग्रेस ने इन्हे इसलिये अस्वीकार किया था कि इनमे प्रतिक्रियावादी तत्वो को प्रोत्साहन दिया गया था। ब्रिटिश शासक भारतीयो को वास्तविक सत्ता प्रदान करने के इच्छुक नही थे। वे न तो गवर्नर जनरल को सवधानिक अध्यक्ष बनाने के इच्छुक थे और न ही कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाना चाहते थे। काग्रेस ये तीनो बातें चाहती थी। सक्षेप मे, काग्रेस मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार की स्थापना चाहती थी परन्तु ब्रिटिश शासक इसे देने के लिए तैयार नही थे। 'मुस्लिम लीग' ने क्रिप्स प्रस्तावो को इसलिये अस्वीकार कर दिया कि इनमे पाकिस्तान की माग को स्पष्टतया स्वीकार नही किया गया था तथा उसे भी दूर की सम्भावना मात्र बना दिया गया था।

सिक्खो ने क्रिप्स प्रस्तावो को इसलिये अस्वीकार कर दिया कि वे अपनी जन्म भूमि पजाब को महादेश से पृथक करने के इच्छुक नही थे। उनका यह विश्वास था कि पाकिस्तान की अप्रत्यक्ष स्वीकृति सिक्ख सम्प्रदाय के साथ विश्वासघात है। हिन्दू महासभा ने क्रिप्स प्रस्तावो को इसलिये अस्वीकार कर दिया कि इनमे "देश को टुकडो मे बाटने (Balkanization of the Country) की चेष्टा की गयी थी। सर तेज बहादुर सप्रू और डा जयकर जसे उदारवादियो तक ने इन प्रस्तावो को 'आत्म निर्णय का उपहास' कह कर अस्वीकार कर दिया। अनुसूचित जाति के लोग भी इन प्रस्तावो से असन्तुष्ट थे। उनका कहना था कि इन प्रस्तावो के स्वीकार कर लिये जाने पर उन्हे सवर्ण हिन्दू शासन' के अधीन रहना पडेगा। राजनीतिक दलो मे केवल रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी (Radical Democratic Party) ही ऐसी पार्टी थी जिसने क्रिप्स प्रस्तावो को स्वीकार किया परन्तु इस दल का महत्व भारत मे कुछ नही था।

क्रिप्स प्रस्तावो ने भारत के प्रत्येक वर्ग, जाति और दल को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया और यही कारण है कि ये किसी को भी प्रसन्न करने मे असफल रहे। डा० पट्टाभि सीतारमय्या ने ठीक लिखा है कि "क्रिप्स योजना मे भिन्न भिन्न प्रकार के स्वाद वाले लोगो को प्रसन्न करने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की रुचिकर बाते थीं। काग्रेस को प्रसन्न करने के लिए इसमे पूर्ण अधिराज्य, सवैधानिक सभा और ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से पृथक होने के तत्व विद्यमान थे मुस्लिम लीग को प्रसन्न करने के लिए इसमे सबसे बडी सन्तोष की बात यह थी कि प्रत्येक प्रान्त को सघ मे सम्मिलित होने या न होने का अधिकार था। भारतीय नरेशो को सघ मे सम्मिलित

होंगे या उनसे पृथक रहने का केवल अधिकार ही नहीं दिया गया ... संविधान सभा म प्रतिनिधि नामांकित करने का उन्हें एक ... गया था।"

क्रिप्स प्रस्तावो के अस्वीकृत (असफल) होने के मूल कारण निम्न

1 प्रस्ताव भविष्य से सम्बन्धित थे वर्तमान से नहीं—क्रिप्स ... निराशाजनक, अनिश्चित और भविष्य के गर्भ म डूबे हुए थे। ... कोई सम्बन्ध नहीं था। इनमे न तो सत्ता हस्तान्तरण का समय निश्चित ... था और न ही इनमे उत्तरदायी या राष्ट्रीय सरकार की व्यवस्था ही ... जहा कांग्रेस प्रशासन मे तत्काल परिवर्तन की माग कर रही थी वहां क्रि... भविष्य का महत्व समझा रहे थे।

गांधीजी ने भी प्रस्तावो को "भविष्य की तिथि मे भुनने वाले चैक (post dated cheque) की सज्ञा दी जिसमे एक अन्य आलोचक ने 'दिवालिये ... (on a failing bank) के शब्द और जोड दिये।

2 प्रतिक्रियावादी तत्वो को बढ़ावा—कांग्रेस कार्यकारिणी ... भारतीयो के आत्म निर्णय के सिद्धात को स्वीकार करती थी वहा उसे ... विश्वास था कि उससे सलग्न धाराएं और बाधाएं ऐसी हैं कि वास्तविक ... केवल दिखावा या धोखा मात्र बन कर रह सकती है। कांग्रेस इस बात को ... स्वीकार नही कर सकती थी कि सवैधानिक सभा मे देशी रियासतो के प्रति... को वहां के नरेश नामाकित करें। इन प्रस्तावो मे देशी रियासतो के प्रतिनि... निर्वाचन की कोई व्यवस्था नही थी। यह न केवल देशी रियासतो की 9... जनता की उपेक्षा थी बल्कि उसे "शासको के हाथो की व्यापारिक वस्तु बना... प्रजातान्त्रिक और स्वशासित सस्थाओ के विपरीत था। इतना ही नही, ... तथा प्रतिक्रियावादी तत्व मिलकर प्रगतिशील तत्वो के विकास मे बाधा प्रस्तुत ... सकते थे।

3 विघटनकारी तत्वों को बढ़ावा—क्रिप्स प्रस्ताव भारतीय अखण्डता ... आधारित नही थे बल्कि उनमे उसके विभाजन के तत्वो को पुष्ट एव दृढ़ ... प्रयास किया गया था। प्रस्तावो मे इस सिद्धात को सम्मिलित किया गया था कि प्रान्त और देशी रियासतें भारत सघ म सम्मिलित होने के लिए स्वतन्त्र होंगी। इसका अर्थ यह था कि प्रान्त या राज्य सघ से पृथक रह सकते थे और भारत के भिन्न भिन्न टुकडे कर सकते थे। यह स्पष्टतया "भारतीय एकता की धारणा पर घातक प्रहार था।" इसमे ही साम्प्रदायिक भावनाओ, साम्प्रदायिक दंगो और उपद्रवो के बीज विद्यमान थे। इसमे ही मुस्लिम लीग को प्रोत्साहन दिया गया था कि यदि वे अपनी माग पर दृढ़ रहेंगे तो उन्हें अपने उद्देश्यो म सफलता मिल सकती है। प० नेहरू ने ठीक लिखा है कि "राज्य और प्रान्त सविधान निर्माण म भाग लेंगे, उसे प्रभावित भी करेंगे, परन्तु स्वय वे उससे बाहर रह सकते थे एक ...

प्रगतिशील एव एकीकृत राष्ट्रीय राज्य के निर्माण के प्रयास को, भिन्न भिन्न प्रतिक्रियावादी तत्व इकट्ठे होकर, विफल कर सकते थे।"

क्रिप्स प्रस्तावो मे यह आश्वासन नही दिया गया था कि सविधान निर्माण मे प्रान्त या राज्य प्रतिगामी तत्वो के रूप मे काय नही करेंगे, वे भारतीय अलस्टर नही बनेंगे। वस्तुत स्थिति यही थी कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी इन्ही "गढढा" मे अपने "अडडे" जमाये रखना चाहते थे और जब तक वे यहा थे भारत को पूण स्वतन्त्रता प्राप्त होना कठिन था।

**4 वास्तविकता सत्ता ब्रिटिश हाथों मे थी**—काग्रेस द्वारा क्रिप्स प्रस्तावना को स्वीकार न करने का मुख्य कारण सुरक्षा विभाग को ब्रिटिश शासन के अधीन रखना था। इसका अथ यह था कि ब्रिटिश शासको की दृष्टि मे भारतीय अपने देश की सुरक्षा करने मे योग्य नही थे। काग्रेस अपने आपको योग्य समझती थी और एक जुट होकर सकट का सामना करने के लिए तयार थी। काग्रेस का कहना था कि सकट मे सुरक्षा एक ऐसा विषय है जिसका प्रभाव सवत्र जीवन पर पडता है। सुरक्षा विभाग को अपने अधीन रखकर ब्रिटिश शासक उत्तरदायित्व का गला घोटना चाहते है।

**5 गवनर जनरल की स्थिति सवैधानिक अध्यक्ष की नहीं थी**—क्रिप्स प्रस्तावा के अन्तगत जनरल की स्थिति सवैधानिक अध्यक्ष की नही थी। काग्रेस इस बात पर दृढ थी कि गवनर जनरल एक सवैधानक अध्यक्ष के रूप म काय करे और कायपालिका मन्त्रिमण्डल के रूप मे काय करें। परन्तु ब्रिटिश शासक गवनर जनरल के हाथो मे निषेधाधिकार (Veto) की शक्ति रखना चाहते थे। काग्रेस इस बात पर दृढ रही कि कायपालिका "एक स्वत त्र सरकार के रूप मे" काय करे और क्रिप्स ऐसा आश्वासन देने मे असमथ थे। अत प्रस्ताव असफल रहे।

**6 क्रिप्स का बहुरूपिया स्वरूप**—क्रिप्स और भारतीय नेताओ म लगभग 20 दिन तक वार्तालाप होती रही। परन्तु इतन अल्प समय मे क्रिप्स के दो रूप सामने आये जिससे अग्रेजो के नेक इरादो पर शका होना स्वाभाविक था। वार्तालाप के प्रथम चरण मे (29 माच, 1942) क्रिप्स ने भारतीय नेताओ को 'पूण और निरपेक्ष आत्म निणय तथा स्वशासन' का आश्वासन दिया था परन्तु वार्तालाप के दूसरे चरण म (1 अप्रेल, 1943) उसन मौलाना आजाद से कहा कि "कानून मे परिवतन किये बिना वायसराय की वतमान स्थिति म परिवतन नही किया जा सकता। इस वाक्य से स्पष्ट था कि कायापलिका को 'निणय की पूर्ण एव निर्बाध स्वतन्त्रता प्रदान नही की गयी थी। यह समझ नही आता कि एक बार पूण निरपेक्ष आत्म निणय, स्वशासन और मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार का आश्वासन देकर 'कानून मे परिवतन" और कायकारिणी परिषद" की बात करना कहा तक न्यायोचित था। क्रिप्स ने अपने पूववर्ती विश्वासो और स्पष्टीकरण को सम्भवतया इसलिये बदला था कि चर्चिल ने उसे चेतावनी दे दी थी कि "यदि वह वातालाप मे बहुत दूर चला गया

होने या उससे पृथक रहने का केवल अधिकार ही नहीं दिया गया था बल्कि सवैधानिक सभा मे प्रतिनिधि नामांकित करने का उन्हें एक मात्र अधिकार दिया गया था।"

क्रिप्स प्रस्तावो के अस्वीकृत (असफल) होने के मूल कारण निम्न थे—

**1 प्रस्ताव भविष्य से सम्बन्धित थे वर्तमान से नहीं**—क्रिप्स प्रस्ताव निराशाजनक, अनिश्चित और भविष्य के गर्भ मे डूबे हुए थे। तत्काल से उनका कोई सम्बन्ध नही था। इनमें न तो सत्ता हस्तान्तरण का समय निश्चित किया गया था और न ही इनमे उत्तरदायी या राष्ट्रीय सरकार की व्यवस्था ही की गयी थी। जहा काग्रेस प्रशासन मे तत्काल परिवर्तन की माग कर रही थी वहाँ क्रिप्स प्रस्ताव भविष्य का महत्व समझा रहे थे।

गाधीजी ने भी प्रस्तावो को "भविष्य की तिथि मे भुनने वाले चक" (a post-dated cheque) की सज्ञा दी जिसमे एक अन्य आलोचक ने "दिवालिये बैंक" (on a failing bank) के शब्द और जोड दिये।

**2 प्रतिक्रियावादी तत्वो को बढ़ावा**—काग्रेस कार्यकारिणी समिति जहाँ भारतीयो के आत्म निर्णय के सिद्धात को स्वीकार करती थी वहा उसका यह विश्वास था कि उससे सलग्न धाराएँ और बाधाएँ ऐसी हैं कि वास्तविक स्वतन्त्रता केवल दिखावा या धोखा मात्र बन कर रह सकती है। काग्रेस इस बात को स्वीकार नहीं कर सकती थी कि सवैधानिक सभा मे देशी रियासतो के प्रतिनिधि को वहाँ के नरेश नामांकित करें। इन प्रस्तावो मे देशी रियासतो के प्रतिनिधियों के निर्वाचन की कोई व्यवस्था नही थी। यह न केवल देशी रियासतो की 9 करोड़ जनता की उपेक्षा थी बल्कि उसे "शासको के हाथो की व्यापारिक वस्तु बना देने" प्रजातान्त्रिक और स्वशासित सस्थाओ के विपरीत था। इतना ही नही, अनुदार तथा प्रतिक्रियावादी तत्व मिलकर प्रगतिशील तत्वो के विकास मे बाधा प्रस्तुत कर सकते थे।

**3 विघटनकारी तत्वों को बढ़ावा**—क्रिप्स प्रस्ताव भारतीय एकता पर आधारित नहीं थे बल्कि उनमें उसके विभाजन के [illegible] को पुष्ट तथा दृढ़ बनाने का प्रयास किया गया था। प्रस्तावो मे इस सिद्धान्त को सम्मिलित किया गया था कि प्रान्त और देशी रियासतें भारत सघ मे सम्मिलित होने के लिए स्वतन्त्र हैं, दूसरा पक्ष यह था कि प्रान्त या राज्य सघ से पृथक रह सकते थे और [illegible] भिन्न भिन्न टुकड़े कर सकते थे। यह व्यवस्था [illegible] एकता पर [illegible] प्रहार था। इसमे ही साम्प्रदायिक भावनाओ [illegible] के बीज विद्यमान थे। इससे ही मुस्लिम लीग को प्रोत्साहन मिला [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] कि "राज्य और प्रान्त सविधान निर्माण [illegible] [illegible] [illegible]

प्रगतिशील एव एकीकृत राष्ट्रीय राज्य के निर्माण के प्रयास को, भिन्न भिन्न प्रतिक्रियावादी तत्व इकट्ठे होकर, विफल कर सकते थे।"

क्रिप्स प्रस्तावो मे यह आश्वासन नही दिया गया था कि सविधान निर्माण मे प्रात या राज्य प्रतिगामी तत्वा के रूप मे काय नही करेंगे, वे भारतीय अल्सटर नही बनेंगे। वस्तुत स्थिति यही थी कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी इन्ही "गढढो" मे अपने "अड्डे" जमाये रखना चाहते थे और जब तक वे यहा थे भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होना कठिन था।

**4 वास्तविकता सत्ता ब्रिटिश हाथो मे थी**—काग्रेस द्वारा क्रिप्स प्रस्तावना को स्वीकार न करने का मुख्य कारण सुरक्षा विभाग को ब्रिटिश शासन के अधीन रखना था। इसका अथ यह था कि ब्रिटिश शासको की दृष्टि मे भारतीय अपने देश की सुरक्षा करने मे योग्य नही थे। काग्रेस अपने आपको योग्य समझती थी और एक जुट होकर सकट का सामना करने के लिए तयार थी। काग्रेस का कहना था कि सकट मे सुरक्षा एक ऐसा विषय है जिसका प्रभाव सवत्र जीवन पर पडता है। सुरक्षा विभाग को अपने अधीन रखकर ब्रिटिश शासक उत्तरदायित्व का गला घोटना चाहते हैं।

**5 गवर्नर जनरल की स्थिति सवधानिक अध्यक्ष की नहीं थी**—क्रिप्स प्रस्तावा के अ तगत जनरल की स्थिति सवैधानिक अध्यक्ष की नही थी। काग्रेस इस बात पर दृढ थी कि गवनर जनरल एक सवधानक अध्यक्ष के रूप म काय करे और कायपालिका म न्त्रिमण्डल के रूप मे काय करें। परन्तु ब्रिटिश शासक गवनर जनरल के हाथो मे निषेधाधिकार (Veto) की शक्ति रखना चाहते थे। काग्रेस इस बात पर दृढ रही कि कायपालिका "एक स्वतन्त्र सरकार के रूप में" काय करे और क्रिप्स ऐसा आश्वासन देने म असमथ थे। अत प्रस्ताव असफल रहे।

**6 क्रिप्स का बहुरूपिया स्वरूप**—क्रिप्स और भारतीय नेताओ मे लगभग 20 दिन तक वार्तालाप होती रही। परन्तु इतने अल्प समय मे क्रिप्स के दो रूप सामने आये जिससे अग्रेजो के नेक इरादा पर शका होना स्वाभाविक था। वातालाप के प्रथम चरण म (29 माच, 1942) क्रिप्स ने भारतीय नताओ को 'पूर्ण और निरपेक्ष आत्म निर्णय तथा स्वशासन" का आश्वासन दिया था परन्तु वार्तालाप के दूसरे चरण म (1 अप्रैल, 1943) उसने मौलाना आजाद से कहा कि "कानून मे परिवतन किय बिना वायसराय की वतमान स्थिति म परिवतन नही किया जा सकता। इस वाक्य से स्पष्ट था कि कायापलिका को ' निर्णय की पूर्ण एव निर्बाध स्वतन्त्रता प्रदान नही की गयी थी। यह समझ नही आता कि एक बार पूर्ण निरपेक्ष आत्म निर्णय, स्वशासन और म न्त्रिमण्डलात्मक सरकार का आश्वासन देकर "कानून मे परिवतन" और कायकारिणी परिषद्" की बात करना कहा तक न्यायोचित था। क्रिप्स ने अपने पूववर्ती विश्वासा और स्पष्टीकरण को सम्भवतया इसलिये बदला था कि चर्चिल ने उसे चेतावनी दे दी थी कि "यदि वह वार्तालाप मे बहुत दूर चला गया

तो उसका तिरस्कार कर दिया जायगा।' मौलाना आजाद ने ठीक लिखा है कि "ज्यो-ज्यो बातचीत आगे बढती गयी त्यो त्यो वह सब्ज बाग सूखता गया जो शुरु में स्टैफर्ड ने दिखाया था। डा० क्वेंसी लिखते हैं कि "सर क्रिप्स केवल धोखेबाजी, छल, कपट, विश्वासघात तथा दोहरी चालो से काम ले रहे हैं, जिस पर उन्हें तनिक भी पाश्चाताप नही था।"

**7 हेलीफैक्स का निराशपूर्ण एव निराधार भाषण**—काग्रेस और क्रिप्स के मध्य चल रहे विचार विमश का अचानक विफल होने का कारण हैलीफक्स द्वारा दिया गया 7 अप्रेल, 1942 का भाषण था। यह भाषण न केवल अनावश्यक था बल्कि हेल्फिक्स का यह कथन कि "काग्रेस से सहयोग प्राप्त नहीं हुआ और क्रिप्स का यह आरोप कि "काग्रेस अल्पसख्यको पर आधिपत्य जमाना चाहती है" ब्रिटिश धूतता और मक्कारी के प्रमाण थे। क्रिप्स भारतीयो को सत्ता हस्तान्तरित करने नही आया था बल्कि अपने अन्तर्राष्ट्रीय मित्रो को शान्त करने के लिए इनके द्वारा ढोग रचा गया था। जैसा कि जानसन ने लिखा है कि "लार्ड हेलिफैक्स के भाषण ने क्रिप्स मिशन की असफलता के काय को पूरा कर दिया, सम्भवत इसका भी उद्देश्य यही था।"

क्रिप्स प्रस्तावो को 11 अप्रैल, 1942 को वापस ले लिया गया और 12 अप्रैल, 1942 को क्रिप्स लन्दन के लिये रवाना हो गये।

**क्या काग्रेस क्रिप्स प्रस्तावो को अस्वीकार करने मे न्यायोचित थी?** काग्रेस क्रिप्स प्रस्तावो को अस्वीकृत करने मे न केवल सही थी बल्कि न्यायोचित भी थी। ब्रिटिश शासक बार-बार अल्पसख्यको के हितो की सुरक्षा की चिन्ता व्यक्त कर रहे थे और क्रिप्स प्रस्तावो मे "भारत ब्रिटिश सन्धि" मे इनकी व्यवस्था की गयी थी। वस्तुत यह चिन्ता अल्पसख्यकों के हितो के लिए नही थी बल्कि ब्रिटिश साम्राज्यीय हितो के लिए थी। इनकी आड मे ही ब्रिटिश हितो की रक्षा की जा रही थी। ई० डब्लू० आर० लुम्बी ने ठीक लिखा है कि "जब तक भारत मे बहुमत की इच्छा का विरोध करने वाली एक भी अल्पसख्यक जाति विद्यमान थी तब तक सत्ता का बनाये रखने की ब्रिटिश शासको की क्या यह कपट चाल नही थी? यदि ब्रिटिश शासको के नेक इरादो पर विश्वास कर भी लिया जाय तो देश मे तृतीय दल (ब्रिटिश शासक) के विद्यमान होने से, जो अपनी सारी सत्ता का प्रयोग नेताओ को पृथक रखने मे कर रही थी, न्यूनतम समझौते की क्या सम्भावना थी? ब्रिटिश व्यवहार क्या हठधर्मिता का निमन्त्रण नही दे रहा था और इस व्यवहार से लाभ उठा कर क्या जिन्ना ब्रिटिश खेल को नही खेल रहा था?"

चर्चिल के वक्तव्यो से स्पष्ट था कि वह भारत को वास्तविक सत्ता देने का इच्छुक नही था। दूसरे चर्चिल जस कट्टर साम्राज्यवादियो से यह आशा करना मिथ्या था कि युद्ध काल मे वह भारतीयो को वास्तविक सत्ता हस्तान्तरित करने का इच्छुक था। सयुक्त सरकार मे प्रधान मन्त्री बनने के बाद 11 मई, 1940 को ही उसने

घोषणा की थी कि वह "सम्राट की सरकार का प्रथम मन्त्री इसलिये नही बना था कि वह साम्राज्य के पतन की अध्यक्षता करे ।" यह पूछे जाने पर कि क्या अटलांटिक चार्टर भारत पर लागू होता है तो चर्चिल ने सितम्बर, 1941 म ही कह दिया था कि यह भारत पर लागू नही होता । युद्ध काल म सुरक्षा विभाग म चर्चिल भारतीयो को घुसने भी नही देना चाहता था, सुरक्षा विभाग को भारतीयो को सौपने का प्रश्न ही नही था । उसकी स्पष्ट धारणा थी कि "सुरक्षा यन्त्र म विरोधी तत्वो को मिलाना कार्य को कुंठित करना है ।'

स्पष्ट है कि क्रिप्स प्रस्ताव काग्रेस की दृढ नीति के कारण नही बल्कि ब्रिटिश शासको की धूर्तता और मक्कारी के कारण असफल हुए । भारतीयो को वास्तविक स्वतन्त्रता देने की भावना से प्रेरित होकर चर्चिल ने क्रिप्स को भारत नही भेजा था बल्कि "ज्वार युक्त (राष्ट्रीय) आन्दोलन को खामोश (ठण्डा) करने के लिये' (To still febrile agitation) अपनी परेशानियो को दूर करने के लिये और मित्र राष्ट्रो को शान्त करने के लिये उसे भेजा था ।

## भारत छोडो आन्दोलन

कारण—सन् 1942 म भारत छोडो आन्दोलन के शुरू होने के मुख्य कारण निम्न थे

1 **क्रिप्स प्रस्तावों की असफलता तथा देश मे निराशा और असन्तोष का वातावरण**— जिस नाटकीय ढग से क्रिप्स प्रस्तावो को वापिस लिया गया था उसने स्पष्ट कर दिया था कि ब्रिटिश सरकार अपनी पुरानी नीति से टस से मस नही हुई और वह भारतीयो को वास्तविक सत्ता हस्तान्तरित करने की इच्छुक नही । प्रस्तावो की असफलता ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि इनका मुख्य उद्देश्य प्रचारात्मक था और इन्हे अमरीका जैसे मित्र राष्ट्रो को सन्तुष्ट करने के लिये प्रस्तुत किया गया था । इन प्रस्तावो द्वारा ब्रिटिश सरकार यह भी प्रदर्शित करना चाहती थी कि भारत मे साम्प्रदायिक समस्या इतनी जटिल है कि इसका समाधान शीघ्र नही हो सकता अर्थात भारतीयो मे एकता के अभाव म उन्हे सत्ता हस्तान्तरण करना सम्भव नही । इस तरह क्रिप्स प्रस्तावो ने जहा निराशा और असन्तोष के वातावरण को जन्म दिया वहा ब्रिटिश विरोधी भावनाओ को भी गति प्रदान की ।

2 **सरकार की दमनकारी नीति**—ब्रिटिश सरकार न केवल भारतीय राजनीतिक और सवैधानिक विकास के प्रति उदासीन थी बल्कि उसने काग्रेस को खण्डित करने, सरकार के समर्थको को बढावा देने, अस्थिर बुद्धि वाले व्यक्तियो को अपनी ओर आकर्षित करने और विरोधियो के दमन करने की नीति का सहारा लिया । जैसाकि नेहरू ने लिखा है कि सरकार "साधारण राजनीतिक और सार्वजनिक कार्यो[1] के दमन

1 Nehru Discovery of India p 478 quoted by Gupta, D C
Ibid, p 212

का प्रयास कर रही थी । बहुत से कांग्रेसी पहले से ही जेलो मे जीवन व्यतीत कर रहे थे और बहुतो को और अधिक मात्रा मे जेला मे ठूसा जा रहा था । मई, 1942 में यू० पी० के प्रमुख नेताओ को भी हिरासत मे ले लिया गया । सरकार की इस नीति ने अविश्वास और निराशा को जन्म दिया ।

**3 सुभाष का आजाद हिन्द रेडियो से उग्र प्रचार**—15 फरवरी, 1942 को सिंगापुर के पतन के बाद सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद हिन्द रेडियो से भारतीय जनता के नाम सन्देश देने शुरू कर दिये ।[1] जैसे जसे युद्ध की गति तीव्र होती गई वैसे-वैसे बोस के रेडियो भाषण सतत, प्रभावशाली और उग्र होते गये । इन भाषणो म बोस जोशीले और भडकाने वाले शब्दो का प्रयोग करते । वे भारतीय जनता को बार-बार बता रहे थे कि "ब्रिटिश सरकार की कठिनाई भारत की स्वतन्त्रता के लिए स्वर्ण अवसर है, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शत्रु हमारे मित्र और सहयोगी हैं", सामान्य शत्रु को हराने के लिये तथा भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त करने के लिए भारत की सभी शक्तियो को पारस्परिक सहयोग करना चाहिये । वे जापान के साथ पूर्ण सहयोग पर बल दे रहे थे और भारतीयो को उकसा रहे थे कि वे जापानियो का "उद्धारकर्ता" और "सहायक" के रूप मे स्वागत करें ।

**4 जापान के आक्रमण की सम्भावना**—ब्रिटिश विरोधी भावनाओ और जापान की दक्षिण पूर्वी एशिया मे सफलताओ ने भारतीयो को जापान की ओर आकर्षित करना शुरू कर दिया था । बोस के भाषणो का प्रभाव भी भारतीय जनता पर बढता जा रहा था । कांग्रेस को यह भय था कि कही "ब्रिटिश विरोधी भावनाएं जापान के पक्ष मे न हो जाये ' और जापानी आक्रमण को कही "भारतीय स्वीकार न कर लें ।" परन्तु कांग्रेस किसी भी दशा मे अपने "स्वामियो" को बदलने का इच्छुक नही थी । जापानी आक्रमण का सामना करने के लिए, स्वतन्त्रता की लालिमा को बनाये रखने के लिए और जनता को उत्साहित करने के लिये किसी दृढ और ठोस कार्यक्रम की आवश्यकता थी और भारत छोडो आन्दोलन द्वारा कांग्रेस इन्ही उद्देश्यो को प्राप्त करना चाहती थी ।

**वर्धा प्रस्ताव**—कांग्रेस कार्यकारिणी समिति (CWC) की एक बैठक 27 अप्रैल 1942 को इलाहाबाद और दूसरी बठक 14 जुलाई 1942 को वर्धा म हुई । इन बैठको मे गांधीजी की इस विचारधारा का समर्थन किया गया कि अंग्रेजो को भारत छोड कर चले जाना चाहिए । 14 जुलाई 1942 को वर्धा म जिस प्रस्ताव का समर्थन कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने किया उसकी मुख्य बातें निम्न थी

(i) भारत मे ब्रिटिश शासन का अन्त शीघ्रातिशीघ्र (तत्काल) होना चाहिए।
(ii) दासता की स्थिति म भारत सुरक्षा के साधनो को नही जुटा सकता ।

---

1 Subhash made his first broadcast to the Indian people on 15th February, 1942 See Chatterji, Amiya, Ibid p 207

(iii) भारत की स्वतन्त्रता न केवल भारत के हित मे आवश्यक है बल्कि विश्व की सुरक्षा और नाजीवादी, फासीवादी, सैन्यवादी या अन्य किसी प्रकार के साम्राज्यवादी आक्रमण का अन्त करने के लिए भी आवश्यक है।

(iv) ब्रिटिश शासन के तत्काल अन्त की मांग करके कांग्रेस ब्रिटिश या मित्र राष्ट्रों के युद्ध प्रयासो मे बाधा प्रस्तुत नही करना चाहती और न ही किसी आक्रमण को प्रोत्साहित करना चाहती है।

(v) यदि इस माग को स्वीकार न किया गया तो कांग्रेस, गाधीजी के नेतृत्व मे अहिंसक आन्दोलन को शुरू करेगी।

वर्धा के उपयुक्त प्रस्ताव के पास होने के बाद समिति ने सरकार को प्रस्तावो पर विचार करने के लिये 24 दिन का अवसर दिया और 7 अगस्त, 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की एक बैठक बम्बई बुलाने का निश्चय किया।

आन्दोलन शुरू करने से पूर्व गाधीजी सरकार से बातचीत करना चाहते थे। वर्धा प्रस्ताव के उद्देश्य, स्वरूप और महत्त्व को बताने के लिए गाधीजी ने मिस सलेड, जो मीरा बेन (Mira Ben) के नाम से प्रसिद्ध है, को वायसराय से भेंट के लिए भेजा परन्तु वायसराय ने मिस सलेड से भेट करने से इन्कार कर दिया।

**बम्बई अधिवेशन और भारत छोडो आन्दोलन**—वर्धा प्रस्ताव के अनुसार अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (AICC) का अधिवेशन बम्बई मे 7 अगस्त, 1942 को शुरू हुआ। इस अधिवेशन म अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (AICC) ने कांग्रेस कार्यकारिणी समिति (CWC) के 14 जुलाई, 1942 के वर्धा प्रस्ताव का न केवल अनुसमर्थन किया बल्कि उसे सही और उचित भी समझा गया। यही प्रस्ताव भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास मे "भारत छोडो" प्रस्ताव के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रस्ताव की मुख्य बातें निम्न थी —

(i) "भारत मे ब्रिटिश शासन का तत्काल अन्त" और भारत की स्वतन्त्रता की तत्काल स्वीकृति।

(ii) "स्वतन्त्रता की लालिमा" ही भारत मे ब्रिटिश विरोधी भावना को सद्भावना म परिवर्तित कर सकती है। गुलाम भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद का चिन्ह रहेगा और साम्राज्यवाद का यह धब्बा सयुक्त राष्ट्रो की समृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा।

(iii) भारत की स्वतन्त्रता न केवल भारत के लिए अपितु सयुक्त राष्ट्रो की सफलता और विश्व सुरक्षा के लिए भी आवश्यक है। स्वतन्त्र भारत ही नाजी, फासी और साम्राज्यवादी आक्रमण के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति का प्रयोग कर सकता है।

(iv) साम्प्रदायिक समस्या का समुचित समाधान केवल इसलिये नही नि

सका कि विदेशी सत्ता ने (ब्रिटिश शासकों ने) "विभाजन करो नीति को बडी निष्ठुरता से लागू किया है।

(v) भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा होने पर एक अस्थायी सरकार निर्माण किया जायगा और स्वतन्त्र भारत मित्र राष्ट्रों का साथी जायगा जो स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की रक्षा म उनके सभी प्रयत्न और आपत्तिया म साझेदार होगा।

(vi) अस्थायी सरकार की स्थापना देश के सभी प्रमुख दलों और समूहों सहयोग से की जायगी अर्थात् अस्थायी सरकार सयुक्त (मिला जुला) सरकार होगी जिसमे भारत के सभी महत्वपूर्ण वर्गों के प्रतिनिधि होगे।

(vii) एक सर्वधानिक सभा की स्थापना की जायगी जो सबको स्वीकार्य सविधान का निर्माण करेगी। काग्रेस के दृष्टिकोण से यह सविधान सघात्मक होगा जिसम एककों को अधिकतम स्वायत्तता दी जायगी और अवशिष्ट शक्तिया एककों के पास रहगी।

(viii) भारत मे ब्रिटिश शासन के अत की माग करके काग्रेस ब्रिटेन या मित्र राष्ट्रो के युद्ध प्रयासो मे बाधा नहीं डालना चाहती और न ही किसी आक्रमण को बढावा देना चाहती है। जापान या अन्य किसी आक्रमण का प्रतिरोध करने और चीन की रक्षा या सुरक्षा के लिये यदि इच्छा प्रकट की जाय तो काग्रेस मित्र राष्ट्रों की सेनाओ को भारत म रखने के लिए तयार है।

(ix) यदि ब्रिटिश शासन न स्वतन्त्रता की माग को स्वीकार न किया तो काग्रेस स्वतन्त्रता के अविच्छेद्य अधिकार को प्राप्त करने के लिए, 22 वर्षों की अहिंसक शक्ति के गठन के आधार पर, गाधीजी के नेतृत्व म विशाल पैमाने पर अहिंसक आन्दोलन को शुरू करेगी।

अखिल भारतीय काग्रेस समिति के प्रस्ताव के उपर्युक्त तथ्यो से स्पष्ट है कि इसमे "भारत छोडो (Quit India) शब्द का प्रयोग नही किया गया था। प्रस्ताव में जिस शब्द का प्रयोग किया था वह था "भारत से ब्रिटिश की क्रमबद्ध और यथासमय वापसी' (Orderly and timely British withdrawal from India) भारत छोडो (Quit India) शब्द का प्रयोग तो अमरीकी पत्रकार ने गांधीजी के सम्बन्ध में किया था, जिसका प्रयोग बाद मे सरकार प्रेस और लोगो ने किया। दूसरे प्रस्ताव मे भारत की सरकार स्वतन्त्रता की बात नहीं गई थी, ब्रिटिश या सयुक्त राष्ट्रों की भौतिक उपस्थिति की समाप्ति की बात नही की गई थी। बल्कि प्रस्ताव म ... प्रयासों के लिए, काग्रेस ने ब्रिटिश और सयुक्त राष्ट्रों की सेनाओ को भारत म ... पर सहमति प्रकट की थी। तीसरे प्रस्ताव मे 'भारत छोडो आन्दोलन' ... विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत नही किया गया था। चौथे प्रस्ताव म आन्दोलन ... करने की कोई विधि निर्धारित नही की गई थी। ... यह ...

आन्दोलन गाधीजी के नेतृत्व मे शुरू किया जायगा अर्थात प्रस्ताव ने गाधीजी को आन्दोलन शुरू करने की अनुमति दी थी। प्रस्ताव ने आन्दोलन शुरू नही किया था।

**काग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी**—गाधीजी ने यह सावजनिक रूप से घोषणा कर दी थी कि आन्दोलन शुरू करने से पूव वे वायसराय को पत्र लिखेंगे और उसके उत्तर का इन्तजार करेंगे। दूसरे शब्दो मे यह आन्दोलन तभी शुरू किया जाना था जब ब्रिटिश सरकार के साथ समझौते के सभी प्रयास निष्फल हो जाते और गाधीजी इसकी अनुमति दे देते। परन्तु सरकार ने इस बार उन्हे बातचीत या समझौते का अवसर ही नही दिया और 9 अगस्त, 1942 की प्रात को गाधीजी, उनकी पत्नी, काग्रेस कायकारिणी समिति के सदस्यो और बम्बई के 40 प्रमुख नागरिको को हिरासत (गिरफ्तार) मे ले लिया। गाधीजी और श्रीमती नायडू को पूना मे आगा खा महल मे और अन्य नेताओ को अहमदनगर के मुगल किले मे बन्दी बना दिया गया। सरकार न एक विज्ञप्ति द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि काग्रेस के व्यवहार के कारण ही ऐसा किया गया है।

**स्वचालित जन आन्दोलन**—काग्रेसी नेताओ की अचानक गिरफ्तारी ने जनता म क्रोध की ज्वाला पदा करदी, उसम बिजली जैसी उत्तेजना उत्पन्न हो गई। जो आन्दोलन गाधीजी के नेतृत्व मे विधिवत शुरू किया जाना था वह स्वत शुरू हो गया। नेतृत्वहीन जनता ने आन्दोलन को जन आन्दोलन का रूप दिया। नेतृत्व युवा पीढी न सम्भाला। नेताओ की गिरफ्तारी के विरोध मे जलूस निकाले गये, उनकी स्वतन्त्रता (रिहाई) के लिये प्रदर्शन किये गये, सभाओ और हडताला का आयोजन किया गया। सरकार का दमन चक्र भी अपनी बबरतापूण प्रकृति म प्रकट हुआ। "काग्रेस समितिया को गैर कानूनी सस्थायें घोषित कर दिया गया, काग्रेस कायालयो को हथिया कर उन पर ताले लगा दिये गये और काग्रेस कायक्रमो को निषेध कर दिया गया।" जन आन्दोलन के सम्बन्ध म किसी खबर को छापन या आन्दोलन का दमन करने के लिए सरकार के द्वारा अपनाये गये तरीको को छापने पर केवल सरकारी सूत्रा से प्राप्त समाचारो को छोडकर पाबन्दी लगा दी गई। सरकार ने देश मे पुलिस राज्य की स्थापना की, अध्यादेश जारी किये गय, नग्न शक्ति का प्रदशन किया गया, गोलिया चलायी गई अश्रुगस छोडी गई, लाठिया बरसाई गई, गिरफ्तारिया की गई। प्रदशनकारिया ने भी हिंसक साधना को अपनाया। रेलवे स्टेशन नष्ट किये गये, पुलिस स्टेशनो को जलाया गया, डाक घरो पर हमले किये गये, टेलीफोन और तार की लाइनें काट दी गई, सरकारी भवनो को जलाकर राख कर दिया गया, अग्रेजी शासन की अर्थी निकाली गइ, सरकारी इमारतो पर राष्ट्रीय ध्वज फहराये गये आदि।

सरकार ने जितने दमनकारी साधनो का सहारा लिया, आन्दोलन उतना ही प्रचण्ड और तीव्र होता गया और सरकार और अधिक कठोर और सख्त कदम उठाती।

अनेक स्थानो पर हवाई जहाजो से मशीनगनो द्वारा भीड पर गोलिया चलाई ग सामूहिक दण्ड दिये गये, गाव के गाव को कोडे मारे गये, काग्रेसी कार्यकर्ताओ मकानो को जलाया गया, युवको को पीटा गया। सन् 1857 के विद्रोह का द करने के लिए जिन क्रूर, नृशस और निदयी साधनो का प्रयोग किया गया उ साधनो का प्रयोग इस "स्वचालित जन आन्दोलन" का दमन करने के लिए प्र किया गया। हजारो व्यक्ति सरकार की गोलियों के शिकार हुए हजारों जलो में गये, हजारो भूमिगत हो गये।

सन् 1942 के आन्दोलन मे लोगो की भीडो और पुलिस तथा फौज सडको पर खुली लडाई हुई। अनेक स्थानो पर ब्रिटिश शासन बिल्कुल ठप्प हो और समानान्तर सरकारे स्थापित की गई। सयुक्त प्रान्त के बलिया और बस्ती जि मे, बम्बई मे सितारा मे, बगाल मे मिदनापुर मे और बिहार के अन्य भागो भारतीयो ने समानान्तर सरकारें स्थापित की। इन स्थानो को सरकार ने " जीत' लिया।

**आन्दोलन की असफलता**—तीन महीनो के क्रूर और नृशस दमन के सरकार पशु शक्ति के आधार पर आन्दोलन का दमन करने म सफल हुई। आन्दो भी अपने मूल उद्देश्यो को प्राप्त करने मे असफल रहा। न तो यह ब्रिटिश श का तत्काल अन्त कर सका और न ही भिन्न भिन्न राजनीतिक दलो व वर्गों म ए या सहयोग की भावना उत्पन्न कर सका। इस असफलता का मूल कारण का नेताओ की अचानक गिरफ्तारी, उनकी अनिश्चितता तथा अदूरदर्शिता थी। न आन्दोलन की राजनीति तैयार कर सके और न ही जनता के समक्ष स्पष्ट काय प्रस्तुत कर सके। वे अग्रेजो की नीति का सही पूर्वानुमान भी नही कर सके।

**आन्दोलन के प्रति अन्य राजनीतिक दलो का दृष्टिकोण**—सन् 1942 'भारत छोडो' आन्दोलन के प्रति भारतीय राजनीतिक दलों म सन् 1920 22 असहयोग आन्दोलन की भाति न ता विचारो मे मतैक्यता थी और न ही भावन और उद्देश्यो की तत्काल प्राप्ति के सम्बन्ध म समान दृष्टिकोण ही था। जहा 1930 31 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे "राष्ट्रीय नेतृत्व' उपलब्ध था भारत छोडो आन्दोलन मे इसका अभाव था। सत्याग्रहियो म भी 1930 के ह और अहिंसा की कमी थी।

भारत छोडो आन्दोलन के प्रति अन्य राजनीतिक दलो का दृष्टिकोण न क उदासीनता का था बल्कि निराशाजनक और हतोत्साहित करने वाला भी था। भी व्यवहार तो निन्दनीय और भत्सना करने योग्य था। इस आन्दोलन म जयप्र नारायण, डा० राम मनोहर लोहिया, श्रीमती अरुणा आसफअली और अच्युत पटव जैसे समाजवादियो को छोडकर काग्रेस का साथ किसी ने नही दिया। मुस्लिम ले न केवल आन्दोलन से पृथक ही रही बल्कि काग्रेसी नेताओ की गिरफ्तारी पर ग

प्रसन हुई । जिन्ना ने आन्दोलन की निन्दा की तथा मुसलमानो को आन्दोलन से पृथक रहने की अपील की । इतना ही नही जिना ने गैर काग्रेसी तत्त्वा से मिलकर अस्थायी सरकार की स्थापना की कोशिश भी की । 16 अगस्त, 1942 को,बम्बई मे एक विशेष भेंट मे यह विचार व्यक्त किया कि मुस्लिम लीग अस्थायी युद्ध कालीन सरकार मे हिस्सा लेने के लिए तैयार है यदि उसे हिन्दुओ के साथ समान स्थान दिये जायें और युद्ध के बाद पाकिस्तान का आश्वासन दिया जाय। इस तरह सारे आन्दोलन मे मुस्लिम लीग का सरकार के प्रति दृष्टिकोण "उदार तटस्थता" (benevolent neutrality) का रहा । सावरकर जैसे हिन्दू महासभा के अध्यक्ष न भी हिन्दुओ को आन्दोलन से पृथक रहने का परामर्श दिया । 4 सितम्बर 1942 के एक वक्तव्य मे उसने हिन्दू महासभावादियो का अपने पदो पर बने रहने के लिए कहा । साम्यवादियो की नीति तो राष्ट्रीय आन्दोलन की पीठ पर छुरा घोपने की थी । उनके काय विश्वासघात और देशद्रोहिता के समान थे । उनका रवया शमनाक था । जब तक रूस युद्ध मे शामिल नही हुआ था तो द्वितीय युद्ध "साम्राज्यवादी युद्ध" (Imperialist War) था और जब रूस युद्ध म शामिल हो गया तो उनके लिए वही युद्ध "लोक युद्ध" (Peoples' War) बन गया । इतना ही नही साम्यवादियो ने तो सरकार के युद्ध प्रयासो मे सहायता करनी शुरू करदी । उन्होने पाकिस्तान की माग का समथन भी किया और काग्रेस को आन्दोलन स्थगित करने का परामर्श भी दिया । सर तेज बहादुर सप्रू जैसे उदारवादी नता के लिए वर्धा प्रस्ताव "अविचारित और असामयिक" (ill considered and ill-opportune) था । डा० अम्बेदकर जैसे दलित वर्गों के नेता का विश्वास था कि काग्रेस को युद्ध समाप्ति तक इन्तजार करना चाहिये था । उन्होने भारत छोडो आन्दोलन को "अनुत्तरदायित्वपूर्ण एव पागलपन" (irresponsible and insane) कहा । सिक्ख आन्दोलन से पृथक ही नही रह बल्कि इसकी निन्दा भी की । इस तरह सभी राजनीतिक दलो ने भारत छोडो आन्दोलन के साथ न केवल असहयोग किया बल्कि उसकी निन्दा और भर्त्सना भी की ।

**विदेशियो का भारत छोडो आन्दोलन के प्रति दृष्टिकोण**—विदेशियो मे चीन के राष्ट्रपति च्याग काई शेक का और पल बक और लिन यू तु ग जसे अमरीकी लेखको और वैन्डन विल्की तथा हेनरी ए० वैलास को छोडकर किसी ने काग्रेस की माग का समथन नही किया ।

**भारत छोडो आन्दोलन का महत्त्व**—यह सत्य है कि भारत छोडो आन्दोलन अपन तत्काल उद्देश्यो म असफल रहा परन्तु जो जन जागृति इस आन्दोलन ने उत्पन्न की उससे भारतीय स्वतन्त्रता एक निश्चित तथ्य बन गया । भारत स्वतन्त्रता के द्वार पर आकर खडा हो गया । अग्रेजा के लिए भारत म अपनी सत्ता को बहुत देर तक बनाये रखना असम्भव हो गया । डा० ईश्वरी प्रसाद न ठीक लिखा है कि "विद्रोह की आग मे अधिराज्य स्थिति की सारी बात जलकर राख हो गई । भारत अब पूर्ण स्वतन्त्रता चाहता था, भारत छोडो एक निश्चित तथ्य बन गया । यह साम्राज्यीय

भारत के लिए एक बहुत बड़ा धक्का था।" डा० ईश्वरी प्रसाद ने आन्दोलन की तुलना फ्रांसीसी और रूसी क्रान्ति से की है। वे लिखते हैं कि "अगस्त क्रान्ति दमन और अत्याचार के विरुद्ध जन आन्दोलन था और इसकी तुलना फ्रांस के इतिहास में बेस्टिले के पतन और रूस की अक्टूबर क्रान्ति से की जा सकती है। यह लोगों के नवीन उत्साह और गरिमा का द्योतक था।"[1]

## सी० आर० फार्मूला या राजाजी फार्मूला
## (C R Formula or Rajaji Formula)

राजाजी ने, कांग्रेस लीग समझौते के लिये, एक नया फार्मूले को निकाला। यही फार्मूला जिसे 10 जुलाई, 1944 को प्रकाशित किया गया, भारतीय संवैधानिक इतिहास में सी० आर फार्मूले के नाम से प्रसिद्ध है और इसी के आधार पर गांधीजी ने जिन्ना से वार्तालाप की। इस फार्मूले की मुख्य विशेषतायें निम्न थीं—

(i) मुस्लिम लीग भारत की स्वतन्त्रता की मांग का समर्थन करती है और संक्रमण काल में अस्थायी अन्तरिम सरकार के निर्माण में वह कांग्रेस के साथ सहयोग करने का आश्वासन देती है।

(ii) युद्ध के बाद एक आयोग की स्थापना की जायगी जो इस बात का निर्धारण करेगा कि भारत के उत्तर पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में किन किन जिलों में मुसलमानों का पूर्ण बहुमत है। दूसरे शब्दों में, मुस्लिम बहुमत वाले जिलों की सीमा का निर्धारण एक आयोग करेगा।

(iii) वयस्क मताधिकार या अन्य व्यावहारिक मताधिकार के आधार पर मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को जनमत संग्रह (plebiscite) द्वारा यह निर्णय करने का अधिकार दिया जायगा कि क्या वे भारत के साथ रहना चाहते हैं या कि उससे पृथक होना चाहते है।

(iv) यदि इन क्षेत्रों का बहुमत भारत से पृथक होने का निर्णय लेता है तो एक पृथक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य का निर्माण किया जायगा। सीमावर्ती जिला (क्षेत्र) को किसी राज्य में सम्मिलित होने का अधिकार दिया जायगा।

(v) दोनों राज्यों में सुरक्षा व्यापार और संचार साधनों तथा अन्य आवश्यक प्रयोजनों के लिये पारस्परिक समझौते किये जायेंगे।

(vi) जनमत संग्रह से पूर्व सभी दलों को अपने अपने दृष्टिकोण के प्रचार की स्वतन्त्रता होगी।

---

1 Prasad, History of Modern India

(vii) क्षेत्रा म रहने वाले लोगो की अदला-बदली स्वेच्छा से होगी।

(viii) गाधीजी और जिन्ना इस फार्मूले पर सहमत है और वे क्रमश कांग्रेस और लीग की सहमति प्राप्त करने का प्रयास करेंगे।

(ix) इस फार्मूले की उपयुक्त शर्तें तभी बाध्यकारी होगी यदि ब्रिटेन भारतीयो को सत्ता और उत्तरदायित्व पूर्णतया हस्तान्तरित कर देता है।

उपयुक्त फार्मूले के आधार पर गाधीजी जिन्ना से सितम्बर, 1944 को मिले। गाधीजी और जिन्ना की बातचीत लगभग 18 दिन तक चलती रही। इस बातचीत के असफल होने का मूल कारण यह था कि जिन्ना 'द्वि राष्ट्र के सिद्धान्त" (Two-Nations Theory) पर अडा रहा। अपूर्ण, अगहीन और दीमक लगा हुआ पाकिस्तान उसे स्वीकार नही था।

गाधी जिन्ना बातचीत की असफलता के बाद कांग्रेस के अनेक सदस्यो ने इसकी आलोचना की। स्वय आजाद ने, जो उस समय कांग्रेस अध्यक्ष थे, इस बातचीत की यह कह कर आलोचना की कि इससे जिन्ना का महत्त्व अनावश्यक रूप से बढा दिया गया तथा लीग की प्रतिष्ठा म वृद्धि की गई। वे मुसलमान जो जिन्ना की नीतियो के प्रति शकित थे वे जिन्ना के प्रति श्रद्धा रखने लगे।

सी० आर० फार्मूला असफल हुआ परन्तु फिर भी इसम जो नवीनताये थी उनका उल्लेख करना उचित होगा। इस फार्मूले म जो नवीनतायें थी वे निम्न थी –

(i) इसमे विभाजन को स्वीकार किया गया था परन्तु विभाजन का आधार प्रान्त नही जिला रखा गया था।

(ii) भारत से पृथक होने का निर्णय क्षेत्रो के लोगो न स्वय जनमत सग्रह के द्वारा वयस्क मताधिकार या अन्य व्यावहारिक मताधिकार द्वारा करना था।

(iii) इसमे सुरक्षा, व्यापार और सचार साधनो तथा अन्य प्रयोजनो के लिये सामान्य केन्द्र के अधीन व्यवस्था की गई थी।

## भूलाभाई लियाकत अली समझौता, 1945
### (Bhulabhai-Liaquat Ali Pact, 1945)

गाधी जिन्ना वार्तालाप की असफलता के बाद कांग्रेस और लीग म समझौता कराने के लिये एक और प्रयास किया गया। यह प्रयास विधान सभा म कांग्रेस दल के नेता भूलाभाई देसाई और लीग के उप नेता लियाकत अली द्वारा किया गया दोनो नेताओ की बातचीत के बाद जो उनमे समझौता हुआ (11-1-1945) 'भूलाभाई लियाकत अली समझौता' कहते हैं। परन्तु समझौते के पैदा होते ही

जिन्ना और लियाकत अली ने ठुकरा दिया और समझौते के पैदा होते ही मृत्यु दी गई ।

भूलाभाई-लियाकत अली समझौते, जो राजनीतिक गतिरोध को दूर करने और अन्तरिम सरकार की स्थापना से सम्बन्धित था, की मुख्य विशेषतायें निम्न थीं

( i ) केन्द्र में अन्तरिम सरकार की स्थापना के लिये कांग्रेस और लीग इस बात पर सहमत हैं कि इसमें बराबर संख्या में दोनों के सदस्य मनोनीत किया जायगा, इसमें अल्पमता के प्रतिनिधि को सम्मिलित किया जायगा तथा प्रधान सेनापति इसका सदस्य होगा।

( ii ) अन्तरिम सरकार 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत ही काम करेगा। कांग्रेस और लीग इस पर एक मत हैं कि जो विषय सदन द्वारा पास नहीं किया गया उसे वायसराय की शक्तियों द्वारा पास कराने का प्रयास नहीं किया जायगा, अर्थात वायसराय के वीटो को व्यवहार में प्रभावहीन बना दिया जायगा और प्रतिनिधि सदन के प्रति उत्तरदायी होंगे ।

( iii ) यूरोपीय सदस्य का यदि अन्तरिम सरकार में सम्मिलित किया जाना है तो वह कांग्रेस और लीग की सहमति से होगा ।

( iv ) कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के सदस्यों को रिहा कर दिया जायगा।

( v ) प्रान्तों में धारा 93 को समाप्त कर दिया जायगा और जितनी जल्दी होगा प्रान्तों में मिली जुली सरकारों की स्थापना की जायगी।

## वेवल योजना और शिमला सम्मेलन, 1945
## ( Wavel Plan and Simla Conference, 1945 )

कारण—वेवल योजना को प्रस्तुत करने के मुख्य कारण निम्न थे

**1 यूरोप में युद्ध की समाप्ति** सन् 1945 के प्रारम्भिक मासों में यूरोप में मित्र राष्ट्रों की विजय और धुरी राष्ट्रों की पराजय के आसार स्पष्ट नजर आ रहे थे। भारतीय संवैधानिक विकास में अगले कदम पर विचार करने के लिये मार्च 1945 में वायसराय लार्ड वेवल को इंग्लैण्ड बुलाया गया। लार्ड वेवल अभी इंग्लैण्ड में ही थे कि यूरोप में 7 मई, 1945 को युद्ध सहसा बन्द हो गया। इससे भारतीय राजनीतिक गतिरोध को समाप्त करने की आवश्यकता और अधिक अनुभव की जाने लगी।

**2 जापान की पराजय के लिए भारतीय सहयोग की आवश्यकता**—यूरोप में युद्ध समाप्त हो चुका था परन्तु एशिया में अभी युद्ध जारी था और इसके शीघ्र समाप्त होने की सम्भावना नहीं थी। बर्मा में यद्यपि जापान कुछ पीछे हटा था परन्तु सिंगापुर, इण्डोनेशिया आदि क्षेत्रों पर उसका अधिकार था। जापान बिना शर्त आत्मसमर्पण करने के लिये तैयार नहीं था। अमरीका के लिये यूरोप की तुलना में एशिया के युद्ध को जीतना आवश्यक था। अमरीका का यह भी विश्वास था कि

सुरक्षा का भार ब्रिटिश कन्धो पर होने से, युद्ध की स्थिति म, प्रधान सेनापति परिषद् का सदस्य रहेगा। पहली बार विदेश विभाग, जो अभी तक वायसराय के पास होता था, तथा गृह और वित्त विभाग, जो अभी तक ब्रिटिश कर्मचारियो के हाथो म होते थे, भारतीय सदस्यो को सौपे जाने का प्रस्ताव किया गया था।

(iv) नवीन कार्यकारिणी परिषद् सन् 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत काय करेगी। वायसराय विशेष परिस्थितिया म परिषद के बहुमत के निणय को अस्वीकृत कर सकता था। दूसरे शब्दो म, वायसराय के निषेधाधिकार (Veto) को समाप्त नही किया गया था। श्री एमरी ने वायसराय के वीटो के सम्बन्ध म कहा था कि 'यह सामान्य प्रयोग का यन्त्र नही है बल्कि उसके हाथो मे रखी गई सुरक्षित शक्ति है।" मौलाना आजाद ने भी लिखा है कि वायसराय ने उन्ह विश्वास दिलाया था कि "वह सर्वदा परिषद के परामश पर काय करने के अभिसमय को स्थापित करेगा।"

(v) कार्यकारिणी परिषद के सदस्यो की नियुक्ति वायसराय राजनीतिक नेताओ के परामश पर करेगा यद्यपि उनकी नियुक्ति पर सम्राट के अनुसमर्थन की आवश्यकता होगी।

(vi) यह व्यवस्था अन्तरिम व्यवस्था है जो भारत मे भविष्य के किसी भी समझौते या समाधान पर या सविधान निर्माण करने के भारतीयो के अधिकार पर किसी प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव नही डालेगी।

(vii) भारतीय विषयो मे भारत-मन्त्री का हस्तक्षेप न्यूनतम होगा और वह भी भारतीय हितो की दृष्टि म ही किया जायगा।

(viii) ब्रिटिश व्यापारिक तथा अन्य हितो की रक्षा करने के लिए भारत म हाई ब्रिटिश कमिश्नर की नियुक्ति की जायगी।

(ix) यदि भारतीय नेता इस योजना को स्वीकार कर लेते है तो केन्द्र म नवीन कार्यकारिणी परिषद् की रचना की जायगी। जिन प्रान्तो म सेक्शन 93 लागू है वहा उत्तरदायी मन्त्रिमण्डलो की स्थापना की जायगी। यह सुझाव भी दिया गया था कि प्रान्तो म मन्त्रिमण्डल मिश्रित (Coalition) होगे अर्थात प्रमुख दलो को मिला कर वहा मन्त्रिमण्डलो का निर्माण किया जायगा। केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान मण्डलो के नव निर्वाचन का उपयुक्त समय सम्मेलन म ही निश्चित किया जायगा।

कार्यकारिणी परिषद् के कार्यों को लार्ड वेवल ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया

## शिमला सम्मेलन (25 जून–14 जुलाई, 1945)

जिन व्यक्तियो या प्रतिनिधियो को शिमला सम्मेलन मे भाग लेने के लिए निमन्त्रित किया गया उनमे से थे भारत के प्रमुख राजनीतिक दलो के नेता गाधी और जिन्ना, दलित वर्गों के प्रतिनिधि के रूप मे रॉव बहादुर एन० शिवराज (Rao Bahadur N Shivraj) और सिक्खो के प्रतिनिधि के रूप मे मास्टर तारासिंह। अन्य व्यक्ति जो सम्मेलन मे शामिल हुये वे थे केन्द्रीय विधान सभा के काग्रेस दल के नेता और मुस्लिम लीग के उपनेता, राज्य सभा मे काग्रेस और मुस्लिम लीग के नेता, केन्द्रीय विधान सभा मे राष्ट्रीय दल और यूरोपियन समूह के नेता। प्रान्तीय सरकारो के व सदस्य जो या तो प्रीमियर पद पर थे या इस पद पर रह चुके थे अर्थात् उन प्रान्तो के प्रीमियरो को भी आमन्त्रित किया गया जहा इस समय सेक्शन 93 लागू था। यद्यपि हिन्दू महासभा ने सम्मेलन मे सम्मिलित होने का प्रयत्न किया परन्तु वायसराय ने उसे आमन्त्रित नही किया।

जून 25, 1945 को शिमला मे सम्मेलन शुरू हुआ। गाधीजी को छोड़ कर सभी आमन्त्रित व्यक्ति सम्मेलन मे उपस्थित हुए। यद्यपि गाधीजी सम्मेलन में शामिल नही हुए परन्तु ब्रिटिश सरकार और काग्रेस को परामर्श देने के लिए सम्मेलन के दौरान वे शिमला मे ही रहे।[1]

सम्मेलन के प्रारम्भ मे ही सभी राजनीतिक दलो ने वेवल प्रस्तावो के मुख्य सिद्धान्तो पर सहमति प्रकट कर दी। सभी दलो ने स्वीकार कर लिया कि नवीन कार्यकारिणी परिषद युद्ध काल तक कार्य करेगी, युद्ध प्रयासो का पूर्ण समर्थन किया जायगा तथा अल्पमतो को प्रतिनिधित्व दिया जायगा। काग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ समझौते की दृष्टि से तथा स्वशासन को शीघ्र प्राप्त करने की आशा से सवर्ण हिन्दुओ और मुसलमानो मे बराबरी के सिद्धान्त की कडवी गोली को भी निगल लिया यद्यपि ऐसा करना अनुचित था। सवर्ण हिन्दुओ की जनसंख्या 70 प्रतिशत थी और मुसलमानो की केवल 30 प्रतिशत थी।

ज्योही सम्मेलन कार्यकारिणी परिषद के सगठन पर विचार करने लगा तो काग्रेस और मुस्लिम लीग के दृष्टिकोणो मे गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गये। काग्रेस राष्ट्रीय सस्था होने से सभी जातियो के प्रतिनिधित्व करने के अपने अधिकार को त्याग नही सकती थी। काग्रेस कभी भी इस बात पर समझौता नही कर सकती थी कि वह जातीय सगठन है, राष्ट्रीय नही। इसलिये काग्रेस ने इस बात की माग की कि उसे न केवल सवर्ण हिन्दुओ के प्रतिनिधियो को नामाकित करने का अधिकार है बल्कि अन्य जातियो के प्रतिनिधियो को भी नामाकित करने का अधिकार है। परन्तु जिन्ना तथा मुस्लिम लीग इस बात पर अटल रही कि मुस्लिम लीग ही भारत के मुसलमानो की एकमात्र प्रतिनिधि सस्था है और उसे ही मुसलमानो के प्रतिनिधियों

1 See Lumby, Ibid, p 49

को नामांकित करने का एकमात्र अधिकार है। इस बिंदु पर पारस्परिक वार्तालाप करने के लिए सम्मेलन को जून 29, 1945 को 15 दिन के लिए स्थगित कर दिया गया। जब किसी तरह भी इस समस्या पर कोई समझौता न हो सका तो 14 जुलाई, 1945 को वेवल ने सम्मेलन की असफलता की घोषणा कर दी। यद्यपि "सम्मेलन की असफलता का उत्तरदायित्व वेवल ने अपने कन्धा पर ले लिया" परन्तु यह पहली बार था जबकि वार्ता राजनीतिक प्रश्न को लेकर असफल नहीं हुई थी बल्कि भारतीय समूहों में साम्प्रदायिक समस्याओं को लेकर असफल हुई थी।

## सम्मेलन की असफलता—किसका उत्तरदायित्व काग्रेस, लीग या सरकार

शिमला सम्मेलन असफल हुआ। यद्यपि इस असफलता का उत्तरदायित्व वायसराय ने अपने कन्धा पर ले लिया परन्तु इसके लिए मूलत मुस्लिम लीग का सकीर्ण और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण तथा जिन्ना की अनुचित हठधर्मिता ही सम्मेलन की असफलता के लिए उत्तरदायी थी। काग्रेस की तुष्टिकरण की नीति और ब्रिटिश सरकार की जिन्ना को विशेषकर और मुस्लिम लीग को सामान्यतया थपथपी ही इसकी असफलता के लिए कम उत्तरदायी नहीं थी।

(a) **काग्रेस का उत्तरदायित्व** शिमला सम्मेलन के समय काग्रेस का दृष्टिकोण बडा ही सयत, सहयोगी और बिना कटुता की भावना जसा था। उसने सम्मेलन में भाग लेने के लिए कोई शर्त नहीं रखी जबकि अनेक काग्रेसी नेता और सत्याग्रही जेलों में थे। सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों में बराबरी का सिद्धान्त न केवल जातीयता पर आधारित था बल्कि अनुचित भी था, फिर भी काग्रेस ने अन्तरिम व्यवस्था के रूप में मुस्लिम लीग के साथ समझौते की भावना से और स्वशासन को शीघ्र प्राप्त करने के लिए इस बराबरी वाले सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया।

समय समय पर अपनायी गई काग्रेस की तुष्टिकरण की नीति ने केवल जिन्ना की हठधर्मिता को प्रोत्साहन नहीं दिया बल्कि लीग की माँगों का भी विस्तार किया। यदि काग्रेस 1916 में लखनऊ में पृथक निर्वाचन प्रणाली को स्वीकार नहीं करती, यदि 1920 में खिलाफत जसे राज्य क्षेत्रातीत ( extra territorial ) प्रश्न को असहयोग आन्दोलन में शामिल नहीं करती, यदि गाधीजी जिन्ना को "कायद-ए-आजम" (Qaid-i-Azam) से सम्बोधित कर उसका सम्मान न बढाते और यदि 'सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों में बराबरी के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करती तो जिन्ना की हठधर्मिता को प्रोत्साहन मिलना तो दूर वह अपनी प्रतिष्ठा को प्राप्त न कर सकता जिसे उसने प्राप्त किया। इस तरह काग्रेस की तुष्टिकरण की नीति भी इसके लिए उत्तरदायी है।

(b) **मुस्लिम लीग का उत्तरदायित्व**—शिमला में मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण

## शिमला सम्मेलन (25 जून–14 जुलाई, 1945)

जिन व्यक्तियों या प्रतिनिधियों को शिमला सम्मेलन म
निमन्त्रित किया गया उनम से थ भारत के प्रमुख राजनीतिक
और जिन्ना दलित वर्गों के प्रतिनिधि के रूप के रॉव बहादुर
Bahadur N Shivaraj) और सिक्खों के प्रतिनिधि के रूप म
अन्य व्यक्ति जो सम्मेलन म शामिल हुए व थे केन्द्रीय विधान
नेता और मुस्लिम लीग के उपनेता, राज्य सभा म कांग्रेस
नेता, केन्द्रीय विधान सभा म राष्ट्रीय दल और यूरोपियन
सरकारों के व सदस्य जो या तो प्रीमियर पद पर थे या
अर्थात उन प्रान्तों के प्रीमियरों को भी आमन्त्रित किया गया
93 लागू था। यद्यपि हिन्दू महासभा न सम्मेलन म सम्मि
परन्तु वायसराय ने उसे आमन्त्रित नहीं किया।

जून 25 1945 को शिमला म सम्मेलन शुरू
पर सभी आमन्त्रित व्यक्ति सम्मेलन म उपस्थित हुए।
शामिल नहीं हुए परन्तु ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस
सम्मेलन के दौरान व शिमला म ही रहे।[1]

सम्मेलन के प्रारम्भ म ही सभी राजनीतिक द
सिद्धान्तों पर सहमति प्रकट कर दी। सभी दलों न
कार्यकारिणी परिषद युद्ध काल तक कार्य करगी, यु
जायगा तथा अल्पमतों को प्रतिनिधित्व दिया जाए
साथ समझौते की दृष्टि से तथा स्वशासन को श
हिन्दुओं और मुसलमानों मे बराबरी के सिद्धान्त
लिया यद्यपि ऐसा करना अनुचित था। सवर्ण हि
और मुसलमानों की केवल 30 प्रतिशत थी।

ज्योंही सम्मेलन कार्यकारिणी परिषद
कांग्रेस और मुस्लिम लीग के दृष्टिकोणों म गम्भ
राष्ट्रीय संस्था होने स सभी जातियों के प्रति
त्याग नहीं सकती थी। कांग्रेस कभी भी इस बात
कि वह जातीय संगठन है, राष्ट्रीय नहीं। इसलि
कि उसे न केवल सवर्ण हिन्दुओं के प्रतिनिधि
बल्कि अन्य जातियों के प्रतिनिधियों को भी ना
जिन्ना तथा मुस्लिम लीग इस बात पर अटल
मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है और

1 See Lumby Ibid, p 49

वेवल की यह घोषणा कि "परिषद का गठन जातियो की सहमति पर ही हो सकता है" इस बात का प्रतीक थी कि वे जिन्ना को अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ावा दे रहे थे। डा० मुकर्जी ने ठीक लिखा है कि "वायसराय का वीटो जिन्ना के हाथो मे सौंप दिया गया है।" यह भी समझ मे नही आता कि जब मुस्लिम लीग भारत के सभी मुसलमानो का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी तो जिन्ना की इस हठधर्मिता के ऊपर कि वह ही एकमात्र मुस्लिम संस्था है जो मुसलमानो का एकमात्र प्रतिनिधित्व कर सकती है सम्मेलन की असफलता की घोषणा करना न्यायोचित नही था। सम्मेलन की असफलता ने न केवल जिन्ना और मुस्लिम लीग की स्थिति को सुदृढ़ कर दिया बल्कि पाकिस्तान की माग को भी बल दे दिया और आने वाली प्रवृत्तियो (trends) को स्पष्ट कर दिया। वेवल प्रस्ताव मे सवर्ण हिंदुओ और मुसलमानो का बराबर स्थान देना भी गलत था।

**वेवल प्रस्तावो के परिणाम**—वेवल प्रस्तावो की असफलता ने आने वाली प्रवृत्तियो को स्पष्ट कर दिया था। इन प्रस्तावो की असफलता से जो परिणाम निकले उनमे प्रमुख निम्न थे—

1 वेवल प्रस्तावो ने स्पष्ट कर दिया कि अनुदार दल का वास्तविक स्वरूप क्या था अर्थात् वेवल प्रस्ताव चर्चिल का चुनाव षडयन्त्र था। यह भी स्पष्ट हो गया कि जब तक अनुदार दल के लिए सम्भव होगा तब तक वह जिन्ना तथा मुस्लिम लीग का प्रयोग अपने उद्देश्यो के लिए करेगा और उन्हे संवधानिक विकास में बाधा प्रस्तुत करने से नही रोकेगा।

2 शिमला सम्मेलन ने स्पष्ट कर दिया कि जिन्ना तथा मुस्लिम लीग पाकिस्तान की माग की स्वीकृति के बिना कोई समझौता करने को तैयार नही होगी।

3 वेवल प्रस्तावो और शिमला सम्मेलन का सबसे अच्छा लाभ यह हुआ कि इसने लोगो मे नया उत्साह, नया जीवन और नया दृष्टिकोण पैदा कर दिया। नेताओ की रिहाई से निराशा आशा मे परिवर्तित हो गयी और लोग एक बार फिर अंतिम संघर्ष के लिए तैयार हो गये। कांग्रेस की लोकप्रियता मे भी वृद्धि हुई। जो उत्साह जनता ने आई० एन० ए० के अभियोगो के समय प्रदर्शित किया उसने सिद्ध कर दिया कि सरकार आजाद हिन्द फौज के जिन वीरो को राजद्रोही समझती है भारतीय उन्हे "राष्ट्रीय वीर" (National Heroes) समझते हैं।

## वेवल योजना और केबिनेट मिशन योजना के मध्य का काल
## अर्थात् जुलाई, 1945 से मार्च, 1946 तक
### ( Between July, 1945 and March, 1946 )

इस काल की प्रमुख घटनायें निम्न हैं—

(1) इंग्लण्ड मे श्रमिक दल की सरकार।

निराशापूर्ण, अनुचित अराष्ट्रीय एवं हठधर्मिता का था। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण थी कि लीग कांग्रेस को "हिन्दू जमात" सिद्ध करना चाहती और मुस्लिम मुसलमानों की एक प्रतिनिधि संस्था बताना चाहती थी जबकि उसके दोनों निराधार और मिथ्या थे। दूसरे मुस्लिम लीग के अतिरिक्त पंजाब में खिज़र खाँ (Khizir Hayat Khan) के नेतृत्व में यूनियनिस्ट पार्टी (Unionist Par... अहरार (Ahrars) राष्ट्रवादी मुसलमान, दी मोमिन्स (Momins), दी शिया (Shias) और जमायत उल-उलमा आदि मुस्लिम संस्थायें थी जो भारत के मुसलमानों के प्रतिनिधित्व करने का दावा करती थी। स्वयं मुस्लिम लीग विधान सभाओं के 600 मुस्लिम स्थानों में 420 स्थानों पर ही दावा करती थी। इतना ही नहीं जिन छः प्रान्तों में मुस्लिम बहुमत था और जिनको मिला कर जिन्ना पाकिस्तान की स्थापना करना चाहता था उन प्रान्तों में भी मुस्लिम लीग के मंत्रिमण्डल नहीं...

जिन्ना के लिए वेवल योजना एक "जाल" था जिस पर यदि मुस्लिम लीग हस्ताक्षर कर देती तो वह अपने "मृत्यु पत्र" पर हस्ताक्षर कर देती। अब जिन्ना ने यह कहना शुरू कर दिया कि परिषद में सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों के बराबरी होते हुए भी मुस्लिम लीग अल्पमत में रहेगी क्योंकि उसके सदस्यों की संख्या परिषद के कुल सदस्यों का ⅓ भाग होगी। जिन्ना का यह भी कहना था कि दलित वर्गों सिक्खों ईसाइयों तथा अन्य अल्पमत वालों के उद्देश्य कांग्रेस के समान ही है (स्वतन्त्रता और अखण्ड भारत) इसलिए मूल प्रश्नों पर कांग्रेस का ही बहुमत रहता और मुस्लिम लीग के कम मत होने से वह पराजित हो जाती। इसलिए अब जिन्ना ने कांग्रेस तथा अन्य अल्पमत दलों को दिये जाने वाले स्थानों की आलोचना करना शुरू कर दिया। जिन्ना को अन्तरिम अवस्था भी पसन्द नहीं थी क्योंकि यह अनिश्चित काल तक हो सकती थी जिसमें पाकिस्तान की माँग को स्थगित कर टाला जा सकता था। इतना ही नहीं जिन्ना गांधी हिन्दू कांग्रेस, वेवल की भौगोलिक एकता और पंजाब के गवर्नर तथा प्रीमियर में पाकिस्तान की माँग के विरुद्ध साठ गांठ की बात करने लगे। स्पष्ट है, जैसाकि लुम्बी ने लिखा है कि 'मुस्लिम लीग की नीति का उद्देश्य अपने लिए सत्ता प्राप्त करना नहीं था बल्कि अपने विरोधियों को सत्ता से वंचित रखना था।

(c) ब्रिटिश सरकार का उत्तरदायित्व—ब्रिटिश सरकार की नीति और वेवल का दृष्टिकोण भी शिमला सम्मेलन की असफलता के लिए उत्तरदायी था। प्रथम तो ब्रिटिश सरकार ने ही "विभाजन करो और शासन करो" की नीति अपना कर भारतीय राष्ट्रीयता की लहर से मुसलमानों को पृथक किया, उन्हें पृथक निर्वाचन प्रणाली देकर तथा उन्हें विधान मण्डलों में जातीय आधार पर गुरुभार देकर पृथकतावादी तत्वों को बढ़ावा दिया। ब्रिटिश शासन मुसलमानों को पृथकता का पाठ पढ़ा कर जिन्ना से जो कट्टर और हठधर्मी मुस्लिम नेता था, अच्छे एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण की अपेक्षा नहीं कर सकता था। शिमला सम्मेलन के समय भी

वेवल की यह घोषणा कि "परिषद का गठन जातियों की सहमति पर ही हो सकता है' इस बात का प्रतीक थी कि वे जिन्ना को अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ावा दे रहे थे। डा० मुकर्जी ने ठीक लिखा है कि "वायसराय का वीटो जिन्ना के हाथों में सौंप दिया गया है।" यह भी समझ में नहीं आता कि जब मुस्लिम लीग भारत के सभी मुसलमानों का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी तो जिन्ना की इस हठधर्मिता के ऊपर कि वह ही एकमात्र मुस्लिम संस्था है जो मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधित्व कर सकती है सम्मेलन की असफलता की घोषणा करना न्यायोचित नहीं था। सम्मेलन की असफलता ने न केवल जिन्ना और मुस्लिम लीग की स्थिति को सुदृढ़ कर दिया बल्कि पाकिस्तान की माग को भी बल दे दिया और आने वाली प्रवृत्तियों (trends) को स्पष्ट कर दिया। वेवल प्रस्ताव में सवर्ण हिंदुओं और मुसलमानों को बराबर स्थान देना भी गलत था।

**वेवल प्रस्तावों के परिणाम**—वेवल प्रस्तावों की असफलता ने आने वाली प्रवृत्तियों को स्पष्ट कर दिया था। इन प्रस्तावों की असफलता से जो परिणाम निकले उनमें प्रमुख निम्न थे—

1 वेवल प्रस्तावों ने स्पष्ट कर दिया कि अनुदार दल का वास्तविक स्वरूप क्या था अर्थात् वेवल प्रस्ताव चर्चिल का चुनाव षडयन्त्र था। यह भी स्पष्ट हो गया कि जब तक अनुदार दल के लिए सम्भव होगा तब तक वह जिन्ना तथा मुस्लिम लीग का प्रयोग अपने उद्देश्यों के लिए करेगा और उन्हें संवैधानिक विकास में बाधा प्रस्तुत करने से नहीं रोकेगा।

2 शिमला सम्मेलन ने स्पष्ट कर दिया कि जिन्ना तथा मुस्लिम लीग पाकिस्तान की माग की स्वीकृति के बिना कोई समझौता करने को तैयार नहीं होगी।

3 वेवल प्रस्तावों और शिमला सम्मेलन का सबसे अच्छा लाभ यह हुआ कि इसने लोगों में नया उत्साह, नया जीवन और नया दृष्टिकोण पैदा कर दिया। नेताओं की रिहाई से निराशा आशा में परिवर्तित हो गयी और लोग एक बार फिर अंतिम संघर्ष के लिए तैयार हो गये। कांग्रेस की लोकप्रियता में भी वृद्धि हुई। जो उत्साह जनता ने आई० एन० ए० के अभियोगों के समय प्रदर्शित किया उसने सिद्ध कर दिया कि सरकार आजाद हिंद फौज के जिन वीरों को राजद्रोही समझती है भारतीय उन्हें "राष्ट्रीय वीर" (National Heroes) समझते हैं।

## वेवल योजना और कैबिनेट मिशन योजना के मध्य का काल
## अर्थात् जुलाई 1945 से मार्च, 1946 तक
## ( Between July, 1945 and March, 1946 )

इस काल की प्रमुख घटनायें निम्न हैं—

(1) इंग्लैण्ड में श्रमिक दल की सरकार।

(ii) 19 सितम्बर, 1945 की घोषणा।
(iii) भारत म चुनाव।
(iv) भारत म बढ़ता हुआ असन्तोष।
(v) संसदीय शिष्टमण्डल।
(vi) आजाद हिन्द फौज के अफसरा पर आरोप।
(vii) सैनिक विद्रोह।

(i) इंग्लैण्ड में श्रमिक दल की सरकार—यूरोप में युद्ध समाप्त होने के बाद जुलाई, 1945 में इंग्लैण्ड में सामान्य निर्वाचन हुए जिनमे, एटली के नेतृत्व में श्रमिक दल की विजय हुई। श्रमिक दल के सत्तारूढ होते ही भारत मन्त्री के पद पर एमरी के स्थान पर लार्ड पैथिक लारेन्स (Lord Pethick Lawrence) को नियुक्त किया गया। अपने प्रथम सार्वजनिक वक्तव्य म ही लारेन्स ने "ब्रिटेन और भारत म समान साझेदारी के आदर्श"[1] की बात कही। इसी समय लार्ड वेवल को विचार विमर्श के लिये इंग्लैण्ड बुलाया गया।

(ii) 19 सितम्बर, 1945 की घोषणा इंग्लैण्ड से वापस लौट कर लार्ड वेवल ने 19 सितम्बर, 1945 को रेडियो प्रसारण में निम्न घोषणायें की—

(a) जितना शीघ्र सम्भव होगा संविधान निर्मात्री सभा का आयोजन किया जायगा।
(b) केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान-मण्डलो के लिए 1945–46 के शीतकाल मे निर्वाचन कराये जायेंगे।
(c) निर्वाचन के पश्चात ऐसी कार्यकारिणी परिषद् का गठन किया जायेगा जिसे भारत के सभी प्रमुख दलों का समर्थन प्राप्त होगा।
(d) जितनी जल्दी सम्भव होगा ब्रिटिश सरकार भारत को स्वशासन प्रदान करने म दृढ संकल्प है।
(e) निर्वाचन के बाद प्रान्तीय विधान-मण्डलों और देशी रियासतों के प्रतिनिधियो के साथ विचार विमर्श करके यह निश्चय किया जायगा कि संविधान निर्मात्री सभा क्या क्रिप्स योजना पर विचार करेगी या कि अन्य किसी योजना पर विचार करेगी।
(f) ब्रिटिश सरकार उस सन्धि के मूल तत्वों (विषय सूची) पर विचार कर रही है जो ग्रेट ब्रिटेन और भारत के मध्य की जायगी।

वायसराय की उपयुक्त घोषणा किसी को सन्तुष्ट न कर सकी। कांग्रेस ने इसे "अस्पष्ट, अपूर्ण एव असन्तोषजनक" (vague, inadequate and unsatisfactory) की संज्ञा दी। इसमे न तो भारत की स्वतन्त्रता की बात कही गई थी न तत्काल किसी विकास का संकेत किया गया था और न सेक्शन 93 के प्रान्तों

---

1 See Lumby, Ibid, p 58

सेक्शन 93 को समाप्त किया गया था। इसमे तत्काल केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद के निर्माण की बात भी नही की गई थी। चुनाव का आधार भी साम्प्रदायिक रखा गया था, वयस्क मताधिकार की इसमे कोई व्यवस्था नही थी। फलत किसी भारतीय राजनीतिक दल ने इस घोषणा की ओर ध्यान नही दिया।

(iii) भारत मे चुनाव—19 सितम्बर, 1945 की घोषणा म 1945–46 के शीतकाल मे केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान-मण्डलो के निर्वाचन की बात स्पष्ट कर दी गई थी। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के चुनाव घोषणा पत्र एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न थे। जहा कांग्रेस, चुनाव को "सयुक्त स्वतन्त्र भारत" (United Independent India) के आधार पर लडना चाहता था वहा मुस्लिम लीग "विभाजित भारत और पाकिस्तान के निर्माण" के आधार पर चुनाव लडना चाहती थी।

कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने सितम्बर, 1945 को एक प्रस्ताव भी पास किया जिसम यह कहा गया था कि "भारत का सविधान सघीय होगा, यह सविधान भिन्न भिन्न भागो की स्वेच्छा पर निभर करेगा, अवशिष्ट शक्तिया एकको के पास होगी तथा नागरिको के मूल अधिकार इसके अभिन्न अग होगे।"

मुस्लिम लीग का चुनाव घोषणा पत्र भारत के विभाजन और पाकिस्तान की माग पर आधारित था। मुस्लिम लीग ने यह घोषणा की कि "वह पाकिस्तान और भारतीय मुसलमानो की एकमात्र अधिकृत और प्रतिनिधि सस्था के आधार पर" चुनाव लडेगी। लीग के सचिव लियाकत अली खा ने घोषणा की कि भारत के मुस्लिम इस पर दृढ सकल्प है कि सयुक्त भारत कभी भी अस्तित्व मे नही आये।"

चुनाव परिणामो ने स्पष्ट कर दिया कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनो को ही अपनी अपनी जातियो का बहुमत प्राप्त है। जहा कांग्रेस ने 1937 के चुनावो की तुलना म अपनी स्थिति को सुदृढ किया वहा मुस्लिम लीग भी मुसलमानो की प्रतिनिधि सस्था के रूप मे सामने आई। केन्द्रीय विधान सभा मे मुस्लिम स्थानो और विशेष हितो के लिए सुरक्षित कुछ स्थानो को छोड कर कांग्रेस ने सभी निर्वाचित स्थानो को प्राप्त कर लिया। प्रान्तीय विधान सभाओ मे भी उसकी स्थिति सुदृढ हो गइ। प्रान्तीय विधान सभाओ म आठ प्रान्तो मे कांग्रेस को पूर्ण बहुमत मिला और बाकी तीन प्रान्तो मे भी वह दूसरी बडी पार्टी थी। मुस्लिम लीग ने केन्द्रीय विधान सभा मे उन सभी स्थानो को प्राप्त कर लिया जो मुसलमानो के लिए सुरक्षित थे।

कांग्रेस ने कुल 8 प्रान्तो मे मन्त्रिमण्डलो का निर्माण किया। इनमे असम और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त के ऐसे दो प्रान्त भी थे जिन्हे मुस्लिम लीग अपना क्षेत्र मानती थी तथा जिन्हे वह पाकिस्तान मे शामिल करना चाहती थी। अन्य प्रान्त जिनम कांग्रेस न मन्त्रिमण्डलो का निर्माण किया वे थे बिहार, यू० पी०, मद्रास, मध्य प्रान्त (CP) और उडीसा। बगाल और सिन्ध ही ऐसे दो प्रान्त थे

मुस्लिम लीग के मन्त्रिमण्डल बनाये गये। पंजाब में कांग्रेस, अकाली दल और यूनियनिस्ट पार्टी के संयुक्त मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया गया जिसके प्रीमियर मलिक सर खिजर हयात खां थे।

(iv) भारत में बढ़ता हुआ असन्तोष—ब्रिटेन में श्रमिक दल के सत्तारूढ़ होने से भारतीयों में कुछ आशा की किरण जागृत हुई थी परन्तु शीघ्र ही इसने असन्तोष और व्याकुलता को जन्म दिया। शिमला सम्मेलन असफल हो चुका था, 19 सितम्बर, 1945 की घोषणा भारत में किसी राजनीतिक दल को सन्तुष्ट न कर सकी और संवैधानिक विकास में अगला कदम उठाने के लिए चुनाव परिणामों तक इन्तजार करने की बात कही गई थी। जब इण्डोनेशिया और हिन्द चीन (Indo-China) में स्वतन्त्रता की मांग को कुचलने के लिए तथा फिर से इन प्रदेशों में औपनिवेशिक शासन को स्थापित करने की कोशिश की गई तो इस सारे वातावरण ने ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को तीव्र कर दिया। प्रेस तथा कांग्रेस ने यह कह कर सरकार की भर्त्सना करना शुरू कर दिया कि उसके इरादे "युद्ध उद्देश्यों और युद्ध घोषणाओं" के विपरीत हैं। कांग्रेस ने "भारत छोड़ो" को "एशिया छोड़ो" के सन्दर्भ में प्रयोग करना शुरू कर दिया। मुस्लिम लीग ने भी ब्रिटिश सरकार की आलोचना की।

(v) संसदीय शिष्टमण्डल—असन्तुष्ट, अविश्वास और विपले वातावरण को शान्त करने के लिए तथा सभी प्रकार की गलतफहमियों (भ्रान्तियों) को दूर करने के लिए संसदीय शिष्टमण्डल के भारत भेजे जाने की घोषणा ब्रिटिश सरकार ने संसद के दोनों सदनों में 4 दिसम्बर, 1945 को की। लार्ड पेथिक लारेंस ने इस घोषणा में स्पष्ट कर दिया कि यह शिष्टमण्डल कोई सरकारी पूछताछ नहीं करेगा और न ही कोई प्रतिवेदन प्रस्तुत करेगा। इसका कर्तव्य तो प्रमुख भारतीय राजनीतिक नेताओं के साथ सम्पर्क करके ब्रिटिश लोगों और ब्रिटिश संसद की इस इच्छा को स्पष्ट करना था कि वे भारत को शीघ्र पूर्ण स्वशासन प्रदान करना चाहते हैं। यह संसदीय शिष्टमण्डल भारत में जनवरी और फरवरी 1946 में भ्रमण करता रहा। क्योंकि इस शिष्टमण्डल को सरकार को कोई प्रतिवेदन प्रस्तुत नहीं करना था और क्योंकि इसके सदस्य ख्याति प्राप्त व्यक्ति नहीं थे इसलिए इसके आगमन से भारत में कोई विशेष जोश या उत्साह पैदा नहीं किया।

(vi) आई० एन० ए० अभियोग—आई० एन० ए० ने भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष के इतिहास में एक नये अध्याय को जोड़ दिया। भारत की भिन्न भिन्न जातियों से संगठित इस फौज ने भारतीयों के लिए देशभक्ति, त्याग और स्वतन्त्रता के प्रेम का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया। इसने न केवल सर्वसाधारण में नयी उत्तेजना व जागृति उत्पन्न कर दी बल्कि सैनिकों में भी स्वतन्त्रता की भावनाओं का संचार कर दिया। युद्ध के बाद जब आजाद हिन्द फौज (I N A) के कुछ अफसरों पर राजद्रोह का मुकदमा चलाने के लिए उन्हें नवम्बर 1945 में दिल्ली लाया गया तो जनता ने उस समय अद्वितीय उत्साह और देशभक्ति का परिचय दिया। सारा राष्ट्र इन 'वीरों', तथा "स्वतन्त्रता सेनानियों" की रक्षा के लिए एक जुट हो गया और उनकी

रिहाई की माग करने लगा । अनेक स्थानो पर इनकी रिहाई के लिए प्रदशन किय गये, हडतालें की गई, जलूस निकाले गये । अमीया चटर्जी लिखते ह "कि आई० एन० ए० ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध जन जागृति का प्रतीक बन गई ।" जिन्हे ब्रिटिश सरकार राजद्रोही समझती थी भारतीय उन्हे वीर और स्वतन्त्रता सेनानी समझते थे । काग्रेस ने भी इन अफसरो की रक्षा का बीडा अपने कन्धो पर लिया और उन लागो ने भी वकालत के चोगे पहन लिये जिन्हे वकालत छोडे अनेको वप हो गये थे । भूलाभाई देसाई, सर तेज बहादुर सप्रू, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, के एन काटजू बख्शी टेकचन्द आदि न इस मुकदमे की पेरवी की । सनिक अदालत ने इन्हे दोषी मानकर आजीवन कारावास का दण्ड दिया परन्तु इस घोषित दण्ड का सरकार कार्यान्वित न कर सकी और सर्वोच्च सेनापति अचिनलेक ने उन्ह रिहा कर दिया । आई एन ए के अ य 11,000 सनिको को भी बिना शत छोड दिया गया । इससे काग्रेस की प्रतिष्ठा को चार चाद लग गय ।

(VII) सनिक विद्रोह—आजाद हिन्द फौज क अफसरो पर अभियोग ने ब्रिटिश प्रतिष्ठा को धक्का लगाया, ब्रिटिश विरोधी भावनाओ को तीव्र किया, काग्रेस की प्रतिष्ठा को बढाया तथा सेनाओ मे[1] राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावनाओ का सचार करके विद्रोह की भावनाओ को जन्म दिया । फरवरी, 1946 के सनिक विद्रोह इसके प्रत्यक्ष फल थे । जसाकि लुम्बी ने लिखा है कि 'कुछ समय के लिए नौसनिक विद्रोह हुआ था ।" 18 फरवरी, 1946 को बम्बई सिगनल स्कूल के नौसनिको (Ratings of the Signal School Bombay) ने अग्रेज कमाण्डरो द्वारा भारतीय राष्ट्रीय चरित्र की भत्सना करने पर उन्होने विद्रोह कर दिया । बम्बई, कलकत्ता और कराची के हवाई अड्डा म हडताल ने खुले विद्रोह का रूप धारण कर लिया । यद्यपि अग्रेज अफसरो तथा अग्रेज सैनिको की सहायता से विद्रोह को कुचल दिया गया परन्तु इन घटनाओ न राष्ट्रीय विचारा को स्पष्ट कर दिया । इसन न केवल अग्रेजा की आखें ही खोल दी वल्कि उन्ह यह अनुभव भी करा दिया कि वे अब भारत को अधिक दिनो तक अपने अधीन नही रख सकते । मोलाना आजाद के शब्दो मे "सन् 1857 के बाद यह पहला अवसर था जब रक्षा सेनाओ ने राजनीतिक प्रश्न के ऊपर खुले रूप से विद्रोह किया था इन सब घटनाओ ने ब्रिटन को विश्वास दिला दिया कि राजनीतिक समस्या का कोई स तोषजनक हल नही निकल जाता, वे शस्त्र सेनाओ पर निभर नही कर सकते ।"[2]

## केबिनेट मिशन
### (Cabinet Mission)

सनिक विद्रोहो के दूसरे ही दिन अर्थात् 19 फरवरी, 1946 को ब्रिटिश ससद

1 'There was a Short live Naval Mutiny' Lumby, Ibid, p 68

2 Azad, Ibid, pp 131-132

के दोनो सदनो म यह घोषणा की गई कि ब्रिटिश सरकार मन्त्रिया का एक मिशन भारत भेज रही है। इस मिशन का उद्देश्य भारतीय नेताग्रो ग्रौर वाय की सहमति से सवैधानिक समस्या के समाधान के लिए सिद्धान्तो ग्रौर कायप्र को निश्चित करना था। मिशन का काय भारत के लिए किसी सविधान का नि र्माण करना नही था, यह काय तो स्वय भारतीयो का था। इसका कार्य तो 19 सित 1945 की वायसराय की घोषणा के प्रोग्राम को कार्यान्वित करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु मिशन के दो काय थे। (i) सवधानिक सभा के निर्माण प्रक्रिया को निश्चित करना, तथा (ii) भारत के प्रमुख दलो के समथन म ग्रन्त काय-कारिणी परिषद् की स्थापना करना।

15 माच, 1946 को प्रधानमन्त्री एटली ने भारत की स्वतन्त्रता की को स्वीकार कर लिया ग्रौर यह स्पष्ट कर दिया कि केबिनट मिशन का उ भारत को शीघ्र ग्रौर पूण स्वतन्त्रता दिलाने मे सहायता करना है। एक प्रश्न उत्तर मे सर स्टैफड क्रिप्स ने भी कहा था कि "जितनी जल्दी ग्रौर जितनी शान्ति नम्रता से हम भारत को स्वतन्त्रता दे सकते है उतनी ही जल्दी ग्रौर शान्ति से भारत का स्वतन्त्रता देना चाहते है।" मिशन "विरोधी दावो का निणय करने लिए नही ग्रपितु सत्ता हस्तान्तरण के लिए ग्राया था।" लारेन्स ने भी कहा था मिशन 'खुले मस्तिष्क से भारत ग्राया है।" प्रधान मन्त्री एटली ने 15 माच, 19 के ग्रपने वक्तव्य म यह भी कहा था कि "हम ग्रल्पमतो के ग्रधिकारो के प्रति स सचेत ह ग्रौर ग्रल्पमत वालो को भय स मुक्त रह कर जिन्दा रहने का ग्रधिकार ह चाहिए। दूसरी ग्रोर, हम किसी ग्रल्पमत को बहुमत के विकास म वीटो ग्रधिकार भी नही दे सकते।"[1] भारतीय देशी रियासतो से भी एटली न यह ग्रा व्यक्त की कि वे भारत की प्रगति मे बाधा प्रस्तुत नही करेंगी। भारतीय लोगो एटली ने यह ग्रपेक्षा की कि वे "ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल मे रहना पसन्द करेंगे।' 'ग्रन्त रिम सरकार' की बात भी एटली ने इसी घोषणा मे कही।

एटली की उपयुक्त घोषणा का ब्रिटिश ससद के सभी दलो न स्वागत किया भारत मे भी इसका प्रभाव ग्रच्छा हुग्रा। इस घोषणा ने ग्रशान्त ग्रौर विपल वात वरण को शान्त कर दिया। काग्रेस न लोगो को शान्त रहने ग्रौर धीरज रखने लिए कहा। मुस्लिम लीग इस घोषणा के सम्बन्ध मे कुछ शकित थी क्योंकि इस पाकिस्तान की ग्रावश्यकता के बारे मे कुछ नही कहा गया था। इसमे तो यह कह गया था कि "किसी ग्रल्पमत को बहुमत के विकास मे वीटो का ग्रधिकार नही दि जायगा।' जिन्ना की यह शिकायत थी कि एटली काग्रेस के प्रचार जाल म फस गए है। उसने कहा कि बहुमत की प्रगति को रोकने का कोई प्रश्न नही उठता, भारत मुसलमान कोई ग्रल्पसख्यक नही, वे एक राष्ट्र है ग्रौर ग्रात्म निणय का ग्रधिकार

1 Attlee Quoted by Lumby, Ibid, p 72

उनका जन्म सिद्ध अधिकार है हमारी स्थिति निश्चित और स्पष्ट है, हम भारत का विभाजन चाहते हैं और पाकिस्तान की स्थापना चाहते हैं।

**मिशन का सगठन तथा भारत मे उसका आगमन**—केबिनेट मिशन 23 मार्च 1946 को भारत (कराची) पहुचा और 24 मार्च 1946 को वह दिल्ली पहुचा। इसके कुल तीन सदस्य थे–भारत मन्त्री लार्ड पैथिक लारेंस बोर्ड आफ ट्रेड के अध्यक्ष सर स्टफर्ड क्रिप्स और नौवाहन विभाग (Admiralty) के प्रथम लार्ड श्री ए वी एलेक्जेंडर। भारत मन्त्री पैथिक लारेंस इसके अध्यक्ष थे। वायसराय लार्ड वेवल यद्यपि सिद्धान्तत इस मिशन के सदस्य नही थे परन्तु व्यवहार मे, जब तक मिशन भारत मे रहा, वे इसके साथ काम करते रहे।

**भारतीय राजनीतिक दलो तथा नेताओ से वार्तालाप**—मिशन ने दिल्ली पहुचते ही सार्वजनिक क्षेत्र मे सलग्न श्री पुरुषो से भेंट करना शुरू कर दिया। अखिल भारतीय तथा प्रान्तीय राजनीतिक दलो से, अल्पमत वालो, विशेष हितो और राजाओ से भी बातचीत करना शुरू कर दिया। तीन सप्ताह तक ये बातचीत चलती रही और कोई सफल परिणाम न निकला। वार्तालाप इस बिन्दु पर आकर असफल हो गई कि कांग्रेस सयुक्त भारत' चाहती थी और मुस्लिम लीग 'भारत का विभाजन" और पाकिस्तान की स्थापना। दोनो अपनी अपनी माग का त्यागने के लिए तयार नही थे। जब कोई समझौता न हो सका तो 17 अप्रेल को वार्तालाप स्थगित कर दी गई। बाद मे समझौते का पुन प्रयास किया गया और 5 मई, 1946 से 11 मई, 1946 तक शिमला मे त्रिपक्षीय सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन मे कांग्रेस और मुस्लिम लीग के चार चार प्रतिनिधियो ने भाग लिया। परन्तु इस सम्मेलन मे भी कांग्रेस और मुस्लिम लीग मे मूल सिद्धान्तो पर कोई समझौता न हो सका। कांग्रेस 'सयुक्त भारत' और लीग 'पाकिस्तान की माग पर अडी रही। कांग्रेस भारत के लिए एक ही सवैधानिक सभा चाहती थी जो भारत के सघीय सविधान का निर्माण करेगी तथा जिसमे अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तो के पास रहगी जबकि मुस्लिम लीग दो सवैधानिक सभायें चाहती थी, एक भारत के लिए और दूसरी पाकिस्तान के लिए सविधान का निर्माण करगी। मुस्लिम लीग अधिक से अधिक दो राज्यो मे राज्य सघ (Confederal union) के लिए सहमत थी और इसमे भी वह राज्य सघ की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका मे दो राज्यो मे बराबरी (Party) के आधार पर ही सम्मिलित होने के लिए तयार थी।[1] जसाकि लुम्बी ने लिखा है कि "कांग्रेस के लिए प्रथम आवश्यकता केन्द्र को सुदृढ करने और ग्रुप्स के क्षेत्र को कम करने की थी, लीग के लिए प्रथम उद्देश्य सुदृढ मुस्लिम ग्रुप के निर्माण करने की थी, जिसका वास्तविक अर्थ पाकिस्तान की प्राप्ति थी और केन्द्र की शक्तियो को न्यूनतम करने की

1 See Chatterji Amiya, Ibid p 139 and also Lumby, Ibid, p 83

उनका ज म मिद्ध अधिकार है      हमारी स्थिति निश्चित और स्पष्ट है, हम भारत का विभाजन चाहते है और पाकिस्तान की स्थापना चाहते है ।

**मिशन का सगठन तथा भारत मे उसका आगमन**—केबिनेट मिशन 23 माच 1946 को भारत (कराची) पहुचा और 24 माच 1946 को वह दिल्ली पहुचा । इसके कुल तीन सदस्य थे--भारत मन्त्री लाड पथिक लारेंस, बाः आफ ट्रेड के अध्यक्ष सर स्टफड क्रिप्स और नौवाहन विभाग ( Admiralty ) के प्रथम लाड श्री ए वी एलेक्जेंडर। भारत मत्री पथिक लारेन्स इसके अध्यक्ष थ । वायसराय लाड वेवल यद्यपि सिद्धान्तत इस मिशन के सदस्य नही थ परन्तु व्यवहार मे, जब तक मिशन भारत म रहा, वे इसके साथ काय करते रहे ।

**भारतीय राजनीतिक दलो तथा नेताओं से वार्तालाप**—मिशन ने दिल्ली पहुचन ही सावजनिक क्षेत्र म सलग्न स्त्री पुरुषो से भेंट करना शुरू कर दिया । अखिल भारतीय तथा प्रान्तीय राजनीतिक दलो म, अल्पमत वालो, विशेष हितो और राजाओ मे भी बातचीत करना शुरू कर दिया । तीन सप्ताह तक य बातचीत चलती रही और कोई सफल परिणाम न निकला । वार्तालाप इस बिन्दु पर आकर असफल हो गइ कि 'कांग्रेस सयुक्त भारत' चाहती थी और मुस्लिम लीग "भारत का विभाजन' और पाकिस्तान की स्थापना । दोनो अपनी अपनी माग को त्याग ने के लिए तयार नही थ । जब कोई समझौता न हो सका तो 17 अप्रेल का वार्तालाप स्थगित कर दी गई । बाद में समझौते का पुन प्रयास किया गया और 5 मई, 1946 स 11 मई, 1946 तक शिमला म त्रिपक्षीय सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन म कांग्रेस और मुस्लिम लीग के चार चार प्रतिनिधियो ने भाग लिया । परन्तु इस सम्मेलन म भी कांग्रेस और मुस्लिम लीग म मूल सिद्धान्तो पर कोई समझौता न हो सका । कांग्रेस 'सयुक्त भारत' और लीग 'पाकिस्तान' की माग पर अडी रही । कांग्रेस भारत के लिए एक ही सवधानिक सभा चाहती थी जो भारत के सघीय सविधान का निर्माण करेगी तथा जिसमे अवशिष्ट शक्तिया प्रान्तो के पास रहगी जबकि मुस्लिम लीग दो सवधानिक सभायें चाहती थी, एक भारत के लिए और दूसरी पाकिस्तान के लिए सविधान का निर्माण करेगी । मुस्लिम लीग अधिक से अधिक दो राज्यो म राज्य सघ (Confederal union) के लिए सहमत थी और इसमे भी वह राज्य सघ की कायपालिका और व्यवस्थापिका म दो राज्यो म बराबरी (Party) के आधार पर ही सम्मिलित होन के लिए तयार थी ।[1] इसलिए लुम्बी न लिखा ह कि 'कांग्रेस के लिए प्रथम आवश्यकता केन्द्र को सुदृढ करने और प्रान्त के क्षेत्र को कम करन की थी, लीग के लिए प्रथम उद्देश्य सुदृढ मुस्लिम ग्रुप के निर्माण करने की थी, जिसका वास्तविक अथ पाकिस्तान की प्राप्ति थी और केन्द्र की शक्तिया का न्यूनतम करन की

1 See Chatterji Amiya, Ibid, p 139 and also Lumby, Ibid, p 83

के दोनों सदनों में यह घोषणा की गई कि ब्रिटिश सरकार मंत्रियों का एक विशेष मिशन भारत भेज रही है। इस मिशन का उद्देश्य भारतीय नेताओं और वायसराय की सहमति से संवैधानिक समस्या के समाधान के लिए सिद्धान्तों और कार्यप्रणाली को निश्चित करना था। मिशन का कार्य भारत के लिए किसी संविधान का निर्माण करना नहीं था, यह कार्य तो स्वयं भारतीयों का था। इसका कार्य तो 19 सितम्बर, 1945 की वायसराय की घोषणा के प्रोग्राम को कार्यान्वित करना था। इस मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति हेतु मिशन के दो कार्य थे। (i) संवैधानिक सभा के निर्माण की प्रक्रिया को निश्चित करना, तथा (ii) भारत के प्रमुख दलों के समर्थन से अन्तरिम कार्यकारिणी परिषद् की स्थापना करना।

15 मार्च, 1946 को प्रधानमन्त्री एटली ने भारत की स्वतन्त्रता की माँग को स्वीकार कर लिया और यह स्पष्ट कर दिया कि कैबिनेट मिशन का उद्देश्य *भारत को शीघ्र और पूर्ण स्वतन्त्रता दिलाने में सहायता करना है।* एक प्रश्न के उत्तर में सर स्टफर्ड क्रिप्स ने भी कहा था कि "जितनी जल्दी और जितनी शान्ति या नम्रता से हम भारत को स्वतन्त्रता दे सकते हैं उतनी ही जल्दी और शान्ति से हम भारत को स्वतन्त्रता देना चाहते हैं। मिशन "विरोधी दावों का निर्णय करने के लिए नहीं अपितु सत्ता हस्तान्तरण के लिए आया था।" लारेन्स ने भी कहा था कि मिशन 'खुले मस्तिष्क से भारत आया है।' प्रधान मन्त्री एटली ने 15 मार्च, 1946 के अपने वक्तव्य में यह भी कहा था कि "हम अल्पमतों के अधिकारों के प्रति बहुत सचेत हैं और अल्पमत वालों को भय से मुक्त रह कर जिन्दा रहने का अधिकार होना चाहिए। दूसरी ओर, हम किसी अल्पमत को बहुमत के विकास में वीटो का अधिकार भी नहीं दे सकते।"[1] भारतीय देशी रियासतों से भी एटली ने यह आशा व्यक्त की कि वे भारत की प्रगति में बाधा प्रस्तुत नहीं करेंगी। भारतीय लोगों से एटली ने यह अपेक्षा की कि वे 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में रहना पसन्द करेंगे।" 'अन्तरिम सरकार" की बात भी एटली ने इसी घोषणा में कही।

एटली की उपर्युक्त घोषणा का ब्रिटिश संसद के सभी दलों ने स्वागत किया। भारत में भी इसका प्रभाव अच्छा हुआ। इस घोषणा ने अशान्त और विषैले वातावरण को शान्त कर दिया। कांग्रेस ने लोगों को शान्त रहने और धीरज रखने के लिए कहा। मुस्लिम लीग इस घोषणा के सम्बन्ध में कुछ शंकित थी क्योंकि इसमें पाकिस्तान की आवश्यकता के बारे में कुछ नहीं कहा गया था। इसमें तो यह कहा गया था कि "किसी अल्पमत को बहुमत के विकास में वीटो का अधिकार नहीं दिया जायगा।' जिन्ना की यह शिकायत थी कि एटली कांग्रेस के प्रचार जाल में फंस गया है। उसने कहा कि बहुमत की प्रगति को रोकने का कोई प्रश्न नहीं उठता भारतीय मुसलमान कोई अल्पसंख्यक नहीं, वे एक राष्ट्र हैं और आत्म निर्णय का अधिकार

1 Attlee Quoted by Lumby, Ibid, p 72

उनका ज म सिद्ध अधिकार है हमारी स्थिति निश्चित और स्पष्ट है, हम भारत का विभाजन चाहते है और पाकिस्तान की स्थापना चाहत है।

**मिशन का सगठन तथा भारत मे उसका आगमन**—केबिनेट मिशन 23 माच 1946 को भारत (कराची) पहुचा और 24 माच 1946 को वह दिल्ली पहुचा। इसके कुल तीन सदस्य थे—भारत म त्री लाड पथिक लारेन्स, वोड आफ ट्रेड के अध्यक्ष सर स्टफड क्रिप्स और नौवाहन विभाग ( Admiralty ) के प्रथम लाड श्री ए वी एलेक्जेंडर। भारत मनी पथिक लारेन्स इसके अध्यक्ष थे। वायसराय लाड वेवल यद्यपि सिद्धा तत इस मिशन के सदस्य नही थे पर तु व्यवहार म, जब तक मिशन भारत मे रहा, वे इसके साथ काय करते रहे।

**भारतीय राजनीतिक दलो तथा नेताओ से वार्तालाप**—मिशन ने दिल्ली पहुचने ही सावजनिक क्षेत्र म सलग्न सी पुरुषा स भेंट करना शुरु कर दिया। अखिल भारतीय तथा प्रा तीय राजनीतिक दला स, अल्पमत वाला, विशेष हिता और राजाश्रा से भी वातचीत करना शुरु कर दिया। तीन सप्ताह तक य बातचीत चलती रही और कोई सफल परिणाम न निकला। वार्तालाप इस बिन्दु पर आकर असफल हो गई कि 'कांग्रेस सयुक्त भारत' चाहती थी और मुस्लिम लीग 'भारत का विभाजन' और पाकिस्तान की स्थापना। दोनो अपनी अपनी माग को त्यागने क लिए तयार नही थ। जब कोई समझौता न हो सका तो 17 अप्रेल को वातालाप स्थगित कर दी गई। वाद म समझौने का पुन प्रयास किया गया और 5 मई, 1946 स 11 मई, 1946 तक शिमला म निष्पक्षीय सम्मलन बुलाया गया। इस सम्मलन मे कांग्रेस और मुस्लिम लीग के चार चार प्रतिनिधियो न भाग लिया। परन्तु इस सम्मलन म भी कांग्रेस और मुस्लिम लीग म मूल सिद्धा ता पर कोइ समझौता न हो सका। कांग्रेस सयुक्त भारत और लीग 'पाकिस्तान' की माग पर अडी रही। कांग्रेस भारत के लिए एक ही सवधानिक सभा चाहती थी जो भारत के सघीय सविधान निर्माण करेगी तथा जिसमे अवशिष्ट शक्तिया प्रा तो के पास रहेगी जबकि मुस्लिम लीग दा सवधानिक सभायें चाहती थी, एक भारत के लिए और दूसरी पाकिस्तान के लिए सविधान का निर्माण करेगी। मुस्लिम लीग अधिक स अधिक दा राज्यो के राज्य सघ (Confederal union) के लिए सहमत थी और इसम भी वह राज्य सघ की कायपालिका और व्यवस्थापिका म दो राज्या म बराबरी (Party) क आधार पर ही सम्मिलित होन के लिए तयार थी।[1] जसाकि लुम्बी न लिखा है कि 'कांग्रेस के लिए प्रथम आवश्यकता केन्द्र को सुदृढ करने और ग्रुप्स के क्षेत्र का कम करन की थी, लीग के लिए प्रथम उद्देश्य सुदृढ मुस्लिम ग्रुप के निर्माण करन की थी जिसका वास्तविक अथ पाकिस्तान की प्राप्ति थी और केन्द्र की शक्तिया का न्यूनतम करन की

1 See Chatterji Amiya Ibid, p 139 and also Lumby, Ibid, p 83

2 'परम सत्ता" की समाप्ति—कैबिनेट मिशन योजना में परम सत्ता (Paramountcy) को भारतीय सरकार को नहीं सौंपा गया था और न ही इसे ब्रिटिश हाथों में रखा गया था बल्कि इसकी समाप्ति की बात कही गई थी। मिशन ने यह आशा व्यक्त की थी कि देशी रियासतें संघ में सम्मिलित होने के लिए स्वयं आपस बात से कोई रास्ता ढूँढ लेंगी।

3 दीर्घकालीन प्रस्ताव—दीर्घकाल से सम्बन्धित कैबिनेट मिशन प्रस्तावों ने निम्न सुझाव प्रस्तुत किये जो भारतीय संविधान के स्वरूप से सम्बन्धित थे। ये प्रस्ताव 16 मई, 1946 की घोषणा के 15 वें पैराग्राफ में उल्लिखित थे जो मुख्यतः निम्न प्रकार से थे :—

(i) ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों को मिलाकर एक संघ की स्थापना की जाय जिसके पास सुरक्षा, विदेशी मामले और यातायात विषय हों। इन विषयों का प्रबन्ध करने के लिए उसके पास धन एकत्रित करने की भी शक्ति होनी चाहिए।

---

1 Lumby : Ibid, p 82

(ii) संघ शासन की अपनी कार्यपालिका और व्यवस्थापिका हो जिसका गठन ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के प्रतिनिधियों से किया जाय। व्यवस्थापिका में किसी भी साम्प्रदायिक प्रश्न पर तभी निर्णय लिया जाय जब उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों का बहुमत उसे स्वीकार कर ले।

(iii) अवशिष्ट शक्तियां सहित, अन्य सभी शक्तियां प्रान्तों के पास होनी चाहिए।

(iv) देशी रियासतों को भी उपयुक्त चार शक्तियां ही केन्द्र को अर्पित करनी थी, शेष शक्तियां उन्हीं के पास ही रहनी थी।

(v) प्रान्त पृथक समूह (Group) बना सकते थे और प्रत्येक पृथक समूह को अपनी पृथक कार्यपालिका और व्यवस्थापिका रखने का अधिकार होना चाहिए जो उन विषयों का प्रबन्ध कर सकता था, जो उस समूह में आने वाले प्रान्त उस समूह कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को देने के लिए तैयार हों।

(vi) संघीय और सामूहिक संविधान में किसी प्रान्त की व्यवस्थापिका के बहुमत की मांग पर 10 वर्ष बाद और प्रत्येक 10 वर्ष के मध्यावकाश (interval) में संविधान पर पुनर्विचार की व्यवस्था होनी चाहिये अर्थात प्रत्येक दस वर्ष बाद संविधान में संशोधन की व्यवस्था होनी चाहिए।

4 संवैधानिक सभा—संवैधानिक सभा के निर्माण के सम्बन्ध में केबिनट योजना में निम्न प्रस्ताव थे

(i) संवैधानिक सभा के कुल सदस्यों की संख्या 389 निश्चित की गई थी। इसमें ब्रिटिश भारत के लिए 296 और देशी रियासतों के लिए 93 सदस्य निश्चित किये गये थे। ब्रिटिश भारत के सदस्यों में 292 गवर्नर प्रान्तों के लिए और एक-एक ब्रिटिश बिलोचिस्तान, कुर्ग, अजमेर मारवाड और दिल्ली के मुख्य आयुक्त (चीफ कमिश्नर) प्रान्तों के लिए।

(ii) संवैधानिक सभा के सदस्यों के निर्वाचन के लिए वयस्क मताधिकार को अस्वीकार कर दिया गया था क्योंकि इससे देरी होने की सम्भावना थी। इसके स्थान पर मिशन ने प्रत्येक प्रान्त के लिए उसकी जनसंख्या के आधार पर स्थान निर्धारित कर दिए। लगभग दस लाख व्यक्तियों के लिए एक प्रतिनिधित्व व्यवस्था की गई थी।

(iii) प्रान्तों के लिए निर्धारित किये गये स्थानों को प्रान्त की मुख्य जातियों में,[1] उनकी जनसंख्या के आधार पर, विभक्त कर दिया गया था। प्रत्येक जाति के लिए निश्चित किये गये सदस्यों को, उस जाति के विधान सभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित किया जाना था। इस तरह संवधानिक सभा के सदस्यों का निर्वाचन अनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय प्रणाली के आधार पर किया जाना था और प्रान्तीय विधान सभायें संवधानिक सभा के लिए निर्वाचक मण्डल थी। ब्रिटिश बिलोचिस्तान और कुर्ग के सदस्यों का निर्वाचन सम्बन्धित स्थानीय विधान परिषदों द्वारा किया जाता था और अजमेर और दिल्ली से एक एक केन्द्रीय MLA का निर्वाचन किया जाना था।

(iv) मिशन ने केवल तीन जातियों (Communities) को ही मान्यता दी थी—मुस्लिम, सिक्ख और 'सामान्य'। सामान्य जाति में वे सभी जातियां थी जो न तो मुस्लिम थी और न सिक्ख। सिक्ख जाति को केवल पंजाब में ही मान्यता प्राप्त थी। अल्पसंख्यकों को अब तक दी जाने वाली भारात्मक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को समाप्त कर दिया गया।

(v) देशी राज्यों के प्रतिनिधियों के चयन के तरीकों का विचार विमर्श द्वारा निर्धारित किया जाना था। प्रारम्भिक अवस्था में राज्यों का प्रतिनिधित्व 'वार्ता समिति' (Negotiating Committee) द्वारा किया जाना था। परन्तु यहां भी यही विचार प्रचलित था कि, ब्रिटिश भारत की तरह, जनसंख्या के अनुपात में ही उन्हें प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये।

(vi) प्रान्तों को तीन समूहों में बांटा गया था। समूह 'अ' (A) में छः प्रान्त थे—मद्रास, बम्बई, यू० पी०, बिहार, सी० पी० उड़ीसा, समूह 'ब'

---

1 See Chatterji, Amiya Ibid, p 142

Table of Representation

Section A

| Province | General | Muslim | Total |
|---|---|---|---|
| Madras | 45 | 4 | 49 |
| Bombay | 19 | 2 | 21 |
| U P | 47 | [illegible] | 55 |
| Bihar | 31 | 5 | 36 |
| C P | 16 | 1 | 17 |
| Orissa | 9 | 0 | 09 |
| | 167 | 20 | 187 |

Section B

| Province | General | Muslim | Sikh | Total |
|---|---|---|---|---|
| Punjab | 8 | 16 | 4 | 28 |
| NWFP | 0 | 3 | 0 | 03 |
| Sind | 1 | 3 | 0 | 4 |
| | 9 | 22 | 4 | 35 |

Section C

| Province | General | Muslim | Total |
|---|---|---|---|
| Bengal | 27 | 33 | 60 |
| Assam | 7 | 3 | 10 |
| | 34 | 36 | 70 |

(B) म तीन प्रान्त थे—पंजाब, एन० डब्ल्यू० एफ० पी० और सिन्ध, समूह 'स' (C) में दो प्रान्त थे—बंगाल और असम ।

**5 सामान्य प्रक्रिया**—केबिनेट मिशन योजना म सामान्य प्रक्रिया सम्बन्धी कुछ बातों को पराग्राफ 19 के उप पराग्राफ IV से VIII तक वर्णित किया गया था। प्रक्रिया सम्बन्धी ये बातें मुख्यतया निम्न थीं—

(i) संवैधानिक सभा के सदस्यों की बैठक नई दिल्ली म की जानी थी। प्रारम्भिक बैठक में ही सभा का अध्यक्ष और अन्य पदाधिकारियों का निर्वाचन किया जाना था तथा नागरिकों, अल्पमत वालों और कबायली तथा वर्जित (excluded) क्षेत्रों के अधिकारों के सम्बन्ध में परामर्शदात्री समिति की भी स्थापना की जानी थी। इसके बाद प्रान्तीय प्रतिनिधियों को अपने अपने समूहों में विभक्त हो जाना था।

(ii) इन समूहों ने ही प्रान्तीय संविधानों को निश्चित करना था और इस बात का भी निर्णय लेना था कि अमुक समूह में आने वाले प्रान्तों के लिए क्या समूह संविधान (Group Constitution) होगा और यदि समूह संविधान होगा तो इस समूह का कौन कौन से प्रान्तीय विषय दिये जायेंगे। प्रान्तों को समूह से पृथक होने का अधिकार दिया गया था समूह से पृथक होने का निर्णय नवीन संविधान के अन्तर्गत प्रथम निर्वाचन के बाद स्थापित की गई सम्बन्धित प्रान्तीय व्यवस्थापिका के बहुमत द्वारा ही लिया जा सकता था। समूह से पृथक रहने वाला प्रान्त अपना पृथक संविधान का निर्माण कर सकता था।

(iii) प्रान्तों और समूहों के संविधान के निर्माण होने के बाद समूहों और भारतीय देशी रियासतों के प्रतिनिधियों को भारत संघ के संविधान के निर्माण के लिये पुन इकट्ठे होना था। इस तरह केबिनेट मिशन योजना म पहले प्रान्तीय संविधान फिर समूह संविधान और फिर संघीय संविधान की व्यवस्था की गई थी।

(iv) सभा के अध्यक्ष को ही इस बात का निर्णय करना था कि कौन से प्रस्ताव साम्प्रदायिक विषयों को उत्पन्न करते हैं और यदि प्रमुख जातियों के प्रतिनिधियों का बहुमत माँग करे तो अपने निर्णय को देने से पूर्व वह (अध्यक्ष) संघीय न्यायालय से परामर्श ले सकता था।

**6 संधि**—केबिनेट मिशन योजना ने संवैधानिक सभा और ग्रेट ब्रिटेन के मध्य एक संधि की व्यवस्था भी की थी। इस संधि में उन सभी विषयों का उल्लेख किया जाना था जो सत्ता हस्तान्तरण से उत्पन्न होते थे।

**7 अन्तरिम सरकार की स्थापना**—16 मई, 1946 की घोषणा में अन्तरिम सरकार की स्थापना का कल्पना भी की गई था और यह कहा गया था कि मुख्य

विभाग सहित सभी विभागों को उन भारतीय नेताओं के हाथ सौंप दिया जायगा जिन्हें प्रमुख राजनीतिक दलों और जनता का समर्थन प्राप्त होगा। अन्तरिम सरकार के सदस्यों की संख्या को भविष्य के विचार-विमर्श पर छोड़ दिया गया था। अन्तरिम सरकार उस समय तक कार्य करेगी जब तक नये संविधान का निर्माण नहीं कर दिया जाता और नई सरकार की स्थापना नहीं कर दी जाती। ब्रिटिश सरकार ने इस बात का आश्वासन दिया कि वह अन्तरिम सरकार के साथ पूर्ण सहयोग करेगी और जितनी जल्दी और जितनी शान्ति से वह सत्ता हस्तान्तरित कर सकेगी उसे हस्तान्तरित कर देगी।

**केबिनेट मिशन योजना का मूल्यांकन**—केबिनेट मिशन योजना में गुणों और दोषों का समावेश था। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों का मत था कि ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तुत यह दस्तावेज उनकी सद्इच्छा और सत्यनिष्ठा का प्रतीक था। यही कारण है कि भारत के दोनों प्रमुख दलों ने इसे सर्वथा या पूर्णतया अस्वीकार नहीं किया और न ही इसकी खुल्लम खुल्ला भर्त्सना की। दोनों ने इसे एसी योजना समझा जिस पर गम्भीरता से विचार किया जा सकता था। योजना के प्रति गांधीजी की प्रारम्भिक प्रतिक्रिया बहुत ही उत्साहवर्द्धक थी। उन्होंने कहा था कि 'इसमें वह चीज विद्यमान है जिसमें इस देश के दुःख और सन्ताप को हरने की शक्ति है।" एक अन्य स्थान पर गांधीजी ने कहा था कि "प्रमुख परिस्थितियों में ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तुत यह सर्वोत्तम दस्तावेज है।' जिन्ना ने भी इस बात को स्वीकार किया था कि अल्पमतवालों की समस्या का जो हल योजना में प्रस्तुत किया गया था उस समस्या का उससे और कोई अच्छा हल नहीं हो सकता था। केबिनेट मिशन योजना में गुणों के कारण ही एक स्तर पर लीग और कांग्रेस दोनों ने इसे स्वीकार कर लिया था।

परन्तु जैसे जैसे समय बीतता गया और योजना के भिन्न भिन्न प्रस्तावों की व्याख्यायें की गई वैसे वैसे कांग्रेस और लीग के दृष्टिकोणों में भिन्नतायें सामने आती गई। विशेषकर प्रान्तों के समूहीकरण की अनिवार्यता और संविधानिक सभा में योजना के मूल आधारों में परिवर्तन करने की शक्ति पर दोनों दलों में गम्भीर भेद उत्पन्न हो गये। कांग्रेस प्रान्तों के समूहीकरण को अनिवार्य नहीं मानती थी। उसका कहना था कि प्रान्त समूह में सम्मिलित होने के लिये स्वतन्त्र हैं। कांग्रेस का यह भी कहना था कि संविधानिक सभा योजना में किसी प्रकार का परिवर्तन कर सकती थी। परन्तु लीग का कहना था कि प्रान्तों का समूहों में (समूह बी० और सी० के प्रान्त) सम्मिलित होना अनिवार्य है और संवैधानिक सभा योजना के मूल ढांचे में परिवर्तन नहीं कर सकती। अतः लीग ने योजना के प्रति अपनी स्वीकृति को 29 जुलाई 1946 के प्रस्ताव द्वारा वापस ले लिया, पाकिस्तान की मांग पर वह अड़ी रही और अन्तत विभाजन के द्वारा ही समस्या का हल हुआ।

## केबिनेट योजना के गुण

केबिनेट मिशन योजना मे अनेक गुण पाये जाते थे जिनमे मुख्य निम्न है —

1 संयुक्त भारत की कल्पना—केबिनेट मिशन योजना का सबसे बड़ा गुण यह था कि इसने संयुक्त भारत (United India) पर बल दिया था और पाकिस्तान की माग को स्पष्टतया अस्वीकार कर दिया था। मिशन का विश्वास था कि अल्पमतो के हितो की सुरक्षा का सही हल भारत का विभाजन नही। भौगोलिक, प्रशासनिक, आर्थिक और सैनिक दृष्टिकोण से भी मिशन ने विभाजन को हानिकारक बताया। मिशन का कहना था कि विभाजन से राष्ट्रीय एकता नष्ट होगी तथा परिवहन, डाक और तार तथा रक्षा सेनायें छिन्न भिन्न हो जायेगी।

2 अल्पमतो के हितो की रक्षा—केबिनेट मिशन ने केवल भारतीय एकता पर ही बल नही दिया था बल्कि अल्पमतो के भयो और शकाओ को भी दूर करने का प्रयास किया गया था। सवैधानिक सभा मे योजना ने जातियो को जन सख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व प्रदान किया था। एँग्लो इण्डियन तथा ईसाई लोगो जैसे बहुत ही छोटे अल्पमत वालो के हितो और अधिकारो की रक्षा के लिये योजना ने सवैधानिक सभा मे परामर्श समिति की व्यवस्था की थी। इस तरह केबिनट योजना ने बहुत ही उचित ढग से भारत की एकता को बनाये रखते हुए अल्पमतो के भयो और शकाओ को दूर करने का प्रयास किया।

3 समझौता वृत्ति पर आधारित—केबिनेट योजना मे काग्रेस और लीग दोनो के दृष्टिकोणो को समन्वित करने का प्रयास किया गया था। काग्रेस सयुक्त भारत, सुदृढ केन्द्र और प्रान्तीय स्वायत्तता चाहती थी और लीग भारत का विभाजन और पाकिस्तान की स्थापना चाहती थी। केबिनेट योजना मे काग्रेस को प्रसन्न करने के लिये सयुक्त भारत की सिफारिश की थी। यद्यपि केबिनट योजना मे पाकिस्तान की माग को अस्वीकार कर दिया गया था परन्तु उसने सार को उसने स्वीकार कर लिया था और देश के विभाजन के बिना ही लीग को पाकिस्तान के सार लाभ पहुचाने की कोशिश की गई थी। केन्द्र के सीमित अधिकार अर्थात् निर्बल केन्द्र, प्रान्तो के समूहीकरण की अनिवार्यता, सवैधानिक सभा मे योजना के मूल आधारो मे परिवर्तन की मनाही तथा साम्प्रदायिक विषयो पर उस जाति के प्रतिनिधियो के बहुमत की स्वीकृति के बिना परिवर्तन की मनाही कुछ ऐसी सिफारिशें थी जिनके द्वारा लीग की पाकिस्तान की माग के सार को स्वीकार किया गया था।

4 सवैधानिक सभा की सार्वभौमता—केबिनट योजना के ढाचे के अन्तर्गत सवैधानिक सभा पूर्ण सार्वभौम थी। वह स्वय के निर्णय द्वारा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल मे रहने या उससे पृथक होने का निर्णय ले सकती थी। इस तरह योजना मे सविधान निर्माण का अधिकार तथा उसके स्वरूप को निर्धारित करने का अधिकार स्वय भारतीयो को दिया गया था।

**5 सवधानिक सभा का प्रजातान्त्रिक आधार**—*यद्यपि योजना मे सवैधानिक* सभा के सदस्यो के निर्वाचन के लिये वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था नही की गई थी परन्तु फिर भी इस प्रजातान्त्रिक सिद्धात का अपनाया गया था कि सवैधानिक सभा का निर्वाचन जन सख्या के आधार पर अनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली द्वारा किया जायगा। प्रत्येक जाति के विधान सभा के सदस्यो को उस जाति की जन सख्या के आधार पर (10 लाख व्यक्तिया पर 1 प्रतिनिधि के आधार पर) प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया था। विशेष *हितो अथवा जाति के आधार पर अल्पमत वालो के "गुरु भार" (Weightage) की* प्रणाली को समाप्त कर दिया गया। ऐंग्लो इण्डियन भारतीय ईसाई, ब्रिटिश सरकार या गैर सरकारी यूरोपियन या 1935 के अधिनियम म स्वीकृत अन्य अल्पमतो या विशेष हितो के प्रतिनिधित्व को समाप्त कर दिया गया। सवधानिक सभा के निर्वाचन के लिए भारत की जातिया को केवल तीन जातियो म बाटा गया—सामान्य, मुस्लिम और सिक्ख (केवल पजाब के लिये)। इस तरह सवधानिक सभा मे केवल *भारतीय सदस्यो की कल्पना की गई थी और उन्ही के द्वारा भारतीय सविधान* निर्मित किया जाना था।

**6 देशी रियासतों की जनसख्या का प्रतिनिधित्व**—*यद्यपि केबिनेट योजना मे यह स्पष्ट रूप मे नही कहा गया था कि सवधानिक सभा मे रियासतो के प्रतिनिधियो को वहा की जनता द्वारा चुना जायगा परन्तु योजना की यह सिफारिश कि रियासतो के प्रतिनिधियो के चयन के तरीके को 'समझौता समिति"* (Negotiating Committee) द्वारा निश्चित किया जायगा इस बात का प्रतीक थी कि रियासतो के प्रतिनिधियो को वहा के राजाओ द्वारा नामाकित नही किया जाना था। *स्पष्ट है कि केबिनेट योजना म रियासतो की जनता के हितो की उपेक्षा नही की गई थी बल्कि उन्हे यह विश्वास दिया गया था कि अपने राजनीतिक भाग्य के* निर्माण मे उन्हे अधिकार दिया जायगा।

**7 अन्तरिम सरकार**—केबिनेट योजना मे अन्तरिम सरकार की स्थापना के लिये सिफारिश की गई थी। योजना मे यह विश्वास दिलाया गया था कि इसके *सभी सदस्य भारतीय होंगे। प्रथम बार युद्ध विभाग सहित सभी विभागो को भारतीयो* के अधीन रखने का वचन दिया गया था। यह विश्वास भी दिलाया गया था कि अन्तरिम सरकार को दैनिक प्रशासन म पर्याप्त स्वतन्त्रता दी जायगी, अन्तरिम सरकार केबिनेट की भाति काय करेगी और गवनर जनरल केवल सवैधानिक अध्यक्ष के रूप म काय करेगा।

## केबिनेट योजना के दोष

केबिनट योजना मे कुछ गुण होते हुए भी कुछ गम्भीर दोष विद्यमान थे। ये दोष मुख्यत निम्न थे—

**1 अस्पष्ट और असंगत**— केबिनेट योजना का सबसे गम्भीर दोष यह था कि इसके सुझाव एक दूसरे से मेल नहीं खाते थे। विशेष कर पराग्राफ 15 और पैराग्राफ 19 में गम्भीर असंगति थी। इसी अस्पष्टता और असंगति के कारण कांग्रेस और लीग के दृष्टिकोणों में भिन्नता उत्पन्न हुई और योजना अपने उद्देश्यों में असफल रही। लीग का कहना था कि पैराग्राफ 19 में प्रान्तों के समूहीकरण की अनिवार्यता पर बल दिया गया है अर्थात् प्रान्तों के लिये समूह में सम्मिलित होना अनिवार्य है। इतना ही नहीं, लीग इस बात पर भी बल देती थी कि संविधानिक सभा योजना के आधारभूत ढांचे में परिवर्तन नहीं कर सकती। दूसरी ओर कांग्रेस का यह कहना था कि पराग्राफ 15 में प्रान्तों को समूह में सम्मिलित होने की स्वतन्त्रता दी गई है अर्थात प्रान्तों के लिये समूह में सम्मिलित होना उनकी इच्छा पर निर्भर करता है। प्रान्त समूह में सम्मिलित भी हो सकते थे और उससे पृथक भी रह सकते थे। कांग्रेस संविधानिक सभा को सम्प्रभु मानती थी और उसका यह विश्वास था कि उसे योजना के मूल ढांचे में भी परिवर्तन करने का अधिकार है। कांग्रेस केबिनेट योजना को सिफारिशों के रूप में देखती थी, बाध्यकारी रूप में नहीं।

**2 राष्ट्रीय एकता पर आघात और साम्प्रदायिक तत्वों को बढ़ावा**—यह सत्य है कि केबिनेट योजना ने पाकिस्तान की मांग को अस्वीकार कर दिया था परन्तु जो अधिकार प्रान्तों को दिये गये थे वे विभाजन की ओर संकेत करते थे और पाकिस्तान तथा द्वि राष्ट्र सिद्धान्त का स्वीकार करते थे। इतना ही नहीं, उसमें साम्प्रदायिक भावना को स्पष्टतः बढ़ावा भी दिया गया था। संविधानिक सभा का निर्वाचन जातीय (साम्प्रदायिक) आधार पर होना था, साम्प्रदायिक प्रश्नों का निपटारा जातीय बहुमत द्वारा होना था और प्रान्तों का समूहीकरण साम्प्रदायिक आधार पर किया गया था। यह समझ में नहीं आता कि खण्ड "स" में आसाम जैसे हिन्दू बहुमत वाले प्रान्त को बंगाल जैसे मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्त के साथ क्यों मिला दिया गया था। इसी प्रकार यह समझ नहीं आता कि जब उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में कांग्रेस की सरकार थी तो उसे खण्ड "ब" में क्यों मिलाया गया।

**3 कमजोर केन्द्र**—केबिनेट योजना का एक दोष यह था कि इसमें केन्द्र अत्यधिक कमजोर बना दिया गया था। केन्द्र की शक्तियां केवल तीन विषयों (सुरक्षा, विदेशी मामले तथा संचार साधन) तक सीमित कर दी गई थीं। अनेक विषय—जैसे मुद्रा, विदेशी व्यापार, योजना, नाप-तोल के माप, अन्तर्प्रान्तीय व्यापार और विवाद, आदि—जिनमें एकरूपता की आवश्यकता थी उन्हें प्रान्तों के हाथों में छोड़ दिया गया था। सम्भवतः ब्रिटिश शासक केन्द्रीय सरकार को कमजोर रख कर अपनी सत्ता को चिरकाल तक बनाये रखना चाहते थे।

**4 विघटनकारी तत्वों को बढ़ावा**—केबिनेट योजना में देशी रियासतों के सम्बन्ध में सिफारिशें बहुत ही विघटनकारी थीं। योजना में कहा गया था कि

भारत के स्वतन्त्र होते ही देशी रियासतो पर ब्रिटिश की परम सत्ता (Paramountcy) भी समाप्त हो जायगी । इसका अर्थ यह था कि देशी रियासतें भी स्वतन्त्र हो जायगी । यह देशी रियासतो के शासको पर निर्भर करता था कि वे भारत मे सम्मिलित हो या नही । वे स्वतन्त्र राज्य का निर्माण भी कर सकते थे । इस तरह यह योजना भारत के विघटन (Balkanization) की धूर्त चाल थी और ब्रिटिश शासक भारत को तीन सौ वर्ष पूर्व की स्थिति मे ले जाना चाहते थे ।

**5 अन्तरिम सरकार का अनिश्चित कार्यकाल तथा उसके गठन की तर्कहीनता**—केबिनेट योजना मे अन्तरिम सरकार की व्यवस्था का एक दोष यह था कि इसका कार्यकाल अनिश्चित था । क्योकि इसके लिये कोई समय निश्चित नही किया गया था इसलिये ब्रिटिश शासक भारत मे अपनी सत्ता को अनिश्चित काल तक बनाये रखना चाहते है । अन्तरिम सरकार का दूसरा दोष उसके गठन मे था । योजना के अनुसार अन्तरिम सरकार के सदस्यो की सख्या 14 रखी गई थी–6 काग्रेस (दलित वर्ग के एक सदस्य सहित), 5 लीग और 3 अन्य अल्पमत । यह विभाजन तर्कहीन और अव्यावहारिक था । प्रथम सवर्ण हिन्दुओ और मुसलमानो को बराबर प्रतिनिधित्व देना अनुचित था क्योकि हिन्दुओ और मुसलमानो की जनसख्या मे 3 1 का अनुपात था । दूसरे, इसमे राष्ट्रीय मुसलमानो का कोई प्रतिनिधित्व नही था । तीसरे, काग्रेस किसी मुसलमान को नियुक्त नही कर सकती थी । यही कारण है कि काग्रेस ने 26 जून के प्रस्ताव द्वारा अन्तरिम सरकार मे सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया । काग्रेस न तो अपने राष्ट्रीय स्वरूप का बलिदान दे सकती थी और न ही किसी अन्यायपूर्ण बराबरी के सिद्धान्त को स्वीकार कर सकती थी ।

**6 सवैधानिक सभा न तो पूर्णतया सम्प्रभु थी और न पूर्णतया प्रजातान्त्रिक**—सवैधानिक सभा पूर्णतया सम्प्रभु सस्था नही थी । उसे केबिनेट योजना के ढाचे के अनुसार ही कार्य करना था । वह "समूहीकरण" मे परिवर्तन नही कर सकती थी और योजना के प्रावधानो मे परिवर्तन भी आपसी सहमति द्वारा ही कर सकती थी । सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि इसके द्वारा निर्मित सविधान केवल सघ पर लागू होना था प्रान्तो या समूहो पर नही ।

सवैधानिक सभा का गठन भी प्रजातान्त्रिक न होकर साम्प्रदायिक था । इसके सदस्यो का निर्वाचन विधान सभा के सदस्यो द्वारा जातीय आधार पर किया जाना था । क्योकि इसके सदस्यो के निर्वाचन के लिये वयस्क मताधिकार की व्यवस्था नही थी और क्योकि इसके सदस्यो का निर्वाचन जातीय आधार पर किया जाना था इसलिये सवैधानिक सभा जातियो या वर्गों की सभा थी यह भारतीय जनता की सभा नही थी । इसमे देशी रियासतो की जनता के प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था भी नही थी ।

**7 सविधान निर्माण की प्रक्रिया त्रुटिपूर्ण थी**—केबिनेट योजना मे त्रिस्तरीय सविधान की व्यवस्था की गई थी । सबसे ऊपर सघ सविधान, सबसे नीचे प्रान्तीय

संविधान और बीच में समूह के संविधान की व्यवस्था थी। प्रथम तो इन त्रि स्तरीय संविधानों का सुचारू रूप से चलाना कठिन था और दूसरे इन संविधानों के निर्माण के लिये जो प्रक्रिया रखी गई थी वह त्रुटिपूर्ण थी। प्रान्तों और समूहों के संविधानों के निर्माण के बाद संघीय संविधान का निर्माण करना हास्यप्रद था। यह उल्टी गंगा बहाने या "घोड़े के आगे छकड़ा लगाने" के समान था।

8 सिक्खों के हितों की उपेक्षा—केबिनेट योजना में मुसलमानों के हितों की रक्षा तो का गई थी और पाकिस्तान के सार को स्वीकार भी कर लिया गया था परन्तु सिक्खों के हितों की उपेक्षा की गई थी। सिक्खों की मातृभूमि पंजाब में उनके हितों को मुसलमानों के बहुमत की दया पर छोड़ दिया गया था। इसी कारण सिक्ख असन्तुष्ट और उत्तेजित थे। कांग्रेस द्वारा आश्वासन दिये जाने पर ही कि उनके हितों की उपेक्षा नहीं की जायगी उन्होंने संविधानिक सभा के लिये अपने 4 प्रतिनिधियों का निर्वाचन किया था।

9 कठोर योजना—केबिनेट मिशन योजना क्रिप्स प्रस्तावों की भांति कठोर थी। इसमें लचीलेपन का अभाव था और इसमें स्वयं विकसित होने के तत्व विद्यमान नहीं थे। इसे या तो पूर्णतया स्वीकार किया जा सकता था या पूर्णतया अस्वीकार। इस कठोरता के कारण भी यह योजना असफल हुई।

## केबिनेट योजना के प्रति राजनीतिक दलों का दृष्टिकोण

(क) लीग का दृष्टिकोण—यद्यपि जिन्ना इस बात से बहुत दुःखी थे कि योजना में पाकिस्तान की मांग को अस्वीकार कर दिया गया था फिर भी लीग ने 6 जून, 1946 के प्रस्ताव द्वारा केबिनेट योजना को स्वीकार कर लिया अर्थात संवैधानिक सभा और अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने के लिये लीग ने अपनी स्वीकृति दे दी। लीग ने योजना पर अपनी स्वीकृति इस आशय से दी थी कि खण्ड "बी" और "सी" के 6 प्रान्तों के अनिवार्य समूहीकरण में उसे पाकिस्तान के आधार की स्वीकृति नजर आती थी। लीग को इस सुझाव से भी संतोष था कि प्रान्तों और समूहों को संघ से पृथक होने का अधिकार दिया गया। परन्तु योजना पर स्वीकृति प्रकट करते हुए भी लीग ने उस पर पुनर्विचार के अपने अधिकार को सुरक्षित रखा तथा पाकिस्तान की प्राप्ति के अपने दृढ़ निश्चय को दोहराया। लीग ने योजना पर अपनी स्वीकृति को 29 जुलाई को प्रस्ताव द्वारा वापस ले लिया और पाकिस्तान की प्राप्ति के लिये "सीधी कार्यवाही" का प्रस्ताव पास किया। पाकिस्तान की अपनी मांग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से ही लीग के 5 सदस्यों ने 26 अक्टूबर, 1946 को अन्तरिम सरकार में अपने पदों की शपथ को ग्रहण किया।

(ख) कांग्रेस का दृष्टिकोण—कांग्रेस ने 25 जून, 1946 के प्रस्ताव द्वारा केबिनेट योजना के दीर्घकालीन सुझावों को स्वीकार करते हुए संविधानिक सभा में सम्मिलित होने पर अपनी सहमति प्रकट कर दी। यह सहमति इस आशय पर प्रकट

की गई थी कि "स्वतन्त्र, सगठित और प्रजातान्त्रिक भारत के संविधान निर्माण म" किसी प्रकार की वाधा प्रस्तुत न हो। काग्रेस ने योजना के अल्पकालीन सुझावों को अर्थात अ तरिम सरकार मे सम्मिलित होने के वायसराय के 16 जून 1946 के निमन्त्रण को यह कर अस्वीकार कर दिया कि काग्रेस न तो "अपने राष्ट्रीय स्वरूप से समझौता कर सकती है" और न ही किसी "कृत्रिम अनुचित बराबरी" के सिद्धान्त को स्वीकार कर सकती है। काग्रेस को आपत्ति अ तरिम सरकार की रचना पर थी जिसमे हिन्दुओं और मुसलमानो को बराबरी के स्थान दिये गये थे। काग्रेस को सबसे बडी आपत्ति यह थी कि उसमे राष्ट्रीय मुसलमानो का कोई प्रतिनिधित्व नही था और काग्रेस को किसी मुसलमान को अपने प्रतिनिधि के रूप म नियुक्त करने का अधिकार नही था। परन्तु जब 22 जुलाई 1946 को वायसराय न एक वक्तव्य द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि अन्तरिम सरकार म दलो का अनुपात 6 5 3 रहेगा और किसी दल द्वारा मनोनीत और वायसराय द्वारा स्वीकृत सदस्यो पर दूसरे दल को आपत्ति नही होगी तो काग्रेस न वायसराय के अन्तरिम सरकार के बनाने के निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया।

**(ग) सिक्खो और दलित वर्गों का दृष्टिकोण**— सिक्खो और दलित वर्गों ने भी केबिनेट मिशन योजना की भर्त्सना की। सिक्खो के पथिक सम्मेलन (The Sikh Panthic Conference) ने प्रान्तो के अनिवार्य समूहीकरण की आलोचना करते हुए कहा कि इसमे सिक्खो की मातृभूमि पजाब को "दिवालिया (Liquidate) बनाने का प्रयास किया गया है सिक्ख जाति को मुस्लिम बहुमत की दया पर छोड दिया गया है जिससे उनके धर्म और संस्कृति को खतरा उत्पन्न हो गया है। बाद म काग्रेस द्वारा आश्वासन दिये जाने पर कि उनके हितो की उपेक्षा नही की जायगी सिक्खो न संवैधानिक सभा म अपने 4 प्रतिनिधियो का निर्वाचन किया।

दलित वर्गों के संघ न केबिनेट योजना की यह कहकर आलोचना की कि यह भ्रान्तियो से पूर्ण है इसने दलित वर्गों के लिये विधान सभाओ म कोई स्थान निर्धारित नही किये और अन्तरिम सरकार मे भी उनके लिये केवल एक ही स्थान निर्धारित किया गया है।

**आवेक्षक सरकार (Care-taker Government) तथा संवैधानिक सभा के निर्वाचन**—जब लार्ड वेवल ने यह अनुभव किया कि कोई राजनीतिक दल अन्तरिम सरकार मे सम्मिलित होने के लिये तैयार नही तो प्रशासन के कार्य को चलाने के लिये उसने 29 जून, 1946 को अपने कर्मचारियो की आवेक्षक सरकार का निर्माण किया। आवेक्षक सरकार के निर्मित होने के दूसरे ही दिन संवैधानिक सभा के सदस्यो के निर्वाचन की घोषणा कर दी गई। जुलाई के अन्त तक संवैधानिक सभा के निर्वाचन समाप्त हो गये। केवल 9 स्थानो को छोड कर शेष सभी सामान्य स्थानो पर काग्रेस विजयी रही। मुसलमानो के लिये 78 सुरक्षित स्थानो म से 73 स्थान मुस्लिम लीग को प्राप्त हुए। (जैसा कि ऊपर कहा गया है कि सिक्खो न पहले तो

सवैधानिक सभा के चुनावो का बहिष्कार कर दिया परन्तु बाद मे उन्होने 4 स्थानो पर अपने प्रतिनिधियो का निर्वाचन किया।

**नेहरू का दुर्भाग्यपूर्ण वक्तव्य**—कांग्रेस अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू ने संवैधानिक सभा के चुनाव परिणामो से प्रभावित होकर तथा सयुक्त भारत की स्वतन्त्रता के उद्देश्य से प्रेरित होकर केबिनट योजना के सम्बन्ध मे, एक वक्तव्य मे, कुछ ऐसी व्याख्यायें कर डाली जो बहुत ही अविवेकपूर्ण, अदूरदर्शी और असामाजिक थी। नेहरू जी ने एक वक्तव्य मे कहा था कि "जहाँ तक मैं देख सकता हू यह किसी दीर्घकालीन या अल्पकालीन योजना की स्वीकृति का प्रश्न नही है, यह तो सवैधानिक सभा मे हमारे जाने की स्वीकृति का प्रश्न है। बस इतना ही, इससे अधिक और कुछ नही। उस सभा मे हम तब तक रहेंगे जब तक हम समझते है कि यह भारत के हित के लिए है और जब हम यह अनुभव करेंगे कि हमारे हितो को ठेस पहुचती है तो हम उससे बाहर आ जायेंगे। हम किसी चीज से बाध्य नही है सिवाय इसके कि हमने इस समय सवैधानिक सभा मे जाने का निश्चय किया है।' इस वक्तव्य की व्याख्या करते हुए नेहरू जी ने 10 जुलाई की प्रेस भेंट मे कहा कि हम वहा (सवैधानिक सभा मे) क्या करते हैं इसको निश्चित करने के लिए हम पूर्णतया एव निरपेक्षता स्वतन्त्र है। हमने किसी विषय पर किसी से कोई समझौता नही किया है।" इस व्याख्या का अर्थ यह था कि केबिनेट योजना के सम्बन्ध मे कांग्रेस ने किसी को कोई वचन नही दिया था और वह 'सभी प्रकार के समझौतो से पूर्णतया मुक्त थी और विषयों पर परिस्थितियो के अनुकूल निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्र थी।" दूसरे शब्दो मे, कांग्रेस बहुमत के आधार पर केबिनेट योजना के ढाचे मे परिवर्तन या सुधार कर सकती थी। इतना ही नही नेहरू जी ने 10 जुलाई की भेंट मे इन बातो पर भी बल दिया था कि सवैधानिक सभा सर्वोच्च है, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और असम जैसे छोटे प्रान्तो की आपत्तियो के कारण समूहो के निर्माण की सम्भावना कम है, सुरक्षा तथा सचार साधनो के लिए आवश्यक उद्योगो, मुद्रा, साख, अन्तर्प्रान्तीय व्यापार और विवादो आदि के विषयो पर केन्द्रीय सरकार की शक्तियो मे वृद्धि की सम्भावना है, तथा ब्रिटिश हस्तक्षेप के बिना अल्पमत वालो की समस्या के समाधान की सम्भावना है।

नेहरू जी का उपर्युक्त वक्तव्य और उसकी व्याख्यायें बहुत दुर्भाग्यपूर्ण थी। नेहरू के इस वक्तव्य के बाद जिन्ना को यह शिकायत करने का अवसर मिल गया कि कांग्रेस ने कबिनट योजना को कभी भी पूर्णतया स्वीकार नही किया था और सवैधानिक सभा मे बहुमत के आधार पर मनमानी करना चाहती है।

नेहरू जी का उपर्युक्त वक्तव्य और उसकी व्याख्यायें घटनाओ मे सही मूल्यवान से भी परे थी। य उनकी राजनीतिक अपरिपक्वता और अदूरदर्शिता का परिचायक भी थी। नेहरूजी इस बात को नही समझ सके कि यदि सवैधानिक

चुनावों में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ था तो मुस्लिम लीग को भी भारतीय मुस्लिम जाति का पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ था। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी और मुस्लिम लीग की राजनीतिक शक्ति को कम आँकना राजनीतिक भूल थी। नेहरू जी यह भी नहीं समझ सके कि राजनीतिक दलों में केवल लीग ही ऐसा राजनीतिक दल नहीं था जो विभाजन की माँग कर रहा था। मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में सिक्ख 'सिक्खिस्तान" की माँग कर रहे थे, डा० अम्बेदकर के नेतृत्व में दलित वर्ग अपने हितों की रक्षा की माँग कर रहे थे और भारतीय नरेश देशी रियासतों की बात कर रहे थे। ये सब विघटनकारी शक्तियाँ थीं जिन्हें न केवल सन्तुष्ट करने की आवश्यकता थी बल्कि उन्हें अपने साथ संगठित करने की भी आवश्यकता थी।

## लीग द्वारा कैबिनेट योजना की अस्वीकृति तथा सीधी कार्यवाही दिवस

क्रुद्ध भयाक्रान्त और उत्तेजित वातावरण में लीग की एक बैठक 27 जुलाई, 1946 को बम्बई में हुई। 29 जुलाई, 1946 को इस बैठक में जो निर्णय लिए गये थे वे निम्न थे —

(i) लीग ने कैबिनेट योजना के प्रति अपनी स्वीकृति को वापस ले लिया।

(ii) पाकिस्तान के ध्येय को पूरा करने के लिए लीग ने अपने दृढ़ निश्चय को दोहराया और उस ध्येय की प्राप्ति के लिए "सीधी कार्यवाही' पर बल दिया।

(iii) लीग कार्यकारिणी से सीधी कार्यवाही के कार्यक्रम को तैयार करने के लिये कहा गया और मुसलमानों से अपनी उपाधियों और सम्मानों को त्यागने के लिये कहा गया।

लीग परिषद के प्रस्ताव के अनुसार लीग कार्यकारिणी ने 16 अगस्त, 1946 को सारे भारत में सीधी कार्यवाही दिवस मनाने का निश्चय किया। इस दिवस के महत्व की व्याख्या करते हुए जिन्ना ने कहा कि यह "किसी के विरुद्ध किसी कार्यक्रम की घोषणा नहीं करता। यह केवल उन उपायों को व्यक्त करता है जिन्हें हम आत्म रक्षा के लिए उठाना चाहते हैं।"[1] सुहरावर्दी ने कहा था कि "महान उद्देश्य (ध्येय) की प्राप्ति के लिए रक्तपात (हत्याओं) और अव्यवस्था का अवलम्बन स्वयं में कोई बुराई नहीं। आज मुसलमानों में पाकिस्तान से बढ़ कर और कोई प्यारा और महान् ध्येय नहीं।" बड़ों से प्रेरणा पाकर मुस्लिम बच्चे भी गली मुहल्लों में इन वाक्यों को दोहराते थे 'लड़ के लेंगे पाकिस्तान, बट के रहेगा हिन्दुस्तान।" ये वक्तव्य निश्चित ही साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारने वाले थे।

---

1 See Lumby Ibid, p 111

16 अगस्त, 1946 के दिवस को लीग ने सारे भारत में काले झण्डा जलूसों, सभाओं आदि द्वारा मनाया। बंगाल और सिंध में, जहां मुस्लिम लीग की सरकार थी, उस दिन सार्वजनिक छुट्टी घर दी गई। उस दिन कलकत्ता को छोड़ कर बाकी सारे देश में शान्ति रही। परन्तु साम्प्रदायिक दंगा का जो जोर कलकत्ता में शुरू हुआ वह इतिहास में "महान कलकत्ता हत्यायें (Great Calcutta Killings) के नाम से प्रसिद्ध है। चार दिन तक शहर में अराजकता और नादिरशाही फैली रही परन्तु सेना और पुलिस निष्क्रियता से नर संहार को देखती रही। गांधीजी ने कहा था कि यद्यपि हम गृह युद्ध के मध्य में नहीं परन्तु हम उसके निकट अवश्य हैं। अभी हम उसमें निर्वाह कर रहे हैं।

महान् कलकत्ता हत्याओं" के दूरगामी परिणाम हुये। इन हत्याओं ने न केवल साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया बल्कि साम्प्रदायिक वैमनस्य और ईर्ष्या को तीव्र कर उसे निरन्तर बनाये रखा। आजाद ने ठीक ही 16 अगस्त को भारत के इतिहास में काला दिन'[1] की संज्ञा दी है। इन हत्याओं के भय से 'गलियां सूनी पड़ी रहती थी और शहर पर मातम छाया रहता था।' अक्टूबर, 1946 में पूर्वी बंगाल के नोआखाली (Noakhali) और तिपराह (Tipperah) जिलों से ये समाचार आने शुरू हो गये कि वहां मुसलमान संगठित रूप से हिन्दुओं की हत्यायें कर रहे थे, हजारों की तादाद में लोग अपने घरों को छोड़ कर बिहार में शरण लेने के लिये आ गए। शरणार्थियों ने हत्याओं, लूटमार आग लगाने, जबरदस्ती धर्म परिवर्तन और विवाह तथा स्त्रियों के अपहरण की कहानियों को फैलाना शुरू कर दिया। आतंक का वातावरण सर्वत्र फैल गया।

पूर्वी बंगाल के साम्प्रदायिक दंगों की प्रतिक्रिया बिहार के दक्षिण जिलों से शुरू हुई जहां हिन्दुओं ने मुसलमानों की हत्यायें की। बिहार की स्थिति इतनी गम्भीर हो गई थी कि गांधीजी द्वारा मरण उपवास की धमकी, नेहरू जी द्वारा बम गिराने की धमकी तथा कांग्रेसी नेताओं, कार्यकर्ताओं और बिहार सरकार द्वारा निरन्तर प्रयास किये जाने पर बड़ी कठिनाई से इन साम्प्रदायिक दंगों पर नियन्त्रण किया जा सका। बिहार के अतिरिक्त यू० पी० के गढमुक्तेश्वर, दमना और मेरठ बम्बई और अहमदाबाद भी साम्प्रदायिक दंगों के स्थान बन गए।

इन साम्प्रदायिक दंगों का प्रत्यक्ष प्रभाव अन्तरिम सरकार पर पड़ा। इनसे न केवल लीग ने कड़े रुख को अपनाया बल्कि यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हिन्दुओं और मुसलमानों में समझौते की कोई गुंजायश नहीं है।

**अन्तरिम सरकार की स्थापना**—कांग्रेस ने अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया था, लीग 29 जुलाई के प्रस्ताव द्वारा केबिनेट योजना के

1 See Azad, Ibid p 159

प्रति अपनी स्वीकृति को वापिस ले चुकी थी, फिर भी लार्ड वेवल ने अन्तरिम सरकार की स्थापना के लिये अपने प्रयत्नों को जारी रखा। नये प्रस्तावों में यह कहा गया कि अन्तरिम सरकार की रचना में 6 5 3 का अनुपात होगा परन्तु किसी दल द्वारा मनोनीत और वायसराय द्वारा स्वीकृत सदस्यों पर दूसरे दल की आपत्ति को स्वीकार नहीं किया जायगा। यह भी विश्वास दिलाया गया कि अन्तरिम सरकार औपनिवेशिक सरकार की भांति कार्य करेगी।

इन नवीन प्रस्तावों के आधार पर लीग ने अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया परन्तु कांग्रेस ने इन प्रस्तावों पर सहमति प्रकट कर दी और पं० नेहरू ने वायसराय के निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया।

सितम्बर 2, 1946 को जब मुस्लिम लीग के बिना अन्तरिम सरकार के 12 सदस्यों को (2 स्थान खाली रखे गए थे) पद की शपथ दिलाई गई तो जिन्ना आपे से बाहर हो गये। उन्होंने वायसराय के इस कार्य को "मूर्खतापूर्ण", "भयंकर परिणामों से युक्त" की संज्ञा दी। उन्होंने यह भी कहा कि वायसराय ने "जलते पर नमक छिड़का" है। परन्तु 13 अक्टूबर, 1946 को लीग अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने के लिए सहमत हो गई और त्याग पत्र दे दिया।

मुस्लिम लीग के पांच सदस्यों ने 26 अक्टूबर, 1946 को अपने पद की शपथ ग्रहण की। इन सदस्यों में से एक सदस्य जोगेन्द्रनाथ मण्डल दलित वर्ग के थे। इनकी नियुक्ति करके लीग दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व के दावे को प्रस्तुत कर रही थी।

**अन्तरिम सरकार एक विभक्त परिवार के रूप में अर्थात् लीग की अड़ंगा नीति**—अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने के लीग के दो उद्देश्य थे (1) वह अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर अपने पाकिस्तान के स्वप्न को पूरा करना चाहती थी, (2) वह कांग्रेस की स्थिति को सुदृढ़ होने से रोकना चाहती थी। डा० सुभाष कश्यप ने ठीक लिखा है कि "लीग अन्तरिम सरकार में अपनी पाकिस्तान की लड़ाई को ही आगे बढ़ाने के उद्देश्य से आई थी और मिशन योजना को सफल बनाने में सहयोग देने का उसका कोई इरादा नहीं था। श्री वी० पी० मेनन लिखते हैं कि "मुस्लिम लीग अन्तरिम सरकार में केवल इसलिए सम्मिलित हुई थी कि वह अपने विरुद्ध कांग्रेस की स्थिति को सुदृढ़ होने देना नहीं चाहती थी।[1]

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लीग ने अड़ंगा और गतिरोध की नीति को अपनाया और कांग्रेस सदस्यों की नीति, योजनाओं और कार्यक्रमों को ठप्प करने की कोशिश की। यदि कांग्रेस अन्तरिम सरकार को कैबिनेट और उत्तरदायी सरकार का रूप देना चाहती थी तो लीग उसे अन्तरिम सरकार ही नहीं समझती थी। इतना ही नहीं, अन्तरिम सरकार में वित्त विभाग, जो लीगी सदस्य श्री लियाकत

1 Menon, V P The Transfer of Power in India, p 318

अली गा के अधीन था, का दृष्टिकोण बहुत ही सकुचित सकीर्ण और गतिरोध उत्पन्न करने वाला था। अन्तरिम सरकार के हिन्दू मन्त्रालयो द्वारा प्रस्तुत योजनाओ को वित्त विभाग या तो ठुकरा देता या उनमे अनावश्यक देरी करता। लियाकत अली ने जिस बजट को प्रस्तुत किया वह उद्योगपतियो और व्यापारियो के लिए, जो अधिकाशत हिन्दू थे, हानिकारक था। अन्तरिम सरकार म सघर्ष और कलह नित्य घटित होने लगे और उसका सुचारु रूप से चलना असम्भव हो गया। इस सारे व्यवहार से लीग यह सिद्ध करना चाहती थी कि काग्रेस और लीग म किसी प्रकार के समझौते की सम्भावना नही और समस्या का एकमात्र हल विभाजन है। दूसरी ओर काग्रेस भी यह अनुभव करने लग गई थी कि लीग के साथ किसी प्रकार का समझौता नही हो सकता।

लीग द्वारा सवधानिक सभा का बहिष्कार तथा लन्दन सम्मेलन—20 नवम्बर 1946 को वायसराय न 9 दिसम्बर 1946 को होने वाली सवधानिक सभा की बठक के लिए सभी दलो को आमन्त्रित किया। परन्तु जिन्ना न सभा मे सम्मिलित होने के निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया। इस गतिरोध को दूर करने के लिये प्रधान मन्त्री एटली न अन्तरिम सरकार से काग्रेस और लीग के दो-दो प्रतिनिधियो और सिक्खो के एक प्रतिनिधि को सविधान सभा के सम्बन्ध मे वार्तालाप के लिय लन्दन आने के लिय निमन्त्रण दिया। लन्दन म यह सम्मेलन 3 दिसम्बर को शुरू हुआ और 6 दिसम्बर, 1946 तक चला, परन्तु काग्रेस और लीग के प्रतिनिधियो म कोई समझौता न हो सका। काग्रेस और लीग के विचारो म मुख्य भिन्नता समूहीकरण (Groupism) के प्रश्न पर थी। लीग समूहीकरण को अनिवार्य मानती थी और प्रान्तो के उसम सम्मिलित होने को भी अनिवार्य मानती थी जबकि काग्रेस इसे एच्छिक मानती थी। दूसरी भिन्नता सवधानिक सभा की शक्तियो के सम्बन्ध म थी। लीग का कहना था कि सवधानिक सभा केबिनेट योजना के मूल ढाचे मे परिवर्तन नही कर सकती जबकि काग्रेस का कहना था कि वह परिवर्तन कर सकती है। दोनो राजनीतिक दलो में इन प्रश्नो पर समझौता न होने के कारण प्रधान मन्त्री एटली न 6 दिसम्बर, 1946 को एक वक्तव्य दिया जिसम उन्होने लीग के दृष्टिकोण का समर्थन किया अर्थात् समूहीकरण को अनिवार्य बताया।

6 दिसम्बर 1946 का एटली का स्पष्टीकरण—प्रधान मन्त्री एटली न 6 दिसम्बर, 1946 को केबिनेट योजना का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि "समूहीकरण अनिवार्य है' और सविधान अनिच्छुक भाग पर लादा नही जा सकता।" एटली के शब्दो म 'एक ऐसी सवधानिक सभा जिसम भारतीय जनता के एक बहुत बडे भाग मे प्रतिनिधि सम्मिलित न हुए हो तो यह निश्चित है कि उसके द्वारा बनाया गया सविधान किसी ऐसे भाग पर, उसकी इच्छा के विरुद्ध, उस पर लागू नही किया जा सकता।'[1]

---

1 See Chatterji, Amiya, p 174

एटली का उपयुक्त स्पष्टीकरण बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण था। यह वक्तव्य न केवल एटली के स्वयं के 15 मार्च, 1942 के वक्तव्य के विपरीत था जिसमें उन्होंने कहा था कि "किसी अल्पमत को बहुमत के विकास में वीटो का अधिकार नहीं दिया जा सकता' बल्कि इसने केबिनेट योजना के पराग्राफ 15 के उपपैराग्राफ 5 में दी गई समूह में सम्मिलित होने की प्रान्तों की स्वतन्त्रता को भी समाप्त कर दिया। इस वक्तव्य ने केबिनेट योजना के महत्त्व को नष्ट कर दिया और लीग के दृष्टिकोण का समर्थन करके उसे पाकिस्तान की माँग पर अड़े रहने के लिए प्रोत्साहन दिया। इस वक्तव्य से यह भी स्पष्ट था कि यदि लीग संवैधानिक सभा में भाग नहीं लेती तो उसके द्वारा बनाया गया संविधान उस पर लागू नहीं होगा। संक्षेप में, इस वक्तव्य ने लीग के हाथों में वीटो (Veto) की शक्ति प्रदान कर दी।

प्रधान मन्त्री एटली की उपयुक्त व्याख्या कांग्रेस के संयुक्त भारत के स्वप्न पर घोर एवं प्रत्यक्ष कुठाराघात था। फिर भी कांग्रेस ने संवैधानिक सभा के कार्य को जारी रखने के लिए 6 दिसम्बर, 1946 की व्याख्या को स्वीकार कर लिया। परन्तु इस घोषणा को स्वीकार करते हुए कांग्रेस ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि विभाजन अनिवार्य है तो प्रान्तों के भागों को भी "आत्म निर्णय' का अधिकार होना चाहिये।

**संवैधानिक सभा की बैठक**—संवैधानिक सभा की बैठक जब 9 दिसम्बर, 1946 को हुई तो लीग ने उसका बहिष्कार कर दिया। डा० राजेन्द्र प्रसाद इस सभा के अध्यक्ष चुने गये। लीग की अनुपस्थिति में भी जो प्रस्ताव संवैधानिक सभा ने 22 जनवरी, 1946 को प्रयास किया वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण था और जो उपस्थित सदस्यों की राष्ट्रीय, धर्म निरपेक्ष, समान और स्वतन्त्र भावनाओं को व्यक्त करता है। इस प्रस्ताव में, जिसे 'उद्देश्य प्रस्ताव' (Objective Resolution) की संज्ञा दी गई, संवैधानिक सभा ने ब्रिटिश भारत, देशी राज्यों और स्वेच्छा से सम्मिलित होने वाले राज्यों के संघ को स्वतन्त्र प्रभुत्व सम्पन्न गणराज्य संघ की संज्ञा दी जिसमें इकाइयाँ स्वायत्त होंगी, अवशिष्ट शक्तियाँ इकाइयों के पास होंगी, सत्ता की शक्ति का स्रोत लोग होंगे, सभी को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त होगा, सभी को कानून के समक्ष समान समझा जायगा, सभी को अवसर की समानता होगी, सभी को विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, व्यवसाय, समुदाय, कार्य आदि की स्वतन्त्रता होगी अल्पमत वालों, पिछड़े हुए वर्गों और कबायली क्षेत्रों के लोगों के लिए विशेष संरक्षण होंगे तथा विश्व शान्ति और मानव कल्याण के लिए प्रयास किया जायगा।

लीग की कार्यकारिणी समिति ने 31 जनवरी, 1947 के प्रस्ताव द्वारा लीग परिषद् का संवैधानिक सभा के बहिष्कार की नीति का न केवल समर्थन किया बल्कि संवैधानिक सभा द्वारा लिए गए निर्णयों को अवैध भी कहा।

**20 फरवरी 1947 की एटली की घोषणा**—भारत मे विषम स्थिति उत्पन्न हो रही थी, काग्रेस और लीग मे समझौते की आशा समाप्त हो चुकी थी, लीग सवैधानिक सभा का बहिष्कार किये हुये थी, लीग साम्प्रदायिक भावनाओ का विकास कर रही थी, उसके नेता उत्तेजना पदा करने वाले भाषण दे रहे थे, लीग की अडगा नीति के कारण अतरिम सरकार निष्क्रिय सिद्ध हो रही थी, ब्रिटिश कमचारी तथा अधिकारी चुपचाप तमाशा देख रहे थे, इन सब परिस्थितिया को देख कर प्रधान मन्त्री एटली ने 20 फरवरी, 1947 को एक घोषणा द्वारा जून, 1948 तक भारत को छोडने और जिम्मेदार भारतीयो के हाथो में सत्ता सौंपने की घोषणा कर दी। इस घोषणा मे यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि यदि उस समय मे पूव भारत के प्रमुख राजनीतिक दलो म कोई समझौता न हो सका तो ब्रिटिश सरकार इस बात पर विचार करेगी कि सरकार का उत्तरदायित्व किसे सौपा जाय—क्या यह उत्तरदायित्व किसी केन्द्रीय सरकार को सौपा जाय या कि कुछ क्षेत्रो म प्रान्तो को सौपा जाय या कि अन्य किसी ढग से सौपा जाय कि जिससे भारतीयो को सबसे अधिक लाभ हो। इसी घोषणा मे प्रधान मन्त्री एटली ने वायसराय लाड वेवल कायक्रम की समाप्ति और लाड माउण्टबेटन की नियुक्ति की घोषणा की।

प्रधान मन्त्री एटली की उपयुक्त घोषणा मे दो बाते पूणतया स्पष्ट थी। **प्रथम**, भारत को जून, 1948 तक सत्ता हस्तान्तरित कर दी जायगी और **द्वितीय**, यदि मुस्लिम लीग सवधानिक सभा का बहिष्कार करती रही तो विभाजन पर विचार किया जा सकता है। इस घोषणा का पूर्ण लाभ उठाते हुए मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माग पर और भी कडा रुख अपना लिया।

**लाड माउण्ट बेटन का आगमन तथा माउण्ट बेटन योजना**—लाड लुई माउण्ट बेटन (Lord Louis Mountbatten) 22 माच, 1947 का भारत पहुचे और 22 माच, 1947 को उन्होन गवनर जनरल के पद की शपथ ग्रहण की। लाड माउण्ट बेटन की नियुक्ति का मुख्य उद्देश्य "ब्रिटिश वापसी के काय को शीघ्रता स पूरा करना, भारतीयो को शीघ्र से शीघ्र और अधिक मे अधिक 30 जून, 1947 तक सत्ता हस्तान्तरित करना," "यदि सम्भव हो तो बिना किसी पक्ष का बाध्य किये केबिनेट योजना के अतगत सयुक्त भारत की सरकार की स्थापना कर उसे ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल मे सम्मिलित करने का प्रयास करना," तथा 'देशी राज्या की समस्या का निपटारा" करना था। जसाकि लार्ड माउण्ट बेटन ने बाद मे स्पष्ट किया कि भारत की समस्या का समाधान करन के लिए उन्हे शक्तियो '[1] (plenipotentiary powers) मे विभूषित किया गया था।

---

1 Quoted from Gupta D C Ibid, p 265

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, लार्ड माउण्ट बेटन ने भारत पहुंचते ही कांग्रेसी, लीगी तथा अन्य राजनीतिक दलों के नेताओं से बातचीत करना शुरू कर दिया। उन्होंने भारत की एकता को बनाये रखने के लिए केबिनेट योजना का पुनर्जीवित करने का भरसक प्रयास किया परन्तु जिन्ना पाकिस्तान की मांग पर अड़े रहे और उससे टस से मस नहीं हुए। जब लीग से साथ समझौते की कोई आशा न रही तो लार्ड माउण्ट बेटन ने भारत के विभाजन पर विचार करना शुरू कर दिया और कांग्रेसी नेताओं को इसके लिए राजी करने की कोशिश करने लगे। जब कांग्रेस विभाजन के लिए तैयार हो गई तो लार्ड माउण्ट बेटन विभाजन के प्रस्तावों पर विचार करने लगे। अपने प्रस्तावों के साथ लार्ड माउण्ट बेटन 18 मई, 1947 को लन्दन गये और ब्रिटिश सरकार के साथ विचार विमर्श के बाद 30 मई, 1947 को भारत लौटे। 2 जून, 1947 को उन्होंने भारतीय नेताओं के साथ बातचीत करके 3 जून, 1947 को एक योजना की घोषणा की। यही योजना माउण्ट बेटन योजना कहलाती है। इस योजना पर कांग्रेस, लीग और सिक्खों ने अपनी सहमति प्रकट कर दी।

**माउण्ट बेटन योजना**—माउण्ट बेटन योजना के मुख्य बिन्दु निम्न थे—

1 संवैधानिक सभा के काम को जारी रखा जाय परन्तु इसके द्वारा बनाया गया संविधान देश के उन भागों पर लागू नहीं होगा जो उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।

2 देश के जो भाग इस संवैधानिक सभा में भाग नहीं ले रहे वे इस बात का निर्णय करेंगे कि क्या उन प्रदेशों के लिए संविधान वर्तमान संवैधानिक सभा बनायेगी या कि पृथक संवैधानिक सभा द्वारा उनके लिए संविधान का निर्माण किया जायगा। इसका निर्णय होने पर ही यह निश्चित किया जायगा कि किस सत्ता या सत्ताओं को सत्ता का हस्तान्तरण किया जाय।

3 पंजाब और बंगाल की विधान सभाओं के सदस्य पृथक पृथक रूप में मुस्लिम बहुमत वाले जिलों के प्रतिनिधियों और हिन्दू बहुमत वाले जिलों के प्रतिनिधियों की पृथक पृथक बैठक में साधारण बहुमत से यह निर्णय लेंगे कि क्या प्रान्त का विभाजन किया जाय या कि नहीं। यदि एक भाग भी इस बात का निर्णय कर कि विभाजन होना चाहिये तो विभाजन किया जायगा। विभाजन के पक्ष में निर्णय होने पर प्रत्येक पक्ष को यह निर्णय भी लेना था कि क्या वह वर्तमान संवैधानिक सभा में ही सम्मिलित होना चाहता है या कि पृथक संवैधानिक सभा द्वारा अपने संविधान का निर्माण करना चाहता है।

4 यूरोपियन सदस्यों के अतिरिक्त सिन्ध की विधान सभा को भी विशेष बैठक में यह निर्णय लेने का अधिकार दिया जायगा कि क्या वह वर्तमान संवैधानिक सभा में सम्मिलित होना चाहती है।

5 उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त म, इस वात पर निर्णय लेने के लिय कि क्या वह पाकिस्तान या भारत मे मिलना चाहता है, जनमत सग्रह कराया जायगा।

6 ब्रिटिश वलूचिस्तान की सभी प्रतिनिध्यात्मक सस्थाश्रो की सयुक्त बठक म इस वात पर निर्णय लिया जायगा कि क्या वह भारत के साथ सम्मिलित होना चाहता है या कि पाकिस्तान के साथ।

7 वगाल का विभाजन होने पर असम के सिलहट जिले को वहा मुस्लिम बहुमत होने से जनमत सग्रह द्वारा यह निर्णय लेन का अधिकार दिया जायगा कि क्या वह असम के साथ रहना चाहता है या कि पूर्वी वगाल के साथ सम्मिलित होना चाहता है।

8 यदि उपयुक्त योजना के अनुसार बगाल और पजाब प्रान्त विभाजन का समथन करते है तो सवधानिक सभा के लिये अपने अपने प्रतिनिधियो का निर्वाचन करेंगे और प्रतिनिधित्व का अनुपात 1 1000000 होगा। सिलहट म भी इसी तरह के चुनाव कराये जायेंगे।

9 माउण्ट वेटन योजना केवल ब्रिटिश भारत से सम्बधित थी और देशी राज्यो स सम्बधित नीति वही थी जो केबिनेट योजना मे स्पष्ट की गई थी।

10 वतमान सवधानिक सभा और नवीन सवधानिक सभा, यदि कोई बनायी जाती है, तो वह अपने अपने क्षत्रो के लिय सविधान का निर्माण करेगी।

11 भारत और पाकिस्तान की सीमाश्रो को निर्धारित करने के लिय एक सीमा आयोग (Boundary Commission) की स्थापना की जायगी।

12 दोना अधिराज्यो की लेनदारिया और देनदारिया (Liabilities and assets) को समझौते द्वारा निश्चित किया जायगा।

जसाकि पहले कहा जा चुका है कि माउण्ट बेटन योजना का स्वागत सभी राजनीतिक दलो न किया। मुस्लिम लीग न इसे 9 जून के प्रस्ताव द्वारा स्वीकार कर लिया, काग्रेस न इसे 15 जून के प्रस्ताव द्वारा स्वीकार कर लिया, सिक्खो तथा दलित वर्गों के सगठन ने भी इस योजना को स्वीकार कर लिया।

पजाब और बगाल द्वारा प्रान्तो के विभाजन पर सहमति सिन्ध और बलूचिस्तान द्वारा पाकिस्तान मे सम्मिलित होने पर सहमति, सिलहट द्वारा पूर्वी बगाल मे सम्मिलित होने पर सहमति—20 जून, 1947 को बगाल विधान सभा न प्रान्त के विभाजन को स्वीकार कर लिया, 23 जून, 1947 को पजाब विधान सभा न भी प्रान्त के विभाजन को स्वीकार कर लिया, 26 जून, 1947 को सिन्ध विधान सभा न पाकिस्तान की नवीन एव पृथक सवधानिक सभा म सम्मिलित होने का निश्चय किया। उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त न जनमत सग्रह द्वारा (जिसका काग्रेस और खुदाई खिदमतगारो न वहिष्कार किया) पाकिस्तान म सम्मिलित होने का निश्चय किया, बलूचिस्तान न भी जनमत सग्रह द्वारा पाकिस्तान म सम्मि...

होने का निश्चय किया और सिलहट ने भी जनमत सग्रह द्वारा पूर्वी बगाल मे सम्मिलित होने का निश्चय किया।

प्रान्तो के विभाजन का निश्चय होने के बाद भारत की स्वतन्त्रता, विभाजन और पाकिस्तान का निर्माण निश्चित तथ्य बन गये। ब्रिटिश सरकार भारत के राजनीतिक दलो द्वारा माउण्ट बेटन योजना स्वीकृति के बाद उसे तत्काल कार्यान्वित कर देना चाहती थी। इस योजना को वह तत्काल इसलिये कार्यान्वित करना चाहती थी कि देरी होने से कही यह योजना भी केबिनेट योजना की भांति खटाई मे न पड जाये और इसके साथ ही वह अपने आर्थिक और व्यापारिक हितो की रक्षा करना चाहती थी। इस उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटिश ससद मे एक विधेयक प्रस्तुत किया जो इतिहास मे भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के नाम से प्रसिद्ध है।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम का उल्लेख करने से पूर्व विभाजन परिषद् (Partition Council) के सम्बन्ध मे कुछ जान लेना उपयोगी होगा।

**विभाजन परिषद्**—विभाजन के सम्बन्ध मे विषयो का बटवारा करने के लिए, और भारत और पाकिस्तान मे लेनदारियो और देनदारियो (Liabilities and assets) का बटवारा करने के लिए एक विभाजन समिति (Partition Committee) का गठन 7 जून, 1947 को किया गया। इसमे कुल 5 सदस्य थे—दो कांग्रेसी, दो लीगी और वायसराय इसके अध्यक्ष थे। जब पजाब और बगाल ने विभाजन के पक्ष मे अपनी सहमति प्रकट कर दी तो 27 जून 1947 को इस विभाजन समिति का स्थान विभाजन परिषद् (Partition Council) ने ले लिया। इसके भी सदस्य वही थे जो विभाजन समिति के सदस्य थे।

पजाब और बगाल की सीमाओ को निर्धारित करने के लिए एक सीमा आयोग बनाया गया जिसके अध्यक्ष सर साइरिल रेडक्लिफ (Sir Cyril Radcliffe) थे। इस आयोग का काय मुस्लिम और गैर मुस्लिम बहुमत वाले भागो के आधार पर तथा अन्य तथ्यो के आधार पर सीमाओ का विभाजन करना था।

लार्ड माउण्टबेटन ने अन्तरिम सरकार का पुनर्गठन करके सम्पूर्ण दो प्रशासन बना दिये ताकि विभाजन का काय सम्पन्न हो सके। कांग्रेस ने लार्ड माउण्ट बेटन को भारत का प्रथम गवर्नर जनरल नियुक्त किया और मुस्लिम लीग ने जिन्ना को पाकिस्तान का प्रथम गवर्नर जनरल नियुक्त किया।

## भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947
### (Indian Independence Act, 1947)

भारतीय स्वतन्त्रता विधेयक ब्रिटिश कामन सभा मे 4 जुलाई, 1947 को प्रस्तुत किया गया और ठीक 14 दिन बाद 18 जुलाई, 1947 को ब्रिटिश सम्राट की स्वीकृति मिलने पर यह विधेयक भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम बन गया। सम्भवतया यही एक ऐसा महत्त्वपूर्ण अधिनियम है जिसे ब्रिटिश ससद ने इतने अल्पकाल मे

पास किया। जैसाकि पामर ने लिखा है कि "ब्रिटिश संसद के इतिहास में सम्भवतः ही कोई इतना महत्त्वपूर्ण विधेयक इतनी शीघ्रता और इतने कम वाद विवाद से पास हुआ हो"[1] जितना कि भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम बहुत ही सरल और संक्षिप्त है। इस विधेयक में केवल 20 खण्ड (Sections) और 3 अनुसूचियां हैं। इस अधिनियम के सरल और संक्षिप्त होने का मूल कारण यह है कि यह भारत के प्रति ब्रिटिश नीतियों या उद्देश्यों की व्याख्या नहीं करता। यह तो केवल "समर्थकारी नियम" (Enabling Act) था। इसमें प्रासंगिक विषयों को गवर्नर जनरल के हाथों में छोड़ दिया गया था।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं—

1 स्वतन्त्रता की निश्चित तिथि—अधिनियम ने सत्ता हस्तान्तरण और भारत देश की स्वतन्त्रता की तिथि को 15 अगस्त, 1947 निश्चित किया।

2 दो अधिराज्यों की स्थापना—15 अगस्त, 1947 को भारत को, क्राउन की परतन्त्रता से मुक्त करके, दो स्वतन्त्र अधिराज्यों—भारत और पाकिस्तान—में विभक्त कर दिया जायगा। दोनों अधिराज्य अपने अपने क्षेत्र में पूर्णतया स्वतन्त्र और समान होंगे। दोनों प्रभुत्व शक्ति सम्पन्न राज्य होंगे और दोनों में से किसी एक का स्तर यूनाइटेड किंगडम या कनाडा के स्तर से कम नहीं होगा।

3 अधिराज्यों की निश्चित सीमायें—दोनों अधिराज्यों की सीमाओं का अधिनियम के खण्ड 2 (Section 2) में वर्णन किया गया था परन्तु यह भी कहा गया था कि सीमा आयोग के पंच निर्णय द्वारा उनमें परिवर्तन किये जा सकते हैं। भारत से पृथक होने वाले भाग को पाकिस्तान की संज्ञा दी गई। परन्तु पाकिस्तान के भी दो भाग थे—पूर्वी पाकिस्तान (जो अब बंगला देश है) और पश्चिमी पाकिस्तान। पूर्वी पाकिस्तान में जो भाग सम्मिलित किये गये थे वे पूर्वी बंगाल और असम का सिलहट का जिला। पश्चिमी पाकिस्तान में जो भाग सम्मिलित किये गये थे वे हैं ब्रिटिश बलूचिस्तान, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त, सिन्ध, पश्चिमी पंजाब। बहावलपुर और खैरपुर भी पश्चिमी पाकिस्तान में सम्मिलित हो गए। शेष ब्रिटिश भारत भारतीय अधिराज्य में सम्मिलित किया गया था।

अधिनियम में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि जिन क्षेत्रों को दोनों अधिराज्यों में सम्मिलित नहीं किया गया वे किसी अधिराज्य में सम्मिलित हो सकते थे। परन्तु यदि कोई क्षेत्र किसी अधिराज्य में था और वह दूसरे अधिराज्य में सम्मिलित होना चाहता था तो वह उस अधिराज्य की अनुमति के बिना, जिसमें वह था, दूसरे अधिराज्य में सम्मिलित नहीं हो सकता था।

---

1 Palmer, Norman D Major Governments of Asia

4 सम्प्रभु सवैधानिक सभा—अधिनियम ने दोनो अधिराज्यो के लिये किसी सविधान का निर्माण नही किया था बल्कि उन्हे अपने अपने अधिराज्य के लिये पृथक पृथक सविधान बनाने का अधिकार प्रदान किया था तथा कठिन सक्रांति काल (difficult period of transition) का सामना करने के लिये व्यवस्था की थी। इस अधिनियम ने दोनो अधिराज्यो की सवैधानिक सभाओ को सम्प्रभु बना दिया था।

5 गवनर जनरल की नियुक्ति—भारत पर ब्रिटिश ससद और ह्वाइट हाल के नियन्त्रण को 15 अगस्त 1947 को समाप्त कर दिया जाना था, इसलिये अब क्राउन और अधिराज्यो के बीच गवनर जनरल ही एक आवश्यक कडी रह गई थी। परन्तु गवनर जनरल की नियुक्ति सम्राट द्वारा स्वेच्छा से नही अपितु अन्य अधिराज्यो की भाति अधिराज्यो के मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर की जानी थी। भारतीय नेताओ ने लार्ड माउण्ट बेटन को भारतीय अधिराज्य का प्रथम गवनर जनरल नियुक्त करने की सिफारिश की।

6 प्रशासन का आधार 1935 का अधिनियम रखा गया—जब तक सवैधानिक सभायें अपने अपने अधिराज्य के लिये सविधान का निर्माण कर उसे लागू नही कर देती तब तक दोनो अधिराज्यो मे प्रशासन का आधार 1935 का अधिनियम होगा। परन्तु परिवर्तित परिस्थितियो के अनुकूल 1935 के अधिनियम मे भी परिवतन कर दिये गये, भारत मन्त्री के नियन्त्रण और सम्राट के विशेषाधिकारो को समाप्त कर दिया गया, गवनर जनरल और गवनरो को सवधानिक अध्यक्ष बना दिया गया, स्वविवेक और व्यक्तिगत निर्णय की शक्तिया को समाप्त कर दिया गया। सपरिषद् गवनर जनरल रूपान्तर विधान (modifications), वर्जन (omission) तथा परिवधनो (additions) को जारी कर सकता था। गवनर जनरल को अस्थायी सवधानिक आदेशो को भी जारी करने का अधिकार दिया गया था। गवनर जनरल को ये शक्तिया केवल इसलिये दी गई थी कि स्वतन्त्रता अधिनियम को लागू किया जा सके, विभाजन के काम को पूरा किया जा सके, अस्थायी सविधान को बनाया जा सके और सुरक्षा, मुद्रा तथा सचार आदि आवश्यक सेवाओ को निरन्तर बनाया जा सके। परन्तु इन सब शक्तियो का प्रयोग गवनर जनरल केवल मार्च, 1948 तक कर सकता था बशर्ते कि उन्हे अधिराज्य द्वारा इससे पूर्व समाप्त न कर दिया गया हो।

7 सवधानिक सभा अधिराज्य ससद के रूप मे—अधिनियम ने प्रत्येक अधिराज्य की सवधानिक सभा को सविधान निर्माण करने की शक्तियो और कार्यों से भी विभूषित कर दिया गया था अर्थात सवैधानिक सभा व्यवस्थापिका के रूप मे भी काय करेगी। अधिनियम के खण्ड 6 ने परतन्त्र व्यवस्थापिका पर लगी सभी बाधाओ को दूर कर दिया। अधिराज्यो की व्यवस्थापिका अब कोई कानून पास कर सकती थी, ब्रिटिश ससद द्वारा पास किये गये किसी कानून या नियम या आदेश को समाप्त

कर सकती थी या उसमे संशोधन कर सकती थी। अब गवर्नर जनरल ही किसी कानून को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता था। इस तरह भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने 'सम्प्रभु सत्ता का पूर्ण एवं अप्रतिबन्धित हस्तान्तरण कर दिया।" अब ब्रिटिश संसद द्वारा पारित कोई कानून तभी अधिराज्यो में लागू हो सकता था जब तक अधिराज्य की व्यवस्थापिका ही उसे स्वीकार न कर ले।

8 भारत सम्राट की उपाधि की समाप्ति—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब भारत के सम्बन्ध मे ब्रिटिश सरकार का कोई उत्तरदायित्व ही नही था तो ब्रिटिश सम्राट के क्राउन में लगी भारत के सम्बन्ध मे उपाधियो का कोई महत्व नही रह गया था। इसलिये अधिनियम ने ब्रिटिश सम्राट की उपाधियो से "भारत सम्राट" (Emperor of India) की उपाधि को समाप्त कर दिया।

9 नागरिक सेवाओ के अधिकारो की रक्षा—अधिनियम ने भारतीय नागरिक सेवाओ पर भारत मन्त्री के संरक्षण नियन्त्रण और नियुक्ति के अधिकार को समाप्त कर दिया। परन्तु सत्ता हस्तान्तरित के बाद नागरिक सेवाओ के जो सदस्य सेवा मुक्त होना चाहेंगे उनके लिये "मुआवजे" की बात अधिनियम में कही गई थी और जो सदस्य किसी अधिराज्य में अपने पदो पर बने रहना चाहेंगे उनके लिये अधिनियम ने सेवाओ की शर्तों को (उनके विशेषाधिकार पदावधि, निवृति वेतन, पारिश्रमिक, छुट्टी आदि) ज्यों का त्यों बनाये रखा यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर अधिराज्य की संसद उनमे परिवर्तन कर सकती थी।

10 भारत मन्त्री के पद की समाप्ति—अधिनियम ने भारत मन्त्री के पद को समाप्त कर दिया और उसके कार्यों को राष्ट्रमण्डल के सचिव (Secretary of State for Commonwealth Relations) को सौंप दिए गये।

11 परम सत्ता (सार्वभौम सत्ता–Paramountcy) की समाप्ति—ब्रिटिश भारत की स्वतन्त्रता के साथ ही ब्रिटिश सरकार द्वारा की गई देशी रियासतो के साथ सन्धियां समझौते आदि को भी समाप्त कर दिया जाना था। 15 अगस्त 1947 को देशी रियासतो पर ब्रिटिश की परम सत्ता (Paramountcy) को समाप्त कर दिया जाना था। दूसरे शब्दो में ब्रिटिश भारत की स्वतन्त्रता के साथ ही देशी रियासतें भी पूर्णतया स्वतन्त्र बना दी जायेंगी। वे किसी अधिराज्य के साथ किसी प्रकार की सन्धि या समझौता करके उसमे सम्मिलित हो सकती थी और उनके साथ अपने भावी सम्बन्धो का निर्धारण कर सकती थी। इस सारी व्यवस्था द्वारा ब्रिटिश शासक सम्भवत सत्ता हस्तान्तरण के समय भारत को उसी प्रकार टुकड़ो में बांटना चाहते थे जैसा कि उन्होंने 300 वर्ष पूर्व उसे पाया था।

12 ब्रिटिश सेनाओ की वापसी—अधिराज्यो की स्थापना के साथ ब्रिटिश सेनाओ का हटाया जाना के साथ ही शुरू कर दिया जायगा और भारतीय सेनाओ को दो भागों में बांट दिया जायगा।

13 ससदात्मक शासन प्रणाली—केन्द्र की भाति प्रान्तीय सरकारों का गठन भी ससदात्मक शासन प्रणाली के आधार पर किया जायगा। प्रान्त की कार्यपालिका शक्ति को गवनर के हाथो मे निहित कर दिया गया जिसका प्रयोग वह मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर करेगा। दूसरे शब्दो म गवनर सवैधानिक अध्यक्ष बना दिये गये जिनकी नियुक्ति गवनर जनरल द्वारा की जायगी।

## काग्रेस ने विभाजन को क्यो स्वीकार किया ?

काग्रेस विभाजन के सवथा विरुद्ध थी क्योकि विभाजन उसके राष्ट्रीय एकता के बिल्कुल विपरीत था। यह गाधीजी के जीवन भर के आदर्शों के विपरीत था। गाधीजी ने तो स्पष्ट कह दिया था कि 'यदि काग्रेस विभाजन को स्वीकार करना चाहती है तो यह मेरी मृत्यु पर ही होगा।"[1] अन्य काग्रेसी नेता—पटेल, नेहरू, पुरुषोत्तमदास टण्डन आजाद आदि—भी विभाजन के विपरीत थे। लखनऊ म एक सावजनिक सभा मे बोलते हुए सरदार पटेल ने कहा था कि 'पृथ्वी फट सकती है परन्तु भारत का विभाजन नही हो सकता।"[2]

यद्यपि काग्रेसी नेता विभाजन के कट्टर विरोधी थे परन्तु परिस्थितियो ने उन्हें बाध्य कर दिया कि वे इसे एक आवश्यक बुराई के रूप म स्वीकार कर लें। जसाकि नेहरू ने कहा था कि "इन्होने घटनाओ से विवश होकर ही विभाजन को स्वीकार किया था।' एक अन्य स्थान पर नेहरूजी ने कहा था कि "सिरदद से छुटकारा पाने के लिये वे सिर ही कटवा डालने को तैयार हो गये।' पटेल ने भी कहा था कि 'यदि हमने विभाजन स्वीकार न किया तो भारत बहुत से टुकडो मे बट जायगा और बिल्कुल नष्ट हो जायेगा एक नही अनेक पाकिस्तान बनते।" पटेल ने एक अन्य स्थान पर कहा था कि "मैंने विभाजन मजबूरी की हालत मे स्वीकार किया, जब हम ऐसी स्थिति मे पहुच गये थे कि हम सब कुछ खो बठते।" पटेल ने यह भी अनुभव किया कि "देश को सुरक्षित और शक्तिशाली बनाने का एक रास्ता यही था कि शेष भारत का एकीकरण किया जाय।"

जिन घटनाओ ने अर्थात परिस्थितियो ने काग्रेस को विभाजन को स्वीकार करने के लिये बाध्य किया उनम प्रमुख निम्न थी—

(i) 1945 46 के निर्वाचनो ने स्पष्ट कर दिया था कि भारतीय मुसलमानो पर लीग का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ रहा था। इन चुनाव परिणामो से नेहरू अधिक प्रभावित हुए थे कि कहा जाता है कि उन्होने काग्रेस को विभाजन के लिये तयार करने की योजना बना ली थी।[3]

(ii) लीग पाकिस्तान की माग से एक इच भी विचलित होने के लिये तयार नही थी।

---

1 Quoted by Azad Ibid p 186
2 Patel Quoted by Gupta, D C Ibid, p 265
3 See Gupta, D C Ibid, p 269

(iii) साम्प्रदायिक भावनाओं का विकास तीव्र गति से बढ़ रहा था जिससे बंगाल, बिहार, बम्बई, यू० पी०, पंजाब में गम्भीर दंगों की घटनायें बढ़ रही थी।

(iv) प्रशासन बहुत ही ढीला और निष्क्रिय हो चुका था। उच्च सेवाओं के यूरोपियन सदस्य भारत के हितों के विरुद्ध कार्य कर रहे थे। राजनीतिक विभाग की साजिश भारतीय हितों पर कुठाराघात कर रही थी।

(v) अन्तरिम सरकार में लीग की अड़ंगा नीति ने कांग्रेस और लीग में समझौते की भावनाओं और राष्ट्रीय एकता के तत्वों को नष्ट कर दिया था। मुस्लिम लीग के साथ सहयोग या समझौता होना असम्भव हो गया था।

(vi) कुछ आलोचकों का मत है कि क्योंकि कांग्रेसी नेता "सत्ता और शक्ति" के फलों का उपभोग कर चुके थे इसलिये वे सत्ता से वंचित होना नहीं चाहते थे। इतने वर्षों तक संघर्ष जारी रखने के कारण अब कांग्रेसी नेताओं में और संघर्ष करने की क्षमता नहीं थी।

(vii) नेहरू और पटेल विभाजन के पक्ष में होने से विभाजन निश्चित हो गया। आजाद लिखते हैं कि 'लार्ड माउण्ट बेटन को भारत आये एक महीना ही हुआ था कि जवाहरलाल जो विभाजन के कट्टर विरोधी थे, यदि उसके समर्थक नहीं तो कम से कम उस विचार के प्रति सहमत हो गये थे।'[1] "पंडित जी माउण्टबेटन के मनमोहन के ही शिकार हो गये। महात्मा गांधी ने भी विभाजन पर अपनी मौन स्वीकृति प्रदान कर दी।

## क्या विभाजन अनिवार्य था ?
## या
## पाकिस्तान के निर्माण के कारण

भारत का विभाजन चाहे कितना ही जटिल, कठिन और भयानक क्यों नहीं था उस समय की परिस्थितियों में यह अनिवार्य एवं न्यायसंगत प्रतीत होता था। यह किसी व्यक्ति विशेष या किसी दल की इच्छा या निर्णय का परिणाम नहीं था। यह पिछले 40 वर्षों की घटनाओं का तार्किक परिणाम था। ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनाई गई "विभाजन करो और शासन करो की नीति (The British Policy of Divide and Rule), मुस्लिम लीग द्वारा अपनाया गया प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण, जातीय वमनस्य, जिन्ना की हठधर्मिता कांग्रेस द्वारा मुस्लिम लीग के प्रति अपनाई

1 See Azad, Ibid, p, 183

गयी तुष्टिकरण की नीति, सन् 1946–47 मे घटित गम्भीर साम्प्रदायिक दगे मुस्लिम और हिंदू पुनरुत्थानवादी गा दालना म पद, प्रभाव और सत्ता को प्राप्त करने के लिये पारस्परिक सघर्ष, अन्तरिम सरकार की असफलता, कांग्रेसी नताओ की सत्ता के फला को भोगने की इच्छा और माउण्टबेटन के प्रयत्न तथा उसकी योजना की स्वीकृति आदि सभी ऐसे तत्त्व थे जो विभाजन के लिये उत्तरदायी थे। इस तरह विभाजन किसी की इच्छा पर आधारित नही था बल्कि परिस्थितिया का परिणाम था जिसे 'आवश्यक बुराई' के रूप म स्वीकार किया गया था।

✓ जिन कारणो न विभाजन को अनिवार्य बना दिया तथा पाकिस्तान का निर्माण किया उनम मुख्य कारण निम्न थे —

**1 जिन्ना की हठधर्मिता**—जिन्ना की हठधर्मिता उसका कट्टर एव लडाकू स्वभाव भारत के विभाजन के प्रमुख कारणो म से एक था। जितना ही कांग्रेस उसके साथ समझौते के लिये उत्सुकता को प्रकट करती उतना ही वह महत्त्वाकाक्षी और दुराग्रही (Uncompromising) बनता गया। कांग्रेस के हर समझौते के प्रयास ने जिन्ना की मागो के दायरो को बढावा दिया। उदाहरणतया सन् 1928 मे जिन्ना ने नेहरू रिपोर्ट मे तीन सशोधनो की माग की थी, सन् 1929 म उसने अपनी 14 शर्तों की घोषणा कर दी और 1940 म पाकिस्तान की माग को ही उसने प्रस्तुत कर दिया। इस तरह साम्प्रदायिक समस्या के निवारण की प्रत्येक कांग्रेसी उत्सुकता' का जिन्ना ने अनुचित लाभ उठाने का प्रयास किया। सन् 1940 म जिन्ना का दृष्टिकोण दिन प्रति दिन उग्र, दृढ और अटल होता गया। राजगोपालाचार्य फार्मूला, वेवल योजना और केबिनेट योजना की असफलता का मूल कारण जिन्ना द्वारा अपनाया गया कडा दृष्टिकोण था।

**2 कांग्रेस की मुस्लिम लीग के प्रति तुष्टिकरण की नीति**—भारत के विभाजन के लिये यदि जिन्ना की हठधर्मिता उत्तरदायी थी तो उसे तथा लीग को तुष्ट करने की कांग्रेस की नीति भी उतनी ही उत्तरदायी थी। कांग्रेस ने अपनी नीतियो मे अदूरदर्शिता का परिचय दिया। प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तो को तिलाञ्जलि देकर उसने गलत सिद्धान्तो की कडवी गोली को निगलने का प्रयास किया परन्तु वे राष्ट्रीय एकता के लिये हानिकारक सिद्ध हुए। प्रथम, कांग्रेस ने उन परिस्थितियो को पैदा होने से नही रोका जिन्होंने विभाजन को अनिवार्य बना दिया। दूसरे लीग को मुसलमानो की एक मात्र प्रतिनिधि सस्था समझ कर उससे समझौते की बात करना कांग्रेस की भयकर भूल थी। इसम न केवल राष्ट्रवादी मुसलमानो के सगठन को धक्का लगा बल्कि ब्रिटिश सरकार की दृष्टि म भी लीग के महत्त्व को बढा दिया। ब्रिटिश शासको ने इस स्थिति का अपने हितो की रक्षा के लिये पूरा लाभ उठाया, तीसरे सन् 1916 म लखनऊ समझौते द्वारा पृथक निर्वाचन प्रणाली के सिद्धान्त को स्वीकार करना कांग्रेस की भयकर भूल थी, चौथे राष्ट्रीय आन्दोलनो म विशेष कर सन् 1920–22 के असहयोग आन्दोलन के समय, विदेशी तत्वो (खिलाफत क

प्रश्न को मिलाना भी भयंकर भूल थी। पांचवें, कांग्रेस ने सन् 1932 के मैकडोनाल्ड पंचाट (साम्प्रदायिक पंचाट–Communal Award) को पूर्णतया अस्वीकार नहीं किया बल्कि पूना में उसके साथ समझौता कर लिया छठे, कांग्रेस ने मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तों के निर्माण में जैसे पूर्वी बंगाल और सिन्ध, सहमति प्रकट कर दी, सातवें कांग्रेस स्वयं "आत्म निर्णय" के सिद्धान्त को बार बार दोहराती जिससे पाकिस्तान की मांग को परोक्ष रूप से बल मिला, आठवें, जब कांग्रेस प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त में विश्वास करती थी और प्रजातान्त्रिक सरकार बहुमत की सरकार होती है, तो अन्त-रिम सरकार में लीग के प्रवेश के लिये उस रियायत की आवश्यकता नहीं थी और यदि लीग को शामिल करना ही था तो उसे वित्त जैसा महत्वपूर्ण विभाग कभी नहीं सौंपना चाहिये था। इन सब तथ्यों से स्पष्ट है कि कांग्रेस ने जितना अधिक मुस्लिम लीग को रिझाने या तुष्ट करने की कोशिश की वह उतना ही हठधर्मी होता गया। डा० लाल बहादुर ने ठीक लिखा है कि 'कांग्रेस ने लीग के प्रति तुष्टिकरण की नीति को अपनाया और इस प्रकार न चाहते हुए भी उसे निरन्तर बढ़ते हुए दावे (Claims) करने के लिये प्रेरित किया। मुसलमानों को प्रसन्न करने की उत्सुकता में उसने अपने सिद्धान्तों की बलि दे दी।'[1]

3 अन्तरिम सरकार की असफलता—साम्प्रदायिक दंगा और विद्रोह ने जिस तनाव और उत्तेजना के वातावरण को उत्पन्न किया उसने अन्तरिम सरकार के लीगी और कांग्रेसी सदस्यों के पारस्परिक सहयोग और व्यवहार पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। लियाकत अली खां के अधीन वित्त विभाग की यही विशेषता थी कि वह हिन्दू मन्त्रालय के कार्यों अथवा योजनाओं में हस्तक्षेप या बाधा प्रस्तुत करता था। इससे मन्त्रियों में अनेक झगड़े बढ़ गये और अन्तरिम सरकार का सुचारु रूप से चलना कठिन हो गया। सबसे दुर्भाग्य की बात यह थी कि अन्तरिम सरकार के मुस्लिम सदस्य अपने विभागों के अन्तर्गत महत्वपूर्ण पदों पर मुस्लिम लीग के सदस्यों को नियुक्त कर रहे थे। इस स्थिति ने कांग्रेस में बेचैनी पैदा कर दी क्योंकि इससे एक बार फिर से संकट उत्पन्न होने और साम्प्रदायिक खून बहने की शंकायें उत्पन्न हो गई थी।

4 साम्प्रदायिक दंगे—16 अगस्त, 1946 के बाद (जब से लीग ने सीधी कार्यवाही दिवस मनाया) साम्प्रदायिक दंगों का जो स्वरूप सामने आया वह अत्यन्त क्रूर, निर्दयी और भयंकर था। "क्रूर कलकत्ता हत्यायें" (Great Calcutta Killings) नोआखाली और तिप्पराह में मुसलमानों द्वारा संगठित रूप में हिन्दुओं पर अत्याचार और प्रतिकार के रूप में बिहार में हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों पर [illegible]

1 See Dr Lal Bahadur The Muslim League p 57

अत्याचार, यू० पी०, बम्बई, पजाब आदि प्रान्तो म बढती हुई साम्प्रदायिक अग्नि ने सारे राष्ट्र मे कपकपी पदा कर दी। हत्याओ, लूटमार, आग लगने की घटनाओ स्त्रियो के अपहरण,जबरदस्ती धम परिवतन आदि की घटनाओ ने वातावरण को दूषित कर दिया था। नेहरूजी लिखते है कि "मानव व्यवहार के सम्बन्ध मे मैंने ऐसी बातें सुनी हैं जो पशुओ को भी लज्जित (अपमानित) कर देंगी।"

5 **विभाजन एक आवश्यक बुराई के रूप मे**—उक्त परिस्थितियो मे विभाजन का कोई विकल्प नजर नही आता था। जसाकि गोविन्द बल्लभ पन्त ने लिखा है कि "पाकिस्तान की माग को स्वीकार करने या आत्म हत्या करने के अतिरिक्त हमारे पास और कोई विकल्प नही था।" नेहरूजी ने भी कहा था कि "उन्होने घटनाओ से विवश होकर ही विभाजन को स्वीकार किया था।" नेहरूजी के ही शब्दो म "सिर दद से छुटकारा पाने के लिये वे सिर ही कटवा डालने को तयार हो गये।" "स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये हमे और कोई रास्ता दिखाई नही दिया। पटेल ने भी कहा था कि "यदि हमने विभाजन स्वीकार न किया तो भारत बहुत से टुकडो मे बट जायगा और बिल्कुल नष्ट हो जायगा एक नही अनेक पाकिस्तान बनते।' एक अन्य स्थान पर पटेल ने कहा था कि "मैने विभाजन मजबूरी की हालत म स्वीकार किया", यदि एक अग मे विष का सचार हो जाय तो सारे शरीर को असाध्य हानि से बचाने के लिये तुरन्त पृथक कर देना चाहिए" "देश को सुरक्षित और शक्तिशाली बनाने का एक मात्र रास्ता यही था कि शेष भारत का एकीकरण किया जाय।"

6 **पद प्रभाव और सत्ता प्राप्ति के लिये भारतीय जातियो मे सघष**—ब्रिटिश शासको द्वारा सत्ता हस्तान्तरण की क्रमिक नीति ने भारत की भिन्न भिन्न जातियो मे पद, प्रभाव और सत्ता का प्राप्त करने के लिये सघष के माग को चौडा कर दिया। यह सघष उस समय स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा जब जातियो मे इसके अभिनेता (Protagonists) उत्पन्न हो गये। मुस्लिम नेताओ मे सर सयद अहमद, सर मुहम्मद इकबाल और जिन्ना प्रमुख अभिनेता थे। हिन्दुओ मे प० मदन मोहन मालवीय और सावरकर प्रमुख थे। दोनो ने एक दूसरे के सामाजिक बहिष्कार की नीति को अपनाया। मुस्लिम अपने अतीत के गौरव को दोहराते और हिन्दू अपनी बहुसख्यक जाति का राग अलापते। बाद मे जिन्ना ने द्वि राष्ट्र के सिद्धान्त को जन्म दिया और हिन्दू महासभा ने "विशुद्ध हिन्दू राज्य को। सावरकर तो "विशुद्ध हिन्दू राजनीति मे विश्वास करते थे और जिन्ना पृथक पाकिस्तान की बात करते थे। इन सब तत्वो ने हिन्दू पुनरुत्थानवाद और मुस्लिम पुनरुत्थानवाद म सघष को जन्म दिया। इस सघष ने दो बातो को स्पष्ट कर दिया। प्रथम तो यह कि भारत की परम्परागत सस्कृति पश्चिमी घुसपठ के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया करने के लिय तयार है और दूसरे यह कि यद्यपि हिन्दुओ और मुस्लिम जातियो के उदभव को सामान्य स्रोतो मे देखा जा सकता था परन्तु दोनो ने अपने अपने भिन्न भिन्न और पृथक तथा विशिष्ट लक्षणो का विकास कर लिया था।

**7 ब्रिटिश नौकरशाही का कठोर एवं विरोधी दृष्टिकोण**—द्वितीय महायुद्ध के दौरान और उसके ठीक बाद और स्वतन्त्रता प्राप्ति तक ब्रिटिश नौकरशाही का दृष्टिकोण केवल उदासीनता का ही नहीं था अपितु कठोर, निर्दयी और प्रतिकूल भी था। प्रथम तो एटली का यह वक्तव्य निराशापूर्ण था कि साम्प्रदायिक समस्या का समाधान हुए बिना जून 1948 तक भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरित कर दी जायगी। इस वक्तव्य ने गृह युद्ध की सम्भावना को बढ़ा दिया। दूसरे, भारत में ब्रिटिश नौकरशाही साम्प्रदायिक दंगों को दबाने के स्थान पर उन्हें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से बढ़ावा दे रही थी। *गृह युद्ध की सम्भावना और साम्प्रदायिक दंगों की भीषणता ने विभाजन* को निकट ला दिया।

**8 लार्ड माउण्ट बेटन का प्रभाव**—भारत के विभाजन में लार्ड माउण्टबेटन के प्रभावशाली व्यक्तित्व, मधुर व्यवहार, राजनीतिक चातुर्य और उसके ठोस तर्कों का अत्यधिक प्रभाव था। भारत पहुँचते ही उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि भारत की समस्या इतनी जटिल है कि इसका एक मात्र हल विभाजन है। यह लार्ड माउण्टबेटन के प्रयासों का ही फल था कि प० जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल जैसे विभाजन के कट्टर विरोधी भी उसके पक्ष में हो गये।

**9 राष्ट्रवादी मुसलमानों की दुर्बल स्थिति**—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में अनेक ऐसे मुस्लिम नेता थे जो राष्ट्रीय विचारों से ओत प्रोत थे परन्तु वे न तो मुस्लिम लीग की तरह संगठित थे और न ही उनका कोई सामान्य मन्च था। इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने भी मुस्लिम लीग को ही भारतीय मुसलमानों की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था समझकर उससे समझौता वार्तायें की, उसे तुष्ट करने के लिये अपने राष्ट्रीय और प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों की बलि भी दी। कांग्रेस के इस व्यवहार ने राष्ट्रवादी मुसलमानों के ढीले संगठन को और भी नगण्य और तुच्छ बना दिया। राष्ट्रवादी मुसलमानों में इतनी शक्ति संगठन या कोई प्रोग्राम नहीं था कि वे मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को निष्फल कर सकते।

**10 पाकिस्तान एक अस्थायी हल के रूप में**—भारतीय नेताओं, विशेषकर कांग्रेसियों का विश्वास था कि लंगड़े, टूटे फूटे और दीमक लगे हुए पाकिस्तान के लिये आत्म सक्षम (Viable) रहना कठिन होगा और वह पुनः भारत में प्रवेश ले लेगा। परन्तु ये सब आशायें निष्फल सिद्ध हुई।

**11 सत्ता के फलों को भोगने की इच्छा**—विभाजन के कुछ आलोचकों का मत है कि सत्ता के प्रति आकर्षण भी देश के विभाजन के लिये उत्तरदायी था। कांग्रेसी नेता, जो एक बार सत्ता के फलों के स्वाद को भोग चुके थे, वे अब उससे वंचित होना नहीं चाहते थे। जैसा कि माइकेल ब्रेचर ने लिखा है कि "कांग्रेसी नेताओं के लिये सत्ता का पारितोषिक एक बहुत बड़ा आकर्षण था और एक बार उसके फलों को भोगने के बाद वे विजय के क्षण में उन्हें छोड़ने के लिये तैयार नहीं थे।"

**12 बाध्यता स्वाभाविक सहयोग उत्पन्न नहीं कर सकती थी**—क्योंकि मुस्लिम लीग पाकिस्तान के रूप में एक पृथक राज्य की माँग पर दृढ़ संकल्प थी इसलिये उन्हें संयुक्त भारत के लिये बाध्य करना न्यायसंगत नहीं था। विकास और प्रगति के लिये वही सहयोग और सम्भावना वांछित होती है जो स्वाभाविक हो, बाध्यता से उत्पन्न किया गया सहयोग वैमनस्य और प्रतिकार को ही जन्म देता है। श्री नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि "यदि उन्हें (मुस्लिम लीग के सदस्यों को) भारत में रहने के लिए बाध्य किया गया तो प्रगति और नियोजन नितान्त असम्भव हो जायेंगे।"

**13 ब्रिटिश धूर्तता का परिणाम**—विभाजन ब्रिटिश धूर्तता और मक्कारी का परिणाम था। ब्रिटिश शासकों ने अपने साम्राज्यीय हितों की रक्षा के लिए ऐसी नीतियों का अनुसरण किया जो भारत के अहित में थी। "फूट डालो और शासन करो की नीति साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली, अल्पमतों, रजवाड़ा और सिविल सेवकों के हितों की आड़ में प्रतिक्रियावादी अप्रजातान्त्रिक, अनुदारवादी तत्त्वों को बढ़ावा तथा ऐसी ही अन्य नीतियों का अनुसरण किया। अंग्रेज शासकों या अन्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समर्थकों ने भारतीय जातियों को, विशेषकर मुसलमानों को जातीय वैमनस्य और साम्प्रदायिकता का पाठ पढ़ाया और एक बार जातीय वैमनस्य का पाठ पढ़ा कर वे उनमें सहयोग की आशा नहीं कर सकते थे। पाकिस्तान के निर्माता वस्तुतः इकबाल या जिन्ना नहीं अपितु लार्ड मिंटो थे जिन्होंने भारतीय राजनीति में पृथक निर्वाचन प्रणाली के विष को घोल दिया। एडवर्ड थामसन ने स्पष्ट लिखा है कि कतिपय सरकारी पदाधिकारी पाकिस्तान के विचार के प्रति बड़े उत्साहित थे।" एमरी, जो भारत मन्त्री थे, ने स्वयं कहा था कि "भारतीय स्वतन्त्रता के भावी आगार में कई भवनों के लिये स्थान है।' विभाजन के समय पर भी ब्रिटिश शासकों ने अपनी धूर्तता और मक्कारी का परिचय दिया। भारत का दो अधिराज्यों में विभक्त करना, भारतीय देशी रियासतों पर अपनी परम सत्ता को समाप्त कर उन्हें स्वतन्त्र कर देना उनकी धूर्तता का परिचायक है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत-पाकिस्तान के सम्बन्धों का इतिहास शत्रुता, घृणा और वैमनस्य का इतिहास है और ये देश अब भी तनाव की स्थिति में रह रहे हैं।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि विभाजन अनेक घटनाओं और नीतियों का एकत्रीभूत परिणाम था।

**अंग्रेजों ने भारत को क्यों छोड़ा?**

**या**

**अंग्रेजों ने भारत को स्वतन्त्रता क्यों दी?**

भारतीय स्वतन्त्रता ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमिक परन्तु स्वाभाविक एवं अनिवार्य परिणाम थी। यह न तो केवल ब्रिटिश उदारता और न केवल कांग्रेस के प्रयत्नों का फल थी। जैसाकि डा० पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है कि 'भारतीय

स्वतन्त्रता समय की गति और परिस्थितिया के दबाव का परिणाम थी ।" भारतीय स्वतन्त्रता अनेक वाह्य एव आन्तरिक परिस्थितियो के एकत्रीभूत दबाव का फल थी । इनम कुछ तो स्वय ब्रिटिश शासन की लोकतान्त्रिक पद्धति ने उत्पन्न की थी । उदाहरणतया भारतीया म स्वशासन स्वतन्त्रता समानता और प्रजातन्त्र की भावनाये इसी पद्धति से उत्पन्न हुई । इनमे से कुछ स्वय भारतीया के त्यागो और बलिदानो का फल थी । उदाहरणतया अहिंसक सत्याग्रह आन्दोलनो तथा उग्रवादिया और क्रान्तिकारिया की गतिविधिया न भारतीया म अपार जन जागृति उत्पन्न कर दी थी आई० एन० ए० के निर्माण और सशस्त्र सनिक विद्रोह भारतीय सैनिको म जागृति के प्रतीक थे । इनमे स कुछ द्वितीय महायुद्ध से उत्पन्न परिस्थितियो का फल थे । उदाहरणतया मित्र राष्ट्रा द्वारा द्वितीय महायुद्ध के दौरान "आत्म निर्णय तथा अटलान्टिक चार्टर व "चार स्वतन्त्रताओ" की घोषणाओ ने एशिया म राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की माग को बल दिया । इनम स कुछ मित्र राष्ट्रा के दबाव का फल थी । उदाहरणतया अमरीकी राष्ट्रपति रूजवल्ट और रूस तथा चीन का प्रभाव ब्रिटेन पर अत्यधिक था । इनम से कुछ स्वय ब्रिटिश की सनिक और आर्थिक दुबलता मे उत्पन्न हुए थ । उदाहरणतया द्वितीय महायुद्ध म ब्रिटेन की आर्थिक हानि इतनी अधिक हुई थी कि वह स्वय अपन आर्थिक पुननिर्माण के लिय अमरीकी सहायता पर निभर करता था और वह भारत के बोझ का अपने कन्धा पर नही उठा सकता था । इन सब परिस्थितिया मे बाध्य होकर अग्रेजो न भारत को स्वतन्त्रता दी ।

1 अपार जन जागृति—व्यक्तिगत एव सामूहिक अहिंसक सत्याग्रह आन्दोलन ने भारतीय जनमानस मे अपार जन जागृति का सचार कर दिया था । द्वितीय युद्ध के दौरान और उसके ठीक बाद राष्ट्रीय चेतना अपने चरमोत्कर्ष पर थी । सारा राष्ट्र क्या हिन्दू क्या मुसलमान, क्या सिक्ख क्या मराठा—सभी विदेशी शासन से मुक्ति चाहते थे । जो देशभक्त तथा राष्ट्रवादी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये सवस्व न्यौछावर करने के लिये तयार थे उनकी माग का अब ठुकराना खतरे मे खाली नही था । अब सरकार के हर प्रस्ताव को शका की दृष्टि से देखा जाता, उसके हर काय की समीक्षा की जाती, जनमानस अपने कष्टो और दु खो क लिये विदेशी सरकार को उत्तरदायी ठहराता, जातीय वैमनस्य को ब्रिटिश साम्राज्यवादिया पर थोपा जाता, उनकी भारत म उपस्थिति को ही जातीय सामञ्जस्य और स्वतन्त्रता प्राप्ति मे बाधा समझा जाता । सक्षेप म ब्रिटिश शासको की निन्दा और आलोचना हर व्यक्ति और हर वग करता । भारत छोडो आन्दोलन, गाधीजी का 'करो या मरो" का सिद्धान्त, आजाद हिन्द फौज के अफसरो पर चलाये गय अभियोगो के समय प्रदर्शित की गई जन भावना, नौसनिक विद्रोह आदि भारतीयो की बदलती हुई मन स्थिति के सूचक थे । मौलाना आजाद लिखते है कि "स्वतन्त्रता की इच्छा के बारे म अब कोई सन्देह नही था ।'[1]

---

1 Azad, India Wins Freedom, p 127

**2 भारतीय सेनाओं द्वारा सशस्त्र विद्रोह**—भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य का अस्तित्व ब्रिटिश नौकरशाही की कुशलता और उसकी सैनिक अजेयता पर ही निर्भर नहीं करता था, वह भारतीय सेनाओं की भक्ति पर भी निर्भर करता था। ब्रिटिश शासक राष्ट्रीय आन्दोलनों का दमन इन्हीं भारतीय सेनाओं द्वारा कराते थे। परन्तु 18 फरवरी 1946 के नौसैनिक विद्रोह ने तथा बम्बई, कलकत्ता और कराची के हवाई अड्डों में "हड़ताल" के रूप में खुले विद्रोह ने अंग्रेजों की आँखें खोल दीं और उन्हें यह अनुभव करने में देर नहीं लगी कि वे अब भारतीय सेनाओं की निर्बाध भक्ति पर निर्भर नहीं कर सकते। यह विद्रोह इस बात का प्रतीक था कि भारतीय सेनाओं में राष्ट्रीय भावनाओं का विकास तीव्र गति से हो रहा था। यद्यपि नौसैनिक और वायु सेना के विद्रोहों को कुचल दिया गया परन्तु इन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को डगमगा दिया।

**3 ब्रिटिश समाज की सहानुभूति**—ब्रिटिश समाज के एक बहुत बड़े एवं शक्तिशाली वर्ग की भारतीयों के प्रति सहानुभूति ने ब्रिटिश शासकों के लिये लम्बे समय तक भारत में सत्ता को बनाये रखना कठिन कर दिया। ब्रिटिश समाज का यह वर्ग वस्तुतः भारत को अपने अधीन रखने में मानसिक उलझन (ग्लानि), पाप और नैतिक अपराध का अनुभव कर रहा था। इस वर्ग का कहना था कि प्रथम और द्वितीय महायुद्ध में जब भारतीयों ने अंग्रेजों की तन, मन, धन से अपार सेवायें की है, जब उन्होंने प्रान्तीय स्वायत्तता के अन्तर्गत अपनी प्रशासनिक कुशलता और योग्यता को प्रदर्शित कर दिया है तो भारत को अपने अधीन रखने का अब कोई औचित्य नहीं। इस वर्ग ने ब्रिटेन के 1945 के निर्वाचनों में मजदूर दल को विजयी बनाकर भारतीयों के प्रति अपनी हमदर्दी को प्रदर्शित कर दिया।

**4 मजदूर दल की विजय तथा एटली का नेतृत्व**—सन् 1945 के ब्रिटिश निर्वाचनों में, एटली के नेतृत्व में, मजदूर दल की विजय भारतीयों के लिये एक अच्छा शगुन था। उस समय के ब्रिटिश राजनीतिज्ञों में एटली ही एक ऐसे राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने इस बात को अनुभव कर लिया था कि केवल पशु शक्ति के बल पर भारत को ब्रिटेन के अधीन रखना उसके भावी हितों के लिये प्रतिकूल होगा। इसलिये एटली भारतीयों को स्वतन्त्रता प्रदान कर उनकी सद्भावना द्वारा भावी ब्रिटिश व्यावसायिक और राजनीतिक हितों की रक्षा करना चाहते थे। एटली "शत्रु भारत" के स्थान पर "मित्र भारत" को स्वतन्त्रता देना चाहते थे।

अपने चुनाव घोषणा पत्र द्वारा भी एटली भारत की संवैधानिक समस्या के सहानुभूतिपूर्ण समाधान के लिये कटिबद्ध था और चुनाव के बाद वह इस समस्या का समाधान भी करना चाहते थे, यही कारण है कि एटली ने प्रधानमन्त्री बनते ही कैबिनेट मिशन को फिर माउण्टबेटन को भारतीय समस्या के समाधान के लिये भारत भेजा। 20 फरवरी, 1947 की एटली की यह घोषणा कि जून 1948 तक भारत

को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जायगी इस बात का प्रतीक थी कि एटली भारत का शीघ्र अति शीघ्र स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहता था।

5 **ब्रिटेन की दुबल आर्थिक और सनिक स्थिति**—द्वितीय महायुद्ध के बाद ब्रिटेन एक महाशक्ति अवश्य था पर तु प्रथम या द्वितीय श्रेणी की महाशक्ति नहीं रहा था। यह अब तृतीय श्रेणी की ही महाशक्ति था। युद्ध ने उसकी अथव्यवस्था पर, सनिक और औद्योगिक क्षमता पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव डाला था। अपने खाद्यान्न और औद्योगिक पुनर्निर्माण के लिये वह स्वय विदेशी विशेषकर अमरीकी, आर्थिक सहायता पर निभर करता था। जब वह अपने ही आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये दूसरे देशो पर निभर करता था तो वह भारत के बोझ को अपने कन्धो पर उठाने की क्षमता म नहीं था। आर्थिक औद्योगिक और सनिक दुबलता ने ही ब्रिटिश शासको को भारत की स्वतन्त्रता के बारे म विचार करने पर बाध्य किया। जैसाकि माईकेल ब्रेकर ने लिखा है कि "सन् 1945 म यदि अनुदारवादी भी सत्ता मे आ जाते तो ब्रिटेन की कमजोरी भारत के पक्ष म इतना सबल तथ्य था कि सत्ता हस्तान्तरण के प्रश्न को टाला या स्थगित नहीं किया जा सकता था।"

6 **साम्प्रदायिक दगे**—16 अगस्त, 1946 के बाद (जब से लीग ने सीधी कायवाही दिवस मनाया) साम्प्रदायिक दगो का जो स्वरूप सामने आया वह अत्यन्त क्रूर, निदयी और भयकर था। "क्रूर कलकत्ता हत्यायें, नोआखाली और तिप्पेराह म मुसलमानो द्वारा सगठित रूप से हिन्दुओ पर अत्याचार और प्रतिकार के रूप म बिहार म हिन्दुओ द्वारा मुसलमानो पर किये गये अत्याचार, यू० पी० बम्बई, पजाब, आदि प्रान्तो मे बढती हुई अग्नि न सारे राष्ट्र म कपकपी पदा कर दी। हत्याओ, लूटमार, आग लगने की घटनाओ, स्त्रियो के अपहरण, जबरदस्ती धम परिवतन आदि घटनाओ न वातावरण को दूषित कर दिया था। काग्रेस इन साम्प्रदायिक दगो के लिए ब्रिटिश शासको के व्यवहार और उनकी नीतियो को उत्तरदायी मानती थी। उसका कहना था कि ब्रिटिश सरकार की "विभाजन करो और शासन करो की नीति ने ही मुसलमानो को साम्प्रदायिकता का पाठ पढाया था और अब उनसे वे इससे अच्छे व्यवहार की आशा नहीं कर सकते थे। इससे पूव कि और अधिक जान और माल की हानि होती, एटली इस धब्बे को धो डालना चाहता था।

7 **ब्रिटिश नौकरशाही की अकमण्यता और अनिश्चितता**—ब्रिटिश नौकरशाही अपने आपको न केवल अनिश्चितता की स्थिति म पा रही थी बल्कि अपने आपको अक्षम भी पा रही थी और यही अनिश्चितता और अक्षमता साहसी, प्रभावपूर्ण और कुशल प्रशासन के लिये हानिकारक होती है। अपने कार्यों के समथन के लिये वे कभी ब्रिटिश स्वामियो और कभी भारतीय राजनीतिक दलो की ओर देखते क्योकि उन्हें सत्ता हस्तान्तरण की जानी थी। देश म उच्च सेवाओ की भी यही स्थिति थी। इस सारे अनिश्चितता के वातावरण न प्रशासन को उदासीन अकमण्य और अकुशल बना दिया।

**8 अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी का प्रभाव**—द्वितीय महायुद्ध के दौरान और बाद में भारत की संवैधानिक समस्या का समाधान करने के लिये ब्रिटेन पर अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी के अनेक सदस्यों का दबाव था। अमरीका और रूस का दबाव उस पर विशेषकर था। राष्ट्रपति रूजवेल्ट और च्याग काई शेक ने तो युद्ध के दौरान भारत की समस्या के समाधान के लिये ब्रिटेन पर दबाव दिया था। रूजवल्ट तो "ब्रिटिश औपनिवेशिक आकांक्षाओं को शंका की दृष्टि से देखता था।" युद्ध के बाद राष्ट्रपति ट्रूमन ने ब्रिटेन पर दबाव डालना शुरू कर दिया। इन नेताओं के अतिरिक्त अनेक भारतीय और अमरीकी नेताओं तथा लेखकों ने भारतीय स्वतन्त्रता के पक्ष में विदेशों में आवश्यक वातावरण को तैयार किया। इनमें मुख्य थे विजय लक्ष्मी पण्डित, जी० एल० मेहता, डा० सयद हुसन, ज० जे० सिंह, पल वक, लुई फिशर, लिन युताग, नार्मन थामस, आदि। जैसाकि सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने कहा है कि "प्रतिदिन के बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय दबाव ने भारत में ब्रिटिश शासन को अधिक समय तक बनाये रखना असम्भव बना दिया है।"

**9 साम्यवाद के विस्तार का भय तथा शीत युद्ध का श्रीगणेश**—पूर्वी यूरोप में साम्यवाद के विस्तार ने तथा युद्धकालीन मित्र राष्ट्रों में शीत युद्ध के प्रारम्भ होने से ब्रिटिश शासकों को भारत की समस्या के शीघ्र हल ढूँढने के लिये बाध्य किया। एटली की यह धारणा थी कि भारत में कांग्रेस के विघटित होते ही साम्यवादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलेगा। जिस गति से इस उप महाद्वीप में और विशेषकर भारत में आर्थिक और राजनीतिक स्थिति बिगड रही थी, अराजकता फैल रही थी, अविश्वास और अस्थिरता जन्म ले रहे थे इन सबसे साम्यवाद को बढ़ावा मिलने की सम्भावना थी। स्टालिन इस स्थिति का पूरा लाभ उठाते हुए पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का "निकृष्ट लूट" (Worst robbery) कह कर निन्दित कर रहा था और इस उप महाद्वीप में जनता इन लुभावने नारों से प्रभावित हो रही थी उसने साम्यवाद के विस्तार के लिये भूमिका तैयार कर दी थी। स्टालिन तो अपने राजनीतिक स्वतन्त्रता का समर्थक बन गया। इस तत्व ने भी ब्रिटिश शासकों को भारतीय समस्या के शीघ्र समाधान के लिये बाध्य किया क्योंकि ब्रिटेन अपने विरोधी तत्वों (साम्यवाद) को विकास के अवसर प्रदान करना नहीं चाहता था।

**10 ब्रिटिश शासन तथा कांग्रेस का योगदान**—ब्रिटिश शासन पद्धति में ही उसके साम्राज्यवाद के पतन के बीज विद्यमान थे। अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी भाषा ने भारतीयों को सामान्य भाषा का मूल्यवान उपहार दिया, इसके माध्यम से भारतीय पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति तथा स्वतन्त्र राजनीतिक संस्थाओं के सम्पर्क में आये। ब्रिटिश प्रशासन की आवश्यकताओं ने भारत का प्रशासनिक एकीकरण किया, संचार और यातायात साधनों का विकास किया, इसने सारे भारत को न केवल एक दूसरे स्थान से मिला दिया अपितु उन्हें सामान्य कार्यों के लिये संयुक्त प्रयास के लिये प्रेरित

भी किया। सामान्य दीवानी और फौजदारी कोड न, सामान्य न्याय व्यवस्था न, सामान्य कानून न सारे भारत का एक प्रशासन के अधीन ला दिया।

दूसरी ओर, कांग्रेस न सारे राष्ट्र के सम्मुख सामान्य उद्देश्य सामान्य झण्डे सामान्य कार्यक्रम को प्रस्तुत कर सकना राष्ट्रीयता और देशभक्ति के प्रेरक तत्वों का उदय किया। मार्ईकल ब्रेचर न ठीक लिखा है कि "भारत की स्वतन्त्रता दीर्घकालीन ब्रिटिश शासन द्वारा अनजाने म और कांग्रेस द्वारा जान म (ज्ञान पूर्वक) उत्पन्न मानसिक जागरण और सामान्य उद्देश्य का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम था।'

**11 ब्रिटिश दूरदर्शिता–राष्ट्रमण्डल की विचारधारा का विकास**—ब्रिटिश शासकों ने जब यह अनुभव कर लिया कि वे अपने उपनिवेशों को बहुत देर तक अपने अधीन नहीं रख सकेंगे तो उन्होंने एक लम्बे समय म राष्ट्रमण्डल के विचार का विकास किया ताकि उपनिवेशों को स्वतन्त्रता देते समय वे अपने आर्थिक, व्यावसायिक, राजनीतिक हितों की रक्षा कर सकें। उदाहरणतया, उन्होंने पहले तो स्वशासित अधिराज्यों का, फिर ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का और अब स्वतन्त्र राज्यों के राष्ट्रमण्डल का विकास किया है।

**12 माउण्ट बेटन योजना की स्वीकृति**—भारत की स्वतन्त्रता प्रदान करने म सबसे बड़ी बाधा कांग्रेस और लीग के विचारों म भिन्नता थी और इसी भिन्नता के कारण ब्रिटिश शासक अपनी सत्ता भारत म बनाये हुये थे। वेवल योजना और केबिनेट योजना इसीलिये असफल हुई। परन्तु जब जून 1947 म कांग्रेस और लीग ने माउण्ट बेटन योजना को स्वीकार कर लिया तो भारत की स्वतन्त्रता के मार्ग मे सभी बाधायें दूर हो गई। इस योजना के अन्तर्गत कांग्रेस को भारत का "विभाजन' और लीग को "लगडा पाकिस्तान" स्वीकार करना पड़ा और भारत स्वतन्त्र हो गया।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत की स्वतन्त्रता ब्रिटिश राजनीतिक उदारता का परिणाम नहीं थी और न ही यह केवल कांग्रेस के प्रयत्नों का फल थी। यह तो अनेक बाह्य और आन्तरिक घटनाओं के एकत्रीभूत प्रभाव का परिणाम थी।

### समीक्षा प्रश्न
### (Review Questions)

1 "द्वितीय महायुद्ध ने राष्ट्रवाद को तीव्र किया।" इस कथन के सन्दर्भ म 1937 1947 की राजनीतिक घटनाओं का वर्णन कीजिये।

2 सन् 1939–46 के बीच राजनीतिक गत्यावरोध को समाप्त करने के लिये क्या प्रयास किये गये ? ये प्रयास क्या असफल रहे ?

3 क्रिप्स प्रस्तावों की समीक्षा कीजिये। कांग्रेस ने उन्हें क्या अस्वीकार किया ?

4 1946 के मन्त्रिमण्डल मिशन योजना के प्रस्तावों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

5 माउण्ट बेटन योजना और भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947 की समीक्षा कीजिये ।

6 "भारत को छोड़ने का ब्रिटिश निर्णय ब्रिटिश राजनीतिक उदारता का परिणाम नहीं था । परिस्थितियों की शक्ति ने ही उन्हें भारत छोड़ने के लिये बाध्य किया ।" विवेचना कीजिये ।

7 "भारत की स्वतन्त्रता भारतीय राष्ट्रवाद की शक्तियों का इतना अधिक परिणाम नहीं थी जितना कि द्वितीय महायुद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों के कारण थी ।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं कारण लिखिये ।

8 "दूसरे महायुद्ध के बाद स्थिति ऐसी थी कि अंग्रेजों से भारतीयों के हाथों में सत्ता हस्तान्तरण पूर्ण और अत्यन्त शीघ्र हो ।" इस कथन के सन्दर्भ में उन घटनाओं की विवेचना कीजिये जो भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में सहायक हुई ।

9 क्या विभाजन अनिवार्य था ? कारण लिखिये ।

अध्याय 6

# भारत में साम्प्रदायिक समस्या

## (Communal Problem in India)

साम्प्रदायिकता का अर्थ—साम्प्रदायिकता के शाब्दिक अर्थ दो हैं। इसका एक अर्थ है कम्यूनो (Communes) द्वारा स्वायत्त स्थानीय प्रशासन अर्थात छोटी छोटी स्वायत्त स्थानीय राजनीतिक संस्थाओं द्वारा प्रशासन। ये राजनीतिक संस्थायें यद्यपि केन्द्रीय सरकार के अधीन होती है परन्तु उनके पास पर्याप्त स्थानीय विधायी शक्तियाँ विद्यमान होती है। साम्प्रदायिकता का दूसरा अर्थ है "वर्गीय भावना" जो अपने वर्ग विशेष के अधिकारो और हितो की रक्षा पर आधारित होती है। जैसाकि नेहरूजी ने लिखा है कि साम्प्रदायिकता "धार्मिक एकता पर आधारित वह वर्गीय भावना है जिसका वास्तविक उद्देश्य उस वर्ग विशेष के लिये राजनीतिक शक्ति और अधिकारो को प्राप्त करना है।" डा० सुभाष काश्यप और विश्वप्रकाश गुप्त ने भी ठीक लिखा है कि साम्प्रदायिकता उस "गुट मानसिकता" को कहते हैं "जो स्वय को किसी धार्मिक सम्प्रदाय के ऊपर आधारित करती है लेकिन जिसका वास्तविक उद्देश्य सम्बद्ध गुट के लिये राजनीतिक शक्ति और सरक्षण प्राप्त करना होता है।" प्रथम अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग यूरोप म किया गया और द्वितीय अर्थ मे इसका प्रयोग भारत मे किया गया।

साम्प्रदायिक भावनाये प्रजातन्त्र, राष्ट्रीय एकता, धर्म निरपेक्षता के विपरीत होती हैं क्योकि ये भावनायें परस्पर विरोधी धार्मिक, जातीय या वर्गीय भावनाओ पर आधारित होने से जातीय सौहार्द उत्पन्न करने के स्थान पर जातीय वैमनस्य और ईर्ष्या को उत्पन्न करती हैं। इनका दृष्टिकोण व्यापक नही होता, इनके लक्ष्य सकीर्ण और सीमित होते है। यद्यपि ये धर्म और जाति पर आधारित होती है परन्तु इनके उद्देश्य राजनीतिक होते है। इनका सहारा लेकर कोई वर्ग विशेष या जाति अपने वर्ग या जाति के लिये राजनीतिक अधिकारो की माग करती है, राजनीतिक सत्ता मे अपने हिस्से का राग अलापती है, प्रशासनिक सेवाओ मे सुविधाओ और रियायतो की माग करती है, आदि। यह आवश्यक नही कि जातीय माग न्याय और औचित्य पर आधारित हो या उस जाति की जनसख्या के अनुपात मे हो, ये मागें प्रशासको के लिये उस जाति के सामरिक महत्त्व और राजभक्ति पर आधारित भी हो सकती हैं।

भारत में साम्प्रदायिक समस्या को धार्मिक वस्त्र पहनाये गये परन्तु इसका मूल उद्देश्य राजनीतिक सत्ता को या तो स्थायी बनाना था या उसे जाति के लिये प्राप्त करना था। जहा अंग्रेजो ने इसका प्रयोग भारत में अपने साम्राज्य की रक्षा के लिये किया वहां मुसलमानो ने राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिये, अर्थात राजनीतिक सुविधाये और रियायते प्राप्त करने के लिये किया। भारत में यह समस्या तब उत्पन्न हुई जब अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधीन राष्ट्रीय शक्तिया बलशाली होने लगी और ब्रिटिश साम्राज्य के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न होने लगा।

साम्प्रदायिक समस्या का सम्बन्ध भारत की वास्तविक समस्याओ–निर्धनता, बेरोजगारी आदि से नही था। इसका सम्बन्ध सब साधारण जनता से भी नही था। कृषको, श्रमिको, और छोटे व्यापारियो में इसका कोई सम्बन्ध नही था। यह ब्रिटिश साम्राज्यवादियो द्वारा उत्तेजित मुस्लिम जाति के कुछ उच्च वर्गों की समस्या थी जिन्होने अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओ की पूर्ति के लिये इसका प्रादुर्भाव किया था, इसका पोषण किया था तथा इसका विस्तार किया था।

**साम्प्रदायिक समस्या का उत्तरदायित्व**—भारत में साम्प्रदायिकता के भिन्न भिन्न कालो की व्याख्या करने से पूर्व अध्ययन की दृष्टि से इस प्रश्न को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि इस समस्या के उद्भव और विकास के लिये कौन उत्तरदायी थे। क्या ब्रिटिश शासको ने, साम्राज्यीय हितो की रक्षा के लिये, इसे जानबूझ कर भारतीय राजनीति में घुसेडा या कि भारत की भिन्न भिन्न जातियो में ये भावनायें पहले से ही विद्यमान थी और समय पाकर वे पृथकता की ओर विकसित होने लगी। इस समस्या के लिये मूलत ब्रिटिश शासक उत्तरदायी थे यद्यपि मुस्लिम लीग और उसके नेता जिन्ना की हठधर्मिता और कांग्रेस की लीग के प्रति तुष्टिकरण की नीति ने भी इसमें अपनी आहुति दी।

**(अ) अंग्रेजो का उत्तरदायित्व**—भारत की साम्प्रदायिक समस्या (मुस्लिम साम्प्रदायिकता) के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी विचार धाराएँ व्यक्त की गयी हैं। एक विचारधारा उस लेखकों की है जिनका कहना है कि साम्प्रदायिक समस्या स्वयं भारत के जन जीवन तथा उसकी संकीर्ण धार्मिक और जातीय भावनाओ का स्वाभाविक परिणाम थी। इन लेखको में मुख्यत ब्रिटिश राजनीतिज्ञ ब्रिटिश इतिहासकार तथा अन्य ऐसी ही विचारधारा रखने वाले लेखक आते हैं। इनका मत है कि साम्प्रदायिक भावनाओ के उद्भव और विकास में ब्रिटिश शासकों की न तो कोई गहरी चाल थी और न ही इसमें वे अपने स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते थे। जैसाकि कूपलैंड ने लिखा है कि 'ब्रिटेन ने न तो साम्प्रदायिकता की यह आग सुलगायी और न ही इसे जलाये रखने के लिये उन्होंने यह कार्य किया।'[1] परन्तु ब्रिटिश

1 Coupland The Indian Problem (1833–1935) p 35

शासकों द्वारा अपनायी गई नीतियों के सन्दर्भ में यह विचारधारा न तो खरी उतरती है और न ही यह ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सही सिद्ध की जा सकती है। इस तरह यह विचारधारा सत्य से बहुत दूर और मिथ्या है।

दूसरी विचारधारा एस न ।।। री है जिनका मत है कि ब्रिटिश शासकों ने अन्य साम्राज्यवादियों की भांति, अपने साम्राज्यीय, आर्थिक और राजनीतिक हितों की रक्षा के लिए, "फूट डालो और शासन करो की नीति का सहारा लिया, भारतीय जातियों में सामान्य लक्षणों की उपेक्षा की, उनमें जातीय वमनस्य को उभारने के लिए साम्प्रदायिक विष का प्रसार किया और प्रणाली और गुम्भार की पद्धति के रूप में उगला। जातियों का विभिन्न वर्ग में ब्रिटिश शासकों ने भारतीय जातियों की धार्मिक भिन्नताओं का पूरा लाभ उठाया। यह विचारधारा राष्ट्रवादियों तथा उन्हीं की विचारधारा का समर्थन करने वाले लेखकों की है। जमाकि महता और पटवधन ने लिखा है कि 'अंग्रेज शासकों ने अपने आपको हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य खड़ा करके ऐसे साम्प्रदायिक त्रिभुवन की रचना का निश्चय किया जिसके आधार वे स्वयं रहे। द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के समय गांधीजी ने कहा था कि भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या "ब्रिटिश शासन काल की समकालिक है।"

भारतीय राष्ट्रीयता को खण्डित करने के लिए अंग्रेजों ने क्रमिक परन्तु योजनाबद्ध नीतियों का अनुसरण किया। इन नीतियों का प्रादुर्भाव भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के साथ हुआ। अंग्रेज शासकों की जो नीतियाँ साम्प्रदायिकता के प्रादुर्भाव पोषण और विकास के लिए उत्तरदायी थी उनमें प्रमुख निम्न हैं—

1 **वर्ग आधार पर सेनाओं का पुनर्गठन**—सन् 1857 तक भारतीय सेनाओं की पलटनों (Regiments) में सभी जातियों के लोगों को सम्मिलित रूप से रखा जाता था परन्तु 1857 के विद्रोह के बाद उन पलटनों का जाति और वर्ग के आधार पर पुनर्गठन किया गया। उदाहरणतया डोगरा, सिक्ख, गोरखा, कुमाऊ पलटनें खड़ी की गयीं। पलटनों के जातीय आधार पर निर्मित होने से सैनिकों में जातीय और वर्गीय भावनाओं का विकास हुआ जिससे संकीर्ण, जातीय, धार्मिक भावनाओं को बल मिला।

2 **जातियों से पक्षपातपूर्ण व्यवहार**—सन् 1857 के विद्रोह के लिये अंग्रेज मुसलमानों को उत्तरदायी समझते थे। इसलिये उन्होंने एसी नीतियों का अनुसरण किया जिससे मुसलमानों का आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक पतन हो, मुसलमानों को सैनिक और असैनिक सेवाओं से वंचित रखा गया, मुक्त व्यापार की नीति से भारत के कुटीर उद्योगों को नष्ट किया गया। इन उद्योगों में अधिकांशत मुस्लिम रोजगार पा रहे थे। हिन्दुओं के सहयोग और भक्ति को प्राप्त करने के लिये हिन्दुओं को प्राथमिकता दी गयी, हिन्दू जमींदारों को लाभ पहुचाये गये। आंग्ल हिन्दू सहयोग का यह युग 1870 तक रहा। उसके बाद राष्ट्रीय शक्तियां बलशाली होने लगीं उन्हें अवरुद्ध करने के लिये बहुमत की कीमत पर अल्पमत (मुसलमानों) को -। मि

दी जाने लगी। सन् 1885 मे जिस राष्ट्रीय काग्रेस को ब्रिटिश आशीर्वाद से स्थापित किया गया था सन् 1887 मे उसी काग्रेस को "नगण्य सत्या" (Microscopic Minority) कह कर निंदित किया गया। आंग्ल-मुस्लिम सहयोग सन् 1947 तक विद्यमान रहा।

3 काग्रेसी विरोधी प्रचार—जिस काग्रेस को "सुरक्षा नली" (Safety Valve) के रूप मे स्थापित किया गया था जब वह "चेतावनी" के रूप मे उभरने लगी तो अग्रेजो ने उसके राष्ट्रीय स्वरूप को नष्ट करने की कोशिश की। इसके लिये अनेक झूठे प्रचार किये। काग्रेस का "हिन्दू संस्था की उपमा"[1] (Dubbed as a Hindu Organization) दी गयी, यह प्रचार किया गया कि काग्रेस "मुसलमानो के हितो के विरुद्ध है।" सर सयद अहमद खाँ और मुहम्मद अली जिन्ना जसे राष्ट्रवादी मुसलमानो का काग्रेस से पृथक रखने का प्रयास किया। अग्रेजो के प्रभाव और प्रोत्साहन मे वे मुस्लिम राष्ट्रवादी बन गये। सर सैयद अहमदखाँ पर मुह मडन ऐंग्लो ओरियन्टल कॉलेज के प्रथम अग्रेज प्रिंसिपल श्री थियोडोर बेक (Theodore Beck) पर अत्यधिक प्रभाव था। यह श्री बेक का ही प्रभाव था कि जो सर सयद 1884 तक हिन्दुओ और मुसलमानो को "भारत माता की दो आखें" समझते थे वे सन् 1885 म राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना पर उसके सदस्य नहीं बने। यद्यपि जिन्ना को 'राष्ट्रवादी मुसलमान' से 'मुस्लिम राष्ट्रवादी' बनाने मे डा० इकबाल और नवाबजादा लियाकत अली खाँ का हाथ था पर तु वायसराय लार्ड विलिंग्टन और लिनलिथगो की नीतियो ने उसे प्रोत्साहन दिया। इस तरह राष्ट्रीय मुस्लिम नेताओ को काग्रेस जसी राष्ट्रीय संस्था से विलग करने का श्रेय अग्रेजो को है। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे सर सयद अग्रेजी सरकार के "खिलौने" बने रहे और बीसवी शताब्दी की चतुर्थ और पचम दशाब्दी मे जिन्ना साम्राज्यवादियो के खेल को खेलते रहे।

4 साम्प्रदायिक भावनाओं को प्रोत्साहन—ब्रिटिश शासको ने हर सम्भव तरीके से साम्प्रदायिक भावनाओ को उकसाया तथा उनके पोषण और विस्तार मे सहायता प्रदान की। मेहता और पटवर्धन लिखते है कि "जहा भेदभाव थे वहा उन्हे तीव्र किया जहा भेदभाव नही थे वहा भेदभाव उत्पन्न किये। एक वर्ग को दूसरे वर्ग के साथ एक बिरादरी को दूसरी के साथ और एक जाति को दूसरी के साथ लडाया। उन्होने साम्राज्य विरोधी एक सयुक्त मोर्चे के निर्माण को रोकने के लिये ब्राह्मणो, अब्राह्मणो, मुसलमानो हिन्दुओ तथा स्पृश्यो अस्पृश्यो के बीच भेद की दीवारें खडी कर दी।" राष्ट्रीयता और स्वशासन की माग को अवरुद्ध करने तथा राष्ट्रीय काग्रेस के प्रतिभार के रूप म सन् 1906 मे अग्रेजो ने अखिल भारतीय

1 See Tara Chand History of the Freedom Movement in India, Vol IV (Publications Division) p 571

मुस्लिम लीग को खड़ा कराके उसे आशीर्वाद दिया। सन् 1906 का आगा खां के नेतृत्व में मुस्लिम शिष्टमण्डल भी ब्रिटिश नौकरशाही द्वारा "समझाया, बुझाया और गढ़ाया" गया था। इसका आचरण "निर्दिष्ट आचरण" (Command performance) से अधिक नहीं था।

**5 जातियों में विभाजन रेखा**—ब्रिटिश शासकों ने भारतीय जातियों में विभाजन रेखा खींचने के लिए एक जाति की कीमत पर दूसरी जाति के शौर्य, सैनिक महत्त्व और अन्य गुणों का बखान किया। अंग्रेजों ने ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़ा और मोड़ा, मुस्लिम जातीय अहं को उभारा, कट्टर धार्मिक भावनाओं का विकास किया, मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का सहारा लेकर साम्प्रदायिक भावनाओं को उग्र बनाया। किप्लिंग ने तो स्पष्ट संकेत दिया था कि यदि "दो शक्तिशाली आदमी (ब्रिटिश और मुसलमान) मिल जायें तो पूर्व और पश्चिम इकट्ठा" हो सकता है। इस तरह मुसलमानों के गुण गाकर उनमें जातीय अहं का विकास किया। यही कारण है कि मुस्लिम लीग हिन्दुओं से बराबरी की माग करती थी तथा उनके समान राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना चाहती थी। कांग्रेसी नेताओं को कट्टरवादी और धर्मान्धवादी कहा गया।

**6 अल्पमत को प्रोत्साहन**—संवैधानिक सुधारों के विकास में अल्पमतों के संरक्षण की जिस नीति को अंग्रेजों ने अपनाया उसने वस्तुतः साम्प्रदायिक विष, वैमनस्य और ईर्ष्या को जन्म दिया। ब्रिटिश शासक यह भूल ही गये या यूँ कहा जाये कि उन्होंने इस तथ्य की जानबूझ कर उपेक्षा की कि यदि अल्पमत के कुछ अधिकार होते हैं तो बहुमत के भी कुछ अधिकार होते हैं। उन्होंने बहुमत की कीमत पर अल्पमत वालों की अनुचित एवं भारतीयों के सामान्य हितों के विपरीत भी मांगों को स्वीकार किया।

## अल्पमतों को संवैधानिक संरक्षण

संवैधानिक विकास को अवरुद्ध करने के लिए अंग्रेजों ने "फूट डालो और शासन करो" की नीति को संवैधानिक सुधारों का अंग बना दिया। जैसा कि बम्बई के भूतपूर्व गवर्नर माउण्ट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन (Mount Stuart Elphinston) ने कहा था कि "रोम की आदर्श नीति विभाजन करो और शासन करो की थी। हमारी नीति का उद्देश्य भी यही होना चाहिए।'

पृथक् निर्वाचन प्रणाली, गुरुभार पद्धति आदि की संवैधानिक व्यवस्थायें स्पष्टतया साम्प्रदायिक भावनाओं के विकास के लिए की गयी थी। आश्चर्य की बात तो यह है कि ब्रिटिश शासक इन व्यवस्थाओं को राष्ट्रीय एकता, प्रजातन्त्र और संसदात्मक प्रणाली के विरुद्ध स्वीकार करते थे परन्तु फिर भी उन्हें संवैधानिक नियमों में उल्लिखित करते थे। सर्वप्रथम 1909 के मार्ले मिण्टो सुधारों में इसे लागू किया गया, सन् 1918 की माण्टफोर्ड रिपोर्ट ने इसकी भर्त्सना की परन्तु सन् 1919 के

माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों में इनका विस्तार कर इन्हें संगठित किया गया, सन् 1930 में प्रकाशित साइमन रिपोर्ट में इसकी आलोचना की गयी परन्तु इन्हें वर्तमान परिस्थितियों में आवश्यक बताया गया, सन् 1930–31 के गोल मेज सम्मेलनों में श्री वेजवुड बेन पृथक् निर्वाचन का विरोध कर रहे थे परन्तु अगस्त 1932 के मैक्डोनल्ड पंचाट ने निर्वाचन को 17 वर्गों में (दलित वर्गों को भी हिन्दुओं से पृथक् करने की कोशिश की) विभक्त कर दिया। जेटलैण्ड, एमरी चर्चिल, लिनलिथगो जैसे ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की नीति ने मुस्लिम लीग को संवैधानिक वीटो प्रदान कर दिया। सन् 1942 के क्रिप्स प्रस्तावों में पाकिस्तान की मांग को अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दिया गया, सन् 1946 के केबिनेट मिशन योजना में पाकिस्तान की मांग को अस्वीकार तो किया गया परन्तु उसकी नींव अनिवार्य "ग्रुप व्यवस्था" में रखी गयी। 20 फरवरी 1947 की प्रधान मन्त्री एटली की घोषणा से "मुस्लिम पृथक्तावाद को बढ़ावा मिला।"[1] 3 जून 1947 की लार्ड माउण्ट बेटन की योजना देश के विभाजन पर ही आधारित थी। इस तरह अंग्रेजों की नीति ने ही विभाजन को प्रोत्साहन दिया।

8 शान्तिपूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलनों का दमन—कांग्रेस द्वारा चलाये जाने वाले शान्तिपूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलनों को ब्रिटिश शासकों ने "विरोध", "राजद्रोह", "उपद्रव और 'षड्यन्त्र' की संज्ञायें देकर उनका दमन किया, स्वेच्छाचारी और क्रूर तरीकों को अपनाया गया। सन् 1909 के बंग-भंग आंदोलन, सन् 1920–22 के असहयोग आन्दोलन, सन् 1930 के नमक सत्याग्रह, सन् 1932 और 1940 के व्यक्तिगत आन्दोलन और 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलनों का दमन बड़ी निर्दयतापूर्वक किया गया। नमक सत्याग्रह के समय ब्रिटिश शासकों द्वारा ऐसा व्यवहार किया गया मानो ब्रिटिश शासन की जड़ें हिल गयी हों। सन् 1919 में जलियावाला बाग में शान्तिपूर्ण भीड़ पर गोलियों की बौछार सर्वदा ब्रिटिश भारत के शासन को कलंकित करती रहेगी।

9 साम्प्रदायिक दंगों के प्रति उदासीनता—ब्रिटिश शासक तथा नौकरशाही निहत्थे, निर्दोष और शान्त लोगों की भीड़ पर गोलियों और बमों की बौछार कर सकती थी परन्तु साम्प्रदायिक दंगों का दमन या इनसे भयभीत लोगों की रक्षा नहीं कर सकती थी। सन् 1946–47 के साम्प्रदायिक दंगों में तो ऐसा दिखाई देता था कि इनके पीछे ब्रिटिश नौकरशाही का कोई षड्यन्त्र था ताकि स्वयं भारतीय ही अंग्रेजों को भारत में रहने के लिए प्रार्थना करें। जैसाकि 21 नवम्बर, 1946

1 London Times Quoted by Tara Chand, Ibid, Vol IV, p 499

को कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन मे श्री नेहरू ने कहा था कि "लीग और उच्च ब्रिटिश अधिकारियो म मानसिक समझौता था ।"[1]

**10 जातियो मे समझौते के प्रयासो को अवरुद्ध करना**—जब जब भारतीय जातियो ने तथा उनके राजनीतिक दलो ने साम्प्रदायिक समस्या के समाधान का प्रयास किया तब-तब ब्रिटिश शासको ने उसे अवरुद्ध करने का प्रयास किया। उदाहरणतया जब 1916 मे कांग्रेस-लीग योजना द्वारा सुधारो और साम्प्रदायिक समस्या के सम्बन्ध म कांग्रेस और लीग मे समझौता हुआ तो ब्रिटिश शासको ने इस समझौते के साम्प्रदायिक भाग को तो स्वीकार कर लिया और सुधारो से सम्बन्धित भाग को स्वीकार नही किया। योजना को अशत स्वीकार करना अनुचित था। ब्रिटिश सरकार की इस नीति ने साम्प्रदायिक और पृथक्तावादी तत्त्वो को बढावा दिया। दूसरे, 3 नवम्बर, 1932 को जब हिन्दुओ, सिक्खो, मुसलमानो, और भारतीय ईसाइयो के प्रतिनिधि इलाहाबाद म साम्प्रदायिक समस्या पर विचार करने के लिए मित्रतापूर्ण वातावरण मे एकत्रित हुए तो अनुदारवादी भारत म त्री सेमुअल होर (Samuel Hoare) ने इस बात की घोषणा करके कि मुसलमानो को केन्द्रीय विधान सभा मे $33\frac{1}{3}\%$ प्रतिनिधित्व दिया जायगा, मुसलमानो को एकता प्रयासो से पृथक करने के लिए प्रोत्साहित किया। भारतीय जातियो से समझौता करने के स्थान पर मुसलमान अपने अंग्रेज सरक्षको से सहयोग करने लगे। तीसरे, जब भारत छोडो आन्दोलन के समय जब कांग्रेस परेशानी म थी तो लीग ने प्रान्तो के गवनरो से प्रोत्साहन पाकर पाच प्रान्तो मे मुस्लिम लीगी सरकारो का निर्माण किया। लीगी सरकारो के निर्माण से लीग और जिन्ना का महत्त्व बहुत बढ गया।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासको ने ही अपने व्यवहार और नीतियो द्वारा भारतीय साम्प्रदायिक समस्या को उभारा, समय समय पर उसका पोषण कर उसका विकास किया, जातियो को सयुक्त होने से रोका, उनम फूट डाल कर उन्हे एक दूसरे के विरुद्ध खडा किया तथा पिछलग्गुओ और अवसरवादियो की कतारो को खडा कर विभाजन की रूपरेखा तैयार की। ताराचन्द ने ठीक लिखा है कि "पाकिस्तान की माग के उद्गम मे अन्य कारण कुछ भी रहे हो उसे साथक बनाने मे मूल कारण ब्रिटिश शासको की इच्छा थी। उन्होने मुस्लिम पृथक्करण के बीजो को बोया, उन्होने ही उस पौधे को सीचा और अन्त म उन्होने ही उसे फलित किया।"[2]

(ब) मुस्लिम लीग का उत्तरदायित्व—यदि ब्रिटिश शासक साम्राज्यीय हितो

---

1 'There is a mental alliance between the League and Se British officials Nehru Quoted by Tara Chand Ibid vo p 502

2 Tara Chand, Ibid, vol IV, p 334

को सुरक्षित रखने के लिये भारतीय साम्प्रदायिक समस्या के प्रादुर्भाव, पोषण, विकास और अन्तत विभाजन के लिये मूलत उत्तरदायी थे तो मुस्लिम लीग भी राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने, कांग्रेस और हिन्दुओ की बराबरी करने और मुस्लिम जाति के अधिकारो और हितो की सुरक्षा के लिए साम्प्रदायिकता का सहारा लेती रही।

मुस्लिम लीग प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय संस्था नही थी। इसके उद्देश्य और प्रेरणा के स्रोत राष्ट्रीय नही थे। वह एक साम्प्रदायिक संस्था थी। उसके प्रेरणा के स्रोत जाति, धर्म और राज (अंग्रेज) भक्ति थे। वस्तुत उसका उदभव कांग्रेस के प्रतिभार के रूप मे मुस्लिम हितो और अधिकारो की रक्षा और राजभक्ति के रूप मे हुआ था।

मुस्लिम लीग ने अंग्रेजो के साथ "मानसिक समझौता" (mental alliance) करके साम्प्रदायिक भावनाओ का विकास किया। मेहदी अली मुस्तफा हुसन इमाद इल मुल्क, सयद हुसन बिलग्रामी मुहम्मद शफी, सलीम उल्ला, अमीर अली आदि ने जातीय वैमनस्य की भावनाओ का विकास किया। डा० इकबाल की पृथक मुस्लिम राज्य की माग, चौधरी रहमत अली की पाकिस्तान की योजना, जिन्ना का द्वि राष्ट्र सिद्धान्त ने पृथकतावादी प्रवृत्तियो को बल दिया। सन् 1939 मे कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो के त्यागपत्र देने पर लीग ने 22 दिसम्बर, 1939 को "मुक्ति दिवस" के रूप मे मनाया। पाकिस्तान के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए 16 अगस्त, 1946 को "सीधी कार्यवाही दिवस' (Direct Action Day) के रूप मे मनाना लीग के दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है।

मुस्लिम समाज के उच्च एव शिक्षित वर्ग की महत्वाकाक्षायें भी पृथकतावादी प्रवृत्तियो के विकास के लिए उत्तरदायी थी। इन मुस्लिम वर्गों मे ये भावनायें जागृत हो गयी थी कि पृथक मुस्लिम राज्य (पाकिस्तान) के निर्माण से उन्हे सत्ता और प्रभाव के अगणित अवसर प्राप्त होगे। वाणिज्य, व्यापार, उद्योग, सरकारी पदो आदि के क्षेत्र मे अनेक अवसरो के खुलने की सम्भावना बढेगी। क्योकि सयुक्त भारत मे हिन्दुओ के साथ प्रतियोगिता मे मुसलमानो को इतने अवसर प्राप्त नही हो सकते थे और क्योंकि उनका भविष्य सुरक्षित नही था इसलिए पृथक मुस्लिम राज्य की माग जोर पकडती गयी। इसमे ब्रिटिश शासको ने उनका साथ दिया।

यहा यह लिख देना भी उचित होगा कि मुस्लिम लीग और कुछ मुस्लिम नेताओ को छोड कर अन्य मुस्लिम सगठनो की पृथक मुस्लिम राज्य की माग मे कोई रुचि नही थी। जमीयत उल उलेमा, अहरार मोमिन खुदाई खिदमतगार, राष्ट्रवादी मुसलमानो के सगठनो की इसमे कोई सहानुभूति नही थी। परन्तु ये मुस्लिम सगठन और उनके नेता प्रान्तीय स्तर के थे और उनमे जिन्ना का खुल्लम-खुल्ला विरोध करने का साहस भी नही था। परन्तु जब लीग ने 'इस्लाम' खतरे मे है का नारा लगाया तो अनेक मुस्लिम सगठन तथा मुसलमान उसके प्रभाव मे आ

गये और पृथक मुस्लिम राज्य की माग को बल मिला। केवल जमीयत उल उलेमा, खुदाई खिदमतगार और राष्ट्रवादी मुसलमान ही राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाते रहे।

(स) कांग्रेस का उत्तरदायित्व—यदि अंग्रेज भारत की साम्प्रदायिक समस्या के लिए प्रत्यक्षत उत्तरदायी थे और यदि मुस्लिम लीग अपने सकीर्ण स्वार्थो के कारण उसके लिए उत्तरदायी थी तो कांग्रेस भी अदूरदर्शिता और तुष्टिकरण की नीति के कारण उसके लिए परोक्ष रूप से उत्तरदायी थी। यद्यपि कांग्रेस एक राष्ट्रीय सस्था थी, उसके उद्देश्य, कार्य और नीतिया राष्ट्रीय और धर्म निरपेक्ष भावनाओ से प्रेरित होती थी परन्तु फिर भी मुस्लिम लीग के प्रति अपनाई गयी तुष्टिकरण की नीति ने पृथक्तावादी तत्वो को बढावा दिया। यद्यपि 1916 का लखनऊ समझौता (कांग्रेस लीग योजना) वृहद राष्ट्रीय एकता के हितो से प्रेरित था परन्तु मुसलमानो के लिये पृथक निर्वाचन प्रणाली और गुरुभार की पद्धति को स्वीकार करना कांग्रेस की भयकर भूल थी। यह कांग्रेस के प्रजातान्त्रिक और धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्तो के सर्वथा विपरीत थी। सन् 1920–22 के राजनीतिक आन्दोलन (असहयोग आन्दोलन) मे खिलाफत जैसे धार्मिक और गैर-राष्ट्रीय तत्त्व को मिलाना अनुचित था। गाधीजी ही पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होने जिन्ना के लिए "कायदे आजम"[1] (Quid i-Azam या महान् नेता) की उपमा का प्रयोग किया। इससे जिन्ना का राजनीतिक महत्त्व बढने लगा और वह गाधीजी की बराबरी करने लगा। जवाहरलाल नेहरू के 1937 और 1946 के असामाजिक एव अव्यावहारिक भाषणो ने भी जिन्ना की हठधर्मिता को दृढ कर दिया।

(क) हिन्दू महासभा का उत्तरदायित्व—हिन्दू महासभा की नीतियो ने भी कट्टर धार्मिक भावनाओ के विकास मे सहयोग दिया। 'शुद्धि" और "सगठन" आन्दालन के प्रत्युत्तर के रूप मे मुसलमानो ने "तनजीम" और "तबलीग" आन्दोलनो को शुरू किया। इस प्रकार के सगठनो ने हिन्दुओ और मुसलमानो मे उग्र भेद उत्पन्न कर दिये।

## मुस्लिम साम्प्रदायिकता के भिन्न भिन्न काल
## (Different States of Muslim Communalism)

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से मुस्लिम साम्प्रदायिकता को चार कालो म विभक्त किया जा सकता है। ये काल निम्न प्रकार विभक्त किये जा सकते है —

(i) प्रथम काल 1757 से 1876 तक
(ii) दूसरा काल 1876 से 1906 तक
(iii) तीसरा काल 1906 से 1940 तक
(iv) चौथा काल 1940 से 1947 तक

---

1 See Azad, Maulana Abul Kalam India Wins Freedom, p 93

**प्रथम काल (1757–1876)** इस काल म ब्रिटिश शासको की नीति "आग्ल हिन्दू सहयोग" और आग्ल मुस्लिम विरोध" की थी। जसाकि लाड एलनबग ने कहा था कि "मुसलमान जाति हमारे विरुद्ध है और इसलिये हमारी सच्ची नीति हि दुओ को प्रसन्न करने की है।' अग्रेजो ने मुसलमानो को राजनीतिक सत्ता स अपदस्थ किया था इसलिये वे उन्हे शका की दृष्टि से देखते थ। स्वभावत अग्रेजो ने ऐसी नीतियो का अनुसरण किया जिसस मुस्लिम जाति का विनाश हो। शासन, वाणिज्य और उद्योग म उनका बहिष्कार किया गया, उनकी शिक्षा पद्धति (फारसी और अरबी) को नष्ट किया गया उनकी सारी फौजदारी न्याय व्यवस्था का पतन कर अग्रेजी न्याय व्यवस्था को अपनाया गया। नामन लिखते हैं कि "1871 म बगाल म 2141 राजपत्रित पद थ। इनम से 1338 पर यूरोपीय, 711 — हिन्दू और 92 पर मुसलमान थे। एच० सी० ब्राउन लिखते है कि सन 1852 1868 तक 240 भारतीयो को उच्च न्यायालय म वकालत के लिय अनुमति दी गयी। इनम मुसलमान केवल एक था।

सक्षेप म यह काल आग्ल मुस्लिम द्वेष का काल था। इसम मुसलमानो का राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक और सामान्य पतन हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानो म असन्तोष और उपेक्षित अल्पसख्यक वग की भावनायें जागत हुई।

**वहाबी आन्दोलन** इस काल म भारतीय मुसलमानो ने अपनी स्थिति सुधारने के लिये अनक प्रयास किये। अरब के वहाबी आन्दोलन का प्रभाव सयद अहमद ब्रेल्वी (Saiyyid Ahmed Brelvi) पर अत्यधिक पडा। उन्होंने इस आन्दोलन को भारत म सन् 1820 म शुरू किया। यह आन्दालन यद्यपि धार्मिक शुद्धि के लिये था परन्तु भारत म यह क्रान्तिकारी बन गया। इसका सम्बन्ध सवसाधारण से था। वहाबियो ने ब्रिटिश शासको और हिन्दुओ के विरुद्ध 'जहाद (धार्मिक युद्ध) छोड दिया। महता और पटवधन लिखते हैं कि 'हर जगह उसने और उसके शिष्यो ने मुस्लिम जनता को झकझोर दिया और सारे देश म जोश की लहर दौड पडी।" इस आन्दोलन की शक्ति इतनी मूल थी कि डा० हण्टर न इसे 'महान धार्मिक आन्दोलन की सना दी है।' ब्रिटिश सरकार न भी इस आन्दोलन का दमन बडी निदयता निर्ममता और राजद्रोह के रूप म किया परन्तु इसस पूव कि यह आन्दालन भारत म समाप्त होता उसने सवसाधारण म विद्रोह की भावनायें पदा कर दी थी। सर जॉन कयी का मत है कि विद्रोह (सन् 1857 के विद्रोह) के प्रमुख चालक मुसलमान थ और एच० सी० ब्राउन का मत है कि 'य मुसलमान निस्सन्देह वहाबी थ।'

**दयोबन्द स्कूल** दिल्ली क शाह वली उल्ला (Shah waliullah) न अग्रजो क विरुद्ध "जहाद आन्दोलन शुरू किया। यह आन्दालन उन्नीसवी शताब्दी के तीसर और चौथ दशक म अत्यधिक सक्रिय रहा। सन् 1857 के विद्रोह म भी इसन अत्यधिक सहयोग दिया। इस आन्दोलन न दयाबन्द (Deoband) म नदवत उल

उलेमा (Nadwat ul ulema) के नाम से एक स्कूल की भी स्थापना की, यह स्कूल ब्रिटिश विरोधी और साम्राज्य विरोधी भावनाओ से प्रेरित था। यह आन्दोलन हिन्दू विरोधी नही था, ब्रिटिश विरोधी था।

**सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन**—उन्नीसवी शताब्दी मे अनेक सामाजिक और सुधारवादी आन्दोलनो ने जहा राष्ट्रीय जागृति को उत्पन्न किया वहा धार्मिक और जातीय भावनाओ को भी उत्पन्न किया। आर्य समाज इस्लाम, ईसाई आदि धर्मो की भर्त्सना करता था। दूसरी ओर मौलवी और पादरी हिन्दू धर्म की निन्दा करते थे। इस काल म जहा हिन्दुओ म पश्चिमी शिक्षा के विस्तार के लिय कलकत्ता मे हिन्दू कॉलिज, बम्बई मे दयानन्द कालिज तथा बनारस मे हिन्दू कालिज की स्थापना की गयी वहा सर सैयद अहमद खा ने अलीगढ म मेयो कालिज (M A O College) की स्थापना की।

सक्षेप म, इस काल मे "आग्ल मुस्लिम विरोधी भावनाओ" के साथ साम्प्रदायिक भावनायें भी क्षितिज पर उभरती हुई नजर आने लगी।

**दूसरा काल (1876–1906)**—साम्प्रदायिक विचारो के विकास की दृष्टि से इस काल की प्रमुख घटनायें निम्न है —

(1) सर सयद अहमद खा के काय

(ii) ब्रिटिश शासको की फूट डालो और शासन करो की नीति का श्रीगणेश–बगाल विभाजन

(iii) सन् 1906 का मुस्लिम शिष्टमण्डल

**(i) सर सयद अहमद खा के कार्य**—सर सयद अहमद खा ही एक ऐसे मुसलमान थे जिन्होने मुसलमानो मे राजनीतिक चेतना के विकास के साथ उनमे जातीय गर्व की भावनाओ का प्रादुर्भाव किया। उन्होने ही मुसलमानो म अग्रेज (राज) भक्ति की भावनाओ का सचार किया तथा अग्रेजो और मुसलमानो के मध्य की खाई को पटाया। उन्होने ही सभी जातियो के अधिकारो की सुरक्षा के स्थान पर केवल मुस्लिम अधिकारो की माग को प्रस्तुत किया। सक्षेप म सर सयद अहमद ने मुसलमानो को भारतीय राष्ट्रीयता के वेग से पृथक रखने का प्रयास किया तथा उनमे पृथक्तावदी भावनाओ का सचार किया।

सर सयद अहमद की धारणा थी मुस्लिम जाति अग्रेजो की कृपा से पनप सकती है। इसलिये उन्होने मुसलमानो मे अग्रेजी शासन के प्रति भक्ति की भावनाए पैदा करने के लिये "भारत के राज भक्त मुसलमान" (Loyal Mohammedans of India) नामक पत्रिका निकालनी शुरु कर दी। इस पत्रिका के माध्यम से सर सयद ने मुसलमानो और ईसाइयो म धार्मिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न ईसाइयो और मुसलमानो के मध्य गलतफहमियो को दूर करने के लिये तबीयन उल-कलम (Tabyin Ul Kalam) के नाम से बाईबल पर एक टी

लिखी । सर सयद ने "रिसाला सबाब बगावते हिन्द" और "रिसाला यर रहान मुसलमान" लिख कर यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया कि सन् 1857 के विद्रोह मे मुसलमाना का कोई दोष नही था। हिन्दू और मुसलमान सिपाहियो को एक स्थान पर रखने से ही विद्रोह की भावनायें उत्पन्न हुई थी। सन् 1871 म जब सर विलियम हण्टर की पुस्तक "हमारे भारतीय मुसलमान (Our Indian Mussalman) प्रकाशित हुई तो सर सयद न प्वाइनियर (Pioneer) मे प्रभावपूर्ण ढग से प्रत्युत्तर (rejoinder) लिखा जिसने, न्यायमूर्ति शाहदीन के शब्दो म, "उन सरकारी अधिकारियो म भी विश्वास पदा कर दिया जो (मुसलमाना पर) अविश्वास करत थे और मुसलमानो की राज भक्ति पर कुछ समय से जो बादल मण्डरा रहे थे वे दूर हो गये।" इस तरह सर सयद ने हर सम्भव प्रयास से मुसलमाना पर अभक्ति के धब्ब को मिटाने का प्रयास किया।

सर सयद अपने अनुयायियो म इस भावनाओ का सचार करते थे कि "वे कोई ऐसा काय न करें जिससे सरकार को उनकी राज भक्ति मे किसी प्रकार का कोई सन्देह हो।" श्री के० के० अजीज लिखते है कि ब्रिटिश जाति और ब्रिटिश सस्थाओ के प्रति उनकी श्रद्धा इतनी अधिक थी कि वह "दासत्व"[1] की स्थिति मे पहुँच गई थी। सरकार की नीतियो के प्रति किसी प्रकार के मतभेद का वे प्रबल विरोध करते थे तथा सहधर्मावलम्बियो को राजनीतिक आन्दोलन मे भाग लेन से मनाही करते थे। उनके लिये राजनीतिक आलोचना और असहमति का पर्यायवाची थी परन्तु सरकार की भक्ति, उसका समथन और सहयोग राजनीति नही थी।

मुसलमानो मे पश्चिमी शिक्षा के प्रति लगाव पदा करन के लिये सन् 1876 मे अलीगढ म मुहमडन ऐंग्लो ओरियेन्टल कालिज (Mohammedan Anglo-Oriental College) की स्थापना की।

यही कालिज ही, समय पाकर भारत मे मुस्लिम राजनीति का केन्द्र बन गया।

सर सयद ने भारतीय मुसलमाना को राष्ट्रीय काग्रेस स पृथक रखने का प्रयास किया। उन्होने ही ऐंग्लो मुस्लिम साझेदारी को बढावा दिया। जो सर सयद सन् 1884 तक हिन्दू मुसलमानो को "भारत माता की दो आखें" समझते थे सन 1885 म राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना के समय उसके सदस्य नही बने। उन्होने अनेक मुस्लिम नेताओ को भी इसका सदस्य बनने नही दिया। इतना ही नही सन 1887 म उन्होने मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन (Muslim Educational Conference) की स्थापना की जिसके अधिवेशन ठीक उस समय और उस स्थान पर होत थे जहा काग्रेस के वार्षिक अधिवेशन होते थे। सन 1888 म जब ब्रिटिश शासको की नजर

1 Aziz K K The Making of Pakistan p 20 Quoted by Tara Chand, Ibid, Vol III, p 386

म कांग्रेस खटाने लगी तो सर सैयद ने बनारस के राजा शिवप्रसाद की सहायता से "भक्त एसोसियेशन (Patriotic Association) की स्थापना की। इसका मूल उद्देश्य कांग्रेस का विरोध करना और उसके कार्यों को निष्फल बनाना था। कूचान लिखते हैं कि उन्होंने "मुसलमानों को निस्सन्देह रूप से राजद्रोही दल में भर्ती होने से रोक दिया, उपद्रव के बादल मण्डरा रहे थे और उन दिनों इस रोक का असाधारण महत्त्व था।"

सर सैयद अहमद खां ने प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली का भी विरोध किया। उनका विश्वास था कि निर्वाचन प्रणाली द्वारा मुसलमान परिषदों में बहुमत को कभी प्राप्त नहीं कर सकेंगे क्योंकि वे अल्पमत में हैं। सन 1892 के परिषद अधिनियम के बाद उन्होंने एक स्मृति पत्र तैयार किया जिसमें प्रतिनिधि संस्थाओं का विरोध किया गया। सन् 1893 में मुसलमानों के हितों की रक्षा के लिये उन्होंने मुहमडन ऐंग्लो ओरियन्टल डिफेन्स एसोसियेशन (Mohammedan Anglo Oriental Defence Association) की स्थापना की। इसका उद्देश्य भी मुसलमानों को कांग्रेस से पृथक रखना था।

संक्षेप में, सर सैयद अहमद खां ही प्रथम मुस्लिम नेता थे जिन्होंने भारतीय मुसलमानों को राष्ट्रीय शक्तियों में सम्मिलित होने से रोका।

(ii) **ब्रिटिश शासकों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का श्रीगणेश बंगाल विभाजन**—कांग्रेस की बढ़ती हुई राजनीतिक गतिविधियों और राष्ट्रीय भावनाओं से ब्रिटिश नौकरशाही अत्यन्त चिन्तित हुई। उसने यह अनुभव करना शुरू कर दिया कि वह समय आ गया है जबकि "विरोधियों" (Irreconcilables) को पृथक् किया जाय और 'समझौते की इच्छा रखने वालों" को मित्र बना कर उन्हें साथ मिला लिया जाय। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अंग्रेज शासकों ने, अन्य साम्राज्यवादी शासकों की भांति भारतीय जातियों में 'फूट डालने" की नीति को अपनाया हिन्दुओं और मुसलमानों को पृथक रखने की कोशिश की। कांग्रेस को निर्बल करने के लिये उसे हिन्दू संस्था की संज्ञा दी गयी इस बात का प्रचार किया गया कि कांग्रेस मुस्लिम हितों के विरुद्ध है। सर सैयद अहमद जैसे राष्ट्रवादी मुस्लिम नेताओं को मुस्लिम राष्ट्रवादी बना दिया। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जब कांग्रेस में उग्रवादियों का प्रभाव बढ़ने लगा तो अंग्रेजों ने अपने मैकियाविलियन तरीकों के उस्तरे (Machievallian Razor) को और तेज कर दिया। सन 1905 में लार्ड कर्जन द्वारा भारतीयों के प्रचण्ड विरोध पर भी बंगाल का विभाजन करना ब्रिटिश शासकों की फूट डालो और शासन करो की नीति का द्योतक है। इसके द्वारा जहां लार्ड कर्जन बंगाली और भारतीय राष्ट्रीयता को खण्डित करना चाहता था वहां वह मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्त की स्थापना भी करना चाहता था। लार्ड कर्जन ने मुसलमानों को स्पष्ट कहा था कि 'मैं तुम्हें एक मुस्लिम प्रान्त दे रहा हूं।" पूर्वी बंगाल और असम के उप गवर्नर सर बेमफाइड फुलर (Sir Bamfylde Fuller)

के शब्दा मे भी ब्रिटिश नीति की दुष्टता स्पष्ट हो जाती है। उ हाने कहा था कि "मेरी दो पत्निया है, एक हिदू और दूसरी मुस्लिम परन्तु मुस्लिम पत्नी मुझे अधिक प्रिय है।" इस तरह धम के आधार पर पृथक मुस्लिम प्रा त (पूर्वी बगाल और असम) का निर्माण अग्रेजा की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का प्रथम मूत प्रमाण था। यह "देशवासियो के विरुद्ध देशवासियो के सम बल के (Counterpoise of natives against natives) के कायक्रम मे एक प्रमुख कदम था।

मुसलमानो का राष्ट्रीय आ दालन मे पृथक रखने मे मेया कॉलिज के प्रथम अग्रेज प्रिन्सिपल थियोडार बैक (Theodore Beck) का प्रमुख हाथ था। श्री बक के प्रभाव के कारण ही सर सयद अहमद खा राष्ट्रवादी मुसलमान से मुस्लिम राष्ट्रवादी बने थे। श्री बक ने ही उनके मस्तिष्क मे इन विचारा का सचार किया कि "जहा ऐंग्लो मुस्लिम मैत्री से मुस्लिम जाति की दशा सुधरेगी वहा राष्ट्रवादी आ दोलन मे शामिल होने से उन्हे पसीना, श्रम और आसू ही प्राप्त होग।'

**(iii) सन् 1906 का मुस्लिम शिष्टमण्डल–पृथक निर्वाचन की माग—** भारत मे सुधारो की आवश्यकता पर विचार करने के लिये लाड मि टो ने सन 1906 मे एक समिति का गठन किया। इसके माध्यम से लाड मि टो दो उद्देश्यो को प्राप्त करना चाहता था। एक तो वह काग्रेस के उदारवादी पक्ष को सुधारा का लालच देकर उग्रवादिया से पृथक करना चाहता था ताकि वे सरकार की ओर आकर्षित हो सकें, दूसरे, वह मुसलमानो को पृथक मुस्लिम प्रतिनिधित्व के लिय उकसाना था। इन दाना उद्देश्या म उस सफलता मिली।

सुधारा के सम्बन्ध म मुस्लिम मागा को प्रस्तुत करने के लिये माननीय आगा खा के नेतृत्व म एक मुस्लिम शिष्टमण्डल लाड मिन्टो का अक्टूबर 1906 को शिमला म मिला। इस मुस्लिम शिष्टमण्डल ने ही मुसलमाना के हिता की रक्षा के लिये पृथक निर्वाचन प्रणाली और साम्राज्यीय विधान परिषद से लेकर जिला बोर्डों तक मुसलमाना के लिये गुरुभार (Weightage) पद्धति की माग की। इस शिष्ट मण्डल द्वारा प्रस्तुत की गई मागें[1] मुख्यत निम्न थी —

(a) सभी सवाग्रा म—नागरिक, सनिक तथा न्यायिक—मुसलमाना का पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलना चाहिय तथा बिना प्रतियोगिता परीक्षा के उच्च पदा पर उनकी नियुक्ति होनी चाहिये।

(b) विश्वविद्यालया की सिण्डिकेट्स और सीनेटस म, नगरपालिकाओ और जिला बार्डो की परिषदा म मुसलमाना के लिय स्थाना को सुरक्षित रखा जाना चाहिये।

(c) प्रान्तीय परिषदा म मुस्लिम प्रतिनिधिया क निर्वाचन क लिय पृथक निर्वाचन प्रणाली होनी चाहिय। इन प्रतिनिधिया की सख्या मुसलमाना की जन

1 See Tara Chand Ibid Vol

सख्या के अनुपात मे नही बल्कि उनकी जाति के राजनीतिक महत्त्व के आधार पर होनी चाहिये ।

(d) साम्राज्यीय विधान परिषद मे मुसलमानो के लिये पृथक निर्वाचन प्रणाली होनी चाहिये । उनकी सख्या पर्याप्त हो ताकि वह प्रभावपूर्ण अल्पमत बना रहे ।

(e) मुसलमानो के धार्मिक और बौद्धिक जीवन के विकास के लिये मुस्लिम विद्यालय की स्थापना के लिये सहायता दी जाय ।

इस शिष्टमण्डल के प्रति लार्ड मिण्टो का दृष्टिकोण पूर्णतया सहानुभूतिपूर्ण था । शिष्टमण्डल के स्वागत मे लार्ड मिन्टो ने जिन भावो और शब्दो को व्यक्त किया उनमे स्पष्ट है कि इसे सरकारी आदेशानुसार ही निर्मित किया गया था तथा इसके माध्यम से सरकारी बासुरी बजाई जा रही थी । लार्ड मिन्टो के शब्द तो इतिहास मे "मुस्लिम अधिकारो के चार्टर' (Charter of Islamic Rights) के नाम से प्रसिद्ध है । लार्ड मिन्टो ने कहा था कि—

> "तुम्हारी प्रार्थना का सार तत्व, जमाकि मैं समझ पाया हू, इस बात की माग है कि किसी भी प्रतिनिधित्व की प्रणाली मे जिसमे निर्वाचन के सिद्धान्त को लागू किया जाय, उसमे मुसलमानो को जाति के आधार पर पृथक प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाय । तुम्हारी यह माग उचित ही है कि तुम्हारी जनसख्या के आधार पर नही अपितु तुम्हारी जाति के राजनीतिक महत्त्व और साम्राज्य के प्रति तुम्हारी सेवाओ के आधार पर आकी जानी चाहिये । मैं तुमसे पूर्णतया सहमत हूँ ।"

भारतीय राजनीतिक जीवन की यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी परन्तु न तो 1906 की काग्रेस ने और न ही भारतीय प्रेस ने इस ओर कोई ध्यान दिया । ब्रिटिश नौकरशाही अपनी इस सफलता पर अत्यन्त प्रसन्न थी । उसने अपनी चालाकी और मक्कारी से भारत के 6 करोड 20 लाख मुसलमानो को भारतीय जन-जीवन से पृथक कर दिया था । वायसराय के एक उच्च अधिकारी ने इस दिन के बारे मे ठीक लिखा है कि "आज एक बहुत बडी घटना घटित हो गयी है । राजनीतिज्ञता का एक ऐसा कार्य हो गया है जो कि भारत और भारतीय इतिहास का कई वर्षो तक प्रभावित करता रहेगा । 6 करोड 20 लाख व्यक्तियो को राजद्रोही विरोध मे सम्मिलित होने से पीछे खीच लिया गया है ।" रम्जे मैक्डोनल्ड ने भी लिखा है कि "पूर्व विचारित घृणा के आधार पर हिन्दू और मुस्लिम जातियो मे घृणा के बीज बो दिये गये ।'[1]

सन् 1906 के शिष्टमण्डल के जो गम्भीर परिणाम निकले उन्हे निम्न बिन्दुओ मे व्यक्त किया जा सकता है—

---

1 Quoted by Tara Chand, Vol III p 398

(a) इतिहास मे पहली बार मुस्लिम जाति न भारत की अन्य जातियो से पृथक एक "विशिष्ट जाति' (Distinct Community) के रूप म काय किया।

(b) शिष्टमण्डल को भारतीय मुसलमानो की प्रतिनिधि सस्था मान लिया गया जबकि शिष्टमण्डल का कोई भी सदस्य न तो भारतीय मुसलमाना का प्रतिनिधित्व करता था और न ही उनके द्वारा निर्वाचित किया गया था।

(c) मुस्लिम जाति को "राष्ट्र के अन्दर राष्ट्र" (A Nation Within a Nation) मान लिया गया।

(d) हिन्दू और मुस्लिम जातिया को पृथक मान लिया गया। ताराचन्द ने ठीक लिखा है कि "शिमला शिष्टमण्डल साम्प्रदायिक मच पर सबसे बडा प्रदशन था।"[1]

उपयुक्त वणन से स्पष्ट है कि पृथक मुस्लिम निवाचन और गुरुभार पद्धति की माग 1906 के मुस्लिम शिष्टमण्डल न की, वायसराय लाड मिन्टो न इन मागा को 1909 क मार्लेमिन्टो सुधारो मे वधानिक रूप प्रदान कर दिया। इस तरह भारतीय राजनीति मे "सापा की उस पिटारी को खोल दिया गया जिन्हाने भारतीय राष्ट्रीयता और अखण्डता को डस लिया। एक आलोचक ने ता यहा तक कह दिया है कि 'पाकिस्तान के वास्तविक पिता जिन्ना या चौधरी रहमत अली नही थे बल्कि लाड मिण्टो थे।"

**तीसरा काल (1906–1940)**—साम्प्रदायिक राजनीति के विकास की दृष्टि से यह काल सबसे महत्त्वपूण है। इस काल म ही उस साम्प्रदायिक शिशु का पोषण किया गया जिसका बीजारोपण सर सयद अहमद खा, प्रिंसिपल बक और आर्ची बोल्ड, डनलप स्मिथ और मिन्टो ने किया था। इस काल की प्रमुख साम्प्रदायिक घटनाओ को निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

(i) अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना
(ii) काग्रेस लीग प्रमोद काल–लखनऊ समझौता
(iii) साम्प्रदायिक दगे–मोपला विद्रोह जिन्ना की चौदह शर्तें
(iv) पृथक मुस्लिम राज्य के विचार का प्रादुर्भाव
(v) जिन्ना का एक मात्र नेतृत्व
(vi) काग्रेस विरोधी दृष्टिकोण तथा मुक्ति दिवस
(vii) "फूट डालो शासन करो' की नीति का विस्तार

**(i) अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना**—अखिल भारतीय मुस्लिम लीग (All Indian Muslim League) की स्थापना 30 दिसम्बर, 1906 को की गयी।। परन्तु लीग का प्रथम अधिवेशन अमृतसर म 1908 म हुआ।

---

1 Tara Chand, Ibid, Vol p 399

लीग के मुख्य उद्देश्य निम्न थे —

(a) भारतीय मुसलमानो मे ब्रिटिश शासन के प्रति भक्ति भावनाओ का विकास करना ।

(b) भारतीय मुसलमानो के राजनीतिक अधिकारो और हितो की रक्षा करना एव उनका विकास करना तथा इनकी प्राप्ति के लिये शासन से निष्ठापूवक प्राथना करना ।

(c) उपयु क्त सिद्धान्तो को ठेस पहुँचाये बिना भारत की भिन्न जातियो मे पारस्परिक मैत्री भावनाओ का विकास करना ।

जसा कि आगा खाँ ने अपने सस्मरणो मे लिखा है कि मुस्लिम लीग "राष्ट्र के अन्दर एक राष्ट्र के रूप मे ब्रिटिश सरकार से एक स्वतन्त्र राजनीतिक इकाई के रूप म मान्यता प्राप्त करना चाहती थी ।[1]

मुस्लिम लीग के उपयु क्त उद्देश्यो से स्पष्ट है कि यह एक राष्ट्रीय सस्था नही थी । इसे राष्ट्रीय उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये स्थापित नही किया गया था । यह केवल साम्प्रदायिक, सकीण, और सीमित उद्देश्यो वाला सगठन था । इसे केवल मुस्लिम अधिकारो की रक्षा हेतु स्थापित किया गया था । यह राष्ट्र और देशभक्ति के स्थान पर "राज (ब्रिटिश) भक्ति" पर आधारित थी ।

मुस्लिम लीग की स्थापना से राष्ट्रीय शक्तियो को हानि हुई और साम्राज्यीय, साम्प्रदायिक शक्तियो को बल मिला । हिन्दू मुसलमानो के मतभेदो की खाई दिन प्रतिदिन चौडी होती गयी । दोनो सगठनो मे (काग्रेस और लीग) शका और ईर्ष्या का विकास हुआ । क्योकि लीग को ब्रिटिश शासक काग्रेस का "प्रत्युत्तर" समझते थे इसलिए उसे उनका सरक्षण प्राप्त था । उन्होने काग्रेस को हिन्दू सस्था कह कर निन्दित करना शुरू कर दिया ।

(ii) काग्रेस लीग प्रमोद काल—लखनऊ समझौता—मुस्लिम लीग के प्रारम्भिक काल मे उस पर पृथक्तावादी और सम्प्रदायवादी तत्वो का प्रभाव अधिक था । ये वे मुसलमान थे जो ब्रिटिश शासको की कृपा पर जिन्दा रहते थे । परन्तु 1911 से लीग के दृष्टिकोण मे कुछ परिवतन होना शुरू हो गया । इस परिवतन के मुख्यतया तीन कारण थे—(i) सन् 1911 मे वग भग समाप्त होने से मुसलमानो को स्पष्ट हो गया था कि ब्रिटिश सरकार अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिये मुसलमानो के हितो की उपेक्षा कर सकते थे, (ii) तुर्की के प्रति ब्रिटिश शासको का शत्रुतापूण व्यवहार देखकर मुसलमानो ने अनुभव किया कि "काग्रेस के साथ मित्रता करने मे ही उनके अधिकार सुरक्षित हैं," (iii) मुस्लिम युवा पीढी म राष्ट्रीय विचारो का प्रभाव बढ रहा था और मौलाना आजाद मुहम्मद अली और जफर अली खा लीग पर दबाव डाल रहे थे कि वह अपने उद्देश्यो म परिवतन करें ।

---

1 The Agha Khan Memoirs Quoted by Tara Chand Vol III, p 404

इस सब का परिणाम यह हुआ कि 22 मार्च, 1913 को लीग ने अपने उद्देश्यो मे परिवर्तन कर लिया। अब उसने भारत के लिए स्वशासन के उद्देश्य को अपना उद्देश्य निर्धारित कर लिया। लीग के परिवर्तित उद्देश्यो मे कहा गया था कि "ब्रिटिश क्राउन की छत्रछाया मे, सवैधानिक साधनो द्वारा, भारत के लिये स्वशासन प्राप्त करना है।"

लीग के उपयुक्त उद्देश्यो का काग्रेस ने स्वागत किया। मुहम्मद अली जिन्ना के प्रयासो से काग्रेस और लीग एक दूसरे के निकट आने लगी। लखनऊ मे, 1916 मे, एक काग्रेस लीग योजना तैयार की गयी जो लखनऊ समझौते के नाम से जानी जाती है। इस योजना के अनुसार लीग ने काग्रेस की स्वशासन की माग को स्वीकार कर लिया और काग्रेस ने मुसलमानो के लिये पृथक निर्वाचन प्रणाली और गुरुभार पद्धति को स्वीकार कर लिया। लखनऊ समझौता भारतीय राष्ट्रीयता की बहुत बडी विजय थी परन्तु इसके लिये काग्रेस ने जिन सिद्धान्तो (प्रजातन्त्र, सयुक्त निर्वाचन प्रणाली और धर्म निरपेक्षता) का बलिदान दिया वह बहुत महगा पडा। वस्तुत पाकिस्तान की नीव के तत्त्वो को इसी समझौते मे देखा जा सकता है।

कुछ समय तक (सन् 1916 से 1922 तक) काग्रेस और लीग एक दूसरे का सहयोग करती रही। परन्तु उनका यह सहयोग सामान्य हितो पर आधारित नही था। लीग ने काग्रेस का साथ केवल इसलिये दिया था कि वह खिलाफत के प्रश्न पर उसका सहयोग चाहती थी और गाधीजी इस अवसर को हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये स्वर्ण अवसर समझते थे। यही कारण है कि जब चौरी चौरा काण्ड पर गाधीजी ने 1922 मे असहयोग आन्दोलन को वापस ले लिया और 3 मार्च, 1924 को तुर्की की राष्ट्रीय सभा (National Assembly) ने खिलाफत को समाप्त कर धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना कर दी तो "रेत के ढेर" पर उत्पन्न की गयी हिन्दू मुस्लिम एकता धराशाही हो गयी और हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिक दगो का युग शुरू हो गया।

(iii) साम्प्रदायिक दगे—मोपला विद्रोह तथा जिन्ना की चौदह शर्तें —अगस्त सितम्बर, 1921 मे ही काग्रेस लीग प्रमोद काल ढीला पडता हुआ नजर आने लगा। वस्तुत 1916–22 के काग्रेस लीग प्रमोदकाल मे भी उनकी एकता बनावटी थी। लखनऊ समझौते से काग्रेस और लीग का विलयन (fusion) नही हुआ था। दोनो ने अपने अपने पृथक सगठन को बनाये रखा। असहयोग आन्दोलन मे भी, जब हिन्दू मुस्लिम सहयोग अपनी चरम सीमा पर था, लीग के समक्ष प्रथम उद्देश्य खिलाफत का था, देश के लिए स्वराज्य की माग उसके लिए द्वितीय स्थान रखती थी। ज्योही उनके सहयोग का कारण (खिलाफत का प्रश्न) समाप्त हुआ त्योही लीग ने साम्प्रदायिक विष फैलाना शुरू कर दिया।

भारत मे साम्प्रदायिक दगा का आरम्भ 1921 के मोपला विद्रोह से हो जाता है। खिलाफत के प्रश्न पर मोपला मुसलमानो की धार्मिक भावनायें अत्यधिक

उत्तेजित हो गयी थी और उन्होंने छापामार युद्ध शुरू कर दिये थे। जब ब्रिटिश शासकों ने विद्रोह का दमन करने के लिये सेना का प्रयोग किया तो मोपला मुसलमानों ने न केवल प्रशासनिक अधिकारियों की हत्यायें की बल्कि हिन्दू पड़ौसियों को भी अपने अत्याचारों का शिकार बनाया। मुहम्मद अली तक ने साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारने वाले वक्तव्य दिये तथा कुरान में से मुस्लिम वीरों की गाथाओं को दोहराया।

सन् 1923, 1924, 1926 और 1927 के वर्ष साम्प्रदायिक दंगों के वर्ष थे। सन् 1922–23 में पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, बम्बई, हैदराबाद दक्षिण और आन्ध्र में अनेक स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे हुए। सितम्बर 9 और 10, 1924 को कोहाट (उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में) में साम्प्रदायिक दंगे निकृष्ट (Worst) रूप में प्रकट हुए कि 20 हजार की सारी हिन्दू जन संख्या को नगर से निकलना पड़ा।[1] सन् 1925 में ये दंगे इलाहाबाद, दिल्ली और कलकत्ता में हुए। सन् 1926 में कुल 35[2] साम्प्रदायिक दंगे हुए। सबसे निकृष्ट साम्प्रदायिक दंगे कलकत्ता में अप्रैल, मई, और जुलाई 1926 में हुए। दिसम्बर 23, 1926 को एक कट्टर मुसलमान ने स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या, बीमारी की हालत में उनके घर पर, कर दी। इस वर्ष अनेक आर्य समाजी नेताओं की हत्यायें की गयी। सन् 1927 में रंगीला रसूल और रिसाला वर्तमान (Rangila Rasul and Risala Vartaman) के प्रकाशन से हिन्दू मुसलमानों में तनाव की स्थिति बनी रही।

इन साम्प्रदायिक दंगों से हिन्दू और मुस्लिम दोनों की आत्मायें हिल गयी। हिन्दू सम्स्कृति और सभ्यता को बचाने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में "शुद्धि" और पं० मदन मोहन मालवीय के नेतृत्व में "संगठन" (Sangathan) आन्दोलन को शुरू किया। जहां शुद्धि आन्दोलन का उद्देश्य मुसलमान बने हिन्दुओं को पुनः हिन्दू बनाना था वहां "संगठन" आन्दोलन का उद्देश्य हिन्दुओं को संगठित करना था। इसी प्रकार अनेक हिन्दू संगठनों की स्थापना की गयी जैसे अखिल भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा, दयानन्द मुक्ति मिशन, दलित उद्धार सभा, हिन्दू अबला आश्रम, शुद्धि सभा, अखिल भारतीय क्षत्रिय सभा। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (R S S) की स्थापना भी डा० के० बी० हेडवाड़ (Dr K B Hedgewar) ने सन 1925 में की। "आडर आफ दी यूथ" (Order of the Youth) की स्थापना भी सन् 1928 में की गयी।

दूसरी ओर डा० किचलू ने तबलीग (Tabligh) और "तनजीम" (Tanzim) आन्दोलनों को शुरू किया। तबलीग का उद्देश्य इस्लाम धर्म का विस्तार करना था

1 See Tara Chand, Ibid, Vol IV p, 19

2 See Tara Chand, Ibid, Vol IV p 105

और तनजीम का उद्देश्य मुसलमानों को संगठित करना था। फजली हुसैन ने तो हिन्दुओं के दलित वर्ग को इस्लाम धर्म अपनाने के लिए उत्तेजित भी किया।

इन साम्प्रदायिक दंगों और साम्प्रदायिक भावनाओं के विकास का परिणाम यह हुआ कि कांग्रेसी और राष्ट्रवादी मुसलमान भी मुस्लिम लीग के प्रभाव में आने लगे हिन्दू मुस्लिम सहयोग कठिन होता गया और साम्प्रदायिक भावनायें तीव्र होती गयी। जिन्ना जैसे राष्ट्रवादी मुसलमान भी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण अपनाने लगे।

इस काल में जहाँ साम्प्रदायिक दंगों का दौर गर्म रहा वहाँ 'हिन्दू मुस्लिम एकता' उत्पन्न करने के लिये भी अनेक प्रयास किए गये। सन् 1923 के राष्ट्रीय समझौते और बंगाल समझौते इसी दिशा की ओर प्रयास थे। गांधीजी इन साम्प्रदायिक दंगों से इतने दुःखी थे कि उन्होंने अपने देशवासियों के पापों को धोने के लिये 16 सितम्बर 1924 को 21 दिन का व्रत रखा। परन्तु इस व्रत का कोई निश्चित फल नहीं हुआ और इसका प्रभाव अल्पकालीन ही रहा। एकता पंचायत, नवम्बर 1924 का बम्बई सर्वदलीय सम्मेलन, सितम्बर, 1927 का एकता सम्मेलन, मार्च और मई 1928 के सर्वदलीय सम्मेलन इसी दिशा की ओर संकेत करते हैं परन्तु किसी एकता प्रयासों को सफलता नहीं मिली।

साइमन आयोग के बहिष्कार और संयुक्त निर्वाचन प्रणाली के प्रश्न पर सन् 1927 में लीग दो भागों में विभक्त हो गयी। एक भाग का नेतृत्व मुहम्मद शफी कर रहे थे जो साइमन आयोग का समर्थन करना चाहता था और संयुक्त निर्वाचन प्रणाली का विरोधी था। दूसरे भाग का नेतृत्व मुहम्मद अली जिन्ना कर रहे थे जो साइमन कमीशन का बहिष्कार करना चाहता था और संयुक्त निर्वाचन प्रणाली के पक्ष में था। मुहम्मद शफी के नेतृत्व में लीग के एक भाग का अधिवेशन लाहौर में और दूसरे का जिन्ना के नेतृत्व में कलकत्ता में हुआ।

कांग्रेस के साथ सहयोग करने के लिए जिन्ना के मुस्लिम लीग के भाग ने निम्न शर्तें प्रस्तुत कीं —

(a) सिन्ध को एक पृथक प्रान्त बना दिया जाय
(b) उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त और बलूचिस्तान में सुधारों को लागू कर दिया जाय
(c) केन्द्र में मुस्लिम सदस्यों की संख्या कम से कम एक तिहाई होनी चाहिये।
(d) जन संख्या के आधार पर भिन्न भिन्न जातियों के लिये स्थान सुरक्षित रखे जायें अर्थात जिन प्रान्तों में हिन्दू बहुमत है वहां मुसलमानों के लिये और जहां मुस्लिम बहुमत है, जैसे पंजाब और बंगाल में वहां हिन्दुओं के लिये, स्थान सुरक्षित हों।

परन्तु जब काग्रेस ने इन शर्तों को स्वीकार करने से इकार कर दिया तो जिना को बडी निराशा हुई और उसने हिन्दू-मुस्लिम सहयोग की आशायें त्याग दी ।

नेहरू रिपोट को लीग ने इस कारण अस्वीकार कर दिया कि उसमे पृथक् निर्वाचन और गुरुभार पद्धति की व्यवस्था नही थी । जिन्ना ने लीग के शफी ग्रुप के साथ मिलकर नेहरू प्रस्तावो के स्थान पर चौदह सूत्रो को प्रस्तुत किया जिन्हे जिन्ना की चौदह शर्ते कहते हैं । इस समय मुस्लिम नेता ब्रिटिश नेता नौकरशाही से भी प्रोत्साहन पा रहे थे । जब काग्रेस 1930-31 मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे रत थी तो लीग उससे पृथक रही । ब्रिटिश नौकरशाही ने लीग को काग्रेस से पृथक करने के लिए अगस्त 1932 के मैकडोनल्ड पचाट मे जिन्ना की शर्तों को स्वीकार कर लिया । जहा काग्रेस ने साम्प्रदायिक पचाट का विरोध किया वहा लीग ने उसे स्वीकार किया ।

**साम्प्रदायिक दगो के कारण**—पृथक मुस्लिम राज्य की माग की व्याख्या करने से पूर्व उन कारणो को जान लेना अध्ययन की दृष्टि से लाभकारी होगा जिनके कारण साम्प्रदायिक दगे हुए । ये कारण मुख्यतया निम्न थे —

**(a) जातियो के धार्मिक दृष्टिकोणो मे अतर**—हिन्दू और मुस्लिम जाति के देवी देवता और पूजा के तरीको मे भिन्नता होने से साम्प्रदायिक दगो को बढावा मिला । हिन्दुओ मे अनेक देवी देवता होने से उनमे पारस्परिक सहिष्णुता की भावनायें थी । हर हिन्दू अपनी इच्छानुसार अपने देवी-देवता की पूजा करता था । दूसरी ओर मुसलमान एक 'अल्लाह' को ही मानते थे और इस्लाम धर्म मे विश्वास न करने वाले को वे 'काफर' कहते थे जिनका धर्म परिवर्तन करना वे अपना धर्म समझते थे ।[1] हिन्दू मन्दिरो मे आरती के समय घटियो और ढोलक तथा नगाडे की आवाज को नमाज मे हस्तक्षेप समझा जाता था । जैसा कि नेहरू जी ने लिखा है कि "आरती और नमाज विरोधी विवाद ने महान् रूप धारण कर लिया । पारस्परिक वैमनस्य का एक कारण "गाय" भी थी । जहा हिन्दू गाय को 'माता' समझकर उसकी पूजा करते थे वहा मुसलमान गौ-हत्या' मे विश्वास करते थे । हिन्दुओं के 'शुद्धि" और "सगठन" आन्दोलनो और मुसलमानो के 'तबलीग" और "तनजीम' आन्दोलनो ने भी साम्प्रदायिक भावनाओं को फैलाने मे सहयोग दिया ।

**(b) ब्रिटिश सरकार की नीति**—क्योंकि साम्प्रदायिक दगों से ब्रिटिश साम्राज्यीय हित साधन होते थे इसलिये नौकरशाही इन दगो के प्रति उदासीन रही । इतना ही नहीं साम्प्रदायिक भावनायें फैलाने के लिये वह इन दगो की सदैव [illegible]

---

1 जिस ढग से पाकिस्तान की राष्ट्रीय असेम्बली ने सितम्बर 1974 मे सवैधानिक सशोधन द्वारा पाकिस्तान मे रहने वाले अहमदियो को गैर मुस्लिम घोषित किया है वह उसकी धार्मिक [illegible] दर्शाता है ।

बढ़ा चढ़ा कर प्रकाशित करती, मुस्लिम पृथक्तावादियों और प्रतिक्रियावादियों को प्रोत्साहित करती।

(c) **मुसलमान सुविधाओं से वंचित नहीं होना चाहते थे**—मुसलमानों में यह भावना सर्वदा विद्यमान रही थी कि वे भारत के शासक रहे हैं और हिन्दुओं का उन पर शासन करने की आज्ञा नहीं देनी चाहिये। इसलिये अंग्रेजों से सहयोग करने पर जो सुविधायें उन्हें प्राप्त हुई थीं उन्हें वे राष्ट्रीय तत्त्वों के साथ मिलकर खोना नहीं चाहते थे।

(d) **हिन्दू मुस्लिम विलयन का अभाव**—यह ठीक है कि हिन्दू और मुसलमान अनेक वर्षों से भारत में साथ साथ रह रहे थे परन्तु दोनों का विलयन (मिश्रण) नहीं हुआ था, दोनों में पारस्परिक विवाह नहीं होते थे, दोनों में सामाजिक सम्बन्ध उत्पन्न नहीं हुए थे दोनों एक दूसरे को बहिष्कृत समझते थे। एफ० के० खां दुर्रानी का मत है कि साम्प्रदायिक दंगे इसलिये हुए कि हिन्दू मुसलमानों को अस्पृश्य (Untouchables) समझते थे। परन्तु यह विचार एकपक्षीय है क्योंकि सम्बन्ध न होते हुये भी सामान्य स्थानीय उत्तेजना, सामान्य भाषा आदि का प्रयोग करते थे। 'अलगावपन' और अस्पृश्यता' की भावनायें तब प्रकाश में आईं जब अंग्रेजों ने अपने हितों के लिये जातियों में वैमनस्य, घृणा और द्वेष की भावनायें पैदा कीं।

(e) **आर्थिक और राजनीतिक कारण**—आर्थिक और राजनीतिक कारण भी साम्प्रदायिक दंगों के लिये उत्तरदायी थे। हिन्दुओं की तुलना में मुसलमानों की आर्थिक दशा ब्रिटिश राज्य में शोचनीय थी, उनमें बेरोजगारी अधिक थी, नागरिक सेवाओं में उनकी संख्या कम थी उद्योग और व्यापार में हिन्दू अधिक कुशल थे। राजनीतिक दृष्टि से मुसलमान हिन्दुओं के प्रतिद्वन्द्वी बन गये क्योंकि अंग्रेजों द्वारा सत्ता हस्तान्तरण की प्रक्रिया में वे अधिक से अधिक रियायतें प्राप्त करना चाहते थे।

(iv) **पृथक मुस्लिम राज्य के विचार का प्रादुर्भाव**—पृथक मुस्लिम राज्य के विचार का प्रादुर्भाव इस काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। मुसलमान अब अपने आपको केवल अल्पमत ही नहीं समझते थे बल्कि एक पृथक मुस्लिम राष्ट्र भी समझने लग गये थे। सर सैयद अहमद खां ने हिन्दू और मुस्लिम राजनीतिक हितों में भेद किया था, सन् 1905 में लार्ड कर्जन ने पूर्वी बंगाल और असम के रूप में मुसलमानों को एक मुस्लिम बहुमत प्रान्त दिया था सन् 1909 में मार्ले मिन्टो सुधारों ने उन्हें पृथक निर्वाचन प्रणाली और गुरुभार पद्धति दी थी अब इकबाल ने पृथक मुस्लिम राज्य के विचार और चौधरी रहमत अली ने उसके लिए पाकिस्तान नाम को प्रस्तुत किया। दोनों इस बात का प्रचार करने लग गये कि हिन्दू और मुस्लिम दो पृथक राष्ट्र हैं उनमें शान्ति और मित्रता तभी रह सकती है यदि उन्हें पृथक राज्यों में विभक्त कर दिया जाय।

मुहम्मद इकबाल ने 1930 में लीग के इलाहाबाद अधिवेशन में कहा था कि

"मुझे कम से कम उत्तर पश्चिमी भारत के मुसलमानों का अंतिम लक्ष्य एक पूर्ण उत्तर पश्चिमी भारतीय मुस्लिम राज्य का निर्माण दिखाई देता है।" इकबाल ने ही अपनी कविताओं और लेखों के माध्यम से इस्लाम को केवल धर्म के रूप में ही नहीं अपितु एक "व्यापक राजनीतिक प्रणाली के रूप में आदर्शमय बनाने का किया मुस्लिम राष्ट्रीयता (Muslim Millat) पर बल दिया और भारत को एक "सामाजिक एकता" मानने से इन्कार कर दिया। उनकी धारणा थी कि "भारत लघु रूप में एशिया है जिसमें भिन्न-भिन्न धर्मों वाली, भिन्न भिन्न भाषाओं का प्रयोग करने वाली भिन्न भिन्न जातियां निवास करती हैं।"

पाकिस्तान शब्द की रचना चौधरी रहमत अली ने की थी। जिन प्रान्तों को वह पाकिस्तान की कल्पना में सम्मिलित करना चाहता था उन्हीं प्रान्तों के प्रथम शब्द को लेकर उसने पाकिस्तान शब्द की रचना की थी।[1] पृथक मुस्लिम राष्ट्रीय राज्य को प्राप्त करने के लिए उसने एक आन्दोलन भी शुरू किया। यद्यपि पाकिस्तान के विचार को प्रारम्भ में "बचकाना" (puerile) और "मिथ्या" (chimerical) कह कर तिरस्कृत कर दिया गया परन्तु धीरे धीरे यही विचार जोर पकड़ता गया और सन् 1931 के द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में इस पर बल दिया गया। सन 1932–33 में संयुक्त संसदीय समिति ने इस पर विचार किया, सन 1936 में जिन्ना ने मुसलमानों के लिए पृथक मातृभूमि (homeland) की मांग करना शुरू कर दिया, 17 अक्टूबर, 1937 को लीग ने "स्वतन्त्र लोकतान्त्रिक राज्यों के संघ के रूप में भारत के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग की। सन् 1933 में जिस जिन्ना ने पाकिस्तान के शब्द पर हँसी उड़ाई थी 10 अक्टूबर, 1938 को उसी जिन्ना की अध्यक्षता में सिन्ध की प्रान्तीय मुस्लिम लीग ने भारत को विभक्त कर दो पृथक संघों, मुस्लिम राज्यों के संघ और गैर मुस्लिम राज्यों के संघ में विभक्त करने की मांग की। सयद अब्दुल लतीफ और सर मुहम्मद शाहनवाज ने पृथक मुस्लिम राज्य की योजना तैयार की। चौधरी रहमत अली ने तो स्पष्ट शब्दों में इस बात का प्रचार करना शुरू कर दिया कि "हम मुसलमान हैं, हिन्दू नहीं पाकिस्तानी हैं, हिन्दुस्तानी नहीं, एशिया के निवासी हैं भारत के नहीं।"[2] 24 मार्च 1940 के लाहौर अधिवेशन में लीग ने पाकिस्तान की मांग की।

(v) जिन्ना का एकमात्र नेतृत्व—इस काल में कई घटनाओं ने जिन्ना को

---

1 पंजाब से 'P", अफगानिस्तान से "A', कश्मीर से "K", सिन्ध से "S' और बलूचिस्तान से "तान" शब्दों को लेकर पाकिस्तान शब्द की रचना की गयी थी। क्योंकि "पाक" का अर्थ पवित्र और स्तान का अर्थ स्थान या भूमि से होता है इसलिये पाकिस्तान का अर्थ पवित्र भूमि से भी लिया जा सकता है। See Gupta, D C Ibid, p 156

2 Quoted by Gupta D C, Ibid p 184

राष्ट्रीय स्तर पर एक मात्र मुस्लिम नेता बना दिया। जिन्ना के विरोधियों की मृत्यु हो गयी। हकीम अजमल खां, मौलाना मुहम्मद अली, डा० अन्सारी, सर मुहम्मद शफी और फजली हुसैन की मृत्यु हो गयी। पंजाब के सर सिकन्दर हयात खां, बंगाल के फजलुल हक और असम के सादुल्ला (Saadulah) आदि नेता प्रान्तीय स्तर के मुस्लिम नेता थे। अपनी स्थिति को सुदृढ करने और अन्य मुस्लिम संगठनों से सहयोग प्राप्त करने के लिये जिन्ना ने भूठे ढोंग रचे। डा० इक्बाल और नवाबजादा लियाकतअली खां ने जिन्ना को राष्ट्रवादी मुसलमान से मुस्लिम राष्ट्रवादी बना दिया और उनके मस्तिष्क में ये भाव पैदा कर दिये कि मुसलमानों की "मुक्ति तभी सम्भव है यदि उन्हें हिन्दू बहुमत से छुटकारा दिला दिया जाय।" जिन्ना के एकमात्र मुस्लिम नेता (या मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि) बनने का परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों के भिन्न भिन्न संगठन होते हुए भी वे जिन्ना के प्रभाव में आने लगे और लीग की पृथक्तावादी नीति का समर्थन करने लगे। यदि कांग्रेस का नेतृत्व गांधीजी के हाथों में था तो भारतीय मुसलमानों का नेतृत्व जिन्ना के हाथों में था।

(vi) **कांग्रेस विरोधी दृष्टिकोण तथा मुक्ति दिवस**—सन् 1937 के प्रान्तीय निर्वाचनों में मुस्लिम लीग की असफलता (लीग को 485 कुल मुस्लिम स्थानों में केवल 109 स्थान प्राप्त हुए थे), कांग्रेस की आश्चर्यजनक विजय प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना और यू० पी० में कांग्रेस लीग संयुक्त मन्त्रिमण्डल को निर्मित करने के प्रयासों में असफलता से जिन्ना अपना सन्तुलन खो बैठे और अपनी तथा लीग की अपमानित स्थिति को बचाने के लिये कांग्रेस विरोधी दृष्टिकोण अपनाना शुरू कर दिया। जिन्ना इस कल्पना से भयभीत हो रहे थे कि "मुस्लिम प्रतिनिधित्व बहुमत की इच्छा पर निर्भर करता है।"

प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को सत्ता प्राप्त किये हुए अभी 8 महीने हुए थे कि जिन्ना ने उन पर यह आरोप लगाना शुरू कर दिया कि "मुसलमान कांग्रेस सरकार की अधीनता में न तो न्याय की आशा कर सकते हैं और न ही सबके साथ समान व्यवहार की।' कांग्रेस पर यह आरोप लगाये गये कि वह 'सत्ता के नशे में चूर है", वह सत्ता पर "एकाधिकार" चाहती है, उसने कांग्रेसी प्रान्तों में 'हिन्दू राज' स्थापित कर दिया है, वह "अल्प संख्यकों पर छा जाना' चाहती है, उसने मुसलमानों को सरकार और सेवाओं से वंचित रखा है, हिन्दी भाषा को मुसलमानों पर थोपा गया है और उर्दू की उपेक्षा की गयी है गौ हत्या की मुस्लिम रीति में हस्तक्षेप किया है, वन्दे मातरम के गीत और कांग्रेस (हिन्दू) झण्डे के प्रति मुसलमानों को झुकना पड़ता है कांग्रेसी प्रान्तों में मुसलमानों को अपनी स्वतन्त्रता, जान, माल और सम्मान का खतरा है इन प्रान्तों में मुसलमानों के वैध अधिकारों को भी पांव तले कुचला जा रहा है।

कांग्रेसी प्रान्तों में मुस्लिम कष्टों का ढिंढोरा पीटने के लिए मीरपुर के राजा मुहम्मद मेहदी (Muhammad Mehdi) की अध्यक्षता में एक रिपोर्ट तैयार की गयी

जिसे दिसम्बर 1938 म प्रकाशित किया गया। बिहार म शरीफ रिपोट (Shareef Report) के नाम से माच 1939 मे एक अन्य रिपोट प्रकाशित की गयी। बगान के फजलुल हक ने "काग्रेस शासन मे मुस्लिम कष्टा के शीषक के अतगत एक पम्फलेट (Pamphlet) निकाला। इन रिपोर्टो और पम्फलेटो का मूल उद्देश्य काग्रेस को बदनाम करना था, उसके शासन के अतगत मुसलमाना पर ढाये गये अत्याचारो का बखान करना था तथा इस बात का प्रचार करना था कि "बहुमत के अत्याचार से बढकर और कोई बडा अत्याचार नही।"

काग्रेस को बदनाम करके मुस्लिम लीग अनेक उद्देश्या का प्राप्त करना चाहती थी। इसके माध्यम से वह साम्प्रदायिक विष का सचार करके साम्प्रदायिक दगो का भडकाना चाहती थी, मुसलमानो को काग्रेस से पृथक करना चाहती थी और मुस्लिम सगठनो को लीग के प्रभाव के अतगत लाना चाहती थी। काग्रेसी मन्त्रिमण्डला पर लीग द्वारा लगाये गय आरोप यद्यपि झूठे, मिथ्या और प्रचार मात्र थे फिर भी लीग अपन उद्देश्यो को प्राप्त करने मे सफल हुई। सन् 1938 मे होली और मुहरम के अवसर पर सकडा स्थानो पर साम्पप्रदायिक दगे हुए, अनेक मुसलमानो ने काग्रेस को छोड दिया और अनेक मुस्लिम सगठन (जमीअत उल उलेमा, अहरार, आदि) लीग के प्रभाव म आ गय। बगाल की कृषक प्रजा पार्टी और पजाव के सर सिकन्दर हयात खा के लीग मे सम्मिलित हो जाने स लीग का सम्मान बढ गया। जिन्ना ने सारे भारत का दौरा किया। राजनीतिक सत्ता म हिन्दुओ की बराबरी करने, मुस्लिम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये उसने मुसलमानो को लीग का साथ देन के लिय कहा। जिन्ना के वक्तव्या से उसके मस्तिष्क की विचारधारा स्पष्ट हो जाती है। वे कहते थे "राजनीति का अथ सत्ता की प्राप्ति होता है। न्याय, औचित्य और सद्भावना की पुकारो पर विश्वास नही किया जा सकता।"[1]

**मुक्ति दिवस**—युद्ध के प्रश्न पर जब काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने त्याग पत्र दे दिये तो लीग ने मुसलमानो को 22 दिसम्बर 1939 को "मुक्ति दिवस" मनाने की अपील की। गाधीजी ने जिन्ना से ऐसा न करने की अपील की परन्तु उस पर इसका कोई प्रभाव न हुआ। परिणामस्वरूप मुसलमानो न सारे देश मे मुक्ति दिवस को बडे धूमधाम और आनन्द से मनाया, सभाये की गयी, प्रस्ताव पास किये गये और काग्रेस शासन के अत्याचार, उत्पीडन और अन्याय से छुटकारा पाने पर सुख और चन की गहरी अनुभूति प्रकट की गयी। इस दिन लीग की शाखाओ न मुस्लिम सभाओ मे जिन प्रस्तावा को पास किया उनम मे एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि लीग काग्रेस के विरुद्ध किस सीमा तक साम्प्रदायिक विष घोल रही थी तथा मुसलमाना

---

1 Politics means power & not relying on cries of justice or fair play or good will Jinnah Quoted by Tara Chand Ibid Vol IV p 266

को किस सीमा तक हिंदुओं के विरुद्ध भड़का रही थी। एक प्रस्ताव में निम्न शब्द अंकित थे—

"कांग्रेसी सरकारों ने छोटे छोटे विषयों में भी जिला अफसरों के वैध और हर रोज के कार्यों में निरन्तर हस्तक्षेप किया जिससे मुसलमानों को गम्भीर हानि हुई और इससे एक ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया जिससे हिंदुओं में यह विश्वास उत्पन्न हो गया कि हिंदू राज की स्थापना हो गयी है। इसलिये यह सभा कई प्रान्तों में कांग्रेसी शासन की समाप्ति पर चैन की गहरी अनुभूति प्रकट करती है और इस दिन को अत्याचार, उत्पीडन और अन्याय से मुक्ति के दिवस के रूप में मनाने में आनन्द अनुभव करती है।"[1]

लीग ने ब्रिटिश सरकार को भी यह चेतावनी दी कि यदि वह युद्ध काल में मुस्लिम सहायता प्राप्त करना चाहती है तो उसे मुसलमानों को न्याय और औचित्य दिलाना चाहिये। लीग ने इस बात का भी अनुरोध किया कि ब्रिटिश सरकार लीग को भारतीय मुसलमानों की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था स्वीकार कर ले, संवैधानिक विकास के सम्बन्ध में कांग्रेस को कोई आश्वासन न दिया जाय और लीग की अनुमति और समर्थन के बिना किसी प्रकार के संविधान का निर्माण न किया जाय।

(vii) **'फूट डालो और शासन करो' की नीति का विस्तार**—इस काल में ब्रिटिश नौकरशाही ने ऐसी नीतियों का अनुसरण किया जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साम्प्रदायिक भावनाओं का विकास किया तथा साम्प्रदायिक दंगों को बढ़ावा दिया। भारतीय जातियों को विभक्त रखने के लिये 1909 के मार्ले मिन्टो सुधारों में मुसलमानों के लिये पृथक निर्वाचन प्रणाली और गुरुभार पद्धति को शुरू किया, 1919 के माण्टफोर्ड सुधारों ने इसका विकास करके इस पृथकतावादी नीति को सुदृढ़ किया। 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत निर्वाचन पद्धति 17 वर्गों, हितों और जातियों में विभक्त थी। भारतीय जातियों में संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे के विकास को अवरुद्ध करने के लिये एकता सम्मेलनों को असफल करने का प्रयास किया। उदाहरणतया वायसराय ने 1930–31 के गोल मेज सम्मेलनों में भाग लेने के लिये जिन मुस्लिम प्रतिनिधियों को नियुक्त किया वे अपने आपको मुसलमान समझते थे, भारतीय नहीं। दूसरे 3 नवम्बर, 1932 को इलाहाबाद में हुआ एकता सम्मेलन इसलिये असफल हुआ कि सेमुअल होर ने केन्द्रीय विधान सभा में मुसलमानों को 33⅓% प्रतिनिधित्व देने की घोषणा कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के साथ सहयोग करने के स्थान पर मुस्लिम अपने ब्रिटिश संरक्षकों का साथ देने लगे। तीसरे, ब्रिटिश नौकरशाही साम्प्रदायिक दंगों का दमन करने में या तो उदासीन रही या उन्हें बढ़ा चढ़ा कर प्रकाशित किया, चौथे 1932 के मैकडानल्ड पंचाट ने हिन्दुओं को विभक्त करने के लिये दलित वर्गों के लिये भी पृथक निर्वाचनों का

1 See Banerjee The making of Indian Constitution p 9

व्यवस्था की। जैसाकि ताराचन्द ने लिखा है कि "भारत की स्वतन्त्रता की आकांक्षाओ के प्रति मेकडोनल्ड पचाट से अधिक और कोई हानिकारक वाय नहीं है।"[1] वायसराय लार्ड लिनलिथगो और भारत सचिव जेटलैण्ड के क्रमश 17 अक्टूबर, 1939 और 2 नवम्बर, 1939 के वक्तव्यो ने मुस्लिम लीग को बढावा ही नहीं दिया अपितु उसे भारतीय मुसलमानो की एकमात्र प्रतिनिधि सस्था स्वीकार कर लिया, काग्रस को हिन्दू सस्था बना दिया और दोनो सगठना का बराबरी का दर्जा देकर मुस्लिम लीग के हाथो मे सवधानिक वीटो प्रदान कर दिया। अग्रेजा के व्यवहार से मुस्लिम लाग को विश्वास हो गया था कि अग्रेज शासको का साथ देकर वे उनसे मनचाही रियायतें प्राप्त कर सकते थे तथा काग्रेस मागा को अवरुद्ध करा सकती थी। जिन्ना की वायसराय से नित्य भेंटो न जहा उसके सम्मान को बढा दिया वहा अन्य मुस्लिम सगठनो को लीग के प्रभाव मे भी ला दिया।

**चौथा काल (1940–1947)**—इस काल की साम्प्रदायिक घटनायें तथा अन्तत पाकिस्तान का निर्माण प्रथम, द्वितीय एव तृतीय काल की घटनाओ का स्वाभाविक एव अनिवाय परिणाम थी। जसाकि मेहता और पटवधन ने लिखा है कि "पृथक मत, पृथक निवाचन मण्डल, पृथक प्रान्त और रक्षा कवच सबकी माग की जा चुकी थी और उन्हे पूरा भी किया जा चुका था। अगला तकसगत कदम पृथक राज्य का माग थी।"[2] इस काल की प्रमुख घटनाओ का निम्न बिन्दुओ म व्यक्त किया जा सकता है —

(i) पृथक राज्य की माग—लाहौर प्रस्ताव
(ii) द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त
(iii) सवधानिक गतिरोध
(iv) सीधी कायवाही दिवस
(v) माउण्टबेटन योजना तथा पाकिस्तान की स्वीकृति

(i) **लाहौर प्रस्ताव**—24 माच, 1940 का लाहौर अधिवेशन म लीग ने पाकिस्तान के प्रस्ताव को पास किया। इसम कहा गया था कि "अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का यह विचार है कि इस देश के लिये कोई भी सवधानिक योजना तभी व्यवहाय या मुसलमाना को तभी स्वीकृत हो सकती है जब तक उसे निम्न सिद्धान्त पर आधारित नहीं किया जाता अर्थात् भौगोलिक दृष्टि से निकटवर्ती इकाइयो को क्षेत्रा म सीमांकित कर दिया जाय। यदि आवश्यकता हो तो क्षेत्रीय व्यवस्थाओ द्वारा इन्हे इस तरह सगठित किया जाय कि जिन क्षेत्रा म मुसलमाना की सख्या अधिक है जसाकि भारत के उत्तर-पश्चिम और पूर्वी क्षेत्रो म उन्हे मिलाकर

---

1 Tara Chand Ibid Vol IV p 182
2 Mehta and Patwardhan The Communal Triangle, p. 119.

एक स्वत त्र राज्य का निर्माण कर दिया जाय। इसके अवयव स्वायत्त और सम्प्रभु होंगे।"

लीग के लाहौर प्रस्ताव मे यह भी कहा गया था कि अल्पमत वालो के धार्मिक, सास्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक तथा अन्य अधिकारो की रक्षा के लिय सविधान म पर्याप्त, प्रभावयुक्त और अधिदिष्ट (प्रादेशिक) (adequate, effective and mandatory) सरक्षण होने चाहिय अर्थात पाकिस्तान म गर मुस्लिम अल्पमत और भारत म मुस्लिम अल्पमत के लिये सवधानिक सरक्षणा की व्यवस्था होनी चाहिय।

(ii) द्वि राष्ट्र सिद्धा त—पृथक मुस्लिम राज्य (पाकिस्तान) की माग की पूर्ति के लिय जिन्ना न द्वि-राष्ट्र सिद्धा त का प्रतिपादन किया और इस बात का ढिंढोरा पीटना शुरू कर दिया कि विभिन्न राष्ट्रीयताओ को एक स्वत त्र राज्य के अ तगत बलात रखना अनुचित है। उन्होंने इस बात का प्रचार किया कि भारत के मुसलमान केवल अल्पमत ही नही बल्कि पृथक राष्ट्र भी है। उनकी सस्कृति और सभ्यता भिन्न है। इनका सामाजिक जीवन, रीतिया और प्रथायें भिन्न हैं। उनकी मान्यतायें भिन्न हैं। उनकी राजनीतिक सामाजिक आर्थिक, आदि आकाक्षायें भिन्न है। जिन्ना के शब्दो मे "शाब्दिक अर्थों मे इस्लाम और हिन्दू धम धम नही है बल्कि य दो भिन्न और स्वतन्त्र सामाजिक व्यवस्थायें हैं हिन्दू और मुस्लिम भिन्न धार्मिक सिद्धान्तो, सामाजिक रीतिया और साहित्य से सम्बन्धित हैं। उनम न तो अ तजातीय विवाह होत है और न ही वे इकट्ठे भोजन करत ह। वस्तुत व भिन्न और विरोधी विचारा वाली सभ्यताओ से सम्बन्ध रखते हैं। जीवन के सम्बन्ध म उनकी मान्यतायें भिन्न ह। इतिहास के भिन्न भिन्न स्रोता मे वे प्रेरणा प्राप्त करते ह। उनके महा काव्य भिन्न है। उनके वीर भिन्न हैं। उनकी पुरातन कथायें भिन्न हैं, प्राय एक का वीर दूसरे का शत्रु है। इसी तरह एक की विजय और पराजय दूसरे की विजय और पराजय को आच्छादित (Overlap) करती है। दो ऐसे राष्ट्रो को एक राज्य के अन्तगत सगठित करना जिसम एक अल्प सख्या मे हो और दूसरा बहुमत म, असन्ताप को जन्म देगा जो अ तत ऐसे राज्य के लिये निर्मित किये गय किसी भी सरकार के ढाचे को नष्ट कर देगा। मुसलमान एक अल्पमत नही वह एक राष्ट्र है और उन्ह अवश्य ही अपनी मातृभूमि, अपना क्षेत्र और अपना राज्य प्राप्त होना चाहिय।"[1]

जिन्ना के उपर्युक्त सिद्धान्त के प्रतिपादन के बाद लीग के कट्टर मुस्लिम सदस्या न अपने आपको "स्वत एक राष्ट्र मान लिया। अजमलखाँ का मत था कि "भारत एक देश नही है बल्कि उसम अनेक देश हैं। इसलिय उसे अनेक राष्ट्रा म विभक्त समझना चाहिय।' सन् 1941 क मद्रास अधिवेशन म जिन्ना ने स्पष्ट शब्दा

1 Quoted by Chatterji, Amiya The Constitutional Development of India 1937–47, p 52

मे कहा था कि "मुस्लिम लीग का उद्देश्य उत्तर पश्चिमी तथा पूर्वी प्रदेशो म स्वतन्त्र राज्य की स्थापना है। हम किसी भी दशा मे ऐसा सविधान स्वीकार नही करेंगे जो समस्त भारत के लिये एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना करता हो।"

**द्वि राष्ट्र सिद्धा त की आलोचना**—द्वि राष्ट्र सिद्धा त, जिस पर पृथक मुस्लिम राज्य (पाकिस्तान) की माग आधारित थी किसी भी दृष्टि से उचित नही था। यह तर्क विहीन, अशुद्ध अनुचित असगत एव झकझी विचार था। प्रथम, इसका कोई ऐतिहासिक आधार नही था। भारत की जातियो मे धार्मिक भिन्नता होते हुए भी उनमे अनेक समान तत्त्व विद्यमान थे जैसे समान भाषा, समान निवास स्थान, मामा य सस्कार आदि। पजाब मे क्या हिन्दू, क्या सिक्ख, क्या मुसलमान सभी प्रादेशिक भाषा पजाबी बोलते थे। बगाल के सभी निवासी बगाली भाषा का प्रयोग करते थे। सन् 1971 मे बगला देश के निर्माण ने द्वि-राष्ट्र सिद्धा त की तर्कहीनता को स्पष्ट कर दिया। दूसरे, इसका कोई धार्मिक आधार भी नही था। वतमान आधुनिक राज्य धार्मिक सहिष्णुता पर आधारित हैं धार्मिक कट्टरता पर नही। उदाहरणतया कनाडा मे ब्रिटिश और फ्रच दो राष्ट्रीयतायें निवास करती हैं, चेकोस्लावाकिया मे चक्स और स्लोवाक्स है। रूस तो बहु राष्ट्रीय राज्य है। यदि राज्यो का जाति या धर्म पर आधारित किया जाय तो इन देशो को अनेक देशो मे विभक्त करना होगा जो उनकी सुरक्षा और आर्थिक सम्पन्नता के लिये हानिकारक होगा। तीसरे आर्थिक दृष्टिकोण से भी यह सिद्धान्त हानिकारक था। चौथे, भौगोलिक दृष्टिकोण से भी यह विचार दुर्बल था क्योकि उत्तर पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान के दो भागो के बीच भारत की विस्तृत भूमि पडती थी। पाचवें, यह साम्प्रदायिक समस्या का सही हल नही था। जिन्ना तथा मुस्लिम लीग के अनुयायी इस बात को समझ ही नही सके कि पृथक मुस्लिम राज्य के निर्माण के बाद भी दोनो देशो मे अल्पसख्यको की समस्या बनी रहेगी। छठे, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी यह सिद्धा त गलत था। इसने जातीय सहिष्णुता का जन्म देने के स्थान पर जातीय वमनस्य, घृणा, द्वेष और ईर्ष्या को जन्म दिया। सातवें लीग को छोड कर अन्य मुस्लिम सगठन इसके पक्ष मे नही थे। खान बहादुर अल्लाबक्श को, जिन्होने 1940 मे दिल्ली मे स्वतन्त्र मुस्लिम सम्मेलन की अध्यक्षता की इसमे विश्वास नही था जमीयत-उल उलेमा ए हिन्द 'राष्ट्रीय दृष्टि से प्रत्येक मुसलमान को भारतीय मानती थी, अहरार मोमिन और खुदाई खिदमतगार पाकिस्तान के विरोधी थे। सक्षेप मे, जसाकि मौलाना आजाद ने लिखा है कि यह सिद्धा त 'जितनी समस्यायें सुलझाता है उससे अधिक उत्पन्न करता है।'[1]

(iii) **सवधानिक गतिरोध**—जैसे-जैसे समय गुजरता गया जिन्ना ने पाकिस्तान के प्रश्न पर कठोर, हठधर्मी और लडाका दृष्टिकोण अपनाना शुरू कर दिया। उनके लिये पाकिस्तान की प्राप्ति "जीवन मरण का प्रश्न" बन गया। उसने कहना शुरू कर दिया कि 'हम या तो पाकिस्तान प्राप्त करेंगे या हम नष्ट हो जायेंगे।" काग्रेस के 1942 के भारत छोडो आन्दोलन को जिन्ना अग्रेजो के विरुद्ध नही मानते थे

1 Azad Maulana Abul Kalam India wins Freedom p 142

वलिक मुसलमानो के विरुद्ध मानते थे। जब कांग्रेसी नेता, भारत छोडो आन्दोलन के सन्दर्भ मे, जेलो मे थे तो लीग ने प्रान्तीय गवर्नरो के प्रोत्साहन और अन्य मुस्लिम दलो के सहयोग से 5 प्रान्तो मे (पंजाब, बंगाल, असम, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और सिन्ध मे) लीगी सरकारो का निर्माण किया। पाकिस्तान के दोनो भागो को जोडने के लिये जिन्ना भारत से गलियारे (Corridor) की माग करने लगे। यही कारण है कि जब संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिये अनेक योजनायें प्रस्तुत की गई (1942 के क्रिप्स प्रस्ताव, 1944 की राजगोपालाचार्य योजना, 1946 की कैबिनट मिशन योजना आदि तो लीग और जिन्ना की हठधर्मिता के कारण व असफल हो गयी। अन्तरिम सरकार की असफलता का मूल कारण भी लीग का असहयोगपूर्ण व्यवहार और साम्प्रदायिक हठधर्मिता थी।

(iv) **सीधी कार्यवाही दिवस**—जब लीग अपने पाकिस्तान के उद्देश्य को संवैधानिक साधनो द्वारा प्राप्त न कर सकी तो उसे प्राप्त करने के लिये उसने सीधी कार्यवाही (Direct Action) का सहारा लिया और 16 अगस्त, 1946 को सारे भारत मे सीधी कार्यवाही दिवस के रूप मे मनाया। इससे जिस साम्प्रदायिक ताण्डव को उत्तेजित किया उससे सारे भारत की आस्था हिल गई। जब लीग ने संवैधानिक सभा की बैठकों का बहिष्कार कर दिया तो विभाजन अनिवार्य प्रतीत होने लगा।

(v) **माउन्ट बेटन योजना तथा पाकिस्तान की स्वीकृति**—3 जून 1947 की माउण्ट बेटन योजना की व्यवस्था को 4 जुलाई, 1947 के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने स्वीकार कर लिया और इस तरह "भारत" तथा पाकिस्तान" के दो पृथक अधिराज्यों का निर्माण 15 अगस्त, 1947 को हुआ।

विभाजन भारत की साम्प्रदायिक समस्या का पूर्ण समाधान न कर सका। पाकिस्तान मे गैर मुस्लिम सदस्यो के साथ जो अमानुषिक व्यवहार किया गया वह हिटलर के यहूदियो के साथ किये गये व्यवहार से कम नही था। पाकिस्तान से निकलने के लिये गैर मुस्लिम सदस्यो को बाध्य किया गया, उनकी हत्यायें की गई, उनकी स्त्रियो का अपहरण किया गया, बच्चो से अमानुषिक व्यवहार किया गया, उनकी सम्पत्ति को लूटा गया, उनके घरो को जलाया गया आदि। इस सबकी प्रतिक्रियायें भारत मे भी हुई।

दुर्भाग्य की बात यह है कि पाकिस्तान की नीति आज भी भारत विरोधी धारणा और हिन्दुओ से घृणा पर आधारित है। पाकिस्तान भारत विरोधी प्रचार उगलता है साम्प्रदायिक दंगो को भडकाता है भारत विरोधी देशो से आर्थिक और सैनिक सहायता प्राप्त कर तनाव और युद्ध की स्थिति बनाये रखता है। साम्प्रदायिक घृणा द्वारा उत्पन्न पाकिस्तान को उसी घृणा पर स्थायित्व देने का प्रयास किया गया है जो इस उप महाद्वीप मे अशान्ति का कारण है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत की साम्प्रदायिक समस्या का प्रादुर्भाव, पोषण और विस्तार ब्रिटिश शासकों ने किया, भारत की भिन्न भिन्न जातियां सर्व ...ता के दायरे मे बाहर न निकल सकी, लीग की हठधर्मिता और जिन्ना का

लडाका स्वभाव तथा कांग्रेस की लीग के प्रति तुष्टिकरण की नीति और नेताओं के असामयिक और अविवेकपूर्ण वक्तव्य इस समस्या का समाधान न कर सके। अन्त म नेताओं की सत्ता से चिपके रहने की अभिलाषा ने भारत के विभाजन को अनिवार्य बना दिया।

## समीक्षा–प्रश्न
## (Review Questions)

1 "देश के प्रति प्रेम के स्थान पर जाति के प्रति प्रेम का प्रभाव सर सय्यद अहमद खा पर अत्यधिक पडा और उसने कांग्रेस के प्रति खुला विरोध या दृष्टिकोण अपना लिया।" इस कथन के सन्दर्भ म सर सय्यद अहमद खा की साम्प्रदायिकता के विकास मे भूमिका की समीक्षा कीजिये और इस बात का भी उल्लेख कीजिये कि ऐसा क्यो कर हुआ।

2 सन् 1906 मे मुस्लिम लीग की स्थापना के क्या कारण थे? मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विकास मे इसकी क्या भूमिका थी?

3 सन् 1906 से 1940 तक के वर्षों म मुस्लिम सम्प्रदायवाद के भिन्न भिन्न चरणो की विवेचना कीजिये।

4 "फूट डालो और शासन करो" इस कथन के सन्दर्भ मे भारतीय राजनीति म मुस्लिम साम्प्रदायवाद की भूमिका का विवेचन कीजिये। क्या ब्रिटिश की यही नीति मुस्लिम साम्प्रदायिकता के लिये उत्तरदायी थी?

5 "पृथक चुनाव क्षेत्रो और गुरुभार पद्धति न भारत मे सच्चे लोकतन्त्र के विकास मे बाधा प्रस्तुत की।" व्याख्या कीजिये।

6 भारत म मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विकास की परिस्थितिया का वर्णन कीजिये। इसके लिये आप किस सीमा तक ब्रिटिश नीतियो को उत्तरदायी मानते हैं? कारण सहित उल्लेख कीजिये।

7 "जिन्ना की हठधर्मिता" और "कांग्रेस की तुष्टिकरण की नीति" पाकिस्तान के निर्माण के लिये उत्तरदायी थी। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? कारण लिखिये।

8 "अपने विख्यात चातुर्य से जिसने हाल तक उनकी कूटनीति को विश्व मे सर्वाधिक शक्तिशाली बना दिया था, ब्रिटिश शासको ने अपने को हिन्दुओ और मुसलमानो के मध्य मे रखकर एव साम्प्रदायिक निकाय की रचना करने का निश्चय किया जिसके वे आधार बने" (मेहता और पटवर्धन) क्या आप इस कथन से सहमत हैं? उन परिस्थितियो का वर्णन कीजिये जो भारत म मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विकास के लिये उत्तरदायी थी।

9 "हालात की मजबूरी थी और यह महसूस किया गया कि जिस मार्ग पर हम अनुसरण कर रहे है, इसके द्वारा गतिरोध को हल नहीं किया जा सकता। (नेहरू) इस कथन को दृष्टि म रखते हुए उन कारणो का उल्लेख कीजिये जिन्होंने पाकिस्तान की स्थापना को अपरिहार्य बना दिया।

अध्याय 7

# कुछ प्रमुख राष्ट्रीय नेता

## (Some Main Nationalist Leaders)

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अनेक प्रमुख नेता हुये हैं जैसे गोखले, तिलक, विपिन चन्द्रपाल, लाला लाजपतराय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, अरविन्द घोष, मदन मोहन मालवीय, देशबन्धु चितरंजनदास, महात्मा गांधी मोतीलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल मौलाना आजाद, डा० राजेन्द्र प्रसाद, आदि। सर्वश्री तिलक, गोखले और लाला लाजपतराय का उल्लेख अध्याय 2 में कर दिया गया है। यहां केवल गांधी, नेहरू और बोस का हाल ही उल्लिखित किया जा रहा है।

### 1 महात्मा गांधी[1] (1869–1948)
### (Mahatma Gandhi 1869–1948)

महात्मा गांधी वर्तमान भारत के सर्वोत्तम नेता थे। वे राष्ट्र निर्माता, मुक्ति दाता, सन्त, समाज सुधारक, अहिंसा के पुजारी और राजनीतिज्ञ थे। जे० एच० होम्स (J H Holmes) ने उनकी तुलना अल्फ्रेड, वैलिस, वाशिंगटन और लफट जैसे महान राष्ट्र निर्माताओं से की है, उन्होंने कर्लाक्मन, किसजकोस गरिसन और लिंकन की भांति दासता से मुक्ति दिलाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वे सन्त फ्रांसिस, थोरो और टालस्टाय की भांति अहिंसा के उपदेशक थे और बुद्ध, ईसा और अरस्तु की भांति आध्यात्मिक नेता भी थे।

गांधीजी ने अपना राजनीतिक जीवन दक्षिण अफ्रीका में शुरू किया जहां वे किसी मुकदमे की पैरवी करने के लिये गये थे। वहीं पर उन्होंने भारतीयों की दशा को सुधारने के लिये सत्याग्रह के अस्त्र का प्रयोग किया जो बाद में भारतीय राजनीतिक जीवन का एक अभिन्न अंग बन गया। दक्षिण अफ्रीका में उनकी सबसे बड़ी

---

1 गांधीजी का पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गांधी था। वे राजकोट के दीवान श्री करमचन्द के पुत्र थे। उनका जन्म काठियावाड़ में पोरबन्दर नगर में 2 अक्टूबर, 1869 को हुआ था। उनकी मृत्यु 30 जनवरी, 1948 को नाथूराम गोडसे की गोली से हुई।

सफलता एशियाटिक रजिस्ट्रेशन ऐक्ट (Asiatic Registration Act) की वापसी थी। सन् 1915 म भारत लौटकर उन्होने युद्ध प्रयासो मे ब्रिटिश सरकार की तन मन धन से सेवा की। इसी काल मे उन्होने अहमदाबाद के निकट साबरमती आश्रम की स्थापना की, चम्पारन मे नील की खेती करने वाले किसानो, अहमदाबाद के मजदूरो और गुजरात के किसानो (खेडा सत्याग्रह) की शिकायतो को दूर कराने मे सफलता प्राप्त की। सन् 1920 मे लोकमान्य बाल गगाधर की मृत्यु के बाद गाधीजी भारतीय राजनीति के मुख्य कर्णधार बन गये और जीवन पर्यन्त वे काग्रेस के "बे ताज बादशाह' बने रहे।

गाधीजी ने भारत मे अनेक प्रकार के अहिंसक आन्दोलनो का सचालन किया। वस्तुत 1920 से 1947 तक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास गाधीजी के सत्याग्रह आन्दोलनो का इतिहास रहा है। सर्वप्रथम जलियावाला बाग हत्याकाण्ड, रौलट विधेयको और खिलाफत के प्रश्न को लेकर 1920–22 मे असहयोग आन्दोलन का सचालन किया, 1930 34 मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सचालन किया। गाधीजी की "डण्डी यात्रा" की तुलना तो नेपोलियन की "पेरिस यात्रा" मुसोलिनी की "रोम यात्रा" और श्री रामचन्द्र की लका पर चढाई से की गयी है। सन् 1932 मे गाधीजी ने मैकडोनल्ड पचाट (साम्प्रदायिक पचाट) के विरुद्ध आमरण व्रत रखा, 1940 मे गाधीजी के नेतृत्व मे व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया गया, 1942 मे उन्होने "भारत छोडो" आन्दोलन का सचालन किया, 1945–46 मे हिन्दू मुस्लिम एकता स्थापित करने के लिये गम्भीर प्रयास किये, अन्त मे उन्ही के नेतृत्व म भारत को 1947 मे स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। सक्षेप मे, 1920 से 1947 तक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर गाधीजी का एक मात्र नियत्रण और निर्देशन रहा। अत इस काल को ठीक ही 'गाधी काल" की सज्ञा दी जाती है।

## राष्ट्रीय आन्दोलन को गाधीजी का योगदान
## (Contribution of Gandhi to the National Movement)

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास मे अनेक 'उदारवादी, उग्रवादी, क्रातिकारी आदि नेता हुए हैं और प्रत्येक ने इसमे अद्वितीय भूमिकायें निभाई हैं परन्तु गाधीजी के योगदान की विशेषता यह थी कि एक बार राजनीति मे आने के बाद उस पर उनका प्रभाव बढता ही गया, राष्ट्रीय सग्राम के हर चरण म उन्होने इसे नई प्रेरणाओ से स्फुरित किया, उसे नई दिशायें प्रदान की, उसमें नय साहस, भावनाओ और आशाओ का सचार किया। यद्यपि यह कहना बहुत कठिन है कि केवल गाधीजी के प्रयासो से ही भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई परन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के ऐसे सर्वोत्तम सेनानी थे जिनका प्रभाव काग्रेस पर, भारतीय जन मानस पर और ब्रिटिश शासको पर अत्यधिक था। जिन महान् अहिंसक, सत्याग्रही आन्दोलनो का सचालन उन्होने

किया उनका विश्व जन आन्दोलनो के इतिहास म कोई दूसरा उदाहरण नही मिलता । वे काग्रेस के "वेताज" बादशाह (Uncrowned King) थे ।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति गाधीजी के योगदान को निम्न शीर्षको के अन्तगत अभिव्यक्त किया जा सकता है —

**1 राष्ट्रीय आन्दोलन को व्यापक रूप प्रदान किया**—राष्ट्रीय आन्दोलन को गाधीजी की सर्वोत्तम देन यह है कि उन्होने इसे व्यापक रूप प्रदान किया । जो आन्दोलन अभी तक बुद्धिजीवियो और मध्यम वग तक सीमित था गाधीजी ने उसे जन आन्दोलन का रूप दिया, काग्रेस अब बुद्धिजीवियो की जमात नही रही थी वह सावजनिक सस्था बन गयी थी, काग्रेस के उद्देश्य केवल गृह शासन तक सीमित नही थे, वह अब पूण स्वतन्त्रता की प्राप्ति चाहती थी । गाधीजी द्वारा सचालित असहयोग, सविनय अवज्ञा, व्यक्तिगत सत्याग्रह और भारत छोडो जसे आन्दोलनो ने प्रत्येक नगर और गाव, प्रत्येक परिवार और व्यक्ति को प्रभावित किया था । इन आन्दोलनो ने ही राष्ट्रीय आन्दोलन को गति और तीव्रता प्रदान की । सवसाधारण नागरिक जो अभी तक दशक, तमाशबीन या स्रोता थे वे अब सत्याग्रहियो की पक्तिया मे शामिल हो गये ।

**2 राष्ट्रीय आन्दोलन को निश्चित राजनीतिक ध्येय प्रदान किया**—गाधी से पूव के राष्ट्रीय नेता स्वतन्त्रता के इच्छुक थे परन्तु उनके पास निश्चित कायक्रम का अभाव था । उदाहरणतया उदारवादी स्वशासित उपनिवेश राज्य से सन्तुष्ट थे, उग्रवादी स्वराज्य, स्वशासन स्वदशी, और राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करते थे परन्तु उनके पास क्रातिकारी कायक्रम की स्पष्ट रूपरेखा नही थी । गाधीजी ही ऐसे राष्ट्रीय नेता थे जिन्होने परिस्थितियो का अध्ययन करते हुए राष्ट्रीय उद्देश्य प्रदान किये और उनकी प्राप्ति के लिये ऐसे साधन प्रस्तुत किये जिसमे उदारवादियो, उग्रवादियो और क्रातिकारियो के साधनो का सश्लेषण था ।

**3 सवसाधारण मे साहस, निडरता और निभयता का सचार किया**—गाधी जी ने सवसाधारण म उस समय साहस निडरता और निभयता का सचार किया जिस समय लोगो म गला घुटन वाला भय सवत्र विद्यमान था । गाधीजी ने ही अन्यायिक और अत्याचारी नीतियो का विरोध करन के लिये लोगो म साहस पदा किया । यह गाधीजी द्वारा स्फुरित प्रेरणा और साहस का ही फल था कि सत्याग्रही नगी सगीनो की भूख और प्यासी तोपो की प्यास बुझाने के लिय अपनी छातिया खोल देते थे, सत्याग्रहियो के लिय कारागार दु स्सह्य और अपमानजनक नही रह गये थे । कायरता उनसे कोसो दूर भाग गयी थी, त्याग, कष्ट, और बलिदान उनके नित्य के आहार बन गये थे । जैसाकि वाइकाउण्ट सेम्युअल न लिखा है कि गाधीजी न भारतीयो को 'अपनी कमर सीधी करना सिखाया, अपनी आँखें ऊपर उठाना सिखाया और अविचल दृष्टि से परिस्थितियो का सामना करना सिखाया ।" सक्षप मे, गाधीजी न भारतीयो म आत्म सम्मान की भावना पदा कर दी ।

**4 नैतिक साधनो द्वारा राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति**—भारतीय राष्ट्रीय आ दोलन को ही नहीं, अपितु राजनीति शास्त्र को गाधीजी की मूल्यवान देन यह है कि उन्होंने "नतिक शक्ति को पशु शक्ति के विकल्प के रूप म प्रस्तुत किया। अभी तक यही समझा जाता था कि अयाय, अत्याचार और दमन से छुटकारा केवल पशु शक्ति द्वारा ही पाया जा सकता है परन्तु गाधीजी ने दक्षिण अफ्रीका और भारत मे यह सिद्ध कर दिया कि नतिक शक्ति द्वारा भी अयाय, अत्याचार और दमन से छुटकारा पाया जा सकता है। गाधीजी ने अहिंसा और सत्याग्रह के अस्त्रा (हडताल, धरना, हिजरत, असहयोग, सविनय अवज्ञा और उपवास) को पाशविक अस्त्रो के विकल्प के रूप म प्रस्तुत किया। उनका यह पूर्ण विश्वास था और उ होने चम्पारन और खेडा म यह सिद्ध भी किया कि शासन जनता के सहयोग पर निभर करता है और क्रूर से क्रूर शासक भी जनता के सहयोग की उपेक्षा नही कर सकता। गाधीजी पशु शक्ति का सामना आत्मा की शक्ति मे करते थे। उनका यह अस्त्र विरोधी के खून या दु ख से नही रगा होता था बल्कि स्वय के खून और दु ख से रगा होता था। गाधीजी के अहिंसक अस्त्र की विशेषता यह थी कि वे इसका प्रयोग करने से पूव विरोधी को इसकी सूचना दे देते थे। डा० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है कि "इतिहास म कम ही एसे महारथी मिलत है जो गाधी की तरह सघप प्रारम्भ करने से पूव ही शत्रु को अपन युद्ध कौशल और युद्ध विधि से परिचित करवाते रह हा।"

**5 साध्य साधन की पवित्रता**—गाधीजी की विशेपता यह है कि उ होने साध्य और साधन मे कोई भिन्नता नही थी। उनका कहना था कि केवल साध्य ही नतिक, पवित्र, शुद्ध और उच्च नही होने चाहिये बल्कि उनकी प्राप्ति के लिये साधन भी नैतिक पवित्र, शुद्ध और उच्च होने चाहिये। गाधीजी दोना को अविभाज्य मानते थे। व कहते थे कि "साधन एक बीज की तरह है और साध्य एक पेड यदि कोई व्यक्ति साधना का ध्यान रखता है तो साध्य स्वय अपना ध्यान रखेगा।" गाधीजी इस सिद्धात मे विश्वास नही करते थे कि "साध्य साधनो का औचित्य है।" वे कहते थे कि यदि पवित्र साध्य के लिये पवित्र साधन उपलब्ध नही तो उस साध्य का त्याग देना ठीक है।" वे कहते थे कि "अहिंसा की स्थापना हिंसा म नही हो सकती।" यही कारण है कि वे "अहिंसा और सत्य के लिय देश को होमने के लिये तयार थे, देश के लिये अहिंसा और सत्य को नही।" राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम म गाधीजी ने किसी स्तर पर भी हिंसक साधनो का प्रयोग तो दूर उनकी कल्पना भी नहीं की। यही कारण है कि जब 1922 मे असहयोग आ दोलन अपनी चरम सीमा मे था गाधीजी ने चौरी चौरा काण्ड के प्रश्न पर, अपन नेतृत्व का खतरा मोल लेकर भी, उसे स्थगित कर दिया।

**6 राजनीति का आध्यात्मीकरण**—गाधीजी की एक विशेपता यह है कि उ होने राजनीति का आध्यात्मीकरण किया अर्थात् राजनीति को धम अर्थात् सत्य और अहिंसा पर आधारित किया। जहा मैक्यावली, हॉब्स और मार्क्स न धम को

राजनीति से पृथक किया वहा गाधीजी के लिये "धम रहित राजनीति एक मौत का फदा है क्योकि वह आत्मा का हनन करती है।" परन्तु उनका धम किसी कमकाण्ड से सम्बन्धित नही था बल्कि "मानव धम पर आधारित था। गाधीजी ने इस बात का खण्डन किया कि 'राजनीति तो राजनीति है' या 'व्यापार तो व्यापार है' और उनमे नीति अर्थात् धम की आवश्यकता नही। गाधीजी कहते थे कि "यदि किसी की सम्पत्ति को हस्तगत करना अनतिकता है, पाप है, चोरी है तो राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र की भूमि हस्तगत करना भी अनतिकता है, पाप है, चोरी है।'

7 **साम्प्रदायिक एकता**—गाधीजी हिन्दू मुस्लिम एकता के पुजारी थे और अनेक बार तो उन्होंने साम्प्रदायिक एकता उत्पन्न करने के लिय अपने जीवन की बाजी भी लगायी। उन्होने सन् 1924 मे हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये 21 दिन का व्रत रखा, 1932 मे उन्होने साम्प्रदायिक पचाट के विरुद्ध आमरण व्रत रखा। 1946 मे 'सिधि कायवाही दिवस के फलस्वरूप जो साम्प्रदायिक दगे हुए, उन्ह शान्त करने के लिये उन्होंने नोआखली (Noakhali) मे अकेले पदल यात्रा की।

8 **राष्ट्र निर्माण तथा समाज सुधार का कायक्रम**—गाधीजी ने राष्ट्र के समक्ष आर्थिक और सामाजिक सुधारो के लिये अनेक रचनात्मक कार्यों को प्रस्तुत किया। स्वदेशी, खादी और चरखा द्वारा वे केवल जन जागृति ही पदा नही करना चाहते थे बल्कि लाखो लोगो के रोजगार की व्यवस्था भी करना चाहते थे। कुटीर उद्योगो, ग्रामोद्योगो द्वारा वे लोगो की आर्थिक दशा सुधारना चाहते थे। उन्होने छुआछूत, जाति पाति तथा साम्प्रदायिक भावनाओ और नशाखोरी को बन्द करान के प्रयास किये। स्त्रियो के सुधार द्वारा वे समाज सुधार की अपेक्षा करते थे उनकी बुनियादी शिक्षा व्यावसायिक शिक्षा पर आधारित थी।

9 **अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के समथक**—गाधीजी महान राष्ट्रीय नेता थे परन्तु उनका राष्ट्रवाद उदारवाद, मानवतावाद और विश्व बन्धुत्व पर आधारित था। गाधीजी स्वावलम्बन पर बल देते थे परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पारस्परिक निभरता को आवश्यक समझते थे। गाधीजी कहते थे कि 'एक व्यक्ति का राष्ट्रवादी हुए बिना अन्तर्राष्ट्रीयतावादी होना असम्भव है। राष्ट्रीयतावाद कोई बुराई नही है बुराई तो सकीर्णता, स्वाथ एव एकाकीपन की व भावनायें हैं जिनसे आज सारे राष्ट्र ग्रस्त है। मेरा राष्ट्रीयतावाद के विषय म विचार यह है कि मेरा देश मानव जाति के जीवन के लिये मर सके। अत गाधीजी साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद रग भेद और आक्रामक राष्ट्रवाद के विरोधी थे।

उपयुक्त वणन से स्पष्ट है कि गांधीजी की राष्ट्रीय आन्दोलन को अनेक मूल्यवान देन थी। उन्होंने हिंसा के स्थान पर अहिंसा, शत्रुता के स्थान पर मित्रता, घृणा के स्थान पर प्रेम कायरता के स्थान पर साहस और निडरता, जातीय भेदभाव के स्थान पर एकता और निराशा के स्थान पर आशा की भावनायें पदा की।

उन्होंने ही साध्य साधन की पवित्रता पर बल दिया और राजनीति का आध्यात्मीकरण किया।

## अहिंसा और सत्याग्रह पर गांधीजी के विचार
## (Gandhi's views on Non Violence and Satyagrah)

**अहिंसा पर विचार**—गांधीजी सत्य और अहिंसा को एक ही चीज मानते थे। उनके लिये दोनों एक ही धातु के दो पहलू हैं जिसके एक तरफ तो सत्य है और दूसरी तरफ अहिंसा। दोनों अविभाज्य है। गांधीजी के शब्दों में "अहिंसा वह ज्योति है जिसके द्वारा मुझे सत्य के दर्शन होते हैं।' अहिंसा ही सत्येश्वर का दर्शन करने का सीधा और छोटा मार्ग है।

गांधीजी अहिंसा के नकारात्मक अर्थ के स्थान पर उसके सकारात्मक अर्थ पर बल देते थे। वे कहते थे मन, वचन और कर्म से किसी को दुःख न पहुंचाना तो अहिंसा है ही परन्तु मानव का यह भी कर्तव्य है कि वह दूसरों की भलाई करे। प्रेम, दया, क्षमा, एवं बलिदान गांधीजी की अहिंसा के आवश्यक पहलू हैं।

गांधीजी की अहिंसा का क्षेत्र व्यक्तिगत होने के स्थान पर सामाजिक था। उनकी अहिंसा का क्षेत्र इतना व्यापक था कि उसमें ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह आदि सब कुछ शामिल है। गांधीजी का कहना था कि यदि कोई व्यक्ति अपनी अनिवार्य आवश्यकता से अधिक लेता है तो वह हिंसा है, अविनय, तिरस्कार, अहंकार हिंसा है। झूठ बोलना, ठगना, कम तोलना विवशता का अनुचित लाभ उठाना हिंसा है। गांधीजी का मत था कि किसी को कभी नहीं मारना यह तो अहिंसा है ही परन्तु तमाम खराब विचार हिंसा हैं। द्वेष, वैर-डाह हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जिसकी जगत को जरूरत है उस पर कब्जा करना हिंसा है। क्रोध हिंसा है क्योंकि क्रोध में जहर तो है ही। संग्रह मात्र हिंसा है।

गांधीजी की अहिंसा सर्वोच्च प्रेम, सर्वोच्च दयालुता और सर्वोच्च आत्म-बलिदान पर आधारित है। यह अनिष्ट हीनता (harmlessness), कल्याणमयता और सर्वोदय है। गांधीजी किसी भी कार्य को हिंसक या अहिंसक करार देने से पूर्व उसके आशय और उद्देश्य को समझ लेना आवश्यक समझते थे।

गांधीजी की अहिंसा की एक विशेषता यह है कि यह संगठित हो सकती है। गांधीजी कहते थे कि "यदि अहिंसा संगठित नहीं हो सकती तो वह धर्म नहीं। उनका विश्वास था कि जहां अन्याय है, उत्पीड़न है, भय है या मानव परम्परा, समाज, कानून, दण्ड या अविवेक के कारण झुकता हुआ है या दबा हुआ है अर्थात जहां प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हिंसा है वहां अहिंसा को संगठित कर अत्याचारों को दूर किया जा सकता है। दक्षिण अफ्रीका, चम्पारन और खेड़ा में अहिंसक साधनों द्वारा जनमत को संगठित करके गांधीजी ने सिद्ध कर दिया कि अहिंसा संगठित सकती है। इस तरह गांधीजी की अहिंसा, एक ओर सामाजिक एवं

अन्यायों से लोहा लेने का मार्ग बताती है तो, दूसरी ओर, युद्ध का एक नैतिक विकल्प भी हमारे सामने प्रस्तुत करती है।

गांधीजी ने अहिंसा के तीन प्रकार भी बताये हैं (i) बहादुर की अहिंसा, जिसे वे 'अभय की चरमावस्था,' 'वीरता की परिसीमा' कहते थे और जो कठिन से कठिन उद्देश्य को प्राप्त कर सकती है (ii) निर्बल की अहिंसा जिसे वह सीमित अहिंसा भी कहते थे, जो शुद्ध होने पर सफलता प्राप्त कर सकती है, (iii) बुजदिल की अहिंसा जिसे गांधीजी अहिंसा की श्रेणी में नहीं लेते थे। उनका विश्वास था कि जिस प्रकार अग्नि और जल एक साथ नहीं रह सकते उसी तरह अहिंसा और कायरता साथ साथ नहीं रह सकते। गांधीजी कायर से हिंसक होना पसन्द करते थे।

सत्याग्रह पर विचार—सत्याग्रह 'अहिंसक सीधी कार्यवाही है।" सत्याग्रही सत्य पर अटल रह कर बुराई का विरोध करता है। हिंसा, भय और मृत्यु उसे इस पथ से विचलित नहीं कर सकते। सत्याग्रह को गांधीजी "सत्य के लिये तपस्या" कहते थे। सत्याग्रही का बल बलराम (God) है, उसका बल दुःख उठाने में है, दूसरों को दुःख देने में नहीं। सन्देह, शंका और अविश्वास तो उससे कोसों दूर होते हैं। धाकड़ी, अधीरता और वाचालता उसके समीप नहीं फटकते। गांधीजी कहा करते थे कि "स्वपीडन ज्ञान की आँखें खोल देता है।"

गांधीजी की धारणा थी कि सत्याग्रह सर्वव्यापी हो सकता है। यह सबके विरुद्ध हो सकता है यदि वे दूषित है। यह सरकार, कौम, जाति व्यक्ति विशेष, समूह आदि के विरुद्ध हो सकता है। गांधीजी युद्ध की स्थिति (सशस्त्र आक्रमण) का सामना भी सत्याग्रह के साधनों द्वारा करना चाहते थे।

गांधीजी सत्याग्रही आन्दोलन को धार्मिक आन्दोलन कहते थे उसे वे शुद्धिकरण और तप की क्रिया कहते थे, शिकायतें दूर कराने का संवैधानिक तरीका कहते थे। गांधीजी ने सत्याग्रह को कई नामों से पुकारा है। वे इसे 'गुरु कुंजी' 'अक्सीर इलाज," "संजीवनी बूटी" "आत्म शुद्धि के लिये यज्ञ' की संज्ञा देते थे। वे कहते थे कि यह ऐसी तलवार है जिसे जंग नहीं लगता। गांधीजी का पूर्ण विश्वास था कि दुराग्रह की दीवार सत्यरूपी प्रेम और अहिंसा रूपी साधन के सामने टिक नहीं सकती।

गांधीजी के सत्याग्रह के अनेक कौशल थे (i) असहयोग, (ii) हड़ताल सामाजिक बहिष्कार, धरना, हिजरत, सविनय अवज्ञा, उपवास आदि। गांधीजी का विश्वास था कि जिसे व्यक्ति असत्य, अवैध, अनैतिक या अहितकर समझता है उसके साथ असहयोग करके वांछित उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है। उनका कहना था कि जहाँ दमन है, शोषण है, अत्याचार है वहाँ असहयोग सम्भव है। हड़ताल को गांधीजी स्वेच्छापूर्वक तथा अन्तःशुद्धि के लिये आत्मोत्सर्ग मानते थे। गांधीजी का कहना था कि हड़ताल सरकार या अन्य किसी विरोधी के कार्य के प्रति अपनी घोर असहमति प्रकट करने का सर्वोत्तम साधन है। गांधीजी कहते थे कि—हड़ताल अर्थात् अन्तःकरण की

मौन लघुवाणी उस दूरी तक पहुँच सकती है जिस दूरी तक मानव वाणी नही पहुँच सकती। सविनय अवज्ञा को गाधीजी ने अहिंसक क्रान्ति की सज्ञा दी है जिसका प्रयोग अनैतिक अधिनियमो के विरुद्ध किया जा सकता है। वे इसे पूर्ण प्रभावी और सशस्त्र क्रान्ति का रक्तहीन स्थानापन्न कहते थे। उपवास को गाधीजी आध्यात्मिक औषधि की सज्ञा देते थे जिसका प्रयोग कुशल वैद्य ही कर सकता है। उपवास के प्रभाव और शक्ति के सम्बन्ध मे गाधीजी ने लिखा है कि "लोग कहने से चेतते ही नही। उपवास से ही हजारो को सन्देश पहुँचाया जा सकता है।'

कुछ आलोचको ने गाधीजी के सत्याग्रह के अस्त्रो को "बल प्रयोग", "मानसिक हिंसा" "त्रास' (Terrorism), 'राजनीतिक दबाव' (Political Blackmail) की सज्ञा दी है। परन्तु गाधीजी इन आलोचनाओ को स्वीकार नही करते। वे सत्याग्रह आन्दोलन को शुद्ध सवैधानिक मानते थे। वे कहते थे सत्याग्रही स्वय कष्ट भेलता है, विरोधी को कष्ट नही देता, वह हिंसा या क्रान्ति को निमन्त्रण नही देता। सत्याग्रही तो विरोधी का हृदय परिवर्तन कर उसे अन्याय से दूर करता है। सत्याग्रह असहमति प्रकट करने का तरीका है, जनमत को प्रभावित करने का साधन है जो शुद्ध लोकतान्त्रिक साधन है।

## गाधी का राम राज्य (पूर्ण समाज) या आदर्श अहिंसक सामाजिक व्यवस्था

**(Gandhi's Ram Rajya or Ideal Non violent Social System)**

**या**

## गाधी के राजनीतिक और आर्थिक विचार

**(Political and Economic Ideas of Gandhi)**

### A राजनीतिक विचार

गाधीजी ने अपने आदर्श अहिंसक समाज की रूपरेखा स्पष्ट रूप से तैयार नही की थी जिस प्रकार प्लेटो, रूसो तथा कार्ल मार्क्स ने अपने आदर्श समाज की रूप रेखा तैयार की थी। जैसाकि जॉन वी० बन्दुरा ने लिखा है कि गाधीजी "राजनीतिक कार्यकर्ता और व्यावहारिक दार्शनिक थे वे सिद्धान्त निर्माता नही थे।"[1] गाधीजी के विचारो मे अध्यात्म शास्त्र, नैतिक शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र, और राजनीति शास्त्र के विचारो का सम्मिश्रण था। उनका निरन्तर विकसित होने वाला व्यक्तित्व था और उनका तरीका नियमात्मक, प्रयोगात्मक, व्यावहारिक और सकलनवादी था।

गाधीजी के राजनीतिक विचारो को निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

---

1 Bondurant, Joan V Conquest of Violence The Gan Philosophy of Conflict, p 7

(i) राज्य पर विचार—दार्शनिक अराजकतावादियों की भांति गांधीजी आदर्श व्यवस्था में राज्य के किसी भी स्वरूप का स्वीकार नहीं करते। उनका कहना था कि राज्य "सत्ता का प्रतिनिधित्व" करता है और "संगठित हिंसा" का प्रतीक है। गांधीजी राज्य को अनैतिक संस्था भी मानते थे। वे कहते थे कि सत्ता व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिये घातक है। उनकी धारणा थी कि राज्य शक्ति में बाध्यता पाई जाती है और बाध्यता व्यक्ति के कार्य के नैतिक मूल्यों को नष्ट करती है। उनका कहना था कि कार्य तभी तक नैतिक है जब तक स्वच्छिक है। गांधीजी राज्य शक्ति में वृद्धि को शंका की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "राज्य एवं केन्द्रित एवं व्यवस्थित रूप में हिंसा का प्रतिनिधि है, व्यक्ति की आत्मा होती है, राज्य आत्मविहीन यन्त्र है जिस चीज को मैं अस्वीकार करता हूँ वह हिंसा पर आधारित संगठन है। संगठन ऐच्छिक होना चाहिये।"[1]

गांधीजी राज्यविहीन लोकतन्त्र के इच्छुक थे जहां सामाजिक जीवन इतना स्वच्छ, पूर्ण और ज्ञानयुक्त होगा कि वह स्वतः नियमित होगा (Self regulated) इसमें "प्रत्येक अपना शासक होगा।" गांधीजी इसे ज्ञानयुक्त अराजक व्यवस्था (enlightened Anarchic system) कहते थे। जहां अराजकतावादी, विशेषकर बेकुनिन और क्रोपाटकिन, वर्तमान राज्य को नष्ट करने के लिये क्रान्तिकारी हिंसा का प्रयोग करते हैं वहां गांधीजी राज्य को नष्ट करने के लिये पूर्ण अहिंसक साधना का प्रयोग करते हैं।

(ii) पश्चिमी लोकतन्त्र पर विचार—गांधीजी ने दलीय व्यवस्था पर आधारित पश्चिमी लोकतन्त्र की आलोचना की है। उनकी धारणा थी कि इसके कार्य अनिश्चित, मिथ्यावादी और स्वार्थी अर्थात् दलीय होते हैं। ब्रिटिश संसद की तुलना तो गांधीजी ने बांझ और वेश्या से की है। उनका कहना था कि बांझ स्त्री की भांति इसने कोई अच्छा कार्य नहीं किया और वेश्या की भांति यह मन्त्रियों के हाथों की वे कठपुतली बन कर रह जाती है जो आते और चले जाते है।

(iii) विकेन्द्रित राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था—गांधीजी केन्द्रीकरण के विरोधी थे। उनका विश्वास था कि केन्द्रीकरण जीवन को जटिल बनाता है व्यक्ति की अभिक्रमशीलता (initiative), साधन सम्पन्नता (resourcefulness) साहस और निर्माण शक्ति को नष्ट करती है, व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खो बैठता है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'केन्द्रीकरण और अहिंसक समाज परस्पर विरोधी है। लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिये वे विकेन्द्रीकरण को आवश्यक समझते थे। गांधीजी का आदर्श प्रजातन्त्र स्वशासित स्वावलम्बी, सत्याग्रही ग्रामों का संघ है जिसका आधार

---

1 Gandhi, M K Quoted by Tendulkar, D G Mahatma, Life of Mohandas Karamchand Gandhi, Vol IV pp 11–13

अहिंसा है। इसमे सहयोग स्वेच्छिक है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित एवं स्वनियन्त्रित है और जीवन शान्तिमय है।

गाधीजी के विकेन्द्रित अहिंसक आदर्श समाज का स्वरूप पारिवारिक है जिसके सदस्य अन्योन्याश्रित होते हैं। व न तो व्यक्तिवाद का स्वीकार करते थे जो सामाजिक कर्तव्यो की उपेक्षा करता है और न ही आदशवाद या साम्यवाद को जो व्यक्ति की राज्य रूपी देवी पर बलि चढा देता है। गाधीजी सामाजिक प्रतिबन्धो को स्वेच्छा पर आधारित करते थे। गाधीजी के अहिंसक आदर्श समाज मे छोटे छोटे समूह हैं जिनमे अपरिग्रह, अस्तेय, 'रोटी के लिये श्रम' के नियम स्वत लागू होते है। इस समाज मे न कोई शोषक होगा, न कोई शोषित, यन्त्रो का प्रयोग मानव श्रम को विस्थापित (displace) करने के लिये नही वरन् उसे कुशल बनाने के लिये किया जायगा, न्याय आपसी मेल-जोल और पंच फैसला पर आधारित होगा।

समाज और व्यक्ति के चयन मे गाधीजी व्यक्ति को महत्त्व देते थे, यद्यपि वे व्यक्ति के सामाजिक कर्तव्यो की उपेक्षा नही करते। गाधीजी कहते थे कि "अन्तत व्यक्ति ही इकाई है।' "राज्य तो व्यवस्था को अच्छा बनाने के लिये लोगो के हाथो मे एक माध्यम है।' स्पष्ट है कि गाधीजी आदर्शवादियो की भाँति राज्य को साध्य नही मानते और न ही फासीवादियो की भाति यह मानते थे कि "प्रत्येक चीज राज्य के अन्दर है, कुछ राज्य के बाहर नही, कुछ राज्य के विरुद्ध नही।" बहुलवादियो की भाति गाधी राज्य को "समुदाय" या ग्रीन जैसे आदर्शवादियो की भांति "समुदायो का समुदाय' भी नही मानते थे। गाधीजी राज्य की सम्प्रभुता को भी स्वीकार नही करते। वे तो राज्य को "एक माध्यम" ( one of the means ) मानते हैं और 'लोगो की उस सम्प्रभुता मे विश्वास करते है जो शुद्ध नैतिक शक्ति पर आधारित है।" गाधीजी "अन्त आत्मा' की कर्त्तव्यपरायणता पर विश्वास करते थे। गाधीजी कहते थे कि "यह हमारे पुरुषत्व के विरुद्ध है कि हम उन नियमो का पालन करें जो हमारी आत्मा के विरुद्ध है।' मैं राज्य के कानूनो का सम्मान करता हू। परन्तु मैं उच्चतम कानून-अन्त आत्मा की आवाज की पालना करता हू।

**B आर्थिक विचार—**

गाधीजी के आर्थिक विचार भी उनके राजनीतिक और सामाजिक विचारो की भाति आध्यात्म पर आधारित थे। ये परम सत्य से भरे पडे हैं। ये सामाजिक न्याय और नैतिक मूल्यो पर आधारित है। इनमे अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान और धर्म का सश्लेषण है। ये मानव और उसके कल्याण पर आधारित है। गाधीजी के अर्थशास्त्र का मापदण्ड नैतिक मर्यादा है। गाधीजी कहते हैं कि "जो अर्थशास्त्र लक्ष्मी पूजा सिखाता है और निर्बल की कीमत पर शक्तिशाली को धन एकत्रित करने मे प्रोत्साहन देता है वह झूठा और उदासीन विज्ञान है।"

हिन्द स्वराज मे गाधीजी ने वर्तमान सभ्यता की भर्त्सना की है। गाधीजी यन्त्र की तुलना "उस साधन से की है जो मानव या पशुश्रम का पूरक नही

उसका ही स्थान प्राप्त करने वाला है।" य त्रा मी नैतिक बुराइयों की व्याख्या करते हुए गाधीजी ने लिखा है कि ये यन्त्र जीवन म बाधक ह, इनसे दास वृत्ति का विकास होता है, मानव की सृजनात्मक और कलात्मक शक्तियों का ह्रास होता है, असमानता पैदा होती है। इनकी आर्थिक बुराइया बेरोजगारी, लाभवृत्ति, प्रतिद्वन्द्विता, सट्टावृत्ति, अत्युत्पादन, आर्थिक सकट, साम्राज्यवाद, सकुचित नगर आदि को जन्म देती है। इस तरह गाधीजी यन्त्रो को "पाप के प्रतिनिधि" मानते थे। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि गाधीजी हर प्रकार के यन्त्र के विरोधी थे। वे तो केवल यन्त्रो की होड के विरोधी थे और सिंगर सिलाई मशीन जसे उन यन्त्रो को स्वीकार करते थे जो मानव श्रम को बचाते और उसके बोझ को हल्का करते है। वस्तुत जीवन के अन्तिम काल मे वे यन्त्रो स समझौता करने लग गय थ।

गाधीजी पूजीवाद के भी विरोधी थे। उनका कहना था कि पूँजीवाद ही दरिद्रता, बेरोजगारी, शोषण और साम्राज्यवाद को जन्म देता है। परन्तु गाधीजी मार्क्सवादियो की भाति हिंसा द्वारा पूँजीवाद को नष्ट करना नही चाहते थ बल्कि पूजीपतियो का हृदय परिवर्तन करना चाहते थ और "फालतू धन" अर्थात उनकी आवश्यकताओ से अधिक कमाय हुए धन पर ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को लागू करना चाहते थे। ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के अनुसार 'अमीर व्यक्ति का धन उसके पास ही रख दिया जायगा जिसमे से वह अपनी उचित जरूरतो के लिये खर्च करेगा और बाकी बचे हुए धन का वह ट्रस्टी होगा जिसका प्रयोग समाज के कल्याण के लिये किया जायगा।" इस तरह गाधीजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धात अपेक्षाधिक धन पर लागू होता ह और इसम दोहरे स्वामित्व की बात निहित है। सम्पत्ति पर वैध स्वामित्व तो पूँजीपति का होगा परन्तु उस पर नैतिक स्वामित्व समाज का होगा। वे पूँजीपतियो को स्पष्ट कहते थे कि 'आप अपने धन का उपभोग उसे त्याग कर करे।'

गाधीजी वर्ग विभाजन (Class distinction) का समाप्त नही करना चाहते थे। व तो वर्ग सघर्ष (class conflict) को समाप्त करना चाहते थ। व पूजीपतियो का सफाया कर समाज का उनकी योग्यताओ स वचित नहीं करना चाहते थे। व न केवल पूँजीपति म बल्कि श्रमिक म भी "स्वामित्व" की भावना को समाप्त करना चाहते थे। वे आर्थिक समानता के पोषक थे परन्तु इससे उनका अर्थ सासारिक वस्तुओ की समानता से नही था यद्यपि व हर एक के लिये उचित घर, पर्याप्त भोजन और पर्याप्त खादी की व्यवस्था करना चाहते थ। वे सभी पर क्या पूजीपति, क्या बुद्धिजीवी, क्या श्रमिक रोटी के लिये श्रम सिद्धान्त को लागू करना चाहते थे। व कहते थ 'प्रत्येक को अपना भर्ता स्वय बनना होगा" "शरीर की आवश्यकतायें शरीर द्वारा ही प्राप्त होनी चाहिये, बुद्धि द्वारा नही।' गाधीजी स्वच्छता और खादी क अर्थशास्त्र म भी विश्वास करत थ।

उपर्युक्त वर्णन स स्पष्ट है कि गाधीजी की आदर्श हिंसक सामाजिक व्यवस्था धार्मिक दृष्टि स ईश्वरीय व्यवस्था है राजनीतिक दृष्टि स वह स्वशासित, स्वावलम्बी

पर आधारित सच्ची लोकतांत्रिक व्यवस्था है, सामाजिक दृष्टि से यह ारिक व्यवस्था है और आर्थिक दृष्टि से यह एसी विकेन्द्रीकृत व्यवस्था है जिसमे ा का जीवन सरल, सादा, और सयत है, उत्पादन का आधार लाभ के स्थान पर ा सेवा है ।

## व्यावहारिक आदर्शवादी
### (A Practical Idealist)

गाधीजी के सम्बन्ध मे यह कथन कि वे व्यावहारिक आदशवादी थे दो बाता ाभिव्यक्त करता है । प्रथम तो यह कि गाधीजी व्यावहारिक थे अर्थात वे भक्ति- । ज्ञानयोगी और कर्मयोगी थे । गाधीजी की विशेषता यही थी कि जो कुछ उन्होने ार किया, उसका दर्शन भी उन्होने निश्चित किया और प्रत्यक्ष रूप म उन्होने उसे ान्वित भी किया । वस्तुत गाधीजी जिस विचार का आचार म नही ला सकते से व गौण समझते थ । दूसरे, गाधीजी के विचार इतने उच्च थे कि वे अव्याव- क प्रतीत होते थे । वे ऐसे आदश थे जो इस पृथ्वी पर विद्यमान नही, स्वग मे ले ही विद्यमान हा ।

गाधीजी की यह मान्यता थी कि आदर्श को यथाथ बनने के लिये व्यावहारिक होना ा है । उनका कहना था कि भावात्मक सत्य को यदि व्यक्तियो के जीवन मे प्रकट न ा जाय तो वह व्यथ बन जाता है । यही कारण है कि यदि गाधी के सत्तत्व ने उन्हे शवादी बनाया तो उनकी समन्वय क्षमता ने उन्हे यथार्थवादी बनाया । उन्होन स्वय 20 मे एक लेख म लिखा था कि "मैं स्वप्न नहीं देखा करता । मैं एक व्यावहारिक शवादी होन का दावा करता हू । अहिंसा का धम केवल ऋषियो और महात्माओ लिये नही है । वह जन साधारण के लिये भी है । जिस तरह से हिंसा पशुओ जीवन सिद्धान्त है, उसी तरह अहिंसा हम मानवा का ।"[1]

गाधीजी की व्यावहारिकता का इस बात से ही परिचय मिल जाता है कि होन अपने अहिंसक सिद्धान्ता का प्रयोग समयानुकूल किया । जिस समय भारत म ट विधेयको, माशल लॉ, जलियावाला बाग हत्याकाण्ड और खिलाफत के प्रश्न पर विप्लव और शान्ति के मोड पर खडा था गाधीजी ने असहयोग आन्दालन को कर एक ओर अहिंसक शक्तियो को सगठित किया और दूसरी ओर देश को लव से बचा दिया इसी तरह कौंसिल प्रवेश के प्रस्ताव को पास करा कर 1923 काग्रेस को विघटित होने से बचा लिया , जब 1928 29 म देश विप्लववाद र पकड रहा था गाधीजी न 1930 म सविनय अवज्ञा आन्दोलन को शुरू करके स्त वर्गों, तरुणा वृद्धा, वामपन्थियो, दक्षिण पन्थियो उदारवादियो [illegible] ्या

---

. कृपाराम कम्याल की पुस्तक भारतीय राजनीति और शासन

आदि को एक राष्ट्रीय संघर्ष में संगठित कर लिया। जैसाकि जे० बी० कृपलानी ने लिखा है कि "इतनी विभिन्न विचारधाराओं और भावनाओं वाली विभिन्न शक्तियों का एक स्थान पर एकत्रित करना एक कुशल राजनीतिक कलाकार का काय था।" इसी तरह जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन म कुछ शिथिलता आने लगी तो 1931 मे गांधी इविन समझौता कर लिया। जब द्वितीय महायुद्ध शुरू होने के बाद 1940 के अगस्त प्रस्ताव और क्रिप्स प्रस्ताव असफल हो गये तो 1942 म "भारत छोडो' आन्दोलन का सचालित कर देश को "करो और मरो' का सदेश दिया। स्पष्ट है कि गांधीजी की व्यावहारिकता ने जहा देश को क्रांति, विप्लव और गृह युद्ध के दावानल मे बचाया वहा उन्होने ब्रिटिश शासकों को भी यह स्पष्ट कर दिया कि भारत स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये सब कुछ बलिदान करने के लिये तैयार है।

गांधीजी के सब आन्दोलनो की यही विशेषता थी कि वे अहिंसा पर आधारित थे, उनमे पशु शक्ति का अभाव था और वे विरोधी की घृणा पर आधारित नहीं थे बल्कि उनका उद्देश्य विरोधी को उसके पाप और अत्याचार से छुटकारा दिलाने पर आधारित थे। गांधीजी की अहिंसा केवल नकारात्मक नहीं, सकारात्मक थी, यह केवल व्यक्तिगत नहीं सामाजिक थी। उनका पूरा विश्वास था कि जहा उत्पीडन है, अन्याय है, अत्याचार है वहा अहिंसा सगठित हो सकती है। गांधीजी ने अपने असहयोग सविनय अवज्ञा आन्दोलन द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि अहिंसा सगठित हो सकती है।

गांधीजी के स्वदेशी आन्दोलन, खादी प्रोग्राम, राष्ट्रीय शिक्षा (बुनियादी शिक्षा, हिन्दू मुस्लिम एकता, ग्रामोद्धार, नशाबन्दी, अस्पृश्यता निवारण, बाल विवाह का बन्द करना, विधवा विवाह आदि के प्रोग्राम सब व्यावहारिक आदर्श थे।

व्यावहारिक होने के बाद भी गांधीजी आदर्शवादी थे क्योंकि उनके आदर्श इतने उच्च थे कि उन्हे जीवन के सामान्य नियमो मे बदलना कठिन है। वे आदर्श हो सकते है व्यावहारिक नहीं। उनके राम राज्य की कल्पना अर्थात राज्य विहीन शोषण विहीन समाज की कल्पना जिसमे अहिंसा, प्रेम त्याग, बलिदान सहयोग दया सर्वत्र विद्यमान हो, इस पृथ्वी पर विद्यमान नहीं। गांधीजी की आदर्शवादिता इस बात से ही स्पष्ट है कि उन्होने व्यक्ति के स्वभाव को केवल 'अच्छा' समझा है। वे भूल गये कि यदि व्यक्ति मे अच्छाई अर्थात दया, क्षमा, प्रेम और त्याग है तो उसी व्यक्ति मे स्वार्थ, घृणा और द्वेष भी विद्यमान हैं। व्यक्ति वस्तुत अच्छाई और बुराई का मिश्रण है, उसमे देवत्व और आसुरी गुणों का समावेश है।

गांधीजी ने राज्य को हिंसा का प्रतीक माना है और उन्होने अपने आदर्श अहिंसक समाज मे उसे स्थान नहीं दिया। परन्तु गांधीजी ने इस बात का उत्तर नहीं दिया कि अहिंसक साधनों से राज्य की बाह्य आक्रमणों से छापामार युद्धों से और अणु परमाणु युद्धों से कैसे रक्षा की जा सकती है? वस्तुत बाह्य सुरक्षा और

आंतरिक व्यवस्था के लिये शक्ति की आवश्यकता है। जैसाकि हक्सले ने लिखा है कि 'केवल अच्छी भावनायें और निष्ठा ही विश्व को बचाने के लिये पर्याप्त नहीं वैज्ञानिक तरीका को अच्छी भावनाओ और निष्ठा से मिलाना होगा।" यदि यह मान भी लिया जाय कि अहिंसक साधनो का राजनीति मे प्रयोग किया जा सकता है और उन्हे अपने उद्देश्यो मे सफलता भी मिल सकती है तो यह कहना बडा कठिन है कि विरोधी ने सत्याग्रही के सत्याग्रह के कारण अपने मार्ग को बदला। गाधीजी अहिंसा द्वारा जिन्ना के हृदय को कभी परिवर्तित न कर सके। वस्तुत जिस साम्प्रदायिक एकता के लिये गाधीजी इतने इच्छुक थे उन्होने उस साम्प्रदायिकता के गढ मुस्लिम लीग और जिन्ना के विरुद्ध कभी उपवास नही किया। वस्तुत अहिंसक साधना का महत्त्व लोकतान्त्रिक, उदारवादी समाजो मे ही सकता है, धार्मिक कट्टरवादियो, नाजीवादियो और अधिनायकवादी समाजो मे इसका कोई महत्त्व नही।

सम्पत्ति के सम्बन्ध मे भी गाधीजी के विचार आदर्शवादी हैं। वे स्वामित्व भावना को समाप्त करना चाहते है। परन्तु वे भूल जाते है कि स्वामित्व की भावना ही कार्य और कुशलता का स्रोत है। यदि स्वामित्व के प्रेरक तत्त्वो का ही समाप्त कर दिया जाय तो जीवन का स्वाद ही नष्ट हो जाता है। उनके ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को स्वीकार या अस्वीकार करना तो दूर, अभी यह शैक्षणिक रुचि का विषय ही है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि गाधीजी व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनमे दोनो का समावेश था।

## 2 सुभाषचन्द्र बोस[1] 1897-1945
### (Subhas Chandra Bose 1897–1945)

सुभाष चन्द्र बोस भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उन थोडे से नायको मे से थे जिन्होने राष्ट्र की स्वतन्त्रता का बीडा केवल अपने देश मे ही नही अपितु विदेशो मे भी अपने कन्धो पर उठाया। बोस एक महान यथार्थवादी राजनीतिक नेता थे। वे पक्के देशभक्त, कुशल प्रशासक, दृढ निश्चय लेने वाले एव प्रभावशाली वक्ता थे। निर्भीकता उनमे अद्वितीय थी। निराशा और पराजय उन्हें हतोत्साहित नही कर सकती थी। जीवन के अन्धकारमय क्षणो मे भी बोस ने उत्साह और धैर्य को नही छोडा। वे अपने साथियो के साथी थे। वे कहा करते थे कि 'मैं बर्मा के बा मा (Ba Maw) जैसा व्यक्ति नही जो अपने आदमियो को पीछे छोड दे और सुरक्षा के लिये भाग जाये।" उनका विश्वास था कि "इंग्लैण्ड ने अभी ऐसे किसी बम का निर्माण नही किया जो सुभाष को मार सकता है।'

---

1 सुभाषचन्द्र बोस श्री जानकीदास के पुत्र थे। उनका जन्म कटक नामक स्थान पर 23 फरवरी, 1897 को हुआ और कहा जाता है कि उनकी मृत्यु 8 अगस्त 1945 को फारमोसा मे हवाई दुर्घटना मे हो गई।

बोस को "वीरो" (heroes) मे दिलचस्पी थी। बिस्मार्क की आत्म कथा, मैटरनिक के लेखो और केवूर के पत्रो का अध्ययन बोस ने केम्ब्रिज मे ही कर लिया था। लेनिन, कमालपाशा, डी वलेरा, हिटलर, मुसोलिनी, आदि नेताओ के व्यक्तित्व का प्रभाव उनके विचारो पर अत्यधिक था। स्वामी विवेकानन्द मे उन्हे एक निर्भीक पुरुषत्व नजर आता था, तिलक मे उन्हे 'कार्य और उद्देश्य के प्रति लगन' नजर आती थी। चितरंजनदास के वे अनन्य भक्त और सहयोगी थे। दास को बोस अपना गुरु मानते थे। वीर सावरकर, लाला हरदयाल राजा महेन्द्र प्रताप, मौलवी बरकत उल्ला, रास बिहारी बोस जसे भारतीय क्रातिकारी उनकी प्रेरणा के स्रोत थे। गाधी को बोस सर्वश्रेष्ठ महापुरुष मानते थे और वे उनके प्रशसको मे भी थे। परन्तु न तो वे गाधी के विचारो और न ही उनके साधनो से प्रभावित थे। बोस को गाधी की योजना मे "स्पष्टता का अभाव नजर आता था।' बोस कहते थे कि गाधीजी के पास सामाजिक पुनर्गठन के लिये न तो कोई दर्शन था और न ही कोई प्रोग्राम। बोस ने स्वय लिखा है कि "मै महात्माजी को भारत का सर्वश्रेष्ठ महापुरुष मानता हू और उनके प्रति श्रद्धा रखता हू, 'परन्तु श्रद्धा का अर्थ उनकी इच्छा और विचारो की अधीनता नही है।।'

बोस योग्य एव परिश्रमी व्यक्ति थे। सन् 1920 मे उन्होने भारतीय सिविल सेवा (Indian Civil Service) की परीक्षा पास की। परन्तु उनमे देशभक्ति और राष्ट्र सेवा की भावनायें इतना उबाल ले रही थी कि उन्होने सन् 1921 मे उससे त्यागपत्र दे दिया। यह पहला उदाहरण है जबकि किसी भारतीय ने सर्वोच्च सेवा की परीक्षा पास करने के बाद देशभक्ति की भावना से उसमे त्यागपत्र दे दिया। बोस के इस साहसपूर्ण कार्य पर उनके साथियो ने उन्हे 'वीर'[1] की उपाधि दी। यह उस समय के भारतीयो के लिए कोई कम प्रेरणापूर्ण उदाहरण नही था।

राजनीति मे बोस ने अपना जीवन एक असहयोगी के रूप मे शुरू किया परन्तु वे शीघ्र ही सी० आर० दास के प्रभाव मे आ गये और स्वराजिस्ट बन गये। कुछ समय तक बोस नेशनल कालेज मे प्रिंसिपल रहे, स्वराज दल के पत्र फारवर्ड का द सम्पादन करते रहे। बगाल मे उन्होने सब बगाल युवक लीग (All Bengal Youth League) की स्थापना की जिसके वे स्वय अध्यक्ष बने। वे बगाल प्रदेश काग्रेस समिति के प्रचारक बोर्ड के प्रभारी रहे। वे 'बागलर कथा' (Banglar Katha) नाम के पत्र के सम्पादक भी रहे। जब सी० आर० दास कलकत्ता कार्पोरेशन के मेयर निर्वाचित हुए तो बोस को उन्होने 24 अप्रेल, 1923 को मुख्य कार्यपालिका अधिकारी ( Chief Executive Officer ) नियुक्त कर दिया। बाद मे

1 "To thee, O hero ! we bow, Quoted by Jog, N G ' In Freedom's Quest p 37

(1930 म) बोस स्वयं कलकत्ता कार्पोरेशन के मेयर निर्वाचित हुए। सन् 1928 में बोस स्वतन्त्र लीग (Independent League) के सदस्य बन गये। लाहौर कांग्रेस के समय बोस ने श्री निवास आयंगर के साथ मिलकर कांग्रेस प्रजातान्त्रिक दल (Congress Democratic Party) का 2 जनवरी, 1930 को निर्माण किया।

बोस कांग्रेस के दो बार अध्यक्ष निर्वाचित हुए। प्रथम बार 1938 में हरिपुरा में और दूसरी बार 1939 में त्रिपुरी में। त्रिपुरी में बोस की अध्यक्ष पद पर विजय उनके सिद्धान्तों की विजय थी और उनकी प्रतिभा, योग्यता, शौर्यता और व्यक्तित्व का प्रभाव था। उनकी यह विजय महात्मा गांधी के नेतृत्व को चुनौती थी तथा गांधी के सिद्धान्तों की अस्वीकृति थी।

सन् 1939 में त्रिपुरी कांग्रेस में अध्यक्ष पद के लिये विजयी होने के बाद बोस "वाम पन्थी" नेताओं और दलों को इकट्ठा करना चाहते थे और ब्रिटिश सरकार को अन्तिम चेतावनी देकर संघर्ष की गति को तीव्र बनाना चाहते थे। परन्तु इन दोनों उद्देश्यों में उन्हें सफलता नहीं मिली क्योंकि गांधी और दक्षिण पंथी इसके लिये तैयार नहीं थे। परिणाम स्वरूप गांधी और दक्षिण पन्थी बोस को अध्यक्ष पद से हटाने के लिये योजनायें बनाने लगे। परन्तु बोस ने स्वयं ही अध्यक्ष पद से त्याग पत्र दे दिया। अध्यक्ष पद से त्याग पत्र देने के बाद बोस ने 1940 में फारवर्ड ब्लॉक की स्थापना की। वे सभी वामपन्थियों को मिलाकर साम्यवादी संघ की स्थापना करना चाहते थे परन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के उच्च नेताओं में तिलक को छोड़कर बोस ही एक ऐसे उच्च राष्ट्रीय नेता थे जिन्होंने राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिये गम्भीर दुःख, कष्ट और यातनायें सहन कीं। उन्हें 11 बार कारागार का दण्ड दिया गया, कभी अभियोग लगाकर और कभी बिना अभियोग के उन्हें नजरबन्द कर दिया गया और कभी देश निकाला दे दिया गया। जब हालवेल स्टैच्यू (Hallwell Monument) के आन्दोलन में उन्हें बन्दी बनाये रखा गया (जबकि उनके साथ बनाये गये बन्दियों को छोड़ दिया गया) तो 26 नवम्बर, 1940 को उन्होंने बंगाल के गवर्नर, मुख्य मन्त्री और मन्त्रिमण्डल को सम्बोधित करते हुए एक पत्र में लिखा कि "मुझे मुक्त कर दीजिये अन्यथा मैं जीवित रहने से इन्कार कर दूंगा। इस बात का निश्चय करना मेरे वश में है कि मैं जीवित रहूं या मर जाऊं। शहीदों का खून धर्म का बीज होता है। मुझे आज अवश्य मर जाना चाहिये ताकि भारत जीवित रहे और अपनी स्वतन्त्रता और प्रताप को प्राप्त करे। अपने देशवासियों से मुझे यह कहना है, भूलना नहीं कि दासता मनुष्य के लिये सबसे बड़ा पाप है। भूलना नहीं कि सबसे गम्भीर अपराध अन्याय और असत्य से समझौता करना है। शाश्वत नियम को याद रखिये "यदि आप जीवन को प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें जीवन देना होगा।"[1] इस पत्र का

1 Bose, Subhas Chandra Quoted by Jog, N G Ibid, pp 189–190

सरकार पर तत्काल प्रभाव पडा और सरकार ने बास को 5 दिसम्बर, 1940 को जेल से मुक्त कर घर पर बन्दी बना लिया।

जनवरी 1941[1] मे बोस का भारत से साम्राज्यवादी पहरे के बावजूद बच कर निकल जाना स्वय मे एक महान साहस का काय है। भारत से काबुल, काबुल से मास्को, मास्को से बर्लिन, बर्लिन से टोकियो और टोकियो से सिंगापुर की यात्रा स्वय म एक महाकाव्य है।

बर्लिन मे बोस 22 महीने तक (माच 1941 से जनवरी 1943 तक) रहे। वहा उन्होने आजाद हिन्द रेडियो की स्थापना की तथा इण्डियन लिजन (Indian Legion) नाम से एक सनिक दल की स्थापना की। आजाद हिन्द रेडियो से बोस ने देश के नाम 19 फरवरी, 1942 को प्रथम भाषण दिया। बोस के लिये "जय हिन्द" (Victory to India) सब कुछ था। जिस आजाद हिन्द फौज का निर्माण बोस ने दक्षिणी पूर्वी एशिया मे किया लिजन उसकी पूवगामी थी। टोकियो से होते हुए बोस जुलाई 1943 मे सिंगापुर पहुचे। वहा उन्होन स्वतन्त्र भारत केन्द्र (Free India Centre) की स्थापना की। सिंगापुर पहुचते ही उन्होन स्वतन्त्र भारत लीग (Indian Independent League) की कमाण्ड को सम्भाला और जुलाई, 1943 को बोस ने 60,000 भारतीयो की आजाद हिन्द फौज (Indian National Army) के निर्माण की घोषणा की। अक्टूबर 21, 1943 को बोस ने स्वतन्त्र भारत की अस्थायी सरकार (Provisional Government) की स्थापना कर दी। माच 22, 1944 को आजाद हिन्द फौज ने भारत भूमि पर तिरगा लहरा दिया और अण्डेमन और निकोबार द्वीपो का नाम क्रमश 'शहीद' और 'स्वराज' रख दिया। लगभग 200 वग मील की भूमि का आजाद करा लिया और $1\frac{1}{4}$ वष तक (फरवरी 1944 से अप्रेल 1945 तक) आजाद हिन्द फौज ने मित्र राष्ट्रो से लोहा लिया परन्तु इम्फाल पर उसे पराजय का मुह देखना पडा और फौजें आगे न बढ सकी। अगस्त 1945 मे जापान के आत्म समपण के बाद 18 अगस्त 1945 को टोकियो जाते हुए तहोकू (Taihoku), फारमोसा मे, विमान दुघटना म उन्हें गम्भीर चोटें आई और उनकी मृत्यु हो गयी। इस समय बोस केवल 48 वष के थे।

उपयुक्त वणन से स्पष्ट है कि बोस के जीवन का एक उद्देश्य था एक इच्छा थी, एक प्रयत्न था—कि भारत स्वतन्त्र हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिय वे किसी से समझौता करने के लिये तयार नही थे और न ही किसी को रियायत देने के लिये तैयार थे। बोस ने नेहरू प्रतिवेदन की 'अधिराज्य स्थिति' (Dominion Status) की सिफारिश को कभी स्वीकार नहीं किया। बोस पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे और इसकी

1 सिसिरकुमार बोस के अनुसार (जो बोस के साथ गये थे) बोस 17 जनवरी, 1941 को घर से फरार हो गये परन्तु घर से फरार होने की खबर 26 जनवरी, 1941 को रेडियो पर दी गयी।

प्राप्ति के लिये वे किसी से भी सहायता लेने के लिये तैयार थे। वे गाधी की तरह राजनीति को नीतिशास्त्र या धम से मिलाने के लिये तैयार नही थे। वे "सीजर की चीजें सीजर को देना चाहते थे" और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये नतिक अनतिक, उचित अनुचित साधना पर ध्यान नही देते थे। वे पवित्र साध्य (भारत की पूण स्वतन्त्रता) की प्राप्ति के लिय कोई भी साधन अपनाने के लिये तैयार थे। वे यथाथवादियो की तरह कहते थे कि मुझे एक भी उदाहरण याद नही जहा स्वतन्त्रता विदेशी सहायता के बिना प्राप्त की गयी हो। अत बोस भारत की स्वतन्त्रता के लिये फासीवादियो, से सहायता लेन से नही हिचकते थे।

बोस अहिंसक साधनो म अविश्वास नही करते थे परन्तु उन परिस्थितियो मे वे उन्हे अपर्याप्त समझते थे। वे विवेकानन्द की भाति यह कहते थे कि "अहिंसा की अत्यधिक खुराक राष्ट्र के पतन" का कारण है। इसलिय वे अहिंसा के साथ अन्तिम चेतावनी (ultimatum), उग्र सघष, अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार, कूटनीति और शत्रुओ के शत्रुओ से सहायता का समथन करते थे।

बोस देशभक्त, उग्रवादी और राष्ट्रवादी थे। उन्होने स्वय लिखा है कि "मैं पूणतया उग्रवादी हू या कुछ भी नही।" वे कहते थे "सफलता कायरो को नही, वीरो को मिलती है।" पट्टाभि सीतारमय्या ने बोस की तुलना अलेक्जेण्डर, सीजर, क्रामवल और हिटलर से की है। आर० सी० मजूमदार का कथन है कि "गाधीजी के बाद भारतीय स्वतन्त्रता सघष मे सबसे प्रमुख व्यक्ति निसन्देह सुभाषचन्द्र बोस के।" बोस के महान देशभक्त होने का सबसे बडा प्रमाण यह है कि अग्रेज उन्हे अपना सबसे बडा शत्रु समझते थे। वे स्वतन्त्रता के "सह निर्माता" (co architect) थे। उनके द्वारा स्थापित आजाद हिन्द फौज ने भारतीयो मे जन जागति, जन साहस, जन उत्तेजना और जन बलिदान की अद्वितीय भावना पैदा कर दी। सन् 1946 के भारतीय नौ सैनिक विद्रोह तथा वायु सेना मे हडतालें आजाद हिन्द फौज के शानदार कार्यों का ही प्रभाव था। आजाद हिन्द फौज के सेनानियो (ढिल्लो, सहगल, शाहनवाज) पर लाल किले मे चलाये गये अभियोग न भारतीयो मे इतनी उत्तेजना पदा कर दी कि कमाण्डर-इन चीफ फील्ड माशल अचिनलेक (Field Marshall Auchinlake) को उन्हे रिहा करना पडा।

बोस ने ऐसे नारो को जन्म दिया जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के प्रतीक बन गये। "दिल्ली चलो", "दिल्ली की सडक स्वतन्त्रता की सडक है", "करो सब न्योछावर बनो सब फकीर", "रक्त-रक्त को पुकार रहा है", "लाल किला हमारा है", "तुम मुझे खून दो मैं तुम्हे आजादी दूंगा", "स्वतन्त्रता के झण्डे को ऊचा उठाये रखो", "आजाद हिन्द जिन्दाबाद", "इन्कलाब जिन्दाबाद", "नेताजी जिन्दाबाद" के नारो ने भारतीय फौजो और जन मानस मे स्वतन्त्रता की अद्वितीय लहर पदा कर दी। देशवासियो के लिये देशभक्ति स्वाभाविक बन गयी। बोस द्वारा दिया गया "जयहिन्द"

का सामान्य अभिवादन आज स्वतन्त्र भारत का राष्ट्रीय अभिवादन है। राष्ट्रीय आन्दोलन मे बोस की ये सर्वोत्तम देनो मे से हैं।

जिस साम्प्रदायिक एकता को बोस ने उत्पन्न किया उसे गाधीजी सारा जीवन भर न प्राप्त कर सके। बोस की अस्थायी सरकार का स्वरूप सार्वभौमी (Cosmopolitan) था। उसकी आजाद हिन्द फौज के सेनानी तथा जनरल भारत की तीन प्रमुख जातियो—हिन्दुओ, मुसलमानो और सिक्खो का प्रतिनिधित्व करते थे।

बोस ने जो भविष्यवाणियाँ 1938 म हरीपुरा (गुजरात) काग्रेस म की वे सत्य सिद्ध हुई है यद्यपि इनके लिये बोस को श्रेय नही दिया जाता। भारत के विभाजन की भविष्यवाणी उस समय की जब पाकिस्तान की माग तक नही की गयी थी। बोस ने कहा था कि "यदि नवीन सविधान (1935 का अधिनियम) अन्तत अस्वीकार कर दिया गया तो मुझे इस बात म कोई स देह नही कि ब्रिटिश विचक्षणता भारत के विभाजन का कोई अन्य साधन ढूँढेगी और इस तरह भारतीय जनता को सत्ता हस्तान्तरण को प्रतितुलित किया जायगा।"[1] ठीक नौ वर्ष बाद (1947 मे) भारत का विभाजन हुआ और पाकिस्तान का निर्माण हुआ। बोस ने यह भी कहा था कि सत्याग्रह आन्दोलन को केवल निष्क्रिय प्रतिरोध तक सीमित नही रहना होगा बल्कि सक्रिय प्रतिरोध की नीति अपनानी होगी। चार वर्ष बाद ही काग्रेस ने गाधी के नेतृत्व मे 1942 म "भारत छोडो" आन्दोलन को शुरू किया। बोस न यह भविष्यवाणी भी की थी कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सामाजिक पुनर्निर्माण का कार्य भी काग्रेस द्वारा सम्पन्न होगा (यद्यपि गाधीजी स्वतन्त्रता प्राप्ति पर काग्रेस के विघटन की कल्पना करते थे)। स्वतन्त्रता प्राप्ति से आज तक केन्द्र मे काग्रेस पार्टी ही सत्तारूढ रही है और पुनर्निर्माण के कार्यों म सलग्न है। बोस ने लोकतान्त्रिक समाजवाद की भी कल्पना की थी जिसकी स्थापना के लिये काग्रेस दृढ सकल्प है।

क्या बोस फासीवादी थे—आलोचको ने बोस को फासीवादी की सज्ञा दी है। उनका कहना है कि द्वितीय महायुद्ध से पूर्व बोस की धुरी राष्ट्रो के प्रति सहानुभूति तथा युद्ध के दौरान धुरी राष्ट्रो से उनकी सगति उनके फासीवादी होने की द्योतक है। आलोचको का कहना है कि बोस स्वय हिटलर, मुसोलिनी और कमाल पाशा के प्रशसकों म से थे तथा अपनी रचना "भारतीय सघर्ष" (The Indian Struggle) मे उन्होंने स्वय मुसोलिनी की प्रशसा इन शब्दो म की है 'एसा व्यक्ति जिसका आधुनिक यूरोप की राजनीति म विशेष महत्त्व है।" नेहरूजी ने भी अपनी रचना डिस्कवरी आफ इण्डिया (The Discovery of India) म लिखा है कि 'भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के अध्यक्ष के रूप म बोस उनके किसी भी ऐसे कदम को पसन्द नही करते थे जो जापान, जर्मनी या इटली विरोधी होता था।" एम० एन० राय भी बोस

1 Quoted by Jog, N,G Ibid, p 133

को फासीवादी की सज्ञा देते हैं और एम० सिवाराम भी उन्हें अधिनायकवादी कहना पसन्द करते हैं।

बोस के सम्बन्ध मे व्यक्त किये उपयुक्त कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है। बोस फासीवादी नही राष्ट्रवादी थे। वे क्विजलिंग, नाजी या जापानी प्रतिनिधि नही थे। बोस उग्रवादी देशभक्त थे जिन्हें भारतीय राष्ट्रीयता प्रेरित करती थी और स्वतन्त्रता निमन्त्रण देती थी। बोस गाधी की भाति आदशवादी नही थे बल्कि यथार्थवादी होने के नाते वे अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिये शत्रु के शत्रुओ से सहायता प्राप्त करने मे लेश मात्र दोष नही समझते थे। बोस कहा करते थे कि क्या गैरीबाल्डी ने इटली की स्वतन्त्रता के लिये आस्ट्रिया के शत्रुओ से सहायता प्राप्त नही की, क्या सनयात सैन ने साम्राज्यीय चीनी वश को नष्ट करने के लिये जापान से सहायता नही ली, क्या वाशिंगटन ने स्वतन्त्रता के लिये फ्रास से सहायता नही ली, क्या डी० वलेरा ने अमरीका से सहायता नही ली ? यदि ये सब नेता उच्च राष्ट्रीय आदर्शों से प्रेरित होकर विदेशी सहायता प्राप्त कर सकते थे तो भारत को भी ब्रिटिश साम्राज्य वादियो को भारत से खदेडने के लिये ब्रिटेन के शत्रुओ से सहायता लेनी चाहिये। वे राजनीति मे आदशवादिता या नैतिकता को महत्त्व नही देते थे, वे तो राजनीतिक सौदेबाजी मे विश्वास करते थे। यही कारण है कि 1939 मे (जब युद्ध छिडने वाला था) वे ब्रिटिश सरकार को "अन्तिम चेतावनी" देना चाहते थे। वे कहते थे कि "राजनीतिक सौदेबाजी का रहस्य अपने आपको अधिक शक्तिशाली दिखाने मे है।' उनकी यह भी धारणा थी यदि 1931 मे द्वितीय गोल मेज सम्मेलन के समय गाधीजी अधिनायक स्टालिन या ड्यूस मुसोलिनी या फुहरर हिटलर की भाषा और दृढता मे बोलते तो जॉन बुल (ब्रिटिश राजनीतिज्ञ) उन्हे अच्छी प्रकार समझ सकता था और उनके आदर मे सिर झुका देता।

यह सत्य है कि बोस ने भारत की स्वतन्त्रता के लिये धुरी राष्ट्रो से सहायता प्राप्त की यह भी सत्य है कि उन्होने अपने जीवन के अन्तिम चार वर्ष अधिनायक-वादियो की सगति मे विताये। परन्तु सहायता प्राप्त करने और सगति मात्र से कोई राष्ट्रीय नेता (विशेषकर बोस जैसा राष्ट्रीय नेता जो किसी की दासता को स्वीकार नही करते थे) फासीवादी नही बन जाता। इस तथ्य की उपेक्षा नही की जा सकती कि बोस ने फासीवादियो से जो सहायता प्राप्त की वह फासीवादी उद्देश्यो की पूर्ति के लिये नही थी बल्कि भारतीय स्वतन्त्रता के लिये थी। किसी स्तर पर भी बोस फासीवादियो के नियन्त्रण या निर्देशन मे नही थे। आजाद हिन्द फौज का गठन सुभाष ने किया था, उसका नेतृत्व और उसकी कमाण्ड भारतीयो के हाथो मे थी। उसके सेनानी भारतीय थे और उसके उद्देश्य भारतीय थे। बोस ने नाजियो या फासी-वादियो से कोई गुप्त समझौता नही किया। बोस स्पष्ट कहते थे कि "इस पृथ्वी पर ऐसी कोई शक्ति नही जो हमारे स्वतन्त्रता के उद्देश्य की प्राप्ति मे दीवार बन कर खडी हो सके।'

बोस जसे राष्ट्रवादी और देशभक्त नेताओ के लिये यह कहना कि वे फासीवादी या अधिनायकवादी महत्त्वकाक्षाओ से प्रेरित थे उनके व्यक्तित्व और उद्देश्यो से अन्याय करना है। "सवल" साधनो म विश्वास करते हुए भी वे साम्राज्यवादी जातीय सर्वोच्चता और नेतृत्व के सिद्धा तो म आस्था नही रखते थे।

वे "नेता" अवश्य थे परन्तु उनम 'नेतृत्व' की वू नही थी। व तो जनरल तोजो के इस कथन से ही क्रुद्ध हुए थे कि 'स्वतन्त्रता के बाद बोस भारत म सर्वेसर्वा होंगे।"[1] वे लोकतान्त्रिक सिद्धा तो म विश्वास करते थे, अधिनायकवादी नेतृत्व म नही। "फारवड ब्लाक' भी नेतृत्व के सिद्धा त पर आधारित नही था। नागपुर अधिवेशन मे बोस ने फारवड ब्लाक के लिये एक नारा गढा था जिससे लोकतन्त्र प्रतिलक्षित होता है अधिनायकतन्त्र नही। यह नारा था "यहा और अब भारतीय लोगो के लिय सभी सत्ता।'[2] फारवड ब्लाक के उद्देश्यो को स्पष्ट करते हुए बोस ने कहा था कि "स्वत न्त्रता प्राप्ति के बाद इसे स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना होगा और स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र और समाजवाद के लौकिक सिद्धा तो के आधार पर खुशहाल भारत का निर्माण करना होगा।'[3]

## 3 पडित जवाहरलाल नेहरू[4] 1889–1964)

### (Pandit Jawahar Lal Nehru 1889–1964)

पडित जवाहरलाल नेहरू भारतीय राजनीति के ऐसे नेता थे जिन्होने न केवल राष्ट्रीय सग्राम मे भारतीयो का नेतृत्व किया बल्कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी 18 वष तक राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्यो मे अग्रणी बने रहे। उन्ही के नेतृत्व म भारत अपनी प्रारम्भिक समस्याओ का दृढतापूवक सामना कर सका। उन्होने राष्ट्र को सगठित कर उसे विकास के पथ पर लाकर खडा कर दिया। जहा अफीका और एशिया के अन्य राष्ट्र स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, राजनीतिक अस्थिरता म फस गये वहा भारत नेहरू के नेतृत्व म राजनीतिक परिपक्वता की ओर अग्रसर होने लगा। यदि आज भारत मे लोकतान्त्रिक सस्थाये कुशलता से काय कर रही हैं तो इसका श्रेय नेहरू के नेतृत्व को है। माइकेल ब्रेचर ने नेहरू की तुलना रूजवेल्ट, चर्चिल लेनिन तथा माओ जसे महान व्यक्तियो मे की है जो राष्ट्रीय सकट मे अपनी जनता के पथ प्रदशक बने रहे।

---

1 See Jog N G Ibid p 259
2 All Power to the Indian People here and now " Bose
3 See Jog N G Ibid p 287
4 पण्डित जवाहरलाल नेहरू पण्डित मोतीलाल नेहरू के पुत्र थे। इनका जन्म इलाहबाद म 14 नवम्बर 1889 को हुआ और 27 मई, 1964 को इनकी मृत्यु हो गयी।

नेहरूजी ने अपना राजनीतिक जीवन 1916 में शुरू किया जब वे एनी बेसेन्ट और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक द्वारा स्थापित होम रूल लीग में शामिल हो गये। उन्होंने असहयोग आन्दोलन में भी भाग लिया। गाँधीजी की कृपा से नेहरूजी कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये। उन्हीं की अध्यक्षता में कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रस्ताव को पास किया। उन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भी भाग लिया। सन् 1936, 1937 और 1946 में नेहरू फिर कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। कांग्रेस की नीति निर्धारित करने में उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। सन् 1946 में नेहरूजी ने अन्तरिम सरकार का निर्माण किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति से अपनी मृत्यु तक वे भारतीय प्रधान मन्त्री के पद पर विद्यमान रहे।

नेहरूजी केवल 'विचारवान' व्यक्ति (man of ideas) ही नहीं थे बल्कि महान कर्मवीर (man of action) भी थे। नेहरूजी की विशेषता यह रही है कि अनेक वर्षों तक भारत की सर्वोच्च राजनीतिक स्थिति में होने के कारण उन्हें अपने विचारों तथा सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का अवसर प्राप्त हुआ। नेहरूजी के विचारों को उनकी रचनाओं में ढूँढा जा सकता है। उनकी मुख्य रचनायें हैं आत्म कथा (An Autobiography) "पुराने पत्रों का गुच्छा" (A bunch of old Letters), द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया (The Discovery of India), 'ग्लिम्पसेस आफ वर्ल्ड हिस्टरी' (Glimpses of World History), आदि।

नेहरूजी महान राष्ट्रवादी होते हुए भी मानवतावादी और अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे। वे राष्ट्रीय आत्म निर्णय (Self determination) में विश्वास करते थे परन्तु उनका राष्ट्रवाद मुसोलिनी या हिटलर के राष्ट्रवाद की भांति राष्ट्रीय या जातीय सर्वोच्चता पर आधारित नहीं था। जहां अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नेहरूजी मानवता और विश्व बन्धुत्व की भावना में विश्वास करते थे वहां वे राष्ट्र के अन्दर राष्ट्रीयताओं के सश्लेषण में विश्वास करते थे। वे 'भिन्नता में एकता' अर्थात् 'अनेकता में एकता' ढूँढते थे। वे इस बात से बेखबर नहीं थे कि राष्ट्रवाद एक "अविश्वसनीय मित्र" और "संदिग्ध इतिहासकार" है जो प्रतिक्रियावादी और सकीर्ण भावनाओं को जन्म दे सकता है। यही कारण है कि नेहरूजी का उपागम (approach) लौकिक अर्थात् धर्म निरपेक्षता का था। अपनी आत्मकथा में तो नेहरूजी ने हिन्दू महासभा को "प्रतिक्रियावादी' और उसके नेताओं को "साम्प्रदायिक नेता" की संज्ञा दी है। उनकी यह धारणा थी कि जिस राष्ट्रवाद में धर्म, जाति या अन्य किसी ऐसे तत्व को बल दिया जाता है वह उन्नति में बाधक होता है और ~शासन प्रतिक्रियावादी बनकर रह जाता है।

नेहरूजी के आर्थिक विचार लोकतान्त्रिक समाजवाद की विचारधारा से प्रभावित थे। वे साम्यवाद की उपलब्धियों के प्रशंसक थे परन्तु वे उसकी सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियों को पसन्द नहीं करते थे। नेहरूजी के शब्दों में "हमें साम्यवादी राष्ट्रों द्वारा आयोजित पंचवर्षीय योजना स्वीकृत है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनमें जो हिंसात्मक प्रवृत्ति मौजूद है उससे हम समझौता नहीं कर सकते। व

आर्थिक विकास क लिये नियोजन चाहते थे परन्तु व्यक्ति का बलिदान देना नही चाहते थे। वे उस राज्यवाद के समथक थे जो विकेन्द्रीकृत व्यवस्था पर आधारित हो। नेहरूजी बडे और महत्त्वपूर्ण उद्योगो को यथासम्भव सहकारिता के आधार पर और साधारण रूप से राज्य के नियन्त्रण मे रखने के पक्ष मे थे व आर्थिक लोकतन्त्र को सवैधानिक साधनो द्वारा लाना चाहते थे। वे मार्क्सवाद को पुराना (Out of date) मानते थे और वग सघष के स्थान पर वग सहयोग पर बल देते थे। व कहते थे कि "साम्यवाद की सबसे बडी त्रुटि यह है कि "यह जीवन के नतिक और आध्यात्मिक मूल्यो से घृणा करता है। इस तरह यह न केवल जीवन के आधारभूत तत्वो की उपेक्षा करता है बल्कि मानव व्यवहार को उसके मापदण्डो और मूल्यो स भी वचित करता है।' एक अन्य स्थान पर नेहरूजी ने लिखा है कि "यद्यपि कभी साम्यवाद पशु शक्ति का प्रयोग नही करता परन्तु यह निश्चित रूप से हिंसा से सम्बद्ध है। इसकी भाषा हिंसा की है। इसके विचार हिंसक है। यह अनुनय या शान्तिमय प्रजातान्त्रिक प्रभावो से परिवतन नही लाता बल्कि दमन और विनाश द्वारा परिवतन लाता है।"[1] अनेक पश्चिमी लेखको ने तो नेहरूजीको "साम्यवाद विरोधी' की सज्ञा दी है।

नेहरूजी प्रगतिशील समाजवाद (Progressive Socialism) म विश्वास करते थे। उनकी नीति मिश्रित अथव्यवस्था (Mixed economy) की थी। वे राज्य द्वारा उद्योगो की सहायता के पक्ष म थे परन्तु साथ म वे राष्ट्र की अथव्यवस्था मे निजी क्षेत्र को भी स्थान देना चाहते थे। वे समाजवाद को आर्थिक पुनर्निर्माण का एक फामू ला ही नही मानते थे। व इसम जीवन दशन देखते थे। जहा आर्थिक विकास के लिय वे समाजवाद का सहारा लेना चाहते थे वहा मानवता के विकास के लिये भी वे इसका समथन करते थे।

नेहरूजी भारत म लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना चाहते थे। वे निधनता को अभिशाप समझते थे। पचवर्षीय योजनाओ और सामुदायिक विकास योजनाओ द्वारा वे भारतीयो का आर्थिक और सामाजिक स्तर ऊँचा करना चाहते थ। वे अस्पृश्यता, जमीदारी, नशाखोरी और साम्प्रदायिकता को दूर करना चाहत थे।

नेहरूजी महान अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे। वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो म मेकियावेलीवाद (Machiavellism) और शक्ति नीति (Macht Politik) के विरोधी थे। व ध्रुवीकरण (Polarization) मे विश्वास नही करते थे। वे किसी भी रूप म साम्राज्यवाद के विरोधी थे और एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय आन्दोलना क समथक थे। भारत की असलग्नता की विदेश नीति के वे कणधार थ। उनका विश्वास था कि 'शक्ति सन्तुलन' और 'गुटीय नीति युद्धो और तनाव को जन्म दती है। अत उन्होन भारतीय विदेश नीति को शान्तिवाद, पचशील, असलग्नता, साम्राज्यवाद विरोधी,

---

1 देखिये लेखक की पुस्तक राजनीतिक विचारधाराएँ (तृतीय सस्करण) पृ० 216-217

उपनिवेशवाद विरोधी और सयुक्त राष्ट्र सघ के समर्थन सिद्धान्तो पर आधारित किया। परन्तु उनकी शान्तिवाद और असलग्नता की नीति कायरता पर आधारित नही थी और न ही तटस्थता पर आधारित थी। यह तो सक्रिय नीति थी जो अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर स्वतन्त्रता पूर्वक एव निष्पक्षता से विचार करती थी। वे राष्ट्रो की परस्पर निर्भरता पर विश्वास करते थे। वे अफ्रीकी एशियाई एकता (Afro–Asian Unity) के समर्थक थे। उन्होने तटस्थ राष्ट्रो के वाण्डुग और बेलग्रेड सम्मेलनो मे भाग लिया।

नेहरू और गाधी के आर्थिक और सामाजिक विचारो म भिन्नता थी परन्तु फिर भी दोनो म पर्याप्त सहमति थी। यदि गाधीजी "जनता की भावनाओ और आकाक्षाओ का प्रतिनिधित्व करते थे तो नेहरूजी जनता के हितो का प्रतिनिधित्व करते थे। गाधी की भाति नेहरूजी साधना की पवित्रता पर बल देते थे। उनकी धारणा थी कि हिंसा समस्याओ का स्थायी समाधान नही करती। अत वे अनुनय, मेल मिलाप, सहिष्णुता और वार्ता के तरीको मे विश्वास करते थे।

**नेहरूजी की भारतीय राजनीति को देन**

भारतीय राजनीति को नेहरूजी की अनेक देनें है जिन्हे निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है —

(i) नेहरू ने आर्थिक न्याय और राजनीतिक स्वतन्त्रता का सश्लेषण करने का प्रयास किया। उन्ही के नेतृत्व मे काग्रेस ने 1955 मे अवाडी मे समाजवादी ढाचे के समाजवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया।

(ii) नेहरू न परम्परा को आधुनिकता के साथ मिलाने का प्रयास किया। वे विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धतियो म विश्वास करते थे।

(iii) मानवता और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के वे देवदूत थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर उन्ह "मानवता के सागर" कहते थे। वे उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरोधी थे।

(iv) वे युवक आन्दोलन के प्रमुख नेता थे और उन्होंने युवको को प्रगतिशील पथ पर लाने के लिये उन्हे सगठित किया।

यह सत्य है कि नेहरू की भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वतन्त्र भारत को महत्त्वपूर्ण देनें हैं परन्तु उनम अनेक त्रुटिया भी पाई जाती थी। इन त्रुटियो का मूल कारण यह था कि व वास्तविकताओ से दूर और आदर्शवादिता के निकट थे, उनमें प्रशासनिक कुशलता, शीघ्र और दृढ निर्णय लेने की शक्ति का अभाव था। भारत की अनेक समस्याओ का हल केवल इस कारण न हो सका कि व दृढ नीति अपनाने मे असफल रहे, कश्मीर समस्या, भाषा समस्या, आदि उनकी अनिश्चितता व कारण आज भी विद्यमान हैं। सन् 1962 मे चीन का आक्रमण और भारत के प्रति पाकिस्तान की कटुता की नीति उनकी दुर्बलता और शान्तिवाद के परिणाम है। वे 'शान्तिदूत' अवश्य थे परन्तु इस महाद्वीप मे तो क्या स्वय भारत के पडोसी देशो के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित न कर सके। व इस व्यावहारिक तथ्य का न समझ सके कि

शान्ति सुदृढता की माग करती है । 'चीन के आक्रमण के सदमे से तो वे ऊपर न उठ सके ।

## समीक्षा-प्रश्न
## (Review Questions)

1 भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति महात्मा गाधी के योगदान का मूल्याकन कीजिये ।

2 'गाधीजी ने काग्रेस के स्वरूप को परिवर्तित कर देश के स्वरूप को परिवर्तित किया ।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? कारण सहित विवेचना कीजिये ।

3 गाधी के राजनीतिक और आर्थिक विचारो पर एक निबन्ध लिखिये ।

4 गाधी के अहिंसा और सत्याग्रह पर विचारो की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये ।

5 'गाधी व्यावहारिक आदर्शवादी थे ।' क्या आप इस कथन से सहमत है भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास मे गाधी के स्थान का मूल्याकन कीजिये ।

6 भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति सुभाषचन्द्र बोस के योगदान का मूल्याकन कीजिये ।

7 क्या सुभाषचन्द्र बोस फासीवादी थे ?

8 श्री जवाहरलाल नेहरू के राजनीतिक और आर्थिक विचारो पर एक निबन्ध लिखिये ।

# पुस्तक 2

# संविधान सभा–संरचना एवं दृष्टिकोण

अध्याय 1

# संविधान सभा–संरचना एवं दृष्टिकोण

## (The Constituent Assembly–Its Structure and Approach)

### भूमिका (Introduction)

लोकतान्त्रिक राज्य स्वशासित और स्वतन्त्र राज्य होते हैं अर्थात स्वशासन शासितों की स्वीकृति की मांग करता है और स्वतन्त्रता मर्यादित शासन की मांग करती है। अतः जहां कहीं लोकतान्त्रिक राज्य विद्यमान हैं वहां लोग अपनी इच्छानुकूल शासन को प्राप्त कर सकते हैं और शासन को मर्यादित कर सकते हैं। इन दोनों उद्देश्यों (स्वशासन और स्वतन्त्रता) की पूर्ति विधि के शासन (Rule of law) की मांग करती है और विधि का शासन संविधान पर आधारित होता है। यही संविधान शासन व्यवस्था को संगठित करता है, शासन शक्तियों को निर्धारित करता है, व्यक्ति और शासन के सम्बन्धों का उल्लेख करता है तथा व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करता है।

लोकतन्त्र में संविधान निर्माण के लिए किसी प्रतिनिधि सभा, प्रतिनिधि समिति या प्रतिनिधि सम्मेलन की आवश्यकता होती है ताकि जन इच्छा पर आधारित न्यायिक शासन को प्राप्त किया जा सके। प्रतिनिधि सभा के रूप में संविधान सभा के विचार का उद्भव 17वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में (गृह युद्ध काल में) हुआ। न्यायपूर्ण शासन की स्थापना के लिए लेवेलर ने सैनिक परिषद् के समक्ष प्रतिनिधि सभा के निर्माण हेतु सन् 1648 और 1649 में दो समझौते प्रस्तावों को प्रस्तुत किया। यद्यपि प्रतिनिधि सभा के विचार का उद्भव इंग्लैण्ड में हुआ परन्तु संविधान निर्माण हेतु किसी प्रतिनिधि सभा को गठित नहीं किया गया। आधुनिक समय में अमरीका ही ऐसा राज्य है जहां संविधान निर्माण हेतु प्रतिनिधि सभा के सिद्धान्त को 18वीं शताब्दी में पहली बार लागू किया गया जब सन् 1787 में अमरीका के 13 राज्यों के प्रतिनिधियों ने फिलाडेल्फिया में एकत्रित होकर अमरीकी संविधान का निर्माण किया। इसके बाद फ्रांस की राष्ट्रीय सभा (1789–1791) ने फ्रांसीसी संविधान का निर्माण किया। इसके बाद विश्व में जितने भी लोकतान्त्रिक संविधानों का निर्माण किया गया उन्हें संविधान सभाओं द्वारा ही निर्मित किया गया।

**भारत मे सविधान सभा की माग**—भारत म सविधान सभा की माग राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की माग म निहित थी । इसे आत्म निर्णय के सिद्धान्त, स्वशासन और स्वराज्य की माग म देखा जा सकता है । ऐनी बेसेन्ट न तो इस बात का आग्रह किया था कि "भारतीय सविधान का निर्माण भारतीयो द्वारा ही किया जाना चाहिए ।' इसे गाधीजी के 5 जनवरी 1922 के उस वक्तव्य म भी देखा जा सकता है जिसम उन्होने कहा था कि 'स्वराज्य ब्रिटिश ससद का उपहार नही होगा । वह भारत की पूर्ण अभिव्यक्ति की घोषणा होगा (भारतीयो की) इच्छा भारतीय जनता के स्वतन्त्रता पूर्वक चुने हुए प्रतिनिधियो द्वारा व्यक्त होगी ।"[1] सन् 1924 मे स्वराजवादियो ने केन्द्रीय विधान सभा मे सपरिषद गवर्नर जनरल से यह सस्तुति की कि "सविधान की योजना पर विचार करने हेतु प्रतिनिधि गोल मेज सम्मेलन का आयोजन किया जाय । सन् 1925 मे यह माग प्रस्तुत की गयी कि "भावी सविधान स्वय भारतीयो द्वारा बनाया जाना चाहिए ।'

भारतीयो की उपर्युक्त मागो का ब्रिटिश शासको पर कुछ प्रभाव न पडा । इतना ही नही, जलते पर नमक छिडकने के लिए लार्ड बर्किनहैड ने 1927 मे श्वेत लोगो के एक सविधि आयोग (साइमन आयोग) की घोषणा कर दी । यह भारतीयो की योग्यता बुद्धिमत्ता और प्रतिष्ठा पर सीधा प्रहार था । यह भारतीयो का 'अपमान था क्योकि अपने ही देश के सविधान के निर्माण का उत्तरदायित्व सौपना तो दूर उन्हे उसम भागीदार भी नही बनाया गया था । अत साइमन आयोग का बहिष्कार किया गया और प्रत्युत्तर (जवाब) मे सर्वसम्मति से 1928 मे नेहरू प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया जिसम सम्प्रभुता भारतीय जन मे निहित की गयी । यह प्रतिवेदन भारतीयो द्वारा अपने देश के सविधान निर्माण का पहला अवसर और प्रयास था ।

सन् 1930–32 म इग्लैण्ड म तीन गोल मेज सम्मेलनो का आयोजन भारतीय सविधान समस्या का हल ढूंढने के लिए किया गया परन्तु ये सम्मेलन अपने उद्देश्य म असफल रहे । सयुक्त ससदीय समिति ने भारतीयो द्वारा अपने सविधान निर्माण की माग को यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि "सविधान निर्माण का अधिकार देना इस समय व्यावहारिक नही । भारतीय सविधान सभा के विचार को एन० एन० राव ने भी प्रस्तुत किया । सन् 1934 म स्वराज दल ने आत्म निर्णय के सिद्धान्त की कार्यान्विति के लिए "भारतीय प्रतिनिधियो की एक सविधान सभा की माग की ।' काग्रेस ने भी 1934 म "वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित भारतीय प्रतिनिधियो की सविधान सभा को ही श्वेत पत्र का एकमात्र सन्तोषजनक विकल्प समझा ।"

---

1 देखिए काश्यप, डॉ० सुभाष सवैधानिक विकास और स्वाधीनता सघर्ष (रिसर्च दिल्ली), 1972, पृ० 237

भारतीयों द्वारा सविधान सभा की स्पष्ट माग सन् 1936 मे की गयी जब काग्रेस ने अपने फैजपुर अधिवेशन मे निम्न प्रस्ताव पास किया

"भारतीय केवल ऐसे सवैधानिक ढाचे को मान्यता दे सकते हैं जिसका निर्माण वे स्वय करें अथवा जो भारत को राष्ट्र के रूप मे मान्यता देकर देश की स्वतन्त्रता पर आधारित हो तथा जिसे उसकी आवश्यकताओ और आशाओ के अनुसार विकास की पूर्ण गुजाइश हो सके। काग्रेस का उद्देश्य भारत मे एक ऐसा लोकतन्त्र राज्य स्थापित करना है जिसमे राजनीतिक शक्ति का हस्तान्तरण जनता को किया जा सके और सरकार उसके प्रभावपूर्ण नियन्त्रण मे हो। ऐसे राज्य की स्थापना केवल ऐसी सविधान सभा द्वारा हो सकती है जिसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर हो और जिसे देश का सविधान बनाने का अंतिम अधिकार हो।"

काग्रेस द्वारा उपयुक्त प्रस्ताव पास होने के बाद काग्रेस ने प्रतिवर्ष सविधान सभा की माग की। जसाकि नेहरूजी ने फजपुर अधिवेशन मे ही कहा था कि सविधान सभा की माग 'आज की काग्रेस की नीति का आधार स्तम्भ है।'[1] सन् 1937 में प्रान्तीय निवाचना मे सफलता प्राप्त करने के बाद काग्रेस ने यह दावा करना शुरू कर दिया कि जनता ने '*सविधान सभा की माग की पुष्टि कर दी है। अन काग्रेस* ने इस माग को दृढतापूवक दोहराना शुरू कर दिया। सन् 1938 और 1939 म इस माग को फिर दोहराया गया। नवम्बर 1939 म काग्रेस कायकारिणी समिति न एक प्रस्ताव द्वारा यह विचार व्यक्त किया कि 'किसी भी स्वतन्त्र देश के सविधान का निर्धारण करने क लिए सविधान सभा ही एक लोकतन्त्रात्मक उपाय है *सविधान सभा ही साम्प्रदायिक तथा अन्य कठिनाइयो को सुलझाने का उपयुक्त साधन* है।[2] गाधीजी ने भी हरिजन (19 नवम्बर 1939) म इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये। सन् 1940 मे काग्रेस ने रामगढ अधिवेशन मे इस बात को दोहराया कि "सविधान सभा के अतिरिक्त दूसरा कोई रास्ता नही है।"

**सविधान सभा की माँग की स्वीकृति**—ब्रिटिश शासन एक न एक बहाने से भारतीयो की सविधान सभा की माग को टाल रहे थे परन्तु *द्वितीय महायुद्ध की* आवश्यकताओ न ब्रिटिश शासको को भारतीयो की इस माग को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। 8 अगस्त 1940 के प्रस्तावो म यद्यपि भारतीयो की सविधान सभा की माग को प्रत्यक्षत स्वीकार नही किया गया था परन्तु इस बात को तो स्वीकार कर ही लिया गया था कि "भारतीय सविधान के निर्माण का काय मुख्यत भारतीयो की ही जिम्मेदारी है।" माच 1942 के *क्रिप्स प्रस्तावो* म भारतीयो की इस माँग

1 दक्षिण कश्यप, डा० सुभाष पू० उ० पृ० 242
2 वही पृ० 244

की स्पष्टत स्वीकार किया गया था यद्यपि इसे भविष्य की अनिश्चितता के वातावरण म रख दिया गया था । क्रिप्स प्रस्तावा म स्पष्ट कहा गया था कि "युद्ध के तत्काल बाद सविधान बनाने के उद्देश्य से एक निर्वाचित सविधान सभा का निर्माण किया जायगा । क्योंकि क्रिप्स प्रस्ताव अनिश्चित और अस्पष्ट थे अत काग्रेस ने इन्हे अस्वीकार कर दिया । सन् 1942 के 'भारत छोडो' प्रस्ताव म काग्रेस ने यह घोषणा की थी कि स्वाधीनता के बाद अस्थायी राष्ट्रीय सरकार एक सविधान सभा का आयोजन करेगी जो देश के लिये एक सवमान्य सविधान का निमाण करेगी ।' क्योंकि भारत छोडो आन्दोलन म सभी काग्रेसी नेता जेलो म थे अत सविधान सभा की प्रगति की ओर 1945 तक कोई कदम नही उठाये गये । 19 सितम्बर 1945 ो वायसराय लाड ववल की घोषणा मे यह दोहराया गया कि केन्द्रीय और प्रान्तीय ंधान सभाओ के निर्वाचन के बाद सरकार यथाशीघ्र सविधान सभा बुलाना ाहती है ।

## केबिनेट मिशन योजना[1] और सविधान सभा की स्थापना

केबिनेट योजना म भारतीय सविधान सभा के निमाण के सम्बन्ध म जो ाव किये गये थे उन्हे निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है —

(i) सविधान सभा के कुल सदस्य 389 निश्चित किये गये थे ब्रिटिश भारत के लिये 296 (292 ब्रिटिश गवनर प्रान्तो के लिये और 4 मुख्य आयुक्तो वाले प्रान्तो के लिये) और 93 देशी रियासतो के लिये ।

(ii) सविधान सभा के सदस्यो के निर्वाचन के लिये वयस्क मताधिकार को अस्वीकार कर दिया गया था क्योंकि इससे देरी होने की सम्भावना थी अत प्रान्तीय विधान सभाओ को सविधान सभा के लिये निर्वाचन मण्डल बना दिया गया । सविधान सभा के सदस्यो का निर्वाचन अनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल सक्रमणीय प्रणाली के आधार पर किया जाना था अर्थात प्रान्त के लिये निर्धारित किये गये स्थानो को प्रान्त की मुख्य जातियो मे, उनकी जन सख्या के आधार पर विभक्त कर दिया गया था । प्रत्येक जाति के लिये निश्चित किये गये सदस्यो का उस जाति के विधान सभा के सदस्यो द्वारा निर्वाचित किया जाना था । इस तरह सविधान सभा के सदस्यो का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से किया जाना था ।

(iii) लगभग दस लाख व्यक्तियो के लिये एक प्रतिनिधि की व्यवस्था की गयी थी ।

(iv) केबिनेट मिशन ने केवल तीन जातियो को मान्यता दी थी—मुस्लिम सिक्ख और सामान्य । सामान्य जाति म वे सभी जातियाँ थी जो न तो

---

1 केबिनेट मिशन योजना को 16 मई 1946 को प्रकाशित किया गया था ।

मुस्लिम थी, न सिक्ख। इस तरह अल्पसख्यका को अब तक दी जाने वाली भारात्मक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को समाप्त कर दिया गया।

( v ) देशी रियासतो के प्रतिनिधियो के चयन के तरीके को विचार विमश द्वारा निर्धारित किया जाना था। प्रारम्भिक अवस्था म रियासता का प्रतिनिधित्व वाता समिति (Negotiating Committee) द्वारा किया जाना था परन्तु यहा भी यही विचार प्रचलित था कि ब्रिटिश भारत की तरह जनसख्या के अनुपात मे ही उन्ह प्रतिनिधित्व मिलना चाहिय।

( vi ) प्रान्तो को तीन समूहो मे बाटा गया था। समूह (अ) मे छ प्रान्त थे–मद्रास (तमिलनाडू), बम्बई, यू० पी०, बिहार, सी० पी० और उडीसा। समूह (ब) म तीन प्रा त थे—पजाब, एन० डब्ल्यू० एफ० पी० और सिन्ध। समूह (स) मे दो प्रान्त थे—बगाल और असम।

केबिनेट मिशन याजना के पेराग्राफ 19 के उप पेराग्राफ (iv) से (viii) तक मे सामान्य प्रक्रिया के सम्ब ध मे उल्लेख किया गया था जिसकी मुख्य बातें निम्न थी –

( i ) सविधान सभा के सदस्यो की बठक नई दिल्ली मे की जायगी। प्रारम्भिक बैठक म ही सभा के अध्यक्ष और अन्य पदाधिकारिया का निर्वाचन किया जायगा तथा नागरिका, अल्पमतवालो कबायली तथा वर्जित क्षेत्रो के अधिकारो के सम्बन्ध मे परामशदात्री समितिया की स्थापना की जायगी। इसके बाद प्रतिनिधियो को अपने अपने समूहा मे विभक्त होना था।

( ii ) समूह प्रान्तीय सविधानो का निश्चित करेंगे तथा इस बात का भी निधारण करेंगे कि क्या अमुक समूह मे आन वाले प्रान्तो का समूह सविधान (Group Constitution) होगा या नही। यदि समूह सविधान हागा तो उस कौन स प्रान्तीय विषय दिये जायेंग। प्रान्तो का समूह से पृथक होन का अधिकार था। समूह स पृथक रहने वाला प्रान्त अपने पृथक सविधान का निर्माण कर सकता था।

( iii ) प्रान्ता और समूहा क सविधान के निर्माण होन क बाद समूहा और भारतीय दशी रियासता के प्रतिनिधिया का भारत सध क सविधान के निमाण के लिय पुन इकट्ठे हाना था। इस तरह कैबिनेट मिशन याजना म पहल प्रान्तीय, फिर समूह और फिर भारत के सघीय सविधान के निमाण की व्यवस्था की गयी थी।

( iv ) सभा के अध्यक्ष न ही इस बात का निणय करना था कि कौन स प्रस्ताव साम्प्रदायिक विषया का उत्पन्न करन हैं। यदि प्रमुख जातिया

के प्रतिनिधियो का बहुमत माग करे तो अपने निर्णय को देने से पूर्व अध्यक्ष सघीय न्यायालय से परामर्श ले सकता था ।

## सविधान सभा की रचना
## (Composition of the Constituent Assembly)

केबिनेट मिशन योजना के अनुसार सविधान सभा के सदस्यो की कुल सख्या 389 निश्चित की गयी थी, ब्रिटिश गवनर प्रान्तो के लिये 292, ब्रिटिश चीफ कमिश्नर प्रान्तो के लिये 4 और देशी रियासतो के लिये 93 सख्या निश्चित की गयी थी ।

सविधान सभा के लिय निर्वाचन जुलाई, 1946 मे हुए । ये चुनाव केवल ब्रिटिश प्रान्तो म कराये गय । सविधान सभा के सदस्यो का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से प्रान्तीय विधान सभाओ द्वारा किया गया । निर्वाचनो मे 212 सामान्य स्थानो म मे काग्रेस को 203 स्थान प्राप्त हुए । इसके अतिरिक्त काग्रेस दल को 4 मुस्लिम और 1 सिक्ख स्थान भी प्राप्त हुए । इस तरह ब्रिटिश प्रान्तो के कुल 292 स्था म काग्रेस को 208 स्थान प्राप्त हुए । सविधान सभा म काग्रेस को 69 7 प्रतिश बहुमत प्राप्त हुआ था । मुस्लिम लीग को 78 सुरक्षित स्थानो म से 73 स्था प्राप्त हुए । शेष 16 स्थान पाच भिन्न भिन्न दलो को प्राप्त हुए । इनम सिक्खो को 3, यूनियनिस्ट दल को 3 साम्यवादियो को 1 डा० अम्बेडकर की अनुसूचित जाति की फेडरेशन को 1 और निर्दलीय उम्मीदवारो को 8 स्थान प्राप्त हुए ।

सविधान सभा म काग्रेस के बहुमत को देखकर मुस्लिम लीग बौखला गयी और उसन 29 जुलाई 1946 के प्रस्ताव द्वारा केबिनेट मिशन योजना को अस्वीकार कर दिया और पाकिस्तान के लिये पृथक सविधान सभा के निर्माण की माग करने लग गयी ।

सविधान सभा की प्रथम बैठक नई दिल्ली म 9 दिसम्बर 1946 को वतमान ससद भवन के केन्द्रीय कक्ष (Central Hall) म हुई । पहले दिन 207 सदस्यो न इसकी बैठक म हिस्सा लिया । डा० सच्चिदानन्द सिन्हा, जो सविधान सभा के वयोवृद्ध सदस्य थ, सविधान सभा के अस्थायी सभापति चुने गय । 11 दिसम्बर 1946 को डा० राजेन्द्रप्रसाद सविधान सभा के स्थायी सभापति निर्वाचित हुए । सविधान सभा की प्रथम बैठक म मुस्लिम लीग क सदस्य शामिल नही हुए क्योकि उसन सविधान सभा का बहिष्कार कर दिया था । देशी रियासतो के प्रतिनिधि भी इसम शामिल नही हो सके क्योकि वार्ता समिति (Negotiating Committee) द्वारा उनके चयन के सम्बन्ध म कोई निश्चय नही हो सका ।

3 जून 1947 को माउण्ट बेटन योजना की स्वीकृति और भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम द्वारा पाकिस्तान की स्थापना म सविधान सभा की रचना म कुछ परिवर्तन आ गया । अब इसके कुल सदस्यो की सख्या 324 निश्चित की गयी ब्रिटिश प्रान्त के लिय 235 और देशी रियासतो के लिय 89 स्थान निश्चित किय ।

लीग के उन सदस्यो ने, सविधान सभा म भाग लिया जिन्होने भारत मे रहने का निश्चय किया । हैदराबाद रियासत के प्रतिनिधियो को छोड कर अन्य सभी देशी रियासतो के प्रतिनिधियो ने सविधान सभा की बठको म हिस्सा लिया । इस तरह जहा ब्रिटिश प्रान्तो के सविधान सभा के सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से प्रा तीय विधान सभाओ द्वारा निर्वाचित हुए थे वहा देशी रियासतो के प्रतिनिधि रियासतो के नरेशो द्वारा मनोनीत किये गये थे । इस सविधान सभा मे काग्रेस को 82 प्रतिशत बहुमत प्राप्त था ।

सविधान सभा के कुल 12 अधिवेशन हुए जिनमे 165 दिन लगे । इन 165 दिनो म 114 दिन सविधान के प्रारूप पर विचार करने क लिये व्यतीत हो गये । कुल मिलाकर 2 वर्ष 11 महीने और 17 दिनो म सविधान बनकर तैयार हुआ । यद्यपि सविधान 26 नवम्बर 1949 को बनकर तयार हो गया था परन्तु इसे 26 जनवरी 1950 को लागू किया गया । अन्तिम रूप म सविधान मे 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचिया थी । इस सविधान निर्माण के काय पर 63,96,729 रुपये खच हुए ।

## क्या सविधान सभा सम्प्रभु सस्था थी ?

## (Was Constituent Assembly a Sovereign body ?)

सविधान सभा के सम्बन्ध म प्राय यह प्रश्न किया जाता है कि क्या यह एक सम्प्रभु सस्था थी ? एक विचार यह है कि यह सम्प्रभु सस्था नही थी । क्योकि इसे ब्रिटिश इच्छा द्वारा उत्पन्न किया गया था अत इसे ब्रिटिश इच्छा द्वारा समाप्त किया जा सकता था । क्योकि इसे भारतीय जनता द्वारा निर्वाचित नही किया गया था अत इसके पास कोई अपनी शक्ति या सत्ता नही थी । यह भारतीय जनता के लिय बोल या काय नही कर सकती थी । यथार्थत यह मत सही था । ब्रिटिश नौकरशाही का ही नही बल्कि कुछ भारतीय नेताओ का भी यही मत था । गाँधीजी का कहना था कि 'किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न की गयी सस्था का सम्प्रभु सस्था कहना उचित नही ।'[1] फिर भी गाधीजी चाहते थे कि इसमे सभी दलो को भाग लेना चाहिये । एम० आर० जयकर ने तो सविधान सभा क प्रारम्भिक अधिवेशन म इसके सम्प्रभु होने के दावे को चुनौती दी थी । उसका कहना था कि केबिनेट योजना न इसके ऊपर कुछ मर्यादायें[2] लगायी थी और मुस्लिम लीग की सहमति से ही उन्हे दूर किया जा

1 Gandhi Quoted by Austin The Indian Constitution Corner stone of a Nation p 7

2 केबिनेट मिशन द्वारा सविधान सभा पर लगायी गयी प्रमुख बाधायें य थी केन्द्रीय सरकार की शक्तियो मे सविधान सभा वृद्धि नही कर सकती थी । केबिनट मिशन न सुरक्षा, विदेशी मामले और सचार विषय ही केन्द्र सरकार को सौंप थ, समूहो म रखे गय राज्यो म परिवतन नही किया जा सकता था । लीग सविधान सभा मे भाग म सबसे बडी बाधा थी ।

सकता है । जयकर ने तो उद्देश्य प्रस्ताव को गलत अवध समयपूर्व सवनाशी और भयानक' कहकर सम्बोधित किया था ।

परन्तु उपयुक्त विचार सवमान्य नही था । सवमान्य विचार यही था कि सविधान सभा पर मर्यादायें होते हुए भी यह सम्प्रभु सस्था थी क्योकि केबिनेट मिशन योजना को, जिसके अन्तगत सविधान सभा को गठित किया था भारतीय जनता ने स्वीकार कर लिया था । अत सविधान सभा का भारतीय जनता का यद्यपि इसका निर्वाचन प्रत्यक्ष जनता द्वारा नही हुआ था, समथन प्राप्त था और वह एक सम्प्रभु सस्था थी । यह भारतीय जनता के लिय काय कर सकती थी तथा उसके लिय बोल सकती थी ।

सविधान सभा के अधिकाश सदस्यो बुद्धिजीवियो और विधि विशेषज्ञो का यही मत था कि भारतीय सविधान सभा सम्प्रभु सस्था थी । नेहरू, प्रसाद, आजाद गोपाल स्वामी आयगर आदि का भी यही विचार था । नेहरूजी ने तो स्पष्ट कहा था कि 'सरकारे राजकीय पत्रो से पदा नही होती । वास्तव म व जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है । हम आज यहा इसलिय एकत्रित हो पाय है क्योकि हमारे पीछे जनता की शक्ति है और जहा तक जनता चाहेगी, वहा तक हम जायेग । डा० राजन्द्रप्रसाद ने मर्यादाओ का स्वीकार करते हुए कहा था कि सविधान सभा 'एक स्वशासी, स्वनिर्णयिक, स्वतन्त्र सस्था थी ।" उनका कहना था कि बाहर की किसी शक्ति को यह अधिकार नही कि वह उसकी कायवाही म हस्तक्षेप करे या उसके निणयो को बदल । सविधान सभा उन मर्यादाओ को भी नष्ट कर सकती थी जो उसके जन्म के समय उस पर लगायी गयी थी । श्री पुरषोत्तमदास टण्डन न तो भारतीय सविधान सभा की तुलना फ्रास की सविधान सभा स की थी जिसन राजा के आदेशो को मानने से इन्कार कर दिया था ।

सविधान सभा के सम्प्रभु होने का तत्व तो इसी बात से स्पष्ट है कि उसने वायसराय लाड वेवल के इस दावे का मानने से इन्कार कर दिया कि वह सविधान सभा के अध्यक्ष को नियुक्त कर सकता था । सविधान सभा न पहले दिन स्वय डा० सच्चिदानन्द सिन्हा को अपना अस्थायी सभापति चुना और 11 दिसम्बर 1946 को डा० राजेन्द्रप्रसाद को अपना अस्थायी सभापति (अध्यक्ष) निर्वाचित किया । सविधान सभा न अपने आपको सम्प्रभु मानकर ही अपनी कायवाही को सम्पन्न किया और नियमो का निर्माण किया । एक नियम म तो स्पष्ट रूप स कहा गया था कि "सभा का विघटन केवल तभी हो सकता था जबकि उसके कुल सदस्यो के कम से कम दो तिहाई सदस्य इस आशय का प्रस्ताव पास कर दे ।'[1] इस नियम का स्पष्ट अथ यह था कि न ता कोई बाह्य सत्ता और न कोई बहुत थाडा सा बहुमत सविधान

1 Rule 7 Ch III Constituent Assembly Rules of Procedur Standing Ord to दलित्रे काश्यप डा० सुभाष पू० उ०, पृ० 256

सभा गो भग कर सकता था। नेहरू जी ने तो स्पष्ट कहा था कि सविधान सभा भारतीय लोगो की है, ब्रिटिश शासन इसे पशु शक्ति द्वारा ही भग कर सकता है।

3 जन 1947 की माउण्ट बेटन याजना की स्वीकृति और भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने सविधान सभा के स्वरूप मे तीन महत्वपूर्ण परिवतन ला दिये (ı) 16 मई 1946 की केबिनेट मिशन योजना न सविधान सभा पर जो मर्यादायें लगायी थी वे अब समाप्त हो गयी, (ıı) मुस्लिम लीग के सविधान सभा म उपस्थित होने से जिन बाधाओ के उपस्थित होने की सम्भावना थी व अब समाप्त हो गयी। देश का विभाजन होने से मुस्लिम लीग के अधिकाश प्रतिनिधि पाकिस्तान चले गये थे, (ııı) सविधान सभा भारतीय अधिराज्य के लिये सविधान निर्माण के लिये सम्प्रभु सस्था बन गयी। इसकी भूमिका अब दोहरी थी। इसने न केवल सविधान सभा के रूप मे काय किया बल्कि नवीन सविधान के निर्माण होने तथा उसके लागू होने तक इसने भारतीय ससद के रूप मे भी काय किया।

स्पष्ट है कि सविधान सभा ने अपने ज म काल मे जिस सम्प्रभु रूप को ग्रहण किया था भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने उसे वह सम्प्रभु रूप वधानिक रूप से प्रदान कर दिया।

### क्या सविधान सभा एक प्रतिनिध्यात्मक सस्था थी ?
### (Was Constituent Assembly a Representative Body ?)

भारतीय सविधान सभा के सम्बन्ध मे उसके प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप पर भी आपत्ति उठाई जाती है। आलोचको का कथन है कि सविधान सभा एक प्रतिनिधि सस्था नही थी। इसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष जनता द्वारा नही किया गया था। इनका कहना था कि जिस सविधान सभा का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से उन प्रान्तीय विधान सभाओ द्वारा किया गया जिनका स्वय का निर्वाचन साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली द्वारा हुआ था उसे प्रतिनिधि सस्था नही कहा जा सकता। यही कारण है कि सविधान सभा के कुछ सदस्यो ने सविधान की प्रस्तावना म इन शब्दो 'हम भारत क लाग' पर ही आपत्ति उठाई थी। उनका कहना था कि जब सविधान सभा का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नही किया गया तो 'हम, भारत क लोग' शब्दो का प्रयोग कैसे किया जा सकता है ? श्री दामोदर स्वरूप न इसी प्रकार की आपत्ति सविधान सभा म उठाई थी।

दूसरी आलोचना इस आधार पर की जाती है कि सविधान सभा मे काग्रेस दल का पूर्ण बहुमत था अत यह एक दलीय, एक जातीय सविधान सभा थी। जसाकि ग्रास्टिन ने लिखा है कि 'सविधान सभा एक दलीय देश म एक दलीय सस्था था।'"[1]

---

1 'There was hardly any shade of public opinion, not repre sented in the Assembly " Santhanam, K Quoted by Austin, Granville, Ibid, P 13

चर्चिल इसे "देश की एक बडी जाति का प्रतिनिधित्व मानते थे। लार्ड साईमन ने इसे "एक हिन्दू सस्था" की सज्ञा दी थी और यह प्रश्न पूछा था कि क्या सरकार दिल्ली मे सवर्ण हिन्दुओ की इस बैठक को सविधान सभा कह सकती है ?"

भारतीय विधान सभा के प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप के सम्बन्ध मे उपयुक्त आपत्तिया सकीर्णता की द्योतक है और सविधान सभा की सरचना और कार्यवाही से अनभिज्ञता की द्योतक है।

भारतीय जनता द्वारा निर्वाचित न होने पर भी सविधान सभा पूर्णतया प्रतिनिधि सभा थी। यह सत्य है कि प्रतिनिधि सभा के लिये जनमतो (Popular Vote) की आवश्यकता होती है परन्तु भारतीय सविधान सभा के सम्बन्ध म इस बात की उपेक्षा नही की जा सकती कि इसम भारत की सभी जातियो, सभी वर्गों, हितो, प्रदेशो आदि का प्रतिनिधित्व था। यह सत्य है कि इसम काग्रेस दल का बहुमत था परन्तु यह कहना गलत है कि इसम अन्य दलो का प्रतिनिधित्व नही था या यह केवल हिन्दू सस्था थी। सविधान सभा म हिन्दू महासभा, अनुसूचित जातिया की फेडरेशन का प्रतिनिधित्व भी था। काग्रेस नीति के फलस्वरूप सविधान सभा म सभी जातियो, (चाहे वे बहुसख्यक थी या अल्पसख्यक), सभी प्रदेशो, सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व था। जहा केबिनट मिशन योजना म केवल सामान्य, मुस्लिम और सिक्खो के स्थान ही निर्धारित किया था वहा काग्रेस दल ने सामान्य स्थानो के लिये सभी जातियो हिन्दुओ, मुसलमानो, पारसियो, आग्ल भारतीयो, भारतीय ईसाइयो, अनुसूचित जातियो आदि के सदस्यो को अपने प्रत्याशियो के रूप म खडा किया था। उदाहरणार्थ सविधान सभा म भारतीय ईसाइयो के 7 प्रतिनिधि थे, आग्ल भारतीयो के 1 प्रतिनिधि थे, पारसियो के 3 प्रतिनिधि थे। विभाजन के बाद प्रान्तो म निर्वाचित किये गये 235 स्थानो म से 88 स्थानो पर अल्पसख्यको के प्रतिनिधि थे अर्थात् सविधान सभा मे 37 प्रतिशत स्थान अल्पसख्यको के पास थे। [illegible] ने कहा है कि भारतीय जनता का शायद ही कोई ऐसा भाग था जिसका प्रतिनिधित्व सविधान सभा म नही था। सविधान सभा म केवल प्रमुख और महत्वपूर्ण दलो का ही प्रतिनिधित्व नही था बल्कि इसम पूँजीपतियो, मध्यम वर्ग और श्रमिको का भी प्रतिनिधित्व था। काग्रेस ने उन लोगो को भी सदस्य बनाया जो विशेषज्ञ थे और जिनका नाम सविधान निर्माण म आवश्यक था। उदाहरणतया ए० के० अय्यर, एन० जी० [illegible] तथा डा० अम्बेदकर की सेवाए इसी आधार पर प्राप्त की गयी थी।

अनुसूचित जातियों के कुल सदस्यों में से 30, पाचों सिक्ख सदस्य, 7 भारतीय ईसाइयों में से 6, पिछड़ी जातियों के पाचो प्रतिनिधि, तीनों आग्ल भारतीय, तीनो पारसी और 80 मुसलमान सदस्यों में से 4 उपस्थित थे।" यह सत्य है कि मुस्लिम लीग के सदस्य सविधान सभा मे अनुपस्थित थे परन्तु यह कहना गलत है कि सविधान सभा मे मुसलमानों का कोई प्रतिनिधित्व नही था। वस्तुत अनेक मुसलमान तो काग्रेस टिकट पर ही निर्वाचित हुए थे। इस तरह सविधान सभा को "भारत की केवल एक प्रमुख जाति" "हिन्दुओ की सभा" या "सवर्ण हिन्दुओ की बैठक', की सज्ञा देना तथ्यों के विपरीत है।

भारतीय विधान सभा एक प्रतिनिधिक सस्था ही नही थी बल्कि यह एक महान सस्था थी जिसमे देश के राष्ट्र निर्माताओ स्वतन्त्रता सेनानियो, बुद्धिजीवियो, कानूनी विशेषज्ञ, (विधिशास्त्रियो), समाज सेवको, अवकाश प्राप्त न्यायाधीशो और सिविल सेवको, अध्यापको आदि ने भाग लिया था। इसमे केवल निर्वाचित सदस्य ही नही थे बल्कि उन लोगो को भी इसमे सहयोजित (Co opt) किया गया था जो अपने अपने क्षेत्र मे दक्ष थे। सविधान सभा मे भाग लेने वालो मे रूढिवादी, समाजवादी, प्रगतिवादी सभी विचारधारा वाले लोग विद्यमान थे। वस्तुत सविधान सभा के पास केवल विशेषज्ञो के प्रतिवेदन ही प्रस्तुत नही किये गये थे बल्कि लोक सगठनो और गैर-सरकारी व्यक्तियो के विचार भी प्रस्तुत किये गये थे। विचार प्रस्तुत करने वालो मे चेम्बर्स ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज तथा निजी कम्पनिया, बार एसोसिएशनो, भाषाई परिषदो तथा अल्पसख्यक वर्गों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। "कल्कि भगवान"[1] (एस० आर० चारी–ईश्वर का अवतार) के नाम से आये पत्र सविधान सभा के पास आये आदि।

सविधान सभा की कार्यवाही मे भाग लेने वाले प्रमुख नेता थे—प जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, डा राजेन्द्रप्रसाद, के० एम० मुन्शी, प्रो० के० टी० शाह, दामोदर स्वरूप सेठ, अल्लादी कृष्णस्वामी, बक्शी टेकचन्द, पी० के० सेन, मौलाना आजाद, सर एन० गोपालस्वामी आयगर, एच० वी० कमथ, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, डा० एच० सी मुकर्जी, डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी, डा० बी० आर० अम्बेदकर, प० गोविन्द वल्लभ पन्त बी० जी० खेर, बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन, जान मथाई, आचार्य कृपलानी, प० हृदयनाथ कुन्जरू, डा० एम आर जयकर श्रीमती सरोजनी नायडू, श्रीमती हसा मेहता और दुर्गाबाई देशमुख आदि।

सविधान सभा केवल अपनी सरचना मे ही प्रतिनिधिक सस्था नही थी बल्कि अपने विचार विमर्श और निर्णयो मे भी पूर्णतया लोकतान्त्रिक और प्रतिनिध्यात्मक थी। इसके सभी निर्णय प्राय समझौते और समन्वय की भावना से लिए गये जो

---

1 See Austin, Granville Ibid, P 324

बहुमत पर आधारित नही थे बल्कि सामान्य राय पर आधारित थे। मतैक्यता (सहमति) और समायोजन (Consensus and accommodation) इसके आधार स्तम्भ थे। यही कारण है कि जो सविधान निर्मित हुआ उसे जनमत की भारी सहमति और और स्वीकृति प्राप्त थी। सविधान सभा की लोकतान्त्रिक प्रक्रिया पर टिप्पणी करते हुये एम वी पायली ने लिखा है कि "वस्तुत यह एक महान लोकतान्त्रिक प्रयोग था जिससे विचार विमर्श को अत्यधिक सीमा तक प्रोत्साहित किया जाता। आलोचना के प्रति महान् सहिष्णुता का परिचय दिया गया और लम्बे वाद विवाद के प्रति कोई असहिष्णुता नही बरती गयी, किसी चीज का जल्दी मे पास नही किया गया, किसी चीज का थोपन का प्रयास नही किया गया। यह पूर्ण लोकतान्त्रिक प्रक्रिया थी जिस पर भारतीय गर्व कर सकते है।"[1] क्या ये सब भारतीय सविधान सभा के प्रतिनिधिक सस्था होने के द्योतक नही ? अर्थात भारतीय सविधान सभा पूर्णतया प्रतिनिधिक सस्था थी।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय सविधान सभा परोक्ष रूप से निर्वाचित होने और भारतीय जनता के प्रति उत्तरदायी न होने पर भी यह पूर्णतया प्रतिनिधि सस्था थी जो भारतीय जन की इच्छाओ को अभिव्यक्त करती थी। सविधान सभा के प्रतिनिधयात्मक स्वरूप का प्रमाण इस बात से भी मिल जाता है कि जब प्रथम निर्वाचनो मे विरोधी दलो ने सविधान सभा द्वारा बनाये गये सविधान को चुनौती दी और नई सविधान सभा द्वारा नये सविधान का आश्वासन दिया तो इन दलो को निर्वाचन मे मुँह की खानी पडी। यह तथ्य भी विधान सभा तथा उसके द्वारा निर्मित सविधान के लोकतान्त्रिक होने का प्रमाण है। इसी सविधान को तथा उसके द्वारा स्थापित सस्थाओ के पिछले 25 वर्षो मे सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया गया है।

## सविधान सभा का कार्य
### (Task of the Constituent Assembly)

सविधान सभा का मुख्य कार्य भारतीय सविधान को तैयार करना था। इसका कार्य लोकतान्त्रिक सरकार के ढाचे और परिवर्तन को स्थिरता तथा गति प्रदान करने वाली सस्थागत सरचनाओ को प्रदान करना था। दूसरा कार्य उन सस्थाओ को प्रदान करना (या उपलब्ध करना) था जो वर्धित सहभागिता (increased participation) को प्रेरणा दे सकें और बढती हुई मागो का समजिन कर सकें।

## सविधान सभा के उद्देश्य
### (Objectives of the Constituent Assembly)

विश्व की सभी सविधान सभाओ ने सविधान निर्माण के कार्य को शुरू करने

---

1 Pylee, M V Constitutional Government in India p 137

से पूव उसके उद्देश्यो (लक्षणा) की घोषणा करना आवश्यक समझा है। अत भारतीय सविधान के निर्माताओं ने भी सविधान निर्माण के काय को शुरू करने से पूव उन उद्देश्यो की घोषणा की जिनकी प्राप्ति के लिये उसका निर्माण किया गया था। यद्यपि इस 'उद्देश्य प्रस्ताव' को सविधान सभा म 13 दिसम्बर 1946 को प जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत किया गया था परन्तु इस आशा से कि लीग सविधान सभा मे शामिल हो जायगी इस पर विचार स्थगित कर दिया गया। सविधान सभा के दूसरे अधिवेशन म इसे 22 जनवरी 1947 को सवसम्मति से पास कर दिया गया। इस प्रस्ताव की मुख्य विशेषतायें निम्न थी—

(i) [सविधान सभा भारत को एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ता सम्पन्न गणराज्य घोषित करेगी और उसके भावी शासन के लिए एक ऐसे सविधान की रचना करेगी,

(ii) सविधान सभा ब्रिटिश भारत, देशी राज्यो तथा ऐसे राज्य क्षेत्रो को मिला कर जो उसमें सम्मिलित होना चाहते हैं एक सघ का निर्माण करेगी,

(iii) सघ के घटक स्वायत्तशासी एकक होगे, अवशिष्ट शक्तिया तथा सरकार व प्रशासन की सारी शक्तिया एकक के पास होगी सिवाय उन शक्तियो के जो सघ को सौंपी जायेगी।

(iv) प्रभुत्व सम्पन्न और स्वतन्त्र भारत की, उसके अगभूत भागो और शासन के अ गो की समूची शक्ति और सत्ता का स्रोत जनता होगी अर्थात् सारी शासन शक्ति का स्रात भारतीय जन मे निहित होगा

(v) विधि और सावजनिक नतिकता के अधीन भारत के सभी लोगा को सामाजिक, आर्थिक और न्याय प्राप्त होगा, सभी को अवसर की समानता हागी, सभी विधि के सम्मुख समान होगे तथा सभी को विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धम, उपासना, व्यवसाय और काय की गारन्टी होगी,

(vi) अल्पसख्यको पिछडे हुए और कबायली क्षेत्रा तथा दलित और अन्य पिछडे हुये वर्गों के लिए उपयुक्त सरक्षणो की व्यवस्था होगी

(vii) न्याय तथा सभ्य राष्ट्रा की विधि के अनुकूल गणराज्य के राज्य क्षेत्रा की अखण्डता की और जल, समुद्र तथा आकाश पर उसके प्रभुता अधिकारो की रक्षा की जायगी।

(viii) यह प्राचीन देश ससार मे अपना न्यायपूण और सम्मानपूण स्थान प्राप्त करेगा तथा विश्व शाति और मानव जाति के कल्याण के लिए अपना पूण तथा सहृप योग देगा।

'उद्देश्य प्रस्ताव की उपयुक्त विशेपताओं से स्पष्ट है कि इसमे किसी ऐसे

विषय को स्थान नही दिया गया था जो विवादास्पद हो। श्री के एम मुशी ने तो उद्देश्य प्रस्ताव को भारतीय "गणराज्य की कु जी" की सज्ञा दी।

## सविधान निर्माण में कठिनाइया
## (Difficulties in Constitution Making)

भारतीय सविधान सभा के समक्ष सविधान निर्माण मे अनेक प्रकार की कठिनाइया थी जिनका सविधान की सफलता कार्यान्विति के लिए समाधान करना अनिवार्य था और यह कहा जा सकता है कि सविधान निर्माताओ ने इन कठिनाइयो का समाधान करने मे पर्याप्त योग्यता, अनुभव और कुशलता का परिचय दिया। सविधान सभा के समक्ष जो प्रमुख कठिनाइया थी वे निम्न थी—

(i) सविधान निर्माताओ ने विश्व के सबसे बडे लोकतान्त्रिक देश के लिए सविधान का निर्माण करना था जिसमे अनेक प्रकार की भिन्नतायें—जाति, धर्म, भाषा, प्रदेश आदि पायी जाती थी और आज भी हैं। अनेकता मे एकता को ढूढना कोई आसान काय नही था। इतना ही नही, उस देश म लोकतन्त्र को सफल बनाने का प्रयास करना था जहा निधनता, निरक्षरता, रूढिवादिता और परम्परा का अत्यधिक प्रभाव था। जैसाकि अम्बेदकर ने कहा था कि "सवैधानिक नैतिकता स्वाभाविक भाव नही है, इसे उत्पन्न करने की आवश्यकता है।'

(ii) दूसरी प्रमुख समस्या जो भारतीय सविधान निर्माताओ के समक्ष थी, वह उन देशी रियासतो को भारतीय सघ म मिलाने की थी जो स्वतन्त्रता प्राप्ति पर आजाद हो गयी थी और किसी भी अधिराज्य मे मिल सकती थी या अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रख सकती थी। यह समस्या उस समय और भी अधिक जटिल हो गयी जब हैदराबाद जसे राज्यो ने स्वतन्त्र रहने की इच्छा को व्यक्त किया। अनेक नरेश तो लोकतान्त्रिक प्रणाली के ही विरोधी थे।

(iii) भारत मे सबसे विकट समस्या साम्प्रदायिकता की थी, विशेष कर उस समय जब पश्चिमी पाकिस्तान के मुसलमानो का हिन्दुओ के साथ व्यवहार उत्तेजनापूर्ण था। सविधान निर्माताओ को न केवल साम्प्रदायिक सहिष्णुता के वातावरण को उत्पन्न करना था बल्कि ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित दूषित साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली, गुरुभार पद्धति आदि को भी समाप्त करना था।

(iv) विभाजन के बाद भी भारत म अल्पसख्यको, पिछडी हुई जातिया, अनुसूचित जातिया और अनुसूचित जनजातियो की समस्या का समाधान करना था उनके हितो को सुरक्षित रखते हुए उनका विकास करना था।

(v) सविधान निर्माताओ के समक्ष सबसे विकट समस्या सुदृढ़, शक्तिशाली और स्थायी सघ के निर्माण की थी। इसमे न केवल राष्ट्रीय हितो की सुरक्षा करनी थी वल्कि प्रान्तीय और स्थानीय हितो का भी सन्तुष्ट करना था।

(vi) भाषा, क्षेत्रवाद जातिवाद आदि की समस्यायें भी वहुत जटिल थी जिनके स तोषजनक हल की आवश्यकता थी, आदि।

भारतीय सविधान निर्माताओ ने उपयु क्त तथा अन्य समस्याओ का वडी सजगता, सहनशीलता और लोकतान्त्रिक विचार-विमर्श द्वारा समाधान किया जिस पर कोई भी भारतीय गव कर सकता है।

## सविधान सभा की समितिया
### (Committees of the Constituent Assembly)

सविधान सभा ने सविधान निर्माण की समस्या के भिन्न भिन्न पहलुओ पर विचार विमश करने के लिए अनेक समितियो, उपसमितिया तथा तदय समितियो का गठन किया। इन समितियो म प्रमुख समितियाँ[1] निम्न थी—

1 **विशेषज्ञ समिति (Experts Committee)**—इस समिति का गठन तो सविधान सभा की प्रथम बठक से पूव ही जुलाई 1946 मे कांग्रेस कायकारिणी समिति ने कर दिया था। इसके अध्यक्ष प० जवाहरलाल नेहरू थे। अध्यक्ष के अतिरिक्त इसके सात अन्य सदस्य थे आसफ अली, के० एम० मुशी एन० जी० आयगर, के० टी० शाह, डी० वी० गाडगिल, हुमायू कबीर, के० सन्थानम। समिति ने कृष्ण कृपलानी को समिति का सहयोजित (Co opted) सदस्य बना लिया था। इसका निर्माण इसलिए किया गया था कि कांग्रेस सविधान निर्माण के काय मे बिलकुल देरी करना नही चाहती थी। इसका उद्देश्य सविधान सभा के लिए सामग्री जुटाना और सविधान के प्रारूप, नियमो और उद्देश्य प्रस्तावो को तैयार करना था। अध्यक्ष के अतिरिक्त इस समिति के कुल 7 सदस्य थे। इस समिति के अध्यक्ष प० जवाहरलाल नेहरू थे। अन्य सदस्य थे आसफ अली, कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी, हुमायूँ कबीर, के० सन्थानम, डी० आर० गाडगिल, के० टी० शाह और एन० गोपाल स्वामी आयगर।

2 **प्रारूप समिति (Draft Committee)**—इस समिति का गठन 29 अगस्त 1947 को किया गया। अध्यक्ष के अतिरिक्त इस समिति के कुल 6 सदस्य थे। इसके अध्यक्ष डा० भीमराव अम्बेदकर थे। इसके अन्य सदस्य थे के० एम० मुशी, मोहम्मद सादुल्ला, वी० एल० मित्तर, अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर, एन० गोपाल स्वामी आयगर तथा डी० पी० खेतान। वाद म मित्तर और खेतान के स्थानो पर एन० माधवराव तथा टी० टी० कृष्णमाचारी को नियुक्त किया गया। इस समिति

---

1 सविधान समितिया की कुल सख्या 15 से अधिक थी।

का मुख्य उद्देश्य सविधान सभा की परामर्श शाखा द्वारा तैयार किये गये सविधान की परीक्षा करना, फिर सविधान सभा मे सविधान के बारे मे जो निर्णय हो चुके थे, उन्हे प्रारूप सविधान मे समाविष्ट करना तथा पुन विचार के लिये सविधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत करना। प्रारूप समिति द्वारा तैयार किये गये सविधान पर ही सविधान सभा ने 114 दिन विचार-विमर्श किया।

3 **प्रक्रिया नियम समिति** (Committee on Rules of Procedure or Rules Committee)—इस समिति का गठन 11 दिसम्बर, 1946 को किया गया था। अध्यक्ष के अतिरिक्त इस समिति के 15 सदस्य थे। सविधान सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद इस समिति के अध्यक्ष थे। इसके अन्य सदस्य थे जगजीवन राम, शरत चन्द्र बोस, एफ० आर० एन्टनी, अल्लादि कृष्ण स्वामी अय्यर, बक्शी टेकचन्द, रफी अहमद किदवई, जे० ए० डी' सूजा, एन० गोपाल स्वामी अय्यगर, पुरुषोत्तम दास टण्डन, जी० बारदोलोई, बी० पट्टाभि सीतारमैय्या, के० एम० मुशी, एस० सी० खन्ना हरनाम सिंह गौर श्रीमती जी० दुर्गाबाई। इस समिति का उद्देश्य सभी प्रक्रिया सम्बन्धी नियमो, अध्यक्ष की शक्तियो, सभा के कार्य के सगठन तथा अधिकारियो की नियुक्ति और सभा मे होने वाले रिक्त स्थानो को भरने की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे सिफारिशें करना था। समिति द्वारा जो सिफारिशें की गयी उन पर सविधान सभा की सम्पूर्ण सदन की समिति ने 21, 22 और 23 दिसम्बर, 1946 पर विचार विमर्श कर स्वीकार कर लिया। परन्तु प्रक्रिया सम्बन्धी नियमो मे समय समय पर परिवर्तन करने पडे। इसका मूल कारण यह था कि देशी रियासतो के सवैधानिक तथा प्रशासनिक ढाचे मे परिवर्तन हो गया था और भारत 15 अगस्त 1947 को स्वतन्त्र हो गया था।

4 **सचालन समिति** (Steering Committee)—इस समिति का गठन 21 जनवरी, 1947 को किया गया। अध्यक्ष के अतिरिक्त इस समिति के 11 सदस्य थे। डा० राजेन्द्र प्रसाद इस समिति के अध्यक्ष थे। इसके अन्य सदस्य थे मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, वल्लभभाई पटेल, उज्जल सिंह, श्रीमती जी० दुर्गाबाई, एम० एच० प्रेटर, किरण शकर राय, सत्यनारायण सिन्हा, एम० ए० आय्यगर, एस० एन० मने, दीवान चमनलाल, के० एम० मुशी। इस समिति का उद्देश्य कार्य-सूची का निर्धारण करना तथा सभा, अनुभागो, समितियो और अध्यक्ष के लिये व्यापक सम्पर्क-साधन के रूप म कार्य करना था।

5 **परामर्श विचार** (Advisory Committee)—इस समिति का गठन 24 जनवरी 1947 को किया गया। अध्यक्ष के अतिरिक्त इसके 63 सदस्य थे। श्री वल्लभभाई पटेल इस समिति के अध्यक्ष थे। इसके अन्य प्रमुख सदस्य थे[1] सुरेन्द्र

---

1 समिति के सदस्यो के पूर्ण विवरण के लिए देखिए Appendix II pp 333–334 of Granville, Austin s Book The Indian Constitution Corner Stone of a Nation

मोहन घोष, वी० आई० मुनीस्वामी, पिल्ले, बलदेवसिंह, मेहरचन्द खन्ना, श्यामा प्रसाद मुखर्जी, जगजीवन राम, बी० आर० अम्बेदकर, जोगेन्द्र सिंह, प्रताप सिंह, ज्ञानी करतारसिंह, जे० ए० डिसूजा, फ्रैंक एन्टनी, होमी मोदी, अब्दुल समद खान, जयपालसिंह, मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, राजकुमारी अमृतकौर, गोविन्द वल्लभ पन्त, पुरुषोत्तमदास टडन, के० टी० शाह, खान अब्दुल गफ्फार खां, जे० बी० कृपलानी, के० एम० मुंशी, सेठ गोविन्द दास आदि। इस समिति का मूल उद्देश्य मूल अधिकारों की सूची, अल्पसंख्यकों की रक्षा सम्बन्धी धाराओं और कबाइली तथा वर्जित क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में रिपोर्ट प्रस्तुत करना था।

परामर्श समिति के कार्य की सुविधा के लिए दो उप समितियां बनाई गयी थी जो निम्न थी—

(a) मूल अधिकारों पर उपसमिति (Fundamental Rights Sub Committee)—इस उप-समिति में अध्यक्ष के अतिरिक्त 11 सदस्य थे। जे० बी० कृपलानी इस उप समिति के अध्यक्ष थे। इसके अन्य सदस्य थे एम० आर० मसानी, के० टी० शाह, राजकुमारी अमृत कौर, श्रीमती हंसा मेहता, ए० के० अय्यर, के०एम० मुंशी, हरनाम सिंह मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, बी०आर० अम्बेदकर, जयराम दास दौलत राम, के० एम० पनिक्कर। इसका उद्देश्य मूल अधिकारों के सम्बन्ध में रिपोर्ट प्रस्तुत करना था।

(b) अल्पसंख्यकों पर उप समिति (Minorities Sub Committee)—इस उप समिति में अध्यक्ष के अतिरिक्त 28 सदस्य थे। एच० सी० मुकर्जी इस उप समिति के अध्यक्ष थे। इसके अन्य प्रमुख सदस्य थे जगजीवन राम, मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, बी० आर० अम्बेदकर, जोगेन्द्र सिंह, उज्जल सिंह, होमी मोदी, पी० के० साल्व, एस० एच० प्रेटर, फ्रैंक एन्टनी, सी० राजगोपालाचार्य, गोविन्द वल्लभ पन्त आदि। इस उप समिति में कुछ ऐसे सदस्य भी थे जो संविधान सभा के सदस्य नहीं थे परन्तु जिन्हें समिति में सहयोजित (Co opt) किया गया था।

6 संघ शक्ति समिति (Union Power Committee)—इस समिति में अध्यक्ष के अतिरिक्त 15 अन्य सदस्य थे। पं० जवाहर लाल नेहरू इसके अध्यक्ष थे इस समिति के अन्य प्रमुख सदस्य थे बी० एल० मित्तर, एन० जी० आय्यगर, वी० टी० कृष्णामचारी विश्वनाथ दास, शरत चन्द्र बोस, पट्टाभि सीतारमैय्या, डी०पी० खेतान, कर्नल हिम्मत सिंह, बक्शी टेकचन्द आदि। इसका उद्देश्य संघ शक्तियों के सम्बन्ध में परामर्श देना था।

7 संघ संविधान समिति (Union Constitution Committee)—इस समिति में अध्यक्ष के अतिरिक्त 14 सदस्य थे। पं० जवाहरलाल नेहरू इसके अध्यक्ष थे। इस समिति के अन्य प्रमुख सदस्य थे मौलाना अब्दुल कलाम आजाद,

गोविन्द वल्लभ पन्त, जगजीवन राम, बी० आर० अम्बेदकर, ए० के० अय्यर, के० एम० मुंशी आदि।

8 सर्वोच्च न्यायालय पर तदर्थ समिति (Ad Hoc Committee on the Supreme Court)—इस तदर्थ समिति में अध्यक्ष के अतिरिक्त 4 सदस्य थे। श्री एस० वर्दाचारियर इसके अध्यक्ष थे। इसके अन्य सदस्य थे ए० के० अय्यर, बी० एल० मित्तर, के० एम० मुंशी, बी० एन० राव। श्री एस० वर्दाचारियर तो संविधान सभा के सदस्य ही नहीं थे। बी० एन० राव इसके संवैधानिक परामर्शदाता (Constitutional Adviser) थे। इस तदर्थ समिति का उद्देश्य सर्वोच्च न्यायालय के सम्बन्ध में रिपोर्ट प्रस्तुत करनी थी।

9 प्रांतीय संविधान समिति (Provincial Constitution Committee)—इस समिति में अध्यक्ष के अतिरिक्त 23 सदस्य थे। श्री वल्लभभाई पटेल इसके अध्यक्ष थे। इसके अन्य प्रमुख सदस्य थे पट्टाभि सीतारमैय्या, बी० जी० खेर, के० एन० काटजू, उज्जल सिंह, राजकुमारी अमृत कौर, जे० बी० कृपलानी आदि। इसका उद्देश्य प्रान्तों के संविधानों के सम्बन्ध में रिपोर्ट प्रस्तुत करना थी।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि प्रमुख समितियों के अध्यक्ष या तो पं० जवाहर लाल नेहरू थे या सरदार वल्लभभाई पटेल। वस्तुतः संविधान निर्माण में देश के इन दो महारथियों का ही प्रमुख हाथ था। दोनों ने संविधान के मूल सिद्धान्तों को निश्चित किया। जैसाकि ऑस्टिन ने लिखा है कि संविधान में आदर्शवादी और व्यावहारिक, परम्परागत व तकनीकी प्रकृति की धाराओं का समावेश इन दोनों व्यक्तियों के संयुक्त प्रभाव का सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।[1] इनके अतिरिक्त प्रसाद और आजाद का प्रभाव भी अत्यधिक था। हार्डग्रेव जूनियर ने नेहरू, पटेल, प्रसाद और आजाद को संविधान सभा के अन्दर "आभासी अल्पतन्त्र" (Virtual Oligarchy)[2] की संज्ञा दी है।

समितियों द्वारा जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये गये उन पर संविधान सभा में सविस्तार विचार-विमर्श किया गया। प्रारूप समिति के सदस्यों ने ही नहीं अपितु संविधान सभा के अन्य सदस्यों ने भी प्रारूप की अच्छी तरह छानबीन की। इसका परिणाम यह हुआ कि जब अंतिम रूप में संविधान बनकर तैयार हुआ तो उसमें 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियाँ थीं। संविधान के लम्बा और विस्तृत होने का एक कारण यह भी था कि संविधान निर्माता किसी चीज को कल्पनाओं पर नहीं छोड़ना चाहते थे। यथासम्भव संविधान में उन बातों को भी निविष्ट कर दिया गया जो अन्य संविधानों में अभिसमय द्वारा विकसित हुई हैं।

---

1 Austin, Granville Ibid, p 315

2 See Hardgrave Jr India Government & Politics in a developing nation p 45

## संविधान–सहमति और समायोजन की अभिव्यक्ति

**(Constitution–An Embodiment of Consensus and Accommodation)**

**संविधान निर्माण के उपागम और उसकी सफल कार्यान्विति (Approach to Constitution and its Successful Working)**—भारतीय संविधान निर्माण के उपागम और उसकी सफल कार्यान्विति के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। एक विचार यह है, भारतीय संविधान निर्माताओं ने संविधान निर्माण के समय दूसरे देशों के संविधानों से पर्याप्त मात्रा में व्युत्पादित (derive) किया है। दूसरा विचार यह है कि भारतीयों को स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व संसदात्मक प्रणालियों को कार्यान्वित करने का पर्याप्त अनुभव था। तीसरा विचार यह है कि भारत को सुयोग्य, प्रतिभाशाली, प्रबन्ध नेताओं और एक सुदृढ दल का सौभाग्य प्राप्त था। यद्यपि ये सब तत्त्व भारत में विद्यमान थे और इन्होंने संविधान निर्माण के कार्य में पर्याप्त योगदान दिया परन्तु सबसे प्रमुख बात यह थी कि भारतीय संविधान को भारतीय दृष्टिकोण से, उसकी परिस्थितियों और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये स्वयं भारतीयों द्वारा बनाया गया था। यह भारतीयों की महत्वाकांक्षाओं और अभिलाषाओं को अभिव्यक्त करता है। जैसाकि ऑस्टिन ने लिखा है कि 'भारत में कभी भी लोकप्रिय विश्वास का संकट उपस्थित नहीं हुआ।'[1] इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान निर्माता केवल पश्चिमी या पूर्वी (जैसे स्टालिन संविधान) संविधानों से प्रभावित नहीं थे। वे भारतीय परम्परा में समझौते और समन्वय की प्रवृत्तियों से अत्यधिक प्रभावित थे और संविधान निर्माण के समय संविधान निर्माताओं ने भारतीय परम्परा के इन दोनों उपागमों (approaches) का अनुसरण किया। भारतीय संविधान की सफल कार्यान्विति के लिए यही दो तत्त्व—समझौता (मतैक्यता) सर्व सम्मति (सहमति) और समन्वय (समायोजन) (Consensus and Accommodation) उत्तरदायी हैं। जैसाकि ऑस्टिन ने लिखा है कि "समायोजन को संविधान में समाहित किये जाने वाले सिद्धान्तों के सन्दर्भ में लागू किया गया, जबकि सहमति निर्णय प्रक्रिया का वह उद्देश्य था जो संविधान सभा की प्रभावशीलता का एक मात्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत है।"

1 *सहमति या सर्वसम्मति का सिद्धान्त* (Doctrine of Consensus)—भारतीय संविधान निर्माण की सबसे प्रमुख विशेषता यह रही है कि इनमें प्रमुख राजनीतिक प्रश्नों पर अन्तिम निर्णय सहमति (सर्वसम्मति) से लिए गये अर्थात् जटिल राजनीतिक प्रश्नों पर निर्णयों को बहुमत के आधार पर थोपा नहीं गया

---

1 "There has never been in India a crisis of popular confidence' Austin, Granville, Ibid p 329

बल्कि सहमति या "आम राय" से उन्हें तय किया गया। संविधान निर्माताओं की यह मान्यता इस धारणा पर आधारित थी कि जिन राजनीतिक प्रश्नों के साथ मानवीय भावनायें गहरे रूप से जुड़ी होती है उनका निपटारा बहुमत के आधार पर नहीं किया जा सकता। यदि बावन व्यक्तियों का निर्णय अडतालीस व्यक्तियों पर थोपा जाय तो वह भले ही नैतिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण न हो परन्तु राजनीतिक दृष्टि से वह अबुद्धिमत्तापूर्ण अवश्य होगा। भारतीय संविधान निर्माता इस बात से भी भली-भांति परिचित थे कि जो चीज किसी निर्णय को चिरस्थायी शक्ति प्रदान करती है वह जन सहमति है, साधारण बहुमत नहीं। यही कारण है कि जब कभी किसी जटिल विषय पर संविधान सभा में सहमति प्राप्त न होती तो उस विषय पर मतदान कराने के स्थान पर उस पर विचार को ही स्थगित कर दिया जाता और बाद में निजी वार्तालाप या अन्य भावना से सहमति प्राप्त करने का प्रयास किया जाता। अत सहमति (सर्वसम्मति) ऐसा तरीका है जिसमें परस्पर विरोधी भावनाओं, विचारधाराओं और दावों के बीच व्यापक सहमति के सूत्रों को ढूंढा जाता है और अन्तिम निर्णयों का सहमति या 'आम राय' के आधार पर निश्चित किया जाता है जैसाकि आस्टिन ने लिखा है कि "सहमति वह तरीका है जिसके अन्तर्गत सर्वसम्मति से या लगभग सर्वसम्मति से निर्णय लिये जाते हैं। यह वह तरीका भी है जिसके द्वारा एक निर्णय को वह महत्व प्रदान किया जाता है जो स्वयं उस निर्णय से कहीं अधिक होता है।"

सहमति (सर्वसम्मति) का यह अर्थ नहीं कि अन्तिम निर्णय के लिये 70, 75 80, 85, 90 या 100 प्रतिशत तक बहुमत प्राप्त हो। सहमति के सिद्धान्त के लिये संख्या का निर्धारित करना न तो आवश्यक है, न उपयोगी और न ही वांछनीय क्योंकि सभी समयों और सभी राजनीतिक प्रश्नों के लिये संख्या का निर्धारित करना सम्भव नहीं। सहमति में जिस बात की आवश्यकता है वह यह है कि मूल प्रश्नों पर व्यापक सहमति उपलब्ध हो यद्यपि विवरण की बातों में मतभेद बना रहे। जैसाकि डा० सुभाष कश्यप और विश्वप्रकाश गुप्त ने लिखा है कि "आम राय" (सहमति) सघर्ष का सहकारितापूर्ण समाधान है।"[1]

भारत के लिये सहमति का सिद्धान्त कोई नवीन सिद्धान्त नहीं था। यह उसकी प्राचीन परम्पराओं में निहित है। ग्राम पंचायतें इसी आधार पर निर्णय पर पहुंचती थीं। जाति पंचायतों ने तो इसे आज तक प्रभावशाली ढंग से बनाये रखा है। इसी परम्परा की परिपाटी को संविधान निर्माताओं ने संविधान के निर्माण के समय अपनाया और जटिल राजनीतिक प्रश्नों को सहमति के आधार पर हल किया जैसाकि आस्टिन ने लिखा है कि "नेतृत्व की दृष्टि में यह स्थायी समझौते के लिए एक नैतिक व प्रभावपूर्ण तरीका था और सामान्यजनों के लिये यह एक ऐसी सुपरिचित देशी

1 देखिये कश्यप और गुप्त राजनीति कोश (राजकमल प्रकाशन), पृ० 74

संस्था थी जो भारतीय संविधान के निर्माण में सहायक थी ।"[1] नेहरूजी ने भी संविधान सभा से आग्रह किया था कि "संविधान का निर्माण का उपयुक्त समय में सहमति के प्रति जितनी निष्ठा सम्भव हो का उसे देते हुए किया जाना चाहिये ।"

सहमति के सिद्धान्त का प्रयोग—भारतीय संविधान निर्माताओं ने संविधान के जिन प्रावधानों में सहमति के सिद्धान्त पर बल दिया उनमें प्रमुख वे प्रावधान थे जो या तो संघीय व्यवस्था से सम्बन्धित थे या भाषा से ।

संघीय व्यवस्था—में जिन प्रावधानों पर सहमति के सिद्धान्त का प्रयोग किया वे (a) शिक्षा के क्षेत्र में एक समान राष्ट्रीय मानक (Uniform National Standards), (b) रेलवे की सुरक्षा (c) संकटकालीन धारायें आदि । सहमति के बिना इन प्रश्नों का चिरस्थाई सफल हल निकालना कठिन था । यही कारण है कि सहमति प्राप्त करने के लिये प्रारूप समिति, संघीय शक्ति समिति, केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के सदस्यों, प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल के सदस्यों और शिक्षा तथा वित्त मन्त्रियों में अनेक बार विचार विमर्श हुआ । सहमति द्वारा लिये गये निर्णयों पर टिप्पणी करते हुए बी० जी० खेर ने लिखा है कि 'मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है कि विवेक की विजय हुई है और हमने ऐसे सिद्धान्त विकसित किये हैं जिन्हें केन्द्र व राज्य दोनों का व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है ।'

भाषा की समस्या—भाषा की समस्या पर जिस सीमा तक संविधान सभा में वाद विवाद हुआ वह बात का प्रतीक था कि संविधान सभा भावनाओं से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं पर सहमति उत्पन्न करने के लिये कितनी उत्सुक थी और वह उसे प्राप्त करने के लिये किस सीमा तक जा सकती है । भाषा के प्रश्न पर अन्तिम वक्तव्य को प्रारम्भ करते हुए डा० प्रसाद ने कहा था कि वे 'इस प्रश्न पर मतदान की अनुमति नहीं देंगे ।" उनका कहना था कि यदि कोई समझौता पूरे देश को मान्य नहीं हुआ तो उसका क्रियान्वयन कठिन होगा ।

यह सत्य है कि संविधान सभा में सहमति के सिद्धान्त को महत्व दिया गया था परन्तु सहमति को प्राप्त करना कोई सरल कार्य नहीं था । जैसाकि ग्रान्विल ने लिखा है कि संविधान सभा के सामान्य जन यद्यपि असामान्य क्षमता के व्यक्ति थे फिर भी उन्हें नेतृत्व की आवश्यकता थी' यह नेतृत्व नेहरू, पटेल प्रसाद आजाद, गायंगर तथा अन्य राष्ट्रीय और राज्य स्तर के नेताओं ने प्रदान किया जिन्होंने जटिल राजनीतिक प्रश्नों पर सहमति प्राप्त करने के लिये औपचारिक रूप से अपनी राजनीतिक सत्ता और अनौपचारिक रूप से अपने व्यक्तित्व प्रतिभा और लोकप्रियता का प्रयोग किया । वस्तुत इन नेताओं का नेतृत्व पितृकल्पीय (paternalistic) था । इसके अतिरिक्त सहमति एकता के आदर्शवाद व कुछ निश्चित राष्ट्रीय उद्देश्यों के वातावरण

1 Austin, *Granville* Ibid, P 311

2 Quoted by Austin Granville Ibid, P 311

का परिणाम थी। जैसाकि नेहरू ने कहा था कि संविधान सभा "एक अंधेरी घाटी से निकलकर स्वतन्त्रता की सूर्य किरणों तक पहुँची थी।" संक्षेप में, राष्ट्रीय भावना ने ही सहमति को उत्पन्न किया था।

क्या सहमति के सिद्धान्त को संविधान का अभिन्न अंग बनाया जा सकता था? प्रायः यह प्रश्न किया जाता है कि जिस सहमति के सिद्धान्त को संविधान निर्माण का आधार बनाया गया था उसे संविधान का अभिन्न अंग क्यों नहीं बनाया गया। क्यों न संविधान ने संसद और राज्य विधान सभाओं में निर्णयों के लिये सहमति के सिद्धान्त की व्यवस्था क्यों नहीं की? सही स्थिति यह है कि जिस सिद्धान्त का प्रयोग संविधान निर्माण के लिये किया गया था उसे शासन का आधार नहीं बनाया जा सकता था। इसके अतिरिक्त सहमति को परिभाषित करना कठिन था। जैसाकि प० कुंजरू ने कहा था कि "आधुनिक सरकार सहमति से सचालित नहीं हो सकती।" यह कहना कठिन है कि सहमति का अर्थ क्या 70, 75, 80, 85, 90 या 100 प्रतिशत सदस्यों की सहमति है। दूसरे सभी समयों और सभी विषयों के लिये सहमति का सिद्धान्त न तो सम्भव है और न ही अवसरोचित्य ही है। विधेयकों का वर्गीकरण करना भी कठिन है जिस पर सहमति की आवश्यकता होगी, आदि।

**2 समायोजन का सिद्धान्त (The Principle of Accommodation)**—भारतीय संविधान निर्माण की दूसरी प्रमुख विशेषता यह रही है कि इसमें समायोजन के सिद्धान्त को लागू किया गया है। समायोजन में दो परस्पर विरोधी मतों या कार्यों में सामञ्जस्य की दिशा में सतत प्रयास किया जाता है और उन्हें एक साथ कार्यशील बनाया जाता है अर्थात समायोजन में परस्पर विरोधी मतों या कार्यों के स्वरूपों में परिवर्तन किये बिना दोनों को कार्यान्वित किया जाता है? समायोजन में दोनों परस्पर विरोधी मत अखण्डित रहते हैं। जैसाकि आस्टिन ने लिखा है कि "समायोजन परस्पर विरोधी विचारधाराओं का, उनके स्वरूपों में परिवर्तन किये बिना, समाधान करने और उन्हें समन्वित करने की योग्यता है।" "समायोजन समझौता (Compromise) नहीं। जहां समायोजन एक विश्वास या दृष्टिकोण है वह समझौता एक तकनीक है। समझौता दो पक्षों द्वारा अपनी अपनी ओर से दी गयी रियायतों का परिणाम होता है क्योंकि इसमें प्रत्येक पक्ष अपने वांछनीय लक्ष्य के एक अंश का इसलिये परित्याग करता है कि वह दूसरे पक्ष के हित के विरुद्ध होता है। समझौता दोनों पक्षों द्वारा मान्य एक मध्यम मार्ग (Middle way or Golden mean or Half way-course) है। संविधान के आपात की अध्याय धारायें एक समझौता है।"

भारतीय संविधान में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जहां समायोजन के सिद्धान्त को लागू किया गया है। प्रमुख उदाहरण निम्न हैं —

(1) **अर्द्ध संघात्मक प्रणाली (Quasi Federal System)**—भारतीय संविधान में एक साथ दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं —संघात्मक और एकात्मक ।

कार्यशील बनाने का प्रयास किया गया है। यदि शान्तिकाल में संविधान संघीय व्यवस्था करता है अर्थात संविधान द्वारा केन्द्र और राज्यों में किया गया शक्ति विभाजन बना रहता है वहां संकटकाल में यही संविधान, बिना संवैधानिक परिवर्तन के, एकात्मक रूप ग्रहण कर लेता है। अध्याय 18 के अनुच्छेद 352 से 360 तक इसका स्पष्ट उल्लेख करते हैं। इतना ही नहीं, शान्तिकाल में भी राष्ट्रीय हित में अनुच्छेद 249 संसद को कार्य करने का अधिकार प्रदान करता है। इस तरह संघात्मक और एकात्मक सिद्धान्तों को एक साथ लागू करने की व्यवस्था भारतीय संविधान की अद्वितीय विशेषता है।

(ii) गणतन्त्रात्मक और राजतन्त्रात्मक सिद्धान्तों का समायोजन—भारतीय संविधान में गणतन्त्रात्मक और राजतन्त्रात्मक सिद्धान्तों का समायोजन किया गया है। यद्यपि संविधान निर्माताओं ने 1946 में ही भारत को गणतन्त्र घोषित कर दिया था फिर भी 1949 में उसी संविधान सभा ने यह निर्णय किया कि भारत उस संस्था का सदस्य रहेगा जिसके सर्वोच्च पद पर ब्रिटिश सम्राट है। संविधान लागू होने के बाद भी भारत राजतन्त्र की प्रतीक संस्था राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना हुआ है। जैसाकि ऑस्टिन ने लिखा है कि "भारत वह पहला राष्ट्र था जिसने गणतन्त्रवाद और राजतन्त्र के मध्य सामन्जस्य स्थापित किया।"

(iii) केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण का समायोजन—भारतीय संविधान में केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों का समायोजन किया गया है। नेहरूजी जहां शक्तिशाली केन्द्र के समर्थक थे वहां वे, जितना सम्भव हो सके, विकेन्द्रीकरण के पक्ष में भी थे। अतः संविधान ने जहां केन्द्र को शक्तिशाली बनाया वहां राज्यों को यह अधिकार भी प्रदान किया कि पंचायतों जैसी विकेन्द्रीकृत संस्थाओं का निर्माण भी करें। अतः जहां पंचायती राज विकेन्द्रीकरण का प्रतीक है वहां शक्तिशाली केन्द्र केन्द्रीयकरण का प्रतीक है।

भारत का वर्तमान संविधान समायोजन का सम्भवतः सर्वोत्तम उदाहरण है। इसमें अमरीकी संघीय व्यवस्था और न्यायिक पुनरावलोकन के तत्व विद्यमान हैं, साथ में कनाडियन संघीय व्यवस्था के तत्व भी विद्यमान हैं। ब्रिटेन की संसदात्मक प्रणाली भी यहां अपनाई गयी है और अमरीकी राष्ट्रपति तथा जर्मन चान्सलर की शक्तियों का समावेश भी किया गया है। आयरिश संविधान के नीति निदेशक तत्वों की झलक भी इसमें मिल जाती है और फेबियन समाजवादी तत्व भी देखने को मिलते हैं। परन्तु इस पर भी भारतीय संविधान की अपनी नवीनतायें हैं और इन सब सिद्धान्तों को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल ढाला गया है।

संविधान के लागू होने के बाद जिस ढंग से उसे लागू किया गया है वह भी सहमति और समायोजन के सिद्धान्तों को अभिव्यक्त करता है। उदाहरणतया जिस ढंग से संसद के सदन में भाषा के प्रश्न पर विचार, विमर्श किया गया तथा त्रि भाषाई फार्मूले को स्वीकार किया गया, जिस ढंग से भारतीय संघीय व्यवस्था के अन्तर्गत

राज्यो का पुनगठन किया गया, जिस ढग से राष्ट्रपति शासनो के बाद राज्यो मे पुन सामान्य सरकारो की स्थापना की गयी, जिस ढग से राष्ट्रीय एकता और सामाजिक पुनरुद्धार के कायक्रमो को लागू किया गया है, जिस ढग से मूल अधिकार और न्यायिक पुनरावलोकन, नीति निदेशक तत्व, राष्ट्रीय आयोजन, निवाचन प्रणाली राजनीतिक सवसत्ता के विरुद्ध काय करती है, ये तथा अन्य सब तत्व इस बात के प्रतीक है कि सहमति और समायोजन के सिद्धान्त भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के आज भी उसी प्रकार जीवित सिद्धान्त है जिस प्रकार उन्हे सविधान निर्माण के समय लागू किया गया था। वस्तुत, जसा कि ग्रास्टिन ने लिखा है कि "समायोजन की जडें भारतीय विचार-भूमि म निहित हैं। इस विचार की विशेपता यह है कि इसमे मतान्धता (dogmatism) का अभाव है।" स्पीयर ने भी लिखा है कि "हिन्दूवाद की आत्मसाती तथा समन्वयवादी विशेपतायें" भारतीय जीवन की दृष्टि बन गयी हैं। राधाकृष्णन का भी यही मत है कि भारत मे "धम मतान्ध नही।" नेहरूजी ने भी कहा था कि "पिछले हजारो वर्षों का भारतीय इतिहास भारत की एकता और उसकी सस्कृति की जीवन शक्ति और अनुकूलनीयता को प्रदर्शित करता है।"

उपयुक्त वणन से स्पष्ट है कि सविधान निर्माण मे भारत की दो मूल देनें है—सहमति और समायोजन।

## सविधान की आलोचना
## (Criticism of the Constitution)

जिन आधारो पर भारतीय सविधान की आलोचना की गयी है उन्हे मुख्यत निम्न तीन भागो म बाटा जा सकता है —

**1 भारतीय सविधान उधार कोष है (Indian Constitution–A Bag of Borrowing)**—प्रथम आधार जिस पर आलोचको ने भारतीय सविधान की आलोचना की है वह यह है कि इसमे नवीनता और मौलिकता का अभाव है। यह मुख्यत 'व्युत्पादित' (Derivative) सविधान है, यह केवल "अनुकृति" (Imitative) है, यह "उधार कोष" (A bag of Borrowing) है यह ऐसा भानुमति का पिटारा है जिसमे भिन्न-भिन्न तत्वो का मिश्रण है जो गडबड (Hotch Potch) की स्थिति मे है। आलोचको का कथन है कि इसमे ब्रिटेन की ससदात्मक प्रणाली, अमरीका के मूल अधिकारो और न्यायिक पुनरावलोकन की पद्धति, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और कनाडा की सघीय पद्धति, आयरलण्ड के नीति निदशक तत्वो आदि का अद्वितीय मिश्रण है। सविधान सभा के एक सदस्य लोकनाथ मिश्र ने तो इसे पश्चिम के "दासतापूण अनुकरण' और दासतापूण आत्म समपण" की सज्ञा दी। जी० वी० मवलकर को तो इस बात मे भी सन्देह था कि क्या यह सविधान देश की प्रतिभा (Genius) के अनुकूल है। सविधान सभा के एक अन्य सदस्य के० हनुमन्तैय्या ने सविधान की यह कह कर आलोचना की कि 'हम

वीणा और सितार के संगीत की अपेक्षा करते थे परन्तु हम ब्रिटिश बैण्ड की धुनें प्राप्त हुई हैं।"

कुछ आलोचकों का यह कहना था कि वर्तमान संविधान भारतीय शासन अधिनियम 1935 की दासतापूर्ण अनुकृति है। आलोचकों का कहना था कि 1935 के अधिनियम के उपबन्धों को शब्दशः या थोड़ा बहुत परिवर्तन करके वर्तमान संविधान में ज्यों का त्यों रख गया है। हाडग्रेव जूनीयर का मत है कि भारतीय संविधान निर्माताओं ने लगभग 250 उपबन्धों (अनुच्छेदों) को या तो शब्दशः या थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ 1935 के अधिनियम से प्राप्त किया है। डा० पंजाब राव देशमुख का विश्वास था कि संविधान अनिवार्य रूप से भारतीय शासन अधिनियम ही है जिसमें केवल वयस्क मताधिकार को ही जोड़ा गया है। श्री निवासन का भी यही मत है कि स्वतन्त्र भारत का संविधान 'भाषा और सार तत्व दोनों में 1935 के अधिनियम की निकट प्रतिलिपि है। प्रो० एम० पी० शर्मा का भी मत है कि 'संविधान ने स्पष्टतया या निहितार्थों में देश के वर्तमान ढांचे को पूर्णतया स्वीकार कर लिया है।" आदि।

यह सत्य है कि भारतीय संविधान निर्माता संविधान निर्माण के कार्य में विश्व के अन्य देशों के संविधानों और भारतीय शासन अधिनियम 1935 से अत्यधिक प्रभावित थे और उन्होंने दूसरे संविधानों के अनुभवों से लाभ उठाया परन्तु केवल इस आधार पर भारतीय संविधान को पश्चिम के संविधानों की प्रतिलिपि या भारतीय शासन अधिनियम 1935 का दासतापूर्ण अनुकरण कहना गलत है। वस्तुतः स्थिति यह है भारतीय संविधान निर्माताओं ने पश्चिम के संविधानों की त्रुटियों को दूर करते हुए उनकी अच्छाइयों को अपनाया और अपनाते समय भी उन्होंने उनका अन्धाधुन्ध अनुकरण नहीं किया बल्कि भारतीय परिस्थितियों और आवश्यकतानुसार उन्हें ढाला, अपनी सृजनात्मक शक्तियों द्वारा उन्हें परिवर्तित किया तथा उनमें समायोजन स्थापित करने का प्रयास किया। जैसाकि ग्रास्टिन ने लिखा है कि 'भारतीय संविधान निर्माताओं ने विदेशी धातु को भारतीय सिक्कों में कुशलतापूर्वक ढाला है।"[1] उदाहरण तया भारतीय संविधान निर्माताओं ने ब्रिटिश संसदीय प्रणाली को अपनाया परन्तु जहां ब्रिटेन में यह प्रणाली अभिसमय पर आधारित है वहां भारतीय संसदात्मक प्रणाली लिखित अभिलेख की उत्पत्ति है। दूसरे भारतीय संविधान निर्माताओं ने ब्रिटेन की एकात्मक प्रणाली का अस्वीकार करते हुए आस्ट्रेलियन और दक्षिण अफ्रीकी संविधान की संघीय व्यवस्था को अपनाया परन्तु यहां भी संघ को कनेडियन संविधान के निकट रखा। कनाडा की भांति भारतीय संघ 'राज्यों का संघ (Union of States) कहलाता है और अवशिष्ट शक्तियां केन्द्र के पास हैं। इसी प्रकार अमरीकी संविधान से मूल अधिकारों और न्यायायिक पुनरावलोकन की पद्धति को

1 The framers of the Indian Constitution turned "Foreign Metals into Indian Coin Austin Granville Ibid P 321

A

अपनाया परन्तु यहा नागरिको के अधिकारो के साथ अपवाद, (Exceptions) मर्यादायें और शर्तें (Proviso) जोडी गयी हैं । भारत मे न्यायिक पुनरावलोकन को भी अमरीका की भाति 'कानून की उचित प्रक्रिया' (Due Process of Law) पर आधारित नही किया गया बल्कि "कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया"(Procedure Established by Law) पर आधारित किया गया है । इसी प्रकार राज्य के नीति निदेशक तत्त्व आयरलैण्ड से अवश्य प्राप्त किये गये परन्तु उनमे गाधीवादी तत्त्वो को भी जोड दिया गया । राष्ट्रपति की सकटकालीन शक्तिया जर्मनी के वीमर सविधान (Weimer Constitution of Germany) से अवश्य मिलती है परन्तु यहा भी उनका प्रयाग भारतीय परिस्थितियो के अनुकूल किया गया है । यदि अनुच्छेद 356 के अनुसार राज्यो मे "राष्ट्रपति शासन" (President's Rule) लागू किया गया तो सामान्य स्थिति मे सविधान का पुन स्थापित कर दिया गया ।

उपयुक्त आधार पर भारतीय सविधान की आलोचना करने वाले आलोचक इस तथ्य को भूल जाते है कि भारतीय सविधान निर्माता किसी मौलिक सविधान को उत्पन्न करना नही चाहते थे । वे तो ऐसा सविधान चाहते थे जो भारतीय परिस्थितियो मे काम योग्य (Workable) हो और फिर किसी शासन पद्धति पर किसी देश की बपौती नही होती । हर देश के सविधान निर्माताओ ने इतिहास के अनुभवो से लाभ उठाते हुए अपने देश की परिस्थितियो के अनुकूल अपने सविधान का सृजन किया है । भारतीय सविधान निर्माताओ ने भी ठीक यही किया । जैसाकि डा अम्बेदकर ने सविधान सभा मे कहा था कि "क्या उस सविधान से नवीनता की आशा की जा सकती थी जिसे विश्व के इतिहास मे इतनी देरी से बनाया गया हो । सौ वर्षो से अधिक समय बीत चुका है जब प्रथम लिखित सविधान का निर्माण किया गया था । उसके बाद अनेक देशो ने लिखित सविधानो का निर्माण किया है इन तथ्यो को ध्यान पर सभी सविधानो के मुख्य उपबन्ध समान प्रतीत होते है । जिस सविधान को इतनी देर से बनाया गया हो उसमे यही नवीनता हो सकती है कि वह अन्य देशो के सविधानो की त्रुटियो को दूर करके उनकी अच्छाइयो को अपने देश की आवश्यकताओ के अनुकूल समन्वित करे ' [1] और भारतीय सविधान निर्माताओ ने ठीक यही किया ।

यह सत्य है कि भारतीय सविधान निर्माताओ ने सविधान निर्माण के समय 1935 के अधिनियम का अत्यधिक सहारा लिया और 1935 के अधिनियम के अनेक उपबन्धो को शब्दश या कुछ परिवर्तन के साथ वर्तमान सविधान मे ज्यो का त्यो लिख दिया । उदाहरणतया वर्तमान सविधान का अनुच्छेद 251 (जो केन्द्रीय कानूनो मे भिन्नता होने से सम्बन्ध रखता है) 1935 के अधिनियम की धारा 107 के अनुकूल है । इसी प्रकार वर्तमान सविधान का अनुच्छेद 256 (जो राज्य की कार्यपालिका

1 C A D Vol VII pp 37 38

शक्ति की पार्याप्ति से सम्बन्धित है) 1935 के अधिनियम की धारा 126 के अनुकूल है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 352 और 353 (जो साधारण संकट से सम्बन्धित है) 1935 के अधिनियम की धारा 102 के अनुरूप है, वर्तमान संविधान का अनुच्छेद 356 (जो राज्यों में संवैधानिक संकट से सम्बन्धित है) 1935 के अधिनियम की धारा 93 के अनुरूप है। वर्तमान संविधान के अन्तर्गत केन्द्र और राज्यों के विधायी सम्बन्ध 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित किये गये विधायी सम्बन्धों के अनुरूप है। वस्तुतः तीन सूचियों की व्यवस्था लगभग वही है। 1935 के अधिनियम की भांति वर्तमान संविधान के अन्तर्गत भी केन्द्रीय सरकार को अत्यधिक शक्तिशाली बनाया गया है। वस्तुतः केन्द्र राज्यों की कीमत पर शक्तिशाली है आदि, आदि।

उपर्युक्त अनेक समानताओं के बाद भी भारतीय संविधान को 1935 के अधिनियम का 'दासतापूर्ण अनुकरण' या कार्बन कॉपी (Carbon Copy) या वर्चस्वी संस्करण (glorified edition) कहना गलत है। वस्तुतः भारतीय संविधान और 1935 के अधिनियम में कोई समानतायें नहीं। दोनों के आधारों, उद्देश्यों, आदर्शों और भावनाओं में जमीन आसमान (आकाश पाताल) का अन्तर है। दोनों के अन्तर को निम्न बिन्दुओं द्वारा व्यक्त किया जा सकता है —

(i) वर्तमान संविधान भारतीय जनता की शक्ति पर आधारित है। इसमें शासन की शक्ति का मूल स्रोत जनता है। दूसरी ओर, 1935 के अधिनियम की शक्ति भारतीय जनता नहीं थी। भारतीयों ने उसे कभी स्वीकार नहीं किया था। इसमें शासन सत्ता का स्रोत ब्रिटिश संसद द्वारा पास अधिनियम था।

(ii) वर्तमान संविधान भारतीयों की इच्छाओं, आकांक्षाओं और अभिलाषाओं को व्यक्त करता है। इसका निर्माण भारतीयों द्वारा भारतीयों की जन इच्छा से हुआ है। दूसरी ओर, 1935 का अधिनियम भारतीयों द्वारा निर्मित नहीं था। इसे तो भारतीयों पर थोपा गया था। इसका निर्माण विदेशियों द्वारा किया गया था। इसमें साम्राज्यवाद की बू सर्वत्र विद्यमान थी।

(iii) वर्तमान संविधान नागरिक स्वतन्त्रताओं का चार्टर है। इसमें न केवल नागरिकों को मूल अधिकार दिये गये हैं बल्कि शासन की सत्ता को भी मर्यादित किया गया है। दूसरी ओर,1935 का अधिनियम दासता का चार्टर था। इसमें शासन को निरंकुश सत्ता प्रदान की गयी थी।

(iv) भारतीय संविधान लोकतन्त्र, समाजवाद और धर्म निरपेक्ष के सिद्धांतों पर आधारित है जबकि 1935 का अधिनियम साम्राज्यीय, प्रतिक्रियावादी तत्वों पर आधारित था।

(v) भारतीय संविधान भारतीय जन को राजनीतिक रूप से संगठित करने का प्रयास करता है जबकि 1935 का अधिनियम उसे राजनीतिक

दृष्टि से विघटित करने का प्रयास करता था। वस्तुत 1935 के अधिनियम मे विघटनकारी, प्रतिक्रियावादी, अनुदारवादी तत्वा को साम्राज्यीय हितो की पूर्ति के लिये समाविष्ट किया गया था। उदाहरण-तथा 1935 के अधिनियम मे मताधिकार सीमित था, निर्वाचन प्रणाली साम्प्रदायिक थी और गुरुभार की पद्धति विद्यमान थी। ये तत्व भारतीय जन को विघटित करते थे। परन्तु वतमान सविधान के अन्तगत इन सभी विघटनकारी तत्वो को समाप्त कर दिया गया है। मताधिकार वयस्क है, निर्वाचन प्रणाली सयुक्त है। साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली और गुरुभार पद्धति को समाप्त कर दिया गया है। अनुसूचित जातियो, अनुसूचित जन-जातियो और पिछडी हुई जातियो के विकास के लिये कुछ विशेप व्यवस्थायें अवश्य है।

(vi) भारतीय सविधान धम निरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है। यहा किसी धम या जाति को विशेप महत्व या रियासत प्राप्त नही। राज्य धम के मामले मे तटस्थ नीति अपनाता है। यद्यपि 1935 के अधिनियम मे धम निरपक्षता थी परन्तु गुरुभार पद्धति और निर्वाचन की साम्प्रदायिक वर्गीय पद्धति ने कुछ जातियो और वर्गों को, विशेपकर अल्पसख्यको को विशेप रियायतें प्रदान कर रखी थी।

(vii) वतमान सविधान सहकारी सघ की स्थापना करता है। सविधान सभा मे यदि राज्या के प्रतिनिधियो ने राष्ट्रीय भावनाओ से प्रेरित हो कर स्वेच्छा से शक्तिशाली केन्द्र को स्वीकार[1] किया तो सविधान ने राज्यो के हिता की रक्षा हेतु राजस्व प्रावधानो को लचीला बनाया है। सविधान मे वित्त आयोग की व्यवस्था इसी उद्देश्य से की गयी थी। सविधान ने ब्रिटिश प्रान्ता और देशी राज्या का समानता का दर्जा प्रदान किया। दूसरी ओर, 1935 के अधिनियम के अन्तगत सघीय व्यवस्था सहकारिता पर नही प्रतिद्वन्द्विता पर आधारित थी। यह व्यवस्था इतनी कठोर थी कि इसमे विकास की गुजाइश नही थी।

उपर्युक्त वरणन से स्पष्ट है कि भारतीय सविधान की यह आलोचना सत्य नही कि वह 1935 का "दासतापूर्ण अनुकरण" है। वस्तुत वतमान सविधान मे विकास के तत्व विद्यमान हैं जिनका 1935 के अधिनियम मे अभाव था।

---

1 फिलाडेल्फिया म जो राज्यो के प्रतिनिधि अमरीकी सविधान का निर्माण करने के लिये एकत्रित हुए थे वे उतने राष्ट्रीय भावनाओ से प्रेरित नही थे जितना कि वे राज्यो के हितो की रक्षा करना चाहते थे।

2 विस्तृत, जटिल, एव "वकीलों के लिये स्वग ' (De tailed, Complex and Lawyers" Paradise)--दूसरा आधार जिस पर आलाचकों न भारतीय सविधान की आलोचना की है वह यह है कि यह आवश्यकता से अधिक विस्तृत और जटिल है । कुछ का तो यह मत है कि यह इतना विस्तृत है कि यह मुकदमेबाजी के लिय उपजाऊ भूमि तैयार करता है । इसी कारण कुछ न भारतीय सविधान के अत्यधिक विवरण को "वकीलो के षडयन्त्र" (Conspiracy of Lawyers) और "वकीलो के लिय स्वग ' की सज्ञा दी है । सर आइवर जेनिंग्स जैसे लेखको का भी मत है कि भारतीय सविधान लम्बा और जटिल है । हिम्मतसिंह के० माहेश्वरी ने सविधान सभा मे कहा था कि "प्रारूप लोगो को अधिक मुकदमेबाज (litigous) बनाता है यह यथार्थ म वकीलो के लिये स्वग है । यह मुकदमेबाजी के लिये अत्यधिक रास्ते खोल देता है और यह हमारे योग्य और कुशल वकीलो को करने के लिये काफी काय प्रदान करेगा ।" पजाब राव देशमुख न भी कहा था कि "अनुच्छेदो के प्रारूप कानून की पुस्तक की तरह अत्यधिक जटिल है । सविधान से सम्बन्ध रखने वाले दस्तावेज को इतनी जटिलता और इतने शब्द-जाल की आवश्यकता नही होती । यह सब शब्द जाल वकीलो के मस्तिष्क को अभिव्यक्त करता है, लोगो की भावना को नही ।"

यह सत्य है कि भारतीय सविधान अत्यधिक विस्तृत है परन्तु इसके विस्तृत होने के अनेक कारण थे । वस्तुत भारत का विस्तृत क्षेत्र, उसमे निवास करने वाली भिन्न भिन्न जातिया तथा उनके भिन्न भिन्न धम, पिछडी हुई एव अनुसूचित जातियो के विकास की समस्यायें, भाषा, प्रशासनिक सेवायें, सकट कालीन व्यवस्थायें, चुनाव, नीति निदेशक तत्व आदि तत्त्व इसके विस्तृत होने के कारण थे । इसके अतिरिक्त सविधान निर्माता किसी भी चीज को कल्पना, न्यायिक व्याख्या या अभिसमय पर छोडना नही चाहते थे । सवधानिक धाराओ को प्रशासन द्वारा विकृत बनाने से रोकने के लिये वे उन्हे स्पष्ट एव विस्तार से लिपिबद्ध करना चाहते थे । अन्य देशो मे जिन चीजों को अभिसमय पर छोड दिया गया है भारत मे उन्हे भी सविधान म लिपिबद्ध कर दिया गया है । भारत के सविधान के विस्तृत होने का एक कारण यह भी है कि जहा अन्य सघीय सविधानो मे जसे अमरीकी सविधान केवल सघीय प्रशासन की व्यवस्था करता है वहा भारतीय सविधान सघ सविधान के अतिरिक्त सघ के एककों (राज्यो) के सविधानो की भी उसी मे व्यवस्था करता है । वस्तुत भारतीय सविधान के भाग VI के 86 अनुच्छेद (अनुच्छेद 152 से 237) एकको के प्रस्ताव से ही सम्बन्धित है, 24 अनुच्छेद (अनुच्छेद 12 से 35) मूल अधिकारो से, 16 अनुच्छेद (अनुच्छेद 36 से 51) नीति निदेशक तत्वो से, 9 अनुच्छेद (अनुच्छेद 352 से 360) सकटकालीन स्थितियो से, 16 अनुच्छेद (अनुच्छेद 308 से 323[1] तक) लोक सेवाओ से 13 अनुच्छेद (अनुच्छेद 330 से 342)[1] अनुसूचित जातियो, अनुसूचित जन जातियो पिछडी हुई जातियो से, और 9 अनुच्छेद सरकारी भाषा से

सम्बन्धित हैं । इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान मूल सिद्धांतों के अतिरिक्त प्रशासनिक सम्बन्धों का भी वर्णन करता है। जैसाकि श्री निवासन ने लिखा है कि भारतीय संविधान केवल एक संविधान ही नहीं है वरन् देश की संवधानिक और प्रशासनिक पद्धति के महत्वपूर्ण पहलुओं से सम्बन्धित एक विस्तृत वधानिक संहिता भी है ।" भारतीय संविधान ने भारतीय समाज में विद्यमान हर प्रकार की राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक बुराई के लिए इलाज प्रदान करने की कोशिश की है।

परन्तु भारत के विस्तृत स्वरूप के आधार पर इसे "वकीलों का षडयन्त्र" या "वकीलों के लिए उपजाऊ भूमि" मान लेना गलत है। संविधान का विस्तृत स्वरूप आवश्यक रूप से मुकदमेबाजी का जन्म नहीं देता, संविधान का छोटा रूप भी अत्यधिक मुकदमेबाजी का जन्म दे सकता है यदि उसकी धारायें सरल होते हुए भी अस्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ अमरीका का संविधान विश्व में अपनी साधारणतया (Simplicity) और संक्षिप्तता (brevity) के लिए प्रसिद्ध है परन्तु अमरीकी संविधान की "वाणिज्य धारा (Commerce Clause) और "सामान्य कल्याण धारा" (Welfare Clause) ने जितनी मुकदमेबाजी का जन्म दिया है उतना सम्भवत भारतीय संविधान की किसी धारा ने मुकदमेबाजी को जन्म नहीं दिया। अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने तो "वाणिज्य धारा' की सौ से अधिक व्याख्यायें की हैं। इसी प्रकार आस्ट्रेलियन संविधान की 'अन्तर्राज्य व्यापार और वाणिज्य धारा' ने अत्यधिक मुकदमेबाजी को जन्म दिया है।

संघीय संविधान का दूसरा बिन्दु जो मुकदमेबाजी को जन्म देता है वह केन्द्र और राज्यों में शक्तियों का विभाजन होता है। अमरीका आस्ट्रेलिया और कनाडा के संघीय संविधानों में इसी 'शक्तियों के विभाजन' ने मुकदमेबाजी को जन्म दिया है। परन्तु भारत में संवधानिक धाराओं की विस्तृत एवं स्पष्ट व्याख्या होने से इस क्षेत्र में भी अधिक मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन नहीं मिला।

संघीय संविधानों का तीसरा बिन्दु जो मुकदमेबाजी की अच्छी फसल को तैयार करता है वह नागरिकों के मूल अधिकारों से सम्बन्धित अध्याय होता है। इस क्षेत्र में मुकदमेबाजी का होना स्वाभाविक है क्योंकि जब कभी सामाजिक नियन्त्रण और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के दावों में भेद उत्पन्न होगा और जहाँ न्यायालयों के अधिकारों की सुरक्षा के लिये स्थापित किया जायगा वहाँ मुकदमेबाजी का होना स्वाभाविक है। क्योंकि भारत के मूल अधिकारों के अध्याय की प्रत्येक धारा के अन्तर्गत उसकी मर्यादाओं, शर्तों या अपवादों को भी अभिव्यक्त किया गया है अतः इस क्षेत्र में भी भारत में अमरीका की तुलना में बहुत कम मुकदमेबाजी उत्पन्न हुई है। इतना अवश्य है कि भारतीय संविधान के उपबन्धों में अपवादों, मर्यादाओं और शर्तों की व्यवस्था होने से यह साधारण नागरिक की समझ से बाहर है। सामान्य नागरिक के लिये इसे समझना आसान नहीं।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि संविधान का विस्तृत या लम्बा स्वरू
मुकदमेबाजी को प्रेरित नहीं करता जितनी कि संविधान की और निश्चि
मुकदमेबाजी को प्रेरित करती हैं। उदाहरणतया भारतीय संविधान की
(क्योंकि संविधान मे उसकी विस्तृत व्याख्या नही की गयी थी) ने जितनी मु
को जन्म दिया है उतना किसी अन्य धारा ने नही दिया। यही कारण है कि
सर्वोच्च न्यायालय ने सम्पत्ति के अधिकार की व्याख्या कानूनी आधार
कार्यपालिका और व्यवस्थापिका ने यह कह कर कानून को संशोधित कर
संविधान मे सम्पत्ति के अधिकार को रखने का यह अर्थ नही था। स
भारतीय संविधान पर व्यक्त की गई आलोचको की शंकायें सत्य सिद्ध नही
संविधान के विस्तृत स्वरूप ने अत्यधिक मुकदमेबाजी को बढ़ावा नहीं दिय
संविधान को "वकीलो का षड्यन्त्र" कहना गलत है।

पिछले 25 वर्षों का सवैधानिकता का इतिहास आलोचको की इस शं
सत्य सिद्ध नही करता कि भारतीय संविधान अत्यधिक जटिल होने
(कठोर) है। वस्तुत भारतीय संविधान एक नमनीय प्रलेख सिद्ध हुआ है।
के संवैधानिक विकास म किय गय 38 संशोधन इस बात के प्रमाण हैं कि
संविधान जटिल नही। आवश्यकतानुसार इसमे परिवर्तन की पर्याप्त गुंजा

3 भारतीयेतर एव अभारतीय संविधान (Non-Indian & Un India
stitution)—तीसरा आधार जिस पर आलोचको ने भारतीय संविधान की
की है वह यह है कि यह भारतीयेतर एव अ भारतीय संविधान है। आलो
कथन था कि इसमे न तो प्राचीन भारतीय ज्ञान और न प्राचीन भारतीय रा
(ancient Indian polity) को समाविष्ट किया गया है और न ही वह
प्रतिनिधित्व करता है। आलोचको ने संविधान सभा मे डा० अम्बेदकर
आरोप भी लगाया था क्योंकि वे राष्ट्रीय आन्दोलन मे साझेदार नही
क्योंकि वे गाधीवादी विचारो से सहमत नही अत संविधान म न तो ग
सिद्धान्तो को स्थान दिया गया है और न ही ग्राम पचायतो और जिला पच
आधार पर संविधान का निर्माण किया गया है। ये आलोचक भारत मे केन्द्र
राज्य सरकारो के स्थान पर पूर्ण ग्राम सरकारो का निर्माण करना चाहते
आलोचक ने तो यह भविष्यवाणी भी की थी कि क्योंकि "संविधान मे वर्णित
का भारत की मूल भावना से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही अत इसके कार्यान्
ही यह विघटित हो जायगा।" एक अन्य आलोचक ने संविधान की यह क
आलोचना की कि "इससे यदि भारत की पहचान नष्ट नही हुई (अर्थात य
व्यक्तित्व नष्ट नही हुआ) तो कम मे कम उसकी विरासत तो लूटी ही है।"

आलोचको की उपयुक्त भविष्य वाणिया न केवल असत्य सिद्ध हुई
जिस आधार को लेकर उन्होंने संविधान की आलोचना की वह आधार ही

सिद्ध हुआ है। डा० अम्बेदकर का यह विश्वास सत्य सिद्ध हुआ है कि भारतीय ग्राम स्थानीयवाद के द्वार है, अनभिज्ञता की गुफायें है और सम्प्रदायवाद और सकीर्णता के द्योतक है।[1] जिस ढग से भारत मे ग्राम पचायतो ने काय किया है उससे डा० अम्बेदकर के सन्देह सत्य प्रसिद्ध हुए है। अत भारतीय सविधान को ग्राम पचायतो पर आधारित न कर सविधान निर्माताओ ने दूरदर्शिता का परिचय दिया है। आज भारत मे सबसे सुगठित और सुग्रथित शासन (Well Knit Government) केन्द्रीय शासन है ग्राम पचायत नही।

आलोचको की यह विचारधारा भी असत्य सिद्ध हुई है कि भारतीय सविधान परम्परा पर आधारित न होने से यह कार्यान्वित होते ही विघटित हो जायगा। वस्तुत स्थिति यह है, जसाकि पिछले 25 वर्षों का सवैधानिक इतिहास सिद्ध करता है, कि सविधान ने जहा एक ओर परम्परा और आधुनिकता मे समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है वहा व्यक्ति, जातियो, समूहो और वर्गों को इसी के अन्तगत सगठित किया है, राष्ट्रीय एकता और सुदृढता मे विकास किया है। इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि भारतीय समाज का कोई समूह, जाति या वग सविधान की सरचना और उसके द्वारा स्थापित की गयी सस्थाओ—ससद, न्यायालय, वयस्क मताधिकार, निर्वाचन मूल अधिकार, नीति निदेशक तत्व, आदि को कोई चुनौती नही देता बल्कि उन्ही को कार्यान्वित कर विकास की गति को बनाये रखना चाहता है, यह उन्ही मे सुधार चाहते है उन्हे समाप्त या नष्ट करना नही चाहते। यह भारतीय लोकतन्त्र की ही विशेषता है कि वह सवधानिक साधनो के साथ प्रदशन, घरना, असहयोग, उपवास, भूदान, आन्दोलन तथा सम्पूर्ण क्रान्ति जैसे गर सवैधानिक साधनो को भी स्वीकार करती है। क्या य सब भारतीय विशेषताओ को अभिव्यक्त नही करते। लोगो द्वारा सविधान की स्वीकृति और कार्यान्विति ही उसके भारतीय होने का प्रमाण है। भारत मे पाच सामान्य निर्वाचन हो चुके है जिनमे करोडो की सख्या मे लोगो ने अपने वयस्क मताधिकार का प्रयोग किया है। सक्षेप मे, सविधान अपार जन जागति और राष्ट्रीय एकता का साधन रहा है, भारतीय समाज को इसने विघटित नही किया।

4 मिश्रित आलोचनायें (Mixed Criticism)—अन्य अनेक आधारो पर भी भारतीय सविधान की आलोचना की गयी है जसे सविधान केन्द्र को अत्यधिक शक्तिशाली बनाता है, प्रत्येक मूल अधिकार को अपवादो, मर्यादाओ और शर्तो से लाद दिया गया है। यह भी कहा गया है कि राज्य के नीति निदेशक तत्त्व असमभ्य (Unjustifiable) होने से व्यथ है। यह भी कहा गया है कि कुछ वर्गों के लिय विशेष व्यवस्थायें कर सविधान असमानता तथा जाति भेद को बढावा देता है। इस सब आलोचनाओ की समीक्षा सम्बन्धित अध्यायो के अन्तगत सविस्तार की गयी है अत यहा उन्हे दोहराने म कोई लाभ नही।

---

1 See Pylee, M V Ibid, p 15-16

## समीक्षा प्रश्न
## (Review Questions)

1 संविधान सभा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए भारतीय संविधान सभा की माँग पर एक निबन्ध लिखिये।

2 केबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत संविधान सभा की क्या व्यवस्था थी ?

3 भारतीय संविधान सभा की संरचना और कार्यवाही पर एक निबन्ध लिखिये। क्या संविधान सभा मे एक दल (कांग्रेस) का बहुमत लोकतान्त्रिक था ?

4 *"संविधान सभा अपनी संरचना और कार्यवाही मे लोकतान्त्रिक संस्था थी'* क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? सकारण उत्तर दीजिये।

5 संविधान सभा की संवैधानिक स्थिति, रचना और कार्य का वर्णन कीजिये।

6 "सहमति और समायोजन" भारतीय संविधान निर्माण की दो मूल विशेषतायें थी।" विवेचना कीजिये।

7 भारतीय संविधान निर्मात्री सभा का दृष्टिकोण तीन सिद्धान्तो पर आधारित था, "सहमति, समायोजन और परिवर्तन के साथ चयन" (ऑस्टिन) क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? विवेचना कीजिये।

8 "सन् 1935 के भारतीय शासन अधिनियम ने भारत के नये संविधान को बहुत मात्रा मे प्रभावित किया है" इस दृष्टिकोण से आप कहाँ तक सहमत हैं ? सकारण स्पष्ट कीजिये।

9 भारतीय संविधान के स्रोतो की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

10 भारतीय संविधान सभा के प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप की विवेचना कीजिये। *क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि भारतीय संविधान का निर्माण कांग्रेस* दल द्वारा हुआ था और उसी के द्वारा यह भारतीय जनता को सौंपा गया।

11 "भारतीय संविधान "उधार कोष" है, यह 1935 के अधिनियम का दासता *पूर्ण अनुकरण है" क्या आप इन कथनों से सहमत है ? सकारण उत्तर* दीजिये।

12 भारतीय संविधान "अधिवक्ताओ (वकीलो) का स्वर्ग" (lawyers paradise) है।' *क्या आप इस कथन से सहमत है ?* आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

# पुस्तक 3

# भारतीय संविधान की रूपरेखा

अध्याय 1

# भारतीय सविधान की प्रमुख विशेषताये

## (Salient Features of the Indian Constitution)

---

भारतीय सविधान की प्रमुख विशेषताओ का वर्णन करने से पूर्व उसकी प्रस्तावना (Preamble) पर दृष्टिपात करना उपयोगी होगा। सविधान की प्रस्तावना निम्न प्रकार से है —

"हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न
लोक-तन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिये, तथा उसके समस्त
नागरिको को
सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता
प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्राप्त कराने के लिये,
तथा उन सबमे व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने
वाली बन्धुता बढाने के लिए दृढ सकल्प होकर
अपनी इस सविधान सभा म आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई०
*(मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी सवत दो हजार छ विक्रमी)* को
एतद् द्वारा इस सविधान को अगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित
करते है।"

सविधान की उपर्युक्त प्रस्तावना सविधान निर्माताओ के उन उच्च आदर्शों और उद्देश्यो को अभिव्यक्त करती है जिन्हे वे प्राप्त करना चाहते थे। यह प्रस्तावना *उनकी आकाक्षाओ, प्रयोजनो और मन्तव्यो को अभिव्यक्त करती है।* क्योकि प्रस्तावना सविधान का अभिन्न अग नही अत यह किसी प्रकार के अधिकारों को उत्पन्न नही करती और न ही यह मूल शक्तियो का स्रोत है। यह सविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियो को मर्यादित नही करती। यह सवैधानिक भवन का निर्माण नही करती, यह उस भवन का केवल प्रतिबिम्ब मात्र है। इसके आधार पर किसी कानून

को प्रवंध घोषित नही किया जा सकता । परन्तु फिर भी इसका महत्त्व है और यह संविधान को समझने की कुंजी है । जैसा कि प० ठाकुरदास भार्गव ने कहा था कि यह "संविधान का सबसे मूल्यवान भाग है । यह संविधान की आत्मा है । यह संविधान की कुंजी है । संविधान की श्रेष्ठता के लिए यह उचित मापदण्ड है यह स्वयं म पूर्णता है ।'[1]

प्रस्तावना ही संविधान की मार्ग दर्शक है । यद्यपि इसके आधार पर कानूनो को प्रवंध घोषित नही किया जा सकता फिर भी यह उनकी व्याख्याओ मे सहायक है । प्रस्तावना मे ही भारतीय जनता को सम्प्रभु घोषित किया गया है, भारत म लोकतन्त्र और गणराज्य की स्थापना की गयी है । इसी के माध्यम से जनता अपनी शक्ति का प्रयोग करती है और शासन शक्ति को लोकतान्त्रिक ढग से (निर्वाचनो के माध्यम से) मर्यादित करती है । यह प्रस्तावना ही लोगो को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचारो, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता तथा व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता को सुनिश्चित करने वाली बन्धुता का आश्वासन देती है । यह प्रस्तावना ही भारत मे निरपेक्ष राज्य की स्थापना करती है । स्पष्ट है कि संविधान का अभिन्न अग न होने पर भी प्रस्तावना संविधान की निदेशक भावना को अभिव्यक्त करती है ।

## भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषतायें
## (Salient Features of the Indian Constitution)

भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताये निम्न हैं —

**1 लिखित, निर्मित एव विस्तृत संविधान** – विश्व मे दो प्रकार के संविधान है लिखित व अलिखित, निर्मित व विकसित । जहाँ ब्रिटेन का संविधान अलिखित एव विकसित है वहाँ भारतीय संविधान अमरीका, कनाडा, स्विट्जरलण्ड, रूस आदि सघीय संविधानो की भाति लिखित एव निर्मित संविधान है । भारतीय संविधान का निर्माण भारतीय संविधान सभा द्वारा 2 वर्ष 11 महीने और 17 दिनो के कठिन श्रम के बाद निर्मित किया गया था। जहा अमरीका का संविधान विश्व का सबसे संक्षिप्त संविधान है, वहा भारतीय संविधान विश्व का सबसे विस्तृत एव लम्बा संविधान है । जहा अमरीकी संविधान मे कुल 7 अनुच्छेद है, कनाडा के संविधान म 147, आस्ट्रेलिया के संविधान मे 128, दक्षिण अफीका के संविधान म 153, स्विटजरलण्ड के संविधान म 123, रूस के संविधान म 146, जापान के संविधान म 103 अनुच्छेद है वहाँ भारतीय संविधान म 22 अध्याय, 395 अनुच्छेद और 10 अनुसूचिया है ।

---

1 See Bannerjee, D N Our Fundamental Rights p 2 Quoted by Johari, C J Indian Government & Politics p 27

विस्तृत अभिलेख होने पर भी भारतीय सविधान मे अनेक बातो को अभि समय द्वारा विकसित होने के लिये छोड दिया गया। उदाहरणतया भारतीय सविधान मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख नही कि क्या राष्ट्रपति सदा केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के परामर्श को मानने के लिये बाध्य है ? क्या राष्ट्रपति राज्यो के राज्यपालो की नियुक्त करते समय राज्य सरकारो से परामर्श लेगा ? क्या ससद सविधान के हर अध्याय (मूल अधिकारो सहित) का सशोधित कर सकती है ? क्या राज्यपालो के पास निरपेक्ष स्वविवेक की शक्तिया हैं ? आदि । वस्तुत भारतीय सविधान मे ये तथा ऐसी ही अनेक कमिया हैं जिन्होने अनेक विवादो को जन्म दिया है।

**2 सहमति और समायोजन का परिणाम**—भारतीय सविधान की दूसरी विशेषता यह है कि सविधान विवाद, विचार विमर्श, समझौते सहमति और समा योजन का परिणाम है। सविधान निर्माण करते समय किसी विचार को जल्दबाजी मे निश्चित नही किया गया और न ही किसी विचार को थोपा गया। जो भी अन्तिम निर्णय लिये वे सहमति और समायोजन के परिणाम थे। यही कारण है कि भारतीय सविधान मे दिखाई देने वाली परस्पर विरोधी विचारधाराओ को समा योजित किया गया है। उदाहरणतया सविधान मे सघात्मक एकात्मक, ससदात्मक अध्यक्षात्मक, केन्द्रीयकरण विकेन्द्रीयकरण, नमनीयता और अनमनीयता सत्ता और स्वतन्त्रता आदि तत्वो का अद्वितीय मेल मिलता है। वस्तुत सविधान निर्माताओ ने दूसरे देशो के सविधानो की त्रुटियो (कमियो) को दूर करते हुए उनकी अच्छाइयो को अपनी आवश्यकताओ के अनुकूल ढाला है।

**3 सार्वभौम लोकतान्त्रिक गणराज्य**—भारतीय सविधान की तीसरी विशेषता यह है कि यह भारत को सार्वभौम लोकतान्त्रिक गणराज्य घोषित करता है। सार्वभौम का अर्थ यह है कि सविधान भारतीयो की कृति है, विदेशियो की नही, यह किसी विदेशी सत्ता का तोफा नही बल्कि स्वय भारतीयो द्वारा निर्मित है। सार्वभौम का अर्थ यह भी है कि शासन सत्ता का अन्तिम स्रोत भारतीय जनता है। सविधान की प्रस्तावना के ये शब्द 'हम भारत के लोग' इसकी सार्वभौमिकता की अभिव्यक्ति करते हैं। भारत किसी बाह्य सत्ता के आदेशो को स्वीकार नही करता, यह अपनी आन्तरिक और बाह्य नीति का स्वय निर्माता है। अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वो को भारत स्वेच्छा से स्वीकार करता है किसी बाध्यता से नही। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भी स्वेच्छा पर निर्भर करती है। इसकी सदस्यता मित्रता का चिन्ह है किसी वचनबद्धता (Commitment) का नही।

लोकतन्त्र का अर्थ है शासन की अन्तिम सत्ता जनता के हाथ मे है। परन्तु सविधान भारत मे प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र अर्थात परोक्ष लोकतन्त्र की स्थापना करता है प्रत्यक्ष की नही। सविधान स्विटजरलण्ड की भांति आरम्भन, जनमत सग्रह और प्रत्याह्वान (Recall) जसी प्रत्यक्ष प्रजातान्त्रिक सस्थाओ की स्थापना नही करता। भारतीय जनता प्रत्यक्ष कार्य नही कर सकती। यह अपने प्रतिनिधियो द्वारा

ही काय कर सकती है जिन्हे वह निर्वाचनो के माध्यम से चुनती है। लोकतन्त्र का अर्थ यह भी है कि सविधान विधि के शासन को स्थापित करता है। कोई व्यक्ति, चाहे उसका पद और स्थिति कुछ भी हो, विधि के अधीन है, ऊपर नही।[1] सभी व्यक्ति विधि के समक्ष समान है और सभी को विधि का समान सरक्षण प्राप्त है। शासन किसी आधार पर जाति, धम, भाषा, लिंग या इनमे से किसी एक आधार पर नागरिको म भिन्नता नही कर सकता। लोकतन्त्र का यह भी अथ हैकि सविधान सभी को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय का आश्वासन देता है, सभी को विचारो को अभिव्यक्त करने, विश्वास और उपासना आदि की स्वतन्त्रता प्रदान करता है तथा स्थिति और अवसर की समानता प्रदान करता है। सावभौम वयस्क मताधिकार, सयुक्त निर्वाचन प्रणाली, नागरिको के मौलिक अधिकार, नीति निदेशक तत्व, स्वतन्त्र न्यायपालिका, आदि व्यवस्थायें भारत मे लोकतन्त्र की द्योतक है। भारतीय सविधान केवल राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना ही नही करता बल्कि राज्य के नीति निदेशक तत्वो के माध्यम से आर्थिक लोकतन्त्र का आश्वासन भी देता है।

सविधान भारत म केवल लोकतन्त्र की ही स्थापना नही करता बल्कि गणतन्त्र की भी स्थापना करता है। गणतन्त्र का अथ यह है कि राज्याध्यक्ष वशानुगत राजा नही बल्कि निर्वाचित प्रतिनिधि है। वस्तुत गणतन्त्र शब्द का प्रयोग राजनीति शास्त्र के विशेषज्ञो ने भिन्न भिन्न अर्थो म किया है। लीकॉक के लिये इसका अथ "राजतन्त्र का विरोध" है, जलिनेक का विश्वास है कि गणराज्य वह शासन है जिसमे शासन सत्ता एक हाथ मे नही अपितु बहु—(कम या अधिक) व्यक्तियो के हाथो म होती है, रूसो के लिये गणराज्य सामाजिक समझौते पर आधारित है चाहे उसके शासन का स्वरूप अल्पतन्त्रीय हो, राजतन्त्रीय हो या अन्य किसी प्रकार का हो। गणराज्य का अर्थ इस रूप मे भी व्यक्त किया जाता है कि यह वह शासन है जिसमे सत्ता प्रत्यक्षत या अप्रत्यक्षत जनता से प्राप्त की जाती है। भारत म राष्ट्रपति अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है, यह वशानुगत राजा नही, दूसरे सभी सावजनिक पद भारत के सभी नागरिको के लिये, बिना किसी भेद भाव के, खुले हैं। विशेषाधिकार प्राप्त वग नही। अत भारत एक गणराज्य है।

**4 धम निरपेक्ष राज्य**—यद्यपि भारतीय सविधान मे "धम निरपेक्ष' (Secular) शब्द का प्रयोग नही किया गया फिर भी सविधान भारत मे धम निरपेक्ष

---

1 इलाहाबाद हाईकोट ने श्री राजनारायण की चुनाव याचिका (प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के विरुद्ध)स्वीकार करके (जून 1975) यह सिद्ध कर दिया कि भारत मे सभी व्यक्ति, चाहे उनका पद और स्थिति कुछ भी हो, कानून की उल्लघना के लिये उसी प्रकार उत्तरदायी है जिस प्रकार कि कोई

राज्य की स्थापना करता है। यह संविधान की प्रस्तावना, निर्वाचन प्रणाली और नागरिकों के मूल अधिकारों के अध्याय से स्पष्ट है। संविधान की प्रस्तावना में की गयी ये घोषणायें कि संविधान नागरिकों के लिये "विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता" 'प्रतिष्ठा और अवसर की समानता' तथा बन्धुत्व की भावना को सुरक्षित रखता है, भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य बनाती है। भारत की संयुक्त निर्वाचन प्रणाली भी भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य बनाती है, यहां निर्वाचन क्षेत्रों का भौगोलिक क्षेत्रों में बांटा गया है, साम्प्रदायिक क्षेत्रों में नहीं, निर्वाचन सूचियां सामान्य होती हैं, निर्वाचन चिन्ह सामान्य ही हो सकते हैं, आदि। अनुच्छेद 25 सभी व्यक्तियों को 'अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार देता है। संविधान व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार की धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। अनुच्छेद 29 सभी नागरिकों को अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति को सुरक्षित रखने का अधिकार देता है। राज्य द्वारा संचालित या राज्य से आर्थिक सहायता प्राप्त करने वाली शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा को अनिवार्य नहीं बनाया जा सकता है।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत का संविधान किसी धर्म को राज्य धर्म घोषित नहीं करता। राज्य का कोई अपना धर्म नहीं, राज्य धर्म के आधार पर नागरिकों में कोई भिन्नता नहीं करता, राज्य किसी नागरिक को किसी धर्म के अपनाने या छोड़ने के लिये नहीं कहता, राज्य किसी धर्म के प्रचार के लिये कोई चन्दा एकत्रित नहीं करता। संक्षेप में, भारतीय राज्य धर्म के मामले में पूर्णतया तटस्थ है इसलिये भारतीय राज्य धर्म निरपेक्ष राज्य है।

परन्तु धर्म निरपेक्ष होने का यह अर्थ नहीं कि राज्य धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। जब कभी धर्म सामाजिक उत्पात को जन्म देता है तो राज्य सामाजिक व्यवस्था के लिये धर्म में हस्तक्षेप कर सकता है। भारत में राज्य सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य के नाम पर, सामाजिक कल्याण और सुधार के नाम पर, धर्म में हस्तक्षेप कर सकता है।

5 **नमनीयता और अनम्यता का मिश्रण**—भारतीय संविधान न तो ब्रिटिश संविधान की भांति नमनीय है और न अमरीकी संविधान की भांति अनम्य। भारतीय संविधान इन दोनों में मध्यम मार्ग अपनाता है। भारतीय संविधान में संशोधन की विधि का वर्णन अनुच्छेद 368 में किया गया है जो तीन प्रकार की व्यवस्थायें करता है। (i) भारतीय संविधान की अधिकांश धारायें ऐसी हैं जैसे भारत में नये राज्यों का प्रवेश, वर्तमान राज्यों का पुनर्गठन, राज्यों के द्वितीय सदनों (राज्य विधान परिषदों) की सृष्टि तथा उनकी समाप्ति, आदि जिनमें संशोधन के लिये भारतीय संसद के दोनों सदनों का साधारण बहुमत ही पर्याप्त है अर्थात् भारतीय संसद के दोनों सदनों में साधारण बहुमत द्वारा संविधान की इन धाराओं में परिवर्तन किया जा सकता है। (ii) भारतीय संविधान की कुछ धारायें ऐसी हैं जिन्हें संसद के दोनों सदन अपने पूर्ण बहुमत और उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से ही पास

कर सकते हैं। इस प्रकार की धारायें संविधान के अध्याय तीन (मूल अधिकारों से सम्बंधित अनुच्छेद 12 से 35) और संविधान के अध्याय चार (राज्य के नीति निदेशक तत्वों से सम्बंधित अनुच्छेद 36 से 51) से सम्बंधित है। (iii) संविधान की कुछ धारायें ऐसी हैं जिनमें संशोधन के लिये न केवल संसद के दोनों सदनों के पूर्ण बहुमत और उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता है बल्कि आधी राज्य विधान सभाओं के अनुसमर्थन की भी आवश्यकता है। विधान सभाओं के अनुसमर्थन को साधारण बहुमत की ही आवश्यकता होती है। इस तरह की धारायें है राष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बंधित अनुच्छेद 54 और 55, केन्द्र और राज्यों की कार्यपालिका शक्ति से सम्बन्धित अनुच्छेद 73 और 162, अनुच्छेद 368, आदि। स्पष्ट है कि भारतीय संविधान कुछ अर्थों में नमनीय, कुछ अर्थों में अर्द्ध नमनीय और अर्द्ध अनम्य और कुछ अर्थों में अनम्य है।

6 संसदात्मक शासन व्यवस्था—भारतीय संविधान निर्माताओं ने एतिहासिक अनुभावों से लाभ उठाते हुए केन्द्र और राज्यों में संसदात्मक शासन प्रणाली की व्यवस्था की है। इस प्रणाली की यह विशेषता होती है कि कार्यपालिका अध्यक्ष राज्य करता है, शासन नहीं। कार्यपालिका अध्यक्ष तो नाम मात्र का अधिकारी होता है। उसकी सारी शक्तियों का वास्तविक प्रयोग मन्त्रिमण्डल करता है जिसका नेतृत्व प्रधान मन्त्री करता है। मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य विधान मण्डल के सदस्य होते है और उसके प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी होते हैं। यह सत्य है कि भारतीय संविधान राष्ट्रपति को ऐसी अनेक शक्तियाँ प्रदान करता है जो संसदात्मक शासन प्रणाली से मेल नहीं खाती परन्तु संविधान इस बात की अपेक्षा करता है कि राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर ही करेगा। पिछले 25 वर्षों का संवधानिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि राष्ट्रपति ने एक संवधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य किया है। भारत में मन्त्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी है और संसद प्रश्नों, पूरक प्रश्नों, कामरोको प्रस्तावों, निन्दा प्रस्तावों तथा अविश्वास प्रस्तावों द्वारा मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण रखता है। इतना अवश्य है कि भारत में उन संसदात्मक अभिसमयों का विकास नहीं हुआ जिनका ब्रिटेन में विकास हुआ है। उदाहरणतया भारत में मन्त्रिमण्डल के संयुक्त उत्तरदायित्व अर्थात् मन्त्री इकट्ठे ही तरते हैं और इकट्ठे ही डूबते हैं के अभिसमय का विकास नहीं किया गया और न ही भारत में कोई सुदृढ रचनात्मक विरोधी दल है जो सरकार का विकल्प प्रस्तुत कर सके, आदि।

7 संघात्मक और एकात्मक तत्वों का मिश्रण—भारतीय संविधान एक ऐसा संविधान है जिसमें संघात्मक और एकात्मक तत्वों का अद्वितीय मिश्रण है। यदि शान्ति काल में यह संघात्मक है तो संकट काल में यह, संविधान में परिवर्तन किये बिना, एकात्मक का रूप ग्रहण कर लेता है। डॉ० ह्वीयर इसे अर्द्ध संघात्मक राज्य की संज्ञा देता है।

भारतीय सविधान म वे सब तत्त्व पाये जाते हैं जो अन्य सघीय सविधानों म पाये जाते हैं। उदाहरणतया इसका सविधान लिखित, निर्मित और अनम्य है। इसका सविधान सर्वोच्च है। सविधान मे शक्तिया का बटवारा किया गया है। विषयो को तीन सूचियो म विभक्त किया गया है। सूची 'अ' अर्थात् केन्द्रीय सूची म 97 विषय है, सूची 'ब अर्थात् राज्य सूची म 66 विषय हैं और सूची 'स' अर्थात समवर्ती सूची म 47 विषय हैं। केन्द्र और राज्य सरकारें दोना अपनी शासन सत्ता को सीधे सविधान से प्राप्त करता है। दोना एक दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण नहा कर सकती। राज्य सरकारें केन्द्र के अभिकरण (agent) मात्र नही। सविधान द्वारा निर्धारित क्षेत्र मे उनका अपना एकाधिकार है। भारत म एक स्वतन्त्र न्यायपालिका है जो न केवल सविधान की रक्षा करती है बल्कि नागरिक अधिकारो की भी रक्षा करती है। सघ और राज्यो म अधिकार-शक्ति के सम्बन्ध मे उत्पन्न होने वाले झगडो का निपटारा भी न्यायपालिका करती है। इसके अतिरिक्त सघीय व्यवस्थापिका द्वि सदनात्मक व्यवस्थापिका है। जहा लोक सभा भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व करती है वहा राज्य सभा सघ के एकको का प्रतिनिधित्व करती है।

उपयुक्त सघीय तत्वो के होते हुए भी भारतीय सविधान केन्द्र को अत्यधिक शक्तिशाली बनाता है। न केवल सकट काल म (जब राष्ट्रपति अनुच्छेद 352 से 360 मे वर्णित शक्तियो का प्रयोग करता है) बल्कि शान्तिकाल म भी केन्द्र की शक्ति राज्यो पर हावी रहती है। समवर्ती सूची मे ससद द्वारा बनाये गये कानूनो को प्राथमिकता दी जाती है, अनुच्छेद 249 के अन्तगत राज्य सूची मे दिये गये किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का विषय बताकर लोक सभा (ससद) को उस विषय पर कानून निर्माण का अधिकार दे सकती है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग भी इस प्रकार किया जा सकता है कि केन्द्र द्वारा पारित कानूनो मे बाधा प्रस्तुत न हो। केन्द्र आवश्यक समझे तो राज्य सरकारो को निर्देश दे सकता है। अवशिष्ट शक्तिया केन्द्र के पास हैं। भारत मे सघ के एकको का कोई पृथक सविधान होना तो दूर वे सविधान म सशोधन के प्रस्ताव को भी प्रस्तुत नही कर सकते। सशोधन का प्रस्ताव ससद द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है। अन्य सघीय सविधानो की तुलना मे भारतीय सविधान लचीला है। राज्यो की सीमाओ मे परिवतन ससद कर सकती है। राज्य सभा मे भी एकको की समानता प्रदान नही की गयी। राज्य के कार्यपालिका अध्यक्षो (राज्यपालो) की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। अखिल भारतीय सेवायें केन्द्र के अधीन है। न्याय व्यवस्था एकीकृत है। निर्वाचन आयोग केन्द्र और राज्यो के निर्वाचनो का सचालन करता है। राज्य अपनी विकास योजनाओ के लिये केन्द्र की सहायता पर निर्भर करते हैं आदि। ये सब तत्त्व भारतीय सविधान को एकात्मक रूप प्रदान करत है।

**8 ससदीय सर्वोच्चता और न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्तो म मध्यम मार्ग—** भारतीय सविधान ने ब्रिटेन की ससदात्मक प्रणाली को अपनाया है परन्तु उसके

ससदीय सर्वोच्चता के सिद्धा त को नही अपनाया अर्थात ससद के कानूनो को यायालय मे चुनौती दी जा सकती है और यायालाय उसे अवध भी घोषित कर सकती है, *यदि वह कानून सवधानिक धाराम्रा के विपरीत है।* भारत म सर्वोच्च यायालय ने अनेक कानूनो को इस कारण अवध घोषित किया कि वे सवधानिक धाराम्रा के विपरीत थे। सन् 1967 के गोलकनाथ मुकदमे म तो यायालय ने ससद मे मूल अधिकारा मे परिवतन करने की सत्ता को भी छीन लिया था। यद्यपि 1973 म केशवान द के मुकदम म सर्वोच्च यायालय ने सविधान म सशाधन करने के (मूल अधिकारो सहित) समद के *अधिकार को स्वीकार कर लिया पर तु साथ म यह भी* कह दिया कि ससद सविधान के मूल ढाचे को नष्ट नही कर सकती। पर तु भारतीय सविधान की यह भी विशेपता है कि ससद यायालया के निणयो को प्रभावहीन बनाने के लिये सवधानिक सशोधन भी कर सकती है। अनक सवधानिक सशोधन इसी आशय से किये गये। उदाहरणतया 24वा सशोधन 1967 मे गालकनाथ मुकदम म छीनी गई ससद की शक्ति को पुन प्राप्त करने के लिये किया गया। इसी प्रकार 25वॉ सशोधन 1970 मे बक राष्ट्रीयकरण और राजाम्रा के प्रिवी पस का समाप्त करने वाले अध्यादेशा को यायालय द्वारा अवध घोषित होन पर ही पास किया गया। इस तथ्य की भी उपेक्षा नही की जा सकती कि यायाधीशा की नियुक्ति कायपालिका (राष्ट्रपति) द्वारा होती है। स्पष्ट है कि भारतीय सविधान ब्रिटिश ससदीय सर्वोच्चता के सिद्धा त और अमरीकी यायिक सर्वोच्चता के सिद्धा त म मध्यम माग अपनाता है।

9 **मूल अधिकार**—अमरीका और आयरलण्ड के सविधाना की भाति भारतीय सविधान भी अपने नागरिको को मूल अधिकार प्रदान करता ह। भारतीय नागरिको का 7 मूल अधिकार दिये गय है (i) समानता का अधिकार, (ii) स्वत त्रता का अधिकार, (iii) शापण के विरुद्ध अधिकार, (iv) धार्मिक स्वत त्रता का अधिकार, (v) सास्कृतिक एव शिक्षा सम्ब धी अधिकार, (vi) सम्पत्ति का अधिकार, और (vii) सवैधानिक उपचारा के अधिकार। इन अधिकारा की विशेपता है कि सविधान इ ह वाद-योग्य (justiciable) बनाता है। भारतीय नागरिका के य अधिकार नागरिक स्वत त्रताम्रो क मग्नाकार्टा हैं और भारतीय लोकत त्र तथा उसकी उदार एव स्वत त्र सस्थाम्रा के अस्तित्व के मूल आधार है। यदि इन अधिकारा का सविधान से निकाल दिया जाय ता भारतीय सविधान के लोकतान्त्रिक हान पर ही स देह उत्प न हो जायेंग।

पर तु भारतीय सविधान की यह भी विशपता ह कि जिन अनुच्छेदा म वह नागरिका को मूल अधिकार प्रदान करता है उ ही म अपवादा, विशप व्यवस्थाम्रा और शर्तों द्वारा उनकी मर्यादाम्रा का भी निर्धारित करता है। इस तरह भारतीय सविधान केवल नागरिका के मूल अधिकारो को सवधानिक मा यता ही नही दता बल्कि मर्यादाम्रा को भी सवधानिक मा यता प्रदान करता है। इस तरह भारतीय नागरिका के मूल अधिकार निबाध असीमित और निरपक्ष नही। राष्ट्र की सुरक्षा,

सावजनिक व्यवस्था एव हित, विदेशा से मत्रीपूर्ण सम्बन्धा, सावजनिक नतिकता और स्वास्थ्य, पिछडी हुई एव अनुसूचित जातियो के हिता की रक्षा, नीति निदेशक तत्वा, आदि के नाम पर राज्य सवदा नागरिक स्वतन्त्रताओ पर मर्यादायें लगा सकता है।

**10 नीति निदेशक तत्व**—भारतीय सविधान की एक विशेषता यह है कि जहा उसने अध्याय तीन म नागरिका के वाद-योग्य अधिकारा को उल्लिखित किया है वहा अध्याय चार म उसने नागरिका के वाद हीन (non justiciable) अधिकारा को उल्लिखित किया है जिन्ह राज्य के नीति निदेशक तत्व कहा जाता है। ये नीति निदेशक तत्व वाद हीन होने पर भी देश के प्रशासन म मूलभूत हैं। यद्यपि ये राज्य पर कोई दायित्व प्रदान नही करते परन्तु लोकतान्त्रिक, लोक कल्याणकारी राज्य म शासन का अस्तित्व इन्ही की कार्यान्विति पर निभर करता है। यद्यपि न्यायालयो म इनकी माग नही की जा सकती परन्तु प्रत्येक लोकतान्त्रिक शासन को निर्वाचन मडल के समक्ष उत्तरदायी होना पडता है अत इन तत्वा की कार्यान्विति के आधार पर शासन की समीक्षा की जा सकती है। नीति निदशक तत्वा की कार्यान्विति लोकतान्त्रिक, लोक-कल्याणकारी शासन का औचित्य ह उसकी सफलता और असफलता का मापदण्ड है।

नीति निदेशक तत्व राज्य का पथ प्रदशन करत हैं तथा उस दिशा की ओर सकेत करते ह जिस दिशा म सविधान निर्माता भारत को ले जाना चाहते थे। इन नीति निदेशक तत्वो के माध्यम से ही सविधान निर्माता नागरिका को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहते है, रोजगार की व्यवस्था करना चाहते है, पू जी को कुछ हाथा म केन्द्रित होने स रोकना चाहते ह, 14 वष तक नि शुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना चाहते है, पिछडी हुई जातियो, अनुसूचित जातियो, अनुसूचित जन जातिया का विकास करना चाहते है पचायती राज का विस्तार करना चाहते है, काय पालिका और न्यायपालिका को पृथक करना चाहते हैं, आदि।

**11 लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना**—सविधान भारत म पुलिस राज्य की स्थापना नही करता बल्कि लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करता है। इसका अथ यह है कि सविधान राज्य के केवल नकारात्मक कार्यों का ही निधारित नही करता बल्कि राज्य को कुछ सकारात्मक काय भी सौंपता है ताकि सविधान की प्रस्तावना मे दिय गय आर्थिक, सामाजिक और राजनतिक न्याय अभिव्यक्ति और विचारा की स्वतन्त्रता और स्थिति और अवसर की समानता के आश्वासना को पूरा किया जा सके। लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना स जहा राष्ट्रीय एकता का समयन मिला है वहा लोकतन्त्र म लोगा की आस्था भी बढी है। पचवर्षीय योजनाओ विकास योजनाओ, राष्ट्रीय नियोजन और समाजवादी ढाचे क समाज की स्थापना का उद्देश्य भारत मे लोक कल्याणकारी राज्य की व्यवस्था करना है।

**12 स्वतन्त्र न्यायपालिका**—सविधान की सर्वोच्चता, सघीय व्यवस्था और

नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा हेतु संविधान स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था करता है। सर्वोच्च न्यायालय रूपी पहरदार इनकी रक्षा हेतु सदा तयार रहता है। जब कभी कार्यपालिका आदेश या व्यवस्थापिका के कानून संवधानिक धाराओं की उल्लंघना करते हैं या अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर होकर काय करते हैं तो न्यायालय उन्हें अवैध घोषित कर सकती है। नागरिकों के अधिकारों की रक्षा हेतु न्यायालय अनुच्छेद 32 के अनुसार बन्दी प्रत्यक्षीकरण परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण आदि लेखों को जारी कर सकती है। सर्वोच्च न्यायालय संविधान के अन्तर्गत विवादों का निपटारा ही नहीं करता बल्कि उसकी धाराओं की व्याख्या कर उसका विकास भी करता है। परन्तु यहां भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्र अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की भांति व्यापक नहीं क्योंकि जहां अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय का कार्यक्षेत्र 'कानून की उचित प्रक्रिया (due process of law) द्वारा निर्धारित होना है वहां भारतीय सर्वोच्च न्यायालय 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया" (procedure established by law) की परिधि में काय कर सकती है।

**13 साम्प्रदायिक मताधिकार की समाप्ति और वयस्क मताधिकार की कार्यान्विति**—भारतीय संविधान की एक विशेषता यह है कि जिस वयस्क मताधिकार को प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश नागरिकों को लगभग 100 वर्ष तक संघर्ष करना पड़ा भारतीय नागरिकों को वह वयस्क मताधिकार संविधान के लागू होते ही प्राप्त हो गया। क्योंकि साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली भारत के विभाजन और जातियों के विघटन का कारण थी अतः संविधान ने इसे समाप्त कर दिया और संयुक्त निर्वाचन प्रणाली को अपना लिया। इतना ही नहीं गुरुभार पद्धति को भी समाप्त कर दिया। केवल अनुसूचित जातियों अनुसूचित जन जातियों और पिछड़े हुए वर्गों के लिए संविधान विशेष व्यवस्थाएं करता है। वयस्क मताधिकार प्रणाली और संयुक्त प्रणाली पर टिप्पणी करते हुए प्रो० श्रीनिवासन ने लिखा है कि यह 'महान और क्रान्तिकारी विशेषता है।" उस समाज में जहां निर्धनता, निरक्षरता, अनभिज्ञता, रूढ़िवादिता, अनुदारवादिता जातिवाद अधिक था वहां वयस्क और संयुक्त निर्वाचन प्रणाली वस्तुतः एक महान कदम था। यह भारतीय संविधान निर्माताओं का भारतीय जनता पर विश्वास का द्योतक है।

**14 इकहरी नागरिकता**—यद्यपि संविधान संघात्मक व्यवस्था को स्थापित करता है परन्तु अन्य संघीय संविधानों की भांति उसने दोहरी नागरिकता की व्यवस्था नहीं की। राष्ट्रीय एकता की आवश्यकताओं का अनुभव करते हुए संविधान निर्माताओं ने इकहरी नागरिकता को अपनाया है। भारत में नागरिक किसी क्षेत्र में निवास क्यों न करता हो, उसकी मातृभाषा कुछ भी हो उसके रीति रिवाजों, परम्पराओं और आदतों में कितना ही अन्तर क्यों न हो सभी को एक ही नागरिकता, भारतीय नागरिकता प्राप्त है। कानून नागरिकों को बंगाली, पंजाबी मद्रासी, उड़िया, या मराठी के नाम से नहीं जानता बल्कि भारतीय नागरिक के रूप में पहचानता.

है। केन्द्रीय या राज्यों की शासन व्यवस्था नागरिकों में जाति, धर्म, भाषा आदि के आधार पर भिन्नता नहीं कर सकता।

**15 सामाजिक समानता**—संविधान प्रायः राजनीतिक समानता को ही प्रदान करते हैं। परन्तु भारतीय संविधान की यह विशेषता है कि यह राजनीतिक समानता के साथ सामाजिक समानता की भी व्यवस्था करता है और आर्थिक समानता लाने का प्रयास करता है। उदाहरणतया संविधान अस्पृश्यता का अन्त करता है और अनुच्छेद 17 में अस्पृश्यता का फैलाना या बढ़ावा देना एक दण्डनीय अपराध है। नीति निदेशक तत्वों के माध्यम से संविधान आर्थिक समानता लाने का प्रयास करता है।

**16 निर्दिष्ट जातियों के लिए विशेष उपबन्ध**—भारतीय संविधान की एक विशेषता यह है कि वयस्क मताधिकार को अपनाते हुए, सभी नागरिकों को राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से समान मानते हुए भी वह कुछ निर्दिष्ट जातियों के लिए संविधान ने अध्याय 16 के 13 अनुच्छेद (अनुच्छेद 330 से 342) में विशेष व्यवस्थाएं करता है। इन विशेष व्यवस्थाओं को अपनाते हुए संविधान ने इस तथ्य को समायोजित किया है कि जब तक भारतीय समाज के ये दलित, पिछड़े वर्गों को विकास के न्यूनतम अवसर प्रदान नहीं किये जाते तब तक भारत में लोकतान्त्रिक समाजवाद का विकास नहीं हो सकता। इन विशेष व्यवस्थाओं के अन्तर्गत संविधान आंग्ल भारतीय समुदाय के लिए लोकसभा में विशेष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करता है यदि उसे लोकसभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए भी स्थान निश्चित है। इतना ही नहीं प्रशासनिक सेवाओं और शिक्षा संस्थाओं में इनके लिए विशेष सुविधाएं हैं।

**17 राजभाषा**—संविधान के अध्याय 17 के 9 अनुच्छेद (अनुच्छेद 343 से 351) भाषा से सम्बन्धित अनुच्छेद हैं। संविधान जहां क्षेत्रीय भाषाओं के विकास की पूरी सुविधाएं प्रदान करता है वहां राष्ट्रीय एकता और सम्पर्क भाषा (link language) के रूप में देवनागरी लिपि में हिन्दी को राष्ट्र भाषा भी घोषित करता है। न केवल संविधान सभा में बल्कि उसके बाद भी आज तक भाषा का प्रश्न एक जटिल प्रश्न रहा है। जहां उत्तर के हिन्दी भाषाई राज्य के हिन्दी के समर्थक हैं तो वहां दक्षिण के अहिन्दी भाषाई राज्य अंग्रेजी के समर्थक हैं। त्रिभाषाई फार्मूले के अन्तर्गत इन दोनों दावों को समजित करने का प्रयास किया गया है। संविधान अनुच्छेद 351 के अन्तर्गत हिन्दी के विकास के लिए विशेष निदेशन भी देता है। हिन्दी के विकास के लिए केन्द्र और राज्यों में हिन्दी निदेशालयों की स्थापना भी की गयी है।

**18 अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का समर्थक**—भारतीय संविधान की एक यह विशेषता भी है कि वह अध्याय 4 के 51वें (Art 51) अनुच्छेद में भारत के अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों को स्पष्ट करता है अर्थात् भारत अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और

अध्याय **2**

# धर्म निरपेक्षता और भारतीय संविधान

**(Secularism and Indian Constitution)**

## धर्म निरपेक्षता का अर्थ
## (Meaning of Secularism)

धम निरपक्षता का अथ है धम से विच्छेद । क्योकि धम विश्वास और परलोक की चीज है अत धर्म निरपेक्षता बुद्धि, तक, विवेक और 'ससार' की चीज है । धम निरपेक्षतावादी वह व्यक्ति है जो धम, धार्मिक प्रणाली और पूजा के स्वरूप की ओर ध्यान न देकर मानव कल्याण को नतिकता पर आधारित करता है । धर्मों के प्रति धम निरपेक्षतावादी का दृष्टिकोण सहिष्णुता का होता है, हठ धर्मिता का नही । धम निरपेक्ष साहित्य का अथ है एसा साहित्य जिसका न ता धम से सम्बन्ध है और जो न धम की सेवा करता है । धम निरपेक्ष शिक्षा का अथ है ऐसा शिक्षा पाठ्यक्रम जिसमे धार्मिक शिक्षा प्रदान नही की जाती । धम निरपेक्ष अभिवृत्ति का अथ ऐसी वत्ति से है जो जीवन के महत्वपूण क्षेत्रो से धम को अलग करती है । एक विचारधारा के रूप म इसका अथ है उस जीवन और व्यवहार का विरोध जो धम पर आधारित है । राजनीतिक क्षेत्र म धम निरपेक्षता राज्य और धम (चच) को अलग अलग रखती है । ब्रिटानिका विश्व कोष मे धम निरपेक्षता को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है 'गैर आध्यात्मिक अर्थात् जा धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषया से सम्बधित न हो कोई भी चीज जा धम तथा धम सम्बधी चीजा से भिन्न, विरुद्ध या सम्बधित न हो, सासारिक जा आध्यात्मिक या धार्मिकता के विपरीत हो ।

स्पष्ट है कि धम निरपक्षता ऐसा सिद्धान्त है जो राज्य के नागरिका को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है । धम को व्यक्तिगत विषय मान कर धार्मिक मामला मे तटस्थ रहता है और धम के आधार पर कोई भिन्नता नही करता । जैसाकि तयबजी ने लिखा है कि "धम निरपेक्षता एक वृहद परगाला है जिसके अन्तगत अनेक रग रूप और सुग ध के हजारा फूल मिलते हैं ।"

**धम निरपेक्ष राज्य का अथ**—धम निरपक्ष राज्य का अथ उस राज्य से है जिसका अपना कोई राज धम नही और धम के नाम पर किसी प्रकार की भिन्नता

नही करता । इस प्रकार का राज्य किसी धम विशेप को कोई सरक्षण प्रदान नही करता, उसका प्रचार नही करता, धम के नाम पर कोई जजिया या कर वसूल नही किया जाता । इस प्रकार का राज्य नागरिको को किसी ग्रमुक धम को ग्रपनाने या छोडने के लिये नही कहता । इस प्रकार के राज्य मे नागरिकता धम विशेप पर निभर नही करती बल्कि व्यक्ति के ग्राधार पर निभर करती है । राज्य की नीतिया धार्मिक भावनाग्रो मे प्रेरित नही होती बल्कि सामाजिक कल्याण से प्रेरित होती है । इस तरह धम निरपक्ष राज्य मे सभी धर्मो के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण ग्रपनाया जाता है ग्रौर धम को व्यक्ति का निजी क्षेत्र मान कर उसे स्वत त्र छोड दिया जाता है । धम निरपेक्ष राज्य के ग्रथ को निम्न परिभापाग्रो द्वारा ग्रौर ग्रधिक ग्रच्छी तरह से समझा जा सकता है —

1 वेकटारमन के शब्दो म धम निरपक्ष राज्य वह राज्य है जो धार्मिक नही होता ग्रौर न ही ग्रधार्मिक होता है ग्रौर न ही धम विरोधी होता है परन्तु जो धार्मिक सिद्धान्तो ग्रौर धार्मिक क्रिया कलापो मे पूणतया ग्रलग है ग्रौर इस तरह जो धार्मिक विपयो म तटस्थ है ।"

2 एच० वी० कमथ क शब्दो म "एक धम निरपेक्ष राज्य न ही तो ईश्वर रहित राज्य है, न ही वह ग्रधर्मी राज्य है ग्रौर न ही वह धम विरोधी राज्य है ।"

3 डोनाल्ड ई० स्मिथ के शब्दो मे "धम निरपक्ष राज्य निजी ग्रौर सामूहिक स्वतन्त्रता की गारण्टी देता है । वह व्यक्ति के साथ उसके धम का विचार किये बिना, नागरिक के रूप म व्यवहार करता है । सवधानिक तौर पर वह किसी धम से सम्बन्धित नही ग्रौर न किसी धम की वद्धि का प्रयास करता है ग्रौर न ही धम मे हस्तक्षेप करता है ।

**धम निरपेक्षता ग्रौर भारतीय सविधान**—भारत एक बहुजातीय दश है । यहाँ पर हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, पारसी, जन, वौद्ध, यहूदी, ग्राग्ल भारतीय, ग्रादि ग्रनेक जातियो के लाग निवास करते है । इन जातियो के भिन्न भिन्न धम है, भिन्न भिन्न विश्वास है । हिन्दू धम के ग्रनुयायियो की यहा पर बहुतायत है । ग्रायरलण्ड के सविधान की भाति भारत के सविधान निर्माता हिन्दू धम को राज्य का सरक्षण प्रदान कर सकते थे परन्तु उन्होने राष्ट्रीय ग्रखण्डता ग्रौर एकता की ग्रावश्यकताग्रो को ध्यान मे रखते हुए, ग्रल्पसख्यको मे विश्वास को बनाये रखने के लिये तथा महात्मा गाधी के इस स्वप्न को पूरा करने के लिये कि "भारत सबके लिये है" (India for all) भारत के सविधान निर्माताग्रो ने धम निरपेक्षता के सिद्धान्त को ग्रपनाया ।

भारतीय सविधान की विशेपता यह है कि यह धम निरपेक्ष विचारो स सवत्र प्रभावित है परन्तु फिर भी सविधान ग्रपनी किसी धारा मे 'धम निरपक्ष' या 'धम निरपेक्षता' शब्दो का प्रयोग नही करता । सविधान की प्रस्तावना (Preamble),

निर्वाचन प्रणाली और सविधान के तीसरे भाग मे वर्णित नागरिको के मूल अधिकार भारतीय सविधान की धम निरपेक्षता को परिलक्षित करते हैं।

**सविधान की प्रस्तावना भारत को धम निरपेक्ष राज्य बनाती है**—भारत के सविधान की प्रस्तावना मे यह घोषणा कि सविधान भारत के सभी नागरिको के लिये 'विश्वास धम, और उपासना की स्वतन्त्रता", 'प्रतिष्ठा और अवसर की समानता' तथा "बन्धुत्व की भावना" को सुरक्षित रखता है भारत राज्य को एक धम निरपेक्ष राज्य बनाती है। प्रस्तावना मे भी "ईश्वर' शब्द का प्रयोग नही किया गया। विश्वास और उपासना को व्यक्तिगत विषय मान कर उन्हे व्यक्ति पर छोड दिया गया है।

भारतीय गणराज्य का अपना कोई धम नही। राज्य न तो किसी धम म आस्था रखता है और न ही किसी धम का प्रचार करता है। राज्य किसी नागरिक को किसी अमुक धम का अपनाने या किसी अमुक धम को छोडने, उसके लिये चन्दा इकट्ठा करने या धार्मिक सस्थाओ का निर्माण करने के लिये नही कहता। सक्षेप मे भारतीय राज्य धार्मिक विषयो मे तटस्थ है। जसा कि पी० बी० गजेन्द्र गडकर ने लिखा है कि राज्य "सभी पूजा स्थलो के प्रति समान सहिष्णुता से व्यवहार करता है।" परन्तु इसका यह अथ नही कि राज्य धम विरोधी है। जैसाकि सीतलवाड ने लिखा है कि सविधान म धार्मिक विश्वासो को मान्यता की प्रवृत्ति है यदि व सामान्य सामाजिक हित के विरुद्ध नही है तथा सब धर्मों को समान समझा जाता है।"[1] यदि धम सावजनिक उत्पात पैदा नही करता तो यहा सब धर्मों को पूण स्वतन्त्रता है।

सविधान की प्रस्तावना भारतीय नागरिको का केवल इस बात का ही आश्वासन नही देती कि वे अपनी इच्छानुसार विश्वास और उपासनाओ' के तरीका का अपना सकते हैं बल्कि इसके माध्यम से प्रस्तावना राज्य मे यह माग भी करती है कि धम, जाति, लिंग, भाषा, प्रदेश या अन्य किसी आधार पर नागरिको मे कोई भिन्नता न करे। यह बात तथ्यपूण है कि भारत मे नागरिकता किसी धम विशेष पर निभर नही करती बल्कि व्यक्ति (Individual) पर करती है। भारत म नागरिको के पास एक ही नागरिकता है जिसे भारतीय नागरिकता कहते हैं। "हम, भारत के लोग इस बात का प्रतीक है कि हम भारतीय हैं हिन्दू मुस्लिम, सिक्ख या इसाई नही।

**निर्वाचन प्रणाली भारत को धम निरपेक्ष बनाती है**—सविधान भारत म साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को समाप्त करता है और उसके स्थान पर सयुक्त

---

1 गजेन्द्र गडकर, पी बी धम निरपेक्षता तथा भारतीय सविधान in भारतीय सरकार एव राजनीति एव लेख सकलन (खण्ड 1) (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर), पृ० 154

निर्वाचन प्रणाली को अपनाना है। निर्वाचन क्षेत्र भौगोलिक निर्वाचन क्षेत्रों में बटे हुए हैं साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों में नहीं। मतदाताओं के लिये सामान्य निर्वाचन सूचियाँ (general electoral roll) है। निर्वाचन चिह्न सामान्य ही हो सकते हैं अर्थात कोई उम्मीदवार या दल ऐसा निर्वाचन चिह्न नहीं ले सकता जिससे धार्मिक भावनायें उभड़ती हो। निर्वाचनों में साम्प्रदायिकता को भड़काना या धर्म, जाति के आधार पर मतों को प्राप्त करने की अपील करना निर्वाचन भ्रष्टाचार में लिया जाता है।

नागरिकों के मूल अधिकार भारतीय संविधान की धर्म निरपेक्षता को परिलक्षित करते हैं—अध्याय तीन में नागरिकों को प्रदत्त किये गये मूल अधिकार भारतीय संविधान के धर्म निरपेक्ष होने के प्रमाण हैं। ये अध्याय भारत की धर्म निरपेक्षता के आदर्श को सुदृढ़ करते हैं। इन मूल अधिकारों की प्रमुख विशेषता यह है कि ये सभी को समान रूप से प्राप्त है और राज्य, धर्म, जाति, भाषा, लिंग या प्रदेश के आधार पर नागरिकों में कोई भिन्नता नहीं कर सकता। अनुच्छेद 14 सभी व्यक्तियों को "कानून के समक्ष समानता" और "कानूनों के समान संरक्षण" को प्रदान करता है अनुच्छेद 15 (1) राज्य को धर्म, जाति, लिंग, जन्म स्थान के आधार पर नागरिकों में भिन्नता की मनाही करता है, अनुच्छेद 16 के अनुसार धर्म के आधार पर सरकारी नौकरी या पद ग्रहण करने के लिये कोई नागरिक अयोग्य नहीं होगा, अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता का उन्मूलन करता है। अस्पृश्यता के आधार पर कोई भी अयोग्यता मानना इस कानून के अनुसार दण्डनीय है।

अनुच्छेद 25 से 30 भारतीय संविधान की धर्म निरपेक्षता के आधार स्तम्भ है।

अनुच्छेद 25 सब व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार देता है। यह अनुच्छेद केवल नागरिकों को ही नहीं बल्कि सभी व्यक्तियों को, जिनमें विदेशी भी शामिल हैं, धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। यह अनुच्छेद व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार की धार्मिक स्वतन्त्रताओं का उल्लेख करता है। यह अनुच्छेद सभी धार्मिक संस्कारों (rituals), और रीतियों (observances) की गारण्टी देता है जो उस धर्म के अनुयायियों द्वारा धर्म के अभिन्न अंग माने जाते हैं। क्योंकि किरपान (Kirpan) सिक्ख धर्म का अभिन्न अंग है अतः संविधान उन्हें किरपान रखने की आज्ञा देता है।

अनुच्छेद 26 प्रत्येक सम्प्रदाय को धार्मिक और पूत (charitable) प्रयोजनों के लिये संस्थाओं की स्थापना और पोषण का अपने धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयों के प्रबन्ध करने का तथा चल और अचल सम्पत्ति के विधि अनुसार प्रशासन करने का अधिकार देता है। संक्षेप में, अनुच्छेद 26 प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को अपने धर्म से सम्बन्धित "घरेलू कार्यों" (domestic affairs) को करने का अधिकार देता है।

अनुच्छेद 27 राज्य को किसी धर्म के पोषण के लिये नागरिकों से कर लेने या लगाने की मनाही करता है। परन्तु यह अनुच्छेद धार्मिक संस्थाओं के लौकिक प्रशासन (Secular administration) को नियमित करने के लिये राज्य द्वारा खर्च किये गये धन को अदा करने के लिये 'शुल्क' (fees) लगाने की मनाही नहीं करता।

अनुच्छेद 28 राज्य द्वारा प्रशासित शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा प्रदान करने से मनाही करता है। जो शिक्षा संस्थायें राजकोष से अनुदान प्राप्त करती हैं उनमें भी धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं की जा सकती। परन्तु यह अनुच्छेद उन विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा ग्रहण करने से नहीं रोकता जो स्वेच्छा से उसे प्राप्त करना चाहते हैं। इस तरह जहाँ यह अनुच्छेद राज्य शिक्षा केन्द्रों के लौकिक स्वरूप को बनाये रखता है वहाँ विद्यार्थियों को स्वेच्छा से धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने की स्वतन्त्रता देता है।

अनुच्छेद 29 और 30 यद्यपि धर्म निरपेक्षता से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित नहीं परन्तु फिर भी भारत की अल्पसंख्यक जातियों को यह आश्वासन देकर कि वे अपनी इच्छानुसार अपनी लिपि, भाषा, और संस्कृति की सुरक्षा के लिये संस्थाओं को स्थापित कर सकते हैं ये अनुच्छेद भारतीय राज्य की धर्म निरपेक्षता का पोषण करते हैं। धर्म, जाति भाषा आदि के आधार पर किसी नागरिक को राज्य द्वारा प्रशासित या राज्य द्वारा सहायता प्राप्त संस्थाओं में प्रवेश देने से मनाही नहीं की जा सकती।

स्पष्ट है कि भारतीय संविधान की उपयुक्त व्यवस्थायें भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य बनाती हैं। जैसा कि डी० डी० बसु ने लिखा है कि 'कुल मिला कर उपयुक्त उपबन्ध भारतीय राज्य को संयुक्त राज्य अमरीका से भी अधिक धर्म निरपेक्ष बनाते हैं।'

**भारत में धर्म निरपेक्षता निरपेक्ष नहीं या धर्म निरपेक्षता पर सीमायें**—निःसन्देह भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है परन्तु अन्य मूल अधिकारों की भांति धार्मिक स्वतन्त्रता भी निरपेक्ष या असीमित नहीं। संविधान उचित सीमा के अन्तर्गत ही धार्मिक स्वतन्त्रताओं की आज्ञा देता है। जैसा कि गजेन्द्र गडकर ने लिखा है कि 'जब तक धर्म अपने वैध व धर्मों में होता है तब तक धर्म निरपेक्षता धार्मिक रूप से इसके प्रति तटस्थ रहती है।' जिन आधारों पर राज्य धार्मिक स्वतन्त्रताओं पर प्रतिबन्ध लगा सकता है उनमें मुख्य निम्न हैं —

(i) सार्वजनिक, व्यवस्था नैतिकता और स्वास्थ्य,
(ii) संविधान की अन्य धाराओं को लागू करने के लिये,
(iii) धार्मिक आचरण से सम्बन्धित गैर धार्मिक कार्यों को नियमित करने के लिये,
(iv) सामाजिक कल्याण और सुधार के लिये,

(v) हिन्दू धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों के लिये खोलने के लिये, आदि।

उपर्युक्त आधारों पर राज्य द्वारा धर्म में हस्तक्षेप करना अनुचित नहीं बल्कि शांति, व्यवस्था और सार्वजनिक नैतिकता के लिये आवश्यक भी है। किसी धर्म को सार्वजनिक उत्पात पैदा करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती और जब कभी धर्म सार्वजनिक उत्पात पैदा करता है तो राज्य उस पर प्रतिबन्ध लगाने के लिये अपने आपको स्वतन्त्र समझता है। "धार्मिक विश्वास की स्वतन्त्रता शान्ति और व्यवस्था के हितों या नियमों और सामाजिक नैतिकता के सिद्धान्तों को लांघ या दबा नहीं सकती और यदि धार्मिक स्वतन्त्रता ऐसा करती है तो वह उस सीमा तक राज्य के नियन्त्रण के अधीन है जिस सीमा तक वह इनको लांघती या दबाती है।" जब कभी धार्मिक आचरण और समाज सुधार के नियमों में स्पर्धा, विरोध या संघर्ष उत्पन्न होता है तो धर्म को झुकना पड़ता है।

भारत में जब कभी धर्म या धार्मिक क्रियाकलापों या धार्मिक संस्थाओं से अव्यवस्था फैलने की सम्भावना हुई तब ही राज्य ने व्यवस्था स्थापित करने के लिये धार्मिक क्रियाओं और धार्मिक संस्थाओं में हस्तक्षेप ही नहीं किया बल्कि उनके प्रशासन और सम्पत्ति को भी अपने नियन्त्रण में लिया है। उदाहरणतया दिल्ली गुरुद्वारा की व्यवस्था सुधारने के लिये केन्द्रीय सरकार ने हस्तक्षेप किया तथा एक नई समिति की स्थापना की, तामिलनाडू सरकार ने तो धार्मिक संस्थाओं में सुधार हेतु कई कानूनों का निर्माण किया है, नाथद्वारा में श्रीनाथजी के मन्दिर की व्यवस्था राजस्थान सरकार द्वारा की जाती है।

भारत में राज्य ने धार्मिक अन्धविश्वासों, असमानताओं, पिछड़ेपन और रूढ़िवादिताओं तथा कट्टरवादिताओं को समाप्त करने के लिये भी धर्म में हस्तक्षेप किया है। उदाहरणतया 1955 का अस्पृश्यता (अपराध) कानून अस्पृश्यता के आधार पर किसी भी अयोग्यता को दण्डनीय अपराध मानता है, हिन्दू मन्दिरों को हिन्दुओं के सभी वर्गों के लिये खोल दिया गया है, 'हिन्दू कोड बिल भारतीय धर्म निरपेक्षता की देदीप्यमान विजय का उदाहरण है।"

यह भारतीय धर्म निरपेक्षता की गतिशीलता है कि यह समाज के दलित वर्गों के लिये विशेष सुविधाओं की व्यवस्था करता है। अल्पसंख्यकों के आश्वासन को भी बनाये रखा गया है। उदाहरणतया भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन, वर्तमान राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद तथा भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश एम० हिदायत उल्ला अल्पसंख्यक जाति के थे। यह भारतीय धर्म निरपेक्षता की ही सफलता थी कि राष्ट्र विदेशी आक्रमणों का सफलता पूर्वक सामना कर सका जबकि धर्म सापेक्षता पर आधारित पाकिस्तान 1971 में विघटित हो गया और बंगला देश का निर्माण हुआ।

भारतीय धर्म निरपेक्षता की यह विशेषता है कि वह इसके नकारात्मक स्वरूप धर्म विरोधी व संशयवादी स्वरूप) को स्वीकार नहीं करता बल्कि उसके

सकारात्मक स्वरूप को ग्रहण करता है। भारतीय धर्म निरपेक्षता धर्म की आवश्यकता और उसके अस्तित्व को मान्यता देती है जैसा कि पी० बी० गजेन्द्र गडकर ने लिखा है कि "भारत में धर्म निरपेक्षता धर्म की समस्या के प्रति नकारात्मक, यहाँ तक कि निष्क्रिय दृष्टि भी नहीं अपनाती। निस्सन्देह यह धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देखती है लेकिन साथ ही यह धर्म को उसकी उचित सीमा में कार्यशील रखने के लिये भी कृत सकल्प है।" जब तक धर्म अपने वैध व धनो में होता है तब तक धर्म निरपेक्षता धार्मिक रूप से इसके प्रति तटस्थ रहती है।" यह भारतीय धर्म निरपेक्षता का सकारात्मक पहलू ही है कि केरल राज्य में धार्मिक सस्थाओं और मन्दिरो को अनुदान देने की व्यवस्था है। संस्कृत शिक्षा, जिसका सम्बन्ध हिन्दू धर्म से घनिष्ट है, के प्रसार के लिये प्रत्येक राज्य भारी धन राशि प्रति वर्ष खर्च करता है। धार्मिक सम्मेलनो में भी राज्य ने अनेक प्रकार की वित्तीय एवं प्रशासनिक सहायता दी है। बौद्ध सम्मेलनो, ईसाइ सम्मेलनो, ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती के उर्स और कुम्भ मेलो में राज्य के लाखो रुपये खर्च हो जाते हैं, आदि।

## भारतीय धर्म निरपेक्षता के मार्ग में आने वाली बाधाए

भारतीय धर्म निरपेक्षता के मार्ग में आने वाली प्रमुख बाधाएँ निम्न हैं—

**1 साम्प्रदायिकता**—यद्यपि भारत में राज्य सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाता है फिर भी जाति और समुदाय (Community) के प्रति निष्ठायें इतनी बलशाली है कि छोटी सी घटना साम्प्रदायिक दंगा को जन्म दे देती है जो धर्म निरपेक्षता के विकास में बाधा प्रस्तुत करती है। जैसा कि डौनाल्ड ई० स्मिथ ने लिखा है कि "साम्प्रदायिक विरोध भारत में स्थायित्व है और यह सहजता से हिंसात्मक संघर्ष का रूप ले लेता है। दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि आज भी भारत में ऐसे जातीय सगठन है, पत्र पत्रिकाएं हैं राजनीतिक दल है जो साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देते हैं और अनेक बार तो इनकी गतिविधियाँ चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं।

**2 जातीय समूहों के आधार पर आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक सुविधायें प्रदान करना जातीय भावनाओ को बढ़ावा देना है**—जाति के आधार पर सुविधायें प्रदान कर सविधान धर्म निरपेक्षता के स्थान पर जातीय भावनाओं को प्रोत्साहन देता है। उदाहरणतया जाति के आधार पर अनुसूचित जातियो, अनुसूचित जन जातियो आदि को छात्रवृत्तियाँ, आर्थिक सहायता, सरकार में सुरक्षित स्थान, कॉलिज में सुरक्षित स्थान, आदि तत्व जातीय भावना का विकास करते हैं धर्म निरपेक्षता का नहीं और जब इनका प्रयोग निर्वाचन में "वोट बैंक" (Vote Bank) के रूप में किया जाता है तो यह अत्यन्त गम्भीर स्थिति ग्रहण कर लेता है। सामाजिक पृथगाव (Social exclusiveness) का वातावरण आज भी विद्यमान है।

**3 धार्मिक सस्थाओं में राज्य का हस्तक्षेप**—भारत में राज्य ने हिन्दू धार्मिक सस्थाओं में आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप किया है। राज्य को हिन्दू धर्म सुधार का एक प्रमुख अभिकरण मान लेना धर्म निरपेक्षता पर कुठाराघात करना है। व्यक्तिगत

धार्मिक कानून मे हस्तक्षेप पुरावशेष (anachronism) का परिचायक है। जहाँ राज्य ने हिन्दू परम्पराओ, सस्थाओ और व्यक्तिगत कानून म परिवतन किये ह वहाँ मुस्लिम परम्पराओ, सस्थाओ और व्यक्तिगत कानून को अछूता छोडा गया है।

**4 समान नागरिक नियम सहिता का अभाव**—यद्यपि अनुच्छेद 44 भारत म समान नागरिक नियम सहिता की अपेक्षा करता है परन्तु अभी तक ऐसी किसी सहिता का निर्माण नही हो सका। हिन्दू कोड को इसकी ओर प्रगति ही माना जा सकता है।

**पश्चिमी धम निरपेक्षता और भारतीय धर्म निरपेक्षता मे अन्तर**—पश्चिमी धम निरपक्षता और भारतीय धम निरपेक्षता म कुछ अन्तर पाये जाते है। इन भेदो को न समझने के कारण ही डोनाल्ड ई० स्मिथ ने भारतीय धम निरपेक्षता को "शर्तों के सहित स्वीकार" किया है। वस्तुत स्थिति यह है कि भारतीय धम निरपेक्षता पर "शर्तो' की आवश्यकता नही क्योकि भारत की धम निरपेक्षता स्थिर (static) नही गतिशील (dynamic) है। जहा पश्चिम की धमनिरपेक्षता भौतिकवादी व तकबुद्धि परक (rationalistic) अधिक है वहा भारत की धम निरपेक्षता भौतिक-वादी व तक बुद्धिपरक होने के साथ उपयोगिता और रूपान्तर (adaptation) पर भी आधारित है। पश्चिम की भाति भारतीय धम निरपेक्षता नकारात्मक नही सकारात्मक है। यह पश्चिम की भाति धम को मादक औषधि (dope) नही मानती। साम्यवादी देशो की भाति यह धम की अवज्ञा या धम विरोधी विश्वासो को सरक्षण देना आवश्यक नही समझती वल्कि दूसरी ओर भारतीय धम निरपक्षता धम को श्रद्धा की दृष्टि से देखती है यद्यपि वह उसकी उचित सीमायें भी निर्धारित करना चाहती है।

## भारतीय धर्म निरपेक्षता की विशेषतायें

भारतीय धम निरपक्षता की प्रमुख विशेषतायें तीन है जो निम्न हैं —

**1 भारतीय धम निरपेक्षता उदारवादी ह**—इसका अथ यह है कि भारत म हिन्दू जाति की बहुतायत होने पर भी अल्पसख्यको का इस बात का आश्वासन दिया गया है कि वे अपने धम का पालन कर सकते ह, उसके लिये सस्थाओ का निर्माण कर सकते ह, अपनी लिपि भाषा व सस्कृति का अपनी इच्छानुसार विकास कर सकते ह। भारतीय धम निरपेक्षता का उदारवाद इस मान्यता पर आधारित है कि जब तक धम धम है अर्थात् जब तक धम सामाजिक उत्पात पैदा नहीं करता है तब तक धम को पूर्ण स्वतन्त्रता है।

**2 भारतीय धर्म निरपेक्षता निरपेक्ष या असीमित नहीं**—भारत म धार्मिक स्वतन्त्रता निरपक्ष नही। राज्य सावजनिक व्यवस्था, नतिकता, स्वास्थ्य, सामाजिक कल्याण, सुधार आदि के नाम पर धार्मिक स्वतन्त्रताओ या प्रतिबन्ध लगा सकता है। परन्तु राज्य द्वारा लगाई गयी मर्यादायें भी निरपेक्ष नही, उन्ह भी न्यायालयो म चुनौती देकर अवध घोषित कराया जा सकता है।

**3 भारतीय धम निरपेक्षता गतिशील है, स्थिर नहीं**—भारतीय धम निरपेश्नता की विशेषता यह है कि यह धम को राजनीति से पृथक अवश्य करती है परन्तु यह धम विरोधी या ईश्वर विरोधी नही। यह धम को श्रद्धा की दृष्टि से देखती है, यह मानव जीवन म धम की आवश्यकता और उसके अभिप्राय को मान्यता देती है। यह व्यक्ति को शुष्क भौतिकवादी नही बनाती, उसे मानवतावादी बनाती है।

## समीक्षा-प्रश्न
## (Review Questions)

1 धम निरपेक्षता से आप क्या समझते है ? क्या भारत धम निरपक्ष राज्य है?
2 भारतीय सविधान की उन व्यवस्थाओ का वणन कीजिये जो उसे धम निरपेक्ष बनाती है।

अध्याय 3

# संविधान में संशोधन की प्रक्रिया

## (Procedure for amendment of the Constitution)

**संशोधन प्रक्रिया की आवश्यकता**—कोई भी संविधान अपने निर्माणकाल के वातावरण में ही काम नहीं करता बल्कि उसे अनेक दशाब्दियों और शताब्दियों तक काम करना होता है। क्योंकि कोई भी संविधान निर्माता संविधान निर्माण के समय सभी समयों की आवश्यकताओं का पूर्वाभास नहीं कर सकते अतः संविधान को समयानुकूल बनाने और नई परिस्थितियों का सामना करने के लिये उसमें संशोधन की आवश्यकता होती है। यही आवश्यकता संशोधन की प्रक्रिया को जन्म देती है। ऐसे संविधान की कल्पना जिसमें संशोधन की आवश्यकता न हो प्रायः असम्भव है। जैसा कि मुलफोर्ड ने लिखा है कि "असंशोधनीय संविधान समय का सबसे बड़ा अत्याचार है या समय का अत्याचार है।" मुनरो ने भी लिखा है कि 'असंशोधनीय संविधान की कल्पना असम्भव है। ऐसा संविधान केवल विरोधाभास होता है।" संवैधानिक संशोधन के महत्व पर प्रकाश डालते हुए हर्मन फाइनर ने कहा है कि "संशोधन की धारा ही संविधान है।'

नमनीयता और अनमनीयता के आधार पर संविधानों को प्रायः दो श्रेणियों में बांटा जाता है। नमनीय संविधान वह होता है जिसमें साधारण कानून और संवैधानिक कानून में कोई भिन्नता नहीं की जाती। संवैधानिक कानून भी उसी प्रक्रिया द्वारा पारित हो जाता है जिस प्रकार साधारण कानून। ब्रिटिश का संविधान विश्व का सबसे नमनीय संविधान है। दूसरी ओर, अनमनीय संविधान वह संविधान होता है जिसमें साधारण कानून और संवैधानिक कानून में भिन्नता की जाती है। संवैधानिक कानून में परिवर्तन की प्रक्रिया साधारण कानून से भिन्न होती है और संविधान द्वारा वर्णित प्रक्रिया के अनुसरण करने पर ही संवैधानिक कानून पारित किये जा सकते हैं। अमरीका का संविधान विश्व का सबसे अनमनीय संविधान है।

भारतीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया का निर्धारित करते समय भारतीय संविधान निर्माता उपयुक्त दोनों विचारधाराओं से परिचित थे परन्तु वे न तो ब्रिटिश संविधान की भांति भारतीय संविधान को अत्यधिक नमनीय (लचीला) बनाना चाहते थे और न ही अमरीकी संविधान की भांति अनमनीय (कठोर) ही बनाना चाहते थे।

वे इसे इतना नमनीय अवश्य बनाना चाहते थे कि वह अपने आपको समयानुकूल ढाल सके। परन्तु वह उसे इतना अधिक नमनीय भी नही बनाना चाहते थे कि वह सत्तारूढ दल के हाथो का खिलौना बन जाय और अपनी पवित्रता को खो बैठे। दूसरी ओर वे इसे इतना अनमनीय नही बना देना चाहते थे कि उसमे समयानुकूल परिवर्तन न हो सके। अत भारतीय सविधान निर्माताओ ने नमनीयता और अनमनीयता मे मध्यम मार्ग को अपनाया। वस्तुत यहा भी सविधान निर्माताओ ने उसी समझौता और समायोजन (समन्जन) के मार्ग को अपनाया जिसे उन्होने सविधान की अन्य धाराओ को अपनाते समय अपनाया था। जैसा कि आस्टिन ने लिखा है कि "सशोधन के उपबन्ध स्पष्टतया इस विचार मे कि ससद को सविधान के किसी भाग मे सशोधन करने का अधिकार होना चाहिये और सघ की परम्परागत सशोधन की विचारधारा मे समझौता है।"[1]

**भारत मे सशोधन की प्रक्रिया**—भारतीय सविधान में सशोधन की प्रक्रिया का वर्णन अध्याय 20 के अनुच्छेद 368 मे किया गया है। इसके अनुसार "सविधान मे सशोधन का प्रस्ताव ससद के किसी सदन मे विधेयक के रूप मे प्रस्तावित किया जा सकता है और जब प्रत्येक सदन उस विधेयक को अपने पूर्ण बहुमत और उपस्थित सदस्यो के दो तिहाई बहुमत मे पारित कर देता है तो उस विधेयक को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जायगा जो उस पर अपनी अनुमति प्रदान करेगा।" परन्तु यदि सशोधन का प्रस्ताव अनुच्छेद 54 55 (राष्ट्रपति का निर्वाचन), अनुच्छेद 73 (सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार), अनुच्छेद 162 (राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार), अनुच्छेद 241 (सघ प्रशासित क्षेत्रो के लिये उच्च न्यायालय) या भाग 5 के अध्याय 4 (सघ की न्यायपालिका), या भाग 6 के अध्याय 5 (राज्यो के उच्च न्यायालय) भाग 11 के अध्याय 1 (सघ और राज्यो के विधायी सम्बन्ध) सातवी अनुसूची की कोई सूची (सघ सूची, राज्य सूची समवर्ती सूची), ससद मे राज्यो के प्रतिनिधित्व या इस अनुच्छेद (अनुच्छेद 368) के उपबन्ध मे सम्बन्धित सशोधन प्रस्ताव हैं तो राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के लिए उसके पास प्रस्तुत करने से पूर्व उस पर कम से कम आधी राज्य विधान सभाओ का अनुसमर्थन प्राप्त करना आवश्यक है।

सशोधन की उपर्युक्त प्रक्रिया से स्पष्ट है कि सविधान सशोधन के लिये तीन प्रकार की व्यवस्थायें करता है जो निम्न हैं —

**1 ससद के साधारण बहुमत द्वारा पास होने वाले सशोधन**—सविधान की कुछ धारायें ऐसी है जिन्हे ससद अपने साधारण बहुमत से सशोधित कर सकती है। सविधान इन्हे वस्तुत सवैधानिक सशोधन की सज्ञा नही देता। इसके उदाहरण हैं अनुच्छेद 2, 3, 4 और चतुर्थ अनुसूची अर्थात् राज्य के नामो, सीमाओ और क्षेत्रो मे किये गये परिवर्तन, अनुच्छेद 169 अर्थात राज्यो में विधान मण्डलो के द्वितीय सदन का निर्माण या अन्त तथा अनुसूचित क्षेत्रो और अनुसूचित जनजातियो के प्रशासन

1 Austin, Granville The Indian Constitution Corner Stone of a nation, p 264

से सम्बंधित संशोधन, आदि। संविधान के इस भाग को नमनीय भाग कहा जाता है।

**2 संसद के विशेष बहुमत द्वारा पास किये जाने वाले संशोधन**—संविधान की कुछ धारायें ऐसी हैं जिन्हें संसद का विशेष बहुमत ही संशोधित कर सकता है। इस प्रकार के संशोधन तभी पारित किये जा सकते हैं जब संशोधित प्रस्ताव पर संसद के दोनों सदनों ना पृथक् पृथक् रूप से उसे पूर्ण बहुमत और उपस्थित सदस्यों का दो तिहाई बहुमत स्वीकार कर ले। इस प्रकार की श्रेणी में आने वाली धारायें अध्याय तीन (मूल अधिकार) और अध्याय 4 (राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व) में उल्लिखित है। इस श्रेणी में वे धारायें भी ली जा सकती है जिन्हें श्रेणी एक और तीन में नहीं लिया गया।

**3 आधी राज्य विधान सभाओं के अनुसमयन पर पास होने वाले संशोधन**—इस श्रेणी में आने वाले संशोधन वे हैं जिन पर न केवल संसद के दोनों सदनों के पृथक पृथक् रूप से पूर्ण बहुमत और उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है बल्कि आधी राज्य विधान सभाओं के प्रस्ताव द्वारा उनके अनुसमयन की भी आवश्यकता होती है। उदाहरणतया राष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बंधित संशोधन (अनुच्छेद 54 और 55), संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार (अनुच्छेद 73) राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार (अनुच्छेद 162), संघ की न्यायपालिका, आदि से सम्बंधित संशोधन इसी क्षेत्र में आते हैं।

उपर्युक्त तीन व्यवस्थाओं के अतिरिक्त संविधान कुछ तदर्थ (ad hoc) और संकटकालीन (emergent provisions) उपबन्धों की भी व्यवस्था करता है। उदाहरणतया अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्य सभा अपने दो तिहाई बहुमत द्वारा प्रस्ताव को पास कर राज्य सूची में वर्णित किसी विषय को राष्ट्रीय महत्त्व का विषय करार देकर लोक सभा को उस पर कानून बनाने का अधिकार दे सकती है। यद्यपि ऐसा कानून एक समय पर एक वर्ष के लिए लागू रहता है परन्तु राज्य सभा प्रति वर्ष प्रस्ताव द्वारा इसकी अवधि अनिश्चित काल तक बढ़ा सकती है। अनुच्छेद 312 द्वारा राज्य सभा अखिल भारतीय सेवाओं का निर्मित करने का अधिकार लोक सभा को सौंप सकती है। अनुच्छेद 352 के कार्यान्वित होते ही संविधान का संघीय ढांचा एकात्मक रूप ग्रहण कर लेता है। यद्यपि ये महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं जिनके दूरगामी परिणाम हो सकते हैं परन्तु संविधान इन्हें संवैधानिक संशोधन की संज्ञा में नहीं लेता।

## संशोधन की प्रक्रिया में स्पष्टतायें और अस्पष्टतायें अर्थात् विशेषतायें

अनुच्छेद 368 में वर्णित संशोधन में अनेक विशेषतायें पाई जाती है जिन्हें निम्न बिन्दुओं द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है —

**1 संशोधन प्रस्ताव में राज्य विधान सभाओं की कोई शक्ति नहीं**—भारतीय संविधान एक संघीय संविधान है परन्तु फिर भी संघ के एककों (राज्यों) के विधान

लो को सविधान मे सशोधन करन के लिए प्रस्ताव को प्रस्तुत करने का कोई कार नही। सशोधन प्रस्ताव न केवल केन्द्र द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है क ससद के किसी सदन म ही उसे पहले प्रस्तुत किया जाता है। जहा अमरीकी धान म सघ के एकका (घटको) की प्रायना पर सघीय व्यवस्थापिका (काग्रेस) सम्मेलन (Convention) की व्यवस्था है, जहा कोरिया, सीरिया, लेबनान, आदि मे गणराज्य के राष्ट्रपति को सशोधन प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार जहा वेनीजुएला म सघटन इकाइया (Constituent Units) को यह अधिकार है वहा भारत म सघ के एककी का सशोधन प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार । वस्तुत सशोधन प्रस्ताव पर केन्द्र का एकाधिकार है। स्पष्ट है कि भारतीय य व्यवस्था म एकका की स्थिति अधीनस्थ की है। जसा कि के० सी० मारकन्दन लखा है कि 'सघीय सविधान की योजना मे अधीनस्थ स्थिति होने के कारण यो की विधान सभायें उस विधेयक पर देरी करन का साहस नही कर सकती ससद ने पास कर दिया है और उनके अनुसमथन के लिये उसे भेजा है।'[1] त एक विषय मे भारतीय सघ की इकाइया परिवतन के लिए केन्द्र मे पाथना कर ती है अर्थात् वे राज्य विधान मण्डलो के उच्च सदनो के निमाण और अन्त की ना कर सकती है।

जिन क्षेत्रो म सविधान सशाधन के लिये आधी राज्य विधान सभाम्रो के समथन की व्यवस्था करता है उनमे भी सशोधन प्रस्तावो का ससद मे प्रस्तुत से पूव राज्य विधान सभाम्रो के परामश की आवश्यकता नही होती, अनुसमथन आवश्यकता तो ससद द्वारा निर्धारित विधि से पास होन के बाद होती है।

3 सवधानिक सशोधन मे जनता का कोई हाथ नहीं—जिस भारतीय धान को भारतीय जनता पर लागू किया जाता है और जिसका निर्माण भारतीयो किया गया, उसमे सशोधन की प्रक्रिया के साथ भारतीय जनता को नही जोडा । दूसरे शब्दो म भारतीय सविधान स्विस उरुग्वे और क्यूबा के सविधानो का त न तो भारतीय नागरिको को सवधानिक सशोधनो के लिये आरम्भन itiative) का अधिकार प्रदान करता है और न ही उस पर जनमत सग्रह eferendum) की व्यवस्था करता है। यह इस बात का प्रतीक है कि सविधान ाता भारतीय जनता की क्षमता और योग्यता पर विश्वास नही करते थे। ससद विधान मण्डलो के अस्थायी बहुमत के हाथो म सशोधन के अधिकार को सौप सविधान अल्पतन्त्र (Oligarchy) के शासन को लागू करता है। पिछले कुछ म सविधान म न्यायालयो के निर्णयो को प्रभावहीन बनाने के लिये जो सशोधन गये हैं (विशेषकर 24 वा और 25 वा सशोधन) उनके दूरगामी परिणाम हैं

1 Markandan K C The Amending Process and Constitutional Amendments in the Indian Constitution (Sterling Publishing (Pvt) Ltd) 1972, p 222

परन्तु फिर भी उन पर भारतीय जनता की सहमति प्राप्त नही की गयी जबकि ब्रिटिश जन संविधान म जनमत सग्रह की व्यवस्था न होते हुए भी हाल मे "यूरोपीय साभा बाजार म ब्रिटेन के शामिल होने के प्रश्न पर जनमत सग्रह कराया गया जबकि भारत म नागरिकों के सम्पत्ति के अधिकार म गम्भीर परिवतन कर दिय गय है परन्तु फिर भी जनता से राय नही ली गयी।

4 सविधान की सभी धाराओं मे परिवतन हो सकता है—अमरीकी सविधान की भाति भारतीय सविधान किन्ही ऐसी धारा की कल्पना नही करता जिन्हे संशोधित न किया जा सके। यद्यपि 1967 के गोलकनाथ बनाम पजाब राज्य के मुकदमे म सर्वोच्च न्यायालय ने मूल अधिकारों को ससद की सशोधन शक्ति से विमुक्त कर दिया था परन्तु 24वे सशोधन ने ससद को पुन यह शक्ति प्रदान कर दी। 1973 के केशवानन्द के मुकदमे म यह स्वीकार करते हुए भी कि ससद सविधान के किसी भाग म सशोधन कर सकती है फिर भी सर्वोच्च न्यायालय ने यह विचार अभिव्यक्त किया कि ससद सशोधन द्वारा सविधान की 'आत्मा' उसके 'मूल ढाचे' को नष्ट नही कर सकती। इस दृष्टि से देखा जाय तो यह विषय निश्चित होते हुए भी विवादास्पद बना हुआ है।

5 न्यायालय के निर्णयों को प्रभावहीन करने के लिये किये गये सशोधन—भारतीय सविधान म किये गये सशोधनो की एक विशेषता यह रही है कि इसमे महत्वपूर्ण सशोधन तब किये गये जब सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये निर्णय कार्य पालिका नीतियो और व्यवस्थापिका के कानूनो के विरुद्ध गये। उदाहरणतया सम्पत्ति के अधिकार मे जितने भी सशोधन किये गये है (सशोधन 1, 4, 25 और 29) उन्हे न्यायालय के निर्णयो को प्रभावहीन करने के लिये ही पास किया गया। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है क्योकि यह जनता के मन म न्यायालय की प्रासंगिकता (relevance) को समाप्त करता है।

6 सवधानिक सशोधनो पर दोहरे बहुमत की आवश्यकता है—अनुच्छेद 368 दोहरे बहुमत की बात करता है अर्थात् सवधानिक सशोधन के लिये ससद के दोनो सदनो के पृथक पृथक रूप म 'पूर्ण बहुमत' और उपस्थित सदस्यो के "दो तिहाई" बहुमत की व्यवस्था करता है। पूर्ण बहुमत का अर्थ है कि किसी भी सवधानिक सशोधन के लिये प्रत्येक सदन के कुल सदस्यो के बहुमत (अर्थात कुल सदस्यो के आधे से अधिक सदस्यो) और ससद म उपस्थित सदस्यो और मतदान म भाग लेने वाले सदस्यो के दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता है।

## सशोधन प्रक्रिया में अस्पष्टतायें

भारतीय सविधान विस्तृत अवश्य है परन्तु फिर भी इसे "पूर्ण सहिता (Complete Code) की सज्ञा नही दी जा सकती। वस्तुत अनुच्छेद 368 मे वर्णित सशोधन प्रक्रिया मे अनेक अस्पष्टतायें पाई जाती है जो विवादो को जन्म दे सकती है। इन अस्पष्टताओ को निम्न बिन्दुओ द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता

1 संविधान इस बात की स्पष्ट व्याख्या नहीं करता कि क्या संशोधन प्रस्ताव को संसद में प्रस्तुत करने के बाद उसे वापस लिया जा सकता है या नहीं।

2 संविधान इस बात में पूर्ण शान्त है कि राज्य विधान मण्डलों को भेजे गये संशोधन प्रस्तावों पर वे कितने समय में अपना अभिमत (verdict) प्रकट करें। यद्यपि पाचवें संशोधन द्वारा राष्ट्रपति राज्य सीमाओं आदि से सम्बन्धित संशोधनों में समय निर्धारित कर सकता है परन्तु इसे और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

3 संविधान इस बात पर भी शान्त है कि क्या कोई राज्य किसी संशोधन प्रस्ताव पर एक बार सहमति प्रकट कर उसे वापस ले सकता है या एक बार इंकार कर दोबारा उस पर सहमति प्रकट सकता है।

4 संविधान सवैधानिक संशोधनों में ससद के दोनों सदनों की समानता का दर्जा (equality of status) प्रदान करता है परन्तु इस बात को स्पष्ट नहीं करता कि दोनों में मतभेद होने की स्थिति में उसे कैसे सुलझाया जायगा। संविधान इस बात में शान्त है कि क्या सवैधानिक संशोधनों में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई जायगी यद्यपि संविधान साधारण विधेयकों के लिये यह व्यवस्था करता है।

5 संविधान इस सम्बन्ध में भी शान्त है कि क्या सवैधानिक संशोधन पर राष्ट्रपति अनुमति देने के लिये बाध्य है। यद्यपि 24 वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 में यह शब्द जोड़ा गया है कि "राष्ट्रपति अनुमति देगा" परन्तु फिर भी यह अस्पष्ट है क्योंकि राष्ट्रपति अनुमति देने में देरी कर सकता है और पुनर्विचार का वातावरण बना सकता है। इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि संविधान सवैधानिक संशोधनों पर राष्ट्रपति की अनुमति को आवश्यक प्रक्रिया मानता है। यह कोई औपचारिक प्रक्रिया नहीं है।

6 संविधान इस सम्बन्ध में भी शान्त है कि राज्य विधान सभाओं द्वारा उच्च सदनों के निर्माण या अन्त करने की प्रार्थनाओं को केन्द्र सरकार कितने समय में विचार करेगी।

7 अनेक प्रकार के संशोधनों में अस्पष्टतायें हैं। उदाहरणतया केन्द्र सरकार इस बात पर ही स्पष्ट नहीं थी क्या राजाओं के प्रिवीपर्स और विशेषाधिकारों को समाप्त करने वाले विधेयकों पर राज्य विधान मण्डलों के अनुसमर्थन की आवश्यकता थी या नहीं। परन्तु फिर भी सर्वोच्च न्यायालय के भय से राज्य विधान सभाओं का अनुसमर्थन प्राप्त किया गया।

8 "आधे राज्यों की अनुमति" का पद भी स्पष्ट नहीं। क्या इसका अर्थ राज्यों के आकार, उनकी जनसंख्या या विधान मण्डलों के सदनों की संख्या (क्योंकि कुछ राज्य विधान मण्डलों में दो सदन हैं और कुछ में एक) या कि केवल मात्र

प्रद्ध सम्या से है। यद्यपि अभी तक इसका अर्थ केवल मात्र अद्ध सख्या से लिया गया है, फिर भी इसे अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

## क्या भारतीय सविधान में वर्णित सशोधन की प्रक्रिया जटिल है?

सर आइवर जेनिंग्स जस भारतीय सविधान के आलोचको ने प्रक्रिया की जटिलता और सविधान के विस्तृत स्वरूप के आधार पर भारतीय सविधान को अनमनीय सविधान की सज्ञा दी है। परन्तु वस्तुत स्थिति यह है कि भारतीय सविधान न तो इतना नमनीय सिद्ध हुआ है कि वह सत्तारूढ दल के हाथो की कठपुतली बन गया हो और न ही इतना कठोर सिद्ध हुआ है कि उसमे आवश्यक सशोधन न किय जा सकते हो। जिन धाराओ म भी जटिल प्रक्रिया नजर आती है उनम भी एक प्रभुत्व दलीय व्यवस्था न उसे नमनीय बना दिया है। पिछले 25 वर्षो के सवैधानिक इतिहास म किये गये 38 सशोधन सविधान की नमनीयता को प्रकट करते है अनमयनीयता को नही। जैसाकि एलेक्जेन्ड्रोविक्ज ने ठीक कहा है कि भारतीय सविधान पर 'अनमनीयता का आरोप नहीं लगाया जा सकता।"[1] डा० अम्बेदकर का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि "इससे अधिक लचीले सविधान की कल्पना करना कठिन है।[2] भारतीय सविधान को नमनीय बनाने वाले तत्व मुख्यतया निम्न हैं —

1 सविधान की अधिकाश धारायें ससद द्वारा ही सशोधित की जा सकती है। इतना ही नही ससद कुछ भागो को अपने कानूनो द्वारा अनुपूरक भी कर सकती है। भारतीय नागरिकता, अस्पृश्यता आदि विषयो मे ससद ने अपने कानूनो द्वारा अनेक परिवतन किय है। जिन धाराओ म सशोधन करने के लिये आधी राज्य विधान सभाओ के अनुसमर्थन की आवश्यकता है उनमे भी एक प्रभुत्व दलीय व्यवस्था होने से अनुसमर्थन प्राप्त करने म कोई कठिनाई नही होती।

2 सविधान न तो अमरीका की भाति राष्ट्रीय सम्मेलन की व्यवस्था करता है और न ही स्विट्जरलण्ड की भाति जनमत सग्रह की। वस्तुत भारतीय सविधान भारतीय जनता को सवधानिक प्रक्रिया के साथ जोडता ही नही।

3 सवधानिक सशोधन के प्रस्ताव को ससद मे उसी प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है जिस प्रकार साधारण विधेयको को प्रस्तुत किया जाता है। ससद के नियम सवधानिक सशोधनो के लिए कोई विशेष प्रक्रिया की व्यवस्था नही करते।

4 सवैधानिक सशोधन मे ससद की शक्तियाँ इतनी अधिक है कि न्यायिक निषेधाधिकार प्रभावहीन हो जाता है। जब कभी न्यायालय के निर्णय ससद के

---

1 Alexandrowics C H Constitutional Development in India p 231

2 C A D Vol VII, p 43

कानूनो के विरुद्ध गये हैं ससद मे सवधानिक सशोधन का सहारा लिया। यह तथ्य न्यायिक पुनरावलोकन की प्रासगिकता (relevance) को नष्ट करता है।

5 भारत मे स्वतन्त्रता प्राप्ति से अब तक केन्द्र और अधिकाश राज्यो मे एक दल (काग्रेस) की ही प्राधान्यता रही है। यह तथ्य सविधान को सबसे अधिक नमनीय बनाता है।

## सशोधन प्रक्रिया म सुधार के सुझाव

सघीय ढाँच को कुशल बनाने, सशोधन प्रक्रिया मे अस्पष्टताओ को दूर करने और भारतीय जनता को सशोधन प्रक्रिया के साथ जोडने के लिये सशोधन प्रक्रिया म कुछ सुधारो की आवश्यकता प्रतीत होती है। निम्न सुझावो द्वारा सशोधन प्रक्रिया को अधिक कुशल, व्यावहारिक और अधिक लोकतान्त्रिक बनाया जा सकता है—

(i) जिन सवधानिक सशोधना पर राज्य विधान सभाओ के अनुसमथन की आवश्यकता है उन्हे राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिय तभी प्रस्तुत करना चाहिये जब सभी राज्य विधान सभायें उस पर विचार विमश कर अपने अधिमत (verdict) का प्रकट कर दे, केवल आधी राज्य विधान सभाओ के अधिमत पर, चाहे दूसरे राज्यो ने उस पर विचार विमश किया हो या नही, उसे राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत कर, उसकी अनुमति प्राप्त कर लागू कर देना सघीय ढाचे को कुशल नही बनाता।

(ii) यदि सशोधनो का उदभव न्यायालय क निणय पर आधारित हो (जिसम न्यायालय ने किसी कायपालिका आदश या व्यवस्थापिका के कानून का अवैध घोषित किया हो) तो उसे तभी कार्यान्वित किया जाना चाहिये जब जनमत सग्रह द्वारा उस पर जनता का स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाये। यदि जनमत सग्रह मे जनता उसे स्वीकार न करे तो उस सशोधन को रद्द समझा जाना चाहिये।

(iii) राज्य विधान सभाओ का प्रस्तुत किय सवधानिक सशोधनो पर विचार करने के लिय कुछ समय निर्धारित होना चाहिय ताकि विधान सभायें उस पर शान्त और गम्भीरता पूवक विचार कर सके। टालमटोल की नीति को नही अपनाना चाहिय या जल्दबाजी नही करनी चाहिये।

(iv) सवधानिक सशोधना पर राज्यो का अनुसमथन प्राप्त करने के लिये विशेष अधिवेशनो को बुलाने की प्रवत्ति का समाप्त कर देना चाहिये। ऐसा करना अधिकाशत राजनीति को बढावा देना है सवधानिकता को नही।

(v) एक सशोधन म एक ही अनुच्छेद मे या उससे सम्बन्धित अनुच्छेदो म ही परिवतन किया जाना चाहिये। एक सशोधन म अनेक असम्बन्धित अनुच्छेदो को नही मिलाना चाहिये। इससे उस परिस्थिति को टाला

प्रणाली के विकास का परिणाम थे कुछ सवधानिक धाराओ की कार्यान्विति मे आने वाली व्यावहारिक कठिनाइया को दूरकर उन्हे स्पष्ट करने का परिणाम थे, और कुछ सर्वोच्च न्यायालय के उन निर्णयो के परिणाम थे जिनमे कानून की व्याख्या तो की गयी थी परन्तु जो सत्तारूढ दल की आर्थिक और सामाजिक नीतियो के विपरीत थे।

सविधान मे किये गये सशोधनो का समूहन (grouping) करना कठिन है क्योकि सशोधन करते समय इस बात का ध्यान नही रखा गया कि एक सशोधन मे एक ही अनुच्छेद या उससे सम्बन्धित अनुच्छेदो म ही सशोधन किया जाय। हुआ यह कि सशोधन करते समय एक ही सशोधन मे अनेक असम्बन्धित (unrelated) अनुच्छेदो म एक साथ सशोधन किये गय है। यद्यपि अभी तक, केन्द्र और अधिकाश राज्यो म एक ही दल का बहुमत होने स कठिनाई उत्पन्न नही हुई परन्तु, भविष्य मे यह प्रवत्ति सघीय ढाचे मे कठिनाइया उत्पन्न कर सकती है क्योकि हो सकता है कि केन्द्र और राज्यो मे विरोधी दल सत्तारूढ होन की स्थिति मे राज्य सशोधन के एक भाग को तो स्वीकार करना चाहे और दूसरे को अस्वीकार। इसलिये सघीय ढाचे को सुचारु रूप से चलाने के लिय यह आवश्यक है कि एक ही सशोधन म एक अनुच्छेद या अधिक से अधिक उससे सम्बन्धित अनुच्छेदो मे ही सशोधन किया गया। असम्बन्धित अनुच्छेदो को एक सशोधन मे नही रखना चाहिये।

समूहन की कठिनाइयो के बाद भी सविधान मे किये गये सशोधनो को निम्न समूहो म बाटा जा सकता है —

1 मूल अधिकारो, विशेषकर सम्पति के अधिकार मे किये गये सशोधन — इन सशोधनो की आवश्यकता मूलत सर्वोच्च न्यायालय मे उन निर्णयो से उत्पन्न हुई है जो सत्तारूढ दल की आर्थिक और सामाजिक नीतियो के विरुद्ध गये हैं। इस श्रेणी म आने वाले मुख्य सशोधन हैं 1 4 16, 17, 24 25 और 29। सन् 1951 के सशोधन 1 द्वारा भूमि सुधार और जमीदारी उन्मूलन अधिनियमो का मान्यकरण किया गया और सम्पत्ति के अधिकारो के सम्बन्ध म न्यायालयो का अधिकार क्षेत्र सीमित किया गया सविधान म अनुसूची 9 और अनुच्छेद 31–A और 31–B को जोडा गया। अनुसूची 9 म दिये गये अधिनियमो की विशेषता यह है कि मूल अधिकारो से असगत होने पर भी उन्हे शून्य नही समझा जाता और न्यायालय या न्यायाधिकरण के प्रतिकूल निर्णयो के बावजूद भी वे अधिनियम वध बने रहते हैं। इस सशोधन ने अनुच्छेद 15, 19 85 87, 174 176, 341, 342, 372 और 376 मे भी सशोधन किये। इस सशोधन द्वारा ससद को विधि द्वारा "युक्तियुक्त निर्बन्धन (reasonable restrictions) लगाने का अधिकार दिया गया। सन 1955 के सशोधन 4 द्वारा सम्पत्ति के अधिकार म 'देय क्षतिपूर्ति (due compensation) के सन्दर्भ म "देय (due) शब्द को हटा दिया गया। सन् 1963 के

सशोधन 16 द्वारा "राष्ट्र की प्रभुसत्ता और एकता के हित मे भाषण, अभिव्यक्ति, सम्मेलन आदि की स्वतन्त्रता के मूल अधिकारो पर विधि द्वारा युक्तियुक्त प्रतिब व लगाये जा सकते हैं। इस सशोधन ने किसी भी राज्य के भारतीय सघ से पृथक होने तथा सघ को भग करने के प्रयास को अवैध घोषित कर दिया। सन् 1964 के सशोधन 17 मे 'एस्टेट' (Estate) शब्द को पुनर्परिभाषित कर उसे स्पष्ट किया गया इस सशोधन की 9 वी अनुसूची म अनेक कानूनो को जोड दिया। सन 1971 के सशोधन 24 ने ससद को मूल अधिकारो मे सशोधन करने की शक्ति प्रदान कर दी और सशोधन 25 ने अनुच्छेद 31 मे 'मुआवजे" शब्द को हटाकर उसके स्थान पर 'राशि शब्द को जोड दिया और अनुच्छेद 31-C जोडकर राज्य के नीति निदेशक तत्वो को मूल अधिकारो से प्राथमिकता ( primacy ) प्रदान कर दी। सन् 1972 के सशोधन 29 ने केरल भूमि सुधार विधेयको को 9 वी अनुसूची मे जोड दिया।

2 भूमि सुधारो से सम्बन्धित सशोधन —भूमि सुधार कानूनो को न्यायालय के क्षेत्र से बाहर रखने के लिये अनेक सशोधन किये गये। उदाहरणतया 1951 के प्रथम सशोधन द्वारा सविधान मे अनुसूची 9 को इसीलिये जोडा गया, सशोधन 4, 17, 29, 34 प्राय इसी से सम्बन्धित थे। इन्ही सशोधनो द्वारा राज्यो द्वारा बनाये गये भूमि सुधार अधिनियमो को अनुसूची 9 मे लिख दिया गया।

3 राज्यो के पुनगठन, नये प्रदेशो के भारतीय सघ मे प्रवेश से सम्बन्धित सशोधन —इस समूहन मे आने वाले सशोधनो का मूल उद्देश्य या तो भाषा के आधार पर राज्यो का पुनगठन करना था या कुछ क्षेत्रो को पाकिस्तान को हस्तातरित करना था, या वतमान राज्यो को पुनगठित कर क्षेत्रीय मागो को सन्तुष्ट करना था। विदेशी बस्तियो को भारत मे समावेश करना था, या सरक्षित राज्यो को भारतीय सघ मे समावेश करना था। इस क्षेत्र मे आने वाले प्रमुख सशोधन हैं 7, 9, 10, 12, 13, 14, 18, 22, 27 35, 36 और 37। सन् 1956 के सशोधन द्वारा राज्यो का भाषा के आधार पर पुनगठन किया गया 1960 के सशोधन 9 द्वारा कुछ क्षेत्र पाकिस्तान को हस्तान्तरित कर दिये गये। 1961 के सशोधन 10 द्वारा दादरा और नागर हवेली नाम की पुर्तगाली बस्तियो का भारत मे समावेश किया गया 1961 के सशोधन 12 द्वारा गोआ, दमन और दीयू को भारत का अग बनाया गया 1962 के सशोधन 13 द्वारा नागालण्ड को भारत का एक नया राज्य घोषित किया गया, 1962 के सशोधन 14 द्वारा पाडिचेरी, कारीकल, माहे और यनम की फासीसी बस्तियो को पाडिचेरी के नाम से भारत का अग बना लिया गया 1966 के सशोधन 18 द्वारा पजाब का पुनगठन कर पजाब और हरियाणा नाम से दो राज्यो का निर्माण किया गया, 1969 के 22 वें सशोधन द्वारा मेघालय राज्य का निर्माण किया गया, 1971 के सशोधन 27 द्वारा उत्तर पश्चिमी क्षेत्रो को पुनगठित

कर मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा नाम के तीन नये राज्यो और मिजोरम तथा अरुणाचल प्रदेश नाम के दो केन्द्र प्रशासित प्रदेशो का निर्माण किया गया, 1974 के सशोधन 35 द्वारा सिक्किम को भारत के सह-राज्य (associate state) का दर्जा दिया गया और अप्रैल मई के 36 वें सशोधन द्वारा सिक्किम को भारतीय सघ का अभिन्न अग बना लिया गया और सिक्किम भारत का 22 वा राज्य बन गया, मई, 1975 के 37 वें सशोधन द्वारा अरुणाचल प्रदेश के लिये विधान मण्डल और मन्त्रि-परिषद की व्यवस्था की गई।

4 दल बदल से सम्बन्धित सशोधन —इस क्षेत्र में आने वाले सशोधनो का मूल उद्देश्य राजनीतिक दल बदल के "रोग" को रोकने से है। उदाहरणतया सशोधन 32 और 33 इसी से सम्बन्धित हैं। जहा सशोधन 32 अभी ससद द्वारा पास नही हुआ अत वह सविधान का अभिन्न अग नही बना वहा सशोधन 33 को ससद ने मई 1974 में शीघ्रता से पास कर दिया। सशोधन 32 का मन्तव्य यह है कि यदि ससद या राज्य विधान सभा के किसी सदन का कोई सदस्य उस दल की सदस्यता त्याग देता है जिसने उसे निर्वाचन में प्रत्याशी के रूप में खडा किया था तो वह सदन की सदस्यता के अयोग्य (disqualify) हो जायगा। सशोधन 33 सघ और राज्य विधान मण्डलो के प्रधान अधिकारी ( Presiding officer-अध्यक्ष ) को यह अधिकार प्रदान करता है कि यदि वह समझे कि विधान मण्डल के किसी सदस्य ने किसी दबाव (duress) के अधीन सदन की सदस्यता से त्याग पत्र दिया है तो वह सदस्य के त्याग पत्र को स्वीकार करने से इन्कार कर सकता है।

5 न्यायालयो से सम्बन्धित सशोधन —इस क्षेत्र में आने वाले सशोधन या तो न्यायाधीशो की सेवा निवृत्ति की आयु से सम्बन्धित हैं या उनके समक्ष आने वाले दीवानी मुकदमो से। इस समूह म आने वाले सशोधन हैं 15 20 और 30। सन् 1953 के सशोधन 15 द्वारा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की सेवा निवृत्ति की आयु (retirement age) 60 वर्ष से बढा कर 62 वर्ष कर दी गयी। सन् 1966 के सशोधन 20 द्वारा उत्तर प्रदेश तथा कुछ अन्य राज्यो में कुछ जिला न्यायाधीशो की नियुक्ति, स्थानान्तरण तथा निर्णयो को वधता प्रदान की गयी, सन् 1972 के सशोधन 30 द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में सिविल मुकदमो के लिये 20,000 रु० की राशि की शर्त को समाप्त कर दिया गया।

6 अनुसूचित जातियो से सम्बन्धित सशोधन —इस समूह में आने वाले सशोधनो का मूल उद्देश्य अनुसूचित जातियो अनुसूचित जन जातियो को सविधान द्वारा प्रदत्त किये गये सरक्षणो के काल को बढाना था। उदाहरणतया सशोधन 8 और 23 का इसी से सम्बन्ध था। इन सशोधनो के द्वारा यह काल अब 1980 तक है। सशोधन 23 ने राज्यपालो के इस अधिकार में कमी कर दी कि वे राज्य विधान मण्डल में दो आग्ल भारतीयो को मनोनीत कर सकता था। इस सशोधन के अनुसार राज्यपाल अब आंग्ल भारतीय को मनोनीत कर सकता है।

**7 भाषा से सम्बन्धित सशोधन**—इस समूहन मे केवल एक ही सशोधन है जिसकी क्रम सख्या 21 है। इस सशोधन द्वारा सिन्धी भाषा को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त भाषाओं म जोड दिया गया।

**8 ससद से सम्बन्धित सशोधन**—इस समूहन मे आने वाले सशोधन या तो ससद म राज्यो के प्रतिनिधित्व से सम्बन्धित हैं या ससद की सदस्य सख्या से या ससद की शक्तियो से सम्बन्धित हैं उदाहरणतया सशोधन 2, 3, 6, 24 और 31 इसी से सम्बन्धित है। सन् 1952 के सशोधन 2 द्वारा 'प्रत्येक साढे सात लाख जनसख्या के लिये कम से कम एक प्रतिनिधि" शब्दो को हटा दिया गया। क्योकि देश की जन सख्या तीव्र गति से बढ रही थी अत इस सशोधन द्वारा यह व्यवस्था कर दी गयी है कि एक प्रतिनिधि साढे सात लाख जनसख्या से अधिक लोगो का प्रतिनिधित्व कर सकता है। सन् 1954 के सशोधन 3 द्वारा ससद खाद्य पदार्थ, पशुओ के चारे, कच्ची रुई और कच्चे पटसन के सम्बन्ध मे विधि का निर्माण कर सकती है। सन् 1956 के सशोधन 6 द्वारा ससद समाचार पत्रो को छोड कर अन्य सभी वस्तुओ के अन्त राज्य व्यापार और वाणिज्य की वस्तुओ के क्रय विक्रय पर कर लगा सकती है। सन् 1971 के सशोधन 24 द्वारा ससद ने नागरिको के मूल अधिकारो मे सशोधन करने की शक्ति को पुन प्राप्त कर लिया। सर्वोच्च न्यायालय ने 1967 मे गोलक नाथ के मुकदमे म ससद को इस अधिकार से वचित कर दिया था। सन् 1973 के सशोधन 31 द्वारा लोक सभा के सदस्यो की कुल सख्या 545 कर दी गयी जिसम 525 राज्यो के और 20 केन्द्र प्रशासित प्रदेशो के प्रतिनिधि होते है।

**9 विशेषाधिकारो की समाप्ति के सम्बन्ध मे सशोधन**—इस समूहन मे आने वाले वे सशोधन है जिनका मूल उद्देश्य देशी नरेशो और आई० सी० एस० के अफसरो के विशेषाधिकारो को समाप्त करना था। उदाहरणतया सशोधन 26 और 28 इसी से सम्बन्धित थे। सशोधन 26 ने जहा देशी नरेशो के प्रीवी पर्स (शाही भत्ता) और विशेषाधिकारो को समाप्त किया वहा सशोधन 28 ने आई० सी० एस० के अफसरो के विशेषाधिकारो को समाप्त किया।

**10 राष्ट्रपति और उप राष्ट्रपति से सम्बन्धित सशोधन**—इस समूहन म आने वाले मुख्य सशोधन हैं 5, 11 और 38। सन् 1955 के सशोधन 5 द्वारा राष्ट्रपति राज्य की सीमा, क्षेत्र या नाम म परिवर्तन करने वाले विधेयको को राज्य के विधान मण्डल के पास भेजते समय उनके विचार प्रकट करने का समय निश्चित कर सकता है। सन् 1961 के सशोधन 11 द्वारा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति की निर्वाचन प्रणाली म कुछ परिवर्तन किये गये। इस सशोधन के बाद राष्ट्रपति के चुनाव को इस आधार पर अवैध घोषित नही किया जा सकता कि निर्वाचक गण का निर्वाचन पूर्ण नही हुआ था। उप राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध मे भी ससद के दोनो सदनो की सयुक्त बैठक की आवश्यकता को समाप्त कर दिया गया।

38 वें सशोधन ने, जिसे 23 जुलाई 1975 को पास किया गया, सविधान के अनुच्छेदो 123, 213, 239 वी, 352, 356, 359 और 360 मे सशाधन किया है। इस सशोधन द्वारा आपात स्थिति की घोषणा तथा राष्ट्रपति, राज्यपालो या प्रशासको द्वारा जारी किये गये अध्यादेशो को न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर कर दिया गया है। इस सशोधन मे यह स्पष्ट कहा गया है कि "इन निर्णयो के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति की सन्तुष्टि तथा राज्यपालो का निर्णय एक आत्मगत प्रश्न है जिस पर न्यायालय को विचार करने का अधिकार नही हो सकता। इसमे यह भी कहा गया है कि राष्ट्रपति भिन्न भिन्न आधारो पर आपात स्थिति की घोषणा कर सकते हैं भले ही पहले से ही ऐसी कोई आपात स्थिति लागू हो। सक्षेप म, अब आपात स्थिति की घोषणा को न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती क्योकि यह एक राजनीतिक प्रश्न है जिसे वाद योग्य नही बनाया जा सकता और राष्ट्रपति एक आपात स्थिति मे लागू होने पर अनेक अन्य आधारो पर आपात स्थिति की घोषणा कर सकता है।

**11 निर्वाचन से सम्बन्धित सशोधन**—इस समूहन मे केवल एक सशोधन है जिसकी क्रम सख्या 19 है। सन 1966 के सशोधन 19 द्वारा निर्वाचन न्यायाधिकरणो (Election Tribunals) को समाप्त कर दिया गया और निर्वाचन सम्बन्धी विवादो को सीधे उच्च न्यायालयो मे ले जाने की व्यवस्था की गयी।

### समीक्षा प्रश्न
### (Review Questions)

1 भारतीय सविधान म दी गयी सशोधन प्रक्रिया की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

2 "ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नही है कि भारत का सविधान इतना अधिक कठोर है कि उसमे आवश्यक परिवर्तन करना कठिन है और न ही इतना अधिक कठोर है कि उसमे अवाछित परिवर्तनो को रोका नही जा सकता।" इस कथन की समीक्षा कीजिये।

3 "भारतीय सविधान म नमनीयता और अनाम्यता का अद्भुत मिश्रण है।" विवेचन कीजिये।

4 जेनिंग्स का यह विचार कि "भारतीय सविधान न केवल अपने सशोधन की प्रक्रिया के कारण बल्कि अपने विस्तार के कारण भी कठोर है और उसका विस्तार अधिकाशत 1935 के सविधान के प्रभाव के कारण है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं? कारण लिखिये।

5 भारतीय सविधान मे अब तक हुए महत्त्वपूर्ण सशोधनो को समझाइये भारतीय सविधान के स्वरूप को उन्होने कहां तक परिवर्तित किया है?

6 भारतीय सविधान म किये गय 24 वें, 25 वे और 26 वें सशोधनो का क्या महत्त्व है ? क्या वे ससदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अभिव्यक्त करते हैं या कि सविधान में ससद के अनुचित हस्तक्षेप को अभिव्यक्त करते है ?

7 क्या ससद को अध्याय तीन मे (नागरिको के मूल अधिकारो मे) परिवर्तन करने का अधिकार होना चाहिये ?

8 "सम्पत्ति के मूल अधिकार" के सम्बन्ध मे किये गये सवधानिक सशोधना की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये ।

9 भारतीय सविधान मे वर्णित सशोधन प्रक्रिया मे क्या अस्पष्टतायें पायी जाती है ? इन्हे दूर करने के लिये आप किन प्रथाओ के विकास या सवधानिक सशोधनो का सुझाव देते हैं ? क्या भारतीय जनता को सवधानिक सशोधन मे साझेदार बनाना चाहिये ?

---

अध्याय 4

# भारत में संघवाद

## (Federalism in India)

---

'संविधान जब तक हमारे उद्देश्य की पूर्ति करता है, इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता कि आप इसे संघात्मक संविधान कहते हैं या कि एकात्मक संविधान या अन्य किसी नाम से पुकारते हैं।"

—डा० राजेन्द्र प्रसाद

संघ (Federation) शब्द की उत्पत्ति लेटिन भाषा के शब्द 'फोण्डस' (Foedus) से हुई है जिसका अर्थ है सन्धि या समझौता अर्थात् संघ सार्वभौम राज्यों के पारस्परिक समझौते का परिणाम होता है। दूसरे शब्दों में, कुछ राज्य मिलकर समझौते द्वारा एक नए राज्य को जन्म देते हैं जिसे संघ की संज्ञा दी जाती है। जैसाकि हेमिल्टन ने लिखा है कि "संघ कुछ राज्यों का मिलाप है जो एक नये राज्य को स्थापित करते हैं। इस तरह संघ एक निर्मित राज्य होता है जिसमें दोहरी राजनीतिक व्यवस्था—एक संघ की और दूसरी उसकी एककों (राज्यों) की—उसका आवश्यक तत्व है।

संघ का निर्माण प्रायः दो प्रकार की शक्तियों की प्रक्रिया द्वारा होता है—अभिकेन्द्र शक्तियों द्वारा (Centripetal Forces) या अपकेन्द्री शक्तियों द्वारा (Centrifugal forces)। अभिकेन्द्र शक्तियों द्वारा संघ का निर्माण तब होता है जब सार्वभौम राज्य यह अनुभव करने लग जाते हैं कि ऐसे कुछ सामान्य सुरक्षात्मक, राजनीतिक या आर्थिक हित या उद्देश्य हैं जिन्हें पारस्परिक सहयोग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह का संघ नीचे से निर्मित होने के कारण बातचीत, सौदेबाजी, समंजन और समझौते का परिणाम होता है। अमरीका और आस्ट्रेलिया के संघ इसी प्रकार निर्मित हुए। परन्तु कई बार संघ का निर्माण अपकेन्द्री शक्तियों (Centrifugal forces) की प्रक्रिया द्वारा होता है अर्थात् जब कोई विशाल आकृति वाला एकात्मक राज्य अपने आपको दो तीन या अनेक राज्यों में विभक्त कर लेता है। कनाडा और भारत का संघ इसी प्रकार स्थापित किया गया है। इस प्रकार के संघ समझौते के परिणाम नहीं होते, ये ऊपर से थोपा जाता है।

भारत में संघ की स्थापना वस्तुतः उस संविधान सभा (Constituent Assembly) द्वारा की गई जिसकी स्थापना 1946 में केबिनेट मिशन योजना के

अन्तगत ब्रिटिश सरकार द्वारा की गई थी। यद्यपि संविधान निर्माताओं ने संघीय राज्य की स्थापना की है परन्तु कहीं भी संविधान में 'फेडरेशन' (Federation) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। इसके स्थान पर "यूनियन आफ स्टेट्स" (Union of States) शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ है कि भारतीय संघ अविनाशी संघ है। जैसाकि डा० अम्बेदकर ने संविधान सभा में कहा था कि "भारतीय संघ राज्यों के समझौते का परिणाम नहीं और क्योंकि संघ समझौते का परिणाम नहीं, किसी राज्य को संघ से पृथक होने का अधिकार नहीं। फेडरेशन यूनियन है क्योंकि यह अविनाशी है।"[1]

## भारतीय संविधान के संघात्मक स्वरूप
### (Federal Features of Indian Constitution)

भारतीय संविधान में वे सब तत्व विद्यमान हैं जो अन्य संघीय संविधानों में पाये जाते हैं। ये तत्व मुख्यतः निम्न हैं—

**1 शक्तियों का विभाजन** (Distribution of Powers)—अन्य संघीय संविधानों की भांति भारतीय संविधान भी संघ (केन्द्र) और एककों (राज्यों) में शक्तियों के विभाजन की व्यवस्था करता है। यह विभाजन निपुण है। अनुसूची सात (Schedule VII) में तीन सूचियां निर्मित की गई हैं जिनमें केन्द्र और राज्यों के कार्यक्षेत्र को वर्णित (परिभाषित) किया गया है। सूची 1 अर्थात संघीय सूची में 97 विषय हैं जिन पर संघीय (केन्द्रीय) सरकार को कानून बनाने का पूर्ण एवं एकमात्र (Exclusive Power) अधिकार है। प्रमुख संघीय विषय हैं सुरक्षा, विदेशी मामले, युद्ध और शान्ति, डाक, तार, रेल, मुद्रा, बीमा, बैंक, नागरिकता, देशीयकरण, निवारक निरोध (Preventive Detention), अखिल भारतीय सेवायें, सर्वोच्च न्यायालय, आयकर, सीमा शुल्क (Custom duty), आदि। सूची दो अर्थात राज्य सूची में 66 विषय हैं जिन पर राज्य सरकारों को कानून बनाने का पूर्ण एवं एकमात्र (Exclusive power) अधिकार है। प्रमुख राज्यीय विषय हैं स्थानीय स्वशासन, पुलिस जेल, न्याय, सार्वजनिक स्वास्थ्य शिक्षा, जंगलात आदि। सूची तीन अर्थात् समवर्ती सूची में 47 विषय हैं जिन पर कानून बनाने का अधिकार संघ और राज्य सरकारों दोनों को है। प्रमुख विषय जिन्हें समवर्ती सूची में रखा गया है वे हैं दीवानी और फौजदारी कानून, दण्ड विधि, दण्ड प्रक्रिया, विवाह तलाक, श्रमिक संघ, औद्योगिक और श्रमिक समस्यायें, वाष्प पात्र (Boilers), कारखाने, विद्युत, सामाजिक सुरक्षा, आर्थिक और सामाजिक नियोजन, मूल्य नियंत्रण, दवाइयां, समाचार पत्र, मुद्रणालय, पुस्तकें, आदि। इस तरह भारतीय संविधान में भी राष्ट्रीय महत्व के विषयों को संघीय (केन्द्रीय) सरकार को सौंपा गया है और स्थानीय महत्त्व के विषयों को एककों

1 C A D Vol VII, 1, part I p 42 Quoted by Johari, J C Indian Govt and Politics, p 179

(राज्यों) की सरकारों को सौंपा गया है। समवर्ती सूची में दिये गये विषय भी स्थानीय महत्त्व के विषय हैं परन्तु उन पर केन्द्र और राज्य का नियन्त्रण इसलिए है कि वे भारत में लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में सहायक हैं। जो विषय इन तीन सूचियों में उल्लिखित नहीं किए गए उन पर संघ (केन्द्र) सरकार का अधिकार है अर्थात् अवशिष्ट शक्तियाँ संघ सरकार के पास हैं।[1]

**2 संविधान की सर्वोच्चता (Supremacy of the Constitution)**—संघीय संविधान की दूसरी अनिवार्य आवश्यकता संविधान की सर्वोच्चता होती है। संघीय संविधान ही संघ की सर्वोच्च विधि होती है। कोई उसकी उपेक्षा या उल्लंघना नहीं कर सकता। उसके उपबन्धों के विरुद्ध बनाया गया कानून या कार्यपालिका द्वारा दिया गया आदेश उस सीमा तक अवैध (Ultra vires or unconstitutional) होता है जिस सीमा तक वह संवैधानिक उपबन्धों की उल्लंघना करता है। संविधान सारे देश की सर्वोच्च विधि है। न तो केन्द्रीय और राज्य सरकारें, और न ही नागरिक या अन्य सामाजिक संस्थायें संविधान के उपबन्धों की उल्लंघना कर सकती हैं। केन्द्र और राज्य सरकारें दोनों सीधे संविधान से अपनी अपनी अधिकार शक्तियाँ को प्राप्त करते हैं। दोनों एक दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं कर सकती। दोनों अपने आवश्यक कार्यों (essential functions) को एक दूसरे को प्रदान नहीं कर सकती। संविधान द्वारा लगायी गयी मर्यादाओं का दोनों पालन करती हैं और जब कभी दोनों में से कोई या दोनों ही संवैधानिक उपबन्धों का उल्लंघन करके या अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर होकर कोई कानून बनाती है या कार्यपालिका आदेश देती हैं तो न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर सकती है।

**3 स्वतन्त्र न्यायपालिका (Independent Judiciary)**—भारतीय संविधान भी, अन्य संघीय संविधानों की भाँति सर्वोच्च न्यायालय के रूप में एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय की स्थापना करता है। यह न केवल नागरिक अधिकारों की कार्यपालिका या विधायी निरंकुशता से रक्षा करती है बल्कि केन्द्र और राज्यों में विवादों का निपटारा करती है, उनमें सन्तुलन बनाये रखती है और प्रत्येक के क्षेत्र की सुरक्षा करती है। अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय की भाँति भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को भी न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) का अधिकार है। यह किसी भी व्यवस्थापिका के कानून या कार्यपालिका के आदेश को अवैध घोषित कर सकती है यदि वह संवैधानिक उपबन्धों के विपरीत है। इस दृष्टि से तो भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियाँ रूसी सर्वोच्च न्यायालय और स्विस संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) से अधिक हैं क्योंकि इन्हें न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार नहीं।

---

1 Art 246 (4)

4 लिखित एव कठोर सविधान (Written and Rigid Constitution)—अन्य सघीय सविधानो की भाति[1] भारतीय सविधान भी लिखित है। इसम 22 भाग, 395 अनुच्छेद, 10 अनुसूचिया और अब तक 38 सशोधन हुए हैं। भारत के सविधान का विस्तृत होने का मूल कारण यह है कि इसमे उन बातो का विस्तृत उल्लेख किया गया है जिन्हे अन्य सघीय सविधानो म अभिसमयो पर छोड दिया गया है। दूसरे, भारत सघ के एकको का पृथक सविधान न होने से उसे भी सविधान मे ही उल्लिखित किया गया है।

भारतीय सविधान यद्यपि अमरीकी सविधान की भाति कठोर तो नही पर तु फिर भी यहा सवैधानिक कानून और साधारण कानून मे अन्तर किया गया है, सवैधानिक कानून के निर्माण या सशोधन की प्रक्रिया का वणन है। यह ठीक है कि सविधान का अधिकाश भाग ससद के साधारण बहुमत से पास हो जाता है, कुछ भाग ससद के दोनो सदनो के पृथक-पृथक रूप म दो तिहाई बहुमत से पास होता है और अनुच्छेद 54, 55, 73 162 तथा भाग पाच का अध्याय चार तथा भाग छ का अध्याय पाच ऐसे सविधान के उपब ध है जि ह ससद के दोनो सदनो के दो तिहाई बहुमत के साथ आधी राज्य विधान सभाओ के अनुसमथन पर ही सशोधित किया जा सकता है। इस तरह देश के मूलभत कानून म परिवतन ससद और राज्य विधान सभाओ के सहयोग से ही हो सकता है।

## भारतीय सविधान का एकात्मक स्वरूप
## (Unitary Features of Indian Constitution)

भारतीय सविधान म अनेक ऐसे तत्त्व विद्यमान है जो इसे एकात्मक स्वरूप प्रदान करते है। इनम प्रमुख तत्त्व निम्न है —

1 **शक्तिशाली केन्द्र**—भारत मे केन्द्र को प्रान्तो की तुलना म अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। ससद न केवल सघ सूची के 97 राष्ट्रीय महत्व के विषयो पर ही कानून बना सकती है बल्कि समवर्ती सूची म दिये गये 47 विषयो पर भी कानून बना सकती है। यद्यपि राज्य विधान सभाओ को भी समवर्ती सूची मे दिये गये विषयो के सम्बन्ध मे कानून बनाने का अधिकार है परन्तु यदि समवर्ती सूची म दिये गये किसी विषय पर राज्य विधान सभा के कानून और उसी विषय पर ससद द्वारा बनाये गये कानून म कोई विरोध होता है तो ससद द्वारा बनाया गया कानून ही लागू होता है और राज्य विधान सभा द्वारा पास किया गया कानून उस सीमा तक प्रभाव शून्य होता है जिस सीमा तक वह ससदीय कानून का विरोध करता है। परन्तु यदि राज्य विधान सभा समवर्ती सूची मे दिये गये किसी विषय पर कानून निमाण करते समय राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर लेता है तो ससद द्वारा पास

---

1 अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, रूस, स्विटजरलैण्ड आदि सघीय सविधानो के सविधान भी लिखित है।

किया गया कानून उस राज्य म लागू नही होता । इस तरह ससद का नियन्त्रण सघ सूची और समवर्ती सूची अर्थात 144 विषयो पर पूर्ण रहता है । इस दृष्टि से तो भारतीय सघ या केन्द्र कनाडा से भी अधिक शक्तिशाली है क्योकि जहा कनाडा की समवर्ती सूची म केवल दो विषय हैं वहा भारतीय सविधान की समवर्ती सूची म 47 विषय है ।

**2 ससदीय कानूनो की व्यापकता**—ससद द्वारा पास किये गये कानून सारे भारत या भारत के किसी एक भाग म लागू किये जा सकते है जबकि राज्य विधान सभाम्रो द्वारा पास किये गये कानून केवल राज्य की सीमाम्रो तक ही सीमित रहते है । समवर्ती सूची के विषयो के सम्बन्ध मे भी जब राज्य विधान सभायें कानून बनाती ह तो भी उनका प्रभाव राज्य की सीमाम्रो तक ही होता है । इस तरह जहा ससद द्वारा बनाये गये कानूनो का क्षेत्र व्यापक ह वहा राज्य विधान सभा द्वारा बनाये गये कानूनो का क्षेत्र सीमित है ।

**3 अवशिष्ट शक्तिया**—अवशिष्ट शक्तिया य शक्तिया हैं जिन्ह किसी सूची म उल्लिखित नही किया गया । ये वे शक्तिया है जो समय, परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार उत्पन्न होती है । जहा अमरीका, स्विट्जरलण्ड आस्ट्रेलिया जसे सघीय सविधानो म अविशिष्ट शक्तियो को सघ के एकको को प्रदान किया गया है वहा भारत म, कनाडा और दक्षिण अफ्रीका के सविधानो की भाति, इन्ह सघ (केन्द्र) को सौपा गया है ।[1] यह तत्व केन्द्र को एकको से अधिक शक्तिशाली बना देता है ।

**4 सकटकालीन शक्तिया**—सकट काल म, भारत म, केन्द्र की शक्तिया केवल बढ ही नही जाती बल्कि सविधान म परिवर्तन किये बिना ही सविधान सघात्मक से एकात्मक स्वरूप ग्रहण कर सकता है । इस तरह भारत म "एक बार सघ सवदा सघ' (Once a federation always a federation) के सिद्धान्त को नही अपनाया गया ।,समय, परिस्थिति और आवश्यकतानुसार भारतीय सविधान सघात्मक या एकात्मक रूप धारण करता है । अनुच्छेद 352 के अनुसार युद्ध, वाह्य आक्रमण, आन्तरिक अशान्ति, उपद्रव या शान्ति की सम्भावना पर जब राष्ट्रपति सामान्य सकट की घोषणा कर देता है तो वह उदघोषणा द्वारा राज्य सूची मे दिये गये सभी विषयो पर ससद का नियन्त्रण स्थापित कर सकता है । इस स्थिति म राज्य विधान सभायें ससद के अधीन उसके अभिकरण के रूप म काय करती है । अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति किसी राज्य मे सविधान की असफलता की घोषणा करके अमुक राज्य की विधायी शक्तियो को ससद को सौंप सकता है । इस स्थिति म राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति के एजेन्ट (Agent) के रूप म काय करता है । अनुच्छेद 360 के अनुसार राष्ट्रपति वित्तीय सकट की घोषणा करके राज्यो के वित्तीय क्षेत्र म ससद का नियन्त्रण स्थापित कर सकता है सभी पदाधिकारियो के वतनो

---

1 Art 48

मे कटौती कर सकता है, आदि । इस तरह सकट काल मे भारतीय सविधान एकात्मक बन जाता है, प्रातीय स्वायत्तता नष्ट हो जाती है और आवश्यकता हो तो राष्ट्रपति सघ और राज्यो म शक्ति विभाजन का भी परिवर्तित कर सकता है ।

**5 शातिकाल मे भी केन्द्र शक्तिशाली ह**—भारत मे केन्द्र न केवल सकट-काल म ही शक्तिशाली है बल्कि शातिकाल मे भी राज्यो की शक्तिया मर्यादित है । उदाहरणतया अनुच्छेद 249 के अनुसार यदि राज्य सभा उपस्थित एव मतदान करन वाले सदस्यो के दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर देती है कि राज्य सूची मे दिया गया अमुक विषय 'राष्ट्रीय महत्व' का हो गया है ता ससद उस विषय पर कानून का निर्माण कर सकती है । इस अनुच्छेद के अतगत ससद को राज्य सूची के किसी विषय पर कानून निर्माण के लिये किसी "सकट" की आवश्यकता नही "राष्ट्रीय हित" ही पर्याप्त ह । अनुच्छेद 253 के अनुसार अतर्राष्ट्रीय समझौता, सधियो, करारो या उत्तरदायित्वो को निभाने के लिय राज्य सूची म दिये गये विषया पर कानून निमाण कर सकती है । यह सत्य है कि केन्द्र अपनी विधियो को कार्यान्वित कराने के लिये राज्या पर निभर करता ह पर तु जब कभी केन्द्र राज्यो का अपन उत्तरदायित्वो मे उदासीन पाता है या यह अनुभव करता है कि अमुक राज्य केन्द्र के आदेशा की उपक्षा या निरादर कर रहा है ता केन्द्र वाछित उद्देश्य को प्राप्त करने के लिय अनुच्छेद 356 का महारा ले सकता है । अनुच्छेद 256 और 257 इस बात का स्पष्ट सकेत करते ह कि राज्य की कायपालिका अपनी शक्तिया का प्रयोग इस प्रकार करेगी कि केन्द्र द्वारा पारित कानूना मे बाधा प्रस्तुत न हो । इस क्षेत्र म केन्द्र राज्य की कायपालिका को आवश्यक निर्देशन द सकता है । अनुच्छेद 252 के अनुसार दो या दो से अधिक राज्य अपनी विधान सभाओ के प्रस्ताव द्वारा राज्य सूची मे दिय गय किसी विषय पर, जसे सावजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि, जगलात आदि, ससद को कानून बनाने का अधिकार दे सकते ह ।

**6 एककों (राज्यो) के पृथक सविधान का अभाव**—अमरीकी और स्विस सघीय व्यवस्थाओ के विपरीत भारत की सघीय व्यवस्था राज्या के लिए पृथक सविधान की कल्पना नही करती ।[1] भारत म सघ के एकका का कोई पृथक सविधान नही । एक ही सविधान भारत के समूचे शासन व्यवस्था का प्रबन्ध करता ह । इसी सविधान म अध्याय 6, अनुच्छेद 152 से 237, राज्या के प्रशासनिक ढाच की व्यवस्था की गई है ।

**7 सशोधन की विधि मूलत लचीली है**—भारतीय सविधान अमरीकी

---

1 जम्मू और कश्मीर राज्य की स्थिति अनुच्छेद 370 (2) क कारण एक अपवाद ह । परन्तु इसका सविधान भी भारतीय सविधान क मुख्य ढाच स विपरीत नही हो सकता ।

सविधान की तुलना म अत्याधिक लचीला है। भारत म सशोधन की विधि म राज्यो की सम्मत्ति (मत या राय) का बहुत कम महत्व है। भारतीय सविधान का अधिकाश भाग ससद के साधारण बहुमत से ही सशोधित किया जा सकता है, कुछ सशाधनो को ससद के दो तिहाई बहुमत से पास किया जा सकता है। कुछ ही सविधान के उपबन्ध ऐसे हैं जसे अनुच्छेद 54, 55, 73, 162, 242, भाग पाच का अध्याय 6, भाग 6 का अध्याय 5, भाग 11 का अध्याय 1, सातवी अनुसूची, ससद म राज्यो का प्रतिनिधित्व, आदि, जिन्हे तभी सशोधित किया जा सकता है जब ससद के प्रत्येक सदन के दो तिहाई बहुमत से पास होने के बाद आधी (half) राज्य विधान सभायें उन पर अपनी सहमति प्रकट कर देती हैं। भारत के सविधान का लचीलापन तो इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि 25 वर्षों के सवैधानिक इतिहास म 38 सशोधन हो चुके है जबकि अमरीका के 190 वर्षों के सवैधानिक विकास में केवल 25 सशोधन ही हुए ह।

भारतीय सविधान मे सशोधन की एक विशेपता यह ह कि भारतीय सघ के एकक सविधान मे सशोधन का प्रस्ताव भी नही रख सकते। ससद ही सविधान मे सशोधन का प्रस्ताव रख सकती है। भारत म सविधान के सशोधन मे जनमत सग्रह की भी कोई व्यवस्था नही। यह दोना बातें अमरीकी और स्विस सविधानो के विपरीत ह। अमरीका में सघ के एकका के न केवल पृथक सविधान है बल्कि वहा की दो तिहाई व्यवस्थापिकाए काग्रेस से सविधान म सशोधन के प्रस्ताव की माग कर सकती ह। स्विट्जरलण्ड म ता सवधानिक सशोधन की पहली (आरम्भन पद्धति द्वारा) और अन्तिम (जनमन सग्रह पद्धति द्वारा) क्रिया स्विस नागरिको के हाथो म है। भारतीय नागरिको का तो सवधानिक सशोधन म कोई भाग ही नहीं।

8 **एकहरी नागरिकता**—भारत म दोहरी शासन व्यवस्था (dual polity) होते हुए भी एकहरी नागरिकता है। सारे देश के लिये एक ही नागरिकता है। इसे भारतीय नागरिकता कहते है। यह तत्व "एक देश एक लोग" (One p ople one Country) के आदश की पूर्ति करता है।" इसम सघ के एकका (राज्या) की कोइ पृथक नागरिकता नही। इस दृष्टि स भी भारतीय सविधान अमरीकी सविधान से भिन्न है। अमरीका म प्रत्येक नागरिक दोहरी नागरिकना का उपभाग करता है, एक अमरीका की और दूसरी उस राज्य की जिसका वह निवासी है। भारत म एकहरी नागरिकता के अपनाने मे भी सविधान का उद्देश्य राष्ट्रीय एकता की भावनाओ को बल देकर प्रान्तीय या क्षत्रीय भावनाओ को निवल बनाना है।

9 **ससद को राज्या के पुनगठन का अधिकार**—जहा अमरीका म सघ के एकको की सहमति के विना काग्रेस किसी राज्य के क्षेत्र या सीमाओ म कोई परिवतन नही कर सकती वहा भारतीय ससद राष्ट्रपति की सिफारिश पर, अनुच्छेद 3 के अनुसार, राज्या का पुनगठन कर सकती है, उनके नाम वदल सकती हे, उनके क्षेत्र को कम या अधिक कर सकती है, दो राज्या को मिला सकती हे एक राज्य का दो राज्या

मे परिवर्तित कर सकती है। यह ठीक है कि इस प्रकार का विधेयक तभी प्रस्तुत किया जाता है जब राष्ट्रपति उन पर राज्यो के विधान मण्डलो के विचार प्राप्त कर ले लेता है परन्तु यदि किसी राज्य विधान मण्डल के विचार निश्चित समय (Period specified by the President) तक प्राप्त नही होते तो राज्यो के पुनगठन का कानून, उनके विचारो की अभिव्यक्ति के बिना भी पारित किया जा सकता है। भारत मे ससदीय कानूनो द्वारा अनेक बार राज्यो का पुनगठन किया गया या नये राज्यो का निर्माण किया गया या राज्यो के नामो को बदला गया। उदाहरणतया सन् 1953 मे आन्ध्र राज्य अधिनियम (Andhra State Act,1953) बनाया गया और सन् 1956 म राज्यो का पुनगठन किया गया, सन् 1960 मे बम्बई पुनगठन अधिनियम द्वारा महाराष्ट्र और गुजरात नाम के दो राज्यो का जन्म हुआ, सन् 1962 मे नागालैण्ड राज्य अधिनियम द्वारा नागालण्ड को राज्य का दर्जा प्रदान किया गया सन् 1966 मे पजाब का पुनगठन कर पजाब और हरियाणा नामक दो राज्यो का निर्माण किया गया और चण्डीगढ को केन्द्र शासित प्रदेश बनाया गया। सन् 1971 मे उत्तर-पूर्वी क्षेत्रो का पुनगठन कर असम, नागालण्ड, मेघालय, मणिपुर के चार राज्यो और अरुणाचल प्रदेश तथा मिजोरम के दो केन्द्र शासित प्रदेशो का निर्माण किया गया। जहा अमरीकी राज्यो का आकार बहुत अधिक या बहुत कम होते हुए भी काग्रेस उनकी सहमति के बिना उन्हें बराबर नही कर सकती। वह भारतीय ससद राज्यो की सहमति के बिना भी राज्यो का पुनगठन कर सकती है। स्पष्ट है कि भारतीय सविधान भारत के सघीय एकको की प्रादेशिक अखण्डता की गारण्टी नही देता। उदाहरणतया तमिलनाडु राज्य के विरोध करने पर भी कच्छ टापू भारत सरकार न समद के कानूनो द्वारा श्री लका को सौप दिया।

**10 एकको में समानता का अभाव**—यह सत्य है कि सघीय ससद का उच्च सदन (राज्य सभा) सघ के एकको (राज्यो) का प्रतिनिधित्व करता है और राज्य विधान सभाओ द्वारा ही उसके सदस्यो का निर्वाचन होता है पर तु अमरीका की सीनट या स्विस राष्ट्रीय परिषद की भाति भारतीय राज्य सभा मे सघ के एकको को समान प्रतिनिधित्व नही दिया गया। जहा अमरीकी सीनेट मे अमरीकी सघ का छोटा या बडा राज्य 2 प्रतिनिधि भेजता है और जहा स्विटजरलण्ड की राष्ट्रीय परिषद म प्रत्येक पूर्ण कैन्टन दो और अद्ध कन्टन 1 प्रतिनिधि भेजता है वहा भारतीय राज्य सभा म एकको का प्रतिनिधित्व नाना प्रकार का है। भारत का प्रत्येक राज्य जन सख्या के आधार पर राज्यसभा मे प्रतिनिधि भेजता है जिनकी सख्या 1 और 34 के होती है अर्थात् जिन राज्यो की जनसख्या अधिक है उसके प्रतिनिधियो की सख्या उस राज्य के प्रतिनिधियो की सख्या से अधिक होगी जिसकी जन सख्या कम है। उदाहरणतया उत्तर प्रदेश की जन सख्या अधिक होने से उसके राज्य सभा म प्रतिनिधियो की सख्या 34 है और नागालण्ड की जन सख्या कम होने से उसके प्रतिनिधियो की सख्या एक ही है।

**11 अखिल भारतीय सेवायें**—अखिल भारतीय सेवायें केन्द्रीय सरकार के अधीन है और सघीय लोक सेवा आयाग की सिफारिशा पर ही राष्ट्रपति इन उच्च पदाधिकारियो की नियुक्ति करता है। ये उच्च सेवायें आई० ए०, एस० आई० पी० एस०, आदि के नामो से जानी जाती हैं। राज्य की सेवाओ के शीर्ष पर, जैसे जिला के जिलाधीश, जिलो के पुलिस अधीक्षको (Superintendent of Police) और राज्य सचिवालयो म सचिव पदा पर, इन्ही अखिल भारतीय सेवाओ के सदस्य नियुक्त किये जाते हैं। यद्यपि य उच्च पदाधिकारी राज्य सेवाओ के शीर्ष पर विद्यमान होते है और राज्य के राजस्व से ही वे अपने वेतनो, भत्तो आदि का प्राप्त करते है परन्तु उनके ऊपर नियन्त्रण केन्द्रीय सरकार का ही होता है। जब कभी कोई राज्य सरकार इन सेवको के विरुद्ध काई अनुशासनात्मक कार्यवाही करना चाहती है तो न केवल केन्द्रीय सरकार वल्कि सघीय लोक सेवा आयोग की अनुमति की आवश्यकता होती है। स्पष्ट है कि अखिल भारतीय सेवाओ के सदस्य खात तो राज्य सरकारो का हैं, परन्तु गुण गाते हैं किसी और का (केन्द्र का)। इन उच्च पदाधिकारियो के माध्यम से केन्द्र राज्यो पर परोक्ष रूप से नियन्त्रण रखती है।

**12 एकीकृत न्याय व्यवस्था**—अमरीकी और आस्ट्रेलियाई सघीय सविधानो के विपरीत भारतीय सविधान म न्याय की व्यवस्था भी एकीकृत है। जहा अमरीका मे सघीय सर्वोच्च न्यायालय के अधीन निम्न सघीय यायालय है और राज्या की पृथक पृथक सर्वोच्च न्यायालायें है वहा भारत मे एक सर्वोच्च न्यायालय है और राज्या के उच्च न्यायालय था सर्वोच्च न्यायालय के अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण मे ही काय करती ह। भारत की सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय सभी निम्न न्यायालया को मान्य हाते है।

**13 राष्ट्रपति द्वारा राज्यपालो की नियुक्ति**—जहा अमरीका सघ की इकाइया के कार्यपालिका अध्यक्ष अर्थात गवनर राज्य की वयस्क जनता द्वारा निर्वाचित किये जाते है वहा भारतीय सघ मे एकको के राज्यपालो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है यहा राज्य के राज्यपालो का निर्वाचन राज्य की जनता द्वारा नही होता यह तथ्य इस बात का प्रतीक ह कि भारत के सघीय एकका म गणतन्त्रात्मक प्रणाली का नही अपनाया गया। राज्यपाल राष्ट्रपति की कृपा (pleasure) पर ही अपने पद पर विद्यमान रहता है और उसी के द्वारा पदच्युत किया जा सकता ह। यह आवश्यक नही कि राष्ट्रपति राज्यपालो की नियुक्ति के समय सम्बन्धित राज्यो के मुख्य मन्त्रियो से परामश ले।

राज्य के प्रशासन मे गवनर की स्थिति सवधानिक अध्यक्ष की है परन्तु सविधान उसे अपने कार्यो के लिए राष्ट्रपति के समक्ष उत्तरदायी भी बनाता है। स्पष्ट है कि राज्या के गवनर केन्द्र के अभिकर्ता के रूप मे राज्य मे विद्यमान रहते हैं और जब कभी भी कोई राज्य केन्द्र के आदेशा की उपेक्षा करता है या केन्द्र के कानूनो को लागू करने की उदासीनता दिखाता है तो केन्द्र गवनर के माध्यम से राज्य प्रशासन

मे पर्याप्त हस्तक्षेप कर सकता है। सकट काल म राष्ट्रपति सामान्यत गवनर के माध्यम [illegible] कर सकता है। स्पष्ट है कि गवनर की राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति और केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप म दूसरा पद प्रान्तीय स्वायत्तता पर प्रहार है।

14 **आर्थिक सहायता के लिये राज्यो की केन्द्र पर निभरता**—यह सत्य है कि सविधान राज्यो के वित्तीय साधनो का पृथक रूप से निर्धारित करता है परन्तु य वित्तीय साधन राज्यो की नाना कल्याणकारी योजनाओ और विकास के लिए इतने अपर्याप्त है कि राज्यो को आर्थिक सहायता के लिए केन्द्र की ओर ताकना पडता है। केन्द्र राज्यो को अनेक प्रकार की वधानिक और गर वधानिक अनुदान (Statutory and non Statutory grants) देता है। सहायक अनुदान (Grants in aid) भी राज्यो को समय-समय पर (उदाहरणतया बाढ या अकाल के समय या महामारी के समय) प्राप्त होते रहते है। आर्थिक अनुदान केन्द्र के हाथो म एक ऐसा अस्त्र है जिसके प्रयोग द्वारा केन्द्र किसी भी अनुशासनहीन या हठधर्मी (recalcitrant) राज्य को केन्द्र की नीतियो के अनुरूप लाने के लिए पर्याप्त है। राज्यो की आर्थिक दुबलता और केन्द्र पर उनकी निभरता राज्यो की स्वायत्तता को सारहीन बना देती है।

15 **विशेष विधेयकों पर राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति**—कुछ विधेयक ऐसे हैं जिन्हे राज्य विधान सभा म प्रस्तुत करने म पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति की आवश्यकता होती है। उदाहरणतया यदि अनुच्छेद 31 (3) क अन्तगत राज्य विधान सभा कानून द्वारा किसी सम्पत्ति को सावजनिक हित म अनिवाय रूप स अधिग्रहीत करना चाहती है या अनुच्छेद 304 (b) क अन्तगत राज्यो क मध्य व्यापार पर सावजनिक हित म प्रतिबन्ध लगाना चाहती है तो उन विधेयको को राज्य विधान सभा म प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति की आवश्यकता होती है। और जब तक राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त नही हो जाती तब तक राज्य विधान सभा म ऐसे विधेयको को प्रस्तुत नही किया जा सकता।

16 **मूल बातो म एकरूपता**—कानून प्रशासन और न्यायिक सरक्षण की अनेक ऐसी बाते है जिनम सविधान एकरूपता की व्यवस्था करता है विभिन्नता की नही। ये मूल बातें मुख्यत निम्न हैं

(a) भारत म निर्वाचनो क अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण का काय निर्वाचन आयोग (Election Commission) को सौपा गया है। यह आयोग ही ससद, विधान सभाओ आदि के चुनावो को सम्पन्न करता ह। निर्वाचन आयोग का प्रधान मुख्य निर्वाचन आयुक्त (Chief Election Commissioner) होता है जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

(b) सारे देश की वित्तीय स्थिति की देखभाल नियन्त्रक एव महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General) के अधीन होती है। [illegible] एव महालेखा परीक्षक ही सघ और राज्यो के लेखाओ का लेखा परीक्षा उनके लिये लेखे तयार करता है तथा उन्हे अपने प्रतिवेदना सहित [illegible]

पति या राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत करता है। नियन्त्रक एव महालेखा परीक्षक की नियुक्ति भी राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

(c) राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त अनुसूचित जातियो और क्षेत्रो का आयुक्त (The Commissioners for the Scheduled Castes & Areas) इन जातिया और क्षेत्रो के अधिकारो की रक्षा करता है।

(d) यद्यपि सविधान क्षेत्रीय भाषाओ के अधिकार को स्वीकार करता है परन्तु साथ म देवनागरी लिपि मे हिन्दी को राष्ट्र भाषा भी घोषित करता है।

(e) सारे देश मे एक प्रकार की दीवानी और फौजदारी कानूनो (Civil & Criminal Procedure Code) की व्यवस्था है। यदि राज्य चाहे भी तो वे अपनी पृथक दीवानी और फौजदारी सहिता का निर्माण नही कर सकते क्योंकि यह विषय समवर्ती सूची मे है और इस पर राष्ट्रपति की अनुमति की आवश्यकता है।

(f) समन्वित न्यायपालिका (Integrated Judiciary)—की व्यवस्था है।

(g) सामान्य अखिल भारतीय सेवायें स्थापित की गयी है।

17 **केन्द्र शासित प्रदेश**—केन्द्र शासित प्रदेशो (Union territories) का प्रशासन सीधे राष्ट्रपति के अधीन है जो प्रशासक (Administrator) के माध्यम से इन प्रदेशो का प्रशासन करता है। डा० एम० पी० शर्मा ने ठीक कहा कि "वस्तुत इन प्रदेशो का केन्द्र के साथ वही सम्बन्ध है जो कि किसी एकात्मक राज्य के उप खण्डो का उसकी केन्द्रीय सरकार के साथ होता है।"[1] इस समय भारत मे 9 केन्द्र शासित प्रदेश है।[2] ससद ही इन प्रदेशो के सम्बन्ध म कानूनो का निर्माण करती है।

18 **अन्तर्राज्य परिषद तथा क्षेत्रीय परिषदें**— प्रान्तो के विवादो को निपटाने के लिए, तथ्यो की जानकारी करने के लिये तथा प्रान्तो मे सामान्य नीति को निर्धारित करने के लिए, यदि राष्ट्रपति लोक हित मे आवश्यक समझे तो अन्तर्राज्य परिषदा (अनुच्छेद 263) और क्षेत्रीय परिषदा की स्थापना कर सकता है। अनुच्छेद 307 के अनुसार अन्तर्राज्य व्यापार, वाणिज्य और समागम के लिए प्राधिकारी नियुक्त किय जा सकते हैं और अनुच्छेद 280 281 के अनुसार वित्त आयोग की स्थापना भी जा सकती है।

10 **राजनीतिक केन्द्रीकरण**—राजनीतिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति ने भी केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बना दिया है। जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है तब से अब तक केन्द्र म एक ही दल (काग्रेस दल) का शासन रहा है और अधिकाश राज्यों म भी यही दल सत्तारूढ रहा यद्यपि 1967 के निर्वाचनो म राज्या म राजनीतिक विकेन्द्री

---

1 Sharma, Dr M P The Government of the Indian Republic p 91

2 केन्द्र शासित प्रदेश हैं अण्डमान निकोबार, चण्डीगढ, दादर-नागर हवेली, दिल्ली।

करण की प्रवृत्ति नजर आयी (मिली जुली सरकारो के रूप मे) परन्तु 1971 के ससदीय चुनावो और 1972 के विधान सभाओ के निर्वाचन म फिर राजनीतिक केन्द्रीयकरण को बल मिला। वस्तुत राजनीतिक शक्ति पर एक दल का (कांग्रेस का) एकाधिकार ही सघीय प्रवृत्तियो के विपरीत है। जिस ढग से केन्द्रीय सरकार ने राज्य के मुख्य मन्त्रियो के निर्वाचन मे हस्तक्षेप या निर्देशन दिये है वह शुद्ध सघवाद की प्रवृत्ति के अनुकूल नही। पाचवें सामान्य निर्वाचनो के पूर्व जिस ढग से राजस्थान आन्ध्र, मध्य प्रदेश और असम मे नेतृत्व म परिवर्तन किये गये तथा निर्वाचनो के बाद जिस ढग से मैसूर और गुजरात राज्यो मे परिवर्तन किये गये तथा जिस आधार पर बिहार मे गफूर मन्त्रिमण्डल को स्थिर रखने का प्रयास किया गया वह इस बात का प्रतीक है कि केन्द्रीय सरकार राज्यो के मन्त्रिमण्डलो पर अपना अधिकार समझती है।

20 स्वाभाविक सघ का अभाव—भारत मे सघीय व्यवस्था इकाइयो की स्वभाविक इच्छा का फल नही बल्कि एकात्मक राज्य को विघटित करके इसकी स्थापना की गयी है। इस दृष्टि म भी भारतीय सघ व्यवस्था अमरीकी सघीय व्यवस्था के विपरीत है क्योकि अमरीका म सघीय व्यवस्था राज्यो के स्वाभाविक समझौते का परिणाम है। रूसी सघ की भांति भारतीय सघ के इकाइयो को सघ से पृथक होने का अधिकार नही। डा० अम्बेदकर ने सवधानिक सभा मे स्पष्ट कहा था कि "सघ और राज्यो के सविधान का एक ही ढाचा है जिसमे से कोई भी नही निकल सकता और उन्हे उसी के अन्तर्गत कार्य करना है।"[1]

## क्या भारत एकात्मक या अर्द्ध सघात्मक राज्य है ?

### (Is India a Unitary or Quasi federal State ?)

भारत एक सघात्मक राज्य है या नही इस बारे म अनेक प्रकार के विचार व्यक्त किए गए है। कुछ के लिए भारत एकात्मक राज्य है कुछ के लिए सघात्मक और कुछ के लिए यह अर्द्ध सघात्मक राज्य है। सर आइवर जेनिंग्स एलन ग्लडहिल, के० एम० मुन्शी जसे एसे लेखक भी हैं जिनका कहना है कि भारत के एकात्मक स्वरूप को ढकने के लिए उसे सघात्मक का 'नकाब' पहनाया गया है। एलेक्जेण्ड्रो-विच, पाल० एच० एपलबी जसे लेखक इसे "निःसन्देह सघात्मक राज्य" मानते हैं। के० पी० मुकर्जी इसे निश्चित रूप से "असघीय या एकात्मक" सविधान मानते हैं। अशोक चन्दा का कहना है कि "भारत एक सघ राज्य नही, यह विचार और कार्य-प्रणाली (प्रवर्तन) मे एकात्मक राज्य है।' के० सी० व्हीअर इसे अर्द्ध सघात्मक कहना पसन्द करते हैं। उनका कहना है कि भारत "एक ऐसा सघ होने की बजाय

गोवा दमन दीव, लकादिव मिनिकोय व अमीनदीवी पाण्डिचेरी, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम।

1 C A D Vol VIII, p 34

जिसमे एकात्मक तत्व गौण रूप से पाये जाते है एक ऐसा एकात्मक राज्य है जिसमे सघात्मक तत्व गौण रूप से पाये जाते है। के० एम० मुशी ने भी भारत को एक 'अर्द्ध सघीय सगठन कहा है जिसे एकात्मक सरकार की अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषताओ से सुसज्जित किया गया है।' सी० पी० भाम्बरी का विश्वास है कि भारत में ऊर्ध्वाधर सघ' (Vertical federation) का विकास हो रहा है। इनका कहना है कि योजना आयोग और केन्द्रीय मन्त्रालय राज्यो के तत्स्थानी मन्त्रालयो (corres ponding ministries) को आदेश और निर्देश देने की स्थिति म हैं। क्योकि केन्द्र की स्थिति अत्यन्त शक्तिशाली है इसलिए जे० सी० जौहरी भारत को "समतल सघ" (horizontal federation) कहना अधिक पसन्द करते हैं। क्योकि भारत म केन्द्र और राज्यो के सघीय सम्बन्ध प्रयोग सहयोग, अनुनय और मेल जोल पर आधारित हैं इसलिये एम० एफ० फान्डा इसे सौदेबाजी का सघ (bargaining federalism) की सज्ञा देना पसन्द करते हैं, डब्लू एच० मारिस जोन्स इसे "सहकारी सौदेबाजी' की सज्ञा देते हैं। ए० एच बिच जैसे लेखको ने इसे 'सहकारी सघ" की सज्ञा दी है। कुछ अन्य लेखक इसे वैधानिक विकेन्द्रीकरण" (statutory decentralization) की सज्ञा देते हैं। डी० डी० बसु के लिए "भारतीय सविधान न तो नितान्त सघात्मक है और न ही एकात्मक बल्कि यह दोनो कथनो का मिश्रण है।" स्वय डा० अम्बेदकर ने सविधान सभा मे कहा था कि "भारतीय सविधान को सघवाद के कठोर शब्दो म नही ढाला गया है यह समय और परिस्थितियो की आवश्यकतानुसार एकात्मक और सघात्मक दानो ही है।" जी० एन० जोशी के शब्दो म, "यूनियन यथाथ मे सघीय राजनीतिक व्यवस्था नही बल्कि अर्द्ध सघात्मक राजनीतिक व्यवस्था है जिसम एकात्मक राजनीतिक व्यवस्था की कुछ प्रमुख और महत्त्वपूर्ण विशेषताए हैं इसे इस तरह रचा गया है कि यह सामान्य काल मे सघीय सरकार की भाति काय करे और सकट काल म एकात्मक सरकार की भानि।[1]" सर्वोच्च न्यायालय न भी पश्चिमी बगाल बनाम भारतीय सघ के मुकदम म यह अवलोकित किया था कि भारतीय सविधान की प्रवत्ति 'परम्परागत ढग के सघवाद स मेल नही खाती।" कुछ लेखको का मत है कि 'भारतीय सविधान म सरकार का ढाचा सघात्मक तो है परन्तु यह ढाचा इतना सुदृढ है कि वह लगभग एकात्मक है।"

भारत का एकात्मक या अर्द्ध सघात्मक राज्य कहने वाले लेखको का मत है कि भारत मे केन्द्र को राज्यो की कीमत पर शक्तिशाली बनाया गया है। इनका कहना है कि न केवल सकट काल में बल्कि शान्ति काल म भी केन्द्र राज्यों स अत्यधिक शक्तिशाली है और राज्यो की स्वायत्तता केन्द्र द्वारा मर्यादित है। अपन कथन के समथन मे ये लेखक अनुच्छेद 3 246 (4) 248, 249, 256, 352 से 360 और 371 का सहारा लेते हैं। अनुच्छेद 3 को तो य लेखक सघीय व्यवस्था के बिल्कुल विपरीत मानते हैं। इनका कहना है कि जब राज्यो का जीवन मरण

1 Joshi G N The Constitution of India (3rd ed London 1954), p 32

अर्थात अस्तित्व केन्द्र की इच्छा (ससद के कानून) पर निर्भर करता है तो सघात्मक व्यवस्था का शेष रह ही क्या जाता है। जैसाकि के० पी० मुकर्जी ने लिखा है कि "यदि यह एकात्मक सरकार की परिभाषा नही, तो मैं नही जानता कि यह क्या है ?"[1] ये लेखक इस बात की ओर भी सकेत करते हैं कि सविधान 'फेडरेशन' (federation) शब्द का प्रयोग ही नही करता। इसके स्थान पर सविधान "राज्यो के सघ" (Union of States) शब्द का प्रयोग करता है।

आलोचको का यह भी कथन है कि व्यवहार मे भारतीय सविधान की प्रवृत्ति केन्द्रीकरण की है। क्योकि राज्यो के आर्थिक स्रोत सीमित है और क्योकि लोक कल्याणकारी कार्यों और विकासवादी योजनाओ के लिए वे केन्द्र की आर्थिक सहायता पर निर्भर करते है इसलिए आर्थिक नियोजन, विकास, समाज सुधार, वित्तीय प्रशासन आदि क्षेत्रो मे न केवल आरम्भन की शक्ति बल्कि उन पर नियत्रण की शक्ति भी केन्द्र के पास है। राष्ट्रीय नियोजन तो इतना केन्द्रीकृत है कि गोविन्द बल्लभ पन्त को एक बार राज्य सभा मे ये विचार व्यक्त करने पडे कि "हम एक यूनियन मे रह रहे है एक फेडरेशन मे नही।" सी० अन्नदोराई ने भारतीय सघ पर व्यग करते हुए कहा था कि राज्यो की स्थिति "खरात पाने वाले निगमो" के समान है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी अपने प्रतिवेदन मे कहा था कि भारत "एक ऐसा सघ है जिसमे परम्परागत सघीय तत्वो के सार का अधिकाशत अभाव है।"

आलोचको का यह भी कथन है कि केन्द्र और अधिकाश राज्यो मे एक दल के (काग्रेस के) निरन्तर सत्तारूढ रहने से राजनीतिक केन्द्रीकरण की शक्तियो को बल मिला है। जिस ढग से राज्यो के नेतृत्व मे केन्द्रीय सरकार के इशारे पर परिवर्तन किए जाते हैं, राज्यो के मन्त्रिमण्डलो को निर्मित, पदच्युत या उनमे हेर-फेर किया जाता है, स्थानीय चुनावो मे (राज्य विधान सभा के चुनावो या अन्य निम्न सस्थाओ के चुनावो मे) उम्मीदवारो को टिकटें दी जाती है या राज्यपालो को नियुक्त या वापस बुलाया जाता है ये सब प्रवृत्तिया सघीय प्रणाली के अनुकूल नही।

उपर्युक्त आलोचनाओ के बाद भी भारत को एकात्मक या अर्द्ध सघात्मक राज्य कहना भ्रामक है। वस्तुत भारत अपने ही ढग का एक विचित्र सघ है। यह शास्त्रीय या परम्परागत सघ (classical or traditional federation) से मेल नही खाता, इसमे सत्ता ऊपर से नीचे की ओर बहती है, नीचे से ऊपर की ओर नही। भारतीय सघ सार्वभौम राज्यो के समझौते का परिणाम नही। इसमे शक्ति सन्तुलन केन्द्र की ओर झुका हुआ है। निम्न तथ्य स्पष्ट करते हैं कि भारत एकात्मक या अर्द्ध सघात्मक राज्य नही बल्कि अपने ही ढग का एक विचित्र सघ है जिसमे शास्त्रीय या परम्परागत सघ के पूर्ण गुण न होते हुये भी उसके आवश्यक गुण पाये जाते हैं—

1 Mukerji K P India, p 179

1 यह सत्य है कि भारत मे शक्ति सतुलन केन्द्र की ओर झुका हुआ है परन्तु इस आधार पर भारत की राजनीतिक व्यवस्था (प्रणाली) का एकात्मक या अर्द्ध सघात्मक कहना मिथ्या है। केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति आज विश्व मे व्यापक रूप से विद्यमान है और शास्त्रीय या परम्परागत सघीय प्रणालियो म भी केन्द्रीकरण के तत्व विद्यमान हैं। अमरीकी राजनीति प्रणाली म भी, जिसे शास्त्रीय सघीय प्रणाली कहा जाता है, केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति विद्यमान है। अन्तर केवल इतना है कि जहा अमरीका म केन्द्र की शक्तिया म निरन्तर विस्तार न्यायिक निणयो और अन्तर्निहित शक्तियो के सिद्धान्त के विकास द्वारा हुआ है वहा भारतीय सविधान सवैधानिक उपबन्धो द्वारा केन्द्र को शक्तिशाली बनाता है।

केन्द्र को शक्तिशाली बनाने मे भारत के सविधान निर्माता भारत के ऐतिहासिक अनुभवो और विशेष परिस्थितियो से प्रभावित हुए थे। जो आलोचक केन्द्र के शक्तिशाली होने से उसकी राजनीतिक प्रणाली को एकात्मक या अर्द्ध सघात्मक कहना पसन्द करते हैं वे इन ऐतिहासिक अनुभवो और विशेष परिस्थितियो की उपेक्षा करते हैं। वे भूल जाते हैं कि ये शक्तिया विघटनकारी शक्तियो के विरुद्ध सरक्षण हैं, सवैधानिक कुशलता और राजनीतिक स्थिरता की गारण्टी है। डी० एन० बनर्जी ने ठीक लिखा है कि यदि भारत मे केन्द्र शक्तिशाली नही हो तो "1960–61 के कागो गणराज्य की भाति ही भारत की दशा हो सकती है।"[1] अणु युग आर्थिक नियोजन, सामाजिक और आर्थिक विकास और सुधार की आवश्यक्तायें भी शक्तिशाली केन्द्र की माग करती है। केन्द्र का शक्तिशाली बनाने मे भारत के सविधान निर्माता जहा अन्य सघीय प्रणालियो के अनुभवो से प्रभावित हुए वहा वे भारत के इस ऐतिहासिक अनुभव को न भुला सके कि जब जब भारत मे केन्द्रीय सरकार निर्बल बनी तब तब ही विदेशियो ने इस पर आक्रमण किया और इसका विनाश हुआ।

भारत की राजनीतिक अखण्डता की स्थिरता को बनाये रखने के लिए हा सविधान निर्माताओ ने फेडरेशन' (Federation) शब्द के स्थान पर 'राज्यो के सघ (Union of States) शब्द का प्रयोग किया। इस तथ्य को नही भुलाया जा सकता कि केन्द्र ने व्यवहार मे अपनी शक्तियो का प्रयोग सघात्मक व्यवस्था को नष्ट करने के लिए नही किया बल्कि राज्यो म राजनीतिक स्थिरता बनाये रखने के लिए तथा विघटनकारी शक्तियो को नष्ट करने के लिए किया है। अमरीका जैसे शास्त्रीय सघ मे भी केन्द्रीय सरकार ने राज्यो की अधिकार शक्ति का अतिक्रमण किया है। उदाहरणतया राष्ट्रपति लिंकन ने सघ को बचाने के लिए राज्यो की अधिकार शक्ति का अतिक्रमण किया, राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने आर्थिक मन्दी के काल मे ऐसी नीतियो का अनुसरण किया जो स्पष्टत अमरीकी राज्यो की अधिकार शक्ति म हस्तक्षेप था।

2 यह सत्य है कि अनुच्छेद 3 के अनुसार भारतीय ससद कानून द्वारा राज्यो की भौगोलिक सीमाओ मे परिवतन कर सकती है, उनके नामो को बदल

1 Bannerji D N Some aspects of the Indian Constitution, p 116

सक्ती है, उनके क्षेत्र को कम या अधिक कर सकती है। सक्षेप मे, ससद कानून द्वारा भारत के राजनीतिक नक्शे को पुन खीच सकती है। इन सब परिवतनो म न तो सवैधानिक सशोधन की आवश्यकता है और न ही सम्बन्धित राज्यो की सहमति की। क्योकि सविधान किसी राज्य के अविच्छिन्न अस्तित्व की गारण्टी नही देता इसलिए राज्यो का अस्तित्व ससद की दया पर निभर करता है। राष्ट्रपति द्वारा सम्बन्धित राज्य या राज्यो से परामश की व्यवस्था केवल औपचारिक है क्योकि राज्यो के सकारात्मक परामश के बिना भी ऐसे विधेयकों को ससद म प्रस्तुत एव पास किया जा सकता है और परामश लेने पर भी उसे स्वीकार या अस्वीकार करना केन्द्र पर निभर करता है। परन्तु इन सब तथ्यो के सत्य होते हुए भी भारतीय राजनीतिक प्रणाली को एकात्मक या अद्ध सघात्मक नही कहा जा सकता। प्रथम, राज्यो की सीमाओ मे, ससद द्वारा परिवतन की माग, स्वय राज्यो ने की थी। ससद ने इस शक्ति को राज्यो स छीना नही। दूसरे, अनुच्छेद 3 ससद को भारत के समूचे राजनीतिक ढाचे को नष्ट करने का अधिकार नही देता। अनुच्छेद 3 केवल एक या कुछ राज्यो की सीमाओ मे परिवतन तक सीमित है और केन्द्र की एक या कुछ राज्यो की सीमाओ मे परिवतन करने की शक्ति को समूची सघीय शासन प्रणाली को नष्ट करने की शक्ति नही कहा जा सकता। सर्वोच्च न्यायालय ने भी "मूल अधिकारो" के मुकदमे म (1973) ठीक ही अवलोकित किया है कि "ससद सविधान के मूल ढाचे म परिवतन नही कर सकती और सघवाद इसकी आवश्यक विशेषता है।" सविधान सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद ने भारतीय सघ को अविलेय (स्थिर—Indissoluble) सघ की सज्ञा दी और डा० अम्बेदकर ने इसे अविनाशी (अमर—indestructible) सघ की सज्ञा दी। तीसरे, सविधान भारत म दोहरी राजनीतिक व्यवस्था (dual polity) की स्थापना करता है। जसाकि डा अम्बेदकर ने सविधान सभा मे स्पष्ट कहा था कि "सविधान दोहरी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करता है,एक केन्द्र मे और दूसरी राज्यो म और प्रत्येक को सविधान सभा न अपन अपने क्षेत्र मे सम्प्रभु शक्तिया दी है।"[1] इस तथ्य को नही भुलाया जा सकता कि राज्य सरकारें केन्द्र के प्रशासनिक अभिकरण नही। राज्य विधान सभायें लघु (minor) विधान सभाय अवश्य है परन्तु वे ससद के अधीन निकाय नही। राज्य विधान सभाओ की स्थिति नगरपालिकाओ जसी नही और उनके द्वारा पास किये गये कानूनो पर ससद की अनुमति की आवश्यकता नही होती राज्यो के अपने विधायी, प्रशासनिक और वित्तीय क्षेत्र है जिन्हे वे सीधे सविधान से प्राप्त करते हैं केन्द्र से नही।[2] केन्द्र तो स्वय अपनी शक्तियो को सविधान से प्राप्त करता है। सविधान की

1 See C A D Vol, VII p 31

2 C A D Vol VIII p 33

सर्वोच्चता, दोहरी राजनीतिक व्यवस्था और सघ तथा एकाइ का अपने अपने क्षेत्र मे सम्प्रभु होने आदि तत्वो को भारतीय राजनीतिक प्रणाली, अन्य सघीय सविधानो की भांति, स्थायी बनाये रखती है ।

3 अनुच्छेद 249 या अनुच्छेद 352 से 360 तक का सहारा लेकर जो आलोचक भारत को एकात्मक या अर्द्ध सघात्मक राज्य की सज्ञा देते हैं वे भूल जाते हैं कि इन अनुच्छेदो की क्रिया अल्पकालीन रहती है स्थायी नहीं । भारतीय सविधान जहा "राष्ट्रीय हित"[1] म या "सकट की स्थिति"[2] म विशेष प्रावधान करता है वहा वही सविधान "दोहरी परिवर्तनीयता (two-way convertibility)"[3] का आश्वासन भी देता है । यदि राज्य सभा अनुच्छेद 249 के अन्तगत दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव द्वारा ससद को राज्य सूची म दिये गये किसी विषय पर कानून बनाने के लिये अधिकृत कर सकती है तो सविधान यह भी कहता है कि ऐसा कानून एक वर्ष तक ही लागू किया जायगा । इस तथ्य की भी उपेक्षा नही की जा सकती कि जब राज्य सभा जो राज्यो का प्रतिनिधित्व करती है, दो तिहाई बहुमत से किसी प्रस्ताव को पास करती है तो इसका अर्थ है कि वह प्रस्ताव दो तिहाई राज्य विधान सभाओ द्वारा अनुमोदित किया गया है । इस तरह राज्य सभा के प्रस्ताव पर जब ससद राज्य सूची के किसी विषय पर कानून का निर्माण करती है तो इसे राज्य के अधिकार क्षेत्र म केन्द्र या ससद का अनुचित हस्तक्षेप नही कहा जा सकता ।

सकटकालीन शक्तियो का प्रयोग अर्थात अनुच्छेद 352 से 360 तक का प्रयोग केवल सकटकाल म ही हो सकता है और उनका प्रभाव सकटकाल तक ही रहता है जो स्थायी नही होता अल्पकालीन रहता है । उदाहरणतया अनुच्छेद 352 का प्रयोग सामान्य सकट उत्पन्न होने पर किया गया, सघ या सघीय सम्बन्धो को नष्ट करने के लिए नही । यह ठीक है कि अनुच्छेद 356 का प्रयोग अर्थात राज्यो मे राष्ट्रपति शासन (President rule) की स्थापना कई बार राजनीतिक उद्देश्यो से प्रेरित होकर की गयी परन्तु यहा भी राष्ट्रपति शासन को स्थायी नही बनाया गया बल्कि उत्तरदायी सरकार को पुन स्थापित कर दिया गया । एम० वी० पायली ने ठीक लिखा ह कि सकटकालीन शक्तियो का प्रयोग 'उत्तरदायी शासन की पुनर्स्थापना की दृष्टि स किया गया है ।"[4] इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकता कि सकट की घोषणा को ससद के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है और ससद की अनुमति

---

1 Art 249

2 Art 250 and Art 352 to 360

3 See Alexandrowicz C H Constitutional Developments in India (Oxford University Press, p 1957) 159

4 Pylee M V Constitutional Government in India (Asia Publishing House, 1960) p 585

मिलने पर ही उसे जारी रखा जा सकता है। संसद मे राज्यो की जनता का प्रतिनिधित्व होता है, राज्य सभा तो राज्यो का ही प्रतिनिधित्व करती है।

अवशिष्ट शक्तियो अर्थात् अनुच्छेद 248 के आधार भी भारत की राजनीतिक प्रणाली को एकात्मक या अर्द्ध संघात्मक कहना भ्रामक है। प्रथम, कनाडा जसे सघ मे अविशिष्ट शक्तिया केन्द्र को सोपी गयी है। दूसरे, भारतीय संविधान की अनुसूची सात मे केन्द्र और राज्या में शक्तियो का बटवारा इतना विशुद्ध और व्यापक है कि अवशिष्ट शक्तिया के प्रयोग की आवश्यक्ता आज तक अनुभव नही की गयी।

4 अखिल भारतीय सेवायें, एकीकृत न्याय व्यवस्था, एकहरी नागरिकता, सामान्य दीवानी और फौजदारी कानून, राज्यपालो की राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति आदि तत्व राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने म सहायक है। परन्तु ये या अन्य ऐसे ही तत्त्व भारत की सघीय व्यवस्था पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालते। ये सब तत्त्व इस मौलिक तथ्य मे कोई परिवतन नही करते कि केन्द्र और राज्या म समदात्मक प्रणाली विद्यमान रहेगी। राज्य की कायपालिका का राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होना प्रान्तीय स्वायत्तता का प्रतीक है, प्रान्तो की अधीनता का नही इससे प्रान्ता म पर्याप्त स्वतन्त्रता विद्यमान रहती है। प्रो० एलेक्जेण्ड्रोविच ने ठीक लिखा है कि "स्थानीय विधान मण्डल के प्रति पूर्णतया उत्तरदायी स्थानीय कायपालिका पर्याप्त सीमा तक स्थानीय आन्तरिक प्रभुता को सुनिश्चित कर देती है।[1]'

5 एकहरी नागरिकता का तत्त्व भी भारत के सघीय ढाचे पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही डालता। वस्तुत भारत का प्रत्येक नागरिक चाहे वह कही भी निवास करता हो अन्य सघीय देशो के नागरिको की भाति दो प्रकार के (केन्द्र और राज्या के) कानूना का पालन करता है, दो प्रकार के करो को अदा करता है और दो प्रकार के पदाधिकारियो की आज्ञाओ का पालन करता है। एकहरी नागरिकता का तत्त्व राज्य विधान सभाओ के कानूना के प्रति अभक्ति पदा नही करता। यह तत्त्व तो केवल राष्ट्रीय एकता की भावनाओ को पुष्ट करता है।

6 यह सत्य है कि अब तक केन्द्र और अधिकाश राज्यो म राजनीतिक सत्ता एक दल (कांग्रेस) के हाथो मे केन्द्रित होने से केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को अत्यधिक बढावा मिला है। क्योकि कांग्रेस दल का सगठन एकात्मक है और दलीय अनुशासन इसकी माग करता है, केन्द्र और राज्या के सघीय सम्बन्धो पर इसका प्रभाव होना स्वाभाविक है। यह भी सत्य है कि कांग्रेस हाई कमाण्ड के आदेश, निर्देशन और नियन्त्रण पर केन्द्र और राज्य के सघीय विवादो को निपटाया गया है, राज्यो की राजनीति मे हेर फेर किये गये है, मुख्य मन्त्रियो का चयन किया गया है, राज्य मन्त्रिमण्डलो को बनाया या मिटाया गया है, राज्यपालो को नियुक्त या वापस बुलाया गया है, राज्यो मे राष्ट्रपति शासन लागू किया गया है। परन्तु ये सब उस

1 Alexandrowicz, C H, Ibid, p 168 169,

समय तर सम्भव है जब तक काग्रेस का केन्द्र और राज्यो पर वहुत नियन्त्रण है। ज्योंही यह वहुत नियन्त्रण विच्छिन्न होता है या 1967 के चुनाव परिणामो की पुनरावृत्ति होती है (जसा कि जून 1975 के गुजरात चुनावा के बाद जनता मोर्चे की सरकार का निर्माण हुआ है) या 1969 की भाति काग्रेस का विभाजन होता है या डी० एम० के० जैसी क्षेत्रीय भावनाओ पर आधारित क्षेत्रीय राजनीतिक दलो का विकास होता है या पश्चिमी वगाल और तमिलनाडु जैसे प्रादेशिक काग्रेस दलो की भाति अपनी ससजकता (Cohesiveness) और सावजनिक गतिशीलता (Public mobility) के कारण, केन्द्र के नियन्त्रण से पर्याप्त स्वत त्रता प्राप्त कर सकते हैं[1] तो भारत म राजनीतिक विकन्द्रीकरण की शक्तियो को बल मिलना स्वभाविक है। इन स्थितिया म केन्द्र और राज्या के सम्ब ध सघीय प्रणाली पर ही आधारित रह सकते है। इस तथ्य की भी उपेक्षा नही की जा सकती कि भारत के विशाल क्षेत्र का, जिसम भिन्न भिन्न धर्मो वाली भिन्न भिन्न भाषाओ वाली जातिया निवास करती है सघात्मक आधार पर ही सगठित रखा जा सकता है और इनम क्षेत्रीय नेतृत्व का विकास, जिसके चिन्ह अनेक राज्यो मे आज भी विद्यमान है, स्वभाविक है। पचायती राज भी क्षेत्रीय नतृत्व के विकास मे सहयोग ही प्रदान करेगा। रावट एल हाडग्रेव जूनियर ने ठीक लिखा है कि "राज्य ही ऐसे क्षेत्र हैं जहा राजनीति मे भाग लेन की प्रवृति मे नाटकीय विस्तार हो सकता है, य ही एस केन्द्र स्थन है जहा उभरती हुइ मागें पेश की जा सकती हैं ये ही भारत के राजनीतिक विकास के परीक्षा स्थल हैं।[2]

उपयु क्त वणन से स्पष्ट है कि भारत अपन ही ढग का एक विचित्र सघ है। सविधान केन्द्र को शक्तिशाली बनाते हुए भी सघीय सिद्धा ता को मान्यता दता है। यद्यपि यह शास्त्रीय परम्परागत ढग के सघ से मेल नही खाता परन्तु फिर भी इसम आवश्यक सघीय विशेषताय विद्यमान है। यह भि न भि न राज्या स मिल कर बना है इसमे दोहरी राजनीतिक व्यवस्था है,इसमे विषया का विशुद्ध एव व्यापक विभाजन है, राज्या के मन्त्रिमण्डल राज्य विधान सभाओ क प्रति उत्तरदायी हैं। जसाकि अलेक्जेन्डोविच न लिखा ह कि "भारत नि स देह एक सघ है जिसमे सम्पभुता केन्द्र और राज्या म विभाजित है।[3]' आइवर जेनिंग्स न भी लिखा ह कि भारत "सुदृढ के साथ एक सघ है।"

---

1 See Franda, Marcus F Ibid, pp 179, 190, 201-204
2 Hardgrave Jr Robert L India Government and Politics in a Developing Nation (Harcourt Brace & World Inc New York 1970) p 83
3 See Alexandrowicz, Ibid C H Ibid p 169

## भारतीय सघवाद का सहकारी स्वरूप
## (Co operative Aspect of Indian Federalism)

पिछले प न्ना मे जो विचार व्यक्त किये गये है उनसे स्पप्ट है कि सघवाद कोइ निश्चित या स्थायी विचारधारा नही । समय और परिस्थितियो की आवश्यकताओ ने शास्त्रीय या परम्परागत सघवाद की विचारधारा म परिवतन ला दिए है । आधुनिक सघीय राज्यो की प्रकृति शास्त्रीय या परम्परागत सघीय राज्यो से मेल नही खाती । इनकी प्रकृति मध्यम मार्गी है । इनकी प्रकृति, जसाकि रानाल्ड ज० मे० न लिखा है "एकात्मक सरकार और सम्प्रभु राज्यो के ढीले सघ के बीच की है ।" आधुनिक सघीय राज्यों मे केन्द्रीय और एकको की सरकार समकक्ष और स्वायत्त हाते हुए भी "एक ही प्रणाली के अभिन्न अ ग समझी जाती है जिसम अनेक अतिव्यापी उप प्रणालियां विद्यमान होती ह ।" केन्द्र और एकको की सरकारे अपन सामान्य उद्देश्यो (लोक कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यो) को प्राप्त करने के लिए एक दूसरे पर अत्यधिक निभर होती ह ।

भारतीय राजनीतिक प्रणाली सहकारी सघवाद का प्रमुख एव महत्त्वपूर्ण उदाहरण है । इस सहकारी सघ मे केन्द्रीय और राज्य सरकारो म सहयोग की भावना व्याप्त है । इसमे प्रतिद्वन्दिता, सघष और दमन के स्थान पर प्रयोग, सहयोग, समन्वय और अनुनय पर बल दिया जाता ह । इसम प्रान्तीय या क्षेत्रीय स्वायत्तता के नाम पर न तो प्रादशिक अखण्डता की माग की जाती है और न ही पारस्परिक सहयोग की बलि दी जाती है । इसमे राष्ट्र की समस्याओ का निराकरण करन के लिए राष्ट्र के समूचे स्रोतो को जुटाया गया है । इसकी मान्यता है कि निधनता और बेरोजगारी की समस्याए, बीमारी, दुर्भिक्ष और बाढ जसी प्राकृतिक विपदायें, सामाजिक और जातीय भेदभाव की सामाजिक समस्याए तथा आर्थिक शोषण आदि की समस्याए किसी प्रदेश या क्षेत्र से सम्बन्धित नही । इसका विश्वास है कि इन तथा अन्य ऐसी ही समस्याओ का निराकरण सामाजिक और आर्थिक नियोजन तथा परस्पर सहयोग द्वारा ही हो सकता है ।

भारतीय सविधान निर्माताओ का दृष्टिकोण पारिवारिक था । व समूचे राष्ट्र के हितो म प्रभावित थे, प्रान्तीय हितो से नही । उन्होने अखण्ड, सहकारी भारत की कल्पना की जिसम सभी सदस्य पारिवारिक सुरक्षा का आनन्द प्राप्त करें और उसकी सामाजिक और आर्थिक सम्पन्नता के लिए परस्पर सहयोग करें । जैसाकि आस्टिन न लिखा ह कि "वे एक परिवार के सदस्य थे, उन्ह पहली बार अपने घर की मिलकियत प्राप्त हुई थी । उसम उन्ह इकट्ठे रहन का रास्ता ढूँढना था । यदि उनके जीवन का ठप्प नही होना था तो उन्ह पारस्परिक सन्तापजनक समझौते के आधार पर सदस्यो के सम्बन्धो का निर्धारित करना था । यह सहकारी सघ के आधार पर हो सकता था ।"[1]

---

1 Austin, Granville The Indian Constitution, Cornerstone of a Nation, p 192

इससे पूव कि उन सवैधानिक और गैर सवैधानिक (extra constitutional) सस्थाओ का उल्लेख किया जाय जो भारतीय राजनीतिक प्रणाली को सहकारी सघ का स्वरूप देने मे सहयोग देती है, सहकारी सघ के अथ को स्पष्ट रूप से समझ लेना अध्ययन की दृष्टि से लाभकारी होगा।

**सहकारी सघ का अथ (Meaning of Copperative Federalism)**—सहकारी सघ एक ऐसा सघ होता है जिसमे "सघीय और क्षेत्रीय सरकारें एक दूसरे पर वद्ध मान रूप से निभर करती हैं।"[1] अर्थात दोनो सरकारें सामान्य राष्ट्रीय एव लोक कल्याणकारी उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए एक दूसरे के सहयोग पर निभर करती हैं। जितनी माता मे यह "पारस्परिक सहयोग" और 'पारस्परिक समझ" (mutual understanding) उपलब्ध होती है उतनी माता मे सघीय और क्षेत्रीय सरकारे अपने सामान्य उद्देश्यो को प्राप्त कर सकती हैं। इस दृष्टि से दोनो सरकारें "एक ही शासन व्यवस्था के परस्पर परिपूरक अ ग' समझी जाती हैं।

सहकारी सघ के विचार का विकास यद्यपि बीसवी शताब्दी की तीसरी और चौथी दशाब्दी मे हो चुका था पर तु इसका अत्यधिक प्रयोग द्वितीय महायुद्ध के बाद हुआ है। सहकारी सघ के विकास ने सघ की परम्परागत विचारधारा का नष्ट नही किया वल्कि उसका विस्तार कर उसे एक नई दिशा पदान की है।

**सहकारी सघ की विशेषताये (Main Features of Cooperative Federalism)**—सहकारी सघ की मुख्य विशेषतायें निम्न ह —

1 जहा सघ के परम्परागत सिद्धा त म सघ और एकका की सरकारे अपने अपने निर्धारित क्षेत्र मे एक दूसरे से स्वतन्त्र समझी जाती है अर्थात् अपने अपने निर्धारित क्षेत्र मे सम्प्रभु समझी जाती ह वहा सहकारी सघ मे व समकक्ष और स्वायत्त हाते हुए भी उनमे पारस्परिक सहयोग और पारस्परिक समझ पर बल दिया जाता है। सहकारी सघ म सघ और एकको म प्रतिद्वद्विता, सघष और दमन के स्थान पर प्रयोग, सहयोग समन्वय और अनुनय पर बल दिया जाता ह।

2 सहकारी सघ म सघीय सरकार एकको की सरकारो की तुलना म, सवधानिक तौर पर, अधिक सुदृढ, शक्तिशाली और महत्वपूर्ण होती है। विशेष परिस्थितियो मे तो सघीय सरकार की स्थिति प्रधान और निर्णयात्मक होती है।

3 सहकारी सघ मे एकको को सघीय स्रातो स अनुदान दन की व्यवस्था होती है। यद्यपि सघ और एकका क वित्तीय स्रोत पृथक पृथक होते हे पर तु एकक सामान्यत अपनी विकासवादी याजनाओ की कार्यान्विति के लिये सघीय अनुदानो पर निभर करते हैं।

4 सहकारी सघ मे राष्ट्र के समूचे धन का प्रयोग सभी क्षेत्रा के समुचित विकास क लिये किया जाता है। यही कारण है कि सहकारी सघ मे सामाजिक और आर्थिक नियोजन पर सघीय सरकार का नियन्त्रण होता है।

---

1 Austin, Granville The Indian Constitution Corner stone of a Nation, p 187

5 सहकारी सघ और एकको या परस्पर एकको के विवादो का निपटारा करने के लिये मुकदमेबाजी का सहारा नही लिया जाता बल्कि गोष्ठियो, सम्मेलना और क्षेत्रीय परिषदो का सहारा लिया जाता है। कुछ परिस्थितियो म विवादा को निपटाने की शक्ति सघीय सरकार को ही सौंप दी जाती है ताकि मुकदमेबाजी को बढावा न मिले। उदाहरणतया, भारत मे नदिया के जल से उत्पन्न होने वाले विवादो का निपटारा ससद कानून द्वारा कर सकती है[1] राष्ट्रपति चाहे तो ऐसे विवादो पर भी सर्वोच्च न्यायालय से परामश ले सकता है।

## सहकारी सघ की सस्थायें
### (Institutions of Co operative Federalism)

जिन सवैधानिक और गैर सवैधानिक सस्थाओ ने भारत की राजनीतिक प्रणाली को सहकारी सघ का स्वरूप देने म सहयोग दिया है उनम मुख्य निम्न है —

1 **योजना आयोग (Planning Commission)**—योजना आयोग एक ऐसी गर सवैधानिक (extra-constitutional) सस्था है जिसने सहकारी सघ के विकास मे अत्यधिक योगदान दिया है। इसे ठीक ही "सहकारी सघ (Co operative Federalism) और "सयुक्त प्रशासन" (Coalition Administration) की सज्ञा दी गयी है। परन्तु कुछ लेखक ऐसे भी है जो योजना आयोग को राज्यो के क्षेत्राधिकार मे हस्तक्षेप का "नकाब" मानते हैं। इनका कहना है कि जब योजना आयोग ही योजनाओ को निर्मित करता है, उन पर निर्णय लेता है, निर्देशन देता है तथा उनकी पूर्ति के लिये अधिकाश धन-राशि देता है तो राज्यो के पास शेष करने को रह ही क्या जाता है।[2] के० सन्थानम का विश्वास है कि योजना आयोग ने सघीय ढाचे को ही विस्थित (supresede) कर दिया है। यह सत्य है कि प्रावधिक और आर्थिक सहायता प्रदान करने के कारण योजना आयोग राज्यो को निर्देशन देने की स्थिति म है परन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि उसन सघीय ढाचे का विस्थित कर दिया है। योजना आयोग द्वारा आयोजित गोष्ठियो और सम्मेलनो तथा उसके द्वारा जारी किये गये निर्देशनो का उद्देश्य योजनाओ के कायक्रम को पूरा करना तथा लोक कल्याणकारी और विकसवादी कार्यों को सफल बनाना होता है। इस तरह योजना आयोग 'सहयोग' और 'साझेदारी' का अद्वितीय उदाहरण है। आयोग सामाजिक और आर्थिक योजनाओ को निर्धारित करते समय राज्यो के विचारो की उपेक्षा नही करता बल्कि उनका आदर करता है। आयोग इस बात को नही भूलता कि जहा योजनाओ का निर्मित करने मे उसकी स्थिति निर्णयात्मक है वहा उनकी कार्यान्विति राज्यो के आर्थिक स्रोतो और इच्छा पर निर्भर करती है। राज्यो म योजनाओ की

1 See Art 262
2 See Rao K V Planning and the Problem of Administration in Indian Journal of Pol Sc Vol XIV, No 4 p 367 Quoted by Johari J C Ibid, p 174 Rao says The Centre plans the Centre decides, the Centre directs and the States are unable to do anything positive except waiting at the door of the Planning Commission for doles

कार्यान्विति के लिये राज्य विधान सभाओ की अनुमति की आवश्यकता भी होती है जहा उन्हे चेतावनी भी दी जा सकती है।

भारत के सामाजिक और आर्थिक नियोजन मे सहकारिता का प्रत्यक्ष उदाहरण राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) की स्थापना है। इस परिषद् मे केवल योजना आयोग के सदस्य ही नही होते बल्कि केन्द्रीय मन्त्रि मण्डल के सदस्य और राज्यो के मुख्य मन्त्री भी शामिल होते है। राष्ट्रीय विकास परिषद मे योजना आयोग के निर्णयो का थोपा नही जाता बल्कि इसमे प्रजातान्त्रिक ढग से विचार विमर्श के बाद निर्णय लिय जाते हे। परिषद म लिये गये निर्णयो का आदर केन्द्र और राज्य सामान्यत करते है। इस दृष्टि मे परिषद् 'सर्वोपरि मन्त्रि मण्डल' (Super Cabinet) है अर्थात यह ऐसा मन्त्रिमण्डल है जो सघ और राज्य सरकारो के लिय कार्य करता है।

2 क्षेत्रीय परिषदें (Zonal Council)—य वैधानिक सस्थायें हैं। इनकी स्थापना सन् 1956 म राज्यो के पुनर्गठन के बाद की गयी थी। इनकी स्थापना पडोसी राज्यो मे पारस्परिक सहयोग की भावना उत्पन्न करने के लिये की गयी थी। क्योकि ये परिषदें क्षेत्र म सम्मिलित राज्यो म सामूहिक चिन्तन की आदत पदा करती है इसलिये ये राज्यो मे भावात्मक एकता उत्पन्न करन म सहायक हो सकती है। इन परिषदो के माध्यम से राज्यो म अनावश्यक प्रतिद्वद्विता को समाप्त किया जा सकता है, सीमा विवादो, भावात्मक अल्पमत वालो (Linguistic minorities) की समस्याओ का समाधान किया जा सकता है तथा अन्तराज्यीय परिवहन (Inter State Transport)क्षेत्र म सम्मिलित राज्यो की विधायी और कार्यपालिका शक्तियो पर किसी प्रकार की आच आये बिना क्षेत्र क मानवीय और भौतिक साधनो का क्षेत्र के सामूहिक विकास क लिए प्रयोग किया जा सकता है।

क्षेत्रीय परिषदें ऐसी अन्तर्राज्यीय मच (Inter State forum) है जहा सामान्य हित के विषयो पर विचार विमर्श किया जाता है, भिन्न भिन्न दृष्टिकोणो एव विचारो का अभिव्यक्त किया जाता है, उनमे समन्वय किया जाता है तथा राष्ट्रीय हित म समझौते किय जात हैं। परिषदें क्षेत्र म सम्मिलित राज्यो के लिय सामान्य मिलन स्थल (A common meeting ground) हैं जहा सहकारी प्रयासो म राज्यो का सम्मिलित किया जाता है ताकि क्षेत्र क सामाजिक और आर्थिक विकास योजनाओ म एक दूसरे का सहयोग प्राप्त किया जासके। राष्ट्रीय एकता एव सुदृढता का उत्पन्न करन तथा विघटनकारी शक्तियो का दमन करन म परिषदें 'रामबाण' सिद्ध हो सकती हैं। यह बात ध्यान देन की है

परिषद एक विचार विमर्शात्मक और परामर्शदात्री निकाय है। इसके निर्णय बाध्य नहीं होते यद्यपि सामान्यत उनका आदर किया जाता है। इसम निर्णय सामान्य सहमति से लिय जाते हैं। सामान्य हित के विषयो पर विचार विमर्श करने के लिय दो क्षेत्रीय परिषदो की सामान्य बठक का भी आयोजन किया जा सकता है।

परिषदो के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं

( i ) देश मे भावात्मक एकता के उद्देश्य को प्राप्त करना।

( ii ) प्रान्तवाद, क्षेत्रवाद और भाषावाद की प्रवृत्तियो के विकास को रोकना।

(iii) सामाजिक और आर्थिक विकास के क्षेत्र म राज्यो और केन्द्र म सहयोग की भावना उत्पन्न करना तथा विचार विमर्श द्वारा ऐसी सामान्य नीतियो का अनुसरण करना जो सामान्य हित मे सहायक है और सामाजवादी समाज (Socialist society) के उद्देश्य को प्राप्त करने मे भी सहायता देती है।

(iv) मुख्य विकासवादी योजनाओ म एक दूसरे का सहयोग करना।

( v ) देश के भिन्न क्षेत्रो मे किसी प्रकार के राजनीतिक सन्तुलन (Political equilibrium) को प्राप्त करना।

प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद मे एक केन्द्रीय मन्त्री (जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और जो परिषद् का चेयरमन (अध्यक्ष) होता है क्षेत्र म आने वाले राज्यो के मुख्य मन्त्री तथा प्रत्येक राज्य मे अन्य दो दो मन्त्री (जिनकी नियुक्ति सम्बन्धित राज्यपाल करता है) सदस्य होते है। परिषद का एक सचिवालय भी होता है जिसमे एक सचिव, सह सचिव और अन्य पदाधिकारी भी होते है। क्षेत्र मे आने वाले राज्यो के मुख्य सचिव बारी बारी से सचिवालय का प्रधान होता है। परिषद की बठको मे, इन सदस्यो के अतिरिक्त, क्षेत्र म आने वाले सभी राज्यो के विकास आयुक्त (Development Commissioner) और योजना आयोग का एक सदस्य परामशदाता के रूप मे भाग लेते हैं।

क्षेत्रीय परिषदें क्षेत्रीय सहयोग के अद्वितीय उदाहरण हैं। ये इस बात की प्रतीक हैं कि प्रशासनिक आधार पर राज्यो का विभाजन होने पर भी एक क्षेत्र के लोग सामान्य समस्याओ का सामान्य हल ढूढ सकते हैं और सामान्य विकास योजनाओ का निर्माण कर सकते हैं—विद्युत शक्ति का समन्वित विकास इसका मूल उदाहरण है। एम० वी० पायली ने ठीक लिखा है कि "क्षेत्रीय परिषदो न पडौसी राज्यो मे सामान्य समस्याओ पर सहयोग की भावना की प्रवृति मे वृद्धि की है।"[1]

3 सकटकालीन व्यवस्थायें—ये सवैधानिक व्यवस्थायें हैं। यह ठीक है कि सघीय सरकार इन शक्तियो का (अनुच्छेद 352 से 360 तक का) प्रयोग करके, बिना सवधानिक सशोधन के, भारत के सघात्मक स्वरूप को एकात्मक स्वरूप मे बदल सकती है परन्तु सकट तो ऐसी गम्भीर स्थिति होती है जिसका सामना गम्भीर उपायो से ही हो सकता है और जब कभी सगठित सरकारो के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हुआ है तभी उन्होंने अपने अस्तित्व को बचाने के लिये ऐसे कदम उठाये हैं। भारतीय सविधान की विशेषता यह है कि वह इन गम्भीर स्थितियो का सामना

1 Pylee, M V Ibid, p 601

करने के लिये तथा देश की अखण्डता को बचाने के लिये सवैधानिक व्यवस्था करता है। पिछले 25 वर्षों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि सकटकालीन शक्तियो का प्रयोग भारत की सघीय व्यवस्था को नष्ट करने के लिये नही बल्कि उसे "सहारा" देने एव उसे "सुदृढ" करने के लिए किया गया है। जैसाकि श्रीराम शर्मा ने कहा कि "सघ द्वारा असाधारण शक्तियो के ग्रहण करने से सघ और राज्यो के सम्बन्धो पर कोई आधारभूत प्रभाव नही पडा।'[1] यह सत्य है, कि कभी कभी अनुच्छेद 356 का प्रयोग, अर्थात् राज्यो मे राष्ट्रपति शासन को लागू करने की व्यवस्था का प्रयोग, दलीय भावनाओ से प्रभावित होकर किया गया परन्तु सामान्यतया इसका प्रयोग उस समय किया गया जब राज्य मन्त्रिमण्डलो ने इसकी स्वयं माग की या राज्य की राजनीति अस्थिर और अस्पष्ट होने से उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना कठिन था। कई बार तो केन्द्र ने प्रान्तो मे स्वतन्त्र निर्वाचन कराने के उद्देश्य से इनका प्रयोग किया। इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता कि सकट के समाप्त होते ही प्रान्तो मे उत्तरदायी सरकारों की स्थापना पुन कर दी गयी।

**4 वित्त आयोग (Finance Commission)**—वित्त आयोग भी एक सवैधानिक सस्था है जिसने सहकारी सघ के विकास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यद्यपि आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है परन्तु इसने अपने प्रतिवेदनो मे स्वतन्त्र और निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाया है। यह राजनीतिक दबावो से अछूता रहा है। इसने अपने प्रतिवेदनो मे ऐसे सुझाव दिये हैं जो सघ की वित्त व्यवस्था को स्थिर बनाते है। जैसाकि एक लेखक ने लिखा है कि "वास्तव मे आयोग सघ और राज्यो के बीच एक ऐसे प्रत्यावरोध का काम करता है जो एक ओर तो निरतर अधिक वित्त की माग करने वाले राज्यो मे राजनीतिक दबाव से सघ की रक्षा करता है और दूसरी ओर आवश्यकता ग्रस्त राज्यो को यथासम्भव सहायता प्राप्त कराने के लिये सघ को विवश करता है।"[2] सघ के लिए वित्त आयोग की सिफारिशो की उपेक्षा करना कठिन है।

आज तक कुल 6 वित्तीय आयोगो को नियुक्त किया गया है। केन्द्र ने इनकी सिफारिशो को यथासम्भव स्वीकार किया है। वित्तीय आयोग की सिफारिशो मे राज्यो को लाभ ही हुआ है। राज्यो को अनुदान मे दी जाने वाली राशि वित्तीय आयोग की सिफारिशो पर निर्धारित की जाती है, केन्द्र के स्वनिर्णय (discretion) पर नही। एक दृष्टि से तो केन्द्र के वित्तीय स्रोतो से राज्यो को अनुदान की व्यवस्था राज्यो द्वारा केन्द्रीय क्षेत्र मे हस्तक्षेप कहा जा सकता है। परन्तु यह व्यवस्था भारत के सभी क्षेत्रो के समुचित विकास के लिये की गयी है।

---

1 Sharma, Sri Ram, Ibid, p 47

2 एम० पी० राय की पुस्तक "भारतीय राजनीति एव शासन (College Book Depot, Jaipur 2) से उद्धृत, पृ० 251

5 अन्य संस्थायें—भारतीय संविधान अन्य अनेक संस्थाओं का निर्माण करता है जो भारत की राजनीतिक व्यवस्था को "सहकारी" स्वरूप देने में सहायक है। ये संस्थायें मुख्यत निम्न हैं—

(a) यह सत्य है कि राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक एवं मुख्य निर्वाचन आयुक्त की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है परन्तु ये सभी पदाधिकारी ऐसे पदों पर विद्यमान हैं जो स्वतन्त्र निकाय के रूप में कार्य करते हैं। संविधान भी इन पदाधिकारियों की सेवाओं की सुरक्षा करता है। उनके वेतन भारत की संचित निधि पर प्रभार होते हैं और उन्हें विशेष प्रक्रिया द्वारा ही पदच्युत किया जा सकता है। नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक और मुख्य निर्वाचन आयुक्त की स्वतन्त्रता इतनी अधिक रखी गयी है कि पद निवृत होने पर वे किसी सार्वजनिक पद पर नियुक्त नहीं किये जा सकते।

(b) अखिल भारतीय सेवायें यद्यपि केन्द्र के अधीन हैं परन्तु इन पर केन्द्रीय लोक सेवा आयोग (UPSC) का नियन्त्रण है जो स्वतन्त्र और निष्पक्ष निकाय के रूप में कार्य करती है। इन सेवाओं के सदस्य न तो केन्द्र के कठपुतली मात्र होते हैं और न ही राज्यों के (जहां वे अपनी सेवाओं का अधिकांश समय व्यतीत करते हैं।) वस्तुतः इन सेवाओं का अपना पृथक, स्वतन्त्र और निष्पक्ष अस्तित्व होता है। ये भारतीय प्रशासन की "रीढ़ की हड्डी है।" ये दलबन्दी के स्वार्थों से प्रभावित नहीं होते बल्कि राष्ट्रीय हित से प्रभावित होते हैं। इन सेवाओं में ... होता है, एक तरफ राज्यों को योग्य सेवाओं की ... हो जाती है और दूसरी तरफ सारे देश का प्रशासन एक कड़ी में ... है। इन्हें ठीक ही ... समीकरण और एकता प्राप्ति के उपकरण कहा ... है।'

(c) एकल न्यायिक व्यवस्था ने ... में ... दिया है। भारत की निम्न से निम्न न्यायालय भी (भारत में अमरीका की भांति निम्न संघीय न्यायालय नहीं है) संघीय कानूनों की अवहेलना के ... की सुनवाई कर सकती है। इस दृष्टि से तो यह एकको का संघीय क्षेत्र में ... है।

(d) संघ के अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों ने भी सहकारी संघ के ... सहयोग दिया है। इन उत्तरदायित्वों में ... का ही नाम ... है। ... शिक्षा स्वास्थ्य कार्य की शर्तों सामाजिक ... अन्तर्राष्ट्रीय ... को निभाने से राज्यों का नाम ... है क्योंकि ये सब विषय या तो राज्य ... या समवर्ती सूची में। यदि इन उत्तरदायित्वों के निभाने में ... में हस्तक्षेप समझा जाता है तो ... अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों ... केन्द्र की प्रभुता में हस्तक्षेप है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय संविधान ... जाता उदाहरण है।'[1]

---

[1] See Sharma S R. Ibid, p 49

## समीक्षा प्रश्न

### (Review Questions)

1 "भारतीय सविधान निर्माताओ ने भारत मे "सघ" के स्थान पर "राज्यो के सघ" की स्थापना की है ।"

2 "भारतीय सविधान अ सघात्मक अर्थात् एकात्मक सविधान है ।" (डा० के० पी० मुखर्जी) क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? कारण लिखिये ।

3 "भारतीय सविधान के अनुसार सरकार का ढाचा सघात्मक है परन्तु यह ढाचा इतना कठोर है कि वह एकात्मक है ।" विवेचना कीजिये ।

4 "सामान्यतया भारत का सविधान सघात्मक है परन्तु सकट काल म यह एकात्मक रूप ग्रहण कर लेता है" व्याख्या कीजिय ।

5 "भारतीय सविधान एक साथ सघात्मक और एकात्मक है ।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए ।

6 "भारतीय सविधान मे सघात्मक और एकात्मक विशेषताओ का मिश्रण विश्व म विचित्र है ।" विवचना कीजिए ।

7 "भारतीय सविधान एक ऐसे एकात्मक राज्य की स्थापना करता है जिसम सघीय तत्व गौण है न कि एक ऐसे सघात्मक राज्य की जिसमे गौण रूप से एकात्मक तत्व हो ।' (ह्वीयर) इस कथन की समीक्षा कीजिए ।

8 भारतीय सविधान "अर्द्ध सघात्मक" (quasi federal) है । क्या आप इस दृष्टिकोण से सहमत है ? कारण सहित उत्तर लिखिये ।

9 "सघीय राज्य का स्वरूप अन्तिम रूप मे दलीय व्यवस्था और आर्थिक विकास की प्रक्रिया पर निभर करता है ।" क्या आप इस कथन से सहमत है ? भारतीय अनुभव के आधार पर इस कथन की समीक्षा कीजिये ।

10 "भारतीय सघवाद का स्वरूप सहकारी है" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? उन सस्थाओ का वर्णन कीजिये जो इस सहकारी सघ के क्रियाशील होने मे सहायक है ।

अध्याय **5**

# संघ-राज्य सम्बन्ध

## (Union-State Relations)

संविधान के भाग XI के 19 अनुच्छेदों में (अनुच्छेद 245 से अनुच्छेद 263 तक) संघ राज्य सम्बन्धों का वर्णन सविस्तार किया गया है। संविधान का यह भाग 2 अध्यायों में विभक्त है। अध्याय एक में ग्यारह अनुच्छेद हैं (अनुच्छेद 245 से अनुच्छेद 255 तक) जो संघ राज्य के विधायी सम्बन्धों का उल्लेख करते हैं, अध्याय दो में आठ अनुच्छेद हैं (अनुच्छेद 256 से अनुच्छेद 263 तक) जो संघ-राज्य में प्रशासनिक सम्बन्धों का उल्लेख करते हैं। भाग XI का अध्याय एक सूची प्रणाली (List System) को अभिव्यक्त करता है। अनुसूचि 7 (Schedule VII) में विषयों की तीन सूचियों का उल्लेख है जिन्हें क्रमशः संघीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची कहा गया है। भाग XI और अनुसूचि VII के अतिरिक्त संविधान के अन्य भागों में अनेक अनुच्छेद बिखरे पड़े हैं जो संघ राज्य सम्बन्धों को गम्भीरतापूर्वक प्रभावित करते हैं।

संघ-राज्य सम्बन्धों का अध्ययन निम्न तीन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है —

A संघ और राज्य में विधायी सम्बन्ध।

B संघ और राज्य में प्रशासनिक सम्बन्ध।

C संघ और राज्य में वित्तीय सम्बन्ध।

### A संघ और राज्य में विधायी सम्बन्ध

### (Legislative Relations between the Union & the State)

संघात्मक शासन की एक अनिवार्य आवश्यकता संघ और उसके एककों में विधायी शक्तियों का विभाजन है। शक्तियों का यह विभाजन सामान्यतः दो आधारों पर किया जाता है। एक आधार तो वह है जिसमें संघ की शक्तियों को परिगणित एवं निर्दिष्ट (enumerated & specified) किया जाता है और अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Powers) संघ के एककों को सौंप दी जाती हैं। अमरीका और आस्ट्रेलिया में शक्तियों के विभाजन के इसी आधार को स्वीकार किया गया है। रूस में भी अवशिष्ट शक्तियाँ संघ के एककों के पास हैं। दूसरा आधार वह है

जिसमे सघ के एकको की शक्तियो को परिगणित एव निर्दिष्ट किया जाता है और अवशिष्ट शक्तिया सघ या केन्द्र (Union or Centre) को सौंप दी जाती है। कनाडा मे शक्तियो के विभाजन के इस आधार को स्वीकार किया गया है। शक्तिया के विभाजन मे, न्यूनाधिक मात्रा मे, भारतीय सविधान कनाडा सविधान का अनुसरण करता है परन्तु फिर भी शक्तियो के विभाजन मे भारतीय सविधान की अपनी विशिष्ट विशेषतायें है।

कार्यपालिका शक्ति विधायी शक्ति की सहविस्तारी[1] होती है। इसलिये भारत के सविधान निर्माताओ ने विधायी शक्तियो का विभाजन सूक्ष्म, विस्तृत एव स्पष्ट किया है। यह विभाजन इतना विस्तृत एव स्पष्ट है कि सघ और राज्य के विधायी क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध मे विवाद या मुकदमेबाजी की गुन्जाइश ही नही रहती।

**ससद और राज्य विधान सभा की विधायी शक्तिया**—सविधान के भाग XI के अध्याय एक के ग्यारह अनुच्छेदो मे (अनुच्छेद 245 से अनुच्छेद 255 तक) सघ और राज्य के विधायी सम्बन्धो का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 31(3), 200, 288(2), 304(b), 356, 537 जसे अनेक अनुच्छेद सविधान के अन्य भागो मे बिखरे पडे है जो सघ-राज्य के विधायी सम्बन्धो को प्रभावित करते है।

अनुच्छेद 245 के अनुसार ससद सारे भारत या उसके किसी भाग के लिये कानून का निर्माण कर सकती है जबकि राज्य विधान सभा राज्य या उसके किसी भाग के लिये ही कानून का निर्माण कर सकती है। दूसरे शब्दो मे, जहा राज्य विधान सभा की विधायी शक्तियो मे क्षेत्रीय सीमायें है वहा ससद की विधायी शक्तियों मे कोई क्षेत्रीय सीमायें नही। सविधान तो ससद के क्षेत्रातीत अधिकारों (extra territorial powers) की बात भी करता है परन्तु ससद के क्षेत्रातीत अधिकारो की बात अनावश्यक है क्योकि भारतीय ससद द्वारा बनाये गये कानून दूसरे देशो मे लागू नही होते। विदेशो मे गये भारतीय नागरिको पर ये कानून अवश्य लागू होते है परन्तु इन कानूनो के अन्तर्गत तभी कार्यवाही की जा सकती है यदि व भारतीय नागरिक भारत लौट आयें।

दूसरे, सविधान इस बात की स्पष्ट व्याख्या करता है कि यदि कोई प्रान्तीय (राज्य) कानून सघीय कानून के विपरीत है तो प्रान्तीय (राज्य) कानून उस मात्रा तक अवैध (void) होगा जिस मात्रा तक वह सघीय कानून के विपरीत है। दूसरे शब्दो मे सघीय सूची को राज्य सूची और समवर्ती सूची से प्राथमिकता दी जाती है और समवर्ती सूची को राज्य सूची से प्राथमिकता दी जाती है।

अनुच्छेद 246 के अनुसार ससद को सघीय सूची मे उल्लिखित विषयो पर कानून बनाने का एकमात्र अधिकार प्राप्त है। राज्य विधान सभाओ को राज्य सूची

---

1 See Gupta, D C Indian National Movement and Constitutional Development p 534

मे दिये गये विषयो पर कानून बनाने का एकमात्र अधिकार है। ससद और राज्य विधान सभायें दोनो ही समवर्ती सूची म उल्लिखित विषयो पर कानून का निर्माण कर सकती है। परन्तु यदि समवर्ती सूची म दिये गय किसी विषय पर राज्य विधान सभा के कानून और उसी विषय पर ससद द्वारा बनाये गये कानून म कोई विरोध होता है तो ससद द्वारा बनाया गया कानून ही लागू (मान्य) होता है और राज्य विधान सभा द्वारा पास किया गया कानून उस मात्रा तक प्रभाव शून्य होता है जिस मात्रा तक वह ससदीय कानून के विपरीत होता है। परन्तु यदि राज्य विधान सभा समवर्ती सूची म दिये गय किसी विषय पर कानून निर्माण करते समय राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर लेता है तो ससद द्वारा पास किया गया कानून उस राज्य म लागू नही होता।

**सघीय सूची** सघीय सूची म 97 विषय हैं। इस सूची म उल्लिखित विषय मात्रा और गुणो की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सख्याओ मे इस सूची मे सबसे अधिक विषय लिखे गये है और गुणो की दृष्टि से राष्ट्रीय महत्त्व के सारे विषय इस सूची मे लिखे गये है। सघीय सूची म दिये गये विषयो का महत्व इस कारण भी बढ जाता है कि ससद सावजनिक हित मे कानून द्वारा उद्योग धन्धो पर सघ का नियन्त्रण स्थापित कर सकती है। सन् 1971 म कोयले की खानो पर केन्द्र का नियन्त्रण सावजनिक हित मे ससद मे कानून द्वारा किया गया था। इसी प्रकार जामिया मिलिया, इण्डियन स्कूल ऑफ इण्टरनेशनल स्टडीज तथा गुरुकुल विश्वविद्यालय को राष्ट्रीय महत्त्व की सस्थायें समझ कर केन्द्र के नियन्त्रण म रखा गया है। मुख्य सघीय विषय हैं—सुरक्षा, विदेशी मामले, युद्ध और शान्ति, डाक, तार, रेल, मुद्रा बीमा, बैंक, परमाणु शक्ति, शेयर बाजार, विदेश व्यापार, अन्तर्राज्यीय व्यापार एव वाणिज्य नियमन तथा विनियमन, जनगणना, लोक ऋण, विदेशी ऋण, आय कर, सीमा शुल्क आदि।

**राज्य सूची** राज्य सूची म कुल 66 विषय हैं। स्थानीय महत्त्व के सभी विषयो को राज्य सूची म उल्लिखित किया गया है। राज्य सूची म रखे गये मुख्य विषय है—स्थानीय स्वशासन, पुलिस, जेल, न्याय, सावजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, जगलात सुधारालय, मत्स्य (मछली) व्यवसाय, पशुपालन, सिंचाई, अस्पताल, औषधालय, मण्डिया राज्य के अन्दर व्यापार एव वाणिज्य, कृषि आयकर, भूमि कर, मनोरजन कर आदि। इन विषयो का मुख्य सम्बन्ध समाज कल्याण से है।

**समवर्ती सूची**—समवर्ती सूची मे कुल 47 विषय हैं। इस सूची म उल्लिखित विषय इस बात के प्रतीक हैं कि इन विषयो पर सारे देश मे सामान्य कानूनो का होना वाछनीय है यद्यपि अनिवार्य नही। समवर्ती सूची म उल्लिखित विषय स्थानीय महत्त्व के विषय होते है परन्तु क्योकि राष्ट्रीय स्तर पर उनमे सामान्य कानूनो का

होना वाछनीय समझा जाता है इसलिए इन विषयो पर ससद और राज्य विधान सभा दोनो को कानून निर्माण की शक्ति है। जसा कि ऊपर कहा गया है कि ससद और विधान सभा द्वारा पास किये किसी कानून मे विरोध होने पर ससद के कानून को प्राथमिकता दी जाती है और राज्य विधान सभा का कानून उस मात्रा तक अवैध होता है जिस मात्रा तक वह ससद के कानून का विरोध करता है। समवर्ती सूची मे उल्लिखित मुख्य विषय हैं—दण्ड विधि, दण्ड प्रक्रिया, विवाह, तलाक, श्रमिक सघ, औद्योगिक और श्रमिक समस्यायें, वाष्प पात्र (Boilers), कारखाने, विद्युत, सामाजिक सुरक्षा, आर्थिक और सामाजिक नियोजन, मूल्य नियन्त्रण, समाचार पत्र, मुद्रणालय, पुस्तकें, दिवालियापन, पागलपन, ठेके और साझेदारी, शरणार्थियो की सहायता।

समवर्ती सूची के सम्बन्ध मे सघ और राज्यो मे एक अच्छे अभिसमय का विकास हुआ है। वह अभिसमय यह है कि जब कभी सघीय या राज्य सरकार समवर्ती सूची म उल्लिखित किसी विषय पर कानून बनाना चाहती है तो वह इस आशय की सूचना एक दूसरे को दे देती है और सामान्यत एक दूसरे की सहमति या इच्छा प्रकट होने पर ही समवर्ती सूची मे उल्लिखित अमुक विषय पर कानून का निर्माण किया जाता है। इस अभिसमय के विकसित होने से अनेक लाभ हुए हैं। एक तो सघ और राज्य एक दूसरे के दृष्टिकोण या प्रतिक्रिया से अवगत हो जाते हैं जिससे उनम पारस्परिक विवादो और मुकदमेबाजी की गुन्जाइश नगण्य हो जाती है। दूसरे स्थानीय विषयो को भी राष्ट्रीय सन्दभ मे सोचा जाता है जिससे राष्ट्रीय एकता को बढावा मिलता है। तीसरे सघ और राज्यो मे पारस्परिक सहयोग और समन्वय की भावना उत्पन्न होती है जिससे लोक हित मे श्रेष्ठतर नीतियो के निर्धारण मे सहायता मिलती है। अभी तक इस अभिसमय से लाभ इसलिये भी प्राप्त हुए हैं कि सघ और अधिकाश राज्यो मे (कुछ राज्यो को छोडकर) एक ही राजनीतिक दल सत्तारूढ रहा है और उनके राजनीतिक दृष्टिकोण मे कोई भिन्नता नही रही। इस अभिसमय की व्यावहारिक उपयोगिता उस समय स्पष्ट हो जायगी जब सघ और राज्यो म भिन्न भिन्न दृष्टिकोणो वाले भिन्न भिन्न राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रणालियो को अपनाने वाले भिन्न भिन्न राजनीतिक दलो की सरकारें स्थापित होती हैं और वे परस्पर सहयोग और समन्वय के आधार पर काय करती है।

**अवशिष्ट शक्तिया** अवशिष्ट शक्तिया वे शक्तिया हैं जिन्ह किसी सूची म उल्लिखित नही किया गया। ये वे शक्तिया हैं जो समय, परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार उत्पन्न होती रहती है। जहा अमरीका, आस्ट्रेलिया, स्विटजरलण्ड आदि सघीय सविधानो म अवशिष्ट शक्तियाँ सघ के एकको को प्रदान की गयी हैं वहा भारत मे ये शक्तिया कनाडा और दक्षिण अफ्रीका के सघीय सविधानो की भाति, सघ को सौंपी गयी हैं।

## राज्य विधान सभाओं की विधायी शक्तियों पर सीमायें
## (Limitations on the Legislative Competence of State Legislatures)

या

## विधायी शक्तियों में संसद की प्रधानता
## (Predominance of Parliament in Legislative Powers)

संसद और राज्य विधान सभाओं की विधायी शक्तियाँ संविधान द्वारा पृथक पृथक निर्धारित की गयी हैं परन्तु शक्तियों का यह विभाजन कठोर नहीं है। शक्तियों के विभाजन में लचीलापन लाने और समय की आवश्यकताओं और प्रभावों (Pressures) का सफलता पूर्वक सामना करने के लिए संविधान ऐसी विशेष परिस्थितियों की कल्पना करता है जिनमें संसद राज्य सूची में दिये गये विषयों पर कानून का निर्माण कर सकती है। दूसरे शब्दों में, जहां अमरीकी कांग्रेस किसी स्थिति में राज्यों के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं कर सकती, जहां कनाडा की संसद न्यायालयों द्वारा निर्धारित राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों पर ही प्रान्तीय विषयों में क्षेत्र का अतिक्रमण कर सकती है वहां भारतीय संविधान विशेष अवस्थाओं या परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर संसद को राज्य सूची का अतिक्रमण करने का अधिकार सौंपता है। यह बात ध्यान देने की है कि संविधान राज्य विधान सभाओं को संघीय सूची का अतिक्रमण करने का अधिकार नहीं देता। जिन विशेष अवस्थाओं या परिस्थितियों में संसद राज्य सूची का अतिक्रमण कर सकती है उन्हें मुख्यतः दो भागों में बांटा जा सकता है। (1) शान्तिकालीन विशेष परिस्थितियां, (2) संकटकालीन विशेष परिस्थितियां।

1 शान्तिकालीन विशेष परिस्थितियां—शान्तिकाल में संसद राज्य सूची में दिये गये विषयों पर निम्न अवस्थाओं में कानून का निर्माण कर सकती है —

(i) राज्य सभा के प्रस्ताव पर—अनुच्छेद 249 के अनुसार यदि राज्यसभा[1] उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास कर दे कि राज्य सूची में दिया गया अमुक विषय "राष्ट्रीय महत्त्व" का हो गया है तो संसद उस विषय पर कानून का निर्माण कर सकती है। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत संसद को राज्य सूची के किसी विषय पर कानून निर्माण के लिये किसी "संकट" की आवश्यकता नहीं "राष्ट्रीय हित में राज्य सभा का प्रस्ताव" ही पर्याप्त है। संसद द्वारा पास किया गया कानून एक वर्ष तक लागू रहता है यद्यपि राज्य सभा पुनः प्रस्ताव पास करके उसकी अवधि को एक वर्ष और बढ़ाकर अनिश्चित समय तक बढ़ा सकती है। प्रस्ताव की अवधि समाप्त होने के छः महीने बाद यह कानून अक्षम हो जाता है।

---

1 राज्य सभा को यह शक्ति इसलिए दी गयी है कि यह राज्यों का प्रतिनिधित्व करती है।

**(ii) अंतर्राष्ट्रीय संधि, समझौते या करारों को लागू करने के लिये**—अनुच्छेद 253 के अनुसार संसद अंतर्राष्ट्रीय समझौतों, संधियों, करारों, उत्तरदायित्वों आदि को निभाने के लिये या अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, संस्थाओं या अन्य निकायों द्वारा लिए गये विनिश्चयों को लागू करने के लिए संसद भारत या उसके किसी भाग के लिये कानून का निर्माण कर सकती है क्योंकि संघीय सरकार ही अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य कर सकती है और राज्य सरकारों को इसमें कोई शक्ति प्राप्त नहीं इसलिये संसद राज्य के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण कर सकती है और राज्य सूची में दिये गये विषयों पर कानून का निर्माण कर सकती है।

**(iii) दो या दो से अधिक राज्य विधान सभाओं की प्रार्थना पर**—अनुच्छेद 252 के अनुसार दो या दो से अधिक राज्यों की विधान सभायें प्रस्ताव द्वारा यह प्रार्थना कर सकती हैं कि राज्य सूची में दिये गये किसी विषय पर संसद कानून का निर्माण करे। इस अनुच्छेद के अंतर्गत संसद की विधायी शक्ति स्वीकृति सूचक (permissive or enabling) है और तभी उत्पन्न होती है जब कम से कम दो राज्यों की विधान सभायें इसके लिये प्रार्थना करें। उदाहरणतया दामोदर घाटी निगम (Damodar Valley Corporation) की स्थापना पश्चिमी बंगाल और बिहार राज्य विधान सभाओं की प्रार्थना पर संसद ने कानून द्वारा की थी। इस अनुच्छेद के अंतर्गत संसद द्वारा बनाया गया कानून केवल उन्हीं राज्यों में लागू होता है जिनकी विधान सभाओं ने प्रस्ताव द्वारा इसकी प्रार्थना की होती है। अन्य राज्यों की विधान सभायें भी प्रस्ताव द्वारा संसद के बनाये गये कानून को स्वीकार कर सकती हैं। संसद द्वारा बनाये गये कानून को संसद ही संशोधित या निरस्त (amend or resect) कर सकती है।

इस अनुच्छेद के अंतर्गत कानून निर्माण की शक्ति को दिनेश चन्द्र चतुर्वेदी ने "स्थायी नियन्त्रण"[1] की संज्ञा दी है। परन्तु यह उपमा केवल उस स्थिति में सही उतर सकती है जब संघ और राज्यों में एक ही राजनीतिक दल सत्तारूढ़ हो। परन्तु यदि संघ राज्यों में भिन्न भिन्न राजनीतिक दल सत्तारूढ़ हैं तो "स्थायी नियन्त्रण" की संज्ञा देना भ्रमात्मक होगा। यह संघ और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों और आवश्यकताओं पर अधिक निर्भर करता है। संघीय और प्रान्तीय नेतृत्व का व्यक्तित्व भी इसमें प्रभावी और बलशाली हो सकता है।

**(iv) कुछ विधेयकों पर राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता**—अनुच्छेद 304 (b) कुछ ऐसे विधेयकों की बात करता है जिन्हें राज्य विधान सभाओं में प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति की आवश्यकता होती है। उदाहरण

---

1 देखिये चतुर्वेदी, दिनेशचन्द्र, भारतीय शासन और राजनीति (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ), पृ० 270

तथा यदि राज्य सरकार सावजनिक हित मे राज्य के बाहर व्यापार, वाणिज्य या मेलजोल पर कोई प्रतिबन्ध लगाना चाहती है तो इससे पूर्व कि ऐसे विधेयक को राज्य विधान सभा मे प्रस्तुत किया जाय उस पर राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता होती है।

**(४) कुछ विधेयको को लागू करने के लिये राष्ट्रपति की स्वीकृति की आवश्यकता**—कुछ विधेयक ऐसे है जिन्हे राज्य विधान सभा पास तो कर सकती है परन्तु उन्हे लागू तभी किया जा सकता है जब उन्हे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखा गया हो और उन पर राष्टपति की स्वीकृति प्राप्त हो गयी हो। उदाहरणतया अनुच्छेद 31 (3) के अनुसार यदि राज्य विधान सभा कानून द्वारा किसी चल या अचल सम्पत्ति को अनिवार्य रुप से अभिग्रहण (compulsory acquisition) करना चाहती है तो ऐसा कानून तभी लागू हो सकता है जब उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखा गया हो और उस पर राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हो गयी हो। इसी प्रकार अनुच्छेद 288 (2) के अन्तर्गत ससद के कानून द्वारा स्थापित किसी अधिकार शक्ति द्वारा सचित, उत्पादित या उपयुक्त (Stored, generated or consumed) किये जाने वाले पानी या विद्युत पर राज्य विधान सभा कानून द्वारा तभी कर लगा सकती है जब ऐसे कानून को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखा जाय और उस पर उसकी स्वीकृति प्राप्त हो गयी हो। अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत राज्यपाल भी विधान सभा के किसी कानून को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रख सकता है यदि उसे आभास हो कि विधान सभा द्वारा पास किये गये किसी कानून से उच्च न्यायालय (High Court) के क्षेत्राधिकार या अधिकार शक्ति को खतरा उत्पन्न होने की सम्भावना है।

यह बात ध्यान देने की है कि राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखे गये विधेयको को राष्ट्रपति स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है, उन्हें पुनर्विचार के लिये वापस लौटा सकता है,किसी विधेयक पर प्रयोग किये गये राष्ट्रपति के निषेधाधिकार (veto) को राज्य विधान सभा रद्द (over rule) नही कर सकती। सविधान इस बात की भी व्यवस्था नहीं करता कि राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखे गये विधेयक पर राष्ट्रपति कितने समय मे अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति प्रकट कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रपति बिना स्वीकृति या अस्वीकृति प्रकट किये किसी विधेयक को अनिश्चित काल तक स्थगित कर उसे अर्थहीन बना सकता है।

**(५) राज्य नीतियो को प्रभावित करने की शक्ति**—सघ राज्य नीतियो को अनेक प्रकार से प्रभावित कर सकता है। सविधान इस बात की स्पष्ट व्यवस्था करता है कि यदि कोई विषय सघ-सूची और राज्य सूची दोनो मे लिखा हुआ है और उनमे कोई विरोध है तो सघ सूची को प्राथमिकता दी जायगी। इसी प्रकार समवर्ती सूची से सघीय सूची को और राज्य सूची से समवर्ती सूची को प्राथमिकता

**(ii) अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि, समझौते या करारों को लागू करने के लिये**—अनुच्छेद 253 के अनुसार संसद अन्तर्राष्ट्रीय समझौता, सन्धियों, करारों, उत्तरदायित्वों आदि को निभाने के लिये या अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, संस्थाओं या अन्य निकायों द्वारा लिए गये विनिश्चयों को लागू करने के लिए संसद भारत या उसके किसी भाग के लिये कानून का निर्माण कर सकती है क्योंकि संघीय सरकार ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य कर सकती है और राज्य सरकारों को इसमें कोई शक्ति प्राप्त नहीं इसलिये संसद राज्य के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण कर सकती है और राज्य सूची में दिये गये विषयों पर कानून का निर्माण कर सकती है।

**(iii) दो या दो से अधिक राज्य विधान सभाओं की प्रार्थना पर**—अनुच्छेद 252 के अनुसार दो या दो से अधिक राज्यों की विधान सभायें प्रस्ताव द्वारा यह प्रार्थना कर सकती हैं कि राज्य सूची में दिये गये किसी विषय पर संसद कानून का निर्माण करे। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत संसद की विधायी शक्ति स्वीकृति सूचक (permissive or enabling) है और तभी उत्पन्न होती है जब कम से कम दो राज्यों की विधान सभायें इसके लिये प्रार्थना करें। उदाहरणतया दामोदर घाटी निगम (Damodar Valley Corporation) की स्थापना पश्चिमी बंगाल और बिहार राज्य विधान सभाओं की प्रार्थना पर संसद ने कानून द्वारा की थी। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत संसद द्वारा बनाया गया कानून केवल उन्हीं राज्यों में लागू होता है जिनकी विधान सभाओं ने प्रस्ताव द्वारा इसकी प्रार्थना की होती है। अन्य राज्यों की विधान सभायें भी प्रस्ताव द्वारा संसद के बनाये गये कानून को स्वीकार कर सकती हैं। संसद द्वारा बनाये गये कानून को संसद ही संशोधित या निरस्त (amend or resect) कर सकती है।

इस अनुच्छेद के अन्तर्गत कानून निर्माण की शक्ति को दिनेश चन्द्र चतुर्वेदी ने "स्थायी नियन्त्रण"[1] की संज्ञा दी है। परन्तु यह उपमा केवल उस स्थिति में सही उतर सकती है जब संघ और राज्यों में एक ही राजनीतिक दल सत्तारूढ़ हो। परन्तु यदि संघ राज्यों में भिन्न भिन्न राजनीतिक दल सत्तारूढ़ हैं तो "स्थायी नियन्त्रण" की संज्ञा देना भ्रमात्मक होगा। यह संघ और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों और आवश्यकताओं पर अधिक निर्भर करता है। संघीय और प्रान्तीय नेतृत्व का व्यक्तित्व भी इसमें प्रभावी और बलशाली हो सकता है।

**(iv) कुछ विधेयकों पर राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता**—अनुच्छेद 304 (b) कुछ ऐसे विधेयकों की बात करता है जिन्हें राज्य विधान सभाओं में प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति की आवश्यकता होती है। उदाहरण

---

1 देखिये चतुर्वेदी, दिनेशचन्द्र भारतीय शासन और राजनीति (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ), पृ० 270

तथा यदि राज्य सरकार सावजनिक हित मे राज्य के बाहर व्यापार, वाणिज्य या मेलजोल पर कोई प्रतिबन्ध लगाना चाहती है तो इससे पूव कि ऐसे विधेयक को राज्य विधान सभा मे प्रस्तुत किया जाय उस पर राष्ट्रपति की पूव स्वीकृति की आवश्यकता होती है।

**(४) कुछ विधेयको को लागू करने के लिये राष्ट्रपति की स्वीकृति की आवश्यकता**—कुछ विधेयक ऐसे हैं जिन्हे राज्य विधान सभा पास तो कर सकती है परन्तु उन्हे लागू तभी किया जा सकता है जब उन्हे राष्ट्रपति के विचाराथ सुरक्षित रखा गया हो और उन पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो गयी हो। उदाहरणतया अनुच्छेद 31 (3) के अनुसार यदि राज्य विधान सभा कानून द्वारा किसी चल या अचल सम्पत्ति को अनिवाय रूप से अभिग्रहण (compulsory acquisition) करना चाहती है तो ऐसा कानून तभी लागू हो सकता है जब उसे राष्ट्रपति के विचाराथ सुरक्षित रखा गया हो और उस पर राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हो गयी हो। इसी प्रकार अनुच्छेद 288 (2) के अन्तगत समद के कानून द्वारा स्थापित किसी अधिकार शक्ति द्वारा सचित, उत्पादित या उपयुक्त (Stored, generated or consumed) किये जाने वाले पानी या विद्युत पर राज्य विधान सभा कानून द्वारा तभी कर लगा सकती है जब ऐसे कानून को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखा जाय और उस पर उसकी स्वीकृति प्राप्त हो गयी हो। अनुच्छेद 200 के अन्तगत राज्यपाल भी विधान सभा के किसी कानून को राष्ट्रपति के विचाराथ सुरक्षित रख सकता है यदि उसे आभास हो कि विधान सभा द्वारा पास किये गये किसी कानून से उच्च न्यायालय (High Court) के क्षेत्राधिकार या अधिकार शक्ति को खतरा उत्पन्न होने की सम्भावना है।

यह बात ध्यान देने की है कि राष्ट्रपति के विचाराथ सुरक्षित रखे गये विधेयका का राष्ट्रपति स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है, उन्हें पुनर्विचार के लिये वापस लौटा सकता है,किसी विधेयक पर प्रयोग किये गये राष्ट्रपति के निषेधाधिकार (veto) का राज्य विधान सभा रद्द (over rule) नही कर सकती। सविधान इस बात की भी व्यवस्था नही करता कि राष्ट्रपति के विचाराथ सुरक्षित रखे गये विधेयक पर राष्ट्रपति कितने समय म अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति प्रकट कर सकता है। इसका अथ यह है कि राष्ट्रपति बिना स्वीकृति या अस्वीकृति प्रकट किये किसी विधेयक को अनिश्चित काल तक स्थगित कर उसे अथहीन बना सकता है।

**(vi) राज्य नीतियो को प्रभावित करने की शक्ति**—सघ राज्य नीतियो को अनेक प्रकार से प्रभावित कर सकता है। सविधान इस बात की स्पष्ट व्यवस्था करता है कि यदि कोई विषय सघ-सूची और राज्य सूची दोनो म लिखा हुआ है और उनम कोई विरोध है तो सघ सूची को प्राथमिकता दी जायगी। इसी प्रकार समवर्ती सूची से सघीय सूची को और राज्य सूची से समवर्ती सूची का प्राथमिकता

दी जाती है। उदाहरणतया उच्च शिक्षा न केवल संघीय सूची में उल्लिखित है बल्कि राज्य सूची में भी उल्लिखित है। संसद ने कानून द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (U G C) की स्थापना की है। इस आयोग से राज्य सरकारें प्रचुर मात्रा में आर्थिक सहायता प्राप्त करती हैं और इस कारण उन्हें आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा सम्बन्धी नीतियों का अनुसरण करना पड़ता है। इसी प्रकार राज्य की औद्योगिक और व्यापारिक नीतियों को संघ सरकार योजना आयोग, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक आदि द्वारा प्रभावित करती है।

2 **संकटकालीन विशेष परिस्थितियाँ**—संकटकाल में संसद की शक्तियों में पर्याप्त वृद्धि ही नहीं होती बल्कि संविधान में परिवर्तन किये बिना ही संघीय शासन एकात्मक शासन का रूप ग्रहण कर सकता है। अनुच्छेद 250 संसद को, संकटकाल में, राज्य सूची में उल्लिखित विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्रदान करता है। संकट काल की स्थिति में बनाया गया कानून संकटकाल के विद्यमान रहने तक ही लागू होता है और संकट के समाप्त होने के छः मास बाद वह अक्षम हो जाता है। अनुच्छेद 352 के अनुसार युद्ध, बाह्य आक्रमण, आन्तरिक अशान्ति, उपद्रव या नाश की सम्भावना होने पर जब राष्ट्रपति सामान्य संकट की घोषणा कर देता है तो उदघोषणा द्वारा वह राज्य सूची में दिये गये विषयों पर संसद का नियन्त्रण स्थापित कर सकता है। अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति किसी राज्य में संविधान की असफलता की घोषणा करके अमुक राज्य की विधायी शक्तियाँ को संसद को सौंप सकता है। अनुच्छेद 365 के अनुसार यदि कोई राज्य संघ के निर्देशनों की उपेक्षा करता है या कार्यान्वित नहीं करता तो राष्ट्रपति यह मान सकता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है जहाँ राज्य सरकार संवैधानिक उपबन्धों के अनुरूप काय नहीं कर रही और संविधान असफल हो गया है। इस स्थिति में राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 का सहारा ले सकता है। अनुच्छेद 360 के अनुसार राष्ट्रपति वित्तीय संकट की घोषणा करके संघ और राज्यों के वित्तीय विभाजन में परिवर्तन कर सकता है, राज्यों को वित्तीय नियमों (Canons of Finanical Propriety) के पालन के लिये कह सकता है, राज्यों के वित्तीय विधेयकों को अपने विचारार्थ मंगवा सकता है तथा सभी पदाधिकारियों के वेतनों में कटौती कर सकता है।

**विधायी सम्बन्धों का मूल्यांकन**—उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि संसद और राज्य विधान सभाओं के विधायी क्षेत्र पृथक्-पृथक् होते हुए भी संसद की स्थिति प्रधानता की है और राज्य विधान सभाओं की विधायी शक्तियाँ मर्यादित हैं। संसद चाहे तो अपनी इच्छा राज्यों पर थोप सकती है, राज्य सभा के प्रस्ताव द्वारा राज्य सूची में दिये गये किसी विषय पर, राष्ट्रीय हित की आड़ में कानून बना सकता है और चाहे तो संवैधानिक संशोधन द्वारा राज्य सूची में दिये गये किसी विषय को समवर्ती सूची में रख सकती है (जैसाकि 1954 में तृतीय संशोधन द्वारा किया गया)

इन सब व्यावहारिक तथ्यो को देखते हुए ही के० वी० राँव ने ये विचार व्यक्त किये है कि "राज्य सूची मे दिये गये विषय कितने महत्त्वहीन, कितने सदिग्ध और अस्पष्ट है।" एस० एन० जन और एलिस जैकव न तो स्पष्ट लिखा है कि यद्यपि बहुत कम स्थितियो मे केन्द्र ने राज्यो द्वारा उसकी अनुमति के लिय विधेयको को अस्वीकार किया है परन्तु केन्द्र की नीतिया राज्यो को आदेश देने की रही है।" जैसाकि अमर नन्दी ने लिखा है कि "विशाल मूर्ति की भाति केन्द्र ही सारे रगमच पर छाया रहता है"[1] एम०पी० शर्मा ने भी लिखा है कि "जब राज्यो के सिर पर सघ का भय सवदा विद्यमान रहता है तो उनसे यह अपेक्षा नही की जा सकती कि वे पूर्ण विश्वास के साथ अपने अधिकारो की माग दृढतापूवक करेगे।"[2] इस दृष्टि म राज्य विधान सभाओ को वचस्वी एव विशाल नगरपालिकाओ (Glorified and magnified municipalities) की सज्ञा दी जा सकती है।

### B सघ और राज्यो में प्रशासनिक सम्बन्ध
### (Administrative Relations between the Centre & the States)

सघीय सविधानो म सघ को स्थायी बनान, सुशासन की व्यवस्था करन, सघ और एकको तथा एकको मे पारस्परिक सहयोग और समन्वय की भावना उत्पन्न करन, सघीय कानूनो की समुचित कार्यान्विति की व्यवस्था करन, अतिव्याप्त (overlapping) का समाधान करन, विवादो और सघर्ष को मर्यादित करन, आदि के लिय सघीय सरकार को निर्देशन और नियन्त्रण की सत्ता सौंपना अनिवाय होताहै। सघीय सरकार के हाथो मे इस निर्देशन और नियन्त्रण की सत्ता के अभाव म पृथकतावादी और विघटकारी तत्वो को बढावा मिलता है जिनसे सघ के नष्ट होन का भय रहता है। यही कारण है कि सभी सविधानो म सघ को स्थायी बनाय रखन के लिय सघीय सरकार को न्यूनाधिक मात्रा म निर्देशन और नियन्त्रण की शक्तियो से विभूषित किया जाता है।

भारतीय सविधान के भाग XI मे अध्याय दो क 8 अनुच्छेदो म (अनुच्छेद 256 से 236 तक) सघ और राज्यो के प्रशासनिक सम्बन्धो का उल्लेख किया गया है। इस भाग क अतिरिक्त सविधान के अन्य भागो म भी अनुच्छेद 275, 339 (2), 350 A, 356, 360, 365 जस अनक अनुच्छेद विखर पडे है जो सघ और राज्यो के प्रशासनिक सम्बन्धो का निर्धारित करत है।

भारतीय सविधान के अन्तगत सघीय कायपालिका की शक्ति सामान्यतया

---

1 "Centre dominates the scene like a colossus. Nandi Amar Constitution of India, p 197

2 See Haqqi S A H Union State Relations in India (Meenakshi Prakashan) 1967, p 61

उन सभी विषयो पर लागू होती है जिन्हे सघीय सूची म लिखा गया है और राज्य पालिका की शक्ति उन सभी विषयो पर लागू होती है जिन्हे राज्य सूची म लिखा गया है। परन्तु फिर भी सघ और राज्यो म तथा राज्यो मे पारस्परिक सहयोग, समन्वय और श्रेष्ठतर समायोजन (better co-ordination) के लिये सविधान निम्न व्यवस्थायें करता है—

1 निर्देशन देने की शक्ति— सन् 1935 के अधिनियम की भाति भारत का वर्तमान सविधान भी सघीय कार्यपालिका को निम्न स्थितियो मे राज्य की कार्यपालिका को निर्देशन देने की शक्ति प्रदान करता है—

(i) राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार हो कि ससदीय कानूनो की पालना सुनिश्चित रूप से बनी रहे।

(ii) केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति न तो सकुचित हो और न ही अवरुद्ध।

(iii) राष्ट्रीय या सैनिक महत्व के सचार साधनो के निर्माण और पोषण के लिये, राज्यो की सीमाओ म रेलवे लाइन की सुरक्षा के लिये, राजपथो, जल मार्गों और नौकागम्य नदियो के राष्ट्रीय महत्व के लिये, सघीय अभिकरणो को सुचारू रूप से कार्य करने देने के लिये।

(iv) अनुसूचित जनजातियो के कल्याण सम्बन्धी योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिये।

(v) प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा म शिक्षा प्रदान करने के लिये।

(vi) सामान्य सकट, सवैधानिक सकट और वित्तीय सकट म।

2 राज्यों के कार्यों को ग्रहण करने की शक्ति—निम्न स्थितियो म सघ राज्यो के कार्यों को ग्रहण कर सकता है—

(i) विदेशी सरकारो के साथ किये गये समझौतो को कार्यान्वित करने के लिये सघ राज्य के किसी विधायी, कार्यपालिका और न्यायपालिका के कार्य को ग्रहण कर सकता है।

(ii) अनुच्छेद 365 के अनुसार यदि सघीय सरकार को विश्वास हो जाय कि राज्य सरकार सघीय निर्देशनो के अनुकूल कार्य नही कर रही तो राष्ट्रपति यह मान सकता है कि ऐसी स्थितियां उत्पन्न हो गयी हैं जहा राज्य सरकार सवैधानिक उपबन्धो के अनुसार कार्य नही कर रही। इस स्थिति मे राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 के अनुसार कार्यवाही कर सकता है।

(iii) राज्यो म सविधान के असफल होने पर अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति राज्य प्रशासन को अपने अधीन कर सकता है और ससद को राज्य सूची मे दिये गये विषयो पर कानून बनाने के लिये कह सकता है।

3 **सघीय कार्यों को राज्यो को सौंपने की शक्ति**—अनुच्छेद 258 के अनुसार राष्ट्रपति राज्यो की सहमति से शर्तों या बिना शर्तो के सघीय क्षेत्र मे आने वाले कायपालिका कार्यो को राज्यो को या उनके पदाधिकारियो को सौप सकता है। ससद भी कानून द्वारा राज्य या उसके अधिकारियो को कोई शक्ति या उत्तरदायित्व उन्हे सौंप सकती है। इस तरह सघ राज्यो की कायपालिका और उसके पदाधिकारियो का प्रयोग सघीय कार्यो के लिये कर सकती है। परन्तु सघ द्वारा राज्य को सौंपे गये कार्यो का अतिरिक्त व्यय सघ ही झेलता है। यदि इस व्यय के सम्बन्ध म कोई विवाद उत्पन्न होता है तो मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त मध्यस्थ ही उसका निणय करता है।

4 **राज्य कार्यो को सघ को सौंपने की शक्ति**— यदि अनुच्छेद 258 के अनुसार राष्ट्रपति या ससद राज्य कायपालिका या उनके पदाधिकारियो को सघीय कार्यो को सौंप सकती है तो अनुच्छेद 258A[1] के अनुसार गवनर भी सघ की सहमति से, शर्तों या बिना शर्तों के सघ या उसके पदाधिकारियो को राज्य के कार्यो को सौंप सकता है।

5 **सावजनिक कार्य अभिलेख और न्यायिक कायवाही** (Public Acts, Records and Judicial Proceedings)— अनुच्छेद 261 सघ और प्रत्यक राज्य के सावजनिक कार्यो, अभिलेखो और न्यायिक कार्यो को सारे देश मे विश्वास और मान्यता (Faith and Credit) प्रदान करता है। परन्तु इन सावजनिक कार्यो, अभिलेखो और न्यायिक कायवाहियो की प्रामाणिकता सिद्ध करने की रीतियां, शर्तों और प्रभावो को ससद कानून द्वारा निर्धारित करती है। दीवानी न्यायालयो द्वारा दिये गये अन्तिम निणय या आदेश(Judgment or Orders) भी सारे देश म कानूनो द्वारा लागू किये जाते हैं।

6 **अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवायें** (All India Administrative Services)—भारतीय सविधान सघ और राज्य की प्रशासनिक सेवाओ की पृथक पृथक व्यवस्था करता है परन्तु फिर भी अनुच्छेद 312 इस बात की व्यवस्था करता है कि यदि राज्य सभा उपस्थित एव मतदान करने वाले सदस्यो के दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर देता है कि राष्ट्रीय हित म अखिल भारतीय सेवाओ के निर्माण की आवश्यकता या उपयोगिता है तो ससद कानून द्वारा एक या अनेक अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाओ की रचना कर सकती है। अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाओ (I A S) अखिल भारतीय आरक्षी सेवाओ (I P S), आदि सेवाओ को अखिल भारतीय सेवाये घोषित किया गया है। इन अखिल भारतीय सेवाओ के सदस्य ही सघ और राज्यो के उच्च प्रशासनिक पदो पर नियुक्त किये जाते हैं। राज्यो म सचिवालय के सचिव, जिलो के जिलाधीश तथा आरक्षी अधिकारी (S P) आदि इन्ही अखिल भारतीय सेवाओ के सदस्यो मे से ही नियुक्त किये जाते हैं।

---

1 इस अनुच्छेद को सातवें सशोधन द्वारा 1956 म सविधान म जोडा गया

अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाओ की पद्धति भारतीय सविधान की नूतन विशेषता है । इससे जहा राष्ट्रीय दृष्टिकोण को राज्य प्रशासन म बल मिलता है वहा राष्ट्रीय एकता को बढावा मिलता है ।

7 अन्तर्राज्य परिषदें ( Inter State Councils )— अनुच्छेद 263 क अनुसार सावजनिक हित मे, सघ और राज्या म विवादा की जाच के लिये, राज्यो म विवादो पर परमश प्राप्त करने के लिये कृषि, सावजनिक स्वास्थ्य आदि सामान्य हिता के विपया पर अ वेषण के लिये तथा नीतियो म श्रेष्ठर समायोजन (better coordination) प्राप्त करने के लिये राष्ट्रपति अन्तराज्य परिषदो की स्थापना कर सकता है । राष्ट्रपति ही इन परिषदा के गठन, कार्यों और स्वरूप को परिभाषित करता है । अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाओ की भाति अन्तर्राज्य परिषदे भी राष्ट्रीय एकता मे अत्यधिक सहायक हुई हैं । इनके माध्यम से पृथकतावादी एव विघटनकारी भावनाओ के प्रसार को रोका जा सकता है, अन्तर्राज्य विवादा को सुविधा और सम्मान के साथ निपटाया जा सकता है राज्यो मे पारस्परिक सहयोग की भावना का विकास किया जा सकता है ।

8 नदियो के पानी के विवादो का निपटारा (Adjudication of Water disputes)— अनुच्छेद 262 के अनुसार राज्या म नदिया के पानी स उत्पन होन वाले विवादो या शिकायता का निपटारा ससद कानून द्वारा कर सकती है । विकास वादी योजनाओ बा धो आदि के निमाण के कारण नदिया के पानी का महत्व अत्यधिक बढ गया है, इसलिये सघ द्वारा इन विवादो का निपटारा अत्यधिक महत्व ग्रहण कर चुका है । यह शक्ति जहा सघ को अद्ध याथिक शक्ति प्रदान करती है वहा सम्बधित राज्यो मे (जिनम एक नदी बहती है तथा उस पर बाध, विद्युत और जल के प्रयाग के प्रश्न या विवाद उठ खडे होते ह) सम वय उत्पन्न करन की क्षमता भी पदा करता है। वस्तुत उस स्थिति म तो केद्र निर्देशन और नियन्त्रण की शक्ति अधिक प्रभावी होती है जहा इन विकास योजनाओ के लिये सम्बधित राज्य सघ से आर्थिक अनुदान प्राप्त करते है । इतना ही नही, यदि आवश्यक हो, ता ससद कानून द्वारा इन विवादो पर सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का निषेध कर सकती है ।

9 आर्थिक सहायता (Economic Aid)— राज्य सरकारे अपनी लोक कल्याणकारी और विकासवादी याजनाओ को कार्यान्वित करन क लिय आर्थिक दृष्टि से सघ पर निभर होती है । और सघ सरकार अनुदान के माध्यम से राज्य सरकारा पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर सकती है ।

10 सघीय सरकार अन्तराज्य व्यापार और बिक्री कर का नियामित करता है

11 राज्या के कायपालिका अध्यक्षा अर्थात राज्यपाला की नियुक्ति और विमुक्ति की शक्ति राष्ट्रपति के हाथो म है । राज्यपाला के माध्यम से राष्ट्रपति राज्य प्रशासन की देखभाल कर सकता है ।

12 राज्या म राज्य विधान सभाओ के निर्वाचन की देखभाल निर्वाचन आयाग करता हे । मुख्य निवाचन आयुक्त की नियुक्ति भी राष्ट्रपति करता है ।

## प्रशासनिक सम्बन्धो का मूल्याकन
## (Evaluation of Administrative Relations)

उपयु क्त वरणन से स्पष्ट है कि विधायी सम्ब धो की भाति प्रशासनिक सम्ब धो म भी सविधान सघीय कायपालिका को प्राथमिकता प्रदान करता है। सघीय कायपालिका की प्रधानता इस तथ्य से स्पष्ट है कि सघ ही इस बात का निराय करता है कि राज्यो का प्रशासन कुशलतापूवक, सवधानिक उपब धो के अनुकूल और जनहित मे काय कर रहा है या नही। सघीय कायपालिका की प्रधानता न केवल सकट काल मे बल्कि शान्ति काल मे भी स्पष्ट और निश्चित है। राज्य की कायपालिका मे सघीय हस्तक्षेप के लिये यह पर्याप्त कारण है कि वह सघीय निर्देशनो की उपेक्षा कर रही है या उनके अनुकूल काय नही कर रही है, राज्यपालो और अनु दानो के माध्यम से, सघीय कायपालिका राज्य के प्रशासन मे खुल्लम खुल्ला हस्तक्षेप कर सकती है। कुछ आलोचको का यह भी मत है कि राज्य कायपालिकाये सघीय कायपालिका के निर्देशको को कार्यान्वित करने वाली निकाय या अभिकरण मात्र रह गयी ह।

यह सत्य है कि राज्यो की कायपालिका शक्ति मे सघीय कायपालिका को हस्तक्षेप करने के पर्याप्त अवसर या साधन उपलब्ध है पर तु अभी तक का सवै-धानिक अनुभव इस बात को सिद्ध करता है कि सघीय हस्तक्षेप राज्यो की स्वत त्रता और स्वायत्तता के लिय घातक सिद्ध नही हुआ। सघीय कायपालिका ने राज्य पालिका को अपना अभिकरण मात्र नही समझा, जब कभी सघीय कायपालिका ने राज्य की काय-पालिका शक्ति मे हस्तक्षेप किया तो उसका मूल उद्देश्य शान्ति, व्यवस्था और सुशासन की स्थापना करना था या राष्ट्रीय हितो और राष्ट्रीय नीतियो की रक्षा करना था। केरल मे सितम्बर 1968 म और माच-अप्रेल 1969 म दुर्गापुर और कोसीपुर की तोप और गोले फक्टरी (Gun & Shelling Factories), के द्रीय रिजव पुलिस (Central Reserve Police) के प्रयोग ने यद्यपि सघ और सम्बन्धित राज्यो म तनाव की स्थिति पदा कर दी और गर काग्रेसी म त्रिमण्डलो ने इसे के द्र का दृढ (domineering) हस्तक्षेप कहा पर तु यह सब हठधर्मी राज्यो को चेतावनी थी कि वे "सवधानिक भावना और राष्ट्रीय नीतियो के विरुद्ध नही जा सकते।"[1]

यह ठीक है कि अपनी विकासवादी और लोक कल्याणकारी नीतियो को कार्यान्वित करने के लिये या उनका निर्धारण करन के लिये राज्यो को सघीय अनुदान पर निभर रहना पडता है और इसलिये उन्ह सघीय नेतृत्व को स्वीकार करना पडता है पर तु यहा भी सघीय हस्तक्षेप या नतृत्व का उद्देश्य समूचे राष्ट्र का समुचित विकास और राज्यो मे पारस्परिक सहयोग और सम वय की भावना ही प्रभावित रही है। वस्तुत सघीय शासन की सफलता ही सरकारो के पारस्परिक सहयोग और

---

1, See Ray Amal Inter Governmental Relations in India, p 50

समन्वय पर निर्भर करती है। भारतीय संविधान भी इन्हीं उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये, संघ को स्थायी बनाये रखने के लिये, विवादों और संघर्षों को मर्यादित करने के लिये तथा संघीय कार्यपालिका शक्ति को सुनिश्चित बनाये रखने के लिये संघीय निर्देशन और नियन्त्रण की व्यवस्था करता है। यदि इसकी व्यवस्था न हो तो अनेक ज्ञात और अज्ञात दृश्य और अदृश्य शक्तियां संघ की सुदृढ़ता और सुरक्षा को खतरा उत्पन्न कर सकती हैं। अतः संघीय कार्यपालिका के हाथों में निर्देशन और नियन्त्रण शक्ति की आवश्यकता एवं उपयोगिता है।

## C संघ और राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध
## (Financial Relations between the Centre and the States)

किसी सरकार के लिये वित्त सबसे महत्त्वपूर्ण विषय होता है। वित्त के अभाव में सरकार कार्य नहीं कर सकती। सरकार यद्यपि अनेक स्रोतों से वित्त को एकत्रित करती है परन्तु लोगों और वस्तुओं पर लगाये जाने वाले कर (Taxes) और शुल्क (Fees Duties or Levies) ही उसके वित्त के मुख्य स्रोत होते हैं। क्योंकि संघ में दोहरी राजनीतिक व्यवस्था अर्थात् दोहरी सरकारों के सह-अस्तित्व की व्यवस्था होती है इसलिये विधायी और प्रशासनिक विषयों के विभाजन के साथ ही उनमें वित्तीय स्रोतों का विभाजन भी कर दिया जाता है। वस्तुतः संघ के एककों की स्वायत्तता इस बात पर निर्भर करती है कि उनके पास स्वतन्त्र और पर्याप्त वित्तीय साधन उपलब्ध हैं या नहीं। यदि उनके पास पर्याप्त एवं स्वतन्त्र वित्तीय साधनों का अभाव है तो उनकी स्वायत्तता नाम मात्र की बन कर रह जायगी।

अन्य संघीय संविधानों की भांति भारतीय संविधान भी संघ और राज्यों के वित्तीय स्रोतों को स्पष्टतया निर्धारित करता है। संघ और राज्यों द्वारा लगाये जाने वाले करों और शुल्कों को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत व्यक्त किया जा सकता है :—

**A संघ द्वारा लगाये जाने वाले कर तथा शुल्क**—संघीय सरकार को उन विषयों पर कर या शुल्क लगाने का एकमात्र अधिकार है जिन्हें संघीय सूची में उल्लिखित किया गया है जिन्हें राज्य या समवर्ती सूची में नहीं लिखा गया अर्थात् जिन्हें अवशिष्ट करों (Residuary taxes) की संज्ञा दी जाती है। संघ सरकार द्वारा लगाये जाने वाले कर और शुल्क मुख्यतः निम्न हैं :—

1 कृषि आय को छोड़कर अन्य आय पर कर।
2 सीमा शुल्क। इसमें निर्यात शुल्क भी सम्मिलित है।
3 तम्बाकू तथा भारत में निर्मित एवं उत्पादित वस्तुओं पर कर। परन्तु इसमें मादक द्रव्यों जैसे शराब अफीम भांग (गांजा) नशीली दवाइयां या अन्य नशीली वस्तुओं का उत्पादन शामिल नहीं है। यद्यपि अलकोहल से उत्पादित दवाइयां और प्रसाधन (toilets) इसमें शामिल हैं।

4 निगम कर ।

5 Taxes on Capital value of assets

6 कृषि योग्य भूमि को छोड कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पत्ति शुल्क (Estate Duty)

7 कृषि योग्य भूमि को छोड कर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार (Succession) पर शुल्क ।

8 रेल, समुद्र या वायु द्वारा जाने वाली वस्तुओ या यात्रियो पर सीमा (terminal) शुल्क ।

9 रेल किराये और सामान (freights) पर कर ।

10 मुद्रा, मुद्रा टकरण (Coinage), वैध प्रस्तुत (Legal Tender) और विदेशी विनिमय (Foreign Exchange)

11 मुद्राक शुल्क (Stamp Duty) को छोड कर शेयर तथा सट्टा बाजार के सौदो पर कर ।

12 हुडियो चैको, प्रोमीजरी नोटो (Promissory notes), नौभार पत्रो (Bill of lading), प्रत्यय पत्रो (Letters of Credit) बीमा पत्रो, हिस्सो के परिवतन ऋण पत्रा (debentures) प्रॉक्सी (Proxies) और रसीदो (Receipts) पर मुद्राक शुल्क ।

13 समाचार पत्रो के क्रय या विक्रय तथा उनमे प्रकाशित होने वाले विज्ञापनो पर कर ।

14 सघ सरकार की सम्पत्ति ।

15 विदेशी ऋण ।

16 लाटरिया (चाहे वे सघ सरकार द्वारा सगठित की गयी हो या राज्य सरकारो द्वारा) ।

17 डाकखाना बचत बैंक ।

18 रिजव बैंक ।

19 डाक एव तार, टेलीफोन, वायरलेस प्रसारण तथा अन्य इसी प्रकार के सचार साधनो पर कर ।

20 सघ का सावजनिक ऋण ।

21 सघीय सूची मे दिये गये किसी विषय पर शुल्क । इसमे न्यायालयो द्वारा लिये जान वाले शुल्क (fees) सम्मिलित नही है ।

**B राज्यो द्वारा लगाये जाने वाले कर तथा शुल्क**—भारतीय सविधान केवल सघीय सरकार द्वारा लगाये जाने वाले करो और शुल्को की व्यवस्था ही नही करता वल्कि कुछ ऐसे क्षेत्रो की भी व्यवस्था करता है जहा कर या शुल्क लगान का एक मात्र अधिकार राज्य सरकारो को ही है । यह इस बात का प्रतीक है कि सविधान

राज्या की स्वतन्त्रता और स्वायत्तता की व्यवस्था भी करता है। राज्य सरकारा द्वारा लगाये जाने वाले कर और शुल्क मुख्यत निम्न हैं —

1 भूमिकर।
2 कृषि आय पर कर।
3 कृषि योग्य भूमि के उत्तराधिकार पर शुल्क।
4 कृषि योग्य भूमि पर सम्पत्ति शुल्क (Stamp Duty)।
5 भूमि और भवनो पर कर।
6 खनिज अधिकार पर कर (taxes on mineral rights)।
7 शराब, अफीम तथा अन्य मादक द्रव्यो के उत्पादन पर कर।
8 स्थानीय क्षेत्र मे उपभोग, इस्तेमाल या विक्रय के लिये लाई गयी वस्तुओ के प्रवेश पर कर।
9 विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर।
10 समाचार पत्रो म प्रकाशित होने वाली विज्ञप्तियो (advertisements) के अतिरिक्त अन्य विज्ञप्तियो पर कर।
11 सडको तथा अन्तर्देशीय जलमार्गो द्वारा जाने वाले माल तथा यात्रिया पर कर।
12 वाहनो पर कर।
13 पशुओ और नौकाओ पर कर।
14 चुगी कर।
15 पथ कर।
16 प्रति व्यक्ति कर (Capitation taxes)।
17 व्यवसायो, आजीविकाओ, नौकरियो और वत्तियो पर कर।
18 विलास वस्तुओ (Luxuries) पर कर। इसम मनोरजन, शर्तों, जूआ आदि पर कर भी सम्मिलित हैं।
19 सघीय सूची के उपबन्धो मे उल्लिखित दस्तावेजो के अतिरिक्त अन्य दस्तावेजो (documents) पर कर, आदि।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय सविधान सघ और राज्यो के राजस्व के स्रोतो को स्पष्टत पृथक पृथक वर्णित करता है। परन्तु सविधान निर्माता इस बात से अनभिज्ञ नही थे कि देश के समुचित विकास के लिये, उद्योग और कृषि की प्रगति के लिये तथा लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिये राज्यो को सघीय आर्थिक सहायता की आवश्यकता पडेगी। इसलिये सविधान निर्माताओ ने राज्यो के पृथक राजस्व के स्रोतो के अतिरिक्त इस बात की व्यवस्था भी की कि जहा राज्य सरकारो द्वारा लगाये जाने वाले करो व शुल्को से प्राप्त होने वाली समूची आय को राज्य अपने पास रख सकते हैं वहा सघीय सरकार द्वारा लगाये जाने वाले कुछ करो

ग्रौर शुल्को से प्राप्त होने वाली ग्राय को या तो पूर्णतया या ग्रशत राज्यो को दे दी जाय। इसके लिये संविधान निम्न व्यवस्थायें करता है —

1 सघ सरकार द्वारा लगाये जाने वाले शुल्क जिन्हे राज्य ही एकत्रित करते है तथा राज्य ही उन्हें विनियोजित ( appropriate ) करते हैं इसका उदाहरण निम्न है —

(a) सघीय सूची मे वर्णित मुद्राक शुल्क ग्रौर ग्रौषधियो तथा प्रसाधन (toilets) वस्तुग्रो पर शुल्क। केन्द्र प्रशासित प्रदेशो ( centrally administered areas) मे इन शुल्को को भारत सरकार ही एकत्रित करती है।

2 सघ सरकार द्वारा लगाये जाने वाले तथा एकत्रित किये जाने वाले कर/शुल्क जिन्हें राज्यो को दे दिया जाता है इसके मुख्य उदाहरण निम्न हैं —

(a) कृषि योग्य भूमि को छोड कर ग्रन्य सम्पत्ति पर सम्पत्ति शुल्क।

(b) कृषि योग्य भूमि को छोड कर ग्रन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर कर।

(c) रेल, समुद्र या वायु द्वारा जाने वाली वस्तुग्रो या यात्रियो पर सीमा शुल्क।

(d) रेल किराये ग्रौर सामान पर कर।

(e) मुद्राक शुल्क (Stamp Duty) को छोड कर शेयर तथा सट्टा बाजार के सौदो पर कर।

(f) समाचार पत्रो के क्रय या विक्रय तथा उनमे प्रकाशित होने वाले विज्ञापनो पर कर ग्रादि।

उपयुक्त करो ग्रौर शुल्को से प्राप्त होने वाले धन (proceeds) को, ससद द्वारा पास किये गये कानून के ग्रनुसार राज्यो को दिया जाता है।

3 सघ द्वारा लगाये जाने वाले तथा एकत्रित किये जाने वाले कर/शुल्क जिनका विभाजन सघ ग्रौर राज्यो मे होता है इसका उदाहरण निम्न है —

(a) कृषि ग्राय को छोड कर ग्रन्य ग्राय कर परन्तु इसमे निगम कर सम्मिलित नही है। सामान्यत इसका विभाजन वित्त ग्रायोग की सिफारिशो के ग्राधार पर किया जाता है।

4 उत्पादन शुल्क से राज्यो को कुछ भाग देने की व्यवस्था ग्रनुच्छेद 272 इस बात की व्यवस्था करता है कि उत्पादन शुल्क (ग्रौषधीय ग्रौर प्रसाधन सामग्री पर उत्पादन शुल्क के ग्रतिरिक्त) से भी सघीय सरकार राज्य सरकारो को कुछ भाग दे सकती है। यह ग्रनुच्छेद सघीय सरकार को राज्य सरकारो के उत्पादन शुल्क मे से भाग देने के लिये बाध्य नही करता। यह ग्रनुच्छेद तो केवल स्वीकृति सूचक (ग्रनुज्ञापक permissive) है जिसका प्रयोग सघीय सरकार ग्रपनी सुविधानुसार कर सकती है।

5 ग्रनुदान (Grants in aid) ग्रनुच्छेद 275 सघ की सचित निधि (Consolidated Fund of India) से राज्यो को ग्रनुदान की व्यवस्था करता है।

यह अनुदान उन राज्यो को प्राप्त होता है जो अपनी विकास योजनाओ को सघ के अनुमोदन पर आरम्भ करते हैं। इस अनुदान की राशि ससद द्वारा निर्धारित की जाती है और जो भिन्न भिन्न राज्यो को दी जा सकती है।

अनुसूचित जन जातिया के कल्याण और अनुसूचित क्षेत्रा के प्रशासन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सघ से अनुदान प्राप्त किये जा सकते हैं। असम के क्बायली क्षेत्रो के विकास के लिये विशेष अनुदान प्राप्त होते है।

पटसन (Jute) उत्पादन करने वाले चार राज्या—असम, बिहार, उडीसा और पश्चिमी बगाल को पटसन तथा उससे बनी वस्तुओ के निर्यात पर निर्यात कर के बदले सघीय सचित निधि मे निर्धारित ढग से अनुदान प्राप्त होता है।

6 अधिभार (Surcharge) अनुच्छेद 271 के अनुसार ससद सघीय उद्देश्यो के लिये अधिभार (surcharge) लगा सकती है। इस अधिभार से उत्पन्न होने वाली सारी आय भारत की सचित निधि (Consolidated Fund of India) मे एकत्रित हो जाती है।

7 अनुच्छेद 276 के अनुसार राज्य विधान सभायें नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों तथा अन्य स्थानीय प्राधिकारियो (authorities) के लाभ के लिये वृत्तिया, व्यापारो, आजीविकाओ और नौकरिया पर कर लगा सकती है। परन्तु राज्य विधान सभाओ की यह शक्ति आय पर कर लगाने की सघीय शक्ति को मर्यादित नहीं करती। राज्य विधान सभाओ द्वारा लगाये गये ऐसे करो की राशि 250 रु० वार्षिक से अधिक नही हो सकती।

8 सार्वजनिक ऋण अनुच्छेद 292 के अनुसार सघीय सरकार सघीय सचित निधि (Consolidated Fund of India) की सुरक्षा (Security) के आधार पर विदेशो मे तथा देश म ऋण ले सकती है अर्थात भारत सरकार की ऋण लेने की शक्ति पर कोई सीमायें नही। परन्तु ऋणो की राशि का ससद समय-समय पर निर्धारित करती है।

अनुच्छेद 293 के अनुसार राज्य सरकारे राज्य की सचित निधि की सुरक्षा के आधार पर देश की सीमाओ के अन्दर ही ऋण ले सकती हैं अर्थात राज्य सरकारो की ऋण लेने की सीमा मर्यादित है। राज्य सरकारें विदेशो से ऋण नही ले सकती और देश के अन्दर भी ऋण लेने की सीमा अमर्यादित नहीं। यदि राज्य द्वारा लिये गये पूर्ववर्ती ऋण की अदायगी नही हुई हो तो राज्य सरकारें सघीय सरकार की अनुमति के बिना दूसरा ऋण नही ले सकती।

9 करों से छूट (Exemption from Taxation) अनुच्छेद 285 के अनुसार राज्य सरकारें सघीय सम्पत्ति पर या भारत सरकार द्वारा उपभोग की जाने वाली विद्युत पर कर नहीं लगा सकती। अनुच्छेद 289 के अनुसार भारत सरकार राज्य सम्पत्ति और राज्य की आय पर कर नहीं लगा सकती। परन्तु यदि

राज्य कोई व्यापार या कारोबार करता है तो भारत सरकार उस पर कर लगा सकती है।

**10 वित्त आयोग** (Finance Commission) संघ और राज्यों के मध्य करो के विभाजन, भारत की संचित निधि मे राज्यो को अनुदान की राशि, वित्त के स्थायित्व और दृढ़िकरण तथा अन्य वित्तीय विषयो पर परामर्श लेने के लिए संविधान के अनुच्छेद 280 मे वित्तीय आयोग की व्यवस्था की गयी है। इस वित्त आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है तथा प्रति पाच वर्ष बाद या उससे पूर्व भी वित्तीय आयोग की स्थापना की जा सकती है। अब तक भारत मे छ वित्तीय आयोगो की स्थापना हो चुकी है। इन आयोगो की नियुक्ति 1951, 1956, 1960, 1964, 1968 और 1972 में की गयी है।

वित्तीय आयोग की व्यवस्था भारतीय संविधान की अद्भुत विशेषता है। जहा अन्य संघीय संविधानो म संघ और इकाइयो मे अनेक वित्तीय झगडे उत्पन्न होने से मुकदमेबाजी को बढ़ावा मिला है वहा, भारत मे इन आयोगो के माध्यम से जटिल वित्तीय समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान करने म मदद मिली है। इतना ही नही संघीय सरकार ने इन आयोगो की सिफारिशो को लगभग स्वीकार किया है और राज्यो की दुर्बल आर्थिक स्थिति को सुधारने का प्रयास किया है।

**11 वित्तीय संकट** अनुच्छेद 360 के अनुसार राष्ट्रपति वित्तीय संकट की घोषणा करके राज्यो की वित्तीय स्वतन्त्रता को मर्यादित कर सकता है। विधान मण्डलो द्वारा पास किये गये वित्तीय विधेयको को राष्ट्रपति अपने विचारार्थ मंगवा सकता है, संघीय अनुदानो और करो के विभाजन में परिवतन कर सकता है या उन्हे स्थगित कर सकता है और राज्य कर्मचारियो (पदाधिकारियो) के वेतनो मे कटौती कर सकता है।

**12 नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक** नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। यही सारे देश की वित्तीय स्थिति की देखभाल के लिये उत्तरदायी होता है। यद्यपि राज्यो के अपने लेखा परीक्षक (Accountant General) होते है परन्तु वे इसी पदाधिकारी के नियन्त्रण और निर्देशन पर ही कार्य करते है। यही पदाधिकारी इस बात का निर्धारण करता है कि संघ और राज्यो के आय व्यय के लेखे किस प्रकार रखे जायेंगे, यही उन लेखो की लेखा परीक्षा कराता है तथा वर्ष के अन्त मे अपने प्रतिवेदनो सहित यथा स्थिति राष्ट्रपति या राज्यपाल के समक्ष लेखो को प्रस्तुत करता है।

## वित्तीय सम्बन्धो का मूल्यांकन
## (Evaluation of Financial Relations)

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय संविधान "संघीय शासन की वित्तीय सबलता पर जितना ध्यान देता है उतना प्रान्तीय स्वायत्तता पर नहीं देता।"[1]

---

1 See Shrinivasan, N N Democratic Government in India, pp 348-49

विधायी और प्रशासनिक सम्बन्धो की भांति वित्तीय क्षेत्र मे भी सघ सरकार राज्य सरकारो से अधिक शक्तिशाली है । राज्यो के आर्थिक प्रसाधन अपर्याप्त होने से उन्हे अपनी विकासवादी योजनाओ (उदाहरणतया औद्योगिक और कृषि, आदि विकास योजनाओ) और लोक कल्याणकारी कार्यो के लिये सघ की आर्थिक सहायता पर निर्भर रहना पडता है । परन्तु इकाइयो की सघीय सरकार पर निर्भरता केवल भारतीय सविधान की ही विशेषता नही, यह तत्त्व तो अन्य सघीय सविधानो मे भी पाया जाता है । उदाहरणतया कनाडा और आस्ट्रेलिया मे इकाइया सघीय सहायता पर निर्भर करती हैं । अमरीका जसे सघीय राज्य मे भी, जहा एकको की पर्याप्त आर्थिक स्वतन्त्रता है राज्य के स्वीकारात्मक रूप को ग्रहण करने से एकक सघ की आर्थिक सहायता पर निर्भर करते हैं ।

राज्यो की आर्थिक दुर्बलता और सघ पर उनकी निर्भरता का एक गम्भीर परिणाम यह निकलता है कि राज्यो की स्वायत्तता मर्यादित हो जाती है । भारत म सघीय सरकार अनेक तरीका से राज्य सरकारो पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर सकती है । उदाहरणतया राज्यो को अनुदान (grants in aid) देते समय, राज्या को सघीय सचित निधि से ऋण देते समय सघ राज्यो पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर सकता है ।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (U G C ), केन्द्रीय लोक कल्याणकारी बोर्ड (Central Welfare Board) और योजना आयोग (Planning Commission) जसी गैरी केन्द्रीय सस्थायें है जो राज्या को अनुदान देते समय उनके साथ "शर्तें" लगा सकती है । योजना आयोग को तो जे० सी० जौहरी ने ठीक ही 'नवीन महान दैत्य' (A new Leviathan)[1] की सज्ञा दी है । राज्या के पास अपनी विकासवादी योजनाओ और लोक कल्याणकारी कार्यो के लिए पर्याप्त आर्थिक साधनों का अभाव है इसलिय उनकी स्थिति "दान प्राप्त करने वाली सिगमा"[2] या 'खरात प्राप्त करने वाले बालक'[3] से बढकर नही । अपने वित्तीय स्रोतो पर भी भारत के सघीय एकको को पूर्ण स्वतन्त्रता नही क्योकि सामाजिक और आर्थिक नियोजन पर केन्द्र का निर्देशन और नियन्त्रण है इसलिए एकको के पहले से सीमित आर्थिक क्षेत्र और भी मर्यादित हो जाते हैं ।

भारतीय सघ के एकक विदेशी राज्यो या अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ से आर्थिक सहायता प्राप्त नही कर सकते और न ही उनसे कोई आर्थिक समझौता कर सकते हैं क्योकि 'विदेशी सम्बन्ध" केन्द्रीय विषय है । जो कुछ अनुदान भारतीय सघ

1 See Johari J C Indian Govt and Politics, (Vishal Publications 1974) p 195
2 Ibid p 194
3 C A D, Vol IX, Part 6, p 210

के एक्को भी प्राप्त हो सकता है व केन्द्र से या उसके माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। क्योंकि अनुदान की राशि के सम्बन्ध में केन्द्र का निर्णय अंतिम है इसलिए केन्द्र चाहे तो कुछ राज्यों का पक्ष और कुछ राज्यों की उपेक्षा कर सकती है और कुछ गैर कांग्रेसी राज्यों ने केन्द्र पर यह आरोप भी लगाया है कि केन्द्र के निर्णय दलीय भावनाओं से प्रेरित रहे है। जैसा कि के० वी० राव ने लिखा है कि सामान्यतया केन्द्र कुल मिलाकर अपनी नीति से किसी राज्य का पोषण कर सकता है और किसी का भूखा मार सकता है।"[1] तमिलनाडु सरकार द्वारा गठित राजामन्नार समिति (Rajamannar Committee) ने अपने प्रतिवेदन में (जो 1971 में प्रकाशित की गयी) वित्तीय अन्तरण (न्यागमन–financial devolution) का सुझाव दिया।

नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक, जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करता है राज्यों का निर्देशन दे सकता है कि वे अपने आय व्यय के लेखे किस प्रकार रखेंगे। इन लेखा का परीक्षण भी यही पदाधिकारी कराता है।

अनुच्छेद 360 के अन्तगत आर्थिक संकट की घोषणा के गम्भीर परिणाम निकल सकते है। राष्ट्रपति संघ और राज्यों के वित्तीय विभाजन में परिवर्तन कर सकता है, अनुदानों की राशि को (canons of financial propriety) स्थगित कर सकता है, राज्यों को वित्तीय औचित्य के नियमों की पालना के लिये निर्देशन दे सकता है, राज्यों के वित्तीय विधेयकों पर अपनी स्वीकृति की माग कर सकता है, सार्वजनिक पदाधिकारियों के वेतनों और भत्तों में कटौती कर सकता है आदि। स्पष्ट है कि भारत की वित्तीय प्रणाली पर केन्द्र की निरकुशता है और यह प्रणाली "संघीय" (federal) होने के स्थान पर अधिक संकलित (integrated) है।

विकासवादी योजनाओं और लोक कल्याणकारी कार्यों में अनुदान देते समय तो वह अपना नेतृत्व भी स्थापित कर सकती है। संकटकाल की स्थिति में तो राष्ट्रपति वित्तीय विभाजन, अनुदानों की राशि आदि को परिवर्तित या स्थगित कर सकता है।

एक दृष्टि में राज्यों का संघीय सहायता पर निर्भर होना वरदान है। इसके माध्यम से संघ सरकार राज्य सरकारों की संकुचित, संकीर्ण और प्रादेशिक प्रधान विघटनकारी भावनाओं को मर्यादित कर सकती है और समूचे देश के लिये समुचित विकास योजनाओं का निर्माण कर सकती है। यद्यपि भारत में संघ और राज्यों में वित्तीय विभाजन जटिल है परन्तु अनुदान के प्रावधान इतने लचीले और [illegible] हैं कि वे उनमें गतिरोध उत्पन्न करने के स्थान पर सामञ्जस्य ही स्थापित करते हैं। यही कारण है कि जहाँ अन्य संघीय संविधानों में वित्तीय विभाजन ने [illegible] राज्यों में मुकद्मेबाजी को जन्म दिया है वहाँ भारत में मन और [illegible]

---

1 Rao K V Parliament Dary-mocracy of I[illegible] by Joha 1, J C Ibid p 196

विभाजन ने मुकदमेबाजी को ज म नही दिया । यह "सघ और राज्यो मे करारोपण के पूरा पृथक्करण और सघीय आय से राज्या को भारी मात्रा मे हस्तान्तरण"[1] का फल है । वित्त आयोग की व्यवस्था भी इस बात का प्रतीक है कि सघ और राज्या मे वित्तीय विभाजन अन्तिम और अपरिवर्तनीय नही । फिर, वित्तीय आयोगो की सिफारिशें इस बात की साक्षी ह कि राज्या को दिये जाने वाले अनुदान की राशि म उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है । जिस अनुदान की राशि 1952 मे 60 65 करोड थी वह अब 550 करोड से भी अधिक है ।

## समीक्षा प्रश्न
## (Review Questions)

1 भारत मे केन्द्र राज्य सम्ब धो पर आलोचनात्मक टिप्पणी कीजिये ।

2 भारतीय सघ और राज्यो के बीच विधायी और प्रशासनिक तथा वित्तीय सम्बन्धा का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये । इन सम्ब धो को किस सीमा तक सघीय सविधाना के अनुकूल कहा जा सकता है ?

---

1 See Jain M P Indian Constitutional Law, p 3;0

अध्याय 6

# मूल अधिकार
## ( Fundamental Rights )

### मूल अधिकारो का अर्थ और इतिहास

राज्य की पहचान उन अधिकारो से होती है जो वह अपने नागरिको को प्रदत्त करता है। सामान्यतया अधिकार व्यक्ति के वे दावे हैं जिन्हें समाज स्वीकार करता है और राज्य मान्यता प्रदान करता है। मूल अधिकार वे नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रतायें हैं जिन्हें राज्य अपनी मूल विधि (सविधान) में उल्लिखित करता है। इनकी विशेषता ही यह होती है कि ये राज्य की मूल विधि के अभिन्न अंग होते हैं इन्हें उसकी पवित्रता प्राप्त होती है और ये उसके द्वारा सुरक्षित होते हैं। ये ऐसी निषेधाज्ञायें हैं जो राज्य की पुलिस शक्ति को मर्यादित करती है। कोई इनकी उल्लघना नही कर सकता। यदि कोई कार्यपालिका आदेश या कार्य अथवा व्यवस्थापिका का कोई कानून इनकी उल्लघना करता है या अपनी अधिकार शक्ति का अतिक्रमण करता है तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकती है। ये व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यक समझे जाते हैं अत कोई वादी (Complainant) इन्हें कार्यान्वित करने के लिये न्यायालय की शरण ले सकता है। इनकी एक विशेषता यह होती है कि इन्हें साधारण प्रक्रिया द्वारा परिवर्तित नही किया जा सकता। इनमें परिवर्तन के लिए विशेष प्रक्रिया का सहारा लेना पडता है। परन्तु मूल अधिकार निरपेक्ष नही होते, इन्हें सार्वजनिक हित में मर्यादित किया जा सकता है। परन्तु इनकी विशेषता यह भी है कि इन पर लगाई गयी मर्यादाओ के औचित्य अनौचित्य का निर्धारण कार्यपालिका या व्यवस्थापिका नही करती वरन् न्यायपालिका करती है। सक्षेप में, मूल अधिकार लोकतन्त्र के 'आधार' और सविधान की 'आत्मा' समझे जाते हैं। ये व्यक्ति के विकास की अनिवार्य आवश्यकतायें है जिनकी साधारण परिस्थितियो में उपेक्षा नही की जा सकती।

### भारत में मूल अधिकारो की विशेषतायें या स्वरूप
### (Nature or Features of Fundamental Rights in India)

भारतीय सविधान के अन्तर्गत दिये गये मूल अधिकारो का वर्णन करने से पूर्व उनकी विशेषताओ पर दृष्टिपात कर लेना अध्ययन की दृष्टि से अधिक उपयोगी होगा। ये विशेषतायें ही भारतीय नागरिको के मूल अधिकारो के स्वरूप को स्पष्ट

विभाजन न मुकदमेबाजी को जन्म नही दिया । यह "सघ और राज्यो मे करारोपण के पूर्ण पृथक्करण और सघीय आय से राज्यो को भारी मात्रा मे हस्तान्तरण"[1] का फल है । वित्त आयोग की व्यवस्था भी इस बात का प्रतीक है कि सघ और राज्यो मे वित्तीय विभाजन अन्तिम और अपरिवर्तनीय नही । फिर, वित्तीय आयोगो की सिफारिशें इस बात की साक्षी है कि राज्यो को दिये जाने वाले अनुदान की राशि म उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है । जिस अनुदान की राशि 1952 मे 60 65 करोड थी वह अब 550 करोड से भी अधिक है ।

## समीक्षा प्रश्न
### (Review Questions)

1 भारत मे केन्द्र राज्य सम्बन्धो पर आलोचनात्मक टिप्पणी कीजिये ।

2 भारतीय सघ और राज्यो के बीच विधायी और प्रशासनिक तथा वित्तीय सम्बन्धो का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिय । इन सम्बन्धो को किस सीमा तक सघीय सविधानो के अनुकूल कहा जा सकता है ?

---

1 S c Jain M P Indian Constitution il Law p 3.0

अध्याय 6

# मूल अधिकार
## ( Fundamental Rights )

### मूल अधिकारों का अर्थ और इतिहास

राज्य की पहचान उन अधिकारों से होती है जो वह अपने नागरिकों को प्रदत्त करता है। सामान्यतया अधिकार व्यक्ति के वे दावे है जिन्हें समाज स्वीकार करता है और राज्य मान्यता प्रदान करता है। मूल अधिकार वे नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रतायें हैं जिन्हें राज्य अपनी मूल विधि (संविधान) में उल्लिखित करता है। इनकी विशेषता ही यह होती है कि ये राज्य की मूल विधि के अभिन्न अंग होते हैं इन्हें उसकी पवित्रता प्राप्त होती है और ये उसके द्वारा सुरक्षित होते हैं। ये ऐसी निषेधाज्ञायें हैं जो राज्य की पुलिस शक्ति को मर्यादित करती है। कोई इनकी उल्लंघना नहीं कर सकता। यदि कोई कार्यपालिका आदेश या कार्य अथवा व्यवस्थापिका का कोई कानून इनकी उल्लंघना करता है या अपनी अधिकार शक्ति का अतिक्रमण करता है तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकती है। ये व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यक समझे जाते हैं अतः कोई वादी (Complainant) इन्हें कार्यान्वित करने के लिये न्यायालय की शरण ले सकता है। इनकी एक विशेषता यह होती है कि इन्हें साधारण प्रक्रिया द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता। इनमें परिवर्तन के लिये विशेष प्रक्रिया का सहारा लेना पड़ता है। परन्तु मूल अधिकार निरपेक्ष नहीं होते, इन्हें सार्वजनिक हित में मर्यादित किया जा सकता है। परन्तु इनकी विशेषता यह भी है कि इन पर लगाई गयी मर्यादाओं के औचित्य अनौचित्य का निर्धारण कार्यपालिका या व्यवस्थापिका नहीं करती बल्कि न्यायपालिका करती है। संक्षेप में, मूल अधिकार लोकतन्त्र के 'आधार' और संविधान की 'आत्मा' समझे जाते हैं। ये व्यक्ति के विकास की अनिवार्य आवश्यकतायें हैं जिनकी साधारण परिस्थितियों में उपेक्षा नहीं की जा सकती।

### भारत में मूल अधिकारों की विशेषतायें या स्वरूप
### (Nature or Features of Fundamental Rights in India)

भारतीय संविधान के अन्तर्गत दिये गये मूल अधिकारों का वर्णन करने से पूर्व उनकी विशेषताओं पर दृष्टिपात कर लेना अध्ययन की दृष्टि से अधिक उपयोगी होगा। ये विशेषतायें ही भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों के स्वरूप को स्पष्ट

विभाजन ने मुकदमेबाजी को जन्म नही दिया । यह "सघ और राज्यो मे करारोपण के पूर्ण पृथक्करण और सघीय आय से राज्यो को भारी मात्रा मे हस्तातरण"[1] का फल है । वित्त आयोग की व्यवस्था भी इस बात का प्रतीक है कि सघ और राज्यो मे वित्तीय विभाजन अन्तिम और अपरिवर्तनीय नही । फिर, वित्तीय आयोगो की सिफारिशें इस बात की साक्षी है कि राज्यो को दिये जाने वाले अनुदान की राशि मे उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है । जिस अनुदान की राशि 1952 मे 60 65 करोड थी वह अब 550 करोड से भी अधिक है ।

## समीक्षा प्रश्न
## (Review Questions)

1 भारत मे केन्द्र राज्य सम्बन्धो पर आलोचनात्मक टिप्पणी कीजिये ।

2 भारतीय सघ और राज्यो के बीच विधायी और प्रशासनिक तथा वित्तीय सम्बन्धो का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये । इन सम्बन्धो को किस सीमा तक सघीय सविधानो के अनुकूल कहा जा सकता है ?

---

1 See Jain M P Indian Constitutional Law, p 3 0

अध्याय 6

# मूल अधिकार
## ( Fundamental Rights )

### मूल अधिकारो का अर्थ और इतिहास

राज्य की पहचान उन अधिकारो से होती है जो वह अपने नागरिको को प्रदत्त करता है। सामान्यतया अधिकार व्यक्ति के वे दावे है जिन्हें समाज स्वीकार करता है और राज्य मान्यता प्रदान करता है। मूल अधिकार वे नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रतायें है जिन्हे राज्य अपनी मूल विधि (संविधान) मे उल्लिखित करता है। इनकी विशेषता ही यह होती है कि ये राज्य की मूल विधि के अभिन्न अंग होते है इन्हें उसकी पवित्रता प्राप्त होती है और ये उसके द्वारा सुरक्षित होते है। ये ऐसी निषेधाज्ञायें हैं जो राज्य की पुलिस शक्ति को मर्यादित करती है। कोई इनकी उल्लंघना नही कर सकता। यदि कोई कार्यपालिका आदेश या कार्य अथवा व्यवस्थापिका का कोई कानून इनकी उल्लंघना करता है या अपनी अधिकार शक्ति का अतिक्रमण करता है तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकती है। ये व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यक समझे जाते हैं अत कोई वादी (Complainant) इन्हें कार्यान्वित करने के लिये न्यायालय की शरण ले सकता है। इनकी एक विशेषता यह होती है कि इन्हें साधारण प्रक्रिया द्वारा परिवर्तित नही किया जा सकता। इनमे परिवर्तन के लिये विशेष प्रक्रिया का सहारा लेना पडता है। परन्तु मूल अधिकार निरपेक्ष नही होते, इन्हें सार्वजनिक हित मे मर्यादित किया जा सकता है। परन्तु इनकी विशेषता यह भी है कि इन पर लगाई गयी मर्यादाओ के औचित्य अनौचित्य का निर्धारण कार्यपालिका या व्यवस्थापिका नहीं करती बल्कि न्यायपालिका करती है। संक्षेप मे, मूल अधिकार लोकतन्त्र के 'आधार' और संविधान की 'आत्मा' समझे जाते है। ये व्यक्ति के विकास की अनिवार्य आवश्यकतायें है जिनकी साधारण परिस्थितियो मे उपेक्षा नही की जा सकती।

### भारत में मूल अधिकारो की विशेषतायें या स्वरूप
### (Nature or Features of Fundamental Rights in India)

भारतीय संविधान के अन्तर्गत दिये गये मूल अधिकारो का वर्णन करने से पूर्व उनकी विशेषताओ पर दृष्टिपात कर लेना अध्ययन की दृष्टि से अधिक उपयोगी होगा। ये विशेषतायें ही भारतीय नागरिको के मूल अधिकारो के स्वरूप को स्पष्ट

करती है। भारतीय सविधान मे दिये गये नागरिको के मूल अधिकारो की मुख्य विशेपताए निम्न हैं —

**1 सभी मूल अधिकार सभी को उपलब्ध नहीं** —मूल अधिकारो की प्रमुख विशेपता यह है कि जहा कुछ अधिकार सभी व्यक्तियो को अर्थात् नागरिको और विदेशियो दोनो को उपलब्ध हैं वहा कुछ मूल अधिकार केवल भारतीय नागरिका का उपलब्ध है। उदाहरणतया अनुच्छेद 14 मे उल्लिखित 'कानून के समक्ष समानता और कानूना का समान सरक्षण', अनुच्छेद 20 मे उल्लिखित कार्योत्तर विधि की मनाही, अपने विरुद्ध गवाही देने से सुरक्षा, अनुच्छेद 22 म उल्लिखित जीवन और निजी स्वतन्त्रता, अनुच्छेद 23–24 मे उल्लिखित शोषण के विरुद्ध स्वतन्त्रता, अनुच्छेद 25 मे उल्लिखित धार्मिक स्वतन्त्रता, आदि न केवल भारतीय नागरिका का उपलब्ध है बल्कि विदेशिया को भी उपलब्ध हैं। दूसरी ओर अनुच्छेद 16 म वर्णित सार्वजनिक सेवाओ मे नागरिको की समानता, बिना किसी भेद भाव के अवसर की समानता, अनुच्छेद 19 मे उल्लिखित नागरिक स्वतन्त्रतायें आदि केवल भारतीय नागरिका का ही उपलब्ध है विदेशियो का नही।

**2 मूल अधिकार नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रतायें प्रदान करते ह आर्थिक नहीं**—मूल अधिकारा की दूसरी विशेपता यह है कि ये भारत म राजनीतिक लोकतन्त्र की गारण्टी है, आर्थिक लोकतन्त्र की नही। ये नागरिका को भाषण अभिव्यक्ति, सघ, सगठन, भ्रमण आदि की स्वतन्त्रताये तो प्रदान करते हैं परन्तु रूस के सविधान की भाति, काम, विश्राम, आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा आदि को प्रदान नही करते। य इस मान्यता पर भी आधारित नही कि आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव म राजनीतिक स्वतन्त्रता मिथ्या या निरर्थक है। भारत मे आर्थिक स्वतन्त्रताओ को वाद हीन (unjusticiable) क्षेत्र मे, अर्थात नीति निदेशक तत्वा स सम्बन्धित अध्याय चार म रखा गया है। क्योकि भारतीय सविधान के अध्याय 3 म, जो वाद-योग्य है नागरिका को भूख, बेरोजगारी, बीमारी, दरिद्रता, अनभिज्ञता, आदि विपदाओ से छुटकारा नही दिलाता अत इस मुक्त मानवता के अधिकारा का यथार्थ चार्टर नही कहा जा सकता।

**3 मूल अधिकार निरपेक्ष नहीं**—मूल अधिकारा की तीसरी विशेपता यह है कि य निरपेक्ष, अनुल्लघनीय, या अहरणीय नहीं। राज्य राष्ट्रीय हित, सुरक्षा, शान्ति, व्यवस्था, स्वास्थ्य, नैतिकता आदि के नाम पर इन्हे मर्यादित, प्रतिबन्धित या स्थगित कर सकती है। जहा अमरीकी सविधान नागरिका के मूल अधिकारा का प्रतिबन्धित करने की व्यवस्था ही नहीं करता वहा भारतीय सविधान उन्ही उपबन्धो म अपवादो, शर्तों, विशेष व्यवस्थाओ आदि द्वारा मूल अधिकारा पर मर्यादाओ की व्यवस्था करता है जिनम उन्हे नागरिका का प्रदत्त किया है। दूसरे शब्दा म, भारतीय सविधान न केवल मूल अधिकारा को सवैधानिक मान्यता प्रदान करता है बल्कि मर्यादाओ को भी सवैधानिक मान्यता प्रदान करता है। 'मूल अधिकार' और 'मर्यादायें' दोनो को

योग्य हैं। संकटकाल में तो राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा नागरिकों को न्यायालय के संरक्षण से भी वंचित कर सकता है।

4 **मूल अधिकार परिवर्तनीय हैं**—मूल अधिकारों की चौथी विशेषता यह है कि ये स्थायी नहीं। इन्हें परिवर्तित या समाप्त किया जा सकता है। ये वाद योग्य हैं परन्तु स्थायी नहीं और जब कभी न्यायालय के निर्णय कार्यपालिका की सामाजिक और आर्थिक नीतियों के विरुद्ध गये हैं तब ही उसने संवैधानिक संशोधनों का सहारा लेकर न्यायालय के निर्णयों को प्रभावहीन बना दिया। दूसरे शब्दों में संविधान में परिवर्तन या संशोधन करने की संसद की शक्ति असीमित है। यदि गोलकनाथ के निर्णय में न्यायालय ने संसद को मूल अधिकारों में परिवर्तन करने की मनाही की तो संसद ने 24 वें संशोधन द्वारा इस शक्ति को पुनः प्राप्त कर लिया। स्पष्ट है भारत में संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है अमरीका की भांति न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को नहीं।

5 **मूल अधिकारों का दोहरा स्वरूप**—मूल अधिकारों की पाँचवी विशेषता यह है कि जहां कुछ मूल अधिकार निषेधाज्ञायें (negative injunctions) जो राज्य को कुछ कार्य करने से मनाही करती हैं वहां कुछ मूल अधिकार सकारात्मक आदेश (positive commands) हैं जो राज्य को कुछ कार्य करने के लिये कहते हैं। उदाहरणतया जहां राज्य का कोई कार्य नागरिकों के कानून के समक्ष समानता और कानून के समान संरक्षण से वंचित नहीं कर सकता वहां वह कानून द्वारा पिछड़े हुए वर्गों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन जातियों के लिये विशेष व्यवस्थायें कर सकता है।

6 **मूल अधिकार वाद योग्य है परन्तु न्यायालय लोगों से ऊपर नहीं**—मूल अधिकारों की छठी विशेषता यह है कि राज्य यदि किसी व्यक्ति को इनसे वंचित करता है तो न्यायालयों का संरक्षण प्राप्त कर सकता है तथा न्यायालय द्वारा इन्हें प्रवर्तन (enforce) करा सकता है। न्यायालय ही इस बात का निर्धारण करता है कि मूल अधिकारों पर लगायी गयी मर्यादायें उचित हैं या नहीं। यदि मर्यादायें उचित नहीं या वे संवैधानिक धाराओं की उल्लंघना करती हैं या मूल अधिकार शक्ति का अतिक्रमण हैं तो न्यायालय मर्यादाओं को अवैध घोषित कर सकती है। परन्तु न्यायालय की यह शक्ति विकास के क्रम में बाधा प्रस्तुत नहीं कर सकती। संशोधन 24 और 25 से यह पूर्णतया स्पष्ट है। कोई भी न्यायालय नागरिकों की सर्वोच्च इच्छा को मर्यादित नहीं कर सकती, वह त्रुटियां या बना सकती है उसे नष्ट नहीं कर सकती। कोई न्यायालय लोगों से ऊपर नहीं।

7 **मूल अधिकारों में अस्पष्टता और अनिश्चितता**—मूल अधिकारों की सातवीं विशेषता यह है कि ये विस्तृत होते हुए भी अस्पष्ट हैं और इनमें [illegible] (Overlapping) पाई जाती है जो [illegible] भ्रांतियां (confusion) (contradictions) और [illegible] (co[illegible]) हैं। उदाहरणतया सार्वजनिक [illegible], [illegible] के [illegible]

व्यवसाय, अल्पसंख्यक राशि, शब्दों को स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया गया। इतना ही नहीं मूल अधिकारों में कुछ को बारम्बार लिखा गया है और कुछ को मूल अधिकारों से भिन्न अध्यायों में भी लिखा गया है। ये दोनों तत्व व्याघाता और भ्रांतियों को उत्पन्न करते हैं। उदाहरणतया 19 (1) (f) और अनुच्छेद 31 दोनों सम्पत्ति के अधिकार से सम्बन्धित है परन्तु एक सम्पत्ति के अर्जन व्ययन आदि का अधिकार देता है तो दूसरा उसकी मर्यादाओं का उल्लिखित करता है। यह समझ में नहीं आता कि अनुच्छेद 19 (1) (g) में व्यवसाय की स्वतन्त्रता का अध्याय चार में वर्णित नशीली वस्तुओं पर प्रतिबंध से कैसे समंजित किया जा सकता है। इसी तरह से व्यापार की स्वतन्त्रता पूंजी के केन्द्रीकरण को रोकने की व्यवस्था से मेल नहीं खाती। ये तत्व ही अधिक मुकदमेबाजी और संसद तथा न्यायालय में संघर्ष को जन्म देते हैं।

**8 मूल अधिकारों में सिद्धान्त और व्यवहार में भिन्नता**—सिद्धान्त रूप में नागरिकों के मूल अधिकार अत्यधिक प्रभावपूर्ण प्रतीत होते हैं परन्तु व्यवहार में उन पर लगाई गयी मर्यादाओं ने उन्हें अवास्तविक बना दिया है। वस्तुतः मर्यादाओं का क्षेत्र इतना व्यापक है कि यह जानना बड़ा कठिन है कि नागरिकों को कौन कौन से मूल अधिकार दिये गये है। समानता के अधिकार में संरक्षित भेद भाव (protective discrimination) की व्यवस्था है, स्वतन्त्रता के अधिकार में पी० उ० ए०, मीसा और भारत सुरक्षा अधिनियम विद्यमान है निर्धनता शिक्षा के अधिकार को अवास्तविक बनाती है सम्पत्ति के अधिकार में न्यायालय सार्वजनिक हित में अधिगृहीत की गयी निजी सम्पत्ति के लिये दी जाने वाली "राशि" के औचित्य की समीक्षा नहीं कर सकती। सबसे भयानक बात यह है कि राष्ट्रपति संकट काल में नहीं अपितु शान्ति काल में संवैधानिक उपचारों के अधिकार को स्थगित कर सकता है अर्थात नागरिकों को न्यायालय के संरक्षण से वंचित कर सकता है।

## भारतीय नागरिकों को प्रदत्त किये गये मूल अधिकार

**(Fundamental Rights granted to the Indian Citizens)**

संविधान के भाग 3 के चौबीस अनुच्छेद (अनुच्छेद 12 से अनुच्छेद 35 तक) भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख करते है। परन्तु संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये गये ये अधिकार न तो निरपेक्ष हैं और न ही असीमित। वस्तुतः संविधान के उन्हीं अनुच्छेदों में सीमाओं प्रतिबन्धों और निलम्बन की व्यवस्था की गयी है जिनमें इन्हें प्रदान किया गया है।

संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये गये अधिकार निम्न हैं —

1 समानता का अधिकार।
2 स्वतन्त्रता का अधिकार।
3 शोषण के विरुद्ध अधिकार।
4 धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार।

5 सांस्कृतिक एवं शिक्षा सम्बन्धी अधिकार।

6 सम्पत्ति का अधिकार।

7 संवैधानिक उपचारों का अधिकार।

**1 समानता का अधिकार**—समानता प्रजातन्त्र की आधारशिला है। समानता के अभाव में प्रजातान्त्रिक सरकार या सभ्य समाज की कल्पना करना कठिन है। भारतीय संविधान के पांच अनुच्छेद (अनुच्छेद 14 से 18 तक) नागरिकों के समानता के अधिकार का उल्लेख करते हैं।

*अनुच्छेद 14 भारत क्षेत्र में रहने वाले सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष* समानता (equality before law) और कानूनों के समान संरक्षण (equal protection of the law) का अधिकार प्रदान करता है। इस तरह यह अधिकार न केवल भारतीय नागरिकों को बल्कि भारत में रहने वाले सभी व्यक्तियों (विदेशियों सहित) को भी उपलब्ध है और राज्य उन्हें इस अधिकार से वंचित नहीं कर सकता। परन्तु 'कानून के समक्ष समानता' या 'कानून के समान संरक्षण' का यह अर्थ नहीं कि राज्य का 'प्रत्येक कानून सार्वलौकिक होना चाहिये' या राज्य 'उचित वर्गीकरण (reasonable classification) नहीं कर सकता। राज्य विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये विशेष कानूनों का निर्माण कर सकता है और परिस्थिति की मांग के अनुसार, क्रमिक सुधार के लिये, कुछ संस्थाओं या विशिष्ट क्षेत्रों में उन्हें लागू भी कर सकता है। इस तरह राज्य उचित वर्गीकरण तो कर सकता है परन्तु वर्गीय विधान (class legislation) या साम्प्रदायिक कानून का निर्माण नहीं कर सकता।

'कानून के समक्ष समानता' और 'कानून के समान संरक्षण' का अर्थ केवल इतना है कि राज्य कानून द्वारा व्यक्तियों में या तो समान स्वभाव, उपलब्धियों या परिस्थितियों वाले व्यक्तियों में भिन्नता नहीं कर सकता। यदि राज्य ऐसा करता है तो उस कानून को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है। इस तरह यह अनुच्छेद सभी व्यक्तियों को, चाहे उनकी सामाजिक स्थिति कैसी ही क्यों न हो समानता का आश्वासन नहीं देता अर्थात सभी स्तरों पर समान आचरण या समरूप व्यवहार (identical treatment) का आश्वासन नहीं देता। यह केवल एक सी (समान) स्थिति में रहने वाले एक से व्यक्तियों में समानता का आश्वासन देता है। जैसाकि सर्वोच्च न्यायालय ने चिरंजीलाल बनाम भारत संघ के मुकदमे में अवलोकित किया था कि 'समान संरक्षण का अर्थ समान परिस्थितियों में समान संरक्षण है।" उदाहरणतया विधायकों के विशेषाधिकार न्यायाधीशों के विशेषाधिकार के समान नहीं बनाये जा सकते या एक साधारण नागरिक समान संरक्षण के आधार पर उन सुविधाओं की मांग नहीं कर सकता जो एक उच्च सार्वजनिक पदाधिकारी को उपलब्ध है। परन्तु एक विधायक के विशेषाधिकार दूसरे विधायक के विशेषाधिकारों से, जो एक सी (समान) स्थिति में है, भिन्न नहीं हो सकते।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि अनुच्छेद 14 केवल राज्य को नागरिकों में भिन्नता करने से मनाही करता है परन्तु यह अनुच्छेद नागरिकों के परस्पर व्यवहार

मे भिन्नता करने से मनाही नही करता। उदाहरणतया यदि कोई उद्योगपति अपने उद्योग में अपने कर्मचारियों के वेतनों या अन्य व्यवहारों में अनुचित भिन्नता करता है तो उसके विरुद्ध कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती।

अनुच्छेद 15 ऊँच नीच के भेद-भाव को समाप्त करता है तथा राज्य को धर्म, जाति, प्रजाति, लिंग जन्म स्थान या इनमें से किसी एक आधार पर नागरिकों में भिन्नता करने से मनाही करता है। इतना ही नहीं, संविधान का यह अनुच्छेद राज्य पर यह सकारात्मक उत्तरदायित्व भी डालता है कि वह ऐसी व्यवस्थायें उत्पन्न करेगा जिससे सभी दुकानें, सार्वजनिक भोजनालय, होटल तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश तथा कुआ, तालाबों, स्नान घाटों, सड़कों, मार्गों तथा इसी प्रकार के सभी सार्वजनिक स्थानों तथा जिन्हें सार्वजनिक प्रयोग के लिये समर्पित कर दिया गया हो तथा जिन्हें अंशत या पूर्णतया राज्य द्वारा व्यवस्थित किया जाता है, वे सभी नागरिकों के प्रयोग के लिये खुले रहें। इस तरह यह अनुच्छेद, जैसा कि एम० वी० पायली ने लिखा है कि इसका महत्व इन बातों में है कि यह "प्रान्तीयता की जडों पर प्रहार करता है एकहरी नागरिकता को प्रोत्साहन देता है तथा सामाजिक समानता को सबल बनाता है।"[1]

अनुच्छेद 15 महिलाओं, बच्चों, सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन जातियों के लिये विशेष व्यवस्थायें बनाने से राज्य को मनाही नहीं करता। परन्तु ये व्यवस्थायें चिरकाल तक बनी नहीं रह सकती बल्कि उस समय तक ही विद्यमान रहेंगी जब तक इन वर्गों की स्थिति अन्य नागरिकों के समान नहीं हो जाती।

अनुच्छेद 16 सार्वजनिक सेवाओं में नागरिकों को समानता का अधिकार प्रदान करता है अर्थात् सार्वजनिक नौकरियों में धर्म, नस्ल, जाति, लिंग, वंश, जन्म स्थान या निवास के आधार पर नागरिकों में कोई भेद भाव नहीं किया जा सकता परन्तु संसद कानून द्वारा राज्य की सेवाओं या स्थानीय सेवाओं के लिये निवास स्थान (residence) की शर्त लगा सकती है परन्तु यह कानून केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत आने वाली सार्वजनिक सेवाओं पर लागू नहीं होता। संसद कानून द्वारा पिछड़ी हुई जातियों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों के लिये स्थान सुरक्षित रख सकती है यदि संसद की दृष्टि में इन जातियों का सेवाओं में प्रतिनिधित्व समुचित न हो और संसद चाहे तो कानून द्वारा धार्मिक संस्थाओं के पदाधिकारियों की नियुक्ति उस धर्म के अनुयायियों तक सीमित रख सकती है। परन्तु राज्य इन विशेष व्यवस्थाओं के नाम पर 'साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली' या 'प्रान्तीयता' का प्रसार नहीं कर सकती यद्यपि 'निवास स्थान' के नाम पर कुछ सुविधायें प्रदान कर सकती है। उदाहरणतया राज्य यह निर्धारित कर सकता है कि राज्य के चिकित्सा विद्यालयों

---

1 Pylee, M V Constitutional Government in India, p 202

(medical colleges) मे राज्य के निवासियों को शुल्क म रियायतें दी जायेंगी या काय करने वाली महिलाओ का मातृत्व सुविधाये (maternity relief) या बच्चा को नि शुल्क शिक्षा या महिलाओ व बच्चो के लिये पृथक पार्कों या सावजनिक स्थानो मे प्रवेश और निकास द्वार के लिये विशेष व्यवस्थाओ या सावजनिक शिक्षा केन्द्रो म पिछडी हुई जातियो, अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जन जातियो के लिये स्थानो को सुरक्षित रख सकती है।

व्यवहार म निवास स्थान (residence) के अपवाद का चरम सीमा तक प्रयोग होने लगा है जिससे नागरिको के समानता के अधिकार को न केवल खतरा उत्पन्न हो गया है वल्कि उसके अस्तित्व को भी खतरा उत्पन्न हो गया है। इसन राष्ट्रीय एकता की भावना पर भी कुठाराघात किया है। जिस ढग से प्रान्तीय (राज्य) सरकारा न 'धरती के लाल (Sons of the Soil) के सिद्धान्त और 'प्रान्तीय भाषाओं' को प्रान्तीय सेवाओ म स्थान दिया जाता है वह राष्ट्रीय एकता और समानता के लिये अच्छा शकुन नही क्योकि ये तत्व प्रान्तीयता, क्षेत्रीयता और सकीर्ण भावनाओ का जन्म देते है व्यापक राष्ट्रीय भावनाओ को नही। इतना ही नही, पिछडी हुई जातियो, अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जन जातियो के लिये 'सरक्षात्मक भेद' (protective discrimination) का प्रयोग राजनीतिक हितो की पूर्ति के लिये किया जा सकता है। चिरकाल तक सावजनिक सेवाओ म "सरक्षात्मक भेद" की व्यवस्था को बनाये रखना खतरनाक सिद्ध हो सकता है। प्रथम 'पूवजो के पापो' के लिये वतमान सन्तानो म इस भेद को बनाये रखना प्राकृतिक न्याय और न्याय की भावना के विरुद्ध है यद्यपि तथाकथित सामाजिक न्याय, जिसे कभी परिभाषित नही किया जा सकता और जो सदा सापेक्ष है निरपेक्ष नही, की भावना के आधार पर इसका कितना ही समथन क्यो न किया जाये। दूसरे, इस बात की क्या गारण्टी है कि इन व्यवस्थाओ को जिन्हे सविधान लागू होने के केवल 10 वष तक (i e 1960 तक) रखा गया था उन्हे राजनीतिक हितो की रक्षा हेतु स्थायी तत्व नही बनाया जायगा। यदि इनका प्रयोग "वोट के हथकण्डे" (Vote Bank) के रूप म किया जाने लगा तो उससे अत्यधिक हानि हो सकती है। तीसरे, इस बात की भी गारण्टी नही कि इन सुविधाओ का एक बार प्राप्त कर ये जातिया इसे आसानी से समाप्त होने देंगी। इन व्यवस्थाओ को 'जाति' के आधार बनाये रखना "वग चेतना' और 'जाति" भावना को बनाये रखने म मदद करती है जाति भावना को समाप्त करने मे नही। समाज के कमजोर वर्गों का उत्थान का अथ पूर्वाग्रह' (prejudice) नही होता। एम० सी० सीतलवाड ने ठीक लिखा है कि" जिस आदश समानता की बात मानव जाति युगो से करती रही है वह (भारत मे) अभी स्वप्न ही है। स्थिति और अवसर की समानता के उद्देश्य को भी, जिसका सकल्प हमारा

तब हमने प्राप्त किया है वह केवल प्रतिकूल भिन्नता का निवारण है—अर्थात बुरी नजर से व्यक्तियो के चयन को दूर किया है।"[1]

अनुच्छेद 17 एक ऐसी सामाजिक अयोग्यता का दूर करता है जो भारतीय समाज मे युगो से चलती आ रही थी अर्थात अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता जैसी अत्यन्त निकृष्ट सामाजिक रीति का दूर करता है। अस्पृश्यता का किसी भी रूप मे प्रचार अब दण्डनीय अपराध है। इसके अन्तगत दिये जाने वाले दण्डा का उल्लेख 1955 के अस्पृश्यता (अपराध) कानून XXII मे किया गया है।

अनुच्छेद 18 सवसाधारण मे कृत्रिम भेदभाव को समाप्त करता है अथात भारतीय सविधान सेना और शिक्षा सम्बन्धी उपाधिया को छाड कर, अन्य उपाधियो के वितरण पर रोक लगाता है। भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि (खिताब या पदवी) प्राप्त नही कर सकता और कोई ऐसा व्यक्ति जो भारत का नागरिक नही परन्तु भारत मे किसी लाभ के पद पर है तो वह राष्ट्रपति की अनुमति के बिना किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि या सहायता प्राप्त नही कर सकता।

व्यवहार म अनुच्छेद 18 की उपेक्षा की गयी है क्योकि भारत सरकार ने नागरिको के श्रेष्ठ कार्यों या सेवाओ के लिये राष्ट्रीय सम्मान से विभूषित किया है और भारत रतन पद्म भूषण और पद्मश्री जसी उपाधिया को वितरित करन की प्रथा को शुरू किया है। इन उपाधियों के वितरित करने का उद्देश्य कुछ भी हो इस बात मे इन्कार नही किया जा सकता कि कोई भी सत्तारूढ दल अपन समथको की सख्या बढान के लिये इनका प्रयाग अपने हिता म कर सकती है और अग्रेजी शासको की भाति समाज म भिन्नतायें उत्पन्न कर सकती है। इस तरह इन उपाधिया को वितरित करन की प्रथा भविष्य के लिये अच्छा शकुन नही कहा जा सकता।

समानता के अधिकार मे एक त्रुटि भी है। वह यह कि यह नागरिका को काय, व्यवसाय, आर्थिक सुरक्षा और विश्राम की समानता के अधिकारो का उल्लेख नही करता। दूसरे शब्दो म, सविधान नागरिका को केवल राजनीतिक समानता का आश्वासन देता है आर्थिक समानता का नही।

उपयुक्त वणन मे स्पष्ट है कि भारत के नागरिको को उन अर्थों मे समानता का अधिकार प्राप्त नही जिन अर्थो मे इसे पश्चिम के देशा मे समझा जाता है और न ही इसका स्वरूप रूस जसे साम्यवादी देशा की भाति आर्थिक समानता पर आधारित है।

2 स्वतन्त्रता का अधिकार—स्वतन्त्रता मानव विकास की प्रथम शत है और उदार लोकतन्त्र की मुख्य आधार शिला है। इसके अभाव म लोकतन्त्र की कल्पना

1 Setalvad, M C The Indian Constitution (1950-65) p 119

करना कठिन है क्योंकि इसकी अनुपस्थिति में व्यक्ति का विकास अवरुद्ध हो जाता है, समाज की प्रगति कुंठित हो जाती है और सत्य का गला घुट जाता है।

भारतीय संविधान अन्य लोकतान्त्रिक संविधानों की भांति अपने चार अनुच्छेदों में (अनुच्छेद 19 से 22 तक) नागरिक स्वतन्त्रताओं का उल्लेख करता है जिन्हें "अत्यन्त आवश्यक अधिकारों" की संज्ञा दी गयी है। एम० वी० पायली इन चार अनुच्छेदों को "मौलिक अधिकारों के अध्याय के मौलिक आधार" कहता है।" इनमें उल्लिखित स्वतन्त्रतायें नागरिक स्वतन्त्रतायें (civil liberties) हैं, राजनीतिक स्वतन्त्रतायें (political liberties) नहीं क्योंकि ये नागरिकों के मताधिकार या सार्वजनिक पद आदि को प्राप्त करने के राजनीतिक अधिकारों से सम्बन्धित नहीं। ये 'निजी स्वतन्त्रतायें' हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। ये वे प्राकृतिक स्वतन्त्रतायें हैं जिन्हें सभ्य स्वतन्त्र देश में नागरिकों में अन्तर्निहित समझी जाती हैं। ये वे मुख्य, महान, एवं मूल स्वतन्त्रतायें हैं जिन पर भारत का लोकतान्त्रिक भविष्य निर्भर करता है। समानता के मूल अधिकार और स्वतन्त्रता के मूल अधिकार में प्रमुख भेद यह है कि जहां समानता का अधिकार सभी व्यक्तियों को उपलब्ध है वहां स्वतन्त्रता का अधिकार केवल भारत के नागरिकों को ही उपलब्ध है।

अनुच्छेद 19 (1) में संविधान जिन नागरिक स्वतन्त्रताओं का उल्लेख करता है वे निम्न हैं —

(a) भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता।

(b) शांतिपूर्ण एवं बिना हथियारों के इकट्ठा होने की स्वतन्त्रता।

(c) समुदाय एवं संघ बनाने की स्वतन्त्रता।

(d) समस्त भारत में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण (आने जाने) की स्वतन्त्रता।

(e) भारत के किसी भाग में निवास या बस जाने की स्वतन्त्रता।

(f) सम्पत्ति अर्जन, धारण और व्ययन करने की स्वतन्त्रता।

(g) किसी व्यवसाय, कारोबार या व्यापार की स्वतन्त्रता।

उपर्युक्त नागरिक स्वतन्त्रताओं में प्रेस या छापेखाने की स्वतन्त्रता को स्पष्टता या उल्लिखित नहीं किया गया परन्तु फिर भी इसकी स्वतन्त्रता "विचार और अभिव्यक्ति" की स्वतन्त्रता में निहित है। जैसाकि सर्वोच्च न्यायालय ने रमेश [illegible] बनाम मद्रास राज्य के मुकदमे में प्रतिपादित किया था कि विचारों की [illegible] में प्रचार, प्रकाशन और परिचालन (circulation) की स्वतन्त्रता [illegible] क्योंकि समाचार पत्र, पुस्तकें, पम्फलेट, चित्रपट, आकाशवाणी [illegible] विचार अभिव्यक्ति के मुख्य साधन हैं इसलिए ये स्वतन्त्रतायें भी [illegible] की स्वतन्त्रता में निहित है।[1] इसी प्रकार धारा 19 (1) (b) [illegible] सभाओं, जलूसों, प्रदर्शनों आदि की स्वतन्त्रता का स्पष्टता [illegible]

---

1 See Ramesh Thappar Vs State of Madras [illegible]

फिर भी ये सब स्वतन्त्रतायें 'शान्तिपूर्ण एवं बिना अस्त्रों के इकट्ठा होने की स्वतन्त्रता में निहित हैं।

यह सत्य है कि उपयुक्त नागरिक स्वतन्त्रतायें व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिये अनिवार्य है परन्तु फिर भी किसी सभ्य समाज में इन्हें निर्बाध या निरपेक्ष रूप से प्रदान नहीं किया जा सकता क्योंकि वास्तविक स्वतन्त्रता उचित बाधाओं के वातावरण में ही जीवित रह सकती है। जैसाकि बर्क लिखता है कि "स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये उसका सीमित होना अनिवार्य है।" अधिकार, चाहे साधारण हो या मूल, सीमाओं में ही साकार हो सकते हैं। निरपेक्ष, असीमित, निर्बाध और अनियन्त्रित स्वतन्त्रताओं की कल्पना मिथ्या है। अनियन्त्रित स्वतन्त्रतायें समाज के लिये घातक सिद्ध हो सकती हैं, गणराज्य की स्वतन्त्रता को नष्ट कर सकती हैं, विध्वंसकारी तत्वों को बढ़ावा दे सकती हैं तथा समाज में अव्यवस्था और अराजकता को जन्म दे सकती हैं। उदाहरणतया किसी व्यक्ति को ऐसे संघ या समुदाय निर्माण की आज्ञा नहीं दी जा सकती जो षडयन्त्र पर उतारू है या शान्ति और व्यवस्था भंग करते हैं। इसी प्रकार संक्रामक रोग से पीड़ित व्यक्ति को संचरण की पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। सरकारी कर्मचारी जो सेवा के नियमों से बाध्य होते हैं, ऐसे संघों का निर्माण नहीं कर सकते जिनका निर्माण साधारण नागरिक करते हैं।[1]

स्पष्ट है कि प्रत्येक सभ्य समाज में नागरिक स्वतन्त्रताओं और सामाजिक आवश्यकताओं में सन्तुलन उत्पन्न करने के लिये सामाजिक नियन्त्रण अर्थात मर्यादाओं या प्रतिबन्धों की व्यवस्था की जाती है। उदाहरणतया अमरीका में जहां संविधान राज्य की पुलिस शक्तियों का वर्णन नहीं करता, सर्वोच्च न्यायालय को पुलिस शक्तियों के सिद्धान्त का विकास करना पड़ा।

भारतीय संविधान स्वयं उन परिस्थितियों का उल्लेख करता है जिनमें नागरिक स्वतन्त्रतायें मर्यादित की जा सकती हैं। उदाहरणतया राज्य की सुरक्षा, दूसरे देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टता (decency), नैतिकता, न्यायालय का अपमान, बदनाम अर्थात् अपमान लेख, अपमान वाचन तथा मानहानि या अपराध के लिये उकसाने आदि की स्थिति में राज्य नागरिक स्वतन्त्रताओं पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। यदि कोई व्यक्ति या संघ भारत के किसी भाग के संघ से पृथक होने का प्रचार करता है तो भी राज्य नागरिक स्वतन्त्रताओं को मर्यादित कर सकता है। सार्वजनिक हित या अनुसूचित जन जातियों के हितों की रक्षा हेतु भी नागरिक स्वतन्त्रतायें मर्यादित की जा सकती हैं। राज्य कुछ व्यवसायों पर जैसे वेश्या वृत्ति या शरीर व्यापार (immoral traffic in human beings) पर प्रतिबन्ध लगा

1 Quoted by Sharma, B M The Republic of India (Asia Publishing House) 1966, p 184

सकता है, कुछ व्यवसायों के लिये जैसे डाक्टरों, वकीलों, अध्यापकों आदि के लिये शैक्षणिक योग्यतायें निर्धारित कर सकता है, कुछ व्यवसायों या उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर सकता है या उन पर अपना एकाधिकार स्थापित कर सकता है या उन्हें राज्य द्वारा सचालित या नियन्त्रित निगमों को सौंप सकता है। दूसरे शब्दों में सामाजिक और आर्थिक नीतियों को कार्यान्वित करने की दृष्टि से अर्थात भाग चार में वर्णित नीति निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से भी नागरिक स्वतन्त्रताओं को मर्यादित किया जा सकता है। सशोधन 25 तो इसका स्पष्ट उल्लेख करता है।

मर्यादाओं के उपर्युक्त क्षेत्रों से स्पष्ट है कि भारत में राज्य के पास नागरिक स्वतन्त्रताओं पर मर्यादायें लगाने के पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि सविधान नागरिकों की प्रशासन से रक्षा नहीं करता या शासन पर मर्यादायें नहीं लगाता। सविधान यदि नागरिक स्वतन्त्रताओं पर मर्यादाओं की व्यवस्था करता है तो वही सविधान कार्यपालिका निरकुशता या मनमानी शासन से भी उनकी रक्षा करता है। मर्यादायें निरकुश, मनमानी या अत्यधिक (excessive) नहीं हो सकती। सविधान इस बात की स्पष्ट व्याख्या करता है कि मर्यादायें कानून की प्रक्रिया द्वारा ही लगायी जा सकती हैं अर्थात वे ही मर्यादायें लगायी जा सकती हैं जिनकी कानून आज्ञा देता है। मर्यादायें प्रयोजन से सम्बन्धित होनी चाहिये अर्थात् मर्यादायें उस सीमा तक लगायी जा सकती हैं जिस सीमा तक सार्वजनिक हित इसकी माग करता हो। मर्यादायें बदनियती (mala fide intention) से नहीं लगायी जा सकती। इसके अतिरिक्त मर्यादायें युक्तियुक्त (reasonable) ही हो सकती हैं। न्यायालय ही इस बात का निर्धारण करता है कि मर्यादायें "युक्तियुक्त" हैं या नहीं। चिन्तामणि राय बनाम मध्य प्रदेश राज्य के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने अवलोकित किया था कि "व्यवस्थापिका द्वारा युक्तियुक्त मर्यादाओं का निर्धारण अन्तिम या निर्णायक नहीं। यह इस न्यायालय के पर्यवेक्षण के अधीन है व्यवस्थापिका का कोई कानून यदि सवैधानिक स्वतन्त्रताओं का अतिक्रमण करता है तो न्यायालय को उसे रद्द करने का अधिकार है।'

अनुच्छेद 20 व्यक्ति को निजी स्वतन्त्रता प्रदान करता है तथा राज्य को कार्योत्तर (बीती हुई घटनाओं के लिये—ex post facto law) विधि निर्माण से मनाही करता है। यह अनुच्छेद इस बात की भी गारण्टी देता है कि व्यक्ति को तभी दण्डित किया जा सकता है यदि वह अपराध करते समय किसी विद्यमान कानून का उल्लघन करता है। यदि व्यक्ति के किसी कार्य से किसी विद्यमान कानून की उल्लघना नहीं होती तो उसे दण्डित नहीं किया जा सकता। दूसरे, दण्ड की मात्रा कानून में वर्णित दण्ड से अधिक नहीं हो सकती। तीसरे, एक अपराध के लिये अभियुक्त को एक बार ही दण्ड दिया जा सकता है। चौथे, किसी अभियुक्त को अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता अर्थात कथित अभियुक्त से

यह नही कहा जा सकता कि वह सिद्ध करे कि वह अपराधी नही है। यह तो अभियोक्ता (accuser) का कर्त्तव्य है कि वह सिद्ध करे कि कथित अभियुक्त ने क्या अपराध किया है।

अनुच्छेद 21 भारतीय संविधान मे सबसे संक्षिप्त अनुच्छेद है परन्तु यह नागरिको को सबसे महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्रता, जीवन और निजी स्वतन्त्रता प्रदान करता है। परन्तु संविधान ने इसे भी निरपेक्ष रूप मे स्वीकार नही किया। इसे भी कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया (Procedure established by law) से मर्यादित किया है अर्थात कार्यपालिका स्वेच्छा से या मनमाने ढग मे किसी व्यक्ति को उसके जीवन और निजी स्वतन्त्रता से वचित नही कर सकती यद्यपि कानून द्वारा वह नागरिको का उनके जीवन और निजी स्वतन्त्रताओ से वचित रख सकती है। इस तरह कानून द्वारा कार्यपालिका नागरिको को उनके जीवन और निजी स्वतन्त्रताओ से वचित कर अन्य नागरिक स्वतन्त्रताओ से भी वचित कर सकती है क्योकि जीवन और निजी स्वतन्त्रता के अभाव मे अन्य स्वतन्त्रताये निरर्थक हो जाती है। सबसे भयानक स्थिति यह है कि भारतीय न्यायालय ऐसे कानून के औचित्य (अच्छाई या बुराई) को निर्धारित नही कर सकती अर्थात् न्यायालय कानून को इस आधार पर रद्द नही कर सकती कि वह बुरा है, अनतिक है, दुराचारी है या निर्दयी है। कानून चाहे कितना ही दुराचारी क्यो न हो यदि उसे सवधानिक धाराओ के अनुकूल बनाया गया है और कानून निर्मात्री सभा ने अपनी अधिकार शक्ति का अतिक्रमण नहीं किया तो न्यायालय उस कानून को अवध या असवधानिक घोषित नही कर सकती। सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश कानिया ने अवलोकित किया था कि "कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को स्वीकार करने से संविधान ने कानून को निश्चित करने का पूरा अधिकार व्यवस्थापिका को दिया है। गिरफ्तारी, दण्ड या नजरबन्दी आदि के सम्बन्ध मे कोई कानून कितना ही कठोर क्यो न हो, भारतीय न्यायालय जनता के लिये कुछ नही कर सकती।" इस तरह भारतीय संविधान इस क्षेत्र मे ससदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है, न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को नही।

अनुच्छेद 22 नागरिको को मनमानी (निरकुश) गिरफ्तारी और हिवालात से सुरक्षा प्रदान करता है। यह अनुच्छेद इस बात की व्यवस्था करता है कि यदि किसी व्यक्ति को गिरफ्तार किया जाय तो उसे—

(a) गिरफ्तारी के कारणो से यथा शीघ्र सूचित किया जाय। सर्वोच्च न्यायालय ने यह अवलोकित किया है कि गिरफ्तारी के 5 दिन के अन्दर अन्दर गिरफ्तार किये गये व्यक्ति को गिरफ्तारी के कारणो से अवगत करा देना चाहिये। गिरफ्तारी के कारण स्पष्ट एव गिरफ्तार किये गये व्यक्ति की समझ मे आने वाली भाषा मे होने चाहिये। बन्दी बनाये जाने के कारण उद्देश्य की पूर्ति के अनुकूल हो।

(b) गिरफ्तार किये गये व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अधिवक्ता (Advo-

cate) मे परामश लेने का अधिकार है। उसे यथाशीघ्र सफाई या याचिका प्रस्तुत करने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

(c) गिरफ्तार करने के 24 घण्टे के भीतर (इसमे जेल से न्यायालय तक पहुँचने का समय सम्मिलित नही है) उसे दण्डाधिकारी (Magistrate) के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिये और दण्डाधिकारी के आदेश पर ही उसे हिरासत मे रखा जा सकता है।

उपयुक्त सुविधाये उन बंदियो को प्राप्त नही होती जो या तो विदेशी शत्रु-देश से सम्बन्ध रखते हो या जिन्हे निवारक निरोध अधिनियम (Preventive Detention Act) के अन्तगत गिरफ्तार किया गया हो।

## निवारक निरोध
### (Preventive Detention)

सविधान अनुच्छेद 22 (4) मे निवारक निरोध की व्यवस्था करता है परन्तु उसे परिभाषित नही करता। निवारक निरोध को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है कि जब अधिकार शक्ति (authority) के पास किसी अमुक व्यक्ति को हिरासत मे रखने के लिये कोई गवाही (evidence) न हो और न ही उस पर कोई कानूनी आरोप लगाने के लिये कोइ कानूनी प्रमाण हो पर तु फिर भी उसके पास उसे हिरासत मे रखने के लिए पर्याप्त कारण हो तो उसे निवारक निरोध कहते है। दूसरे शब्दो मे, (बिना अपराध सिद्ध किये, बिना कोई आरोप लगाये, जब किसी व्यक्ति को "शका" या "सम्भावना" या "भूत के कार्यो" के आधार पर हिरासत मे रखा जाता है तो उसे निवारक निरोध कहते है। स्पष्ट है कि निवारक निरोध का उद्देश्य दण्डात्मक निरोध (Punitive detention) की भाति (किसी व्यक्ति को उसके अपराध के लिये दण्डित करना नही बल्कि उसे अपराध करने से रोकना है) किसी अमुक काय को करने या किसी उद्देश्य को प्राप्त करने से रोकना है।

सविधान ससद को निवारक निरोध अधिनियम के बनाने का अधिकार प्रदान करता है और ससद ने 1950 मे निवारक निरोध कानून का निर्माण तीन वष के लिये किया था परन्तु जिसकी अवधि निरन्तर बढाई गयी है और अब ऐसा प्रतीत होता है कि जिसकी व्यवस्था अस्थायी रूप मे की गई थी वह स्थायी रूप धारण किये जा रहा है। इतना ही नही सन् 1971 म ससद ने आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम (MISA) का भी निर्माण किया है और इसे और अधिक कडा बनाने के उद्देश्य से सरकार ने मीसा (MISA) म सशोधन का प्रस्ताव[1] ससद म प्रस्तुत किया परन्तु विरोधी दलो की उग्र आलोचना के कारण उसे फिलहाल वापिस ले लिया गया।

---

1 वतमान सकटकालीन स्थिति म 30 जून, 1975 के अध्यादेश द्वारा आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम (MISA) मे सशोधन किया गया है।

निवारक निरोध अधिनियम के अन्तगत गिरफ्तार किये गये व्यक्ति को निम्न सुविधायें उपलब्ध हैं —

(i) अमुक व्यक्ति को, बिना अभियोग लगाये, अधिक से अधिक तीन महीने तक हिरासत मे रखा जा सकता है।

(ii) परामर्शदात्री मण्डल के परामर्श पर ही निवारक निरोध की अवधि को बढ़ाया जा सकता है। दूसरे शब्दो म, परामर्श दात्री मण्डल क इस परामर्श पर ही कि अमुक व्यक्ति को हिरासत में रखने के पर्याप्त कारण हैं तो ही उसे हिरासत मे रखा जा सकता है।

(iii) उन्ही व्यक्तियो को परामर्शदात्री मण्डल के सदस्य बनाया जा सकता है जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होने की अर्हतायें (योग्यतायें) रखते हैं। ससद कानून द्वारा परामर्शदात्री मण्डल के गठन और क्षेत्र सम्बन्धी प्रक्रिया को निर्धारित कर सकती है।

(iv) निवारक निरोध कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार किये गये व्यक्ति के हिरासत की अवधि निवारक निरोध कानून मे वर्णित अवधि से अधिक नही हो सकती।

(v) हिरासत मे लिये गये व्यक्ति को यथाशीघ्र उन कारणो से अवगत कराया जायेगा जिनके अन्तगत उसे हिरासत म ले लिया गया है। परन्तु यदि अधिकार शक्ति यह अनुभव करे कि ऐसे कारणा को बताना या सूचित करना सावजनिक हित मे नही तो कारणो को बताने से इन्कार भी किया जा सकता है।

(vi) हिरासत में रखे गये व्यक्ति को निवारक निरोध आदेश के विरुद्ध अभिवेदन (representation) प्रस्तुत करने का अधिकार है।

(vii) हिरासत की तीन महीने की अवधि को ससद कानून द्वारा, बिना परामर्शदात्री मण्डल के परामर्श के, बढा सकती है।

1 निवारक निरोध की आलोचना—निवारक निरोध धाराओ की कडी आलोचना की गयी है। इन्हे अन्यायिक, अलोकतन्त्रीय, प्रतिक्रियावादी एव खतरनाक की सज्ञा दी गयी है। ये जहाँ विधि के शासन को अवरुद्ध करती है वहा स्वस्थ, शुद्ध एव निष्पक्ष न्याय की भावना के भी विरुद्ध है। ये नागरिक स्वतन्त्रताओ के भक्षक और कार्यपालिका की निरकुशता के परिचायक हैं। इन्हे ठीक ही "निरकुशता के प्रपत्र" और सविधान सभा की एक महान असफलता कहा गया है। डा० बक्शी टेकचन्द ने इन्हे "दमन के चाटर और स्वतन्त्रता के वचन (Charter of oppression and denial of liberty) की सज्ञा दी है। न्यायाधीशो ने भी इन धाराओ को लोकतन्त्र और नागरिको के मूल अधिकारो के विरुद्ध कहा है। न्यायाधीश महाजन ने गोपालन बनाम मद्रास राज्य के मुकदमो मे अवलोकित किया था कि "निवारक निरोध कानून लोकतान्त्रिक सविधानो के विरुद्ध है और उन्हे विश्व के किसी भी

लोकतान्त्रिक देश म नही देखा जा सकता  आश्चय की बात ता यह है कि भारतीय सविधान न मूल अधिकारा के अध्याय म इसे स्थान दिया है।") न्यायाधीश मुकर्जी के शब्दो मे "निवारक निरोध  नि सदेह दुर्भाग्यपूर्ण है। इसे नागरिक स्वतन्त्रता पर आक्रमण के अतिरिक्त और कुछ नही कहा जा सकता।"

निवारक निरोध पर तीन प्रकार से प्रहार किये गये है जो निम्न है

1 यह एक 'सकट धारा' (crisis provision) है परन्तु इसका प्रयोग सकट तक सीमित नही। इसे सकट और शान्ति दोना काला म प्रयुक्त किया जाता है। उस स्थिति मे तो यह धारा और भी अधिक खतरनाक हा जाती है जब सत्तारूढ दल अपने राजनीतिक उद्देश्या की पूर्ति के लिए इसका प्रयोग करती है। यह न केवल स्वस्थ लोकतन्त्र के लिय खतरा उत्पन करती है बल्कि सविधान मे व्यक्त आदर्शो को भी धूमिल कर देती है। पिछले कुछ वर्षो से इस धारा का जिस ढग से प्रयोग किया गया है वह लोकतन्त्र के लिए अच्छा शकुन नही। इसका प्रयोग राजनीतिक विरोधिया के दमन के लिय किया गया है। इतना ही नही विश्वविद्यालय के प्राध्यापका और विद्यार्थिया, सरकारी कमचारियो, पत्रकारो, लेखका, व्यापारिया आदि को भी बन्दी बनाया गया है। सरकार ने वस्तुत जिसे "अवाछनीय' (undesirable) समझा उसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया। दुर्भाग्य की स्थिति यह है कि केवल केन्द्र सरकार ने ही नही अपितु राज्य सरकारो ने इसके अन्तगत नागरिको को उनकी स्वतन्त्रताओ से वचित किया। बिहार सरकार ने तो विद्यार्थी नेताओ को प्रदेश से बाहर रखने के लिये इसका प्रयोग किया। शान्तिकाल म, साधारण नागरिको के विरुद्ध इसका प्रयाग इस व्यवस्था का क्रूरता, निदयता और अत्याचार को अभिव्यक्त करता है।

2 निवारक निरोध गिरफ्तार किये गये व्यक्ति को न्याय की सामान्य सुविधाओ से भी वचित रखता है। सावजनिक हित का बहाना लेकर कायपालिका उन कारणो को बताने से इन्कार कर सकती है जिनके कारण किसी व्यक्ति को हिरासत म लिया गया। इतना ही नही कायपालिका परामशदात्री मण्डल म ऐसे व्यक्तिया को नियुक्त कर सकती है जो सरकार के राजनीतिक दशन से प्रभावित हो। कानून द्वारा अनिश्चित काल तक व्यक्ति का निवारक निरोध के अन्तगत हिरासत मे रखन की व्यवस्था ससदीय निरकुशता व अत्याचार को जन्म देती है। वस्तुत सविधान न अनुच्छेद 22 (1) मे नागरिका को जो भी सुरक्षा प्रदान की गयी है उस बाद वाली धाराओ न (निवारक निरोध का वणन जिनम किया गया है) वापस ले ली है। यह स्थिति उस समय अत्यधिक खतरनाक हो जाती है जब ससद मे एक ही दल का पूण प्रभुत्व हो, विरोधी दल विघटित और दुबल तथा प्रभावहीन हा और कायपालिका अपने आपको लोगा के प्रति अनुक्रियाशील (respc

समझती हो। इस तथ्य की उपेक्षा नही की जा सकती कि ।।

सावजनिक हित की दुहाई देकर निरकुशता से व्यवहार कर सकती है।

3 (विश्व के किसी अन्य लोकतान्त्रिक देश में इस प्रकार की व्यवस्था नही पाई जाती, विशेषकर शान्तिकाल में तो इनका प्रयोग नही किया जाता। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि भारत में इनका प्रयोग शान्तिकाल में भी किया जा सकता है और किया जा रहा है)। अमरीका और ब्रिटेन जैसे देशों में जहा इस प्रकार की व्यवस्था है वहा उनका प्रयोग केवल युद्धकाल में किया जाता है शान्तिकाल में नही। सम्भावना, शका और भूत के कार्यों के लिए किसी व्यक्ति को हिरासत में रखना और उसे न्यायालय में याचिका प्रस्तुत करने से वचित रखना सरासर, अन्याय, अत्याचार और निरकुशता है। निवारक निरोध केवल हिरासत में लिये गए व्यक्ति को ही दण्डित नही करता बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से उसके परिवार के सदस्यों को भी दण्डित करता है जिन्हे उसका सरक्षण प्राप्त होता है। निवारक निरोध इतना अमानुषिक और जगल का नियम है कि वह हिरासत में लिये गये व्यक्ति के भरण-पोषण की व्यवस्था न कर उन्हे भी तडपता छोड देता है। इस कानून के अन्तर्गत हिरासत में लिये गये व्यक्ति को यातनायें देने की भी व्यवस्था है। क्या ये सब तत्त्व लोकतान्त्रिक देश के लिये गर्व की चीज हैं?

**2 निवारक निरोध का मूल्याकन**—यह सत्य है कि निवारक निरोध भयानक, स्वतन्त्रताओ का भक्षक लोकतन्त्र के लिये खतरा और विध्वसकारी है परन्तु फिर भी इसे राष्ट्र की स्वतन्त्रता और अखण्डता के लिये आवश्यक समझा जाता है। यह मनहूस अधिनियम है जिसे आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार किया गया। इसका प्रयोग बडी सावधानी से किया जाना चाहिये और वह भी राष्ट्रीय हित में जब उसकी अखण्डता और स्वतन्त्रता पर आच आये। इसका प्रयोग दलीय हितो और विरोधियों का दमन करने के लिये नही करना चाहिये अन्यथा यह लोकतन्त्र को नष्ट कर देगा और सर्वसत्तावाद को जन्म दे देगा।)

**3 शोषण के विरुद्ध अधिकार**—सविधान के दो अनुच्छेद (अनुच्छेद 23 और 24) भारत में लोक कल्याणकारी राज्य और लोक कल्याणकारी समाज की स्थापना करते है। वस्तुत ये अनुच्छेद कोई अधिकार प्रदान नही करते बल्कि एक साम्य और शोषण विहीन सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने में सहायता प्रदान करते है। सविधान में वर्णित स्वतन्त्रताओ का महत्त्व तभी है जब व्यक्ति को दूसरे की दासता से छुटकारा मिल जाय, उसकी निर्धनता का शोषण न किया जाय अर्थात व्यक्ति को पण्य (Commodity) न समझा जाय, स्त्रियों का अनैतिक कार्यों के लिये व्यापार न हो और बच्चों की दुर्बल व्यवस्था का दुरुपयोग न किया जाय।

भारतीय सविधान का अनुच्छेद 23 मानव के व्यापार और बेगार की मनाही करता है। किसी रूप में इनका प्रचलन दण्डनीय अपराध है। देवदासियों, हरिजनों, खेतिहर श्रमिकों और बच्चों के शोषण की प्रथाओ को समाप्त कर दिया गया है। कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के अनिच्छित कार्यों को करने के लिये

बाध्य नही कर सकता । परन्तु यह अनुच्छेद राज्य को यह अधिकार देता है कि वह सावजनिक उद्देश्य के लिये अनिवार्य सेवा को लागू कर सके क्योंकि राज्य की सुरक्षा से बढ कर और कोई सावजनिक उद्देश्य हो नही सकता । इस तरह राज्य अनिवार्य सनिक प्रशिक्षण, अनिवार्य सनिक भरती का आदेश दे सकता है यद्यपि यहा भी वह जाति, धम, प्रजाति या वग आदि के आधार पर भिन्नता नही कर सकता । क्योंकि इस अनुच्छेद म लिंग' शब्द का प्रयोग नही किया गया अत 'स्त्रियो' को अनिवार्य भरती से छूट दी जा सकती है ।

बच्चो को रोजगार पर लगाना या उन्ह रोजगार के लिए बाध्य करना एक असभ्य एव अमानवीय प्रथा है क्योकि इससे उनका विकास अवरुद्ध हो जाता है, उनकी नतिकता भ्रष्ट हो जाती है और वे अपचार (Deliquency) की ओर बढते हैं । इसीलिये अनुच्छेद 24 म भारतीय सविधान बच्चो की रक्षा करता है और 14 वष से कम आयु वाले बच्चो को कारखाना, खानो और अन्य सकटमय रोजगारो म काम करने की मनाही करता है ।

4 धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार—भारतीय सविधान के चार अनुच्छेदो मे (अनुच्छेद 25 से 28) नागरिको की धार्मिक स्वतन्त्रताओ का उल्लेख किया गया है । ये स्वतन्त्रतायें ही भारत के धम निरपेक्ष होने के आधार हैं और इनके द्वारा ही भारत के सविधान निर्माता भारत म धम निरपेक्ष राज्य की स्थापना करना चाहत थे ।

अनुच्छेद 25 सभी व्यक्तियो को "अन्त करण की स्वतन्त्रता तथा धम के अबाध रूप म मानने आचरण करने और प्रचार करन की स्वतन्त्रता प्रदान करता है । यह अधिकार केवल नागरिको को ही नही अपितु विदेशियो को भी उपलब्ध है । व्यक्ति इसका प्रयोग निजी या सामूहिक या सस्थाओ के माध्यम से कर सकता है । इस स्वतन्त्रता म वे सब स्वतन्त्रताये निहित हैं जो धम के सस्कारो (rituals) और रीतियो (observances) से सम्बन्धित है । जसाकि सर्वोच्च न्यायालय ने कमिश्नर एच० आर० ई० बनाम लक्ष्मीन्द्र के मुकदमे मे अवलोकित किया था कि "अपने अनुयायियो द्वारा ग्रहण करने के लिए धम केवल नतिक नियमो की सहिता को ही निर्धारित नही कर सकता बल्कि वह उन सब सस्कारो, व्यवहारो समारोहो और पूजा के तरीको को भी निर्धारित कर सकता है जो धम के अभिन्न अग मान जाते हैं और ये स्वरूप रीतियो, भोजन और पहरावे तक को भी निर्धारित कर सकते ह ।" इस अनुच्छेद के अन्तगत जहा सिक्खो को 'किरपान' रखने का अधिकार है वहा ईसाइयो को स्वेच्छा से 'धम परिवतन' करन का भी अधिकार ह क्योकि य रीतियो इन दोनो धर्मों द्वारा धम के अग मानी जाती हैं ।

अनुच्छेद 26 प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी विशेष धार्मिक और धमार्थ (Charitable) प्रयोजनो के लिये सस्थाओ की

पोषण का, अपने धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयों के प्रबंध करने का तथा चल और अचल सम्पत्ति के विधि अनुसार प्रशासन करने का अधिकार देता है। संक्षेप में, अनुच्छेद 26 प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को अपने धर्म से सम्बन्धित 'घरलू कार्यों (Domestic affairs) को करने का अधिकार देता है।

अनुच्छेद 27 के अनुसार किसी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की बढ़ोतरी या पोषण के लिये कर देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। परन्तु धार्मिक संस्थाओं के लौकिक अर्थात भौतिक (Secular Administration) प्रशासन को नियमित करने के लिए राज्य द्वारा खर्च किये जाने वाले धन को अदा करने के लिये शुल्क (Fees) लगा सकता है।

अनुच्छेद 28 राज्य द्वारा प्रशासित शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा प्रदान करने की मनाही करता है। परन्तु यह अनुच्छेद उन शिक्षा संस्थाओं पर लागू नहीं होता जिन्हें प्रशासित तो राज्य करता है परन्तु जिनकी स्थापना किसी धर्मार्थ या न्यास के अधीन हुई है जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना अनिवार्य है। जिन शिक्षा संस्थाओं को राज कोष से आर्थिक (वित्तीय) सहायता प्राप्त होती है उनमें भी धार्मिक शिक्षा अनिवार्य नहीं की जा सकती परन्तु जो विद्यार्थी स्वेच्छा से धार्मिक शिक्षा प्राप्त करना चाहते है उन्हें ऐसी शिक्षा प्राप्त करने से यह अनुच्छेद मना भी नहीं करता। इस तरह यह अनुच्छेद जहां राज्य द्वारा प्रशासित शिक्षा संस्थाओं की लौकिक (गैर मजहबी) विशेषता को बनाये रखता है वहां धार्मिक शिक्षा संस्थाओं की धार्मिक विशेषता को बनाये रखता है। इस तरह संविधान भारत में धर्म को राजनीति से पृथक रखने का प्रयास करता है।

नागरिकों की धार्मिक स्वतन्त्रतायें अन्य मूल अधिकारों की भांति निरपेक्ष, निर्बाध या असीमित नहीं। भारतीय संविधान के जिन अनुच्छेदों में धार्मिक स्वतन्त्रताओं का उल्लेख किया गया है उन्हीं में उन पर सीमाओं (मर्यादाओं) का उल्लेख भी किया गया है। राज्य निम्न आधारों पर नागरिकों की धार्मिक स्वतन्त्रताओं को मर्यादित कर सकता है —

(i) सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य,
(ii) संविधान की अन्य धाराओं को लागू करने के लिये,
(iii) धार्मिक आचरण से सम्बन्धित गैर धार्मिक कार्यों (आर्थिक, वित्तीय राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार के लौकिक कार्यों) को नियमित करना,
(iv) सामाजिक कल्याण और सुधार,
(v) हिन्दू धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों के लिये खोलने के लिये। यहां 'हिन्दू' शब्द की व्यापक व्याख्या है। इसमें सिक्ख बौद्ध, जैन आदि संस्थायें सम्मिलित हैं।

उपयु क्त वणन से स्पष्ट है कि भारतीय सविधान जहा भारत के प्रत्येक वग के (चाहे यह बहुसख्यक हो या अल्पसख्यक) धार्मिक हितो की रक्षा करता है वहा वह राज्य को सावजनिक सुरक्षा, नतिकता, स्वास्थ्य, सामाजिक सुधार आदि के नाम पर धार्मिक क्रियाओ को नियमित करने का अधिकार भी देता है। धम सावजनिक उत्पात पदा नही कर सकता परन्तु राज्य भी धार्मिक विषयो को नियमित करने के नाम पर 'स्वविवेक की शक्ति' ग्रहण नही कर सकता।

इन अनुच्छेदो मे 'सामाजिक सुधार' की व्यवस्था अत्यन्त महत्वपूण है क्योकि राज्य धम के मूल सिद्धान्तो और विश्वासो पर आक्रमण किये बिना ही धार्मिक अध-विश्वासो, असमानताओ, पिछडेपन, रूढिवादिताओ और कट्टरवादिताओ को, जो देश के विकास मे बाधक हैं दूर करने के लिये धम मे हस्तक्षेप कर सकता है। उदाहरणतया हिन्दू मन्दिरो को हिन्दुओ के सभी वर्गों के लिये खोलने के लिये ऐसा किया गया। परन्तु मन्दिरो को सभी वर्गो के लिये खुला रखने का यह अथ नही कि कोई अमुक व्यक्ति मन्दिर मे दशन के लिये उसे दिन रात खुला रखने की माग कर सकता है या भगवान की सेवा स्वय करने की माग कर सकता है। इसी प्रकार राज्य चाहे तो द्वि पत्नीय (Bigamy) प्रथा को भी समाज सुधार के लिये समाप्त कर सकता है परन्तु राज्य, समाज सुधार के नाम पर किसी धम के अस्तित्व और अनन्यता को समाप्त नही कर सकता।

**5 सास्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार**— भारतीय सविधान के दो अनुच्छेदो मे (अनुच्छेद 29 और 30) नागरिको के सास्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी अधिकारो का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 29 मे भारत के प्रत्येक वग को, चाहे वह बहुसख्यक हो या अल्पसख्यक अपनी भाषा, लिपि और सस्कृति को बनाये रखने अर्थात् सुरक्षित रखने का अधिकार दिया गया है। अनुच्छेद 29 (2) इस बात की व्यवस्था करता है कि राज्य द्वारा सचालित या राजकीय सहायता द्वारा सचालित शिक्षा सस्थाओ मे नागरिको को धम, जाति, मूलवश, भाषा इनमे से किसी एक आधार पर, प्रवेश देने से इनकार नही किया जा सकता। इतना ही नही, अनुच्छेद 30 सभी अल्पसख्यको, चाहे उनकी रचना, भाषा, या धम के आधार पर हुई हो, अपनी इच्छानुसार शिक्षा सस्थाओ को स्थापित एव प्रशासित करने का अधिकार प्रदान करता है और अनुच्छेद 30 (2) राज्य पर यह प्रतिबन्ध लगाता है कि शिक्षा सस्थाओ को आर्थिक सहायता देते समय राज्य अल्पसख्यको द्वारा सचालित शिक्षा सस्थाओ मे धम या भाषा के आधार पर कोई भेदभाव की नीति नही अपना सकता।

सस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी उपयुक्त स्वतन्त्रतायें अनेक दृ अद्वितीय हैं। प्रथम, विश्व के दूसरे सविधानो मे इस प्रकार का उल्लेख उस प्रकार सविस्तार रूप से नही किया गया जिस प्रकार ... इनका उल्लेख करता है। उदाहरणतया अमरीकी अधिकार पत्र (Bi

तो इन स्वतन्त्रताओ का उल्लेख तक नही करता। वर्मा संविधान के अनुच्छेद 22, आयरलैण्ड संविधान के अनुच्छेद 42 और पश्चिमी जर्मनी संविधान के अनुच्छेद 113 म इस प्रकार की स्वतन्त्रताओ का उल्लेख अवश्य है परन्तु उनका स्वरूप वह नही जो भारतीय संविधान म इन स्वतन्त्रताओ का है। **दूसरे,** ये स्वतन्त्रतायें बहुसंख्यक वर्ग के साथ प्रत्येक अल्प वर्ग को इस बात का आश्वासन दिलाती हैं कि उनकी संस्कृति, लिपि और भाषा संविधान द्वारा सुरक्षित है और राज्य कानून द्वारा किसी अल्प संख्यक वर्ग पर कोई अन्य संस्कृति, चाहे वह स्थानीय हो या अन्य कोई, थोप नहीं सकता। संविधान सभा के एक सदस्य जयपाल ने इस अल्पसंख्यकों के लिये "नये युग के आरम्भ" की संज्ञा दी। **तीसरे,** नागरिक किसी शिक्षा संस्था मे शिक्षा ग्रहण कर सकते है। राज्य किसी नागरिक को किसी अमुक शिक्षा संस्था मे शिक्षा ग्रहण करने के लिये नही कह सकता और न ही सम्प्रदाय के आधार पर स्थानों का विभाजन कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय ने मद्रास राज्य के उस साम्प्रदायिक आदेश को रद्द कर दिया जिसके अनुसार मद्रास राज्य द्वारा संचालित मेडिकल और इंजिनियरिंग कालिजो मे उम्मीदवारो का चयन गैर ब्राह्मण हिन्दुओ, पिछडी जाति के हिन्दुओ, ब्राह्मणो, हरिजनो, आंग्ल भारतीयो, भारतीय ईसाईयो और मुस्लिम सम्प्रदाय के आधार पर होता था। **चौथे,** नागरिको की ये स्वतन्त्रतायें निरपेक्ष हैं और राज्य नागरिको के अन्य अधिकारो की भाँति इन पर उचित प्रबन्ध नहीं लगा सकता। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि शिक्षा संस्थाओ के कुशल प्रबन्ध के लिये राज्य उन्हे नियमित (regulate) नही कर सकता। राज्य इनका नियमन कर सकता है। जैसाकि सर्वोच्च न्यायालय ने बम्बई राज्य बनाम बम्बई शिक्षा समाज के मुकदमे मे अवलोकित किया था कि "सभी स्कूलों के लिये उचित 'नियमन' या जिन संस्थाओ का राज्य भरण पोषण करता है उनके लिये पाठ्यक्रम का निर्धारित करने की राज्य की शक्ति पर आपत्ति नही उठाई जा सकती। शिक्षा संस्थाओ को स्थापित एव प्रशासित करने की अल्पसंख्यको की स्वतन्त्रता मुक्त (unfettered) नही है और राज्य उचित नियमन कर सकता है। **पांचवें,** ये स्वतन्त्रतायें धार्मिक स्वतन्त्रताओ की पूरक हैं। **छठे,** इन स्वतन्त्रताओ द्वारा भारतीय संविधान भिन्नताओ म एकता उत्पन्न करने की कोशिश करता है। इन स्वतन्त्रताओ के अभाव मे अल्पसंख्यक वर्ग अपने आपको असुरक्षित समझते जिससे भारत के लोकतान्त्रिक ढांचे के हिल जाने की सम्भावना उत्पन्न हो सकती थी।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी स्वतन्त्रताओ का पृथक उल्लेख भारतीय संविधान की उदारता और अल्पसंख्यक वर्गों के प्रति रियायतों का प्रतीक है। यह भी कहा जा सकता है कि अल्पसंख्यक वर्गों को, जो

1 See Pylee M V Ibid p 264

समाज मे अपने पृथक टापू बना कर रहते है, विश्वास दिलाने एव सतुष्ट करने के लिये इन स्वतन्त्रताओ को सविधान मे उल्लिखित किया गया। परन्तु एक दृष्टि मे ये स्वतन्त्रतायें 'धर्म निरपेक्षता', 'राष्ट्रीय एकता' और जातियो के आत्मीकरण' (assimilation) के लिये चुनौती भी सिद्ध हो सकती है। जैसाकि सविधान सभा मे दामोदर स्वरूप सेठ ने यह शका व्यक्त की थी कि "धर्म या समुदाय पर आधारित शिक्षा सस्थायें राष्ट्रीय एकता और धर्म निरपेक्षता मे बाधा प्रस्तुत करेगी और साम्प्रदायिक और सकीर्ण राष्ट्र विरोधी दृष्टिकोण का विकास करेगी जिससे भयकर परिणाम निकल सकते है।"[1] दूसरे शब्दो मे, ये स्वतन्त्रतायें विघटनकारी तत्वो के प्रति रियायते है। आलोचको का कथन है कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म पर आधारित शिक्षा सस्थाये, जातीय एव साम्प्रदायिक भावनाओ को बढावा देती हैं जो धार्मिक सहिष्णुता और जातियो के आत्मीकरण की विरोधी होती है। दूसरे अनुच्छेद 29 अनुच्छेद 15 के विपरीत है क्योकि जहा अनुच्छेद 15 किसी आधार पर नागरिको मे भिन्नता की मनाही करता है वहा अनुच्छेद 29 'जन्म स्थान' के आधार पर नागरिको मे भिन्नता की आज्ञा देता है। यह भिन्नता उस परिस्थिति मे विशेष कर प्रभावी सिद्ध हो सकती है जब किसी उम्मीदवार के माता पिता जन्म स्थान को छोड कर अन्य किसी राज्य मे आकर बस गये हो। मेडिकल और इजिनियरिंग शिक्षा सस्थाओ मे यह भिन्नता विशेषकर देखी जा सकती है। तीसरे, अनुच्छेद 29 मे सस्कृति शब्द को परिभाषित नही किया गया और यदि सस्कृति शब्द का अर्थ सामाजिक, धार्मिक और नैतिक मूल्यो पर आधारित रूढियो मे लिया गया तो ये स्वतन्त्रताये प्रतिगामी और प्रतिक्रियावादी भी सिद्ध हो सकती है।

6 **सम्पत्ति का अधिकार**— सम्पत्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। यदि उसके व्यक्तित्व को अवरुद्ध नही करना तो उसे सम्पत्ति का अधिकार अवश्य होना चाहिये परन्तु सम्पत्ति के सम्बन्ध मे दार्शनिको की विचारधारा मे मतैक्यता का अभाव है। कुछ के लिये यह व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक और उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति का आधार होने से यह निजी विषय है और राज्य को उसमे हस्तक्षेप नही करना चाहिये। कुछ के लिये यह सामाजिक वस्तु है जिसका उपभोग सामान्य हित मे होना चाहिये। लाक जैसे लेखक राज्य के प्रभुताधिकार (Right of Eminent Domain) को स्वीकार नही करते। असीमित सप्रभुता के समर्थक योदा भी निजी सम्पत्ति मे राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार करने के इच्छुक नही थे। व्यक्ति और नागरिक अधिकारो की फ्रेंच घोषणा मे भी सम्पत्ति को पवित्र और अहरणीय स्वीकार किया गया है यद्यपि इसमे क्षतिपूर्ति के आधार पर न्यायिक आवश्यकता के लिये व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वचित करने की भी व्यवस्था है। अमरीका मे भी 'कानून की उचित प्रक्रिया (Due process of law)

1 Cited by Pylee, M V Ibid, p 264

के आधार पर सम्पत्ति को नियमित करने का अधिकार राज्य को है। इग्लैंड म भी राज्य को "प्रभुताधिकार' प्राप्त है परन्तु 'मुआवजे' की व्यवस्था वहा विद्यमान है। रूस जसे साम्यवादी राज्यो मे सम्पत्ति की कल्पना सामूहिक है व्यक्तिगत नही।

सम्पत्ति की निजी कल्पना पर प्रहार वस्तुत उन्नीसवी शताब्दी मे होना शुरू हो गया था। उन्नीसवी शताब्दी मे इग्लैण्ड मे अपनाई गयी सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी नीतिया, अमरीका म दास प्रथा का उन्मूलन तथा यूरोपीय देशो की पतृक नीतिया (paternalistic policies) मे निजी सम्पत्ति पर किये गय प्रहारो को देखा जा सकता है। टी० एच० ग्रीन जसे आदशवादी लेखक भी, जो निजी सम्पत्ति को पवित्र मानते थे,इस बात का समथन करने लग गये कि सम्पत्ति का प्रयोग सामान्य हित के अनुरूप मे होना चाहिये। यद्यपि ग्रीन सम्पत्ति की असमानताओ को स्वीकार करता है परन्तु उसकी धारणा है कि यदि सम्पत्ति दूसरो की कीमत पर प्राप्त की जाती है या दूसरो की इच्छा सिद्धि मे बाधा प्रस्तुत करती है तो वह 'चोरी' है। यही कारण है कि ग्रीन भू स्वामित्व पर (landed property), जो उसकी दृष्टि मे अन्याय और अनतिक है, प्रतिबन्ध चाहता है।

बीसवी शताब्दी मे लोक कल्याणकारी और सर्विस राज्य (Service State) की विचारधारा के विकास के साथ 'सम्पत्ति की विचारधारा मे भी परिवतन आया। जहा उदारवाद अर्थात पूजीवाद अबाध आर्थिक स्वतन्त्रता की माग करता है और जहा साम्यवाद सम्पत्ति पर पूण सामाजिक नियन्त्रण की माग करता है वहा लोक कल्याणकारी व सर्विस राज्य बीच का रास्ता अपनाता है। यह सम्पत्ति के निजी अधिकार का उन्मूलन नही चाहता परन्तु साथ मे उसके दुरुपयोग की आज्ञा भी नही देता, यह निजी पूजी का अन्त नही चाहता, उसका नियमन चाहता है। सम्पत्ति के सम्बन्ध मे भारतीय सविधान निर्माता इन्ही लोक कल्याणकारी एव सर्विस राज्य की विचारधारा से प्रभावित हुए थे। यही कारण है कि उन्होने सविधान मे जहा नागरिको के सम्पत्ति के अधिकार की गारण्टी दी (अनुच्छेद 19 (1) (f)) वहा सावजनिक हित मे उसके नियमन और नियन्त्रण की व्यवस्था भी की (अनुच्छेद 31, 31A, 31B, 31C)

भारतीय सविधान के दो अनुच्छेदो म (अनुच्छेद 19 (1) (f) और अनुच्छेद 31A, 31B, 31C) नागरिको के सम्पत्ति के अधिकार का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 19 (1) (f) नागरिको का सम्पत्ति के अधिकार की गारण्टी देता है। इसके अन्तगत नागरिको को सम्पत्ति के अजन, धारण और व्ययन का अधिकार दिया गया है अर्थात इस अनुच्छेद के अन्तगत नागरिको को सम्पत्ति के स्वामित्व और उससे उत्पन्न होने वाले लाभो को प्राप्त करने का अधिकार है, नागरिक सम्पत्ति की अवस्थाओ का निर्धारित कर सकते हैं उसे रख सकते हैं, उसे बेच सकते हैं, उसे गिरवी रख सकते हैं उसे पट्टे पर दे सकते हैं, उसका आदान प्रदान कर सकते हैं,

उसे उपहार मे दे सकते हैं, उसके सम्बन्ध मे इच्छा पत्र (will) लिख सकते हैं, उसका हस्तान्तरण कर सकते हैं तथा उसके उत्तराधिकार को निश्चित कर सकते है, आदि ।

परन्तु नागरिक के ये अधिकार अन्य मूल अधिकारो की भाति निर्बाध या निरपेक्ष नही । राज्य इन्हे अपनी करारोपण शक्ति (taxation power) पुलिस शक्ति (police power) और प्रभुताधिकार शक्तिया (Right of Eminent Domain) द्वारा नियन्त्रित, नियमित, नष्ट एव हडप कर सकता है । दूसरे शब्दो मे भारतीय नागरिको की निजी सम्पत्ति सामाजिक नियन्त्रण (Social Control) के अधीन है । सावजनिक उद्देश्यो की प्राप्ति और अनुसूचित जातिया के हितो की रक्षा हेतु राज्य अनुच्छेद 19 (5) के अन्तगत उस पर नियन्त्रण लगा सकता है ।

अनुच्छेद 31, 31A, 31B, और 31C उस प्रक्रिया का वणन करते है जिसके द्वारा नागरिक को उसकी सम्पत्ति से वचित (deprive) किया जा सकता है । नागरिक को उसकी निजी सम्पत्ति से वचित करने की राज्य की शक्ति "पुलिस शक्ति" है । "वचित" शब्द इतना विस्तृत है कि राज्य इसके अन्तगत किसी नागरिक की सम्पत्ति को जब्त (अधिगहीत confiscate) कर सकता है, उसके स्वामित्व के अधिकार को रद्द कर सकता है, उसकी चल और अचल सम्पत्ति को अपने अधिकार मे ले सकता है तथा उसके व्यवसाय पर नियन्त्रण लगा सकता है । पाच सशोधनो (प्रथम, चतुथ, सतरहवें, पच्चीसवें और उनतीसवें सशोधन) के बाद भारतीय नागरिक के सम्पत्ति के अधिकार की जो स्थिति है अर्थात जिस ढग या प्रक्रिया से राज्य नागरिक की सम्पत्ति 'हडप' कर सकता है उसे निम्न बिन्दुओ द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है —

(i) सावजनिक हित मे राज्य कानून की सत्ता द्वारा नागरिको की निजी सम्पत्ति को अधिगहीत कर सकता है ।

(ii) अधिगहीत की गयी सम्पत्ति के लिये धन राशि (amount) की मात्रा कानून द्वारा निश्चित की जायगी ।

(iii) धन राशि की पर्याप्तता (adequacy of the amount) के आधार पर नागरिक न्यायालय का सरक्षण प्राप्त नही कर सकते अर्थात् नागरिक इस आधार पर अधिगहीत करने वाले कानून को न्यायालय मे चुनौती नही दे सकते कि उसके लिये दी जाने वाली धन राशि 'पयाप्त' नही ।

(iv) यदि किसी सम्पत्ति को राज्य विधान सभा के कानून द्वारा अधिगहीत करने की व्यवस्था की गयी है तो उस कानून को राष्ट्रपति के विचाराथ सुरक्षित रखा जायगा और उसकी स्वीकृति प्राप्त होने पर ही उसे लागू किया जायगा ।

(v) जहा कानून सम्पत्ति के स्वामित्व के हस्तातरण की बात नही करता या राज्य द्वारा सचालित या नियन्त्रित निगम को उसका स्वामित्व नही सौपता तो यह अनिवाय अधिग्रहण नही माना जायेगा चाहे उसके द्वारा किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वचित ही क्या न किया गया हो ।

उपयु क्त वरणन से स्पष्ट है कि भारतीय नागरिको को उनकी सम्पत्ति से वंचित किया जा सकता है बशर्ते कि उसे कानून की सत्ता द्वारा वचित किया गया हो । इस तरह सविधान कायपालिका निरकुशता से तो नागरिक की सम्पत्ति की रक्षा करता है पर तु व्यवस्थापिका के अत्याचार मे उसकी रक्षा नही करता । अधिगृहीत की गयी सम्पत्ति के लिये धन राशि की मात्रा ससद की भावनाओ (mood) पर निभर करती है । ससद चाहे तो उसके लिये 'न्यून' या 'कुछ भी नही धन राशि की मात्रा निर्धारित करे । अब न्यायालय इस बात का निर्धारण नही कर सकती कि धन राशि उचित या पर्याप्त (just or reasonable) है या नही । अधिगृहीत करने वाले कानून को न्यायालय अब केवल एक आधार पर ही अवैध घोषित कर सकती है यदि वह सविधान से "धोखा" (fraud) हो या उसके "मूल ढाचे" (basic structure) पर ही प्रहार करता हो ।

सम्पत्ति का अधिकार जसाकि न्यायाधीश हिदायत उल्ला ने कहा है, "मूल अधिकारो मे सबसे निबल" अधिकार है । डॉ० एन० बनर्जी इसे अब केवल कल्पना (myth) कहते है जो वास्तविकता से बहुत दूर है । जब ससद किसी भी सम्पत्ति को कुछ भी धन राशि देकर उसे हडप कर सकती है और न्यायालय उसकी पर्याप्तता की जाच नही कर सकती तो सम्पत्ति का अधिकार मूल अधिकार नही रह जाता । जब सम्पत्ति का अधिकार वाद योग्य (justiciable) ही नही रहा तो उसे 'मूल अधिकार' कहना मिथ, आडम्बर और धोखा है । मूल अधिकार की मूल विशेषता यह है कि उसकी गारण्टी न केवल कायपालिका निरकुशता बल्कि ससदात्मक अत्याचार के विरुद्ध भी दी जाय भारत मे नागरिको के सम्पत्ति के अधिकार मे अब यह गुण और विशेषता नही रही । जहा तक इस अधिकार का सम्बन्ध है ससदीय सर्वोच्चता निर्विवाद है । ससदात्मक या मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार मे इसका वास्तविक अर्थ है कायपालिका की सर्वोच्चता । इस तरह नागरिको का सम्पत्ति का अधिकार कायपालिका 'दया' (mercy), भावना (mood), और उसकी 'नीतियो की दिशा (direction of policies) पर निभर करता है 'न्याय', 'औचित्य', या प्राकृतिक न्याय पर नही । सशोधन 1, 4, 17 25 और 29 की आवश्यकतायें चाहे कुछ भी रही हो इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि उन्होने सम्पत्ति के अधिकार की मौलिकता और पवित्रता पर गम्भीर प्रहार किया है । मूल अधिकारो और नीति निदेशक तत्वो म स तुलन स्थापित करने के स्थान पर ये नीति निदेशक तत्वो का

मूल अधिकारो से महत्त्व प्रदान करते है यह सविधान मे वर्णित आदर्शो की उपेक्षा है। 25 वे सशोधन की आलोचना करते हुए एम० सी० सीतलवाड ने लिखा है कि यह "अविवेकपूर्ण कदम एव विधि के शासन की पूर्ण अवहेलना है।" जयप्रकाश नारायण ने इसकी "प्रतिक्रियावादी एव एकत्ववादी कदम" कह कर निन्दा की। एक अन्य आलोचक ने कहा है कि "सम्पत्ति की पवित्रता नष्ट हो गयी है, अनुचित मुआवजे को वध बना दिया है और ससदात्मक सर्वोच्चता के सिद्धान्त की आड म समग्रवादी प्रवृत्तिया को बढ़ावा दे दिया गया है।

यह सत्य है कि सम्पत्ति का अधिकार वाद योग्य नही रहा, यह भी सत्य है कि न्यायालय 'अपर्याप्तता" के आधार पर अधिगृहीत करने वाले कानून को अवध घोषित नही कर सकती, यह भी सत्य है कि न्यायालय "धन राशि के औचित्य-अनौचित्य की समीक्षा नही कर सकती अर्थात् सम्पत्ति के सम्बन्ध मे सवधानिक उपचारो के क्षेत्र को न्यून बना दिया गया है परन्तु फिर भी सम्पत्ति का अधिकार मूल अधिकार ही है, क्योकि इसे मूल अधिकारो के अध्याय से हटाया नही गया और न्यायालय आज भी सम्पत्ति की रक्षा कर सकती है यदि अधिगृहीत करने वाला कानून 'सविधान से धोखा" है या उसके "मूल ढाचे" के विपरीत है। सन् 1973 मे केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य के मुकदमे मे न्यायालय ने धारा 31C को (जिसे 25 वें सशोधन द्वारा निविष्ट किया गया था) इस आधार पर अवध घोषित कर दिया कि वह व्यवस्थापिका शक्तिया प्रदत्त करता है। इस निर्णय की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसके द्वारा न्यायालय ने यह उद्घोषणा की कि सविधान के 'मूलभूत ढाचे (Basic structure of the Constitution) मे परिवर्तन नही किया जा सकता।

कार्यपालिका, ससद के कानून के माध्यम से, सम्पत्ति के अधिकार पर तीन प्रकार से प्रहार कर सकती है

(i) सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकारो के अध्याय से निकाल दे। लोकतान्त्रिक राजनीतिक सस्थाओ मे विश्वास रखने वाली ससद सम्भवतया नही करेगी,

(ii) निजी सम्पत्ति को हड़पने वाले कानूनो को अनुसूची नवीं के सुरक्षित क्षेत्र म रखकर उसे न्यायालय के क्षेत्र से बाहर कर दे। यह [illegible] प्राप्त और बहुमत के नशे मे [illegible] [illegible] सरलतापूर्वक करा सकती है,

(iii) कार्यपालिका ऐसे न्यायाधीशो का [illegible] न्यायालय [illegible] जो उसके सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक [illegible] तथा उसके समर्थक हो। यद्यपि [illegible] 1973 [illegible]

रे को मुख्य यायाधीश के पद पर नियुक्त करके की गयी परन्तु इस प्रथा को निरन्तर बनाये रखने मे नागरिका की पूण स्वतन्त्रताओ को खतरा उत्पन्न हो सकता है। वचनबद्ध (committed) न्यायपालिका लोकतान्त्रिक ढाचे को सकट उत्पन्न कर सकती है। यद्यपि कोई भी सत्तारूढ बहुमत दल के नशे म ऐसा कदम उठा सकती है परन्तु वह ऐसा लोकतान्त्रिक सस्थाओ की कीमत पर ही कर सकती है, जिसकी आज्ञा सम्भवत जागरूक जनमत नही देगा। यह भी आशा की जा सकती है कि न्यायपालिका अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा उसी प्रकार करती रहेगी जैसा कि वह अब तक करती रही है।

## सम्पत्ति के सम्बन्ध मे ससद और न्यायालय का दृष्टिकोण

या

## सम्पत्ति के अधिकार में किये गये सशोधन

सम्पत्ति का अधिकार पिछले 25 वर्षों के सवैधानिक इतिहास मे बडे विवाद का विषय रहा है विशेषकर 'प्रतिकर' (compensation— मुआवजे) का प्रश्न व्यवस्थापिका (ससद) और न्यायपालिका (सर्वोच्च न्यायालय) के मध्य सघर्ष का मूल कारण रहा है। 'प्रतिकर' (मुआवजे) के सम्बन्ध म जहा न्यायालय का दृष्टिकोण "हानि के बराबर" (a just equivalent) का रहा है, वहा व्यवस्थापिका के लिये हानि के बराबर क्षतिपूर्ति का विचार ही दुराग्रह (repugnant) या विद्रोह है। जैसाकि प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाधी के इन शब्दों से स्पष्ट है कि "सामान्य आदमी की कीमत पर, बाजार भाव के मूल्य पर मुआवजा देने का विचार ही उसके लिये, उसके दल के लिये तथा राष्ट्र के लिये दुराग्रह है।[1]" प्रधान मन्त्री न इस बात पर बल दिया कि सविधान निर्माता नागरिको को यदि सम्पत्ति के अधिकार की गारण्टी देना चाहते थे तो वे ही इसे अनियन्त्रित छोडना नही चाहते थे और न ही इसे सामाजिक और आर्थिक प्रगति म बाधा प्रस्तुत करने का अधिकार ही देना चाहते थे। जहा निजी सम्पत्ति का अधिकार सावजनिक उद्देश्या म बाधा प्रस्तुत करता है वहा सावजनिक उद्देश्य को अवश्य प्राथमिकता मिलनी चाहिये। सिद्धाथ शकर रे ने 25 वें सशोधन पर टिप्पणी करते हुए कहा कि यह "सवैधानिक दृष्टि से सही है, आर्थिक दृष्टि से आवश्यक है, राजनीतिक दृष्टि से उचित है और, जो सबसे महत्वपूर्ण बात है, नैतिक दृष्टि से उचित है।"

जब जब न्यायालय के निर्णया द्वारा कार्यपालिका की सामाजिक और आर्थिक विकास की लोककल्याणकारी नीतियो में गतिरोध उत्पन्न हुआ है तब ही कार्यपालिका न न्यायालय के निर्णया को प्रभावहीन बनाने के लिए सवैधानिक सशोधनो

1 Quoted by Gupta, D C in his National & Constitutional Development p 578

का सहारा लिया। यह यदि कहा जाय, कि जैसाकि कुछ आलोचकों ने कहा है, न्यायालय का अनुदारवादी दृष्टिकोण सम्पत्ति के अधिकार में किये गये संवैधानिक संशोधनों के लिए उत्तरदायी था, इस बात से इंकार करना बड़ा कठिन है कि व्यवस्थापिका ने संसद में अपने बहुमत का दुरुपयोग करते हुए, संविधान में ऐसे संशोधन किये जिनकी कल्पना लोकतान्त्रिक संविधानों में नहीं की जा सकती। निजी सम्पत्ति को संसद की इच्छा पर छोड़ना (संसदात्मक प्रणाली में, जिसे भारत में अपनाया गया है, इसका वास्तविक अर्थ है कार्यपालिका की इच्छा) संसदीय निरंकुशता को संवैधानिक मान्यता देना है जो सम्भवतः संविधान निर्माताओं की इच्छा नहीं थी। यदि संविधान निर्माता, जैसाकि सरकारी प्रवक्ताओं द्वारा कहा जाता है, सार्वजनिक हित में निजी सम्पत्ति को सार्वजनिक नियन्त्रण में रखना चाहते थे तो वे संविधान निर्माता भी उसे संसद के अस्थायी बहुमत की निरंकुशता से सुरक्षित भी रखना चाहते थे। यदि ऐसा नहीं होता तो संविधान निर्माता अनुच्छेद 19 (1) (f) और अनुच्छेद 31 की पृथक पृथक व्यवस्था न करते। इतना ही नहीं सम्पत्ति की रक्षा हेतु ही संविधान निर्माताओं ने सम्पत्ति के अधिकार को ही नहीं वरन् समूचे अध्याय तीन को (जिसमें मूल अधिकारों का वर्णन किया गया है) वाद योग्य (justiciable) बनाया। तथाकथित सार्वजनिक हित में, संशोधनों द्वारा सम्पत्ति के अधिकार की वाद योग्यता को नष्ट करना संविधान निर्माताओं की इच्छाओं का विरोध करना है, संविधान सभा में और प्रस्तावना में व्यक्त की गयीं भावनाओं और आदर्शों की उपेक्षा है और नागरिक स्वतन्त्रताओं के साथ खिलवाड़ है। यह सत्य है कि न्यायालय को संसद के तृतीय सदन के रूप में कार्य नहीं करना चाहिए और इस संसद द्वारा सार्वजनिक हित में बनाये गये कानूनों को [illegible] करना चाहिये परन्तु संसद को भी अपनी शक्तियों का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। संशोधन करते समय यह महसूस नहीं होना चाहिए कि [illegible] को प्रदान कर रही है अथवा उसे निरंकुशता और [illegible] से व्यवहार नहीं करना चाहिए।

सम्पत्ति के अधिकार में जितने [illegible] किये गये हैं उतने किसी अन्य मौलिक अधिकार में नहीं किये गये। [illegible] (1951), संशोधन 4 (1955), संशोधन 17 (1964), संशोधन 25 (1971) और संशोधन 29 (1971) [illegible] सम्पत्ति के अधिकार में किये [illegible]। प्रथम संशोधन की [illegible] तब अनुभव की गयी जब [illegible] राज्य (1950) के [illegible] सर्वोच्च न्यायालय ने भूमि [illegible] (जमींदारी [illegible] सम्बन्धित कानून) को [illegible] कर दिया। प्रथम संशोधन [illegible] सहित अनुच्छेद 31 में [illegible] 31A तथा 31B के [illegible] नवीं अनुसूची के [illegible] जोड़ दिया गया [illegible] अनुसार न्यायालय [illegible], जिनमें सार्वजनिक [illegible]

(Estate) को प्राप्त या समाप्त किया गया हो या उसमें निहित किन्हीं अधिकारों को सशोधित या उनका प्रबन्ध राज्य के हाथों में लिया गया हो यह कह कर रद्द नहीं कर सकती कि वह अनुच्छेद 14, 19 या 31 की उल्लघना करता है। दूसरे शब्दों में, इस अनुच्छेद में 'बिना मुआवजे' के सम्पत्ति को हड़पने की व्यवस्था कर दी गयी। अनुच्छेद 31 B ने सरक्षित क्षेत्र (protected area) के रूप में नवी अनुसूची को जोड़ दिया और भूमि सुधार से सम्बन्धित राज्य सरकारों द्वारा निर्मित कानूनों को न्यायालय के क्षेत्र से बाहर कर दिया। अब इन कानूनों को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। सरक्षित क्षेत्र की व्यवस्था इतनी भयकर है कि सम्पत्ति को अधिगृहीत करने वाले किसी ससदीय कानून को नवी अनुसूची में रखकर उसे न्यायालय के क्षेत्र से बाहर रखा जा सकता है।

चौथे सशोधन की आवश्यकता तब अनुभव की गयी जब सर्वोच्च न्यायालय ने बेला बनर्जी बनाम पश्चिम बगाल राज्य (1954) के मुकदमे में यह अवलोकित किया कि "मुआवजा उस सम्पत्ति के "लगभग बराबर" (a just equivalent) होना चाहिए जिससे उसके स्वामी को वचित किया जा रहा है।" इस मुकदमे में यह विचार भी व्यक्त किया गया था कि मुआवजे के औचित्य को निर्धारित करना न्यायालय का अधिकार है।

सम्पत्ति के कुछ हाथों में केन्द्रीयकरण को रोकने, लोक कल्याणकारी नीतियों को कार्यान्वित करने, समाजवादी ढाचे के समाज को स्थापित करने वाली और ससदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को निर्विवाद रूप से स्थापित करने की इच्छुक सरकार के लिए न्यायालय का उक्त निर्णय एक बहुत बड़ी चेतावनी थी। अत बेला बनर्जी के निर्णय को उलटा (over rule) के लिये चौथा सशोधन किया गया।

सशोधन चार ने अनुच्छेद 31 और 31A में परिवर्तन कर ससदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को निश्चित कर दिया गया और "मुआवजे की पर्याप्तता (adequacy of compensation) के प्रश्न को न्यायालय के क्षेत्र से बाहर कर दिया। दूसरे शब्दों में, सार्वजनिक हित में निजी सम्पत्ति को अनिवार्य रूप से अधिगृहीत करने वाले कानून को न्यायालय इस आधार पर अवैध घोषित नहीं कर सकते कि मुआवजा 'उचित' या युक्तियुक्त (due fair or reasonable) नहीं। इस सशोधन ने राज्य सरकारों द्वारा पास किये गये 7 कानूनों को नवी अनुसूची के सरक्षित क्षेत्र में रख दिया। अनुच्छेद 31 (2A) को जोड़ कर यह व्यवस्था भी कर दी गयी कि यदि कोई कानून अधिगृहीत की गयी सम्पत्ति के स्वामित्व या अधिकार को राज्य या उसके द्वारा स्वाधीकृत या नियन्त्रित (owned or controlled) निगम को हस्तान्तरित नहीं करता तो उस कानून को सम्पत्ति अनिवार्य अधिग्रहण करने वाला कानून स्वीकार नहीं किया जायगा यद्यपि वह कानून किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वचित करता है। इस व्यवस्था से तो राज्य को अधिगृहीत की गयी सम्पत्ति के लिये सवैधानिक तौर पर मुआवजा देना भी आवश्यक नहीं रहा।

सत्रहवें संशोधन की आवश्यकता तब अनुभव की गयी जब सर्वोच्च न्यायालय ने करीम भिल कुट्टी कोमार बनाम केरल राज्य के मुकदमे में (1962 में) और ए० पी० कृष्णा स्वामी नायडू बनाम मद्रास राज्य के मुकदमे में (1964) केरल भूमि सुधार कानून और मद्रास भूमि सुधार कानूनों को यह कह कर रद्द कर दिया कि "जागीर" (Estate) शब्द में सभी प्रकार की सम्पत्ति नहीं और रयतवारी भूमि पर यह लागू नहीं होती। सत्रहवें संशोधन ने अनुच्छेद 31 (2) (a) में एक नयी उपधारा जोड़ कर 'जागीर (Estate) शब्द का और अधिक व्यापक बना दिया। इसमें "जागीर", "इनाम", मुफ्ती', रयतवारी बन्दोबस्त' (Ryotwari) आदि शब्दों को भी जोड़ दिया गया तथा राज्य सरकारों के 44 कानूनों को नवीं अनुसूचि के संरक्षित क्षेत्र में रखकर उन्हें न्यायालय के क्षेत्र से बाहर कर दिया।

चौबीसवें संशोधन की आवश्यकता तब अनुभव की गयी जब न्यायालय ने गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य (1967) के मुकदमे में सत्रहवें संशोधन को यह कह कर अवैध घोषित कर दिया कि मूल अधिकारों को कम करने या उनका हरण करने की दृष्टि से संसद को भाग तीन में संशोधन करने का अधिकार नहीं। यह निर्णय सर्वोच्च न्यायालय के स्वयं के पूर्व के निर्णयों के विरुद्ध था जिनमें न्यायालय ने तीसरे भाग सहित संविधान के किसी भाग में संशोधन करने की संसद की शक्ति को स्वीकार किया था। इस निर्णय से न्यायालय ने उन संशोधनों को भी अवैध घोषित कर दिया जो अभी तक किये गये थे परन्तु क्योंकि किये-कराए को बदला नहीं जा सकता इसलिए उन्हें बने रहने की आज्ञा दे दी गयी।

गोलकनाथ के मुकदमे में दिया गया निर्णय बहुत ही अव्यावहारिक था। इसके द्वारा न्यायालय ने उस अधिकार शक्ति को प्राप्त करने का प्रयास किया (विधान सभा के तृतीय सदन का रूप) जो अधिकार शक्ति संविधान निर्माता न्यायालय को सौंपना नहीं चाहते थे। अतः इस निर्णय की संसद के अन्दर व बाहर तीव्र आलोचना की गयी। यह निर्णय वस्तुतः प्रगतिवादी प्रगति में बाधा तथा सरकार की सामाजिक और आर्थिक नीतियों के विपरीत था। परिणाम स्वरूप 1971 में चौबीसवें संशोधन द्वारा संसद ने पुनः मूल अधिकारों सहित संविधान में संशोधन करने की शक्ति को पुनः प्राप्त कर लिया।

पच्चीसवें संशोधन की आवश्यकता उस समय अनुभव की गयी जब न्यायालय ने बैंक राष्ट्रीयकरण के मुकदमे में बैंक राष्ट्रीयकरण को इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया कि यह धारा 19(1) (f) की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता और मुआवजे की राशि बाजार दर पर निर्धारित नहीं की गयी। प्रिवी पर्स के मुकदमे (1970) में भी मुख्य न्यायाधीश हिदायत उल्ला ने यह स्पष्ट किया कि राष्ट्रपति आदेश द्वारा नरेशत्व की सत्ता का सामूहिक रूप से समाप्त नहीं कर सकता। प्रिवी पर्स राजाओं की 'सम्पत्ति' है और अनुच्छेद 19 और 31 द्वारा प्रदत्त संवैधानिक संरक्षणों का संरक्षण उन्हें प्राप्त है।

पच्चीसवें संशोधन द्वारा सम्पत्ति के अधिकार में इस परिवर्तन किए गए जिन्होंने सम्पत्ति के अधिकार के मूल अस्तित्व को समाप्त कर दिया। इसके द्वारा अनुच्छेद 31 (2) में 'मुआवजे' शब्द के स्थान पर 'राशि' (amount) शब्द को लिख दिया गया। इसमें यह व्यवस्था की गयी कि सार्वजनिक उद्देश्य के लिए अधिगृहीत की गयी सम्पत्ति पर धारा 19(1) (f) लागू नहीं होगी। इस संशोधन में सबसे आश्चर्य की बात यह है कि इसने अनुच्छेद 31 c को जोड़ कर नीति निदेशक तत्वों को मूल अधिकारों में प्राथमिकता प्रदान कर दी। उप धारा 31c में यह व्यवस्था की गयी थी कि "यदि अनुच्छेद 39 (b) और 39 (c) में वर्णित नीति निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से कोई कानून पास किया जाता है और उसमें ऐसी उद्घोषणा कर दी जाती है तो उस कानून को इस आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता कि वह अनुच्छेद 14, 19, या 31 द्वारा प्रदत्त किये गये अधिकारों के विरुद्ध है या उन्हें कम या समाप्त करता है।

उन्तीसवें संशोधन द्वारा भूमि सुधार सम्बन्धी कुछ कानूनों को अनुसूची 9 के सरक्षित क्षेत्र में रखकर उन्हें न्यायालय के क्षेत्र से बाहर कर दिया। परन्तु केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य[1] (1973) के मुकदमे में, जिसे मूल अधिकारों का मुकदमा भी कहा जाता है न्यायालय ने चौबीसवें और पच्चीसवें संशोधनों को वैध बताते हुए भी अनुच्छेद 31c को अवैध घोषित कर दिया। न्यायालय का मत था कि यह उपधारा संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका शक्तियां प्रदत्त करता है इसलिए अवैध है। न्यायालय ने यह उद्घोषणा भी की कि न्यायालय इस बात का निर्धारण करेगी कि उन्तीसवें संशोधन द्वारा अनुसूची नवीं के सरक्षित क्षेत्र में रखे गये कानून क्या मूल अधिकारों को कम या समाप्त तो नहीं करते और सार्वजनिक हित में लगाये गए प्रतिबंध क्या उचित हैं? इस निर्णय की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि न्यायालय ने यह उद्घोषणा भी की कि संसद संविधान के "आधारभूत ढांचे में" (basic framework of the Constitution) परिवर्तन नहीं कर सकती।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि चौथे, सत्रहवें, पच्चीसवें और उन्तीसवें संशोधनों के बाद भी न्यायालय की यह मान्यता है कि मुआवजे की राशि हानि के लगभग बराबर होनी चाहिए। चौथे संशोधन के बाद न्यायालय की यह धारणा थी कि संशोधन ने मुआवजे शब्द को अनुच्छेद 31(2) से जानबूझ कर नहीं हटाया था इसलिए संसद को अधिगृहीत की गयी सम्पत्ति के लिए "मुआवजा" अवश्य देना चाहिये। वजावेनू बनाम विशेष उप जिलाधीश के मुकदमे में (1965) न्यायालय ने स्पष्ट अवलोकित किया कि 'यदि मुआवजा भ्रामक है या उसका निर्धारित करने

1 इस मुकदमे में चौबीसवें, पच्चीसवें और उन्तीसवें संशोधनों को चुनौती दी गयी थी।

वाले सिद्धान्त अधिगृहीत की गयी सम्पत्ति के मूल्य से असम्बद्ध है तो न्यायालय उसे व्यवस्थापिका की शक्तियों में धोखा (fraud) समझ कर उसे अवैध घोषित कर सकती है परन्तु यदि मुआवजा अधिगृहीत की गयी सम्पत्ति के 'लगभग बराबर' (a just equivalent) है और उसे निर्धारित करने वाले नियम सम्बद्ध (relevant) हैं तो न्यायालय अपर्याप्तता (inadequacy) के आधार पर उस कानून को अवैध घोषित नहीं करेगी। भारत संघ बनाम मेटल निगम (1967) के मुकदमे में न्यायालय ने यह अवलोकित किया था कि अनुच्छेद 31 (2) के अन्तर्गत जिस अधिकार की गारण्टी दी गयी है वह "हानि के बराबर प्रतिकर या कम से कम उचित प्रतिकर (a just indemnification for loss or at least for a reasonable award of compensation) की माँग करती है। क्योंकि प्रतिकर की उचित राशि को निर्धारित करने वाले नियम असम्बद्ध है इसलिए कानून अवैध है। गुजरात बनाम शान्तिलाल के मुकदमे (1968) में न्यायालय ने उचित मुआवजे के सिद्धान्त को रद्द कर दिया परन्तु बैंक राष्ट्रीयकरण के मुकदमे में न्यायालय ने यह विचार अभिव्यक्त किया कि अधिगृहीत की जाने वाली सम्पत्ति के लिए मुआवजे को निर्धारित करने वाले संसद नियमों को मान लेना संसद की निरंकुशता को स्वीकार करना होगा क्योंकि सत्ता के दुरुपयोग द्वारा मुआवजे की संवैधानिक गारण्टी को गम्भीर रूप से क्षीण किया जा सकता है। इसलिए अधिगृहीत की जाने वाली सम्पत्ति के लिए मुआवजे को निर्धारित करने वाले सिद्धान्त सम्बद्ध होने चाहिए। मूल अधिकारों के मुकदमे में (1973) न्यायालय ने उपधारा 31c को अवैध घोषित करते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि संसद संविधान के 'मूल ढाँचे' में परिवर्तन नहीं कर सकती।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जहाँ संशोधनों के माध्यम से संसद ने सम्पत्ति के अधिकार की वाद योग्यता (justiciability) को निरन्तर सीमित किया है वहाँ न्यायालय "उचित मुआवजे" के सम्बन्ध में संसद के विचारों से 'मेल' नहीं कर सकी और यही व्यवस्थापिका और न्यायालय के मध्य खींचतनाव का कारण है।

7 संवैधानिक उपचारों का अधिकार—संविधान में नागरिक अधिकारों का उल्लेख अपने आप में पर्याप्त नहीं होता। जब तक उन्हें लागू करने के लिये कोई प्रभावपूर्ण व्यवस्था नहीं होती तब तक वे अर्थहीन और शक्तिहीन होते हैं। इसलिये उन्हें वास्तविक बनाने के लिये संवैधानिक उपचारों की व्यवस्था की जाती है। भारतीय संविधान भी नागरिकों के मूल अधिकारों को वास्तविक बनाने के लिये अनुच्छेद 32 से अनुच्छेद 35 में संवैधानिक उपचारों की व्यवस्था करता है। अनुच्छेद 32 संविधान का हृदय है। जब कभी कार्यपालिका आदेश या कार्य या व्यवस्थापिका के कानून नागरिक अधिकारों पर अतिक्रमण करते हैं या उनकी उल्लंघना करते हैं तो असन्तुष्ट पक्ष न्यायालय की शरण ले सकता है। इतना ही नहीं अनुच्छेद 32

(2) सर्वोच्च न्यायालय पर यह उत्तरदायित्व भी सौंपना है कि वह नागरिकों के मूल अधिकारों को लागू करने के लिये उनके संरक्षण और गारण्टीकर्ता के रूप में कार्य करे तथा आवश्यकता पड़ने पर बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (Prohibition) अधिकार पृच्छा (Quo Warranto), उत्प्रेषण (Certiorari) आदि लेखों को जारी करे। इन लेखों (Writs) का एक मात्र उद्देश्य नागरिकों के मूल अधिकारों को लागू करना, असंतुष्ट पक्ष को शीघ्र न्याय दिलाना और उसे अंतरिम सहायता (interim relief) प्रदान करना है। इस तरह भारतीय संविधान नागरिक अधिकारों को 'पवित्र इच्छायें' मात्र नहीं बनाता बल्कि उनको कार्यान्वित करने की ठोस व्यवस्था भी करता है।

व्यक्ति के बचाव और उसकी सुरक्षा की दृष्टि से संवैधानिक उपचारों का अधिकार सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसके अभाव में संविधान "शून्य" हो जायगा और अधिकार निरर्थक बन जायेंगे। डा० अम्बेदकर ने इस अधिकार को ठीक ही "संविधान की आत्मा और हृदय' कहा है। यह अधिकारों के "शीर्ष" पर है। यह उस परकोटे के समान है जो नागरिकों के मूल अधिकारों की कार्यपालिका निरंकुशता और व्यवस्थापिका के अत्याचार से रक्षा करता है। सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश पी० बी० गजेन्द्र गडकर ने इसे 'संविधान की विशिष्ट विशेषता" कहा है जो "संविधान द्वारा निर्मित भवन का मुख्य पत्थर है।"

संवैधानिक उपचारों का अधिकार भी नागरिकों के अन्य मूल अधिकारों की भांति असीमित नहीं बल्कि उस पर भी विशेष परिस्थितियों में सीमायें लगायी जा सकती हैं अर्थात् राष्ट्रपति संकटकाल में उन्हें स्थगित कर सकता है तथा घोषणा द्वारा नागरिकों को न्यायालय में याचिका प्रस्तुत करने से मनाही कर सकता है। परन्तु इस प्रकार का आदेश संसद में प्रस्तुत किया जाता है और उसकी अनुमति पर ही संकट काल की अवधि तक इसे स्थगित किया जा सकता है। संकट के समाप्त होते ही उसे पुनः लागू कर दिया जाता है। क्योंकि भारत में संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है इसलिये संसद संवैधानिक संशोधन द्वारा नागरिकों के इस अधिकार को भी संशोधित, परिवर्तित या समाप्त कर सकती है।

### लेख (Writs)

भारतीय संविधान सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों को पांच प्रकार के लेख जारी करने का अधिकार सौंपता है। ये लेख निम्न हैं—

1 बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख (Writ of Habeas Corpus)—हेबियस कॉरपस एक लैटिन शब्द है जिसका अर्थ है "आप शरीर को रखते हैं।" अर्थात् यह वह लेख है जिसके द्वारा न्यायालय बन्दी बनाने वाले अधिकारी को यह आज्ञा देती है कि वह बन्दी बनाये गये व्यक्ति को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करे और उसे

हिरासत म रखने की वैधता को सिद्ध करे। न्यायालय की जाच द्वारा यदि सिद्ध हो जाय कि बन्दी बनाये गये व्यक्ति को हिरासत म रखने का कोई वैध आधार नही तो न्यायालय ब दी बनाये गये व्यक्ति का रिहा करने के आदेश जारी कर सकती है। सक्षेप मे, बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख का मूल उद्देश्य अवैध तरीके से ब दी बनाये गये व्यक्ति को रिहा करना है। इस तरह यह लेख नागरिको की स्वतन्त्रताओ की रक्षा के लिए सर्वोत्तम सरक्षण है। न्यायालय इस प्रकार का लेख राज्य के अधिकारियो के विरुद्ध ही नही अपितु व्यक्तियो और सस्थाओ के विरुद्ध भी जारी कर सकती है। परन्तु न्यायालय इस प्रकार का लेख तभी जारी करेगी जब ब दी बनाया गया व्यक्ति स्वय या उसकी ओर से कोई अन्य व्यक्ति या अधिवक्ता (advocate) न्यायालय म इस प्रकार की याचिका प्रस्तुत करे।

2 परमादेश लेख (Writ of Mandamus)—मे डेमस एक लेटिन शब्द है जिसका अर्थ है "हम आदेश" देते ह अर्थात यह लेख है जिसके द्वारा न्यायालय किसी पदाधिकारी या निकाय (सस्था) को यह आदेश दे सकती है कि वह अपने उस काय को करे जो उसके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आता है। दूसरे शब्दो मे, यदि कोई अधिकारी या सस्था अपनी अधिकार शक्ति का प्रयोग नही करता तो न्यायालय परमादेश लेख द्वारा उसे काय करने के लिय आदेश द सकती है। उदाहरणतया लाइसेन्स जारी करने की शर्तो को पूरा करने पर यदि कोई लाइसेन्स प्राधिकारी किसी व्यक्ति को लाइसेन्स जारी नही करता तो वादी न्यायालय को परमादेश जारी करने की प्राथना कर सकता है। इसी प्रकार यदि नियुक्ति अर्थात् चयन (Selection) की सारी शर्ते पूरी करने पर भी यदि कोई नियुक्ति प्राधिकारी किसी उम्मीदवार को नियुक्ति पत्र जारी नही करता तो वादी न्यायालय से परमादेश लेख जारी करने की प्राथना कर सकता है। सक्षेप म प्राकृतिक न्याय के नियमो की उल्लघना होने पर भी वादी न्यायालय का सरक्षण प्राप्त कर सकता है।

3 प्रतिषेध लेख (Writ of Prohibition)—प्रतिषेध लेख वह लेख है जब उच्च न्यायालय किसी निम्न न्यायालय को यह आदेश देती है कि वह उस काय को न करे जो उसके क्षेत्राधिकार म नही आता अर्थात यदि कोई विवाद किसी निम्न न्यायालय के क्षेत्राधिकार के बाहर है तो सर्वोच्च या उच्च न्यायालय निम्न न्यायालय को उस पर कायवाही को स्थगित करने के लिए कह सकती है। उस स्थिति म भी उच्च न्यायालय निम्न न्यायालय को काय करने से मनाही कर सकती है जहा प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तो की उल्लघना होती है। उदाहरणतया यदि कोई न्यायाधीश किसी विवाद म निजी रूप मे दिलचस्पी रखता है तो उच्च न्यायालय उसे विवाद की सुनवाई करने से मनाही कर सकती है। स्पष्ट है कि प्रतिषेध लेख परमादेश लेख का विलोम है।

4 अधिकार पृच्छा लेख (Writ of Quo Warranto)—'क्वा वारण्टो' एक लेटिन शब्द है जिसका अर्थ है "किस अधिकार से" अर्थात यह वह लेख है जिसके द्वारा न्यायालय यह आदेश दे सकती है कि कोई अमुक व्यक्ति उस सार्वजनिक पद पर कार्य न करे जिसके लिये वह हकदार नहीं। दूसरे शब्दों में, यदि कोई व्यक्ति उस सार्वजनिक पद पर कार्य करता है जिस पर कार्य करने का उसे वैधानिक अधिकार नहीं तो न्यायालय उसे उस पद पर कार्य करने से मनाही कर सकती है। इस लेख के अन्तर्गत अमुक व्यक्ति को बलपूर्वक भी पद से हटाया जा सकता है। उदाहरणतया यदि कोई व्यक्ति निर्वाचित न होने पर भी व्यवस्थापिका की कार्यवाही मे भाग लेता है तो न्यायालय "अधिकार पृच्छा लेख" द्वारा उसे ऐसा करने से मना कर सकती है।

5 उत्प्रेषण लेख (Writ of Certiorari)—'सरसियोररी' एक लेटिन शब्द है जिसका अर्थ है आदेश पत्र अर्थात् यह वह लेख है जिसके द्वारा उच्च न्यायालय किसी विवाद की उचित सुनवाई के लिये किसी निम्न न्यायालय से हटा कर दूसरे न्यायालय को सौंप देता है। यह लेख तब जारी किया जाता है जब वादी (Complainant) अपनी इस आपत्ति को सिद्ध करता है कि उसे निम्न न्यायालय से न्याय मिलने की सम्भावना नहीं। दूसरे शब्दों में, यह लेख निम्न न्यायालय के निर्णय जिसने विवाद की सुनवाई कर उस पर निर्णय दिया होता है, रद्द (quash) करने के लिये जारी किया जाता है। जहा प्रतिषेध लेख निम्न न्यायालय के क्षेत्राधिकार के आधार पर जारी किया जाता है वहा उत्प्रेषण लेख उचित न्याय या विवाद पर उचित विचार के लिये जारी किया जाता है।

## मूल अधिकारो की आलोचना

## या

## मूल अधिकार एक हाथ से दिये गये है और दूसरे हाथ से छीन लिये गये है

## या

## मूल अधिकारो के सम्बन्ध मे सिद्धान्त और व्यवहार मे अन्तर

यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर मूल अधिकारो की व्याख्या करते समय यथा-स्थान लिख दिया गया है परन्तु फिर भी विद्यार्थियो की सुविधा के लिये यहा उसे क्रम से लिख देना उपयोगी होगा।

(संविधान के अध्याय तीन में लिखे गये 24 अनुच्छेद (अनुच्छेद 12 से 35 तक) नागरिक स्वतन्त्रताओं के मैग्ना कार्टा है। ये भारतीय लोकतन्त्र और उसकी उदार एवं स्वतन्त्र संस्थाओं के अस्तित्व के आधार है। यदि यह संविधान मे निकाल लिया जाय या अमर्यादित ढंग से इन्हे प्रतिबन्धित कर दिया जाय तो भारतीय संविधान के लोकतान्त्रिक होने मे ही सन्देह उत्पन्न हो जायेंगे।)

भारतीय संविधान की विशेषता यह है कि जिन धाराओं मे यह नागरिकों के

मूल अधिकारों का उल्लेख करता है उन्हीं में अपवादों, विशेष व्यवस्थाओं और शर्तों की व्यवस्था भी की गयी है। इस तरह संविधान न केवल नागरिकों के मूल अधिकारों को संवैधानिक मान्यता देता है बल्कि प्रतिबन्धों (limitations) को भी संवैधानिक मान्यता देता है। यही कारण है कि भारतीय नागरिकों के मूल अधिकार निर्बाध, असीमित और निरपेक्ष नहीं। राज्य राष्ट्र की सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था एवं हित, विदेशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक नैतिकता, स्वास्थ्य, पिछड़ी हुई एवं अनुसूचित जनजातियों के हितों की रक्षा, नीति निदेशक तत्वों की कार्यान्विति, न्यायालय के अपमान, आदि के नाम पर कभी भी और किसी भी सीमा तक प्रतिबन्ध लगा सकती है। इतना ही नहीं राज्य नागरिकों को न्यायालय के संरक्षण से भी वंचित कर सकता है।

भारत में प्रतिबन्धों का क्षेत्र इतना विस्तृत एवं व्यापक है कि नागरिकों के मूल अधिकार व्यावहारिक होने के स्थान पर सैद्धांतिक अधिक हैं। जैसाकि नार्मन डी० पामर ने लिखा है कि "संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों और उनकी सीमित वास्तविकता में आज महान अन्तर है।"[1] एम० सी० छागला ने भी लिखा है कि "यह कहा जाता है कि हमारा संविधान एक हाथ से मूल अधिकार प्रदान करता है और अगणित अपवादों और उपबन्धों द्वारा परिसीमित करके उन्हें दूसरे हाथ से वापस ले लेता है। मेरे विचार में यह बहुत उदार आलोचना है।"[2] संविधान सभा के सदस्यों ने इन प्रतिबन्धों की आलोचना करते हुए कहा था कि अध्याय तीन का शीर्षक "मूल अधिकार" होने के स्थान पर "मूल अधिकारों पर मर्यादायें" या "मूल अधिकार एवं उन पर मर्यादायें" होना चाहिये।

प्रतिबन्धों की व्यवस्था ने मूल अधिकारों के महत्व को कम कर दिया है, उनकी वास्तविक उपयोगिता को नष्ट किया है। दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि राज्य इन्हें शान्तिकाल में भी स्थगित कर सकती है। राष्ट्रपति अध्यादेश (Ordinance) द्वारा उन्हें स्थगित कर सकता है और उद्घोषणा द्वारा नागरिकों को न्यायालय के संरक्षण से भी वंचित कर सकता है। जहां अन्य देशों में जैसे ब्रिटेन और अमरीका नागरिकों के मूल अधिकारों पर संकटकाल में ही प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं वहां भारत में इन्हें शान्ति काल में भी कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की दया पर निर्भर कर दिया गया है। जहां अमरीका में संकटकाल में भी न्यायालयों के संरक्षण से नागरिकों को वंचित नहीं किया जाता वहां भारत में शान्तिकाल में भी नागरिकों को न्यायालयों के संरक्षण से वंचित किया जा सकता है। इस तरह भारतीय नागरिकों की स्वतन्त्रता का क्षेत्र कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के भावों (Mood) पर निर्भर करता है।

---

1 Palmer Norman D Indian Government of Politics

2 Chagla, M C

मूल अधिकारों का सही अर्थ यह होता है कि वे न केवल कार्यपालिका निरंकुशता बल्कि व्यवस्थापिका के अत्याचार से भी सुरक्षा प्रदान करें। परन्तु भारतीय संविधान कार्यपालिका निरंकुशता से तो सुरक्षा प्रदान करता है परन्तु संसदात्मक अत्याचार से कोई सुरक्षा प्रदान नहीं करता। भारत में न्यायपालिका की शक्ति "कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया" से निर्धारित होती है अमरीका की भांति कानून की उचित प्रक्रिया से नहीं। इसका अर्थ यह है कि संसद या राज्य विधान सभा की अधिकार शक्ति के अन्तर्गत बनाया गया कानून वैध है चाहे वह कितना ही अन्यायिक, अनैतिक, कठोर, दुराचारी एवं अत्याचारी क्यों न हो। न्यायालय किसी कानून को तभी अवैध घोषित कर सकती है यदि वह संविधान की किसी धारा की उल्लंघना करता हो या व्यवस्थापिका की अधिकार शक्ति से बाहर हो।

भारतीय संविधान संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को नहीं। संसदात्मक प्रणाली में इसका वास्तविक अर्थ है कार्यपालिका की सर्वोच्चता। जैसा कि सरदार हुकमसिंह ने कहा था कि "यदि हम इन स्वतन्त्रताओं को व्यवस्थापिका की इच्छा पर छोड़ देते हैं जो कि एक राजनीतिक दल के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं तो इन स्वतन्त्रताओं का अस्तित्व ही सन्देह हो सकता है।"

संविधान में विस्तृत एवं व्यापक प्रतिबन्धों की व्यवस्था इस बात का प्रमाण है कि भारतीय संविधान निर्माता भारतीय नागरिकों पर विश्वास नहीं करते थे। उन्हें उन पर अविश्वास था। इसलिए वे संविधान सभा में नागरिकों की स्वतन्त्रता के स्थान पर राज्य शक्ति में अधिक सम्बन्धित थे। जैसाकि सोमनाथ लेहड़ी ने कहा था कि "मूल अधिकारों का निर्माण पुलिस के सिपाही की दृष्टि से किया गया है, स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाले राष्ट्र के दृष्टिकोण से नहीं।" अनुच्छेद 22 में निवारक निरोध की व्यवस्था सामान्य काल में, शान्तिकाल में मूल अधिकारों के स्थगन की व्यवस्था तथा न्यायालयों के संरक्षण के निलम्बन की व्यवस्था निश्चित ही अविश्वास की द्योतक है। ये व्यवस्थायें निरंकुशता के प्रतीक हैं, नागरिक स्वतन्त्रताओं के प्रतीक नहीं। जैसाकि एक बार श्री कामत ने कहा था कि जिन शक्तियों की परिकल्पना यह व्यवस्था करती है वे भय और कब्रिस्तान की शान्ति की द्योतक हैं स्वतन्त्र देश की स्वाभाविक शान्ति की नहीं। ये तानाशाही और पुलिस राज्य की स्थापना में सहायक हैं, लोकतान्त्रिक राज्य की स्थापना में नहीं। इसे ठीक ही लोकतन्त्र विरोधी, उदारवाद विरोधी, विधि के शासन के विरोधी, प्राकृतिक न्याय विरोधी, न्याय की भावना के विरोधी तथा औचित्य विरोधी कहा गया है। बिना अभियोग के और बिना किसी कानूनी आधार के, केवल शंका और सम्भावना के आधार पर व्यक्ति को कार्यपालिका की इच्छा का पात्र बना देना सभ्य समाज का चिह्न नहीं है। आलोचकों ने इसे भारत की पुस्तकों में 'काला नाग' और 'काला धब्बा' की संज्ञा दी है। एम. वी. पायली ने इसे संविधान के नाम पर धब्बा कहा है। भारत में अंग्रेजों द्वारा गम्भीर उपायों की व्यवस्था राष्ट्रीय आन्दोलनों के

सेनानियो को कुचलने के लिये की थी भारतीय संविधान निर्माताओं ने इनकी व्यवस्था नागरिकों की स्वतन्त्रता को कुचलने के लिए की।

व्यवहार में भी संवैधानिक प्रतिबन्धों का प्रयोग जिस ढंग से किया गया है वह मूल अधिकारों के सिद्धान्त और व्यवहार के अन्तर को भी स्पष्ट करता है। भारतीय सुरक्षा अधिनियम (DIR) आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम (MISA) निवारक निरोध अधिनियम (PDA), की व्यवस्था देशद्रोहियों और समाज विरोधी तत्वों के लिये की थी राजनीतिक विरोधियों का दमन करने के लिये नहीं। बिहार में जिस ढंग से जन आन्दोलन को फासीवादी कहकर कुचला गया है, जिस ढंग से सत्याग्रहियों और विरोधी दलों के प्रदर्शनों, जलूसों, सभाओं, आदि के साथ पक्षपात किया गया तथा साम्यवादी और कांग्रेस रैलियों में सरकारी यन्त्र का प्रयोग किया गया वह लोकतन्त्र के लिये अच्छा शकुन नहीं। डी० आई० आर०, मीसा और पी० डी० ए० का प्रयोग सरकारी कर्मचारियों की हड़तालों, अध्यापकों विद्यार्थियों और व्यापारियों के विरुद्ध किया गया है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सरकार सामान्य विधि के अनुसार प्रशासन का सचालन नहीं कर सकती और संकटकालीन व्यवस्थाओं के आधार पर ही शान्तिकाल में शासन का सचालन कर सकती है।

भारतीय संविधान में 'भेद मूलक संरक्षण' (Protected Discrimination) की व्यवस्था भी समानता की परिचायक नहीं। सामाजिक समानता के नाम पर जाति के आधार पर विशेष व्यवस्थाये करना औचित्य नहीं विशेषकर उस परिस्थिति में जब इनका प्रयोग वोट बैंक के रूप में किया जाने लगे। चिरकाल तक इन व्यवस्थाओं को बनाये रखना जहा नागरिक असन्तोष को जन्म दे सकता है वहा राष्ट्रीय हित के लिये भी हानिकारक हो सकता है। निवास स्थान' की व्यवस्थाओं ने "धरती के लाल' (Sons of the Soil) के सिद्धान्त को जन्म दिया है और जिस ढंग से प्रान्तीय भाषाओं की अनिवार्यता को प्रान्तीय प्रशासनिक सेवाओं में रखा जाता है वह राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा नहीं देता बल्कि प्रान्तीयता को बढ़ावा देता है। एम सी सीतलवाड ने ठीक लिखा है कि 'जिस समानता की बात मानव जाति युगों से करती आयी है भारत में वह अभी स्वप्न ही है।

न केवल स्वतन्त्रता और समानता के मूल अधिकार बल्कि अन्य मूल अधिकारों, विशेषकर सम्पत्ति के मूल अधिकार को भी नष्ट करने का प्रयास किया गया है। पच्चीसवे संशोधन के बाद सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के क्षेत्र में लेना ही आपत्तिजनक प्रतीत होता है। यह अधिकार वस्तुतः वाद योग्य नहीं रहा, न्यायालय अधिगृहीत की गयी सम्पत्ति के लिये दी जाने वाली राशि के औचित्य अनौचित्य का निर्धारण नहीं कर सकती। ससद कानून द्वारा पक्षपात कर सकती है, या राशि देना इन्कार कर सकती है आदि।

सर्वत्र दरिद्रता, भीषण विषमताओं और बेरोजगारी के वातावरण में शोषण के विरुद्ध अधिकार की बात करना कोरा मजाक है। बालक श्रम, महिला श्रम सर्वत्र

विद्यमान है। निधनो, असहाय व्यक्तियो और अशिक्षित व्यक्तियो का शोषण विद्यमान है। इसी प्रकार अनिवार्य और निशुल्क शिक्षा के अधिकार की बात करना कोरा आदर्श है। 25 वर्षों की स्वतन्त्रता के बाद भी शिक्षा विद्यार्थी के माता पिता की "जेब" पर निर्भर करती है मानवीय या नागरिक आवश्यकता पर नही। छुआछूत का अन्त सविधान की महान एव अद्वितीय विशेषता है परन्तु यह बीमारी आज भी विद्यमान है। वस्तुत इस कानून का दृढता से पालन ही नही किया गया।

मूल अधिकारो के अध्याय मे कुछ ऐसे शब्दो का प्रयोग भी किया गया है जिनकी स्पष्ट परिभाषा नही की गयी। उदाहरणतया सार्वजनिक उद्देश्य', 'राशि', 'कठोर कार्य' मानव का व्यापार' आदि शब्दो की स्पष्ट व्याख्या न होने से अनेक अर्थो मे इनका प्रयोग किया गया है जिनसे अनिश्चितताये और अस्पष्टतायें पैदा होती है।

एक दृष्टि से तो मूल अधिकार केवल मिथ (*Myth*) मात्र है। आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा के अभाव मे राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल धारणा है अवास्तविकता एव नाम मात्र है। सविधान नागरिको को कार्य विश्राम, सामाजिक सुरक्षा तथा असहाय व्यवस्था मे आर्थिक सुरक्षा का आश्वासन नही देता। इनके अभाव मे जन साधारण की राजनीतिक स्वतन्त्रतायें सम्पन्न वर्गो के हाथो की कठपुतली मात्र बनकर रह जाती है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि अध्याय तीन मे मर्यादा, विशेष व्यवस्थाओ प्रतिबन्धो या शर्तो आदि की व्यवस्था भारत सुरक्षा अधिनियम निवारक निरोध अधिनियम, आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम की व्यवस्था, कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया, तथा आर्थिक स्वतन्त्रताओ के अभाव मे नागरिको के मूल अधिकारो के सार तत्व को लुप्त कर दिया है और जिस हाथ से मूल अधिकार दिये गये है उसी हाथ से वापस ले लिये गये है या यूँ कहना अधिक उचित होगा कि मूल अधिकारो के सम्बन्ध मे भारतीय सविधान मे सिद्धान्त और व्यवहार मे महान अन्तर पाया जाता है।

उपर्युक्त आलोचनाओ के बाद भी मूल अधिकारो को व्यर्थ, अवास्तविक कहना गलत है क्योकि सम्पत्ति के अधिकार का छोडकर, सभी अधिकार न्यायालय मे वाद योग्य है। न्यायालय सतर्क पहरेदार की भाति उनकी रक्षा करती है और यदि कोई कानून सविधान पर 'धोखा' (fraud) है या सविधान के मूल ढाचे पर प्रहार करता है तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकती है। आज भी न्यायालय कानून के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण करती है। भारतीय न्यायालय की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता अद्वितीय है। हाल ही मे इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाधी के विरुद्ध राज नारायण की चुनाव याचिका को स्वीकार करते हुए प्रधान मन्त्री को लोक सभा की सदस्यता से वचित कर दिया।[1] परन्तु किसी जन

---

1 सर्वोच्च न्यायालय ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय को शर्तो सहित स्थगित किया है। अभी अन्तिम निर्णय नही हुआ।

समूह की स्वतन्त्रता न्यायालय की सतकता पर ही निभर नही करती बल्कि नागरिका की सतत जागरूकता पर निभर करती है जिसकी सम्भवत भारत म अभी कुछ कमी है। यदि कोई जनता अपन नेताओ का अभ्रान्त मानकर उनम अ धविश्वास करती है तो कोई भी सविधान चाहे वह कितना ही उदार क्या न हो, नागरिक अधिकारो की रक्षा नही कर सकता। लाकतान्त्रिक समाज म डी० आई० आर०, मीसा और पी० डी० ए० जस क्रूर एव निष्ठुर अधिनियमो के स्थान पर नागरिको की सतत जागरूकता की आवश्यकता है जो अपने प्रतिनिधियो की निरकुशता और निष्ठुरता पर नियन्त्रण रख सके।\

## समीक्षा प्रश्न
## (Review Questions)

1 भारत के सविधान के अन्तगत नागरिका को दिये गये मूल अधिकारो का आलोचनात्मक मूल्याकन कीजिये।

2 भारतीय सविधान के अ तगत नागरिका का कौन-कौन सी नागरिक स्वतन्त्रताये (Civil Liberties) प्रदान की गयी है। भारत सुरक्षा अधिनियम, (DIR) निवारक निरोध अधिनियम (PDA) और आ तरिक सुरक्षा अधिनियम (MISA) के सन्दभ म इनकी व्याख्या कीजिये।

3 "सवैधानिक उपचारो का अधिकार मारे सविधान की आत्मा और दिल है।" व्याख्या कीजिये।

4 क्या सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकारा के अध्याय से निकाल देना चाहिये? कारण सहित उत्तर दीजिये।

5 "भारत म मूल अधिकार निर्बाध या निरपक्ष नही, व सीमित हैं।' उदाहरण सहित व्याख्या कीजिये।

6 'मूल अधिकार एक हाथ से दिये गये है और दूसरे हाथ स ले लिये गये ह।' आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

7 'मूल अधिकारो की व्यवस्था एक पुलिस कान्सटेबल के दृष्टिकोण स की गयी है, एक स्वत त्र देश के दृष्टिकोण से नही।' विवेचना कीजिये।

अध्याय 7

# राज्य के नीति निदेशक तत्त्व

## ( The Directive Principles of State Policy )

"संविधान स्वतन्त्रता का आश्वासन दे सकते थे और यह आश्वासन दिया भी परन्तु वे रोटी और आर्थिक सुरक्षा का लेशमात्र आश्वासन नहीं दे सकते थे जिसकी छोटे व्यक्ति को आवश्यकता होती है।"

—लोवेनस्टीन (Lowenstein)

राज्य के नीति निदेशक तत्त्व भारतीय संविधान की अद्भुत विशेषता (novel feature) है। परन्तु भारतीय संविधान ही एकमात्र ऐसा संविधान नहीं जिसमें इनका समावेश किया गया हो। आयरिश स्वतन्त्र राज्य, आस्ट्रिया, स्पेन, इटली, ब्राजील, पुर्तगाल, थाईलैण्ड, बर्मा, फ्रांस, प० जर्मनी, यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, चीन आदि संविधानों में भी इसी प्रकार के उपबन्धों की व्यवस्था की गई है। भारत ने इन्हें आयरिश स्वतन्त्र राज्य के संविधान से अपनाया है और आयरलैण्ड ने इन्हें स्पेन गणराज्य के संविधान से प्राप्त किया था। वस्तुतः स्पेन गणराज्य का संविधान ही ऐसा संविधान था जिसने पहली बार ऐसे तत्त्वों को संविधान में सम्मिलित किया।

भारतीय संविधान में उल्लिखित नीति निदेशक तत्त्वों का क्षेत्र आयरिश और बर्मी संविधानों में उल्लिखित तत्त्वों से कहीं अधिक व्यापक है। ये केवल सामाजिक, आर्थिक और सामान्य न्याय की ही बात नहीं करते अपितु उन उद्देश्यों को भी व्यक्त करते हैं जिन पर भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को निर्धारित किया जायगा। ये उस सामाजिक दशा (व्यवस्था) की ओर संकेत करते हैं जिसकी स्थापना संविधान निर्माता करना चाहते थे अर्थात् भारतीय संविधान की प्रस्तावना में व्यक्त किये गये भावों को—सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त हो—कार्यान्वित करने के लिये ही इन नीति निदेशक तत्त्वों का अध्याय चार में उल्लिखित किया गया है। संविधान निर्माता राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना चाहते थे, राज्य को केवल पुलिस राज्य ही नहीं अपितु लोककल्याणकारी और समाज सेवी (Social Service) राज्य भी बनाना चाहते थे।

आर्थिक और सामाजिक नीतियों के सम्बन्ध में नीति निदेशक तत्त्व किसी

ठोस योजना या कार्यक्रम (cut and dried plan or blue print) को प्रस्तुत नहीं करते बल्कि ये केवल "सामान्य कल्याण" की भावना को व्यक्त करते हैं। संविधान निर्माताओं की धारणा थी कि सरकार चाहे अनुदारवादी हो या उदारवादी, सुधारवादी (radical) हो या प्रगतिवादी (progressive) सभी को आर्थिक और सामाजिक प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए प्रयत्न करना चाहिये। किसी लेखक ने ठीक लिखा है कि नीति निदेशक तत्त्व 'देश का दर्पण के समान हैं जिनमें हम भविष्य के समाज और सरकार के स्वरूप को देख सकते हैं।

**नीति निदेशक तत्त्वों के उदाहरण**—भारतीय संविधान के अध्याय चार में 16 अनुच्छेदों में (अनुच्छेद 36 से 51 तक) राज्य के नीति निदेशक तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय के अतिरिक्त 350 A और 351 में भी नीति निदेशक तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 350 A प्राथमिक शिक्षा को मातृभाषा में देने की व्यवस्था करता है और अनुच्छेद 351 हिन्दी भाषा के विकास की बात करता है।

*जैसाकि ऊपर लिखा गया है कि ये तत्त्व "सामान्य कल्याण" की भावना पर* आधारित हैं, ये सभी को सामाजिक आर्थिक, सांस्कृतिक प्रशासनिक और राजनीतिक न्याय दिलाने के इच्छुक हैं, ये राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना चाहते हैं, ये राज्य को केवल पुलिस राज्य ही नहीं अपितु लोककल्याणकारी' और 'समाज सेवी" राज्य भी बनाना चाहते हैं। ये बेन्थम के इस कथन का समर्थन करते हैं कि राज्य की नीति का उद्देश्य 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' (greatest happiness of the greatest number) को प्राप्त करना होना चाहिये अर्थात् उसकी नीतियों से कम लोगों को हानि होनी चाहिये।

संविधान में नीति निदेशक तत्त्वों का वर्गीकरण स्पष्ट रूप से नहीं किया गया। यही कारण है कि इन्हें आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, कानूनी, गांधीवादी, अन्तर्राष्ट्रीय और विविध क्षेत्रों में बांटने का प्रयास किया गया है। इन्हें मुख्यतः चार भागों में बांटा जा सकता है जो निम्न प्रकार से हैं —

(क) लोक-कल्याणकारी राज्य से सम्बन्धित तत्त्व
(ख) गांधीवादी विचारधारा से सम्बन्धित तत्त्व
(ग) अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा से सम्बन्धित तत्त्व
(घ) ऐतिहासिक इमारतों से सम्बन्धित तत्त्व

**(क) लोक कल्याणकारी राज्य से सम्बन्धित तत्त्व** ये वे तत्त्व हैं जो भारत में आर्थिक और सामाजिक न्याय की स्थापना चाहते हैं। ये इस भावना पर आधारित हैं कि आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता मिथ्या है। इन्हें समाजवादी तत्त्वों की संज्ञा भी दी जा सकती है। इनके मुख्य उदाहरण निम्न हैं —

(i) जन समुदाय के भौतिक साधनो का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार विभाजित हो कि सामान्य कल्याण म सहायक हो।

(ii) आर्थिक व्यवस्था का इस प्रकार सचालन हो कि सामान्य अहित म धन और उत्पादन के साधनो का सचयन कुछ हाथो म न हो सक।

(iii) सभी नागरिको को जीविकोपाजन के पर्याप्त साधन उपलब्ध हो।

(iv) श्रमजीवियो के लिय मजदूरी की न्यूनतम दरो की व्यवस्था हो।

(v) पुरुषो और स्त्रियो का समान काय के लिये समान वतनो की व्यवस्था हो।

(vi) सभी नागरिको के स्वास्थ्य और शक्ति के पोषण और सुरक्षा की व्यवस्था हो।

(vii) बच्चो, किशोरावस्था और स्त्रियो क नतिक और भौतिक शोषण स सुरक्षा की व्यवस्था हो।

(viii) सविधान के लागू होन के 10 वष के भीतर 14 वष की आयु तक क सभी बच्चो के लिय नि शुल्क और अनिवाय शिक्षा की व्यवस्था हो।

(ix) बरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी अक्षमता या अन्य इसी प्रकार की अवाछनीय अवस्था म, जहा तक हो सके, राज्य द्वारा शिक्षा, काय और सावजनिक सहायता की व्यवस्था हो।

(x) काय के लिय यायोचित एव मानवीय परिस्थितियो की व्यवस्था हो।

(xi) मातृत्व काल मे प्रसूति सुविधाओ की व्यवस्था हो।

(xii) सामाजिक और सास्कृतिक सगमग स लाभ उठान क साधन सभी नागरिको को उपलब्ध हो।

(xiii) मनोरजन और विश्राम के उपभाग की तथा चिकित्सा आदि की व्यवस्था हो।

(xiv) सामान्य जीवन स्तर और आहार पोषण के स्तर को ऊँचा उठान की व्यवस्था हो।

(xv) सभी के लिये समरूप आचार सहिता (Uniform Civil Code) की व्यवस्था हो।

**(ख) गाधीवादी विचारधारा से सम्बधित तत्व**—य व तत्त्व हैं जिनकी प्राप्ति के लिये गाधीजी जीवन भर प्रयत्नशील रह। इनके मुख्य उदाहरण निम्न ह —

(i) जन समुदाय (Community) के पिछडे हुए तथा निबल वर्गों के लिय शक्षणिक और आर्थिक उत्थान की व्यवस्था हो।

(ii) अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जन जातियो तथा अन्य पिछड़े हुए वर्गो के लिय सामाजिक याय की व्यवस्था हो।

(iii) आधुनिक और वज्ञानिक ढग पर कृषि की व्यवस्था हो।

(iv) पशुओ की नस्ल को सुधारने की व्यवस्था हो तथा दुधारी पशुओ, विशेष कर गाय की हत्या से सुरक्षा की व्यवस्था हो।

(v) ग्रामीण क्षेत्रो मे, निजी या सहकारी आधार पर, कुटीर उद्योगो के विकास की व्यवस्था हो।

(vi) ग्राम सुधार, सत्ता के विकेन्द्रीकरण और स्वायत्त शासन की इकाइयो के विकास के लिये ग्राम पचायतो के निर्माण की व्यवस्था हो।

(vii) कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक दूसरे से पृथक रखने की व्यवस्था हो।

(viii) मद्य और अन्य नशीली वस्तुओ के निषेध की व्यवस्था हो।

**(ग) अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा से सम्बन्धित तत्त्व**—ये वे तत्व है जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र म भारत के उद्देश्यो को व्यक्त करते है। ये मुख्यत विश्व शान्ति, राष्ट्रो के पारस्परिक सहयोग, विश्व बन्धुत्व और जीओ और जीने दो की भावनाओ से प्रेरित ह। इनके मुख्य उदाहरण निम्न है—

(i) राष्ट्रीय नीति के रूप मे युद्ध का परित्याग।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा मे वृद्धि।

(iii) राष्ट्रो म न्यायपूर्ण एव सम्मानपूर्ण सम्बन्धो का विकास।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो, समझौता और कानून के प्रति सम्मान।

(v) पच निर्णय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के निपटारे को बढाना।

**(घ) ऐतिहासिक इमारतो से सम्बन्धित तत्त्व**—इनका उद्देश्य ऐतिहासिक और राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारको, इमारतो, और कला स्थानो के बिगाड, विरूपण, नाश, हटाव, बिक्री और निकासी से रक्षा करना है (Art 49)

**नीति निदेशक तत्वो की आलोचना**—भारतीय सविधान के किसी अध्याय के सम्बन्ध म इतनी अधिक गलत धारणायें व्यक्त नही की गयी जितनी कि नीति निदेशक तत्वो के अध्याय के सम्बन्ध मे व्यक्त की गयी हैं। सवधानिक सभा म ही इन पर शकायें व्यक्त की गयी। सवधानिक सभा के एक सदस्य के अनुसार "ये निदेशक सिद्धान्त भावनाओ के कूडेदान हैं—इन सिद्धान्तो म इतना लचीलापन ह कि इस सदन का कोई भी सदस्य इनम अपनी मनचाही चीज पा सकता है।"[1] प्रो० के० टी० शाह ने सविधान सभा मे कहा था कि 'ये बैंक के ऐसे चक के समान है जिसका भुगतान बैंक की इच्छा पर छोड दिया गया है। नसिरुद्दीन न इनकी तुलना "नव वप के उन शुभकामना प्रस्तावो म की है जिन्हे 2 जनवरी को तोड दिया जाता है।"

जिन आधारो पर नीति निदशक सिद्धान्ता की आलोचना की गयी है उनमे प्रमुख निम्न है —

---

1 न्यायाधीश के० सदानन्द हैगडे की पुस्तक 'भारतीय सविधान म राज्य नीति के निदेशक तत्व" से उद्धृत (रिसच दिल्ली) 1972 p 22

**1 वादयोग्य नहीं (Non justiciable)**— नीति निदेशक तत्वा की स बडी आलाचना यह कहकर की जाती है कि ये वाद योग्य नही अर्थात् इन्हे न्यायाल द्वारा लागू नही किया जा सकता।[1] उदाहरणतया यदि पिछडी हुई जाति क सद को स्कूल शुल्क म किसी प्रकार की रियायत नही दी जाती तो वह इस आधार न्यायालय मा सरक्षण प्राप्त नही कर सकता। इस तरह नीति निदेशक तत्व न मौलिक कानून है और न ही गौण कानून (neither fundamental nor second laws) है। जसाकि जी० एन० जोशी ने लिखा है कि नीति निदेशक तत्व "निद है, प्रादेशिक नही। वे न तो वैध अधिकारा को उत्पन्न करते हैं और न ही उपचारा को।"[2] सवैधानिक टीकाकार के लिये इनका कोई महत्त्व नही। य उस तो प्रेरित करते है और न ही अपील। वी० एन० शुक्ल का मत है कि य सवधा दस्तावेज के भाग बनने याग्य नही।

**2 घोषणायें मात्र**—नीति निदेशक तत्वा की यह कहकर आलाचना गयी है कि क्योकि ये राज्य पर वध कर्तव्यो का आरोपित नही करते इसलिय केवल दिखावा मात्र है। इन्हे 'पवित्र आशाये' और "थोथे वचन" कह कर निर्दित किया गया है। ये ऐसी उच्च भावनाये है जिन्हे श्रेष्ठ शब्दावली म तो क्रिया गया है परन्तु प्रभावहीन (platitudes) होने से इनकी व्यावहारिक उपयोगि कुछ भी नही। डा० ह्वियर के लिये ये "उद्देश्या और आकाक्षाआ के घोषणा पत्र अधिक कुछ नही।"[3] माशल स्टालिन से भी लिखा है कि "बुनियादी उद्देश्यो और सकेत करना या इन्हे भविष्य की उपलब्धियो की घोषणाआ द्वारा पूरा कर सविधान के मौलिक आधार को अवरुद्ध करन के समान ह।' आलोचका का मत सविधान ऐसा स्थान नही जहा नतिक उपदेशा का उल्लेख किया जाना चाहिये यदि ऐसा है तो बाईबिल की दस पवित्र आज्ञाओ (Ten Commandments) को सविधान मे लिखा जाना चाहिये था।

**3 असगत, निरथक और अथहीन है**— नीति निदेशक तत्वो की यह कह आलोचना की गइ ह कि ये असगत, अस्पष्ट, व्यथ, निरथक और अथहीन होने महत्त्वहीन है। जसाकि सर आइवर जनिग्स न कहा है कि 'राज्य के नीति निदेश तत्त्वो का काई महत्त्व नहीं और भारतीय सविधान म वे असगत है। यह सम नही आता कि रोजगार, समान वेतन जीविका योग्य मजदूरी, धन और उत्पादन साधना का विकेन्द्रीकरण, पिछडे हुए वर्गो के उत्थान आदि महत्त्वपूर्ण आर्थिक सामाजिक प्रश्नो को स्मारका की सुरक्षा जसे महत्त्वहीन प्रश्ना के साथ कैसे जो दिया। यह भी समझ नही आता कि वतमान म दिये गये निदेश भविष्य क

1 See Art 37 of the Indian Constitution
2 Joshi, G N The Constitution of India p 105
3 Wheare, K C India s New Constitution, p 54

आवश्यकताओं की कैसे पूर्ति कर सकेंगे। प्रो० श्रीनिवासन ने ठीक लिखा है कि नीति निदेशक तत्त्वों में "वर्तमान को प्राचीन से, तर्क तथा विज्ञान पर आधारित उपबन्धों की भावनाओं और पक्षपात पर आधारित उपबन्धों को बड़े असंगत रूप से मिलाने का प्रयास किया गया है।"

**4 महत्त्वपूर्ण आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को टालने का प्रयत्न करते है**—कुछ आलोचकों का यह मत है कि नीति निदेशक तत्त्वों के अध्याय में उल्लिखित तत्त्वों को मूल अधिकारों के अध्याय में न लिख कर संविधान निर्माताओं ने महत्त्वपूर्ण आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को टालने का प्रयत्न किया है। नीति निदेशक तत्त्व न तो श्रमिकों और मालिकों के सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं और न ही सम्पत्ति की जटिल समस्याओं का कोई समाधान ही प्रस्तुत करते हैं। ये निजी पूँजी और समाजीकरण तथा यथेच्छाकारिता और योजनाबद्ध नीतियों में भी कोई स्पष्ट सामञ्जस्य स्थापित नहीं करते। ये इस बात की कोई गारण्टी नहीं देते कि परिवर्तित परिस्थितियों में इनकी पालना की ही जायगी। इस बारे में भी ये शान्त हैं कि कब तक लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जायगी और कब तक आर्थिक लोकतन्त्र स्थापित किया जा सकेगा। ये जनोत्तेजकों (demagogues) और राजनीतिक नेताओं के स्वार्थों से भी भोली भाली और अनभिज्ञ जनता की रक्षा नहीं करते। उसे गुमराह करने के लिये इन तत्त्वों का सहारा लिया जा सकता है और निर्वाचन में मतों को प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि आलोचकों ने इन्हें दिखावा मात्र (mere window dressing) और पवित्र निरर्थकतायें (pious superfluities) कहा है।

**5 तर्कसंगतता का अभाव**—कुछ आलोचकों ने नीति निदेशक तत्त्वों की तर्कसंगतता और व्यावहारिक उपयोगिता पर भी शंकायें व्यक्त की हैं। उनका कहना है कि मद्य निषेध जैसे निदेशकों का अनुसरण करने से दोहरी हानि होती है। प्रथम इससे राज्य को करोड़ों रुपये के राजस्व से हाथ धोने पड़ते हैं दूसरे, इससे अवैध मद्य सन्धान (distillation) और वितरण को बढ़ावा मिलता है। इतना ही नहीं अधिकारियों में भ्रष्टाचार का विकास भी होता है।

**6 संवैधानिक गतिरोध की सम्भावना**—आलोचकों का कथन है कि नीति निदेशक तत्त्व इस अस्पष्टता का सही उत्तर नहीं देते कि यदि कोई मन्त्रिमण्डल इनकी जानबूझ कर उपेक्षा करता है तो क्या राष्ट्रपति या राज्यपाल इन्हें लागू करने के लिये अपनी शक्तियों का प्रयोग कर सकते हैं। और यदि राष्ट्रपति या राज्यपाल अपनी शक्तियों का प्रयोग कर सकते हैं तो क्या इससे संसदात्मक शासन की मान्यताओं की उल्लंघना नहीं होगी कि कार्यपालिका मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर ही कार्य कर सकता है। राज्य के नीति निदेशक तत्त्व इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर नहीं देते जिससे संवैधानिक गतिरोध का [illegible] धारण कर सकती है। यह भी हो सकता है कि जनता द्वारा निर्वाचित [illegible]

के सदस्य जन हित को अभिव्यक्त न कर दलीय, वर्गीय या सकीर्ण हितो को अभिव्यक्त करे। उस समय स्थिति निश्चित ही गम्भीर हो सकती है।

## नीति निदेशक तत्त्वो का महत्व

उपयु क्त आलोचनाओ के बाद भी यह कहना भ्रमपूर्ण है कि नीति निदेशक तत्त्व सारहीन और महत्त्वहीन है। वस्तुत जहा ये तत्त्व कार्यपालिका के लिये सामान्य हित की नीतियो को कार्यान्वित करने म प्रेरक रहे हैं, जहा विधान मण्डलो के लिये ये आदेश रहे है वहा न्यायपालिकाओ के लिये भी ये प्रकाश स्तम्भ (beacon light) रहे है। इन्ही तत्त्वो की कार्यान्विति से भारत मे लोक-कल्याणकारी राज्य और आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना सम्भव है। नीति निदेशक तत्त्वो के महत्त्व को निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है —

1 **देश के प्रशासन मे मूलभूत**—यह सत्य है कि नीति निदेशक तत्त्व वाद योग्य नही परन्तु वे सविधान की "अन्तरात्मा"[1] है। सविधान म इनका उल्लेख ही इन्हें पवित्र अनुशास्ति (Solemn sanction) और गौरव (status) प्रदान करता है। और फिर सविधान इन्हें देश के प्रशासन म मूलभूत (fundamentals) बनाता है।[2] वे केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो पर यह उत्तरदायित्व डालते है कि कानून निर्माण करते समय वे इन तत्त्वो को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करेगी। इस दृष्टि से वे राज्य का पथ-प्रदर्शन भी करते हैं और उस सामाजिक और आर्थिक दिशा की ओर सकेत भी करते हैं जिसकी स्थापना सविधान निर्माता करना चाहते थे। नीति निदेशक तत्त्व वैधानिक दृष्टि से बाध्य न होते हुए भी नैतिक दृष्टि से बाध्य है। इस तरह नीति निदेशक तत्त्व उस स्थायी अनुस्मरण पत्र (standing reminder) की भाति है जो सरकार को इस बात की याद दिलाता रहता है कि सामान्य हित के लिये उसे क्या करना चाहिये। इन्हे वाद योग्य केवल इसलिये नही बनाया गया कि यदि राज्य अपने सीमित आर्थिक साधनो के कारण इन्हें कार्यान्वित न कर सके तो उसे न्यायालय मे चेतावनी न दी जा सके।

2 **सरकारो के औचित्य की कसौटी**—यह सत्य है कि नीति निदेशक तत्त्व राज्य पर कोई वैध कर्त्तव्य नही लादते और यदि राज्य उन्ह कार्यान्वित नहीं करता तो उसे न्यायालयो म उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता। परन्तु इस आधार पर नीति निदेशक तत्त्वो को अर्थहीन और महत्त्वहीन मान लेना भ्रमपूर्ण है क्योंकि लोकतन्त्र म सबसे महान् और शक्तिशाली न्यायालय निर्वाचन मण्डल और जनमत होता है और कोई भी लोकतान्त्रिक सरकार इनकी उपेक्षा करके बहुत देर तक सत्तारूढ नही रह सकती।

नीति निदेशक तत्त्व किसी प्रकार की सरकार की सफलता और असफलता

---

1 उद्धृत हेगडे के० सदानन्द, पृ० 30

2 See Art 37 of Indian Constitution

के मापदण्ड (yardstick) हैं। जसाकि बी० एम० शर्मा ने लिखा है कि ये तत्त्व "सामान्य निर्वाचन मे मतदाता के पास ऐसा हथियार है जिसके प्रयोग द्वारा वह किसी विधायक (legislator) को विधान मण्डल से बाहर निकाल सकता है यदि वह विधायक के रूप म अपने कतव्यो को निभाने मे इन तत्त्वो की भावना के प्रति अडिग नही रहा या उस दल के उम्मीदवार को अपना मूल्यवान मत देने से मना कर सकता है जिसने अपने निर्वाचन घोषणा पत्र म इन तत्त्वो को उचित महत्त्व नही दिया। विधान मण्डल मे विरोधी दल के हाथ मे ऐसा अस्त्र है जिसका प्रयोग करके वह सरकार की यह आलोचना कर सकता है कि इन तत्त्वो को लागू करने के लिये आवश्यक विधेयक प्रस्तुत नही किये गये।"[1] इस तरह विधानमण्डल के बाहर मतदाता और विधान मण्डल के अन्दर विरोधी दल के हाथो मे नीति निदेशक तत्त्व ऐसी तलवार है जिसका प्रयोग सामान्य हित म सवदा किया जा सकता है और लोक हित के प्रति उदासीन सरकार को लोक हित के प्रति जागरूक बनाया जा सकता है।

नीति निदेशक तत्त्वो की कार्यान्विति मूलत इस बात पर निभर करती है कि जनमत कितना सबल, सुदृढ ठोस एव जागरूक है तो कोई भी सत्तारूढ दल अपने लिये राजनीतिक अस्तित्व का खतरा मोल लेकर ही नीति निदशक तत्त्वो की उपेक्षा कर सकता है क्योकि जिस जनमत ने उस सत्तारूढ किया था उसी जनमत का एक झोंका उसे अपदस्थ कर सकता है इसलिये कोई दल इनकी उपेक्षा नही कर सकता।

3 **न्यायालयो के लिये प्रकाश स्तम्भ** यह सत्य है कि सविधान ने नीति निदेशक तत्त्वो को वाद योग्य नही बनाया परन्तु फिर भी न्यायालयो के लिय वे प्रकाश स्तम्भ रहे हैं। सामाजिक कानूनो के औचित्य को सिद्ध करने के लिये न्यायालयो ने नीति निदेशक तत्त्वो से माग दशन प्राप्त किया है। उदाहरणतया बम्बई राज्य बनाम एफ० एन० बलसराय के मुकदमे मे 'बाधाओ के औचित्य' को निश्चित करने मे अनुच्छेद 47 का सहारा लिया। सन् 1948 के न्यूनतम मजदूरी अधिनियम को उचित ठहराने के लिये न्यायालय ने विजय काटन मिल बनाम अजमेर राज्य के मुकदमे म अनुच्छेद 43 मे वर्णित तत्त्वो का ध्यान रखा। सावजनिक हित (public purpose) के मापदण्ड के रूप म भी नीति निदेशक तत्त्वो का प्रयोग न्यायालय ने किया है।

4 **अतिवादिता से सुरक्षा**—नीति निदशक तत्त्व दक्षिण पथी और वाम पथी विचारो की अतिवादिता के विरुद्ध बीमा सुरक्षा (insurance) है। क्योकि इन्हे किसी समय म विधानमण्डल की अस्थाई बहुमत की इच्छा पर आधारित नही किया गया बल्कि इन्हे राष्ट्र की बुद्धि और धीरता पर आधारित किया है इसलिये कोई भी दल (अनुदारवादी, उदारवादी, सुधारवादी या क्रान्तिकारी) अतिवादी नीतिया

---

1 Sharma B M The Republic of India (Asia Publishing House) 1966 p 193

को नही अपना सकता । सत्तारूढ दल की प्रकृति और स्वरूप कैसा भी हो उसे संविधान मे परिवर्तन करने या उसका अन्त करने की आवश्यकता नही। क्योकि नीति निदेशक तत्त्व किसी ठोस अर्थ व्यवस्था की स्थापना नही करते बल्कि केवल आर्थिक और सामाजिक लोकतन्त्र और न्याय की बात करते हैं, इसलिए हर प्रकार का सत्तारूढ दल अपने अपने कार्यक्रम और नीतियो के अनुसार यथाशक्ति आर्थिक और सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना कर सकता है। जैसाकि मुख्य न्यायाधीश केनिया ने गोपालन बनाम मद्रास राज्य के मुकदमे मे कहा था कि "नीति निदेशक तत्त्व विधान मण्डल के बहुमत की अल्पकालीन इच्छा को अभिव्यक्त नही करते बल्कि देश के सर्वोच्च तथा स्थायी कानून का निश्चिन करते समय अत्यन्त सावधानी से निश्चित की गयी राष्ट्र की धीरता को अभिव्यक्त करते है।" क्योकि नीति निदेशक तत्त्व मानवतावादी सहनशीलता और एकता की भावना से भरपूर हैं क्योकि वे उस सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की ओर संकेत करते है जिसमे सभी को न्याय प्राप्त हो, और क्योकि वे विधान मण्डल के अल्पकालीन बहुमत को भविष्य का ताना बाना बुनने के लिये पूर्णतया स्वतन्त्र नही छोडते इसलिये वे दक्षिण पन्थी और वाम पन्थी दोनो की अतिवादी नीतियो से नागरिको की रक्षा करते हैं। एम० वी० पायली ने ठीक लिखा है कि ' राज्य के नीति निदेशक तत्त्वो द्वारा भारतीय संविधान व्यक्ति स्वातन्त्र्य की घातक सर्वहारा वर्ग की तानाशाही और जन साधारण की आर्थिक सुरक्षा मे बाधक पूंजीवादी अल्पतन्त्र दोनो की अतिवादिताओ मे (चरम सीमाओ मे) सन्तुलन स्थापित करता है।"[1] गुप्ता और माथुर लिखते है कि "नीति निदेशक तत्त्व राष्ट्रीय नीतियो मे निरन्तरता का आश्वासन देते है और समय समय पर सत्तारूढ होने वाले राजनीतिक दलो की परिवर्तनशीलता से सुरक्षा प्रदान करते है।'[2]

5 **नैतिक आदर्श प्रेरणा के स्रोत होते हैं**—यह सत्य है कि नीति निदेशक तत्त्व नैतिक आदर्श उपदेश मात्र पवित्र इच्छायें एवं घोषणाये और आकांक्षायें मात्र है। परन्तु इस आधार पर इन्हे महत्त्वहीन कहना गलत है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि नैतिक आदर्शो और उपदेशो ने महापुरुषो और राष्ट्रो के जीवन मे प्रेरणाओ का सचार किया है। उदाहरणतया ब्रिटेन मे मैगना कार्टा (Magna Carta), फ्रांस मे मानवीय और नागरिक अधिकारो की घोषणा और अमरीकी संविधान की भूमिका का कोई वैधानिक महत्त्व नही परन्तु फिर भी करोडो व्यक्तियो का जीवन इन्ही से प्रभावित हुआ है।

6 **नीति निदेशक तत्त्व भारतीय परिस्थितियो से भी प्रेरित हैं**—आलोचको का यह मत भी भ्रामक प्रतीत होता है कि अध्याय 4 मे उल्लिखित नीति निदेशक तत्त्व के 'उधार' मात्र है। वस्तुत स्थिति यह है कि यदि संविधान निर्माता दूसर

1 Pylee M V Constitutional Government in India (Asia Publishing House New Delhi) 1960 p 320
2 Gupta R N and Mathur R N Development & Working of the Indian Constitution (Kitab Mahal, Allahabad) 1958 p 303

देशों के संविधानों से प्रभावित हुए थे तो भारतीय परिस्थितियों से अनभिज्ञ नहीं थे। अनेक नीति निदेशक तत्वों को राष्ट्रीय आन्दोलन की जड़ों और गांधीजी के जीवन आदर्शों में देखा जा सकता है। उदाहरणतया मद्य निषेध, ग्राम पंचायतों की स्थापना, कुटीर उद्योगों का विकास, दुधारी पशुओं की रक्षा, पिछड़े हुए वर्गों तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों का शैक्षणिक आर्थिक और सामाजिक उत्थान आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो भारतीय परिस्थितियों की उपज हैं और जिनकी सिद्धि के लिये गांधीजी जीवन भर प्रयत्नशील रहे।

7 नीति निदेशक तत्वों को समयानुकूल बनाया जा सकता है—सर आइवर जैनिंग्स का यह मत भी भ्रामक प्रतीत होता है कि 21 वीं शताब्दी में इन नीति निदेशक तत्वों का कोई महत्त्व नहीं रहेगा। भविष्य की अनिश्चितता और कल्पना के आधार पर इनकी आलोचना करना गलत है। वर्तमान में नीति निदेशक तत्त्व जो हित में बहुत लाभकारी सिद्ध हुए हैं और सभी सरकारों ने (संघीय तथा प्रान्तीय) इन्हें यथासम्भव कार्यान्वित करने का प्रयास किया है। सम्पत्ति के कुछ हाथों में संचयन को रोकने के लिये सम्पत्ति के मूल अधिकार में अनेक बार परिवर्तन (संशोधन 1, 4, 25, और 29) किया गया है मुख्य मुख्य उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक नियन्त्रण में लिया गया है तथा पिछड़े हुए वर्गों के लिये अनेक शैक्षणिक और आर्थिक सुविधाएँ जुटाई गयी हैं। दूसरे, क्योंकि भारत के प्रत्येक राजनीतिक दलों ने "समाजवादी ढंग के समाज" (Socialist Pattern of Society) के स्वरूप को स्वीकार कर लिया है इसलिये इस बात की सम्भावना अधिक है कि जिस साम्य समाज और आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक तथा सांस्कृतिक न्याय की ओर नीति निदेशक तत्त्व संकेत करते हैं उन्हें भविष्य में सार्थक बनाने का प्रयत्न किया जायगा। तीसरे यदि ये तत्त्व 21 वीं शताब्दी में अव्यावहारिक प्रतीत होते भी हैं तो इन्हें आवश्यकतानुकूल संशोधित किया जा सकता है। चौथे, यह नहीं भूलना चाहिये कि इनकी सार्थकता में ही लोक कल्याणकारी राज्य की सार्थकता निर्भर करती है।

8 नीति निदेशक तत्त्व कोई संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न नहीं करते—आलोचकों का यह विचार भी मिथ्या है कि यदि कोई सत्तारूढ दल इन नीति निदेशक तत्वों को कार्यान्वित नहीं करे या उन्हें कार्यान्वित करने के लिये संसद या प्रान्तीय विधान मण्डल में आवश्यक विधेयक प्रस्तुत नहीं करे तो राष्ट्रपति या राज्यपाल इन्हें कार्यान्वित करने के लिये अपनी शक्तियों का प्रयोग कर सकते हैं। आलोचक भूल जाते हैं कि भारत एक लोकतान्त्रिक देश है जिसमें कोई सत्तारूढ दल निर्वाचन मण्डल की इच्छाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। दूसरे भारत में (केन्द्र व प्रान्तों में) संसदात्मक प्रणाली को अपनाया गया है और कार्यपालिका अध्यक्ष से यह आशा नहीं की जाती कि वह अपनी शक्तियों का प्रयोग स्वेच्छा से करेगा। आलोचकों की यह गतिरोध की धारणा काल्पनिक और मिथ्या है और फिर अभी तक किसी से

## नीति निदेशक तत्वो और मूल अधिकारो मे अन्तर

**(Difference between Directive Principles & Fundamental Rights)**

मूल अधिकारा और नीति निदेशक तत्वा म अनेक अन्तर पाये जात हैं। ये अ तर निम्न प्रकार से हैं —

1 मूल अधिकार निषेधाज्ञायें हैं अर्थात व राज्य की सत्ता को मर्यादित करत ह तथा उसे कुछ काय न करने के लिए कहते है। दूसरी ओर नीति निदेशक तत्व विध्यात्माज्ञायें (सकारात्मक आज्ञायें या आदेश positive instructions or mandate) हैं अर्थात वे राज्य को, सामान्य हित मे समाज की प्रगति के लिए कुछ काय करने के निदेश दत ह।

2 मूल अधिकार वाद योग्य है (justiciable) अर्थात् जब कभी कायपालिका आदेश या व्यवस्थापिका के कानून नागरिका के मूल अधिकारा का अतिक्रमण करत ह तो वह न्यायालया से सरक्षण प्राप्त कर सकते है। दूसरी ओर नीति निदेशक तत्व वाद योग्य नही (non justiciable) अर्थात् यदि राज्य इन नीति निदेशक तत्वा की उपक्षा करता है या इ हे कार्यान्वित नही करता या इनम वर्णित उपबन्धा का अतिक्रमण करता है ता नागरिक न्यायालया से सरक्षण प्राप्त नही कर सकते। यदि राज्य नागरिको के लिये रोजगार की व्यवस्था नही कर सकता तो नागरिक न्यायालय रोजगार की माग नही कर सकते।

3 यदि मूल अधिकारो और नीति निदेशक तत्वो मे विरोध (conflict) उत्पन्न हो जाय तो मूल अधिकारा को प्राथमिकता दी जाती है। नीति निदेशक तत्व मूल अधिकारा के अनुरूप हो सकत हैं, वे उनका अतिक्रमण नही कर सकते। इस दृष्टि से मूल अधिकार नीति निदेशक तत्वा की तुलना मे अधिक पवित्र (Sacrosanct) है।

4 मूल अधिकार राज्य पर कानूनी व धन उत्प न करते ह और यदि कायपालिका आदेश या व्यवस्थापिका के कानून नागरिक अधिकारा पर अतिक्रमण करत है तो न्यायालय उस मात्रा तक उन्हे अवैध घोषित कर सकती है जिस मात्रा तक वे अधिकारो का अतिक्रमण करते हैं। दूसरी ओर नीति निदशक तत्व राज्य पर नैतिक बन्धन उत्प न करते है। न्यायालय किसी कायपालिका आदेश या व्यवस्थापिका के कानून को इस आधार पर अवध घोपित नही कर सकती कि वे नीति निदेशक तत्वो के प्रतिकूल हैं।

5 नीति निदेशक तत्व स्वय मे, विधान मण्डलो को किसी प्रकार की विधायी शक्तिया प्रदान नही करते। विधान निर्माण की शक्ति के लिये विधान मण्डलो को सविधान की सातवी अनुसूचि का सहारा लेना पडेगा।

6 मूल अधिकारा को लागू करन के लिये न्यायालय कायपालिका या व्यवस्थापिका का बाध्य कर सकती है परतु नीति निदशक तत्वा का लागू करन के लिय न्यायालय उन्हे बाध्य नही कर सकती। उदाहरणतया अनुच्छेद 45 म

वर्णित नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा को 10 वर्ष के अन्दर लागू करने के लिये न्यायालयें नही कह सकती।

7 मूल अधिकार व्यक्ति/नागरिक के निजी अधिकारो की रक्षा करते है परन्तु नीति निदेशक तत्व का सम्बन्ध निजी अधिकारो से नही। इन्हे सार्वजनिक हित मे सार्वजनिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये कानून द्वारा कार्यान्वित किया जा सकता है।

## मूल अधिकारो और नीति निदेशक तत्वो मे क्या कोई द्वन्द्व या विरोध हे ?

**(Is there any Conflict between Fundmental Rights and Directive Principles)**

सर आइवर जनिंग्स का यह मत ठीक प्रतीत नही होता कि मूल अधिकारो और नीति निदेशक तत्वो म कोई विचित्र द्वन्द्व या विरोध है। वस्तुत स्थिति यह है कि दोनो एक दूसरे के पूरक है विरोधी नही। यदि सविधान का तीसरा भाग भारतीय सविधान के दर्शन को अभिव्यक्त करता हे तो चौथा भाग उसके द्वारा प्राप्त किये जाने वाले आदर्शों और उन आदर्शों को फलित करने वाली रीतियो को अभिव्यक्त करता है। उदाहरणतया यदि अध्याय तीन के अनुच्छेद 14 से अनुच्छेद 18 तक नागरिकों को कानून के समक्ष समता' और 'विधियो के अधीन समान सरक्षण" का अधिकार प्रदान करते है तो अध्याय चार के अनुच्छेद 38 और 39 उन समान परिस्थितियो का सृजन करने की बात करते है जिनके विद्यमान होने पर ही वास्तविक या लगभग वास्तविक समानता विद्यमान हो सकती है। जैसा कि न्यायाधीश हैगडे ने लिखा है कि "सविधान के चौथे भाग म दिये गये उपबन्ध तीसरे भाग म दिये गये उपबन्धो का प्रतिपूरण करते है और यह दोनो भाग मिलकर कल्याणकारी लोकतान्त्रिक राज्य के निर्माण के लिये एक योजना प्रस्तुत करते हैं।"[1]

नीति निदेशक तत्व व्यक्तिगत अधिकारो और सामाजिक आवश्यकताओ म सन्तुलन बनाये रखने का काय भी करते है। उदाहरणतया यदि व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिये मूल अधिकारो की आवश्यकता है तो सार्वजनिक हित और जन साधारण की आर्थिक सुरक्षा के लिये नीति निदेशक तत्वो की आवश्यकता है। क्योकि व्यक्ति के हित सामाजिक हितो से सर्वोच्च या पर नही हो सकते इसलिये मूल अधिकार भी नीति निदेशक तत्वो के अनुरूप रहकर ही विद्यमान रह सकते है। यही कारण है कि सविधान निर्माताओ ने सार्वजनिक हित म मूल अधिकारो पर तर्कसगत निर्बन्धों (reasonable restrictions) की व्यवस्था की। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्बन्धों की तर्कसगतता को सुनिश्चित करने के लिये नीति निदेशक तत्वो का आश्रय लिया है।[2]

---

1 न्यायाधीश के० एस० हैगडे की रचना म उद्धृत पृ० [illegible]

2 दक्षिण चन्द्र भवन ऑटिंग एण्ड जिनिंग वर्क्स बनाम म[illegible]

संविधान के पीछे केवल वैध या कानूनी शक्ति ही नहीं होती अपितु जनमत की अनुशासित (Public sanction or mandate) भी होती है। यद्यपि यह न्यायिक सत्य है कि मूल अधिकार वाद योग्य है और यदि न्यायालयों में मूल अधिकारों और नीति निदेशक तत्त्वों में विरोध उत्पन्न हो जाये तो न्यायालयें मूल अधिकारों को पवित्र मान कर उन्हें नीति निदेशक तत्त्वों से प्राथमिकता देंगी। परन्तु जहां न्यायालयें नहीं पहुंच सकती वहां संसद अवश्य पहुंच सकती है और यदि नीति निदेशक तत्त्वों को कार्यान्वित करने में मूल अधिकार विरोध या बाधायें उत्पन्न करते हैं तो संसद सार्वजनिक हित में मूल अधिकारों में परिवर्तन कर सकती है। पिछले 25 वर्षों का संवैधानिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि संविधान में अनेक संशोधन नीति निदेशक तत्त्वों को कार्यान्वित करने के लिए ही किये गये। उदाहरणतया सम्पत्ति के मूल अधिकार में किए गए तीन संशोधन (संशोधन 1, 4 और 25) इसी भावना से प्रेरित थे। चौथे संशोधन पर विवाद करते समय प० नेहरू ने कहा था कि 'मूल अधिकारों को नीति निदेशक तत्त्वों के अधीन होना चाहिये।" सन् 1971 में पच्चीसवें संशोधन के समय भी श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा था कि "नीति निदेशक तत्त्वों को कार्यान्वित करने के लिए हम दृढ़-संकल्प हैं और इस हेतु यदि मूल अधिकारों में संशोधन की आवश्यकता अनुभव की जाती है तो उनमें संशोधन किया जाएगा।[1]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यद्यपि यह न्यायिक सत्य नहीं कि मूल अधिकार नीति निदेशक तत्त्वों के अनुकूल और अधीन हैं परन्तु यह राजनीतिक सत्य अवश्य है कि मूल अधिकार नीति निदेशक तत्त्वों के अनुकूल और अधीन हैं। क्योंकि भारत के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दल ने "समाजवादी ढंग के समाज' (Socialist Pattern of Society) के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है इसलिए उपर्युक्त कथन की सत्यता और भी स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है। सामान्य नागरिक को अच्छा बनने के लिए अवसर की स्वतन्त्रता प्रदान करना तथा संविधान की प्रस्तावना में निर्धारित आदर्शों को प्राप्त करना ही नीति निदेशक तत्त्वों का उद्देश्य है। जैसाकि न्यायाधीश हैगडे ने लिखा है कि 'एक कार्य पद्धति का निर्धारण करता है तो दूसरा उज्जवल भविष्य का ... वे भारत के भविष्य, वर्तमान और भूत को एक दूसरे से सम्बन्धित करते हैं और हमारे महान् प्राचीन देश में सामाजिक क्रान्ति की अलख जगाते हैं।[2] इस दृष्टि से तो नीति निदेशक तत्त्व भारत देश की नीतियों में निरन्तरता बनाये रखने का प्रयास करते हैं।

संक्षेप मे, जिन आलोचकों को मूल अधिकारों और नीति निदेशक तत्त्वों में विरोधाभास नजर आता है वह वास्तविक नहीं अपितु आभासी है।

---

1 न्यायाधीश के० सदान द हेगडे पू० उ० पृ० 7

2 वही, पृ० 24

## नीति निदेशक तत्वो की कार्यान्विति

### (Implementation of Directive Principles)

यह सत्य है कि अध्याय चार द्वारा राज्य पर आरोपित किए गए कार्यों को पिछले पच्चीस वर्षों म सही, गम्भीर और पूरी तरह लागू न करने स देश म पूर्ण लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना नही हो सकी। उदाहरणतया आज भी जनता का एक बहुत बडा भाग पर्याप्त जीविकोपार्जन के साधनो से वंचित है, निर्वाह योग्य मजदूरी आज भी केवल चर्चा का विषय है, अर्थ व्यवस्था का सचालन इस प्रकार हुआ है कि उससे अधिकाश लाभ कुछ पूंजीपतियो, जमाखोरो और मुनाफाखोरो को ही होता है भौतिक साधनो पर अभी भी कुछ धनाढय लोगो का अधिकार है, चिकित्सा सुविधायें अभी भी अपर्याप्त है जीवन की शिष्ट परिस्थितियो का अभाव है भ्रष्टाचार, भाई भतीजावाद, पक्षपात, सकीर्ण प्रान्तीयता और जातीयता आज भी सर्वत्र विद्यमान है, बच्चो को ऐसे धन्धो म फसना पडता है जो उनकी आयु और शक्ति के बिल्कुल उपयुक्त नही शैशव और किशोर अवस्था को शोषण, नैतिक और आर्थिक परित्याग से नही बचाया जा सका। बीमारी बुढापा, बेकारी अगहीनता तथा अन्य अभाव की दशा म सार्वजनिक सहायता का कोई सन्तोषजनक कार्यक्रम नही। हम औद्योगिक क्रान्ति के मध्य मे है परन्तु फिर भी बेरोजगारी (शिक्षित और अशिक्षित दोनो वर्गों म) मुँह फाडे खडी है समाज म गम्भीर आर्थिक विषमतायें (अमीर और गरीब म अन्तर) विद्यमान हैं, और आज भी अवसर की स्वतन्त्रता व्यक्ति के माता पिता की सम्पत्ति पर निर्भर करती है हरित क्रान्ति के मध्य म होते हुए भी अपनी जनसख्या को पर्याप्त खाद्यान्न देन की क्षमता राज्य म नही, अवकाश के उपभोग के लिए सुनिश्चित प्रयास नही किए गए अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जन जातियाँ अभी भी सामाजिक अन्याय की शिकार हैं। आज भी भारत के विभिन्न समुदायो के लिए विभिन्न व्यक्तिगत नियम है और राष्ट्रीय एकता को पुष्ट और सबल बनाने के लिए सभी नागरिको के लिए समान व्यवहार सहिता का अधिनियमन नही किया जा सका हिन्दू अधिकाशत अपनी ही उत्तराधिकार, विवाह, सरक्षण और विवाह विच्छेद सम्बन्धी विधियो मुसलमान मुस्लिम कानून और ईसाई व्यक्तिगत कानूनो द्वारा शासित होते है। चौदह वर्ष तक अनिवार्य और नि शुल्क शिक्षा पच्चीस वर्ष के बाद भी एक स्वप्न बनी हुई है मद्य निषेध को पूरी तरह लागू नही किया जिस न्यायपालिका को कार्यपालिका स पृथक करने के उद्देश्य को सविधान लागू होने म तीन वर्ष म कार्यान्वित करने का आश्वासन दिया गया था उसे आज तक भी पूर्णतया लागू नही किया गया। कहने को ग्राम पचायतो की स्थापना की गयी है परन्तु वे स्वायत्तशासी सत्तायें नही कही जा सकती भारत म स्वायत्तशासी सस्थाओ म ऊपर वाली शक्ति ऊपर स नीचे की ओर बह रही है ग्राम पचायतें तो पूर्णतया

[illegible]

निमाण तो किया गया परन्तु उन्हे जानबूझ कर पूर्णतया लागू नही किया गया। उदाहरणतया सरकार ने दहेज प्रथा, बाल विवाह और अस्पृश्यता सम्बन्धी कानूनो का निर्माण किया परन्तु उन्हे सही हृदय से लागू नही किया।

भारत मे पूर्ण लोकतान्त्रिक लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना इसलिए नही हो सकी कि जिस कायक्रम को नीति निदेशक तत्त्व राज्य के समक्ष प्रस्तुत करते है वह इतना महान, वृहत और भारी है कि उसे तत्काल आख की झपक मे पूरा नही किया जा सकता। उसकी पूर्ति के लिए दीघकाल तक निरन्तर कठोर श्रम, अत्यधिक उत्पादन, अत्यधिक धन, क्रान्तिकारी आर्थिक नीतियो और अधिनियमित विधाना को सही रूप से कार्यान्वित करने की आवश्यकता है। फिर भी यह तो स्वीकार करना होगा कि राज्य की नीतिया उन आदर्शो से प्रेरित रही जिनकी आकाक्षा नीति निदशक तत्त्वो म व्यक्त की गई है। पचवर्षीय योजनाओ द्वारा, उद्योगो और कृषि के विकास द्वारा सामान्य जीवन स्तर को ऊचा उठाने और जीविकोपाजन के साधन उपलब्ध कराने का प्रयास किया जा रहा है। (धन मे अधिक समानता लाने और सम्पत्ति के केन्द्रीकरण को रोकने के लिए अनेक सामाजिक नीतियो का अनुसरण किया गया है, राष्ट्रीयकरण और सामाजीकरण की नीति अपनाई गई है। जीवन बीमा का राष्ट्रीयकरण, बडे बडे बैंको का राष्ट्रीयकरण, राजाओ के प्रिवी पर्सो की समाप्ति इसी उद्देश्य से की गई थी। व्यापार और उद्योग म एकाधिकारपूर्ण प्रथाओ को तोडने के उत्पादन और वितरण के मुख्य साधना पर सावजनिक स्वामित्व स्थापित किया गया है। भाखडा नागल, दामोदर, हीराकुण्ड आदि जैसी बहुमुखी नदी योजनायें, रूरकेला, दुर्गापुर भिलाई जसे लोहा और इस्पात उद्योग, विशाखापटनम का नौवहन केन्द्र, सिन्दरी खाद कारखाना, एच० एम० टी०, चितरजन लोकोमोटिव हिन्दुस्तान ऐअर क्राफ्ट, आदि बडे उद्योगो पर सावजनिक स्वामित्व है। भूमिहीन लोगो को भूमि देने के लिए जमीदारी उन्मूलन और भूमिसुधारो का आरम्भ किया गया है, श्रमिको की दशा सुधारने के लिए श्रम कानूनो का निर्माण किया गया है, शिक्षा के क्षेत्र म भी पर्याप्त वृद्धि की गई है। सामुदायिक विकास योजनाओ (Community Development Programmes) का उद्देश्य देहात की अथव्यवस्था को सुदृढ करना है कृषि विकास के लिए अनेक साधन जुटाये गये हैं, पशुओ की नस्ल को भी सुधारने का प्रयास किया गया है।) सन् 1955 का हिन्दू विवाह अधिनियम और सन् 1956 का हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम का उद्देश्य भारत म समान व्यवहार सहिता के विकास की ओर प्रयास है। प्रति वष के बजट म करोडो रुपय सावजनिक कल्याण के लिए सुरक्षित रखे जाते हैं। पिछडी हुई, अनुसूचित एव अनुसूचित जन जातिया के शिक्षणिक, सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए उन्हे अनेक प्रकार की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सुविधाय प्रदान की गई हैं। अस्पृश्यता अब एक दण्डनीय अपराध है। उपगृह मन्त्री बी० एन० दातार ने ठीक ही कहा कि योजना आयोग का प्रत्येक निश्चय निदेशक तत्त्वो से निर्देशित एव

निर्धारित हुआ है।' नीति निदेशक तत्त्वो की कार्यान्विति के लिए क्या यह कम महत्त्व की बात है ?

## समीक्षा प्रश्न
### (Review Questions)

1 भारतीय सविधान मे निहित नीति निदेशक तत्त्वो का उल्लेख कीजिये ।

2 राज्य के नीति निदेशक तत्त्वो के सवैधानिक, सामाजिक और राजनीतिक महत्त्व पर प्रकाश डालिये ।

3 राज्य के नीति निदेशक तत्त्वा की प्रकृति क्या है ? क्या ये तत्त्व वाद योग्य है ? यदि नही तो इनका सवधानिक महत्त्व क्या है ?

4 राज्य के नीति निदेशक तत्त्वो और मूल अधिकारो मे क्या अन्तर है ? क्या नीति निदेशक तत्त्व मूल अधिकारो का अतिक्रमण कर सकते हैं ?

---

अध्याय 8

# राष्ट्रपति
## (The President)

"राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो ब्रिटेन मे सम्राट की है। वह राष्ट्र का प्रधान है, कार्यपालिका का नही। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, राष्ट्र पर शासन नही करता। प्रशासन म उसकी स्थिति औपचारिक उपकरण की है। उसकी स्थिति उस मोहर की भाति है जिसके द्वारा राष्ट्र के निर्णय जाने जाते है।"[1]

डा० बी० आर० अम्बेदकर

भारतीय राष्ट्रपति के सम्बन्ध मे उपयुक्त कथन इस बात का प्रतीक है कि भारत के सविधान निर्माता भारत मे ऐसे राष्ट्रपति का निर्माण करना चाहते थे जो ससदात्मक प्रणाली की प्रथाओ के अनुसार एक सवैधानिक अध्यक्ष के रूप म कार्य करे। दूसरे शब्दो म, भारतीय सविधान निर्माताओ ने ब्रिटेन के सविधान की भाति सविधान के 'प्रतिष्ठित' (dignified) और 'कुशल' (efficient) भागो मे भिन्नता की है। जहा उन्होने राष्ट्रपति को सविधान के प्रतिष्ठित भाग के रूप म अंकित किया वहाँ मन्त्रिमण्डल को प्रधान मन्त्री के नेतृत्व मे, उसका 'कुशल' भाग अंकित किया।

**राष्ट्रपति का निर्वाचन**—भारतीय राष्ट्रपति के निर्वाचन की व्यवस्था सविधान के अनुच्छेद 54 और 55 मे की गयी है। इन अनुच्छेदो के अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से गुप्त मतदान द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल प्रणाली के आधार पर एक निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाता है। इस निर्वाचन मण्डल म ससद के दोनो सदनो और राज्य विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्य सम्मिलित होते हैं।

राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध म अनुच्छेद 55 निम्न दो व्यवस्थायें करता है

(i) विभिन्न राज्यो के प्रतिनिधित्व म एकरूपता (uniformity among the States)

(ii) सघ और राज्यो के प्रतिनिधियो के बीच समता (parity between the States as a whole and the Union)

---

1 CAD, Vol VII, p 32

उपयु क्त दो व्यवस्थाओ से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन मतो की साधारण गणना मे नही होता बल्कि मतो का मान निकाला जाता है और जिस प्रत्याशी को कुल वध मतो के मान का बहुमत प्राप्त होता है अर्थात जिस प्रत्याशी का वध मतो के आधे से अधिक मत प्राप्त होते है उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है ।

अनुच्छेद 55 (2) मे उस प्रक्रिया का वर्णन किया गया है जिसके द्वारा प्रत्येक विधान सभा के सदस्य के मत का मान और प्रत्येक ससद सदस्य के मत का मान निकाला जाता है । यह प्रक्रिया निम्न प्रकार से है —

(a) राज्य विधान सभा के सदस्य के मत का मूल्य निकालने के लिए निम्न फामू ला है —

$$= \frac{\text{राज्य की जन सख्या}}{\text{विधान सभा के निर्वाचित सदस्यो की कुल सख्या}} - 1000$$

(b) ससद के सदस्य के मत का मूल्य निकालने के लिए निम्न फामू ला है —

$$= \frac{\text{राज्यो की विधान सभाओ के सदस्यो के मतो का कुल योग}}{\text{ससद के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्यो की कुल सख्या}}$$

उपयु क्त व्यवस्थाओ (फामू ला) से स्पष्ट है कि भारत के विभिन्न राज्यो के प्रतिनिधियो म एकरूपता और सघ तथा राज्यो के प्रतिनिधियो के बीच समता तो रखी गयी है परन्तु निर्वाचक मण्डल के प्रत्येक सदस्य के मत का मान (मूल्य) समान नही होता क्योकि प्रत्यक सदस्य के मतो का मान उस अनुपात से निश्चित होता है जितनी जन सख्या का वह प्रतिनिधित्व करता है ।

क्योकि भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल प्रणाली की व्यवस्था है अत निर्वाचित होने के लिए निम्न व्यवस्थायें भी की जाती है —

(i) जीतने के लिए कोटा निर्धारित किया जाता है जो वैध मतो के आधे स एक अधिक होता है ।

(ii) निर्वाचन मण्डल के सदस्यो को अपनी वरीयता (preference) व्यक्त करने का अधिकार है अर्थात् निर्वाचन मण्डल के सदस्य 1 2,3 या इनमे अधिक वरीयतायें व्यक्त कर सकते है ।

(iii) जब तक कोटे मे निर्धारित मत किसी प्रत्याशी को प्राप्त नही होते तब तक वह निर्वाचित घोषित नही किया जा सकता । इसका अर्थ यह है कि यदि किसी प्रत्याशी को प्रथम वरीयता मे कोटे म निर्धारित मत प्राप्त नही होते तो विलीयन (elimination) की प्रक्रिया अपनाते हुए मतो की दूसरी या तीसरी या चौथी वरीयता को तब तक हस्तातंरित किया जाता है जब तक कि कोटे मे निर्धारित मत किसी प्रत्याशी को प्राप्त न हो जायें । उदाहरणतया 1969 के पाचवें राष्ट्रपति क

मे श्री वी० वी० गिरि को द्वितीय वरीयता मे निर्धारित कोटे से अधिक मत प्राप्त होने पर ही निर्वाचित घोषित किया गया था।

**निर्वाचन प्रणाली का मूल्याकन**---भारतीय राष्ट्रपति की निर्वाचन प्रणाली के सम्बन्ध मे दो प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। एक विचार इसके समर्थकों का है जिनका कहना है कि उक्त निर्वाचन प्रणाली भारतीय सविधान की मौलिकता है। यह न केवल कम खर्चीली है बल्कि इसके द्वारा राष्ट्रपति पद की प्रतिष्ठा और सम्मान को भी बनाये रखा गया है। राष्ट्रपति के निर्वाचन को ससद या राजनीतिक दलों का कठपुतली मात्र नही बनाया गया। इतना ही नही, यदि निर्वाचक मण्डल मे किसी एक दल का बहुमत नही तो सभी दलों के सहयोग को बल मिलता और दल बन्दी के स्थान पर योग्य व्यक्ति, जो अनेक दलों को स्वीकृत होगा, ही राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचित होगा। इस प्रणाली के समर्थकों का यह भी मत है कि इसमे राज्यों को भी भाग लेने का अधिकार है। अत यह प्रमाणित होता है कि भारतीय सघ "राज्यों का सघ" (Union of States) है। समर्थकों का यह भी मत है कि इसमे केवल वह व्यक्ति ही राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होगा जिसे कुल वैध मतों का पूर्ण बहुमत प्राप्त होगा। साधारण बहुमत से कोई प्रत्याशी राष्ट्रपति पद प्राप्त नही कर सकता।

दूसरी विचारधारा इसके आलोचकों की है जिनका कहना है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन मे 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व' और 'एकल सक्रमणीय प्रणाली' का उल्लेख ही गलत है। आलोचकों का कथन है कि इस प्रकार की प्रणाली मे कम से कम दो प्रतिनिधियों का चुना जाना अनिवार्य होता है परन्तु राष्ट्रपति तो एक ही चुना जाता है। दूसरे, आलोचक इस प्रणाली को आनुपातिक कहने के स्थान पर 'विकल्पनात्मक मत प्रणाली' (Alternate vote System) या 'वरीयतात्मक मत प्रणाली (Preferential vote System) कहना पसन्द करते है। इनका कहना है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन मे मूल उद्देश्य आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करना नही बल्कि राष्ट्रपति के लिए कोटा मे निर्धारित बहुमत प्राप्त करना है। तीसरे, इस निर्वाचन प्रणाली मे कुछ अस्पष्टतायें पाई जाती है। आलोचकों का कथन है कि यदि निर्वाचन मण्डल के सदस्य अपनी दूसरी या अन्य वरीयताओं को अभिव्यक्त न करे तो यह प्रणाली साधारण बहुमत प्रणाली मात्र बनकर रह जायेगी। इस प्रणाली मे उस समय अधिक कठिनाई हो सकती है जब राष्ट्रपति के लिए प्रत्याशी दो से अधिक हैं परन्तु निर्वाचन मण्डल के सदस्य केवल एक ही वरीयता अभिव्यक्त करते हैं और किसी प्रत्याशी को निर्धारित कोटे के मत प्राप्त नही होते। चौथे, जिस राष्ट्रपति पद को सविधान निर्माता दल गत राजनीति से बचाना चाहते थे वही पद दलीय राजनीति मे फस गया है। उसका निर्वाचन उस दल की इच्छा पर निर्भर करता है जिसका केन्द्र और राज्यों मे बहुमत है। वस्तुत यह समझ नही आता कि दलीय समर्थन के बिना राष्ट्रपति का निर्वाचन कैसे सम्भव होगा। पाचवें, राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध

मे रिसी अच्छे अभिसमय का विकास भी नहीं किया गया। यद्यपि इस प्रथा का आरम्भ किया गया था कि उप राष्ट्रपति को राष्ट्रपति पद पर सम्मानित किया जाय परन्तु इस प्रथा को कहा तक स्थायी बनाया जाता है यह भविष्य ही निधारित करेगा। छटे, राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध मे सविधान अनेक पहलुओ पर या तो शान्त है या अस्पष्ट है। उदाहरणतया सविधान इस सम्बन्ध मे शात था कि निर्वाचन मण्डल की दिवालखोर (lame duck) की स्थिति मे क्या निर्वाचन सम्भव है ? यद्यपि इस कठिनाई को ग्यारहवें सशोधन द्वारा दूर कर दिया गया परन्तु इसमे भी गम्भीर स्थिति छटे राष्ट्रपति के निर्वाचन के समय उत्पन्न हुई जब 1974 मे गुजरात विधान सभा भग थी। यद्यपि इस विषय पर राष्ट्रपति ने सर्वोच्च यायालय से परामश प्राप्त कर इस बात को प्राय निश्चित कर दिया कि एक विधान सभा के भग होने की स्थिति मे राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचन कराये जा सकते हैं परन्तु उस स्थिति मे क्या होगा जब एक से अधिक राज्य विधान मण्डल भग होगे या केन्द्र अपने राजनीतिक हितो की पूर्ति के लिए अनेक राज्यो मे राष्ट्रपति शासन लागू कर राज्य विधान सभाओ को स्थगित रखे। इस स्थिति को सविधान मे पूण स्पष्ट करने की आवश्यकता है। सातवें, सविधान इस बात पर भी शान्त है कि राष्ट्रपति पद के लिए कितने प्रत्याशी खडे हो सकते हैं। सन् 1967 और 1969 के निर्वाचना म तो प्रत्याशियो की सख्या 12 से भी अधिक थी। सन् 1974 के राष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम द्वारा थोडा सुधार हुआ है (यह अधिनियम प्रत्याशी के लिए 2,500 रु० की प्रतिभूति (Security deposit) और निर्वाचन मण्डल के 20 सदस्यो के अनुसमथन की माग करता है) पर तु इसे और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। आठवें, क्योकि राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष है अत यह अलोकतान्त्रिक है।

## राष्ट्रपति पद के लिए योग्यतायें

कोई भी व्यक्ति राष्ट्रपति पद के लिए तभी प्रत्याशी बन सकता है यदि उसके पास निम्न योग्यतायें हो —

(i) वह भारत का नागरिक हो।

(ii) वह 35 वष की आयु पूरी कर चुका हो।

(iii) वह लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो।

(iv) वह केन्द्र, राज्य सरकार या किसी स्थानीय सत्ता के अन्तगत किसी लाभ के पद पर नियुक्त न हो।

(v) वह ससद या राज्य विधान सभा के किसी सदन का सदस्य न हो। यदि कोई ससद सदस्य या राज्य विधान सभा का कोई सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित हो जाता है तो उसकी सदस्यता उस समय से समाप्त समझी जायगी जिस समय से वह राष्ट्रपति का पद ग्रहण करेगा।

## राष्ट्रपति पद की सेवा की शर्तें

(a) कायकाल राष्ट्रपति का निर्वाचन पाच वष के लिए किया जाता है।

भारतीय संविधान इस बात पर शांत है कि एक व्यक्ति राष्ट्रपति पद के लिए कितनी बार चुनाव लड सकता है। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रपति जितनी बार चाहे निर्वाचन लड सकता है।

राष्ट्रपति समय से पूर्व अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है। उसका त्याग पत्र उप राष्ट्रपति को सम्बोधित किया जाता है जो उसे तत्काल लोक सभा के स्पीकर के पास भेज देता है। राष्ट्रपति स्वेच्छा से, बीमारी की दशा मे, राष्ट्रपति और मन्त्रि मण्डल के मध्य गम्भीर मतभेद उत्पन्न होने पर या महाभियोग की कार्यवाही से बचने के लिए या अन्य किसी कारण से समय से पूर्व अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है।

राष्ट्रपति को समय से पूर्व महाभियोग द्वारा पदच्युत भी किया जा सकता है। महाभियोग का प्रस्ताव संसद के दोनो सदनो मे से किसी सदन द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि राज्य सभा राष्ट्रपति पर महाभियोग के आरोप लगाती है तो लोक सभा उनकी जाच करती है और यदि लोक सभा आरोप लगाती है तो राज्य सभा उन आरोपो की जाच करती है परन्तु महाभियोग की कार्यवाही को शुरू करने से पूर्व राष्ट्रपति को अनुच्छेद 61 के अन्तर्गत 14 दिन का नोटिस देना पडता है। प्रत्येक सदन मे महाभियोग का प्रस्ताव पास होने के लिए सदन के दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है। अपनी सुरक्षा मे राष्ट्रपति स्वयं या अपने नुमायन्दा द्वारा सदन मे प्रस्तुत हो सकता है। यदि दोनो सदनो मे राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव निर्धारित बहुमत से पास हो जाय तो राष्ट्रपति को अपने पद से हटा दिया जायगा। महाभियोग केवल संविधान की उल्लघना के आधार पर लगाया जा सकता है।

महाभियोग की प्रणाली मे अनेक अस्पष्टतायें है जिन्हे निम्न बिन्दुओ द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है —

(i) 'संविधान की उल्लघना' का सूत्र पूर्णतया अस्पष्ट है। इसका अर्थ कुछ भी और सब कुछ हो सकता है। जहा कुछ का मत है कि संसद के अधिवेशन को बुलाने से इन्कार करना संविधान की उल्लघना है वहा दूसरो के लिए मन्त्रिमण्डल के परामर्श को स्वीकार न करना संविधान की उल्लघना है।

(ii) दूसरे संविधान राज्य विधान सभाओ को राष्ट्रपति के निर्वाचन मे भाग लेने का अधिकार तो प्रदान करता है परन्तु उस पर लगाये गये महाभियोग मे राज्य विधान सभाओ का कोई भाग नही।

(iii) राष्ट्रपति के निर्वाचन मे संसद के मनोनीत सदस्य भाग नही लेते परन्तु उसकी पदच्युति मे उन्हे भाग लेने का अधिकार है क्योकि संविधान महाभियोग प्रस्ताव के लिये संसद के दोनो सदनो की पृथक पृथक बैठक मे केन्द्रीय सदस्यो के दो तिहाई बहुमत की माग करता है। यह बात लोकतन्त्र के विरुद्ध है कि जो सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन मे तो हिस्सा नही लेते परन्तु उसकी पदच्युति मे हिस्सा लेते हैं।

(iv) संविधान इस बात के लिये समय निर्धारित नहीं करता कि महाभियोग प्रस्ताव कितने समय मे पास हो जायगा। समय की अनिश्चितता का लाभ राष्ट्रपति उठा सकता है और राजनीति को मोड दे सकता है—अर्थात संसद सदस्यों को प्रभावित कर सकता है और यदि कोई राष्ट्रपति महत्त्वाकांक्षी (ambitious) है तो वह संसद और मंत्रिमण्डल को भंग कर सत्ता को अपने हाथ मे ले सकता है। राष्ट्रपति चाहे तो नव निर्वाचन भी करवा सकता है।

(v) महाभियोग के काल मे संविधान राष्ट्रपति को निलम्बित (suspend) करने की व्यवस्था नहीं करता।

(vi) संविधान उन अयोग्यताओं का उल्लेख नहीं करता जो राष्ट्रपति का महाभियोग द्वारा पदच्युत करने से उत्पन्न होगी।

(vii) संसद के दोनों सदनों मे पृथक पृथक रूप से दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता महाभियोग प्रणाली को जटिल बना देती है। यह प्रक्रिया इतनी जटिल है कि किसी राष्ट्रपति की महाभियोग द्वारा पदच्युति लगभग असम्भव है। अमरीका का संविधान इस बात का साक्षी है कि आज तक किसी राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाया नहीं गया।

(b) **उत्तराधिकार**—जब राष्ट्रपति का पद मृत्यु, त्याग पत्र द्वारा या महाभियोग द्वारा या अन्य किसी कारण से रिक्त हो जाता है तो उप राष्ट्रपति वह पद तत्काल सम्भाल लेता है और यदि उप राष्ट्रपति का पद भी रिक्त होता है तो सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति पद को ग्रहण करता है जैसाकि 1969 मे एम० हिदायत उल्ला ने किया था। परन्तु संविधान इस बात की भी व्यवस्था करता है कि नये राष्ट्रपति का चुनाव पद रिक्त होने के छः महीने के अन्दर अवश्य हो जाना चाहिये। नव निर्वाचित राष्ट्रपति पाँच वर्ष तक ही अपने पद पर बना रहता है।

(c) **पद की शपथ**—निर्वाचित होने के बाद राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के समक्ष या उसकी अनुपस्थिति मे अन्य वरिष्ठतम न्यायाधीश के समक्ष अपने पद की शपथ ग्रहण करता है। इस शपथ मे राष्ट्रपति अपने कार्यों को निष्ठा से करने, संविधान की सुरक्षा करने, भारतीय जनता की सेवा करने, आदि की शपथ लेता है।

(d) **वेतन एवं भत्ते**—राष्ट्रपति को 10,000 रु० प्रतिमाह वेतन के रूप मे प्राप्त होते हैं। देश मे राष्ट्रपति से अधिक वेतन किसी को प्राप्त नहीं होता। वेतन के अतिरिक्त राष्ट्रपति को अनेक प्रकार के भत्ते भी प्राप्त होते हैं। उसे रहने के लिये निःशुल्क भवन दिया जाता है जिसे राष्ट्रपति भवन कहा जाता है। राष्ट्रपति चाहे तो वह स्वेच्छा से अपने वेतनों मे कटौती कर सकता है। संसद कानून द्वारा राष्ट्रपति के वेतनों मे कटौती कर सकती है परन्तु किसी राष्ट्रपति के कार्यकाल मे ऐसा नहीं किया जा सकता। सेवा निवृत होने के बाद राष्ट्रपति को 15000 रु वार्षिक पेन्शन और

अपने सचिवालय को चलाने के लिये 12000 रु० प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त उसे शारीरिक चिकित्सा के लिये भी सहायता दी जाती है।

(e) उन्मुक्तियां (Immunities)—सविधान राष्ट्रपति को अनक प्रकार की उन्मुक्तिया प्रदान करता है। जैसे राष्ट्रपति को अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता। कोई न्यायालय राष्ट्रपति से उसके कार्यों के सम्बन्ध म पूछताछ नही कर सकती अर्थात् न्यायालय मे राष्ट्रपति को अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता। यह उन्मुक्ति राष्ट्रपति की व्यक्तिगत है अत भारतीय नागरिक केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध न्यायालय मे विवाद प्रस्तुत कर सकते हैं। अर्थात् जहा भारत म राष्ट्रपति इगलण्ड के सम्राट की भाति कोई गलती नही करता वहा भारतीय मन्त्रिमण्डल के सदस्य उसके (अपने) कार्यों के लिये उत्तरदायी हैं।

राष्ट्रपति के कायकाल मे उस पर कोई फौजदारी मुकदमा नही लगाया जा सकता और न ही उसे बन्दी बनाया जा सकता है। दीवानी मामला मे भी कोई व्यक्ति तभी विवाद खडा कर सकता है जब वह राष्ट्रपति को इसकी दो महीने पूव सूचना देता है।

## राष्ट्रपति की शक्तियाँ
## (Powers of the President)

राष्ट्रपति की शक्तियो को दो भागो म बाटा जा सकता है। (A) सामान्य या शान्तिकालीन शक्तिया (B) असामान्य या सकटकालीन शक्तिया।

### A सामान्य या शान्तिकालीन शक्तियाँ

राष्टपति की सामान्य शक्तिया को पाच भागो म बाटा जा सकता है (i) कायपालिका शक्तिया, (ii) विधायी शक्तिया, (iii) वित्तीय शक्तिया (iv) न्यायिक शक्तिया और (v) मिश्रित शक्तिया।

1 कायपालिका शक्तिया—सविधान की धारा 53 के अनुसार सघ की सारी कायपालिका शक्ति राष्ट्रपति मे निहित है जिसका प्रयोग वह प्रत्यक्षत या तो स्वय करता है या अप्रत्यक्षत अपने अधीन अधिकारियो के माध्यम से करता है। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रपति सघीय शासन का जेनरलिसिमो (Generalissimo)[1] है। सघ की सारी कायपालिका शक्ति का प्रयोग उसी के नाम से होता है। सघ के सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय राष्ट्रपति के निर्णय है।

राष्ट्रपति की कायपालिका शक्तिया को निम्न बिन्दुओ द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है।

(i) सभी महत्त्वपूर्ण नियुक्तिया राष्ट्रपति द्वारा की जाती हैं। प्रधान मन्त्री तथा

---

1 This terminology has been used by Johari, J C. Indian Government & Politics, p 219

उसके परामर्श पर सभी केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के सदस्यो, सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशो तथा अन्य न्यायाधीशो केन्द्रीय तथा सयुक्त लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्या, महा न्यायवादी, नियन्त्रक एव महालेखा परीक्षक, राजदूता आदि की नियुक्तिया राष्ट्रपति ही करता है। राष्ट्रपति ही महत्त्वपूर्ण आयोगो तथा कानूनी निकायो (Statutory Bodies) के सभापतियो तथा अन्य सदस्यो का नियुक्त करता है। उदाहरणतया राष्ट्रपति चुनाव आयोग, वित्त आयोग, राज भाषा आयोग, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जन जाति और पिछडी हुई जातियो से सम्बन्धित आयोग, अन्त राज्य परिषदा, आदि को नियुक्त करता है।

राष्ट्रपति उपयुक्त महत्वपूर्ण पदाधिकारियो का नियुक्त ही नही करता बल्कि उन्हे, कुछ परिस्थितियो का छाड कर पदच्युत भी कर सकता है। उदाहरणतया राष्ट्रपति न्यायाधीशा का तभी पदच्युत कर सकता है जब इसके सम्बन्ध म ससद राष्ट्रपति का विशेष सम्बोधन (special address) प्रस्तुत करती है। इसी तरह राष्ट्रपति केन्द्रीय लोक सेवा आयोग के सदस्या का तभी पदच्युत कर सकता है जब जाच आयोग का प्रतिवदन प्रस्तुत हो जाता है। राजदूता और राज्यपालो को वापस बुला सकता है। यदि राष्ट्रपति सन्तुष्ट (pleasure) हा जाता है या मन्त्रिमण्डल लोक सभा का विश्वास खा बठता है तो राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्या को पदच्युत कर सकता है।

(ii) मन्त्रिया मे विभागो का वितरण राष्ट्रपति करता है। प्रधान मन्त्री का यह कर्तव्य है कि वह राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल के सभी निर्णया से अवगत कराये और राष्ट्रपति द्वारा मागी गयी सूचनायें उसे प्रदान करे। राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री से यह माग भी कर सकता है कि वह एक मन्त्री के निर्णय को समूचे मन्त्रिमण्डल के समक्ष प्रस्तुत करे।

(iii) केन्द्र प्रशासित प्रदेश और कबायली क्षेत्रो का प्रशासन राष्ट्रपति के हाथो मे होता है। वह इन प्रदेशो के लिये प्रशासक (administrator) नियुक्त कर सकता है या पडोसी राज्य के राज्यपाल का उसका प्रबन्ध सौप देता है जो उसके आदेशो के अनुसार काय करता है।

(iv) राष्ट्रपति नियमो और विनियमो का निर्माण कर सकता है अर्थात ससद के दोनो सदनो की सयुक्त बठको के लिये, सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारियो और कर्मचारियो की नियुक्ति के लिये, सघीय एव सयुक्त लोक सेवा आयोग की सख्या के सम्बन्ध म *नियन्त्रण एव महालेखा परीक्षक के प्रशासनिक कार्यो* और निर्णयो के लिये, सर्वोच्च न्यायालय के तदर्थ न्यायाधीशो की नियुक्तिया के लिये, केन्द्र प्रशासित प्रदेशो कबायली क्षेत्रो की शान्ति, विकास और अच्छे प्रशासन के लिये तथा केन्द्रीय विश्व विद्यालयो के लिये नियम और विनियमो का निर्माण कर सकता है।

(v) राष्ट्रपति सशस्त्र सेनाओ का सर्वोच्च सेनापति होता है। इसका है कि सविधान निर्माता सेनाओ को नागरिक सत्ता के अधीन रखना चाहते

क्षेत्र म राष्ट्रपति जल, थल और वायु सेनाध्यक्षो को नियुक्त करता है। राष्ट्रपति राष्ट्रीय सुरक्षा समिति (National Defence Committee) का अध्यक्ष होता है और इसके निर्णयो के फलस्वरूप ही वह युद्ध और शान्ति की घोषणा कर सकता है।

(vi) राष्ट्रपति दूसरे देशो से सम्बन्ध बनाये रखता है। इसके लिये राष्ट्रपति भारत के दूसरे देशो म राजदूतो को नियुक्त करता है तथा दूसरे देशो के राजदूतो के प्रमाण पत्रो को स्वीकार करता है। दूसरे देशो से सभी सन्धिया और समझौते राष्ट्रपति के नाम से किये जाते है परन्तु उन्हे ससद के अनुसमर्थन (ratification) पर ही लागू किया जाता है।

(vii) राष्ट्रपति राज्य प्रशासन के अधीक्षक, नियन्त्रक और निर्देशक के रूप म काय करता है। राज्य प्रशासन क सम्बन्ध म राष्ट्रपति राज्य सरकारो को निर्देशन दे सकता है तथा उन्हे राष्ट्रीय और सनिक दृष्टिकोण से सचार साधनो को बनाये रखने के लिये निर्देशन दे सकता है। राज्य सरकारो की सहमति से राष्ट्रपति केन्द्रीय कार्यों को सम्पन्न करने के लिय राज्य के अधिकारियो को काय सौप सकता है। राज्यो के परस्पर विवादो का निपटारा करने के लिये अन्त राज्य परिषदो का निर्माण कर सकता है। यदि कोई राज्य राष्ट्रपति के आदेशो की उल्लघना करता है तो राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 के अनुसार राज्य प्रशासन को सीधे अपने हाथ म ले सकता है और राज्य म राष्ट्रपति शासन लागू कर देता है।

2 विधायी शक्तिया—कायपालिका शक्तियो की भाति राष्ट्रपति की विधायी शक्तिया भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और व्यापक है। जसाकि प्रो० ए० बी० लाल ने लिखा है कि "किसी अन्य देश म जहा सविधान लिखित है और ससदात्मक सरकार अपनाई गयी है वहा राज्याध्यक्ष के पास इतनी अधिक विधायी शक्तिया नही पायी जाती।"[1] वस्तुत भारतीय सविधान अनुच्छेद 79 मे राष्ट्रपति को ससद का अभिन्न अग बनाता है। भारतीय ससद राष्ट्रपति सहित दो सदनो को मिलाकर बनती है। इस तरह राष्ट्रपति, जसाकि कौल और शकधर न लिखा है कि "राष्ट्रपति एक ओर कायपालिका का अध्यक्ष है और दूसरी ओर वह ससद का सवधानिक अध्यक्ष है।"[2] जे० सी० जौहरी भारतीय सवधानिक ढाचे को 'ससद म राष्ट्रपति'[3] (President in Parliament) के तुल्य मानता है।

राष्ट्रपति की विधायी शक्तिया को निम्न बिन्दुओ द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है —

1 Lall A B The Indian Parliament p 223
2 Kaul and Shakdher Practice and Procedure of Parliament p 20
3 Johari J C Indian Government & Politics p 224

(i) राष्ट्रपति ससद के अधिवेशन को बुलाता है, उसका सत्रावसान करता हे तथा उसे भग कर सकता है ।

(ii) ससद द्वारा पास किये गये विधेयकों को स्वीकार कर उन्हे अधिप्रमाणित (authenticate) करता है ।

(iii) दोनो सदनो मे मतभेद होने पर राष्ट्रपति दोनो सदनो की सयुक्त बठक बुला सकता है तथा सयुक्त बैठक मे होने वाले कार्यो के लिये नियमो का निर्माण कर सकता है ।

(iv) राज्य सभा मे राष्ट्रपति 12 सदस्यो का ऐसे क्षेत्रो से मनोनीत करता है जिन्हे साहित्य, विज्ञान, कला या सामाजिक सेवाओ म पर्याप्त अनुभव होता है । राष्ट्रपति अनुच्छेद 331 के अनुसार आग्ल भारतीय समुदाय (Anglo Indian Community) मे से भी 2 सदस्यो को लोक सभा म मनोनीत कर सकता है यदि उसे विश्वास हो जाय कि इस समुदाय को लोक सभा म पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नही ।

(v) राष्ट्रपति ससद के दोनो सदनो का सयुक्त रूप म या पृथक पृथक रूप म सम्बोधित कर सकता है । राष्ट्रपति सदस्यो की उपस्थिति की माग भी कर सकता है ।

(vi) निर्वाचन के बाद ससद का प्रथम अधिवेशन और वर्ष का प्रथम अधिवेशन राष्ट्रपति के अभिभाषण (inaugural address) से शुरू होता है । यह अभिभाषण मन्त्रिपरिषद द्वारा तयार किया जाता है । इस अभिभाषण मे मन्त्रिमण्डल की नीतियो और गतिविधियो पर प्रकाश डाला जाता है ।

(vii) राष्ट्रपति किसी विषय पर ससद को सन्देश भेज सकता है ।

(viii) साधारण विधायको पर राष्ट्रपति को निषेधाधिकार प्राप्त है । राष्ट्रपति का यह निषेधाधिकार निरपेक्ष (absolute) और निलम्बित (suspensive) है । भारतीय राष्ट्रपति के पास अमरीकी राष्ट्रपति की भाति पॉकेट (जेबी) निषेधाधिकार नही । राष्ट्रपति चाहे तो ससद द्वारा पास किये गये विधयकों को स्वीकार कर उन्हे अधिप्रमाणित कर दे चाहे तो उन्हे अस्वीकार कर दे और चाहे तो उनको पुनर्विचार के लिये वापस लौटा दे । यदि अस्वीकृत किये गये विधेयक को ससद साधारण बहुमत से दोबारा पास कर देती है तो राष्ट्रपति दोबारा उस पर निषेधाधिकार का प्रयोग नही कर सकता । दोबारा उसे उस पर अनुमति देनी पडती है । सवधानिक सशोधनो पर राष्ट्रपति निषेधाधिकार का प्रयोग नही कर सकता ।[1]

(ix) कुछ विधेयक एसे हैं जिन्हे ससद म प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति की आवश्यकता होती है । इनके उदाहरण है (a) वित्तीय विधेयक (b) वे विधेयक जो राज्यो की सीमाओ म परिवर्तन से सम्बन्धित हैं। (c) भाषा से सम्बन्धित विधेयक (d) सचित निधि से खर्च को अधिकृत करने वाले विधेयक आदि ।

---

1 24वा सशोधन 24

(x) ससद के विराम काल मे राष्ट्रपति अध्यादेश (Ordinances) जारी कर सकता है। राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये अध्यादेशो की शक्ति ससद द्वारा पास किये गये कानूनो की भाति होती है। राष्ट्रपति इन अध्यादेशो को कभी भी वापस ले सकता है। सविधान इस सम्बन्ध मे शात है कि राष्ट्रपति एक समय कितने अध्यादेश जारी कर सकता है। ससद के अधिवेशन मे आने के छ सप्ताह तक ये अध्यादेश जारी रह सकते है। इस दौरान मे ससद या तो अध्यादेशो को स्वीकार कर उन्हे कानून का रूप दे देती है या उन्हे अस्वीकार कर देती है।

(xi) कुछ विधेयको पर राष्ट्रपति का निषेधाधिकार निरपेक्ष है। इस क्षेत्र मे वे विधेयक आते हैं जिन्हे राज्यपाल, राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखता है। राष्ट्रपति बिना कारण दिये उन्हे रद्द कर सकता है या पुनर्विचार के लिये वापस भेज सकता है। उदाहरणतया राष्ट्रपति ने केरल के राज्यपाल के विचारार्थ सुरक्षित रखे गये विधेयक को राष्ट्रपति के पुनर्विचार के लिये वापस लौटा दिया था। राष्ट्रपति के क्षेत्र मे आने वाले मुख्य विधेयक है (a) सम्पत्ति को अधिगहीत करने वाले राज्य विधान सभाओ के अधिनियम (b) उच्च न्यायालय की शक्तियो का निरादर करने वाले अधिनियम, आदि।

(xii) ससद के समक्ष राष्ट्रपति उन प्रतिवेदनो को प्रस्तुत करता है जो केन्द्रीय लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग, कम्पट्रोलर एण्ड ऑडिटर जनरल और अनुसूचित जातियो, अनुसूचित जन जातियो और पिछडी जातियो के आयोग द्वारा प्रस्तुत किये जाते है।

(xiii) जब कभी राज्य सभा के सभापति का पद रिक्त होता है तो राष्ट्रपति कार्यवाहक सभापति को नियुक्त कर सकता है। इसी तरह लोक सभा के स्पीकर का पद रिक्त होने पर वह अस्थायी व्यवस्था कर सकता है।

(xiv) राष्ट्रपति अधिसूचना द्वारा यह घोषणा कर सकता है कि केन्द्रीय या राज्य का कानून किसी मुख्य बन्दरगाह या हवाई अड्डे पर लागू होगा या नही होगा।

3 वित्तीय शक्तियां—वित्तीय क्षेत्र मे भी राष्ट्रपति के पास महत्वपूर्ण शक्तियां हैं जैसे—

(i) उसकी अनुमति के बिना कोई वित्त विधेयक ससद मे प्रस्तुत नही किया जा सकता।

(ii) यह राष्ट्रपति का दायित्व है कि वह सघ सरकार का वार्षिक बजट तथा पूरक बजट ससद के समक्ष प्रस्तुत करवाये। इस वार्षिक तथा पूरक बजट मे आय व्यय का पूर्ण विवरण दिया जाता है।

(iii) आकस्मिकता निधि (Contingency Fund of India) पर राष्ट्रपति का पूरा नियन्त्रण रहता है। ससद की अनुमति प्राप्त होने से पूर्व राष्ट्रपति आकस्मिक

निधि से अग्रिम राशि प्रदान कर सकता है परन्तु इस प्रकार से दी गयी अग्रिम राशि पर बाद मे ससद की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है। सचित निधि (Consolidated Fund of India) मे से खर्च किये गये धन को ससद की अनुमति से आपूर्ति (recoup) कर ली जाती है।

(iv) राष्ट्रपति इस बात का निर्धारण करता है कि आयकर की राशि को केन्द्र और राज्यो मे किस प्रकार वितरित किया जाय। पटसन से होने वाली आय के बदले पूर्वी राज्यो (बगाल, बिहार, उडीसा) को आर्थिक सहायता देने का कार्य भी राष्ट्रपति ही करता है।

(v) सघ और राज्यो के मध्य करो की आय के वितरण और राज्यो की आर्थिक सहायता के प्रश्न पर राष्ट्रपति समय समय पर वित्त आयोग की स्थापना कर सकता है। सुदृढ वित्त के हित मे राष्ट्रपति आयोग को किसी विषय पर विचार करने के लिये कह सकता है। वित्त आयोग के प्रतिवेदनो पर राष्ट्रपति आवश्यक कार्यवाही कर सकता है।

4 न्यायिक शक्तियां—राष्ट्रपति के पास अनेक न्यायिक शक्तियां भी है जैसे—

(i) वह सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयो के मुख्य न्यायाधीशो और अन्य न्यायधीशो को नियुक्त करता है।

(ii) अन्य राज्याध्यक्षो की भांति राष्ट्रपति को क्षमा प्रदान करने, प्रविलम्बन (reprieve), प्रास्थगन (respite), परिहरण (remit) तथा दण्ड को कम करने का अधिकार है परन्तु राष्ट्रपति उन्ही व्यक्तियो को क्षमादान कर सकता है या उनके दण्ड को कम कर सकता है जिन्ह या तो सैनिक न्यायालय द्वारा दण्डित किया गया हो या जिन्ह सघीय कानूनो की उल्लघना करने पर दण्डित किया गया हो या जिन्ह मृत्यु दण्ड दिया गया हो। भारत का राष्ट्रपति दोष सिद्ध होने के बाद ही क्षमादान कर सकता है परन्तु भारत का राष्ट्रपति ससद की अनुमति से ही सवक्षमा (amnesty) प्रदान कर सकता है।

5 मिश्रित शक्तियां—राष्ट्रपति के पास कुछ ऐसी शक्तियां है जिन्ह मिश्रित शक्तियो के अधीन अभिव्यक्त किया जा सकता है जैसे—

(i) राष्ट्रपति किसी सावजनिक महत्त्व के विषय पर अनुच्छेद 143 के अन्तगत सर्वोच्च न्यायालय से परामश ले सकता है। यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय ने समय समय पर राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित किये गये प्रश्नो पर अपना परामश दिया है परन्तु न तो सर्वोच्च न्यायालय परामश देने के लिए बाध्य है और न ही राष्ट्रपति उस परामश को मानने के लिये बाध्य है।

(ii) राष्ट्रपति विशिष्ट नागरिको को उनकी सेवाओ के लिये सम्मानित कर सकता है। भारत रत्न, पद्मभूषण, पद्मविभूषण तथा पद्मश्री की उपाधियां राष्ट्रपति द्वारा वितरित की जाती है।

(iii) राजकीय कार्यों मे हिन्दी के प्रयोग को प्राधिकृत कर सकता है ।

(iv) जम्मू और कश्मीर राज्य के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को पर्याप्त अधिकार प्राप्त है ।

## II सकटकालीन शक्तिया
### (Emergency Powers)

प्राय सभी सविधाना मे ऐसी परिस्थितिया का सामना करन के लिय विशेष व्यवस्था होती है जो राज्य की सुरक्षा के लिए खतरा उत्पन्न करती है या उसक राष्ट्रीय हितो के विरुद्ध होती हैं । कुछ सविधाना मे, जसे भारत और स्विटजरलड म, यह व्यवस्था स्पष्टतया की गयी है, कुछ सविधाना म जसे आस्ट्रेलिया और अमरीका मे, इनकी व्यवस्था सघ के एक्को की प्राथना पर आधारित है और कुछ सविधाना मे, जसे कनाडा म, इनकी विशेष व्यवस्था ही नही । परन्तु प्रत्यक राज्य की सरकार ने, चाहे उसके सविधान न इसके लिये विशेष व्यवस्था की हो या न की हा, सकट उत्पन्न हान पर राष्ट्र की सुरक्षा के लिए विशेष शक्तिया का प्रयोग किया है । उदाहरणतया कनाडा की राष्ट्रीय सरकार ने इन शक्तिया का प्रयोग अवशिष्ट शक्तिया के अ तगत किया है और अमरीका मे राष्ट्रपति क्लेवीलण्ड ने 1894 की हडताल म, इलिनियोज (Illinois) राज्य सरकार के विरोध पर भी, सघीय सेनाओ का प्रयोग किया ।

भारत म सकटकालीन शक्तिया की विशेष व्यवस्था करन का मूल कारण उसका ऐतिहासिक अनुभव और उस समय की परिस्थितिया थी जिस समय सविधान का निर्माण हो रहा था । भारत का ऐतिहासिक अनुभव इस बात का साक्षी था कि जब जब केन्द्रीय सरकार दुबल हुई तब तब ही विदेशी सत्ताओ ने भारत पर आक्रमण किये । कश्मीर युद्ध, देशी रियासतो के हठधर्मी दृष्टिकोण, हैदराबाद के तलगाना क्षेत्र मे सैनिक विद्रोह, हैदराबाद मे पुलिस कायवाही की आवश्यकता, राजनीतिक उथल पुथल, गुटब दी, भाषावाद, प्रान्तीयता और सम्प्रदायवाद जसे ऐसे विघटनकारी तत्त्व विद्यमान थे जो राष्ट्र की नवजात स्वतन्त्रता, एकता और अखण्डता को खतरा उत्पन्न कर सकते थे । अत सविधान निर्माताओ न "आवश्यक बुराई और 'सुरक्षा नली' (Safety valve) के रूप म सकटकालीन उपबन्धो की व्यवस्था की । जैसाकि टी टी कृष्णामाचारी न सविधान सभा म कहा था कि "इन सकटकालीन उपबन्धो को आवश्यक बुराई के रूप म स्वीकार करना होगा । इन उपबन्धो क अभाव म सम्भव है कि सविधान निर्माण के हमार सभी प्रयास खतर म पड जायें ।"

भारतीय सविधान के अध्याय XVIII म नौ अनुच्छेद (अनुच्छेद 352 से 360 तक) सकटकालीन परिस्थितिया से सम्बन्धित हैं । इन अनुच्छेदो म तीन प्रकार की सकटकालीन परिस्थितियो की परिकल्पना की गई है जो निम्न प्रकार है —

(i) **राष्ट्रीय या सामान्य संकट**—अर्थात युद्ध बाह्य आक्रमण या आन्तरिक उपद्रव से उत्पन्न होने वाला संकट।

(ii) **संवैधानिक संकट**—अर्थात् किसी राज्य मे संवैधानिक यन्त्र के असफल होने से होने वाला संकट।

(iii) **वित्तीय संकट**—अर्थात भारत या उसके किसी भाग की वित्तीय स्थिरता और साख पर खतरा होने मे उत्पन्न होने वाला संकट।

(i) **राष्ट्रीय या सामान्य संकट** (National or General Emergency)—जब राष्ट्रपति को विश्वास हो जाय कि युद्ध बाह्य आक्रमण या आन्तरिक उपद्रव से भारत या उसके किसी भाग की सुरक्षा का खतरा उत्पन्न हो गया है तो वह राष्ट्रीय या सामान्य संकट की घोषणा कर सकता है। मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर संकट की स्थिति को निर्धारित करने का एक मात्र अधिकार राष्ट्रपति को है अर्थात राष्ट्रपति इस बात को निर्धारित करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र है कि संकट उत्पन्न हुआ है या नही और उसके इस निर्णय को न्यायालय मे इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकती कि वास्तविक संकट है या नही। वास्तविक संकट के उत्पन्न होने से पूर्व भी राष्ट्रपति संकट की घोषणा कर सकता है। इस तरह संकट की घोषणा करने की राष्ट्रपति की शक्ति पर न्यायालय का कोई नियन्त्रण नही। उसकी इस शक्ति पर यदि किसी का नियन्त्रण है तो वह संसद है। लार्ड डुनेडिन ने भगतसिंह बनाम साम्राज्य के मुकदमे में अवलोकित किया था कि 'संकट काल की स्थिति ऐसी स्थिति है जिसकी निश्चित (यथार्थ) परिभाषा देना कठिन है। यह तो केवल उन परिस्थितियो का लक्षित (अभिव्यक्त) करती है जिनका सामना करने के लिये उग्र कदम (तीक्ष्ण कार्यवाही) उठाने की आवश्यकता होती है और इन परिस्थितियो का किसी व्यक्ति द्वारा निर्धारित किया जाता है।' भारतीय संविधान इन परिस्थितियो को निर्धारित करने की शक्ति राष्ट्रपति को देता है।

राष्ट्रपति द्वारा उद्घोषित की गयी संकट की घोषणा का संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष प्रस्तुत करना अनिवार्य है। संसद की अनुमति (स्वीकृति) के बिना संकट की घोषणा दो महीना तक लागू रह सकती है। इस दो महीना के काल मे संसद के दोनो सदनो की स्वीकृति प्राप्त होना अनिवार्य है अन्यथा दो महीना की अवधि के समाप्त होते ही संकट की घोषणा स्वयं समाप्त हो जायगी। यदि संकट की घोषणा होने से पूर्व लोक सभा भंग हो जाय या घोषणा के जारी होने के दो महीने के काल मे स्थगित हो जाय तो संकट की घोषणा राज्य सभा की स्वीकृति पर दो महीने से अधिक जारी रह सकता है। नई लोक सभा का अधिवेशन बुलाया जायगा और उसकी बैठक के 30 दिन के अन्दर उस संकट की घोषणा पर उसकी स्वीकृति प्राप्त होना अनिवार्य है और यदि पुनर्गठित लोक सभा 30 दिन के अन्दर उस पर अपनी स्वीकृति नही देती तो घोषणा 30 दिन के बाद समाप्त हो जायगी

है। यदि ससद के दोनो सदनो की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तो सकट की घोषणा 6 महीने तक जारी रहती है।

भारतीय सविधान राष्ट्रीय या सामान्य सकट की समय के कोई सीमा निर्धारित नही करता। ससद के अनुसमथन पर यह छ छ महीनो के काल के लिये बढाई जा सकती है और यह तब तक जारी रहती है जब तक ससद का अनुसमथन प्राप्त होता रहता है या राष्ट्रपति स्वय इसे दूसरी उदघोषणा द्वारा वापस नही ले लेता या रद्द नही कर देता। सक्षेप मे, राष्ट्रीय या सामान्य सकट की स्थिति, ससद के अनुसमथन पर, अनिश्चित काल तक जारी रह सकती है।

सवधानिक इतिहास के पिछले 25 26 वर्षो मे राष्ट्रीय या सामान्य सकट की घोषणा दो तीन बार की गयी है। पहली बार राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने 26 अक्टूबर 1962 को चीनी आक्रमण के समय इसकी घोषणा की थी। इस घोषणा को 6 जनवरी 1968 को एक उदघोषणा द्वारा वापस ले लिया गया था। भारत सुरक्षा नियम, नागरिक सुरक्षा सेवा नियम, भारत सुरक्षा (सम्पत्ति अजन एव अधिकरण) नियम आदि को इसी सकटकालीन घोषणा के दौरान लागू किया गया था। दूसरी बार राष्ट्रपति वी० वी० गिरि ने 3 दिसम्बर 1971 को पाकिस्तानी आक्रमण के समय इसकी घोषणा की जो अभी तक जारी है। तीसरी आपत्कालीन उद्घोषणा 26 जून 1975 को राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद ने उस समय की जब दूसरी आपत्कालीन उद्घोषणा अभी जारी थी। परतु तीसरी आपत्कालीन घोषणा अपने प्रकार की पहली उद्घोषणा है। जहा पहली दो उदघोषणायें बाह्य आक्रमण से उत्पन्न हुई थी वहा तीसरी आपत्कालीन उद्घोषणा आभ्यान्तरिक अशान्ति (internal disorder) मे उत्पन्न हुई है। इस उदघोषणा पर प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने राष्ट्र के नाम अपने सन्देश मे कहा कि 'विरोधी दलो के व्यापक षडयन्त्र ने देश मे अस्तव्यस्तता और विभ्रान्ति (chaos & confusion) का वातावरण पदा कर दिया है 'प्रजातन्त्र के नाम पर प्रजातन्त्र को ही नकारने की कोशिश की जा रही है "हिंसा का वातावरण फल रहा है", "आदोलनो से वातावरण भर गया है जिनसे हिंसात्मक वारदातें हुई हैं", 'विघटन तत्त्व पूर्ण रूप से सक्रिय है और साम्प्रदायिक भावना उभारी जा रही है जिससे हमारी एकता को खतरा है' 'कुछ के कार्यो से अधिकाश लोगो के अधिकार खतरे मे पड रहे हैं। कोई भी ऐसी स्थिति जिसमे देश के भीतर निर्णायक रूप से काय करने की राष्ट्रीय सरकार की क्षमता कमजोर होती है वह बाहरी खतरे को निश्चय ही प्रोत्साहन देगी।' 'प्रधानमन्त्री का पद महत्त्वपूर्ण है और इसे जान बूझ कर बदनाम करने का राजनीतिक प्रयास न तो प्रजातन्त्र के हित मे है न राष्ट्र के"[1] आदि।

1 देखिये दिनमान दि० 6 जुलाई 1975, पृ 14

**राष्ट्रीय या सामान्य संकट के प्रभाव** राष्ट्रीय या सामान्य संकट के व्यापक एवं गम्भीर परिणाम निकलते हैं जिनमें प्रमुख निम्न हैं—

(a) **कार्यपालिका सम्बन्धी प्रभाव**—सारे देश की प्रशासन शक्ति राष्ट्रपति के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। केन्द्रीय कार्यपालिका राज्यों की कार्यपालिका को इस बात के लिए निर्देशन दे सकती है कि राज्यों की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किस प्रकार करे। यद्यपि राज्य सरकार को स्थगित नहीं किया जाता परन्तु राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार के पूर्ण नियन्त्रण में होती है और देश का सारा प्रशासन एकात्मक सरकार के रूप में कार्य करता है। संकट काल में राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार के स्थानीय अभिकरण मात्र बन कर रह जाते हैं।

राज्यों के अन्तर्गत आने वाले विषयों का प्रबन्ध करने के लिये भी संसद संघीय अधिकारियों को सत्ता सौंप सकती है।

(b) **विधायी प्रभाव**—संसद सारे देश या उसके किसी भाग के लिये कानूनों का निर्माण कर सकती है। संसद सूची II (राज्य सूची) में दिये गये विषयों पर भी कानून का निर्माण कर सकती है। संकट की घोषणा यद्यपि राज्य विधान मण्डल को स्थगित नहीं करती पर तु संघ और राज्यों में शक्तियों के विधायी विभाजन में अवश्य परिवर्तन कर देती है। यदि राज्य विधान सभा द्वारा पास किया गया कोई कानून संसद द्वारा पास किये गये किसी कानून के विपरीत होता है तो वह जिस सीमा तक केन्द्र के कानून के विपरीत है वह उस सीमा तक अमान्य होगा। परन्तु संकटकाल में बनाया गया कानून संकट के समाप्त होने के 6 महीने बाद तक ही लागू रहता है, उसके बाद वह संकटकालीन कानून समाप्त हो जाता है।

संकटकाल में राष्ट्रपति संसद के कार्यकाल को बढ़ा सकता है। परन्तु एक समय पर संसद के कार्यकाल को केवल एक वर्ष के लिये ही बढ़ाया जा सकता है और संकट के समाप्त होने के 6 महीने बाद बढ़ाया हुआ काल समाप्त हो जाता है।

(c) **वित्तीय प्रभाव**—राष्ट्रपति संघ और राज्यों में राजस्व विभाजन में परिवर्तन कर सकता है। परन्तु इस प्रकार के सभी परिवर्तन संसद के अनुसमर्थन के अधीन हैं।

(d) **मूल अधिकारों पर प्रभाव**—संकटकालीन घोषणा के काल में अनुच्छेद 19 के अन्तर्गत दिये गये नागरिकों के अधिकार स्थगित रहेंगे। राष्ट्रपति चाहे तो उद्घोषणा द्वारा अन्य मूल अधिकारों को भी स्थगित कर सकता है और अनुच्छेद 32 और अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत दिये गये संवैधानिक उपचारों के अधिकारों को भी स्थगित कर सकता है अर्थात् उद्घोषणा द्वारा राष्ट्रपति नागरिकों को न्यायालयों के संरक्षण से भी वंचित कर सकता है।

संक्षेप में राष्ट्रीय या सामान्य संकट में संविधान में परिवर्तन किये बिना संविधान का संघात्मक स्वरूप एकात्मक स्वरूप ग्रहण कर लेता है, राज्यों की स्वायत्तता समाप्त हो जाती है, राज्य सरकारें केन्द्र के अभिकरण मात्र बन कर

रह जाती हैं और नागरिक स्वतन्त्रतायें केन्द्र की दया पर निर्भर बन कर रह जाती है।

(c) तीसरी आपत्कालीन उदघोषणा में अखबारों पर भी सेंसरशिप लाद दी गयी है अर्थात अखबार बिना सरकार की पूर्व स्वीकृति के आपत्काल से सम्बन्धित किसी खबर को नहीं छाप सकते। आर आर एस, जमायत ए इस्लामी, आनन्द मार्ग, आदि 26 संगठनों पर प्रतिबंध भी लगाये गये हैं।

(ii) संवैधानिक संकट—जब राष्ट्रपति को, राज्यपाल के प्रतिवेदन पर या अन्य तरीकों से विश्वास हो जाय कि किसी राज्य का प्रशासन संवैधानिक अनुबंधों के अनुसार चलाना कठिन है तो राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 के अनुसार उस राज्य में संवैधानिक संकट की घोषणा कर सकता है। राष्ट्रपति राज्यपाल के प्रतिवेदन में दिये गये निष्कर्षों को मानने के लिये बाध्य नहीं। राष्ट्रपति अपना स्वयं का स्वतन्त्र निर्णय भी ले सकता है। राष्ट्रपति के इस निर्णय की तर्कसंगतता, वैधता या औचित्य के आधार पर न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।

राष्ट्रपति द्वारा की गयी संवैधानिक संकट की घोषणा को उसी प्रकार से संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति की आवश्यकता है जिस प्रकार से राष्ट्रीय या सामान्य संकट की घोषणा की है। अन्तर केवल इतना है कि जहां राष्ट्रीय या सामान्य संकट में समय की कोई सीमा संविधान निर्धारित नहीं करता अर्थात सामान्य संकट अनिश्चितकाल तक संसद की अनुमति से जारी रखा जा सकता है वहां संवैधानिक संकट के समय की सीमा संविधान में अधिक से अधिक 3 वर्ष की निर्धारित कर सकता है अर्थात संसद की छः छः महीने की स्वीकृति से अधिक से अधिक 3 वर्ष तक जारी रह सकती है।

संवैधानिक इतिहास के पिछले 25-26 वर्षों में संवैधानिक संकट की घोषणा अनेक बार की गई है। सर्वप्रथम इसकी घोषणा 1951 में पूर्वी पंजाब में की गयी थी। उसके बाद 1953 में पप्सू में 1954 में आंध्र में, 1956 में ट्रावनकोर कोचीन में, 1959 में केरल में, 1961 में उड़ीसा में, 1964 में केरल में, 1965 में केरल में, 1966 में पंजाब में, 1967 में राजस्थान और हरियाणा में, 1968 में पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश बिहार और पंजाब में, 1969 में बिहार में, 1970 में केरल, पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश और गुजरात में, 1971 में मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, पश्चिमी बंगाल और बिहार में, 1973 में आन्ध्र प्रदेश, मणिपुर, उड़ीसा और उत्तर प्रदेश में, 1974 में गुजरात और 22 मार्च 1975 में नागालैण्ड में अर्द्ध संवैधानिक संकट की घोषणा की गयी। 20 मई 1975 को नागालैण्ड विधानसभा को भंग कर वहां पूर्ण [illegible] संकट की घोषणा कर दी गयी।

संवैधानिक संकट [illegible] जैसा [illegible] माय निकले*
वे मुख्यतया निम्न हैं —

(a) राष्ट्रपति राज्य के सभी या किसी काय को स्वय ग्रहण कर सकता है परन्तु राज्य विधान मण्डल की शक्तिया को अपने हाथ म नही ले सकता। सवधानिक सकट म राज्यपाल राष्ट्रपति के अधिकारी (agent) के रूप म कई काय करता है।

(b) ससद को राज्य विधान मण्डल की शक्तियो के प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

(c) उच्च न्यायालय की शक्तियो के अतिरिक्त, राष्ट्रपति राज्य की किसी सत्ता की शक्तिया को स्थगित या सीमित कर सकता है।

(d) राज्य म किसी व्यक्ति के लिये सवधानिक उपबन्धा को स्थगित किया जा सकता है।

(e) ससद राष्ट्रपति को अमुक राज्य के लिये कानून बनाने का अधिकार प्रदान कर सकती है।

(f) ससद द्वारा कायवाही होने से पूर्व अर्थात् लोकसभा के विराम काल मे राज्य की सचित निधि स किसी व्यय को अधिकृत कर सकता है।

(g) राष्ट्रपति नागरिको के मूल अधिकारो, सवैधानिक उपचारा के अधिकारा सहित, को स्थगित, प्रतिबन्धित या नियमित कर सकता है। सक्षेप म सवधानिक सकट की घोषणा होन पर राज्य की स्वायत्तता नष्ट हो जाती है और राज्य का प्रशासन सीधे केन्द्र के अधीन आ जाता है।

(iii) **वित्तीय सकट**—जब राष्ट्रपति को विश्वास हो जाय कि भारत या उसके किसी भाग की वित्तीय स्थिरता और साख को खतरा उत्पन्न हो गया है तो राष्ट्रपति वित्तीय सकट की घोषणा कर सकता है। सामान्य और सवधानिक सकट की घोषणा की भाति वित्तीय सकट की घोषणा भी ससद के दोनो सदनो की स्वीकृति पर ही दो महीने से अधिक जारी रह सकती है। सवधानिक इतिहास के पिछले 25 26 वर्षों म वित्तीय सकट की घोषणा एक बार भी नही की गयी।

**वित्तीय सकट के प्रभाव**—वित्तीय सकट के जो प्रभाव निकलते है व मुख्यत निम्न है —

(a) केन्द्र की कायपालिका राज्य को वित्त क विषयो पर आचरण के लिये निर्देशन दे सकती है। इन निर्देशना म केन्द्रीय कायपालिका सावजनिक सेवका के वेतनो भत्तो आदि म कटौती के लिये कह सकती है। सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो के वेतनो, भत्ता आदि म भी कटौती की जा सकती है।

(b) राज्य विधानसभा द्वारा पास किये गये सभी वित्तीय विधेयको को राष्ट्रपति स्वीकृति के लिये मगवा सकता है।

**सकटकालीन शक्तियो या व्यवस्थाओ का मूल्याकन**

भारतीय सविधान का कोई अध्याय आलोचको की ...

अधिक पात्र नही रहा जितना कि सकटकालीन शक्तियो से सम्बन्धित अध्याय 18 रहा है। इसे प्रजातन्त्र विरोधी, सघ विरोधी, न्याय विरोधी, विवेक विरोधी एव शरारतपूर्ण की सज्ञा दी गयी है। आलोचको ने इसे अति कठोर, अति व्यापक एव अति स्वेच्छाचारी, प्रतिक्रियावादी, पश्चादगमन कह कर निन्दित किया है। इनका कहना है कि अध्याय 18 की व्यवस्थायें सन् 1935 के भारत शासन अधिनियम की धारा 93 का दासोचित पुनर्जनन (Slavish reproduction) है। इन व्यवस्थाओ पर सविधान सभा मे जब वाद विवाद हो रहा था तो एच० वी० कामथ ने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि "यह शर्म और दुख का दिन है। ईश्वर भारतीय जन मानस की रक्षा करें।" उन्होने यह भी कहा था कि 'इस एक अध्याय द्वारा हम ऐसे सर्वाधिकारवादी पुलिस राज्य की स्थापना कर रहे हैं जो हमारे सिद्धान्तो और आदर्शो के ठीक विपरीत है। हम ऐसे राज्य की स्थापना कर रहे हैं जिसमे लाखो निर्दोष लोगो के अधिकार और स्वतन्त्रतायें निरन्तर खतरे मे रहगी। यहाँ की शान्ति श्मशान घाट की शान्ति होगी जिसमे रेगिस्तान जैसी शून्यता विद्यमान रहेगी।" वी० दास का मत था कि अध्याय 18 की व्यवस्थायें राष्ट्रपति को "एक नया फ्रैंकस्टीन बना देगी जो दक्षिण अमरीकी राष्ट्रपतियो की भाति सारी शक्तियो को, वित्तीय शक्तियो सहित, हडप कर लेगा और प्रान्तो को भूखा मार देगा।' एच० वी० कामथ का कहना था कि "प्रजातान्त्रिक रूपी भवन का यह स्वेच्छाचारितापूर्ण प्रतिक्रियावादी महराब आच्छादित करता है।" आलोचको का यह भी कथन है कि जर्मनी के वीमार सविधान की धारा 48 के अनुसार जर्मन चान्सलर हिटलर को इसी प्रकार की शक्तिया प्रदान की गयी थी जिसका दुरुपयोग करके हिटलर तानाशाह बन गया। के० टी० शाह का कथन था कि ये उपबन्ध "प्रतिक्रियावादी एव पश्चादगामी अध्याय का शानदार उपसहार एव गौरव हैं।"

आलोचको द्वारा सकटकालीन शक्तियो पर की गयी आपत्तियो को मुख्यतया निम्न बिन्दुओ द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है —

1 *सघीय ढाँचे को खतरा—सकटकालीन* शक्तियो के प्रयोग का सबसे प्रतिकूल प्रभाव भारतीय सघीय व्यवस्था पर पडता है। सामान्य सकट की घोषणा होते ही सविधान मे परिवर्तन किये बिना ही राज्य एकात्मक सरकार का रूप ग्रहण कर लेता है, राज्य सरकारो की स्वायत्तता नष्ट हो जाती है और वे केन्द्र की नीतियो को कार्यान्वित करने वाले अभिकरण मात्र बन कर रह जाते हैं। केन्द्र की शक्तियाँ अद्वितीय ढग से बढ जाती हैं। जैसा कि के० वी० राव ने लिखा है कि "यद्यपि हमारे सविधान मे अनेक असघीय (unfederal) विशेषतायें हैं परन्तु अनुच्छेद 356 सर्वाधिक असघीय तत्व है।'[1]

1 See Rao, K. V Parliamentary Democracy of India, II Edn P 281

**2 राजनीतिक उद्देश्यो के लिए दुरुपयोग**—अनुच्छेद 356 आलोचको की उग्र आलोचना का पात्र रहा है क्योकि केन्द्र इसका प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिये कर सकता है। विशेषकर उस परिस्थिति म जब केन्द्र और राज्य या राज्यो मे परस्पर विरोधी राजनीतिक दलो की सरकारें सत्तारूढ हो। पिछले कुछ वर्षा का सवधानिक इतिहास सविधान निर्माताओ के इस भय को सत्य सिद्ध करता है कि केन्द्र अपने राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिये इसका प्रयोग कर सकता है। वस्तुत केन्द्र ने स्वच्छ, निमल और कुशल राजनीतिक परम्पराओ, प्रजातान्त्रिक और सघीय नियमो का विकास करने के स्थान पर इष्ट सिद्धि (काय सिद्धि–expediency) का परिचय दिया है।

अनुच्छेद 356 अर्थात सवधानिक यन्त्र की असफलता का प्रयोग व्यापक अर्थों मे किया गया है। कभी इसका प्रयोग राज्य के प्रशासन को विघटन से बचाने के लिये किया गया है, कभी विरोधी राजनीतिक दलो द्वारा सरकार निमाण के प्रयासो म बाधा प्रस्तुत करने के लिये, कभी केन्द्र म महत्त्वपूर्ण सुरक्षित शक्ति (important reserve power) को सगठित करने के लिए अर्थात् राज्य की दलीय "गुट राजनीति" (factional politics) पर केन्द्र का नियन्त्रण स्थापित करने के लिये, या राजनीतिक गतिरोध (political deadlock) को समाप्त करने के लिये या राजनीतिक अस्थिरता (political instability) को दूर करने के लिये किया गया है। केन्द्र का एकपक्षीय दलीय व्यवहार इस उदाहरण से स्पष्ट है कि सन् 1959 म केरल के साम्यवादी दल को अपदस्थ करने के लिय, जब उसका बहुमत केरल विधानमण्डल मे था, जन विद्रोह (mass upsurge) का ढोग रच कर (जिसे काग्रेस ने स्वय गढा था) अनुच्छेद 356 का प्रयोग किया जा सकता था परन्तु सन् 1973 मे उत्तर प्रदेश मे प्रान्तीय सशस्त्र सिपाहियो (Provincial Armed Constabulary) द्वारा विद्रोह के समय अनुच्छेद 356 का प्रयोग नहीं किया जा सकता था क्योकि वहा बहुगुणा के काग्रेसी मन्त्रिमण्डल का शासन था जिसे केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का विश्वास प्राप्त था। सविधान निर्माताओ की यह शका सत्य प्रतीत होती है कि 'सविधान के उल्लघना की सम्भावना केवल आन्दोलनकारियो, विद्रोहियो एव क्रान्तिकारियो के द्वारा ही नही अपितु उन लोगो द्वारा भी हो सकती है जो सत्तारूढ हैं।"[1] पजाब राव देशमुख ने भी इसी प्रकार की शका सविधान सभा म व्यक्त की थी।[2]

राज्य विधानमण्डल को भग किये बिना अवाछित प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल से छुटकारा पाने के लिये सन् 1966 म "अध सकट" (half emergency) की अद्वितीय परम्परा का शुरू किया गया जिसकी व्यवस्था सविधान मे नही की गयी। "अद्ध सकट की स्थिति म प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल को तो नष्ट कर दिया जाता है परन्तु

1 C A D Vol IX, p 106

2- C A D Ibid, p 114

विधान मण्डल को "निलम्बित सजीवन" (suspended animation) मे रख दिया जाता है। दूसरे शब्दो मे, अर्द्ध सकट मे विधान मण्डल को भग किये बिना मत्रि मण्डल को भग कर दिया जाता है। इस अर्द्ध सकट की विशेषता यह है कि इसे बाद मे, जैसी आवश्यकता हो, या तो "पूर्ण सकट" मे (full emergency) मे परिवर्तित कर दिया जाता है या उसे "अ-सकट" (non emergency) में बदल दिया जाता है। उदाहरणतया 1966 मे पजाब, 1967 मे राजस्थान, 1969 मे बिहार मे, 1970 मे उत्तर प्रदेश मे, 1971 मे उडीसा म, 1973 मे आन्ध्र प्रदेश और उत्तर प्रदेश म उद्घोषित अर्द्ध सकटो को असकट मे बदल दिया गया अर्थात् उन्हे वापस ले लिया गया परन्तु 1968 मे उत्तर प्रदेश 1970 म पश्चिमी बगाल, 1974 मे गुजरात म उद्घोषित अर्द्ध सकटो को पूर्ण सकट मे बदल दिया गया।[1]

राज्यो की राजनीति की एक विशेषता यह रही है कि राज्यो के राजनीतिज्ञ आपसी "मुक्ति" के लिये राज्य की जनता या राज्य विधान पर निभर नही करते बल्कि केन्द्र के "निर्देशन" पर निभर करते है। उदाहरणतया जब कभी किसी राज्य मे "दल बदल" या "गुट राजनीति" के कारण राज्य की राजनीति मे गतिरोध या अस्थिरता उत्पन्न हुई तब ही राज्य के राजनीतिज्ञो ने राज्य विधानमण्डल म बहुमत परीक्षण करने या नव निर्वाचन द्वारा राज्य की जनता से समथन प्राप्त करने के स्थान पर केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से परामश लिया है, विशेषकर राज्यो म काग्रेसी मत्रि मण्डलो का यही दृष्टिकोण रहा है। यह स्थिति न तो प्रान्तीय स्वायत्तता के लिये और न ही सघीय व्यवस्था के लिये शुभ है। जसाकि बाम्बॉल ने लिखा है कि राष्ट्रपति शासन "सत्ता के केन्द्र को नई दिल्ली म स्थापित कर देता है। राज्य की जनता के लिये यह प्रतिकर (compensation) पर्याप्त नही थी उनके प्रतिनिधि ससद मे विद्यमान होते है क्योकि इस बात का कोई आश्वासन नही कि केन्द्र द्वारा उस राज्य से सम्बन्धित नीतियो का निर्धारण करने मे उनकी कितनी प्रभावपूर्ण आवाज है।[2]

अनुच्छेद 365 इस बात की भी व्यवस्था करता है कि जब कभी कोई राज्य केन्द्र द्वारा जारी किये गये निर्देशनो का पालन नही करता तो राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 के अन्तगत उस राज्य म सवधानिक यन्त्र की असफलता की घोषणा कर सकता है। स्पष्ट है कि केन्द्र द्वारा दिये गय निर्देशन की पालना न करने से अनुच्छेद 356 का प्रयोग किया जा सकता है।

3 **सकटकालीन शक्तियों का शान्तिकाल में प्रयोग**—सकटकालीन शक्तियो की एक खतरनाक बात यह है कि कार्यपालिका सकट का बहाना लेकर सामान्य

1 See Johari J C Indian Government and Politics (Vishal Publications 1974) 1974 p 235

2 Bomball, Quoted by Johari J C Ibid p 239

प्रजातान्त्रिक गतिविधियों को कुण्ठित कर सकती है, नागरिक स्वतन्त्रताओं के साथ खिलवाड कर सकती है तथा राजनीतिक विरोधियों का सफाया कर सकती है। कार्यपालिका की एक सामान्य प्रवृत्ति यह है कि जिन असाधारण शक्तियों का प्रयोग वह संकटकाल में करती है उनका प्रयोग वह शान्तिकाल में भी करने की इच्छुक रहती है। इस तरह साधारण कानूनों और साधारण न्याय व्यवस्था की उपेक्षा करना कार्यपालिका का स्वभाव बन जाता है। आपातकालीन विधान संविधि पुस्तक में स्थायी रूप ग्रहण कर लेते है। उदाहरणतया जिन भारत सुरक्षा नियमों, निवारक निरोध नियमों और आन्तरिक सुरक्षा नियमों (The Defence of India Rules, Preventive Detention Act and Maintenance of Internal Security Act) का निर्माण विशेष परिस्थितियों के लिये किया गया था उनका प्रयोग रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल, सत्याग्रही आन्दोलनों और आर्थिक अपराधों के लिये करना अनुचित ही नहीं बल्कि न्याय की भावना के भी विपरीत है। इससे यह भी स्पष्ट है कि देश का सामान्य कानून निराधार है और देश असाधारण नियमों द्वारा ही शासित हो सकता है। मीसा (MISA) के अन्तर्गत जितने विद्यार्थियों को बन्दी बनाया गया है उतने तस्करों (Smugglers) को बन्दी नहीं बनाया गया।[1]

**4 उद्घोषणाओं की मात्राओं की सीमा का अभाव**—भारतीय संविधान इस विषय पर पूर्ण रूप से शान्त है कि राष्ट्रपति कितने संकटकालीन अध्यादेशों को जारी कर सकता है और क्योंकि संसद की अनुमति के बिना एक अध्यादेश दो महीनों तक जारी रह सकता है अत कोई भी महत्त्वाकांक्षी कार्यपालिका दो महीने की अवधि के समाप्त होने से कुछ दिन या घण्टे पूर्व ही पहले अध्यादेश को वापस लेकर एक नये अध्यादेश को जारी कर सकता है और इस तरह राष्ट्रपति चाहे तो अध्यादेशों द्वारा शासन कर सकता है।

**5 नागरिकों के मूल अधिकारों पर प्रभाव**—संकटकालीन शक्तियों का सबसे अधिक प्रभाव नागरिकों के मूल अधिकारों पर पडता है। संकटकालीन घोषणा होते ही *नागरिकों के अनुच्छेद 19 के अन्तर्गत नागरिक अधिकार स्थगित हो जाते* है। इससे भी दुखद बात यह है कि राष्ट्रपति अनुच्छेद 359 का प्रयोग करते हुए नागरिकों को न्यायालय के संरक्षण से भी वंचित कर सकता है। यह अत्यन्त गम्भीर स्थिति है जो प्रजातन्त्र विरोधी, उदारवाद विरोधी और प्रतिक्रियावादी है। यह न केवल संविधान के नकारात्मक पहलू को अभिव्यक्त करता है बल्कि उस पर 'कलंक' भी है। जहा ब्रिटेन में युद्ध के ठीक बाद निर्वाचन कराये जाते हैं और जहा अमरीका में युद्ध काल में नागरिकों की मौलिक स्वतन्त्रताओं का हनन नहीं किया जा सकता वहा भारत में शान्तिकाल में भी संकट का बहाना लेकर नागरिक स्वतन्त्रताओं का

1 See Indian Express

गला घोटा जा सकता है। इस तरह सकटकालीन व्यवस्थायें नागरिक अधिकारो के सरक्षक देवदूत (guardian angle) होने के स्थान पर उसके भक्षक हैं।

6 अधिनायकवादी प्रवृत्ति—एक महत्त्वाकाक्षी एव सत्ता लोभी राष्ट्रपति सकटकालीन शक्तियो का दुरुपयोग कर सकता है। वह मन्त्रिमण्डल एव लोक सभा को भग कर अध्यादेशो द्वारा शासन कर सकता है और क्योकि अध्यादेशो की मात्रा पर कोई प्रतिबन्ध नही है और क्योकि एक अध्यादेश, ससद की अनुमति के बिना दो महीना तक जारी रह सकता है अत वह अपनी इस सत्ता का दुरुपयोग कर सकता है (जर्मनी के वीमर सविधान के अन्तर्गत हिटलर अपनी इन्ही शक्तियो का प्रयोग कर स्वय अधिनायक बन बैठा। इसी प्रकार इटली मे मुसोलिनी ने प्रजातान्त्रिक सस्थाओ के साथ खिलवाड किया।

सकटकालीन व्यवस्थाओं के पक्ष मे तर्क—सकटकालीन व्यवस्थाओ की उपयुक्त आलोचना एकपक्षीय, अतिशयोक्तिपूर्ण एव ससदात्मक प्रणाली म अविश्वास की द्योतक है। इस तथ्य को नही भुलाया जा सकता कि इन्हें "आवश्यक बुराई" के रूप मे स्वीकार किया गया है। ये व्यवस्थायें "ऐहतियाती" (precautionary) व्यवस्थायें हैं जिनका प्रयोग सामान्य परिस्थितियो के लिये नही अपितु विशेष परिस्थितियो के लिये ही किया जा सकता है जैसाकि डा० अम्बेदकर ने कहा था कि "ये धारायें ऐहतियाती हैं और इनका प्रयोग प्राय नही किया जायगा और य प्राय "मृत पत्र' (dead letter) ही रहेंगी। इनका प्रयोग केवल उस समय किया जायगा जब राष्ट्र किसी गम्भीर आपत्ति का सामना कर रहा हो या विघटनकारी तत्त्व बलशाली हो रहे हो।

यह सत्य है कि सकटकाल म नागरिको की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और नागरिको के अधिकार स्थगित हो जाते हैं परन्तु इनका महत्त्व तभी है जब राष्ट्र सुरक्षित हो। जब राष्ट्र पर ही आपत्ति हो और उसकी स्वतन्त्रता और अखण्डता पर ही खतरा मडरा रहा हो तो प्रान्तो (राज्यो) या नागरिको की स्वायत्तता और स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व ही नही रह जाता, क्योकि राष्ट्र के जीवित रहने से ही राज्य और नागरिक जीवित रहते हैं। भाषण अभिव्यक्ति, सभा, समुदाय भ्रमण आदि स्वतन्त्रताओ का महत्त्व शान्तिकाल म है, सकटकाल म तो ये बातें गौण हो जाती हैं। ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर ही केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली बनाया गया है क्योकि जब जब भारत में केन्द्रीय सरकार निर्बल हुई है तब-तब यहाँ विघटनकारी तत्त्वो ने जन्म लिया है तथा विदेशी आक्रमण को प्रोत्साहन मिला है। इसी उद्देश्य से महावीर त्यागी ने इन्हें सुरक्षा वाल्व (safety valve)[1] और सर [illegible] ने इन्हें 'सविधान का जीवन' (a very life of the Constitution) की सज्ञा दी है।

---

1 Tyagi Mahavir C.A.D Vol IX p 54

यह सत्य है कि अनेक बार अनुच्छेद 356 का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों के लिये किया गया है परन्तु इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता कि जिन राज्यों में इसका प्रयोग किया गया उनमें पुनः उत्तरदायी सरकारों की स्थापना कर दी गयी। अनेक बार तो अनुच्छेद 356 का प्रयोग प्रजातन्त्र की रक्षा हेतु एवं राज्य की राजनीतिक स्थिरता के लिये भी किया गया है।

यह कहना कि राष्ट्रपति इन शक्तियों का प्रयोग कर ड्यूक फ्यूहरर सीजर, जार या अधिनायक बन सकता है संसदात्मक प्रणाली में अविश्वास को प्रकट करता है व्यावहारिक ज्ञान को नहीं। भारतीय संविधान अध्यक्षात्मक प्रणाली की स्थापना नहीं करता संसदात्मक प्रणाली की स्थापना करता है। अतः राष्ट्रपति के लिये मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर कार्य करना अपेक्षित है। संकटकालीन शक्तियाँ राष्ट्रपति की व्यक्तिगत शक्तियाँ नहीं। इनका प्रयोग वह मन्त्रिमण्डल और संसद की अनुमति से करता है। संविधान में कोई ऐसी धारा नहीं जहाँ राष्ट्रपति संसद की अनुमति के बिना किसी व्यय की अनुमति दे सकता है। इस तरह कदम कदम पर इन शक्तियों के प्रयोग में राष्ट्रपति पर बाधायें हैं जैसाकि टी० टी० कृष्णामाचारी ने कहा कि 'संसद चाहे तो कार्यपालिका को सबक सिखा सकती है।' और यदि यह कहा जाय कि राष्ट्रपति, मन्त्रिमण्डल और संसद मिलकर सारी शक्तियों को अपने अधिकार में लेकर उनका अनुचित प्रयोग कर सकते हैं तो इस स्थिति में कोई भी संवैधानिक व्यवस्था बचा नहीं सकती।

पक्ष और विपक्ष में दिये गये उपर्युक्त तर्कों के बाद भी संकटकालीन व्यवस्थाओं के प्रयोग में कुछ सावधानियों की आवश्यकता है जिनके अभाव में इनका दुरुपयोग किया जा सकता है। जैसाकि अमर नन्दी ने लिखा है कि ये शक्तियाँ उस भरी हुई बन्दूक के समान है जिसका प्रयोग नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये या उसे नष्ट करने के लिये भी किया जा सकता है। इसलिये बन्दूक का प्रयोग बड़ी सावधानी से होना चाहिये।"[1] दूसरे, किसी भी संविधान को सुचारू रूप से चलाने के लिये नागरिकों की 'सतत जागरूकता' की आवश्यकता होती है। यदि नागरिक उदासीन है तो कोई भी संवैधानिक व्यवस्था उनके अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकती। इसलिये जिस चीज की आवश्यकता है वह है नागरिकों की जागरूकता। तीसरे, राष्ट्रीय सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में सन्तुलन स्थापित करने की आवश्यकता है परन्तु साथ में इस बात की भी आवश्यकता है जैसाकि एम० वी० पायली ने कहा है कि "सुरक्षा पर अत्यधिक बल कहीं निरंकुशता को जन्म न दे दे और स्वतन्त्रता की अत्यधिक माँग कहीं उच्छृंखलता को जन्म न दे दे।"[2] चौथे,

---

1 Nandi Amar The Constitution of India, p 140

2 Excessive emphasis on Security may result in autocracy where as too great a claim for liberty might result in licence Pylee M V Constitutional Government in India p 593

अनुच्छेद 356 को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने की आवश्यकता है ताकि केन्द्र का कोई भी सत्तारूढ सरकार इसका प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्यो के लिये न कर सके। पाचवे, नागरिको को सवैधानिक उपचारो से वचित करना निश्चित ही अनुचित एव अन्यायिक है और कार्यपालिका निरकुशता की द्योतक है। अत इसे भी स्पष्ट परिभाषित करने की आवश्यकता है या कम से कम इसका प्रयोग अत्यन्त सीमित होना चाहिये और आर्थिक या सामाजिक अपराधो के लिय इसका प्रयोग नही होना चाहिये।

## राष्ट्रपति की स्थिति या क्या राष्ट्रपति एक सवैधानिक अध्यक्ष है या कि वास्तविक ? या क्या राष्ट्रपति अधिनायक बन सकता है

**(Position of the President) or Is President a Constitutional head or a real executive ? or Can President become a Dictator ?**

राष्ट्रपति की स्थिति सवैधानिक व्याख्याताओ की चर्चा का विषय रही है। वस्तुत इस सम्बन्ध मे दो प्रकार की विचारधारायें पायी जाती है। एक विचारधारा माइकेल ब्रेकर सी० एच० एलेक्जेन्ड्रोविक्ज, एम० सी० सीतलवाड मोहन कुमारा मगलम् जसे लेखको और प० नेहरू, डा० बी० आर० अम्बेदकर सर अलादी कृष्णा स्वामी आय्यर, जसे सविधान निर्माताओ की है जिनका कहना है कि राष्ट्रपति एक सवधानिक अध्यक्ष है और वह अपनी शक्तियो का प्रयोग स्वय के विवेक के आधार पर नही कर सकता। दूसरी विचारधारा एलन ग्लडहिल, डी० एन० बनर्जी, के० एम० मुन्शी जसे लेखको की है जिनका कहना है कि सविधान की कोई धारा राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल का परामश मानने के लिय बाध्य नही करती और राष्ट्रपति सविधान की उल्लघना किये बिना सत्तावादी सरकार की स्थापना कर सकती है।

जो लेखक राष्ट्रपति को सवधानिक अध्यक्ष मानते है उनका कहना है कि सविधान भारत म ब्रिटेन की भाति ससदात्मक प्रणाली की स्थापना करता है, अमरीका की भाति अध्यक्षात्मक प्रणाली की नही। जसाकि डा० अम्बेदकर ने सविधान सभा म कहा था कि "अमरीका की तरह भारत मे राष्ट्रपति है परन्तु दोनो मे केवल नाम की समानता है अन्यथा स्थिति से दोनो भिन्न है।" 'राष्ट्रपति की वही स्थिति है जा ब्रिटेन मे सम्राट की है। वह राष्ट्र का प्रधान है, कार्यपालिका का नही। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, राष्ट्र पर शासन नही करता। प्रशासन म उसकी स्थिति औपचारिक उपकरण की है। उसकी स्थिति उस मोहर की भाति है जिसके द्वारा राष्ट्र के निर्णय जाने जाते हैं।" टी० टी० कृष्णामाचारी ने भी कहा था कि जहा तक राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल के पारस्परिक सम्बन्धो का सम्बन्ध है हमने पूर्णतया ब्रिटिश उत्तरदायी शासन प्रणाली को अपनाया है।" सर अलादी कृष्णास्वामी आय्यर ने भी कहा था कि "भारतीय सविधान न ससदात्मक कार्यपालिका की सत्था को अपनाया है।' स्वय के० एम० मुन्शी न, जिनका अब विश्वास

है कि राष्ट्रपति वास्तविक शक्तिया का उपभोग कर सकता है, सविधान सभा मे यह स्वीकार किया था कि "आरम्भ से ही अधिकाश सदस्य सघ के लिय मन्त्रिमण्डलात्मक प्रणाली की सरकार का समथन कर रहे थे।" प० नेहरू ने भी सविधान सभा मे कहा था कि "राष्ट्रपति की स्थिति महान सत्ता और प्रतिष्ठा की है परन्तु साथ मे वह पूर्णतया सवधानिक अध्यक्ष की है। जब 1959 मे डा० राजेन्द्र प्रसाद के इण्डियन ला इन्स्टीट्यूट (Indian Law Institute) के समक्ष दिये गये भाषण से (जिसम उन्होने यह विचार व्यक्त किया था कि सविधान की कोई धारा राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् के परामश का मानने के लिय बाध्य नही करती" और भारत के विद्वान राष्ट्रपति की शक्तिया का विश्लेषण करें) विवाद उत्पन्न हुआ तो प्रधान मन्त्री नेहरू ने स्पष्ट करते हुए कहा कि "हम स्वय उसके पास (राष्ट्रपति के पास) परामश के लिये जाते हैं परन्तु निणय लेन का काम मन्त्रिमण्डल का है।" "राष्ट्रपति सवधानिक अध्यक्ष है और इसी हैसियत से उसन हमेशा काम किया है।"[1]

राष्ट्रपति को सवैधानिक अध्यक्ष मानने वाला का कहना है कि ससदात्मक प्रणाली मे दोहरी कायपालिका होती है–नाम मात्र की और वास्तविक। जहा सविधान राष्ट्रपति को कायपालिका शक्तिया प्रदान करता है वहा ससदात्मक प्रणाली, जिसकी स्थापना सविधान भारत मे करता है, इस बात की माग करती है कि कायपालिका अध्यक्ष अपनी शक्तिया का प्रयोग स्वय न करे बल्कि प्रधान मन्त्री के नेतृत्व मे मन्त्रिमण्डल के व सदस्य करें जिन्हे वास्तविक कायपालिका कहा जाता है और जो सयुक्त रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी है। इन लेखका का यह भी कहना है कि सविधान राष्ट्रपति के लिए कोई सुरक्षित क्षेत्र (reserve field) निर्धारित नही करता जिस प्रकार कि सविधान का अनुच्छेद 163 (1) राज्य म राज्यपाल के लिए ऐसा सुरक्षित क्षेत्र निर्धारित करता है जिसम राज्यपाल विवेकाधिकार के अन्तगत काय कर सकता है। इन लेखका का यह कहना भी सत्य है कि सविधान अपनी किसी धारा म राष्ट्रपति का मन्त्रिमण्डल के परामश को मानने के लिए बाध्य नही करता परन्तु सवत्र सविधान म यह विचारधारा अन्तर्निहित (implicit) है कि राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल के परामश और सहयोग से ही काय कर सकता है। डा० अम्बेदकर ने तो सविधान सभा मे स्पष्ट कहा था कि राष्ट्रपति "अपने मन्त्रियो क परामश के विरुद्ध कुछ नही कर सकता और न ही वह उनके परामश के बिना कुछ कर सकता है।" के० सन्थानम का मत था कि 'अपन मन्त्रिया के सहयोग से देश पर शासन करना प्रधान मन्त्री का काय है और राष्ट्रपति को कभी कभी सहायता और परामश देने की आशा दी जा

---

1 Munshi K M The President Under the Indian Constitution, p 2

अनुच्छेद 356 को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने की आवश्यकता है ताकि केन्द्र की कोई भी सत्तारूढ़ सरकार इसका प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्यों के लिए न कर सके। वास्तव, नागरिकों को संवैधानिक उपचारों से वंचित करना निश्चित ही अनुचित एवं अन्यायिक है और कार्यपालिका निरंकुशता की द्योतक है। अतः इसे भी स्पष्ट परिभाषित करने की आवश्यकता है या कम से कम इसका प्रयोग अत्यन्त सीमित होना चाहिए और आर्थिक या सामाजिक अपराधों के लिए इसका प्रयोग नहीं होना चाहिए।

## राष्ट्रपति की स्थिति या क्या राष्ट्रपति एक संवैधानिक अध्यक्ष है या कि वास्तविक ? या क्या राष्ट्रपति अधिनायक बन सकता है

## (Position of the President) or Is President a Constitutional head or a real executive ? or Can President become a *Dictator* ?

राष्ट्रपति की स्थिति संवैधानिक व्याख्याताओं की चर्चा का विषय रही है। वस्तुतः इस सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधारायें पायी जाती हैं। एक विचारधारा माइकेल ब्रेकर, सी० एच० एलेक्जेंड्रोविक्ज, एम० सी० सीतलवाड, मोहन कुमार मंगलम् जैसे लेखकों और प० नेहरू, डा० बी० आर० अम्बेदकर, सर अलादी कृष्णा स्वामी आय्यर, जैसे संविधान निर्माताओं की है जिनका कहना है कि राष्ट्रपति एक संवैधानिक अध्यक्ष है और वह अपनी शक्तियों का प्रयोग स्वयं के विवेक के आधार पर नहीं कर सकता। दूसरी विचारधारा एलन ग्लेडहिल, डी० एन० बनर्जी, के० एम० मुंशी जैसे लेखकों की है जिनका कहना है कि संविधान की कोई धारा राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल का परामर्श मानने के लिए बाध्य नहीं करती और राष्ट्रपति संविधान की उल्लंघना किये बिना सत्तावादी सरकार की स्थापना कर सकती है।

जो लेखक राष्ट्रपति को संवैधानिक अध्यक्ष मानते हैं उनका कहना है कि संविधान भारत में ब्रिटेन की भांति संसदात्मक प्रणाली की स्थापना करता है, अमरीका की भांति अध्यक्षात्मक प्रणाली की नहीं। जैसाकि डा० अम्बेदकर ने संविधान सभा में कहा था कि "अमरीका की तरह भारत में राष्ट्रपति है परन्तु दोनों में केवल नाम की समानता है अन्यथा स्थिति से दोनों भिन्न हैं।" 'राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो ब्रिटेन में सम्राट की है। वह राष्ट्र का प्रधान है, कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, राष्ट्र पर शासन नहीं करता। प्रशासन में उसकी स्थिति औपचारिक उपकरण की है। उसकी स्थिति उस मोहर की भांति है जिसके द्वारा राष्ट्र के निर्णय जाने जाते हैं।" टी० टी० कृष्णामाचारी ने भी कहा था कि जहां तक राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल के पारस्परिक सम्बन्धों का सम्बन्ध है हमने पूर्णतया ब्रिटिश उत्तरदायी शासन प्रणाली को अपनाया है।" सर अलादी कृष्णास्वामी आय्यर ने भी कहा था कि 'भारतीय संविधान ने संसदात्मक कार्यपालिका की संस्था को अपनाया है।' स्वयं के० एम० मुंशी ने, जिनका अब विश्वास

है कि राष्ट्रपति वास्तविक शक्तियों का उपभोग कर सकता है, संविधान सभा में यह स्वीकार किया था कि "आरम्भ से ही अधिकांश सदस्य संघ के लिये मन्त्रिमण्डलात्मक प्रणाली की सरकार का समर्थन कर रहे थे।" पं० नेहरू ने भी संविधान सभा में कहा था कि "राष्ट्रपति की स्थिति महान सत्ता और प्रतिष्ठा की है परन्तु साथ में वह पूर्णतया संवैधानिक अध्यक्ष की है। जब 1959 में डा० राजेन्द्र प्रसाद के इण्डियन ला इन्स्टीट्यूट (Indian Law Institute) के समक्ष दिये गये भाषण से (जिसमें उन्होंने यह विचार व्यक्त किया था कि संविधान की कोई धारा राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् के परामर्श को मानने के लिये बाध्य नहीं करती" और भारत के विद्वान राष्ट्रपति की शक्तियों का विश्लेषण करें) विवाद उत्पन्न हुआ तो प्रधान मन्त्री नेहरू ने स्पष्ट करते हुए कहा कि "हम स्वयं उसके पास (राष्ट्रपति के पास) परामर्श के लिये जाते हैं परन्तु निर्णय लेने का काम मन्त्रिमण्डल का है।" "राष्ट्रपति सर्वथा निज अध्यक्ष है और इसी हैसियत से उसने हमेशा काम किया है।"[1]

राष्ट्रपति को संवैधानिक अध्यक्ष मानने वालों का कहना है कि संसदात्मक प्रणाली में दोहरी कार्यपालिका होती है—नाम मात्र की और वास्तविक। जहां संविधान राष्ट्रपति को कार्यपालिका शक्तियां प्रदान करता है वहां संसदात्मक प्रणाली, जिसकी स्थापना संविधान भारत में करता है, इस बात की मांग करती है कि कार्यपालिका अध्यक्ष अपनी शक्तियों का प्रयोग स्वयं न करे बल्कि प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रि-मण्डल के वे सदस्य करें जिन्हें वास्तविक कार्यपालिका कहा जाता है और जो संयुक्त रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी हैं। इन लेखकों का यह भी कहना है कि संविधान राष्ट्रपति के लिए कोई सुरक्षित क्षेत्र (reserve field) निर्धारित नहीं करता जिस प्रकार कि संविधान का अनुच्छेद 163 (1) राज्य में राज्यपाल के लिए ऐसा सुरक्षित क्षेत्र निर्धारित करता है जिसमें राज्यपाल विवेकाधिकार के अन्तर्गत कार्य कर सकता है। इन लेखकों का यह कहना भी सत्य है कि संविधान अपनी किसी धारा में राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं करता परन्तु सर्वत्र संविधान में यह विचारधारा अन्तर्निहित (implicit) है कि राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल के परामर्श और सहयोग से ही कार्य कर सकता है। डा० अम्बेदकर ने तो संविधान सभा में स्पष्ट कहा था कि राष्ट्रपति "अपने मन्त्रियों के परामर्श के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता और न ही वह उनके परामर्श के बिना कुछ कर सकता है।" के० सन्थानम का मत था कि "अपने मन्त्रियों के सहयोग से देश पर शासन करना प्रधान मन्त्री का कार्य है और राष्ट्रपति को कभी-कभी सहायता और परामर्श देने की आशा दी जा

---

1 Munshi K M The President Under the Indian Constitution, p 2

सकती है ।"[1] इनका कहना है कि साधारण शक्तियों का प्रयोग तो दूर राष्ट्रपति असाधारण (संकटकालीन) शक्तियों का प्रयोग भी मंत्रिमण्डल के परामर्श पर ही कर सकता है । जैसाकि नेहरू जी ने कहा था कि "हमने उसे कोई वास्तविक शक्तियां प्रदान नहीं की यद्यपि उसकी स्थिति को सत्तावान और प्रतिष्ठित बनाया गया है ।" इन लेखकों का यह भी कहना है कि कोई भी राष्ट्रपति अपने अस्तित्व का खतरा मोल लेकर ही मंत्रिमण्डल से संघर्ष मोल ले सकता है क्योंकि किसी भी महत्वाकांक्षी राष्ट्रपति को संवैधानिक बनाये रखने के लिए महाभियोग की प्रक्रिया विद्यमान है और महाभियोग की प्रक्रिया संवैधानिक होते हुए भी यह राजनीतिक प्रक्रिया है जिसका प्रयोग राजनीतिक वातावरण में किया जायेगा वैधानिक वातावरण में नहीं । न्यायालय इस बात का निर्धारण नहीं करती कि महाभियोग के अस्त्र का किस प्रकार से प्रयोग किया गया है । इन लेखकों का तो यह भी मत है कि राष्ट्रपति के लिए सत्तावादी सरकार की स्थापना करना तो दूर वह मंत्रिमण्डलात्मक जैसे अधिनायकतन्त्र को भी स्थापित नहीं कर सकता क्योंकि संसद का नियन्त्रण उस पर सदा बना रहता है । राष्ट्रपति कभी संसद की अनुमति के बिना कार्य नहीं कर सकता क्योंकि प्रत्येक कार्य में होने वाले धन के खर्चे के लिए संसद की अनुमति की आवश्यकता है । इनका यह भी कहना है कि सेनाओं के प्रयोग की बात अधिनायकों के भाग्य से अनभिज्ञता का परिचायक है वास्तविकताओं का नहीं । भारत देश के सर्वोच्च न्यायालय ने भी राम साहब राम जवाया कपूर बनाम पंजाब राज्य (1955) के मुकदमे में राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति को ही स्वीकार किया था ।

दूसरी विचारधारा उन लेखकों की है जो राष्ट्रपति को संवैधानिक अध्यक्ष मानने के लिए तैयार नहीं । ये लेखक कहते हैं कि संविधान की धारा 53 (1) संघ की सारी कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित करती है जिसका प्रयोग वह प्रत्यक्षतः
या तो स्वयं और अप्रत्यक्षतः ... और कर्मचारियों के माध्यम
से कर सकता है । ये लेखक ... मन्त्री के नेतृत्व में एक
मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था क ... सहयोग और परामर्श
देता है परन्तु इस ... उस ... को
मानने के लिए ... कि
वैधानिक दृष्टि
एलन ग्लैडहिल
प्रयोग अपने विवे
की कुछ शक्तियां र

1 K ...
2 Munshi, ...

है। इन लेखकों का यह कहना है कि राष्ट्रपति जब अपने पद की शपथ ग्रहण करता है तो वह संविधान की रक्षा करने, और जनता के हितों की रक्षा करने के लिए शपथ लेता है न कि मंत्रिमण्डल के परामर्श को मानने की शपथ लेता है। इन लेखकों का कहना है कि भारत एक संघीय राज्य है और जब कभी केन्द्रीय मंत्रिमण्डल अपने दलीय हितों के कारण राष्ट्रपति को ऐसा परामर्श देता है जो कि संघीय ढांचे के विरुद्ध है तो राष्ट्रपति ऐसे परामर्श को मानने से इन्कार कर सकता है। जैसाकि एम० वी० पायली ने कहा है कि "यदि राज्य मंत्रिमण्डल को पदच्युत करने का केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का परामर्श संकीर्ण राजनीतिक और दलीय भावनाओं से प्रेरित है तो क्या राष्ट्रपति उस परामर्श को मानने के लिए बाध्य है।" ये लेखक यह भी कहते है कि संविधान नागरिकों को मूल अधिकार भी प्रदान करता है और जब मंत्रिमण्डल लोकतान्त्रिक ढांचे को नष्ट करने के लिए राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों का दुरुपयोग करे तो क्या राष्ट्रपति एक निर्जीव दर्शक की तरह मंत्रिमण्डल को निरंकुश बनने की आज्ञा दे सकता है? इन लेखकों का कहना है कि संविधान निर्माता जब राष्ट्रपति से राष्ट्र के हितों की रक्षा करने की अपेक्षा करते हैं तो उससे दलीय हितों की रक्षा करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः जब कभी केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ऐसा परामर्श देता है जो संवैधानिक भावनाओं, संघीय ढांचे और राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध है तो राष्ट्रपति ऐसी स्थिति में केवल 'शान्त, निष्क्रिय दर्शन' या रबर की मोहर बन कर नहीं रह सकता। ये लेखक यह भी कहते है कि संविधान राष्ट्रपति को प्रधान मंत्री से सूचनायें प्राप्त करने का अधिकार देता है और अनुच्छेद 78 के अनुसार वह इस बात की मांग कर सकता है कि किसी एक मन्त्री के निर्णय को समूचे मन्त्रिमण्डल के समक्ष रखा जाये।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि दोनों विचारधाराओं में भिन्नता होने का मूल कारण अनुच्छेद 53 (1), 74 (1), 75 (2) और 76 (3) की भाषा है। जहां अनुच्छेद 53 (1) संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति को सौंपता है और जहां अनुच्छेद 74 (1) मे 'सहायता और परामर्श' (aid and advice) के सूत्र अन्तिम निर्णय को राष्ट्रपति के हाथों में छोड़ता है और जहां अनुच्छेद 75 (2) मन्त्रियों को राष्ट्रपति के प्रसाद (pleasure) पर निर्भर बनाता है वहां अनुच्छेद 75 (3) मंत्रिमण्डल को संयुक्त रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी बनाता है। वस्तुतः अनुच्छेद 75 (3) राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता क्योंकि उत्तरदायित्व वास्तविक सत्ता की मांग करता है और सत्ता के बिना कोई उत्तरदायित्व हो नहीं सकता। दूसरे, संविधान राष्ट्रपति को अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं बताता। तीसरे, मन्त्रिमण्डल एक साथ राष्ट्रपति और लोक सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता। वस्तुतः स्थिति यह है कि मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति के प्रसाद पर निर्भर होते हुए भी लोक सभा के बहुमत के विश्वास पर निर्भर करता है और जब तक किसी मन्त्रिमण्डल को लोक सभा में बहुमत का विश्वास प्राप्त है तब

सकती है।"[1] इनका कहना है कि साधारण शक्तियों का प्रयोग तो दूर राष्ट्रपति असाधारण (संकटकालीन) शक्तियों का प्रयोग भी मंत्रिमण्डल के परामर्श पर ही कर सकता है। जैसाकि नेहरू जी ने कहा था कि "हमने उसे कोई वास्तविक शक्तियां प्रदान नहीं की यद्यपि उसकी स्थिति को सत्तावान और प्रतिष्ठित बनाया गया है।" इन लेखकों का यह भी कहना है कि कोई भी राष्ट्रपति अपने अस्तित्व का खतरा मोल लेकर ही मन्त्रिमण्डल से संघर्ष मोल ले सकता है क्योंकि किसी भी महत्वाकांक्षी राष्ट्रपति को संवैधानिक बनाये रखने के लिए महाभियोग की प्रक्रिया विद्यमान है और महाभियोग की प्रक्रिया संवैधानिक होते हुए भी यह राजनीति प्रक्रिया है जिसका प्रयोग राजनीतिक वातावरण में किया जायेगा संवैधानिक वातावरण में नहीं। न्यायालय इस बात का निर्धारण नहीं करती कि महाभियोग के अस्त्र का किस प्रकार से प्रयोग किया गया है। इन लेखकों का तो यह भी मत है कि राष्ट्रपति के लिए सत्तावादी सरकार की स्थापना करना तो दूर वह मंत्रिमण्डलात्मक जैसे अधिनायकतन्त्र को भी स्थापित नहीं कर सकता क्योंकि संसद का नियन्त्रण उस पर सदा बना रहता है। राष्ट्रपति कभी संसद की अनुमति के बिना कार्य नहीं कर सकता क्योंकि प्रत्येक कार्य में होने वाले धन के खर्चे के लिए संसद की अनुमति की आवश्यकता है। इनका यह भी कहना है कि सेनाओं के प्रयोग की बात अधिनायकों के भाग्य से अनभिज्ञता का परिचायक है वास्तविकताओं का नहीं। भारत देश के सर्वोच्च न्यायालय ने भी राय साहब राम जवाया कपूर बनाम पंजाब राज्य (1955) के मुकदमे में राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति को ही स्वीकार किया था।

दूसरी विचारधारा उन लेखकों की है जो राष्ट्रपति को संवैधानिक अध्यक्ष मानने के लिए तैयार नहीं। ये लेखक कहते हैं कि संविधान की धारा 53 (1) संघ की सारी कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित करती है जिसका प्रयोग वह प्रत्यक्षतः या तो स्वयं और अप्रत्यक्षतः अपने अधीनस्थ अधिकारियों और कर्मचारियों के माध्यम से कर सकता है। ये लेखक कहते हैं कि धारा 74 (1) प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में एक मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था करता है जो राष्ट्रपति के कार्यों में सहयोग और परामर्श देता है परन्तु इस धारा में या अन्य किसी धारा में राष्ट्रपति को उस परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं किया गया। जैसाकि डा० डी० एन० बनर्जी ने कहा है कि वैधानिक दृष्टि से राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं। एलन ग्लैडहिल का मत है कि राष्ट्रपति के पास वास्तविक शक्तियां हैं और वह उनका प्रयोग अपने विवेक के आधार पर कर सकता है। के०एम० मुन्शी का मत है कि राष्ट्रपति की कुछ शक्तियां ऐसी हैं जो मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण से परे हैं (Supra ministerial)[2]

1 K Santhanam, C A D VII, p 1153

2 Munshi, K M Ibid p-p 45 46

है । इन लेखकों का यह कहना है कि राष्ट्रपति जब अपने पद की शपथ ग्रहण करता है तो वह संविधान की रक्षा करने, और जनता के हितों की रक्षा करने के लिए शपथ लेता है न कि मन्त्रिमण्डल के परामर्श को मानने की शपथ लेता है। इन लेखकों का कहना है कि भारत एक संघीय राज्य है और जब कभी केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल अपने दलीय हितों के कारण राष्ट्रपति को ऐसा परामर्श देता है जो कि संघीय ढांचे के विरुद्ध है तो राष्ट्रपति ऐसे परामर्श को मानने से इन्कार कर सकता है। जैसाकि एम० वी० पायली ने कहा है कि "यदि राज्य मन्त्रिमण्डल को पदच्युत करने का केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का परामर्श संकीर्ण राजनीतिक और दलीय भावनाओं से प्रेरित है तो क्या राष्ट्रपति उस परामर्श को मानने के लिए बाध्य है।" ये लेखक यह भी कहते हैं कि संविधान नागरिकों को मूल अधिकार भी प्रदान करता है और जब मन्त्रिमण्डल लोकतान्त्रिक ढांचे को नष्ट करने के लिए राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों का दुरुपयोग करे तो क्या राष्ट्रपति एक निर्जीव दर्शक की तरह मन्त्रिमण्डल का निरंकुश बनने की आज्ञा दे सकता है? इन लेखकों का कहना है कि संविधान निर्माता जब राष्ट्रपति से राष्ट्र के हितों की रक्षा करने की अपेक्षा करते हैं तो उससे दलीय हितों की रक्षा करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः जब कभी केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ऐसा परामर्श देता है जो संवैधानिक भावनाओं, संघीय ढांचे और राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध है तो राष्ट्रपति ऐसी स्थिति में केवल शान्त, निष्क्रिय दर्शक या रबर की मोहर बन कर नहीं रह सकता। ये लेखक यह भी कहते हैं कि संविधान राष्ट्रपति को प्रधान मन्त्री से सूचनायें प्राप्त करने का अधिकार देता है और अनुच्छेद 78 के अनुसार वह इस बात की मांग कर सकता है कि किसी एक मन्त्री के निर्णय को समूचे मन्त्रिमण्डल के समक्ष रखा जाय।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि दोनों विचारधाराओं में भिन्नता होने का मूल कारण अनुच्छेद 53 (1), 74 (1), 75 (2) और 76 (3) की भाषा है। जहां अनुच्छेद 53 (1) संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति को सौंपता है और जहां अनुच्छेद 74 (1) में "सहायता और परामर्श" (aid and advice) के सूत्र अन्तिम निर्णय को राष्ट्रपति के हाथों में छोड़ता है और जहां अनुच्छेद 75 (2) मन्त्रियों को राष्ट्रपति के प्रसाद (pleasure) पर निर्भर बनाता है वहां अनुच्छेद 75 (3) मन्त्रिमण्डल को संयुक्त रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी बनाता है। वस्तुतः अनुच्छेद 75 (3) राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता क्योंकि उत्तरदायित्व वास्तविक सत्ता की मांग करता है और सत्ता के बिना कोई उत्तरदायित्व हो नहीं सकता। दूसरे, संविधान राष्ट्रपति को अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं बताता। तीसरे, मन्त्रिमण्डल एक साथ राष्ट्रपति और लोक सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता। वस्तुतः स्थिति यह है कि मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति के प्रसाद पर निर्भर होते हुए भी लोक सभा के बहुमत के विश्वास पर निर्भर करता है और जब तक किसी मन्त्रिमण्डल को लोक सभा में बहुमत का विश्वास प्राप्त है

तक कोई राष्ट्रपति उसे पदच्युत नही,क र सकता और यदि कोई महत्वाकाक्षी राष्ट्रपति ऐसा करता है तो वह सवधानिक सकट और महाभियोग का खतरा मोल लेकर ही ऐसा कर सकता है।

यह सत्य है कि सविधान की कोई धारा राष्ट्रपति का मन्त्रिमण्डल के परामश को मानने के लिए बाध्य नही करती परन्तु ससदात्मक प्रणाली का सारा ढाचा ही, और यही प्रणाली भारत मे भी अपनाई गयी है, अभिसमयो पर आधारित है। यदि सविधान निर्माता चाहते तो वे इन प्रथाओ को भी उपबन्धित कर सकते थे परन्तु वे सविधान को इतना लचीला बनाये रखना चाहते थे कि वह समयानुकूल अपने आप को ढाल ले अत सारे सविधान म अन्तर्निहित होते हुए भी सविधान निर्माताओ ने इन्हे उपबन्धित नही किया।

एक परिस्थिति म राष्ट्रपति की स्थिति अन्य महत्त्वपूण और कुछ हद तक निर्णायक भी सिद्ध हो सकती है। यह स्थिति तब उत्पन्न हो सकती है जब किसी दल को ससद मे ठोस बहुमत प्राप्त न हो और यह स्थिति भारत जसे बहुदलीय देश मे सम्भव भी है।[1] लोक सभा म किसी दल को बहुमत प्राप्त न होन की स्थिति मे या जब कोई बहुमत दल दलीय फूट या अनुशासनहीनता के कारण किसी नेता को प्रस्तुत करने म असमथ रहे तो राष्ट्रपति ऐसी स्थिति मे सन्तुलन को अपन पक्ष मे कर सकता है और ऐसे व्यक्ति को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त कर सकता है जो उसकी इच्छाओ का पालन करे। परन्तु अभी तक ऐसी कोई स्थिति उत्पन्न नही हुई क्योकि केन्द्र म काग्रेस दल का पूण बहुमत रहा है। बहुत कुछ राष्ट्रपति के व्यक्तित्व के ऊपर भी निभर करता है और उन व्यक्तिगत सम्बन्धो पर भी जो किसी प्रधान मन्त्री के राष्ट्रपति के साथ है।

पिछले पच्चीस वर्षों का सवधानिक इतिहास राष्ट्रपति के सवधानिक अध्यक्ष होने का प्रमाण है। डा० राजेन्द्र प्रसाद, डा० एस० राधाकृष्णन, डा० जाकिर हुसन तथा श्री वी० वी० गिरि सभी न सवधानिक अध्यक्ष के रूप म ही काय किया। श्री फखरुद्दीन अली अहमद स भी यही आशा की जाती है कि वे सवैधानिक अध्यक्ष के रूप मे ही काय करेंगे।

उपयुक्त वणन स स्पष्ट है कि भारतीय राष्ट्रपति एक सवधानिक अध्यक्ष है। वह सम्मानित और प्रतिष्ठित पद है। वह वास्तविक शक्तियो का उपभोग नही करता वह अधिनायक नही बन सकता।

### क्या भारतीय राष्ट्रपति ब्रिटिश सम्राट की भाति गौरवपूण शून्य है?

यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर उपयुक्त वणन म स्पष्ट है फिर भी विद्यार्थियो

1 यद्यपि केन्द्र मे ऐसी कोई स्थिति अभी तक उत्पन्न नही हुई परन्तु राज्यो म 1967 के चुनावो के बाद ऐसी स्थिति अनेक बार उत्पन्न हुई जिससे राज्यपाल की भूमिका उभर कर सामने आयी।

की सुविधा के लिये उसे यहा क्रम से लिख देना उपयोगी होगा। वस्तुत दोना ससदात्मक प्रणाली के सवधानिक अध्यक्ष होते हुए भी भारतीय राष्ट्रपति को ब्रिटिश सम्राट की भाति गौरवपूर्ण शून्य, नाममात्र का अधिकारी या मिट्टी के महादव "शक्तिहीन अधिकारी" "सवधानिक पहचान" आदि की सज्ञा नही दी जा सकती। भारतीय राष्टपति ब्रिटिश सम्राट की भाति सूचना प्राप्त करन,परामश दने, प्रात्साहन दने तथा चेतावनी देने की शक्तिया का प्रयोग करने के साथ कुछ ऐसी शक्तिया का उपभोग करता है जिसकी ब्रिटिश सम्राट कल्पना नही कर सकता। दोना मे भिन्नताओ का और भारतीय राष्ट्रपति की विशिष्ट शक्तियो का निम्न बिदुओ द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है—

(i) भारतीय राष्टपति का पद ब्रिटिश सम्राट की भाति अभिसमयो द्वारा सचालित नही होता। भारतीय सविधान राष्ट्रपति के पद की उत्पत्ति करता है। यह ब्रिटिश की भाति पतृक पद नही, निर्वाचित पद है। स्वाभाविक ह कि राष्ट्रपति का *निर्वाचन होने से उसे अपन निवाचन मण्डल के सदस्यो स भी सम्पक बनाये रखन की आवश्यकता होती है। ब्रिटिश सम्राट को किसी निवाचन मण्डल को प्रसन्न करन की* आवश्यकता नही।

(ii) भारतीय सविधान लिखित है और सविधान राष्ट्रपति को केन्द्रीय सरकार की सारी कायपालिका शक्तिया प्रदान करता ह जिनका प्रयाग राष्ट्रपति प्रत्यक्षत स्वय या अप्रत्यक्षत अपन अधीनस्थ अधिकारिया और कमचारिया के माध्यम स कर सकता है। दूसरी ओर ब्रिटिश सविधान अलिखित है और ब्रिटिश सम्राट की शक्तियो का कोई सवधानिक आधार नही। यही कारण है कि ब्रिटिश सम्राट भारतीय राष्ट्रपति की तुलना मे कम शक्तिशाली है।

(iii) भारतीय राष्ट्रपति एक सघीय राज्य का राज्याध्यक्ष है ब्रिटिश सम्राट की भाति एकात्मक राज्य का राज्याध्यक्ष नही। इसका अथ यह है कि जब कभी केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति को कोई ऐसा परामश देता है जो सघीय ढाचे को दुर्बल करता है या सविधान द्वारा प्रदत्त राज्यो की शक्तियो का समाप्त करता है तो राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल के ऐसे परामश को मानने से इन्कार कर सकता है। दूसरी ओर ब्रिटिश सम्राट के पास ऐसा कोई क्षेत्र ही नही।

(iv) भारतीय राष्ट्रपति अपने पद की शपथ सविधान की रक्षा और भारतीय जनता की सेवा करने के लिय लता है। इसका अथ यह है कि जब कभी केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल सविधान की उल्लघना करता है या नागरिको के अधिकारो को नष्ट करन और निरकुशता स्थापित करन के लिय परामश दना है तो राष्टपति एस परामश का मानने मे इन्कार कर सकता है। इतना ही नही भारतीय राष्टपति विधेयका का स्वीकार कर सकता है या अस्वीकार कर सकता है या पुनर्विचार के लिय ससद को वापस भेज सकता है। राष्ट्रपति अनुच्छेद 78 के अनुसार प्रधानमन्त्री स यह माग कर सकता है कि वह एक मन्त्री के निणय का समूचे मन्त्रिमण्डल के समक्ष

करे । दूसरी ओर ब्रिटिश सम्राट एसा नही कर सकता । उसके सम्बध म तो यह कहावत है कि यदि ससद के माध्यम से मन्त्रिमण्डल उसके समक्ष उसी की मृत्यु के आदेश प्रस्तुत करता हे तो सम्राट को उस पर हस्ताक्षर करने पडते हैं ।

(v) भारत मे सकटकालीन परिस्थितिया का एक ऐसा क्षेत्र है जिसम वह अपनी इच्छा से काय कर सकता है और मन्त्रिमण्डल के परामश को मानने से इन्कार कर सकता है । दूसरी ओर ब्रिटिश सम्राट के पास ऐसा कोइ अधिकार क्षेत्र नही ।

उपयुक्त वणन से स्पष्ट है कि भारतीय राष्ट्रपति को ब्रिटिश सम्राट की भाति गौरवपूण शू य नही कहा जा सकता क्योकि सविधान उसे एसा क्षेत्र प्रदान करता है जहा वह स्वय काय कर सकता है ।

## उप राष्ट्रपति

### (The Vice President)

भारतीय सविधान अनुच्छेद 63 मे उप राष्ट्रपति के पद की व्यवस्था करता है परन्तु भारतीय प्रशासन म उसकी भूमिका तुलनात्मक दृष्टि से प्राय नगण्य है । परन्तु इसका यह अथ नही कि उप राष्ट्रपति का पद व्यथ है या अनावश्यक है । उसका पद भी, जसाकि पायली ने लिखा है, 'सम्मान और प्रतिष्ठा का पद है ।

**उप राष्ट्रपति का निर्वाचन**—उप राष्ट्रपति के निवाचन की व्यवस्था सविधान के अनुच्छेद 68 (1) म की गयी है । इस अनुच्छेद के अनुसार उप राष्ट्रपति का निवाचन अप्रत्यक्ष रूप से, गुप्त मतदान प्रणाली द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल प्रणाली के आधार पर एक निर्वाचन मण्डल द्वारा किया जाता है । इस निर्वाचन मण्डल म ससद के दोनो सदना के सदस्य सम्मिलित होते है ।

सविधान के अनुसार उपराष्ट्रपति का निर्वाचन दोनो सदनो की सयुक्त बठक मे होना निश्चित हुआ था परन्तु सन् 1961 के ग्यारहवें सशोधन द्वारा 'सयुक्त बठक' की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया है ।

उप राष्ट्रपति के निर्वाचन की दो विशेषतायें है जो उसके निवाचन को राष्ट्रपति के निर्वाचन से भिन्न करती हैं । प्रथम उप राष्ट्रपति के निर्वाचन म सघ के एककों अर्थात राज्य विधान सभाओ का कोई हाथ नही और दूसरे उप राष्ट्रपति के निवाचन म ससद के दोनो सदनो के सभी सदस्य अर्थात् निवाचित और मनोनीत दोना सदस्य भाग लेते हैं जबकि राष्ट्रपति के निर्वाचन मे केवल निवाचित सदस्य ही भाग लेते ह ।

**उप राष्ट्रपति पद के लिये योग्यतायें**—कोई भी व्यक्ति उप राष्ट्रपति पद के लिय तभी प्रत्याशी बन सकता है जब उसके पास निम्न योग्यतायें हो—

(i) वह भारत का नागरिक हो

(ii) वह 35 वष की आयु पूरी कर चुका हो,

(iii) वह राज्य सभा का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो,

(iv) वह सघ सरकार, किसी राज्य सरकार या किसी स्थानीय सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर विद्यमान न हो,

(v) वह ससद या किसी राज्य विधान सभा के किसी सदन का सदस्य न हो। यदि कोई ससद सदस्य या राज्य विधान सभा का कोई सदस्य उप राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित हो जाता है तो उसकी सदस्यता उस समय से समाप्त समझी जाती है जिस समय से वह उप राष्ट्रपति का पद ग्रहण करता है। उप-राष्ट्रपति दोना पदो को (सदन की सदस्यता और उपराष्ट्रपति के पद को) एक साथ नही रख सकता। उप राष्ट्रपति पद के लिये निर्वाचित होने के लिये भ्रष्ट आरोपो की जाच, जिसे पराजित प्रत्याशी या निर्वाचक मण्डल के कोई 10 सदस्य सयुक्त याचिका मे प्रस्तुत कर सकते हैं, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की जा सकती है।

**कायकाल**—उप राष्ट्रपति के पद का कायकाल 5 वष है। सविधान इस बात पर शान्त है कि क्या राष्ट्रपति पुर्ननिवाचन के लिये प्रत्याशी बन सकता है या नही। परन्तु डा० एस० राधाकृष्णन दोबारा उप राष्ट्रपति पद के लिय निर्वाचित हुए थ। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रथा का अनुसरण किया जा सकता है।

उप राष्ट्रपति समय मे पूव अपनी स्वेच्छा से अपन पद से त्याग पत्र दे सकता है। उसे समय से पूव राज्य सभा के प्रस्ताव द्वारा जिसे राज्य सभा के कुल सदस्यो के पूण बहुमत से पारित किया गया हो और जिसे लोक सभा ने स्वीकार कर लिया हो, पदच्युत किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार का प्रस्ताव 14 दिन के पूव नोटिस पर ही पारित किया जा सकता है।

सविधान इस बात के लिये काई समय निधारित नही करता कि यदि उप-राष्ट्रपति के पद त्याग से या पदच्युति से पद रिक्त हो जाय तो उसकी पूर्ति के लिये कब निर्वाचन कराय जायें। सविधान कवल इस बात की व्यवस्था करता है कि पद रिक्त होने की दशा म 'जितना शीघ्र हो" (as soon as possible) निर्वाचन कराय जायें।

**वेतन**—उप राष्ट्रपति का उप राष्ट्रपति के रूप म कोई वेतन प्राप्त नही होत। उसे राज्य सभा के पदेन (Ex-officio) अध्यक्ष होने के नाते 2,500 रु० प्रति माह वेतन के रूप म प्राप्त होते है।

**उप राष्ट्रपति की शक्तिया व काय**—यद्यपि पूवता क्रम (Order of Precedence) मे *उप-राष्ट्रपति का स्थान दूसरे नम्बर पर है, अर्थात राष्ट्रपति के बाद* उसका स्थान है, परन्तु फिर भी सविधान उसे कोई महत्वपूण कार्य नही सौंपता। उप-राष्ट्रपति के कार्यों का निम्न दो भागा म बाटा जा सकता है—

(i) प्रथम प्रकार के उसके काय तब उत्पन्न होते हैं जब राष्ट्रपति पद मृत्यु, त्यागपत्र, पदच्युति या बीमारी, विदेश यात्रा या अन्य किसी कारण से लम्बी अनुपस्थिति के कारण रिक्त होता है। इस स्थिति मे उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति पद पर अधिक से अधिक 6 महिने तक स्थानापन्न के रूप मे काय (officiate) कर सकता है। भारतीय

संविधान इस बात की स्पष्ट व्यवस्था करता है कि राष्ट्रपति का पद रिक्त होने पर छः महीने के अन्दर नव राष्ट्रपति का निर्वाचन हो जाना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि इस स्थिति मे भारतीय उपराष्ट्रपति की स्थिति अमरीकी उपराष्ट्रपति से दुर्बल एवं महत्वहीन है क्योंकि जहा अमरीकी उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति पद के रिक्त होने पर शेष अवधि के लिये राष्ट्रपति के पद का भार सम्भालता है वहाँ भारतीय उपराष्ट्रपति पद को अधिक से अधिक 6 महीने तक सम्भाल सकता है। स्पष्ट है कि जहा अमरीकी उप राष्ट्रपति का पद कुछ समथता (potentiality) रखता है वहा भारतीय उप राष्ट्रपति का पद कम समथता का है। भारतीय उप राष्ट्रपति अन्तरिम काल के लिये अन्तरिम व्यवस्था है। (interim arrangement for interim period)।

भारत म इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जब उप-राष्ट्रपति ने राष्ट्रपति पद पर स्थानापन्न के रूप मे काय (officiate) किया। उदाहरणतया जून 1960 म डा० राजेन्द्र प्रसाद की अनुपस्थिति म डा० एस राधाकृष्णन ने काय किया, फिर जुलाई 1961 मे उन्होंने राष्ट्रपति पद पर काय किया। इसी प्रकार वी० वी० गिरि ने डा० जाकिर हुसैन की मृत्यु पर राष्ट्रपति पद के लिये काय किया। जब उप राष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप मे काय करता है तो वह उप-राष्ट्रपति के कार्यों को सम्पन्न नही करता और उसे राष्ट्रपति के वेतन, भत्ते तथा उन्मुक्तिया प्राप्त होती हैं जो निर्वाचित राष्ट्रपति को प्राप्त होती हैं।

(ii) दूसरी प्रकार के उसके काय पदेन (ex officio) उत्पन्न होते हैं अर्थात उप राष्ट्रपति होने के नाते वह राज्य सभा का प्रधान अधिकारी अथात सभापति (Presiding officer or Chairman) होता है और इस रूप म वह सारे काय करता है जो सदन का अध्यक्ष या सभापति करता है। उप राष्ट्रपति को राज्य सभा का सभापति होने के रूप मे ही 2,500 रु० मासिक वेतन के रूप म प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त दोना कार्यों के अतिरिक्त उप राष्ट्रपति से यह आशा की जाती है कि वह राष्ट्रपति के उन कार्यों मे सहयोग देगा जिन पर राष्ट्रपति उससे सहयोग की अपेक्षा करता है।

**उप राष्ट्रपति के निर्वाचन और कार्यों मे अस्पष्टतायें एव त्रुटियां**—उप राष्ट्रपति के निर्वाचन और कार्यों म कुछ अस्पष्टतायें और त्रुटियां पायी जाती हैं जिन्हें निम्न बिन्दुओं द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है—

(i) उप राष्ट्रपति के निर्वाचन म सघ के एककों का कोई भाग नही यह स्थिति उस समय अधिक अखरती है जब उप राष्ट्रपति राष्ट्रपति पद पर स्थानापन्न के रूप म काय (officiate) करता है।

(ii) यह सत्य है कि उपराष्ट्रपति के निर्वाचन म ससद के दोना सदन भाग लेते हैं परन्तु यहाँ भी लोक सभा की इच्छा अधिक प्रभावपूर्ण और निर्णायक होती है क्योंकि लोकसभा के सदस्यों की संख्या राज्य सभा के सदस्यों की संख्या से दुगुनी

से भी अधिक है। दूसरे शब्दो मे राज्य सभा को अपना अध्यक्ष चुनने का भी पूरा अधिकार नही। यह राज्य सभा की निम्न स्थिति को अभिव्यक्त करता है।

(iii) उप-राष्ट्रपति को पदच्युत करने की विधि प्राय सरल है। उसकी पदच्युति के लिए राज्य सभा के कुल सदस्यो के पूर्ण बहुमत से पारित प्रस्ताव, जिस पर लोक सभा सहमत हो, और 14 दिन के नोटिस की आवश्यकता है।

(iv) राज्य सभा को अपने सभापति चुनने के लोकतान्त्रिक अधिकार से भी वंचित कर दिया गया है क्योकि उप राष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन (ex officio) सभापति होता है।

(v) उप राष्ट्रपति की शक्तिया प्राय नगण्य है। उसे "फालतू महाराज" (His Superfluous Highness) की सज्ञा दी जाती है।

**क्या भारतीय उपराष्ट्रपति का पद फालतू है ?**

क्योकि भारतीय उप-राष्ट्रपति की शक्तिया और काय प्राय नगण्य है अत कुछ आलोचको का कहना है कि उप राष्ट्रपति का पद फालतू है। उनका कहना है कि इसमे या तो सुधार होना चाहिए या इसे समाप्त कर देना चाहिए। हरिमोहन जैन का मत है कि उप राष्ट्रपति के पद की शक्तियो और कार्यों को सविधान के पन्नो में ढूंढना व्यर्थ है क्योकि उसकी कोई शक्तिया है ही नही। वह पूर्णतया सत्ताविहीन (non entity) है। उसके कोई अपने काय नही। वह केवल नाम मात्र का अध्यक्ष है।'सविधान के प्रतिष्ठित भाग के रूप मे वह राष्ट्रपति द्वारा आच्छादित (over shadowed) है। इसलिए वह नागरिको की दिलचस्पी और आकर्षण का केन्द्र नही।"[1]

यद्यपि आलोचको के उपयुक्त कथन मे कुछ सत्य की मात्रा हो सकती है परन्तु यह कहना गलत होगा कि उपराष्ट्रपति का पद पूर्णतया व्यर्थ (superfluous) है और उसे या तो अधिक शक्तियो से विभूषित करना चाहिए या समाप्त कर देना चाहिए। वस्तुत उप राष्ट्रपति का पद भी प्रतिष्ठा और सम्मान का पद है और उसके द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण एव लाभकारी काय सम्पन्न किये जाते है जिन्हे निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। उप राष्ट्रपति के ये काय ही उसकी उपयोगिता और प्रतिष्ठा को स्पष्ट करते है—

(i) उप राष्ट्रपति का पद राष्ट्रपतिय उत्तराधिकार (Presidential succession) की समस्या का समाधान करता है अर्थात् किसी कारण वश यदि राष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाता है तो वह उसकी तत्काल पूर्ति करता है।

(ii) उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के कार्यों मे एक सहायक के रूप मे काय करता है। इससे जहा उप-राष्ट्रपति को राष्ट्रपति पद के कार्यों की कुछ झलक प्राप्त होती है जो भविष्य मे उसके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है वहा वह राष्ट्रपति के कार्यों

1 See Jain, Hari Mohan The Union Executive, pp 152 153

मे सहायता कर उसकी काय कुशलता मे वृद्धि करता है। वस्तुत उप-राष्टपति का पद भविष्य के राष्ट्रपतियो के लिए एक प्रशिक्षण पद के रूप मे लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

(iii) उप-राष्ट्रपति का पद क्षेत्रीय सन्तुलन को बनाये रखने मे सहायक है। अर्थात् यदि राष्ट्रपति उत्तर भारत से है तो उपराष्ट्रपति को दक्षिणी भारत से लेकर क्षेत्रीय सतुलन को बनाये रखा जा सकता है।

## स्वतन्त्र राष्ट्रपति का सिद्धान्त
## (The Doctrine of Independent President)

ससदात्मक शासन प्रणाली के अन्तगत स्वतन्त्र कायपालिका अध्यक्ष की कल्पना करना सवैधानिक सकट को निमन्त्रण देना है परन्तु फिर भी भारत मे पिछले कुछ वर्षों से स्वतन्त्र राष्ट्रपति (कायपालिका अध्यक्ष) का प्रश्न अत्यधिक चचा का विषय रहा है। स्वतन्त्र राष्ट्रपति का सिद्धान्त तीन मान्यताओ पर आधारित है जो निम्न ह—

(i) सविधान निर्माता राष्ट्रपति को ब्रिटिश सम्राट की भाति "शक्तिहीन पदाधिकारी" या "नाम मात्र" का पदाधिकारी, या "स्वर्णिम शून्य" या "मिट्टी का महादेव" नही बनाना चाहते थे।

(ii) सविधान की कोई भी धारा राष्ट्रपति को मन्त्रि परिषद् के परामश को मानने के लिए बाध्य नही करती।

(iii) यद्यपि सविधान इसका स्पष्ट उल्लेख नही करता फिर भी राष्ट्रपति के पास कार्यों का ऐसा कोई क्षेत्र है जसे दल के नेतृत्व से च्युत प्रधान मन्त्री को पदच्युत करना ससद के बहुमत के विश्वास से गिरे हुए मन्त्रि-परिषद् को पदच्युत करना आदि, जहा वह अपने विवेकाधिकार का प्रयोग कर सकता है।

भारत म स्वतन्त्र राष्ट्रपति के सिद्धान्त को बल देन वाले अन्य अनेक तत्व भी विद्यमान रह हैं जिन्ह निम्न शीषको के अन्तगत अभिव्यक्त किया जा सकता है—

(i) सविधान सभा में अभिव्यक्त की गई शकायें—जो लेखक स्वतन्त्र राष्ट्रपति के सिद्धान्त का समथन करत हैं उनका कहना है कि, सविधान सभा मे ही ये विचार व्यक्त किये गय थे कि सविधान की कोई धारा राष्ट्रपति को मन्त्रि-परिषद के परामश को मानने के लिए बाध्य नही करती अत वह स्वतन्त्र रूप मे काय कर सकता है। एक सदस्य न तो राष्ट्रपति की शक्तियो का विश्लेषण करत हुए कहा था कि वे "उस भरी हुई बन्दूक के समान हैं जिसका प्रयोग किसी समय किया जा सकता है।" अर्थात् इन शक्तियो का प्रयोग कर राष्ट्रपति अधिनायक बन सकता है।

(ii) डा० राजेन्द्रप्रसाद का वक्तव्य—स्वतन्त्र राष्ट्रपति क सिद्धान्त ने वस्तुत प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के उस वक्तव्य म जन्म लिया जो उन्होंने

28 नवम्बर, 1959 को भारतीय कानून संस्था ( Indian Law Insititute) की आधारशिला रखते समय दिया था जिसमें उन्होंने कहा था कि संविधान की कोई धारा राष्ट्रपति के मंत्रिपरिषद के परामर्श को मानने के लिये बाध्य नहीं करती। इतना ही नहीं, उन्होंने विधि वेत्ताओं का सम्बोधित करते हुए यह भी कहा था कि वे 'इस बात का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण करें कि भारतीय राष्ट्रपति की शक्तियां और कार्यों का क्या क्षेत्र है ? ' परन्तु प्रधान मंत्री नेहरू ने राष्ट्रपति के इस वक्तव्य का 'अचिंतित" (Casual) कह कर टाल दिया। उन्होंने यह भी कहा कि राष्ट्रपति एक संवैधानिक अध्यक्ष है।

(iii) **मुंशी सिद्धान्त**—के० एम० मुंशी की रचना "भारतीय संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति (The President under the Indian Constitution, 1963) ने भी स्वतन्त्र राष्ट्रपति के विचार को अत्यधिक बल दिया। इस रचना मे मुंशी ने जिन तर्कों के आधार पर स्वतन्त्र राष्ट्रपति के सिद्धान्त का समर्थन किया उनमे प्रमुख निम्न हैं —

(a) राष्ट्रपति की शक्तियां मंत्रिपरिषद् के नियन्त्रण से परे है ( Supra ministerial) तथा उनके निष्पादन के लिये वह उसके परामर्श का मानने के लिये बाध्य नहीं।

(b) संविधान राष्ट्रपति से अपेक्षा करता है कि वह मंत्रिपरिषद से स्वतन्त्र होकर कार्य करे जैसे अनुच्छेद 78 के अन्तर्गत राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री से सूचनायें प्राप्त कर सकता है, किसी मन्त्री के निर्णय का समूचे मंत्रिपरिषद के समक्ष प्रस्तुत करने की मांग कर सकता है, आदि।

(c) राष्ट्रपति अपने पद की शपथ ग्रहण करते समय संविधान की रक्षा और जनता के हितों के संरक्षण की शपथ लेता है।

(d) कुछ विशेष परिस्थितियों में राष्ट्रपति विवेकाधिकार का प्रयोग कर सकता है।

(e) राष्ट्रपति के अपने उत्तरदायित्व हैं जिनके लिये उस पर महाभियोग लगाया जा सकता है, आदि।

उक्त रचना में मुंशीजी ने इन विचारो को भी व्यक्त किया कि "संविधान निर्माताओं ने राष्ट्रपति को 'फ्रेंच राष्ट्रपति की भांति केवल नाम मात्र का अधिकारी नहीं बताया।"

(iv) '**राष्ट्रीय मतैक्यता** (National Consensus)—राष्ट्रपति पद के लिये राष्ट्रीय मतैक्यता के विचार ने भी स्वतन्त्र राष्ट्रपति के सिद्धान्त को बल दिया। राष्ट्रीय मतैक्यता का सिद्धान्त 1967 में उत्पन्न हुआ जब चौथे चुनाव में अनेक राज्यों में कांग्रेस का सत्ता पर एकाधिकार समाप्त हो गया और केन्द्र में भी उसे बहुत अधिक बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। यद्यपि कांग्रेस ने डा० जाकिर हुसैन के लिये राष्ट्रीय मतैक्यता प्राप्त करने की कोशिश की परन्तु प्रतिपक्ष ने सर्वोच्च न्यायालय में भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश को अपने प्रत्याशी के रूप में खड़ा किया। प्रतिपक्ष का मत

था कि परिवर्तित राजनीतिक स्थिति में राष्ट्रपति पद के लिये स्वतन्त्र रूप से काय करना आवश्यक है। प्रतिपक्ष का मत था कि स्वतन्त्र राष्ट्रपति ही दल से ऊपर उठ कर काय कर सकता है और संविधान तथा संघीय राजनीतिक व्यवस्था की रक्षा कर सकता है। परन्तु राष्ट्रपति चुनाव में कांग्रेस के प्रत्याशी डा० जाकिर हुसन की विजय हुई और स्वत त्र राष्ट्रपति का विचार पिछड गया।

(५) अन्त आत्मा का सिद्धान्त—डा० जाकिर हुसन की 3 मई, 1969 म मृत्यु हो जाने से स्वतन्त्र राष्ट्रपति का प्रश्न फिर सक्रिय हो गया। इस समय कांग्रेस स्वयं बुरी तरह विभक्त थी। कांग्रेस के प्रत्याशी नीलम सजीवा रेड्डी थे। इनके प्रतिद्वन्द्वी मुख्यतया थी वी० वी० गिरि थे जो निदलीय प्रत्याशी थे। इनके अतिरिक्त 13 प्रत्याशी और थे। इस निर्वाचन की विशेषता यह थी कि प्रत्येक प्रत्याशी ने राष्ट्रपति की शक्तियां और स्थिति के सम्बन्ध म 'निजी घोषणा पत्र" (personal manifesto) निकाला। स जीवा रेड्डी सवधानिक अध्यक्ष' के पक्ष में थ वी०वी० गिरि 'निदलीय' रहने के पक्ष म थे आदि। कांग्रेस म उग्र भेद होने के कारण और कांग्रेसी उम्मीदवार से तनाव की सम्भावना को अनुभव करते हुए इन्दिरा गाधी तथा उसके साथियों न अन्त आत्मा के सिद्धान्त के आधार पर वी० वी० गिरि का समर्थन किया। अत सवधानिक इतिहास म पहली बार एक निदलीय राष्ट्रपति पद के लिये निर्वाचित हुआ। यद्यपि श्री वी० वी० गिरि निदलीय रहने के पक्ष म थे परन्तु उनका व्यवहार पूर्णतया सवधानिक रहा।

उपयुक्त वर्णन से स्पष्ट है कि स्वत त्र राष्ट्रपति का सिद्धान्त आज भी बौद्धिक विचारणा का प्रश्न बना हुआ है। कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पी० बी० मुकर्जी का तो यह मत है कि भारतीय राष्ट्रपति का पद एक स्वतन्त्र सस्था है जिसकी स्वत त्र सत्ता है और स्वतन्त्र काय हैं।'[1]

स्वतन्त्र राष्ट्रपति के विचार के विद्यमान होने के बाद भी इसकी कल्पना भयानक है, यह सवधानिक सकटो को जन्म देने वाला है इसकी कल्पना ससदात्मक प्रणाली और संयुक्त उत्तरदायित्व की कब्र पर ही की जा सकती है। जैसाकि प० हृदय नाथ कुजरू न कहा था कि इस सिद्धान्त की स्वीकृति का अर्थ है 'उत्तरदायी सरकार की समाप्ति।[2] वस्तुत कोई भी मन्त्रिपरिषद दो स्वामियों (राष्ट्रपति और ससद) की सेवा नही कर सकती।

स्वतन्त्र राष्ट्रपति का सिद्धान्त सवधानिक सकटो को जन्म दे सकता है

---

1 The Indian President is an independent institution with independent authority and independent functions Mukerji P B The Critical problems of the Indian Constitution p p 45-46

2 The Statesman (New Delhi) May 2 1967 Quoted by Johari J C Ibid, p 246

राष्ट्रपति पद की प्रतिष्ठा और गौरव को क्षति पहुचा सकता है तथा महाभियोग को निमन्त्रण दे सकता हे तथा संवैधानिक संशोधन को निमन्त्रण देकर राष्ट्रपति को वांछित स्थान प्रदान कर सकता हे। कोई भी राष्ट्रपति स्वतन्त्र राष्ट्रपति की कल्पना अपने लिये राजनीतिक खतरा को निमन्त्रण देकर ही कर सकता है।

परन्तु उपयुक्त वर्णन से यह अर्थ भी नही लिया जाना चाहिये कि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद के हाथो मे एक "यन्त्र" (tool) है जिसकी कोई सक्रिय या रचनात्मक भूमिका नही। कोई भी राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद के मित्र, दार्शनिक और मार्ग दर्शक के रूप म काय कर सकता है। वह परामर्श द सकता हे, चेतावनी दे सकता है परन्तु मन्त्रिपरिषद के निर्णयो मे बाधा प्रस्तुत नही कर सकता। उसकी भूमिका न तो "निष्क्रिय अनुमनन की है न आक्रामक चेष्टा की। उसकी भूमिका तो सामन्जस्य और कुशाग्र सहयोग की होनी चाहिय।"[1]

## समीक्षा प्रश्न
## ( Review Questions )

1 भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन की क्या पद्धति है? इसे समय से पूर्व अपने पद से कैसे पदच्युत किया जा सकता है?

2 राष्ट्रपति की शक्तिया, कार्यो और स्थिति का वर्णन कीजिये।

3 राष्ट्रपति की साधारण और असाधारण शक्तियो म क्या अन्तर है? क्या राष्ट्रपति असाधारण शक्तियो का प्रयोग कर अधिनायक बन सकता है?

4 भारत के राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियो की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।

5 'राष्ट्रपति का प्रभाव का है, शक्ति का नही।' इस कथन के सन्दर्भ म राष्ट्रपति की स्थिति का वर्णन कीजिये।

6 राष्ट्रपति राज्य का प्रधान है, कार्यपालिका का नही, वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है उस पर शासन नही।' (डा० अम्बेदकर) समीक्षा कीजिये।

7 भारत के उप राष्ट्रपति का निर्वाचन किस प्रकार होता है? उसकी शक्तिया और काय क्या हैं?

8 'उप राष्ट्रपति का पद निरर्थक है' क्या आप इस कथन से सहमत है? यदि नही तो उपराष्ट्रपति के पद की उपयोगिता का वर्णन कीजिये।

---

1 See Johari, J C Ibid, p 247

अध्याय **9**

# मन्त्रि-परिषद् एव प्रधान मन्त्री

## (The Council of Ministers and the Prime Minister)

### परिचय (Introduction)

*ससदात्मक शासन प्रणाली मे मन्त्र परिषद की भूमिका और महत्व स्वत* सिद्ध है। जो शक्तिया सविधान राष्ट्रपति को सौपता है उनका वास्तविक प्रयोग *प्रधानमन्त्री के नतृत्व म मन्त्रि परिषद ही करती है। इस तरह मन्त्रि परिषद का* प्रशासन मे प्रमुख स्थान है। जो उपमायें ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के लिये प्रयोग म *लायी जाती है उनका प्रयोग भारतीय मन्त्रिमण्डल क लिय भी किया जा सकता है।* बाकर ने मन्त्रिमण्डल को "नीति का चुम्बक" कहा है बेजहाट के लिए मन्त्रिमण्डल *"एक हाइफन है जो जोडता है, एक बक्सुआ है जो कायपालिका तथा व्यवस्थापिका* को जकड दता है। इसे ठीक ही *"शासन व्यवस्था का केन्द्रीय तथ्य तथा सविधान की आभा" कहा गया है।* लावेल इसे राजनीतिक वत्तखण्ड के मेहराब के बीच का पत्थर' कहता है, मरियट इसे ऐसी धुरी मानता है जिस पर प्रशासन चक्र घूमता है, मुनरो के लिए यह राज्य क जहाज का परिचालक चक्र है, एमरी क लिय यह 'सरकार का केन्द्रीय निर्देशक यन्त्र' है। मन्त्रिमण्डल ही सारी शासन प्रणाली को एकता प्रदान करता है तथा आवश्यक निर्देशन और मार्गदशन भी करता है।

### मन्त्रि परिषद एव मन्त्रिमण्डल

### (The Council of Ministers and the Cabinet)

मन्त्रिपरिषद और मन्त्रिमण्डल शब्दो को यद्यपि अ तदलीय शब्दो के रूप म प्रयोग किया जाता है परन्तु वस्तुत इन दोनो म अनक अन्तर पाये जाते हैं। ये अन्तर मुख्यतया निम्न हैं —

1 भारतीय सविधान अनुच्छेद 74 (1) म मन्त्रिपरिषद शब्द का प्रयोग करता है मन्त्रिमण्डल का नही। इसका अर्थ यह है कि भारत मे जहा मन्त्रिपरिषद एक सवधानिक सस्था है वहा मन्त्रिमण्डल अभिसमय की उत्पत्ति है। इसका कोइ सवधानिक आधार नही।

2 मन्त्रि परिषद एक वहत (विशाल) सस्था है। इसके सदस्यो की सख्या 50 60 के लगभग है। इसमे सभी प्रकार के छोटे बडे मन्त्री सम्मिलित हैं जस

मंत्रिमण्डल स्तर के मन्त्री, राज्य मन्त्री और उप मन्त्री इसमे सम्मिलित है। इन तीन श्रेणियो के अतिरिक्त मंत्रि परिषद मे एक ससदीय सचिवो की जमात है। इनका कार्य मंत्रियो की अनुपस्थिति मे सदनो मे मन्त्रियो का प्रतिनिधित्व करना है। ये मंत्रियो की अनुपस्थिति मे प्रश्नो का उत्तर भी देते है। दूसरी ओर मंत्रिमण्डल एक छोटी सस्था है जिसमे प्राय 20 22 सदस्य होते है। इसमे केवल मंत्रिमण्डल स्तर के मन्त्री होते हैं। दूसरे शब्दो मे जहा मंत्रि परिषद मे मंत्रिमण्डल स्तर के मन्त्री सम्मिलित होते है वहा मंत्रिमण्डल मे राज्य मन्त्री और उप मन्त्री सम्मिलित नही होते।

3 मन्त्रि परिषद और मन्त्रिमण्डल की स्थिति और महत्त्व मे भी अन्तर है। जहा मंत्रिमण्डल प्रशासन का केन्द्र है वहा मंत्रि परिषद उसकी सहायक है। मंत्रिमण्डल ही राष्ट्रीय नीतियो को निर्धारित करता है, उच्च पदाधिकारियो की नियुक्तिया करता है विभागीय विवादो को निपटाने का प्रयास करता है तथा विभागो मे सहयोग और समन्वय स्थापित करता है। मंत्रिमण्डल मे ही ज्येष्ठ और प्रमुख मन्त्री होते है जिन्हे राजनीतिक और प्रशासनिक योग्यता तथा सार्वजनिक प्रतिष्ठा के आधार पर मंत्रिमण्डल मे नियुक्त किया जाता है।

मंत्रिमण्डल के मन्त्री विभागाध्यक्ष होते है। मंत्रियो के अधीन आने वाले प्रमुख विभाग है, विदेश मन्त्रालय गृह मन्त्रालय सुरक्षा मन्त्रालय, वित्त मन्त्रालय, वाणिज्य मन्त्रालय, रेलवे मन्त्रालय आदि। मंत्रिमण्डल का अपना एक मंत्रिमण्डलीय सचिवालय (Cabinet Secretariat) है जिसके सचिव को मंत्रिमण्डलीय सचिव कहा जाता है।

मंत्रिमण्डल के सदस्यो की सयुक्त बैठके होती है उसके सदस्य सामूहिक रूप से विचार विमर्श करते है और सामूहिक निर्णय लेते है। दूसरी ओर, मंत्रिपरिषद् के सदस्यो की सयुक्त बैठके नही होती, वे सामूहिक विचार-विमर्श नही करते। वे अपने विभागो से सम्बन्ध रखते है और उन्ही के बारे मे सोचते और निर्णय लेते है। मन्त्रिमण्डल की बैठको मे वे मन्त्री अवश्य हिस्सा लेते हैं जिन्हे विभागरहित मन्त्री (Minister without portfolio) कहा जाता है। राज्यमन्त्री भी मन्त्रिमण्डल की बैठको मे हिस्सा ले सकते है परन्तु यह तभी होता है जब उन्हे इसके लिये विशेष निमन्त्रण दिया जाता है। राज्य मन्त्रियो के पास स्वतन्त्र विभागो का कार्यभार हो सकता है पर उपमंत्रियो के पास कोई स्वतन्त्र विभाग नही होता। वे तो मन्त्री के अधीन कार्य करते है।

मंत्रियो, राज्य मन्त्रियो और उप मन्त्रियो के वेतनो मे भी भिन्नता है। प्रत्येक मन्त्री को 2,250 रु० मासिक वेतन तथा 500 रु भत्ता मिलता है प्रत्येक राज्य मन्त्री को 2,250 रु मासिक वेतन ही प्राप्त होता है। इन्हे भत्ता प्राप्त नही होता। उप मंत्रियो को 1,750 रु मासिक वेतन ही मिलता है।

## भारतीय मन्त्रि परिषद् की विशेषतायें

भारतीय मंत्रि परिषद की कुछ अपनी विशेषतायें है जिन्हे निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है —

1 संवैधानिक अध्यक्ष (Constitutional head) मंत्रिमण्डलीय प्रणाली की सरकार की सबसे बडी विशेषता यह होती है कि इसका कार्यपालिका अध्यक्ष केवल संवैधानिक (नाम मात्र का) अध्यक्ष होता है। यद्यपि संविधान संघ की सारी शक्तियां राष्ट्रपति के हाथो मे निहित करता है परन्तु उनका वास्तविक प्रयोग मन्त्रि परिषद् ही करती है। भारतीय मंत्रि-परिषद की एक विशेषता यह है कि जहा ब्रिटेन म मन्त्रिमण्डल अभिसमय की उत्पत्ति है वहा भारत मे मन्त्रि परिषद संविधान द्वारा स्थापित संस्था है जिसका कार्य राष्ट्रपति के कार्यों म सहायता और सहयोग करना है। वस्तुत मन्त्रिमण्डल निर्णय लेता है और राष्ट्रपति सहायता और सहयोग करता ह।

2 राजनीतिक सहजातीयता (Political homogeneity)—मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली की सरकार की दूसरी विशेषता यह है कि इसके सभी सदस्य एक ही दल से सम्बन्ध रखते है उनके समान राजनीतिक विचार होते है और व सार्वजनिक नीतियो पर मुख्यतया सहमत होते है। मंत्रिमण्डल की बैठका मे मन्त्री अपने विचारो को स्वतन्त्र रूप मे प्रकट कर सकते है परन्तु एक बार निर्णय लेने के बाद वे सार्वजनिक मंच पर एक ही विचार प्रकट करते है। भारत म प्रारम्भ मे यद्यपि नेहरूजी न अपने मन्त्रिमण्डल मे भिन्न भिन्न दलो के सदस्यो[1] को लिया था परन्तु यह व्यवस्था बहुत देर तक न चल सकी और एक एक करके दूसरे दलो के सदस्यो ने मंत्रिमण्डल से त्याग पत्र दे दिय। इस तरह भारत म भी अन्य देशो की मंत्रिमण्डलीय प्रणाली की भाति अब राजनीतिक सहजातीयता पर बल दिया जाता है और मंत्रिमण्डल म एक ही दल के सदस्यो को लिया जाता है।

3 सामूहिक उत्तरदायित्व—मंत्रिमण्डलीय प्रणाली की सरकार की तीसरी विशेषता यह होती है कि मंत्रिमण्डल क सभी सदस्य एक साथ डूबते और एक साथ तरते है। एक सबके लिए होता है और सब एक के लिये होत हैं। यद्यपि भारतीय संविधान मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व की व्यवस्था अनुच्छेद 75 (3) मे करता है परन्तु इस परम्परा का विकास भारत म नही किया गया। उदाहरणतया 1962 मे चीनी आक्रमण के समय जब संसद म रक्षा विभाग की अत्यन्त निन्दा की गयी तो केवल कृष्णा मेनन ने (जो उस समय रक्षा मंत्री थे) त्यागपत्र दे दिया और

---

1 नेहरूजी ने जिन प्रमुख गैर कांग्रेसी सदस्यो को अपने मंत्रिमण्डल म शामिल किया उनमे प्रमुख थे सन्मुखम चेट्टी डा० बी आर अम्बेदकर, डा० एस पी मुखर्जी, सी डी देशमुख, एम सी छागला, जॉन मेथाई आदि।

सारे मन्त्रिमण्डल ने अपने सामूहिक उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं किया। भारतीय ससद मन्त्रियों से प्रश्न अवश्य पूछती है, पूरक प्रश्न भी किये जाते हैं और निन्दा प्रस्ताव, काम रोको प्रस्ताव और स्थगन प्रस्ताव और अविश्वास के प्रस्ताव भी प्रस्तुत किये जाते है परन्तु एक दल के पूर्ण प्रभुत्व के कारण मन्त्रिमण्डल का लोक सभा के प्रति उत्तरदायित्व नगण्य है। इतना ही नहीं भारत में तो मन्त्रिमण्डल ने अनेक बार जन इच्छा की उपेक्षा भी की है ससद की उपेक्षा की है। उदाहरणतया ससद के अधिवेशनों के दौरान या ससद के अधिवेशन शुरू होने के एक दो दिन पूर्व ही अध्यादेशों को जारी किया गया है।

4 **कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का घनिष्ट सम्बन्ध**—मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली की सरकार की एक विशेषता यह होती है कि कार्यपालिका व्यवस्थापिका से ली जाती है अर्थात कार्यपालिका का चुनाव व्यवस्थापिका से किया जाता है और कार्यपालिका के सभी सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते है। इस कारण ही कार्य-पालिका और व्यवस्थापिका म मतभेदों या गतिरोध की सम्भावना नहीं होती जिस प्रकार की अध्यक्षात्मक सरकार म होने की सम्भावना होती है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य ही व्यवस्थापिका म विधेयकों को प्रस्तुत करते हैं तथा बहुमत के आधार पर उन्हें पास करवा लेते है। इस तरह ससदीय सरकार म कानून निर्माण करने वाली और कानून लागू करने वाली सस्थाओं म घनिष्ट सम्बन्ध बना रहता है। भारत मे मन्त्रिपरिषद के सभी सदस्य यद्यपि ससद के सदस्य होते हैं परन्तु भारतीय सविधान अनुच्छेद 75 (5) म इस बात की भी व्यवस्था करता है कि छ महीने तक कोई व्यक्ति ससद का सदस्य बने बिना भी मन्त्रिमण्डल का सदस्य रह सकता है अर्थात निर्वाचित हुए बिना भी कोई व्यक्ति मन्त्री पद पर नियुक्त किया जा सकता है। दूसरे भारतीय सविधान इस बात की व्यवस्था नहीं करता कि प्रधान मन्त्री अवश्य ही लोक सभा का सदस्य हो, वह राज्य सभा का भी सदस्य हो सकता है। वस्तुत वर्तमान प्रधान मन्त्री (श्रीमती इन्दिरा गाधी) को जब 1966 मे पहली बार प्रधान मन्त्री बनाया गया था तो वे राज्य सभा की सदस्य थी।

5 **प्रधान मन्त्री का नेतृत्व**—मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली की सरकार की एक विशेषता यह है कि यह प्रधान मन्त्री के नेतृत्व म कार्य करती है और राज्याध्यक्ष केवल नाम मात्र का अधिकारी होता है। मन्त्रियों की नियुक्ति, विमुक्ति परिवर्तन या अदला बदली का कार्य प्रधान मन्त्री ही करता है। प्रधान मन्त्री ही मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करता है, उसके कार्यक्रम को निर्धारित करता है, मन्त्रियों म विभागों को वितरित करता है तथा विभागों म उत्पन्न होने वाले सभी विवादों का निपटारा करता है। भारत मे भी प्रधान मन्त्री ये सब कार्य करता है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से भारतीय प्रधान मन्त्री की शक्तियों म इतना अधिक विस्तार हुआ है कि प्रधान मन्त्री के पद का राष्ट्रपतिकरण हो गया है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य

अभिकर्त्ता मात्र बन कर रह गये है और उसकी इच्छा मन्त्रिमण्डल और दल की इच्छा है। आदि।

6 **गोपनीयता**—मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली की सरकार की एक विशेषता यह है कि इसकी कार्यवाहियो को गोपनीय रखा जाता है। जहा इससे, एक ओर, मन्त्रियो मे एकता के भाव को उत्पन्न किया जाता है वहा दूसरी ओर मन्त्रियो मे सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना को उत्पन्न किया जाता है। भारतीय सविधान अनुच्छेद 75 (4) मे मन्त्रिमण्डल के कार्यो की गोपनीयता की व्यवस्था करता है। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति प्रत्येक मन्त्री को पद की शपथ दिलाते समय उसे पद की गोपनीयता की शपथ भी दिलाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि कोई मन्त्री अपने त्यागपत्र के कारणो का स्पष्टीकरण नही कर सकता। मन्त्री यद्यपि गोपनीयता को बनाये रखने के लिये कटिबद्ध है परन्तु वे अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण कर सकते है अर्थात मन्त्रिमण्डल या प्रधान मन्त्री से अपने भेदो का उल्लेख कर सकते है। वस्तुत सी० डी० देशमुख, के० डी० मालवीय, टी० टी० कृष्णामाचारी ने त्याग पत्र के समय अपनी स्थिति को स्पष्ट किया। हाल ही मे मोहन धारिया ने मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र देते समय अपनी स्थिति को स्पष्ट किया।

## मन्त्रि परिषद की रचना

भारतीय सविधान अनुच्छेद 74 और 75 मे मन्त्रि परिषद की रचना की व्यवस्था करता है। जहा अनुच्छेद 74 इस बात की व्यवस्था करता है कि राष्ट्रपति के कार्य मे सहायता और सहयोग के लिए प्रधान मन्त्री के नेतृत्व मे एक मन्त्रिपरिषद होगी वहा अनुच्छेद 75 इस बात की व्यवस्था करता है कि प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जायगी और अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमन्त्री के परामर्श पर की जायगी। यद्यपि औपचारिक रूप मे प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है परन्तु यहा राष्ट्रपति अपनी मनमानी नही कर सकता। वह उस व्यक्ति को प्रधान मन्त्री पद पर नियुक्त करने के लिए बाध्य है जिसके दल का बहुमत लोक सभा मे है। केवल एक स्थिति मे राष्ट्रपति अपनी इच्छा या विवेक से कार्य कर सकता है जब लोक सभा मे किसी दल का स्पष्ट बहुमत न हो या बहुमत दल इतना विघटित हो कि वह किसी नेता को प्रस्तुत करने मे असमर्थ हो। परन्तु इस स्थिति मे भी राष्ट्रपति केवल उस व्यक्ति को प्रधान मन्त्री पद पर नियुक्त करेगा जो लोक सभा मे बहुमत को अपने साथ ले जाने मे सफल हो सकता है क्योकि प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति के प्रसाद पर निर्भर करते हुए भी लोक सभा के बहुमत पर निर्भर करता है और उसके बहुमत पर ही वह अपने पद पर बना रह सकता है।

अनुच्छेद 75 (1) के अनुसार राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री के परामर्श पर अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति करता है परन्तु यहा भी प्रधान मन्त्री पूर्ण स्वतन्त्र नही। उसे अपने दल के प्रमुख सदस्यो को मन्त्रिमण्डल मे लेना पडता है। ये मन्त्री प्रधानमन्त्री की

इच्छा पर निभर नही करते वलिक अपनी योग्यता, प्रशासनिक कुशलता और सावजनिक ख्याति के कारण वे मन्त्री पद पर विद्यमान होते है। दूसरे प्रधान मन्त्री को मन्त्रियो की नियुक्ति की सिफारिशे करते समय अनेक वर्गों, हितो, भौगोलिक क्षेत्रो आदि के प्रतिनिधित्व का भी ध्यान देना पडता है। यह सत्य है कि प्रधान मन्त्री किसी व्यक्ति को मन्त्रिमण्डल से बाहर निकाल सकता है और किसी को मन्त्रिपद से लाभान्वित कर सकता है और राष्ट्रपति इसमे हस्ताक्षेप नही करता परन्तु यदि कोई प्रधानमन्त्री उपयुक्त तत्वो की उपेक्षा करता है तो उसका मन्त्रिमण्डल स्थिाऊ नही हो सकता।

मन्त्रियो की नियुक्तियो के सम्बन्ध मे भारतीय सविधान की एक विशेषता यह है कि भारत मे कोई व्यक्ति ससद का सदस्य हुए बिना 6 महीने तक मन्त्रिपद पर ही रह सकता है (अनुच्छेद 75 (5))

औपचारिक रूप से मन्त्रियो मे विभागो का वितरण राष्ट्रपति करता है परन्तु व्यवहार मे यह काय प्रधान मन्त्री का है। राष्ट्रपति न तो मन्त्रिमण्डल की बैठक की अध्यक्षता करता है, न उसके कायक्रम को निर्धारित करता है। प्रधान मन्त्री ही मन्त्रिमण्डलो की बैठको की अध्यक्षता करता है तथा मन्त्रियो मे विभागो को वितरित करता है तथा उनमे समन्वय बनाये रखता है।

अनुच्छेद 78 राष्ट्रपति को एक अधिकार अवश्य सौपता है। वह यह कि वह प्रधान मन्त्री से सूचनायें प्राप्त कर सकता है। प्रधान मन्त्री का यह सवैधानिक कर्तव्य है कि वह राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल के निर्णयो से अवगत कराये। राष्ट्रपति चाहे तो प्रधान मन्त्री से यह कह सकता है कि किसी अमुक मन्त्री के निर्णय को समूचे मन्त्रिमण्डल के समक्ष विचार के लिये प्रस्तुत करे।

## मन्त्रिमण्डल के कार्य

मन्त्रिमण्डल के कार्यों को चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है जो निम्न प्रकार से है —

**1 राष्ट्रीय नीतियो का निर्माता**—मन्त्रिमण्डल का सबसे प्रमुख काय यह है कि वह राष्ट्र कि गृह और विदेश नीतियो का निमाण करता है। अपने आर्थिक और सामाजिक कायक्रमो को कार्यान्वित करने के लिये सामाजिक और आर्थिक नीति को निर्धारित करता है। इन सब उद्देश्यो की पूर्ति के लिये वह विधि निमाण के क्षेत्र मे ससद का नेतृत्व करता है, विधेयको को प्रस्तुत करता है और उन्हे पारित करवाता है। मन्त्रिमण्डल ही इस बात का निर्धारण करता है कि किन विषयो पर मतदान लिया जायगा कौन से कानून पास किये जायेंगे कौन-कौन से कर लगाये जायेंगे और कौन कौन सी सन्धियां की जायेंगी। मन्त्रिमण्डल ही इस बात का निर्धारण करता है कि किन गैर सरकारी विधेयको का समथन किया जायेगा और किन का विरोध किया जायगा। इतना ही नही ससद के अधिवेशनो को बुलाना, उनका सत्रावसान करना तथा उस समय से पूर्व भग कराना मन्त्रिमण्डल का ही काय है। ससद मे स्थिर

जाने वाले राष्ट्रपतीय भाषण को मन्त्रिमण्डल द्वारा ही तैयार किया जाता है। इस तरह मन्त्रिमण्डल 'छोटी व्यवस्थापिका" (Little Legislature) है। लॉवेल इसे "चक्र के अन्दर चक्र" की संज्ञा देता है।

2 राष्ट्रीय कार्यपालिका पर नियन्त्रण तथा विभागों में समन्वय—भारतीय संविधान संघ की सारी कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति के हाथों में निहित करता है परन्तु वस्तुत उसकी सारी कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल ही करता है। मन्त्रिमण्डल ही संसद द्वारा पास किये गये कानूनों को लागू करता है। मन्त्री विभागों के अध्यक्ष होते हैं अत सारी प्रशासनिक शक्तियों का वे ही प्रयोग करते हैं। प्रदत्त विधान के कारण मन्त्रिमण्डल की शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

मन्त्रिमण्डल ही विभागों में समन्वय उत्पन्न करता है तथा उनमें उत्पन्न होने वाले भेदों का निपटारा करता है।

राष्ट्रपति के आपात्कालीन शक्तियों का प्रयोग भी मन्त्रिमण्डल करता है। संकटकालीन की घोषणा अध्यादेशों को जारी करना आदि सब मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर ही किये जाते हैं। युद्ध और शान्ति के प्रश्नों का निर्णय भी मन्त्रिमण्डल ही करता है।

मन्त्रिमण्डल के उक्त सभी कार्यों में सहयोग देने के लिए एक मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय (Cabinet) होता है जिसके सचिव को मन्त्रिमण्डलीय सचिव कहा जाता है।

मन्त्रिमण्डल की बैठकें समय-समय पर नियमित रूप से होती रहती हैं। इसकी आपातकालीन बैठकें भी बुलाई जा सकती हैं। इसकी बैठकों की कार्यवाही को लिपिबद्ध किया जाता है। इसमें निर्णय प्राय सर्वसम्मति से लिये जाते हैं।

3 नियुक्तियाँ—मन्त्रिमण्डल के हाथों में संरक्षण की व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं। जितनी भी नियुक्तियाँ—न्यायाधीशों, राजदूतों, आयोगों के अध्यक्षों तथा सदस्यों, राज्यपालों आदि–राष्ट्रपति द्वारा की जाती हैं वे वस्तुत मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर ही की जाती हैं। राष्ट्रपति द्वारा जो भारत रत्न, पद्मभूषण पद्म विभूषण तथा पद्मश्री की उपाधियाँ तथा महासेनाधिपति (Field Marshall चमूपति) की उपाधियाँ वितरित की जाती हैं वे मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर ही वितरित की जाती हैं।

4 वित्तीय कार्य—मन्त्रिमण्डल का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह वर्ष का बजट तैयार करती है और उसे पारित कराने के लिए संसद के समक्ष प्रस्तुत करना है। बजट वित्त मन्त्रालय द्वारा तैयार किया जाता है तथा उसे वित्तमन्त्री संसद में प्रस्तुत करता है। वित्त विधेयक को संसद में प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति लेनी पड़ती है जो एक औपचारिकता है। संसद द्वारा भी बजट को ज्यों

का त्यो पास करवा लिया जाता है क्योंकि बजट की किसी मद की कटौती या मन्त्रियों के वेतना मे कटौती मन्त्रिमण्डल पर अविश्वास माना जाता है। इस तरह मन्त्रिमण्डल का राष्ट्रीय पस पर पूरा नियन्त्रण होता है।

## मन्त्रिमण्डल और लोकसभा में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक सम्बन्ध

**(Relation between the Cabinet and the Lok Sabha in theory and practice)**

जहा कही ससदात्मक शासन प्रणाली पाई जाती है वहा मन्त्रिमण्डल और *लोकसभा के सद्धान्तिक और व्यावहारिक सम्बन्धो मे अन्तर पाया जाता है।* उदाहरणतया मन्त्रिमण्डल ससद की उत्पत्ति होती है और उसके अधीन होती है परन्तु व्यवहार मे मन्त्रिमण्डल अपने उत्पादकों को नष्ट करने की सत्ता रखता है। जसाकि बेजहॉट ने ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध मे कहा है कि 'मन्त्रिमण्डल एक उत्पत्ति है परन्तु उसे अपने उत्पादको को नष्ट करने की शक्ति है इस बनाया गया था परन्तु यह नष्ट कर सकती है, यह अपने उदभव म व्युत्पादित है परन्तु अपन काय म यह विध्वसक।" इतना ही नही, ससद के सभी कार्यों को वस्तुत मन्त्रिमण्डल न ही ग्रहण कर लिये हैं। उदाहरणतया कानून के निर्माण करने उसम परिवतन और सशोधन करने का अधिकार ससद का है परन्तु ससद उन्ही कानूनो का निर्माण करती है या उन्ही म सशोधन करती है जिन्हे मन्त्रिमण्डल निर्मित करना चाहता है या जिनम वह सशोधन करना चाहता है। इसी प्रकार सिद्धान्तत ससद का वित्त पर नियन्त्रण होता है और ससद की अनुमति के बिना कोई पाई खच नही की जा सकती और कोई पाई राजस्व के रूप म एकत्रित नही की जा सकती। परन्तु व्यवहार म बजट वसा ही पारित हो जाता है जैसाकि वित्तमन्त्री उसे प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार सिद्धान्त म मन्त्रिमण्डल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है परन्तु व्यवहार म उसका उत्तरदायित्व औपचारिक है क्योंकि ससद म बहुमत दल का समथन रहत कोई भी मन्त्रिमण्डल मनमानी कर सकता है। जसाकि जेनिंग्स न कहा है कि 'जिस शासन की पीठ पर बहुमत का हाथ है वह अल्पकाल के लिए अधिनायकवाद स्थापित कर सकता है। *रेम्जे म्योर और लार्ड हवट न मन्त्रिमण्डल की इस बढ़ती हुई शक्ति का नवीन अधि*नायकवाद की सज्ञा दी है।

मन्त्रिमण्डल और ससद के सद्धान्तिक और व्यावहारिक सम्बन्धो का निम्न बिन्दुओं द्वारा और अधिक अच्छी तरह से समझा जा सकता है —

1 *कानून निर्माण के सम्बन्ध मे—सिद्धान्त म कानून निर्माण का शक्ति* ससद के पास है। सघीय क्षेत्र म आने वाले सभी विषयों पर वह सघप्रान्ति और साधारण कानूनो का निमाण कर सकती है उनम परिवतन कर सकती है तथा उन्हे समाप्त कर सकती है। परन्तु व्यवहार म स्थिति यह है कि विधि निमाण के क्षेत्र म मन्त्रिमण्डल ससद का नेतृत्व करता है और व प्रस्ताव ही कानून का रूप धारण कर

सकते हैं जिन्हें या तो मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तुत किया जाता है या जिन्हें मन्त्रिमण्डल का समर्थन प्राप्त होता है। गैर सरकारी सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रस्तावों का पास होना कठिन है। इसका कारण यह है कि जिस दल का मन्त्रिमण्डल होता है उसी दल का बहुमत लोकसभा में होता है। दल के सदस्य दलीय नीतियों का समर्थन करते हैं। वर्तमान समय में दलीय अनुशासन, नियन्त्रण और निर्देशन इतना कठोर है कि दलीय निर्देशनों की उपेक्षा करने वाले संसद सदस्यों को सर्वदा दलीय अनुशासनात्मक कार्यवाही का भय रहता है जिससे उनकी राजनीतिक मृत्यु होने का खतरा होता है। स्पष्ट है कि मन्त्रिमण्डल की इच्छा संसद में बहुमत दल की इच्छा है और संसद में बहुमत दल की इच्छा संसद की इच्छा है। यही कारण है कि मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तुत एवं समर्थित विधेयक ही कानून का रूप धारण कर सकते हैं। इतना ही नहीं जिद्दी संसद को ठिकाने पर लाने के लिये मन्त्रिमण्डल लोक सभा को भंग कराने का भय दिखा सकता है जो न केवल बहुमत दल के सदस्यों को नियन्त्रित करता है बल्कि विरोधी दल के सदस्यों का भी मुख बन्द कर देता है क्योंकि कोई भी संसद सदस्य नव निर्वाचन के खर्चे और अनिश्चितता के खतरे को मोल लेना नहीं चाहता। स्पष्ट है कि संसद में ठोस बहुमत रहते, मन्त्रिमण्डल संसद पर आश्रित नहीं रहता बल्कि संसद मन्त्रिमण्डल पर आश्रित रहती है।

2 **वित्त के सम्बन्ध में**—सिद्धान्त में वित्त पर पूरा नियन्त्रण संसद का रहता है और संसद की अनुमति के बिना कोई कर नहीं लगाया जा सकता और न ही कोई पाई खर्च की जा सकती है परन्तु वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। बजट मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किया जाता है। वह ही उसे लोक सभा में प्रस्तुत करता है। वह ही मदों पर खर्च की जाने वाली राशि को निश्चित करता है। वह ही आय के साधनों की व्यवस्था करता है। लोक सभा बजट पर बहस करती है विचार करती है आलोचना करती है परन्तु जिस कार्य को वह परिस्थितिवश नहीं करती और मन्त्रिमण्डल के दल के बहुमत रहते नहीं कर सकती वह यह है कि उसे रद्द नहीं कर सकती किसी मद के खर्चे को बढ़ा नहीं सकती, कोई नया कर नहीं लगा सकती, वह प्रस्तावित करों को कम अवश्य कर सकती है परन्तु मन्त्रिमण्डल का बहुमत होने से वह ऐसा करने में असमर्थ है।

3 **प्रदत्त शक्तियों के सम्बन्ध में**—वर्तमान समय में राज्य का स्वरूप लोक कल्याणकारी होने से राज्य के कार्यों का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक हो गया है। प्रति वर्ष हजारों प्रकार के कानूनों का निर्माण किया जाता है जिसके लिये संसद के पास न तो समय है न तकनीकी ज्ञान। अतः वह कानूनों के प्रारूप ही तैयार कर पाती है और विवरण के लिये कार्यपालिका को सत्ता प्रदान कर देती है। कार्यपालिका द्वारा बनाये गये नियम और विनियम ही प्रदत्त विधान कहलाते हैं। इन्होंने कार्यपालिका की शक्तियों में अत्यधिक विस्तार किया है। आज कार्यपालिका केवल कानूनों का

कायान्वित ही नही करती बल्कि उन्हे निर्मित भी करती है। अत व्यवस्थापन का काय प्राय मन्त्रिमण्डल का काय बन गया है।

**4 उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे** सिद्धान्त म मन्त्रिमण्डल लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप स उत्तरदायी है। वह उसी समय तक अपने पद पर विद्यमान रहता है जब तक उसे ससद का विश्वास प्राप्त रहता है। ज्योही यह विश्वास समाप्त हो जाता है मन्त्रिमण्डल को त्याग पत्र देना पडता है। ससद प्रश्नो द्वारा, पूरक प्रश्नो द्वारा, स्थगन व निन्दा के प्रस्तावो द्वारा या प्रत्यक्ष अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण रखती है। ससद चाहे तो बजट म कटौती कर या मन्त्रियो के वेतनो म कटौती कर या मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तुत अन्य महत्त्वपूर्ण विधेयको को अस्वीकार कर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर सकती है। वस्तुत स्थिति यह है कि ससद मन्त्रिमण्डल को पदच्युत करने मे असमथ है क्योकि लोक सभा म मन्त्रिमण्डल का बहुमत होता है। और यदि मान भी लिया जाय कि ससद मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सकती है तो इस बात की उपेक्षा नही की जा सकती कि मन्त्रिमण्डल भी राष्ट्रपति को परामश देकर ससद को समय से पूव भग करा सकती है जसाकि प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाधी न दिसम्बर 1970 मे किया था। वस्तुत स्थिति यह है कि मन्त्रिमण्डल के अधिकाश कार्यो का ससद को ज्ञान तक नही होता। मन्त्रिमण्डल चाहे तो ससद म किये गये वाद विवाद की उपेक्षा कर सकता है प्रश्नो का उत्तर देन से मनाही कर सकता है या टालम टोल कर सकता है या अनिश्चित उत्तर दे सकता है।

सक्षेप म हमन फाइनर न मन्त्रिमण्डल और ससद के सम्बन्धो का इस प्रकार व्यक्त किया है "मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण रहता है परन्तु उसको कुन्द नही किया जाता, इस पर धमकिया पडती हे परन्तु इसे दण्ड नही मिलता, इससे प्रश्न किये जाते है परन्तु अविश्वास नही किया जाता, यह राजनीतिक दृष्टिकोण से पक्षपाती है परन्तु इसमे व्यक्तिगत द्वेष नही होता।

मन्त्रिमण्डल की व्यापक शक्तियो का यह अथ नही कि वह निरकुश या अधिनायक बन सकता है। कोई भी मन्त्रिमण्डल, चाहे ससद मे उसका बहुमत कितना ही ठोस क्यो न हो इस बात की उपेक्षा नही कर सकता कि उसे पाच वष के बाद निर्वाचक मण्डल के समक्ष अपने कार्यो का हिसाब देना है। इसलिय यदि किसी मन्त्रिमण्डल की निरकुशता है तो वह "सहमति की निरकुशता' (dictatorship by consent) है जसाकि लावेल ने लिखा हे कि मन्त्रिमण्डल की निरकुशता वह निरकुशता ह जिसे अधिकतम प्रचार के साथ प्रयोग मे लाया जाता है जो सदा आलोचना की कसौटी पर कसी रहती है और जनमत के अनुसार ढलती रहती है और जिसे अविश्वास का प्रस्ताव और अगले चुनाव का भय बना रहता है।"

# प्रधान मन्त्री
## ( The Prime Minister )

"प्रधान मन्त्री शासन में धुरी की कील है।"

—जवाहरलाल नेहरू

**परिचय (Introduction)**

संसदीय लोकतान्त्रिक देशों में दो प्रकार की कार्यपालिका पायी जाती हैं जिसे सामान्यतया संवैधानिक और वास्तविक कार्यपालिका कहा जाता है। बेजहाट इन्हें 'प्रतिष्ठित' (dignified) और कुशल (efficient) कार्यपालिका कहता है। भारत में यदि राज्याध्यक्ष (राष्ट्रपति) सम्मानित और प्रतिष्ठित व्यक्ति है तो शासनाध्यक्ष (प्रधान मन्त्री) कुशल और वास्तविक अध्यक्ष है। संसदात्मक लोकतन्त्र में वस्तुत प्रधानमन्त्री की स्थिति सर्वोच्च अधिकारी की होती है क्योंकि वह लोक सभा में बहुमत दल का नेता होता है और जब तक उसकी पीठ पर पूर्ण बहुमत का हाथ रहता है वह यह तय करता है कि कौन कौन सी सन्धियाँ की जायेंगी, कौन-कौन से कानून बनाये जायेंगे और कौन-कौन से कर लगाए जायेंगे। संक्षेप में, वह राष्ट्र का ऐसा राजनीतिक नेता होता है जो बहुमत के रहते राष्ट्र का भाग्य निर्माता बन सकता है।

प्रधान मन्त्री के इर्द गिर्द सारा शासन चक्र घूमता है। वह ही मन्त्रिमण्डल का निर्माता, संचालन कर्ता और संहार कर्ता होता है। उसके जीवित रहने से मन्त्रिमण्डल जीवित रहता है, उसके पद त्यागने से या उसकी मृत्यु होने से मन्त्रिमण्डल की मृत्यु हो जाती है। वह देश की गृह और विदेश नीति का निर्माता, सदन का नेता, राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल और संसद के मध्य कड़ी, बहुमत दल का नेता, आदि सब कुछ होता है।

प्रधानमन्त्री के पद का उद्भव ब्रिटेन में हुआ जहाँ से भारतीय संविधान ने उधार लिया है। ब्रिटेन में प्रधानमन्त्री की भूमिका शक्तियों और कार्यों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विशेषणों का प्रयोग किया जाता है। जैसे लार्ड मार्ले ने उसे "मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब की आधारशिला कहा है।' वह उसे 'समान व्यक्तियों में प्रथम (primus inter pares) की संज्ञा भी देता है। जबकि पीटर० जी० रिचर्ड प्रधानमन्त्री के सम्बन्ध में इस विशेषण को सही मूल्यांकन नहीं मानता एमरी प्रधान मन्त्री को प्रशासन का 'कप्तान और पतवार' दोनों ही मानता है। रेम्जे म्योर का कथन है कि यदि "मन्त्रिमण्डल राज्य रूपी जहाज का यन्त्र है तो प्रधानमन्त्री उस यन्त्र का चालक' है। हेरल्ड जे० लास्की प्रधान मन्त्री को 'सारे प्रशासन की धुरी' मानते हैं। आइवर जेनिंग्स के लिये प्रधान मन्त्री वह सूर्य है जिसके चारों ओर सारे नक्षत्र घूमते हैं। बैलाफ के लिए वह 'अधिनायक' हण्टन उसे 'निर्वाचित सम्राट' कहता है और सर विलियम वर्नन Vernon 'सितारों में चन्द्रमा' है।

प्रेसिडेन्ट के [illegible] "राजनीतिक नायक" है। कुछ [illegible] ऐसा [illegible] है
[illegible] [illegible]।

सन् 25 [illegible] जा सकता है कि
ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के सम्बन्ध में जो उपयुक्त विवरण व्यक्त किया गया है वह भारतीय
प्रधान मन्त्री पर भी लागू होता है। [illegible] यह [illegible] गया
है कि प्रधान मन्त्री समानों में प्रथम है। भारत की [illegible] प्रधान मन्त्री श्रीमती
(इन्दिरा गांधी) के सम्बन्ध में तो [illegible] कि [illegible] राष्ट्रीय व्यक्तित्व
की [illegible] है। उनकी [illegible] और [illegible] है, [illegible]
[illegible] कि [illegible] मुख्य मन्त्री
[illegible] और [illegible] उनके [illegible]
[illegible] है [illegible] है उनकी [illegible] इच्छा है।
[illegible] रखती है।
[illegible] [illegible] सत्ता का
[illegible] है। [illegible] भारतीय मन्त्रिमण्डलीय शासन को 'निकट राष्ट्रपतीय
शासन' (near presidentional regime) भी कहा जाता है।

भारतीय प्रधान मन्त्री की नियुक्ति—भारतीय प्रधान मन्त्री का पद ब्रिटिश
प्रधान मन्त्री के पद की भाँति परम्परा की उत्पत्ति नहीं। इस संविधान द्वारा उत्पन्न
किया गया है। संविधान का अनुच्छेद 74 इस बात की स्पष्ट व्यवस्था करता है कि
राष्ट्रपति के कार्यों में सहायता और परामर्श के लिए प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में
एक मन्त्रिपरिषद होगी और अनुच्छेद 75 इस बात की व्यवस्था करता है कि प्रधान
मन्त्री राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जायगा और अन्य मन्त्री प्रधान मन्त्री के परामर्श
पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जायेंगे। अनुच्छेद 75 (2) के अनुसार मन्त्री राष्ट्र-
पति के प्रसाद (pleasure) पर्यन्त पद धारण करते हैं और अनुच्छेद 75
(3) मन्त्रि-परिषद को सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी बनाता है।

प्रधान मन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में उपयुक्त धारायें केवल इस मात्रा में
स्पष्ट हैं कि उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होनी चाहिए। प्रधान मन्त्री की नियुक्ति
के सम्बन्ध में अन्य अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर संविधान अपूर्ण या शान्त है।
उदाहरणतया उपयुक्त धाराओं में यह स्पष्ट नहीं कि नियुक्ति के समय प्रधान मन्त्री
लोक सभा का सदस्य होना चाहिए। इनमें यह भी स्पष्ट नहीं कि प्रधान मन्त्री के
लिए नियुक्ति के समय संसद का सदस्य होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रपति
कम से कम छः महीने तक, किसी ऐसे व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नियुक्त कर सकता
है जो संसद के किसी सदन का सदस्य ही नहीं।

---

1 Quoted by Johari J C in his Indian Government and Politics p 302

उपर्युक्त अपूर्णताओं के बाद भी भारत में प्रधान मन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में दो प्रथाओं का विकास हुआ है। प्रथम तो यह है कि राष्ट्रपति उसी व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नियुक्त करता है जिसे लोक सभा में बहुमत दल प्रधान मन्त्री चुनता है अर्थात लोक सभा में बहुमत दल पहले प्रधान मन्त्री का चयन करता है और बाद में राष्ट्रपति उसे प्रधान मन्त्री नियुक्त करता है। सन् 1965 में प० नेहरू की मृत्यु के बाद लालबहादुर शास्त्री को तभी प्रधान मन्त्री नियुक्त किया गया जब कांग्रेस संसदीय दल ने उनको प्रधान मन्त्री पद के लिये चयन कर लिया। इसी तरह 1966 में लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद श्रीमती इंदिरा गांधी को राष्ट्रपति ने तभी प्रधान मन्त्री नियुक्त किया जब कांग्रेस संसदीय दल ने उन्हें प्रधान मन्त्री पद के लिए चुन लिया। दूसरी प्रथा जिसका विकास किया गया है वह यह है कि किसी प्रधान मन्त्री की अचानक मृत्यु हो जाने पर मन्त्रिमण्डल के ज्येष्ठ मन्त्री को स्थानापन्न प्रधान मन्त्री की अचानक मृत्यु हो जाने पर मन्त्रिमण्डल के ज्येष्ठ मन्त्री को स्थानापन्न प्रधान मन्त्री या अन्तरिम प्रधान मंत्री (officiating Prime Minister or interim Prime Minister) नियुक्त कर दिया जाता है और वह उस समय तक कार्य करता है जब तक लोक सभा में बहुमत दल प्रधान मन्त्री का चयन नहीं कर लेता। उदाहरणतया नेहरू की मृत्यु के बाद और दोबारा फिर शास्त्री की मृत्यु के बाद राष्ट्रपति ने गुलजारीलाल नन्दा को स्थानापन्न प्रधान मन्त्री के रूप में नियुक्त किया।

प्रधान मन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोनों प्रथायें स्वस्थ संसदात्मक लोकतन्त्र के लिये शुभ हैं और यदि इन प्रथाओं को भविष्य में भी जारी रखा जाता है तो राष्ट्रपति के हाथों में प्रधान मन्त्री की नियुक्ति प्राय औपचारिक मात्र बन कर रह जायगी। परन्तु यह सब तभी सम्भव है जब लोक सभा में एक दल का पूर्ण बहुमत हो। यदि लोक सभा में किसी दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो तो भी इन प्रथाओं को जारी रखा जा सकता है यदि कुछ दल मिल कर, जो शासन सत्ता सम्भालने के इच्छुक हैं ऐसे नेता को प्रधान मन्त्री पद के लिये चुनें जिसे सदन के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो। परन्तु इस राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति में राष्ट्रपति की भूमिका का महत्त्व बढ सकता है और वह प्रधान मन्त्री की नियुक्ति में अपने व्यक्तित्व की छाप छोड सकता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति राजनीतिक सन्तुलन को अवश्य अपने पक्ष में कर सकता है परन्तु वह इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकता कि अन्तत वही व्यक्ति प्रधान मन्त्री पद पर बना रह सकता है जिसे लोक सभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त है अथात राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति को ही प्रधान मन्त्री नियुक्त करेगा जो लोक सभा के बहुमत को अपने साथ ले जाने की क्षमता रखता है। जैसाकि डा० जैनिंग्स ने कहा है कि राज्याध्यक्ष का प्रधान मन्त्री की नियुक्ति में मूल उद्देश्य "शासन को प्राप्त (Securing a Government) करना है।

उपयु क्त वर्णन से स्पष्ट है कि राष्टपति उसी व्यक्ति को प्रधान म त्री नियुक्त करता है जिसके दल का बहुमत लोक सभा म होता है और जो उसका नेता होता है। यदि वह किसी ऐसे व्यक्ति को प्रधान म त्री नियुक्त करता है जिसे बहुमत का समर्थन प्राप्त नही तो सम्भवत इस निमन्त्रण को या तो अस्वीकार कर दिया जायगा और यदि स्वीकार कर भी लिया जाता है तो वह टिकाऊ नही हो सकता क्योंकि लोक सभा की बैठक होते ही उसका मन्त्रिमण्डल, बहुमत के अभाव म, गिर जायेगा।

**प्रधान मन्त्री की शक्तिया**—भारतीय प्रधान म त्री की शक्तिया, ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की शक्तिया की भांति अत्यधिक व्यापक हैं। दोनो की शक्तियो मे केवल एक ही अन्तर है वह यह है कि जहा ब्रिटिश प्रधान म त्री का पद और शक्तिया दोना ही अभिसमय की उत्पत्ति है वहा भारतीय प्रधान मन्त्री का पद ता सवैधानिक है। (Art 74) परन्तु उसकी शक्तिया ससदात्मक प्रणाली के अभिसमया पर ही आधारित है। अर्थात ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की भांति भारतीय प्रधान मन्त्री का काय भी राज्याध्यक्ष (राष्ट्रपति) के कार्यां म सहयोग और परामर्श" देना है पर तु वास्तविकता यह है कि प्रधान म त्री तो निर्णय लेना है और राष्ट्रपति सहयोग और परामर्श देता है। भारतीय प्रधान म त्री की शक्तिया को निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

**(1) मन्त्रिमण्डल का निर्माता, सचालन कर्ता एव सहार कर्ता**—प्रधान मन्त्री का सबसे महत्वपूर्ण काय मन्त्रिमण्डल का निर्माण करना है। यद्यपि भारतीय सविधान अनुच्छेद 75 (1) मे मन्त्रिया की नियुक्तिया का अधिकार राष्टपति को प्रदान करता है पर तु यह केवल औपचारिकता है। मन्त्रिया का चयन प्रधान मन्त्री करता है, राष्ट्रपति प्रधान म त्री से यह नही कह सकता कि वह अमुक व्यक्ति को अपनी मन्त्रि परिषद् म ले या न ले, यद्यपि प्रधान मन्त्री स्वेच्छा से राष्ट्रपति के परामर्श का स्वीकार भी कर सकता है जसा कि प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाधी ने राष्ट्रपति राधाकृष्णन् के कहने पर गुलजारीलाल नन्दा का अपनी मन्त्री परिषद से विमुक्त नही किया और न ही उनसे गृह विभाग को छीना।

यह सत्य है कि प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रियो का चयन स्वय करता है परन्तु इसम वह उस रूप म स्वतन्त्र नही जसाकि प्रथम दृष्टि म वह नजर आता है। वस्तुत उसके हाथ अनेक विचारो से प्रभावित होते है। प्रथम, मन्त्रिया का चयन करते समय प्रधान मन्त्री को अपने दल के प्रमुख और प्रभुत्वपूर्ण नेताओ के दावा को स्वीकार करना पडता है जसाकि प० नेहरू को सरदार पटेल का यह दावा स्वीकार करना पडा कि वह उप प्रधान मन्त्री रहेगे और गृह विभाग प्राप्त करेंगे। इसी प्रकार 1967 म प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाधी को मोरारजी देसाई का यह दावा करना पडा कि वह उप प्रधान मन्त्री पद पर रहेंगे और वित्त मन्त्रालय प्राप्त करेंगे। अपने मन्त्रियो को नियुक्त करते समय प्रधान मन्त्री को जहां तक सम्भव

वर्गों, हितो, धर्मों और क्षेत्रो के प्रतिनिधित्व का भी ध्यान रखना पडता है और वस्तुत यह तत्व प्रधान मन्त्री की शक्ति पर पर्याप्त रूप से प्रभावी होता है ।

यह सत्य है कि उपयुक्त सभी तत्व प्रधान मन्त्री पर प्रभावी होते हैं परन्तु मन्त्रियो के चयन म अन्तिम निर्णय प्रधान मन्त्री का ही होता है और वह किसी मन्त्री को, चाहे उसका महत्त्व कितना ही क्यो न हो, पदच्युत कर सकता है (जैसाकि इंदिरा गाधी ने मोरारजी देसाई को 1969 म पदच्युत किया) और किसी ऐसे व्यक्ति को मन्त्रिपद से विभूषित कर सकता है जो दल मे बिल्कुल महत्वहीन हो जैसा कि शास्त्रीजी ने टी० एन सिंह और सचिन चौधरी को और इंदिरा गाधी ने मोहन कुमारामगलम, डा० कर्णसिंह, दुर्गा प्रसाद धर, आदि को अपनी मन्त्रिपरिषद म लिया ।

प्रधान मन्त्री मन्त्रियो का चयन ही नही करता बल्कि अपनी इच्छानुसार उन्हें पदच्युत भी कर सकता या उनसे त्याग पत्र की माग भी कर सकता है । भारत म अनेक ऐसे उदाहरण हैं जहा मन्त्रियो ने प्रधान मन्त्री से मतभेद होने पर या अन्य कारणो से अपने पद से त्याग पत्र दे दिया । उदाहरणतया सी०डी० देशमुख, एम० सी० छागला, महावीर त्यागी अशोक मेहता जैसे मन्त्रियो ने प्रधान मन्त्री से मतभेद होने पर त्याग पत्र दे दिया । हाल ही म मोहन धारिया ने प्रधान मन्त्री इंदिरा गाधी से मतभेद होने पर त्याग पत्र दे दिया । कुछ मन्त्रियो के ऐसे उदाहरण हैं जैसे टी० टी० कृष्णमाचारी डा० राम सुभगसिंह, आदि जिन्होने प्रधान मन्त्री के कहने पर मन्त्रिपद से त्याग पत्र दे दिया । अनेक बार कुछ मन्त्रियो से छुटकारा पाने के लिये 'कामराज योजना' का सहारा लिया गया । अनेक बार मन्त्रियो ने प्रधान मन्त्री की स्थिति और सम्मान को बचाने के लिये त्याग पत्र दे दिया जैसे कृष्णा मेनन ने 1962 म चीनी आक्रमण के बाद रक्षा विभाग से त्याग पत्र दे दिया । यह भी हो सकता है कि प्रधान मन्त्री राज्यो की नीति पर अपना पूरा नियन्त्रण रखने के लिये या वहा की समस्याओं का समाधान करने के लिये कुछ विश्वासपात्र मन्त्रियो को राज्यो के मुख्य मन्त्री पद पर नियुक्त करने के लिये केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से त्याग पत्र देने के लिये कहे । श्रीमती इन्दिरा गाधी के मन्त्रित्व काल म इसके अनेक उदाहरण हैं जैसे एच० एन० बहुगुणा को उत्तर प्रदेश का मुख्य मन्त्री बनाया गया, बगाल मे एस० एस० रे और उडीसा म नन्दनी सतपथि को केन्द्र से राज्यो म भेजा गया ।

प्रधानमन्त्री मन्त्रियो का चयन या उन्हें पदच्युत ही नही करता बल्कि उनम विभागो का वितरण करता है और आवश्यकता होने तो विभागो के पारस्परिक भेद को दूर करने का प्रयास करता है । प्रधान मन्त्री ही उन्हें समय समय पर प्रोत्साहन देता है तथा आवश्यकता हो तो चेतावनी भी देता है । प्रधान मन्त्री ही मन्त्रिमण्डल की अध्यक्षता करता है तथा मन्त्रिमण्डल की बैठको म विचार करने वाले विषयो के कार्यक्रम (Agenda) को तैयार करता है । यद्यपि मन्त्रिमण्डल मे निर्णय प्राय बहुमत

से लिये जाते हैं, परन्तु यहा प्रधान की स्थिति प्रभावपूर्ण और निर्णायक की हो सकती है।

**2 नीतियो का निर्माता**—प्रधान मन्त्री ही शासन का वास्तविक प्रधान होता है अत वह सभी नीतियो का निर्माता होता है। यह आवश्यक नही कि विदेश, गृह या वित्त मन्त्रालय प्रधान मन्त्री के पास हो परन्तु सभी महत्त्वपूर्ण निर्णयो से प्रधान मन्त्री अवगत रहता है और ये मन्त्री प्रधान मन्त्री के परामर्श पर ही कार्य करते हैं। इसी कारण यह कहा जाता है कि प्रधान मन्त्री समय से पूर्व यह घोषणा कर सकता है कि अमुक कानूनो का निर्माण किया जायेगा या अमुक सन्धियां की जायेंगी या अमुक कर लगाये जायेंगे। प्रधान मन्त्री ही विदेशो मे भारतीय हितो का प्रमुख प्रेरक है वह ही प्रमुख अन्तराष्ट्रीय सम्मेलनो, राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्री सम्मेलनो आदि मे भाग लेता है। वह विश्व शान्ति और सुरक्षा के सम्बन्ध मे दूसरे देशो के शासनाध्यक्षो मे पत्र व्यवहार करता है। वह ही विदेशो मे सदभावना यात्राओ पर जाता है। वह ही भारतीय विदेश नीति के सम्बन्ध मे प्रमुख वक्तव्य देता है।

**3 मन्त्रिपरिषद और राष्ट्रपति के मध्य कडी**—प्रधान मन्त्री ही मन्त्रिपरिषद और राष्ट्रपति के मध्य कडी का कार्य करता है। संविधान का अनुच्छेद 78 प्रधान मन्त्री पर यह उत्तरदायित्व डालता है कि वह राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल के सभी निर्णयो से अवगत कराये। राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री से प्रशासन के सम्बन्ध मे या प्रस्तावित विधियो के सम्बन्ध मे सूचनायें प्राप्त कर सकता है। राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री से यह कह सकता है कि किसी मन्त्री द्वारा लिये गए निर्णय को मन्त्रिपरिषद् के समक्ष प्रस्तुत करे।

यह सत्य है कि कोई भी मन्त्री प्रधान मन्त्री की पूर्व स्वीकृति से राष्ट्रपति से मिल सकता है परन्तु प्रशासन के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को सूचनायें देने का कार्य प्रधान मन्त्री का ही है। दूसरे शब्दो मे राष्ट्रपति के पास प्रधान मन्त्री के अतिरिक्त प्रशासन के सम्बन्ध मे सूचनायें प्राप्त करने और मन्त्रि परिषद् के निर्णयो को जानने के लिए कोई अन्य साधन नही। यह सब इस प्रथा पर आधारित है कि राज्याध्यक्ष (राष्ट्रपति) मन्त्रियो से व्यक्तिगत परामर्श नही लेता क्योंकि यदि राष्ट्रपति व्यक्तिगत रूप से परामर्श लेना शुरू कर दे तो इससे दो खतरे उत्पन्न हो सकते हैं। प्रथम तो मन्त्रि परिषद की एकता और सुदृढता का खतरा उत्पन्न हो सकता है जिससे प्रधान मन्त्री की स्थिति और नेतृत्व कमजोर हो सकता है। दूसरे राष्ट्रपति का दैनिक प्रशासन मे हस्तक्षेप बढ जाने से उसके शक्तिशाली होने का भय बना रहता है। परन्तु यह सब राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री के व्यक्तित्व और पारस्परिक सम्बन्धो पर निर्भर करता है। यद्यपि भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद और प्रथम प्रधान मन्त्री प० नेहरू के पारस्परिक सम्बन्ध मधुर थे परन्तु फिर भी 1960 मे इण्डियन ला इन्स्टीट्यूट मे राष्ट्रपति द्वारा दिए गये भाषण से संघर्ष अवसर उत्पन्न

हुआ, हिन्दू कोड बिल, योजना, निजी सम्पत्ति की सीमा, सहकारी खेती और हिन्दी के प्रयोग के सम्बन्ध में दोनों के विचारों में पर्याप्त भिन्नता थी।

सन् 1967 के गणतन्त्र दिवस पर जब डा० एस० राधाकृष्णन ने "व्यापक होने से सदन का नेता अकुशलता और खाना के पार कुप्रबंध" की निन्दा की तो प्रधान मंत्री और राष्ट्रपति के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हुआ और यह कहा जाता है कि प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी ने उसी समय निश्चय कर लिया कि वे राष्ट्रपति का दोबारा उस पद के लिए समर्थन नहीं करेंगी। यही कारण है कि जब समय आया तो प्रधान मन्त्री ने डा० जाकिर हुसैन का समर्थन किया क्योंकि वह राष्ट्रपति पद पर ऐसा व्यक्ति चाहती थी जो उनके कार्यों में बाधा प्रस्तुत न कर या कम से कम सार्वजनिक रूप से सरकार की निन्दा न करे। सन् 1969 में भी जब प्रधान मन्त्री इन्दिरा ने स्वतन्त्र उम्मीदवार वी० वी० गिरि का समर्थन किया और कांग्रेस दल के प्रत्याशी संजीवा रेड्डी का विरोध किया तो उसमें भी भाव यही था कि वे ऐसे व्यक्ति को राष्ट्रपति पद पर चाहती थीं जो संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करे।

**4 लोक सभा के नेता**—लोक सभा में प्रधान मन्त्री बहुमत दल का नेता भी होता है। इस सम्बन्ध में इस प्रथा का विकास हुआ है कि यदि प्रधान मन्त्री लोक सभा का सदस्य न हो (जैसाकि इन्दिरा गांधी जनवरी 1966 में प्रधान मन्त्री नियुक्त की गयी तो वे राज्य सभा की सदस्य थीं) तो एक मन्त्री को सदन का नेता बना दिया जाता है।

लोक सभा के नेता के रूप में प्रधान मन्त्री के तीन प्रकार के कार्य हैं—पहले कार्य सदन की कार्यवाही से सम्बन्ध रखते हैं जिसके लिये वह स्पीकर से सम्पर्क बनाये रखता है, अर्थात वह लोक सभा के अधिवेशन को बुलाने और उसके सत्रावसान की तिथियाँ प्रस्तावित करता है, संसद में किये जाने वाले कार्य के प्रोग्राम को तैयार करता है। क्योंकि वह सदन की कार्यवाही परामर्श समिति (Business Advisory Committee) का सदस्य होता है अतः वह सरकारी विधेयकों के लिये समय भी निश्चित करता है। वह ही इस बात का निर्धारण करता है कि किन किन संशोधनों को स्वीकार किया जायेगा, गैर सरकारी सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किये गये किन विधेयकों का समर्थन किया जायगा और क्या किसी प्रश्न पर स्वतन्त्र मत प्राप्त किया जाये या कि सचेतक (whip) जारी किया जाय। संकट के समय में वह सदन को प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों पर भी परामर्श देता है। सदन में व्यवस्था और अनुशासन बनाये रखने में वह स्पीकर की सहायता भी करता है।

सदन के नेता के रूप में प्रधान मन्त्री के दूसरे कार्य सरकार से सम्बन्धित होते हैं अर्थात सदन में वह सरकार का मुख्य प्रवक्ता (chief spokesman) होता है। इस सम्बन्ध में वह सदन में सरकारी नीति को स्पष्ट करता है तथा प्रश्नों का उत्तर देता है और आवश्यकता हो तो किसी मंत्री द्वारा दिये गए उत्तर का स्पष्टीकरण करता

है। वह ही सभी महत्वपूर्ण विषयो के सम्बन्ध मे सदन को सूचित करता है और इस बात का ध्यान रखता है कि सरकारी विधेयक जो सदन म प्रस्तुत किय गए है वे पास हो जायें।

सदन के नेता के रूप मे प्रधान मत्री के तीसरे काय विरोधी दल से सम्बधित है। इस सम्बन्ध म वह न केवल विरोधी दल से सम्पर्क बनाये रखता है बल्कि उन विषयो पर जिनका सम्बन्ध राष्ट्रीय एकता और अखण्डता से है या अन्य विषय जो सावजनिक महत्त्व के है वह विरोधी दलो का समथन भी प्राप्त करने की कोशिश करता है। इसके लिए वह विरोधी दलो के साथ समय समय पर विचार विमश भी करता है। इतना ही नही वह विरोधी दलो के सदन म हितो की रक्षा करने का प्रयास भी करता है।

सक्षेप मे, सदन के नेता के रूप म प्रधान मत्री सदन की कायवाही पर नियन्त्रण रखता है, सरकारी नीतियो का स्पष्टीकरण करता है तथा विरोधीदल वालो से सम्पर्क बनाये रखता है।

**5 लोक सभा को भग कराने की शक्ति**—यह सत्य है कि सदन के अधिवेशनो को बुलाना, उसका सत्रावसान करना तथा उसे भग करना राष्ट्रपति का सवधानिक अधिकार है पर तु यह एक औपचारिकता है। व्यवहार म इस शक्ति का प्रयोग प्रधान मन्त्री करता है और राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री के परामश पर ही सदन के अधिवेशनो को बुलाता है, उसे सत्रावसान करता है तथा उसे भग करता है। भारत म पहली बार लोक सभा को प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाधी के परामश पर राष्ट्रपति वी० वी० गिरि ने समय से पूव 27 दिसम्बर 1970 को भग किया और लोक सभा के लिये नव निर्वाचन कराय। सदन का समय से पूव भग करने की शक्ति प्रधान मन्त्री के हाथो म ऐसा अस्त्र है जिसके माध्यम से वह न केवल अपने दल के सदस्यो को नियन्त्रण म रख सकता है बल्कि कुछ मात्रा तक विरोधी दलो की जिह्वा न द भी कर सकता है। जैसाकि हरमन फाइनर ने लिखा है कि "लोक सभा का कुछ रचनात्मक उत्साह मन्त्रिमण्डल द्वारा भग करने की धमकी से नष्ट हो जाता है। यह एसी शक्ति है जिसके द्वारा प्रधान म त्री जिद्दी लोक सभा को सही रास्ते पर ला सकता है। सदन का कोई भी सदस्य, चाहे वह बहुमत दल का हो या विरोधी दल का, समय से पूव अपनी सदस्यता को छोडना नही चाहता। पुनर्निर्वाचन की अनिश्चितता और खर्चे से हर सदस्य घबराता है। इस तरह यह शक्ति सदन के सदस्यो के ऊपर शमशीर की भाति लटकी रहती है। यही शक्ति प्रधान म त्री को 'ससद का स्वामी" (Master of Parliament) बनाती है। यह सत्य है कि प्रधान म त्री इस शक्ति का राजनीतिक हितो के लिए दुरुपयोग कर सकता है पर तु ससदात्मक प्रणाली म इसका कोई विकल्प नही सिवाय इसके कि राष्ट्रपति सतकता से काम ले और इसका दुरुपयोग न होने दे विशेषकर उस परिस्थिति म जब प्रधान मन्त्री लोक सभा म बहुमत का समथन खो बठा हो और वह अल्पमत म हो।

6 दल का नेता—यद्यपि दल के नेता के पद और प्रधान मन्त्री के पद एक दूसरे के पूरक नजर आते हैं परन्तु भारत में ये दोनों पद एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी रहे हैं। अन्ततः प्रधान मन्त्री का नेतृत्व ही निर्णायक सिद्ध हुआ है। प्रारम्भ से ही दल के अध्यक्ष और प्रधान मन्त्री में शक्ति के लिये संघर्ष रहा। उदाहरणतया 1947 में पं० नेहरू और कांग्रेस अध्यक्ष आचार्य कृपलानी में इस बात पर भेद उत्पन्न हुए कि प्रधान मन्त्री को मन्त्रिमण्डल का निर्माण और नीतियों का निर्धारण कांग्रेस अध्यक्ष के परामर्श पर करना चाहिये। यह भेद इतने उग्र हो गये कि आचार्य कृपलानी को त्याग पत्र देना पड़ा। इसी प्रकार 1950 में सरदार पटेल की मृत्यु के बाद कांग्रेस अध्यक्ष पी० डी० टण्डन को त्याग पत्र देना पड़ा। बाद में तो पं० नेहरू ने दोनों पदों को कांग्रेस संविधान के विरुद्ध अपने पास रखा और जब इन्हें पृथक भी किया गया तो उन्हीं व्यक्तियों को कांग्रेस अध्यक्ष बनाया गया जो नेहरू की हाँ में हाँ (yes men) मिलाने वाले थे। यद्यपि 1964 में नेहरू की मृत्यु के बाद केवल कांग्रेस अध्यक्ष कामराज ने ही नहीं बल्कि राज्यों के मुख्य मन्त्रियों ने भी 'सम्राट निर्माता" (King maker) की भूमिका को निभाया परन्तु 1969 में प्रधान मन्त्री का नेतृत्व फिर उभर कर सामने आया जब राष्ट्रपति पद के लिये कांग्रेस का उम्मीदवार पराजित हुआ और निर्दलीय उम्मीदवार श्री वी० वी० गिरि राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। सन् 1969 में कांग्रेस का विघटन हुआ। सन् 1971 के चुनाव के बाद तो प्रधान मन्त्री दल का सर्वेसर्वा बन गया। वर्तमान स्थिति यह है कि प्रधान मन्त्री केवल मन्त्रियों की निर्माता ही नहीं है बल्कि दलीय संगठन पर उसका पूरा नियन्त्रण है। यदि प्रधान मन्त्री ने अपने मित्रों का जैसे दिनेश सिंह और फखरुद्दीन अली अहमद को मन्त्री पदों से विभूषित किया (सन् 1974 में श्री फखरुद्दीन अली अहमद के राष्ट्रपति पद पर निर्वाचन मित्रता की भेंट कहा जा सकती है) तो मोरारजी जैसे राजनीतिक शत्रुओं को दण्डित भी किया और साथ में सी० सुब्रह्मण्यम को दल का अन्तरिम अध्यक्ष नियुक्त किया और बाद में श्री जगजीवनराम ने दल और मन्त्रिपद को एक साथ सम्भाला। जिस ढंग से दल ने जून 1975 में प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी का समर्थन इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय के बाद (जिसमें प्रधान मन्त्री को चुनाव में भ्रष्टाचार के लिये दोषी पाया गया और उन्हें 6 वर्ष के लिये चुनाव लड़ने से निलम्बित कर दिया) किया वह प्रधान मन्त्री के दल पर अधिकार, और नियन्त्रण की अभिव्यक्ति करता है। यह इस बात को भी व्यक्त करता है कि सत्ता शासन के हाथ में है और दल अधिक से अधिक 'प्रभाव' डाल सकता है। कोचनक ने ठीक कहा था कि 'औपचारिक शक्तियों के अतिरिक्त प्रधान मन्त्री दल और शासन का यथार्थ नेता है।'[1]

---

1 Kochanek Congress Party of India p 431 Quoted by Johari, J C Indian Government and Politics p 284

**7 सरक्षण की व्यापक शक्तियाँ**—प्रधान मन्त्री के पास सरक्षण की व्यापक शक्तिया है। राष्ट्रपति द्वारा जितनी महत्त्वपूर्ण नियुक्तिया की जाती है वस्तुत उनकी नियुक्ति प्रधान मन्त्री के परामश पर ही की जाती है। वस्तुत सविधान द्वारा जितनी शक्तिया राष्ट्रपति को प्रदान की गयी है, चाहे वे सामान्य शक्तिया हो, या असामान्य, उनका वास्तविक प्रयोग प्रधान मन्त्री ही करता है। प्रधान मन्त्री की विस्तृत शक्तिया और व्यापक प्रभाव को गाडगिल ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है "प्रधान मन्त्री को इतनी अधिक शक्तिया और प्रभाव से विभूपित किया गया है कि यदि वह स्वभाव से सच्चा लाकतान्त्रिक नही है तो वह अधिनायक बन सकता है।"

*प्रधान मन्त्री की स्थिति का मूल्याकन*—उपयुक्त वणन से स्पष्ट है कि भारतीय प्रधान मन्त्री के पास शक्तिया और प्रभाव का भण्डार है। वह देश का वास्तविक शासक है और ससद मे पूण बहुमत रहते वह मनमानी कर सकता है। इस पर भी मन्त्री सीजर, जार, हिटलर या मुसालिनी नही बन सकता। वह अधिनायक नही बन सकता क्योकि अधिनायकता की सवदा अग्नि परीक्षा होती रहती है। उसका स्वय का दल, विरोधी दल, ससद, जनमत, छापाखाना आदि सब उसके कार्यो, चरित्र और विचारो की निरन्तर समीक्षा करते रहते है। उसके अपने दल के असन्तुष्ट सदस्य उसे परेशान ही नही करते बल्कि उसके लिये अनेक गम्भीर समस्यायें भी पदा करते है। उसके स्वय के साथी (मन्त्रि परिषद के सदस्य) उसकी निरन्तर समीक्षा करते रहते है और स्वय सत्ता हथियाने के लिए उसके प्रतिद्वन्दी बन जाते है। विरोधी दल उसे केवल तग ही नही करता बल्कि प्रत्येक अवसर पर उसे अकमण्य, अकुशल और भ्रष्ट सिद्ध करने की कोशिश करता है। जनमत और छापाखाना उस पर निरन्तर प्रभाव डालता रहता है। ये सब तत्त्व प्रधान मन्त्री के मस्तिष्क पर प्रभाव डालते रहते है तथा उसकी नीतिया कार्यों और विचारो को प्रभावित करते रहते है। जैसाकि हमन फाइनर ने लिखा है कि 'प्रधान मन्त्री कोई सीजर नही और उसकी स्थिति एसी है जिसे चुनौती दी जा सके। उसके विचार भी अनुलघनीय नही है। उसकी सत्ता का एक मात्र आधार यह है कि वह राष्ट्र की कितनी सेवा कर सकता है। किसी भी समय उसका प्रतिद्वन्द्वी उसका स्थान ग्रहण कर सकता है।'

उपयुक्त वणन से स्पष्ट है कि प्रधान मन्त्री अधिनायक नहीं बन सकता। अधिक से अधिक वह सवधानिक अधिनायक बन सकता है। परन्तु उसकी यह सवधानिक अधिनायकता भी निम्न दो शर्तों पर निभर करती है—

(1) प्रधान मन्त्री का व्यक्तित्व कसा है? यदि प्रधान मन्त्री उच्च कोटि का बुद्धिमान व्यक्ति है, यदि उसके पास अनुभव है, यदि उसकी प्रकृति स्वाधिकार युक्त है, यदि वह दृढ सकल्प वाला है, यदि उसका व्यक्तित्व प्रभावपूण है और यदि उसकी पीठ पर ठोस एव सुदृढ बहुमत का हाथ है तो वह राष्ट्र का भाग्य निमाता बन सकता है। भारत के तीनो प्रधान मन्त्रिया (नेहरू, शास्त्री और इन्दिरा) के ... मे यह बात खरी उतरती है। यदि नेहरू का व्यक्तित्व प्रभावपूर्ण था तो पटेल

प्रतिनिधि उनका विरोध करना था किसी को साहस नहीं था। शास्त्री जी कद में छोटे और स्वभाव से नम्र थे परन्तु 1965 के भारत पाकिस्तान युद्ध ने उनकी दृढ़ता, कार्यकुशलता और विलक्षण बुद्धि को स्पष्ट कर दिया था। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने यद्यपि कामराज सिण्डीकेट की सहायता से प्रधान मन्त्री पद को प्राप्त किया था परन्तु उनकी [illegible] और आज स्थिति यह है कि उनकी तुलना जोन आफ आर्क, [illegible] रानी झांसी और माता दुर्गा से की जाती है।

(ii) प्रधान मन्त्री की शक्ति और प्रभाव का मूल आधार जनता है। जो प्रधान मन्त्री जनता का पूर्ण समर्थन प्राप्त कर सकता है वह कुछ भी कर सकता है। यह तथ्य भी भारत के सभी प्रधान मन्त्रियों पर लागू होता है। श्रीमती इन्दिरा गांधी के सम्बन्ध में यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है कि जब जब उन्हें चुनौती दी गयी तब-तब उनकी व्यक्तिगत [illegible] और जनता ने उन्हें पूर्ण समर्थन दिया। सर्वप्रथम उन्होंने अपनी शक्ति का प्रदर्शन 1969 में किया जब पार्टी की आवाज का ध्यान न रखकर राष्ट्रपति पद के लिए कांग्रेस के उम्मीदवार को पराजित कर विपरीत उम्मीदवार को राष्ट्रपति पद पर जिताया। 1969 में कांग्रेस विभाजन ने उनकी स्थिति को कमजोर प्रकट किया और 1970 में न्यायालय द्वारा किए गये बैंकों के राष्ट्रीयकरण और राजाओं के प्रिवीपर्स के मुकदमों में निर्णय ने (न्यायालय ने इन दोनों को अवैध घोषित कर दिया था) उनकी नीतियों पर प्रहार किया परन्तु 1971 के मध्यावधि चुनाव में जनता ने उनका पूर्ण समर्थन किया और 1971 में 24 वें 25 वें व 26 वें संशोधनों द्वारा न्यायालय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को शिथिल किया। 1975 में इलाहाबाद हाईकोर्ट के निर्णय [illegible] है। इस चुनौती का सामना वे कैसे करती हैं यह भविष्य ही निश्चित करेगा। वर्तमान में यही कहा जा सकता है कि उन्हें जनता का पूर्ण समर्थन प्राप्त है।

## प्रधान मन्त्री पद का राष्ट्रपतीयकरण या प्रधान मन्त्रीय प्रणाली की सरकार (Presidentialisation of Prime Minister's Office or Prime Ministerial Government)

पिछले कुछ वर्षों में भारतीय प्रधान मन्त्री के हाथों में इतनी अधिक शक्तियों का केन्द्रीयकरण हो गया है कि मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली की सरकार का अध्यक्ष कहने के स्थान पर उसे प्रधानमन्त्रीय प्रणाली की सरकार का अध्यक्ष कहा जाता है। अनेक लेखकों ने तो प्रधान मन्त्री पद को राष्ट्रपतीय पद की संज्ञा भी दी है।[1] इसका कारण यह है कि मन्त्रिपरिषद के सदस्य प्रधान मन्त्री के समकक्ष नहीं रहे वे उसके अभिकर्ता या सहायक (agents or assistants) मात्र बन कर रह गये हैं, दल पर उसका पूरा नियन्त्रण है और लोक सभा में पूर्ण बहुमत होने से अविश्वास के प्रस्ताव के पास होने की कल्पना भी कठिन है। उसके निजी परामर्शदाता हैं जो

1 See Johari, J C Ibid, pp 288 293

प्रधान मन्त्री की निजी कूटनीति के सन्देश वाहक हैं उसका प्रधानमन्त्रीय सचिवालय है जो अन्य मन्त्रालयों से सम्पर्क ही स्थापित नहीं करता बल्कि उन्हें निर्देशन भी देता है और आवश्यकता हो तो उनकी उपेक्षा भी करता है और उन्हें फटकार भी देता है, निर्वाचन दलीय होने के स्थान पर प्रधानमन्त्रीय निर्वाचन' बन कर रह गये हैं। इन सभी तत्त्वों ने मिल कर भारतीय प्रधानमन्त्री के पद का राष्ट्रपतियकरण (Presidentialisation) किया है। संसदीय शासन का अध्यक्ष होते हुए भी प्रधान मन्त्री में अमेरिकी राष्ट्रपति के गुण पाये जाते है। इन्ही गुणो के कारण प्रधान मन्त्री के पद का राष्ट्रपतियकरण हुआ है। जो गुण उसका राष्ट्रपतियकरण करते हैं उनमे प्रमुख निम्न हैं—

1 **निर्वाचन प्रधानमन्त्रीय निर्वाचन है**— जिस तरह मे अमरीका म निर्वाचन "नेता" के नाम से लडे जाते है और जनता नेता का ही चुनाव करती है उसी प्रकार भारतीय ससदात्मक प्रणाली के निर्वाचन मे भी यही तत्त्व पाया जाता है। सन् 1971 के लोक सभा का मध्यावधि चुनाव वस्तुत 'प्रधान मन्त्री" का निर्वाचन था। इस चुनाव की सबसे बडी विशेषता यह थी कि प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने अपने प्रगतिशील, आशावादी, लोकतन्त्रवादी, समाजवादी और धर्म निरपेक्षतावादी स्वरूप को प्रस्तुत किया और गरीबी हटाओ का नारा देकर सारे राष्ट्र की मनोदशा को अपने पक्ष मे कर लिया। दूसरी ओर, विरोधी दलो का दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी निराशावादी, लोकतन्त्र विरोधी, समाजवाद विरोधी होने से वे साधारण भारतीय जन मानस को अपील न कर सके। यही कारण था कि इन्दिरा हवा' (Indira Wave) ने सारे राष्ट्र को प्रभावित किया और उसे लोकसभा मे पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। भारतीय प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी का भारतीय जनता के साथ यह सीधा सम्पर्क था जिसने प्रधान मन्त्री का पूर्ण साथ दिया। इस निर्वाचन मे "इन्दिरा बचाओ और 'इन्दिरा हटाओ' के नारे ठीक उस प्रकार लगाये गये जिस प्रकार अमरीका मे राष्ट्रपति निर्वाचन मे कनडी बनाम निकसन या निकसन बनाम मेकगवर्न के नारे लगाये जाते रहे है। सन् 1972 के राज्य विधान सभाओ के निर्वाचन मे भी इन्दिरा हवा का प्रभाव अत्यधिक था। जून 1975 के गुजरात निर्वाचन मे यद्यपि इस "हवा' का व्यापक प्रभाव नही रहा परन्तु 26 जून 1975 की आपात स्थिति की घोषणा ने जिस आशावाद, स्थिरता और राष्ट्रीय अनुशासन को जन्म दिया है उससे स्पष्ट है कि प्रधान मन्त्री के नेतृत्व और उनके 21 सूत्रीय आर्थिक कार्यक्रम को जनता का पूर्ण समर्थन है। यह प्रधान मन्त्री श्रीमती गाधी के विकासशील व्यक्तित्व का अद्वितीय उदाहरण है। किसी एक नेता के व्यक्तित्व का अपनी जनता पर इतना व्यापक और जादुई प्रभाव प्रजातान्त्रिक शासनो के इतिहास मे एक मात्र है। यह उनके व्यक्तित्व और व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण का चमत्कार (Charisma है। गुजरात मे बाबूभाई पटेल के नेतृत्व मे जनता मोर्चे की सरकार का निर्माण किया गया है।

**2 मन्त्री प्रधान मन्त्री के समकक्ष नहीं, अभिकर्त्ता और सहायक हैं**—श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधान मन्त्रित्व काल की एक विशेषता यह है कि मन्त्रिमण्डल मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली की सरकार के रूप में कार्य नहीं कर रहा बल्कि प्रधान मन्त्रीय प्रणाली की सरकार के रूप में कार्य कर रहा है। अमरीकी प्रणाली भांति भारतीय मन्त्रिमण्डल सहयोगियों (Colleagues) की जमात नहीं जो एक दूसरे से मिलकर, एक दूसरे के सहयोग पर निर्भर रह कर कार्य करते हैं बल्कि यह ऐसी प्रणाली है जिसमें मन्त्रियों की स्थिति अधीनस्थ की है। जिस तरह से अमरीकी मन्त्रिमण्डल की बठकों में राष्ट्रपति की इच्छा मन्त्रियों (सचिवों) की इच्छा होती है उसी प्रकार भारतीय मन्त्रिमण्डल की बैठकों में प्रधान मन्त्री की इच्छा मन्त्रिमण्डल की ही नहीं दल की भी इच्छा होती है। यहां भी प्रधान मन्त्रीय नियन्त्रण का मूल उद्देश्य, अमरीकी अध्यक्षात्मक प्रणाली की भांति, राष्ट्रीय नीतियों में एकता मन्त्रिमण्डलीय सुदृढ़ता और दलीय अनुशासन को बनाये रखना है। दूसरे शब्दों में, भारतीय मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली में राष्ट्रपतीय प्रणाली की विशेषताओं का समावेश अत्यधिक होने लगा है।

अमरीका की भांति भारत में मन्त्रियों का प्रधान मन्त्री की उत्पत्ति समझा जाता है जो उन्हें इच्छा से पदच्युत कर सकता है अर्थात् प्रधान मन्त्री इच्छा से मन्त्रियों को लाभ या पुरस्कार दे सकता है और विरोधियों को दण्डित कर सकता है। भारत में किसी भी मन्त्री को मन्त्रिमण्डल से निकाला जा सकता है और किसी को भी प्रधानमन्त्री की इच्छा से मन्त्रिमण्डल पद से विभूषित किया जा सकता है। किसी का भी एक मन्त्रालय से दूसरे मन्त्रालय में बदला जा सकता है। शासन मन्त्रिमण्डल का नहीं, प्रधानमन्त्री का है मन्त्री लोकसभा के प्रति उत्तरदायी नहीं प्रधान मन्त्री के प्रति उत्तरदायी है, मन्त्री 'प्रासाद रक्षक (palace guards) हैं प्रासाद के सहवासी (inmates of the palace) नहीं। ये सब तत्व अध्यक्षात्मक या राष्ट्रपतीय प्रणाली की सरकार के तत्व हैं मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली की सरकार के नहीं।

भारत में, अमरीका की भांति संघात्मक शासन व्यवस्था है परन्तु जहां अमरीका में संघ के घटक अधिक स्वायत्तता का उपभोग करते हैं तथा राज्यों के गवर्नरों का राज्य की जनता द्वारा चुना जाता है वहां भारत में राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है जिसका वास्तविक अर्थ है कि उनकी नियुक्ति केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल द्वारा होती है। इसमें प्रधानमन्त्री की इच्छा ही अधिक बलशाली होती है। इतना ही नहीं, एक दल की प्रधानता होने के कारण राज्यों के मुख्यमन्त्रियों पर भी केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण रहता है। क्योंकि प्रधान मन्त्री का दल और शासन पर नियन्त्रण है अतः अनेक परिस्थितियों में राज्यों के मुख्य मन्त्रियों का चयन भी प्रधान मन्त्री के हाथों में रहता है। उदाहरणतया मध्य प्रदेश में श्यामाचरण शुक्ल के स्थान पर प्रकाश चन्द्र सेठी ने असम में एम० एम० चौधरी के स्थान पर शरत् चन्द्र सिन्हा ने, उत्तर प्रदेश में बहुगुणा ने, उड़ीसा में श्रीमती नन्दिनी सतपथि ने और

बिहार में जगन्नाथ मिश्र ने प्रधान मन्त्री के परामर्श पर ही मुख्य मन्त्री के पद को ग्रहण किया। दूसरे शब्दों में, अमरीकी राष्ट्रपति की भांति भारतीय प्रधान मन्त्री का नियन्त्रण समूचे राष्ट्र पर रहता था।

3 निजी कूटनीति—राष्ट्रपतीय (अध्यक्षात्मक) प्रणाली की सरकार की एक विशेषता यह होती है कि राष्ट्रपति नीतियों का निर्माण, विशेष कर विदेश नीति का निर्माण स्वयं निर्धारित करता है और इसमें वह 'निजी कूटनीति' का प्रयोग करता है। इस सम्बन्ध में वह ऐसे विश्वासपात्र मित्रों या परामर्शदाताओं का सहारा लेता है जिनका महत्त्व मन्त्रियों से भी अधिक समझा जाता है। उदाहरणतया अमरीका में राष्ट्रपति रूजवेल्ट अपने मन्त्रियों के स्थान पर अपने मित्र हैरी हॉपकिन्स पर अधिक निर्भर करते थे, राष्ट्रपति ट्रूमैन जाज एलन पर निर्भर करते थे और राष्ट्रपति निक्सन किसिंगर पर अत्यधिक निर्भर करते थे। इतना ही नहीं, इन तथा अन्य राष्ट्रपतियों ने अपने इन सन्देश वाहकों को अपने मन्त्रियों से भी उच्च स्थान प्रदान किया और उनकी प्रतिष्ठा बचाने के लिये मन्त्रियों के परामर्श की उपेक्षा की या उन्हें पदच्युत किया।

अमरीकी राष्ट्रपति की भांति भारतीय प्रधान मन्त्री ने भी अपनी निजी कूटनीति का सहारा लिया है। उदाहरणतया सर्वश्री डी० पी० धर, पी० एन० हक्सर और जी० पार्थसारथी प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के विश्वास पात्र परामर्शदाता रहे हैं। कुछ परिस्थितियों में इन विश्वासपात्र परामर्शदाताओं का महत्त्व मन्त्रियों से भी अधिक रहा है। उदाहरणतया सन् 1972 में भारतीय प्रधान मन्त्री और पाकिस्तानी राष्ट्रपति के शिखर सम्मेलन से पूर्व श्रीमती गांधी ने विदेश मन्त्री के स्थान पर श्री डी० पी० धर को इस्लामाबाद से प्रारम्भिक वार्ताओं के लिये भेजा। जून जुलाई 1972 में शिमला समझौते के समय श्री धर की भूमिका अति विदेश मन्त्री (Super-Foreign Minister) जैसी थी। इसी तरह पी० एन० हक्सर ने बंगला देश की सरकार से और जी० पार्थसारथी ने जम्मू कश्मीर के प्लेबीसाइट फ्रण्ट (Plebiscite Frnt) के साथ प्रारम्भिक वार्तायें कीं। मन्त्रिमण्डलात्मक प्रणाली में इन सन्देश वाहकों का प्रयोग राष्ट्रपतीय प्रणाली का प्रतीक है।

4 प्रधानमन्त्रिय सचिवालय—भारतीय प्रधानमन्त्री के राष्ट्रपतीयकरण में प्रधानमन्त्री के सचिवालय का अत्यधिक हाथ है। इस सचिवालय में सभी मन्त्रालयों से सम्बन्धित खण्ड (sections) हैं जो मन्त्रालयों से सम्पर्क ही स्थापित नहीं करते या उनसे सूचनायें ही प्राप्त नहीं करते बल्कि उन्हें सूचनायें देते हैं, निर्देश देते हैं, उनके परामर्श की उपेक्षा करते हैं तथा आवश्यकता होने पर उन्हें चेतावनी भी देते हैं। इस सचिवालय की सहायता से प्रधानमन्त्री किसी मन्त्रालय से सूचनायें प्राप्त किये बिना ही स्वतन्त्र निर्णय ले सकता है। विदेश नीति विषयक नियोजन समिति के सम्बन्ध में तो यह कहा जाता है कि वह विदेश मन्त्रालय के समानान्तर कार्य करती है।

उपयु क्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत मे प्रधानमन्त्री का पद राष्ट्रपतीय स्वरूप ग्रहण करता चला जा रहा है जिसके अनेक दूरगामी परिणाम हो सकते है। एम चेलापथी राव ने ठीक लिखा है कि ससदात्मक प्रणाली म प्रधानमन्त्री सयुक्त राष्ट्र के राष्ट्रपति की भाति नही होता क्योकि वह निमम (निरय) प्रचार के अधीन होता है और उसकी विस्तृत कार्यपालिका शक्ति का प्रत्येक दिशा स चुनौती दी जाती है पर तु सुरक्षित सत्ता के कारण जिसे आज का प्रधानम त्री अपने पास रखता है, प्रधानमन्त्री राष्ट्रपतीय स्वरूप को ग्रहण कर रहा है और शासन चलान के उसके अपने ढग है, बशर्ते कि वह अल्पकालिक न हो।'[1]

## तीन प्रधान मन्त्रियो (नेहरू-शास्त्री इन्दिरा) की राजनीतिक व्यूह रचनाओ का तुलनात्मक अध्ययन

## (A Comparative Study of Political Strategy of Three Prime Ministers—Nehru Shastri Indira)

तीना प्रधान मन्त्रियो की राजनीतिक व्यूह रचनायें इस एक तथ्य स स्पष्ट हैं कि प्रधान मन्त्री नेहरू मन्त्रिमण्डलात्मक प्रथाओ के सबसे समथक और भारत म उनकी स्थापना के लिये उत्तरदायी थे शास्त्रीजी ने उन प्रथाओ का दृढतापूर्वक अनुसरण किया और इन्दिराजी ने प्रधान म त्रीय शासन प्रणाली का स्थापित करने का प्रयास किया है। इस काल म शासन मन्त्रिमण्डलात्मक होने के स्थान पर प्रधान म त्रीय या अध्यक्षात्मक अधिक है।

नेहरूजी का व्यक्तित्व अत्यधिक प्रभावशाली था। वे राष्ट्र के असन्दिग्ध नेता थे और सन् 1950 म सरदार पटेल की मृत्यु के बाद व दल और शासन क भी असन्दिग्ध नेता बन गये। वे मन्त्रिमण्डल के सदस्यो को अपनी इच्छा से नियुक्त करते थे, अपनी इच्छा से उन्हे पदच्युत भी करते थे तथा उनके विभागो मे हेर-फेर भी करते थे। परन्तु फिर भी वे मन्त्रिमण्डल के सदस्यो को अपना साथी और सहयोगी मानते थे। वे उनके परामश की उपेक्षा नही करते थे और न ही उनके साथी उनके समक्ष, या मन्त्रिमण्डल की बैठको, ससद आदि मे अपने विचारो को स्वतन्त्र रूप स अभिव्यक्त करने म घबराते थे। नेहरूजी मूलत लोकतान्त्रिक (Demo ratic) थे और अपने साथियो और कुछ मात्रा म प्रतिपक्ष के परामश को महत्त्व देते थे। उदाहरण तया राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद के परामश पर उन्होने जगजीवन राम को मन्त्रिमण्डल मे शामिल किया, मौलाना आजाद के परामश पर ही उन्होने राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद को दोबारा राष्ट्रपति पद के लिये चुना और 1962 म नेफा पराभव (debacle) के बाद इच्छा न होते हुए भी कृष्णा मेनन को मन्त्रिमण्डल से निकाल दिया। इतना ही नहीं, एक लोकतान्त्रिक की भाति नेहरूजी न एस० के० पाटिल, मोरारजी

---

1 Rau M Chalapathi 'Jawahar and Indira in Blitz (Bombay) Nov 17, 1973 p 14 Quoted by Johari, J C Ibid p 293

दमाई जसे कष्टकारी साथियो से छुटकारा पाने के लिये 1963 मे "कामराज कुलहाडी" (Kamaraj axe) का प्रयोग किया। इसी प्रकार प्रधान मन्त्री नेहरू ने राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के परामर्श पर ही 1950 मे हिन्दू कोड बिल पर विचार स्थगित किया और 1958-59 म सहकारी कृषि भूमि की उच्चतम सीमा अनाज का राष्ट्रीयकरण आदि पर निर्णयो को स्थगित कर दिया। परन्तु इसका यह अर्थ भी नही कि नेहरू न साथियो के हर परामर्श को स्वीकार किया। उदाहरणतया 1960 प्रशासन म भ्रष्टाचार के अपराधो की जाच के लिय एक स्वतन्त्र ट्रिब्यूनल के सी डी देशमुख, जो नेहरू मन्त्रिमण्डल म पहले वित्त मन्त्री थे, के सुझाव को स्वीकार नही किया।

प्रधान मन्त्री नेहरू ने अपने प्रधानमन्त्रित्व काल म जिन स्वस्थ मन्त्रिमण्डलात्मक परम्पराओ को स्थापित किया उनम प्रमुख निम्न हैं—

(i) **मन्त्रिमण्डल पर प्रधानमन्त्री की सर्वोच्चता**— प्रधान मन्त्री नेहरू ने अपने शासन काल म इस प्रथा को दृढतापूर्वक स्थापित कर दिया कि मन्त्रियो के चयन, उनकी पदच्युति और स्थानान्तरण म विभागो की गतिविधियो के निर्देशन और पारस्परिक सहयोग म प्रधानमन्त्री की इच्छा निर्णायक है। जब पटेल ने प्रधानमन्त्री द्वारा दूसरे मन्त्रियो के मन्त्रालयो म हस्तक्षेप पर आपत्ति की और नेहरू को एक पत्र मे यह विचार व्यक्त किया कि प्रधानमन्त्री का पद श्रेष्ठता का है। वह समकक्षो मे प्रथम है। परन्तु उसे अपने साथियो की शक्ति को अधिभावित (over riding) करने का अधिकार नही। यदि ऐसा है तो मन्त्रिमण्डल और मन्त्रिमण्डलात्मक उत्तरदायित्व व्यर्थ है। तो प्रधानमन्त्री नेहरू ने इसका स्पष्ट और दृढ उत्तर देते हुए कहा कि 'यदि प्रधान मन्त्री का स्वतन्त्र निर्णय लेने का अधिकार नही तो वह अपने कार्यो को ठीक प्रकार से नही कर सकता।" यदि मुझे प्रधान मन्त्री रहना है तो मैं अपनी स्वतन्त्रताओ पर मर्यादाओ को स्वीकार नही कर सकता। प्रारम्भिक अनुभवो के बाद नेहरूजी ने पटेल की मृत्यु के बाद उप प्रधान मन्त्री पद को ही समाप्त कर दिया।

(ii) **मन्त्रिमण्डल की राजनीतिक मतैक्यता**—दूसरी मन्त्रिमण्डलात्मक प्रथा जिसकी प्रधान मन्त्री न स्थापना की वह मन्त्रिमण्डल के राजनीतिक मतैक्यता से सम्बन्धित थी। यद्यपि नेहरू न प्रारम्भ म 5 गैर काग्रेसी सदस्यो को (सर्वश्री सी० एच० भाभा, एम० पी मुखर्जी सन्मुखम चेट्टी, जॉन मथाई, और डा० बी० आर० अम्बेदकर को अपने मन्त्रिमण्डल म लिया था परन्तु भेद उत्पन्न होन पर उन्हे त्याग पत्र देना पडा। उसके बाद नेहरू ने अपने मन्त्रिमण्डल म केवल काग्रेस दल के सदस्यो को ही लिया। इतना ही नही, प्रधान मन्त्री नेहरू ने अपने मन्त्रिमण्डल म से अपने ही दल के उन सदस्यो को निकाल दिया जो उनके विचारो से मेल नही खाते थे अर्थात नेहरू न पटेल की मृत्यु के बाद पटेल के अनुयायियो को जसे के० एम० मुन्शी आर० आर० दिवाकर, एन० वी० गाडगिल को निकाल दिया। इस प्रथा का

कारण उनके उत्तराधिकारियों ने भी किया। इस तरह भारत में मन्त्रिमण्डल के लिये राजनीतिक मतैक्यता के सिद्धान्त का विकास मिला।

(iii) शासन की सर्वोच्चता—तीसरी मन्त्रिमण्डलात्मक प्रथा जिसकी स्थापना नेहरू काल में की गयी वह शासन की सर्वोच्चता का सिद्धान्त है अर्थात शासन दल से निर्देशन प्राप्त नहीं करता बल्कि दल शासन से निर्देशन प्राप्त करता है। नेहरू का कथन था कि शासन संसद के प्रति उत्तरदायी है, दल के प्रति नहीं। अतः दल का संगठन प्रधानमन्त्री की भूमिका पर मर्यादायें नहीं लगा सकता। दल की भूमिका प्रधानमन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल के हाथों को सुदृढ़ करना तथा उसकी नीतियों को जनता तक पहुँचाना है। जिस ढंग से नेहरू ने 1947 में आचार्य कृपलानी और 1951 में पुरुषोत्तम दास टण्डन (दोनों कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर थे) से छुटकारा पाकर प्रधानमन्त्री की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को लागू किया उसे उनके उत्तराधिकारियों ने अपनाया है। इंदिरा गांधी के शासन काल में (प्रारम्भिक काल को छोड़ कर) प्रधानमन्त्री का दल पर जो नियन्त्रण है वह अद्वितीय और आश्चर्यजनक है।

शास्त्रीजी के प्रधानमन्त्रित्व का शासनकाल अत्यधिक छोटा है पर फिर भी इस छोटे से काल में उन्होंने साहस, दृढ़ निश्चय, निर्णायक बुद्धि और नेतृत्व का परिचय दिया। यद्यपि उनके चयन के समय सिण्डीकेट ने सामूहिक नेतृत्व (Collective leadership) के सिद्धान्त की कल्पना की थी परन्तु शास्त्रीजी ने अपने मन्त्रिमण्डल के प्रथम हेरफेर में ही स्पष्ट कर दिया कि वे मन्त्रियों की नियुक्ति, उनकी पदच्युति, उनके विभागों में हेरफेर में अपनी सत्ता का स्वतन्त्र और निर्बाध रखना चाहते हैं। जैसाकि उन्होंने कहा था कि 'जहाँ तक मेरे मन्त्रिमण्डल की रचना का सम्बन्ध है मैंने किसी व्यक्ति से परामर्श नहीं किया उसमें नियुक्ति और परिवर्तन मैंने किये हैं मैं भविष्य में भी इस शक्ति को अपने पास रखना चाहता हूँ।'[1] 1965 के भारत पाकिस्तान युद्ध में उनके निर्णय राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन तक के लिये आश्चर्यजनक थे। लाहौर क्षेत्र में सेनायें भेजने का निर्णय उनका स्वयं का था। जनवरी 1966 में ताशकन्द में जिस दृढ़ता साहस और आत्मविश्वास का उन्होंने परिचय दिया वह उनके व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करता है।

प्रधानमन्त्री इंदिरा गांधी ने अपने प्रधान मन्त्रित्व पद को एक निर्बल प्रधानमन्त्री के रूप में शुरू किया। इतना ही नहीं, 1967 के चौथे चुनाव में कांग्रेस पराजय (debacle) के बाद उप प्रधानमन्त्री पद (Post of Deputy Prime Minister) को जिसे नेहरू ने 1950 में सरदार पटेल की मृत्यु के बाद समाप्त कर दिया था पुनः स्थापित किया गया। इस पद पर मोरारजी देसाई को नियुक्त किया गया।

1 See Mankekar D R Lal Bahadur A Biography Quoted by Gupta D C National Movement and Constitutional Development p 456

Flaming Soul of Nation's Personality), आदि। ये सज्ञायें प० जवाहरलाल नेहरू को 17 वष के प्रधानमंत्रित्व काल के वाद म भी नही दी गयी थी।

## समीक्षा प्रश्न
### (Review Questions)

1 भारतीय मंत्रि परिषद की प्रमुख विशेषताओं की व्याख्या कीजिये।

2 मंत्रि परिषद और मंत्रिमण्डल मे क्या अन्तर है ? मंत्रि परिषद की रचना, काय और स्थिति का वणन कीजिय।

3 "समकक्षो मे प्रथम" क्या यह कथन भारतीय प्रधान मंत्री की शक्ति और स्थिति का सही मूल्याकन ह ? व्याख्या कीजिये।

4 "श्रीमती इंदिरा गाधी की नई राजनीतिक व्यूह रचनाओं के कारण ससदात्मक शासन ने प्रधान मंत्रीय शासन का रूप ग्रहण कर लिया है।' क्या आप इस कथन से सहमन हे ? कारण सहित उत्तर लिखिये।

5 भारत के प्रधान मन्त्री के रूप मे जवाहरलाल नेहरू, लाल बहादुर शास्त्री और इंदिरा गाधी की राजनीतिक काय-शली की तुलना कीजिये।

6 "भारत म प्रधान मंत्री के पद का राष्ट्रपतियकरण हो गया है।' व्याख्या कीजिये।

7 "प्रधान मन्त्री मंत्रिमण्डल रूपी मेहराव की आधार शिला है।" व्याख्या कीजिये।

अध्याय 10

# भारतीय संसद

## (The Indian Parliament)

### परिचय (Introduction)

सघीय व्यवस्थापिका को ससद कहा जाता है। अन्य सघीय व्यवस्थापिकाओ की भाति भारतीय ससद भी द्वि सदनात्मक व्यवस्थापिका है। उच्च सदन को राज्य सभा और निम्न सदन को लोक सभा कहा जाता है। जैसा कि नामो से ही स्पष्ट है, राज्य सभा भारतीय सघ के एकको (राज्यो) का प्रतिनिधित्व करती है और लोक सभा भारतीय लोगो का। जहा उच्च सदन का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से राज्य विधान सभाओ द्वारा होता है वहा लोक सभा का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्षत लोगो द्वारा होता है।

इगलैण्ड म सम्राट ब्रिटिश ससद का अभिन्न अग है। उसी प्रकार भारतीय सविधान अनुच्छेद 79 म राष्ट्रपति को ससद का अभिन्न अग बनाता है। इस अनुच्छेद के अनुसार भारतीय ससद दो सदनो और राष्ट्रपति से मिल कर बनती है। ब्रिटेन की भाति, भारत म भी राज्याध्यक्ष (राष्ट्रपति) ससद के [illegible] को बुलाता है, उसका सत्रावसान करता है तथा उसे समय से पूर्व [illegible] है। राष्ट्रपति ससद को सन्देश भेज सकता है। ससद द्वारा पास किये गये [illegible] राष्ट्रपति हस्ताक्षर कर उन्हें अधिप्रमाणित करता है। सक्षेप म, भारतीय [illegible] ब्रिटेन की [illegible] प्रणाली की भाति कार्यपालिका का व्यवस्थापिका (ससद) का अभिन्न अग [illegible] उनम सामजस्य बनाये रखता है। [illegible] भारतीय ससद अमरीकी काग्रेस [illegible] भिन्न है क्योकि अमरीका मे शक्ति पृथक्करण [illegible] लागू होने से [illegible] काग्रेस का अभिन्न अग नहीं। [illegible] एक दूसरे से [illegible] परन्तु भारतीय सविधान ने [illegible] ससदीय सर्वोच्चता [illegible] पूर्णतया स्वीकार नही किया। [illegible] भारतीय ससद [illegible] है। जिस तरह अमरीकी काग्रेस [illegible] सविधान, [illegible] पुनरावलोकन तथा मूल [illegible] द्वारा मर्यादित है [illegible] शक्तिया भी सविधान [illegible] और [illegible] अधिकारो द्वारा मर्यादित है। भारतीय सविधान [illegible]

भांति यहां भी समायोजन की प्रवृत्ति पायी जाती है। यहां ब्रिटिश के संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धांत और अमरीकी न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धांत में समायोजन किया गया है। यदि सर्वोच्च न्यायालय संसद द्वारा पास किये गये कानूनों की वैधता और अवैधता की जांच कर सकती है तथा कानूनों के संविधान के विपरीत होने पर उन्हें अवैध घोषित कर सकती है तो संसद भी न्यायालय के निर्णय को प्रभावहीन बनाने के लिए संविधान में संशोधन कर सकती है।

## क्या भारतीय संसद सम्प्रभु है ?
## (Is Indian Parliament Sovereign ?)

भारतीय संसद के सम्बन्ध में प्रायः यह प्रश्न किया जाता है कि क्या वह एक सम्प्रभु सत्ता है ? यद्यपि भारतीय संविधान ब्रिटेन की भांति भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली की व्यवस्था करता है परन्तु यह ब्रिटिश संसद की भांति सर्वोच्च या सम्प्रभु नहीं। इसका कारण यह है कि जहां ब्रिटेन में संविधान अलिखित है, वहां की शासन व्यवस्था एकात्मक है वहां की न्यायालयें संसदीय कानूनों की वैधता और अवैधता की जांच नहीं करती वहां भारतीय संविधान लिखित, यहां की शासन व्यवस्था संघात्मक है और सर्वोच्च न्यायालय संसद द्वारा पारित किये गये कानूनों की वैधता और अवैधता की समीक्षा करती है। ये सब तत्त्व भारतीय संसद की सम्प्रभुता पर मर्यादायें हैं।

ब्रिटेन में संसद सब कुछ कर सकती है। जैसाकि डी० लोमे ने कहा है कि 'संसद स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री नहीं बना सकती, और सब कुछ कर सकती है।' वह सब प्रकार के साधारण और असाधारण तथा संवैधानिक कानूनों का निर्माण कर सकती है। वह धार्मिक, नागरिक और सैनिक कानूनों का निर्माण कर सकती है। वह कानूनों को प्रमाणित करती है, उनकी व्याख्या करती है, उन्हें पुनर्जीवित कर सकती है तथा रद्द कर सकती है। वह राजतन्त्र को समाप्त कर गणतन्त्र स्थापित कर सकती है, आदि। जैसाकि डायसी ने लिखा है कि संसद "एक बालक को बालिग घोषित कर सकती है, वह मृत्यु के बाद किसी व्यक्ति को राजद्रोही सिद्ध कर सकती है। वह अवैध सन्तान को वैध सन्तान बना सकती है और, यदि वह उचित समझे, तो किसी भी व्यक्ति को अपने ही मामले में न्यायाधीश बना सकती है।" दूसरे शब्दों में, ब्रिटेन में 'संसद की सम्प्रभुता अर्सादग्ध कानूनी तथ्य है।' और उस पर कोई कानूनी या संवैधानिक बाधायें नहीं। जैसाकि ब्लैकस्टोन ने लिखा है कि 'संसद की शक्ति एवं अधिकार क्षेत्र इतना महान् श्रेष्ठ एवं अनियन्त्रित है कि उस पर न किसी व्यक्ति का, न किसी कारण का, और न किसी मर्यादा का कोई बन्धन है।' –

भारतीय संसद ब्रिटिश संसद की भांति सर्वोच्च नहीं और न ही वर्तमान परिस्थितियां में उसके सम्प्रभु होने के कोई संयोग (Chances) है। राजनीतिक मर्यादाओं के अतिरिक्त भारतीय संसद पर निम्न संवैधानिक मर्यादायें हैं —

(i) **लिखित एव कठोर सविधान** —भारतीय सविधान लिखित सविधान है अत ससद सवधानिक उपबन्धो की सीमाग्रा मे ही काय कर सक्ती है। जब कभी ससद द्वारा पास किया गया कोई कानून सवधानिक उपबन्धा को उल्लघना करता है तो न्यायालय उसे ग्रवैध घोषित कर सकती है। दूसरे, भारतीय सविधान कठोर है। ससद इसमे स्वय सशोधन नही कर सकती है। यह सत्य है कि सविधान के ग्रधिकाश भाग को ससद ग्रपने साधारण बहुमत द्वारा सशोधित कर सकती है परन्तु महत्वपूण सशोधनो जसे ग्रनुच्छेद 54, 55 जो राष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित है या भाग 5 का ग्रध्याय 4 जो सर्वोच्च न्यायालय से सम्बन्धित है, ग्रादि को ससद ग्राधी राज्य विधान सभाग्रो के ग्रनुसमथन के बिना सशोधित नही कर सकती।

(ii) **सविधान का सघात्मक स्वरूप** —भारतीय सविधान का स्वरूप सघीय है ग्रौर सघीय सविधान की सबसे प्रमुख विशेषता यह होती है कि इसमे शक्तियो का विभाजन सघ ग्रौर उसके एकको मे किया जाता है। जहा एकक सघ बनाने की इच्छा रखते हैं वहा वे ग्रपनी स्वायत्तता भी बनाये रखना चाहते हैं। ग्रत राष्ट्रीय महत्त्व के विषयो को सघीय शासन को ग्रौर स्थानीय महत्त्व के विषयो को स्थानीय शासना को सौंप दिये जाते है। भारत म भी सघीय ससद को सघ सूची म दिये गये 97 विषया ग्रौर समवर्ती सूची के 47 विषयो पर कानून बनाने का ग्रधिकार है जबकि राज्य विधान सभाग्रा को राज्य सूची के 66 विषया पर कानून बनाने का ग्रधिकार है। भारत सघ की इकाइया सघ के ग्रभिकरण मात्र नही। जिस प्रकार सघीय सरकार ग्रपनी शक्तिया को सविधान से प्राप्त करती है उसी प्रकार राज्य विधान सभाये सविधान से ग्रपनी ग्रपनी शक्तिया प्राप्त करती हैं। कोई एक दूसरे के क्षेत्र का ग्रतिक्रमण नही कर सकता है। यह सत्य है कि ससद ग्रसाधारण या विशेष परिस्थितिया म राज्य सूची मे दिये गय विषया पर कानून बना सकती है। परन्तु ये व्यवस्थायें ग्रल्पकालीन हैं स्थायी नही।

(iii) **यायिक पुनरावलोकन** —भारत मे सविधान सर्वोच्च है, ससद नही। सविधान की सर्वोच्चता की रक्षा करने के लिए न्यायालय सतक पहरेदार की तरह विद्यमान है। जिस सविधान ने ससद का उत्पन्न किया है तथा उसे कानून बनाने की शक्तिया दी है उसी सविधान ने न्यायालय को उत्पन्न किया है। भारतीय सविधान यद्यपि ग्रमरीकी सविधान की तरह न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर ग्राधारित नही परन्तु भारतीय न्यायालय ससद द्वारा पास किये गये कानून की वैधता ग्रौर ग्रवधता की जाच करती है ग्रौर यदि कोई कानून सवधानिक धाराग्रा के विपरीत है तो न्यायालय उसे ग्रवध घोषित कर सक्ती है। इसे न्यायिक निषेधाधिकार कहते हैं।

(iv) **मूल ग्रधिकार** - ग्रध्याय तीन मे उल्लिखित मूल ग्रधिकार भी ससद की कानून निर्माण की शक्ति पर मर्यादायें लगाते हैं। ग्रनुच्छेद 13 (2) के ग्रनुसार यदि ससद का कोई कानून नागरिको के मूल ग्रधिकारा की उल्लघना करता है तो वह उस सीमा तक ग्रवध है जिस सीमा तक वह उसकी उल्लघना करता है। यद्यपि ससद

अतत सवैधानिक सशोधनो द्वारा मूल अधिकारो मे परिवतन कर सकती है परन्तु यह तरीका कठोर है सरल नही। विशेष कर उस परिस्थिति मे जब ससद मे किसी दल का पूर्ण बहुमत न हो तो सशोधन के लिए आवश्यक दो तिहाई बहुमत को प्राप्त करना कठिन हो जायेगा।

(v) राष्ट्रपतीय निषेधाधिकार —ससद द्वारा पास किये गये कानून तभी लागू होते हैं जब राष्ट्रपति उन पर हस्ताक्षर कर देता है। राष्ट्रपति चाहे तो कानून को अस्वीकार कर सकता है और चाहे तो उस पर पुनर्विचार के लिए वापस लौटा सकता है। यद्यपि भारतीय राष्ट्रपति के पास अमरीकी राष्ट्रपति की भांति जेबी निषेधाधिकार (pocket vote) नही परन्तु भारतीय सविधान इस विषय पर शान्त है कि राष्ट्रपति कितने समय तक किसी विधेयक को अपने पास रख सकता है। यदि राष्ट्रपति चाहे तो किसी विधेयक पर अनावश्यक देरी कर सकता है। यह सत्य है कि राष्ट्र द्वारा अस्वीकृत या पुनर्विचार के लिए भेजे गये विधायको पर, यदि उन्हें ससद दोबारा साधारण बहुमत से पास कर देती है, दोबारा निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता परन्तु यह तथ्य ही ससदात्मक शक्ति पर मर्यादा है कि राष्ट्रपति के पास निषेधाधिकार है।

(vi) ससद की शक्तियो मे ह्रास (पतन) —यदि यह मान भी लिया जाय कि भारतीय ससद अतत राष्ट्रपतीय निषेधाधिकार, न्यायिक निषेधाधिकार और सवैधानिक मर्यादाओ को सवैधानिक सशोधनो द्वारा प्रभावहीन बना सकती है परन्तु इस बात की उपेक्षा नही की जा सकती कि दिखाई देने वाला सवैधानिक तथ्य राजनीतिक और व्यावहारिक तथ्य नही। वस्तुत आज भारतीय ससद तो दूर ब्रिटिश ससद भी सर्वोच्च नही क्योकि ससद आज मन्त्रिमण्डल के हाथों की कठपुतली है। यह मन्त्रिमण्डल की इच्छा पर कार्य करती है। यह सत्य है कि मन्त्रिमण्डल ससद की उत्पत्ति (creature) है परन्तु इस उत्पत्ति का अपनी जननी को नष्ट या भग कराने का अधिकार है। ससद म बहुमत रहते मन्त्रिमण्डल मनमानी कर सकता है और यह कल्पना है कि ससद आज मन्त्रिमण्डल को अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा पदच्युत कर सकती है। आज दलीय अनुशासन और नियन्त्रण इतना अधिक है कि कोई सदस्य अपने राजनीतिक जीवन को खतरा मोल लेकर ही दलीय आदेशो और निर्देशो की उल्लघना कर सकता है। इतना ही नही, मन्त्रिमण्डल ही देश की गृह और विदेश नीति, सामाजिक और आर्थिक नीति का निर्धारण करता है। मन्त्रिमण्डल ही ससद म कानूनो के प्रस्तावो का प्रस्तुत करता है और उसकी इच्छा से ही कानून निर्मित या सशोधित होते हैं। गैर सरकारी कानूनो का पास होना असम्भव है। ससद का बजट पर नियन्त्रण नाम मात्र का ... ससद मे ... का बहुमत रहते बजट ज्यो का त्यो पास हो जाता है ... मन्त्रिमण्डल की आलोचना कर उसे परेशान कर ... व द्वारा पदच्युत नही कर सकती। आज

न अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों और मर्यादाओं की। संक्षेप में, जो शक्तियां संवैधानिक तौर पर संसद के पास समझी जाती हैं उनका वास्तविक प्रयोग मंत्रिमण्डल करता है संसद नहीं।

## क्या संसद के मूल अधिकारों के अध्याय में संशोधन का अधिकार होना चाहिये ?

पिछले 25 वर्षों के संवैधानिक इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो सामने उभर कर आया है वह यह है कि क्या भारतीय संसद को नागरिकों के मूल अधिकारों में परिवर्तन करने का अधिकार होना चाहिये ? यह प्रश्न वस्तुतः 1967 में गोलकनाथ के मुकदमे में दिये गये निर्णय से उत्पन्न हुआ है। इस निर्णय से पूर्व भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने शंकरी प्रसाद और सज्जन सिंह के मुकदमों में इस बात को स्वीकार कर लिया था कि संसद मूल अधिकारों सहित संविधान के किसी भाग में परिवर्तन कर सकती है। परन्तु गोलकनाथ के मुकदमे में न्यायालय का दृष्टिकोण यह था कि संसद की संशोधन की शक्तियां संविधान के अनुच्छेद 245, 246 और 248 से व्युत्पन्न होती हैं अनुच्छेद 368 से नहीं जो केवल "प्रक्रिया" (procedure) से सम्बन्धित है। संशोधन एक विधायी प्रक्रिया है। संशोधन अनुच्छेद 13 के अन्तर्गत "कानून" है। अतः यदि कोई कानून अध्याय तीन (मूल अधिकारों से सम्बन्धित अध्याय) में वर्णित अधिकारों को कम करता है या उनका हरण करता है तो वह कानून अवैध है। न्यायालय ने यह भी उदघोषणा की कि संशोधन 1, 4 और 17 मूल अधिकारों को कम करते हैं अतः ये अवैध हैं। परन्तु भावीकालापेक्षी अधिप्रभावी (prospective over ruling) सिद्धान्त के अनुसार यह निर्णय भावीकालापेक्षी ही हो सकता है अतः संशोधन 1, 4, और 17 वैध रहेंगे। न्यायालय ने यह उदघोषणा भी की कि इस तिथि के बाद (27 फरवरी, 1967) संसद संविधान के अध्याय तीन में वर्णित मूल अधिकारों को कम या हरण करने की दृष्टि से संशोधन नहीं कर सकती।

न्यायालय के उक्त निर्णय ने सारे देश में व्यापक आलोचना को जन्म दिया। संसद के अन्दर व बाहर जो विचार व्यक्त किये गये वे दो प्रकार के थे। एक विचार तो यह था कि उक्त निर्णय संसद की शक्ति पर प्रहार है और संसद की अपनी सम्प्रभुता अभिव्यक्त करने के लिए और सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को प्रभावहीन बनाने के लिए संविधान में संशोधन करना चाहिये। प्रसोपा के नेता श्री नाथ पाई ने तो संसद की शक्ति को पुनः स्थापित करने के लिए संसद में 7 अप्रैल, 1967 को लोक सभा में एक संवैधानिक संशोधन भी प्रस्तुत किया। इस संशोधन पर अनेक बार विचार भी हुआ परन्तु पास न हो सका। इस प्रकार की विचारधारा रखने वालों की मान्यता है कि भारतीय संसद ब्रिटिश संसद की भांति सर्वोच्च है और उसे संविधान के किसी भाग में संशोधन करने का अधिकार है।

दूसरी विचारधारा ऐसे लेखकों और संसदज्ञों की है जिनका विश्वास है कि

स्पष्ट है कि जब कभी न्यायपालिका के निर्णय कार्यपालिका की सामाजिक और आर्थिक नीतियो मे बाधक सिद्ध होते हैं तो उसका सही मार्ग जनमत सग्रह द्वारा लोगो के अधिदेश (mandate) के आधार पर सविधान मे गम्भीर सशोधन करने चाहिये जैसाकि 1971 के निर्वाचन के बाद 24 वें, 25 वें और 26 वे सशोधन के लिए किया गया। यह सत्य है कि 24 वें सशोधन द्वारा ससद ने मूल अधिकारो मे भी सशोधन करने की शक्ति को पुन प्राप्त कर लिया है परन्तु सविधान की मूल धाराओ (मूल अधिकारो सहित) मे सशोधन के साथ भारतीय जनता को अवश्य मिलाना चाहिये अर्थात जनमत सग्रह द्वारा या नव निर्वाचन द्वारा, जो इस उद्देश्य से ही कराया जाय, भारतीय जनता का अनुसमर्थन प्राप्त करना चाहिये। किसी अस्थायी ससदीय बहुमत को बहुमत के नशे म सविधान की आत्मा को नष्ट करने का अधिकार नही होना चाहिये वरना बहुमत के सर्वाधिकारवाद को बढावा मिलेगा जो लोकतन्त्र को ही खतरे मे डाल सकता है।

## राज्य सभा
## (The Council of States)

**रचना**—राज्य सभा भारतीय ससद का उच्च सदन है। इसे "वयोवृद्ध सदन" (House of Elders) भी कहा जाता है। इसके कुल सदस्यो की सख्या 250 है जो लोक सभा के सदस्यो की आधी सख्या से भी कम है। वर्तमान समय म इसके सदस्यो की सख्या 243 है। इनम से 231 सदस्यो को राज्य विधान सभाओ द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल सक्रमणी प्रणाली द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किया जाता है। जहा राज्य विधान सभायें नही हैं वहा प्रतिनिधियो का निर्वाचन इस उद्देश्य से स्थापित निर्वाचन मण्डल द्वारा होता है। अन्य 12 सदस्यो को राष्ट्रपति कला, साहित्य, विज्ञान और सामाजिक सेवा के क्षेत्रो से नामाकित करता है। इस तरह राज्यो की राज्य विधान सभाओ द्वारा इसका निर्वाचन करा कर जहा सघीय सिद्धान्त को लागू करने का प्रयास किया गया है वहा नामाकित प्रणाली द्वारा उन व्यक्तियो की सेवाओ का उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया है जो अपने अपने क्षेत्र म विशिष्ट योग्यतायें और अनुभव रखते है और जो या तो चुनाव लडना नही चाहते या चुनाव मे पराजित हो जाते है।

राज्य सभा भारतीय सघ के एककी का प्रतिनिधित्व करता है परन्तु इसम अमरीकी और स्विस सघीय सविधानो म सघ के उच्च सदनो की भाति एकको के समान प्रतिनिधित्व की प्रणाली को नही अपनाया गया। जहा अमरीकी सीनेट म प्रत्येक बडे छोटे राज्य को समान प्रतिनिधित्व दिया गया है वहा भारतीय राज्य सभा म सघ के एकको को जन सख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया गया है। यही कारण है कि राज्य सभा मे जहा नागालैण्ड का एक प्रतिनिधि है वहा उत्तर प्रदेश के 34 प्रतिनिधि हैं।

**योग्यतायें**—कोई भी व्यक्ति राज्य सभा की सदस्यता प्राप्त करने के लिए निर्वाचन लड सकता है यदि उसके पास निम्न योग्यतायें है —

(i) वह भारत का नागरिक हो।

(ii) वह 30 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

(iii) उसके पास वे सब योग्यतायें हो जो ससद से कानून द्वारा निर्धारित की गयी हो। सन् 1951 के लोक प्रतिनिधि कानून के अनुसार राज्य सभा के सदस्य के लिए उस राज्य से ससद का निर्वाचक (elector–मतदाता) होना चाहिये जहा से वह चुनाव लडना चाहता है।

**अयोग्यतायें**—निम्न व्यक्ति राज्य सभा की सदस्यता के लिए अयोग्य माने गये है —

(i) जिन्हे न्यायालय द्वारा पागल घोषित किया गया हो, या जो दिवालिया है या जो विदेशी हो।

(ii) जिन्हे ससद के कानून द्वारा अयोग्य घोषित किया गया हो।

(iii) जिन्हे भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन कोई लाभ का पद प्राप्त हो। मन्त्रियो या ससद के कानून द्वारा छोडे गये व्यक्तियो पर यह अयोग्यता लागू नही होती।

**कार्यकाल**—लोक सभा के विपरीत राज्य सभा एक स्थायी सदन है। यह पूर्णत कभी भग नही होती। इसके सदस्यो को 6 वर्ष के लिये निर्वाचित किया जाता है। इसके एक तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष मे सेवा निवृत (retire) हो जाते हैं। कोई सदस्य समय से पूर्व अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है। यदि कोई व्यक्ति सदस्यता के दौरान कोई अयोग्यता ग्रहण कर लेता है तो वह अपनी सदस्यता खो बैठता है। राज्य सभा का कोई सदस्य यदि लोक सभा या राज्य विधान सभा के लिये निर्वाचित हो जाता है या बिना आज्ञा के 60 दिन तक राज्य सभा की कार्यवाही मे हिस्सा नही लेता तो अयोग्यता ग्रहण करने से उसका पद रिक्त समझा जाता है।

**गणपूर्ति**—राज्य सभा की बैठको के लिये गणपूर्ति तभी पूरी समझी जाती है जब सदन मे कुल सदस्या का दसवा भाग (*1/10 भाग*) उपस्थित हो। इसके बिना सदन की बैठकें नही हो सकती।

**पदाधिकारी**—राज्य सभा के अपने पदाधिकारी होते है। उप राष्ट्रपति पदेन (ex-officio) राज्य सभा का सभापति होता है। सदन स्वय अपने सदस्या मे से एक को उप-सभापति निर्वाचित करती है। *सभापति की अनुपस्थिति मे* उप सभापति निर्वाचित करती है। सभापति की अनुपस्थिति मे सदन की बैठकों की अध्यक्षता करता है। उप राष्ट्रपति को राज्य सभा का सभापति होने के नाते से ही 2,250 रु० मासिक वेतन मिलता है और उप सभापति को 2,000 रु० मासिक वेतन मिलता है।

## राज्य सभा की शक्तिया

राज्य सभा की शक्तिया न तो अमरीकी सीनट की भाति सर्वोच्च और प्रतिभाशाली है और न ही ब्रिटिश लाड सभा की भाति दुबल ह। जहा कुछ क्षेत्रा मे लाक सभा अधिक शक्तिशाली है, वहा अय कुछ क्षेत्रो मे राज्य सभा और लोक सभा की शक्तिया समान हैं और कुछ क्षेत्र ऐसे है जो केवल राज्य सभा के ही विशेषाधिकार हैं इन विशेष क्षेत्रा म प्रारम्भिक कायवाही राज्य सभा के हाथो मे है लोक सभा के हाथो म नही। राज्य सभा की शक्तिया का निम्न बि दुश्रा द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

### A वह क्षेत्र जिसमे लोक सभा राज्य सभा से सर्वोच्च है

इस क्षेत्र के अ तगत निम्न शक्तियो को व्यक्त किया जा सकता है —

1 **विधायी शक्तियाँ**—जहा तक विधायी शक्तिया का सम्ब ध है राज्य सभा लाक सभा की शक्तियो के समान शक्तिया का उपयोग करती है। साधारण और सवधानिक विधेयक किसी भी सदन मे प्रस्तुत किया जा सकता है और दोनो सदना मे पारित होने के बाद ही उसे राष्ट्रपति के हस्ताक्षरो के लिये भेजा जाता है। इसका अथ यह है कि साधारण विधेयको को राज्य सभा अस्वीकार कर सकती है या उनमे सशोधन कर सकती है। स्पष्ट हे कि भारतीय राज्य सभा ब्रिटिश लाड सभा से अधिक शक्तियो का उपभोग करती ह क्योकि लाड सभा किसी साधारण विधेयक को अस्वीकार नही कर सकती, वह केवल उसे एक वष के लिये विलम्ब कर सकती है। भारत मे दोनो सदना म गतिरोध उत्प न होने की स्थिति मे सयुक्त बैठक की व्यवस्था की जा सकती है। इस सयुक्त बैठक म लोक सभा की जीत निश्चित होती है क्योकि उसके सदस्यो की सख्या राज्य सभा के सदस्या की सख्या से दुगनी से भी अधिक हे। सयुक्त बठका की अध्यक्षता लाकसभा का स्पीकर करता ह। इस दृष्टि से भारतीय राज्य सभा अमरीकी सीनट से कम शक्तिशाली है क्योकि, अमरीका म दोना सदनो मे गतिरोध उत्प न होन की स्थिति म समाधान समिति (Conciliation Committee) की व्यवस्था है जिसम सीनेटरा की योग्यता और अनुभव के कारण जीत सीनेट की होती है।

2 **कायपालिका शक्तिया**—राज्य सभा के पास कायपालिका शक्तिया प्राय नगण्य ह क्योकि म त्रि परिषद लोक सभा के प्रति उत्तरदायी है राज्य सभा के प्रति नही। राज्य सभा मन्त्रि परिषद् से प्रश्न पूछ सकती ह, स्थगन प्रस्ताव तथा काम रोको प्रस्ताव रख सकती है तथा प्रशासन से सम्ब धित जानकारी भी प्राप्त कर सकती है। राज्य सभा म त्रि परिषद की आलाचना कर सकती है पर तु लोक सभा की भाति राज्य सभा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर उसे समय स पूव पदच्युत नही कर सकती। इस क्षेत्र म भारतीय राज्य ब्रिटिश लाड सभा के समान है परन्तु अमरीकी सीनेट कम शक्तिशाली है। अमरीकी सीनट राष्ट्रपति द्वारा की गयी उच्च पदा की नियुक्तियो और राष्ट्रपति द्वारा दूसरे देशा स की गयी स धिया का

अनुसमथन कर कायपालिका शक्तिया के उपभोग मे साभेदार है । इतना ही नही सीनेट की शोध (जाच) समितिया से सारा अमरीकी प्रशासन कापता है ।

**3 वित्तीय शक्तिया**—वित्तीय शक्तिया भी राज्य सभा के पास प्राय नगण्य हैं । वित्तीय विधेयक केवल लोक सभा मे ही प्रस्तुत किया जा सकता है, उच्च सदन मे नही । लोक सभा द्वारा पास किये गये वित्त विधेयक को राज्य सभा को 14 दिन के अ दर-अन्दर अवश्य पारित करना होता है । वित्त विधेयक म राज्य सभा द्वारा किये गये सशोधनो को स्वीकार या अस्वीकार करना लोक सभा के ऊपर निभर करता है । वित्त विधेयक को दोबारा राज्य सभा के पास भेजने की आवश्यकता नही । इस क्षेत्र मे भारतीय राज्य सभा की शक्ति ब्रिटिश लाड सभा की भाति ही है यद्यपि वह वित्त विधेयक को एक महीने तक विलम्ब कर सकता है। अमरीकी सीनट की शक्ति तो वित्त विधेयक मे अत्यधिक है क्योकि वह इसमे शीषक को छोड कर समूचे वित्त विधेयक मे परिवतन कर सकता है ।

## B वह क्षेत्र जिसमें राज्य सभा और लोक सभा की शक्तिया समान ह

कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहा राज्य सभा की शक्तिया लोक सभा के समान हैं । इन शक्तियो को निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है —

(i) साधारण और सवैधानिक विधेयको मे राज्य सभा और लोक सभा की शक्तिया समान है । राज्य सभा और लोकसभा की सहमति से ही ऐसे कानून बन सकत ह । जसा कि ऊपर कहा गया है इसम अ तत लोक सभा की विजय होती है क्योकि लोक सभा के सदस्या क। सख्या राज्य सभा के सदस्या की सख्या से दुगनी है और समुक्त बठक लोक सभा के दृष्टिकोण की विजय अवश्यम्भावी है ।

(ii) राष्ट्रपति के निर्वाचन और पदच्युति मे राज्य सभा की शक्तिया लोक सभा के समान हैं । अन्य उच्च पदाधिकारिया की पदच्युति मे भी राज्य सभा की शक्तिया लोक सभा के समान हैं क्योकि पदच्युति का कोई भी प्रस्ताव तब तक राष्ट्रपति को सबोधित नही किया जा सकता जब तक उसे दोना सदना द्वारा पास न किया जाय ।

(iii) राष्ट्रपति द्वारा सकटकालीन की घोषणा का अनुमोदन दानो सदना द्वारा होना अनिवाय है । मूल अधिकारा का स्थगित करने वाली उद्घोषणा का अनुसमथन भी दाना सदना द्वारा हाना अनिवाय है ।

(iv) प्रदत्त विधान के अ तगत कायपालिका द्वारा बनाय गय नियमा और य विनियमा का अनुसमथन दाना सदना द्वारा होना अनिवाय है ।

(v) केन्द्रीय लोक सवा आयोग, नियन्त्रक एव महालेखा परीक्षक, वित्त आयाग तथा अन्य आयोगा द्वारा प्रस्तुत वार्षिक प्रतिवदना पर दोना सदन विचार विमश करत हैं आदि ।

## C वह क्षेत्र जिसमे राज्य सभा को ही विशिष्ट शक्तियां प्राप्त हैं

सविधान राज्य सभा को कुछ ऐसा क्षेत्र भी प्रदान करता है जिसम प्रारम्भिर

क्रिया राज्य सभा द्वारा ही की जा सकती है। इस क्षेत्र के अन्तगत आने वाले प्रमुख विषय निम्न हैं—

(i) अनुच्छेद 249 के अन्तगत राज्य सभा अपने प्रस्ताव द्वारा, जिसे दो-तिहाई सदस्यों द्वारा पास किया गया हो, राज्य सूची मे दिये गये किसी विषय का राष्ट्रीय महत्त्व का विषय घोषित कर, लोक सभा को उस पर कानून बनाने के लिये अधिकृत कर सकती है। यद्यपि यह कानून 1 वर्ष तक लागू रहता है परन्तु राज्य सभा पुन प्रस्ताव पास कर सकती है और अगणित बार इस तरह कर सकती है।

(ii) अनुच्छेद 312 के अन्तगत राज्य सभा राष्ट्रीय हित मे अखिल भारतीय सेवा की रचना कर सकती है।

(iii) लोक सभा के भग या सत्र मे न होने की स्थिति म राज्य सभा राष्ट्रपति की सकटकालीन घोषणाओ पर प्रतिबन्ध लगा सकती है।

(iv) उप राष्ट्रपति को पदच्युत करने के प्रस्ताव को राज्य सभा द्वारा ही प्रारम्भ किया जा सकता है।

## राज्य सभा का मूल्यांकन या राज्य सभा की त्रुटियाँ एव उपयोगितायें

राज्य सभा की शक्तियो के उपयुक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत म राजनीतिक गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र लोक सभा है राज्य सभा नही। राज्य सभा तो केवल विलम्बकारी और पुनर्विचार करने वाला सदन ह। जसा कि गोपाल स्वामी आयगर ने कहा था कि राज्य सभा को निर्मित करने म सविधान निर्माताओ का उद्देश्य यह था कि वह सदन "महत्वपूर्ण विषयो पर शानदार वाद विवाद कर और उन विधेयको को पारित करने म विलम्ब कर जिन्ह लोक सभा ने शीघ्रता म जोश से पारित कर दिया ह।" अनेक आलोचको को तो इसके विलम्बकारी और पुनर्विचार करने वाला सदन होने मे भी सन्देह है। डा० अम्बेदकर के लिये तो यह "अ शो मे ही अच्छा' है।[1] जे० पी० सूद तो इसे विश्व के निर्बल सदनो म से मानता ह। उनकी धारणा है कि राज्य सभा लोक सभा स भी निर्बल है।'[2] एम० पी० शर्मा का विश्वास है कि यह केवल "प्रचलित द्विसदनात्मक फशन"[3] को अभिव्यक्त करता है। मारिस जोन्स का मत है कि राज्य सभा, और इसम कोई आश्चय की बात नहीं, अपनी विशिष्ट भूमिका का विकास करने म असफल रही है।'[4]

आलोचको ने जिन आधारो पर राज्य सभा की आलोचना की ह और जो त्रुटिया प्रदर्शित की है उनम प्रमुख निम्न हैं —

1 To me it is like the curate s egg—good only in parts Dr Ambedkar Quoted by Palmer Norman D Ibid, p 128
2 Suda J P Indian Constitutional Development and National Movement
3 Sharma M P The Govt of the Indian Republic, p 147
4 Morris Jones, W H Parliament in India p 257

(i) **राज्यो के हितों का प्रतिनिधित्व करने के स्थान पर दलीय हितो का प्रतिनिधित्व करता है**—आलोचको का कथन है कि जिन सिद्धान्तो के आधार पर राज्य सभा की रचना की गयी है वे संघीय सिद्धान्तो के अनुकूल नही। इनका कहना है कि राज्य सभा का राज्य विधान सभा द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन दलीय भावनाओ को जन्म देता है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली प्रतिनिधियो के दृष्टिकोण को दलीय बनाती है, राज्यीय नही। राज्यो के हितो का समर्थन करने के स्थान पर प्रतिनिधि राज्य सभा मे दलीय हितो का समर्थन करते हैं। दूसरे, राज्य सभा की रचना मे भारत संघ के एककों का समान प्रतिनिधित्व नही दिया गया, जिसका परिणाम यह है कि घनी आबादी वाले राज्यो का प्रतिनिधित्व अत्यधिक है और वे सदन की कार्यवाही पर छाये रहते है। जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व दलीय भावनाओ को प्रोत्साहन देता है। के० वी० राव तो राज्य सभा के नाम को ही असगत मानते है। उनका कहना है कि यदि राज्य सभा राज्यो के हितो की रक्षा नही करती तो उसे राज्य सभा कहना असगत है।[1]

(ii) **नामांकित प्रणाली का दुरुपयोग**—आलोचको का कथन है कि संविधान निर्माताओ ने 12 सदस्यो को नामांकित करने की व्यवस्था इसलिये रखी थी कि विज्ञान, कला, क्षेत्र और सामाजिक सेवाओ के क्षेत्र मे विशिष्ट ज्ञान और योग्यता रखने वालो को नामांकित किया गया है। इस प्रणाली का दुरुपयोग किया गया है और ऐसे व्यक्तियो को नामांकित किया गया है जिन्हे जनता ने निर्वाचनो मे पराजित किया है। अतः इस प्रणाली का प्रयोग दलीय हित मे किया गया है।

(iii) **निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र आचरण का अभाव**—द्वितीय सदन की रचना करने का उद्देश्य यह था कि इसके सदस्य स्वतन्त्र, निष्पक्ष और अनुभव के आधार पर विधेयको, प्रस्तावो आदि पर विचार करेंगे। परन्तु यहा भी सदस्यो का आचरण दलीय भावनाओ से प्रभावित रहा है। सदस्यो ने अपने अनुभव और बौद्धिक परिपक्वता से काम नही लिया।

(iv) **परम्परागत प्रतिद्वन्द्विता**–आलोचको का यह भी कथन है कि राज्य सभा अपनी स्थिति के प्रति सचेत (status conscious) है और अपने अधिकारो की रक्षा के लिए 'परम्परागत प्रतिद्वन्द्विता' को जन्म दिया है।' अनेक अवसरो पर राज्य सभा ने अपने विरोध को प्रकट किया है। 1970 मे राजाओ के प्रिवीपर्स को समाप्त करने वाला संवैधानिक संशोधन राज्य सभा मे विरोध के कारण असफल हो गया।

उपर्युक्त त्रुटियो और आलोचनाओ के बाद भी राज्य सभा को व्यर्थ या फालतू कहना गलत है। इसकी अपनी अपनी उपयोगितायें हैं जिन्हे निम्न बिन्दुओ द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है—

1 Rao K V Parliamentary Democracy of India, p 123

(i) राज्य सभा के द्वारा कुछ ऐसे कार्य किये जाते हैं जिनकी व्यावहारिक उपयोगिता है। उदाहरणतया उच्च पदाधिकारियो (राष्ट्रपति, न्यायाधीश, लोकसेवा आयोग के सदस्य, आदि) की पदच्युति म यह लोक सभा के समान शक्तियो का उपभोग करता है अत लोक सभा ऐसे कार्यों को रोप या जल्दबाजी मे नही कर सकती। सकट काल की स्थिति के अनुसमथन मे भी राज्य सभा लोक सभा के समान शक्तिया का प्रयाग करती है। अनुच्छेद 249 के अनुसार यह राज्य सूची के किसी विषय का समवर्ती सूची मे रख सकती है और अनुच्छेद 312 के अनुसार अखिल भारतीय सेवा की रचना कर सकती है। इन विशिष्ट कार्यों को देखकर ही एम० वी० पायली ने कहा कि "राज्य सभा सरकारी मशीनरी का महत्त्वपूर्ण भाग है। यह दिखावा मात्र या अनावश्यक विशेषण नही।"[1]

(ii) इस सदन म उन लोगा को प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है जो वयोवृद्ध, परिपक्व और अनुभवी राजनीतिज्ञ है। यद्यपि इस व्यवस्था का दलीय हितो के लिये दुरुपयोग किया गया है परन्तु इससे इस व्यवस्था का महत्व कम नही होता।

(iii) यह सत्य है कि राज्य सभा की रचना म सघ की इकाइयो के समान प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का नही अपनाया गया, फिर भी इसके सदस्या का निर्वाचन एकका की विधान सभाओ द्वारा होता है। अत यह एकका का प्रतिनिधित्व करती है।

(iv) अनेक विधेयको पर विचार विमर्श करके इसने लोक सभा के मूल्यवान समय की बचत की है। अनेक सरकारी और गर सरकारी प्रस्ताव राज्य सभा म ही प्रस्तुत किये गये। इसके द्वारा अनेक ऐसे विधेयको पर विचार किया गया जिनका सम्बन्ध हिन्दुओ के सामाजिक सुधार से था जसे हिन्दू विवाह कानून हिन्दू अल्प वयस्क एव अभिभावक कानून, हिन्दू उत्तराधिकारी कानून तथा हिन्दू गोद तथा पोषण कानून, आदि। राज्य सभा के इस काय के महत्त्व पर प्रकाश डालत हुए पी० विजय राघवन ने लिखा है कि "राज्य सभा का ऐसे कानूना को निर्मित करने का श्रेय जाता है जिनके बारे म यह दावा उचित है कि उनके द्वारा भारत के बहुसख्यक लोगा को प्रभावित करन वाले सामाजिक सुधारो का समारम्भ हुआ है।"[2]

(v) यह सत्य है कि राज्य सभा अपने प्रस्ताव द्वारा मन्त्रिमण्डल को समय मे पूर्व पदच्युत नही कर सकती। परन्तु इतना अवश्य है कि राज्य सभा शाखा से प्रश्न पूछकर, निन्दा व स्थगन प्रस्ताव प्रस्तुत कर सरकार को "परेशान" तो कर सकती है और अपने भाषणो द्वारा उसे प्रभावित कर सकती है। इस तथ्य की उपेक्षा नही

---

1 Pylee, M V Ibid p 380

2 Vijayaraghavan P Second Chamber of the Indian Legislature p 187 Quoted by Palmer, Norman D Ibid, p 129

की जा सकती कि राज्य सभा में ऐसे राजनीतिज्ञ होते हैं जिन्हें अपने अपने क्षेत्र म विशेष ज्ञान और योग्यता एव अनुभव प्राप्त होता है।

## लोक सभा
## (The House of People)

**रचना**—लोक सभा भारतीय ससद का निम्न सदन है। यह भारतीय लोगों का सदन है। इसके सदस्यो का निवाचन सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से भारतीय लोगो द्वारा होता है। प्रत्येक भारतीय नागरिक, जो अन्य किसी प्रकार से अयोग्य न हो, जो 21 वष की आयु ग्रहण कर चुका हो और जो निर्वाचन क्षेत्र म 180 दिन तक रह चुका हो, उसे लोक सभा के निर्वाचन म मत दने का अधिकार है। यद्यपि भारतीय सविधान ने साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को समाप्त कर दिया है परन्तु फिर भी अनुसूचित जातिया और अनुसूचित जन जातियो के लिए स्थान सुरक्षित है। राष्ट्रपति एंग्लो इण्डियन समुदाय म लोक सभा मे दो प्रतिनिधियो का नामांकित कर सकता है यदि उसे विश्वास हो जाय कि इस समुदाय को लोकसभा मे पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नही हुआ।

प्रारम्भ म लोक सभा के कुल सदस्यो की सख्या 525 निश्चित की गयी थी, 500 प्रतिनिधि राज्यो के लिए और 25 प्रतिनिधि केन्द्र प्रशासित प्रदेशो के लिए निश्चित किय गये थे। परन्तु सन् 1973 के 31वें सशोधन द्वारा इसके कुल सदस्यो की सख्या 545 निश्चित कर दी गयी है, 525 प्रतिनिधि राज्यो के लिए और 20 प्रतिनिधि केन्द्र प्रशासित प्रदेशो के लिए निश्चित किये गये हैं।

लोक सभा का निवाचन प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रो के आधार पर होता है। निर्वाचन आयोग जन गणना के आधार पर प्रत्येक राज्य और केन्द्र प्रशासित प्रदेश को लोक सभा के लिये स्थानो को आवटित (allot) करता है। राज्य को आवटित किये गये स्थानो को उतने ही निर्वाचन क्षेत्रो मे बाट दिया जाता है। प्रतिनिधि और जन सख्या का अनुपात प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के लिए लगभग बराबर होता है पहले चुनाव क्षेत्र इस तरह बनाये जाते थे कि प्रत्येक सदस्य कम से कम 5,00,000 और अधिक से अधिक 7,50 000 जन सख्या का प्रतिनिधित्व करे। परन्तु जन सख्या के बढ जाने के कारण यह आवश्यकता समाप्त कर दी गई है।

**योग्यतायें**—कोई भी व्यक्ति लोक सभा की सदस्यता प्राप्त करने के लिए निर्वाचन लड सकता है यदि उसके पास निम्न योग्यतायें हो—

(i) वह भारत का नागरिक हो।

(ii) वह 25 वष की आयु पूरी कर चुका हो।

(iii) उसके पास व सब योग्यतायें हो जिन्हें ससद ने कानून द्वारा निर्धारित किया हो।

**अयोग्यतायें**—(i) कोई नागरिक एक समय पर राज्य सभा और लोक सभा अथवा लोक सभा और राज्य विधान सभा दोनो का सदस्य नही हो सकता। यदि

कोई व्यक्ति दो सदनो का सदस्य निर्वाचित हो जाता है तो उसे एक की सदस्यता छोडनी पडती है ।

(ii) वह भारत सरकार, राज्य सरकार या किसी निगम म जिसमे सरकार के वित्तीय हित है, किसी लाभ के पद पर विद्यमान नही होना चाहिए । यह अयोग्यता म नियो तथा ससद के किसी कानून द्वारा मुक्त पदो पर लागू नही होती ।

(iii) वह किसी भी अधिकारपूर्ण यायालय द्वारा पागल घोपित न किया गया हो ।

(iv) वह दिवालिया न हो ।

(v) वह विदेशी न हो ।

(vi) उसने कोई ऐसा अपराध न किया हो (जैसे चुनाव भ्रष्टाचार का दोषी अभक्ति, चुनाव खर्च का ब्योरा न देना, सरकार के साथ किसी प्रकार के समझौते से ब धा होना, आदि) जिससे उसने अयोग्यता ग्रहण करली हो ।

**कायकाल**—लोक सभा का सामा य कायकाल 5 वष है । समय स पूव राष्ट्रपति लोक सभा को भग कर सकता है जसाकि राष्ट्रपति वी वी गिरि ने प्रधान म त्री इ दिरा गाधी के परामश पर दिसम्बर 1970 को लोक सभा को भग कर 1971 मे मध्यावधि निर्वाचन कराये । राष्ट्रपति के इस काय को यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती । सकट काल म लोक सभा अपने कानून द्वारा अपने कायकाल का एक समय पर एक वष के लिए बढ़ा सकती है । ससद इस प्रकार के कानून द्वारा कितने वष तक अपना कायकाल बढा सकती है इस पर सविधान शा त है । सविधान केवल इस बात की व्यवस्था करता है कि सकट के समाप्त होन के बाद 6 महीने के अ दर लोक सभा के निर्वाचन सम्पन्न होने चाहिए ।

**गणपूर्ति**—लोक सभा की बैठको की गणपूर्ति के लिए कुल सदस्या के दसवें भाग का उपस्थित होना अनिवाय है । सविधान इस बात की भी व्यवस्था करता है कि लोक सभा के अधिवेशना के बीच 6 महीने से अधिक समय व्यतीत नहीं होना चाहिए ।

**पदाधिकारी**—स्पीकर और उप स्पीकर लोक सभा के प्रमुख पदाधिकारी हैं । इन दोनो का निर्वाचन लोकसभा द्वारा अपने सदस्यो मे से किया जाता है । स्पीकर की अनुपस्थिति मे उप स्पीकर सदन की बैठको की अध्यक्षता करता है । दानो की अनुपस्थिति मे सविधान 6 सभापतियो की नाभिका (Panel of Chairmen) की व्यवस्था करता है जिसमे से कोई एक सदन की बठक की अध्यक्षता करता है । स्पीकर ही लोक सभा मे अनुशासन बनाये रखता है, उसकी मर्यादा की रक्षा करता है तथा व्यवस्था के प्रश्नो पर अपने विनिर्णय देता है जो अ तिम होते हैं ।[1]

---

1 स्पीकर की शक्तिया और महत्व की वणन विस्तार पूवक इस अध्याय म पृथक रूप से दिया गया है ।

## लोक सभा (संसद) की शक्तियाँ

लोक सभा की शक्तियां को निम्न शीर्षकों के अंतर्गत अध्ययन किया जा सकता है—

1 विधायी शक्तियाँ—लोक सभा का प्रमुख कार्य कानूनों का निर्माण करना है। यह संघीय सूची और समवर्ती सूची मे दिए गए विषयो पर कानून का निर्माण कर सकती है। विशेष परिस्थितियों में यह राज्य सभा के प्रस्ताव पर अनुच्छेद 249 के अंतर्गत राज्य सूची में दिये गये किसी विषय पर, जिसे राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर दिया गया हो, कानून का निर्माण कर सकती है। असाधारण (संकटकालीन) परिस्थितियों में यह राज्य सूची में दिये गये किसी विषय पर कानून का निर्माण कर सकती है।

लोक सभा की विधायी शक्तियों में राज्य सभा उसकी साझेदार है। कोई विधेयक दोनों सदनों की सहमति के बिना पारित नहीं हो सकता। साधारण विधेयकों मे दोनों सदनों में गतिरोध उत्पन्न होने की स्थिति में संविधान दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की व्यवस्था करता है। इस संयुक्त बैठक की अध्यक्षता लोक सभा का स्पीकर करता है। संयुक्त बैठक में लोक सभा के दृष्टिकोण की विजय अवश्यम्भावी है क्योंकि उसके सदस्यों की संख्या राज्य सभा से दुगुनी है।

2 वित्तीय शक्तियाँ—लोक सभा का राष्ट्रीय वित्त पर पूरा नियन्त्रण है। इसकी अनुमति के बिना न तो एक पाई कर के रूप में वसूल की जा सकती है और न एक पाई किसी मद पर खर्च की जा सकती है। वित्त के क्षेत्र में लोक सभा की शक्ति निर्णायक है। प्रथम तो वित्त विधेयक केवल लोक सभा में ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। दूसरे, लोक सभा द्वारा पास किये गये वित्त विधेयक को राज्य सभा अधिक से अधिक 14 दिन तक अपने पास रख सकती है। राज्य सभा द्वारा दिये सुझाव या किये गये संशोधनों को स्वीकार या अस्वीकार करना लोक सभा पर निर्भर करता है। दुबारा वित्त विधेयक को राज्य सभा के पास भेजने की आवश्यकता नहीं होती। तीसरे लोक सभा का स्पीकर ही इस बात को निर्धारित करता है कि कोई विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं।

3 कार्यपालिका पर नियन्त्रण—लोक सभा का कार्यपालिका पर पूरा नियन्त्रण होता है। इस क्षेत्र में भी लोक सभा की शक्ति राज्य सभा से अधिक है क्योंकि मन्त्रिमण्डल लोक सभा के प्रति ही संयुक्त रूप से उत्तरदायी है और लोक सभा के विश्वास पर ही वह अपने पद पर बना रह सकता है। लोक सभा मन्त्रिमण्डल से प्रश्न पूछ सकती है, पूरक प्रश्न पूछ सकती है, निन्दा प्रस्ताव और स्थगन प्रस्ताव पास कर सकती है और यदि आवश्यकता हो तो अविश्वास का प्रस्ताव पास कर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर सकती है। मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध लोक सभा अनेक पहलुओं से अविश्वास को प्रकट कर सकती है जैसे बजट में किसी मद की

कटौती कर, मन्त्रियो के वेतनो मे कटौती है, सरकारी विधेयको को अस्वीकार कर तथा गैर सरकारी विधेयको को स्वीकार कर सकती है, आदि ।

4 **मिश्रित शक्तिया**—इस शीर्षक के अन्तर्गत लोक सभा अनेक शक्तियो का उपभोग राज्य सभा के साझे म करती है । इनमे प्रमुख शक्तिया निम्न है—

(i) सविधान म सशोधन करना । भारतीय सविधान एक सघीय सविधान है परन्तु फिर भी सशोधन का प्रस्ताव केवल ससद के किसी सदन मे प्रस्तुत किया जा सकता है । 24वें सशोधन के अनुसार ससद मूल अधिकारो म भी सशोधन कर सकती है ।

(ii) राष्ट्रपति और उप राष्ट्रपति के निर्वाचन मे भाग लेती है ।

(iii) राष्ट्रपति, उप राष्ट्रपति, न्यायाधीशो तथा अन्य उच्च पदाधिकारियो की पदच्युति के प्रस्ताव मे हिस्सा लेती है ।

(iv) राष्ट्रपति द्वारा की गई सकटकालीन घोषणाओ का अनुमोदन करती है । इसकी स्वीकृति के बिना सकटकालीन घोषणा दो महीने से अधिक जारी नही रह सकती ।

(v) लोक सभा अपने पदाधिकारियो (स्पीकर, उप स्पीकर) का निर्वाचन स्वय करती है ।

(vi) इसके विशेषाधिकारो की उल्लघना करने वालो को दण्डित कर सकती है ।

(vii) स्वतन्त्र सरकारी अभिकरणो द्वारा प्रस्तुत वार्षिक प्रतिवेदना अर्थात् केन्द्रीय लोक सेवा आयोग, नियन्त्रक एव महालेखा परीक्षक, वित्त आयोग, भाषा आयोग, अनुसूचित जातिया और अनुसूचित जन जातियो के आयोग द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनो पर विचार करती है ।

(viii) भारतीय सघ म नये राज्यो के प्रवेश (जसाकि सिक्किम को भारत सघ का 22वा राज्य बनाया गया है), वर्तमान राज्यो की सीमाओ मे परिवर्तन आदि के सम्बन्ध म कानून बना सकती है ।

(ix) भारतीय नागरिकता को प्राप्त करने तथा उसे समाप्त करने के सम्बन्ध म कानून बना सकती है ।

(x) लोक सभा अपने कानून द्वारा अपने कार्यकाल को बढ़ा सकती है ।

(xi) सदन के कार्य सचालन के सम्बन्ध मे कानूनो का निर्माण कर सकती है ।

(xii) राज्यो की प्रार्थना पर राज्य विधान परिषद (उच्च सदन) का निर्मित या समाप्त कर सकती है ।

(xiii) ससद के सदस्यो के विशेषाधिकारो को निर्मित कर सकती है ।

(xiv) किसी राज्य के लिए उच्च न्यायालय का निर्माण कर सकती है ।

(xv) प्रदत्त शक्तियो के अन्तर्गत कार्यपालिका द्वारा बनाये गये नियमो और विनियमो पर नियन्त्रण, आदि आदि।

## लोक सभा के पदाधिकारी
## (Officers of Lok Sabha)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 93 म लोक सभा के पदाधिकारियो की व्यवस्था की गयी है। इस अनुच्छेद के अनुसार लोक सभा का एक अध्यक्ष (स्पीकर) और एक उपाध्यक्ष (डिप्टी स्पीकर) होता है जिनका निर्वाचन लोक सभा अपने सदस्यो में से करती है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति मे या अध्यक्ष का पद रिक्त होने के स्थान पर उपाध्यक्ष लोक सभा की बैठको की अध्यक्षता करता है। इन दो पदाधिकारियो के अतिरिक्त सभापतियो की नामिका' (Pancel of Chairmen) का भी व्यवस्था है। इस नामिका मे 6 सदस्य होते हैं जिन्हे समय समय पर अध्यक्ष नामांकित करता है। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति मे सभापतियो की इस नामिका से कोई सभापति लोक सभा की बैठको का सभापतित्व करता है। जब सभापति अध्यक्ष के रूप मे कार्य करता है तो वह उन्ही अधिकारो, शक्तियों, आदि का प्रयोग करता है जो अध्यक्ष के पास होती है।

भारतीय संविधान लोक सभा के सचिवालय की व्यवस्था अनुच्छेद 98 म करता है। सचिवालय के अध्यक्ष को सचिव कहते है जो सदन से सम्बन्धित अध्यक्ष के लिये प्रशासनिक और कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य करता है। एक प्रकार से वह सदन और उसकी समितियो तथा सदस्यो के परामर्शदाता के रूप मे कार्य करता है। उसकी भूमिका एक स्थायी सिविल सेवक की भांति होती है। दलीय नीतियो या सदन की राजनीतिक प्रतिकूल प्रवृत्तियो (Political cross-currents) से उसका कोई सम्बन्ध नही होता।

## स्पीकर
## (The Speaker)

स्पीकर का पद अत्यन्त गौरव, प्रतिष्ठा, सम्मान और शक्ति का है। वह सदन का प्रवक्ता, उसकी शक्तियो, विशेषाधिकारो और मर्यादाओ का अभिरक्षक (custodian) होता है। पूर्वताक्रम म (order of precedence) मे उसका स्थान सातवाँ है और उसे सर्वोच्च न्यायालय के प्रमुख न्यायाधीश के समान समझा जाता है। यह यह पद गौरवपूर्ण होते हुए भी उसकी प्रतिष्ठा उस व्यक्ति के व्यक्तित्व, उसकी निर्दलीयता और निष्पक्षता के ऊपर निर्भर करती है जो इस पद पर बैठा है। जैसाकि कौल और शकधर ने लिखा है कि 'स्पीकर लोक सभा का सबसे महत्वपूर्ण रूढ़िगत (पारिपाटिक) और औपचारिक अध्यक्ष है। सदन की चार-दीवारी में अन्दर उसकी सत्ता सर्वोच्च है। यह सत्ता स्पीकर की निरपेक्ष और अपरिवर्तनीय निष्पक्षता के ऊपर

निभर करती है उसके पद की मुख्य विशेषता और उसके जीवन का कानून यही है।''[1]

**नियुक्ति, कायकाल और पदच्युति**—स्पीकर का निर्वाचन लोक सभा अपने सदस्यो मे मे करती है। प्रत्येक पुनर्गठित लोक सभा का प्रथम काय यही है कि वह अपने स्पीकर का निर्वाचन करे। जिस प्रत्याशी को सबसे अधिक मत प्राप्त होते हैं उसे स्पीकर घोषित कर दिया जाता है। भारत के लोक सभा के स्पीकर के निर्वाचन के सम्बन्ध म उन प्रथाओ का विकास नही हुआ जिनका विकास ब्रिटेन की कॉमन सभा के स्पीकर के लिये किया गया है। अर्थात भारत म स्पीकर ब्रिटेन की भाति न तो निर्वाचन मण्डल म निर्विरोध चुना जाता है और न ही लोकसभा मे उसका निर्वाचन औपचारिक मात्र है। अर्थात भारतीय स्पीकर का विरोध निर्वाचन मण्डल म भी किया जाता है और लोकसभा म भी इस पद के लिये सघर्ष होता है। अत भारतीय स्पीकर के पद के लिय इस कहावत का प्रयोग नही किया जा सकता, जिसका प्रयोग ब्रिटिश स्पीकर के लिये किया जाता है, कि 'एक बार स्पीकर बन जाने के बाद वह सवदा स्पीकर'' रह सकता है।

स्पीकर का निर्वाचन पाच वष के लिये होता है। परन्तु यदि इस समय से पूव लोक सभा भग हो जाती है तो उसका कायकाल भी समाप्त हो जाता है परन्तु वह उस समय तक काय करता है जब तक पुनर्गठित लोकसभा नये स्पीकर का निर्वाचन नही कर लेती। स्पीकर चाहे तो वह समय से पूव अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है जिस प्रकार कि स्पीकर नीलम सजीवा रेडडी ने 1969 मे राष्ट्रपति पद के लिये चुनाव लड़ने के लिय समय से पूव अपने पद से त्याग पत्र दे दिया था। लोकसभा की सदस्यता खो बठन पर भी स्पीकर अपन पद से वचित हो जाता है। अनुच्छेद 94 (c) के अनुसार लोक सभा अपने सदस्यो के पूर्ण बहुमत के प्रस्ताव द्वारा स्पीकर को समय मे पूव अपने पद से पदच्युत कर सकती है। इस प्रस्ताव के पास करने से पूव स्पीकर को 14 दिन का नोटिस देना आवश्यक है।

**वेतन व भत्ते**—स्पीकर के वेतन और भत्ते लोकसभा के कानून द्वारा निर्धारित किये जाते है। इस समय स्पीकर को 2,250 रु० मासिक वेतन और 500 रु० भत्तो के रूप म प्राप्त होते है। इसके अतिरिक्त स्पीकर को रहन के लिये नि शुल्क सरकारी मकान और मेडिकल सुविधाये प्राप्त हैं। वह अपने तथा अपने परिवार के लिय यात्रा भत्ते भी ले सकता है। स्पीकर की निष्पक्षता को बनाये रखने के लिये सविधान उसके वेतनो और पद के अ य खर्चों को भारत की सचित निधि पर भारित करता है।

---

1 Kaul and Shakdher Practice and Procedure of Parliament Ed 1 p 85 Quoted by Johari, J C Indian Govt and Politics p 325

**शक्तियाँ और कार्य**—लोकसभा के स्पीकर की कुछ शक्तियां संविधान मे उल्लिखित है परन्तु अधिकांश शक्तियां अभिसयो पर ही आधारित हैं। ससदीय कार्यवाही तथा सचालन नियम, 1950 (Rules of Procedure and Conduct of Business in Parliament, 1950) मे स्पीकर की जिन शक्तियों का वर्णन किया गया है उन्हे अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से चार भागो मे बांटा जा सकता है। (1) नियामक (Regulatory) (2) पर्यवेक्षकीय (Supervisory) (3) प्रशासनिक (Administrative) और (4) विशिष्ट (Special)।

1 **नियामक शक्तियाँ**—स्पीकर की नियामक सम्बन्धी शक्तियां वे हैं जिनका सम्बन्ध सदन मे व्यवस्था से है। इसके मुख्य उदाहरण निम्न हैं—

(i) सदन मे व्यवस्था और मर्यादा बनाये रखना।

(ii) भिन्न भिन्न विषयो पर विचार-विमर्श के लिये समय निर्धारित करना तथा सदस्यों को मान्यता देकर बोलने की आज्ञा देना।

(iii) स्पीकर की अनुमति के बिना कोई प्रस्ताव (जैसे स्थगन प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव) प्रस्तुत नही किया जा सकता।

(iv) व्यवस्था प्रश्नो (points of order) को स्पीकर स्वीकार करता है।

(v) सविधान तथा प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों की व्याख्या स्पीकर करता है तथा उन्हे लागू भी स्पीकर करता है।

(vi) मतदान के लिये विषयो को सदन मे प्रस्तुत करता है तथा परिणामों की घोषणा करता है।

(vii) सविधान स्पीकर को सदन मे मतदान का अधिकार नही देता परन्तु जब गतिरोध उत्पन्न हो जाता है अर्थात् जब किसी विषय पर बराबर मत आ जाते हैं तो विषय के निपटारे के लिये अपना निर्णायक मत (casting vote) का प्रयोग कर सकता है।

(viii) जब कोई मन्त्री अपने पद से त्यागपत्र देता है तो सदन मे स्पष्टीकरण की आज्ञा देता है।

(ix) विषयों के निपटारे के लिये वह विनिर्णय (Rulings) देता है। उसके विनिर्णय अन्तिम होते हैं।

(x) यदि किसी समय सदन की बैठक के लिये गणपूर्ति न हो तो स्पीकर सदन को स्थगित कर सकता है।

(xi) सदन के विचाराधीन महत्वपूर्ण प्रश्नो पर स्पीकर सदस्यों के प्रबोध (enlightenment) के निमित्त सदन को सम्बोधित कर सकता है।

(xii) सदन के नेता अर्थात प्रधानमन्त्री की प्रार्थना पर स्पीकर सदन की गुप्त बैठक की आज्ञा दे सकता है।

(xiii) सदन की कार्यवाही अंग्रेजी और हिन्दी मे होती है परन्तु यदि कोई सदस्य अपनी मातृभाषा मे बोलना चाहता है तो स्पीकर उसको आज्ञा दे सकता है।

परन्तु स्पीकर उस सदस्य के भाषण के अंग्रेजी और हिन्दी मे अनुवाद की शीघ्र व्यवस्था करता है ।

**2 पर्यवेक्षीय शक्तियां**—स्पीकर की पर्यवेक्षीय शक्तियां वे है जिनके अन्तर्गत वह सदन की कार्यवाही का पर्यवेक्षण करता है । इसके मुख्य उदाहरण निम्न हैं—

(i) सदन की बैठकों की अध्यक्षता स्पीकर करता है ।

(ii) स्पीकर संसदात्मक समितियो के प्रधान के रूप मे कार्य करता है । नियम और कार्य संचालन जैसी समितियों का तो अध्यक्ष ही सभापतित्व करता है ।

(iii) स्पीकर भिन्न भिन्न समितियों के सभापतियो को नियुक्त करता है ।

(iv) स्पीकर संसदात्मक समितियों की कार्यप्रणाली और प्रक्रिया के सम्बन्ध मे निर्देशन दे सकता है ।

(v) सदन या उसकी समितियो के लिये स्पीकर सरकार को सूचनायें प्रदान करने के लिये कह सकता है ।

(vi) सदन मे असम्बद्ध और असंसदीय भाषा के प्रयोग को रोकता है और यदि कोई सदस्य अभद्र और दोषारोपण शब्दो को वापस नही लेता तो स्पीकर उन्हे सदन की कार्यवाही से निकाल सकता है ।

(vii) स्पीकर सदस्यों को सदन मे मान्यता प्रदान कर बोलने के लिये आज्ञा देता है ।

(viii) अनियमित (गड़बड़ी पैदा करने वाले) आचरण के कारण स्पीकर किसी सदस्य का नामोच्चारण (naming) करके उसे सदन को छोड़ने के लिये कह सकता है और यदि कोई सदस्य उसके आदेशों की अवहेलना करता है तो स्पीकर "मार्शल और वाच एण्ड वार्ड स्टाफ" (Marshall and Watch & ward staff) की सेवायें प्राप्त कर सकता है तथा अनियमित सदस्य को सदन से उठाकर बाहर भिजवा सकता है ।

(ix) गम्भीर अव्यवस्था के कारण स्पीकर सदन की कार्यवाही को स्थगित कर सकता है ।

(x) स्पीकर की आज्ञा के बिना लोक सभा की सीमा के अन्तर्गत कोई कानूनी कार्यवाही नही की जा सकती ।

(xi) स्पीकर विशेषाधिकार प्रस्ताव को स्वीकार करता है तथा अपराधी को हिरासत मे लेने के लिये आदेश देता है ।

(xii) सदन जिन व्यक्तियों को विशेषाधिकारों की उल्लंघना करने पर दण्डित करता है स्पीकर उस दण्ड को लागू करवाता है ।

**3 प्रशासनिक शक्तियां**—स्पीकर की प्रशासनिक शक्तियां वे है जो सदन के प्रशासन से सम्बन्धित है । इसके मुख्य उदाहरण निम्न हैं—

(i) स्पीकर संसदीय सचिवालय पर नियन्त्रण रखता है ।

(ii) प्रेस और जनता के लिये लॉबी और गेलरी को नियमित करता है ।

(iii) स्पीकर सदन के सदस्यो के लिये निवास और अन्य सुविधाओं की व्यवस्था करता है ।

(iv) स्पीकर सदन तथा उसकी समितियो की बैठको के लिये व्यवस्था करता है ।

(v) स्पीकर संसद की कार्यवाही और अभिलेखा के अनुरक्षण (Maintenance) की व्यवस्था करता है ।

(vi) स्पीकर सदन के सदस्यो और स्टाफ के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा के लिये पर्याप्त प्रबन्ध करता है ।

(vii) स्पीकर सदस्या के त्यागपत्र का स्वीकार या अस्वीकार करता है। संविधान के 33 वें संशोधन के अनुसार स्पीकर इस बात का ध्यान रखता है कि कहीं किसी सदस्य ने दबाव में आकर तो अपने पद से त्यागपत्र नही दिया यदि उसे विश्वास हो जाय कि त्याग पत्र दबाव के कारण दिया गया है तो वह उसे स्वीकार करने से इन्कार कर सकता है ।

4 विशिष्ट शक्तिया—स्पीकर की विशिष्ट शक्तिया के मुख्य उदाहरण निम्न है—

(i) स्पीकर इस बात का निर्धारण करता है कि अमुक विधेयक वित्त विधेयक है या नही ।

(ii) सदन द्वारा पास किये गये विधेयको को स्पीकर प्रमाणित करता है ।

(iii) विधेयक के पास होने के बाद जो त्रुटिया उसमें रह जाती हैं उन्हें दूर करने का स्पीकर को विशेषाधिकार है ।

(iv) जब कभी लोक सभा और राज्य सभा की संयुक्त बैठक होती है तो स्पीकर उन (संयुक्त) बैठको की अध्यक्षता करता है ।

(v) संसदीय शिष्टमण्डलो के सदस्यो को नामांकित करता है ।

(vi) राष्ट्रपति और सदन के मध्य पत्र व्यवहार की मुख्य कडी स्पीकर है ।

(vii) सदन का कार्यकाल समाप्त होने पर स्पीकर अन्तिम समारोह को सम्बोधित करता है ।

## स्पीकर की स्थिति या भारतीय और ब्रिटिश तथा अमरीकी स्पीकरो की तुलना

भारतीय स्पीकर की स्थिति ब्रिटिश और अमरीकी स्पीकरो के मध्य की है । ब्रिटिश स्पीकर पूर्णतया निष्पक्ष ही नही होता बल्कि निर्दलीय भी होता है । ब्रिटिश स्पीकर केवल सदन में ही नहीं बल्कि अपने सामाजिक जीवन में अपना तटस्थ और निष्पक्ष व्यवहार को बनाये रखता है । वह तो भोजन की मेज पर भी सार्वजनिक नीतियों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त नहीं करता । स्पीकर पद पर नियुक्त होने

ही ब्रिटिश स्पीकर अपने दल की सदस्यता से त्यागपत्र दे देता है। वह न तो दल की बैठकों में हिस्सा लेता है, न दलगत प्रश्नों पर विवाद करता है, न दलीय समाचार पत्रों या वक्तव्यों से कोई सम्बन्ध रखता है, न दलीय मंच पर कोई भाषण देता है। सन् 1945 में कामन सभा के स्पीकर क्लिफ्टन ब्राऊन ने अपने सम्बन्ध में कहा था कि 'अध्यक्ष के रूप में, मैं न तो सरकार का आदमी हूँ और न विरोधी दल का। मैं तो कामन सभा का आदमी हूँ और सबसे बढ़ कर मैं पीछे बैठने वालों का आदमी हूँ'। संक्षेप में ब्रिटिश स्पीकर ऐसा निर्देशी (referee) होता है जो यह देखता है कि राजनीति के खेल को खेल के नियमों के अनुसार खेला जा रहा है या नहीं।

दूसरी ओर, अमरीकी प्रतिनिधि सभा का स्पीकर पूर्णतया दलीय होता है। सदन में उसका निर्वाचन दलीय आधार पर होता है अर्थात वह सदन में बहुमत दल का नेता होता है और विधि निर्माण में उसका प्रमुख हाथ होता है। सदन में वह दल की नीतियों का समर्थन करता है। वह वाद विवाद में हिस्सा लेता है, प्रेस को वक्तव्य देता है। दलीय पत्र पत्रिकाओं से, दलीय बैठकों से, दलीय नीतियों से उसका गहरा सम्बन्ध होता है। संक्षेप में अमरीकी स्पीकर अपने कार्यों, विचारों और दृष्टि-कोण में दलीय होता है। दलीय होने के कारण अमरीकी स्पीकर की प्रतिष्ठा ब्रिटिश स्पीकर से बहुत कम है। अमरीकी स्पीकर के दलीय होने का मुख्य कारण यह है कि अमरीका में अध्यक्षीय शासन प्रणाली है और सदन में नेतृत्व करने के लिये कार्य-पालिका अनुपस्थित होती है।

भारत में ब्रिटिश नमूने की संसदीय प्रणाली को अपनाया गया है और लोक सभा के स्पीकर के पद को भी ब्रिटिश नमूने का बनाया गया है परन्तु फिर भी भारतीय स्पीकर को वह गौरव, प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त नहीं जो ब्रिटिश स्पीकर को प्राप्त है। इसका मूल कारण यह है कि भारत के स्पीकरों ने उस निष्पक्षता और निर्दलीयता का परिचय नहीं दिया जिसका ब्रिटिश स्पीकर मूर्तिमान है।

भारत के संविधान निर्माता लोक सभा के स्पीकर को निर्दलीय और निष्पक्ष बनाना चाहते थे और इसी उद्देश्य से उन्होंने संविधान में निम्न व्यवस्थायें की —

(i) स्पीकर के वेतनों और भत्तों को संसद की वोट से परे रखा अर्थात स्पीकर के वेतन, भत्ते तथा उसके पद के अन्य खर्चे भारत की संचित निधि (consolidated fund of India) पर भारित होते हैं।

(ii) संविधान स्पीकर को कोई मताधिकार प्रदान नहीं करता। उसके पास केवल निर्णायक मताधिकार (Casting vote) है जिसका प्रयोग वह केवल गतिरोध उत्पन्न होने की स्थिति में करता है।

स्पीकर की निष्पक्षता की आवश्यकता पर बल देते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने 18 मार्च 1948 को विट्ठलभाई जे० पटेल (Vitthalbhai J Patel) की

मूर्ति का अनावरण करते हुए कहा था कि 'स्पीकर सदन का प्रतिनिधित्व करता है। वह सदन की प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता का प्रतिनिधित्व करता है और क्योंकि सदन राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है अत स्पीकर राष्ट्र की स्वतन्त्रता का चिन्ह है। अत यह ठीक है कि उसकी स्थिति सम्मान और स्वतन्त्रता की होनी चाहिए और इस पद पर ऐसे व्यक्ति होने चाहिये जिनकी अपनी योग्यता और निष्पक्षता उत्कृष्ट है।'[1]

भारतीय सविधान निर्माताओं की इच्छाओं के बावजूद भारतीय स्पीकर प्रतिष्ठा और गौरव का पद होते हुए भी उन्हे प्राप्त नहीं कर सका इसके मुख्य कारण निम्न है —

(i) भारतीय स्पीकर का निवाचन निर्विरोध नहीं होता। स्पीकर नियुक्त होने के बाद वह अपने दल की सदस्यता से त्याग पत्र नहीं देता अर्थात वह अपने दल से सम्बन्ध बनाये रखता है और दलीय दृष्टिकोण स प्रभावित रहता है। श्री नीलम सजीवा रेड्डी को छोड कर भारत के किसी स्पीकर ने स्पीकर नियुक्त होने के बाद अपने दल की सदस्यता से त्यागपत्र नहीं दिया।

(ii) सदन के काय सचालन मे भी भारतीय स्पीकर का आचरण पूर्णतया निर्दलीय और निष्पक्ष नही रहा। अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जहा स्पीकर के विनिर्णय (rulings) दलीय दृष्टिकोण से प्रभावित थे। उदाहरणतया जब 30 नवम्बर, 1959 को सरकार आठवें सवधानिक सशोधन पर बहुमत प्राप्त न कर सकी तो स्पीकर ने असाधारण परिस्थितियो का सहारा लेकर 'मतदान' को स्थगित कर दिया। इस उदाहरण का देखकर ही प्रो० के० वी० रॉव ने यह विचार व्यक्त किये हैं कि 'स्पीकर के पद का प्रयोग सत्तारूढ दल के हितो की रक्षा हेतु किया जा रहा है।'"[1]

(iii) पूर्ण निष्पक्षता क अभाव म भारतीय स्पीकर प्रतिपक्ष के विश्वास का पात्र नही बन सका। सवधानिक इतिहास के पिछले 25 वर्षों म स्पीकरो के विरुद्ध इस आधार पर अविश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत किये गय कि प्रतिपक्ष को उनकी निष्पक्षता पर विश्वास नही रहा। प्रथम अविश्वास प्रस्ताव 18 दिसम्बर, 1954 को प्रथम स्पीकर जी० वी० मावलकर के विरुद्ध प्रस्तुत किया गया परन्तु वह पास न हो सका। दूसरा अविश्वास प्रस्ताव की सूचना (notice) समाजवादी नेता मधु लिमाय ने पाचवें स्पीकर गुरदयाल सिह ढिल्लो क विरुद्ध 3 मार्च 1975 को दी जिसे बाद म प्रस्तुत नही किया गया। इस सूचना प्रस्ताव म ढिल्लो पर 18 आरोप लगाय गये थे। इस सूचना म कहा गया था कि स्पीकर न अपनी प्रतिष्ठा का ह्रास किया है। ये प्रस्ताव भारतीय स्पीकरो के असन्तोष आचरण का अभिव्यक्त करते हैं। वस्तुत भारतीय

1 Rao K V Parliamentary Democracy of India p 110 Quoted by Johari J C Ibid p 331

2 See Indian Express dt 14-3-1975 p 1

स्पीकर अपनी निष्पक्षता के कारण प्रतिपक्ष और जनता के आकर्षण का पात्र नहीं। भारतीय ससद में जो समय समय पर व्यवस्था की गडबडियान जर आती है उनमे, अन्य कारणो सहित, एक कारण यह भी है कि प्रतिपक्ष का स्पीकर के पूर्ण निष्पक्ष आचरण पर विश्वास नही।

(iv) भारत मे ऐसे उदाहरण विद्यमान हैं जहा पद निवृत होने के बाद स्पीकरो को सरकारी पदो पर नियुक्त किया गया उदाहरणतया अनन्तास्वामी आयगर को बिहार का और सरदार हुकमसिह को राजस्थान का राज्यपाल नियुक्त किया गया। इन लाभकारी पदो पर लोकसभा के स्पीकरो की नियुक्ति निश्चित ही उनके निष्पक्ष आचरण मे बाधा है।

उपयुक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत म उन प्रथाओ का विकास नही किया गया जो स्पीकर पद का निष्पक्ष आचरण के लिये प्रोत्साहित करें। अत आवश्यकता इस बात की है कि सेवा निवृत होने के बाद स्पीकर को किसी लाभकारी पद पर *नियुक्त न किया जाय। यह प्रथा उसे कार्यपालिका नियन्त्रण से मुक्त रखेगी।* **दूसरे** स्पीकर के लिये एक राजनीतिक सहिता का विकास किया जाय ताकि उसका निर्वाचन निर्विरोध किया जा सके। **तीसरे** ऐसे व्यक्ति का स्पीकर पद के लिये प्रत्याशी बनाया जाय जो प्रतिपक्ष को भी स्वीकार हो। **चौथे** स्पीकर को अपने दल की सदस्यता से त्यागपत्र द दना चाहिये और उसे सदन के विचार विमर्श मे भी हिस्सा नही लेना चाहिये अर्थात उसे अपनी तटस्थता और निष्पक्षता की स्वय रक्षा करनी चाहिये। इन्ही प्रथाओ के विकसित होने पर ही भारतीय स्पीकर का पद ब्रिटिश स्पीकर के पद की प्रतिष्ठा गौरव और सम्मान को प्राप्त कर सकेगा।

## ससदीय विशेषाधिकार
## (The Parliamentary Privileges)

ससद, उसके सदस्यो और उसकी समितियो को स्वतन्त्रता पूर्वक एव निर्भीकतापूर्वक कार्य करने के लिये सविधान उनके कुछ विशेषाधिकारो की व्यवस्था करता है। सविधान का अनुच्छेद 105 इन्ही विशेषाधिकारो से सम्बन्धित है। इस *अनुच्छेद के अन्तर्गत ससद सदस्यो को ससद म अपने विचारो को प्रकट करने की* पूर्ण स्वतन्त्रता है और सदन म व्यक्त किये गये विचारो और प्रकट किये गये मत को लेकर या ससद की सत्ता के अधीन प्रकाशित प्रतिवेदनो कागजो, मतदान या कार्यवाही को लेकर किसी न्यायालय मे कोई कार्यवाही नही की जा सकती। इस अनुच्छेद म यह व्यवस्था भी की गयी है कि जब तक ससद कानून द्वारा ससद उसके सदस्यो और उसकी समितियो के लिये विशेषाधिकारो को परिभाषित एव उनका सहिताकरण (codification) नही करती तब तक ससद, उसके सदस्य एव उसकी समितिया उन सब विशेषाधिकारो का उपभोग करेंगी जो ब्रिटिश कामन सभा के सदन उसके सदस्यो और उसकी समितियो को प्राप्त है। भारतीय सविधान

यही एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे ब्रिटिश कॉमन सभा का स्पष्ट उल्लेख एव अनुकरण किया गया है। सविधान सभा के सदस्यो ने, विशेष कर एच० वी० कमथ और के० टी० शाह ने, इस व्यवस्था पर आपत्ति उठाई थी क्योकि उनका विश्वास था कि कोई भी सावभौम व्यवस्थापिका अपने विशेपाधिकारो की स्वय निर्णायक होनी चाहिये।[1] परन्तु सविधान निर्माताओ ने सम्भवत इस व्यवस्था को इस कारण अपनाया कि ब्रिटिश कामन सभा का विधान के क्षेत्र म अत्यधिक अनुभव प्राप्त था और उस समय सभी विशेपाधिकारो को सहितावद्ध करना कठिन था। सम्भवत समय के अनुकूल विशेपाधिकारो को बनाये रखने के लिय भी ऐसा किया गया था।

भारतीय ससद ने कानून द्वारा अपने विशेपाधिकारों को न तो परिभाषित किया है और न ही उनका सहिताकरण (Codification) किया गया है। अत ये अभी ब्रिटिश कॉमन सभा के अभिसमयो और प्रथाओ पर ही आधारित हैं। प्रक्रिया के नियमो (Rules of Procedure) मे जिन विशेपधिकारो का उल्लेख किया गया है उनम प्रमुख निम्न है —

(i) यदि किसी सदस्य द्वारा विशेपाधिकार के प्रश्न को सदन मे उठाया जाता है और यदि वह स्वीकायता (admissibility) की शर्तों को पूरा करता है तो उसे विशेपाधिकार समिति को सौप दिया जाता है। सदन समिति क प्रतिवेदन पर विचार विमश करती है और यदि सदन उस स्वीकार कर लेता है तो सदन द्वारा निधारित कायवाही (action) की जाती है। अथात सदन, उसके सदस्यो और उसकी समितियो क विशेपाधिकारो की उल्लघना करने वाले व्यक्तियो को दण्डित कर सकती ह।

(ii) सदन की सीमाओ के अतगत स्पीकर की अनुमति के बिना किसी ससद सदस्य को हिरासत म नही लिया जा सकता और यदि ससद के बाहर किसी ससद सदस्य को हिरासत म लिया गया है या उसके विरुद्ध फौजदारी कायवाही की गयी है या उस रोका गया है तो इसकी सूचना लोक सभा के स्पीकर को देनी आवश्यक है।

पिछले वर्षों म सवधानिक इतिहास के विकास म ससद और विधान सभाओ क विशेपाधिकारो के सम्बन्ध मे दो प्रकार के प्रश्न सामने उभर कर आय हैं। प्रथम यह कि क्या ससद या राज्य विधान सभा क विशेपाधिकार नागरिको के मूल अधिकारो का अतिक्रमण कर सकते हैं। सन 1950 म सर्वोच्च न्यायालय म मिश्र ज ष सम्पादक ... जी० क० रेड्डी का बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) की याचिका म यह उद्घोषणा की कि विशेपाधिकार नागरिको के मूल अधिकारो का अतिक्रमण नही कर सकते। अत सर्वोच्च न्यायालय न ब्लिटज के सहायक सम्पादक

1 See Constituent Assembly Debates, Vol VIII pp 144-145

जी० के० नूही को जिसे यू० पी० विधान सभा के स्पीकर के वारन्ट के आधार पर हिरासत में लिया गया था उसे रिहा करने के आदेश दे दिये। परन्तु सन् 1959 के सर्चलाइट (Search light)[1] के मुकदमे में मुख्य न्यायाधीश एस० आर० दास ने बहुमत के निर्णय की उद्घोषणा करते हुए कहा कि क्योंकि विशेषाधिकार 'विशेष' (special) हैं अतः उन्हें मूल अधिकारों से जो सामान्य (general) हैं प्राथमिकता दी जानी चाहिए। परन्तु न्यायाधीश सुब्बा राव (Justice Subba Rao) ने अपनी विसम्मत राय (dissenting opinion) में यह विचार व्यक्त किया कि जहाँ 'विशेषाधिकारों' और मूल अधिकारों में संघर्ष (conflict) उत्पन्न होता है वहाँ विशेषाधिकारों को मूल अधिकारों के अधीन होना चाहिए।

सन् 1964 में राज्य विधान सभा और उच्च न्यायालय में विशेषाधिकारों का प्रश्न उभर कर सामने आया। विवाद उस समय उत्पन्न हुआ जब गोरखपुर के केशवसिंह नाम के एक सामाजिक कार्यकर्ता ने यू० पी० विधान सभा के स्पीकर को एक पत्र में सदन की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल भाषा का प्रयोग किया। सदन ने उसकी भर्त्सना की और केशवसिंह को सात दिन का साधारण कारावास का दण्ड दिया। केशवसिंह द्वारा इलाहाबाद उच्च न्यायालय में बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) की याचिका प्रस्तुत होने पर उच्च न्यायालय ने 19 मार्च 1964 को केशवसिंह को जमानत (bail) पर रिहा के आदेश दे दिये। केशवसिंह अब तक 6 दिन के कारावास का दण्ड भुगत चुका था। 21 मार्च, 1964 को विधान सभा ने केशवसिंह को पुनः हिरासत में लेने और शेष दण्ड को भुगतने (एक दिन के दण्ड को भुगतने) के वारण्ट जारी कर दिये और केशवसिंह के काउन्सेल (counsel) और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को सदन के समक्ष प्रस्तुत होने के लिये आदेश दिये। दोनों न्यायाधीशों ने अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत हाईकोर्ट में याचिका प्रस्तुत कर दी जिसने विधान सभा के आदेश की पालना को स्थगित कर दिया। इसी बीच राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय से इस विषय पर परामर्श मांगा। सर्वोच्च न्यायालय ने इस विषय पर जो परामर्श दिया उसके मुख्य बिन्दु निम्न हैं —

(i) इलाहाबाद हाई कोर्ट को केशवसिंह की याचिका स्वीकार करने का अधिकार था, वह उसे अन्तरिम बेल दे सकती थी। ऐसा करते हुए न्यायाधीशों ने विधान सभा का कोई अपमान नहीं किया।

(ii) न्यायाधीशों के लिये विधान सभा के समक्ष प्रस्तुत होने की कोई आवश्यकता नहीं थी और न ही वह किसी स्पष्टीकरण के देने की आवश्यकता थी।

---

1 सर्चलाइट ने अपने पत्र में पटना विधान के स्पीकर द्वारा सदन की कार्यवाही से निष्कासित (expunged) किये गये प्रतिवेदन को प्रकाशित किया अतः उसके विरुद्ध विशेषाधिकार की कार्यवाही शुरू की गयी थी।

(iii) उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ (Full Bench) को स्पीकर के वारण्ट को स्थगित करने का अधिकार था।

(iv) न्यायाधीशों और काउंसेल (counsel) को हिरासत में लेने के आदेश देने या स्पष्टीकरण मांगने का उत्तर प्रदेश की विधान सभा को अधिकार नहीं था।

उपर्युक्त परामर्श के अतिरिक्त न्यायालय ने यह विचार भी व्यक्त किया कि "इस तथ्य की कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि अपमान के लिये दण्ड देने की शक्ति का प्रयोग बड़ी सावधानी, बुद्धिमता और दक्षता से किया जाना चाहिये। इसका नित्य और अविवेकपूर्ण प्रयोग न्यायालयों और विधान सभाओं के स्तर और प्रतिष्ठा के पोषण में सहायक नहीं होगा।"

उपर्युक्त विवाद निश्चित ही दुर्भाग्यपूर्ण बात है और सर्वोच्च न्यायालय के परामर्श से स्पष्ट है कि 'विशेषाधिकार' लाइसेंस (licence) का रूप धारण नहीं कर सकता। अतः संसद व विधान सभाओं के विशेषाधिकारों के संहिताकरण की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है ताकि अनावश्यक विवाद उत्पन्न न हो।

## संसदीय समितियां

**(Parliamentary Committees)**

वर्तमान समय में कोई भी ऐसी व्यवस्थापिका नहीं जो समितियों का प्रयोग न करती हो। वस्तुतः समितियां व्यवस्थापिका के कार्य सचालन में आवश्यक विशेषक हैं। समितियां ही व्यवस्थापिका के कार्य को सरल, दक्ष और फुर्तीला बनाती हैं, वे ही व्यवस्थापिका के मूल्यवान समय की बचत करती हैं, उसे आवश्यक विशेष व तकनीकी ज्ञान प्रदान करती हैं तथा सरकारी विधेयकों पर प्रतिपक्ष के रचनात्मक सहयोग को प्राप्त करने में सहायक होती हैं।

वयस्क मताधिकार के विस्तार के साथ जहां व्यवस्थापिका के आकार में वृद्धि हुई है वहां लोक-कल्याणकारी राज्य के विकास से राज्यों के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि हुई है। आज का राज्य सामाजिक सेवा राज्य (Social Service State) है। अतः अपने विविध एवं विशिष्ट कार्यों का सम्पन्न करने के लिये प्रत्येक राज्य की व्यवस्थापिका को अनेक प्रकार के कानूनों का निर्माण करना होता है और इनके लिए समय और तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता होती है। इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति समितियां करती हैं। समय की बचत के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए हर्मन फाइनर लिखता है कि "समितियां संसद के समय की इतनी अधिक बचत करती हैं कि उनके बिना सदन के लिए आधुनिक समय की विधायी आवश्यकताओं की पूर्ति करना कठिन है।' लोक सभा के भूतपूर्व सचिव एम० एन० कौल ने समितियों के महत्त्व को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है "संसद नीति की विवेचना करती है परन्तु जब तक ऐसी समितियां न हों जो उनकी बारीकियों का विवेचन कर सकें और वहां वे लोग जो प्रशासन चलाते हैं आकर अपनी गवाही न दे सकें,

जहा मामलो की अच्छी तरह जाच न हो सके वहा ससदीय नियन्त्रण दुर्बल रहेगा ।"[1]

ससदात्मक शासन प्रणाली और अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की समितियो की भूमिका और महत्त्व मे अत्यधिक अन्तर होता है । ससदात्मक शासन प्रणाली म, जसाकि भारत और ब्रिटेन म, समितिया ससद की अधीनस्थ निकायें होती है जि हे परामश और सहायक के रूप मे नियुक्त किया जाता है । ससद द्वारा इनके पास विचार विमश के लिय भेजे गये विधेयको पर ये बारीकी से विचार करती हैं तथा अपने प्रतिवेदन सहित उन्हे ससद मे वापस भेजती है । ये विधेयको की मृत्यु नही कर सकती । दूसरी ओर, अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली मे, जैसाकि अमरीका म समितिया काग्रेस के अधीन अवश्य होती है परन्तु उन्ह विधेयका की मृत्यु करने का अधिकार होता है । अर्थात् यह आवश्यक नही कि समितिया को भेजे गये विधेयको पर समिति विचार करे या उन्हे अपने प्रतिवेदनो सहित काग्रेस को वापस भेजे । इसी कारण अमरीका मे समितियो को "लघु व्यवस्थापिकायें" (Legislatures in miniature) कहा जाता है । ससदात्मक शासन प्रणाली और अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की समितिया मे इस भेद का मूल कारण यह है कि ससदात्मक प्रणाली मे मन्त्रिमण्डल सदन का नेतृत्व करती है जबकि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली मे कायपालिका काग्रेस म अनुपस्थित होती है । अत विधि निर्माण के क्षेत्र मे, ये समितिया ही काग्रेस का नेतृत्व करती है ।

**भारतीय ससद मे समितियाँ**—भारत मे समितियो का इतिहास 1922 से शुरू होता है जब ब्रिटिश शासनाधीन भारत की केन्द्रीय विधान सभा मे समितियो की स्थापना की गयी । इन समितिया को स्थायी समितियाँ (Standing Committees) कहा जाता था परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इन्हे 1952 म समाप्त कर दिया गया । इन समितिया को समाप्त करते समय श्री नेहरू ने कहा था कि "इन समितियो का निर्माण भिन्न परिस्थितियो मे किया गया था और वे अब अर्थहीन थी । क्योकि वे भिन्न सस्थाओ और भिन्न प्रणालियो के लिय बनाई गयी थी अत वतमान आवश्यकताओ के लिये वे लाभकारी नही थी ।[2] परन्तु लोक सभा न शीघ्र ही अनुभव किया कि वह समितिया के सहयोग के बिना अपने काय को सुचारू रूप मे सम्पन्न नही कर सकती । अत ससद ने अनेक प्रकार की समितिया की स्थापना की ।

**समितियों की रचना**—भारत मे समितियाँ या तो ससद द्वारा निर्वाचित की जाती हैं या उन्हें स्पीकर द्वारा नियुक्त किया जाता है । ससद के किसी सदस्य का समिति का सदस्य निर्वाचित या नियुक्त करने से पूर्व उसकी सहमति प्राप्त कर ली

---

1 See Morris Jones W H Parliament in India, p 278

2 See Morris Jones, Ibid, p 310 Also See Palmer, Norman D The Indian Political System, p 130

जाती है। समिति के सदस्यो मे से स्पीकर किसी सदस्य को समिति का अध्यक्ष नियुक्त कर देता है। यदि उप स्पीकर किसी समिति का सदस्य होता है तो स्पीकर उसे ही उस समिति का अध्यक्ष नियुक्त करता है।

समिति की बैठकें प्राय ससद भवन की सीमा के अतगत ही होती हैं। ये बैठकें गुप्त होती हैं। इन समितियो मे सदस्यो को अपने व्यक्तित्व के प्रदशन की आवश्यकता नही होती अत इनमे सदन की अपेक्षा अधिक ठोस काम होता है। समिति की बठको की गणपूर्ति के लिये समिति के एक तिहाई सदस्यो की उपस्थिति अनिवाय है। बराबर मत आने पर समिति के अध्यक्ष को निर्णायक मत का अधिकार होता है। समिति मे विषया पर निणय बहुमत से लिये जाते हैं परन्तु अल्प मत को अपनी विसम्मत राय (Dissenting Opinion) देने का अधिकार होता है।

समितियो की प्रक्रिया और काय सचालन के सम्बन्ध मे स्पीकर समिति का निर्देशन दे सकता है। अपने कार्यों को सम्पन्न करने के लिये समितिया व्यक्तियो, कागजो और अभिलेखो (persons, papers and records) को तलब करा सकती है। इन्हें गवाहो से गवाही लेन की भी शक्ति है। समितिया चाहे तो अपनी उप समितियाँ भी नियुक्त कर सकती है। विधेयको पर विचार विमश के बाद समितिया अपने प्रतिवेदनो सहित उन्ह सम्बन्धित सदन मे वापस भेज देती है।

भारतीय समिति प्रणाली की तीन प्रमुख विशेषतायें है। एक विशेषता यह है कि यहा ब्रिटेन और अमरीका की भाति कोई स्थायी समितियाँ नही हैं। जब कभी किसी विधेयक को समिति को भेजने की आवश्यकता होती है तो विधेयक को प्रस्तुत कर्ता उसी समय अस्थायी प्रवर समिति (Select Committee) का सुझाव भी देता है जिसे नियुक्त कर लिया जाता है। दूसरी विशेषता यह है कि कुछ समितियो के, जसे याचिका समिति और अधीनस्थ कानून निर्माण समिति मन्त्री सदस्य नही हो सकते। तीसरी सरकारी आश्वासनो से सम्बन्धित समिति का भारत मे ऐसा उदाहरण है जो अन्य देशो मे देखने को नही मिलता। जमाकि मॉरिस जोन्स ने लिखा है कि यह "पूणत भारत का अपना आविष्कार है।"[1]

## समितियो का वर्गीकरण

बी० बी० जेना ने लोकसभा की समितियो को छ भागो म बाटा है जो निम्न है[2]—

(i) **जाच समितियाँ** (Committees to Inquire)—इसके मूल उदाहरण है याचिका समिति (Committee on Petitions) और विशेषाधिकार समिति (Committee on Privileges)

---

1 See Morris Jones, W H *Ibid*, p 314

2 See Jena, B B Parliamentary Committees in India, pp 11 12

(ii) **शोध समितिया** (Committees to Scrutinize)—इसके मूल उदाहरण है सरकारी आश्वासना से सम्बन्धित समिति (Committee on Government Assurances)

(iii) **नियन्त्रण समितियाँ** (Committees to Control)—इसके मूल उदाहरण हैं अधीनस्थ कानून निर्माण समिति, (Committee on Subordinate Legislation) अनुमान समिति, (Estimates Committee) लोक लेखा समिति, (Public Accounts Committee) आदि।

(iv) **परामश समितियाँ** (Committees to Advise)—इसके मूल उदाहरण है काय सचालन परामशदात्री समिति (Business Advisory Committee), व्यक्तिगत सदस्या द्वारा प्रस्तुत विधेयको एव प्रस्तावा की समिति (Committee on Private Member s Bills and Resolutions) नियम समिति (Rules Committee) सदन की बठका मे अनुपस्थित रहने वाले सदस्यो से सम्बन्धित समिति (Committee on Absence of Members from the Sittings of the House)

(v) **घरेलू कार्यों से सम्बन्धित समितियाँ** (House Keeping Committees)

(vi) **तदर्थ समितिया** (Ad hoc Committees)—ये दो प्रकार की है (i) नियमित समितिया (Regular Committees) जैसे प्रवर समितिया (Select Committees) और सयुक्त समितिया (Joint Committees) (ii) प्रासगिक समितिया (Incidental Committees)

लोक सभा की प्रमुख समितिया को निम्न शीपको के अन्तगत अभिव्यक्त किया जा सकता है—

1 **नियम समिति** (Rules Committee)—इसके 15 सदस्य होते ह जिन्ह स्पीकर नियुक्त करता ह। इसका अध्यक्ष स्पीकर होता है। इसका काय सदन के काय सचालन की प्रक्रिया पर विचार करना तथा उसको निष्पादित करना है। समिति प्रक्रिया को सुधारने के लिय उपाया की सिफारिश कर सकती है।

2 **काय सचालन परामशदात्री समिति** (Business Advisory Committee)—*इसके 15 सदस्य होते हैं जिन्ह स्पीकर नियुक्त करता है। इसका अध्यक्ष* स्पीकर होता है। लोक सभा के सत्र के आरम्भ मे ही इस समिति का निमाण कर दिया जाता है। यह समिति सदन की कायवाही की योजना बनाती है तथा भिन्न भिन्न विषया पर विचार के लिय समय निधारित करती है। सदन की कायवाही का निवाध रूप स सचालित करने के लिये सदन के नेता (यह प्राय बहुमत दल का नता होता है।) और भिन्न भिन्न विरोधी दलो के नेताओ का इस समिति के साथ सम्बद्ध कर दिया जाता है। सामान्यत एक सत्र म यह समिति तीन-चार बार मिलती है और काय सचालन सम्बन्धित सिफारिशें करती है। इसकी सिफारिशा को सदन प्राय स्वीकार किया है।

3 **सामान्य उद्देश्य समिति (General Objectives Committee)**—इसके 20 सदस्य होते है। इसका अध्यक्ष स्पीकर होता हैं। इसमे अध्यक्ष मण्डल (Panel of Chairmen) के सदस्य, विभिन्न दलो के नेता तथा कुछ अन्य सदस्य सम्मिलित होते है। यह समिति स्पीकर को सदन के गठन और उसकी कार्यप्रणाली मे सुधार के सम्बन्ध मे परामर्श देती है। इस समिति की सिफारिशो पर ही स्वचालित मत गणना प्रणाली को शुरू किया गया, ससद सदस्यो के लिये क्लब की स्थापना की गयी और ससदीय प्रतिवेदनो को शीघ्र छापने की व्यवस्था की गयी।

4 **घरेलू विषयो से सम्बन्धित समिति (House keeping Committee)**—इसके 12 सदस्य होते हैं। इसका कार्य ससद सदस्यो के लिये आवास की व्यवस्था करना है।

5 **याचिका समिति (Committee on Petitions)**—इसके 15 सदस्य होते है। इसका निर्माण सत्र के प्रारम्भ मे कर दिया जाता है। कोई मन्त्री इस समिति का सदस्य नही हो सकता। यह समिति उन याचिकाओ (Petitions) पर विचार करती है जो उसे भेजी जाती हैं। याचिकाओ मे निहित शिकायतो के निराकरण के लिये समिति अपने सुझाव देती है।

6 **विशेषाधिकार समिति (Committee on Privileges)**—इसके 15 सदस्य होते हैं। स्पीकर इसके सदस्यो को नियुक्त करता है। उप स्पीकर इस समिति का अध्यक्ष होता है। सविधान ससद सदस्यो को सदन मे अपने विचारो को अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करता है और ससद मे अभिव्यक्त किये गये विचारो को लेकर ससद सदस्यो के विरुद्ध न्यायालय मे कोई कार्यवाही नही की जा सकती। कोई समाचार पत्र किसी पत्र मे ससद की कार्यवाही के सम्बन्ध मे या किसी ससद सदस्य म अभिव्यक्त किये गये विचारो के सम्बन्ध मे आपत्तिजनक या अपमानजनक लेख प्रकाशित नही कर सकता। कोई ससद सदस्य भी सदन मे किसी दूसरे ससद सदस्य के बारे मे अपमानजनक भाषण नही दे सकता। यदि कभी ऐसे प्रश्न उठ खडे हो जाते हैं तो उन्हे जाच के लिये विशेषाधिकार समिति को भेज दिया जाता है जो उस पर विचार विमर्श कर अपने सुझावो सहित ससद को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है।

7 **प्रवर समितियाँ (Select Committees)**--इन समिति के सदस्यो की सख्या निश्चित नही है। वस्तुत समिति के सदस्यो की सख्या समिति पर निर्भर करती है। ये समितियाँ अनेक हैं। इनके सदस्यो का चयन सदन स्वय करता है। वस्तुत विधेयक प्रस्तुत कर्ता स्वय समिति के सदस्यो को नामाकित कर देता है जिन्हे सदन स्वीकार कर लेता है। समिति के सदस्यो म से स्पीकर किसी सदस्य को समिति का अध्यक्ष नियुक्त कर देता है जो सामान्यतया शासक दल मे से होता है। यह समिति विधेयक के सम्बन्ध म जो उसे भेजा जाता है, सूचनायें एकत्रित करती है तथा अपने प्रतिवेदनो सहित उन्हें सदन म प्रस्तुत करती है। कभी कभी दोनो सदनो की सयुक्त प्रवर

समितियो का निर्माण किया जाता है जिसमे लोक सभा और राज्य सभा के ,सदस्या का अनुपात क्रमश 2 1 होना है। प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के बाद ये समितिया समाप्त कर दी जाती हैं।

8 **व्यक्तिगत सदस्यो द्वारा प्रस्तुत विधेयको एव प्रस्तावो की समिति** (Committee on Private Member s Bills and Resolutions)—इसके 15 सदस्य होते हैं जिन्हे स्पीकर एक वर्ष के लिये नामांकित करता है। इसका अध्यक्ष उप स्पीकर होता है। यह समिति उन विधेयको पर विचार विमश करती है जो सदन के गर सरकारी सदस्यो द्वारा प्रस्तुत किये जाते है। महत्त्व और आवश्यकता के आधार पर समिति इन विधेयका को दा भागो मे बाटती हैं। समिति इस बात का भी सुझाव देती है कि इन विधेयको पर कितन समय तक विचार किया जाय।

9 **अधीनस्थ कानून निर्माण समिति** (Committee on Subordinate Legislation)—इसके 15 सदस्य होते है जिन्हे स्पीकर द्वारा नामांकित किया जाता है। मन्त्री इस समिति के सदस्य नही हो सकते। इस समिति का महत्त्व इस कारण से अधिक है कि यह *प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation)* पर ससद का नियन्त्रण बनाये रखती है और नागरिक अधिकारो को कार्यपालिका अतिक्रमण से सुरक्षित रखती है। सन् 1955 मे जी० वी० मावलकर ने ठीक कहा था कि समिति के सदस्य "नवीन अधिनायक तन्त्र के आक्रामक बनने के विरुद्ध वे जनता के रक्षक हैं।"[1] यह समिति ही इस बात की जाच करती है कि कार्यपालिका द्वारा ससद के कानूनो के अन्तर्गत बनाये गये नियम व विनियम कही उन कानूनो की मर्यादाओ की उल्लघना तो नही करते, क्या व करो का तो आरोपित नही करते क्या वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से न्यायालयो के अधिकार क्षेत्र का मर्यादित तो नही करते, आदि।

10 **सरकारी उद्योग धन्धो से सम्बन्धित समिति** (Committee on Public Undertakings)—इसके 15 सदस्य होते हैं जिनमे 10 लोक सभा और 5 राज्य सभा मे से निर्वाचित किये जाते है। यह समिति सरकारी उद्योगो (उपक्रमो) के कार्यो उनके लेखा और वित्तीय मामला की जाच करती है। इसके 1/5 सदस्य प्रति वर्ष निवृत हो जाते है।

11 **सदन की बैठको मे अनुपस्थित रहने वाले सदस्यो से सम्बन्धित समिति**—इसके 15 सदस्य होते है जिन्हे स्पीकर द्वारा एक वर्ष के लिये नामांकित किया जाता है। सदन की बैठको से अनुपस्थित रहने की सदस्यो की प्रार्थनाओ पर यह समिति विचार करती है तथा जो सदस्य सदन की बैठको मे 60 दिन तक बिना आज्ञा के अनुपस्थित रहते हैं उनके सम्बन्ध मे यह समिति सिफारिश करती है कि क्या उनकी अनुपस्थिति को माफ कर दिया जाय या कि उनके स्थान को रिक्त समझा जाये।

---

1 डा० दिनेश चन्द्र चतुर्वेदी की पुस्तक "भारतीय शासन और राजनीति" से उदधृत, पृ० 215

12 सरकारी आश्वासनों से सम्बन्धित समिति (Committee on Government Assurances)—इसके 15 सदस्य होते हैं जिन्हें स्पीकर द्वारा एक वर्ष के लिये नामांकित किया जाता है। मन्त्री इस समिति के सदस्य नहीं हो सकते। इस समिति का प्रमुख कार्य यह है कि यह मन्त्रियों द्वारा सदन में समय-समय पर दिये गये आश्वासनों, वायदों और वचनों की जांच करती है और संसद में इस बात पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है कि उन आश्वासनों, वायदों और वचनों को कहां तक कार्यान्वित किया गया है और क्या उनके कार्यान्वयन में अनावश्यक देरी तो नहीं हुई।

सरकारी आश्वासनों से सम्बन्धित समिति, जैसा कि मॉरिस जोन्स ने कहा है, पूर्णत भारत का अपना आविष्कार (a wholly Indian invention) है। इस समिति के तर्काधार (rationale) को अभिव्यक्त करते हुए प्रो० श्री निवासन ने लिखा है "यह सामान्य अनुभव है कि सदन में जिन त्रुटियों या हानियों या शिकायतों को बताया जाता है सरकार उन्हें न दोहराने या उन्हें दूर करने या उनकी क्षतिपूर्ति के आश्वासन सरकार द्वारा दिये जाते हैं परन्तु कहीं भी इन आश्वासनों को कार्यान्वित करने के लिये किसी यन्त्र (machinery) को स्थापित नहीं किया गया। सरकारी आश्वासनों से सम्बन्धित समिति इसी उद्देश्य की पूर्ति करती है।"[1]

13 अनुमान समिति (The Estimates Committee)—इसके 30 सदस्य होते हैं। इसके सदस्यों का निर्वाचन एक वर्ष के लिये लोक सभा के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय पद्धति द्वारा होता है। मन्त्री इस समिति के सदस्य नहीं होते। यह समिति अपनी उप-समितियों का निर्माण कर सकती है। यह एक महत्त्वपूर्ण समिति है जिसका उद्देश्य बजट के अनुमानों की जांच करना है। यह प्रशासन में मितव्ययता लाने में काफी सहायक हुई है। इसने केवल आर्थिक क्षेत्र में ही सरकार को प्रभावित नहीं किया बल्कि अन्य क्षेत्रों में भी इसका पर्याप्त प्रभाव रहा है। यह समिति आज फिजूल खर्ची के विरुद्ध चौकसी ही नहीं करती बल्कि वह संसद के तृतीय सदन के रूप में भी कार्य करने लगी है। इस समिति के मुख्य कार्य चार हैं जो निम्न प्रकार से हैं —

(i) बजट अनुमानों में सन्निहित नीति के अन्तर्गत संगठन में किस प्रकार बचत की जा सकती है और प्रशासन में कुशलता लायी जा सकती है।

(ii) बचत और 'कुशलता' के लिये किन वैकल्पिक नीतियों के अनुसरण करने की आवश्यकता है?

---

1 See Srinivasan, N Democratic Government in India pp 260 61 See also Jena, B B Ibid Ch V Also quoted by Norman D Palmer in his 'The Indian Political System p 131

(iii) अनुमानो मे निहित नीतिया की मर्यादाओ के अ तगत धन का विनियोजन सही है या नही ।

(iv) अनुमानो को ससद के समक्ष किस प्रकार प्रस्तुत किया जाय ।

**14 लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee)**—इसके 22 सदस्य होते है जिनमे 15 सदस्य लोक सभा से और 7 सदस्य राज्य सभा से दोनो सदना द्वारा एक वष के लिये निर्वाचित किये जाते है। सदस्यो का निवाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के आधार पर होता है। इसम मत्री निर्वाचित नही हो सकते। यह दोना सदनो की सयुक्त समिति नही। यह लोक सभा की समिति है जिसके साथ राज्य सभा के सदस्यो को सम्मिलित किया गया है।[2]

इस समिति की प्रमुख विशेषता यह है कि सदन मे एक दल का ठोस बहुमत होते हुए भी यह समिति दलीय भावनाओ से ऊपर उठ कर काय करती है। इस समिति के प्रमुख काय निम्न है —

(i) यह समिति नियत्रक एव महालेखा परीक्षक द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन की जाच करती है।

(ii) राष्ट्रीय वित्तीय मामलो म फजूल खर्ची, भ्रष्टाचार अकुशलता एव सक्रियात्मक त्रुटिया (Operational deficiencies) कहा तक पायी जाती है ?

(iii) यह इस बात की जाच करती है कि जो धन खच किया गया है कही वह उस मात्रा से अधिक तो नही जिसे ससद ने स्वीकार किया है।

(iv) यह इस बात की भी जाच करती है कि स्वीकृत धन उन्ही विषयो पर खच किया गया है जिनके लिये उसे स्वीकृत किया गया था।

(v) यह इस बात की भी जाच करती है कि अधिकृत सत्ता ने ही स्वीकृत धन का खच किया है या नही।

(vi) यह इस बात की भी जाच करती है कि पुनर्विनियोजन अधिकृत सत्ता द्वारा नियमो के अ तगत किया गया है या नही।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि लोक लेखा समिति जसाकि मारिस जोन्स ने लिखा है, "सरकारी गफलत और भ्रष्टाचार के विरुद्ध ससद की पहरेदार और लोगो की सरक्षक है।"[3]

---

1 देखिये डा० दिनेशचन्द्र चतुर्वेदी की पुस्तक पु० उ० पृ० 216

2 See Jena B B Ibid, p 178

3 It is 'Parliament s watch dog and guardian of the people against official negligence or corruption" Morris Jones Ibid, p 286

# विधायी प्रक्रिया
## (Legislative Procedure)

**परिचय (Introduction)**

समद का प्रमुग काय ही विधि निर्माण है। सरकार के पृथक अग के रूप में समद (व्यवस्थापिका) का उन्य ही विधि निर्माण के लिये हुआ था। जितन भी काय ससद के द्वारा आज किय जात है उन सबम महत्त्वपूर्ण काय यही है। इस काय के अभाव म ससद का महत्त्व ही समाप्त हो जायेगा।

विधि निर्माण की कायवाही तभी आरम्भ की जा सकती है जब सदन म कुल सदस्य सख्या का दसवा भाग उपस्थित हो। यदि यह गणपूर्ति उपलब्ध नही होता तो विधि निमाण का काय शुरू नही किया जा सकता।

विधि अनक प्रकार की हो सकती है। मुख्यत इसे तीन भागो म बाटा जा सकता है–साधारण सवैधानिक और वित्तीय विधेयक। साधारण विधेयक वे विधेयक कहलाते है जिनका सम्ब ध साधारण व्यवस्था से होता है सवैधानिक विधि वह होती है जिसका सम्बन्ध सवैधानिक धाराओ से होता है, वित्तीय विधेयक व होते हैं जिनका सम्बन्ध राजस्व और प्रशासन के खर्चों स होता है। व विधेयक ही वित्तीय विधेयक कहलात है जिन्ह लोक सभा का स्पीकर वित्तीय विधेयक प्रमाणित कर देता है। जहा साधारण विधेयक ससद के किसी सदन म प्रस्तुत किये जा सकते हैं वहा वित्तीय विधयक केवल लोक सभा म प्रस्तुत किये जा सकते हैं। साधारण विधयकों को पुन दो भागो मे बाटा जा सकता है—सरकारी और गर सरकारी विधयक। सरकारी विधेयक वे विधेयक हैं जिन्ह मत्रियो द्वारा अर्थात कायपालिका द्वारा प्रस्तुत किया जाता है गर सरकारी विधेयक वे विधेयक है जिन्ह ससद के साधारण सदस्यो द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। ससद का अधिकाश समय सरकारी विधेयको पर विचार करने म ही समाप्त हो जाता है। यद्यपि गैर सरकारी विधेयको पर विचार के लिये दिन और समय निश्चित किया जाता है परन्तु उनके पास होन की सम्भावना नही होती क्योंकि उनके पास होने का अथ मन्त्रिमण्डल पर अविश्वास माना जाता है। सरकारी विधेयको का सम्ब ध प्राय सावजनिक विषयो से होता है जबकि गर सरकारी विधेयकों का सम्बन्ध व्यक्ति स्थान या प्रश्न विशेष से होता है।

### A साधारण विधेयको के पारण की विधि
### (Procedure for the passage of Ordinary Bills)

साधारण विधेयक, चाहे सरकारी हो या गर सरकारी, उसके पारण की विधि एक जसी है। प्रत्येक साधारण विधेयक को पारित होन के लिये निम्न चरणों (Stages) मे स गुजरना पडता है —

**1 प्रस्तावना एव प्रथम वाचन** (Introduction and First Reading)—प्रस्तावक द्वारा विधेयक का सदन म प्रस्तुतीकरण ही विधेयक का प्रथम वाचन कहलाता है। प्रस्तावना म प्रस्तावित कानून के उपबन्धो का उल्लेख किया जाता है

श्रौर उसके "उद्देश्या श्रौर कारणो का विवरण" (statement of objects and reasons) उसके साथ सलग्न होता है। यदि यह सरकारी विघेयक है तो स्पीकर की ग्रनमति मे इसे प्रस्तावना से पूव ही सरकारी गजट म छपने का श्राज्ञा दी जा सक्ती है। यदि यह गैर सरकारी विधेयक है तो प्रस्तावक को इसका सूचना स्पीकर का एक महीने पूव देनी होती है जो इसके लिये दिन श्रौर समय निश्चित करता है। निश्चित दिन श्रौर समय पर प्रस्तावक सदन की ग्रनुमति स विधेयक का प्रस्तुत करता है श्रौर विधेयक के सम्बन्ध म छोटा सा वक्तव्य देता है। यदि प्रथम वाचन मे ही विधेयक का विरोध किया जाता है तो स्पीकर विरोधी को श्रपने कारणो का उल्लेख करने के लिय कहता है श्रौर फिर मतदान लिया जाता है। प्रथम वाचन मे पास होने के बाद विधेयक दूसरे वाचन की स्थिति म चला जाता है।

2 दूसरा वाचन (Second Reading)—दूसरा वाचन विधेयक के जीवन-मरण का चरण है। इसी चरण मे विधेयक पर पूर्ण विचार विमश, विवाद खडश (Clause by clause) श्रौर शब्दश (Word by word) किया जाता है। इस चरण म निम्न विकल्पो (alternatives) मे से किसी एक विकल्प को श्रपनाया जा सकता है —

(a) विधेयक पर सीधे सदन ही विचार विमर्श श्रारम्भ कर दे। भारत म प्राय इसी विकल्प का श्रपनाया जाता है। भारतीय ससद की काय प्रणाली की विशेषता यह है कि ससद के सत्रावसान होने की स्थिति म ससद के विचाराधीन विधेयक व्यपगत (lapse) नही होते। वे तभी व्यपगत होते हैं जब लोक सभा को भग कर दिया जाता है।

(b) विधेयक को प्रवर समिति (Select Committee) को सौप दिया जाय। इसका श्रथ यह है कि भारत विधेयक को प्रवर समिति को सौपना श्रनिवाय नही है। सदन चाहे तो समिति के पास विचार विमश के लिये भेज सक्ती है।

(c) विधेयक को दोनो सदनो की सयुक्त समिति को सौप दिया जाय।

(d) विधेयक पर जनता की राय लेन के लिय उसे प्रकाशित कर दिया जाय। यह विकल्प तभी श्रपनाया जाता है जब किसी विधेयक पर सावजनिक श्रान्दोलन या विवाद उत्पन्न होन की सम्भावना होती है। दूसरे शब्दा मे, जो विधेयक लोगा की भावनाश्रो, प्रथाश्रा श्रौर श्रादता स सम्बधित होत हैं या जो उनम परिवतन लाना चाहते है ता उन पर सावजनिक राय प्राप्त कर ली जाती है श्रर्थात् व्यक्तिया, सघा, समूहा, सस्थाश्रा श्रादि स सम्मति ली जाती है।

समिति श्रवस्था—यदि विधेयक का प्रवर समिति का सौपन का निश्चय किया जाता है तो भारत म प्राय यह प्रथा बन गयी है कि प्रस्तावक ही प्रवर समिति के सदस्या का नामाकित करता है श्रौर सदन उन्हे स्वीकार कर लेना है। समिति म विरोधी दल का भी पयाप्त प्रतिनिधित्व दिया जाता है। स्पीकर समिति के सदस्या म से किसी का समिति का सभापति नियुक्त कर दना है। समिति म

प्राय उन्हीं व्यक्तियो (सदस्यों) को लिया जाता है जो उस विषय म विशेष ज्ञान और निपुणता रखते है।

यदि सदन किसी विधेयक को दोनो सदनो की सयुक्त समिति को सौंपने का निश्चय करता है तो लोक सभा से $\frac{2}{3}$ सदस्य और राज्य सभा से $\frac{1}{3}$ सदस्य लिए जाते है। सयुक्त समिति के गठन के लिए राज्य सभा की अनुमति की आवश्यकता होती है।

समिति विधेयक पर पूर्ण विचार करती है तथा उसकी बारीकियों का भी विश्लेषण करती है। विचार विमर्श के बाद समिति अपना प्रतिवेदन सदन को प्रस्तुत करती है।

**प्रतिवेदन अवस्था**—यह वह अवस्था है जब समिति का सभापति प्रतिवेदन को (समिति का कोई सदस्य भी प्रतिवेदन को) सदन मे प्रस्तुत करता है। समिति का प्रतिवेदन सर्वसम्मतिपूर्ण भी हो सकता है और बहुमत पर आधारित भी हो सकता है। अल्पमत को अपनी विसम्मत राय (dissenting opinion) को प्रकट करने का अधिकार है।

प्रतिवेदन अवस्था के बाद सदन निम्न मे से किसी विकल्प को अपना सकता है—

(a) समिति के प्रतिवेदन के साथ विधेयक पर विचार किया जाय।

(b) विधेयक को पुन प्रवर समिति के विचार के लिए भेजा जाय।

(c) विधेयक को सयुक्त समिति के विचारार्थ भेजा जाय।

समिति के प्रतिवेदन के बाद विधेयक पर पूर्व वाद विवाद होता है। विधेयक के प्रत्येक खण्डश (clause by clause) और शब्द वार शब्दश (word by word) मतदान होता है। द्वितीय चरण म पास होने के बाद विधेयक तृतीय वाचन की स्थिति मे चला जाता है।

3 **तृतीय वाचन** (Third Reading)—विधेयक पर तृतीय वाचन प्राय औपचारिकता है क्योकि इस चरण मे विधेयक पर सशोधन सम्भव नही होते है। यह वाचन द्वितीय वाचन के ठीक बाद भी हो सकता है या उसके लिए कोई और दिन भी निश्चित किया जा सकता है। तृतीय वाचन के समय प्रस्तावक विधेयक के पास (the Bill be passed) करने का प्रस्ताव करता है। इस चरण म विधेयक के पक्ष और विपक्ष म तर्क प्रस्तुत किये जा सकते है और अन्तत विधेयक का स्वीकार या अस्वीकार कर लिया जाता है।

4 **द्वितीय सदन**—एक सदन मे विधेयक के पास होने के बाद उसे द्वितीय सदन के विचार के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इस सदन मे भी विधेयक को उसी चरणो म होकर गुजरना पडता है जिनमे वह पहले सदन म होकर गुजरा था। यदि विधेयक दूसरे सदन द्वारा पास कर दिया जाता है तो विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए भेज दिया जाता है। परन्तु यदि दूसरा सदन विधेयक

को अस्वीकार करता है या उसम सशोधन करता है तो उसे पहले सदन के पास भेज दिया जाता है । और यदि दूसरा सदन विधेयक को छ महीने तक वापस नही भेजता तो वह उसकी अस्वीकृति ही माना जाता है । दोना सदनो मे गतिरोध उत्पन्न होने की स्थिति म विवाद को या भेदो को सयुक्त बठक म दूर करने का प्रयास किया जाता है ।

5 राष्ट्रपति की अनुमति—दोनो सदनो द्वारा पास होने के बाद विधेयक का राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेज दिया जाता है और उनकी स्वीकृति मिलने पर ही *विधेयक कानून (विधि) का रूप धारण कर सकता है* और उसे सविधि पुस्तक (Statute Book) मे उल्लिखित कर दिया जाता ह । विधेयक पर राष्ट्रपति को तीन विकल्प उपलब्ध हैं ।

(a) राष्ट्रपति विधेयका पर हस्ताक्षर कर उन्हे स्वीकार कर सकता है ।

(b) राष्ट्रपति उन्ह स्वीकार कर सकता है ।

(c) उन्हे पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता है ।

यदि राष्ट्रपति द्वारा किसी विधेयक को अस्वीकार कर दिया जाता ह या उसे पुनर्विचार के लिए वापस लौटा देता है ता विधेयक को पुन दाना सदनो मे उन्ही चरणो मे से होकर गुजरना पडता है जिनम उसे पहले पारित किया गया था । और यदि दोनो सदनो मे उस विधेयक को पुन पास कर दिया जाता है ता राष्ट्रपति दोबारा उसे अस्वीकार नही कर सकता या पुनर्विचार के लिए नही लौटा सकता । *अर्थात दोबारा राष्ट्रपति को उस पर स्वीकृति प्रदान करनी पडती है* और वह विधेयक कानून का रूप धारण कर लेता है । परन्तु सविधान इस सम्ब ध म पूरा शान्त है कि राष्ट्रपति किसी विधेयक पर कितने समय मे स्वीकृति प्रदान कर सकता ह । इसका अथ यह ह कि राष्ट्रपति किसी विधेयक को कानून का रूप धारण करने मे देरी कर सकता ह यद्यपि ससदात्मक शासन प्रणाली का अध्यक्ष होन के नाते उसस यह आशा नही की जा सकती क्योकि ससद द्वारा वही विधेयक पास होता ह जिसको मन्त्रिमण्डल का समथन प्राप्त होता ह ।

## B वित्त विधेयक या बजट के पारण की विधि

## (Procedure for the passage of Money Bill or Budget)

साधारण एव सवधानिक विधेयक और वित्तीय विधेयक या बजट म सबसे महान अन्तर यह है कि वित्त पर अर्थात राष्ट्रीय पस पर लोक सभा का नियन्त्रण पूरा रहता है । लोक सभा की अनुमति के बिना कायपालिका एक पाई के रूप म न तो कोई कर लगा सकती है और न एक पाई खच कर सकती है । पर तु यहा यह भी सत्य है कि लोक सभा वित्तीय क्षेत्र म कोई पहलकदमी नही कर सकती, किसी नय कर का प्रस्तावित नही कर सकती और किसी खर्चे की राशि का बढा नही सकती । यद्यपि लोक सभा किसी खर्चे की राशि को कम कर सकती है और किसी प्रस्तावित कर को अस्वीकार कर सकती है परन्तु यह सब सिद्धान्त म ह, व्यवहार

मे नही क्योंकि जब तक किसी मन्त्रिमण्डल का लोक सभा मे बहुमत है लोक सभा मन्त्रिमण्डल के इशारे पर काय करती है ।

वित्त विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति स ही लाक सभा मे पेश किये जा सकते है और लोक सभा तथा राज्य सभा द्वारा स्वीकृत होने के बाद उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है । परन्तु दोना स्थितियो म राष्ट्रपति की स्वीकृति औपचारिक है ।

वित्तीय क्षेत्र मे राज्य सभा की शक्तिया प्राय नगण्य हैं । प्रथम, वित्त विधेयक केवल लोक सभा म ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं । दूसरे, लोक सभा का स्पीकर हा इस बात को प्रमाणित करता है कि अमुक विधेयक वित्त विधेयक है या नही । तीसरे, लोक सभा द्वारा पास किये गये वित्त विधेयक को राज्य सभा अधिक से अधिक 14 दिन तक अपन पास रख सकती है । वह वित्त विधेयक को अस्वीकार नही कर सकती । अधिक से अधिक वह सशोधन कर लाक सभा को लौटा सकती है परन्तु इन सशोधना को स्वीकार या अस्वीकार करना लाक सभा के ऊपर निभर करता है । वित्त विधेयक को दोबारा राज्य सभा के पास भेजने की आवश्यकता नही होती । उस राष्टपति के पास स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है ।

वित्त विधेयक के सम्बन्ध मे कुछ अन्य विशेषतायें भी उल्लेखनीय है जो निम्न है—

(i) वित्त विधेयक को दो भागो म प्रस्तुत किया जाता है—रेल बजट और सामान्य बजट । रेल बजट को सामान्य बजट से पूव लोक सभा मे प्रस्तुत किया जाता है । इसे रेल मन्त्री द्वारा प्रस्तुत किया जाता है और इसका सम्बन्ध केवल रेलो के आगामी वर्ष की अनुमानित आय और व्यय से होता ह । सामान्य बजट वित्त मन्त्री द्वारा लोक सभा म प्रस्तुत किया जाता है । इसका सम्बन्ध सघीय सरकार के अन्य मन्त्रालयो से हाता है और उनके आगामी वर्ष के अनुमानित आय और व्यय से सम्बन्धित होता है ।

(ii) सामान्य बजट के दो भाग होते है—भारत की सचित निधि पर भारित व्यय और अभारित व्यय अर्थात् सरकार के सामान्य अन्य खर्चे । भारित व्यय पर ससद वाद विवाद कर सकती है परन्तु उस पर मतदान नही होता । अभारित व्यय अर्थात सरकार के सामान्य अन्य खर्चों पर ससद वाद विवाद भी करती है और मतदान भी । भारत की सचित निधि पर भारित व्यय मुख्यतया य है—(a) राष्ट्रपति के वेतन भत्ते तथा उसके पद से सम्बन्ध रखने वाले व्यय, (b) राज्य सभा के सभापति तथा उप सभापति और लोक सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतनो और भत्ता से सम्बन्ध रखन वाले व्यय, (c) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो नियन्त्रक एव महालेखा परीक्षक के वेतना, भत्ता और पेन्शन आदि से सम्बन्ध रखन वाले व्यय, (d) ऋण चुकाने के सम्बन्ध म व्यवस्था, (e) कोई भी ऐसा व्यय जिसे सविधान तथा ससद कानून द्वारा ऐसा घोषित कर दे । विभागो के अन्य खर्चे सब अभारित व्यय मे गिन जाते हैं ।

(iii) भारत म सदन की कोई समिति जैसाकि ब्रिटेन म 'समूच सदन की समिति' बजट पर विचार नही करती बल्कि स्पीकर की अध्यक्षता में लोक सभा स्वय उस पर विचार करती है। दूसरे शब्दो मे बजट पर वाद विवाद के दौरान सदन की साधारण प्रक्रिया के नियम ही लागू होते है।

वित्त विधेयक की प्रक्रिया के सम्बध म सविधान न अनुच्छेद 112 स 117 तक व्यवस्था की है। अनुच्छेद 112 इस बात की स्पष्ट व्यवस्था करता है कि "प्रत्यक वित्तीय वष म राष्ट्रपति ससद के दाना सदना म उस वष के भारत सरकार की अनुमानित आय तथा व्यय का विवरण रखवायगा। इसका अथ यह है कि वित्तीय वष के शुरू हाने से पहले अर्थात् 1 अप्रेल से पूव बजट को ससद द्वारा पारित कर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो जानी चाहिए। पर तु क्याकि सरकार के खर्चे के लिए लोक सभा एक बडी धनराशि पशगी अनुदान क रूप म स्वीकार कर दी जाती है अत बजट का 1 अप्रेल के पूव पास होना आवश्यक नही रहा।

**बजट के पारण मे चार चरण**—बजट को सामा यतया लोक सभा और राज्य सभा म एक साथ पस्तुत किया जाता है। प्रस्तुत करने क बाद बजट को निम्न चार चरणा म से होकर गुजरना पडता है—

(i) सामान्य वाद विवाद (general discussion)

(ii) अनुदानो की मागा पर मतदान (voting of demands)

(iii) विचार विमश (consideration), और

(iv) विनियाजन विधेयक का पारित होना (Passing of Appropriation Bill)।

(i) **सामान्य वाद विवाद**—यह वह चरण है जब बजट के प्रस्तुत हान के एक दो दिन बाद बजट पर दाना सदना मे आय व्यय सम्बधी प्रस्तावा मे निहित मूल सिद्धाता या नीतियो पर विवाद होता है। इस चरण म बारीकियो की बातो पर विचार नही होता है और न ही कटौती प्रस्ताव रखे जाते है। यह वह अवसर ह जब प्रतिपक्ष प्रशासन (सत्तारुढ दल) की नीतिया की समीक्षा कर सकता ह और अपनी शिकायता को अभिव्यक्त कर सकता है। जसाकि मॉरिस जो स ने लिखा है कि "यह ऐसा अवसर होता है जब सदन अपने मन की बात खुलकर कह सकता ह और इस अवसर पर सरकार को भी यह मालूम हो जाता हे कि वित्तीय सुभावो क विभिन्न स्तरा पर सरकारी मागो का किस प्रकार स्वागत किया जायगा।"[1] यह चरण प्राय दो तीन दिन म समाप्त हा जाता है।

(ii) & (iii) **अनुदानो की मागो पर मतदान और विचार विमर्श**—यह वह चरण है जब अनुदाना की मागा पर मतदान होता है अर्थात प्रत्यक विभाग के व्यय की मागो पर मतदान हाता है और उ हे स्वीकृत या अस्वीकृत किया जाता है।

---

1 Maurice Jones, Parliament in India pp 238 239

सामान्यतया ये मागें स्वीकृत ही होती हैं जब तक कि वित्त मन्त्री स्वय उनमे कटौती करने को तैयार न हो। सदन के नियन्त्रण की शक्ति प्राय सद्धान्तिक होती है व्यावहारिक नही। इस चरण की एक विशेषता यह है कि प्रत्येक विभाग की मागो की स्वीकृति के लिए निश्चित किये गये समय के समाप्त होने पर शेष सभी मतो पर मतदान करा लिया जाता है चाहे उन पर विवाद हुआ हो या नही। इसका अर्थ यह है कि करोडो रुपयो की अनुदान की मागें बिना वाद विवाद के पास हो जाती है। ससद सदस्य शिकायतें प्रस्तुत करते हैं और मन्त्री भविष्य म पूरा करने के आश्वासनो को दोहरा कर विवाद समय के समाप्त होने पर बन्द कर दिया जाता है।

(iv) विनियोजन विधेयक—जब सभी अनुदान की मागो पर मतदान समाप्त हो जाता है तो बजट के दूसरे भाग अर्थात आय एव कर सम्बन्धी प्रस्तावो पर विचार किया जाता है। कुछ कर ऐसे होते है जो प्राय स्थायी होते हैं और उन पर प्रतिवर्ष विचार की आवश्यकता नही होती। परन्तु आय कर, आयात और निर्यात कर, उत्पादन शुल्क आदि ऐसे कर है जिन्हें प्रति वर्ष घटाया और बढाया जाता है अत उन पर ससद प्रतिवर्ष विवाद करती है और स्वीकृति प्रदान करती है। इन सभी कर सम्बन्धी प्रस्तावो को एक विधेयक के रूप म ससद के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है जिसे आय विधेयक कहते है।

इस तरह दोनो भागो (अनुदानो की मागो और आय एव कर प्रस्तावो) के पास होने के बाद बजट को राज्य सभा के पास भेज दिया जाता है जो न तो उसे अस्वीकार कर सकती है और न लोक सभा की सहमति के बिना उसमे सशोधन कर सकती है। 14 दिन के बाद विधेयक राज्य सभा की सहमति सहित या बिना सहमति के राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है और स्वीकृति मिलते ही वह कानून का रूप धारण कर लेता है।

**पूरक बजट (Supplementary Budget)**—वर्ष के दौरान अनेक बार, ऐसी मदो पर अनुदान की आवश्यकता पड सकती है जिसका अनुमान वार्षिक बजट म न किया हो अथवा अनेक ऐसे अतिरिक्त खर्चों की आवश्यकता पड सकती है जिसकी कल्पना वार्षिक बजट म न की गई हो। अत उन मदो पर अनुदान की राशि प्राप्त करने के लिए राष्ट्रपति पूरक मागो को सदन के समक्ष प्रस्तुत करा कर उन्हें पारित करवा सकता है।

## समीक्षा-प्रश्न
## (Review Questions)

1 भारतीय ससद की रचना, शक्तियो और कार्यों का उल्लेख कीजिए। क्या भारतीय ससद सम्प्रभु सस्था है ?

2 लोक सभा के गठन, शक्तियो और कार्यों का वर्णन कीजिए।

3 राज्य सभा के सगठन, शक्तिग्रा ग्रौर कार्यो का वर्णन कीजिये। इस सदन की क्या उपयागिता है ?

4 लोक सभा ग्रौर राज्य सभा के पारस्परिक सम्ब धो का वर्णन कीजिय। दोना सदनो मे ग्रधिक शक्तिशाली सदन कौन सा हे ग्रौर क्यो ?

5 भारतीय लोक सभा के स्पीकर के निर्वाचन, शक्तिया ग्रौर कार्यों का ग्रालाचनात्मक ग्रध्ययन कीजिये।

6 "राज्य सभा के सदस्यो का दृष्टिकोण दलीय ह, सघीय राज्यो का नही' कारण सहित व्याख्या कीजिये। क्या इससे राज्य सभा की उपयोगिता पर ग्राच ग्राती है ?

7 "भारतीय ससद सम्प्रभुता सम्पन्न विधि निर्मात्री सस्था है।' इस कथन के स दभ म पिछले 25 वर्षो के सवैधानिक ग्रनुभव के ग्राधार पर समीक्षा कीजिये।

8 भारतीय ससद मे विधि निर्माण की प्रक्रिया का सक्षेप म वर्णन कीजिये।

9 ससद म धन विधेयक के पारित हाने की प्रक्रिया का वर्णन कीजिये। क्या राज्य सभा को धन विधेयक पर निषेधाधिकार प्राप्त है ?

10 समिति प्रथा की उपयागिता का वर्णन करते हुए भारतीय ससद म प्रमुख समितियो के उद्देश्य का सक्षिप्त विवरण दीजिये।

---

अध्याय 11

# सर्वोच्च न्यायालय और न्यायिक पुनरावलोकन

## (The Supreme Court and Judicial Review)

### परिचय (Introduction)

संघीय राज्य में ही नहीं अपितु प्रत्येक सभ्य राज्य में भी स्वतन्त्र न्यायपालिका की आवश्यकता निर्विवाद है। जैसा कि लार्ड ब्राइस ने लिखा है कि "यदि कानून को बेईमानी से लागू किया जाय तो समझना चाहिये कि नमक ने अपना स्वाद खो दिया है यदि इसे दुर्बलतापूर्वक और अनियमित रूप से लागू किया जाय तो व्यवस्था की आशायें धूल में मिल जायेंगी क्योंकि दण्ड की कठोरता की तुलना में दण्ड की निश्चितता से अपराधियों का दमन अधिक होता है।' संघीय राज्य में तो स्वतन्त्र न्यायपालिका की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ जाती है क्योंकि इसमें संघीय सरकार और उसकी एककों की सरकारों में शक्तियों का विभाजन किया जाता है तथा नागरिकों के मूल अधिकारों को संविधान में उल्लिखित किया जाता है। संविधान की सर्वोच्चता को बनाये रखने के लिये उसकी अस्पष्ट धाराओं के निर्वाचन (interpretation) के लिये संघ और एककों में अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले विवादों का निराकरण करने के लिये तथा नागरिकों के मूल अधिकारों की कार्यपालिका निरंकुशता और व्यवस्थापिका के अत्याचार से रक्षा करने के लिये एक स्वतन्त्र, निष्पक्ष और निडर न्यायालय की आवश्यकता अनिवार्य है। क्योंकि भारत एक संघीय राज्य है इसमें शक्तियों का विभाजन किया गया है तथा संविधान नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख करता है, अतः संविधान स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था करता है।

भारतीय संविधान की विशेषता यह है कि इसमें दोहरी राजनीतिक व्यवस्था (dual polity) होते हुए भी अमरीका की भांति दोहरी न्यायिक व्यवस्था नहीं। संविधान भारत में "एकीकृत न्याय व्यवस्था (Unified Judiciary) की स्थापना करता है जिसमें एक ही 'मूल कानून' (Fundamental Law) की प्रधानता है। इस [illegible] या समाकलित न्याय व्यवस्था के शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय है और निम्न

से निम्न न्यायालय (राज्यो के उच्च न्यायालय, जिला न्यायालय आदि) एक ही पद्धति म सगठित है। सर्वोच्च यायालय के लेख (Writs) सारे देश (सघ राज्य और स्थानीय क्षेत्रो) मे ही लागू नही होते बल्कि कानून के सभी क्षेत्रा (सवधानिक, दीवानी और फौजदारी क्षेत्रो) मे भी लागू होते है।"[1]

## सर्वोच्च न्यायालय
### (The Supreme Court)

**सगठन, नियुक्ति एव योग्यतायें**—सविधान के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशा की सख्या मुख्य न्यायाधीश सहित आठ निश्चित की गयी थी।[2] परन्तु सविधान ससद को कानून द्वारा न्यायाधीशो की सख्या बढाने का अधिकार देता है। आज सर्वोच्च न्यायालय के सदस्या की कुल सख्या मुख्य न्यायाधीश सहित चौदह हे।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है। सविधान इस बात की भी व्यवस्था करता है कि न्यायाधीशा को नियुक्त करते समय राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयो के ऐसे न्यायाधीशो से परामश ले जिनसे परामश लेना वह उचित या आवश्यक समझता हे। न्यायाधीशो की नियुक्ति के समय सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामश लेना अनिवाय है।[3] क्योकि न्यायाधीशा की नियुक्ति राष्ट्रपति अपने 'स्वविवेक (discretion) से करता है अत इस सवैधानिक उपब ध की प्रकृति सिफारिश (recommendatory) है बाध्यकारी नही। फिर भी इस परामश लेने की व्यवस्था का लाभ यह है, जसा कि दुर्गादास बसु ने लिखा हे कि "राष्ट्रपति को उन लोगो के विचारा मे अवगत होने का अवसर मिलता है जो इस विषय पर बोलने मे समय हैं।[4]

न्यायाधीशा की नियुक्ति के सम्ब ध मे दो परम्पराओ का विकास भी किया गया है। एक परम्परा भारत के धम निरपेक्ष स्वरूप को निखारती है तथा दूसरी वरिष्ठता के नियम (Rule of Seniority) को स्थापित करती है। पहली परम्परा के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशा मे एक न्यायाधीश मुस्लिम जाति से नियुक्त किया जाता है तथा दूसरी परम्परा के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के उसी न्यायाधीश को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जाता है जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशा मे वरिष्ठ होता है। पहली परम्परा का पालन अभी तक

---

1 Pylee, M V Constitutional Government in India (Asia Publishing House, 1960) pp 421–422

2 See Art 124 (1)

3 Proviso to Art 124 (2)

4 Cited by Johari J C Indian Government & Politics Publications Delhi 1974) p 344

अध्याय **11**

# सर्वोच्च न्यायालय और न्यायिक पुनरावलोकन

**(The Supreme Court and Judicial Review)**

---

## परिचय (Introduction)

संघीय राज्य में ही नहीं अपितु प्रत्येक सभ्य राज्य में भी स्वतन्त्र न्यायपालिका की आवश्यकता निर्विवाद है। जैसा कि लार्ड ब्राइस ने लिखा है कि "यदि कानून को बेईमानी से लागू किया जाय तो समझना चाहिए कि नमक ने अपना स्वाद खो दिया है यदि इसे दुर्बलतापूर्वक और अनियमित रूप से लागू किया जाय तो व्यवस्था की आशायें धूल में मिल जायेंगी क्योंकि दण्ड की कठोरता की तुलना में दण्ड की निश्चितता से अपराधियों का दमन अधिक होता है। संघीय राज्य में तो स्वतन्त्र न्यायपालिका की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ जाती है क्योंकि इसमें संघीय सरकार और उसकी इकाइयों की सरकारों में शक्तियों का विभाजन किया जाता है तथा नागरिकों के मूल अधिकारों को संविधान में उल्लिखित किया जाता है। संविधान की सर्वोच्चता को बनाये रखने के लिये, उसकी अस्पष्ट धाराओं के निर्वाचन (interpretation) के लिये संघ और इकाइयों में अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले विवादों का निराकरण करने के लिये तथा नागरिकों के मूल अधिकारों की कार्यपालिका निरंकुशता और व्यवस्थापिका के अत्याचार से रक्षा करने के लिये एक स्वतन्त्र, निष्पक्ष और निडर न्यायालय की आवश्यकता अनिवार्य है। क्योंकि भारत एक संघीय राज्य है, इसमें शक्तियों का विभाजन किया गया है तथा संविधान नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख करता है, अतः संविधान स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था करता है।

भारतीय संविधान की विशेषता यह है कि इसमें दोहरी राजनीतिक व्यवस्था (dual polity) होते हुए भी अमरीका की भाँति दोहरी न्यायिक व्यवस्था नहीं। संविधान भारत में 'एकीकृत न्याय व्यवस्था' (Unified Judiciary) की स्थापना करता है जिसमें एक ही "मूल कानून" (Fundamental Law) की प्रधानता है। इस एकीकृत या समाकलित न्याय व्यवस्था के शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय है और निम्न

से निम्न न्यायालय (राज्यो के उच्च न्यायालय, जिला न्यायालय आदि) एक ही पद्धति मे सगठित हैं। सर्वोच्च न्यायालय के लेख (Writs) सारे देश (सघ, राज्य और स्थानीय क्षेत्रो) म ही लागू नही होते बल्कि कानून के सभी क्षेत्रो (सवधानिक, दीवानी और फौजदारी क्षेत्रो) म भी लागू होते है।'[1]

## सर्वोच्च न्यायालय
## (The Supreme Court)

**सगठन, नियुक्ति एव योग्यतायें**— सविधान के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की सख्या मुख्य न्यायाधीश सहित आठ निश्चित की गयी थी।[2] परन्तु सविधान ससद को कानून द्वारा न्यायाधीशा की सख्या बढाने का अधिकार देता है। आज सर्वोच्च न्यायालय के सदस्यो की कुल सख्या मुख्य न्यायाधीश सहित चौदह है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशा की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है। सविधान इस बात की भी व्यवस्था करता है कि न्यायाधीशो को नियुक्त करते समय राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयो के एसे न्यायाधीशो से परामश ले जिनसे परामश लेना वह उचित या आवश्यक समझता है। न्यायाधीशो की नियुक्ति के समय सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश स परामश लेना अनिवाय है।[3] क्योकि न्यायाधीशा की नियुक्ति राष्ट्रपति अपने 'स्वविवेक (discretion) स करता है अत इस सवैधानिक उपबन्ध की प्रकृति सिफारिश (recommendatory) है बाध्यकारी नही। फिर भी इस परामश लेने की व्यवस्था का लाभ यह है, जसा कि दुर्गादास बसु ने लिखा है कि 'राष्ट्रपति को उन लोगो के विचारो से अवगत होने का अवसर मिलता है जो इस विषय पर बोलने म समथ हैं।[4]

न्यायाधीशो की नियुक्ति के सम्बन्ध मे दो परम्पराओ का विकास भी किया गया है। एक परम्परा भारत के धम-निरपेक्ष स्वरूप को निखारती है तथा दूसरी वरिष्ठता के नियम (Rule of Seniority) को स्थापित करती है। पहली परम्परा के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशा म एक न्यायाधीश मुस्लिम जाति से नियुक्त किया जाता है तथा दूसरी परम्परा के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के उसी न्यायाधीश को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जाता है जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशा मे वरिष्ठ होता है। पहली परम्परा का पालन अभी तक

---

1 Pylee M V Constitutional Government in India (Asia Publishing House 1960) pp 421-422
2 See Art 124 (1)
3 Proviso to Art 124 (2)
4 Cited by Johari J C Indian Government & Politics (Vishal Publications Delhi 1974) p 344

किया गया है परन्तु दूसरी परम्परा की उल्लघना अप्रैल 1973 म की गई जब तीन वरिष्ठ न्यायाधीशो को विस्थित (supersede)[1] कर न्यायाधीश अजीतनाथ रे को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया ।

अनुच्छेद 127 के अनुसार सविधान तदथ न्यायाधीशो (ad hoc judges) को नियुक्त करने की भी व्यवस्था करता है । इन तदथ न्यायाधीशो की नियुक्ति, राष्ट्रपति की पूव अनुमति से मुख्य न्यायाधीश करता है । सर्वोच्च न्यायालय के सेवा निवत्त (retired) या उच्च न्यायालय मे न्यायाधीश पद पर काय कर रहे न्यायाधीश को ही (उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामश पर) तदथ न्यायाधीश नियुक्त किया जाता है । तदथ न्यायाधीशो की सख्या और कायकाल सर्वोच्च न्यायालय म गणपूर्ति और कायभार पर निभर करता है ।

राष्ट्रपति भारत क उसी नागरिक को सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद पर नियुक्त कर सकता है जिसम निम्न म से कोई एक योग्यता हो —

(i) वह कम से कम पाच वष तक किसी उच्च न्यायालय म न्यायाधीश पद पर रह चुका हो या,

(ii) वह कम से कम दस वष तक किसी उच्च न्यायालय म वकालत कर चुका हो या

(iii) राष्ट्रपति की दृष्टि म वह विख्यात विधि वेत्ता (a distinguished jurist) हो ।

दूसरे और तीसरे विकल्प के आधार पर अर्थात किसी अधिवक्ता (Advocate) या विख्यात विधिवेत्ता को अभी तक न्यायाधीश पद पर नियुक्त नही किया गया । केवल प्रथम विकल्प क आधार पर ही अर्थात उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो को ही सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद पर नियुक्त किया जाता है ।

सविधान निर्माता सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति को राजनीतिक प्रभावो से मुक्त रखना चाहते थे । इसी कारण उन्होने न्यायाधीशो की नियुक्ति के समय "परामश" और 'योग्यताओ' की व्यवस्था की थी परन्तु हाल ही म
न्यायाधीशो की नियुक्ति म राजनीतिक दबावो का प्र ... र ध्यान लगा है । अप्रैल,
1973 म न्यायाधीश अजीत ना ... मुख्य न् ... पर नियुक्ति इस दिशा
की ओर ही सकेत करती है । ... मदि, ... को न्यायाधीश या
न्यायाधीशो स परामश के ... की नियुक्ति
राष्ट्रपति 'स्वविवेक' के आधार, ... लिए बाध्य
नही । तीसरे, राष्ट्रपति सवधानि
प्रयोग वास्तविक

1 The …
and A …

न्यायाधीशो की नियुक्ति मे अंतिम परामश प्रधानमन्त्री का होता है जो निर्णायक होता है। दूसरे शब्दो मे, मन्त्रिमण्डल न्यायाधीशा की नियुक्ति के सम्बन्ध मे निर्णय लेता है और राष्ट्रपति केवल उसकी घोषणा करता है। स्वय सर्वोच्च न्यायालय ने अगस्त 1974 मे उदघोषित निर्णय मे 1971 मे सरदारी लाल बनाम भारत सघ मे स्थापित इस व्यवस्था को कि "सन्तुष्टि राष्ट्रपति या राज्यपाल की निजी सन्तुष्टि है" रद्द कर दिया और इस व्यवस्था को स्थापित कर दिया कि राष्ट्रपति और कुछ स्थितियो को छोड कर राज्यपाल की कोई स्वविवेक की शक्तिया नही और वे सवधानिक अध्यक्ष हैं। स्पष्ट है कि सविधान यद्यपि राष्ट्रपति को न्यायाधीशो को नियुक्त करने का अधिकार देता है परन्तु इसका वास्तविक प्रयोग मन्त्रिमण्डल ही करता है।

गणपूर्ति (Quorum) —सर्वोच्च न्यायालय की कार्यवाही खुले न्यायालय मे की जाती है और उसके निर्णय बहुमत के आधार पर सबके सामने उदघोषित किये जाते हैं। जो न्यायाधीश बहुमत के निर्णय से सहमत नही होते उन्ह अपने अल्पमत निर्णय की उदघोषणा करने का अधिकार होता है। जिन विवादो म 'कानून का कोई सारवान प्रश्न या सविधान की व्याख्या का कोई प्रश्न सन्निहित होता है या अनुच्छेद 143 क अन्तगत राष्ट्रपति न न्यायालय के परामश के लिए किसी विषय को प्रषित किया होता है तो कम से कम 5 न्यायाधीशो की पीठ ही ऐसे विवादो या विषयो की सुनवाई करती है।

## सेवा की शर्तें—कार्यकाल वेतन भत्ते तथा पद से हटाया जाना

भारत मे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो को, अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की भाति, जीवन पयन्त के लिए नियुक्त नही किया जाता। भारतीय न्यायाधीश केवल 65 वष की आयु तक ही अपने पद पर काय कर सकते है। ससद का न्यायाधीशो की सेवा निवृत्ति के काल को बढाने का अधिकार है। कायकाल पूरा होने से पूव न्यायाधीश अपने पद से स्वय त्यागपत्र दे सकते हैं तथा उन्ह प्रमाणित कदाचार' (proved misbehaviour) और अयोग्यता (incapability) के आधार पर महाभियोग का प्रस्ताव पास होने पर राष्ट्रपति द्वारा समय से पूव भी हटाया जा सकता है। ससद महाभियोग की जाच के लिए प्रक्रिया निश्चित कर सकती है। परन्तु व्यवस्थापिका के बहुमत मे अप्रियता किसी न्यायाधीश या न्यायाधीशो के लिए प्रमाणित कदाचार या अयोग्यता का कारण नही।[1] इससे पूव कि महाभियोग का प्रस्ताव राष्ट्रपति को सम्बोधित किया जाय उसे ससद के प्रत्येक सदन के उपस्थित सदस्यो के दो तिहाई बहुमत तथा प्रत्येक सदन की कुल सदस्य सख्या के आधे से अधिक सदस्यो का बहुमत प्राप्त होना चाहिये। अभी तक किसी न्यायाधीश को प्रमाणित कदाचार या अयोग्यता के आधार पर हटाया नही गया।

---

1 See Basu, D D Ibid, p 83

सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 5000 रु० प्रति माह और अन्य न्यायाधीशों को 4000 रु० प्रति माह वेतन के रूप में प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक न्यायाधीश को रहने के लिए मुफ्त मकान तथा कुछ अन्य भत्ते और सुविधायें भी प्रदान की जाती हैं।

न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए संविधान अनेक प्रकार की व्यवस्थायें करता है जिनमें मुख्य निम्न हैं —

(i) न्यायाधीशों के वेतनों, भत्तों तथा न्यायालय के अन्य खर्चों को व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से मुक्त रखा गया है। सर्वोच्च न्यायालय के सभी खर्चे भारत की संचित निधि पर भारित होते हैं।

(ii) वित्तीय संकट की घोषणा के काल को छोड़कर न्यायाधीशों के वेतनों, भत्तों, अवकाश के नियमों तथा अन्य सुविधाओं में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता जिससे उन्हें हानि होती हो।

(iii) न्यायाधीशों द्वारा दिये गये निर्णयों या न्यायिक उद्घोषणाओं की बदनीयती से आलोचना नहीं की जा सकती यद्यपि शैक्षणिक विश्लेषण के लिए उचित एवं युक्तियुक्त (fair and reasonable) आलोचना की जा सकती है। न्यायाधीशों की ईमानदारी पर सन्देह व्यक्त नहीं किया जा सकता। न्यायाधीशों के आचरण पर कोई चर्चा नहीं की जा सकती।

(iv) राष्ट्रपति अपनी इच्छा से न्यायाधीशों को पदच्युत नहीं कर सकता। वह उन्हें समय से पूर्व तभी हटा सकता है जब संसद द्वारा महाभियोग का प्रस्ताव उसे सम्बोधित किया जाय और संसद महाभियोग का प्रस्ताव प्रमाणित कदाचार" और 'अयोग्यता के आधार पर ही, उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत और कुल सदस्यों के आधे से अधिक सदस्यों के बहुमत द्वारा प्रस्ताव पास होने पर ही सम्बोधित कर सकती है।

(v) सेवा निवृत्त होने के बाद न्यायाधीश भारत की किसी न्यायालय में वकालत नहीं कर सकते।[1]

(vi) अपने अधिकारियों और कर्मचारियों पर सर्वोच्च न्यायालय को पूरा अधिकार है। इनकी नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश या उसके आदेश पर अन्य कोई न्यायाधीश करता है।[2] राष्ट्रपति नियम द्वारा, इन अधिकारियों और कर्मचारियों को केन्द्रीय लोक सेवा आयोग के परामर्श पर नियुक्त करने के लिए कह सकता है।

---

1 इस सम्बन्ध में भारत सरकार ने एक परम्परा को जन्म दिया अर्थात् सेवा निवृत्त न्यायाधीशों को आयोगों के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किया जाता है। कुछ आलोचकों का यह मत है कि यह परम्परा भी न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता में कमी लाती है।

2 See Art 146 (1)

ी सेवा की शर्तों को मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की अनुमति से निर्धारित करता इन शर्तों को निधारित करते समय मुख्य न्यायाधीश को इनके वेतनो, भत्ता, ाश और पेन्शन के ससद द्वारा बनाये गये नियमो को ध्यान मे रखना पडता है। अधिकारियो और कर्मचारियो के वेतन, भत्ते, पेन्शन आदि भारत की सचित ा पर भारित होते हैं।[1]

काय स्थान (Seat of the Court) —न्यायालय का काय स्थान नई दिल्ली । मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की सहमति से न्यायालय की बैठक कही भी लगा ा है।

## सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र

सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को निम्न शीर्षको के अन्तगत अभिव्यक्त ा जा सकता है —

1 मौलिक अधिकार क्षेत्र (Original Jurisdiction) —सर्वोच्च न्यायालय मौलिक क्षेत्राधिकार के अन्तगत आने वाले विवाद वे हैं जिनकी कोई अन्य न्यायालय ाई नही कर सकता और जिन्हे किसी अन्य न्यायालय मे प्रस्तुत किये बिना सीधे च्च न्यायालय म प्रस्तुत किया जा सकता है।

अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की तुलना मे भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का ाक क्षेत्राधिकार[2] निम्न प्रकार के विवादो तक सीमित है —

(i) भारत सरकार और एक या एक मे अधिक राज्या के विवाद।

(ii) वे विवाद जिनमे भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्य एक हो और एक या एक से अधिक राज्य दूसरी ओर हो।

(iii) दो या दो स अधिक राज्या के विवाद।

(iv) अनुच्छेद 71 (1) के अनुसार राष्ट्रपति और उप राष्ट्रपति के निर्वाचन म्बन्धित उत्पन्न होने वाले विवादा या शकाओ पर भी सर्वोच्च न्यायालय का ाक क्षेत्राधिकार है और उसके निणय अन्तिम होते है। 1969 मे जब राष्ट्रपति वी० गिरी और उप राष्ट्रपति गोपालस्वरूप पाठक के निर्वाचन को न्यायालय म ती दी गयी तो न्यायालय न काफी लम्बी सुनवाई के बाद दोनो के निर्वाचन को उद्घोषित किया। इन विवादा म सर्वोच्च न्यायालय का मौलिक अधिकार क्षेत्र ा उत्पन्न होता है जब इनम कानून या तथ्य का कोई प्रश्न अन्तर्निहित होता है ा पर कानूनी अधिकार का अस्तित्व और विस्तार निभर करता है।

निम्न विवाद सर्वोच्च न्यायालय के मौलिक क्षेत्राधिकार से परे हैं —

(i) नागरिको के बीच पाये जाने वाले विवाद। इसमे एक अपवाद यह है कि अधिकारो की उल्लघना होने पर नागरिक अनुच्छेद 32 के अन्तगत सर्वोच्च यालय (और अनुच्छेद 226 के अन्तगत उच्च न्यायालय) मे सीधे अपनी याचिका

See Art 146 (1)

Art 131

के साथ जा सकते है अर्थात मूल अधिकारो के क्षेत्र मे, राज्यो की उच्च न्यायालय के साथ, सर्वोच्च न्यायालय को मौलिक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं।

(ii) उन सन्धियो, समझौता संविदाओ, वचन बन्धनो, सनदो आदि से उत्पन्न होने वाले विवाद जिन्हे संविधान से पूर्व लिखा या कार्यान्वित किया गया था और जो संविधान के लागू होने के बाद भी लागू हैं।

(iii) अन्तर्राज्यीय पानी सम्बन्धी विवाद।

(iv) वित्तीय आयोग को सौपे गये विषय।

(v) संघ और राज्यो में कुछ खर्चों के समजन सम्बन्धी विषय।

2 अपीलीय क्षेत्राधिकार (Appellate Jurisdiction) —भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का अपीलीय क्षेत्राधिकार विश्व के किसी भी सर्वोच्च न्यायालय से अधिक व्यापक है। भारत में समाकलित न्याय व्यवस्था (integrated judiciary) होने से राज्यो की उच्च न्यायालये सर्वोच्च न्यायालय के अधीन हैं और उसे उच्च न्यायालयो के अधीक्षण और नियन्त्रण का अधिकार है। अमरीका में राज्यो की उच्च न्यायालयें अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के अधीन नही। दूसरे भारत में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयो को अधीनस्थ न्यायालयो के लिए स्वीकार करना अनिवार्य है। तीसरे, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय अन्तिम होते हैं। इसके निर्णय के विरुद्ध किसी अन्य न्यायालय में अपील नही की जा सकती। चौथे, भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की अपीलीय शक्तियां संविधान द्वारा प्रदत्त हैं जबकि अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की अपीलीय शक्तियां कांग्रेस द्वारा प्रदत्त हैं। पांचवें भारत का सर्वोच्च न्यायालय सारे भारत क्षेत्र में स्थित उच्च न्यायालय और न्यायाधिकरण (केवल सैनिक न्यायाधिकरण को छोड़ कर) में न केवल संवैधानिक दीवानी और फौजदारी निर्णयो के विरुद्ध अपील सुन सकता है वरन् वह स्वयं अपील की विशेष आज्ञा भी दे सकता है।

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को निम्न भागो में बांटा जा सकता है —

(i) संवैधानिक क्षेत्राधिकार —संवैधानिक विवादो में उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में तभी अपील की जा सकती है जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई सारवान प्रश्न सन्निहित है। यदि उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाण पत्र देने से इन्कार कर दे तो सर्वोच्च न्यायालय अनुच्छेद 136 के अन्तर्गत स्वयं अपील की विशेष आज्ञा दे सकती है यदि उसे विश्वास हो जाय कि उसमें कानून का कोई सारवान प्रश्न सन्निहित है।

(ii) दीवानी क्षेत्राधिकार —दीवानी विवादो में उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील तभी की जा सकती है यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद में कानून का कोई सारवान (Substantial question of law) सन्निहित है और विवाद सर्वोच्च न्यायालय में अपील के लिए उपयुक्त है।

सविधान मे तीसर्वे सशोधन से पूव अर्थात 1972 से पूव दीवानी विवादा म सर्वोच्च न्यायालय मे अपील तभी हो सकती थी जब विवादग्रस्त विषय की धन राशि 20,000 रु० से अधिक होती थी। अब दीवानी विवादा मे "कानून के सारवान प्रश्न का सनिहित होना" या 'अपील के लिए उपयुक्त होना' ही पर्याप्त है।

(iii) **फौजदारी क्षेत्राधिकार** (Criminal Jurisdiction)—फौजदारी मुकदमो मे सर्वोच्च न्यायालय मे निम्न स्थितियो मे अपील की जा सकती है —

(a) जब उच्च न्यायालय ने निम्न यायालय द्वारा मुक्त किये गये अभियुक्त को मृत्यु दण्ड दिया हो,

(b) जब उच्च न्यायालय ने अपने अधीनस्थ किसी यायालय से मुकदमे को मगवा कर उसकी सुनवाई की हो तथा अभियुक्त को मृत्यु दण्ड दिया हो,

(c) जब उच्च न्यायालय प्रमाणित कर दे कि विवाद पुनर्विचार के लिए उपयुक्त है।

स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय का फौजदारी क्षेत्राधिकार "मृत्यु दण्ड' तक सीमित है। ससद चाहे तो सर्वोच्च यायालय के फौजदारी क्षेत्राधिकार को बढा सकती है।

(iv) **अपील की विशेष आज्ञा** (Special leave to Appeal)—जहा अनुच्छेद 132 से 134 उन परिस्थितिया की व्यवस्था करते हैं जिनमे उच्च न्यायालय के प्रमाण पत्र पर उसके निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय मे अपील की जा सकती है वहा अनुच्छेद 136 सर्वोच्च न्यायालय को इस बात के लिए अधिकृत करता है कि वह 'स्वविवेक' (in its discretion) से अपील का अधिकार प्रदान करे अर्थात सर्वोच्च न्यायालय भारत क्षेत्र म किसी भी उच्च न्यायालय या न्यायाधिकरण के निर्णय (चाहे वह सव धानिक, दीवानी या फौजदारी विवादा से सम्बन्धित हो), आज्ञप्ति, निर्धारण, दण्ड या आदेश के विरुद्ध अपील की विशेष आज्ञा प्रदान कर सकती है चाहे उच्च यायालय न अपील की आज्ञा देने स इकार ही क्यो न कर दिया हो। अपील की विशेष आज्ञा का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि सर्वोच्च न्यायालय पीडित पक्ष को अपील की विशेष आज्ञा उस स्थिति म भी दे सकती है जब उसे अपील का अधिकार नही। जैसाकि दुर्गादास बसु ने लिखा है कि 'मोटे तौर पर, जहा प्राकृतिक न्याय के सिद्धातो का अतिक्रमण किया गया है वहाँ पीडित पक्ष को राहत (अनुताप–relief) देने के लिए न्यायालय इस शक्ति का प्रयोग करेगी।" सर्वोच्च न्यायालय ने औद्योगिक न्यायाधिकरण, निर्वाचन यायाधिकरण आयकर के अपीलीय न्यायाधिकरण और निष्क्रान्त सम्पत्ति परिरक्षक (Custodian of Evacuee Property) तथा रेल रेट ट्रिब्यूनल (Railway Rate Tribunal) जसी अर्द्ध-न्यायिक निकायो के निर्णया के विरुद्ध भी अपील की विशेष आज्ञा प्रदान की है।

3 **परामश दात्री क्षेत्राधिकार** (Advisory Jurisdiction)—भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का एक ऐसा क्षेत्राधिकार है जिसका प्रयोग न तो अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय

तीसरी बार सन् 1959 मे येरुवाडी के प्रश्न पर, चौथी बार 1962 मे समुद्र तट पर अधिनियम के प्रश्न पर, पाचवी बार सन् 1964 म उत्तर प्रदेश विधान सभा के विशेषाधिकारो के प्रश्न पर और छठी बार 1974 मे राष्ट्रपति मतदाता सूची व अन्य विषयो से सम्बन्धित प्रश्नो पर अपनी राय व्यक्त की। केरल शिक्षा विधेयक, उत्तर प्रदेश विधान सभा के विशेषाधिकारो और राष्ट्रपति मतदाता सूची व अन्य विषयो मे सम्बन्धित प्रश्नो पर व्यक्त किये गये अभिमत भारतीय सविधान के विकास म महत्वपूर्ण योग माने जा सकते हैं। सन् 1958 म केरल शिक्षा विधेयक पर अपनी राय व्यक्त करते समय सर्वोच्च न्यायालय ने भाषायी और धार्मिक अल्पसख्यको को सविधान द्वारा प्रदत्त शिक्षा और सस्कृति सम्बन्धी अधिकारो के आश्वासनो की व्याख्या की। सन् 1964 म उत्तर प्रदेश विधान सभा के विशेषाधिकारो के प्रश्न पर अभिमत प्रकट करते समय सर्वोच्च न्यायालय न विधान सभाओ के विशेषाधिकारो का विश्लेषण किया था और यह मत प्रकट किया था कि विधान सभा द्वारा 'सभा के अपमान' के लिए दण्डित किये गये व्यक्ति (जो विधान सभा का सदस्य नही है) की याचिका पर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सुन सकते है और ऐसी याचिका की सुनवाई करने म न्यायाधीश विधान सभा का 'अपमान' (contempt) नही करते। सन् 1974 म राष्ट्रपति मतदाता सूची व अन्य विषयो पर सर्वोच्च न्यायालय ने यह राय प्रकट की कि "राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व उनके उत्तराधिकारी का निर्वाचन अवश्य हो जाना चाहिये" तथा 'राष्ट्रपति के निर्वाचन म केवल वे ही व्यक्ति मत देने के अधिकारी होगे, जो कि ससद के दोनो सदनो तथा राज्य विधान सभाओ के, उस तिथि को निर्वाचित सदस्य हो, जिस दिन निर्वाचन हो रहा हो।'[1]

"राष्ट्रपति मतदाता सूची व अन्य विषयो पर अपनी राय व्यक्त करते समय सर्वोच्च न्यायालय ने यह दृष्टिकोण भी अपनाया कि तथ्यो के बारे म न्यायालय राष्ट्रपति के प्रेषित पत्र (reference paper) से बाहर राय व्यक्त नही कर सकती। अत न्यायालय ने उन प्रश्नो पर अपनी राय व्यक्त करने से इन्कार कर दिया जिन पर विचार व्यक्त करने की माग विरोधी दलो ने की थी। अत न्यायालय न इन विषयो पर अपनी राय व्यक्त करने से इन्कार कर दिया कि (1) उस समय क्या स्थिति होगी जबकि एक या अनेक राज्य विधान सभाओ को बदनियती (male fide intention) से भग किया जाय या (ii) राष्ट्रपति के निर्वाचन से पूर्व समुचित समय के अन्दर भग या विधान सभा या सभाओ के निर्वाचन बदनियती से न कराये जायें या (iii) राष्ट्रपति के निर्वाचन से पूर्व अनेक विधान सभायें भग हो।

अमरीकी और आस्ट्रेलियाई न्यायालयो न यद्यपि न्यायालय के परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार के प्रति तिरस्कार (घृणा) का दृष्टिकोण अपनाया है परन्तु आधुनिक युग मे मुकदमबाजी को रोकने तथा कम करने म या गम्भीर तथा उग्र विवादो का ठण्डा

---

1 विस्तृत वर्णन के लिए देखिये 'दिनमान', दि० 16 जून, 1974, पृ० 9 11

करने के लिए (जसाकि भारत मे 1957 मे केरल शिक्षा विधेयक पर तथा 1974 मे राष्ट्रपति मताधिकार सूची पर उत्पन्न हो गया था) न्यायालय के परामशदात्री क्षेत्राधिकार का अपना महत्त्व है। जैसाकि एम० वी० पायली ने लिखा है कि "एक फिजीशियन की भाति जो न केवल रोगहर चिकित्सा से सम्बन्धित है बल्कि निवारक चिकित्सा से भी सम्बन्धित है उसी प्रकार आधुनिक युग मे एक न्यायाधीश को केवल विवादो के निपटारे मे ही नही बल्कि उन्हे घटित होने से रोकने मे भी रुचि लेनी चाहिये।"[1]

4 अभिलेख न्यायालय (Court of Records)—अनुच्छेद 129 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय भी है अर्थात देश का सर्वोच्च न्यायालय होने से इसके निर्णयो और अदालती कार्यवाही को, शाश्वत स्मृति (याद) के लिए, अभिलेख (Record) किया जाता है। इन अभिलेखो का साक्षिक महत्त्व (evidentiary value) भी है। जब इन्हे न्यायालय मे प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है तो उन पर सन्देह या प्रश्न नही किये जा सकते।

सविधान न्यायाधीशो को उनके कार्यों और निर्णयो के लिए आलोचना से मुक्ति प्रदान करता है। न्यायाधीशो पर यह आरोप नही लगाया जा सकता कि उनके निर्णय विशेष प्रेरणा या हित से प्रभावित थे। यदि कोई न्यायालय का तिरस्कार करता है या अपमान करता है या उसकी आज्ञाओ की उपेक्षा या अवज्ञा करता है तो न्यायालय को उसे दण्डित करने का अधिकार है। सर्वोच्च न्यायालय अपने गौरव और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए सदा सतर्क रहा है। उदाहरणतया सन् 1953 मे 'टाइम्स आफ इण्डिया' द्वारा की गयी टिप्पणी पर उस समाचार पत्र के सम्पादक, मुद्रक एव प्रकाशक के विरुद्ध न्यायालय ने "अपमान" (Contempt of Court) की कार्यवाही की। सन् 1970 मे आर० के० खादलकर, जो उस समय सघीय वित्त मन्त्रालय मे राज्य मन्त्री थे, के विरुद्ध न्यायालय के अपमान के लिए सुनवाई की। इसी प्रकार, केरल के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री इ० एम० एस० नम्बूदरीपाद को न्यायालय के अपमान के लिए दण्डित किया। यहा यह बात ध्यान देने की है कि सार्वजनिक कल्याण या शैक्षणिक दृष्टि से किये गये उचित एव युक्तियुक्त (fair and reasonable) आलोचनात्मक विवेचन को न्यायालय का अपमान नही माना जा सकता परन्तु न्यायाधीशों की निष्पक्ष निर्णय की शक्ति को प्रभावित करना या न्यायालय की कार्यवाही मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बाधा प्रस्तुत करना या न्यायाधीशो या न्यायालयो के प्रति घृणा फैलाना, या उन पर अनुचित प्रयोजन लादना (to attribute improper motives) या बदनियती से उन पर आक्षेप करना अवश्य ही न्यायालय का अपमान है।

---

1 Pylee, M V, Ibid, p 439

5 सविधान का अभिरक्षक एव मूल अधिकारो का प्रहरी (सतरी)—भारतीय सर्वोच्च न्यायालय सविधान के अभिरक्षक और निवाचन तथा मूल अधिकारो के सरक्षक और गारण्टीकर्ता के रूप मे काय करता है। सविधान के निवचन (interpretation) मे इसकी शक्ति अन्तिम है। इसे ससद और विधान सभाओ द्वारा बनाये गये कानूनो के पुनरावलोकन का अधिकार है। जब कभी ससद या विधान सभाओ द्वारा बनाये गये कानून सविधान की उल्लघना करते है या सविधान द्वारा लगायी गयी सीमाओ का अतिक्रमण करते है तो न्यायालय उन्हे अवैध घोषित कर प्रभावहीन बना सकती है। अनुच्छेद 32 ता न्यायालय का नागरिको के मूल अधिकारो की रक्षा का विशेष उत्तरदायित्व सापता है। नागरिको के अधिकारो की रक्षा करने हेतु सविधान न्यायालय को ब दी प्रत्यक्षीकरण (habeas corpus) परमादेश (mandamus), प्रतिषेध (prohibition), अधिकार पृच्छा (quo warranto) और उत्प्रेषण (certiorari) लेखा (writs) को जारी करने का अधिकार देता ह। इस तरह सर्वोच्च न्यायालय सविधान के अभिरक्षक और मूल अधिकारो के सजग प्रहरी के रूप मे काय करता है।

उपयु क्त वणन से स्पष्ट है कि मौलिक क्षेत्राधिकार का छाड कर भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की शक्तिया "विश्व की किसी भी सर्वोच्च न्यायालय स अधिक है।" अपीलीय क्षेत्राधिकार मे तो इसकी शक्तिया अमरीकी सर्वोच्च यायालय से भी अधिक है। भारत की सर्वोच्च न्यायालय उच्च यायालयो के सवधानिक, दीवानी और फौजदारी निणया के विरुद्ध अपील ही नही सुन सकता बल्कि देश की निम्न न्यायालयो और न्यायाधिकरणो के निणय के विरुद्ध अपील की विशेष आज्ञा भी दे सकती है। पर तु इससे यह सिद्ध नही होता कि भारत की सर्वोच्च न्यायालय अमरीकी सर्वोच्च यायालय से अधिक शक्तिशाली है। वस्तुत भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की शक्तिया "कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया" (procedure established by law) द्वारा मर्यादित है जबकि अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की शक्तिया "कानून की उचित प्रक्रिया" (due process of Law) द्वारा अमर्यादित है। यही कारण है कि जहा अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने "परम विधान सभा" (Super Legislature) का रूप ग्रहण कर लिया है वहा भारत की सर्वोच्च यायालय यह रूप ग्रहण नही कर सकती और न ही भारत के सविधान निर्माता सर्वोच्च यायालय को यह रूप प्रदान करना चाहते थ।

'सक्षेप मे, भारत की सर्वोच्च न्यायालय सविधान की अन्तिम निवचक (ultimate interpreter) है मूल अधिकारो की सजग प्रहरी है और इनकी रक्षा हतु लेख (writs) जारी कर सकती है। सघ और राज्यो म क्षेत्राधिकार से सम्बन्धित उत्प न होने वाले विवादो की निर्णायक है, इसके अपीलीय क्षेत्राधिकारो का विस्तार सवैधानिक दीवानी और फौजदारी मामलो तक है, यह भारत के सभी न्यायालयो या न्यायाधिकरणो के निणयो के विरुद्ध अपील की विशेष आज्ञा द सकती है।

राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित किये गए सार्वजनिक महत्व के विषयो पर इसे परामर्श देने का अधिकार है । इसके निर्णय सभी निम्न न्यायालयो पर बाध्यकारी हैं यद्यपि यह स्वय अपने पूर्व के निर्णयो (stare decisions) से बाध्य नही इसे उच्च न्यायालयो के अधीक्षण और नियन्त्रण का अधिकार है । इसके निर्णय भारत के सारे क्षेत्र म लागू होते है । यह किसी व्यक्ति या दस्तावेज को न्यायालय म प्रस्तुत करने की माग कर सकती है । इसके निर्णय कानूनो या अध्यादेशो को असवैधानिक घोषित कर प्रभावहीन बना सकते है । इस तरह सर्वोच्च न्यायालय सविधान की अभिरक्षक और मूल अधिकारो की गारण्टीकर्ता ही नही बल्कि यह न्यायिक क्षेत्र म देश की सर्वोच्च सत्ता भी है ।

## न्यायिक पुनरावलोकन
## (Judicial Review)

"कानूनो के सही अर्थ और कार्यक्षेत्र को स्पष्ट और परिभाषित करने वाले न्यायालयो के बिना कानून निर्जीव पत्र के समान है ।'

—एलेक्जेण्डर हेमिल्टन

**न्यायिक पुनरावलोकन का अर्थ और परिभाषा**—न्यायालय की प्रकृति और स्वभाव ही कानूनो (विधान) के अर्थों को स्पष्ट करना तथा उनका निर्वचन करना है । संघीय व्यवस्था म जहा सविधान सर्वोच्च विधि होती है, वहाँ न्यायालय कानूनो की वैधता और अवैधता को भी निर्धारित करती है । इस तरह जब न्यायालय विधान मण्डल द्वारा पास किये गये कानूनो की या उनके अन्तर्गत कार्यपालिका द्वारा बनाये गये नियमो या विनियमो की या कार्यपालिका द्वारा दिये गये आदेशो या जारी किये गये अध्यादेशो की समीक्षा कर उनकी वैधता और अवैधता को निर्धारित करती है तो न्यायालय की इस शक्ति को न्यायिक पुनरावलोकन कहते हैं । जैसा कि एम० वी० पायली ने लिखा है कि 'विधायी नियम को सवैधानिक या असवैधानिक घोषित करने की न्यायालय की क्षमता ही न्यायिक पुनरावलोकन का सार तत्व है ।" फरगुसन और मैक हेनरी के शब्दो म न्यायिक पुनरावलोकन न्यायालय की ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह किसी कानून को या किसी सरकारी कार्य को, जिसे वह मूल कानून या सविधान के विरुद्ध समझती है, अवैध घोषित कर सकती है ।'

किसी न्यायालय की शक्ति और महत्व इसी बात पर निर्भर करता है कि उसे न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त है या नही और यदि है तो उसकी मात्रा क्या है क्योंकि न्यायालय की यही एक शक्ति है जिसके माध्यम से वह सविधान की सर्वोच्चता की रक्षा कर सकती है, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को नियन्त्रित कर सकती है उनके अधिकार क्षेत्र की सीमाओ को निश्चित कर सकती है तथा कार्यपालिका निरकुशता और विधान मण्डल के अत्याचार से नागरिको के अधिकारो की रक्षा कर सकती है । सक्षेप म, न्यायिक पुनरावलोकन के माध्यम से ही न्यायालय

सविधान के सरक्षक, अभिभावक और नागरिको के अधिकारो के सजग प्रहरी (सतरी) और गारण्टीकर्ता के रूप मे काय कर सकती है ।

"यायिक पुनरावलोकन की शर्तें—"यायिक पुनरावलोकन के लिये निम्न शर्तों का होना अनिवाय है —

(i) लिखित एव कठोर सविधान ।

(ii) राज्य की सघीय व्यवस्था अर्थात विषयो का सघ सरकार और राज्य सरकारो मे विभाजन ।

(iii) सविधान मे नागरिको के मूल अधिकारो की व्याख्या ।

## भारत में न्यायिक पुनरावलोकन
### (Judicial Review in India)

भारत का सविधान लिखित एव सघीय है इसमे सघ और एकका (राज्यो) म शक्तियो का विभाजन भी किया गया है तथा सविधान नागरिको के मूल अधिकारो की भी व्यवस्था करता है पर तु इस पर भी सविधान स्पष्टतया या प्रत्यक्ष रूप मे सर्वोच्च यायालय को "यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्रदान नही करता । इस बात को लेकर कुछ सवधानिक आलोचका ने यह विचार व्यक्त किया है कि भारत के सविधान निर्माता सर्वोच्च "यायालय को इस असाधारण शक्ति ("यायिक पुनरावलोकन की शक्ति) मे विभूषित करना नही चाहते थे । पर तु आलोचको का यह विचार न केवल भ्रामक है बल्कि मिथ्या भी है क्योकि भारतीय सविधान द्वारा विधान मण्डलो (ससद और विधान सभाओ) पर अनुच्छेद 246 द्वारा लगायी गयी सीमाओ म, अनुच्छेद 32 और 226 मे सवैधानिक उपचारो म की गई व्यवस्था म अनुच्छेद 13 म यायालय को सौपे गये उत्तरदायित्वा म "यायालय की सविधान के निवचन की शक्ति मे तथा कानूनो की वधता की जाच करन की शक्ति म यायालय की "यायिक पुनरावलोकन की शक्ति अ तर्निहित है । जसा कि जी० एन० जोशी ने लिखा है कि "यायालयो का यह सकारात्मक कतव्य है कि वे देखे कि क्या सघ और राज्य अपने अपने निर्धारित क्षेत्र म काय कर रहे हं मूल अधिकारो के सम्ब ध म राज्य पर लगायी गयी सीमाओ का पालन हो रहा है कि नही । यायालये अधिनियमो और सरकारी कार्यों की दधानिकता पर निणय द सकती है । "यायिक पुनरावलोकन जो सघीय राजनीतिक व्यवस्था म सन्निहित है, भारतीय सविधान उसका स्पष्ट उल्लेख करता है । विधि की सर्वोच्चता और विधि के शासन को बनाये रखना "यायालयो की शक्ति और कत य है ।"[1] "यायाधीश एच० एल० कानिया न दिल्ली कानून अधिनियम के मुकदमे मे अवलोकित किया था कि 'ससद सविधान की सृष्टि (उत्पत्ति) है और इसकी शक्तिया, अधिकारो, विशेषाधिकारो और दायित्वो को

---

1 Joshi G N Aspects of Indian Constitutional Law p 200 Cited by Johari Ibid p p 149–150

सम्बद्ध अनुच्छेदो म ही ढूँढा जा सकता है। यह सार्वभौम निकाय नहीं है जिसकी शक्तियां अनियन्त्रित या असीमित हो। भारतीय संविधान उन विषया पर संसद को कानून बनाने का अधिकार देता है जिन्हें समुचित स्थान और अनुसूचियों म देखा जा सकता है। और कुछ अन्य दूसरे अनुच्छेदों म इसके अधिकारों और शक्तियों को कम किया गया है विशेषकर मूल अधिकारो के अध्याय तीन के अनुच्छेदों द्वारा।"[1] सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार म सम्बन्धित अनुच्छेद (131 स 136) भी उसे सघ और राज्यो के विधायी अधिनियमो पर न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार देते हैं। अनुच्छेद 13 (1) स्पष्ट रूप स उल्लिखित करता है कि ' जिस सीमा तक कोई कानून मूल अधिकारो से असंगत ह या उन्हे न्यून (कम) करता है उस सीमा तक वह कानून अवैध है। अनुच्छेद 13 (2) तो राज्य को एसे कानूनो के निर्माण से मनाही करता है जो मूल अधिकारो को 'खतम या न्यून' करते हैं। अनुच्छेद 32 और अनुच्छेद 226 म सवैधानिक उपचारो की व्यवस्था की गयी है। इस तरह सविधान सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय पर यह उत्तरदायित्व सौंपता है कि नागरिको की प्रार्थना करने पर व उनके अधिकारो की रक्षा करें। नागरिको के अधिकारो की रक्षा करने के लिये न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा तथा उत्प्रेषण के लेख (Writs) भी जारी कर सकती है। यह सत्य है कि सविधान कानून द्वारा नागरिको के अधिकारो को प्रतिबन्धित करने की भी व्यवस्था करता है पर तु इस बात का निर्धारण करना न्यायालय का दायित्व है कि प्रतिबन्ध उचित और न्यायपूर्ण है या नही। मुख्य न्यायाधीश का मत है कि "यदि अनुच्छेद 13 (1) और (2) मे सविधान इसका स्पष्ट उल्लेख न भी करता तो भी न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार न्यायालय को प्राप्त है क्योंकि जिस सीमा तक कोई कानून उस पर लगाई गई सीमाओ का अतिक्रमण करता है न्यायालय को उसे अवैध घोषित करने का अधिकार सवदा प्राप्त ह।"[2] इस तरह भारत की सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय इस बात का निर्धारण करती है कि कोई कानून, नियम या विनियम, कार्यपालिका आदेश या अध्यादेश सवैधानिक है या नही, कही वह अपनी सीमाओ का अतिक्रमण तो नही करता या मूल अधिकारों की उल्लघना तो नही करता, आदि।

उपयु क्त वर्णन म स्पष्ट है कि भारत मे न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति सविधान म सन्निहित है और सविधान के लागू होने के बाद सर्वोच्च न्यायालय ने इस शक्ति का प्रयोग करके अनेक महत्त्वपूर्ण कानूनो या अध्यादेशो, नियमो या विनियमो को पूर्णतया या अंशत असवैधानिक घोषित किया है। सन् 1950 में

1 Chief Justice H L Kania in Delhi Laws Act (1951)

2 C J Kania in A K Gopalan Vs The State of Madras 1950, SCJ, 179

निवारक निरोध अधिनियम (Preventive Detention Act) के एक खण्ड को अवध घोषित करके सर्वोच्च न्यायालय ने सवप्रथम न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का प्रयोग किया। गोलकनाथ (1967), बैंक राष्ट्रीयकरण (1970) और राजाओ के प्रिवीपर्सों (1970) आदि मुकदमो मे न्यायालय द्वारा दिये गये निणय ऐतिहासिक महत्व के है। गोलकनाथ के मुकदमे म न्यायालय ने यह उदघोषणा की कि "ससद को सविधान में निहित मूल अधिकारो म कोई परिवतन करने का अधिकार नही' परन्तु केशवानन्द बनाम केरल राज्य (1973) के मुकदम म न्यायालय न सविधान के प्रत्येक अनुच्छेद मे सशोधन करने के ससद के अधिकार को स्वीकार किया पर तु साथ मे यह भी अवलोकित कर दिया कि ससद सविधान के 'मूल ढाचे" या सविधान की "आत्मा" मे परिवतन नही कर सकती। सन् 1973 मे न्यायालय ने आतरिक सुरक्षा अधिनियम (Maintenance of Internal Security Act MISA) के खण्ड 17 (A) को अवैध घोषित किया जिसमे सकट काल मे किसी व्यक्ति को "परामर्श बोड" के परामश बिना 21 महीने तक बन्दी बनाये रखने की व्यवस्था थी। 4 अक्टूबर, *1974* का सर्वोच्च न्यायालय ने अमरनाथ चावला बनाम कवरलाल गुप्त के मुकदम म चुनाव व्यय से सम्बन्धित दूरगामी प्रभाव डालने वाला निणय दिया। इस मुकदमे म सर्वोच्च न्यायालय ने अमरनाथ चावला का निर्वाचन इसलिये रद्द कर दिया कि उसके चुनाव पर उसके दल, मित्रो और समथको द्वारा निर्धारित सीमा से अधिक धन खच किया था।[1]

## भारत मे न्यायिक पुनरावलोकन की प्रकृति

## या

## भारत में न्यायिक पुनरावलोकन की विशेषतायें

**(Nature of Judicial Review in India)**

**Or**

**(Features of Judicial Review in India)**

भारत मे न्यायिक पुनरावलोकन की प्रकृति या उसकी विशेषताओ को निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जाता है —

(1) विधायी क्षमता का सिद्धान्त (Doctrine of Legislative Competence)—इसे "सार तत्व' (Pith and substance) का सिद्धान्त भी कहते है। इसके अनुसार न्यायालय का समीक्षा कर यह निर्धारित करन का अधिकार है कि जिस कानून का विरोध किया गया है क्या व्यवस्थापिका को उसका निर्माण करन का अधिकार है या नही। दूसरे शब्दो म, इस सिद्धान्त के अनुसार न्यायालय इस बात का निर्धारण करती है कि कानून बनाते समय विधान मण्डल न अपनी शक्ति का अतिलघन या सविधान द्वारा लगायी गयी सीमाओ का अतिक्रमण तो नही किया

1 For details see chapter on Election

और यदि अतिलघन या अतिक्रमण किया है तो न्यायालय उसे असवधानिक घोषित कर प्रभावहीन बना सकती है। यद्यपि भारत की न्यायालय अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की भाति "निहित शक्तियो के सिद्धान्त" (Doctrine of Implied Powers) का विस्तार या अत्यधिक विकास नही कर सकती फिर भी सर्वोच्च न्यायालय ने उन गौण विषयो (ancillary subjects) को व्यवस्थापिका की विधायी क्षमता म स्वीकार किया है जिन्हे युक्तियुक्त ढग से उसके अन्तगत लिया जा सकता है।[1]

2 पृथक्करणीयता का सिद्धान्त (Doctrine of Severability)—इस सिद्धान्त के अनुसार न्यायालय को कानून के वध और अवध भाग को पृथक करन का अधिकार है।[2] अर्थात यदि किसी कानून का कोई भाग, खण्ड या अश सविधान का उल्लघन करता है और उसका शेष भाग सवधानिक है तो न्यायालय पूरा कानून को अवध घोषित करने के स्थान पर केवल उस भाग, खण्ड या अश को ही अवध घोषित करगी जो असवधानिक है और शेष सवधानिक भाग को क्रियाशील (प्रभाव युक्त) बना देगी।[3]

3 उत्तरोत्तर व्याख्या का सिद्धान्त (Doctrine of Progressive Interpretation)—भारत म न्यायिक पुनरावलोकन की एक प्रमुख प्रवृत्ति या विशेषता यह रही है कि यह औपचारिक या व्यथ की विधिपरायणता के सिद्धान्त से चिपका नही रहा इसने सवधानिक व्याख्याओ (निवचनो) म सविधान सभा म दिये गये भाषणो को उपचार या साधनो के रूप म स्वीकार भी नही किया और न ही यह ससद के अन्दर या बाहर की गई आलोचनाओ म प्रभावित हुआ है। भारत म इसकी प्रकृति समय की गति नवीन तथ्यो और परिस्थितियो तथा स्वतन्त्रता और निडरता के आधार पर विकसित हुई है। दूसरे शब्दो म, भारत म सर्वोच्च न्यायालय ने 'उत्तरोत्तर व्याख्या के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।" सामान्यत न्यायालय अपने पूव के निर्णयो को रद्द (over rule) नही करती परन्तु नवीन तथ्यो के प्रस्तुत होन पर अपन अपन पूव के निर्णयो को रद्द किया है। उदाहरणतया 1952 म शकरी प्रसाद बनाम भारत राज्य क मुकदम म न्यायालय ने अनुच्छेद 13 को

1 Chaturbhai M Patel Vs The Union of India (1960) Cited by Johari J C Ibid p 147

2 The doctrine of Severability has its origin in the words occuring in Art 13 (1) and 13 (2) viz To the extent of inconsistency or contravention

3 Habeeb Vs State of Hyderabad Also see Basu D D Shorter Constitution of India Ibid p 19

अनुच्छेद 368 के अधीन स्वीकार करते हुए ससद के मूल अधिकारो मे सशोधन करने के अधिकार को स्वीकार किया । सन् 1965 म सज्जन सिंह के मुकदमे मे इसी दृष्टिकोण की पुष्टि की गयी । परन्तु सन् 1967 म गोलकनाथ के मुकदमे म सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 368 का अनुच्छेद 13 के अधीन स्वीकार करते हुए ससद के मूल अधिकारो म सशोधन करने के अधिकार को अस्वीकार कर दिया । सन् 1973 मे केशवानन्द बनाम केरल राज्य के मुकदमे मे अनुच्छेद 13 को अनुच्छेद 368 के अधीन स्वीकार करते हुए मूल अधिकारो मे ही नही वल्कि सविधान के प्रत्येक अनुच्छेद मे सशोधन करने के ससद के अधिकार को स्वीकार कर लिया परन्तु साथ मे यह अवलोकित भी कर दिया कि सशोधन सविधान की "आत्मा" को नष्ट नही कर सकता ।

**4 सवधानिक भावना का सिद्धात** (Doctrine of the Spirit of the Constitution)—इस सिद्धात के अनुसार न्यायालय 'प्रतिबन्धो के औचित्य" (reasonableness of restrictions) का निर्धारण करती है अर्थात् जब व्यवस्थापिका या कार्यपालिका सार्वजनिक सुरक्षा, व्यवस्था या राष्ट्रीय अखण्डता और सार्वजनिक नतिकता या स्वास्थ्य आदि के नाम पर नागरिको के मूल अधिकारो पर प्रतिबन्ध लगाती है तो न्यायालय इस बात का निर्धारण करती है कि लगाये गये प्रतिबन्ध उचित है या नही । जैसाकि न्यायाधीश बी० के० मुकर्जी ने अवलोकित किया था कि "अधिनियम विधि सवधानिक आवश्यकताओ के अनुरूप होने पर ही वध समझी जा सकती है ।"

**5 सवधानिक परिकल्पना का सिद्धान्त** (Doctrine of presumption in favour of the Constitutionality)—इस सिद्धान्त के अनुसार न्यायालय सामान्यत यह मान कर चलती है कि व्यवस्थापिका अपनी शक्तियो का अतिलघन नही करती और वह किसी एसे कानून का निर्माण नही करती जो सवैधानिक भावना के विपरीत हो । इस तरह जब किसी कानून की सवधानिकता को चुनौती दी जाती है तो न्यायालय तब तक उसे अमान्य या असवधानिक तथा इसलिए प्रभावहीन नही बनाती जब तक उसकी सवधानिकता निश्चित और निर्विवाद ही न हो ।

*सक्षेप मे, भारत मे न्यायिक पुनरावलोकन का अर्थ यह है कि जिस कानून* को न्यायालय सवधानिक भावना या सवधानिक उपबन्धो के विरुद्ध समझती है उसे वह असवधानिक और इसलिए प्रभावहीन बना सकती है ।

## भारत में न्यायिक पुनरावलोकन का क्षेत्र या अमरीकी और भारतीय न्यायिक पुनरावलोकन की तुलना
## (Scope of Judicial Review in India) or (A Comparison between American and Indian Judicial Review)

'भारत म न्यायिक पुनरावलोकन का क्षेत्र अमरीका की भांति निरपेक्ष या असीमित नही वल्कि सविधान द्वारा उसी प्रकार मर्यादित है जिस प्रकार सविधान

सरकार के अन्य अंगों (व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, आदि) की शक्तियों को मर्यादित करना है। जहां पर अमरीकी संविधान के संक्षिप्त स्वरूप और संविधान की अस्पष्ट धाराओं और 'न्याय की उचित प्रक्रिया (Due Process of Law) के सिद्धान्त ने न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र को व्यापक एवं विस्तृत बना दिया है वहां भारत के संविधान का स्पष्ट एवं विस्तृत स्वरूप, विधान मण्डलों के क्षेत्राधिकार का स्पष्ट वर्णन (अनुच्छेद 246 और अनुसूची सात), नागरिकों के मूल अधिकारों पर संसद को प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति, संशोधन की प्रक्रिया, संकटकालीन शक्तियां, राष्ट्रपति द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति की शक्ति पर अंकुश का अभाव तथा 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया (Procedure established by law) ने न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र को मर्यादित या सीमित कर दिया है। इन मर्यादाओं के कारण ही भारत की सर्वोच्च न्यायालय अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की भांति 'परम विधान मण्डल' (Super Legislature) या विधान मण्डल के तृतीय सदन (Third Chamber of the Legislature) का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकती। अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की भांति भारत की सर्वोच्च न्यायालय 'निहित शक्तियों के सिद्धान्त' (Doctrine of Implied Powers) का विकास नहीं कर सकती। भारत के न्यायाधीश अमरीकी न्यायाधीशों की भांति यह दावा नहीं कर सकते कि संविधान वही है जो न्यायाधीश बताते हैं कि वह क्या है। यह सत्य है कि भारत की सर्वोच्च न्यायालय विधानमण्डल की इच्छा पर निर्णय दे सकती है परन्तु लोगों की सर्वोच्च इच्छा पर (Sovereignty of the People) उसे निर्णय देने का अधिकार नहीं। यदि 'विधान मण्डल की इच्छा' 'लोगों की सर्वोच्च इच्छा के अनुरूप नहीं, जैसाकि लोगों ने उसे संविधान में अभिव्यक्त या उल्लिखित किया है, तो ही सर्वोच्च न्यायालय उसे असंवैधानिक घोषित कर सकती है। संक्षेप में भारत में न्यायिक पुनरावलोकन की प्रणाली ब्रिटेन की संसदीय सर्वोच्चता और अमरीका की न्यायिक सर्वोच्चता की प्रणाली के मध्य की है।

भारत में न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र के व्यापक न होने के मुख्य कारण निम्न हैं—

1 भारत में कानून द्वारा स्थापित क्रिया—जहां अमरीका में न्यायिक पुनरावलोकन का आधार 'कानून की उचित प्रक्रिया (Due Process of Law) है वहां भारत में इसका आधार कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure established by law) है और इन दोनों में अत्यधिक अन्तर है। 'कानून की उचित प्रक्रिया' के आधार पर अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने कानूनों को केवल इस कारण असंवैधानिक घोषित नहीं किया कि वे संविधान की उल्लंघना या उसकी सीमाओं का अतिक्रमण करते थे बल्कि उसने कानूनों को इस कारण भी असंवैधानिक घोषित किया कि वे 'बुरे कानून' (bad laws) थे। दूसरे शब्दों में, अमरीकी सर्वोच्च

न्यायालय ने कानूनो की संवधानिकता निश्चित करते समय उनमे सन्निहित नीति, भावो और उद्देश्यो पर भी विचार किया है और यदि वे सामाजिक या सार्वजनिक नैतिकता, प्राकृतिक न्याय, न्याय की भावना और सम व्यवहार (Equity) के विरुद्ध प्रतीत हुए हैं तो उन्हे भी असंवैधानिक घोषित किया गया है। संक्षेप मे, अमरीका में न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। दूसरी ओर, भारतीय संविधान न तो न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है और न ही 'न्यायाधीशो की सरकार' की स्थापना की आज्ञा देता है। भारतीय संविधान 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' की व्यवस्था करता है जिसका अर्थ है कि सर्वोच्च न्यायालय केवल उन कानूनो को असंवधानिक घोषित कर उन्हे प्रभावहीन बना सकती है जो निश्चित रूप से संवधानिक धाराओ का उल्लघन करते है। दूसरे शब्दो मे भारतीय सर्वोच्च न्यायालय लिखित कानून की, जैसा कि वह लिखा हुआ है, व्याख्या या निवचन करती है उसके भावो प्रेरणाओं या उद्देश्यो का निरूपण नही करती। जैसाकि न्यायाधीश एस० आर० दास ने अवलोकित किया था कि "न्यायालय संविधान का अर्थ और निवचन कर सकती है और इसके सही अर्थों को निश्चित कर सकती है परन्तु एक बार यह कार्य करने के बाद वह उसके विवेक (अक्लमंदी) और नीति पर प्रश्न नही कर सकती।" सामाजिक नैतिकता प्राकृतिक न्याय या सम व्यवहार (fair play or equity) के आधार पर भारतीय सर्वोच्च न्यायालय किसी कानून को अवैध घोषित नही कर सकती। कानून चाहे कितना ही अनैतिक, कठोर या अत्याचारी क्यो न हो, यदि व्यवस्थापिका ने उसे अपने संवधानिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत बनाया है तो भारतीय सर्वोच्च न्यायालय उसे असंवधानिक घोषित नही कर सकती। मुख्य न्यायाधीश कानिया ने ठीक अवलोकित किया था कि 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को स्वीकार करके से संविधान ने कानून को निश्चित करने का पूर्ण अधिकार व्यवस्थापिका को दिया है। गिरफ्तारी, दण्ड या नजरबंदी आदि के सम्बन्ध में कोई कानून कितना ही कठोर क्यो न हो भारतीय न्यायालय जनता के लिए कुछ नही कर सकती।"

संक्षेप मे, 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' होने से भारतीय सर्वोच्च न्यायालय कानून के निवचन मे अपनी आत्म निष्ठा (प्राकृतिक न्याय या सम व्यवहार या न्याय की भावना) का प्रयोग नही करती।

2 **संवधानिक संशोधन और संसदीय सर्वोच्चता**—संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त ने और संशोधन की सरल प्रक्रिया ने भी न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र को मर्यादित किया है। कार्यपालिका के सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्यो मे जब जब न्यायिक निर्णय बाधक सिद्ध हुए है तब तब उसने संवधानिक संशोधन का सहारा लेकर न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को मर्यादित किया है। उदाहरणतया संविधान की 'सम संरक्षण की धारा' (equal protection clause)

आधार पर जब सर्वोच्च न्यायालय ने जमींदारी उन्मूलन अधिनियम (Zamindari Abolition Act) को अवैध घोषित किया तो कार्यपालिका ने प्रथम संशोधन द्वारा (1951 में) न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को मर्यादित किया अर्थात् कानून द्वारा अभिग्रहित की गयी सम्पत्ति को न्यायालय अब इस आधार पर अवैध घोषित नहीं कर सकती कि वह नागरिकों के मूल अधिकारों को न्यून (कम) करता है। इसी प्रकार भूमि सुधार अधिनियमों (Land Reform Legislations) को न्यायालय के क्षेत्र से स्वतन्त्र रखने के लिये चौदहवां और सत्रहवां संशोधन पास किया गया। संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति को पुनः प्रदान करने के लिये चौबीसवां संशोधन पास किया गया।[1] सार्वजनिक उद्देश्यों के लिये अभिग्रहीत की गयी सम्पत्ति को अनुच्छेद 19 (1) (f) की सीमाओं से स्वतन्त्र रखने के लिये पच्चीसवां संशोधन पास किया गया।[2] दूसरे शब्दों में, सार्वजनिक उद्देश्यों के लिये अभिग्रहित की गई सम्पत्ति के कानून को इस आधार पर न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती कि वह 'उचित मुआवजे' की व्यवस्था नहीं करता। राजाओं के विशेषाधिकारों और प्रिवी पर्सों को समाप्त करने के लिये छब्बीसवां संशोधन इसलिये पास किया गया कि न्यायालय ने राजाओं के विशेषाधिकारों और प्रिवी पर्सों को समाप्त करने वाले राष्ट्रपति के अध्यादेश को अवैध घोषित किया था। अमरनाथ चावला बनाम कंवरलाल गुप्त के मुकदमे (1974) में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को प्रभावहीन बनाने के लिये संसद ने चुनाव कानून की धारा 77 (1) में संशोधन कर राजनीतिक दलों, मित्रों, समर्थकों या संगठनों द्वारा किसी प्रत्याशी के निर्वाचन पर खर्च किये गये धन को प्रत्याशी के निर्वाचन व्यय की सीमा से बाहर कर दिया। स्पष्ट है कि भारत में संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को नहीं।

3 न्यायाधीशों की नियुक्ति—अमरीका में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा सीनेट के अनुसमर्थन पर होती है। इसका अर्थ यह है कि यदि सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय राष्ट्रपति के लिये अप्रिय होते हैं या उसके सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्यों के विरुद्ध होते हैं या उसकी योजनाओं में बाधक होते हैं तो भी राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय को आसानी से संवेष्टित (pack) नहीं कर सकता। उदाहरणतया जब अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने

---

1 गोलकनाथ के मुकदमे (1967) में सर्वोच्च न्यायालय ने यह उद्घोषणा की थी कि संसद को संशोधन द्वारा मूल अधिकारों को न्यून या खतम करने का अधिकार नहीं।

2 बैंक राष्ट्रीयकरण के अधिनियम को (जिसमें 14 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण [illegible] गया था) सर्वोच्च न्यायालय ने इस आधार पर अवैध घोषित [illegible] धारा 19 (1) (f) के अनुरूप नहीं।

राष्ट्रपति रुजवैल्ट के न्यूडील विधायनो को अवैध घोषित किया तो राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय का सवेप्टित (pack) करने की कोशिश की परन्तु सीनेट ने उसकी इस महत्त्वाकाक्षा को पूरा होने नही दिया। दूसरी ओर, भारत मे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशा की नियुक्ति राष्ट्रपति के स्वविवेक (discretion) द्वारा होती है जिसका वास्तविक अर्थ है कि न्यायाधीशा की नियुक्ति प्रधान मन्त्री के परामश पर होती है और उसका परामश ही निर्णायक होता है। न्यायाधीशा या मुख्य न्यायाधीश द्वारा दिया गया परामश राष्ट्रपति के लिये स्वीकार करना अनिवाय नही। दूसरे शब्दो मे, भारत मे न्यायाधीशो की नियुक्ति राजनीतिक उद्देश्यो से प्रभावित हो सकती है। जब न्यायिक निर्णयो के कारण कायपालिका और न्यायपालिका मे समक्षता (confrontation) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है या न्यायिक निर्णय सत्तारूढ दल के राजनीतिक सामाजिक या आर्थिक उद्देश्यो के विरुद्ध जाते हैं या महत्त्वाकाक्षी प्रधानमन्त्री के दृष्टिकोण के विरुद्ध हैं तो वह सर्वोच्च न्यायालय को सवेप्टित (pack) करने की दृष्टि से ऐसे व्यक्तियो को न्यायाधीश पद पर नियुक्त करने का परामश दे सकता है जो उसके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दशन के समथक हो। अप्रैल 1973 म न्यायाधीश अजितनाथ रे की मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति इसी दिशा की ओर सकेत करती है।

4 **भारतीय सविधान का विस्तृत स्वरूप**—भारतीय सविधान के विस्तृत एव स्पष्ट स्वरूप ने भी न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र को मर्यादित किया है। सघ और राज्यो मे विधायी शक्तियो के स्पष्ट एव विस्तृत उल्लेख ने तथा समवर्ती विषया की लम्बी सूची और उस पर सघीय सरकार की सर्वोच्च सत्ता ने उनमे पारस्परिक मुकदमबाजी को प्रोत्साहन नही दिया। परिणामस्वरूप भारतीय सर्वोच्च न्यायालय सविधान के विकास म यद्यपि कुछ मात्रा तक सहायक हो सकती है परन्तु वह अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की भाति व्यवस्थापिका के तृतीय सदन के रूप म विधान की निर्माता नही बन सकती और न ही निहित शक्तिया (Implied Powers) जैसे सिद्धान्त का विकास कर सकती है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत म न्यायिक पुनरावलोकन का क्षेत्र अमरीका की भाति अत्यन्त व्यापक या विस्तृत नही फिर भी कानूना की बहुत बडी सख्या न्यायपालिका को कायपालिका के कार्यों की समीक्षा करने का अवसर प्रदान करती है।

## न्यायिक पुनरावलोकन का मूल्यांकन या न्यायिक पुनरावलोकन के पक्ष और विपक्ष मे तर्क

**( Evaluation of Judicial Review or Arguments for and against Judicial Review )**

न्यायिक पुनरावलोकन के सम्बन्ध मे दो प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। एक विचार इसके आलोचको का है जिनका कहना है कि इससे "न्यायिक निरकुशता

आधार पर जब सर्वोच्च न्यायालय ने जमींदारी उन्मूलन अधिनियम (Zamindari Abolition Act) को अवैध घोषित किया तो कार्यपालिका ने प्रथम संशोधन द्वारा (1951 में) न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को मर्यादित किया अर्थात कानून द्वारा अभिग्रहित की गयी सम्पत्ति को न्यायालय अब इस आधार पर अवैध घोषित नही कर सकती कि वह नागरिकों के मूल अधिकारों को न्यून (कम) करता है। इसी प्रकार भूमि सुधार अधिनियमों (Land Reform Legislations) को न्यायालय के क्षेत्र से स्वतन्त्र रखने के लिये चौदहवा और सत्रहवा संशोधन पास किया गया। संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति को पुन प्रदान करने के लिय चौबीसवा संशोधन पास किया गया,[1] सार्वजनिक उद्देश्यो के लिये अभिग्रहीत की गयी सम्पत्ति को अनुच्छेद 19 (1) (f) की सीमाओ से स्वतन्त्र रखने के लिये पच्चीसवा संशोधन पास किया गया।[2] दूसरे शब्दो मे, सार्वजनिक उद्देश्यो के लिय अभिग्रहित की गई सम्पत्ति के कानून को इस आधार पर न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती कि वह "उचित मुआवजे" की व्यवस्था नही करता। राजाओ के विशेषाधिकारो और प्रिवी पर्सो को समाप्त करने के लिय छब्बीसवा संशोधन इसलिये पास किया गया कि न्यायालय ने राजाओ के विशेषाधिकारो और प्रिवी पर्सों को समाप्त करने वाले राष्ट्रपति के अध्यादेश को अवैध घोषित किया था। अमरनाथ चावला बनाम कवरलाल गुप्त के मुकदमे (1974) मे सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को प्रभावहीन बनाने के लिय संसद ने चुनाव कानून की धारा 77 (1) में संशोधन कर राजनीतिक दलो, मित्रो समर्थको या संगठनो द्वारा किसी प्रत्याशी के निर्वाचन पर खर्च किय गये धन को प्रत्याशी के निर्वाचन व्यय की सीमा से बाहर कर दिया। स्पष्ट है कि भारत में संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को नही।

3 न्यायाधीशो की नियुक्ति—अमरीका मे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा सीनेट के अनुसमर्थन पर होती है। इसका अर्थ यह है कि यदि सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय राष्ट्रपति के लिय अप्रिय होते हैं या उसके सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्यो के विरुद्ध होते हैं या उसकी योजनाओ में बाधक होते है तो भी राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय को आसानी से सवेष्टित (pack) नही कर सकता। उदाहरणतया जब अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने

---

1 गोलकनाथ के मुकदमे (1967) में सर्वोच्च न्यायालय ने यह उदघोषणा की थी कि संसद को संशोधन द्वारा मूल अधिकारों को न्यून या खतम करने का अधिकार नही।

2 बैंक राष्ट्रीयकरण के अधिनियम को (जिसमे 14 प्रमुख बैंको का राष्ट्रीयकरण [illegible] गया था) सर्वोच्च न्यायालय ने इस आधार पर अवैध घोषित [illegible] धारा 19 (1) (f) के अनुरूप नही।

राष्ट्रपति रूजवैल्ट के न्यूडील विधायनो को अवध घोषित किया तो राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय का सवेष्टित (pack) करने की कोशिश की परन्तु सीनेट ने उसकी इस महत्वाकाक्षा को पूर्ण होने नही दिया । दूसरी ओर, भारत मे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति के स्वविवेक (discretion) द्वारा होती है जिसका वास्तविक अर्थ है कि न्यायाधीशो की नियुक्ति प्रधान मन्त्री के परामर्श पर होती है और उसका परामर्श ही निर्णायक होता है । न्यायाधीशो या मुख्य न्यायाधीश द्वारा दिया गया परामर्श राष्ट्रपति के लिये स्वीकार करना अनिवार्य नही । दूसरे शब्दो मे, भारत मे न्यायाधीशो की नियुक्ति राजनीतिक उद्देश्यो से प्रभावित हो सकती है । जब न्यायिक निर्णयो के कारण कार्यपालिका और न्यायपालिका मे समक्षता (confrontation) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है या न्यायिक निर्णय सत्तारूढ दल के राजनीतिक सामाजिक या आर्थिक उद्देश्यो के विरुद्ध जाते है या महत्वाकाक्षी प्रधानमन्त्री के दृष्टिकोण के विरुद्ध हैं तो वह सर्वोच्च न्यायालय को सवेष्टित (pack) करने की दृष्टि से ऐसे व्यक्तियो का न्यायाधीश पद पर नियुक्त करने का परामर्श दे सकता है जो उसके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दर्शन के समर्थक हो। अप्रैल 1973 मे न्यायाधीश अजितनाथ रे की मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति इसी दिशा की ओर सकेत करती है ।

4 **भारतीय सविधान का विस्तृत स्वरूप**—भारतीय सविधान के विस्तृत एव स्पष्ट स्वरूप ने भी न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र को मर्यादित किया है । सघ और राज्यो मे विधायी शक्तियो के स्पष्ट एव विस्तृत उल्लेख ने तथा समवर्ती विषयो की लम्बी सूची और उस पर सघीय सरकार की सर्वोच्च सत्ता ने उनमे पारस्परिक मुकदमबाजी को प्रोत्साहन नही दिया । परिणामस्वरूप भारतीय सर्वोच्च न्यायालय सविधान के विकास मे यद्यपि कुछ मात्रा तक सहायक हो सकती है परन्तु वह अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की भाति व्यवस्थापिका के तृतीय सदन के रूप म विधान की निर्माता नही बन सकती और न ही निहित शक्तियो (Implied Powers) जसे सिद्धान्त का विकास कर सकती है ।

उपयुक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत मे न्यायिक पुनरावलोकन का क्षेत्र अमरीका की भाति अत्यन्त व्यापक या विस्तृत नही फिर भी कानूनो की बहुत बडी सख्या न्यायपालिका को कार्यपालिका के कार्यों की समीक्षा करने का अवसर प्रदान करती है ।

## न्यायिक पुनरावलोकन का मूल्याकन या न्यायिक पुनरावलोकन के पक्ष और विपक्ष मे तर्क

## ( Evaluation of Judicial Review or Arguments for and against Judicial Review )

न्यायिक पुनरावलोकन के सम्बन्ध म दो प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं । एक विचार इसके आलोचको का है जिनका कहना है कि इससे "न्यायिक निरकुशता

एव न्यायिक अत्याचार" का जन्म होता है, "प्रगतिशील एव लोक-कल्याणकारी नीतियां" को आघात पहुचता है, 'प्रतिक्रियावादी तत्वों' को बढावा मिलता है, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका मे अनावश्यक विरोधी समक्षता (hostile confrontation) का प्रश्न उठ खडा होता है तथा न्यायपालिका को विधान मण्डल की सर्वोच्च स्वामिनी या विधान मण्डल का परम सदन (Super House) बनने का अवसर मिलता है। सक्षेप म,न्यायिक पुनरावलोकन से सरकार के उस अग को (न्यायपालिका को) लोगो की इच्छा पर निर्णय देने का अवसर मिलता है जो उसकी अभिव्यक्ति नही करता। दूसरा विचार इसके समथकों का है जिनका कहना है कि स्वतन्त्र एव प्रजातान्त्रिक राजनीतिक सस्थाओ के सरक्षण के लिये नागरिको के मूल अधिकारो की कार्यपालिका निरकुशता और व्यवस्थापिका के अत्याचार से रक्षा के लिये तथा सविधान को अस्थायी सत्तारूढ दल के हाथो की कठपुतली बनने से बचाने के लिये न्यायिक पुनरावलोकन की आवश्यकता है।

न्यायिक पुनरावलोकन के विपक्ष मे तक—जिन आधारो पर न्यायिक पुनरावलोकन की आलोचना की गयी है उनम प्रमुख निम्न हैं —

1 न्यायालय की जन इच्छा को अभिव्यक्त नहीं करती—प्रजातन्त्र म जन इच्छा को अभिव्यक्त करने वाली सस्था ससद या व्यवस्थापिका होती है न्यायपालिका नही। इसलिय कानून निर्माण के क्षेत्र म अन्तिम निणय व्यवस्थापिका का हाना चाहिये। न्यायपालिका जन इच्छा की रक्षा कर सकती है उसे अभिव्यक्त नही कर सकती। इसलिये न्यायपालिका का अधिकार कानूनो की वैधानिक समीक्षा तक सीमित हाना चाहिये उन्हे उनके औचित्य और अनौचित्य को निर्धारित करने की क्षमता नही हानी चाहिये। न्यायिक पुनरावलोकन की असीमित शक्ति द्वारा जब न्यायालय की प्रवत्ति विधान के कार्यो को अपनान की बन जाती है तो वहा उसका हस्तक्षप अनुचित होता है। आलोचको का कहना है कि जहा न्यायिक पुनरावलोकन का डण्डा सवदा विद्यमान रहता है वहा न तो राजनीतिज्ञ अपनी सुधार या विकासवादी योजनाओ को कार्यान्वित करन म स्वतत्र समझते हैं और न ही जनता अपने आपको उनका (विधान सभाओ और राजनीतिज्ञो की) स्वामिनी समझती है। इस तरह लोक कल्याणकारी नीतियो का कार्यान्वित करना कठिन हो जाता है।

2 प्रगतिशील एव लोकतान्त्रिक नीतियों के विरुद्ध—आलोचको का कथन है कि समाज म मूलभूत परिवतन करन क लिय उग्र सुधारो की आवश्यकता होती है जिसे रूढ़िवादी कुलीन या उच्च वग क लोग स्वीकार नही करते। इतना ही नही वे इन नीतियो की कार्यान्विति म बाधा प्रस्तुत करत हैं। क्योकि न्यायाधीश प्राय उच्च एव कुलीन वग स सम्बन्धित हाते हैं इसलिय उनका दृष्टिकोण प्राय उसी वग क हितो की रक्षा करना होता है। डी० टॉकविल न एक बार कहा था कि यदि अमरीका मे कही कुलीनतन्त्र निवास करता है तो वह न्यायालयो मे है।" बैंक राष्ट्रीयकरण और प्रिवी पर्सो के मुकदमो म भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने जो निणय दिये वे आलोचको के इस कथन के भाव को व्यक्त करते हैं।

3 न्यायालय के निर्णयों में एकरूपता का अभाव—न्यायिक पुनरावलोकन पर सबसे तीव्र आलोचना इस आधार पर की गयी है कि न्यायालय के निर्णयों में स्थिरता एव एकरूपता नही रहती। इसके निर्णय कभी उदार तो कभी अनुदार भावनाओं से प्रेरित होते है, कभी इसका दृष्टिकोण सघ और कभी एककों के पक्ष मे होता है, कभी यह सामूहिक और कभी निजी हितों का समर्थन करती है। आलोचकों का यह भी कथन है कि न्यायाधीशों का निजी राजनीतिक दर्शन भी कभी कभी निर्णयों पर प्रभावित होता है। निर्णयों की इस परिवर्तनशीलता के कारण ही आलोचक कानून और न्याय की अनिश्चितता की बात करते है। जैसाकि बी० गेल्स ने लिखा है कि "न्यायिक विचार परिवर्तनशील सिल्क की भांति है जो राजनीतिक धूप के अनुरूप रग बदलते हैं।" उदाहरणतया जहा गोलकनाथ (1967) के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने ससद को मूल अधिकारों मे सशोधन करने की शक्ति से वचित किया वहा उसी न्यायालय ने केशवानन्द (1973) के मुकदमे मे मूल अधिकारों मे ही नही बल्कि सविधान की किसी भी धारा का सशोधित करने की ससद की शक्ति को स्वीकार किया।

पक्ष मे तर्क—उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी न्यायिक पुनरावलोकन की आवश्यकता और महत्त्व को कम नही आका जा सकता। वस्तुत प्रजातान्त्रिक, सघीय एव सभ्य समाजों मे इसकी आवश्यकता निर्विवाद है। सघीय राज्यों मे, सघीय और एककों की सरकारों मे क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध मे उत्पन्न होने वाले विवादों का निपटारा करने के लिये एक स्वतन्त्र एव निष्पक्ष मध्यस्थ की आवश्यकता होती है और न्यायपालिका से बढ कर और अधिक अच्छा, निष्पक्ष और स्वतन्त्र स्थान कोई नही हो सकता। दूसरे, सविधान के अभिरक्षक और निर्वचन के रूप मे न्यायिक पुनरावलोकन की आवश्यकता होती है। यदि न्यायालय के पास न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति न हो तो कार्यपालिका या व्यवस्थापिका पर लगायी गयी सवैधानिक सीमायें और प्रतिबन्ध "रद्दी के कागज के टुकडे" (scraps of paper) के समान निरर्थक बन कर रह जायगी। तीसरे, कार्यपालिका स्वच्छन्दता और व्यवस्थापिका निरकुशता से नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के लिये न्यायिक पुनरावलोकन की आवश्यकता होती है। न्यायिक पुनरावलोकन के अभाव मे नागरिक स्वतन्त्रतायें शासकों की 'दासी मात्र' बनकर रह जायेगी और सविधान सत्तारूढ दल के हाथों की कठपुतली मात्र बन जायगा।

स्पष्ट है कि न्यायिक पुनरावलोकन की आवश्यकता स्वयसिद्ध है और प्रत्येक सभ्य समाज मे यह न्यूनाधिक मात्रा मे विद्यमान है। यह सत्य है कि भारत के सविधान निर्माता सर्वोच्च न्यायालय को ससद का तृतीय सदन बनाने के इच्छुक नही थे परन्तु वे सविधान की पवित्रता (sanctity) की रक्षा अवश्य करना चाहते थे वे मूल अधिकारों को कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की निरकुशता से अवश्य सुरक्षित करना चाहते थे। यही कारण है कि भारत के सविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 13,

13 (2),32, 226 तथा अन्य अनुच्छेदों मे न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था का। जसाकि ग्रास्टिन ने लिखा है कि भारत के सविधान निर्माताओ ने "न्यायपालिकाओं को अधिकारो के विस्तार के रूप मे देखा क्योकि न्यायालयें ही अधिकारो को शक्ति प्रदान कर सकती थी। न्यायपालिका को सामाजिक क्रान्ति की एक भुजा के रूप में देखा गया था जिस उस समानता की रक्षा करनी थी जिसकी कामना भारतीयो ने औपनिवेशिक दिनो मे की थी परन्तु जिसे वे प्राप्त न कर सके।"1

## समीक्षा प्रश्न
## ( Review Questions )

1 न्यायपालिका की स्वतन्त्रता से आप क्या समझते हैं ? भारतीय सविधान सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिये क्या व्यवस्था की है ? तीन वरिष्ठ न्यायाधीशो का अतिलघन कर न्यायाधीश ए० एन० राय की मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति सर्वोच्च न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिये कहा तक उचित है ?

2 सर्वोच्च न्यायालय के सगठन, क्षेत्राधिकार और स्थिति का वर्णन कीजिये।

3 सविधान के अभिभावक और नागरिक अधिकारो के सरक्षक के रूप में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की क्या भूमिका है ?

4, भारत मे न्यायिक पुनरावलोकन की प्रकृति और वास्तविकता की विवेचना कीजिये।

5 न्यायिक पुनरावलोकन ने मूल अधिकारो और नीति निदेशक तत्वो मे तनाव की स्थिति को कहाँ तक उत्पन्न किया है ?

---

1 Austin, Granville Ibid, p 164

अध्याय 12

# राज्यपाल
## ( The Governor )

---

**परिचय (Introduction)**

केन्द्र मे कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति के पास निहित है और राज्य मे कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल के पास है । परन्तु भारतीय सविधान केन्द्र और राज्य दोनो मे ससदात्मक शासन प्रणाली की स्थापना करता है जिसका अर्थ यह है कि औपचारिक कार्यपालिका अध्यक्ष राज्य तो करता है परन्तु शासन नही करता । शासन तो वास्तविक कार्यपालिका अध्यक्ष (केन्द्र म प्रधान मन्त्री और राज्य म मुख्य मन्त्री) करता है । वास्तविक कार्यपालिका अध्यक्ष ही औपचारिक कार्यपालिका अध्यक्ष की शक्तियो का उपभोग करता है । भारतीय सविधान इस बात का स्पष्ट उल्लेख करता है कि राष्ट्रपति या राज्यपाल के कार्यों के निष्पादन मे "सहायता और परामर्श" देने (aid and advise) के लिए एक मन्त्रिमण्डल होगा ।[1] परन्तु भारतीय सविधान की एक विशेषता यह है कि जहा सविधान राष्ट्रपति को विवेकाधिकारो का कोई क्षेत्र प्रदान नही करता वहा अनुच्छेद 163(1) मे राज्यपाल को स्पष्टतया विवेकाधिकारो का क्षेत्र प्रदान किया गया है । यद्यपि सविधान राज्यपाल के विवेकाधिकार के क्षेत्र का विस्तार नही करता परन्तु फिर भी राज्यपाल का यह क्षेत्र उतना ही सकीर्ण और व्यापक है जितना कि राज्य की परिस्थितिया इसकी माग करती है या केन्द्र उसे जितना सकीर्ण या व्यापक बनाना चाहता है ।

**राज्यपाल की नियुक्ति एव विमुक्ति**—राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा पाच वर्ष के लिए की जाती है । राष्ट्रपति दो या दो से अधिक राज्यो के लिए तथा दो या दो से अधिक राज्यो और केन्द्र शासित प्रदेश या प्रदेशो के लिए एक ही राज्यपाल की नियुक्ति कर सकता है । राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त ही अपने पद पर बना रह सकता है । इसका अर्थ यह है कि

---

1 देखिए अनुच्छेद 74(1) और 163(1)

राष्ट्रपति राज्यपाल का पद विमुक्त कर सकता है, उसे समय से पूर्व वापस बुला सकता है, एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानान्तरण कर सकता है। पांच वर्ष का कार्यकाल समाप्त होने के बाद भी राज्यपाल उस समय तक अपने पद पर बना रह सकता है जब तक उसके उत्तराधिकारी की नियुक्ति न हो जाये। भारतीय संविधान में राज्यपाल को महाभियोग द्वारा हटाने की कोई व्यवस्था नहीं। राज्यपाल चाहे तो समय से पूर्व अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है।

राज्यपाल की नियुक्ति का उपयुक्त तरीका प्रान्तीय स्वायत्तता और संघीय सिद्धान्त के विपरीत है यद्यपि यह राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ता की दृष्टि से ठीक हो सकता है। जहां अमरीका जैसे संघीय राज्य की इकाइयों के राज्यपालों का इकाइयों की जनता निर्वाचित करती है और उन्हें महाभियोग द्वारा पदच्युत किया जा सकता है वहां भारतीय संघीय इकाइयों की जनता न तो राज्यपालों को नियुक्त करती है और न ही उन्हें महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है। आस्ट्रेलिया में राज्यों के राज्यपालों को क्राउन द्वारा अवश्य नियुक्त किया जाता है जिसका वास्तविक अर्थ है कि राज्यों के राज्यपालों को मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर नियुक्त किया जाता है परन्तु राज्यपाल किसी भी दृष्टि से केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी नहीं। स्पष्ट है कि जहां अमरीका में राज्य की जनता राज्य के कार्यपालिका अध्यक्ष का निर्वाचन करती है, जहां आस्ट्रेलिया में राज्य की जनता परोक्ष रूप से निर्वाचित मन्त्रिमण्डल के माध्यम से, उसकी नियुक्ति में भाग लेती है वहां भारत के राज्यों की जनता राज्य के कार्यपालिका अध्यक्ष की नियुक्ति में न तो प्रत्यक्षतः और न अप्रत्यक्षतः कोई भाग लेती है। राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में सम्बद्ध राज्य के मुख्य मन्त्री से 'परामर्श' की परम्परा का विकास अवश्य हुआ है परन्तु उसका सदैव पालन नहीं किया गया। यदि पश्चिमी बंगाल के मुख्य मन्त्री डा० बी० सी० राय के परामर्श पर श्रीमती पदमजा नायडू को (पश्चिमी बंगाल) राज्यपाल नियुक्त किया गया तो श्रीप्रकाश को मद्रास का और कुमार स्वामी राजा को उड़ीसा का राज्यपाल नियुक्त करते समय वहां के मुख्य मन्त्री से परामर्श नहीं लिया गया और मार्च 1969 में पश्चिमी बंगाल के मुख्य मन्त्री अजय मुकर्जी के विरोध पर भी धर्मवीर को वहां का राज्यपाल बनाये रखा गया। नेहरू काल में (1950–1964) जब कभी राज्यपाल की नियुक्ति के समय सम्बन्धित मुख्य मन्त्री से परामर्श नहीं किया गया तो इसका विरोध नहीं किया गया, प्रथम तो सभी राज्यों में सत्ता पर कांग्रेस का एकाधिकार था और दूसरे नेहरू का विरोध करने में किसी मुख्य मन्त्री का साहस न था। परन्तु जब 1967 के निर्वाचनों के बाद राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों का निर्माण हुआ तो राज्यपालों की नियुक्ति में जब कभी मुख्य मन्त्री से परामर्श नहीं किया गया तो इसका विरोध किया गया।

भारत मे राज्यपालो की नियुक्ति के सम्बन्ध मे दो अभिसमयो (परम्पराओ) का विकास किया गया है। प्रथम परम्परा के अनुसार राज्यपाल उस राज्य का निवासी नही होना चाहिये जिस राज्य का उसे राज्यपाल नियुक्त किया जाय। अर्थात् एक पजाबी पजाब का या महाराष्ट्रियन को महाराष्ट का राज्यपाल नियुक्त नही किया जाना चाहिए।[1] इस परम्परा के विकास ने जहा राष्ट्रीय एकता को बल दिया है वहा राज्यपाल को राज्य की दलबन्दी से दूर रखने म भी सहायता की है। दूसरी परम्परा के अनुसार किसी व्यक्ति को किसी राज्य के राज्यपाल के पद पर नामाकित करने से पूव अमुक राज्य के मुख्य मन्त्री से परामश (consult) कर लिया जाय। परन्तु यह परम्परा राज्य के मुख्य मन्त्री या मन्त्रिमण्डल के पास कोई निषेधाधिकार (Veto) प्रदान नही करती जिसका प्रयोग वह उस समय कर सकता हो जब केन्द्र राज्यपाल की नियुक्ति करते समय अमुक राज्य के मुख्य मन्त्री या मन्त्रिमण्डल से परामश न करे या उसके परामश को स्वीकार न करे। जसाकि ऊपर कहा गया है कि इस परम्परा का पालन सवदा नही किया गया। इतना ही नही केन्द्रीय गह म त्री ने 17 नवम्बर, 1967 को लोक सभा मे स्पष्ट कहा था कि 'राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति मे मुख्य मन्त्री का कोई निषेधाधिकार नही।"

दुर्भाग्य की बात यह है कि राज्यो के राज्यपाल की नियुक्ति मे केन्द्र ने किसी स्पष्ट या निष्पक्ष नीति का अनुसरण नही किया। कभी-कभी ऐसे व्यक्तियो को राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया गया जिन्हे प्रशासनिक अनुभव भी था और राजनीतिक समस्याओ का गहन अध्ययन भी जसे सी० राजगोपालाचाय, डा० के० एन० काटजू, एन० वी० गाडगिल, सरोजनी नायडू, अरुणा आसफ अली, के० एम० मुन्शी आदि। कभी कभी ऐसे नौकरशाहो को नियुक्त किया गया जिन्हे प्रशासनिक अनुभव तो था परन्तु जिनमे लोकतान्त्रिक आकाक्षाओ और प्रणालियो को अपनाने की क्षमता और राजनीतिक घटनाओ और प्रवृत्तियो को पहचानने और उनका सही विवेचन करने की क्षमता या इच्छा का अभाव था जसे पश्चिमी बगाल के भूतपूव राज्यपाल धमवीर। कभी कभी न्याय, शिक्षा और सेना के क्षेत्र मे निपुण और तजस्वी व्यक्तियो को राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया गया जसे फजल अली, डा० ए० एन० खोसला, डा० डी० सी० पावत जी० एस पाठक आदि। कभी-कभी तो ऐसे व्यक्तियो को राज्यपाल नियुक्त किया गया ह जो निर्वाचन मे पराजित हो गये थे अर्थात् जिन्ह जनता न अस्वीकार कर दिया था परन्तु जिन्ह सत्तारूढ दल अपने राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए या अवाछित राजनीतिज्ञो अर्थात दल के

1 इस परम्परा मे केवल दो ही अपवाद हुए हैं एक थी एच० सी० का और दूसरा श्रीमती पदमाजी नायडू का जिन्ह पश्चिमी राज्यपाल नियुक्त किया गया।

सदस्यो को केन्द्र या राज्य की राजनीति से दूर करने के साथ सन्तुष्ट भी करना चाहती थी। जैसे हफीस मुहम्मद इब्राहिम, डा० सम्पूर्णानन्द, श्रीमन सच्चर आदि। कभी कभी तो देशी रियासतों के राजाओं को भी नियुक्त किया गया जैसे मैसूर के महाराजा, सरदार हुक्म सिंह, अकबर अली खां आदि।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में केन्द्र ने न तो संवैधानिक भावनाओं का आदर किया है और न ही निष्पक्ष और स्वच्छ परम्पराओं का विकास किया है। निर्वाचनों में पराजित राजनीतिक नेताओं के लिए राज्यपाल के पद को विश्राम गृह बनाना न केवल राजनीतिक अनैतिकता है बल्कि राज्य की जनता के साथ खिलवाड़ है और स्वस्थ प्रजातान्त्रिक संसदात्मक प्रणाली के साथ मजाक है। इसे बुझते हुए राजनीतिक नेताओं और मध्यम श्रेणी (mediocrities) के व्यक्तियों के लिये लाभ का पद नहीं समझना चाहिए, बल्कि उन्हीं व्यक्तियों को इस पद नियुक्त करना चाहिए जिनमें प्रशासनिक योग्यतायें हों, जिनका नैतिक स्तर उच्च कोटि का हो जो सार्वजनिक भावना से ओत प्रोत हों, जिनकी ईमानदारी और चरित्र पर कोई आक्षेप न किया जा सके और जो एस सार्वजनिक लोग हों जिनमें प्रजातान्त्रिक संसदात्मक ढंग से कार्य करने की इच्छा हो और जो राजनीति के सूक्ष्म प्रश्नों का निष्पक्षता से जांचने और परखने की योग्यता रखते हों।

योग्यतायें—राष्ट्रपति उसी व्यक्ति को राज्यपाल के पद पर नियुक्त कर सकता है जिसके पास निम्न योग्यतायें[1] हों—

(i) वह भारत का नागरिक हो।

(ii) वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

(iii) वह किसी लाभ के पद पर नियुक्त हो।

(iv) वह संसद या राज्य विधान मण्डल के किसी सदन का सदस्य न हो।

यदि संसद या राज्य विधान मण्डल के किसी सदस्य को राज्यपाल नियुक्त किया जाता है तो उसका पद उस समय से रिक्त माना जाता है जिस समय वह राज्यपाल का पद सम्भालता है अर्थात उसे अपनी सदस्यता से त्याग पत्र देना पड़ता है।

पद की शपथ (Oath of office)—राज्यपाल राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश या उसकी अनुपस्थिति में उच्च न्यायालय के अन्य वरिष्ठ न्यायाधीश के समक्ष अपने पद की शपथ लेता है। इस शपथ में राज्यपाल संविधान की रक्षा करने और राज्य की जनता के कल्याण और सेवा करने की शपथ लेता है। इस तरह संविधान राज्यपाल से निष्पक्षता, न्यायप्रियता, व्यापक दृष्टिकोण और राष्ट्रीय एकता की मांग करता है।

---

1 Arts 157 and 158(1) and 158(2)

**वेतन और भत्ते** (Salary & Allowances) —राज्यपाल को 5,500 रु० मासिक वेतन के रूप मे प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त उसे रहने के लिए मुफ्त (बिना किराये के) भवन मिलता है। इसे अनेक प्रकार के अन्य भत्ते और सुविधायें भी प्राप्त हैं[1] जिन्हे संसद के कानून द्वारा निर्धारित किया जाता है। राज्यपाल के कार्यकाल में उसके वेतनो, भत्तो तथा अन्य सुविधाओं को घटाया नही जा सकता।

**उन्मुक्तियां** (Immunities)—संविधान राज्यपाल को कुछ उन्मुक्तियां[2] भी प्रदान करता है जैसे अपने कार्यों को करने और शक्तियो के प्रयोग के लिये वह न्यायालयो के प्रति उत्तरदायी नही। उसके कार्यकाल मे उसके विरुद्ध किसी प्रकार की फौजदारी कार्यवाही नही की जा सकती और न ही उसे हिरासत में लेने के लिये वारण्ट (warrant) जारी किये जा सकते हैं।[3]

**राज्यपाल के कार्य एवं शक्तियां**—संवैधानिक अध्यक्ष के रूप मे राज्यपाल की शक्तियां राष्ट्रपति के समान ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहां राष्ट्रपति के पास कूटनीतिक, सैनिक व संकटकालीन शक्तियां भी हैं वहां राज्यपाल के पास ऐसी कोई शक्तियां नही। इतना ही नही संकटकाल मे तो राज्यपाल केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में कार्य करता है। दूसरे जहां अनुच्छेद 163 (1) राज्यपाल को विवेकाधिकार प्रदान करता है वहां अनुच्छेद 74 (1) राष्ट्रपति को कोई विवेकाधिकार (discretionary powers) प्रदान नही करता। अनुच्छेद 163 (1) इस बात का स्पष्ट उल्लेख करता है कि 'राज्यपाल विवेक की शक्तियो को छोडकर अन्य सभी क्षेत्रों में मंत्रि-परिषद् के परामर्श पर ही कार्य करेगा।'

राज्यपाल के कार्यों और शक्तियां का अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है —

**1 कार्यपालिका की शक्तियां**[4]—राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियां निम्न है —

(a) राज्य की कार्यपालिका शक्तियां राज्यपाल मे निहित है। वह कार्यपालिका प्रधान है और उसका कार्यक्षेत्र राज्य सूची मे दिये गये विषयों तक सीमित है। समवर्ती सूची में दिये गये विषयों पर उसकी शक्ति राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्ति के अधीन है। राज्य का सारा कार्य राज्य के राज्यपाल के नाम पर चलाया जाता है।

(b) राज्यपाल अपनी कार्यपालिका शक्तियो का प्रयोग स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा कर सकता है।

---

1 Art 159
2 देखिये अनुच्छेद 158 (3) और अनुसूची 2
3 Art 361
4 See Art 164

(c) राज्यपाल अनेक प्रकार की नियुक्तियां करता है। वह राज्य के मुख्य मन्त्री को नियुक्त करता है और उसके परामर्श पर मन्त्रिपरिषद् के अन्य मन्त्रियों को नियुक्त करता है। राज्य के महाधिवक्ता (Advocate General), लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्तियां राज्यपाल करता है। राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के समय राष्ट्रपति राज्यपाल से परामर्श करता है।

(d) राज्यपाल मन्त्रिमण्डल के कार्य संचालन के नियमों का निर्माण करता है। मुख्य मन्त्री के परामर्श पर मन्त्रियों में विभागों का वितरण करता है।

(e) राज्यपाल मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों को अपने पद और उसकी गोपनीयता की शपथ दिलाता है, उनके त्याग-पत्र स्वीकार करता है तथा उन्हें, मुख्य मन्त्री सहित पदच्युत करता है। आवश्यकतानुसार वह मन्त्रियों को चेतावनी, मन्त्रणा और प्रोत्साहन दे सकता है।

(f) प्रशासन के सम्बन्ध में राज्यपाल मुख्य मन्त्री से सूचनायें प्राप्त कर सकता है तथा अन्य आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकता है। मुख्य मन्त्री का भी यह दायित्व है कि वह मन्त्रिपरिषद् के सभी निर्णयों और नीतियों से राज्यपाल को अवगत कराये। राज्यपाल किसी मन्त्री द्वारा लिये गये व्यक्तिगत निर्णय को समूचे मन्त्रिपरिषद के विचारार्थ रखने की मांग कर सकता है।

(g) राज्यपाल राज्य में संवैधानिक तन्त्र की असफलता की सूचना राष्ट्रपति को दे सकता है और स्थितिनुसार पूर्ण या अर्द्ध संकट की सिफारिश कर सकता है। यदि संवैधानिक या अन्य किसी प्रकार के संकट की घोषणा राष्ट्रपति करता है तो राज्यपाल केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में कार्य करता है।

(h) राज्यपाल राज्य के विश्व विद्यालयों के कुलपति के रूप में भी कार्य करता है।

(i) कुछ राज्यों के राज्यपालों को विशेषाधिकारों से भी विभूषित किया गया है। जैसे आन्ध्र और पंजाब के राज्यपाल प्रादेशिक समितियों के सुझावों पर विचार की स्थिति में निर्णय देते हैं, असम के राज्यपाल को प्रजातीय क्षेत्रों के प्रबन्ध के लिये विशेष अधिकार है। इसी प्रकार सिक्किम[1] के राज्यपाल को शान्ति स्थापित करने के लिये तथा अन्य प्रकार की स्थितियों का सामना करने के लिये विशेषाधिकार दिये गये हैं।

2 विधायी शक्तियाँ—राज्यपाल राज्य विधान मण्डल का सदस्य नहीं होता परन्तु फिर भी वह उसका अभिन्न अंग है। उसकी विधायी शक्तियाँ निम्न हैं —

---

1 36 वें संशोधन द्वारा सिक्किम शुक्रवार, 17 मई 1975 को भारत का 22वां राज्य बना।

(१) वह राज्य विधान मण्डल के अधिवेशन बुला सकता है, उसके किसी सदन का सत्रावसान कर सकता है तथा राज्य विधान सभा को किसी भी समय भग कर सकता है।

(b) वह राज्य विधान मण्डल के दोनो सदनो (जहा राज्य विधान मण्डल के दो सदन हैं जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, मसूर, तमिलनाडु आदि मे) को इकट्ठा या पृथक पृथक् रूप से सम्बोधित कर सकता है। साधारण निर्वाचन के पश्चात उद्घाटन भाषण तथा प्रति वर्ष पहले सत्र म राज्यपाल सदन को सम्बोधित करता है।

(c) राज्यपाल विधान मण्डल के विचारार्थ कोई सन्देश भेज सकता है।

(d) विधान मण्डल द्वारा पास किये गये विधेयक उसकी अनुमति के बिना लागू नही किये जा सकते अर्थात विधेयक तभी कानून का रूप धारण कर सकते है जब राज्यपाल उनकी अनुमति दे देता है। वित्तीय विधेयको को छोडकर राज्यपाल चाहे तो विधेयको पर अपनी अनुमति दे सकता है, अनुमति देने से इन्कार कर सकता है या उन्हे पुनर्विचार के लिये विधान सभा को लौटा सकता है। राज्यपाल द्वारा लौटाये गये विधेयको को यदि राज्य विधान सभा पुन पास कर देती है तो राज्यपाल उस पर दोबारा अनुमति देने से इन्कार नही कर सकता। कुछ विधेयको को राज्यपाल राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रख सकता है। उदाहरणतया सावजनिक उद्देश्यो के लिए अभिग्रहीत की जाने वाली सम्पत्ति के सम्बन्ध मे बनाये गय विधेयको को राज्यपाल राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रख सकता है। सक्षेप मे, राज्यपाल को विधेयको पर निषेधाधिकार (Veto) प्राप्त है।

(e) यदि राज्य विधान सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष (Speaker & Dy Speaker) का पद रिक्त होता है तो राज्यपाल किसी विधान सभा के किसी सदस्य को उसकी बठको की अध्यक्षता करने के लिये नियुक्त कर सकता है। ऐसा व्यक्ति उसी समय तक काय करता है जब तक विधान सभा द्वारा अध्यक्ष को निर्वाचित नही कर लिया जाता। इस प्रकार राज्य विधान परिषद के सभापति और उपसभापति (Chairman & Vice Chairman) का पद रिक्त हो जाता है तो राज्यपाल राज्य विधान परिषद के किसी सदस्य को सक्रमण काल के लिये सभापति नियुक्त कर सकता है।

(f) विधान मण्डल के अवकाश काल म स्थिति की माग के अनुसार राज्यपाल अध्यादेश जारी कर सकता है। इनकी शक्ति राज्य विधान मण्डल द्वारा पास किये गए कानूनो के समान होती है। ये अध्यादेश विधान मण्डल के सत्र म आन के छ सप्ताह बाद तक जारी रहते है। यदि इन छ सप्ताहो के अन्दर विधान मण्डल स्वीकृत नही करती तो इस काल के बाद वह अध्यादेश स्वय समाप्त हो जाते यदि राज्यपाल चाहे तो उसे पहले भी वापस ले सकता है। राज्यपाल उन ि

सम्बन्ध में अध्यादेश जारी नही कर सकता जिन पर राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति की आवश्यकता है या जिन्हे राज्यपाल राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखता है।

(g) लोक सेवा आयोग और लेखा परीक्षक द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनो को राज्यपाल विधान मण्डल के समक्ष प्रस्तुत करता है।

(h) निर्वाचन आयोग के परामर्श पर राज्यपाल किसी सदस्य की योग्यता न रहने पर निर्णय देता है।

(i) राज्यपाल आंग्ल भारतीयों में से एक व्यक्ति को राज्य विधान मण्डल में नामांकित कर सकता है यदि उसका यथोचित प्रतिनिधित्व विधान मण्डल में न हो।[1] जिन प्रान्तो में विधान मण्डल के उच्च सदन (राज्य विधान परिषद्) विद्यमान हैं उनमे राज्यपाल कुल सदस्यो का 1/6 भाग मनोनीत कर सकता है। मनोनीत किये गए सदस्यो का सम्बन्ध विज्ञान, साहित्य, कला, समाज सेवा, सहकारी आन्दोलन आदि क्षेत्रो से होता है।

3 वित्तीय शक्तियां—राज्यपाल की वित्तीय शक्तियां निम्न हैं —

(a) वित्तीय विधेयकों को राज्य विधान मण्डल में प्रस्तुत करने से पूर्व राज्यपाल की पूर्व अनुमति की आवश्यकता है।

(b) वित्तीय वर्ष के आरम्भ होने से पूर्व राज्यपाल वार्षिक वित्त विवरण (Annual financial statement) को विधान मण्डल के समक्ष प्रस्तुत करता है जिसमे आगामी वर्ष के खर्चो और आय का विवरण होता है।

(c) राज्य विधान मण्डल वार्षिक वित्तीय विवरण में कटौती कर सकती है।

(d) राज्यपाल पूरक अतिरिक्त या अति व्यय के बजटो को विधान मण्डल में प्रस्तुत कर सकता है।

(e) राज्य विधान मण्डल से स्वीकृत होने से पूर्व राज्यपाल राज्य की आकस्मिकता निधि (Contingency Fund of the State) से अदृष्ट व्ययो (Unforeseen expenditures) की पूर्ति की आज्ञा दे सकता है।

4 न्यायिक शक्तियां—राज्यपाल की न्यायिक शक्तियां निम्न हैं —

(a) जिला न्यायाधीशों और अन्य न्यायिक अधिकारियो की नियुक्ति तैनाती (Posting) और पदोन्नति से सम्बन्धित विषयो का निर्णय कर सकता है। राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति के समय राष्ट्रपति राज्यपाल से परामर्श करता है।

(b) राज्य की कार्यपालिका शक्ति अर्थात् राज्य सूची में दिए गए विषयों के सम्बन्ध में, न्यायालय द्वारा दण्डित किए गए व्यक्तियों को क्षमा कर सकता है या उनके दण्ड को निलम्बित या स्थगित कर सकता है।

---

1 दर्गिय 23 का संशोधन।

(c) उसके कार्यकाल मे अर्थात जब तक राज्यपाल अपने पद पर आरूढ है तब तक उस पर कोई दीवानी या फौजदारी मुकदमा नही चलाया जा सकता ।

**5 विवेकाधिकार शक्तियाँ**—अनुच्छेद 163 (1) के अतगत राज्यपाल को कुछ विवेकाधिकार शक्तिया प्रदान की गयी है ।[1] यद्यपि सविधान राज्यपाल के इन विवेकाधिकारा का स्पष्ट उल्लेख नही करता परतु सविधान अनुच्छेद 163 (2) मे इस बात की स्पष्ट व्यवस्था करता है कि इस बात का निर्धारण करना स्वय राज्यपाल का क्षेत्राधिकार है कि कौनसा काय उसके विवेकाधिकार के अन्तगत आता है । राज्यपाल के इस निणय को न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती कि अमुक विषय उसके विवेकाधिकार के अतगत है या नही । इन विवेकाधिकार शक्तिया का प्रयोग राज्यपाल अपने विवेक या व्यक्तिगत निणय से करता है, इस सम्बध मे उसे मन्त्रिपरिषद से परामश लेन की आवश्यकता नही ।

वस्तुत राज्यपाल के विवेकाधिकार राज्य की राजनीतिक स्थिति पर निर्भर करते हैं । यदि राज्य मे स्थिति सामाय है और विधान मण्डल मे मन्त्रिपरिषद का स्पष्ट बहुमत है तो राज्यपाल के विवेकाधिकार प्राय नगण्य हैं । राज्यपाल सस‍दा-त्मक प्रणाली का सवधानिक अध्यक्ष है अत इस स्थिति मे राज्य की वास्तविक शक्ति मुख्य मत्री और उसकी मत्रिपरिषद के पास होती है और राज्यपाल मुख्य मन्त्री के परामश को मानने के लिये बाध्य होता है परतु यदि स्थिति असामान्य है या विधान मण्डल मे मत्रिपरिषद की स्थिति अस्थिर है, या उसका [illegible] या वह बेमेल राजनीतिक दला का समूह है तो राज्य मे राज्यपाल के विवेकाधिकार का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितना कि काई पदाधिकारी [illegible] केन्द्र उसको आज्ञा, निर्देशन या परामश देता है ।

राज्यपाल के विवेकाधिकारा का पूर्ण [illegible] पिछले 25 वर्षों के सवधानिक इतिहास म, [illegible] 1967 के [illegible] के बाद, राज्य की राजनीतिक अस्थिरता और [illegible] राज्यपाल ने विवेकाधिकारा का प्रयाग किया है [illegible]

**A राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति में** [illegible]

(i) मुख्य मन्त्री का चयन, [illegible] विधान मण्डल को समय से पूव भग करना ।

(iii) विधेयकों को स्वीकार या अस्वीकार करना, उन्हें पुनर्विचार के लिए लौटाना या राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखना।[1]

(iv) अध्यादेशों को जारी करना। परन्तु महत्त्वपूर्ण विषयों पर अध्यादेशों को जारी करने से पूर्व वह राष्ट्रपति से निर्देश प्राप्त करता है।

(v) राष्ट्रपति को राज्य में संवैधानिक तन्त्र की असफलता की सूचना देना और मन्त्रि परिषद् के परामर्श के विरुद्ध भी, पूर्ण या अर्द्ध संकट की सिफारिश करना। संकट की घोषणा होने पर राज्यपाल केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में कार्य करता है।

(vi) जब कभी राष्ट्रपति किसी राज्यपाल को निकटवर्ती केन्द्र प्रशासित क्षेत्र का प्रशासक (Administrator) नियुक्त करता है तो वह अपने कार्यों को स्वतन्त्र रूप से करता है।

(vii) जब कभी केन्द्र और राज्य की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई संघर्ष (द्वन्द्व) उत्पन्न हो जाता है तो उस समय भी राज्यपाल अपने विवेकाधिकारों का प्रयोग कर सकता है।

(viii) कुछ राज्यों के राज्यपालों को कुछ विषयों के प्रबन्ध के लिए विवेकाधिकार प्रदान किये गये हैं जैसे असम के राज्यपाल को कबायली और सीमान्त क्षेत्रों के प्रशासन के लिए विवेकाधिकार प्राप्त है नागालैण्ड का राज्यपाल विरोधी नागाओं की हिंसक गतिविधियों का सामना करने के लिए विवेकाधिकारों का प्रयोग कर सकता है। सिक्किम के राज्यपाल को सिक्किम की जनता के विभिन्न वर्गों के आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए समान प्रबन्ध करने के लिए, राष्ट्रपति के आदेशानुसार, राज्यपाल अपने विवेकाधिकारों का प्रयोग कर सकता है।

**B राजनीतिक स्थिरता की स्थिति में राज्यपाल के विवेकाधिकार**

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राज्य की राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति में अर्थात संयुक्त सरकारों के युग में राज्यपाल के विवेकाधिकारों का क्षेत्र व्यापक बन जाता है परन्तु राजनीतिक स्थिरता की स्थिति में भी कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहां राज्यपाल के विवेकाधिकारों का प्रयोग किया जा सकता है। इस क्षेत्र में आने वाले विषय मूलतः वे हैं जो राज्य क्षेत्र में नहीं आते और जिनका उल्लेख संविधान के अध्याय XI के अनुच्छेद 256 257 (1) और 258 (1) में किया गया है। इन अनुच्छेदों के अनुसार केन्द्र राज्यों की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में निर्देश दे सकता है, राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार ही किया जाये कि वह संसद द्वारा निर्मित कानून के अनुपालन को आश्वस्त (ensure) करे', 'केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में बाधा प्रस्तुत न करे या उस पर प्रतिकूल प्रभाव न डाले", आदि। इसका अर्थ यह है कि जब कभी कोई राज्य कार्यपालिका केन्द्र के निर्देशों की उपेक्षा करती

---

1 Art 200

है या ऐसे कार्यों को करती है जो केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग मे वाधा डालते है तो राज्यपाल केन्द्र के निर्देशानुसार अपने विवेकाधिकारो का प्रयोग कर सकता है । अनुच्छेद 258 (I) के अनुसार राष्ट्रपति, राज्य सरकार की सहमति से, शर्तों या बिना शर्तों के केन्द्र की कायपालिका शक्ति के अन्तर्गत आने वाले विषयो का प्रबन्ध करने के लिए, राज्य सरकार या उसके पदाधिकारियो का काय सौंप सकता है ।

## राज्यपाल की भूमिका और स्थिति या क्या राज्यपाल सवैधानिक अध्यक्ष है या कि वास्तविक अध्यक्ष है ? या क्या राज्यपाल केन्द्र का अभिकर्ता है ?

**(Role and position of the Govenor) Or Is Governor a Constitutional or real executive ? Or Is Governor an agent of the Centre ?)**

राज्य प्रशासन म राज्यपाल की भूमिका और स्थिति के सम्बन्ध मे जो भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये गये है उन्हें निम्न शीर्षको के अन्तगत अध्ययन किया जा सकता है —

1 सवधानिक अध्यक्ष के रूप मे—कुछ सवधानिक पण्डितो, विधि वेत्ताओ, राजनीतिज्ञो और लेखको का यह विचार है कि राज्यपाल की राज्य प्रशासन मे भूमिका और स्थिति सवधानिक अध्यक्ष से बढ कर नही। यह विचारधारा इस मान्यता पर आधारित है कि भारत के सविधान निर्माताओ ने केन्द्र और राज्यो मे ससदात्मक प्रणाली को स्थापित किया है। क्योकि ससदात्मक प्रणाली के अन्तगत औपचारिक कायपालिका अध्यक्ष नाम मात्र का अधिकारी होता है और क्याकि उसका अपना कोई व्यक्तिगत उत्तरदायित्व नही होता अत राज्यपाल, केन्द्र मे राष्ट्रपति की भाति, एक सवधानिक अध्यक्ष है । ससदात्मक प्रणाली की दूसरी विशेषता यह होती है कि कायपालिका अध्यक्ष की वास्तविक शक्तियो का उपभोग मन्त्रिमण्डल करता है जो व्यवस्थापिका के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है ।

राज्यपाल की सवैधानिक स्थिति को सविधान सभा मे भी व्यक्त किया गया था । सविधान सभा मे बोलते हुए डा० अम्बेदकर ने कहा था कि "शक्तियो की बात तो दूर, राज्यपाल के तो कोई काय ही नही, उसके तो केवल कतव्य है ।"[1] के० एम० मुन्शी ने भी अपने विचारो को अभिव्यक्त करते हुए कहा था कि "राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल की इच्छा के विरुद्ध काम करने का कोई अधिकार नही । उसकी स्थिति तो ब्रिटेन मे राजा या रानी जैसी है ।" टी० टी० कृष्णमाचारी ने भी कहा था कि राज्यपाल एक 'सवधानिक अध्यक्ष है जिसके पास वास्तविक प्रशासन मे हस्तक्षेप

---

1 C A D Vol VIII 546-47 डा० अम्बेदकर ने राज्यपाल के केवल दो कतव्य ही गिनाये थे (i) मन्त्रिमण्डल को बनाये रखना और (ii) उसे परामश, प्रोत्साहन और चेतावनी देना । उसको यह भी धारणा थी कि राज्यपाल मन्त्रिमण्डल के परामश को मानने के लिए वाध्य है ।

करने की कोई शक्ति नही।" एच० वी० कमथ ने तो राज्यपाल की तुलना उस कठ पुतली से की है जिसे एक तरफ मुख्यमन्त्री नियन्त्रित करता है तो दूसरा तरफ राष्ट्र पति, जिसका वास्तविक अर्थ है प्रधान मन्त्री।" वतमान लेखका म स भी अनेक की यही विचारधारा है कि राज्यपाल एक सवैधानिक अध्यक्ष है। जसाकि एम० पी० शर्मा ने लिखा है कि "राज्यपाल अपने राज्य का उसी प्रकार सवधानिक अध्यक्ष है जिस प्रकार राष्ट्रपति केन्द्र म सवधानिक अध्यक्ष है। वह (राज्यपाल) ऐसा राष्ट्रपति है जिसके पास सकटकालीन और सक्रमणकालीन शक्तिया का अभाव है।' न्यायालयो ने भी राज्यपाल की सवैधानिक स्थिति को अवलोकित किया है। जसाकि सन् 1950 म कलकत्ता उच्च न्यायालय ने सुनील कुमार बोस बनाम मुख्य सचिव बगाल सरकार के मुकदम म प्रेक्षण (observed) किया था कि "वतमान सविधान के अन्तगत राज्य पाल अपन मन्त्रिया के परामश क बिना काय नही करवा सकता विवेकाधिकार या व्यक्तिगत निणय के अन्तगत काय करने की शक्ति को उससे छीन लिया गया है।" हाल ही म पजाब न्यायिक सेवा क दो प्रशिक्षार्थी अधिकारियो की एक अपील के निणय म सर्वोच्च न्यायालय की सवधानिक पीठ ने इस प्रश्न पर कि क्या राष्ट्रपति और राज्यपाल क वास्तविक अधिकार हैं? यह विचार अवलोकित किया कि 'सविधान की अनेक धाराओ म राष्ट्रपति और राज्यपालो को जो अधिकार दिय गये हैं और जो सरकार क दिन प्रतिदिन के काय के लिए असाधारण महत्त्व के हैं, उनको यदि वास्तविक अधिकार मान लिय जायें तो ससदीय लोकतन्त्र धोखा बन जायगा तथा मतदान भारी खर्च स होन वाली निरथक प्रक्रिया मात्र रह जायेगी, एसी स्थिति म हम यह मानने के लिए बाध्य होना पडेगा कि सत्ता के दो केन्द्र है परन्तु इस भान्ति को अस्वीकृत ही करना पडेगा।'[1] स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय की दृष्टि म भी राष्ट्रपति और राज्यपाल के कोई वास्तविक अधिकार नही, वे तो केवल सवधानिक अध्यक्ष ही है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से सन् 1967 के काल तक राज्यो के राज्यपालो ने भी अपनी सवधानिक स्थिति को पूणतया स्वीकार कर लिया था। डा० पट्टाभि सीता रमया जसे भूतपूव राज्यपालो का मत है कि राज्यपाल का पद "अतिथि सत्कार और "राष्ट्रपति को एक पखवारे म प्रतिवेदन' देने के लिए है', भूतपूव राज्यपाल श्री प्रकाश का मत है कि राज्यपाल का पद "चिन्हित पक्तियो पर हस्ताक्षर करन से बढ कर नही। एच० पी० मोदी की धारणा है कि 'सवधानिक अध्यक्ष होने स राज्यपाल के कोई विशेष काय नही।' उत्तर प्रदेश के भूतपूव राज्यपाल सरोजनी नायडू का मत है कि राज्यपाल उस पक्षी की भाति है जो सोने के पिंजरे म बन्द है।[2] जब राज्यपालो ने नेहरू जी स अपनी स्थिति के सम्बन्ध म शिकायत की तो

1 देखिये दिनमान 8 9 1974 पृ० 39
2 Quoted by Rao Dr K V in his Article 'The Governor at work Journal of Society for the Study of State Governments Vol I, p 93

नेहरू जी ने उत्तर देते हुए कहा कि "उन्हें शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं" (no business to complain) स्वयं नेहरू जी ने राज्यपाल की स्थिति को अभिव्यक्त करते हुए कहा था कि उनका कार्य "लोगों का मनोरंजन कर उन्हें प्रसन्न रखना है।"[1] सन् 1967 तक राज्यपालों की इस स्थिति का मूल कारण यह था कि केन्द्र और राज्यों मे सत्ता पर एक ही दल (कांग्रेस) का एकाधिकार था। अतः राज्यपाल की शक्तियों को उभरने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था क्योंकि राज्यों मे न तो राजनीतिक अस्थिरता थी और न केन्द्र और राज्यों मे गम्भीर संघर्ष उत्पन्न हुए थे। अतः सभी क्षेत्रों मे राज्यपाल को संवैधानिक अध्यक्ष ही समझा जाता था।

2 **विवेकाधिकार शक्तियों के उपभोक्ता के रूप मे**—विवेकाधिकार शक्तियों के उपभोक्ता के रूप मे राज्यपाल की भूमिका तब उभर कर सामने आयी जब सन् 1967 के चतुर्थ निर्वाचनों मे राज्यों की राजनीति मे मौलिक परिवर्तन हुआ, सत्ता पर कांग्रेस का एकाधिकार खण्डित हुआ, अनेक राज्यों मे गैर कांग्रेसी सरकारों का निर्माण हुआ और कांग्रेस को विरोध पक्ष मे बैठना पड़ा। राज्यों की राजनीतिक अस्थिरता ने, विधान सभा मे किसी दल के स्पष्ट बहुमत के अभाव ने, दल बदलुओं की राजनीति ने, सत्तारूढ दल या दलों मे फूट ने और प्रचलित सिद्धान्तहीन राजनीति ने राज्यों के राज्यपालों को अनेक अवसर प्रदान किये जिनमे वे अपने विवेकाधिकारों का प्रयोग स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते थे। अतः राज्यपाल के जिस पद को विनयी, निष्क्रिय, संवैधानिक, 'अतिथियों का सत्कार करने वाला", "चिन्हित पंक्तियों पर हस्ताक्षर करने वाला' समझा जाता था वही राज्यपाल का पद एकायक उभर कर सामने आया और उसकी वास्तविकता, सक्रियता और महत्त्व को प्रतिलक्षित करना शुरू कर दिया। यह स्पष्ट होने लगा कि राज्यपाल संवैधानिक अध्यक्ष होते हुए भी केवल नाम मात्र का अधिकारी नहीं, वह रबड की मोहर नहीं या ब्रिटेन के राजा या रानी की भांति "स्वर्णिम शून्य" नहीं बल्कि वह ऐसा पदाधिकारी है जो राज्य के प्रशासन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। जैसाकि अलादी कृष्ण स्वामी ने संविधान सभा मे कहा था कि हो सकता है राज्यपाल को "यदाकदा अपनी असाधारण शक्तियों का प्रयोग करना पड़े।" ठाकुर दास भार्गव ने भी कहा था कि यह गलत है कि राज्यपाल केवल "डमी या स्वचालित यन्त्र" (Dummy or automation) है।" पंजाब न्यायिक सेवा के दो प्रशिक्षार्थी अधिकारियों की एक अपील के निर्णय के दौरान सर्वोच्च न्यायालय की संवैधानिक पीठ के दो न्यायाधीशों ने यह विचार व्यक्त किया कि 'केवल असाधारण और विख्यात परिस्थितियों को छोड़कर राष्ट्रपति और राज्यपालों के लिए अपने संवैधानिक और औपचारिक अधिकारों के उपभोग मे अपने मन्त्रियों की सलाह पर काम करना अनिवार्य है।" दूसरे शब्दों मे न्यायालय के विचार मे, साधारण परिस्थितियों मे मन्त्रियों की राय राष्ट्रपति या राज्यपाल की राय है।

1 Quoted by Rao, Dr K U Ibid

न्यायिक मत के अनुसार "भारत म मंत्रिमण्डलीय लोकतन्त्र है, इसके बावजूद राष्ट्रपति (या राज्यपाल) एक गम्भीरतापूर्ण शून्य नहीं है, वह राज्य के गौरव का प्रतिनिधि है तथा दलगत राजनीति म ऊपर होने के कारण वह जनता तथा राजनीतिक पार्टियों के बीच समन्वय का माध्यम है, यदि वह सलाह देने के अपने अधिकार का प्रोत्साहन और चेतावनी देने म उपयोग करे तो उसकी गरिमापूर्ण उपस्थिति ग अच्छा सरकार सम्भव है।'[1]

सन् 1967 के बाद यह स्पष्ट हो गया कि राज्य म राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति म राज्यपाल अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत मुख्य मन्त्री को नियुक्त और विमुक्त कर सकता है, राज्य विधान सभा के अधिवेशन को बुला सकता है, उसका सत्रावसान कर सकता है या उसे भग कर सकता है। राज्य की राजनीतिक स्थिति के बारे म राष्ट्रपति को सूचना भेज सकता है और अर्द्ध या पूर्ण सकट की सिफारिश कर सकता है। विवेकाधिकार के अन्तर्गत अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए राज्यपाल को मुख्य मन्त्री से परामर्श करने या उसके परामर्श को मानने की आवश्यकता नहीं। इस स्थिति म राज्यपाल की भूमिका महत्वपूर्ण और निर्णायक सिद्ध हो सकती है।

राज्यपालों के विवेकाधिकारों के महत्व के बढ़ने का एक कारण यह भी था कि राज्यों मे जिन सयुक्त मोर्चों की सरकारों का निर्माण किया गया उनमे "वैचारिक साम्य का अभाव था, उनम सिद्धान्तों और आदर्शों की एकता नहीं थी, वे तो कांग्रेस विरोधवाद अथवा कांग्रेस हटाओ की नकारात्मक विचारधारा पर सयुक्त हुए थे और जसे ही पद और लाभ के अवसर समाप्त हुए सयुक्त सरकारों के साझेदारों ने अपने समर्थन को वापस ले लिया और सयुक्त सरकारों का पतन हुआ। मार्च, 1967 से लेकर मार्च 1972 तक देश के विभिन्न राज्यों म 24 बार सरकारों का पतन हुआ तथा 15 बार राज्यों म राष्ट्रपति शासन लागू किया गया।[2] इन अवसरों पर राज्यपालों को विवेकाधिकार के अन्तर्गत काय करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। राज्यपालों को ऐसे निर्णय लेने पड़े जो कभी कभी तो न्यायोचित (justified) प्रतीत होते थे, कभी कभी राजनीतिक विचारों से प्रभावित प्रतीत होते थे और कभी कभी केन्द्र द्वारा समझाय बुझाय हुए या उनके निर्देशित प्रतीत होते थे। राज्यपालों के इन्ही निर्णयों ने उग्र सवधानिक विवाद को जन्म दिया और राज्यपालों के आचरण के सम्बन्ध म हिदायतों (guidelines) और आचार सहिता (Code of conduct) की माग की जाने लगी। अनेक क्षेत्रों म तो राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध मे भी परिवतन की माग की गयी।

---

1 देखिये दिनमान दि० 8 9 1974, पृ० 39,

2 डा० दिनेशकुमार चतुर्वेदी की पुस्तक भारतीय शासन और राजनीति से उद्धृत, पृ० 243

राज्य के मुखिया होने के नाते राज्यपाल मुख्य मन्त्री से सूचनायें प्राप्त कर सकता है, प्रशासन के सम्बन्ध में जानकारी ले सकता है। मुख्यमन्त्री का भी कर्तव्य होता है कि वह राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल के निर्णयों से उसे अवगत कराये। राज्यपाल राज्य प्रशासन का केवल मित्र, दार्शनिक या मार्गदर्शक ही नहीं, वह उससे परामर्श कर सकता है, प्रोत्साहन दे सकता है, चेतावनी दे सकता है। राज्यपाल किसी मन्त्री के व्यक्तिगत निर्णय को समूचे मन्त्रिमण्डल के समक्ष प्रस्तुत करने की माग कर सकता है।

3 केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में—कुछ संवैधानिक पण्डितों और लेखकों का यह विचार है कि राज्यपाल राज्य में केन्द्र का अभिकर्ता (Agent) है और वह साधारण और असाधारण परिस्थितियों में केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में ही कार्य करता है। इन विचारकों का कहना है कि राज्यपाल की नियुक्ति और विमुक्ति राष्ट्रपति के हाथों में है जिसका वास्तविक अर्थ है कि राज्यपाल की नियुक्ति और विमुक्ति प्रधान मन्त्री और केन्द्रीय गृह मन्त्री मिलकर करते हैं। राष्ट्रपति चाहे तो समय से पूर्व भी किसी राज्यपाल को पद विमुक्त कर सकता है, वापस बुला सकता है, उसका एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानान्तरण कर सकता है, उसे उसी पद या अन्य किसी राज्य में पुन नियुक्त कर सकता है। स्पष्ट है कि राज्यपाल का जीवन-मरण राष्ट्रपति के हाथों में है। न तो राज्य की जनता का राज्यपाल के चयन में कोई हाथ है और न ही राज्य विधानसभा का। यद्यपि राज्यपाल की नियुक्ति के समय राज्य के मुख्य मन्त्री से परामर्श करने की प्रथा का विकास किया गया है परन्तु इसका पालन तभी किया गया जब राज्यों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल थे गैर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के मुख्य मन्त्रियों से प्रथम तो परामर्श लिया नहीं गया और यदि लिया भी गया तो उसके परामर्श की उपेक्षा की गयी। पश्चिमी बंगाल की स्थिति में तो मुख्य मन्त्री अजय मुखर्जी के विरोध पर भी राज्यपाल धर्मवीर को बनाये रखा गया (यद्यपि बाद में धर्मवीर के स्थान पर एस० एस० धवन को राज्यपाल नियुक्त किया गया।

स्पष्ट है कि राज्यपाल अपनी नियुक्ति और विमुक्ति के लिए पूर्णतया केन्द्र पर निर्भर है। अत यह स्वाभाविक है कि कठपुतलियों की भांति वह अपने केन्द्रीय स्वामियों के निर्देशन का पालन करे। एक विचार तो यह भी व्यक्त किया गया है कि चतुर्थ चुनाव के बाद केन्द्रीय सरकार ने राज्यों की गैर कांग्रेसी सरकारों को अपदस्थ करने के यन्त्र के रूप में प्रयोग किया।[1] जिस ढंग से सन् 1967 में राजस्थान के राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द ने संयुक्त दल द्वारा बहुमत[2] प्रदान करने

1 Narain Iqbal Twilight or Dawn The political change in India (Shiv Lal Agarwal & Co Agra-3) 1972 p 94

2 संयुक्त मोर्चे (दल) के नेता डूंगरपुर के महारावल लक्ष्मणसिंह के नेतृत्व में सभा के कुल 183 सदस्यों में से 93 सदस्यों ने महारावल के समर्थन में राज्यपाल के समक्ष प्रदर्शन किया।

के बाद भी कांग्रेस दल के नेता मोहनलाल सुखाडिया के अल्प दल को (यद्यपि अकेले उसके दल के सबसे अधिक सदस्य थे) सरकार निर्माण के लिये आमन्त्रित किया वह इस तथ्य का प्रतीक है कि उस समय राज्यपाल केन्द्र के निर्देशन पर काय कर रहे थे। के० वी० राव ने ठीक लिखा है कि "राज्यपाल वही है जो केन्द्र उसे बनाना चाहता है व्यावहारिक रूप म राज्यपाल कुछ भी नहीं कर सकता और यदि राज्यपाल घमवीर या राज्यपाल चक्रवर्ती सक्रिय भूमिका निभाने की स्थिति म है तो इसका कारण यह है कि उसम केन्द्र की मौन सम्मति है या केन्द्र का निर्देशन है।"[1]

अन्य साधारण परिस्थितिया म भी राज्यपाल केन्द्र के अभिकर्ता के रूप म काय कर सकता है। उदाहरणतया जब कभी केन्द्र और राज्य की कायपालिका शक्ति म सघष उत्पन्न होन की सम्भावना होती है तो राज्यपाल अपने विवेकाधिकारो का प्रयोग कर सकता है। राज्यपाल विधान मण्डल द्वारा स्वीकृत किसी विधेयक को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है, पुनर्विचार के लिये विधान सभा को लौटा सकता है। कुछ महत्त्वपूर्ण विधेयको का राष्ट्रपति के विचाराथ सुरक्षित रख सकता है जसे अनिवाय रूप से अधिकृत की जाने वाली सम्पत्ति के विधेयक या राज्य की उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो क प्रति निरादर व्यक्त करने वाले विधेयको का राष्ट्रपति के विचाराथ सुरक्षित रख सकता है।

राज्यपाल ही राज्य म सवधानिक तन्त्र की असफलता की सूचना राष्ट्रपति को देता है और अनुच्छेद 356 के अन्तगत पूर्ण या अद्ध सकट की सिफारिश करता है और जब राज्य म राष्ट्रपति शासन लागू हो जाता है तो राज्यपाल केन्द्र क अभिकर्ता के रूप म काय करता है।

उपयु क्त वर्णन से स्पष्ट है कि राज्यपाल मुख्यत सवैधानिक अध्यक्ष है। उसके पास वास्तविक शक्तिया का अभाव है। उसकी शक्तियो का प्रयोग उत्तरदायी मन्त्री करते हैं। कुछ परिस्थितिया मे वह विवेकाधिकारो का प्रयोग अवश्य कर सकता है परन्तु यहा भी उसकी शक्ति राज्य म राजनीतिक स्थिति की स्थिरता और अस्थिरता पर निभर करती है। यदि राज्य मे राजनीतिक स्थिरता है और मन्त्रि मण्डल को विधान सभा म स्पष्ट बहुमत प्राप्त है तो वह विवेकाधिकारो का प्रयोग नही कर सकता परन्तु यदि राज्य म राजनीतिक स्थिति अस्थिर और अस्पष्ट है दल बदलुओ और गुटबन्दियो का बोलबाला है तो उसके विवेकाधिकारो का क्षेत्र व्यापक बन जाता है परन्तु यहा भी वह प्रभावशाली हो सकता है, अधिनायक या निरकुश नही। सविधान राज्यपाल को सविधान के सरक्षण और राज्य की जनता

1 Rao K V Quoted by Johari, J C Indian Government & Politics, p 363

के कल्याण और सेवा के लिये विवेकाधिकार प्रदान करता है निरकुश या निरपेक्ष (arbitrary or absolute) बनने के लिये नही। सक्टकाल मे या राज्य मे राष्ट्रपति शासनकाल म राज्यपाल केन्द्र के अधीन होता है।

सक्षेप म, साधारण स्थिति म राज्यपाल मुख्य म त्री के परामश पर काय करता है और असाधारण परिस्थितिया म केन्द्र के निर्देशन पर काय करता है। इन परिस्थितिया म राज्यपाल न तो अधिनायक बन सकता है और न ही सविधान निर्माता उसे अधिनायक बनाने के इच्छुक थे। सविधान यद्यपि राज्यपाल को निष्क्रिय नही बनाता और उसे इ ग्लण्ड के राजा या रानी की भाति "स्वर्णिम शू य' 'मिट्टी का महादेव' या "रबड की मोहर' नही बनाता परन्तु सविधान उसे निरकुश भी नही बनाता। वह मन्त्रिय हो सकता है, वास्तविक अध्यक्ष नही हो सकता। अत भारतीय राज्य के राज्यपाल को सवैधानिक एव सक्रिय (Constitutional Cum Active) कार्यपालिका अध्यक्ष कहना अधिक उचित है।

## राज्यपाल के मुख्य मन्त्री और विधान सभा के साथ सम्बन्ध

## (Relations between the Governor, Chief Minister and the Legislative Assembly)

राज्यपाल की वास्तविक स्थिति को निम्न शीर्षको के अन्तगत भी अध्ययन किया जा सकता है —

**राज्यपाल और मुख्य म त्री अर्थात मुख्य मन्त्री की नियुक्ति व विमुक्ति** (पदच्युति)—अनुच्छेद 163 (1) राज्यपाल को मुख्य मन्त्री की नियुक्ति और विमुक्ति का विवेकाधिकार प्रदान करता है। अनुच्छेद 164 (1) के अनुसार म त्री राज्यपाल के प्रसाद (Pleasure) पय त अपने पद पर बने रह सकते है। अनुच्छेद 164 (2) के अनुसार मन्त्रिपरिषद् राज्य विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। अनुच्छेद 159 के अनुसार राज्यपाल अपने पद को ग्रहण करते समय सविधान की सुरक्षा, राज्य की जनता के कल्याण और सेवा की शपथ लेता है।

उपयु क्त सभी अनुच्छेदो का म तव्य यह है कि (i) राज्यपाल उसी व्यक्ति को मुख्य म त्री पद पर नियुक्त करने के लिये बाध्य है जिसका बहुमत विधान सभा मे है, (ii) मुख्य म त्री उसी समय तक अपने पद पर बना रह सकता है जब तक उसे विधान मण्डल का स्पष्ट बहुमत प्राप्त है और (iii) वह सवधानिक धाराओ की उल्लघना नही करता तथा सवधानिक भावनाओ की उपेक्षा नही करता। दूसरे शब्दो मे, यदि विधान सभा म किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त है तो राज्यपाल उस दल के नेता को मुख्य मन्त्री पद पर नियुक्त करने के लिये बाध्य है अर्थात इस स्थिति म मुख्य मन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध म राज्यपाल का विवेकाधिकार सीमित है। इतना ही नही, राज्यपाल मुख्य म त्री के परामश पर ही अन्य म त्रियो को नियुक्त करेगा और विधान सभा के अधिवेशनो को बुलायगा, उसका सत्रावसान करेगा तथा

उसी के परामर्श पर विधान सभा को भंग करेगा। परन्तु यदि विधान सभा में किसी राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं, राजनीतिक स्थिति अस्थिर और अस्पष्ट है अधिक सदस्या वाले दल में गुटबन्दी के कारण फूट है, दल बन्दुओं का बाजार गर्म है तो मुख्य मन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में राज्यपाल का विवेकाधिकार उतना ही व्यापक हो जाता है जितना कि कोई राज्यपाल उसे बनाना चाहता है या जितना परिस्थिति की आवश्यकता माँग करती है या जितना केन्द्र उसकी आज्ञा या निर्देशन देता है। ऐसी स्थिति में राज्यपाल चाहे तो ऐसे व्यक्ति को मन्त्री पद पर नियुक्त कर सकता है जो विधान मण्डल का सदस्य नहीं जैसा कि मद्रास के राज्यपाल ने सन् 1952 में चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य को मुख्य मन्त्री पद पर नियुक्त किया था। इतना ही नहीं राज्यपाल ने चक्रवर्ती राजगोपालचार्य को विधान परिषद (राज्य विधान मण्डल का उच्च सदन) में नामांकित कर उन्हें निर्वाचन की आवश्यकता और अनिश्चितता से भी मुक्त कर दिया।

राज्यपाल चाहे तो मुख्यमन्त्री को अपने विवेकाधिकार के अन्तर्गत पदच्युत कर सकता है उस परिस्थिति में भी जब उसे विधान सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो जैसाकि सन् 1959 में केरल के राज्यपाल रामकृष्ण राव ने मुख्यमन्त्री ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद को पदच्युत करने के लिए अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को संवैधानिक असफलता की सूचना देकर सरकार को घोषणा करवा दी और श्री नम्बूदरीपाद से छुटकारा पा लिया।

सामान्यतया इस बात का निर्णय विधान सभा में ही होना है कि अमुक मुख्यमन्त्री को बहुमत का विश्वास प्राप्त है या नहीं परन्तु यदि मुख्यमन्त्री दलीय पर दल बदलुओं और पक्ष परित्याग (floor crossing) के कारण विधान सभा में अपने बहुमत का परीक्षण करने के लिए तैयार नहीं होता या टालमटोल करता है या असंवैधानिक या भ्रष्ट साधनों से बहुमत को बनाये रखने का प्रयास करता है तो राज्यपाल उस मुख्यमन्त्री को जो उसकी दृष्टि में विधानसभा के बहुमत का विश्वास खो बैठा है, पदच्युत कर सकता है जैसाकि पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर ने 22 नवम्बर, 1967 को अजय मुकर्जी को पदच्युत किया था। अनेक परिस्थितियों में राज्यपाल विधानसभा को सत्रावसान कर इष्ट (favoured) मुख्यमन्त्री या दल की सहायता भी कर सकता है जैसाकि मार्च, 1967 में राजस्थान के राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द ने कांग्रेसी नेता मोहनलाल सुखाडिया की सहायता अर्द्ध संकट (half emergency) की स्थापना की सिफारिश करके की।

यह सत्य है कि मन्त्रिमण्डल राज्यपाल के कार्यों के निष्पादन में उसके सहायक और परामर्शदाता हैं यह भी सत्य है कि मन्त्री राज्यपाल के प्रसाद (Pleasure) पर्यन्त अपने पद पर बने रह सकते हैं परन्तु इस तथ्य को भी भुलाया नहीं जा सकता कि मन्त्रिमण्डल विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप में उत्तरदायी है। इस तरह मन्त्रिमण्डल का वास्तविक जीवन मरण विधान सभा के हाथ में है, राज्यपाल के हाथ

मे नही। विधान सभा का ही नियन्त्रण मन्त्रिमण्डल पर रहता है, विधान सभा ही प्रश्नो पूरक प्रश्नो निन्दा प्रस्तावो, काम रोको प्रस्तावो और अविश्वास के प्रस्तावो द्वारा मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण रखती है और यदि राज्यपाल हठधर्मिता के कारण अपने विवेकाधिकारो का प्रयोग करते हुए उस मुख्यमन्त्री को पदच्युत करता है जिसे विधान सभा मे बहुमत प्राप्त है तो सवधानिक गतिरोध उत्पन्न होने की सम्भावना बढ सकती है क्योकि उस मुख्यमन्त्री के विधानसभा म बहुमत होत वकल्पिक सरकार (Alternate Govt ) का निर्माण होना कठिन है। स्पष्ट है कि राजनीतिक स्थिरता और बहुमत प्राप्त मुख्यमन्त्री को राज्यपाल विवेकाधिकारो के अन्तगत पदच्युत नही कर सकता। राज्यपाल केवल उस स्थिति म मुख्यमन्त्री को पदच्युत कर सकता है जब राज्य मे राजनीतिक अस्थिरता हो और मुख्यमन्त्री को विधानसभा मे बहुमत प्राप्त न हो।

**राज्यपाल और विधान सभा**—राज्यपाल और विधान सभा के सम्बन्धो के बारे मे पिछले कुछ वर्षो, मे विशेषकर चतुथ चुनाव के बाद (1967 1971 काल मे), जो महत्वपूर्ण सवैधानिक प्रश्न उभर कर सामने आये हे उनमे प्रमुख निम्न है —

(a) क्या राज्यपाल को विधान सभा के अधिवेशनो को बुलाने, उसका सत्रावसान करने या समय से पूव भग करने का विवेकाधिकार है ?

(b) क्या राज्यपाल विधान सभा का बहुमत का निर्धारण करने का अवसर प्रदान किये बिना मुख्य मन्त्री को पदच्युत कर सकता है ?

(c) क्या राज्यपाल मुख्यमन्त्री के परामश को मानने के लिए बाध्य है ?

(d) क्या राज्यपाल को उद्घाटन भाषण के समय सदन म अनुशासन बनाये रखने और उसकी मर्यादा को बनाये रखने का अधिकार है और क्या वह एसा करते हुए राज्यपाल सदस्यो को निलम्बित कर सकता है ?

(e) क्या राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल द्वारा तयार किये गये उदघाटन भाषण के आपत्तिजनक अशो को छोडने का अधिकार है।

उपयुक्त प्रश्नो के सम्बन्ध म जहा तक सवधानिक स्थिति का सम्बन्ध है राज्यपाल को इस बात का निर्धारण करने का अधिकार है कि वह विधान सभा के अधिवेशन को कब और कहा बुलाये, उसका सत्रावसान कब करे या उसे कब भग करे। सवधानिक दृष्टिकोण स राज्यपाल मन्त्रिमण्डल के परामश को मानने के लिए बाध्य नही और वह इस बात का भी निर्धारण कर सकता है कि अमुक दल या मुख्यमन्त्री का विधान सभा म बहुमत का विश्वास प्राप्त है या नही। क्योकि राज्यपाल सविधान को सुरक्षित रखने और राज्य के लोगो के कल्याण और सेवा की शपथ लेता है अत राज्यपाल उद्घाटन भाषण के उन आपत्तिजनक अशो को छोड सकता है जो राज्य और केन्द्र के सम्बन्धो म कटुता या सघष उत्पन्न करते हो या सवधानिक भावनाओ की उल्लघना करते हो, या उद्घाटन भाषण मे राज्य मन्त्रिमण्डल द्वारा सार्वजन

(deliberately) केन्द्र या राज्यपाल के किसी विशिष्ट काय की निन्दा के लिए रखे गये हो।

क्या राज्यपाल मन्त्रियो के परामश को मानने के लिए बाध्य है ? या क्या राज्यपाल विधान सभा मे बहुमत का निर्णय किये बिना उसे भग कर सकता है ?—बगाल का व्यक्तिगत अध्ययन (A Case Study of Bengal)—ससदात्मक प्रणाली मे औपचारिक कायपालिका अध्यक्ष (राष्ट्रपति या राज्यपाल) नाम मात्र का अधिकारी होता है। वह अपनी शक्तियो का प्रयोग स्वय नही करता बल्कि उसके कार्यों का निष्पादन करने मे सहायता और परामश देने वाले मन्त्री करते हैं जो विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं। भारत म राज्यपाल राज्य की जनता द्वारा निर्वाचित पदाधिकारी नही होता बल्कि राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया गया पदाधिकारी होता है। अत नियुक्त किये गये राज्यपाल के पास निर्वाचित मन्त्रियो से अधिक सत्ता नही हो सकती अर्थात सवधानिक रूप म मन्त्रिमण्डल के परामश का मानने के लिए बाध्य न होते हुए भी राज्यपाल उस परामश की उपेक्षा नही कर सकता। यह सत्य है कि भारतीय सविधान इस सम्बन्ध मे पूर्णतया शान्त है और बाध्यता और अबाध्यता की बात नही करता परन्तु ससदात्मक परम्परायें सवधानिक अध्यक्ष मे इस बात की माग करती हैं कि वह उत्तरदायी मन्त्रियो के परामश पर ही काय करे। यही कारण है कि जब 1967 मे पश्चिमी बगाल के राज्यपाल धमवीर ने राज्य विधान सभा मे बहुमत का निर्धारण किये बिना मुख्य मन्त्री अजय मुखर्जी को पदच्युत कर दिया तो राज्यपाल के इस काय की सवत्र आलोचना की गयी। राज्यपाल के इस काय को असवधानिक और ससदीय परम्पराओ और प्रतिमानो के विरुद्ध बताया गया। यद्यपि कुछ विधिवेत्ताओ और सवधानिक टीकाकारो का यह मत है कि अनुच्छेद 163 (1) के अनुसार राज्यपाल अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए मुख्य मन्त्री के परामश को मानने को बाध्य नही और राज्यपाल मुख्यमन्त्री को पदच्युत कर सकता है[1] परन्तु अधिकाश सवधानिक टीकाकारो लेखको और आलोचको का मत है कि राज्यपाल को ससदात्मक प्रतिमान और परम्पराओ के विरुद्ध आचरण करने का अधिकार नही। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने भी सुनील कुमार बोस बनाम मुख्य सचिव बगाल सरकार के मुकदमे म प्रेक्षण किया था कि 'वतमान सविधान के अन्तगत राज्यपाल अपने मन्त्रियो के परामश के बिना काय नही कर सकता विवेकाधिकार या व्यक्तिगत निर्णय के अन्तगत काय करने की शक्ति को उससे छीन लिया गया है।" प्रो० डी० एन० बनर्जी का भी यही

1 कलकत्ता उच्च न्यायालय और बाद म सर्वोच्च न्यायालय ने राज्यपाल के इन अधिकारो की पुष्टि भी की है। See Narain Iqbal Twilight or Dawn, p 96

मत है कि संविधान राज्यपाल को "स्वेच्छाचारी या मनमाना मुखिया बनाने की इच्छा नहीं करता।" सर्वश्री पी० एन० स्प्रू, एम० सी० छागला, अनन्थास्यानम आयंगर, एन० सी० चटर्जी जैसे संवैधानिक पण्डितों का भी यही मत है कि विधान सभा में बहुमत के निर्णय बिना किसी राज्यपाल को मुख्यमन्त्री को पदच्युत करने का अधिकार नहीं। इन संवैधानिक पण्डितों का यह भी मत है कि क्योंकि संविधान मुख्यमन्त्री को छः महीने के अन्दर अन्दर विधान सभा के अधिवेशन को बुलाने का अधिकार प्रदान करता है अतः राज्यपाल मुख्यमन्त्री से यह आग्रह नहीं कर सकता कि विधान सभा का अधिवेशन शीघ्र बुलाया जाय या अमुक तिथि में पूर्व बुलाया जाय। यदि अधिवेशन बुलाने की तिथि छः महीने की संवैधानिक सीमाओं के अन्तर्गत है तो राज्यपाल मुख्यमन्त्री के इस संवैधानिक अधिकार में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। क्योंकि बंगाल में विधान सभा के अधिवेशन को बुलाने के लिए मुख्यमन्त्री अजय मुखर्जी द्वारा सुझाई गयी तिथि (18 दिसम्बर, 1967) और राज्यपाल द्वारा सुझाई गयी तिथि (23 नवम्बर, 1967) में कोई महान् अन्तर नहीं था और न ही संविधान द्वारा लगाई गई छः महीनों की सीमाओं का उल्लंघन हो रहा था और न ही इस भिन्नता से कोई संसदात्मक प्रणाली को खतरा उत्पन्न होने की सम्भावना थी अतः राज्यपाल धर्मवीर द्वारा विधान सभा में बहुमत का परीक्षण किये बिना मुख्यमन्त्री अजय मुखर्जी को 22 नवम्बर, 1967 को पदच्युत करना गैर संवैधानिक न होते हुए भी संवैधानिक औचित्य (Constitutional propriety) के विरुद्ध था। राज्यपाल धर्मवीर का यह विचार भी संवैधानिक औचित्य के विरुद्ध था कि यदि विधान सभा के अधिवेशन को बुलाने में अनावश्यक देरी की गयी तो यह दल बदलू, आया राम और गया राम, विधायकों को खरीदने और प्रशासनिक भ्रष्टाचार को जन्म देगा क्योंकि इन्हीं परिस्थितियों में अन्य राज्यपालों ने अन्य राज्यों में मुख्यमन्त्री को पदच्युत नहीं किया था। उदाहरणतया सन् 1964 में कांग्रेस दल के असहमतों (dissidents) द्वारा मन्त्रिमण्डल के समर्थन को वापस लेने पर केरल के राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री शंकर को पदच्युत नहीं किया था। सन् 1969 में जब कांग्रेस का विभाजन हुआ तो केन्द्र में इन्दिरा गाँधी की सरकार अल्पमत सरकार बन गयी थी परन्तु फिर भी राष्ट्रपति वी० वी० गिरि ने प्रधान मन्त्री को पदच्युत नहीं किया या उसे लोकसभा में अपने बहुमत के परीक्षण के लिए आग्रह नहीं किया। ऐसे अन्य अनेक उदाहरण हैं जब दलीय फूट या दल बदलुओं के कारण मुख्यमन्त्री ने अपना बहुमत खो दिया और उन्हें राज्यपालों ने पदच्युत नहीं किया। कोई भी नियुक्त राज्यपाल निर्वाचित मन्त्रियों की शक्ति से खिलवाड़ नहीं कर सकता। अतः अजय मुखर्जी को पदच्युत कर राज्यपाल धर्मवीर ने संवैधानिक औचित्य के विरुद्ध कार्य किया।

वस्तुतः इस प्रश्न के सम्बन्ध में कि क्या राज्यपाल मन्त्रियों के परामर्श को मानने के लिए बाध्य है और क्या विधान सभा में बहुमत का परीक्षण किये बिना किसी मुख्यमन्त्री को पदच्युत कर सकता है, भिन्न भिन्न राज्यपालों ने भिन्न भिन्न

स्थितियो मे भिन्न भिन्न मार्गों को अपनाया है और यही कारण है कि राज्यपालो की भूमिका संदिग्ध प्रतीत होने लगी और उसके कार्यों की आलोचना होने लगी। उदाहरणतया जब फरवरी, 1970 में दल बदल के कारण बंसीलाल मन्त्रिमण्डल को विधान सभा में बहुमत प्राप्त नहीं था तो हरियाणा के राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री से विधान सभा का अधिवेशन शीघ्र बुला कर शक्ति परीक्षण का आग्रह नहीं किया जबकि दिसम्बर, 1970 में जब हरे कृष्ण मेहताब के गुट ने मुख्यमन्त्री आर० एन० सिंह देव का समर्थन करना छोड़ दिया तो उड़ीसा के राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री को शक्ति परीक्षण के लिए विधान सभा के अधिवेशन को बुलाने का आग्रह किया। दूसरी ओर, सन् 1970 में जब उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री चरणसिंह विधान सभा में अपना शक्ति परीक्षण करने के लिए विधान सभा के अधिवेशन को शीघ्र बुलाने के लिए तैयार थे तो भी विधान सभा में बहुमत का परीक्षण किये बिना राज्यपाल बी० गोपाल रेड्डी ने मुख्यमन्त्री को पदच्युत कर दिया। इतना ही नहीं कुछ राज्यपालों ने इष्ट (favoured) मन्त्रिमण्डलों को विधान सभा का सत्रावसान कर पराजित होने से बचा लिया और कुछ ने मुख्यमन्त्रियों का विधान सभा में बहुमत होने हुए भी उन्हें पदच्युत कर दिया। उदाहरणतया जब जी० एन० सिंह के नेतृत्व में 40 कांग्रेसी विधायकों ने मुख्यमन्त्री टी० पी० मिश्र का समर्थन करना छोड़ दिया तो राज्यपाल के० सी० रेड्डी ने डी० पी० मिश्र के मन्त्रिमण्डल को विधान सभा में पराजित होने से बचाने के लिए विधान सभा का सत्रावसान कर दिया जबकि, दूसरी ओर, हरियाणा के राज्यपाल ने राव वीरेन्द्र सिंह का विधान सभा में बहुमत होते हुए भी (यद्यपि यह बहुमत केवल एक सदस्य का था) उसे पदच्युत कर दिया। दल बदल के कारण जब गुरनाम सिंह का मन्त्रिमण्डल टूट गया तो पंजाब के राज्यपाल पावते ने पराजित 'निर्वाचन व्यय' (Election Costs) के आधार पर मुख्यमन्त्री के इस सुझाव को मानने से इन्कार कर दिया कि विधान सभा को भंग कर दिया जाय। इतना ही नहीं, राज्यपाल ने दल बदलू [illegible] लक्ष्मणसिंह गिल के नेतृत्व में, जिसे कांग्रेसी दल का समर्थन प्राप्त था, नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया यद्यपि वह टिकाऊ न रह सका। जहां कुछ राज्यपालों ने मुख्यमन्त्री के परामर्श पर ही विधान सभाओं को भंग किया वहां कुछ ने विरोधियों को मन्त्रिमण्डल के निर्माण का अवसर प्रदान किये बिना ही विधान सभा को भंग कर दिया। उदाहरणतया जहां तमिलनाडु के राज्यपाल ने मार्च, 1971 में डी० एम० के० मुख्यमन्त्री करुणानिधि के परामर्श पर और पंजाब के राज्यपाल ने 1971 में ही अकाली दल के मुख्यमन्त्री प्रकाशसिंह बादल के परामर्श पर ही विधान सभा को भंग किया वहां उड़ीसा के राज्यपाल बी० डी० जत्ती (B D Jatti) ने मार्च 1973 में विरोधियों को मन्त्रिमण्डल के निर्माण का अवसर दिये बिना ही श्रीमती नन्दिनी सतपथी के परामर्श पर विधान सभा को भंग कर दिया राज्यपाल के इस अविवाहित कार्य (hosty action) पर न्यायालय ने प्रतिकूल (Strictures) भी किए। इसी प्रकार चतुर्थ चुनाव के बाद मार्च 1967 में जब कांग्रेस

के मोहनलाल सुखाडिया ने गवर्नर के निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया तो राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द ने संयुक्त मोर्चे के नेता डूंगरपुर के महारावल लक्ष्मणसिंह को सरकार बनाने का निमन्त्रण नहीं दिया। स्पष्ट है कि मुख्यमन्त्रियों की नियुक्ति में राज्यपालों के भिन्न भिन्न आचरण ने ही उनकी भूमिका को संदिग्ध बनाया, उग्र संवैधानिक विवाद को जन्म दिया, आदि।

**क्या राज्यपाल उद्घाटन भाषण के समय दुर्दम्य सदस्यों को निलम्बित कर सकता है?** पिछले वर्षों में एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो उभर कर सामने आया है वह यह है कि क्या राज्यपाल विधान सभा के सदस्यों को नियन्त्रित, मर्यादित या निलम्बित कर सकता है? यह सत्य है कि सामान्यतया विधान सभा में अनुशासन बनाये रखने का कार्य और सदन की मर्यादा को सुरक्षित रखने का कार्य विधान सभा के अध्यक्ष (Speaker) का है। परन्तु यदि विधान सभा के सदस्य असंसदीय ढंग से व्यवहार करते हैं और अनुशासनहीनता और हठधर्मिता का परिचय देते हैं तो राज्यपाल उद्घाटन भाषण के समय ऐसे सदस्यों को अनुशासन में रखने के लिए मार्शल को अपने कार्य करने के लिए कह सकता है तथा आवश्यकता हो तो दुर्दम्य (recalcitrant) सदस्यों को सदन से निलम्बित कर सकता है। जैसाकि राजस्थान राज्य के राज्यपाल ने विधान सभा के सदस्यों को निलम्बित किया था और महाराष्ट्र के राज्यपाल ने विधान सभा के सदस्य धोटे (Dhote) को बलपूर्वक बाहर निकालने के लिए मार्शल को अपने कार्य करने के लिए निर्देश दिया था। राजस्थान राज्य के उच्च न्यायालय ने यह विचार भी व्यक्त किया था कि सदन में अध्यक्ष की सत्ता राज्यपाल के उद्घाटन भाषण के बाद शुरू होती है और उद्घाटन भाषण के समय सदस्यों द्वारा अपनाई गई अनुशासनहीनता को नियन्त्रित करने का अधिकार राज्यपाल का है।

**क्या राज्यपाल उद्घाटन भाषण के कुछ आपत्तिजनक अंशों को हटा (delete) सकता है?** एक अन्य प्रश्न जिसने अत्यधिक संवैधानिक विवाद को जन्म दिया है वह यह है कि क्या राज्यपाल उद्घाटन भाषण के कुछ अंशों को छोड़ सकता है? यह प्रश्न तब उत्पन्न हुआ जब पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर ने अजय मुखर्जी के मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किये उद्घाटन भाषण के कुछ अंशों को विधान सभा में नहीं पढ़ा। यह एक गम्भीर संवैधानिक प्रश्न है क्योंकि उद्घाटन भाषण राज्यपाल द्वारा तैयार नहीं किया जाता और न ही उसमें राज्यपाल के व्यक्तिगत राजनीतिक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया जाता है। संसदात्मक प्रणाली में उद्घाटन भाषण मन्त्रिमण्डल द्वारा ही तैयार करता है और उसमें उसी की वार्षिक नीति उद्देश्यों और राजनीतिक कार्यक्रमों को अभिव्यक्त किया जाता है।

अजय मुखर्जी के मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किये उद्घाटन भाषण में दो

पैराग्राफ ऐसे थे जिनमें राज्यपाल और केन्द्रीय सरकार द्वारा उसके समर्थन की आलोचना की गयी थी। राज्यपाल धर्मवीर के लिये इन दो पैराग्राफों को पढ़ना आपत्तिजनक[1] प्रतीत हुआ और उसने मुख्य मन्त्री से इन्हें मिटाने के लिये सुझाव भी दिया परन्तु जब मुख्य मन्त्री अपनी बात पर अड़े रहे तो राज्यपाल ने इन दो पैराग्राफ्स को विधान सभा में अपने उद्घाटन भाषण में नहीं पढ़ा।

राज्यपाल के इस कार्य ने एक महान् संविधान प्रश्न खड़ा कर दिया कि क्या नियुक्त किया गया और अनुत्तरदायी राज्यपाल निर्वाचित और उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किये गये उद्घाटन भाषण के कुछ अंशों को छोड़ सकता है। पी० एन० स्प्रू, एन० सी० चटर्जी, नम्बूदरीपाद, आदि विचारकों का मत है कि राज्यपाल मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किये गये उद्घाटन भाषण के किसी अंश को नहीं छोड़ सकता। इसलिये राज्यपाल धर्मवीर का यह कार्य असंवैधानिक है क्योंकि जिस उद्घाटन भाषण को उसने तैयार नहीं किया था और जिसके लिये वह स्वयं उत्तरदायी नहीं था तो उसमें से कुछ अंशों को न पढ़ना असंवैधानिक है, दूसरी ओर श्रीप्रकाश, गोविन्द मेनन, वाई० बी० चव्हाण जैसे विचारकों का मत है कि राज्यपाल के उद्घाटन भाषण का दलीय राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं। उसका सम्बन्ध तो केवल नीति विषयों से होता है जो वस्तुतः मन्त्रिमण्डल की नीतियाँ होती हैं। दूसरे उद्घाटन भाषण का सम्बन्ध मन्त्रिमण्डल की उपलब्धियों, भावी प्रोग्रामों और नीतियों से होता है। उसका संकीर्ण राजनीतिक दृष्टिकोण से सम्बन्ध नहीं होता। अतः राज्यपाल उद्घाटन भाषण के किन्हीं आपत्तिजनक अंशों को छोड़ सकता है यदि वह संवैधानिक भावनाओं की उल्लंघना करते हैं या अनावश्यक निन्दा करते हैं। केन्द्रीय कानून मन्त्री का भी यही विचार है कि "राज्यपाल केवल मुख्यमन्त्री की मुखिया (mouthpiece) नहीं उसे संविधान को सुरक्षित रखना है।

संविधान ने राज्यपाल को इंग्लैण्ड के राजा या रानी की भांति केवल नाम मात्र का अधिकारी नहीं बनाया। प्रथम, अनुच्छेद 163 (1) उसे विवेकाधिकार के क्षेत्र प्रदान करता है जिनमें कार्य करते हुए राज्यपाल मुख्य मन्त्री के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं। दूसरे, इस बात को भी भुलाया नहीं जा सकता कि भारतीय संविधान निर्माताओं ने ब्रिटिश की संसदात्मक प्रणाली को तो अपनाया परन्तु उसके साथ सम्बन्धित सभी प्रतिमानों और परम्पराओं को स्वीकार नहीं किया यही कारण है कि संविधान राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल के परामर्श को मानने के लिए

---

1 इन दो पैराग्राफों में राज्यपाल धर्मवीर के उस कार्य की आलोचना की गई थी जब उसने नवम्बर 1967 में अजय मुखर्जी के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चा सरकार को बर्खास्त किया गया था और केन्द्रीय सरकार ने उसके इस कार्य का समर्थन किया था।

बाध्य नही करता। संविधान सभा म जब इस प्रस्ताव पर विवाद हो रहा था तो संविधान निर्माताओं ने इस विचार को अस्वीकार कर दिया कि मंत्रिमण्डल के परामर्श को बाध्य बनाया जाय। तीसरे, संविधान राज्य के मन्त्रिमण्डल से अपेक्षा करता है कि वह संवैधानिक सीमाओं की उल्लघना न करे और ऐसी परिस्थितिया पैदा न करे जिससे केन्द्र और राज्यो के सम्बन्धो म तनाव की स्थिति उत्पन्न हो। जब कभी राज्यपाल अनुभव करता है कि राज्य के मन्त्रिमण्डल के किसी काय से केन्द्र और राज्य म किसी सघष के उत्पन्न होने की सम्भावना है तो वह अपने विवेकाधिकार का प्रयोग कर सकता है। इतना अवश्य है कि योजनाओं या प्रोग्रामो के लिए आर्थिक सहायता देते समय यदि केन्द्र राज्यो म अनुचित भिन्नताय करता है तो मन्त्रिमण्डल इन तथ्यो का उल्लेख उद्घाटन भाषण म अवश्य कर सकता है परन्तु किसी मन्त्रि-मण्डल को उद्घाटन भाषण म राज्यपाल या केन्द्र के किसी काय की निन्दा का अधिकार इसलिये नही दिया जा सकता कि राज्यपाल न या केन्द्रीय सरकार न किसी ऐसे काय को किया है जो राज्य मन्त्रिमण्डल की इच्छाओ के अनुकूल नही। राज्य का मन्त्रिमण्डल तो क्या न्यायालय म भी राज्यपाल के किसी काय को चुनौती नही दी जा सकती[1] कि अमुक विषय राज्यपाल के विवेकाधिकार के अन्तगत आता है या नही। इस बात का निणय करना राज्यपाल का विवेकाधिकार है कि कौनसा काय उसके विवेकाधिकार के अन्तगत आता है और कौनसा नही। स्पष्ट है कि राज्य का मन्त्रिमण्डल कुछ सवधानिक सीमाओ के अन्तगत ही काय कर सकता है और जब कभी वह उनकी उल्लघना करता है तो राज्यपाल विवेकाधिकार के अन्तगत काय कर सकता है। चौथे, राज्यपाल संविधान के संरक्षण और राज्य की जनता के कल्याण और सेवा की शपथ लेता है अमुक मन्त्रिमण्डल की इच्छाओ की पूर्ति की शपथ नही लेता।

उपयु क्त वर्णन से स्पष्ट है कि उदघाटन भाषण के कुछ अशो का छोड देना राज्यपाल का कोई असंवैधानिक काय नही। जहा संविधान उससे सवधानिक बने रहने की अपेक्षा करता है वहा वही संविधान, विशेष परिस्थितियो म उससे सक्रिय भूमिका की आशा भी करता है ताकि सवधानिक भावनाओ का आदर किया जा सके और केन्द्र और राज्यो के सम्बन्धो को सुचारू बनाये रखा जा सके। यह सत्य है कि यदि राज्यपाल धमवीर चाहते तो सघष की स्थिति को टाल सकते थे और केवल एक आध पराग्राफ को पढकर बाकी सारे भाषण को छोड सकते थे जैसा कि राज्य-पाल डा० सम्पूर्णानन्द ने सदन मे अनुशासनहीनता के कारण एक बार उद्घाटन भाषण का केवल अन्तिम पराग्राफ ही पढा था और पश्चिमी बगाल के राज्यपाल श्रीमती पद्माजी नायडू ने तो बीमारी के कारण केवल "लेडीज एण्ड जेन्टलमैन" (Ladies & gentlemen) ही कहा था कि सारे उदघाटन भाषण को पढा हुआ समझ लिया

1 Art 163 (2)

गया। परन्तु बंगाल के सन्दर्भ में स्थिति संवैधानिक भावना की थी अतः धर्मवीर द्वारा उदघाटन भाषण के कुछ पैराग्राफ को छोड़ना कोई असंवैधानिक कार्य नहीं था।

सन् 1967 के चतुर्थ चुनाव के बाद राज्यपाल की भूमिका, उसकी संवैधानिक स्थिति और विवेकाधिकार के सम्बन्ध में जितने भी प्रश्न उठे हैं या संवैधानिक विवादों को जन्म मिला है उन सब के पीछे केवल एक ही क्रियमान तत्व कार्य कर रहा था। वह यह कि राज्यों की राजनीतिक स्थिति अस्थिर एवं अस्पष्ट थी, विधान सभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं था, सत्तारूढ दल में गुटीय फूट थी, दल बदलुओं का बोलबाला था[1] विधायकों का सार्वजनिक आचरण संदिग्ध और असंसदीय (Un parliamentary) था और कोई भी मुख्य मन्त्री अपने आपको पद पर बनाये रखने के लिए किसी भी भ्रष्ट अनैतिक भावना का प्रयोग करने के लिये तैयार था, मंत्रि मण्डलों का अनुचित ढंग से विस्तार किया गया, विधायकों को खरीदा और बेचा गया। जहां कहीं भी संयुक्त सरकारों का निर्माण किया गया उनमें वैचारिक साम्यता का अभाव था, उनके सिद्धान्तों और आदर्शों में एकता का अभाव था। अति वाम पन्थियों और अति दक्षिण पन्थियों के बेमेल जोड़ थे, वे सुविधा विवाह" (a marri age of convenience) थे जो सत्ता और पदों को प्राप्त करने के लिए किए गये थे। उनके पास जन कल्याण की कोई रचनात्मक योजना या प्रोग्राम नहीं था। वे तो केवल 'कांग्रेस विरोधवाद' के नकारात्मक तत्व के आधार पर एकत्रित हुए थे। उनका कार्यक्रम कांग्रेस हटाना था जन कल्याण योजनाओं को कार्यान्वित करना नहीं। अतः वे बहुत देर तक टिकाऊ न रह सकीं। पांचवें निर्वाचन के समय सात राज्यों में राष्ट्रपति शासन था।[2] राज्यपाल की विवेकाधिकार शक्तियों के प्रयोग का एक ही विकल्प है राज्य में राजनीतिक स्थिरता, विधान सभा में स्पष्ट बहुमत और दलों में संवैधानिक भावना। यदि राज्यों की राजनीतिक स्थिति में अस्थिरता, अनिश्चितता और अस्पष्टता का भाव न होता तो सम्भवतः राज्यपालों के विवेकाधिकारों के प्रयोग के प्रश्न न उभरते और राज्यपाल संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में ही कार्य करते। जैसा कि 1972 के पांचवें चुनावों के बाद राज्यों में राजनीतिक स्थिरता उत्पन्न होने से ये प्रश्न शिथिल (ठण्डे) पड़ गये हैं और राज्यपाल संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में ही कार्य कर रहे हैं। फिर भी इतना अवश्य है कि संविधान ने राज्यपाल को इंगलैंड के राजा या रानी की भांति पूर्णतया संवैधानिक अध्यक्ष नहीं बनाया जो "कभी गलती नहीं करता। कुछ परिस्थितियों में संविधान राज्यपाल से विवेकाधिकारों के प्रयोग

---

1 विधायक इस प्रकार अपने पद त्यागते थे जैसे व्यक्ति गर्मियों में अपने वस्त्र त्यागता है।

2 ये राज्य थे बिहार, गुजरात, पंजाब मैसूर, मनिपुर त्रिपुरा और पश्चिमी बंगाल।

सक्रिय भूमिका की अपेक्षा भी करता है। के० आर० बाम्बाल ने ठीक लिखा है कि "वास्तविकता यह है कि भारत की वर्तमान राजनीति की बेचैनी, हमारी दलीय प्रणाली की असफलता और प्रचलित सिद्धान्तहीन राजनीति ही इन समस्याओं के लिये उत्तरदायी है। मानव हंसी अवसरवाद की वर्तमान स्थिति में प्रत्येक राजनीतिक समूह खेल के नियमों को तोड़ने के लिए तत्पर है और अपने हितों की रक्षा हेतु राज्यपाल की शक्तियों का प्रयोग करने का इच्छुक है।" कोई निर्देशक रेखायें या आचार संहिता सिद्धान्तहीन राजनीतिज्ञों की महत्वाकांक्षा को सीमित नहीं कर सकती।'[1]

## राज्यपाल के लिये निर्देशक रेखायें या हिदायतें

### (Guidelines or Instrument of Instructions for Governor)

विवेकाधिकार के क्षेत्र में राज्यपाल का आचरण असंदिग्ध, निष्पक्ष और उचित हो, इन उद्देश्यों को लेकर कुछ क्षेत्रों में यह मांग की गयी है कि राज्यपालों को कुछ निर्देशक रेखायें या हिदायतें (अनुदेश प्रपत्र) प्राप्त होनी चाहिये ताकि राज्यपाल समान परिस्थितियों में एक सा आचरण कर सकें। क्योंकि 1967 के निर्वाचन के बाद भिन्न भिन्न राज्यों के राज्यपालों ने समान परिस्थितियों के होने पर भी भिन्न-भिन्न ढंग से व्यवहार किया अतः इस विचारधारा को बल मिला। मुख्य मंत्री की नियुक्ति व विमुक्ति राज्य विधान सभा के अधिवेशन का बुलाने, उसका सत्रावसान करने और उसे भंग करने तथा राज्य में संवैधानिक तंत्र की असफलता की सूचना देने आदि के प्रश्नों पर विचार विमर्श करने के लिए राष्ट्रपति वी० वी० गिरि ने नवम्बर 1970 में जम्मू कश्मीर राज्य के राज्यपाल श्री भगवान सहाय के नेतृत्व में पांच व्यक्तियों की एक समिति का गठन किया। इस समिति ने अक्टूबर 1971 में अपना प्रतिवेदन को प्रस्तुत किया जिसकी सिफारिशों को राष्ट्रपति वी० वी० गिरि ने "समुचित प्रज्ञान" (Pooled wisdom) की संज्ञा दी। राज्यपालों के सम्मेलन ने सितम्बर, 1971 को इस प्रतिवेदन पर विचार विमर्श किया। समिति द्वारा सुझाये गये मुख्य सुझाव निम्न थे —

(i) समिति राज्यपालों के लिए निर्देशक रेखायें (guide lines) अंकित करने के पक्ष में नहीं थी। समिति का विश्वास था कि संविधान किसी ऐसी सत्ता की स्थापना नहीं करता जो राज्यपाल को हिदायतें दे सके। राज्यपालों के लिये निर्देशक रेखाओं को अंकित कर प्रजातन्त्र को विनाश से नहीं बचाया जा सकता। यह भी हो सकता है कि किन्हीं परिस्थितियों में निर्देशक रेखायें संवैधानिक भावनाओं के ठीक

---

1 Bomball, K R The Constitutional System of the Indian Republic, p 264

2 समिति के अन्य चार सदस्य थे उत्तर प्रदेश के राज्यपाल डा० बी० गोपाल रेड्डी, केरल के राज्यपाल एम० वी० विश्वनाथन, महाराष्ट्र के ... श्री ... जग, बंगाल के भूतपूर्व राज्यपाल एस० एस० धवन।

विपरीत हो। सभी परिस्थितियो की पूर्व कल्पना करना भी कठिन है। अत प्रजातन्त्र को विनाश से बचाने के लिए विधायको और राजनीतिक दलो मे अनुशासन की आवश्यकता है, राज्यपालो की निर्देशक रेखाओ की नही।

(ii) जब मुख्य मन्त्री कम से कम समय मे विधान सभा मे अपना शक्ति परीक्षण करने के लिए तैयार न हो और वह उसका सामना करने से मुँह चुराये तो राज्यपाल मुख्य मन्त्री को पदच्युत कर सकता है।।

(iii) किसी मुख्य मन्त्री या मन्त्रिमण्डल को विधान सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है या नही इसका निर्धारण विधान सभा मे ही हो सकता है परन्तु यदि कोई मुख्य मन्त्री विधान सभा मे शक्ति परीक्षण के प्रश्न को टालता है तो प्रथम दृष्टि मे (prima facie) यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मुख्य मन्त्री को विधान सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त नही।

(iv) जब वैकल्पिक सरकार के निर्माण की सम्भावना न हो तो राज्यपाल राष्ट्रपति को सकट की घोषणा करने और विधान सभा को भग करने की सिफारिश कर सकता है।

(v) सामान्यतया विधान मण्डल के असदस्यो और नामाकित सदस्यो को मुख्य मन्त्री पद पर नियुक्त नही करना चाहिये अर्थात निर्वाचित सदस्यो को ही मुख्य मन्त्री पद पर नियुक्त करना चाहिये। यदि किसी असदस्य को नियुक्त किया भी जाय तो यथाशीघ्र उसके निर्वाचन की व्यवस्था होनी चाहिये और यदि वह [illegible] महीने के अन्दर निर्वाचित न हो सके तो उसे अपना पद त्याग देना चाहिये।

(vi) मुख्य मन्त्री के पद ग्रहण करने के बाद अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति मे अनावश्यक देरी नही होनी चाहिये।

(vii) सयुक्त सरकारे साझेदारो के सहयोग और समर्थन पर निर्भर करती है। परन्तु यदि कोई साझेदार या सत्तारूढ दल का कोई गुट सरकार से समर्थन वापस ले लेता है तो मुख्य मन्त्री को पद त्यागने की आवश्यकता नही। परन्तु यदि साझेदारो या गुट के अलग होने से मुख्य मन्त्री के बहुमत पर गम्भीर प्रभाव पडता है अर्थात वह अल्प मत मे हो जाता है तो विधान मण्डल मे उसे अपनी शक्ति परीक्षण करना चाहिये।

(viii) सयुक्त दलो की सरकारो के नेता (अर्थात मुख्य मन्त्री) को सयुक्त दलो के निर्वाचित सदस्यो द्वारा चुना जाना चाहिये।

(ix) राज्यपाल मन्त्रियो के परामर्श को मानने के लिए बाध्य होना चाहिये यद्यपि परामर्श के सम्बन्ध उसे अपनी आपत्तियो को प्रकट करने का अधिकार होना चाहिये।

(x) दल बदल प्रथा पर रोक लगाना वाछित नही क्योकि ऐसा करना कुछ सवैधानिक धाराओ की उल्लघना करना होगा। सत्तारूढ दल से असहमत होना विधायको का ससदीय अधिकार ही नही बल्कि प्रजातन्त्र का प्राण भी है।

(xi) राष्ट्रपति सचिवालय म एक कक्ष (Cell) की स्थापना की ज य जो राज्यपालो को समय समय पर राजनीतिक और सवैधानिक विकास के सम्ब ध म सूचनायें प्रदान करता रहे और उन्ह इस बात का ज्ञान हो ज य कि अमुक राज्यपाल ने अमुक परिस्थिति मे कसा आचरण किया और उससे कसे आचरण की अपेक्षा की जाती ह ।

(xii) राज्यपाल राज्य का अध्यक्ष है। वह राष्ट्रपति का अभिकर्ता नही। उसके काय का क्षेत्र सविधान द्वारा निर्धारित है।

**राज्यपाल को निदलीय और निष्पक्ष बनाने की आवश्यकता**—सन् 1967–71 के काल म राज्यपालो द्वारा अपनाये गय आचरण न गर-काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो के भविष्य को अन्धकार म डाल दिया था। अत राज्यपाल का पद गर काग्रेसी दलो की कटु आलोचना का पात्र बन गया। अनव क्षेत्रो मे राज्यपाल की नियुक्ति और स्थिति के सम्ब ध म मूल परिवतनो की माँग की जाने लगी। उदाहरणतया, 17 नवम्बर, 1967 को लिखे पत्र म पश्चिमी बगाल के मुख्यमन्त्री अजय मुखर्जी ने राष्ट्रपति से अनुरोध किया कि कुछ सवधानिक प्रश्नो पर सर्वोच्च न्यायालय से परामश लिया जाय, माक्सवादी नेता एम० बासवपुन्निया (M Basavapunniah) और पी० एस० पी० के नेता एस० एन० द्विवेदी ने यह सुझाव रखा कि राज्यपाल की नियुक्ति राज्य सरकारो के परामश पर की जाय जिसका अनुसमथन ससद द्वारा किया जाय। प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी अपने 17 जून, 1969 के प्रतिवेदन मे मुख्यमन्त्री से परामश की प्रथा को स्वस्थ परम्परा की सज्ञा दी। लोकसभा मे विरोधी दल के नेता राम सुभगसिंह ने यह सुझाव दिया कि राज्यपालो की नियुक्ति निष्पक्ष परामशदाताओ की परिषद की सहायता से राष्ट्रपति द्वारा होनी चाहिय। सवधानिक और ससदीय अध्ययन की सस्था के कायकारी सभापति डा० एल० एम० सिंघवी ने भी सुझाव दिया कि राज्यपालो की नियुक्ति के लिए एक राष्ट्रपतीय आयोग होना चाहिय जिसम विरोधी दल का प्रतिनिधित्व होना चाहिये। नम्बूदरीपाद ने तो राज्यपाल को "पाचवे पहिये" (a fifth wheel) की सज्ञा दकर इस पद को ही समाप्त करने का सुझाव दिया।

राज्यपाल रूपी सस्था पर विरोधी दलो (सयुक्त सरकारो) के प्रहार का मूल कारण यह था कि, उनका विश्वास था राज्यपाल ने अपनी सवधानिक शक्तियो का प्रयोग न तो अपने "विवेकाधिकारो' के अन्तगत किया है और न ही व्यक्तिगत निणय' के अन्तगत किया गया है वल्कि केन्द्र के निर्देशन पर काग्रेसी दल के राजनीतिक दलो की पूर्ति के लिए किया है और केन्द्र ने राज्यपाल की सवधानिक शक्तियो का दुरुपयोग किया है। विशेषकर नवम्बर, 1967 मे पश्चिमी बगाल के राज्यपाल का काय जब उसने अजय मुखर्जी को पदच्युत किया, फरवरी, 1970 मे विहार के राज्यपाल का काय जब उसने सयुक्त विधायक दल को सरकार बनाने के लिए निमन्त्रण नही दिया माच 1973 म उडीसा के राज्यपाल बी० डी० जत्ती का काय

जब उसने प्रगति दल के नेता बीजू पटनायक को नन्दनी सतपती के अल्पमत मे होने पर, सरकार बनाने के लिए निमन्त्रित नही किया आदि। विरोधी दलो ने राज्यपाल के माध्यम से केन्द्र द्वारा अपनाये गये इन दाव पेचो को "संविधान के विनाश" (Subversion of the Constitution) और "संवधानिक प्रक्रिया के दुरुपयोग" (Prostitution of the Constitutional processes) की सज्ञा दी।

यह सत्य है कि जब तक विधान सभा के सदस्यो मे सार्वजनिक नैतिकता का विकास नही होता जब तक राजनीतिक दलो मे दल-बदलू विधायको के सम्बन्ध मे किसी आचार संहिता का विकास नही होता और राजनीतिक दलो मे सिद्धान्तो के प्रति आस्था उत्पन्न नही होती तब तक राज्यपालो के लिए निदलीयता और निष्पक्षता से कार्य करना कठिन है क्योकि सिद्धान्तहीन दल और राजनीतिज्ञ अपने हितो की रक्षा हेतु राज्यपाल की शक्तियो का प्रयोग करने के लिए इच्छुक रहेगे फिर भी यथा सम्भव राज्यपाल को निष्पक्ष, संवधानिक और निदलीय बनाने के लिए निम्न सुझावो को कार्यान्वित करने की आवश्यकता है —

(i) राजनीति मे सक्रिय या निर्वाचनो मे पराजित व्यक्ति को राज्यपाल के पद पर नियुक्त नही करना चाहिये। क्योकि राजनीति के किसी भी खिलाडी से यह आशा नही की जा सकती कि वह वियुक्त (detached), निष्पक्ष या निदलीय भाव से राज्यपाल के उत्तरदायित्वो को निभाने मे सफल होगा।

(ii) राज्यपाल की नियुक्ति के समय न केवल मुख्यमन्त्री से परामर्श लिया जाय बल्कि समूचे मन्त्रिमण्डल और विरोधी दल के नेताओ से भी परामर्श लिया जाय। ऐसा होने पर राज्यपाल सभी दलो मे विश्वास पैदा करने मे सफल हो सकता है। राज्य की अस्थिर राजनीतिक स्थिति की अवस्था मे यह विश्वास अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

(iii) राज्यपाल के पद को केवल 'लाभ' का पद नही समझा जाना चाहिये। इस पद पर केवल उन्ही व्यक्तियो को नियुक्त करना चाहिये जिन्हे प्रशासन का पर्याप्त अनुभव हो जिनमे लोक कल्याण और सेवा की भावना कूट-कूट कर भरी हो जिनकी ईमानदारी पर शक न किया जा सके और जिनका सार्वजनिक चरित्र और व्यवहार असंदिग्ध हो।

(iv) राज्यपाल के विवेकाधिकारो का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिये। उसका मूल कर्तव्य संविधान और प्रजातन्त्र की रक्षा जनता का कल्याण और सेवा भाव होना चाहिये। उसे तो वियुक्त, (detached) निष्पक्ष और निदलीय पर्यवेक्षक की भाति राज्य की राजनीतिक घटनाओ को आकना चाहिये न कि किन्ही दलीय भावनाओ से।

(v) राज्यपाल की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसे पाच वर्ष के बाद पुन नियुक्त न किया जाये निवृत्त होने के बाद राजनीति से सन्यास ले लेना चाहिये अर्थात उसे किसी अन्य लाभ के पद पर नियुक्त

नही करना चाहिये अन्यथा वह अपने केन्द्रीय स्वामियो की इच्छाओ की पूर्ति करने मे ही सलग्न रहेगा । सेवा निवृत होने पर उसके लिए पेशन की व्यवस्था की जा सकती है ।

(vi) राज्यपाल को केवल केन्द्र का "नौकरशाह" या अभिकर्ता मात्र नही होना चाहिये । जहा उसे राष्ट्रीय एकता के हितो की रक्षा करनी है वहा उसे राज्य की स्वायत्तता और प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए प्रहरी भी होना चाहिये ।

## समीक्षा-प्रश्न
## (Review Questions)

1 राज्यपाल की शक्तिया और स्थिति का वर्णन कीजिये । क्या राज्यपाल निरपेक्ष या निरकुश बन सकता है ?

2 क्या राज्यपाल के पास कोई विवेकाधिकार है ? किन परिस्थितियो मे राज्यपाल अपने विवेकाधिकारो का प्रयोग कर सकता है ?

3 राज्यपाल एक ही समय पर सवैधानिक अध्यक्ष है, वास्तविक अध्यक्ष है और केन्द्र का अभिकर्ता है ' आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये ।

4 राज्यपाल और मुख्यमन्त्री तथा राज्यपाल और विधान सभा के सम्बन्धो का उल्लेख कीजिये ।

5 मन्त्रियो की (मुख्यमन्त्री सहित) नियुक्ति और विधान सभा का भग करने मे राज्यपाल की क्या भूमिका है ? 1967–71 काल मे राज्यो मे सयुक्त सरकारो के अनुभव के सन्दर्भ मे इसका उल्लेख कीजिये ।

6 ' राज्यपालो की अभिकल्पना यद्यपि सवैधानिक अध्यक्ष के रूप मे की गयी थी, परन्तु हाल ही मे उन्होने इतनी शक्तिया हस्तगत कर ली है जितनी कि हमारे लोकतन्त्र मे किसी भी पदाधिकारी को प्राप्त नही है ।" इस कथन को समझाइये ।

7 "मुझे पूरा विश्वास है कि सवैधानिक राज्यपाल होने के अतिरिक्त मुझे कुछ नही करना होगा ।" श्री प्रकाश, मद्रास राज्य के भूतपूर्व राज्यपाल के इस कथन की समीक्षा कीजिये ।

———

जब उसने प्रगति दल के नेता बीजू पटनायक को नन्दनी सतपती के अल्पमत मे होने पर, सरकार बनाने के लिए निमंत्रित नही किया आदि। विरोधी दलो ने राज्यपाल के माध्यम से केन्द्र द्वारा अपनाये गये इन दाव पेचो को "संविधान के विनाश" (Subversion of the Constitution) और "संवैधानिक प्रक्रिया के दुरुपयोग" (Prostitution of the Constitutional processes) की संज्ञा दी।

यह सत्य है कि जब तक विधान सभा के सदस्यो मे सार्वजनिक नैतिकता का विकास नही होता, जब तक राजनीतिक दलो मे दल-बदलू विधायको के सम्बन्ध मे किसी आचार संहिता का विकास नही होता और राजनीतिक दलो मे सिद्धान्तो के प्रति आस्था उत्पन्न नही होती तब तक राज्यपालो के लिए निर्दलीयता और निष्पक्षता से कार्य करना कठिन है क्योकि सिद्धान्तहीन दल और राजनीतिज्ञ अपने हितो की रक्षा हेतु राज्यपाल की शक्तियो का प्रयोग करने के लिए इच्छुक रहेंगे फिर भी यथा सम्भव राज्यपाल को निष्पक्ष, संवैधानिक और निर्दलीय बनाने के लिए निम्न सुझावो को कार्यान्वित करने की आवश्यकता है —

(i) राजनीति मे सक्रिय या निर्वाचनो मे पराजित व्यक्ति को राज्यपाल के पद पर नियुक्त नही करना चाहिये। क्योकि राजनीति के किसी भी खिलाडी से यह आशा नही की जा सकती कि वह वियुक्त (detached), निष्पक्ष या निर्दलीय भाव से राज्यपाल के उत्तरदायित्व को निभाने मे सफल होगा।

(ii) राज्यपाल की नियुक्ति के समय न केवल मुख्यमन्त्री से परामर्श लिया जाय बल्कि समूचे मन्त्रिमण्डल और विरोधी दल के नेताओ से भी परामर्श लिया जाये। ऐसा होने पर राज्यपाल सभी दलो मे विश्वास पैदा करने मे सफल हो सकता है। राज्य की अस्थिर राजनीतिक स्थिति की अवस्था मे यह विश्वास अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

(iii) राज्यपाल के पद को केवल 'लाभ' का पद नही समझा जाना चाहिये। इस पद पर केवल उन्ही व्यक्तियो को नियुक्त करना चाहिये जिन्हे प्रशासन का पर्याप्त अनुभव हो जिनमे लोक कल्याण और सेवा की भावना कूट-कूट कर भरी हो जिनकी इमानदारी पर शक न किया जा सके और जिनका सार्वजनिक चरित्र और व्यवहार असंदिग्ध हो।

(iv) राज्यपाल के विवेकाधिकारो का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिये। उसका मूल कर्तव्य संविधान और प्रजातन्त्र की रक्षा, जनता का कल्याण और सेवा भाव होना चाहिये। उसे तो वियुक्त (detached) निष्पक्ष और निर्दलीय पर्यवेक्षक की भांति राज्य की राजनीतिक घटनाओ को आंकना चाहिये न कि किन्ही दलीय भावनाओ से।

(v) राज्यपाल की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसे पाच वर्ष के बाद पुन नियुक्त न किया जाय निवृत्त होने के बाद राजनीति से सन्यास ले लेना चाहिये अर्थात उसे किसी अन्य लाभ के पद पर नियुक्त

नही करना चाहिये अ यथा वह अपन के द्रीय स्वामियो की इच्छाओ की पूर्ति करने मे ही सलग्न रहेगा । सेवा निवत होन पर उसके लिए प शन की व्यवस्था की जा सकती ह ।

(vi) राज्यपाल को केवल के द्र का "नौकरशाह" या अभिकता मात्र नही होना चाहिय । जहा उसे राष्टाय एकता के हितो की रक्षा करनी है वहा उसे राज्य की स्वायत्तता और प्रजात त्र की रक्षा क लिए प्रहरी भी होना चाहिय ।

## समीक्षा–प्रश्न
## (Review Questions)

1 राज्यपाल की शक्तियो और स्थिति का वणन कीजिये । क्या राज्यपाल निरपेक्ष या निरकुश बन सकता है ?

2 क्या राज्यपाल क पास कोई विवेकाधिकार है ? किन परिस्थितियो मे राज्य पाल अपन विवकाधिकारो का प्रयाग कर सकता ह ?

3 "राज्यपाल एक ही समय पर सवधानिक अध्यक्ष ह वास्तविक अध्यक्ष है और के द्र का अभिकता है" आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये ।

4 राज्यपाल और मुख्यमन्त्री तथा राज्यपाल और विधान सभा क सम्ब धो का उल्लख कीजिये ।

5 म त्रियो की (मुख्यम त्री सहित) नियुक्ति और विधान सभा का भग करन मे राज्यपाल की क्या भूमिका है ? 1967–71 काल मे राज्या म सयुक्त सरकारा के अनुभव के स दभ मे इसका उल्लेख कीजिय ।

6 'राज्यपालो की अभिकल्पना यद्यपि सवधानिक अध्यक्ष के रूप म की गयी थी, परन्तु हाल ही मे उ होन इतनी शक्तिया हस्तगत कर ली है जितनी कि हमारे लोकत त्र मे किसी भी पदाधिकारी को प्राप्त नही ह ।' इस कथन को समझाइये ।

7 'मुझ पूरा विश्वास है कि सवधानिक राज्यपाल होने के अतिरिक्त मुझ कुछ नही करना होगा ।" श्री प्रकाश, मद्रास राज्य के भूतपूव राज्यपाल के इस कथन की समीक्षा कीजिय ।

---

पुस्तक 4

# भारतीय राजनीति का स्वरूप और उसके निर्धारक तत्व

(The Nature and Determinants of Indian Politics)

अध्याय **1**

# भारतीय राजनीति का स्वरूप और उसके निर्धारक तत्व

## (The Nature and Determinants of Indian Politics)

भारतीय राजनीति का स्वरूप विचित्र, अद्वितीय और बहुरूपी है। यह निरन्तर परिवर्तन की स्थिति में है। जैसाकि नार्मन डी. पामर ने लिखा है कि "समकालीन भारत राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन की मनोरंजक प्रयोगशाला है।"[1] यदि यहाँ परम्परागत तत्वों का प्रभाव है तो आधुनिक तत्व भी यहाँ बलशाली हैं, यदि धार्मिक मूल्य राजनीतिक मूल्यों को निर्धारित करने में सहायक हैं तो धर्म निरपेक्षता की भावनायें भी उस पर प्रतिबिम्बित होती हैं, यदि भारतीय समाज जातीय भावनाओं से ओत प्रोत है तो जातीय सहिष्णुता भी यहाँ विद्यमान है, यदि प्रान्त भाषा और स्थान की भिन्नतायें यहाँ विद्यमान हैं तो सामान्य और एकता की भावनायें भी विद्यमान हैं अर्थात् यहाँ भिन्नताओं में एकता और राष्ट्रीयताओं में राष्ट्र की भावनायें छुपी हुई हैं। नार्मन डी. पामर ने ठीक लिखा है कि "एकता और भिन्नता, परम्परा और आधुनिकता, निरन्तरता और परिवर्तन, मतैक्यता और मतभेद, केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीकरण, पृथक्करण और अभिज्ञान, धर्म निरपेक्षता और धार्मिक मूल्य, राजनीतिक साझेदारी और राजनीतिक विच्छेद (अलगाव प्रवृत्ति), राजनीतिक सामाजीकरण और सामाजिक विघटन, पश्चिमीकरण और भारतीयकरण, व्यवहारवाद और मर्यादित वचनबद्धता, उद्देश्यों और उपलब्धियों, सिद्धान्त और व्यवहार, आदर्श और वास्तविकताओं में अत्यन्त गम्भीर विरोधाभास है।"[1]

भिन्नताओं और विरोधाभासों के बावजूद भी भारतीय राजनीतिक प्रणाली की गहरी नींवें हैं। इसमें मतैक्यता, सहिष्णुता, समीकरण और समन्वय की अपार शक्ति है और यह गम्भीर से गम्भीर प्रहार (आन्तरिक और बाह्य) सहन करके भी निरन्तर बनी रह सकती है। इसका मूल कारण यह है कि भारत में 'परम्परागत

1 Palmer, Norman D., The Indian Political System, Second edn. (Houghton Mifflin Co., Boston) (1971), p. 1

परिशमटिक (Charismatic) और लौकिक शक्तियाँ संयुक्त रूप से काय करती है।' परम्पर बाधायें डालते हुए भी वे एकता और सुदृढ़ता की ओर अग्रसर हो सकती ह। टायनबी न ठीक लिखा है कि भारत स्वय मे पूर्ण विश्व है।

भारतीय राजनीति प्रणाली मे प्रचलित सस्थाओं को अपनाने के बाद भी उह प्रचलित अर्थों मे स्वीकार नही किया गया। उदाहरणतया यह ससदात्मक प्रजातान्त्रिक है परन्तु न तो यहा ब्रिटेन की भाति द्वि दलीय प्रणाली का विकास किया गया है और न ही मन्त्रिमण्डल क सामूहिक उत्तरदायित्व की परम्परा का विकास किया गया है। इसी प्रकार यह सघात्मक होते हुए भी एकात्मक ह। यदि केन्द्र के द्रीयकरण को शक्तियो को अभि यक्त करता है तो स्थानीय स्वशासन और पचायत राज विके ी करण का अभि यक्त करता है। यहा अराजनीतिक तत्वा मे रा ज ातिक त त्वा का भी समावेश है।

भारतीय राजनीति म तादात्मय और नमनशीलता (accommodation and flexibility) की अपार क्षमता है। यह परम्परागत होते हुए भी आधुनिक सस्थाओं (सविधान कानून का शासन ससद, आदि) को अपना सकता है और आधुनिक होते हुए भी परम्परा (जाति, धम, भाषा, सस्कृति) और सामाजिक रूढ़िया का बनाय रख सकती है। कुछ क्षेत्रो म मानवीय और भौतिक भावना का अभाव होते हुए भी यह कुछ अन्य क्षेत्रो मे राष्ट्रीय और सामाजिक एकीकरण, आर्थिक और तकनीकी विकास और मानवीय सजीवता को उच्च स्तर पर बनाये रख सकती है। यदि यह "सक " और अभाव' की राजनीति है तो यह 'सद्भावना 'सहयोग" 'आत्म निभरता' और 'राष्ट्रीयकरण" की भी राजनीति है।

## भारतीय राजनीतिक प्रणाली का स्वरूप
## (Nature of Indian Political System)

प्रो० मोरिस जोस ने भारतीय राजनीतिक प्रणाली के स्वरूप की तीन विशेषताओ (शैलियो) (idioms or languages)[1] का उल्लेख किया है। ये विशेषतायें है (i) आधुनिकता (ii) परम्परा (iii) ऋषितुल्यता

(i) आधुनिकता (Modernity) प्रो० मोरिस जोस के अनुसार भारतीय राजनीतिक प्रणाली की आधुनिकता को राष्ट्रीय स्तर पर दखा जा सकता है। सविधान न्यायालय ससद, उच्च प्रशासन, मुख्य राजनीतिक दल समाचार पत्र योजनायें नीतिया और प्रोग्राम दबाव समूह निहित हित, तर्क विवाद, विचार विमश सम्मेलन, प्रतिवेदन प्रदान निर्णय आदि मे भारतीय राजनीतिक प्रणाली की आधुनिकता को दखा जा सकता है।

(ii) परम्परागत (Traditional)—भारतीय राजनीतिक प्रणाली की परम्परागत विशेषताओ, को राज्य जिला और स्थानीय स्तरो पर देखा जा सकता है। परम्परागत तत्व आवश्यक रूप स प्राचीन चार वर्णों पर आधारित नहीं। .

1 Jones Morris W H Parliament in India

जाति, अगणित उप जातियो, छोटे छोटे राजनीतिक समूहा, स्थानीय नेताओं आदि मे देखी जा सकती है। ये समूह अपने आप मे ऐसे छोटे छोटे विश्व हैं जो भारतीय राजनीति पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा मे डालते रहते हैं।

(iii) साधुता (Saintliness)—भारतीय राजनीतिक प्रणली की एक विशेषता यह है कि इसमे "साधुता' तत्वो का समावेश है। महात्म बुद्ध और महावीर इसके प्रारम्भिक प्रतिपादक थे, राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक काल मे गोखले ने इसे 'अनुनय' और 'सुधार' का रूप दिया और गाधी ने इसे अहिंसक सत्याग्रह आन्दोलन का रूप दिया। वर्तमान मे विनोबा भावे और जयप्रकाश नारायण ने इसे सर्वोदय आन्दोलन का रूप दिया। भूदान, सम्पत्तिदान, श्रमदान और जीवनदान इस आन्दोलन के पहलू है। इस तरह साधुता तत्व भारतीय राजनीति के किनारे पर सवत्र विद्यमान रहे हैं और आज भी हैं। जयप्रकाश नारायण द्वारा शुरू किये गये "सम्पूर्ण क्रान्ति' के आन्दोलन ने भारतीय जनमत को अपने राजनीतिक अधिकारा को एहसास कराने मे अद्वितीय भूमिका निभाई है।

भारतीय राजनीति मे 'साधुता' तत्व का प्रभाव यद्यपि अत्यधिक नही रहा और इसकी भूमिका गौण ही रही है फिर भी भारतीय राजनीति की शब्दावली मे यह व्यापक रूप से विद्यमान रही है। यदा-कदा राजनीतिज्ञ अपने उद्देश्या की पूर्ति के लिय इसका प्रयोग करते है। सन् 1974 मे मोरारजी देसाई ने गुजरात विधान सभा को भग करने के लिये और 1975 म मोरारजी देसाई ने ही गुजरात विधान सभा के लिये निर्वाचन कराने के लिये 'साधुता तत्व अर्थात् आमरण उपवास का प्रयोग किया। यह तथ्य इस बात का प्रतीक है कि भारतीय नेताओ ने विदेशी शासको से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये ही नही बल्कि अपने शासको के कलुषित इरादो को समाप्त करने और जनतान्त्रिक सस्थाओ द्वारा शासन पद्धति को लागू करने के लिये भी किया है। यह स्वतन्त्र देश के नागरिको के अधिकारो की दृढोक्ति (assertion) है कि जब कभी जन प्रतिनिधि (शासक) इतने स्वार्थी, लालची, भ्रष्ट और दलीय भावनाओ से प्रेरित हो जायें कि वे जन सेवक के स्थान पर जनता के स्वामी बन जाय और वे अर्थ व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था तथा प्रशासनिक व्यवस्था का कुप्रबन्ध करने लगें तो जनता आत्मिक बल स अपने जन उद्देश्यो को प्राप्त कर सके। अहिंसक अस्त्र के रूप मे यह भारतीय राजनीति की, राजनीति शास्त्र को मूल्यवान देन है।

भारतीय राजनीतिक प्रणाली की उपर्युक्त तीनो विशेषताऐं एक दूसर से भिन्न हैं परन्तु फिर भी उन्हे भिन्न स्तरो मे, समूहो म, नेताओं मे, सस्थाओ म न्यूनाधिक मात्रा मे देखा जा सकता है। सभी मे एक दूसरे के क्षेत्र मे हस्तक्षेप की प्रवृत्ति है। जसाकि मोरिस जोन्स ने लिखा है कि "इन्ही विशेषताओ का सम्मिश्रण ही भारतीय राजनीति को विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है।' सयुक्त रूप मे वे भारत की विशिष्ट राजनीति शैली का निर्माण करते हैं तथा उसके लिय उत्तरदायी हैं।

## भारतीय राजनीतिक प्रणाली की विशेषतायें
### (Features of Indian Political System)

भारतीय राजनीतिक प्रणाली की अनेक विशेषतायें है जिन्हें निम्न शीर्षकों में अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है

(i) **मतैक्यता, सहिष्णुता, समीकरण और सम्मिश्रण** (Consensus, tolerance, assimilation and sythesis)—भारतीय राजनीतिक प्रणाली की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमे मतैक्यता सहिष्णुता, समीकरण, और सम्मिश्रण की अद्वितीय विशेषता पाई जाती है। यद्यपि मोरिस जोन्स जैसे लेखक भारतीय राजनीति मे मतैक्यता के अभाव को व्यक्त करते है वस्तुत यह मतैक्यता भारतीय इतिहास, इसके सामाजिक और धार्मिक जीवन मे सर्वत्र विद्यमान है। संविधान सभा की कार्यवाही और वर्तमान संविधान द्वारा स्थापित की गयी आधुनिक राजनीतिक संस्थाओ मे भी इस मतैक्यता को देखा जा सकता है। भारतीय राज्य का प्रजातान्त्रिक, लोक कल्याणकारी धर्म निरपेक्ष स्वरूप ही मतैक्यता का परिणाम है। विभिन्नता मे एकता, समाजवादी समाज का संकल्प सामान्य अनुभवो और बाह्य चेतावनियो के विद्यमान होने पर राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने के तत्व उसकी मतैक्यता के द्योतक हैं।

प्राचीन एव वर्तमान इतिहास मे खण्डित समाज को एकीकृत करने के लिये राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक नेतृत्व सर्वदा विद्यमान रहा है। हिन्दू धर्म तो सहिष्णुता, समीकरण और सम्मिश्रण की मूर्ति है। इसने शताब्दियो तक भिन्न जातियो, धर्मों और संस्कृतियो को अपने मे सम्मिलित किया। प्रो० के० एम० पणिक्कर ने ठीक लिखा है कि "भारत की परम्परा सर्वदा सम्मिश्रण की रही है। अपनी पहचान को खोये बिना दूसरो की संस्कृति को अपने मे समा (मिल) लेना इसकी अद्वितीय योग्यता रही है। हिन्दू सभ्यता मे आर्य और द्राविडियन का मिश्रण रहा है इस्लाम के साथ लम्बे काल तक सम्पर्क होने से भारतीय जीवन पर उसका प्रभाव पड़ा है। ब्रिटिश काल मे तो भारत पूर्व और पश्चिम का मिलन स्थल था।

(ii) **निरन्तरता और परिवर्तन अर्थात परम्परा और आधुनिकता** (Continuity and Change or Tradintion and Modernity)—यद्यपि परम्परा और आधुनिकता एक दूसरे के विरोधी हैं फिर भी भारतीय राजनीति मे ये एक साथ विद्यमान है। वस्तुत इन दोनो का संघर्ष और समन्वय ही भारतीय राजनीति की प्रमुख विशेषता है। भारत मे वस्तुत समाजीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ हो गया है जो परम्परा और आधुनिकता के भेद को कम कर रही है। यद्यपि राजनीति प्रणाली के भिन्न भिन्न भागो मे परिवर्तन की मात्रा असमान होने से इसने नवीन भेदो (विभिन्नताओ) को भी जन्म दिया है। परम्परा आधुनिक प्रवृत्तियो से प्रभावित है और आधुनिकता मे परम्परा के तत्व विद्यमान हैं। दोनो एक दूसरे पर क्रियायें और प्रतिक्रियाएँ करते है।

भारतीय संविधान, संसदात्मक (मन्त्रिमण्डलात्मक) प्रणाली, कानून का शासन, निर्वाचन पद्धति, दलीय व्यवस्था आदि भारत मे आधुनिकता के द्योतक हैं। परन्तु जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकता आदि परम्परा के द्योतक हैं। जातीय, भाषाई, वर्गीय गुटबन्दिया, क्षेत्रीय वफादारिया, स्थानीय नेताओं का राजनीति पर प्रभाव सामाजिक और पारिवारिक जीवन का ढाचा भी परम्परा के द्योतक हैं। सन् 1968 म इदिरा गाधी ने कहा था कि "भारत अनेक स्तरो मे निवास करता है। अनेक शताब्दिया एक साथ हमारी भूमि मे निवास करती हैं। भारत के कुछ भाग उतने ही विकसित हैं जितने कि विश्व के अन्य स्थान और शेष परम्परा मे डूबे हुए है।"[1]

(iii) भिन्न भिन्न विचार धाराओं का संश्लेषण (Sythesis of different ideologies)—भारतीय राजनीति प्रणाली की तीसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इसमे अनेक और विभिन्न विचारधाराओ का संश्लेषण किया गया है। उदाहरणतया यदि इसमे संसदात्मक प्रणाली को अपनाया गया है तो यह पश्चिमी, विशेषकर ब्रिटिश नमूने की नही। ढाचे और संस्थाओ मे तो यह संसदात्मक है परन्तु व्यवहार मे यहा संसदात्मक परम्पराओ का विकास नही किया गया। यहाँ दलीय व्यवस्था अवश्य है परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय स 'एक दल' (काग्रेस) का ही प्रभुत्व रहा है, विरोध पक्ष विघटित और निर्बल है, मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व का अभाव है, संसद मे सत्रकाल मे भी उसकी उपेक्षा की जाती है और अध्यादेशो द्वारा शासन करने की प्रवृत्ति विद्यमान है स्पीकर की निष्पक्षता और निर्दलीयता असंदिग्ध नही। दूसरे, संविधान उदार भावनाओ से प्रेरित है परन्तु सर्वसत्तावादी प्रवृत्तिया भी विद्यमान हैं। उदाहरणतया यदि संविधान नागरिको के मूल अधिकारो की व्यवस्था करता है तो निवारक निरोध, भारत सुरक्षा अधिनियम और आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के रूप म सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियो को दृढ भी करता है। तीसरे भारत मे विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ केन्द्रीयकरण की प्रवृत्तिया विद्यमान हैं। उदाहरणतया पचायत राज की संस्थाओ के रूप मे और स्थानीय स्वशासन की अन्य संस्थाओ के रूप मे यदि भारत म सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया गया है तो केन्द्र को शक्तिशाली बना कर केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को भी उत्पन्न किया गया है। चौथे, यदि भारतीय राजनीतिक प्रणाली म संघात्मक तत्व विद्यमान हैं तो संकटकालीन स्थितियाँ अखिल भारतीय सेवाओ, एकीकृत न्यायिक व्यवस्था, इकहरी नागरिकता, निर्वाचन आयोग आदि के रूप म एकात्मक तत्व भी विद्यमान हैं। पाँचवें भारत गणराज्य होते हुए भी राष्ट्रमण्डल जैसी राजतान्त्रिक संस्था का सदस्य है। ग्रेनविले आस्टिन ने ठीक लिखा है कि "भारत पहला राष्ट्र है जिसने गणतान्त्रिक और राजतान्त्रिक

---

1 Mrs Gandhi Indira Quoted by Palmer, Norman D Ibid p 8

प्रवृत्तियों का समायोजन किया है।[1]' यह भारतीय राजनीतिक प्रणाली की ही विशेषता है जिसमें परस्पर विरोधी विचारधाराओं का एक साथ संश्लेषण किया गया है। इसमें आज गणतन्त्र, प्रजातन्त्र, समाजवाद, राष्ट्रवाद, धर्मनिरपेक्षता, असंलग्नता आदि विचारधाराओं का सम्मिश्रण है। गांधीवादी, हिन्दूवादी आदि देशी तत्वों का समावेश भी इसमें है।

(iv) असाधारण राष्ट्रीय नेतृत्व (Extraordinary national leadership)—भारतीय राजनीतिक प्रणाली की एक अन्य विशेषता यह रही है कि इसे अब तक राष्ट्रीय स्तर के नेतृत्व का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह नेतृत्व केवल राजनीतिक स्तर पर ही नहीं बल्कि समाज, धर्म, दर्शन आदि क्षेत्र में भी विद्यमान रहा है। राजनीतिक क्षेत्र में तिलक, गोखले महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू सुभाष चन्द्र बोस, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, चक्रवर्ती राजगोपाल आचार्य, इन्दिरा गांधी आदि की लम्बी कतार है। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस जैसी हस्तियाँ, आदि प्रमुख नेता हुए हैं। टैगोर जैसे साहित्यक व्यक्ति भी इसी धरती पर पैदा हुए हैं। डा० पॉल एपलबी ने ठीक लिखा है कि भारत की सबसे महत्वपूर्ण सम्पदा 'असाधारण राष्ट्रीय नेतृत्व' की रही है। इन नेताओं के व्यक्तित्व में एक करिश्मा (charisma) था, एकीकरण की एक शक्ति थी।

भारतीय राजनीतिक नेतृत्व में दो नमूने एक साथ विद्यमान रहे हैं। एक नमूना राजनीतिक दलों के रूप में प्रजातान्त्रिक ढाँचे पर आधारित रहा है। इससे भारत का प्रबुद्ध एवं शिक्षित वर्ग सम्बन्धित है। दूसरा नमूना, जो प्रजातान्त्रिक नमूने पर क्रियायें और प्रतिक्रियायें करता है अर्द्ध धार्मिक नेतृत्व पर आधारित है जिससे सर्वसाधारण नागरिक सम्बद्ध रहा है और जिसमें सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। इस सर्वसत्तावादी प्रवृत्ति को भारत के महान काव्यों कठोर जाति प्रणाली, विदेशियों के शासन, देहाती जीवन में, धार्मिक पारिवारिक और अन्य समूहों तथा परम्पराओं में भी देखा जा सकता है।

नेतृत्व के उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त भारत में नेतृत्व की कसौटी 'उपलब्धि' (achievement criteria) भी रही है। निर्वाचन की पद्धति और प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया ने सत्ता के स्तर को ही बदल दिया है। आज नेतृत्व केवल केन्द्रीय नहीं बल्कि स्थानीय, राज्यीय और राष्ट्रीय भी है। रजनी कोठारी ने ठीक लिखा है कि "निर्वाचन और प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया ने सत्ता के स्तरों को पहली पीढ़ी के नेतृत्व से हटाकर उन लोगों के हाथों में दे दिया जो राज्य और जिला स्तर पर संगठित हैं।" यह नेतृत्व जाति संघों, ग्राम पंचायतों और सहकारिता के हाथ में है। इस नवीन नेतृत्व को छोटे छोटे नगरों, जिला कार्यालयों में देखा जा सकता है।

1 Austin Granville, The Indian Constitution Corner tone of a Nation, p 319

स्थानीय स्तर पर सत्ता के स्तर निर्धारित होने से केन्द्रीय नेतृत्व म ढिलाई उत्पन्न हुई है और ज्यो ज्यो भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम के नेता राष्ट्रीय स्तर स ओझल हो रहे हैं त्यो त्यो राष्ट्रीय स्तर के नेतृत्व का अभाव सामने आने लगा है। श्री नेहरू के निधन के बाद राष्ट्रीय स्तर के नेतृत्व की कमी ने ही दलीय फूट और गुटबन्दी को जन्म दिया दलीय अनुशासन और नियत्रण मे कमी आयी है। सन् 1967 के निर्वाचन मे काग्रेस की पराजय और 1969 म काग्रेस का विभाजन नेतृत्व की दृढता की कमी का परिणाम था। यद्यपि 1971 और 1972 म काग्रस के निर्वाचन मे इन्दिरा गाधी के रूप मे राष्ट्रीय नेतृत्व निखरा परन्तु अब फिर वह दुर्बल होता नजर आता है। राष्ट्रीय नेतृत्व की दुर्बलता भारतीय राजनीति में अस्थिरता को जन्म दे सकती है।

(१) गुटबन्दी (Factionalism)—गुटबन्दी शब्द का प्रयोग राजनीतिक पथ धरा के लिय किया जाता है। यह राज्य प्रशासन दल या सगठन मे उन छोटे और गुटो समूहो अथवा सयोगो की अभिव्यक्ति करती है जो सामान्य हितो का उपेक्षा कर सकीर्ण स्वार्थी हितो की पूर्ति करती हैं। क्योकि गुटबन्दी के सदस्य प्राय दूसरे गुट से झगडते रहते है और सदा उसे (विरोधी गुट को) अपदस्थ करने का अवसर ढूढते रहते है अत इस षड्यन्त्र राजनीति की सज्ञा दी जा सकती है।

गुटबन्दियाँ सत्ता की ऐसी लम्बरूप रचनायें हैं जो जाति और वर्ग विभाजन की रेखाओ को स्वीकार नही करतो। ये जाति अथवा वर्ग से अधिक अस्थिर और कम सयोगशील (less Cohesive) होती हैं परन्तु कभी कभी ये जाति और वर्ग स अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

गुटबन्दी भारतीय राजनीति की एक अन्य प्रमुख विशेपता रही है। यह गुटबन्दी राष्ट्रीय स्तर से लेकर ग्रामीण स्तर तक विद्यमान रही है। सन् 1967 के निर्वाचन में कांग्रेस की राज्यो मे पराजय और सन् 1969 मे कांग्रेस विभाजन का मूल कारण कांग्रेस दल मे गुटबन्दियो का अस्तित्व था। अनेक राज्यो म मन्त्रिमडलो का बनना और बिगडना गुटबन्दियो की बिवर्ती मत्रियाँ (shifting alliances) नही है।

गुटबन्दी के मोह मे राज्य का सत्तारूढ दल दो परस्पर विरोधी गुटों म विभक्त हो जाता है जो मन्त्रिमण्डलीय गुट (ministerial group) और विरोधी गुट (dissent group) कहलाते हैं। पहले गुट का नेता सामान्यतया मुख्य मत्री होता है और दूसरे का कोई अन्य मन्त्री या विधान सभा सत्तारूढ दल का कोई सदस्य। इस गुटबन्दी ने जहाँ तक राजनीतिक अस्थिरता और अस्पष्टता को जन्म दिया है वहा षड्यन्त्र राजनीति भी इसमे पनप रही है।

राष्ट्रीय स्तर पर नेहरू काल म, य गुटबन्दियाँ नही पनप सकी क्योकि नेहरू का नेतृत्व बहुत प्रभावशाली था परन्तु इन्दिरा गांधी के काल म इनका विकास हुआ और जसाकि कहा लिखा गया है कि 1969 का कांग्रेस विभाजन गुटबन्दिया का

परिणाम था। यद्यपि इंदिरा गांधी का सुदृढ और राष्ट्रीय नेतृत्व 1971 और 1972 के निर्वाचनो मे सामने आया था परन्तु 1974–75 के जयप्रकाश नारायण के "सम्पूर्ण क्रांति" के आन्दोलन और उसके द्वारा उभारी गयी समस्याओं ने गुटबदी को जन्म दिया है। मोहन धारिया, चन्द्रशेखर आदि यग तुर्क गुटबदी की भाषा का प्रयोग करते हैं जब वे जयप्रकाश से विचार विमर्श (dialogue) की बात करते हैं। इन गुटबदियो के कारण इंदिरा नेतृत्व का दल और शासन पर पूर्ण एव निरपेक्ष नियत्रण नही।

राज्यो की राजनीति मे ये गुटबदियां अधिक उग्र नही है। बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, हरियाणा और पजाब आदि राज्य तो इस रोग से अत्यधिक पीडित रहे है। इन राज्यो मे तो मत्रिमडलो का निर्माण भी इस बात पर निर्भर रहा है कि किस समय कौन सा गुट अधिक प्रभावशाली रहा है।

(vi) प्रभाव समूह (Pressure groups)—अन्य देशो की राजनीतिक प्रणालियो की भाति भारतीय राजनीतिक प्रणाली भी प्रभाव समूहो से प्रभावित रही है। ये प्रभाव समूह अनेक एव विभिन्न प्रकार के रहे है। वस्तुत भारतीय जनता मे अनेक प्रकार के जन (publics) है—एक तरफ तो शिक्षित जन है और दूसरी तरफ अगणित अशिक्षित लोगो का जन है। पहले की ही भूमिका सक्रिय और रचनात्मक है, दूसरे की गौण और नकारात्मक है। सत्ता का वास्तविक प्रयोग शिक्षित जन ही करता है। इन जनो के अन्तर्गत अनेक क्षेत्रीय, भाषाई, जातीय, साम्प्रदायिक उप जन है। ग्रामवासियो और नगरवासियो को अपने पृथक पृथक जन है। ये समूह मिल कर भारतीय राजनीतिक जीवन और व्यवहार पर अत्यधिक प्रभाव डालते है। सत्ता को प्राप्त करने के इच्छुक प्रभाव समूहो का अनेक बार राज्यो के मत्रिमडलो पर इतना अधिक प्रभाव पडा है कि मत्रिमडल का निर्माण और पतन उनकी विवर्ती मैत्रिया पर निर्भर रहा। जातियो के विधायक अपनी पृथक-पृथक बैठकें करते हैं और मन्त्रिमण्डल पर उचित अनुचित प्रभाव डालते है।

भारतीय राजनीति मे तीन प्रकार के प्रभाव समूहो को विशेष प्रकार से देखा जा सकता है—

(a) विशेष हितो वाले सगठन (Special interest organization)—इनका उदय हाल ही मे हुआ है। इनका सामाजिक और आर्थिक आधार रहा है। इनके प्रमुख उदाहरण हैं—श्रमिक सघ, व्यापार समूह, छात्र सगठन, समाज कल्याण अभिकरण एव युवा और महिला सगठन। कुछ श्रमिक सघ तो राजनीतिक दलो के सहायक अग बनकर रह गए है, जैसे—अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस (AITUC) साम्यवादी दल का सहायक अग है, इडियन नेशनल ट्रेड यूनियन काग्रेस (INTUC) काग्रेस दल का सहायक अग है, आदि।

(b) साम्प्रदायिक समूह एव धार्मिक सगठन—ये समूह जाति धर्म और भाषा पर आधारित हैं जैसे राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ ऐसा प्रभाव समूह है जो जन सघ के माध्यम से कार्य करता है।

(c) विचारधाराओं को अभिव्यक्त करने वाले समूह—इनमे प्रमुख गाधी वादी विचारधारा का अभिव्यक्त करने वाले सगठन ह । सर्वोदय समाज, सत सवा मघ, हिन्दुस्तानी प्रचार मभा, तालीमी मघ आदि गाधीवादी सगठन हैं।

यद्यपि इन प्रभाव समूहो के प्रभाव को ठीक प्रकार से आकना कठिन है, परन्तु विशिष्ट विषयो पर इन समूहो का प्रभाव पडता ह ।

(vii) अनौपचारिक सचारण के साधनो का प्रभाव—भारतीय राजनीति की एक विशेषता यह है कि यहाँ अधिकाश जनसख्या निरक्षर होने से उस पर सामाजिक सचारण के उन साधनो का प्रभाव कम है जिनका सामान्यतया प्रमोर पश्चिम प्रजातान्त्रिक प्रणालियो म किया जाता है। यही कारण है कि भारत म जनता पर सचारण के औपचारिक साधनो (रेडियो प्रेस आदि) का प्रभाव इतना नही जितना कि नेतृत्व' और 'व्यक्तित्व' का है। उदाहरणतया नेहरू काल म नेहरू के नेतृत्व और व्यक्तित्व का प्रभाव भारतीय राजनीति पर प्रत्यधिक था और 1971–72 मे तो इंदिरा हवा (Indira wave) ने ही भारत की राजनीति को आच्छादित कर दिया था ।

(viii) आन्दोलन राजनीति—भारतीय राजनीतिक प्रणाली की एक विशेषता यह है कि यह जन हिंसा और आन्दोलन की राजनीति नही है। हडताल, विरोध प्रदशन, बन्द घेराव उपवास, दगे इस राजनीति की विशेषताएँ हैं। भारत मे 'सत्ता का विरोध' इसी प्रकार के साधनो द्वारा किया गया है। वतमान मे जयप्रकाश नारायण की 'सम्पूर्ण क्रान्ति' इन्ही साधनो द्वारा सचालित है। यद्यपि ये साधन कभी कभी सावजनिक जीवन को अस्त व्यस्त करते हैं सावप्रतिक सम्पत्ति को हानि पहुँचाते हैं तथा सामान्य जीवन का भी खतरा उत्पन्न हो जाता है जिससे सामाजिक ढाचा और राजनीतिक प्रणाली हिल जाती है फिर भी भारतीय राजनीतिक प्रणाली इन साधनो को स्वीकार करती है और ये साधन उसके अभिन्न अङ्ग है। इन घटनाओ के आधार पर विनाश के मसीहा (prophets of dooms) ने यद्यपि भारतीय राजनीतिक प्रणाली की असफलता की घोषणाएं की परन्तु जसा कि रजनी कोठारी न लिखा है 'घेराव, बन्द धरना भारत मे विरोधी राजनीति के शस्त्रागार म महत्वपूर्ण अस्त्र रहगे और अपने ही ढङ्ग से राजनीतिक प्रणाली का खुला करने म योग देगे।'[1]

(ix) समाज का राजनीतिकरण (Politicization of society)—जसा कि प्रो० मोरिस जोन्स न लिखा है कि नवीन राज्यो मे राजनीति और समाज इतने घुले मिले हैं कि सामाजिक शक्तियो के अध्ययन के बिना राजनीतिक शक्तियो का अध्ययन अधूरा है। भारत म राजनीतिक विचारो का हिन्दू धम के मुख्य स्थान अध्यात्म और धार्मिक निगमो म जिनका प्रभाव सवव्यापी रहा है, पृथक नही किया जा सकता। भारत के सम्पूर्ण इतिहास म राजनीति का गत्य ध भवन

1 Kothari, Rajni, Ibid, p 221

शिष्ट जन या विदेशी शासकों से रहा है, साधारण जन तो राजनीतिक प्रक्रिया में साझेदार नहीं था, वह तो उसका शिकार था। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से, जब से वयस्क मताधिकार पर आधारित निर्वाचित राजनीतिक संस्थाओं की रचना की गई है, स्थिति में परिवर्तन हुआ है और राजनीतिक संगठन और सामाजिक ढांचे के भेद कम हो रहे हैं, सत्ता नीचे की ओर बढ़ रही है। जैसाकि पामर ने लिखा है कि 'समाज राजनीतिक बनता चला जा रहा है और राजनीतिक व्यवस्था का सामाजिक आधार चौड़ा होता चला जा रहा है।' यही कारण है कि राजनीतिक प्रक्रिया में जो वर्ग (जन, समूह, समुदाय) अभी तक अछूते थे अर्थात् जिन्हें अभी तक सत्ता से वंचित रखा गया था, वे अब राजनीति में अधिक सक्रिय होने लगे हैं। आज स्थानीय, क्षेत्रीय, राज्यीय या राष्ट्रीय दलों की शक्ति का आधार भारतीय समाज का कोई खण्ड ही है और दल "सामाजिक संस्थाओं और रीतियों की राजनीतिक अभिव्यक्ति है।'

(x) गैर धर्म निरपेक्ष तत्वों का प्रभाव (Influence of non secular factor) —भारतीय राजनीति पर गैर धर्म निरपेक्ष तत्वों का प्रभाव अत्यधिक रहा है। मुख्य रूप से ये तत्व हैं—जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र और भाषा। यद्यपि भारतीय संविधान जाति, धर्म, लिंग, भाषा, क्षेत्र आदि किसी भी आधार पर नागरिकों में भिन्नता नहीं करता परन्तु फिर भी इनका प्रभाव भारतीय राजनीति पर अत्यधिक है और निर्वाचन प्रणाली, सामाजिक व्यवहार और प्रशासन में इसे स्पष्ट देखा जा सकता है। भारतीय राजनीति में जाति के प्रभाव का उल्लेख करते हुए प्रो० एम० के० श्रीनिवास लिखते हैं कि, "जाति को गौण रूप में और पूर्ण रूप में इस तरह स्वीकार किया जाता है कि यह सर्वत्र सामाजिक कार्य की इकाई है।' धर्म के प्रभाव को कुछ राजनीतिक दलों की बनावट में देखा जा सकता है। अकाली दल और मुस्लिम लीग धर्म पर आधारित हैं। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, जो जन संघ का अभिन्न अङ्ग है, हिन्दू राष्ट्रवाद पर आधारित है। साम्प्रदायिक दंगों का मूल कारण यही धर्मान्धता है। "इस्लाम का भारतीयकरण" के नारे धार्मिक भावना के द्योतक है। क्षेत्रवाद और भाषावाद के रोग से तो भारतीय राजनीति अत्यधिक पीड़ित है भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन और छोटे छोटे राज्यों के निर्माण की मांग, राज्यों के सीमावर्ती झगड़े भाषावाद और क्षेत्रवाद के द्योतक है। भाषा की समस्या ने हिन्दी भाषाई और अहिन्दी भाषाई राज्यों में पर्याप्त कटुता पैदा की है जिसने हिंसक आन्दोलनों को भी जन्म दिया है। यद्यपि भारतीय राजनीति के ये तत्व राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा पहुँचाते हैं परन्तु इन्होंने राष्ट्रीय संकट के समय राष्ट्रीयता के आधार को चौड़ा किया है, उसे संकीर्ण नहीं बनाया।

(xi) विश्व का विशाल प्रजातन्त्र (Largest Democracy in the World)—भारतीय राजनीतिक प्रणाली की एक विशेषता यह है कि यह प्रजातान्त्रिक ...

(c) **विचारधाराओं को अभिव्यक्त करने वाले समूह**—इनमे प्रमुख गाधी वादी विचारधारा का अभिव्यक्त करने वाले सगठन है। सर्वोदय समाज, सर्व सेवा सघ, हिंदुस्तानी प्रचार सभा, तालीमी सघ आदि गाधीवादी सगठन हैं।

यद्यपि इन प्रभाव समूहो के प्रभाव को ठीक प्रकार से आकना कठिन है, परन्तु विशिष्ट विषयो पर इन समूहो का प्रभाव पडता है।

(vii) **अनौपचारिक सचारण के साधनो का प्रभाव**—भारतीय राजनीति की एक विशेषता यह है कि यहा अधिकाश जनसख्या निरक्षर होने से उस पर सामाजिक सचारण के उन साधनो का प्रभाव कम है जिनका सामान्यतया प्रयोग पश्चिम प्रजातान्त्रिक प्रणालियो मे किया जाता है। यही कारण है कि भारत मे जनता पर सचारण के औपचारिक साधनो (रेडियो प्रेस आदि) का प्रभाव इतना नही जितना कि नेतृत्व' और व्यक्तित्व' का है। उदाहरणतया नेहरू काल मे नेहरू के नेतृत्व और व्यक्तित्व का प्रभाव भारतीय राजनीति पर अत्यधिक था और 1971–72 मे तो इंदिरा हवा (Indira wave) ने ही भारत की राजनीति को आच्छादित कर दिया था।

(viii) **आन्दोलन राजनीति**—भारतीय राजनीतिक प्रणाली की एक विशेषता यह है कि यह जन हिंसा और आन्दोलन की राजनीति नही है। हड़ताल, विरोध प्रदर्शन, बन्द, घेराव, उपवास, दगे इस राजनीति की विशेषताएँ हैं। भारत मे सत्ता का विरोध' इसी प्रकार के साधनो द्वारा किया गया है। वर्तमान मे जयप्रकाश नारायण की 'सम्पूर्ण क्रान्ति' इन्ही साधनो द्वारा सचालित है। यद्यपि ये साधन कभी कभी सार्वजनिक जीवन को अस्त व्यस्त करते है, सार्वजनिक सम्पत्ति को हानि पहुँचाते हैं तथा सामान्य जीवन को भी खतरा उत्पन्न हो जाता है जिससे सामाजिक ढाचा और राजनीतिक प्रणाली हिल जाती है फिर भी भारतीय राजनीतिक प्रणाली इन साधनो को स्वीकार करती है और ये साधन उसके अभिन्न अङ्ग है। इन घटनाओं के आधार पर विनाश के मसीहा (prophets of dooms) ने यद्यपि भारतीय राजनीतिक प्रणाली की असफलता की घोषणाए की परन्तु जैसा कि रजनी कोठारी ने लिखा है "घेराव, बन्द, धरना भारत मे विरोधी राजनीति के शस्त्रागार मे महत्वपूर्ण अस्त्र रहगे और अपने ही ढङ्ग से राजनीतिक प्रणाली को खुला करने मे योग देंगे।"[1]

(ix) **समाज का राजनीतिकरण (Politicization of society)**—जैसा कि प्रो० मारिस जोन्स ने लिखा है कि नवीन राज्यो मे राजनीति और समाज इतने घुले मिले हैं कि सामाजिक शक्तियो के अध्ययन के बिना राजनीतिक शक्तियो का अध्ययन अधूरा है। भारत मे राजनीतिक विचारो को हिन्दू धर्म के मुख्य दर्शन अध्यात्म और धार्मिक शिक्षाओ से जिनका प्रभाव सर्वव्यापी रहा है, पृथक नहीं किया जा सकता। भारत के सम्पूर्ण इतिहास मे राजनीति का सम्बन्ध धर्म

1 Kothari Rajni Ibid p 221

स्थिति जन या किसी शासकों से रहा है साधारण जन तो राजनीतिक शक्ति से सम्मिलित नहीं था वह तो उसका शिकार था। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से, जब से वयस्क मताधिकार पर आधारित निर्वाचित राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना की गई है स्थिति में परिवर्तन हुआ है और राजनीतिक स्तर और सामाजिक ढाँचे के भेद कम हो रहे हैं सत्ता नीचे की ओर बह रही है। जैसाकि पामर ने लिखा है कि 'समाज राजनीतिक बनता चला जा रहा है और राजनीतिक व्यवस्था का सामाजिक आधार चौड़ा होता चला जा रहा है।' यही कारण है कि राजनीतिक प्रक्रिया में जो वर्ग (जन समूह समुदाय) अभी तक अछूते थे अर्थात् जिन्हें अभी तक सत्ता से वंचित रखा गया था वे अब राजनीति में अधिक सक्रिय होते जाते हैं। आज स्थानीय, क्षेत्रीय राज्यीय या राष्ट्रीय दलों की शक्ति का आधार भारतीय समाज का कोई खण्ड ही है और दल 'सामाजिक संस्थाओं और रीतियों की राजनीतिक अभिव्यक्ति हैं।

(x) गैर धर्म निरपेक्ष तत्वों का प्रभाव (Influence of non secular factors)—भारतीय राजनीति पर गैर धर्म निरपेक्ष तत्वों का प्रभाव अत्यधिक रहा है। मुख्य रूप से ये तत्व हैं—जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र और भाषा। यद्यपि भारतीय संविधान जाति, धर्म, लिंग भाषा, क्षेत्र आदि किसी भी आधार पर नागरिकों में भिन्नता नहीं करता परन्तु फिर भी इनका प्रभाव भारतीय राजनीति पर अत्यधिक है और निर्वाचन प्रणाली सामाजिक व्यवहार और प्रशासन में इसे स्पष्ट देखा जा सकता है। भारतीय राजनीति में जाति के प्रभाव का उल्लेख करते हुए प्रो० एम० एन० श्रीनिवास लिखते हैं कि 'जाति को गौण रूप में और पूर्ण रूप में इस तरह स्वीकार किया जाता है कि यह सर्वत्र सामाजिक कार्य की इकाई है।' धर्म के प्रभाव का कुछ राजनीतिक दलों की बनावट में देखा जा सकता है। अकाली दल और मुस्लिम लीग धर्म पर आधारित हैं। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, जो जन संघ का अभिन्न अङ्ग है हिन्दू राष्ट्रवाद पर आधारित है। साम्प्रदायिक दंगों का मूल कारण यही धर्मान्धता है। "इस्लाम के भारतीयकरण" के नारे धार्मिक भावना के द्योतक हैं। क्षेत्रवाद और भाषावाद के रोग से तो भारतीय राजनीति अत्यधिक पीड़ित है, भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन और छोटे छोटे राज्यों के निर्माण की मांग, राज्यों के सीमावर्ती झगड़े भाषावाद और क्षेत्रवाद के द्योतक हैं। भाषा की समस्या ने हिन्दी भाषाई और अहिन्दी भाषाई राज्यों में पर्याप्त कटुता पैदा की है जिसने हिंसक आन्दोलनों को भी जन्म दिया है। यद्यपि भारतीय राजनीति के ये तत्व राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा पहुँचाते हैं परन्तु इन्होंने राष्ट्रीय संकट के समय राष्ट्रीयता के आधार को चौड़ा किया है उसे संकीर्ण नहीं बनाया।

(xi) विश्व का विशाल प्रजातन्त्र (Largest Democracy in the World)—भारतीय राजनीतिक प्रणाली की एक विशेषता यह है कि यह प्रजातान्त्रिक

है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अपने नागरिकों को वयस्क मताधिकार प्रदान कर यह विश्व का विशाल प्रजातान्त्रिक देश बन गया है। यद्यपि इसकी प्रजातान्त्रिक प्रणाली अभी अपनी शिशु अवस्था में है फिर भी इसकी जड़ें इतनी गहरी पड़ गई हैं कि वह उन सकटों का सामना करने में सक्षम है जो समय समय पर उत्पन्न होते रहते हैं। जहाँ एशिया और अफ्रीका के अन्य देशों की राज्य क्रान्तियों ने सैनिक, सत्तावादी या अन्य किसी प्रकार के अप्रजातान्त्रिक शासनों को जन्म दिया है वहाँ भारत में जातिवाद, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायवाद, भाषावाद, राजनीतिक अस्थिरता, भीषण बेरोजगारी, निर्धनता, निरक्षरता, आर्थिक विषमताओं, हिंसक घटनाओं और बाह्य तत्वों के प्रतिकूल होने पर भी यहाँ का प्रजातान्त्रिक ढाँचा जीवित है और न्यूनाधिक मात्रा में सफलता की ओर क्रमश अग्रसर हो रहा है। प्रजातान्त्रिक संस्थाओं में भारतीय जन की निष्ठा और आस्था तथा विश्वास ने ही "विनाश के मसीहा" (prophets of doom) की भारतीय प्रजातान्त्रिक ढाँचे की असफलता की भविष्यवाणियों को गलत सिद्ध किया है। भारतीय जन सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का इच्छुक है परन्तु वह क्रान्ति या हिंसक साधनों द्वारा छलाग नहीं लगाना चाहता बल्कि वह संवैधानिक साधनों द्वारा परिवर्तन चाहता है। वह विवेक, विचार विमर्श और जनमत के प्रजातान्त्रिक साधनों का ही प्रयोग करना चाहता है।

## भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्व
**(Determinants of Indian Politics)**

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्वों को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है—

### A जाति और राजनीति
**( Catse and Politics )**

जाति का अर्थ—शाब्दिक रूप में जाति लटिन भाषा के शब्द 'कास्टस' (Castus) पुर्तगाली भाषा के शब्द 'कॉस्टा' (Casta) और संस्कृत भाषा के "वर्ण" या "जात" के अनुरूप ही है। परन्तु कॉस्टा जातीय विशुद्धता और आनुवंशिकता को अभिव्यक्त करता है कॉस्टा अभिजन्म को और वर्ण या जाति सामाजिक विभाजन को। इस तरह जाति एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें जाति शुद्धता पर बल दिया जाता है और जीवन यापन के नियमों को निर्धारित किया जाता है। जाति ही व्यक्ति के सामाजिक स्तर पद और कार्य को उसके खान पान, विवाह धार्मिक अनुष्ठानों आदि का निश्चय करती है। जाति परायण जातीय नियमों की उल्लंघना को दण्डित करती है। जाति को [illegible] , उसके नैतिक और धार्मिक नियमों का [illegible] उच्च [illegible] h and low) स्थान प्रदान करता है। यह [illegible] व्यक्ति [illegible] सामाजिक स्तर प्रदान [illegible] निर्धा

सामान्यतया किसी जाति मे जन्म लेने के बाद व्यक्ति की स्थिति मे परिवर्तन सम्भव नहीं ।

जाति की परिभाषा भिन्न भिन्न लेखको ने भिन्न भिन्न रूप से दी है। मजूमदार और मदन के लिये "जाति एक बन्द वर्ग है", चार्ल्स, कूले के लिये "जाति पूर्णतया वंशानुक्रम पर आधारित है", हावेल के लिये 'अन्तर्विवाह और आनुवंशिक पद ही जाति है', माइवेल "धार्मिक विश्वासों, आनुवंशिक संस्तरण, अन्तर्विवाह, व्यवसाय, कर्मकाण्ड, संस्कार, पूर्व निर्धारित स्थिति और नियन्त्रण पर आधारित संगठन को ही जाति मानता है।" प्रो० फेयरचाइल्ड के शब्दो मे 'जाति समरूप, सजातीय सामाजिक नियन्त्रण का संगठन है जिसके, विशेषकर धार्मिक शुद्धता के सम्बन्ध में, अपने विशिष्ट कर्मकाण्ड होते हैं। प्रत्येक जाति या उप जाति को सरकार द्वारा उच्च या निम्न स्तर प्रदान किया जाता है जो उसकी उत्पत्ति, उसके स्थापित व्यवसाय और उसके नैतिक नियमो की कठोरता और धार्मिक संहिता पर निर्भर करता है।" संक्षेप मे, जाति ऐसा सजातीय समूह का योग है जिसका अपना नामकरण है, जिसकी सदस्यता वंशानुगत है जिसके सामाजिक लेन देन के अपने नियम हैं, आदि ।

**भारतीय राजनीति मे जाति (Caste in Indian Politics)**—इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत मे जाति प्रणाली ने राष्ट्रीय प्रवृत्तियो को सदा दुर्बल किया है और विघटनकारी तत्वो को बढावा दिया है। अतः ऐतिहासिक अनुभव से लाभ उठाते हुए भारतीय संविधान निर्माताओ ने जाति प्रणाली के कलुषित प्रभावो को दूर करने का प्रयास किया, संविधान को सामाजिक न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तो पर आधारित किया, पृथक निर्वाचन प्रणाली को समाप्त कर संयुक्त निर्वाचन प्रणाली को अपनाया, वयस्क मताधिकार को कार्यान्वित किया, अस्पृश्यता को दण्डनीय अपराध बना दिया और किसी जाति, धर्म, भाषा आदि के आधार पर नागरिको मे भिन्नताओ को गैर कानूनी बना दिया, सार्वजनिक हिन्दू संस्थाओ के द्वार सभी जातियो के लिये खोल दिये आदि। भारत के संविधान की संरचना (Structure) और उसके द्वारा स्थापित की गयी संस्थायें धर्म निरपेक्षता पर आधारित हैं ।

उपर्युक्त तथ्यो के बाद भी भारत के राजनीतिक और सामाजिक जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नही जिसे जातिवाद ने आच्छादित न किया हो, जैसाकि प्रो० एम० एन० श्री निवास ने लिखा है कि, "शिक्षित भारतीयो मे यह सुविस्तृत धारणा है कि जाति अपनी अन्तिम सांस ले रही है और नगरो मे रहने वाले पश्चिमी शिक्षा प्राप्त उच्च वर्गों के सदस्य इसके बन्धन से मुक्त हैं। परन्तु ये दोनो धारणायें गलत हैं। ये लोग भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्धनो का चाहे अनुसरण न करते हो, जाति और धर्म मे बाहर विवाह करते हो, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे जाति के बन्धनो से पूर्णतया मुक्त हैं। आश्चर्यजनक सन्दर्भो मे वे अपने जातीय व्यवहारो का प्रदर्शित

करते हैं। भारत मे जातीय व्यवहारों को राजनीति, सामाजिक लेन-देन और प्रशासन मे देखा जा सकता है।

भारतीय संविधान जाति को महत्व नहीं देता और जाति के आधार पर भिन्नताओं की मनाही करता है परन्तु फिर भी भारतीय राजनीति जाति ग्रस्त है। उदाहरणतया निर्वाचन प्रणाली संयुक्त है परन्तु फिर भी निर्वाचन में प्रत्याशियों का चयन, आर्थिक सामर्थ्य और राजनीतिक प्रभाव के अतिरिक्त जातीय भावनाओं से प्रेरित होता है। निर्वाचन मे जातीय भावनाओं को उभारना गैर कानूनी है परन्तु फिर भी मतों को प्राप्त करने के लिये सभी राजनीतिक दल जातीयता से अपील करते है और जातीय आधार पर मतो को प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। मतदाताओं को जाति की शपथ दिलाई जाती है। हरियाणा जैसे राज्यो मे, निर्वाचनों काल म इस प्रकार के नारे अक्सर सुनने को मिलते हैं 'जाट की बेटी जाट को, जाट का वोट जाट को।''[1] मंत्रिमण्डलो का निर्माण भी, विशेषकर राज्यीय स्तर पर, जातीय भावनाओं से प्रभावित रहा है। जब कभी किसी जाति को मन्त्रिमंडल म प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ या उसकी जाति की जनसंख्या के अनुपात म उसे प्रतिनिधित्व न मिला तो उस जाति के विधायकों ने पृथक बैठकों द्वारा गुटबन्दी को जन्म दिया और मंत्रिमण्डल के अस्तित्व को अस्थिर बना दिया। अनेक बार तो उच्च से उच्च पद के लिए भी जातीय भावनाओं का आदर किया गया है विशेषकर अल्प संख्यक जाति (मुस्लिम जाति) को प्रतिनिधित्व देने के लिये। इस तथ्य को धर्म निरपेक्षता के रूप मे भी देखा जा सकता है और जातीय सन्तुष्टिकरण के रूप म भी। राष्ट्रपति पद के लिये प्रत्याशियों के चयन म यह तत्व विद्यमान रहा है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो के सम्बन्ध म तो इस परम्परा का विकास किया गया है कि एक न्यायाधीश मुस्लिम जाति का हो।[2] एक अर्थ मे तो संविधान जातीय भावनाओं को बनाये रखने मे सहायक है। संविधान अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों के लिये कुछ सुविधाओं और संरक्षण की व्यवस्था करता है। यद्यपि संविधान ने इसकी व्यवस्था 10 वर्षों तक के लिये की थी परन्तु इन जातियों के विकास और सामाजिक न्याय के नाम पर हमेशा के लिये बनाये रखना जातीय भावनाओं का दमन करना नहीं बल्कि उनको प्रोत्साहन और बढ़ावा देना है। "मत बैंक" (Vote Bank) के रूप मे इसका प्रयोग तो अत्यधिक खतरनाक है। उड़ीसा और मध्यप्रदेश राज्यो मे, जहा इन जातियों की जनसंख्या राज्य की जनसंख्या मे एक तिहाई भाग से अधिक है इन जातियों के प्रभाव को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राजनीति म जाति के प्रभाव का बढ़ने का मूल कारण यही

1 देखिये, कश्यप सुभाष दल बदल और राज्यो की राजनीति, पृ० 112

2 ऐसी परम्परायें जो केवल जाति पर आधारित होती हैं व सामाजिक या राजनीतिक दृष्टि को सुदृढ नहीं करती बल्कि अन्ततः जातीय अनुराग को मात्र बढ़ावा देना हैं।

है। एम० एन० श्रीनिवास ने ठीक लिखा है कि "जाति को गौण रूप मे और पूर्ण रूप मे इस तरह स्वीकार किया जाता है, उनके द्वारा भी जो इसकी निन्दा करने मे अत्यधिक सक्रिय हैं कि यह सर्वत्र सामाजिक कार्य की इकाई है।'

हिन्दू समाज, हिन्दू जीवन और व्यवहार मे जाति का प्रभाव व्यापक रहा है। परन्तु आज यह केवल परम्परागत वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र) तक ही सीमित नहीं बल्कि उन अगणित जातीय, उप जातीय, समूहों, समुदायों और संघो मे व्याप्त है जो भारतीय समाज के अभिन्न अंग हैं। जातियां और उप जातियों के ये भिन्न भिन्न समूह समुदाय और संघ ही भारतीय राजनीति के भिन्न भिन्न स्तरों और चरणों को प्रभावित करते है। वयस्क मताधिकार और निर्वाचन प्रणाली ने इन जातियों और उप जातियों को उस महान शक्ति का आभास करा दिया है जिसका वे उपभोग करते हैं। आज ये जातियाँ उस महान शक्ति के प्रति जागरूक हैं, वे राजनीति मे इसका प्रयोग करती हैं और मन्त्रिमण्डलों में अपने प्रतिनिधित्व की मांग करती है। सत्ता और पदों को प्राप्त करने के लिये वे सौदेबाजी भी करती है। *इतना ही नहीं, राजनीति में ये जातियां अपने पृथक अस्तित्व और पहचान को बनाये रखने की इच्छुक हैं।* विधायक (प्रतिनिधि) जाति के सदस्यों की, पृथक बैठकों का आयोजन करते है और फिर 'ग्रुप' के रूप मे मन्त्रिमण्डल, प्रशासन और राजनीति पर प्रभाव डालते है। स्पष्ट है कि जो असंख्य जातियाँ अभी तक गौण थी और जो राजनीति से वंचित थी वे आज उभर रही है और राजनीति मे अपने स्थान की मांग करती हैं। इन जाति समूहों, समुदायों और संघो ने उच्च जाति के रिवाजों, रूढ़ियों, विश्वासों, विचारों और जीवन के ढंग को भी अपनाना शुरू कर दिया है। इस तरह राजनीति पर जो बपौती अभी तक शिक्षित, प्रबुद्ध वर्गों और उच्च स्तर के लोगो की थी उस पर निम्न स्तर की जातियां भी अपना दावा प्रस्तुत कर रही है। प्रो० श्रीनिवास ने ठीक लिखा है कि "जाति की शक्ति और क्रिया उस अनुपात मे बढ़ी जिस अनुपात मे शासकों के हाथो से राजनीतिक सत्ता लोगों के हाथो मे हस्तान्तरित होने लगी।"

जाति और राजनीति एक दूसरे पर क्रियायें और प्रतिक्रियायें कर रही हैं। न केवल जाति ने राजनीति को प्रभावित किया है बल्कि राजनीति भी जाति को परिवर्तित कर रही है और उसकी दृढ़ता और संस्तरण (solidarity and hierarchy) पर प्रभाव डाल रही है। जो जाति अपने सामाजिक स्तरीकरण के प्रति जागरूक है और अपने सदस्यों के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये दृढ संकल्प है और सामाजिक आक्रमण को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं, वह राजनीति में अधिक क्रियाशील सिद्ध हो रही है। ऐसी जातियां ही राजनितिक सत्ता मे साझेदार बनना चाहती है और अपने हिस्से की (मन्त्रिमण्डल, संसद प्रशासन आदि मे) मांग करती हैं। दूसरी ओर *धर्म निरपेक्ष, लोकतान्त्रिक और संसदात्मक विचार* विश्वास ने जाति के प्रभाव को कम किया है।

जयप्रकाश नारायण के इस कथन मे अतिशयोक्ति हो सकती है कि "भारत मे जाति सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक दल है।"[1] परन्तु इसके सत्यांश पर कोई आपत्ति नही की जा सकती। आज प्रत्येक राजनीतिक दल का साम्यवादी दल सहित, सत्ता को प्राप्त करने के लिये एक या अनेक जातियो से समझौता करना पड़ता है। जैसाकि प्रो० हरिसन ने लिखा है कि केरल मे, सत्ता को प्राप्त करने मे साम्यवादी दल की सफलता के पीछे 'भाषाई सीमाओं के अन्तर्गत राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण जाति लाबियो को जोड तोड करने की उसकी योग्यता थी।

राजनीति के राष्ट्रीय और स्थानीय स्तरो पर जाति का प्रभाव भिन्न भिन्न रहा है। यदि राष्ट्रीय स्तर पर इसका प्रभाव गौण रहा है तो राज्यीय और स्थानीय स्तरो पर इसका प्रभाव अत्यधिक रहा है। जैसाकि शंकर ने लिखा है कि 'अखिल भारतीय स्तर पर जाति के प्रभाव को किनारे पर देखा जा सकता है।" परन्तु भारत का कोई भी राज्य इसके प्रभाव से अछूता नही है। बिहार, आन्ध्रप्रदेश, केरल, तमिलनाडु और मध्यप्रदेश तो इस रोग से पीडित हैं। जातियो ने ही राज्यो मे 'गुट" राजनीति और "दलव दल" राजनीति को जन्म देकर मंत्रिमण्डलो और नेतृत्व की स्थिरता को अस्थिर बनाया है। इन स्तरो (राज्य, जिला, पचायत) पर ही जातियो का राजनीतिकरण हुआ है। जैसाकि रजनी कोठारी ने लिखा है कि "यह राजनीति नही जो जाति ग्रस्त है, बल्कि यह जाति है जिसका राजनीतिकरण हुआ है।[2]

जातीय ढाचे ने राज्यो की राजनीति मे द्वि-पक्षीय ढाँचे को जन्म दिया है। उदाहरणतया तमिलनाडु और महाराष्ट्र मे ब्राह्मण बनाम गैर ब्राह्मण गुट, राजस्थान मे राजपूत बनाम जाट गुट, गुजरात म बनिया-ब्राह्मण बनाम पतिदार गुट, बिहार मे कायस्थ बनाम राजपूत गुट आन्ध्रप्रदेश मे कामा बनाम रेड्डी गुट, केरल म नाय्यर बनाम एजहावा (Ezhava) गुट स्पष्टतया विद्यमान हैं। ये जातीय गुट राज्यो की राजनीति को प्रभावित ही नही करते बल्कि उसे निर्धारित भी करते हैं।

अनेक जातियों ने अपने हितो की रक्षा हेतु या तो पृथक राजनीतिक दलो का निर्माण किया है या किसी दल के सदस्य रह कर ही उसमे जातीय-गुट का निर्माण किया है। उदाहरणतया डा० बी० आर० अम्बेदकर ने अनुसूचित जातियो के हितों की रक्षा हेतु रिपब्लिकन दल का निर्माण किया, पजाब का अकाली दल सिक्ख धर्म और जाति पर आधारित है। बिहार मे झारखन्ड दल, असम म ऑल हिल पार्टी लीडर्स कान्फ्रेन्स महाराष्ट्र म महार गुट राज्यो की राजनीति पर

1 'Caste is the most important political party in India Narayan Jay Prakash Quoted by Palmer, Norman D Ibid p 13

2 Kothari, Rajni Ibid p 240

अत्यधिक प्रभाव डालते हैं। इतना ही नही जातीय शिक्षा के द्वा, जातीय छात्रावासो जातीय कोशो आदि द्वारा भी जातीय भावनाओ को बढावा दिया जाता है। वर्तमान समय मे तो धार्मिक स्थानो, धार्मिक गुरुओ का प्रयोग भी जातीय हिता की रक्षा हेतु किया गया है। जहा मंदिरो, मठो, मस्जिदो, गुरुद्वारो आदि धार्मिक सस्थाओ का प्रयोग राजनीति के लिये किया गया है, वहा इन सस्थाओ का प्रयोग जातीय भावनाओ को स्थायी बनाये रखने के लिए भी किया गया है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय राजनीति मे जाति की अत्यधिक भूमिका है। जैसाकि मोरिस जोन्स ने लिखा है कि "राजनीति के लिये जाति अत्यधिक महत्वपूर्ण है और जाति के लिये राजनीति पहले से अधिक महत्वपूर्ण है।"[1] एक अन्य स्थान पर मोरिस जोन्स ने लिखा है कि "उच्च नेतृत्व चाहे जाति विहीन समाज की घोषणा करे परन्तु ग्राम के लोग, जिन्हे नवीन मताधिकार प्राप्त हुआ है, केवल परम्परा की राजनीति की भाषा जानते हैं जो जाति के इर्द गिर्द घूमती है।

यह सत्य है कि जाति ने प्रजातान्त्रिक, धर्म निरपेक्ष मूल्यो को शिथिल किया है, विघटनकारी तत्वो को बढावा दिया है, गुटबन्दी और दल बदल राजनीति को जन्म दिया है राष्ट्रीय एकता की भावनाओ मे बाधा डाली है, योग्यता और कुशलता के स्थान पर सामूहिक वफादारियो को बढावा दिया है, सार्वजनिक सेवा के स्थान पर सकीर्ण स्वार्थगत भावनाओ को जन्म दिया है। जातीय भावनाओ द्वारा उत्पन्न की गयी ये बातें भर्त्सना करने योग्य हैं और इनकी भर्त्सना की गयी है परन्तु फिर भी एक दृष्टि मे वर्तमान परिस्थितियो मे जाति ने ससंजन (cohesion) को जन्म दिया है। जब राष्ट्र परिवर्तन की स्थिति मे है, नेतृत्व की कथनी और करनी मे अन्तर है, तनाव उग्र रूप धारण कर लेते है, समस्याओ का सही समाधान नही हो पाता तथा उपलब्धियो और आशाओ म गम्भीर अन्तर विद्यमान रहता है तो सामाजिक सरचना को किसी ऐसे तत्व की आवश्यकता होती है जो तनाव अवशोषण (tension absorber) के रूप मे कार्य कर सके। इस समय भारत मे जाति ठीक यही काय कर रही है। जैसाकि प्रो० रुडोल्फ ने लिखा है कि "राजनीति मे जाति को गम्भीर रूप से गलत समझा गया है और इसकी सकारात्मक भूमिका की उपेक्षा की गयी है।"

## II धर्म और राजनीति या साम्प्रदायिकता

## (Religion and Politics or Communalism)

भारत बहु जातियो, बहु धर्म के पालन करने वालो की भूमि है। इसमे हिन्दू, मुस्लिम सिक्ख ईसाई पारसी, आग्ल भारती, आदि अनेक जातिया निवास करती हैं। यहा हिन्दुओ की बहुतायत है और अन्य जातियाँ अल्प सख्या मे हैं। इस परिस्थिति म यह स्वाभाविक है कि जो जाति भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन से प्रभावित है वह राजनीतिक जीवन म भी प्रभावित हो। परन्तु फिर भी

1 Jones Morris W H The Govetnment & Politics of India.

भारत के सविधान निर्मातायो और राष्ट्रीय ेताओ ने भारतीय एकता को अनेकता के रूप मे देखा और अनेकता मे ही एकता को उत्पन्न करने का प्रयास किया है। इतना ही नही, भारत के सविधान निर्माता भिन्न धर्मों का पालन करने वालो म धार्मिक सहिष्णुता की भावना पैदा करना चाहते थे। अत उन्होंने धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना की, सभी को कानून का समान सरक्षण प्रदान किया, सभी को कानून के समक्ष समान समझा, जातीय भेदभाव को समाप्त कर दिया गया साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली और गुम्भार पद्धति के स्थान पर सयुक्त निर्वाचन प्रणाली और वयस्क मताधिकार प्रणाली को अपनाया गया।

परन्तु धम निरपेक्षता के बाद भी भारतीय राजनीति धम और साम्प्रदायिकता से प्रभावित है, राष्ट्रीय नेता धार्मिक सहिष्णुता की बात तो करते हैं परन्तु साम्प्रदायिकता के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाते हैं। साम्प्रदायिक भावना को अनेक दलो की रचना और स्वरूप म देखा जा सकता है। अकाली दल सिक्ख धम और पजाबी भाषा के मूल्यो पर आधारित है मुस्लिम लीग मुस्लिम सम्प्रदाय के हितो की रक्षा करने की इच्छुक है, हिन्दू महासभा हिन्दूवाद के मूल्यो को पुनर्जीवित करना चाहती है, राष्ट्रीय स्वय सवक सघ हिन्दू राष्ट्रवाद पर आधारित हिन्दू राज की स्थापना के लिय दृढ सकल्प है। अनेक बार तो राष्ट्रीय दलो की नीतिया भी साम्प्रदायिकता से प्रभावित होती हैं।

**साम्प्रदायिक दगे (Communal riots)**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कुछ वर्षों तक भारत की जातियो मे सहिष्णुता का वातावरण बना रहा, परन्तु 1961 से साम्प्रदायिकता की भावनायें फिर प्रकट होने लगी जिन्होने साम्प्रदायिक दगो का रूप ग्रहण कर लिया। कभी तो ये दगे गाय की हत्या को लेकर किये गये, कभी पगम्बर मुहम्मद के पवित्र बाल को लेकर किय गय कभी हिन्दू लडकी के धम परिवतन और मुस्लिम युवा से शादी को लेकर किये गये, कभी हिन्दू प्रदशनो पर मुसलमानो द्वारा पत्थर फैंकने को लेकर किय गय और कभी कभी तो हिन्दू मुस्लिम विद्यार्थियो के पारस्परिक झगडो को लेकर दगे किये गय।

सन् 1961 से आज तक लगभग प्रतिवष अनेक साम्प्रदायिक दगे होते रहे हैं। सवप्रथम यह दगे अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय म हिन्दू मुस्लिम विद्यार्थियो के झगडे को लेकर साम्प्रदायिक दगे हुए जिनका प्रभाव उत्तर प्रदेश बिहार, पश्चिम बगाल और मध्य प्रदेश राज्यो पर भी पडा। सन 1963 मे श्रीनगर मे हजरत बाल मस्जिद म पगम्बर मुहम्मद के पवित्र बाल के काण्ड पर साम्प्रदायिक दगे हुए। यद्यपि पवित्र बाल बाद म मिल गया परन्तु जातियो मे तनाव की स्थिति लम्बे समय तक बनी रही। अक्टूबर 1966 मे महाराष्ट्र मे वशीम नामक स्थान पर एक ब्राह्मण लडकी के धम परिवतन के बाद एक मुसलमान से विवाह करने पर साम्प्रदायिक दगो की बाढ आयी। सन् 1969 म साम्प्रदायिक दगो की कुल सख्या

519[1] थी। सन् 1969 के इलाहाबाद दगो म मरने वालो की सख्या 600 स 1200 तक थी। सन् 1970 मे बम्बई के निकट भिवण्डी मे साम्प्रदायिक दगे हुए। सन् 1973 मे दिल्ली मे सदर बाजार के बारा हिन्दू राव क्षेत्र मे साम्प्रदायिक दगे हुए। इस तरह प्रतिवर्ष साम्प्रदायिक दगो का ताता लगा रहा है।

साम्प्रदायिकता के कारण—भारत म साम्प्रदायिकता विद्यमान होने के अनेक कारण हैं जिन्हे निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

(i) मुसलमानों की धर्मान्धता—स्वत न भारत म साम्प्रदायिकता विद्यमान होने का सबसे प्रमुख कारण यह है कि जहा भारत की अन्य अल्प सख्यक जातियो ने अपने आपको राष्ट्रीयता की लहर के साथ समन्जित कर लिया है वहा भारतीय मुसलमानो ने अभी तक अपने आपको इस लहर मे समन्जित नही किया। मुसलमानो की धर्मान्धता तो इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि सवैधानिक अधिकारो का उपभोग करते हुए भी उन्होने दिसम्बर 1970 के दिल्ली मुस्लिम राजनीतिक सम्मेलन मे अल्प सख्यको के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा उर्दू की रक्षा सरकारी नौकरियो मे मुसलमानो के लिये सुरक्षित स्थानो, आदि की माग की। इसमे इस बात पर भी बल दिया गया कि मुस्लिम कानून मे कोई परिवर्तन न किया जाय अलीगढ विश्व विद्यालय की वर्तमान स्थिति को बनाये रखा जाय। और तो और, इस सम्मेलन के निर्वाचन कानून मे परिवर्तन कर आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली की स्थापना की माग की। इस सम्मेलन ने मुसलमानो के भिन्न भिन्न सगठनो म ताल मेल बैठाने के लिये एक अखिल भारतीय मुस्लिम राजनीतिक परामर्श समिति की स्थापना की तथा मुसलमानो को सकट ग्रस्त जातियो (अनुसूचित एव पिछडी हुई जातियो) से सहयोग की अपील की। मुसलमानो के हितो की रक्षा हेतु "मुस्लिम सेना" का सगठन भी किया गया। भारतीय मुसलमानो द्वारा इस प्रकार की मांगो को प्रस्तुत करना दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जा सकता है।

(ii) हिन्दू कट्टरता—यदि मुस्लिम धर्मान्धता भारत मे साम्प्रदायिकता के लिये उत्तरदायी है तो हिन्दुओ के कुछ सगठन भी इसके लिये कम उत्तरदायी नही। हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ और शिव सेना जैसे सगठन हिन्दू राष्ट्रवाद मे विश्वास करते हैं। यदि बलराज मधोक इस्लाम के भारतीयकरण का नारा बुलन्द करते हैं और राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ हिन्दी भाषा, हिन्दू सस्कृति और अखण्ड भारत की बात करता है तो शिव सेना के बाल ठाकरे कट्टर हिन्दू होने मे ही अपनी शान और भारत की आन समझते हैं।

(iii) सरकार की उदासीनता—भारत मे साम्प्रदायिकता के लिये सरकार की उदासीन नीति भी उत्तरदायी रही है। उदाहरणतया साम्प्रदायिक दगो का निष्पक्ष और तार्किक विश्लेषण करने के स्थान पर काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने सबदा विरोधियो

1 See Palmer, Nerman D Ibid p 18

विशेष कर जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को ही इसके लिये उत्तरदायी ठहराया। दूसरे सरकार ने साम्प्रदायिकता के गढ़ अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय को अभी तक राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान नहीं किया। तीसरे हिन्दू कानून में परिवर्तन करने के बाद भी मुस्लिम कानून में अभी तक परिवर्तन नहीं किया गया। चौथे, संकट या युद्ध काल में यद्यपि भारतीय मुसलमानों ने अपनी राष्ट्रीयता का परिचय दिया फिर भी 'नागरिक सुरक्षा' की कार्यवाहियों में उन पर विश्वास नहीं किया गया। पाँचवें सरकार ने आज तक साम्प्रदायिक संगठनों समूहों और दलों को गैर कानूनी घोषित नहीं किया। छठें, सत्ता में बने रहने के लिये या उसे प्राप्त करने के लिये साम्प्रदायिक भावनाओं के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाना खतरे से खाली नहीं और यदि शक्ति संतुलन के रूप में इसका प्रयोग किया गया तो प्रजातन्त्र और धर्मनिरपेक्षता दोनों पर आघात करेगा।

(iv) **आर्थिक कारण**—भारतीय मुसलमानों में असंतोष का एक कारण यह भी है कि उनकी आर्थिक स्थिति बहुत दुर्बल है। वस्तुतः मुसलमानों की धर्मान्धता उनकी आर्थिक दुर्दशा के लिये उत्तरदायी है परम्परा से चिपके रहने के कारण उन्होंने आधुनिकता को नहीं अपनाया। परिणाम स्वरूप वे न तो शिक्षा और न तकनीकि और वैज्ञानिक क्षेत्रों में विकास कर सके हैं। यही कारण है कि प्रशासन, व्यापार और उद्योग में उन्हें पर्याप्त स्थान प्राप्त नहीं हुए। उनका आर्थिक पिछड़ापन साम्प्रदायिक विस्फोट में फूट पड़ता है।

(v) **पाकिस्तान का दूषित प्रचार**—पाकिस्तान का दूषित प्रचार भी भारत में साम्प्रदायिकता के लिये उत्तरदायी है। रेडियो प्रसारण, भाषणों और पत्र पत्रिकाओं द्वारा भी पाकिस्तान भारतीय मुसलमानों को भड़काता रहता है। उदाहरण तया पैगम्बर मुहम्मद के पवित्र बाल काण्ड के समय पाकिस्तान ने कश्मीर के मुसलमानों को हड़ताल, उपद्रवों आदि के लिये भड़काया। साम्प्रदायिक नीति और हिन्दुओं के प्रति वैमनस्य का प्रचार पाकिस्तान की विदेश नीति के प्रमुख तत्व रहे हैं।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या अत्यन्त गम्भीर है और उसका सही समाधान होना राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एकता और अखण्डता के लिये अनिवार्य है। परन्तु साम्प्रदायिकता के आधार पर यह कहना कि भारतीय धर्म निरपेक्षता में उसका सामना करने की क्षमता नहीं, वास्तविकता से आँखें मूँदना है। डोनाल्ड ई० स्मिथ के इस विचार से सहमत होना कठिन है कि 'धर्म से व्याप्त समाज में धर्म निरपेक्षता का विकास असम्भव या आशाजनक नहीं।' वस्तुतः भारतीय धर्म निरपेक्षता में साम्प्रदायिक विष को अपने में समा जाने की शक्ति है। वाह्य संकटों और आक्रमणों के समय भारतीय नागरिकों ने जो राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ता का परिचय दिया है वह अद्वितीय है। धर्म निरपेक्षता ने धार्मिक सहिष्णुता के साथ राष्ट्रीय एकता को उत्पन्न किया है।

## C क्षेत्रवाद (प्रादेशिकता) और राजनीति
### (Regionalism and Politics)

**अर्थ और स्वरूप**—क्षेत्रवाद एक राजनीतिक शब्द है। साधारण भाषा में क्षेत्र का अर्थ किसी देश के प्रादेशिक भाग से लिया जाता है जिसको स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों (पचायतों, नगरपालिकाओं, निगमों, आदि) से अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाती है। वस्तुत क्षेत्र का अर्थ और स्वरूप बहुत कुछ देशकाल पर निर्भर करता है। राष्ट्रीय सन्दर्भ में इसके अनेक अर्थ हो सकते हैं, जैसे पृथक स्वतन्त्र सार्वभौम राज्य की माँग। कुछ समय पूर्व तक डी० एम० के० का उद्देश्य पृथक द्राविड नाद के रूप में स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना करना था। पजाब का अकाली दल भी पृथक सिक्खिस्तान (a homeland for Sikhs) की कल्पना करता था। मिजोस और नागाओं ने भी पृथक स्वतन्त्र राज्यों की माग की थी। क्षेत्रवाद का अर्थ "पूर्ण स्वायत्तता" से भी हो सकता है अर्थात् केन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियों को कम कर विकेन्द्रीकृत प्रवृत्तियों का विस्तार किया जाय। तमिल नाडु और उसके मुख्य मन्त्री करुणानिधि आज भी राज्यों के लिये पूर्ण स्वायत्तता की माग को दोहराते है। क्षेत्रवाद का अर्थ "पृथक पहचान (a separate identity) को बनाये रखने से भी हो सकता है जैसे क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति, ऐतिहासिक जातीय, धार्मिक भाषाई नस्ल परम्परा आदि को बनाये रखने की इच्छा। उदाहरणतया भारतीय नागरिकता का उपभोग करते हुए भी भारतीय नागरिक पजाबी, राजस्थनी, बिहारी, बगाली, मद्रासी, गुजराती, मराठी, आदि कहलाना अधिक प्रसन्द करता है। क्षेत्रवाद लोगों के किसी क्षेत्र विशेष से प्रेम को भी अभिव्यक्त करता है। यह क्षेत्र अनेक भावनाओं में उत्प्रेरित होता है जैसे (i) क्षेत्र विशेषत के लोगो को वतमान शासकों से न्याय की प्राप्ति की आशा न हो (ii) वतमान शासकों द्वारा किसी क्षेत्र विशेष की निरन्तर उपेक्षा जो अन्तत वतमान शासकों के प्रति घृणा उत्पन्न कर पृथकता की भावना को जन्म देती है (iii) क्षेत्र विशेष के लोगो की बढती हुई राजनीतिक आकाक्षाये, (iv) क्षेत्रीय नेताओं की राजनीतिक महत्वाकांक्षायें और क्षेत्र विशेष पर नियन्त्रण को सुदृढ करने की उनकी इच्छा, आदि।

सक्षेप में जहा क्षेत्रीय भावनायें बलवती होती है वहाँ राष्ट्रीय भावनाये सुदृढ नही हो सकती राज्यो के पारस्परिक सम्बन्ध मधुर नही हो सकत, भाषा, सस्कृति और सीमा के प्रश्न अनावश्यक महत्व ग्रहण कर लेते है और राज्यो मे विभाजन रखायें चौडी हो जाती हैं।

**भारत मे क्षेत्रवाद और राजनीति**—जातिवाद की भांति क्षेत्रवाद भी भारतीय राजनीति की प्रमुख विशेषता है। वस्तुत भारत एक बहु भाषाई, बहु सस्कृतिया और बहु राष्ट्रीयताओं वाला राष्ट्र रहा है। इसमे अनेक उप राष्ट्र भी निवास करते हैं। प्रत्येक का अपना इतिहास, अपनी सस्कृति, अपनी भाषा और नेता रहे है। प्रत्येक अपनी सस्कृति को उच्च समझता है और दूसरे की नस्ल

आधिपत्य को न तो स्वीकार करने के लिये तयार है और न ही अपमान के लिय तैयार है। प्रत्येक अपनी राष्ट्रीयता में गौरव का अनुभव करता है उसके पृथक अस्तित्व (पृथक राजनीतिक पहचान) को बनाये रखना चाहता है।

क्षेत्रवाद द्वारा उत्पन्न समस्यायें—क्षेत्रवाद ने भारत में अनेक समस्याओं को उत्पन्न किया है जिनमें प्रमुख हैं—

(i) संघ से पृथक स्वतन्त्र राज्यों की माग

(ii) संघ के भीतर पूर्ण राज्यता (statehood) की माग

(iii) अन्त राज्यीय विवाद

(iv) क्षेत्रीय संगठन

(i) संघ से पृथक स्वतन्त्र राज्यों की माग—संघ से पृथक होने की जिन मांगों को क्षेत्रवाद ने उत्पन्न किया है उनमें मुख्य निम्न हैं —

A खालिस्तान की मांग (Demand for a homeland for Sikhs)—देश के विभाजन से पूर्व भी मास्टर तारा सिंह ने सिक्खों के लिये पृथक राज्य की मांग को प्रस्तुत किया था परन्तु इसे स्वीकार नहीं किया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सर्वप्रथम सिक्ख प्रान्त की मांग नवम्बर 1949 में प्रस्तुत की गयी। यह मांग इस मान्यता पर आधारित थी कि पूर्वी पंजाब के हिन्दू अत्यन्त सम्प्रदायवादी हो गये हैं और सिक्खों को उनसे न्याय प्राप्ति की आशा नहीं। सन् 1956 में राज्यों के पुनर्गठन ने समस्या को जटिल बना दिया क्योंकि पंजाब को द्विभाषी (Bilingual) राज्य घोषित कर दिया था। परिणामस्वरूप पंजाबी आन्दोलन शुरू किया गया। जिसका विरोध आर्य समाज और जनसंघ ने हिन्दी आन्दोलन' को शुरू करके किया। पंजाबी भाषा की आड़ में अकाली दल धार्मिक दृष्टिकोण से ठोस सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना चाहता था। यह मांग निश्चित ही भारत के धर्म निरपेक्ष सिद्धान्तों के विपरीत थी। पंजाबी सूबे की मांग ने महा पंजाब (हिमाचल और पेप्सु सहित) की मांग को जन्म दिया। दोनों पक्षों ने अपनी मांगों के समर्थन में हड़तालों, प्रदर्शनों, उपवासों आदि का आयोजन किया। जब सन्त फतेह सिंह ने पंजाबी सूबे की स्वीकृति के लिये 25 सितम्बर, 1966 की तिथि निश्चित कर दी अन्यथा वह अग्निदाह द्वारा अपने शरीर का अन्त कर देगा तो स्थिति ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। परिणामस्वरूप 1966 में पंजाब का विभाजन कर दो राज्यों पंजाब और हरियाणा का निर्माण किया गया। जिस मांग को नेहरू ने अपने लम्बे प्रधान मन्त्री काल में स्वीकार नहीं किया इंदिरा गांधी ने प्रधान मन्त्री बनने के दो महिने के अन्दर ही स्वीकार कर लिया। पंजाब के विभाजन के बाद भी समस्या का पूर्ण हल न हो सका और चण्डीगढ़ दोनों राज्यों के बीच गम्भीर विवाद का विषय बन गया। यद्यपि दर्शन सिंह फेरूमान को चण्डीगढ़ प्राप्त करने के लिये अपना बलिदान देना पड़ा (इंदिरा गांधी के पंच निर्णय ने चण्डीगढ़ पंजाब को दे दिया और फाजिलका हरियाणा को) परन्तु न तो चण्डीगढ़ अभी पंजाब को पूर्णतया मिला है (हरियाणा को

राजधानी अभी चण्डीगढ ही है) और न फाजिलका ही हरियाणा को प्राप्त हुआ है।

पाकिस्तान से प्रोत्साहन पाकर डा० जगजीतसिंह जैसे कुछ सिक्ख भारत से पृथक 'समाजवादी प्रजातान्त्रिक सिक्ख राज्य' (Socialist democratic state) की स्थापना करने के इच्छुक थे। इस उद्देश्य से डा० जगजीत सिंह ने विदेशो में दौरा भी किया। ननकाना साहिब (गुरुनानक का जन्म स्थान जो अब पाकिस्तान मे है) मे 'विद्रोही सिक्ख सरकार' (Rebel sikh government) की स्थापना करने की योजना भी बनाई गयी। पाकिस्तान ने ननकाना साहिब को इटली मे वेटिकन नगर की भांति स्तर देने का आश्वासन भी दिया। परन्तु डा० जगजीत सिंह को न तो विदेशो से और न ही सन्त फतेह सिंह के अकाली दल से समर्थन प्राप्त हुआ। इतना ही नही डा० जगजीत सिंह को अकाली दल से बाहर निकाल दिया गया। अत पृथक समाजवादी प्रजातान्त्रिक सिक्ख राज्य की कल्पना अपने आप समाप्त हो गयी।

B स्वतन्त्र द्राविडनाद की माग—क्षेत्रवाद द्वारा उत्पन्न की गयी एक अन्य समस्या स्वतन्त्र द्राविडनाद की माग थी। सन 1960 मे डी० एम० के० ने भारत मे पृथक तामिलनाद नाम से पृथक राज्य की माग की। कुछ समय बाद डी० एम० के० ने दक्षिण के चार राज्यो (मद्रास तमिलनाडु), आन्ध्र केरल और मैसूर (करनाटक) को भारत सघ मे पृथक कर एक स्वतन्त्र द्राविडनाद गणराज्य की स्थापना की मांग की। नेहरू ने इस माग का कडा विरोध किया और विघटनकारी तत्वो को गैर कानूनी ठहराने के लिये अक्टूबर 1963 मे सविधान मे छठा सशोधन किया गया। इस सशोधन के बाद डी० एम० के० ने अपने दल के सविधान मे परिवर्तन कर लिया और भारत सघ से पृथक द्राविड नाद राज्य की स्थापना की माग पर भारत राज्य के अन्दर द्राविड़ यूनियन की मांग करना शुरू कर दिया। आज तमिलनाडु राज्य के मुख्य मन्त्री श्री करुणानिधि और डी एम० के० राज्यो के लिये स्वायत्तता, अधिक वित्तीय स्वतन्त्रता और पृथक ध्वज की माग करते हैं।

C मिजो राज्य की माग—असम की मिजो पहाडियो के लोगो ने मिजो राष्ट्रीय मोर्चे (Mizo national front) के तत्वाधान मे स्वतन्त्र मिजो राज्य की स्थापना के लिये एक आन्दोलन शुरू किया। इतना ही नही अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये मिजो लोगो ने छापामार लडाई का भी सहारा लिया। क्योंकि मिजो राष्ट्रीय मोर्चे के सदस्य चीन और नागा के साथ लीग मे थे अत उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। परिणामस्वरूप मिजोस ने असम की कचार (Cachar hil's) पहाडियो और केन्द्र प्रशासित प्रदेश त्रिपुरा मे अपनी गतिविधिया को शुरू कर दिया। सरकार को भी उनकी गतिविधियो का दमन करने के लिये कठोर कदम उठाने पडे। अन्तत मिजो राष्ट्रीय मोर्चे के नेताओ ने प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाधी को एक स्मरण पत्र प्रस्तुत किया जिसमे उन्होंने मिजो राज्य के निर्माण की यथार्थता पर बल दिया। मिजो राष्ट्रीय मोर्चे के तीन सदस्यो का एक शिष्टमण्डल उसके नेता लुगा के

मे प्रधानमन्त्री इंदिरा गाधी से जनवरी 1971 को मिला। अत मिजो लोगो की आकाक्षाओ का आदर करते हुए 21 जनवरी, 1972 को मिजोरम नाम से केन्द्र प्रशासित प्रदेश का निर्माण कर दिया गया।

D नागा राज्य की माग—असम की नागा पहाडियो ने नागाओ के नागा राष्ट्रीय परिषद् (Naga national council) के तत्वाधान मे स्वतन्त्र नागा राज्य के निर्माण की मांग को प्रस्तुत किया। इस आन्दोलन का प्रमुख नेता जापो फिजो (Zapo Phizo) था। अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु नागा राष्ट्रीय परिषद् ने सन् 1950 मे स्वतन्त्र नागा राज्य के निर्माण के लिये जनमत सग्रह (plebiscite) का आयोजन किया और 99 प्रतिशत नागाओ ने स्वतन्त्र नागा राज्य की माग का समथन किया। नागा राष्ट्रीय परिषद् ने 1952 के निर्वाचनो का बहिष्कार कर नागा स्वतन्त्र राज्य की माग को सयुक्त राष्ट्र सघ मे उठाने की धमकी भी दी। परन्तु सेना की सहायता से विद्रोहियो का दमन कर दिया गया।

दूसरी ओर देश भक्त नागाओ ने, जो फिजो की विद्रोहात्मक कार्यवाहियो मे विश्वास नही करते थे, अगस्त 1957 मे कोहिमा म एक सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमे यह प्रस्ताव पास किया गया कि नागा क्षेत्रो को मिलाकर, असम राज्यपाल के अधीन, एक पृथक प्रशासनिक इकाई का निमाण कर दिया जाय। नागाओ के इस प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए भारत सरकार ने जुलाई 1960 म नागा लोक सम्मेलन (Naga peoples convention) स एक समझौता किया और 1962 मे नागालण्ड क पृथक राज्य की घोषणा कर दी गयी। 1 दिसम्बर, 1963 को नागालण्ड के नये राज्य का उद्घाटन कर उसे देश का सोलहवाँ राज्य बना दिया गया। फिजो इग्लण्ड भाग गया। यद्यपि फिजो ने विदेशी राज्यो से सहायता प्राप्त करने की कोशिश की परन्तु उसे इसमे सफलता प्राप्त नही हुई। नागालण्ड के राज्य निर्माण के बाद स्वतन्त्र नागालण्ड राज्य की माग प्राय शिथिल होती गयी और आज यह मृत सी हो गयी है।

E मेघालय का निर्माण—मिजो और नागा पहाडियो के लोगो की भाति असम की गारो, खासी, जैनतिया और उत्तर कचार के नेताओ ने पृथक राज्य के निर्माण के लिये अपने आपको ऑल पार्टी हिल लीडस सम्मेलन (All party hill leaders conference) म गठित किया। अन्तत जनवरी 1972 मे उनकी माग को स्वीकार कर लिया गया।

F अन्य समस्यायें—क्षेत्रवाद ने केवल उपयुक्त समस्याओ को ही उत्पन्न नही किया बल्कि अन्य अनेक ऐसी समस्याओ को भी उत्पन्न किया है जो न तो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और अखण्डता के लिये शुभ हैं, न ही भारतीय राष्ट्रीयता के लिये न ही राज्यो मे पारस्परिक सौहार्द की भावनाओ के विकास के लिये और न ही आन्तरिक शान्ति, और व्यवस्था के लिये और न आर्थिक विकास के लिये ही शुभ कही जा सकती है। इनमे से प्रमुख समस्यायें निम्न हैं —

(i) पूर्ण राज्यता की मांग या छोटे छोटे राज्यों के निर्माण की माग—क्षेत्रवाद ने छोटे छोटे राज्यो के निर्माण की माग को बढावा दिया है जो न तो आर्थिक और न ही राजनीतिक और सामाजिक तथा प्रशासनिक दृष्टिकोण से सम्भव कहे जा सकते हैं। पृथक राज्यो की माग का कही अन्त भी नहीं दिखाई देता। जब किसी क्षेत्र की माग को स्वीकार कर लिया जाता है तो उस या अन्य क्षेत्रो मे पूर्ण राज्यता की माग बलवती हो जाती है जसे असम मे कचार की पहाडियो मे रहने वाले बगाली, आन्ध्रप्रदेश मे तेलगाना क्षेत्र मे रहने वाले लोग, गुजरात की डाग और डवला जातियो मे पृथक राज्यता की माग आज भी विद्यमान है। इसी प्रकार झारखण्ड प्रदेश विन्ध्य प्रदेश, पश्चिम की तराई वाले क्षेत्र मे छत्तीसगढ, उत्तरप्रदेश मे बुन्देलखण्ड की मागें भी विद्यमान हैं। जब 1970 मे हिमाचल प्रदेश और 1972 मे त्रिपुरा और मणिपुर केन्द्र प्रशासित प्रदेशो के लिये पूर्ण राज्यता की माग को स्वीकार कर लिया गया तो यह माग दिल्ली मे भी प्रस्तुत की गयी। परन्तु दिल्ली की इस माग को स्वीकार नही किया गया।

(ii) अन्त राज्यीय विवाद—क्षेत्रवाद ने अन्त राज्यीय विवादो को जन्म दिया है। जिसने न केवल सम्बन्धित राज्य मे कटुता के बीज बोये हैं बल्कि सम्बन्धित राज्यो की शान्ति को भी भग किया है। मैसूर (करनाटक) और महाराष्ट्र के सीमा विवाद और चण्डीगढ के प्रश्न का अभी तक कोई सन्तोषजनक हल नहीं निकल पाया।

(iii) क्षेत्रीय सगठनों का निर्माण—क्षेत्रवाद ने ऐसे क्षेत्रीय सगठनो को जन्म दिया है जो किसी दृष्टिकोण से राष्ट्रवाद के लिये शुभ नही कहे जा सकते। उदाहरणतया महाराष्ट्र मे 'शिव सेना' और असम मे "लचित सेना" ऐसे ही सगठन हैं जो कट्टर क्षेत्रीयता (प्रादेशिकता) मे विश्वास करते है। इतना ही नहीं, असम मे लचित सना ने तो दूसरे राज्यो के निवासियो को बाहर निकालने की माग प्रस्तुत की, उनकी दूकानो और व्यावसायिक स्थानो को लूटा तथा आग लगाई। इसी प्रकार की घटनायें शिव सेना ने महाराष्ट्र मे की। तमिलनाडु मे भी एक ऐसे आन्दोलन को सगठित किया गया जिसने गर-तामिलियो को तमिलनाडु छोडने के लिये कहा। ये सब घटनाय राष्ट्रवाद के लिये दुर्भाग्यपूर्ण ही कही जा सकती है।

क्षेत्रवाद ने "सन्स आफ दि सॉइल" (sons of the soil) नाम के सिद्धान्त को जन्म दिया है जिसका उद्देश्य यह है कि निवास स्थान के लोगो को ही व्यवसायो मे भर्ती किया जाय। इन्जीनियरिंग, मेडिकल तथा अन्य तकनीकि शिक्षा के क्षेत्र मे तो निवास स्थान की शर्त को जोड दिया है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद क्षेत्रवाद ने स्वरूप ग्रहण किया है वह भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के लिये शुभ नहीं।

## D भाषा और राजनीति
### (Language and Politics)

भारत एक बहुभाषी देश है। इसे प्राय "बोलियों की अट्टालिका" कहा जाता है। सन् 1927 में प्रकाशित भाषा सम्बन्धी सर्वेक्षण (The lingustic survey of India) ने 179 भाषाओं और 544 उप भाषाओं (बोलियों) सहित 1,652 मातृ भाषाओं (mother tongues) का उल्लेख किया। सन् 1961 की जनगणना ने 1 018 भिन्न भिन्न भाषाओं को बोलने वालों को प्रलिखित किया। भारत की जनसंख्या का 73 3 प्रतिशत भाग इण्डो एशियन भाषाओं और 24 5 प्रतिशत भाग द्राविडियन भाषाओं, (तमिल, तेलगु, कनाडा, मलयालम) का प्रयोग करती है। सन् 1961 की जनगणना के अनुसार 30 4 प्रतिशत लोग हिन्दी भाषा का प्रयोग करते हैं और यदि उर्दू, पंजाबी, बिहारी तथा राजनीतिक भाषाओं को हिन्दी में शामिल किया जाय तो हिन्दी के बोलने वालों की संख्या 54 4 प्रतिशत है।[1] इसके अतिरिक्त वे लाखों लोग भी हिन्दी भाषा को समझ सकते हैं जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। हिन्दी के अतिरिक्त भाषा की कोई भी अन्य भाषा 8 या 9 प्रतिशत से अधिक लोगों द्वारा बोली, समझी या लिखी नहीं जाती। अतः हिन्दी को ही भारत की राज भाषा बनने का श्रेय प्राप्त हो सकता है।

**भाषा के सम्बन्ध में संवैधानिक व्यवस्था**—भारतीय संविधान के अध्याय 17 के अनुच्छेद 343 में देवनागरी लिपि में हिन्दी को राजभाषा घोषित किया गया है। यद्यपि संविधान इस बात की भी व्यवस्था करता है कि संविधान के लागू होने के 15 वर्ष बाद तक अंग्रेजी राज भाषा के रूप में कार्य कर सकती है। इतना ही नहीं, संविधान संसद को इस बात का अधिकार भी प्रदान करता है कि वह कानून द्वारा इस काल को बढ़ा सकती है।

भारतीय संविधान हिन्दी के क्रमिक विकास की भी व्यवस्था करता है। हिन्दी के उत्तरोत्तर विकास के लिए, उससे सम्बन्धित समस्याओं पर सुझाव देने के लिए हिन्दी को केन्द्र और राज्यों तथा राज्यों के बीच की पत्र व्यवहार की भाषा बनाने के लिए तथा अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए संविधान के अनुच्छेद 344 (1) में भाषा आयोग की व्यवस्था करता है। संविधान के लागू होने के 5 वर्ष बाद और प्रत्येक 10 वर्ष बाद भाषा आयोग की स्थापना की जा सकती है। भाषा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। इस अनुच्छेद के अनुसार सन 1955 में राष्ट्रपति ने एक राज भाषा आयोग की स्थापना की जिसने दो वर्ष बाद 1957 में अपने प्रतिवेदन को प्रस्तुत...

भारतीय संविधान 15 भाषाओं को ... भाषाओं (... India) की मान्यता देता है। आठवीं अनु... का उल्ले...

1 All figures quoted here ... Norm...
p 20

है। ये भाषाएँ हैं—आसामी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, कनाडा, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, संस्कृत, तमिल, तेलगू उर्दू और सिन्धी। सिन्धी भाषा को 1966 में इक्कीसवें संशोधन द्वारा आठवीं अनुसूची में सम्मिलित किया गया था।

**भाषावाद द्वारा उत्पन्न समस्यायें**—भाषावाद ने भारतीय राजनीति में अनेक समस्याय उत्पन्न की हैं जिनमे प्रमुख निम्न हैं—

(1) **भाषावार प्रान्तों की रचना**—भाषावार प्रान्तों की चर्चा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के सरकारी और गैर सरकारी प्रतिवेदनों में देखने को मिलती है। बंग भंग, माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन, भारतीय संवैधानिक आयोग, 1928 के सर्वदलीय सम्मेलन आदि में भारत में भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्निर्माण की चर्चा समय-समय पर होती रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय संविधान सभा ने भाषा के समूचे प्रश्न पर विचार करने के लिये इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश धर की अध्यक्षता में एक आयोग की स्थापना की। आयोग ने अपने प्रतिवेदन में भाषावार प्रान्तों की रचना को राष्ट्रीय एकता, स्वतन्त्रता और अखण्डता के लिये हानिकारक बताया। आयोग का विश्वास था कि भाषा के आधार पर निर्मित की गयी इकाइयां राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय भावना के विकास में बाधा प्रस्तुत करेंगी। आयोग ने इस बात को भी उल्लिखित किया कि भाषावार प्रान्तों का विचार यद्यपि बहुत लोकप्रिय है परन्तु यह राष्ट्रीय हित के अनुकूल नहीं हैं।

परन्तु भाषा को लेकर अनेक प्रदेशों में आंदोलन किये गये इन आंदोलनों में प्रदर्शन दंगों, आमरण अनशन, अग्निदाह द्वारा शरीरान्त आदि साधनों का प्रयोग भी किया गया। उदाहरणतया 1952 में तेलगू भाषा के आधार पर आन्ध्र प्रदेश की स्थापना हेतु श्री पोट्टू श्रीराम मूलू (Pottu Sriramula) ने आमरण उपवास रखा। 56 दिन के उपवास के बाद 15 दिसम्बर, 1952 को श्रीराम मूलू की मृत्यु हो गयी। इस घटना ने जिस अव्यवस्था को जन्म दिया उसके फलस्वरूप 1953 में "आन्ध्र प्रदेश" की स्थापना की गयी। भाषा के आधार पर राज्य निर्माण का यह पहला उदाहरण था। इसने भाषावार प्रान्तों के विचार को बढ़ावा दिया।

राज्यों के पुनर्गठन आयोग ने, जिसके अध्यक्ष सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश फजलअली थे, अपने प्रतिवेदन में भाषावार प्रान्तों के पक्ष में अपने विचार व्यक्त किये। आयोग का विश्वास था कि भारत लोकतान्त्रिक देश है। लोकतान्त्रिक देश में राज्यों का कारोबार प्रान्तीय भाषाओं में होना चाहिये। आयोग की यह भी धारणा थी कि शासकों और शासितों के मध्य एकता उत्पन्न करने में भाषा का अत्यधिक योगदान है। इतना ही नहीं, आयोग ने प्रादेशिक भाषाओं के विकास के लिये भी सुझाव दिये। भाषावार प्रान्तों के बन जाने से प्रादेशिक भाषाओं का विकास

1 धर आयोग ने अपना प्रतिवेदन 10 दिसम्बर 1948 को प्रस्तुत किया।

हो सकेगा और विविध भाषाभाषी लोगो के साथ सामाजिक और आर्थिक न्याय हो सकेगा। आयोग ने भाषावार प्रान्तो के दोषो को भी उल्लिखित किया था जो मुख्यतया निम्न थे —

(i) इससे पृथकतावादी प्रवृत्तियों को बल मिलेगा।

(ii) इसम अल्पसख्यका की समस्या का समाधान नही होता।

(iii) इसस जनता की शक्तियो का अनुत्पादक धाराओ मे बहने का खतरा है।

आयोग ने भाषावार प्रान्ता के विचार का समर्थन करत हुए भी इसे राज्य के पुनर्गठन का एक मात्र आधार स्वीकार नही किया था।

सन् 1956 मे भाषावार प्रान्ता की रचना के बाद भी अनेक भाषाभाषी क्षेत्र असतुष्ट रहे और अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये प्रदर्शना, आन्दोलना और दगा का सहारा लेने लग। परिणामस्वरूप सन् 1960 मे भाषा के आधार पर बम्बइ राज्य को गुजरात और महाराष्ट्र राज्यो मे पुनगठिन किया गया, सन् 1966 मे पजाब राज्य को भाषा के प्रश्न पर पजाब और हरियाणा मे पुनगठित किया गया। भाषा के आधार पर राज्या के पुनगठन की समस्या आज भी विद्यमान है। इस तरह भाषावार प्रान्तो के विचार ने पृथकतावादी प्रवृत्तियो को बल दिया है, छोटे छोटे राज्या का निमाण किया है राष्ट्रीय एकता, सुरक्षा और आर्थिक विकास म बाधा प्रस्तुत की है। यही कारण है कि भाषा के आधार पर राज्या के पुनगठन को आज सदेह की दृष्टि से देखा जाता है।

(ii) हिन्दी भाषाई और अहिन्दी भाषाई राज्यो मे विवाद—भाषा के प्रश्न को लेकर अहिन्दी राज्यो मे पर्याप्त रोष और तनाव रहा है। अहिन्दी राज्या म हिन्दी को लागू करने के प्रयासो को हिन्दी साम्राज्यवाद (Hindi imperialism) की सना दी गयी है। हिन्दी भाषी और अहिन्दी भाषी क्षेत्रो मे भाषा को लेकर इतने उग्र आन्दोलन हुए कि अनेक स्थानो पर गोलियाँ चलाई गयी, सावजनिक सम्पत्ति को नष्ट किया गया और अनेक व्यक्तियो को अपने जीवन से हाथ धोने पडे। भावनायें इतनी उग्र थी कि तमिलनाडु मे सविधान की प्रतिया जलाई गयी और विरोध के लिए हिन्दी विरोधी आन्दोलन परिषद् (Anti Hindi agitation council) का निर्माण किया। बगाल मे तो सिनेमा घरा मे हिन्दी फिल्मो का प्रदर्शन होना बन्द हो गया। तमिलनाडु विधान सभा ने माग की कि सभी भाषाओ को राजभाषा घोषित कर दिया जाय और अग्रेजी के प्रयोग को जारी रखा जाय। इतना ही नही तमिलनाडु सरकार ने अपने क्षेत्र मे हिन्दी की शिक्षा को स्थगित कर दिया। दूसरी ओर, हिन्दी भाषी राज्यो मे विशेषकर उत्तर प्रदेश और राजस्थान मे अग्रेजी विरोधी आन्दोलन हुए। हिन्दी लेखको ने अपनी पद्म भूषण, पद्मश्री आदि की उपाधियो को त्याग दिया।

भाषा के प्रश्न को हल करने के लिए किये गये प्रस्ताव—अहिन्दी भाषी राज्यो की शकाओ का दूर करने के लिये समय समय पर अनेक प्रकार के आश्वासन

दिये गये। उदाहरणतया प० जवाहरलाल नेहरू ने अपने प्रधान मन्त्रित्व काल मे उन्हे विश्वास दिलाने का प्रयास किया कि उनके हितो के विरुद्ध हिन्दी को लागू नही किया जायगा। बाद मे प्रधान मन्त्री शास्त्री ने भी नेहरू जी के इस आश्वासन को दोहराया कि अग्रेजी का प्रयोग उस समय तक जारी रहेगा जिस समय तक लोग इसका प्रयोग करना चाहते है। इस बात का निर्णय स्वय अहिन्दी भाषी राज्य करेगे।

भाषा की समस्या का समाधान करने के लिये समय समय पर जो प्रयास किये गये उनमे प्रमुख निम्न हैं —

(i) राज भाषा आयोग 1955 (Official language commission 1955)—सन 1955 मे, अनुच्छेद 344 (1) के अन्तगत भारत सरकार ने बी० जी खेर की अध्यक्षता म 21 सदस्यो के एक राज भाषा आयोग की स्थापना की। इस आयोग का प्रतिवेदन 12 अगस्त, 1957 को प्रकाशित किया गया। इस प्रतिवेदन मे की गयी प्रमुख सिफारिशें निम्न थी —

(a) क्योकि हिन्दी अधिक लोगो द्वारा बोली जाती है अत प्रारम्भिक शिक्षा, प्रशासन, सार्वजनिक जीवन और दैनिक कार्यक्रम मे इसे लोक माध्यम (mass media) के रूप मे कार्य करना चाहिये।

(b) सरकारी कार्यों मे अग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग अधिक किया जाय।

(c) अखिल भारतीय परीक्षाओ, सर्वोच्च न्यायालय की भाषा के लिये, अग्रेजी के विकल्प छूट देते हुए, राज्यो के उच्च न्यायालय और प्रशासन मे प्रादेशिक भाषा की छूट दे दी जाय।

(d) केन्द्रीय सरकार और अन्य राज्यो के साथ पत्र व्यवहार मे हिन्दी का प्रयोग किया जाय।

(e) चौदह भाषाओ के विकास के लिये राष्ट्रीय अकादमी (National academy) की स्थापना की जाय।

(ii) राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन और त्रि भाषाई फार्मूला (1961)—भाषा के प्रश्न को लेकर 1956–60 मे अनेक आदोलन हुए। अत सन् 1961 मे राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन ने एक बार फिर भाषा की समस्या की जाच की। इसकी मुख्य सिफारिशें थी—

(a) उच्च माध्यमिक शिक्षा स्तर पर तीन भाषाओ—हिन्दी, अग्रेजी और क्षेत्रीय भाषा का ज्ञान अनिवार्य हो।

(b) विश्व विद्यालय स्तर पर शिक्षा का माध्यम अग्रेजी के स्थान पर क्षेत्रीय भाषा हो।

(c) विश्व विद्यालयो म सम्पर्क भाषा (link language) के रूप म हिन्दी अग्रेजी का स्थान ले ल।

(iii) सन् 1963 का भाषा अधिनियम—सन् 1963 में भारत सरकार ने एक भाषा अधिनियम पास किया जिसकी मुख्य विशेषतायें निम्न थी —

(a) अंग्रेजी को 1975 तक अतिरिक्त भाषा के रूप में प्रयुक्त किया जाय।

(b) हिन्दी राज्यों के साथ पत्र व्यवहार हिन्दी में किया जाय।

(c) अहिन्दी राज्यों के साथ यदि पत्र व्यवहार हिन्दी में किया जाय तो उसकी अंग्रेजी प्रतिलिपि उसके साथ संलग्न हो।

(d) राज्यपाल, राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के आधार पर, उच्च न्यायालय के निर्णयों को प्रादेशिक भाषा में घोषित करने एवं लिपिबद्ध करने के लिये अधिकृत कर सकता है।

(iv) कोठारी आयोग—त्रि-भाषाई फार्मूले के लागू करने में राज्यों ने अपनी उदासीनता प्रकट की थी। अतः राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा के नमूने पर सुझाव देने के लिये केन्द्रीय शिक्षा मंत्री एम० सी० छागला ने विश्व विद्यालय अनुदान आयोग (U G C) के अध्यक्ष डॉ० डी० एस० कोठारी की अध्यक्षता में एक शिक्षा आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने जून 1966 को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया। भाषा के सम्बन्ध में प्रतिवेदन में निम्न सुझाव दिये गये थे —

(1) त्रि भाषाई फार्मूले में सुधार के प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये। इनमें कहा गया कि प्रादेशिक भाषा के अतिरिक्त हिन्दी या अंग्रेजी या अन्य भारतीय या यूरोपीय भाषा का अध्ययन कराया जाय।

(b) 10 वर्ष के भीतर प्रादेशिक भाषा को विश्व विद्यालय की भाषा बना दिया जाय।

(c) अखिल भारतीय संस्थाओं में अंग्रेजी को फिलहाल जारी रखा जा सकता था यद्यपि, समय पा कर, इन संस्थाओं में भी हिन्दी का प्रयोग किया जाना चाहिये।

(v) राजभाषा (संशोधन) कानून अर्थात त्रि भाषाई फार्मूले में संशोधन—कोठारी आयोग द्वारा की गई सिफारिशों के आधार पर राजभाषा (संशोधन) कानून पास किया गया। इसके अनुसार राज्यों में हिन्दी के साथ अंग्रेजी को जारी रखा गया। संघीय लोक सेवा आयोग की परीक्षायें अंग्रेजी के अतिरिक्त संविधान द्वारा स्वीकृत किसी भी भाषा में ली जा सकती हैं। विश्व विद्यालय शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी के स्थान पर किसी भी क्षेत्रीय भाषा को बनाया जा सकता है। इन्जीनियरिंग कृषि, चिकित्सा, आदि की शिक्षा भी क्षेत्रीय भाषाओं में दी जा सकती है।

यद्यपि भारत सरकार की शिक्षा नीति के विरुद्ध अनेक प्रकार के उग्र आन्दोलन किये गये परन्तु भारत सरकार अपनी नीति पर दृढ़ रही है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भाषा की समस्या ने निरन्तर संघर्ष और मतभेदों को उत्पन्न किया है। जहाँ प्रान्तीय (प्रादेशिक) भाषाओं के विकास ने भाषाई पृथक्तावाद (linguistic isolationism) को जन्म दिया है वहाँ हिन्दी और

अंग्रेजी के विकास ने भाषाई कट्टरता और स्वायत्तता की माग को शिथिल भी किया है। फिर भी भाषा के सम्ब ध मे, दृढ और निश्चित नीति अपनाने की आवश्यकता है ताकि राष्ट्रीय एकता और सुदृढता के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सके।

## E दल-बदल राजनीति
### (Politics of Defection)

**अर्थ एव स्वरूप (Meaning and nature)**–राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियो के लिये दल बदल राजनीति कोई नवीन शब्दावली नही है जहा कही प्रजातान्त्रिक प्रणालियाँ और सस्थाये विद्यमान रही है वहा दल बदल अस्वाभाविक घटना नही। ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा न्यूजीलण्ड आदि दशो मे भी इस प्रकार की घटनायें घटित हुई हैं ब्रिटेन मे इसे पक्ष परित्याग (Floor crossing) के नाम से जाना जाता है। जब कभी कोई विधायक पक्ष परित्याग करता है तो वह सरकारी पक्ष से उठकर विरोधी पक्ष मे या विरोधी पक्ष से उठ कर सरकारी पक्ष म बठ जाता है। ब्रिटेन मे विन्स्टन चर्चिल जसे प्रख्यात नेताओ ने भी दल बदले।

डिफेक्शन शब्द का प्रयोग वस्तुत अनेक अर्थों मे किया जाता है जसे पलायन (भाग जाना), देश त्याग, परित्याग, दल-बदल आदि। अपने मौलिक रूप मे डिफेक्शन शब्द को सैनिक शब्दावली से लिया गया है। जब कोई सैनिक अपने निरय के कर्त्तव्य पालन से भाग जाता है तो उसे पलायन या विद्रोह (defection) कहते हैं। दूसरे जब कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह सरकार के साथ भीषण राजनीतिक मतभेद हो जाने से, दण्ड के भय से, देश त्याग देता है तो उसे डिफेक्शन कहते हैं। तीसरे, जब कोई व्यक्ति अपने नेता, पक्ष या लक्ष्य का परित्याग करता है या किसी दल व्यक्ति या समूह स सम्ब ध विच्छेद करता है तो उसे भी डिफेक्शन कहते हैं। चौथे, राजनीतिक लेबल (नामकरण) मे परिवतन को भी डिफेक्शन कहा जाता है।

भारतीय (राज्यो की) राजनीति के स दभ में डॉ० सुभाष कश्यप[1] ने दल बदल राजनीति के अनेक स्वरूपो को व्यक्त किया है जसे (i) व्यक्ति ने जिस दल के टिकट पर चुनाव लडा हो यदि वह उसे त्याग दे या अन्य दल मे प्रवेश ले ले, (ii) दल से त्याग पत्र देने के बाद वह निदलीय सदस्य के रूप मे बना रहे, (iii) निदलीय सदस्य के रूप मे निर्वाचित होने के बाद वह किसी विशेष दल मे शामिल हो जाय। डॉ० सुभाष कश्यप का यह भी मत है कि दल की सदस्यता स त्याग पत्र दिये बिना जो विधायक विधान मण्डल म मूल प्रश्ना पर दल के विरुद्ध मतदान करता है उसे भी डिफेक्शन समझना चाहिये।

केन्द्रीय गृह मन्त्री वाई० वी० चाह्वान की अध्यक्षता म सन 1967 मे गठित समिति ने अपन प्रतिवेदन मे डिफेक्शन को इस प्रकार प्रभावित किया है। 'किसी राजनीतिक दल के सुरक्षित चिह्न पर निर्वाचित व्यवस्थापिका के किसी सदस्य का

1 See Kashyap S C Politics of defection, pp 11–12

तभी दल बदलू कहा जा सकता है जब वह संसद के किसी सदन या किसी राज्य या केंद्र शासित प्रदेश की विधान परिषद या विधान सभा का सदस्य निर्वाचित होने के बाद स्वच्छा से उस दल के प्रति भक्ति का परित्याग कर दे या उससे सम्बन्ध विच्छेद कर ले शर्त यह है कि उसका यह कार्य दल विशेष के दल बदल का परिणाम नही होना चाहिये।'

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि दल बदल मे वे सब स्थितियाँ सम्मिलित हैं जिसमे विधायक विधान मण्डल मे अपने दल के प्रति अभक्ति व्यक्त करता है अपने दल के विरुद्ध मतदान करता है अपने दल से स्वतन्त्र रहता है, किसी अन्य दल के साथ मतदान करता है या अन्य दल मे शामिल हो जाता है या नवीन राजनीतिक भक्ति को व्यक्त करता है, सरकारी पक्ष के सदस्यों का विरोधी पक्ष मे मिलना या विरोधी पक्ष के सदस्यो या स्वतन्त्र सदस्यो का सरकारी पक्ष मे मिलना डिफक्शन ही है। मिली जुली सरकारों के घटक भी जब दलीय निष्ठा को त्याग कर किसी अन्य दल मे निष्ठा व्यक्त करते हैं तो उसे भी डिफेक्सन कहा जाता है।

सन 1967 के निर्वाचन के बाद भारत मे दल बदल राजनीति का जो स्वरूप रहा है उसने अवसर वादिता, अस्थिरता पद लोलुपता धन प्रलोभन आदि भावनाओं को जन्म दिया है। इसी कारण दल बदल राजनीति को अनेक नामों से पुकारा जाता है जैसे अवसरवादी राजनीति (Politics of opportunism), अस्थिर राजनीति (Politics of instability), सम्भ्रान्त राजनीति (Politics of confusion) पथ भ्रष्ट राजनीति (Politics of deviation) संक्रमण राजनीति (Politics of transition), विवर्ती मन्त्रियो की राजनीति (Politics of shifting alliances), 'आया राम, गया राम' राजनीति आदि।

**भारत मे दल बदल राजनीति का विकास**—भारत मे दल बदल की राजनीति चौथे चुनाव (1967 के चुनाव) से पूर्व भी विद्यमान थी परन्तु इसका रूप गम्भीर अर्थात् खतरनाक नही था। इसका कारण यह था कि 1967 के निर्वाचन से पूर्व केन्द्र और राज्यो पर कांग्रेस का एकाधिकार था और यदि कोई कांग्रेसी दल बदलता भी था तो यह सैद्धान्तिक भेदो के आधार पर ऐसा करता था परन्तु जब 1967 के निर्वाचन मे राज्यो मे कांग्रेस को पराजय का मुँह देखना पड़ा और उसके विरोध पक्ष मे बँटन की नौबत आई तो केन्द्र व राज्य के कांग्रेसी नेतृत्व के यह स्थिति गले न उतर सकी। अतः कांग्रेसी नेतृत्व ने दल बदल राजनीति का सहारा लिया। दल बदल की राजनीति मे कांग्रेस का उत्तरदायित्व इस बात से ही स्पष्ट हो जाता है कि उसने 1967 के चुनावो के बाद समान विचार वाले दलो के साथ मिल कर मिले जुले मन्त्रिमण्डलो का गठन करने से तो इन्कार किया परन्तु कांग्रेसी सम्मनीय बोर्ड ने 27 फरवरी, 1967 के निर्णय द्वारा निर्दलीय विधायको को कांग्रेस मे सम्मिलित होने के लिये आमन्त्रित किया। यह दल-बदल का खुला निमन्त्रण था, जिसमे निर्दलीय सदस्यों को निर्दलीयता का त्याग कर कांग्रेस मे शामिल होने का प्रलोभन दिया गया

था। दूसरी ओर, यह विरोध (जो अभी तक सत्ता मे नही आये थे) के लिये भी सुअवसर था कि वे अपनी वफादारियो का त्याग कर न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर सत्ता के साझेदार बन सकते थे। अत वे भी दल बदल का सहारा लेने लगे। परिणाम स्वरूप विधायको को अपने पक्ष मे करने के लिये उनका मूल्य आका जाने लगा। एक अनुमान के अनुसार 'आया राम" विधायक का मूल्य 20,000 रु० और "गया राम' का मूल्य 40,000 रु० था। इस तरह सत्ता को प्राप्त करने के लिये विधायको को खरीदा और बेचा जाने लगा। राज्यो की राजनीति अस्थिर, अस्पष्ट और गडबड होने लगी, मन्त्रिमण्डलो का गठन और पतन शीघ्रता से होने लगा। दल बदल के रोग से कुल विधान सभाओ के लगभग 3500 सदस्यो मे से कम से कम 550 सदस्यो ने अपने दल बदले, अनेक विधायको ने तो अनेक बार अपने राजनीतिक चोले बदले। इस दल-बदल की विशेषता यह थी कि व्यक्तिगत स्वार्थों और लाभो पर आधारित होते हुए भी इसे अनैतिक या जनता से विश्वास घात नही माना गया और दल बदलुओ को केवल मन्त्री पद से सम्मानित ही नही किया गया बल्कि उनको विधान मण्डलीय शक्ति के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व भी दिया गया। केवल 1967 के वर्ष मे 115 दल बदलुओ को विभिन्न राज्यो मे मन्त्रीपद प्रदान किये गये। अक्टूबर नवम्बर 1970 मे अकेले उत्तर प्रदेश मे 42 विधायको ने दल-बदल किया। सन 1967 से 1970 तक चार साल की अवधि मे दल बदल करने वालो की संख्या बढकर 1400 तक पहुँच गयी। यद्यपि 1971 के निर्वाचनो और 1972 के निर्वाचनो मे काग्रेस को केन्द्र और राज्यो मे बहुमत प्राप्त होने से राज्यो मे राजनीतिक स्थिरता उत्पन्न हुई परन्तु दल-बदल की राजनीति समाप्त नही हुई और आज भी यह रोग भारतीय राजनीति मे विद्यमान है।

**दल बदल क्यो ? या दल बदल को प्रोत्साहन देने वाले तत्व (Why defection or factors that encourage defections)**—भारत मे दल-बदल को प्रोत्साहन देने वाले अनेक और विभिन्न कारण हैं जिनमे प्रमुख निम्न हैं —

(i) शक्तिशाली एव प्रभावशाली दलीय नेतृत्व की कमी जो दलीय अनुशासन और नियन्त्रण को दृढता पूर्वक लागू करने मे कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है।

(ii) दल के असन्तुष्ट एव उपेक्षित सदस्यो की अतृप्त आशायें जो विधायको मे व्यक्तिगत स्वार्थों को जन्म देती है।

(iii) पद और स्थिति के साथ उत्पन्न होने वाले लाभो और धन को प्राप्त करने की लोलुपता।

(iv) मन्त्रिपद और विधायकपद की प्राप्तियो मे गम्भीर अन्तर

(v) दलो मे राजनीतिक आचार सहिता का अभाव।

(vi) विधायको मे सार्वजनिक नैतिकता का अभाव।

(vii) दलो मे सैद्धान्तिक आधार का अभाव।

(viii) दल बदलू विधायकों के प्रति मतदाताओं की उदासीनता और सार्वजनिक निन्दा की अनुपस्थिति (absence of public censure)

(ix) दलीय नेता और विधायक के मध्य उत्पन्न होने वाले गम्भीर मतभेद।

(x) दलीय फूट और गुटबन्दियां, जो समय और परिस्थिति के अनुसार दल बदल का रूप ग्रहण कर लेती हैं।

(xi) शक्तिशाली लाबीस (lobbies) और दबाव समूहों का अस्तित्व।

(xii) राज्य विधान सभाओं में ठोस बहुमत का अभाव।

(xiii) विधान मण्डलीय शक्ति के अनुपात में दल बदलू विधायकों का मन्त्रिमण्डलों में अधिक प्रतिनिधित्व।

(xiv) कांग्रेस द्वारा समान विचारों वाले दलों के साथ मिलकर मिली जुली सरकारों को गठित करने से इन्कार करना तथा खुले रूप में स्वतन्त्र सदस्यों को दल बदल करने के लिये प्रलोभन देना।

दल बदल के प्रभाव तथा समस्या के समाधान के प्रयास (Effects of defection and efforts to solve the problem)—दल-बदल के अनेक गम्भीर परिणाम निकले हैं जो अशुभ होने के साथ भयानक भी हैं। दल बदल के जो परिणाम निकले है उनमें प्रमुख निम्न हैं —

(i) अवसरवादी राजनीति—दल बदल ने अवसरवादी राजनीति को बढ़ावा दिया है। इससे दलीय फूट और गुटबन्दियों को प्रोत्साहन मिला है स्वार्थपरता और सौदेबाजी ने विधायकों का नैतिक पतन किया है। उनमें सार्वजनिक उत्तरदायित्व की कमी आयी है।

(ii) मन्त्रिमण्डलों की अस्थिरता—विधायकों के बार-बार दल बदलने से मन्त्रिमण्डलों की स्थिरता में कमी आयी है। मन्त्रिमण्डल के टूटने के भय ने षडयन्त्र राजनीति को जन्म दिया है। ऐसी स्थिति में किसी भी मन्त्रिमण्डल के लिये ठोस नीतियों को अपनाना कठिन है।

(iii) मिली जुली सरकारों का निर्माण—दल बदल ने मिली जुली सरकारों को जन्म दिया है जो स्वभाव से ही अस्थिर और टीली होती हैं। क्योंकि उसके घटकों (सदस्यों) में कोई सैद्धान्तिक मतैक्यता नहीं पायी जाती अतः कोई भी तुच्छ घटना या मतभेद उसके पतन का कारण बन सकती है। सन् 1967 के निर्वाचन के बाद जितनी भी मिली जुली सरकारों का निर्माण हुआ, उनका जीवन अल्प ही रहा है। फ्रांस का संवैधानिक अनुभव भी इसी तथ्य को सिद्ध करता है।

(iv) मन्त्रिमण्डलों का विस्तार—सत्ता में बने रहने के लिए दलों ने मन्त्रिमण्डलों का अत्यधिक विस्तार किया है जो सार्वजनिक राजकोष (public exchequer) पर अनावश्यक आर्थिक बोझ (प्रभाव) डालता है।

(v) लोकतान्त्रिक संस्थाओं में अविश्वास—दल-बदल ने सर्वसाधारण में अपने राजनीतिक नेताओं, लोकतान्त्रिक संस्थाओं के प्रति अविश्वास को जन्म दिया

है। यदि नेतृत्व ही अपने सावजनिक कतव्य के प्रति उपेक्षित है तो सवसाधारण मे अपने क्तव्य के प्रति अपेक्षित होना कठिन है। दल ग्दल की राजनीति ने कुशासन के सभी परिणामा को प्रकट किया है।

**दल बदल समस्या के समाधान के प्रयास एव सुझाव**—दल बदल समस्या ने 1967–1969 मे इतना गम्भीर रूप धारण कर लिया था कि अनेक क्षेत्रो मे इसके सम्ब ध मे गहरी चि ता व्यक्त की गयी और समस्या के समाधान के लिय अनेक सुभाव दिये गय। इस सम्ब ध मे जो प्रमुख प्रयास एव सुझाव दिये गये वे निम्न थे —

1 **अखिल भारतीय व्हिप (सचेतक) सम्मेलन** (All India whips conference)—सन् 1967 म शिमला मे अखिल भारती सचेतक सम्मेलन हुआ जिसमे प्रस्ताव द्वारा बार-बार पक्ष-परित्याग की राजनीति पर गहरी चि ता व्यक्त की। सम्मेलन ने पक्ष त्याग को गलत (अनुचित) स्वीकार किया और दला से अनुरोध किया कि वे इसके भयानक परिणामो को समझते हुए राजनीतिक आचार सहिता की रचना करे जिसे वे स्वमेव स्वीकार करे तथा जो नतिक रूप से बाध्यकारी हो।

2 **वाई० बी० चह्वाण समिति**—दिसम्बर 1967 म लोकसभा ने, कांग्रेसी सदस्य वैकटसुबैया के प्रस्ताव पर गृह म त्री वाई० बी० चह्वाण की अध्यक्षता मे एक समिति का गठन किया जिसमे भिन्न भिन्न राजनीतिक दला के नेताओ, प्रख्यात अधिवक्ताओ, विधिवेत्ताओ तथा अ य सावजनिक व्यक्तियो को सम्मिलित किया गया। इस समिति को विधायको द्वारा बार बार दला की निष्ठा बदलने पक्ष परित्याग करने आदि से सम्ब धित प्रश्नो पर विचार कर प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिये कहा गया। समिति ने जनवरी 1969 मे अपने प्रति वेदन को प्रस्तुत किया। प्रतिवेदन म समस्या का समाधान करने के लिये जो सुझाव दिये गये थे उनमे मुख्य निम्न है —

(i) दल बदलू विधायक को किसी दल मे शामिल करने के सम्ब ध म दल स्वय एक आचार सहिता पर सहमत हो।

(ii) स्वत त्र उम्मीदवारा को मतदाता निर्वाचन मे निर्वाचित न करें इसके लिय जनमत प्रशिक्षित किया जाय।

(iii) किसी दल की टिकट पर निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधि के लिये उस का सदस्य बना रहना आवश्यक हो।

(iv) प्रधान मन्त्री व मुख्य म त्री उसी व्यक्ति को बनाया जाय जो मूलत निम्न सदन का सदस्य हो। लोकसभा या राज्य विधान सभा जसी भी स्थिति हो।

(v) प्रत्येक दल-बदलू विधायक को कुछ समय तक (कम से कम एक साल तक) या कम से कम उस समय तक जब तक वह अपने आपको पुनर्निर्वाचित न कराले तब तक उसे मन्त्री पद प्रदान न किया जाय।

(vi) मन्त्रिमण्डल के सदस्या की सख्या विधान मण्डल के सख्या म अनुपात (दसवाँ हिस्सा) मे हो।

3 गृह मन्त्रालय के सुझाव—दल बदल समस्या के समाधान म गृह मन्त्रालय के सुझाव निम्न थे—

(i) दल बदल की घटनाओ के बार बार होने पर प्रधान मन्त्री या मुख्य मत्री, को लोकसभा या विधान सभा को जसी भी स्थिति हो भग करान अधिकार होना चाहिये ।

(ii) मन्त्रिमण्डलो का आकार छोटा होना चाहिये ।

(iii) दल बदलुओ को उच्च पदो से वचित रखना चाहिये ।

4 बत्तीसवाँ सशोधन—दल बदल पर बत्तीसवें सशोधन द्वारा प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास किया गया है परन्तु कानून म त्रुटियाँ होने के कारण उसका प्रभाव नगण्य है और दल बदल का रोग विद्यमान है । प्रथम, कानून म दल बदल की स्पष्ट परिभाषा नहीं है, दूसरे दल बदलू के विरुद्ध कार्यवाही, दल के प्रतिवेदन पर राष्ट्रपति या राज्यपाल, जैसी भी स्थिति हो, करता है तीसरे, दल बदल के सम्बन्ध म राष्ट्रपति या राज्यपाल का निर्णय अ तिम है । स्पष्ट है कि दल बदल के रोग को समाप्त करने मे यह कानून असमय है । सशोधन तो केवल दिखावा है ।

5 एक सुझाव यह भी दिया जाता है कि लगभग समान विचार वाले दलो को सयुक्त मोर्चा बना लेना चाहिये ताकि निर्वाचन में वे सगठित रूप से कार्य कर सकें ।

दल बदल—एक अस्थायी तत्त्व (Defection—a temporary phenomenon)—कुछ राजनीतिक पर्यवेक्षको का विश्वास है कि दल-बदल भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की अपरिपक्वता का द्योतक है । उनकी धारणा है कि जब भारत म राजनीतिक परिपक्वता का विकास हो जायगा और दलो का ध्रुवीकरण होगा तो दल बदल स्वमेव अतीत की घटना बन जायगी । जैसाकि के० सुब्बराव ने लिखा है कि ' दल-बदल सगठित दल व्यवस्था के अभाव का आवश्यक परिणाम है । यह कोई नयी घटना नही है । चू कि अब यह रोग सभी दलो म व्याप्त हो गया है इसलिये लोगो का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो गया है । यह दलो की रुग्ण अवस्था का लक्षण है और दलो के स्वास्थ्य म सुधार होते ही इसका लोप हो जायगा । '[1] डा० सुभाष कश्यप ने भी लिखा है कि ' परिवर्तन विकास और सामजस्य की प्रक्रिया कष्टपूर्ण होती है और दल बदल की राजनीति इस कष्टपूर्ण प्रक्रिया का एक अग मात्र है । इसके विषय मे घबराने की कोई बात नही । यह घटना भी भूकम्प की भाँति है जिसने सतुलन म स्थायी विक्षेप उत्पन्न किया है । कुछ समय बाद फिर से सन्तुलन स्थापित हो जायगा, चाहे वह एक नया सतुलन ही क्या न हो । '[2] स्पष्ट है कि दल

1 Rao, K Subba Are Coalitions Feasible ? Quoted by चतुर्वेदी, पू० उ० पृ० 341

2 कश्यप, डा० सुभाष, पू० उ०

बदल प्रसूतिकाल की पीडायें हैं, जो अस्थायी हैं। यद्यपि दल बदल की घटनायें आज भी विद्यमान हैं परन्तु रोक अब युवा अवस्था मे नही। क्योंकि 1971–72 के बाद राजनीति मे स्थिरता आदि दल बदल की घटनायें कम हो गयी।

**क्या दल बदल सवैधानिक या प्रजातान्त्रिक है ? (Is defection constitutional or democratic)**—यह प्रश्न इतना जटिल है कि इसका सरलता म उत्तर नही दिया जा सकता। मानव और उसका चिन्तन इतना अपूर्ण, लचीला और परिवर्तनशील है कि उसके विचार उसकी मान्यतायें, उसके अनुभव, विश्वास और आस्थायें समय और परिस्थिति आवश्यक्तानुसार बदलती रहती है। अनेक ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जब व्यक्ति (विधायक या दल का सदस्य) यह अनुभव करे कि उसके दल की नीतियाँ राष्ट्र, समाज या मानव के लिये हितकर नही हैं या किसी दल की सदस्यता उसकी क्रियाशील भूमिका मे बाधा है तो उस समय दल-बदल करना न तो असवैधानिक है और न अप्रजातान्त्रिक। परन्तु जब यह स्वार्थ, मद लोभ, या सकीर्ण विचारधाराओं का परिणाम होता है तो यह निश्चित ही अनैतिक, अनुचित, असवैधानिक और अप्रजातान्त्रिक है। अनेक परिस्थितियो म अपने राजनीतिक भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिये भी किया गया दल बदल असवैधानिक या अप्रजातान्त्रिक नही कहलाता। ऐसी परिस्थिति मे यदि दल बदल की स्वतन्त्रता न हो तो सर्वसत्तावादी, अधिनायकवादी और साम्यवादी प्रणालियो तथा प्रजातान्त्रिक प्रणालियो मे भिन्नता करना कठिन हो जायगा। परन्तु प्रतिदिन या प्रतिमाह या प्रति वर्ष दल बदल करना प्रजातन्त्र और निर्वाचन मण्डल दोनो स कोरा मजाक है। भारत मे दल बदल अधिकाशत सत्ता के लोभ मे किया गया है अत अनैतिक है।

## F राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या
## (The Problem of National Integration)

**एकीकरण का अर्थ**—एकीकरण वह स्थिति है जिसमे किसी समाज के सदस्यो मे वर्ग, जाति भाषा, धर्म सस्कृति शिक्षा, आर्थिक आदि भिन्नताओं के होने हुए भी, जीवन के सामान्य मूल्य और प्रतिमान विद्यमान हो, उनकी आवश्यकताओं और हितो मे अधिकतम समन्वय की प्रवृत्ति हो और जो सामान्य उद्देश्यो म प्रेरित होते हो। भारतीय सन्दर्भ म राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ है "भिन्नताओं मे एकता" अर्थात् भाषाई क्षेत्रीय साम्प्रदायिक, वर्गीय, जातीय आदि सकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर राष्ट्रीय स्तरो पर सोचने और कार्य करने की क्षमता और इच्छा।

**राष्ट्रीय एकीकरण मे बाधायें**—जिन देशो मे बहु जातियाँ बहु-राष्ट्रीयतायें बहु सस्कृतियाँ और बहु धर्म पाये जाते हैं उनमे राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या सदा विद्यमान रही है। रूस, स्विटजरलैण्ड, बेल्जियम जैसे देश तो राष्ट्रीय एकता की समस्याओं का समाधान करने मे सफल भी हुये हैं। रूस ने राष्ट्रीय एकता को सास्कृतिक सघवाद और राजनीतिक तथा आर्थिक केन्द्रवाद द्वारा प्राप्त करने का

योरोपिय यों है जिसमें सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियां (विशेषकर साम्यवादी दल) का प्रभाव अत्यधिक रहा है परन्तु स्विटजरलैण्ड ने राष्ट्रीय एकता को पूर्ण प्रजातान्त्रिक संस्थाओं द्वारा प्राप्त किया है। स्वतन्त्र भारत के संस्थापकों और वर्तमान नेतृत्व ने भी प्रजातान्त्रिक साधनों और संस्थाओं द्वारा राष्ट्रीय एकता को प्राप्त करने का प्रयास किया है और ये प्रयास आज भी जारी हैं। फिर भी भारत के राष्ट्रीय एकीकरण में अनेक बाधायें विद्यमान हैं जिन्हें निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है। यद्यपि इन बाधाओं का उल्लेख विस्तृत रूप में पिछले पृष्ठों में कर दिया गया है फिर भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उन्हें संक्षेप में यहां लिख देना विद्यार्थियों के लिये लाभकारी होगा —

(i) जातिवाद—यद्यपि भारतीय संविधान जाति, भाषा, धर्म लिंग आदि किसी भी आधार पर भारतीय नागरिकों में कोई भिन्नता नहीं करता फिर भी सामाजिक राजनीतिक और प्रशासनिक ढांचे का कोई ऐसा क्षेत्र या स्तर नहीं जिसे जातिवाद ने आच्छादित (permeate) न किया हो। सामाजिक प्रथायें और परम्परायें जाति पर आधारित हैं। राजनीति में जातिवाद की अपील अत्यधिक है, निर्वाचन में प्रत्याशियों का चयन जाति को ध्यान में रखकर किया जाता है, गैर कानूनी होते हुए भी जाति के आधार पर मतदाताओं से अपील की जा सकती है। अनेक राजनीतिक दलों का आधार जाति है। प्रशासन में जातीय आकर्षण, भाई-भतीजावाद अत्यधिक है। एम० के० श्रीनिवास ने ठीक लिखा है कि "जाति को गौण रूप में और पूर्ण रूप में इस तरह स्वीकार किया जाता है कि यह सर्वत्र सामाजिक कार्य की इकाई है।"

(ii) भाषावाद—भाषा यद्यपि विचार अभिव्यक्ति का मुख्य साधन है फिर भी भारत में यह विवाद का विषय रही है। वस्तुतः भारत का प्रत्येक क्षेत्र अपनी संस्कृति, लिपि और भाषा को किसी दूसरे क्षेत्र की संस्कृति, लिपि और भाषा से श्रेष्ठ समझता है और किसी दूसरे की संस्कृति को जबरदस्ती लादने को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। हिन्दी भाषाई और अहिन्दी भाषाई क्षेत्रों में भाषा पर जो विवाद हैं, वह इस बात के द्योतक है। इस भाषा के प्रश्न ने उत्तर और दक्षिण के राज्यों में केवल कटुता को ही जन्म नहीं दिया बल्कि अहिंसक आन्दोलनों को भी जन्म दिया है। भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन, राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिये हानिकारक है। शिक्षा केन्द्रों, प्रशासनिक सेवाओं में क्षेत्रीय भाषाओं की अनिवार्यता भारतीय राष्ट्रीयता में बाधा है क्योंकि इसमें देश योग्यतम नागरिकों की सेवाओं से वंचित रह जाता है और नागरिकों के एक दूसरे राज्य में आदान प्रदान में रुकावट पैदा होती है।

(iii) क्षेत्रवाद—भारत में इकहरी नागरिकता होने के बावजूद भी क्षेत्रवाद भारतीय नागरिकता के तत्व को सुदृढ़ नहीं होने देता। आज भी लोग भारतीय कहलाने के स्थान पर बंगाली, मद्रासी, पंजाबी, बिहारी, आदि कहलाना अधिक पसन्द

करते हैं, केवल सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं राजनीतिक क्षेत्र में भी क्षेत्रवाद की भावनायें विद्यमान हैं। क्षेत्रीय हितों के लिये राष्ट्रीय हितों का बलिदान कर दिया जाता है। मैसूर महाराष्ट्र विवाद और चण्डीगढ़ के प्रश्न पर पंजाब हरियाणा में विवाद को इसी सन्दर्भ में देखा जा सकता है। क्षेत्रवाद ने ही छोटे राज्यों के निर्माण की माँग को प्रस्तुत किया है तथा 'सन्स ऑफ दी सॉयल' जैसे सिद्धान्त और [illegible] [illegible] को जन्म दिया है।

(iv) साम्प्रदायिकता—धर्म निरपेक्ष राज्य होते हुए भी भारत में धार्मिक कट्टरता और धर्मान्धता विद्यमान है जो प्रायः साम्प्रदायिक दंगों का रूप धारण कर लेती है। मुस्लिम साम्प्रदायिकता ने मुस्लिम लीग, जमायते इस्लामी और मुस्लिम मजलिस जैसे साम्प्रदायिक संगठनों को जन्म दिया है और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (R S S) के रूप में हिन्दू राष्ट्रवादी संगठन भी विद्यमान है जो [illegible] भावात्मक एकता पर घोर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं।

(v) राजनीतिक अवसरवादिता—राजनीतिक अवसरवादिता [illegible] एकीकरण के मार्ग में सबसे अधिक बाधा डाली है। राजनीतिक दलों ने [illegible] को प्राप्त करने के लिए जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा आदि की समस्याओं [illegible] उभारा है। इस राजनीतिक अवसरवादिता ने दल-बदल, [illegible] मैत्रियों (shifting alliances) को जन्म दिया है जिसने [illegible] और उसके आधार को अस्थिर बना दिया है। इसने ऐसे [illegible] किया जो अशोभनीय और अपवित्र हैं। उदाहरणतया [illegible] मुस्लिम लीग और राष्ट्रीय कांग्रेस (इन्दिरा गांधी [illegible] निकृष्ट अवसरवादिता की संज्ञा ही दी जा सकती है।

(vi) आर्थिक विषमतायें—बेरोजगारी, [illegible] के गम्भीर भेदों ने भी राष्ट्रीय एकता के तत्वों का [illegible] है। [illegible] जनोत्तेजक नेताओं ने भूखे, नंगे, निरक्षर और [illegible] का [illegible] के लिए शोषण किया है।

विशाल और व्यापक हृदय, व्यापक दृष्टिकोण, बुद्धि की सहिष्णुता, उच्च नैतिक चरित्र, मानव मात्र में विश्वास आदि तत्व इसमें सहायक हो सकते हैं। राष्ट्रीय एकीकरण में जो तत्व सहायक हो सकते हैं उनमें मुख्य निम्न हैं —

(i) उच्च नैतिक चरित्र—उच्च नैतिक चरित्र राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग को प्रशस्त कर सकता है, विशेषकर सामाजिक और राजनीतिक नेतृत्व का नैतिक चरित्र तो सन्देह रहित होना चाहिये।

(ii) राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली—राष्ट्रीय एकीकरण में शिक्षा प्रणाली का महत्व अत्यधिक है। शिक्षा के माध्यम से ही धर्म निरपेक्षता जातीय सहिष्णुता आदि की भावनाओं का सचार विद्यार्थियों में किया जा सकता है। पाठ्यक्रम के आधार और उद्देश्य राष्ट्रीय होने चाहिये क्षेत्रीय नहीं, ताकि संस्कृतियों का आदान प्रदान हो सके। जब पाठ्यक्रम का आधार प्रादेशिक या जातीय उच्चता होती है तो राष्ट्रीय भावनाओं का विकास नहीं हो सकता। पाठ्यक्रम में आध्यात्मिक मूल्यों पर भी बल दिया जाना चाहिये। छात्रावास सामूहिक होने चाहिये जातीय नहीं।

(iii) राजनीतिक आचार संहिता—राजनीतिक दलों के आचार और व्यवहार की एक आचार संहिता होनी चाहिये और यदि कोई दल उसकी उल्लघना करे तो उस पर प्रतिबन्ध होना चाहिये। साम्प्रदायिकता पर आधारित या साम्प्रदायिकता को उभारने वाले दलों समूहों सगठनों, पत्रों, पत्रिकाओं आदि पर कड़ा नियन्त्रण होना चाहिये। निर्वाचन में किसी भी रूप में जातीय प्रचार दण्डनीय अपराध होना चाहिये। अल्पसख्यकों के प्रति तुष्टिकरण की नीति का परित्याग करना चाहिये।

(iv) भाषा की समस्या का समाधान—भाषा की समस्या का समाधान शीघ्र एवं राष्ट्रीयकरण के उद्देश्यों से प्रभावित होना चाहिये। राष्ट्रीय भाषा की कीमत पर क्षत्रीय भाषाओं का विकास हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

(v) साम्प्रदायिक सगठनों पर पाबन्दी—क्षेत्रीय और साम्प्रदायिक सगठनों जैसे राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ मुस्लिम लीग, आदि सगठनों की उपस्थिति में राष्ट्रीय एकीकरण की कल्पना कठिन है। ऐसे सगठनों पर प्रतिबन्ध होना चाहिये।

(vi) आर्थिक विकास—दुस्तर निर्धनता और अपार बेरोजगारी निराशा और असहायता को जन्म देती है जो अन्ततः हिंसक आन्दोलनों को जन्म देती है। आर्थिक विकास किया जाय, आर्थिक असमानताओं को दूर किया जाय और शोषण की प्रणालियों का अन्त किया जाय।

(vii) प्रशासनिक कुशलता—प्रशासनिक कुशलता राष्ट्रीय एकीकरण में पर्याप्त रूप से सहायक हो सकती है। प्रशासन को समाज सेवा और उच्च नैतिक चरित्र की भावनाओं से प्रेरित होना चाहिये।

**राष्ट्रीय एकीकरण को बढ़ावा देने के लिये उठाये गये कदम (Steps taken to promote national integration)**—राष्ट्रीय एकीकरण को बढ़ावा देन के लिये अनेक प्रकार की संगोष्ठियों और सम्मेलनों का आयोजन किया गया है तथा समितियों और आयोगों का गठन भी किया गया है। राष्ट्रीय एकीकरण के प्रयासों मे दो प्रकार के प्रयास प्रमुख रहे हैं जो निम्न हैं —

(A) सरकारी प्रयास

(B) गैर सरकारी प्रयास

(A) **सरकारी प्रयास**—राष्ट्रीय एकीकरण को बढ़ावा देने के लिये समय समय पर जो सरकारी प्रयास किये गये हैं उनमे प्रमुख निम्न हैं :—

1 **विश्व विद्यालय अनुदान आयोग संगोष्ठी (1958)**—16-17 अगस्त, 1958 को विश्व विद्यालय अनुदान आयोग ने राष्ट्रीय एकीकरण के सम्बन्ध में एक संगोष्ठी का आयोजन किया। इस संगोष्ठी मे प्रख्यात विद्वानों और शिक्षा शास्त्रियों ने भाग लिया। इस संगोष्ठी द्वारा जनसाधारण मे राष्ट्रीय और भावात्मक एकता उत्पन्न करने के लिये जिन तत्वों पर बल दिया गया उनमे प्रमुख थे—(i) शिक्षा संस्थाओं का योगदान, (ii) आर्थिक एव सामाजिक उत्पादन, तथा (iii) साहित्यिक एव अन्य सांस्कृतिक साधनों का उपयोग। शिक्षा के क्षेत्र मे जिन तत्वों पर बल दिया गया उनमे प्रमुख थे—(a) सभी राष्ट्रीय भाषाओं की उन्नति, (b) व्याख्यानों द्वारा विश्व *विद्यालय का जन सम्पर्क, (c) शिक्षा संस्थाओं मे सम्प्रदाय जाति आदि के भेद का* उन्मूलन, (d) मिले जुले छात्रावासों की स्थापना, (e) अध्यापकों और छात्रों में वैज्ञानिक तथा निष्पक्ष दृष्टिकोण का विकास, तथा (f) राष्ट्रीय एकता के पक्ष मे जनमत का निर्माण। आर्थिक क्षेत्र मे पिछड़े हुए वर्गों के विकास पर विशेष बल दिया गया आदि।

2 **मुख्य मन्त्रियों के सम्मेलन (1961)**—जून और अगस्त 1961 मे मुख्य मन्त्रियों के सम्मेलनों मे राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या पर विचार विमर्श किया गया। इन सम्मेलनों मे विघटनकारी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने और अल्पसंख्यक वर्गों को विकास के समान अवसर प्रदान करने पर बल दिया गया। इन सम्मेलनों मे श्री सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता मे एक समिति का गठन किया गया जिसे शिक्षा और सांस्कृतिक क्षेत्रों में राष्ट्रीय दृष्टिकोण उत्पन्न करने के प्रश्न पर विचार करने के लिये कहा गया। इन सम्मेलनों मे यह भी निश्चय किया गया कि कोई भी प्रान्त पूर्ण-तया एक भाषा भाषी न हो, अल्प संख्यक वर्गों को समुचित संरक्षण प्रदान किया जाय तथा देवनागरी को सामान्य लिपि का रूप प्रदान करने पर बल दिया जाय आदि।

3 **विधेयकों का निर्माण (1961)**—राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे जाति, भाषा आदि की बाधाओं को दूर करने के लिये केन्द्रीय सरकार ने लोकसभा

विधेयक प्रस्तुत किये । प्रथम विधेयक (जिसे लोक सभा ने अगस्त 1961 में पास किया) द्वारा ऐसे किसी भी प्रचार को कानून द्वारा दण्डनीय अपराध बना दिया गया जिससे भिन्न भिन्न धर्मों, जातियों या भाषाई समूहों या बिरादरियों में शत्रुता या घृणा फैलती हो । इस कानून के अंतर्गत तीन वर्ष कारावास का दण्ड दिया जा सकता है । दूसरे विधेयक द्वारा (जिसे लोक सभा ने सितम्बर 1961 में पास किया) निर्वाचन में धर्म, मूलवंश, सम्प्रदाय, जाति या भाषाई भावनाओं को उभारना दण्डनीय अपराध बना दिया । इस विधेयक में यह व्यवस्था भी की गयी कि जिन व्यक्तियों को इस कानून के अंतर्गत दण्डित किया जाता है उन्हें न तो निर्वाचन में मतदान की आज्ञा होगी और न ही वे संसद या राज्य विधान सभाओं के सदस्य बन सकेंगे ।

4 **प्रथम राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन (1961)**—राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही 28 सितम्बर से 1 अक्टूबर 1961 तक नई दिल्ली में प्रथम राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन का आयोजन किया गया । इस सम्मेलन का उदघाटन उप राष्टपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन (जो बाद में राष्ट्पति बने) ने किया । कुल मिलाकर 150 प्रतिनिधियों ने इस सम्मेलन में भाग लिया । भाग लेने वाले प्रमुख प्रतिनिधियों में थे प्रधानमंत्री केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के सदस्य, राज्यों के मुख्य मंत्री, भिन्न भिन्न राजनीतिक दलों के नेता, प्रख्यात शिक्षा शास्त्री, पत्रकार और वैज्ञानिक ।

इस सम्मेलन में जो प्रमुख निर्णय लिये गये उन्हें निम्न शीर्षकों के अंतर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है—

(a) **राजनीतिक आचार संहिता**—इस बात को अनुभव करते हुए कि राजनीतिक दल भाषावाद क्षेत्रवाद सम्प्रदायवाद आदि भावनाओं को उत्तेजित करते हैं अत सम्मेलन ने राजनीतिक दलों के लिये एक आचार संहिता (a code of conduct) को प्रस्तुत किया जिसके महत्वपूर्ण सिद्धान्त निम्न थे —

(i) कोई भी राजनीतिक दल ऐसे किसी कार्य को न करे जो जातियों धर्मों बिरादरियों और भाषाई समूहों के वर्तमान भेदों को बढ़ावा दे या उनमें शत्रुता या तनाव उत्पन्न करे ।

(ii) कोई भी राजनीतिक दल किसी वर्ग की साम्प्रदायिक भाषाई या क्षेत्रीय शिकायतों को दूर करने के लिये आन्दोलनों का सहारा न ले ।

(iii) कोई भी राजनीतिक दल अन्य राजनीतिक दलों द्वारा आयोजित बैठकों सभाओं और प्रदर्शनों में न तो बाधा डाले और न उन्हें भंग करने का प्रयास करे ।

(iv) शान्ति और व्यवस्था के नाम पर सरकार नागरिक स्वतन्त्रताओं पर अनुचित प्रतिबन्ध न लगाये और न ही राजनीतिक दलों की सामान्य गतिविधियों में बाधायें उत्पन्न करे ।

(v) राजनीतिक सत्ता का प्रयोग दलीय हितों की पूर्ति के लिये न किया जाय ।

(b) समरूप शिक्षा प्रणाली—राष्ट्रीय एकता मे शिक्षा के महत्व को अनुभव करते हुए सम्मलन ने समरूप एव ससजक (uniform and cohesive) शिक्षा नीति का समथन किया और शिक्षा को समवर्ती सूची का विषय बनाने की सिफारिश की।

(c) राष्ट्रीय एकीकरण परिषद (National integration council)—सामान्य जनता प्रेस एव छात्रो के लिये आचार सहिता को तयार करने के लिये सम्मेलन ने एक राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् की रचना की। प्रधान मन्त्री, सघीय गृह मन्त्री राज्यो के मुख्य मन्त्रियो राजनीतिक दलो के सात नताओ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष, दो प्रधान शिक्षा शास्त्रियो, अनुसूचित जातियो और जनजातियो के आयुक्त तथा प्रधान मन्त्री द्वारा मनोनीत सात सदस्यो को इस परिषद का सदस्य बनाया गया। अल्प सख्यको की शिकायतो की जांच करने और उन्हें दूर करने का अधिकार भी इस परिषद को सौंपा गया।

5 द्वितीय राष्ट्रीय एकीकरण परिषद (1968)—प्रथम राष्ट्रीय एकीकरण सम्मलन द्वारा राजनीतिक दलो के लिये तयार की गयी आचार सहिता का पालन न तो राजनीतिक दलो ने और न ही सरकार ने किया। राष्ट्रीय एकीकरण परिषद भी अपना प्रतिवदन देकर लुप्त हो गयी और सभी सिफारिशे कागज के टुकडे मात्र बन रह गये। परिणामस्वरूप 1961–68 के काल म अनक साम्प्रदायिक दगो और क्षेत्र तथा भाषा को लेकर अनेक आदोलनो ने जन्म लिया जिन्होने विघटनकारी तत्वो को बढावा दिया और राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को चुनौती दी परिणामस्वरूप सरकार ने प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन द्वारा रचित राष्ट्रीय एकीकरण परिषद को पुन जीवित किया परन्तु उसके आधार को विस्तृत कर दिया। अन्य सदस्यो के अतिरिक्त इस परिषद मे उद्योग व्यापार और श्रमिक सघो के प्रतिनिधियो को भी शामिल किया गया। जहा प्रथम राष्ट्रीय एकीकरण परिषद के सदस्यो की सख्या 39 थी वहा दूसरी परिषद के 55 सदस्य थे।

द्वितीय राष्ट्रीय एकीकरण परिषद का एक सम्मेलन श्रीनगर म 20 स 28 जून 1968 तक आयोजित किया गया। सम्मेलन ने 'राष्ट्रीय एकता की जड़ पर प्रहार करने वाली सभी प्रवृत्तियो' की भत्सना की और सभी राजनीतिक दलो समाचार एव छापाखाने को साम्प्रदायिक दुर्भावना (ill will) और क्षेत्रीय सकीर्णता को निरुत्साहित करने की अपील की। इसने राष्ट्रीय एकता और सद्भाव का वातावरण बनाने के लिये सकारात्मक शक्तियो को सगठित करने का भी आह्वान किया। सम्मेलन ने क्षेत्र वाद सम्प्रदायवाद और भाषावाद पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए तीन समितियो की रचना भी की। इन समितियो के प्रतिवेदनो म की गयी सिफारिशो में से मुख्य निम्न थी—

(1) भिन्न भिन्न वर्गों म घृणा फैलाने वाले समूहो की गतिविधियो पर निगरानी रखने के लिये जिला स्तर पर सद्भावना समितियो की रचना की जाय।

(ii) भिन्न जातियों, समुदायों और धर्मों में शत्रुता फैलाने वाले तत्वों को दण्डित करने के लिये भारतीय दण्ड संहिता (Indian penal code) में यथा स्थान संशोधन किये जायें।

(iii) जो पत्र पत्रिकायें फूट और मतभेदों को फैलाती हैं उन्हें दण्डित किया जाये।

(iv) सीमा और भाषा विवादों का यथा शीघ्र निदान किया जाय।

(v) विश्वविद्यालय क्षेत्र का प्रयोग साम्प्रदायिक उद्देश्यों के लिए वर्जित हो।

(vi) धार्मिक सहिष्णुता का प्रसार किया जाय।

(vii) धर्म और जाति पर आधारित राजनीतिक दलों पर प्रतिबन्ध लगाये जायें।

राष्ट्रीय एकीकरण परिषद ने अन्य अनेक समितियों का भी गठन किया। परन्तु फिर भी भारत में साम्प्रदायिक दंगों का विस्तार होता गया सन् 1969 के अहमदाबाद के साम्प्रदायिक दंगों और 1970 के भिवण्डी के साम्प्रदायिक दंगों ने राष्ट्र की आत्मा को ही झकझोर दिया।

(B) गैर सरकारी प्रयास—राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने के लिये केवल सरकार ने ही सम्मेलनों का आयोजन नहीं किया बल्कि गैर सरकारी प्रयासों ने भी साम्प्रदायिक क्षेत्रवाद और भाषावाद की समस्याओं का समाधान करने के लिये प्रयास किया है। गैर सरकारी प्रयासों में मुख्य प्रयास निम्न थे—

1 सम्प्रदायवाद पर राष्ट्रीय सम्मेलन—साम्प्रदायिकता की स्थिति पर विचार करने के लिये जयप्रकाश नारायण की अध्यक्षता में राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (RSS) जैसे अर्द्ध सैनिक (para military) संगठनों की भर्त्सना की और कहा कि ऐसे संगठन प्रजातान्त्रिक समाज में असंगत हैं।

2 अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का प्रस्ताव (1970)—अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने जून 1970 में एक प्रस्ताव द्वारा ये विचार व्यक्त किये कि "राष्ट्रीय स्वयं सेवक" और 'जमायते इस्लामी' जैसे अर्ध सैनिक साम्प्रदायिक संगठनों का धर्म निरपेक्ष समाज में कोई स्थान नहीं। सरकार को इस सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार करना चाहिये कि क्या ऐसे संगठनों को साम्प्रदायिक हिंसा और घृणा के विष को फैलाने का अधिकार होना चाहिये।

3 इन्सानी बिरादरी (1970)—अगस्त 1970 में खान अब्दुल गफ्फार खां के भारत आगमन पर भिन्न भिन्न वर्गों में सद्भावना पैदा करने और विघटनकारी शक्तियों का सामना करने के लिये इन्सानी बिरादरी के नाम से एक गैर सरकारी संगठन का निर्माण किया गया। श्री जयप्रकाश नारायण इसके अध्यक्ष और श्री शेख अब्दुल्ला इसके उपाध्यक्ष नियुक्त किये गये। प्रारम्भ से ही इन्सानी

बिरादरी म मतभेद थे क्योकि प्रतिनिधि इस बात का ही निश्चय नही कर पाये कि किन राजनीतिक दलो को साम्प्रदायिक राजनीतिक दल घोषित किया जाय है और इस आधार पर कि हें इसानी बिरादरी की सदस्यता से वचित रखा जाय। प्रतिनिधियो का मत था कि यदि इन राजनीतिक दलो को साम्प्रदायिक राजनीतिक दल घोषित नही किया गया तो इसानी बिरादरी की आड मे वे साम्प्रदायिकता का प्रसार करते रहगे। परन्तु जब प्रतिनिधियो के इस तर्क को स्वीकार न किया गया तो 37 प्रतिनिधि बिरादरी से अलग हो गये।

4 साम्प्रदायिकता विरोधी समिति (1973)—काग्रेस की प्रमुख कार्यकर्ता श्रीमति सुभद्रा जोशी ने 1973 मे एक गर सरकारी समिति का गठन किया जिसे साम्प्रदायिकता विरोधी समिति की सज्ञा दी गयी। समिति का एक सम्मेलन 11–13 दिसम्बर 1973 को किया गया जिसमे राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ जैसे सगठनो को साम्प्रदायिकता का चिन्ह कहा गया। एक प्रस्ताव द्वारा यह भी कहा गया है कि अर्ध सैनिक सगठनो पर प्रतिबन्ध लगाये जाये और जन सघ के प्रतिनिधियो को राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् से बाहर निकाल दिया जाय।

उपयुक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय एकीकरण को बढावा देने के लिये अनेक सरकारी और गर सरकारी प्रयास किये गये ह और ये प्रयास आज भी जारी है। परन्तु भारतीय राजनीतिक प्रणाली की एक विशेषता यह भी रही है कि साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद भाषावाद और जातिवाद के बावजूद भी राष्ट्रीय सकटो के समय सम्पूर्ण राष्ट्र ने सभी भेदो को भुलाकर विदेशी आक्रमणो का सामना किया है। यह तथ्य इस बात का प्रतीक है कि भिन्नताओ और साम्प्रदायिक दगो के बाद भी राष्ट्रीय जन राष्ट्रीयता के प्रति जागरूक हैं और उनके प्रति निष्ठा रखते है। फिर भी, राष्ट्रीय एकता के प्रयासो मे भी ढील देने की आवश्यकता नही है, बल्कि सतर्क और चौकन्ना रहने की आवश्यकता है। यद्यपि भारत जैसे विशाल बहु-जातीय, बहु-राष्ट्रीय, बहु सस्कृतियो और बहु धर्मों वाले देश मे छोटी छोटी घटनाओ का होना अस्वाभाविक नही परन्तु फिर भी उन्ह नियन्त्रित रखने की आवश्यकता अवश्य है।

## G भारतीय प्रजातान्त्रिक प्रणाली के दुर्बल एव सबल तत्व या भारतीय प्रजातान्त्रिक प्रणाली मे बाधायें एव सुगमतायें या प्रजातत्र मे एक महान प्रयोग

**(Weak and strong points of Indian Democratic systems or Hindrances and supporting points of Indian Democratic system or *A great experiment of Democracy*)**

भारत एशिया का ही नही विश्व का सबसे बडा प्रजातान्त्रिक देश है। यद्यपि इसकी प्रजातान्त्रिक प्रणाली अभी अपनी शिशु अवस्था म है फिर भी इसकी जडे इतनी गहरी पठ गयी हैं कि वह उन सकटो का सामना करने म सक्षम ह जो समय समय पर उत्पन्न होते रहते हैं। यह इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि जहाँ एशिया और

(ii) भिन्न जातियों, समुदायों और धर्मों में शत्रुता फैलाने वाले तत्वों को दण्डित करने के लिये भारतीय दण्ड संहिता (Indian penal code) में यथा स्थान संशोधन किये जायें।

(iii) जो पत्र पत्रिकायें फूट और मतभेदों को फैलाती हैं उन्हें दण्डित किया जाये।

(iv) सीमा और भाषा विवादों का यथा शीघ्र निदान किया जाय।

(v) विश्वविद्यालय क्षेत्र का प्रयोग साम्प्रदायिक उद्देश्यों के लिए वर्जित हो।

(vi) धार्मिक सहिष्णुता का प्रसार किया जाय।

(vii) धर्म और जाति पर आधारित राजनीतिक दलों पर प्रतिबन्ध लगाये जायें।

राष्ट्रीय एकीकरण परिषद ने अन्य अनेक समितियों का भी गठन किया। परन्तु फिर भी भारत में साम्प्रदायिक दंगों का विस्तार होता गया सन् 1969 के अहमदाबाद के साम्प्रदायिक दंगा और 1970 के भिवण्डी के साम्प्रदायिक दंगा ने राष्ट्र की आत्मा को ही झकझोर दिया।

(B) गैर सरकारी प्रयास—राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने के लिए केवल सरकार ने ही सम्मेलनों का आयोजन नहीं किया बल्कि गैर सरकारी प्रयासों ने भी साम्प्रदायिक क्षेत्रवाद और भाषावाद की समस्याओं का समाधान करने के लिये प्रयास किया है। गैर सरकारी प्रयासों में मुख्य प्रयास निम्न थे—

1 सम्प्रदायवाद पर राष्ट्रीय सम्मेलन—साम्प्रदायिकता की स्थिति पर विचार करने के लिये जयप्रकाश नारायण की अध्यक्षता में राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (RSS) जैसे अर्द्ध-सैनिक (para military) संगठनों की भर्त्सना की और कहा कि ऐसे संगठन प्रजातान्त्रिक समाज में असंगत है।

2 अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का प्रस्ताव (1970)—अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने जून 1970 में एक प्रस्ताव द्वारा ये विचार व्यक्त किये कि "राष्ट्रीय स्वयं सेवक" और 'जमायते इस्लामी' जैसे अर्ध सैनिक साम्प्रदायिक संगठनों का धर्म निरपेक्ष समाज में कोई स्थान नहीं। सरकार को इस सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार करना चाहिये कि क्या ऐसे संगठनों को साम्प्रदायिक हिंसा और घृणा के विष को फैलाने का अधिकार होना चाहिये।

3 इन्सानी बिरादरी (1970)—अगस्त 1970 में खान अब्दुल गफ्फार खां के भारत आगमन पर भिन्न भिन्न वर्गों में सद्भावना पैदा करने और विघटनकारी शक्तियों का सामना करने के लिये इन्सानी बिरादरी के नाम से एक गैर सरकारी संगठन का निर्माण किया गया। श्री जयप्रकाश नारायण इसके अध्यक्ष और श्री शेख अब्दुल्ला इसके उपाध्यक्ष नियुक्त किये गये। प्रारम्भ से ही इन्सानी

बिरादरी मे मतभेद थे क्योंकि प्रतिनिधि इस बात का ही निश्चय नही कर पाये कि किन राजनीतिक दलो को साम्प्रदायिक राजनीतिक दल घोषित किया जाय है और इस आधार पर किन्हे इसानी बिरादरी की सदस्यता से वचित रखा जाय। प्रतिनिधियो का मत था कि यदि इन राजनीतिक दलो को साम्प्रदायिक राजनीतिक दल घोषित नही किया गया तो इन्सानी बिरादरी की आड म वे साम्प्रदायिकता का प्रसार करते रहगे। परन्तु जब प्रतिनिधियो के इस तर्क को स्वीकार न किया गया तो 37 प्रतिनिधि बिरादरी से अलग हो गये।

4 साम्प्रदायिकता विरोधी समिति (1973)—काग्रेस की प्रमुख कार्यकर्ता श्रीमति सुभद्रा जोशी ने 1973 म एक गैर सरकारी समिति का गठन किया जिसे साम्प्रदायिकता विरोधी समिति की सज्ञा दी गयी। समिति का एक सम्मेलन 11–13 दिसम्बर 1973 को किया गया जिसमे राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ जसे सगठनो को साम्प्रदायिकता का चिन्ह कहा गया। एक प्रस्ताव द्वारा यह भी कहा गया है कि अर्ध सैनिक सगठनो पर प्रतिबन्ध लगाये जायें और जन सघ के प्रतिनिधियो को राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् से बाहर निकाल दिया जाय।

उपयुक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय एकीकरण को बढावा देने के लिये अनेक सरकारी और गैर सरकारी प्रयास किये गये हैं और ये प्रयास आज भी जारी है। परन्तु भारतीय राजनीतिक प्रणाली की एक विशेषता यह भी रही है कि साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद भाषावाद और जातिवाद के बावजूद भी राष्ट्रीय सकटो के समय सम्पूर्ण राष्ट्र ने सभी भेदो को भुलाकर विदेशी आक्रमणो का सामना किया है। यह तथ्य इस बात का प्रतीक है कि भिन्नताओ और साम्प्रदायिक दगो के बाद भी राष्ट्रीय जन राष्ट्रीयता के प्रति जागरूक हैं और उसके प्रति निष्ठा रखते है। फिर भी, राष्ट्रीय एकता के प्रयासो मे भी ढील देने की आवश्यकता नही है, बल्कि सतर्क और चौकन्ना रहने की आवश्यकता है। यद्यपि भारत जैसे विशाल बहु-जातीय, बहु-राष्ट्रीय, बहु-सस्कृतियो और बहु धर्मों वाले देश मे छोटी छोटी घटनाओ का होना अस्वाभाविक नही परन्तु फिर भी उन्हे नियन्त्रित रखने की आवश्यकता अवश्य है।

### G भारतीय प्रजातान्त्रिक प्रणाली के दुर्बल एव सबल तत्व या भारतीय प्रजातान्त्रिक प्रणाली मे बाधायें एव सुगमतायें या प्रजातन्त्र मे एक महान प्रयोग

**(Weak and strong points of Indian Democratic systems or Hindrances and supporting points of Indian Democratic system or A great experiment of Democracy)**

भारत एशिया का ही नही विश्व का सबसे बडा प्रजातान्त्रिक देश है। यद्यपि इसकी प्रजातान्त्रिक प्रणाली अभी अपनी शिशु अवस्था मे है फिर भी इसकी जडे इतनी गहरी पठ गयी हैं कि वह उन सकटो का सामना करने म सक्षम है जो समय समय पर उत्पन्न होते रहते हैं। यह इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि जहाँ एशिया और

अफ्रीका के अन्य देशों की राज्य क्रान्तियों ने सैनिक, सत्तावादी या अन्य किसी प्रकार के अप्रजातांत्रिक शासनों को जन्म दिया है वहाँ भारत में जातिवाद, क्षेत्रवाद, सम्प्रदायवाद भाषावाद, राजनीतिक अस्थिरता, भीषण बेरोजगारी दुस्तर निर्धनता, दूर दूर तक फैली हुई निरक्षरता, आर्थिक विषमतायें हिंसक घटनाओं और बाह्य प्रतिकूल तत्वों के बाद भी प्रजातांत्रिक ढाँचा विद्यमान ही नहीं बल्कि न्यूनाधिक मात्रा में सफलता की मंजिल की ओर क्रमशः अग्रसर हो रहा है। भारत के जन का सामान्यतया संविधान, कानून का शासन और उसके द्वारा स्थापित की गयी प्रजातांत्रिक संस्थाओं में निष्ठा और विश्वास है। वह सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का इच्छुक है परन्तु वह क्रान्ति या हिंसक साधनों द्वारा छलांग नहीं लगाना चाहता बल्कि संवधानिक साधनों द्वारा परिवर्तन चाहता है। वह विवेक द्वारा, विचार विमर्श द्वारा तथा जनमत के आधार पर परिवर्तन चाहता है। सन् 1971 के निर्वाचन में भारतीय जन द्वारा इन्दिरा गांधी का समर्थन इस बात का प्रतीक है कि निःस्वार्थ दृढ़ और लोकप्रिय नेतृत्व होने पर भारतीय जन जाति, धर्म क्षेत्र, या भाषा की भावनाओं से ऊपर उठकर राष्ट्रीय स्तर पर सोच सकता है तथा कार्य कर सकता है।

भारतीय प्रजातांत्रिक प्रणाली के दुर्बल तत्व या बाधायें—भारतीय प्रजातांत्रिक प्रणाली पर जो तत्व प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं या उसकी सफल कार्यान्विति में बाधा प्रस्तुत करते हैं उन्हें निम्न दो भागों में बांटा जा सकता है—

(A) आन्तरिक तत्व (Internal factors)

(B) बाह्य तत्व (External factors)

(A) आन्तरिक तत्व—आन्तरिक तत्व जो भारतीय प्रजातांत्रिक प्रणाली में बाधा प्रस्तुत करते हैं उन्हें निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत व्यक्त किया जा सकता है—

(1) संकीर्ण क्षेत्रीय भावनायें—भारतीय प्रजातांत्रिक प्रणाली को सबसे बड़ा खतरा जातिवाद भाषावाद, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायवाद, धर्मान्धता और गुटबन्दियों जैसी संकीर्ण भावनाओं से है। ये संकीर्ण भावनायें ही राष्ट्रीय और भावात्मक एकता में बाधा प्रस्तुत करती हैं। जैसाकि नामन डी० पामर ने लिखा है कि "भारत की राजनीतिक परम्परायें इसकी अधिकांश सामाजिक प्रणालियाँ और रूढ़ियाँ प्रजातांत्रिक होने के स्थान पर अधिक सत्तावादी हैं। भारत आज भी स्थानीय और क्षेत्रीय वफादारियों से नूत ग्रस्त है।" इन संकीर्ण भावनाओं ने ही पृथकतावादी तथा केन्द्रविमुखी (centrifugal) प्रवृत्तियों को जन्म दिया है क्षेत्र या भाषा के आधार पर छोटे छोटे राज्यों के निर्माण की माँग को बल दिया है। तमिलनाडु में द्रविडस्तान की माँग और पंजाब में खालिस्तान की माँग इसी संकीर्णता के द्योतक हैं। भाषा के प्रश्न ने हिन्दी भाषी और अहिन्दी भाषी राज्यों में कटुता को जन्म दिया है। संकीर्ण क्षेत्रीय भावनाओं ने ही सीमावर्ती झगड़ों को उत्पन्न किया है, जैसे चण्डीगढ़ के प्रश्न पर पंजाब हरियाणा का झगड़ा तथा मैसूर

और महाराष्ट्र में सीमावर्ती झगड़े। इस क्षेत्रवाद ने ही महाराष्ट्र में शिव सेना जैसे संगठनों को और "सन्स ऑफ दी सायल" (sons of the soil) के सिद्धान्त को जन्म दिया है। ये सब तत्व भारतीय प्रजातान्त्रिक जड़ों पर ही प्रहार करते हैं।

(ii) भीषण आर्थिक विषमतायें —भारत का जन मानस अभी उचित जीवन स्तर के लिये संघर्ष कर रहा है। लाखों की संख्या में लोग अभी न्यूनतम जीवन स्तर प्राप्त करने में असमर्थ हैं। भीषण निर्धनता, वृहद बेरोजगारी और अपार निरक्षरता उनके जीवन को नीरस और असहाय बनाये जा रही हैं आर्थिक विषमतायें, अमीर गरीब के भेद, उचित और रचनात्मक कार्यों के अभाव ने श्रमिकों में अशान्ति, शिक्षितों में निराशा और असंतोष को जन्म दिया है। इन सब तत्वों ने मिलकर अराजकता जन्य अवांछित वातावरण और अवांछित राजनीतिक शक्तियों (जैसे साम्यवादी साम्प्रदायिक हिंसक एवं जनोत्तेजक शक्तियों) को बढ़ावा दिया है। ये अवांछित राजनीतिक शक्तियाँ ही इन भूखे, नंगे और अभावग्रस्त लोगों को बहका कर अराजकता के वातावरण को पैदा करती हैं तथा प्रजातन्त्र की जड़ों पर भी प्रहार करती हैं।

(iii) हिंसक एवं साम्प्रदायिक घटनायें —हिंसा एवं हिंसक घटनायें प्रजातन्त्र की घोर शत्रु है। ये घटनायें न केवल प्रजातान्त्रिक संस्थाओं में अविश्वास को जन्म देती हैं बल्कि सत्तारूढ़ दल में शक्ति को केन्द्रित करती है। सत्तारूढ़ दल सर्वदा अराजकता का बहाना लेकर संकट की स्थिति बनायें रख सकता है और नागरिक स्वतन्त्रताओं तथा संवैधानिक प्रणालियों से खिलवाड़ कर सकता है। भाषा और क्षेत्र को लेकर अनेक बार हिंसक आन्दोलनों एवं प्रदर्शन को संगठित किया गया है। दक्षिण में द्राविडस्तान के लिये और पंजाब में पंजाबी सूबे के लिये हिंसक आन्दोलन हुए, बंगाल तो नक्सलवादियों का गढ़ है जो हिंसा और राजनीतिक हत्याओं में विश्वास करता है। राजनीतिक हत्यायें तो प्रजातन्त्र के लिये किसी रूप में भी शुभ नहीं हैं।

साम्प्रदायिक दंगे प्रजातान्त्रिक वातावरण को दूषित करते हैं। ये नागरिकों में सहिष्णुता की भावना के विकास के स्थान पर घृणा भावना और वैमनस्य को जन्म देते हैं। ये दंगे भारतीय धर्म निरपेक्षता को भी एक बहुत बड़ी चुनौती है। यद्यपि साम्प्रदायिक दंगे कुछ मुस्लिम धर्मान्धताओं और हिन्दू कट्टर पन्थियों की संकीर्णता के परिणाम हैं परन्तु मुस्लिम लीग और अखिल भारतीय मुस्लिम राजनीतिक परामर्श समिति जैसे साम्प्रदायिक संगठनों का पुनर्गठन और विशेष हितों (मुस्लिम हितों) तथा अनुपातिक प्रतिनिधित्व की माँग निश्चित ही भारतीय प्रजातान्त्रिक प्रणाली के लिये घातक सिद्ध हो सकती है।

(iv) सर्वसत्तावादी केन्द्र—भारत की प्रजातान्त्रिक प्रणाली को केवल केन्द्र विमुखी (centrifugal) प्रवृत्तियों से ही खतरा नहीं बल्कि केन्द्रमुखी (centripetal) प्रवृत्तियाँ भी उसके लिए खतरा उत्पन्न कर सकती हैं। भारतीय संविधान केन्द्र को आवश्यकता से अधिक शक्तिशाली बनाता है। शान्ति काल में संकटकालीन

शक्तियों का प्रयोग निश्चित ही प्रजातन्त्र के लिये शुभ नहीं है। उदाहरणतया संसद सत्र में अध्यादेशों द्वारा शासन करना संसद की अपेक्षा ही नहीं बल्कि प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों के विपरीत भी है। शान्तिकाल में निवारक निरोध अधिनियम (PDA) भारत सुरक्षा अधिनियम (DIR) आंतरिक सुरक्षा अधिनियम (MISA) का प्रयोग कर नागरिक स्वतन्त्रताओं का दमन करना या विरोधियों की राजनीतिक गतिविधियों में बाधा प्रस्तुत करना अप्रजातान्त्रिक है। उदाहरणतया विरोधी राजनीतिक नेताओं को किसी राज्य में प्रवेश करने से रोकना, जनता को सम्बोधित करने के लिये सार्वजनिक सभाओं की आज्ञा न देना, आदि सामान्य गतिविधियों में प्रजातान्त्रिक बाधा है। दलीय दृष्टिकोण से अनुच्छेद 356 का प्रयोग अर्थात् राज्यों में संवैधानिक संकट की स्थिति को बनाये रखना तथा राष्ट्रपति शासन को लागू रखना राज्यों की स्वायत्तता और जन इच्छा की अवहेलना करना है।

(v) साम्यवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव—साम्यवाद सर्वसत्तावादी, एकत्ववादी और अधिनायकवादी विचारधारा है। इस प्रजातान्त्रिक प्रणालियों और संस्थाओं में विश्वास नहीं। उसके लिये संविधान, संसद, कानून का शासन, नागरिक स्वतन्त्रतायें केवल ढोंग हैं। साम्यवादी सर्वसाधारण जनता की असहाय स्थिति, निरक्षरता और निर्धनता का लाभ उठाकर उनमें इन प्रजातान्त्रिक संस्थाओं के प्रति अविश्वास पैदा करते हैं। साम्यवादी हिंसा और क्रान्ति की वाणी बोलते हैं सह अस्तित्व, समझौते और संवैधानिक साधनों का प्रयोग नहीं करते। जिन्हें संवैधानिक साधनों में विश्वास नहीं, उनका (साम्यवादियों का) सत्तारूढ़ कांग्रेस के साथ गठबन्धन जो संवैधानिक साधनों में विश्वास करती है, प्रजातन्त्र के लिये शुभ नहीं कहा जा सकता। सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात यह है कि भारत के साम्यवादियों की वफादारी भारत राष्ट्र के प्रति नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रति है। कुछ तो रूसी साम्यवाद की बोली बोलते हैं (CPI) और कुछ चीनी साम्यवाद की (CPI(M))

(vi) सुदृढ़ विरोधी दल का अभाव—सुसंगठित एवं सुदृढ़ विरोधी दल प्रजातन्त्र का प्राण है और जारवाद सीजरवाद और अधिनायकवाद के विरुद्ध सर्वोत्तम गारण्टी है। जैसाकि जेनिंग्स ने लिखा है कि 'जब तक विपक्ष विद्यमान है अधिनायक तन्त्र हो ही नहीं सकता' परन्तु दुर्भाग्य से स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर अब तक भारत में सुदृढ़ दल का अभाव रहा है। जब तक भारत में सुदृढ़ विरोधी दल का उदय नहीं होता जो कांग्रेस के विकल्प के रूप में अपने आप को प्रस्तुत कर सके, तब तक भारतीय प्रजातन्त्र पर सन्देह व्यक्त किये जायेंगे। एक दलीय प्रभुता (only party dominance) अर्थात् कांग्रेस का सत्ता में लम्बे समय तक बने रहना प्रजातन्त्र के लिये शुभ नहीं। यह विश्वास ही कि कांग्रेस का कोई सुदृढ़ विकल्प नहीं, निरंकुशता, प्रशासनिक भ्रष्टता उदासीनता और अकुशलता को जन्म देता है।

(vii) द्विदलीय पद्धति का अभाव—भारतीय प्रजातन्त्र में केवल सुदृढ़ विरोधी दल का ही अभाव नहीं बल्कि द्वि-दलीय पद्धति का भी अभाव है जबकि प्रजातन्त्र

की सफलता के लिये द्वि दलीय पद्धति का होना आवश्यक है। इतना ही नहीं कुछ राजनीतिक दलो को छोडकर (जैसे कांग्रेस, साम्यवादी आदि) अनेक राजनीतिक दलो का आधार क्षेत्र, भाषा या जाति है। उदाहरणतया पंजाब का अकाली दल धर्म और भाषा पर आधारित है और केवल पंजाब तक ही सीमित है, डी० एम० के० द्राविडवाद पर आधारित है और केवल तमिलनाडु तक सीमित है। मुस्लिम लीग तो केवल मुस्लिम सम्प्रदाय पर आधारित है। यद्यपि जनसंघ एक राष्ट्रीय राजनैतिक दल है परन्तु उसका दृष्टिकोण हिन्दू भारत', 'हिन्दू राज' है। आर० एस० एस० (RSS) जो जनसंघ की सहायक निकाय है, हिन्दूवाद मे विश्वास करती है, बलराज मधोक इस्लाम का भारतीयकरण चाहते है, हिन्दू महासभा अखण्ड भारत चाहती है और शिव सेना के बाल ठाकरे 'कट्टर हिन्दू होने मे ही शान समझते है। जब तक भारत मे दलो का आधार आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक नही होता और जब तक द्वि दलीय पद्धति का विकास नही होता तब तक भारतीय प्रजातन्त्र पर सन्देह व्यक्त किये जायेगे।

(viii) राजनीतिक अस्थिरता—राजनीतिक अस्थिरता भी भारतीय प्रजातन्त्र के लिये खतरा उत्पन्न कर सकती है। नेहरूजी के निधन के बाद यह अस्थिरता जोर पकडती जा रही है। राष्ट्रीय नेतृत्व मे दृढता की कमी और गुटबाजी ने 1969 मे कांग्रेस विभाजन को जन्म दिया। यद्यपि 1971 के संसदीय निर्वाचन और 1972 के राज्य विधान सभाओ के निर्वाचन के बाद ऐसा प्रतीत होता था कि इन्दिरा गांधी का नेतृत्व प्रशासन मे दृढता और स्थिरता लाने मे सक्षम है, परन्तु 1974–1975 की घटनाओ [विशेषकर 1974 मे गुजरात विधान सभा का भंग होना, जयप्रकाश नारायण द्वारा चलाये गये आन्दोलन मे सम्पूर्ण क्रान्ति की मांग, मोहन धारिया तथा उस जसे कांग्रेसी सदस्यो द्वारा जयप्रकाश नारायण के वार्तालाप (dialogue) की मांग, गुजरात मे निर्वाचन के लिये मोरारजी द्वारा किया गया उपवास, उसकी स्वीकृति तथा कुछ कांग्रेसी राज्यो मे गुटबंदिया के कारण नेतृत्व मे परिवर्तन की मांग (बिहार मे अब्दुल गफूर को त्याग पत्र देना पडा) आदि] ने सिद्ध कर दिया कि भारत मे अभी राजनीतिक स्थिरता की कमी है। सन् 1967 के निर्वाचन के बाद जिन राज्यो मे संयुक्त मोर्चे की सरकारो का निर्माण किया गया वे बुरी तरह असफल हुई। सरकारो के बनने व बिगडने से उन्होंने न केवल राजनीतिक अस्थिरता को जन्म दिया बल्कि दल बदलू (defection) और विवर्ती मन्त्रिया (shifting alliances) को जन्म दिया है। अयोग्य नेतृत्व, अपर्याप्त निष्पादन (inadequate performance) आंतरिक विभाजन, हिंसक एव साम्प्रदायिक घटनाओ को दृढता पूर्वक दबाने मे प्रशासन की दुर्बलता ने राजनीतिक अस्थिरता को जन्म दिया है। रजनी कोठारी ने ठीक लिखा है कि 'आवश्यक ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि का अभाव लम्बे समय तक अस्थिरता और गतिहीनता को या सैद्धान्तिक ध्रुवीकरण को जन्म दे सकता है जो दुर्व्यवस्था उत्पन्न कर सकती है।"[1]

1 Kothari, Rajni Politics in India (orient longman ltd) p

(B) बाह्य तत्व (External factors)—भारतीय प्रजातन्त्र में केवल आन्तरिक तत्व ही बाधा प्रस्तुत नहीं करते बल्कि बाह्य तत्व भी उसके प्रजातन्त्र के लिये खतरा उत्पन्न करते हैं। प्रथम, आज के विश्व की आवश्यकतायें सत्ता के केन्द्रीयकरण की मांग करती हैं। तनाव वैमनस्य शंका और अविश्वास का वातावरण शस्त्रों की होड़ और युद्ध को जन्म देते हैं और ये दोनों तत्व प्रजातन्त्र के शत्रु हैं। दूसरे, एशिया में प्रवृत्ति सर्वसत्तावादी शासनों की है। एशिया के जिन देशों ने प्रजातान्त्रिक प्रणालियों को अपनाया था वहाँ किसी न किसी रूप में सर्वसत्तावादी शासन स्थापित किये गये हैं। बंगला देश के संविधान में हाल ही में किये गये परिवर्तन प्रजातन्त्र के लिये शुभ नहीं कहे जा सकते। इनकी भारत में भी पुनरावृत्ति हो सकती है। तीसरे, विरोधी (शत्रु) पाकिस्तान (hostile Pakistan) और साम्यवादी चीन भारतीय प्रजातन्त्र के लिये शुभ नहीं। चौथे चीन पाकिस्तान की साठ गाँठ भारतीय प्रजातन्त्र के लिये खतरा उत्पन्न कर सकती है। उदाहरणतया वे अपने देश में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सके हैं जिससे भारत की अर्थव्यवस्था पर कुप्रभाव पड़े और यहाँ के जनसाधारण का प्रजातान्त्रिक प्रणालियों में विश्वास खत्म हो जाय। सन् 1970–71 में पाकिस्तान ने अपने पूर्वी भाग में (अब बंगला देश) अपने ही नागरिकों पर ऐसे अत्याचार किये कि उन्हें शरणार्थी बन कर लाखों की तादाद में भारत में शरण लेनी पड़ी। उन घटनाओं का प्रभाव आज तक भी भारत की अर्थव्यवस्था पर पड़ रहा है। इतना ही नहीं वे विरोधियों को सैनिक प्रशिक्षण देकर भारत में आन्तरिक उपद्रवों को जन्म दे सकते हैं, जैसाकि चीन और पाकिस्तान में नक्सलवादियों को अब तक प्रशिक्षण दिया गया है। पाकिस्तान ने तो भारत में साम्प्रदायिक विष फैलाने में कोई कसर ही नहीं छोड़ी है। यदा कदा वह रेडियो प्रसारण द्वारा साम्प्रदायिक भावनायें फैलाता रहता है। अमरीका जैसे प्रजातान्त्रिक देश भी पाकिस्तान को सैनिक साजो सामान से सहायता देकर इस उप महाद्वीप में युद्ध वातावरण को बनाये रखना चाहते हैं और भारत को बाध्य होकर सैनिक तैयारी में रहना पड़ता है। ये सब तत्व भारतीय प्रजातन्त्र के लिये शुभ नहीं कहे जा सकते।

उपर्युक्त आन्तरिक और बाह्य तत्वों के कारण ही अनेक भारतीय और विदेशी लेखकों ने भारतीय प्रजातान्त्रिक प्रणाली की असफलता की भविष्यवाणी भी की थी। उदाहरणतया 1969 में निराद सी० चौधरी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "संसदात्मक प्रजातन्त्र सहित भारत की दलीय व्यवस्था असफल हो गयी है"[1] और 'देश के प्रशासन को चलाने के लिये हमें किसी अन्य विकल्प के बारे में विचार करना चाहिये।'[2] नैविली मैक्स वैल ने तो उसके विकल्पों की भविष्यवाणी की थी। उसका विश्वास था कि नागरिक सत्ता के असफल होने पर भारत में 'मुगल शासन काल के बाद की स्थिति पैदा हो जायगी' या 'टूटी हुई कमर वाला राज्य बन जायगा जिसमें

1 & 2 Quoted by Palmer, Norman D Ibid., pp 22–23

साम्यवादी सत्ता छीन लेंगे या गाधीवादी कल्पना की अत्यधिक राजनीतिक विकेन्द्रीकृत व्यवस्था स्थापित की जायगी जिसमे सत्ता का केन्द्र ग्राम होगा अर्थात् इसका स्वरूप दलविहीन प्रजातन्त्र (partyless democracy) का हो सकता है। उसने तो भारत के राजनीतिक विघटन और हिन्दू राज्य की स्थापना की कल्पना भी की थी।[1]

**भारतीय प्रजातन्त्र के समर्थन मे तत्व**—यह सत्य है कि विघटनकारी तत्वों के रूप मे जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद और साम्प्रदायवाद की भावनायें, बेरोजगारी और निर्धनता के रूप मे आर्थिक विषमतायें, निरक्षरता के रूप मे सामाजिक बुराई, हड़तालो, हिंसक घटनाओ और राजनीतिक हत्याओ के रूप मे अव्यवस्था, सुदृढ विरोधी दल के अभाव मे दल बदलू और विवर्ती मन्त्रियों (shifting alliances) की राजनीति के रूप म राजनीतिक अस्थिरता और पडोसी राज्यों (विशेषकर विरोधी पाकिस्तान और साम्यवादी चीन) की शत्रुता के रूप म दूषित वाह्य वातावरण आदि तत्व भारतीय प्रजातन्त्र मे भीषण बाधाओं के रूप मे विद्यमान हैं परन्तु फिर भी *भारतीय प्रजातन्त्र स्थायी रहा है, आज भी विद्यमान है और भविष्य मे भी इसके* बने रहने की आशा है। इसका सविधान कार्य कर रहा है। उसके द्वारा स्थापित की गयी प्रजातान्त्रिक सस्थाओ मे भारतीय जनता का पूर्ण विश्वास है। लोगों का राज्य के कार्यों म योगदान प्रत्यक्ष और प्रभावशाली है। *एक दलीय प्रभुता ने निरंकुशता* को जन्म नही दिया। केन्द्र के अधिक शक्तिशाली होने पर भी राज्यो की स्वायत्तता को नष्ट नही किया गया। जहा कही भी राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, वहा सामान्य स्थिति स्थापित होने पर पुन उत्तरदायी शासन को स्थापित किया गया। विरोधी दल दुर्बल होते हुए भी सक्रिय हैं और जनमत को प्रभावित करने म सक्षम हैं। सभी राजनीतिक दल (केवल साम्यवादी मार्क्सवादी नक्सलवादी दलों को छोडकर) सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के लिये सवैधानिक साधनो म विश्वास करते हैं। पचवर्षीय योजनाओं का उद्देश्य नागरिको के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना है। सामुदायिक विकास योजनाओ (community development projects), राष्ट्रीय विकास सेवाओ और पचायती राज ने अपार राजनीतिक जागृति को जन्म दिया है। ये योजनायें और सेवायें लाखो लोगो के जीवन को प्रभावित कर रही हैं। इन सब तत्वों के अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण तत्व जो भारतीय प्रजातन्त्र को सुदृढ बनाता है वह भारतीय जन की प्रजातान्त्रिक सस्थाओं को कार्यान्वित करने की इच्छा है।

भारतीय प्रजातन्त्र को सफल और सुदृढ बनाने वाले तत्वों को मुख्यत निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत व्यक्त किया जा सकता है—

(1) **सविधान—राष्ट्रीय एकता का प्रतीक**—भारतीय जनता ने सन् 1950 के सविधान को राष्ट्रीय एकता के चार्टर के रूप म स्वीकार किया है। इसकी

1 Quoted by Palmer Norman D Ibid pp 22–23

सीमाओ के अन्तगत ही सघीय प्रणाली को कार्यान्वित किया गया है तथा उसकी कार्यान्विति के सम्बन्ध मे वार्तायें की जाती है। भारतीय राष्ट्रीयता के अन्तगत ही राज्यो की सीमाओ को पुनर्व्यवस्थित किया गया है। भाषा के प्रश्न को ससद स्थल पर निपटाया गया है और भारतीय राष्ट्रीयता के सन्दभ म ही उसका हल ढूढा गया है। इस तरह भारतीय सविधान ने राष्ट्रीय व्यवहार के मापदण्डो को निर्धारित किया है।

भारतीय सविधान ने ही सामाजिक और राजनीतिक ढाँचे को तथा राजनीतिक व्यवहार के तार्किक और सस्थागत आधारो को सहयोग प्रदान किया है। सविधान ने ही राष्ट्रीय आदर्शों (national ideals) का स्थापित किया है तथा उन तार्किक और सस्थागत तरीको को निश्चित किया है जिनक माध्यम से उन्ह प्राप्त किया जा सकता है। मूल अधिकारा, नीति निदेशक तत्वो और प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली द्वारा शासन पर प्रभाव डाला जा सकता है। प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली ने तो सर्वसाधारण मे यह जागृति पैदा कर दी है कि प्रजातान्त्रिक व्यवहार और प्रजातान्त्रिक सस्थाओ द्वारा व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता बन सकता है। सक्षप मे, भारतीय सविधान ने परम्परागत रूढिवादी, सोपानिक समाज को नवीन, आधुनिक और प्रजातान्त्रिक भावनाओ स प्रेरित किया है। ग्रेनविले आस्टिन ने ठीक लिखा है कि सविधान को भारत म प्रजातन्त्र के आधार क रूप मे स्वीकार कर लिया गया है ठीक उस प्रकार से जिस प्रकार कोई परिवार घर की बुनियाद की अखण्डता की परिकल्पना करता है जिसमे वह निवास करता है।

(ii) **मतैक्यता और समायोजन** (Consensus and accommodation)—मतक्यता और समायोजन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की दो प्रमुख विशेषताये रही हैं। इन्होने भारतीय प्रजातान्त्रिक ढाचे को सुरक्षित रखने और सुदृढ बनाने मे बहुत सहयोग दिया है। जसाकि नामन डी० पामर ने लिखा है कि "भारत के वतमान सौदाकारी सघ मे समझौता, परिवतन, समायोजन, साझदारी और सामञ्जस्य के लिये पर्याप्त स्थान है।" जहा मतक्यता द्वारा निर्णयो को सवसम्मति या निकट सवसम्मति (unanimity or near unanimity) से लिया जाता है वहा समायोजन मे असगत एव असम्बद्ध तत्वो सिद्धान्तो या विचारो को समज्जित कर कार्यान्वित करन का प्रयास किया जाता है। मतक्यता का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि राजनीतिक झगडा को साधारण बहुमत (49 की तुलना मे 51 द्वारा लिये गये निर्णय) द्वारा निश्चित करन के स्थान पर यदि उन्हें सवसम्मति या निकट सवसम्मति द्वारा निश्चित किया जाय तो उन्हें चिरस्थायी बनाया जा सकता है। इसी प्रकार समायोजन मे परस्पर विरोधी सिद्धान्ता या विचारा को मिलाने के स्थान पर उन्ह बनाये रख कर एक साथ कार्यान्वित करने का प्रयास किया जाता है। भारत मे प्राचीन समय से ही ग्राम पचायतो के निर्णय मतक्यता के आधार पर लिये जाते थे। सविधान सभा मे, सविधान निर्माण के काय मे, मतक्यता और समायोजन

मे नियमो को अपनाया गया। भारतीय संस्कृति, धर्म और विचारों में समायोजन की प्रवृत्ति है। हिन्दू धर्म में मतान्धता (dogmatism) का नाम नहीं है, इसमे तो समायोजन की प्रवृत्ति है। स्पीयर इसे हिन्दू धर्म की "समायिता और महत्ता" की संज्ञा देता है। डॉ राधा कृष्णन ने भी लिखा है कि "भारत मे धर्म, मतान्धता पर आधारित नहीं। यह तार्किक सम्वाद है जो दर्शन के विकास के साथ नवीन विचारों को अपने मे इकट्ठा कर लेता है।

भारतीय संवधानिक ढांचे मे अनेक विरोधी तत्वों को समायोजित किया गया है। उदाहरणतया भारतीय संविधान समय की आवश्यकतानुसार संघात्मक और एकात्मक है। यदि शांतिकाल मे यह संघात्मक है तो संकटकाल मे एकात्मक है। इसी प्रकार भारत गणराज्य होते हुए भी राष्ट्रमण्डल जैसी राजतान्त्रिक संस्था का सदस्य है। ग्रेनविले आस्टिन ने लिखा है कि "भारत पहला राष्ट्र है जिसने गणतन्त्रवाद और राजतन्त्र के मध्य समायोजन स्थापित किया है।" इसी प्रकार केन्द्रीकरण की आवश्यकताओं को अनुभव करते हुए यदि केन्द्र को शक्तिशाली बनाया गया तो अनुच्छेद 40 मे ग्राम पचायतो की स्थापना द्वारा सत्ता के विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था भी की गयी। इस विकेन्द्रीकृत व्यवस्था को सफलतापूर्वक लागू भी किया गया है। स्पष्ट है, जैसा कि माइकेल ब्रेचर ने लिखा है "भारतीय राजनीतिक प्रणाली का अखिल भारतीय वृत्त स्थायी, परिपक्व, व्यवहारकुशल और लचीला है। विशाल वाह्य आक्रमणो और सतत् आर्थिक सकटो की अनुपस्थिति मे इसके जीवित रहने की अधिक सम्भावनाये हैं।'

(iii) तंग और खुला समाज (Closed cum open society)—भारतीय प्रजातन्त्र मे परम्परा और आधुनिकता तथा तंग और खुले समाज का अद्वितीय मिश्रण है। परम्परागत सामाजिक रूढियो के साथ-साथ कानून का शासन विद्यमान है। क्षेत्रवाद, जातिवाद, भाषावाद और साम्प्रदायवाद के साथ धर्म निरपेक्षता विद्यमान है। सहिष्णुता भारतीय संस्कृति का मुख्य आधार स्तम्भ है। यही कारण है कि क्षेत्रवाद भाषावाद और जातिवाद के बाद भी भारतीय राष्ट्रीय एकता का विकास हुआ है और संकट के समय सभी ने मिलकर कार्य किया है। यह तथ्य भारतीय प्रजातन्त्र की सुदृढता का द्योतक है कि जहा रूस और चीन ने राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने के लिये निरकुश साधनो (सर्वसत्तावादी शासन) का सहारा लिया और जहाँ छोटे छोटे राष्ट्रो ने राष्टीय एकता को बनाये रखने के लिये नियन्त्रित प्रजातन्त्र (guided democracy) को जन्म दिया वहा भारत ने भिन्नताओ मे एकता (unity in diversity) को उत्पन्न किया। भिन्नताओ का यह तत्व ही भारतीय प्रजातन्त्र को ठोस आधार प्रदान करता है। भारत एक बहु जातीय, बहु भाषाई और बहु सम्कृतिया वाला देश है। इसमे छोटे मोटे उपद्रवो या यदा कदा उत्पन्न होने वाली हिंसक घटनाओ के आधार पर प्रजातान्त्रिक ढाचे की असफलता की कल्पना करना अनुभवहीनता का द्योतक है, परिपक्वता का नहीं। ये तत्व भारतीय

गो खोखला नहीं बनाते बल्कि सचेत करते है। क्षेत्रवाद तो निषेधात्मक होते हुए भी सकारात्मक है। यह भारत मे अधिनायकवाद के विरुद्ध गारण्टी है।

(iv) नागरिक स्वतन्त्रतायें—भारतीय प्रजातन्त्र के मुख्य तीन आधार हैं—मूल अधिकार, धर्म निरपेक्षता और नीति निदेशक तत्व। धर्म निरपेक्षता के कारण भारत में सभी जातियों का स्वीकार किया जाता है। जाति धर्म, लिंग सम्पत्ति आदि के आधार पर नागरिको मे कोई भिन्नता नही की जाती। सभी को अपनी इच्छानुसार ईश्वर उपासना की स्वतन्त्रता है। यद्यपि नागरिकों के मूल अधिकार निरपेक्ष नही और निवारक निरोध अधिनियम भारत सुरक्षा अधिनियम और आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम (MISA) जैसे अप्रजातान्त्रिक तत्व विद्यमान हैं परन्तु नागरिक स्वतन्त्रताओं की गारण्टी के रूप में स्वतन्त्र न्यायालय विद्यमान हैं। नीति निदेशक तत्वों की कार्यान्विति द्वारा जहां एक ओर पिछड़ी हुई जातियों (अनुसूचित जातियों) का उत्थान किया जा रहा है वहां पूँजी के केन्द्रीयकरण को भी रोकने का प्रयास किया जा रहा है।

(v) आर्थिक और वैज्ञानिक प्रगति—यह सत्य है कि बेरोजगारी, निर्धनता और गम्भीर आर्थिक विषमतायें भारतीय प्रजातन्त्र के लिये खतरा है परन्तु भारत की अर्थ व्यवस्था इतनी निर्बल नही कि वह संकटों का सामना न कर सके। वस्तुतः भारत की अर्थ व्यवस्था ने चार युद्धों के गम्भीर संकटों और 1970–71 के लाखों शरणार्थियों के बोझ को सहन किया है। यह अर्थ व्यवस्था की सुदृढ़ता का द्योतक है निर्बलता का नहीं। नियोजन द्वारा विकास की गति को निश्चित किया गया है खाद्यान्नों मे भी अब भारत आत्म निर्भरता के निकट है और सैनिक शक्ति मे भी लगभग आत्म निर्भर है। 18 मई 1974 को पोकरन में अणु परीक्षण और 19 अप्रेल 1975 मे पृथ्वी की परिक्रमा के लिये छोड़ा गया आर्यभट्ट नाम का उपग्रह भारतीय वैज्ञानिक और तकनीकि कुशलता का प्रतीक है। आर्थिक, सैनिक और वैज्ञानिक कुशलता भारतीय प्रजातन्त्र को सुरक्षित बनाती है। स्पष्ट है कि भारतीय अपनी समस्याओं का शान्तिमय साधनों से समाधान करने के लिये दृढ़ संकल्प हैं।

(vi) शान्तिवादी विदेश नीति—भारत की विदेश नीति शान्तिवाद पर आधारित है जो उसके प्रजातान्त्रिक ढांचे को सुदृढ करती है। भारत कभी साम्राज्य वादी देश नहीं रहा और न वह साम्राज्यवादी बनने की इच्छा रखता है परन्तु यदि भारत विस्तारवादी नही तो वह अपनी सीमाओं की रक्षा करना भी जानता है। इस तरह उसकी सैनिक सुदृढता विश्व शान्ति के लिये खतरा नहीं बल्कि उसके स्थायित्व की द्योतक है।

(vii) स्वतन्त्र निर्वाचन—स्वतन्त्र निर्वाचन भारतीय प्रजातन्त्र की आधार शिला है। राज्य के कार्य में नागरिकों का योगदान इसी से और प्रभावशाली है। यद्यपि निर्वाचनों में जातिवाद और भाषावाद नजर आता है परन्तु 1971 के निर्वाचन ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय मतदाता जाति धर्म बिरादरी, क्षेत्र और

गुटबन्दी से ऊपर उठ कर राष्ट्रीय स्तर पर सोच सकता है तथा कार्य कर सकता है। भारतीय जनता आज इतना जागरूक है कि वह अपनी रक्षा स्वयं कर सकता है, आवश्यकता केवल सुदृढ़ निस्वार्थ लोक सेवाई नेतृत्व की है।

(viii) संवैधानिक साधनों में विश्वास—यह सत्य है कि भारत में सुदृढ़ विरोधी दल और आर्थिक तथा सामाजिक सिद्धान्तों पर आधारित दलों की कमी है परन्तु एक दलीय प्रभुता ने निरंकुशता को जन्म नहीं दिया और न ही सुदृढ़ विरोधी दल के अभाव ने उसे अत्याचारी बनाया है। यह सत्य है कि राज्यों में कभी कभी दल बदलू और निर्दलीय मैम्बरों के कारण राजनीतिक अस्थिरता को उत्पन्न किया है परन्तु उसने अव्यवस्था को जन्म नहीं दिया। भारत के सभी राजनीतिक दल (साम्यवादियों, मार्क्सवादियों और नक्सलवादियों को छोड़ कर) सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन को संवैधानिक साधनों द्वारा लाना चाहते हैं क्रांति या हिंसा द्वारा नहीं। जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रांति का उद्देश्य भी नागरिकों को अपने प्रजातांत्रिक अधिकारों के प्रति जागरूक बनाना है और जन प्रतिनिधियों के उत्तरदायित्व को वास्तविक बनाना है। यह भारतीय प्रजातन्त्र का मूल दर्शन भी है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय प्रजातन्त्र के मार्ग में अनेक बाधायें हैं, उसके समक्ष चुनौतियाँ हैं। यद्यपि उसमें इन चुनौतियों का सामना करने की क्षमता है परन्तु फिर भी सतर्कता की आवश्यकता है और राजनीतिक प्रजातन्त्र के साथ साथ आर्थिक प्रजातन्त्र के लाने की आवश्यकता है। जितनी शीघ्रता से आर्थिक प्रजातन्त्र को लाने का प्रयास किया जायगा उतनी ही मात्रा में प्रजातान्त्रिक ढांचा दृढ़ एवं शक्तिशाली होगा।

## II भारत में संसदात्मक प्रणाली
## (Parliamentary System in India)

संसदात्मक प्रणाली का अर्थ—कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के सम्बन्धों के आधार पर प्रजातांत्रिक शासन प्रणालियों को दो भागों में विभक्त किया जाता है—संसदात्मक और अध्यक्षात्मक। जहां कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ट सम्बन्ध बने रहते हैं, जहां कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं जहां कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है और उसके विश्वास पर सत्तारूढ़ रहती है, वहां संसदात्मक प्रणाली विद्यमान होती है। इस प्रकार की शासन व्यवस्था को मन्त्रिमण्डलात्मक और उत्तरदायी शासन की संज्ञा दी जाती है। इंग्लैण्ड और भारत में इसी प्रकार की शासन व्यवस्था विद्यमान है। दूसरी ओर जहां कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक दूसरे से स्वतन्त्र होती हैं जहां कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते और उसके प्रति उत्तरदायी नहीं होते तथा उसके विश्वास पर सत्तारूढ़ नहीं रहते वहां अध्यक्षात्मक प्रणाली विद्यमान होती है। इस प्रकार की शासन व्यवस्था अमेरिका में विद्यमान है।

संसदात्मक या मन्त्रिमण्डलात्मक शासन की एक अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में भेद किया जाता है। कार्यपालिका अध्यक्ष, चाहे वह ब्रिटिश सम्राट की भांति पैतृक हो या भारत की भांति अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हो नाम मात्र का अधिकारी होता है। वह 'स्वर्णिम शून्य' 'मिट्टी का महादेव', 'मुकुटधारी शासक' एवं 'रबड़ की मोहर' होता है। वह राज्य करता है, शासन नहीं। यद्यपि संवैधानिक तौर पर शासन की सारी शक्ति उसके हाथ में होती है और उसके नाम पर ही शासन-शक्ति का प्रयोग किया जाता है परन्तु वास्तविक रूप में उसकी शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल करता है जिसका नेतृत्व प्रधान मन्त्री करता है। संसदात्मक प्रणाली में मन्त्रिमण्डल "शासन व्यवस्था का हृदय', 'नीति का चुम्बक', "राजनीतिक वृत्त खण्ड के मेहराब का मुख्य पत्थर, केन्द्रीय निर्देशक मण्डल' है। प्रधान मन्त्री ही मन्त्रिमण्डल का निर्माता, पोषण करता और संहार करता है। उसके जीवित रहने में मन्त्रिमण्डल जीवित रहता है और उसके मरने से या त्याग पत्र देने से सारा मन्त्रिमण्डल समाप्त हो जाता है।

भारत में संसदात्मक प्रणाली का विकास—भारत में संसदात्मक प्रणाली के इतिहास को सन् 1919 के भारत सरकार अधिनियम में देखा जा सकता है। जब ब्रिटिश प्रान्तों में द्वैध प्रणाली के अन्तर्गत हस्तान्तरित विषयों के सम्बन्ध में आंशिक उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गयी थी। सन् 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत भी प्रान्तों में संसदात्मक प्रणाली को लागू किया गया था यद्यपि गवर्नरों की स्थिति संवैधानिक अध्यक्ष की नहीं थी। भारत के संविधान निर्माताओं ने ऐतिहासिक अनुभव से लाभ उठाते हुए भारत में (केन्द्र व राज्यों में) संसदात्मक प्रणाली को स्थापित किया। यद्यपि संविधान राष्ट्रपति को अनेक ऐसी शक्तियाँ प्रदान करता है जो संसदात्मक प्रणाली से मेल नहीं खाती परन्तु संविधान इस बात की अपेक्षा करता है कि राष्ट्रपति इन शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर ही करेगा। डा० अम्बेदकर ने भी राष्ट्रपति की स्थिति को स्पष्ट करते हुए संविधान सभा में कहा था कि राष्ट्रपति 'राज्याध्यक्ष है, शासनाध्यक्ष नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधि है, शासक नहीं। वह केवल राष्ट्र का प्रतीक है। शासन में उसका स्थान एक आनुष्ठानिक मुहर का है जिसके द्वारा राष्ट्र के निर्णय प्रख्यात किये जाते हैं।'

संसदात्मक प्रणाली पर अभिव्यक्त की गयी शंकायें—संविधान निर्माताओं ने जब भारत में संसदात्मक प्रणाली को स्थापित किया तो उस समय और उसके बाद भी अनेक भारतीय तथा पश्चिमी लेखकों ने इसकी सफल कार्यान्विति पर सन्देह व्यक्त किये। अनेक विनाश के पैगम्बरों (prophets of doom) ने भारतीय संसदात्मक प्रणाली की असफलता की भविष्यवाणी भी की। इनका विश्वास था कि जिन लोगों को वयस्क मताधिकार प्रदान किया गया है उनमें अधिकांश निरक्षर

हैं, भारत जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद और साम्प्रदायवाद का घर है, यहा स्थानीय गुटबन्दियाँ और कठोर सामूहिक वफादारियाँ राष्ट्रीयता और राजनीतिक स्थिरता पर प्रहार करती हैं। आर्थिक विषमतायें दुस्तर निर्धनता और बेरोजगारी, नागरिको के स्वतन्त्र आचरण मे बाधक हैं, शासको और शासितो मे नियमित सम्पर्क का अभाव है, सुदृढ विरोधी दल और परिपक्व राजनीतिक दलो (एक—दो राजनीतिक दलो को छोडकर) का अभाव है, आदि।

क्या भारत मे ससदात्मक प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य कर रही है?—ससदात्मक प्रणाली की सफलता के लिये अनेक तत्वो की आवश्यकता होती है जैसे ठोस राजनीतिक दलो का अस्तित्व सुदृढ विरोधी दल जो सत्तारूढ दल का विकल्प प्रस्तुत कर सके, राजनीतिक दलो का सवैधानिक साधनो मे अटूट विश्वास, राजनीतिक दलो मे सहिष्णुता और परिमितता, ससदात्मक सर्वोच्चता मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व सहनशीलता, स्वतन्त्र सामाजिक और राजनीतिक प्रणालियाँ स्वतन्त्र छापाखाना, स्वतन्त्र न्यायपालिका, शिक्षित जागरूक एव सक्रिय मतदाता, राष्ट्रीयता की भावनाये, सविधान मे मौलिक परिवर्तनो के लिये सार्वजनिक आज्ञा (public mandate) की आवश्यकता, आदि।

भारत मे ससदात्मक प्रणाली की सफलता और असफलता को निम्न शीर्षको के अन्तर्गत व्यक्त किया जा सकता है —

(1) सहिष्णुता और परिमितता के रूप मे—ससदात्मक प्रजातन्त्र मे राजनीतिक दलो मे यह गौण समझौता होता है कि वे सत्ता को प्राप्त करने के लिये केवल सवैधानिक साधनो का प्रयोग करेंगे। राजनीतिक दलो का विश्वास 'मत पत्रो की शक्ति' (power of the ballot) मे होना चाहिये 'गोली की शक्ति मे नही। वे तर्क, अनुनय और निर्वाचनो के माध्यम से जनमत को अपने पक्ष मे करके ससद मे बहुमत प्राप्त कर, सत्ता को प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। निर्वाचनो मे विजय और पराजय को 'खेल के नियमो' की भाति स्वीकार किया जाता है। यदि बहुमत सत्तारूढ हो कर शासन को चलाता है तो अल्पमत विरोधी दल के रूप मे उसकी नीतियो की आलोचना करता है। इस तरह शासन की नीतियो की आलोचना ससदात्मक प्रजातन्त्र का आवश्यक गुण है। यदि सत्तारूढ दल बहुमत के नशे मे विरोध की उपेक्षा करे या उसका दमन करे या उसकी अभिव्यक्ति के साधनो मे बाधा प्रस्तुत करे या विरोधी दल की आलोचना विप्लव रूप धारण करे तो ससदात्मक प्रजातन्त्र कार्य नही कर सकता। एक की अधिकता यदि निरकुशता को जन्म देती है तो दूसरे की अधिकता अराजकता को। इसलिए दलो की सहिष्णुता और परिमितता ससदात्मक प्रजातन्त्र के आवश्यक गुण हैं। राजनीतिक दलो मे ये जितनी अधिक मात्रा मे विद्यमान होगे उतनी अधिक मात्रा मे ससदात्मक प्रजातन्त्र सफल होगा।

भारत मे साम्यवादियो मार्क्सवादियो और नक्सलवादियो को छोडकर जो हिंसा की बोली बोलते हैं, अन्य राजनीतिक दल सवैधानिक साधनो मे ही विश्वास

करते हैं। यद्यपि मुस्लिम लीग, रिपब्लिकन दल, हिन्दू महासभा और पंजाब में अकाली दल जैसे राजनीतिक दल भी हैं जो केवल साम्प्रदायिक आधारों पर ही चलते हैं, डी एम के (DMK) जैसे ऐसे भी दल हैं जो क्षेत्रवाद की भावनाओं को फैलाते हैं। फिर भी भारत में राजनीतिक दल सामान्यतः संवैधानिक माध्यमों में ही विश्वास करते हैं और उन्हीं के माध्यम से सत्ता को प्राप्त करने के इच्छुक हैं।

(ii) सुदृढ़ राजनीतिक दलों के रूप में—संसदात्मक प्रजातन्त्र की सफलता के लिये आवश्यक है कि देश में सुदृढ़ राजनीतिक दल विद्यमान हों जिनका आधार आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्त हो। क्योंकि संसदात्मक शासन दलीय शासन होता है इसलिये मन्त्रिमण्डल के स्थायित्व के लिये सत्तारूढ़ दल का संसद में स्पष्ट बहुमत होना अनिवार्य है। द्विदलीय प्रणाली संसदात्मक प्रणाली की सफलता के लिये सर्वोत्तम प्रणाली है।

भारत की दलीय प्रणाली अद्वितीय है। यहां द्विदलीय पद्धति के स्थान पर बहुदलीय पद्धति है। और बहुदलीय पद्धति होने पर भी पिछले 25 वर्षों में (स्वतन्त्रता प्राप्ति से ही) एक दल की (कांग्रेस) प्रभुता रही है। विरोधी दल मुख्य विपक्ष होने के स्थान पर बहुधा दबाव समूह (pressure group) के रूप में ही रहा है। यदि 1967 के निर्वाचन के बाद कुछ राज्यों में 'संयुक्त मोर्चों' (मिली जुली सरकारों) की सरकारों का निर्माण भी किया गया तो वे सामान्य शासन में प्रभाव में असफल रहीं। 1971 के संसदीय निर्वाचनों में और 1972 के राज्य विधान सभाओं के निर्वाचनों में स्थिति "एक दल की प्रभुता" की सी हो गयी। केवल तमिलनाडु में डी एम के ही अपवाद है।

भारतीय राजनीतिक दलों का आधार (कुछ राजनीतिक दलों को छोड़कर जैसे कांग्रेस, साम्यवादी दल, जनसंघ आदि) ठोस राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्त नहीं है जैसाकि ऊपर लिखा गया है कि मुस्लिम लीग, रिपब्लिकन पार्टी, अकाली दल तथा हिन्दू महासभा का आधार साम्प्रदायिकता (धर्म या भाषा) है और डी एम के का आधार क्षेत्रवाद (regionalism) है।

(iii) सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के रूप में—संसदात्मक प्रजातन्त्र अपनी सफलता के लिए सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की मांग करता है जैसे शिक्षित मतदाता, उदार प्रजातान्त्रिक प्रणालियाँ आन्तरिक और बाह्य शान्ति, आर्थिक और सामाजिक समानता, राष्ट्रीयता, आदि।

यह सत्य है कि भारत में अपार निरक्षता है, भीषण निर्धनता है, वृहद बेरोजगारी है, अमीर गरीब के भेद गम्भीर हैं यह भी सत्य है कि भारतीय मतदाता परम्परा और आधुनिकता में संघर्ष कर रहा है। उसमें क्षेत्रवाद, भाषावाद, जातिवाद और साम्प्रदायवाद की भावनायें हैं यह भी सत्य है कि वह स्थानीय और क्षेत्रीय वफादारियों से भूत ग्रस्त है यह भी सत्य है कि मुल्क के नियमों उत्तर प्रदेश के प्रान्तीय सशस्त्र सिपाहियों के विद्रोहों, नक्सलवादियों की हिंसक घटनाओं, तलगाना (P A C

revolt) पंजाबी सूबा आदि जैसे आंदोलनों ने अव्यवस्था को जन्म दिया परन्तु ये सब तत्व भारतीय संसदात्मक प्रजातन्त्र को चुनौतियां देते हुए भी उसे खोखला या जर जर नहीं करते बल्कि उसके आधार को और अधिक चौड़ा करते हैं।

इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता कि जहां रूस और चीन ने राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने के लिये सर्वसत्तावादी शासनों को जन्म दिया, कुछ छोटे राज्यों ने नियन्त्रित प्रजातन्त्र (guided democracy) को जन्म दिया वहां भारत की संसदात्मक प्रजातान्त्रिक प्रणाली विभिन्नता में एकता ढूंढती है। यही तत्व उसकी सफलता का प्रतीक है। क्षेत्रवाद, भाषावाद, जातिवाद, और साम्प्रदायवाद राष्ट्रीयता में बाधा होते हुए भी संकट में राष्ट्रीय एकता को बनाये रखते हैं क्षेत्रवाद एक दृष्टि से तो अधिनायकवाद के विरुद्ध गारण्टी है। बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक उपद्रवों के बाद भी कानून और व्यवस्था बनी रही है निरक्षरता के बाद भी भारतीय मतदाता ने अपनी राजनीतिक परिपक्वता का परिचय दिया है। सन् 1971 के निर्वाचनों ने सिद्ध कर दिया है कि भारतीय मतदाता जातिवाद, भाषावाद क्षेत्रवाद और साम्प्रदायवाद से ऊपर उठकर राष्ट्रीय स्तर पर सोच सकता है तथा कार्य कर सकता है। यद्यपि निवारक निरोध भारत सुरक्षा अधिनियम, आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम जैसे अप्रजातान्त्रिक तत्व विद्यमान हैं परन्तु फिर भी सामान्य नागरिक नागरिक स्वतन्त्रताओं (भाषण अभिव्यक्ति, संघ, समुदाय, भ्रमण आदि) का उपभोग करता है, अपनी इच्छानुसार अपने धर्म की उपासना करता है। सर्वोच्च न्यायालय संविधान के अभिरक्षक और नागरिकों के मूल अधिकारों के सतत प्रहरी के रूप में कार्य करता है। ये सभी तत्व भारतीय संसदात्मक प्रजातन्त्र को सुदृढ़ और सुरक्षित बनाते हैं खोखला या जर जर नहीं करते।

**(iv) स्पीकर की निष्पक्षता और निर्दलीयता के रूप में**—स्पीकर की निष्पक्षता और निर्दलीयता संसदात्मक प्रजातन्त्र को सफल बनाने में काफी सहायक होती है। कम से कम वह उसे भ्रष्ट होने से तो बचा सकती है। भारतीय संविधान निर्माता भी लोकसभा के स्पीकर को स्वतन्त्र और निष्पक्ष बनाने के इच्छुक थे। उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु उन्होंने अनुच्छेद 112 (3) (b) में उसके वेतन और भत्ता आदि का भार भारत की संचित निधि पर भारित किया। संविधान स्पीकर को सदन में मताधिकार (vote) का अधिकार प्रदान नहीं करता। अनुच्छेद 100 के अनुसार वह सदन में गतिरोध को दूर करने के लिये केवल निर्णायक मत (castinc vote) का प्रयोग कर सकता है। सदन की कुल सदस्यता के बहुमत द्वारा पारित प्रस्ताव ही स्पीकर को समय से पूर्व अपने पद से पदच्युत कर सकता है। (अनुच्छेद 94 (b)।

दुर्भाग्य से भारत के लोक सभा के स्पीकर के सम्बन्ध में उन महत्वपूर्ण अभिसमयों का विकास नहीं हो पाया जो इंग्लैण्ड में विद्यमान हैं। ब्रिटिश स्पीकर की भांति भारतीय स्पीकर राजनीति में संन्यास ग्रहण नहीं करता। एन० संजीवैय्या

रेड्डी को छोड कर लोक सभा के किसी स्पीकर ने दलीय सदस्यता से त्याग-पत्र नही दिया। यद्यपि भारतीय स्पीकर के सामा य निणय और निदश निदलीय भावना से प्रेरित रहे हैं और उससे इसकी आशा भी की जाती है परन्तु उसकी पूण निष्पक्षता और निदलीयता का दावा नही किया जा सकता। भारत मे स्पीकर, विरोधी पक्ष के पूण विश्वास का पात्र नही रहा।

(v) स्वतन्त्र यायपालिका के रूप मे—स्वतन्त्र यायपालिका प्रजातान्त्रिक ससदात्मक प्रणालिया का प्राण है। भारतीय सविधान सर्वोच्च यायालय को काय पालिका और राजनीतिक प्रभाव से मुक्त ही नही रखता वल्कि उनसे उसकी स्वत त्रता की रक्षा भी करता है।

भारत की सर्वोच्च यायालय, सविधान के अभिरक्षक और निवचन तथा नागरिको के मूल अधिकारो के सरक्षक और गारण्टीकर्ता के रूप मे काय करता है। सविधान के निवचन मे इसकी शक्ति अतिम है। इसे ससद और विधानसभाओ द्वारा बनाये गये कानूनो के पुनरावलोकन का अधिकार है। यदि यह कानून सविधान की उल्लघना करता है तो यायालय उसे अवध घोषित कर सकता है। नागरिको के मूल अधिकारो की रक्षा हेतु यायालय अनेक प्रकार के अभिलेख (wr ts) जारी कर सकता है जस बदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा, उत्प्रेषण अभिलेख आदि।

पिछले 25 वर्षो का सवधानिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि यायालय स्वतन्त्रता और निष्पक्षता की अट्टालिका रही है। सविधान के अभिरक्षण और नागरिको के मूल अधिकारो की रक्षा हेतु इसने सराहनीय काय किया है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षो से कायपालिका ने यायपालिका की स्वत त्रता म हस्तक्षेप करने का प्रयास किया है। उदाहरणतया जब कभी यायालय द्वारा दिये गये निणय काय पालिका को पसन्द नही आये तो उसने सावजनिक आज्ञा (peoples mandate) के बिना सवैधानिक सशोधनो का सहारा लिया। दूसरे अनेक बार यायालय के निणयो की आलोचना ससद सदस्यो द्वारा ससद स्थल और अप्रत्यक्ष रूप म राज नीतिक नेताओ ने सावजनिक भाषणो मे की है। इस प्रकार की अनियन्त्रित आलोचना यायालय की स्वतन्त्रता पर घातक प्रभाव डालता है। तीसर, सन 1973 म कायपालिका ने एक गलत उदाहरण प्रस्तुत किया जब उसने तीन वरिष्ठ यायाधीशो का विस्मृत कर यायाधीश अजीत नाथ रे को मुख्य यायाधीश के पद पर नियुक्त किया। कायपालिका द्वारा यायपालिका को पक (Pack) करने की वृत्ति निश्चित ही स्वस्थ प्रजातान्त्रिक ससदात्मक प्रणाली के लिये घातक है। मोहन कुमारमगलम के य शब्द दुर्भाग्यपूर्ण ही कहे जा सकते हैं कि उन्ह एक एसे मुख्य यायाधीश की आवश्यकता है जो यायपालिका और ससद के मध्य मुकाबले (समक्षता) (Confrontation) को समाप्त करने मे मदद करे, जो देश म परिवर्तन

हुवा से महत्व का समझ और 'न्यायालय म हमारी सहायता करे।'[1] कार्यपालिका की यह प्रवृत्ति स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र और ससदात्मक व्यवस्था को रक्षक नही, भक्षक है। यह वृत्ति केवल सत्तावादी अधिनायकवादी और साम्यवादी देशो मे पायी जाती है, प्रजातान्त्रिक ससदात्मक प्रणाली वाले देशो म नही।

(vi) मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व के रूप मे—ससद के प्रति मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व ससदात्मक प्रजातन्त्र का हृदय है। इगलण्ड जैसे ससदात्मक प्रजातन्त्र म तो यह कहावत चरितार्थ है कि 'मन्त्री इकट्ठे ही तैरते हैं और इकट्ठे ही डूबते हैं, 'एक सबके लिये और सब एक के लिये है।' परन्तु भारत क ससदात्मक प्रजातन्त्र क इस आवश्यक पहलू का विकास तक नही हुआ। जब कभी किसी महत्वपूर्ण विषय पर सरकार असफल भी हुई तब भी मन्त्रिमण्डल ने अपने सामूहिक उत्तरदायित्व का स्वीकार नही किया। उदाहरणतया सन् 1962 म चीनी आक्रमण के समय जब भारत को भीषण प्रतिवातियो (reverses) का सामना करना पडा तो मन्त्रिमण्डल ने सामूहिक उत्तरदायित्व को स्वीकार करने के स्थान पर उस समय के सुरक्षा मन्त्री वी० के० कृष्णा मेनन पर सारा उत्तरदायित्व डाल दिया और उन्होने त्याग पत्र द दिया। इसी प्रकार जीवन बीमा षड्यन्त्र मे मन्त्रिमण्डल ने सामूहिक उत्तरदायित्व स्वीकार करने के स्थान पर उस समय के वित्तमन्त्री टी० टी० कृष्णामचारी को उत्तरदायी ठहरा दिया। एक मन्त्री को हटा कर या उससे त्यागपत्र दिला कर शेष मन्त्रिमण्डल को बनाये रखना स्वस्थ ससदात्मक प्रजातान्त्रिक परम्पराओ के लिये शुभ नही।

(vii) ससद में आस्था के रूप मे—ससदात्मक प्रजातन्त्र ससद मे विश्वास पर आधारित होता है। मन्त्रिमण्डल न तो ससद की उपेक्षा करता है और न ही तिरस्कार। परन्तु भारतीय ससदात्मक प्रजातन्त्र मे अनेक ऐसे अवसर आये हैं जब मन्त्रिमण्डल ने बहुमत क नशे मे न केवल ससद मे व्यक्त की गयी भावनाओ का निरादर किया है बल्कि विरोधियो द्वारा की गयी आलोचनाओ का तिरस्कार किया है और स्पीकर द्वारा दिये गये निदेशनो की अवहेलना भी की है। और तो और, मन्त्रिमण्डल ने ससद के सत्र काल म अध्यादेशो (ordinances) द्वारा कार्यपालिका उद्देश्यो की पूर्ति करने का प्रयास किया है। उदाहरणतया नवम्बर 1974 म, जब लोकसभा का सत्र चल रहा था, कार्यपालिका ने अध्यादेश द्वारा मीसा (MISA) के अन्तर्गत हिरासत मे लिये गये व्यक्तियो को न्यायालयो के सरक्षण से वचित कर दिया। अध्यादेशो द्वारा शासन करने की यह प्रवृत्ति कार्यपालिका की निरकुशता की द्योतक है प्रजातन्त्र की नही।

(viii) महत्वपूर्ण विषयों या सशोधनो पर सार्वजनिक आज्ञा (popular mandate) के रूप मे—इगलैड जैसे पश्चिमी ससदात्मक प्रजातान्त्रिक प्रणालियां

1 See Gupta, D C National movement and Constitutional Development second edn (1973), p 528

की एक विशेषता यह है कि सार्वजनिक आज्ञायें प्राप्त कर ही मन्त्रिमण्डल महत्वपूर्ण संशोधनों को कार्यान्वित करने का प्रयास करता है। परन्तु भारत में बिना सार्वजनिक आज्ञा के महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं उदाहरणतया भारतीय संविधान के अध्याय तीन में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं परन्तु सार्वजनिक आज्ञा प्राप्त नहीं की गयी। वस्तुतः भारत में इस परम्परा का विकास ही नहीं किया गया।

(ix) व्यक्ति पूजा—भारत के संसदात्मक प्रजातन्त्र में व्यक्ति पूजा के नाम से एक ऐसे तत्व ने जन्म लिया है जो सर्वसत्तावादी, साम्यवादी शासन का द्योतक है, प्रजातान्त्रिक शासन का नहीं। नेहरू जी की तुलना तो एक बड़ के वृक्ष से की जाती थी जिसके अधीन कुछ पैदा नहीं होता। अच्छे से अच्छे शब्दों में उनके शासन काल को भारतीय संवैधानिक इतिहास में हितकारी निरंकुशता (benevolent despotism) की संज्ञा दी जा सकती है। इन्दिरा गांधी के बारे में तो स्पष्ट कहा गया है कि वह निरंकुश तरीके से व्यवहार करती है। उन्होंने न केवल राज्यों में नेतृत्व को, दल संगठन को अपनी इच्छा से परिवर्तित किया है बल्कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों (तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों को विस्थित कर न्यायाधीश अजीत नाथ रे को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया) को भी अपनी इच्छा पर परिवर्तित किया। भारत की परम्परा और सामन्तवादी व्यवस्था ने व्यक्ति पूजा के इस सिद्धान्त को जन्म दिया है जो निश्चित ही अप्रजातान्त्रिक है। यह सत्य है कि प्रधान मन्त्री किसी व्यक्ति को अपने मन्त्रिमण्डल में ले सकती हैं और किसी भी मन्त्री को मन्त्रिमण्डल से निकाल सकती हैं परन्तु हाल ही में जिस ढंग से और जिस आधार पर मोहन धारिया को मन्त्रिमण्डल से निकाला गया, क्योंकि व जयप्रकाश नारायण के साथ प्रशासन में भ्रष्टाचार, निर्वाचन प्रणाली में सुधार आदि विषयों पर वार्तालाप (dialogue) चाहते थे वह संसदात्मक प्रजातन्त्र का द्योतक नहीं नेतृत्व की निरंकुशता का द्योतक है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत में संसदात्मक प्रजातन्त्र में वे सब विशेषतायें नहीं पायी जाती जो पश्चिमी देशों, विशेषकर ब्रिटिश संसदात्मक प्रजातन्त्र में पायी जाती हैं, फिर भी भारतीय जनमत ने अपनी इच्छा को अभिव्यक्त किया है और अनेक बार तो उसे प्रभावशाली ढंग से लागू भी किया है। जनमत का प्रभाव, शिक्षा के विस्तार के साथ, दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, जन आन्दोलन ने ही गुजरात में 1974 में विधान सभा को भंग कराया और बिहार में अनेक विधान सभा के सदस्यों को त्यागपत्र देने के लिये बाध्य किया। यद्यपि भारत में विपक्ष दुर्बल है फिर भी वह क्रियाशील है और शासन तथा विरोध में समय समय पर महत्वपूर्ण विषयों पर वार्तालाप होता रहता है। निर्वाचन भारतीय संसदात्मक प्रजातन्त्र का स्थायी आधार है और परिवर्तन का साधन है। राजनीतिक दल गोली के स्थान पर मत पत्रों द्वारा सत्ता प्राप्त करने के इच्छुक हैं। यह मान्यता भारतीय

ससदात्मक प्रजातन्त्र के भविष्य के लिए शुभ है। इसकी जड़ दिन प्रति दिन गहरा पठती चली जा रही है। आर्थिक प्रजातन्त्र के स्थापित होने ही राजनीतिक प्रजातन्त्र और सुदृढ व सुरक्षित हो जायगा।

**आन्दोलन की राजनीति (Politics of agitation)**—भारतीय राजनीति की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि इसमे सत्ता का विरोध केवल मान्यता प्राप्त सवैधानिक साधनो द्वारा ही नही किया गया बल्कि आन्दोलन की राजनीति द्वारा किया गया है जो भारतीय राजनीति को राष्ट्रीय आन्दोलन से वरासत मे प्राप्त हुई है। आन्दोलन की राजनीति मे सत्ता का विरोध सस्थागत साधनो द्वारा नही किया जाता बल्कि ऐसे साधनो द्वारा किया जाता है जिन्हे प्राय अतिरिक्त सस्थागत (extra institutional) या अतिरिक्त वैधानिक (extra constitutional) साधन कहा जाता है। आन्दोलन की राजनीति मे जिन साधनो का प्रयोग किया गया है उनमे प्रमुख है विरोध प्रदर्शन (protest demonstration) आमरण व्रत या उपवास (fast unto death), अग्निदाह द्वारा शरीरान्त (self immolation) हड़ताल, धरना घेराव बन्द आदि।

आन्दोलन की राजनीति का प्रयोग अनेक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए किया गया है। लोगो के असतोष को अभिव्यक्त करने के लिए, लोगो की शिकायतो को दूर करने के लिए, भ्रष्ट मन्त्रियो को अपदस्थ करने के लिए, प्रशासन मे भ्रष्टाचार और अकुशलता को समाप्त करने के लिए, सरकारी नीतियो से असहमति प्रकट करने के लिये, बढती हुई कीमतो को रोकने के लिये पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करने के लिए राजनीतिक जीवन मे विशेषकर निर्वाचनो मे काले धन के प्रयोग का विरोध करने, जमाखोरी, आदि के विरुद्ध भी किया गया है। इनका प्रयोग केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारो और विशिष्ट अधिष्ठानो (specific establishments) और कार्यालयो के विरुद्ध भी किया गया है।

विरोध प्रदर्शनो की एक विशेषता यह होती है कि वे स्वत स्फूर्त होते है यद्यपि बाद मे उनमे अनेक प्रकार के समूह और सगठन (जैसे श्रमिक सघ विद्यार्थी सगठन, राजनीतिक दल आदि) शामिल हो जाते हैं। परन्तु भारत मे विरोध प्रदर्शनो की यह विशेषता रही है कि इन्हे स्थानीय और राज्य सरकारो द्वारा भी सचालित किया गया है विरोधी दलो द्वारा भी सचालित किया गया है और जयप्रकाश नारायण जैसे निर्दलीय प्रबुद्ध एव महान नेताओ द्वारा भी इन्हे सचालित किया गया है।

भारत मे विरोध प्रदर्शनो का मूल उद्देश्य जन साधारण को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने उसे अपने अधिकारो के प्रति सचेत करने और सरकार की गलत नीतियो का विरोध करने के लिए किया गया है। इतना ही नही इन्हे लोकतन्त्र के पथ यात्रा' के रूप मे भी प्रयोग किया गया है। सी० सुब्रह्मण्यम ने द्रमुक सरकार के विरुद्ध शान्त प्रदर्शन' (silent demonstration) का समर्थन करते हुए कहा था कि इसका उद्देश्य निर्वाचक समूह को शिक्षित कर निराशा को दूर करने के लिए

की एक विशेषता यह है कि सार्वजनिक आज्ञायें प्राप्त कर ही मन्त्रिमण्डल महत्वपूर्ण संशोधनों को कार्यान्वित करने का प्रयास करता है। परन्तु भारत में बिना सार्वजनिक आज्ञा के महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं उदाहरणतया भारतीय संविधान के अध्याय तीन में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं परन्तु सार्वजनिक आज्ञा प्राप्त नहीं की गयी। वस्तुतः भारत में इस परम्परा का विकास ही नहीं किया गया।

(ix) व्यक्ति पूजा—भारत के संसदात्मक प्रजातन्त्र में व्यक्ति पूजा के नाम से एक ऐसे तत्व ने जन्म लिया है जो सर्वसत्तावादी, माध्यवादी शासन का द्योतक है, प्रजातान्त्रिक शासन का नहीं। नेहरू जी की तुलना तो एक बरगद के वृक्ष से की जाती थी जिसके अधीन कुछ पैदा नहीं होता। अच्छे से अच्छे अर्थ में उनके शासन काल को भारतीय संवैधानिक इतिहास में हितकारी निरंकुशता (benevolent despotism) की संज्ञा दी जा सकती है। इंदिरा गांधी के बारे में तो स्पष्ट कहा गया है कि वह निरंकुश तरीके से व्यवहार करती है। उन्होंने न केवल राज्यों में नेतृत्व को, दल संगठन को अपनी इच्छा से परिवर्तित किया है बल्कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों (तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों को विस्थित कर न्यायाधीश अजीत नाथ रे को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया) को भी अपनी इच्छा पर परिवर्तित किया। भारत की परम्परा और सामन्तवादी व्यवस्था ने व्यक्ति पूजा के इस सिद्धान्त को जन्म दिया है जो निश्चित ही अप्रजातान्त्रिक है। यह सत्य है कि प्रधान मन्त्री किसी व्यक्ति को अपने मन्त्रिमण्डल में ले सकती हैं और किसी भी मन्त्री को मन्त्रिमण्डल से निकाल सकती हैं परन्तु हाल ही में जिस ढंग से और जिस आधार पर मोहन धारिया को मन्त्रिमण्डल से निकाला गया क्योंकि वे जयप्रकाश नारायण के साथ प्रशासन में भ्रष्टाचार, निर्वाचन प्रणाली में सुधार आदि विषयों पर वार्तालाप (dialogue) चाहते थे वह संसदात्मक प्रजातन्त्र का द्योतक नहीं नेतृत्व की निरंकुशता का द्योतक है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत के संसदात्मक प्रजातन्त्र में वे सब विशेषतायें नहीं पायी जाती जो पश्चिमी देशों, विशेषकर ब्रिटिश संसदात्मक प्रजातन्त्र में पायी जाती हैं फिर भी भारतीय जनमत ने अपनी इच्छा को अभिव्यक्त किया है और अनेक बार तो उसे प्रभावशाली ढंग से लागू भी किया है। जनमत का प्रभाव, शिक्षा के विस्तार के साथ, दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, जन आन्दोलन ने ही गुजरात में 1974 में विधान सभा को भंग कराया और बिहार में अनेक विधान सभा के सदस्यों को त्यागपत्र देने के लिये बाध्य किया। यद्यपि भारत में विपक्ष दुर्बल है फिर भी वह क्रियाशील है और शासन तथा विरोध में समय समय पर महत्वपूर्ण विषयों पर वार्तालाप होता रहता है। निर्वाचन भारतीय संसदात्मक प्रजातन्त्र का स्थायी आधार है और परिवर्तन का साधन है। राजनीतिक दल गोली के स्थान पर मत पत्रों द्वारा सत्ता प्राप्त करने के इच्छुक हैं। व मात्र तन्त्र भारतीय

मसदात्मक प्रजातन्त्र के भविष्य के लिए शुभ हैं। इसकी जड़ दिन प्रति दिन गहरी पकड़ती चली जा रही है। धार्मिक प्रजातन्त्र के स्थापित होने ही राजनीतिक प्रजातन्त्र और सुदृढ़ व सुरक्षित हो जायगा।

**आन्दोलन की राजनीति (Politics of Agitation)**—भारतीय राजनीति की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि इसमें सत्ता का विरोध केवल मान्यता प्राप्त संवैधानिक साधनों द्वारा ही नहीं किया गया बल्कि आन्दोलन की राजनीति द्वारा किया गया है जो भारतीय राजनीति को राष्ट्रीय आन्दोलन से विरासत में प्राप्त हुई है। आन्दोलन की राजनीति में सत्ता का विरोध संस्थागत साधनों द्वारा नहीं किया जाता बल्कि उन साधनों द्वारा किया जाता है जिन्हें प्राय अतिरिक्त संस्थागत (extra institutional) या अतिरिक्त संवैधानिक (extra constitutional) साधन कहा जाता है। आन्दोलन की राजनीति में जिन साधनों का प्रयोग किया गया है उनमें प्रमुख हैं विरोध प्रदर्शन (protest demonstration), आमरण व्रत या उपवास (fast unto death), अग्निदाह द्वारा शरीरान्त (self immolation) हड़ताल, धरना घेराव, बन्द आदि।

आन्दोलन की राजनीति का प्रयोग अनेक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किया गया है। लोगों के असन्तोष को अभिव्यक्त करने के लिए, लोगों की शिकायतों को दूर करने के लिए, भ्रष्ट मन्त्रियों को अपदस्थ करने के लिए, प्रशासन में भ्रष्टाचार और अकुशलता को समाप्त करने के लिये, सरकारी नीतियों से असहमति प्रकट करने के लिए, बढ़ती हुई कीमतों को रोकने के लिये, पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करने के लिए राजनीतिक जीवन में, विशेषकर निर्वाचनों में काले धन के प्रयोग का विरोध करने, जमाखोरी, आदि के विरुद्ध भी किया गया है। इसका प्रयोग केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों और विशिष्ट प्रतिष्ठानों (specific establishments) और कार्यालयों के विरुद्ध भी किया गया है।

विरोध प्रदर्शनों की एक विशेषता यह होती है कि वे स्वतः स्फूर्त होते हैं यद्यपि बाद में उनमें अनेक प्रकार के समूह और संगठन (जैसे श्रमिक संघ विद्यार्थी संगठन, राजनीतिक दल आदि) शामिल हो जाते हैं। परन्तु भारत में विरोध प्रदर्शनों की यह विशेषता रही है कि इन्हें स्थानीय और राज्य सरकारों द्वारा भी संचालित किया गया है, विरोधी दलों द्वारा भी संचालित किया गया है और जयप्रकाश नारायण जैसे निर्दलीय प्रबुद्ध एवं महान नेताओं द्वारा भी इन्हें संचालित किया गया है।

भारत में विरोध प्रदर्शनों का मूल उद्देश्य जन साधारण को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने उसे अपने अधिकारों के प्रति सचेत करने और सरकार की गलत नीतियों का विरोध करने के लिए किया गया है। इतना ही नहीं, इन्हें "लोकतन्त्र के वरयन्त्रों" के रूप में भी प्रयोग किया गया है। सी० सुब्रह्मण्यम ने द्रमुक सरकार के विरुद्ध 'शान्त प्रदर्शन' (silent demonstration) का समर्थन करते हुए कहा था कि इसका उद्देश्य 'निर्वाचक समूह को शिक्षित कर शिकायतों को दूर करने के लिए,

आन्दोलन करने के लिये प्रोत्साहित करना है। अमरीका जैसे विकासशील देशों में प्रचार के साधन रेडियो और टेलीविजन हैं परन्तु भारत की वर्तमान परिस्थितियों में निर्वाचक समूह को प्रशिक्षित करने के लिये जुलूस, और प्रदर्शन व अन्य रूपों की आवश्यकता है। [1]

विरोध प्रदर्शनों के इतिहास में 6 मार्च, 1975 का नयी दिल्ली में किया गया विराट प्रदर्शन अपने आप में एक इतिहास था। यह एक व्यक्ति के नेतृत्व में संचालित किया गया था (जयप्रकाश नारायण) जो "सत्ता के विरुद्ध विभिन्न तरह के लोगों को एक ही खेमे में खड़ा करने की क्षमता रखता था।" दिनमान ने प्रदर्शन पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि 'यह हाल के वर्षों में सत्ता के विरुद्ध आम जनता के असंतोष की सशक्त अभिव्यक्ति था।' इस प्रदर्शन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि "सत्तारूढ़ शासकों को जनता की आकांक्षाओं और इच्छा पर ध्यान देने के लिये सामान्य साधनों से मजबूर नहीं किया जा सकता।' यह ऐसा प्रदर्शन था "जिस पर किसी राजनीतिक दल की मुहर नहीं दिखती थी।" यह शुद्ध 'जनता मोर्चा' थी जिसके सेनानी लोकतन्त्र के सेनानी थे। प्रदर्शन में अभिव्यक्त किये गये विचार स्वयं स्पष्ट करते हैं कि सत्ता के विरोध के ये साधन वैधानिक हैं। प्रदर्शन में जिन संकेतों का प्रयोग किया गया था उनमें प्रमुख थे 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है, "महगाई का घाव दिखाने हम संसद में आये हैं," 'जनता का आदेश बताने हम संसद में आये हैं," "जिन्दा कौमें पांच साल तक इन्तजार नहीं करती।'[2] प्रदर्शन के इन संकेतों से स्पष्ट है कि प्रदर्शनकारी आन्दोलन की राजनीति द्वारा सरकार पर जनहित में दबाव डालना चाहते थे। श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में जिस प्रतिनिधि मण्डल ने संसद अध्यक्ष और राज्य सभा के उप अध्यक्ष को जो मांग-पत्र प्रस्तुत किया, (charter of demands) उसमें देश के आर्थिक, सामाजिक पुनरुत्थान, (भूमि सुधार, पूर्ण रोजगार आदि की व्यवस्था) प्रजातान्त्रिक अधिकारों के संरक्षण (विशेषकर मीसा, भारत रक्षा कानून, संकटकालीन अवस्था की वापसी) शिक्षा और चुनाव प्रणालियों में सुधार (संयुक्त संसदीय समिति की सिफारिशों को लागू करना चुनाव आयोग, बहु सदस्यीय आयोग हो, उम्मीदवारों के चुनाव सम्बन्धी खर्चों में उम्मीदवार पर किये गये दल के खर्चे को भी शामिल किया जाय, आदि) और राजनैतिक विकेन्द्रीकरण तथा भ्रष्टाचार उन्मूलन की मांगें शामिल की गयी थी।

आन्दोलन की राजनीति पर सरकार और सर्वसाधारण जनता का दृष्टिकोण प्रायः सहनशीलता का रहा है यद्यपि जब कभी प्रदर्शन आन्दोलनों ने हिंसक रूप

1 रजनी कोठारी पुस्तक Politics in India से उद्धृत पृ० 220 अनुवाद लेखक द्वारा किया गया है।

2 यहाँ उद्धृत किये गये सभी संकेत दिनमान से लिये गये हैं। देखिये दिनांक 16 मार्च, 1975, पृ० 24–27

धारण किया है तो सरकार उसका दमन करने मे नही हिचकिचाई। परन्तु यहाँ सरकार का दृष्टिकोण निष्पक्ष रहने के स्थान पर दलीय हितो से प्रभावित रहा है। उदाहरणतया जयप्रकाश के सम्पूर्ण क्रान्ति के आन्दोलन द्वारा जब बिहार म भ्रष्टाचार, कुशासन आदि के विरुद्ध अहिंसक प्रदशन किये गये तो सत्याग्रहियो के साथ दुर्व्यवहार किया गया परन्तु जब काग्रेस सी० पी० आई० ने मिलकर लाठियो मशालो और अस्त्रो मे प्रदशन किया तो उसे प्रशासन न सुविधाये प्रदान की। इसी प्रकार 6 माच, 1975 को नई दिल्ली "जनता माच मे हरियाणा सरकार ने पर्याप्त बाधायें उत्पन्न की।

**आन्दोलन की राजनीति पर सीमायें**—आन्दोलन की राजनीति पर अनेक सीमायें हैं जिन्हे निम्न बिन्दुओ द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है—

(i) देश का आकार बहुत बडा है और कुशल सचार साधनो की कमी है।

(ii) शासन ने अपनी शक्ति का प्रयोग दमनकारी और पक्षपातपूर्ण दृष्टि स किया है। अनेक बार तो सामान्य राजनीतिक गतिविधियो पर प्रतिबन्ध लगाये गये है और मीसा भारत रक्षा कानून, निवारक निरोध कानूनो का प्रयोग विरोधी नेताओ के विरुद्ध भी किया गया है।

(iii) रोष और विरोध की सावजनिक अभिव्यक्ति के लिये सवसाधारण की उग्र नीतियो के प्रति सामान्य घृणा व्याप्त है।

(iv) राजनीतिक दलो के नेतृत्व मे यह भावना व्याप्त है कि आन्दोलन की राजनीति सवदा लाभकारी नही होती।

उपर्युक्त सीमाओ के बाद भी आन्दोलन की राजनीति भारतीय राजनीति का अभिन्न अग बन गयी है और इसे कुछ वैधानिक मान्यता भी प्राप्त है। जसाकि रजनी कोठारी ने लिखा है कि "घेराव, बन्द, धरना आदि भारत मे विरोधी राजनीति के शस्त्रागार मे महत्वपूर्ण अस्त्र रहगे और अपने ही ढग से राजनीति प्रणाली को खुला करने मे योगदान देगे।"[1]

## भारतीय राजनीति और प्रतिपक्ष
### (Indian politics and opposition)

**लोकतन्त्र मे प्रतिपक्ष का महत्व**—प्रतिपक्ष ससदीय लोकतन्त्र का प्राण है। प्रतिपक्ष के अभाव मे कायपालिका का उत्तरदायित्व नाम मात्र का बनकर रह जाता है। अधिनायकवादी (नाजीवादी फासीवादी) और लोकतान्त्रिक राज्यो म यही अन्तर है कि जहा अधिनायकवाद मे प्रतिपक्ष मृतक' होता है या जेल' म होता है वहाँ लोकतन्त्र मे वह ससद म विद्यमान होता है तथा उसे क्रियाशील बनाता है।

प्रतिपक्ष का मुख्य कतव्य सरकार की नीतियो की आलोचना करना है। जिसस सरकार सावधान बनी रहे तथा मनमानी न कर सके। अत प्रतिपक्ष सोजर-

1 - Kothari, Rajni Ibid, p 221

यही कारण है कि राज्य स्तर पर तो विरोधी दलो (प्रतिपक्ष) का विकास हुआ है परन्तु केन्द्रीय स्तर पर प्रतिपक्ष अनुपस्थित है। इसके अतिरिक्त, क्षेत्रीय, दलो का विकास राष्ट्रीय दलो की कीमत पर हुआ है। दलीय राजनीति के क्षेत्रीकरण ने काग्रेस के प्रभुत्व को सुदृढ किया है और प्रतिपक्ष को, कम से कम केन्द्र मे निबल किया है। (v) यद्यपि राज्यो म 1967 के चुनावो मे प्रतिपक्ष को सत्ता के लाभो को भोगने का अवसर मिला परन्तु केन्द्र मे यह सवदा सत्ता से वचित रहा है। राज्यो मे सत्तारूढ रहने पर भी प्रतिपक्ष अपनी चुनाव अनुगामिता (election following) का विकास करने मे असफल रहा है। चुनावो म उसने अपने मतो को काटा है। सन् 1971 के लोक सभा और 1972 के राज्य विधान सभाओ के निर्वाचन परिणामो ने प्रतिपक्ष को इतना हतोत्साहित किया कि वह लोप (extinction) की स्थिति मे पहुँच गया।

**भारत मे प्रतिपक्ष की भूमिका**—यह सत्य है कि भारत मे प्रतिपक्ष बुरी तरह विभक्त है, यह भी सत्य है कि वह निबल है परन्तु फिर भी वह निर्जीव या निष्क्रिय नही रहा और उसके विरोध की रीतिया "अडगा" की न होकर राष्ट्रीय उद्देश्यो से प्रेरित रही हैं। यद्यपि अनेक बार प्रतिपक्ष का व्यवहार असंसदीय रहा है (सत्तारूढ दल के व्यवहार को भी शुद्ध ससदीय व्यवहार नही कहा जा सकता) और सगठन मे 'शोर मचाने', अध्यक्ष के आदेशो की उल्लघना करने, आदि की घटनायें हुई हैं फिर भी विवादो का स्तर निम्न नही रहा।

प्रतिपक्ष ने सरकार की नीतियो को अनेक माध्यमो से प्रभावित करने का प्रयास किया है। उदाहरणतया बजट प्रस्तावो और विदेशी नीति पर वाद विवाद के समय प्रतिपक्ष की भूमिका पर्याप्त रही है। लोक सभा मे प्रश्नो पूरक प्रश्नो वाद विवादो, स्थगन प्रस्तावो, निन्दा प्रस्तावो तथा अविश्वास के प्रस्तावो द्वारा सरकार की कडी आलोचना की है उसकी त्रुटियो का प्रचार किया है, उसकी उपलब्धियो पर आक्षेप किये है, आदि। परामशदात्री समितियो मे भी प्रतिपक्ष की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। सरकार ने भी प्रतिपक्ष की सवदा उपेक्षा नही की (यद्यपि नेहरू के शासन काल की तुलना म इन्दिरा गांधी के शासन काल मे प्रतिपक्ष की अधिक उपेक्षा की गयी है) और भारत रक्षा अधिनियम, निवारक निरोध अधिनियम हिन्दू कोड बिल और आन्तरिक सुरक्षा अधिनियमो के निर्माण के समय प्रतिपक्ष द्वारा प्रस्तुत किये गये सशोधनो का आदर किया गया है। हाल ही मे प्रतिपक्ष ने जिस दृढता से 'मीसा मे सशोधन' के विधेयक का ससद मे विरोध किया उससे मन्त्रि मण्डल को विधेयक वापस लेना पडा। यह प्रतिपक्ष की दृढता और साहस का द्योतक है।

भारत मे प्रतिपक्ष की एक विशेषता यह रही है कि उसने सरकार पर बाहर से इतना प्रत्यक्षत प्रभाव नही डाला जितना कि उसने काग्रेस के अन्दर विद्यमान गुटो को प्रभावित कर काग्रेस के अन्दर से उसकी नीतियों और उद्देश्यो को प्रभावित

करन की कोशिश की है। अनेक व्यवस्थाओं में तो कांग्रेस के आंतरिक गुट न विरोधी दल के रूप में काय किया है। क्योंकि भारत में प्रतिपक्ष के दलों का विकास कांग्रेस से पृथक होने पर हुआ है अत कांग्रेस के अन्दर उनके कुछ प्रतिबिम्ब विद्यमान रहते हैं जिन्हे विरोधी दल प्रभावित करने की कोशिश करते हैं।

चौथे चुनाव (1967) के बाद जब राज्यो मे मिली-जुली सरकारो का निर्माण किया गया तो केन्द्र ने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल न राज्यो के संयुक्त मन्त्रिमण्डलों के विचारो को सन्तुलित और समायोजित करने का प्रयास किया। वस्तुत केन्द्र की कांग्रेसी और राज्यो की गैर कांग्रेसी सरकारो मे 'काय के सम्बन्ध (working relationships) उत्पन्न हो गये जिससे प्रशासन मे विरोधी दलो के दृष्टिकोणों को अधिक महत्व दिया गया। इतना ही नही, केन्द्र के मन्त्री राज्यो के गैर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के नेताओ, जैसे उत्तरप्रदेश के चौधरी चरण सिंह उडीसा के आर० एन० सिंह देव और द्रमुक के अन्ना का विश्वास प्राप्त कर सकने मे सफल हुए हैं। राज्यो के गैर-कांग्रेसी मुख्य मन्त्रियो न भी केन्द्र से अपनी आंतरिक समस्याओ की परिचर्चा की।

## संयुक्त (मिली-जुली) सरकारें
### (Coalition governments)

**अर्थ (Meaning)**—जब राजनीतिक दल, समुदाय या शक्तियां विशिष्ट प्रयोजनो के लिये पारस्परिक संयोग करती हैं, तो उन्हें संयुक्त क्रिया कहते हैं और जब यह संयुक्त क्रिया शासन सत्ता को प्राप्त कर सरकार का निर्माण करती है तो उसे संयुक्त या मिली जुली सरकार कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, संसदीय या निर्वाचकीय प्रयोजनो के लिये जब कोई बडा दल छोटे दलो से मिलकर या छोटे दल आपस मे मिलकर शासन सत्ता को सम्भालते है तो उसे संयुक्त या मिली-जुली सरकारें कहते हैं। संयुक्त राजनीतिक क्रिया का उद्देश्य केवल सत्ता प्राप्त करना ही नही होता इसका उद्देश्य संयुक्त होकर किसी सत्तारूढ दल को सत्ता से अपदस्थ या पदच्युत करना भी हो सकता है।

**भारत मे संयुक्त या मिली जुली सरकारें**—भारत मे मिली-जुली सरकारो का इतिहास सन् 1967 के चौथे चुनाव से ही शुरू होता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि चौथे चुनाव से पूर्व भारत मे मिली जुली सरकारो की स्थापना नही की गयी थी। वस्तुत भारत के संघ राज्यो मे केरल राज्य ऐसा राज्य रहा है, जहा के निर्वाचको ने उसकी स्थापना के समय से लेकर अब तक कभी किसी एक राजनीतिक दल को राज्य विधान सभा मे पूर्ण बहुमत प्रदान नही किया। फिर भी भारतीय राजनीति के इतिहास मे सन 1967 से 1971 का काल ही संयुक्त सरकारो का काल जाना जाता है। क्योंकि इस काल मे ही चौथे चुनाव परिणामो के फलस्वरूप एक दलीय प्रभुता झकझोर दी गयी और अनेक राज्यो में मिली जुली सरकारों का निर्माण किया गया। मिली जुली सरकारो का निर्माण केवल प्रतिपक्ष के दलो न

मिल कर ही नही बल्कि कांग्रेस ने निर्दलीय सदस्यों और साम्यवादियों और मुस्लिम लीग के साथ मिल कर भी मिली जुली सरकारों का निर्माण किया।

भारत में मिली जुली सरकारों का अनुभव अच्छा नहीं रहा।[1] इसके अनेक कारण थे। प्रथम जिन राजनीतिक दलों या समूहों ने सयुक्त सरकारों का निर्माण किया उनमें कोई सैद्धांतिक या रचनात्मक कार्यक्रम में सनक्यता नही थी। उनका गठबंधन तो इस नकारात्मक तथ्य पर आधारित था कि 'कांग्रेस को पदच्युत किया जाय" जसाकि ई० एम० एस० नम्बूदरी पाद ने (जो 1966 में केरल सयुक्त फ्रंट के मुख्य निर्माता थे) ने कहा था कि "आगामी सामान्य चुनाव में कांग्रेस को पदच्युत करना ही सारी राजनीतिक बुराइयों और पार्थिव सकटों का इलाज है।' यही कारण है कि जब कभी सयुक्त सरकारों के पक्षकारों में छोटी सी बात पर भी मतभेद हुए तो "कागज पर बना' और "रेत के ढर पर खडा' ढाचा नष्ट भ्रष्ट हो गया। दूसरे शब्दों म सयुक्त सरकारें सिद्धान्तहीन होने से अस्थिर और अल्पकाल तक ही जीवित रही। दूसर, सयुक्त सरकारों ने दल बदल (defection) और पक्ष परित्याग (floor crossing) की दूषित राजनीति को जन्म दिया जो अवसरवादिता, पद लोलुपता धन प्रलोभन पर आधारित थी। इन्ही सयुक्त सरकारों ने अनुत्तरदायी नेतृत्व, अवसरवादी राजनीति, अस्थिर राजनीति, सम्भ्रान्ति राजनीति (politics of confusion) पर भ्रष्ट राजनीति, सक्रमण राजनीति (politics of transition), विवर्ती मन्त्रियो की राजनीति, आयाराम गयाराम की राजनीति आदि को जन्म दिया। तीसरे मिली-जुली सरकारों की राजनीतिक अस्थिरता ने प्रशासनिक अकमण्यता और भ्रष्टाचार को जन्म दिया जिसने आर्थिक प्रगति को अवरुद्ध किया। दूसरे शब्दों में मिली-जुली सरकारों के काल म सार्वजनिक हित की योजनायें ठप्प हो गयी और कुर्सी बचाने में ही तथा मन्त्रियों के पारस्परिक सघर्ष म ही प्रशासन का सारा समय और शक्ति व्यतीत हो गयी। स्वार्थपरता राजनीतिक सौदेबाजी विधायकों का नतिक पतन मन्त्रिमण्डलो का अनुचित विस्तार इन मिली जुली सरकारों की मुख्य विशेषतायें थी।

**सयुक्त मिली जुली सरकारों के उदाहरण**—भारत मे राजनीतिक दलों न निर्वाचनों से पूर्व और निर्वाचनों के बाद अनेक प्रकार के सगठन किये जिन्हे सयुक्त *मोर्चो, सयुक्त फ्रटो महान गठबन्धनो, जनता मोर्चो आदि की सज्ञा दी जाती है।* इनके उदाहरण मुख्यतया निम्न हैं—

1 **तामिलनाद**—चौथे चुनाव के समय डी० एम० के० ने 9 राजनीतिक दलों के एक सयुक्त मोर्चे (united front) का निर्माण किया। इस मोर्चे में शामिल होने वाले पक्षकार थे डी एम के स्वतन्त्र दल, मार्क्सवादी, मुस्लिम लीग, ससोपा

---

1 विस्तृत वर्णन के लिए 'भारतीय राजनीति का स्वरूप और उसके निर्धारक तत्वों' के अध्याय का अध्ययन कीजिए।

प्रमोपा, "हम तामिल', तामिल अराश मजगम, फारवड ब्लाक। चौथे चुनाव म इस सयुक्त मोर्चे ने कांग्रेस को जो बडा मुकाबला दिया वह स्वय म एक एतिहासिक घटना बन कर रह गयी है इस चुनाव मे तामिलनाद कांग्रेस की पराजय और डी एम के की विजय अद्वितीय, नाटकीय और सनसनी थी। राज्य विधान सभा म कांग्रेस को केवल 49 स्थान प्राप्त हुए जबकि डी० एम० के० को अकेले 138 स्थान प्राप्त हुए। इतना ही नही डी० एम० के० ने लोक सभा के लिये जिन 25 स्थाना के लिये प्रत्याशी खडे किय थे उन सब पर उसने विजय प्राप्त की। भारत के निर्वाचन मे यही एक मात्र उदाहरण है जब किसी दल ने जितने उम्मीदवार खडे किय उतना पर ही उसे विजय प्राप्त हुई हो। सन् 1967 से डी० एम० के० तामिलनाद मे सत्ता मे है।

2 केरल—भारत के राज्यो मे केरल राज्य ही एक ऐसा राज्य है जिसके निर्वाचको ने, जब से केरल राज्य की स्थापना हुई है किसी एक दल को विधान सभा मे बहुमत प्रदान नही किया। यही कारण है कि केरल मे जितनी बार सवैधानिक सकट उत्पन्न हुए हैं उतने किसी अन्य राज्य म नही हुए। यहाँ पर ही 'राष्ट्रपति शासन' (president rule) का बोलबाला रहा है। अप्रेल 1957 मे ई० एम० एस० नाम्बूदरी पाद के नेतृत्व मे साम्यवादियो ने सरकार का निर्माण किया परन्तु यह शासन 31 जुलाई, 1959 तक रहा। राष्ट्रपति शासन के कुछ काल बाद 1960 म फिर चुनाव हुए। अब कांग्रेस ने प्रसोपा (P S P) और मुस्लिम लीग के साथ मिलकर त्रिगुट (triple alliance) का निर्माण किया जिसे चुनाव मे 127 स्थाना म 94 स्थान मिले। ए थानू पिल्ले की सरकार 1964 तक काय करती रही। परन्तु सितम्बर 1964 म कुछ असन्तुष्ट कांग्रेसी सदस्यो द्वारा पक्ष-त्याग स जब विधान सभा मे सरकार पराजित हो गयी तो उसे त्याग पत्र देना पडा। राज्य मे राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। सन 1965 के निर्वाचन मे किसी दल को बहुमत नहीं मिला अत राष्ट्रपति शासन जारी रखा गया। जो चौथे चुनाव तक रहा। सितम्बर 1966 मे केरल मे 7 गैर कांग्रेसी दलो के सामान्य नीति क आधार पर सयुक्त मोर्चे को जन्म दिया जिसे 1967 के चुनावा म आश्चर्यजनक सफलता मिली। इस चुनाव मे कांग्रेस केरल मे पूर्णतया अग भग हो गयी। विधान सभा मे इसे केवल 9 स्थान प्राप्त हुए जबकि फ्रट को 113 स्थान प्राप्त हुए। लोक सभा के 19 स्थाना मे से कांग्रेस को 1 और फ्रट को 18 स्थान प्राप्त हुए। परन्तु यह फ्रट भी बहुत देर तक जीवित न रह सका और अक्तूबर 1969 म मन्त्रियो पर भ्रष्टाचार के आरोपो की जाच के प्रश्न पर नम्बूदरी पाद ने त्याग पत्र दे दिया। नवम्बर 1969 मे अच्युत मेनन की सरकार का निर्माण हुआ परन्तु मार्क्सवादियो की अडगा नीति के फलस्वरूप यह मन्त्रिमडल जन 1970 तक ही काय कर सका है। स्पष्ट है कि केरल राज्य मे जितने भी सयुक्त मन्त्रिमण्डला का निर्माण किया गया व सब ताश महलो के पत्तो की भांति गिरते थे अत व अस्थिर रहे।

3 बगाल—बगाल म सयुक्त फ्रटा का इतिहास द्वितीय चुनाव से ही शुरू हो जाता है जब वामपन्थी दलो ने मिलकर सयुक्त फ्रट का निर्माण किया परन्तु निर्वाचन मे उसे सफलता नही मिली और काग्रेस की सरकार ी। तीसरे चुनाव मे भी वामपन्थी दलो ने सयुक्त मोर्चा बनाया परन्तु इस बार भी काग्रेस को ही विजय मिली। इस चुनाव मे वामपन्थी दलो का नारा था "प० बगाल मे वकल्पिक सरकार।' परन्तु इस चुनाव के बाद काग्रेस आन्तरिक गुटो के कारण विभक्त हो गयी और असन्तुष्ट काग्रेसियो ने अजय मुखर्जी के नेतृत्व मे बगला काग्रेस का निर्माण किया। यद्यपि 1967 के चुनाव से पूर्व वामपन्थियो, बगला काग्रेस तथा अन्य दलो ने मिल कर विशाल जन प्रदशन किय थे पर तु उनका निर्वाचन से पूर्व कोई सयुक्त मोर्चा न बन सका। चौथे चुनाव मे काग्रेस, अन्य राज्यो की भाति प० बगाल मे भी पराजित हुई। चुनाव परिणामो की घोषणा होने के 24 घण्टो के भीतर ही प्रतिपक्ष के दलो ने अजय मुखर्जी को मतक्यता से अपना नेता चुन लिया और 18 सूत्री काय क्रम की घोषणा कर दी।[1] परन्तु सयुक्त मोर्चे की यह सरकार केवल 9 महीने तक ही काय कर सकी और राज्य पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। पजाब, बिहार और उत्तरप्रदेश राज्यो के साथ प० बगाल मे भी जनवरी 1969 मे चुनाव कराये गये। इस बार निर्वाचन से पूर्व ही सयुक्त मोर्चे का निर्माण कर दिया गया था। चुनाव म मोर्चे को बहुमत प्राप्त हुआ। फ्रट को 283 स्थानो मे से 218 स्थान प्राप्त हुए। यद्यपि मोर्चे ने सरकार का निर्माण किया परन्तु मोर्चे के पक्षकारो मे भिन्नता उत्पन्न होने से (विशेषत मुख्य मन्त्री अजय मुखर्जी और गृह मन्त्री ज्योति बसु मे) मोर्चा छिन्न भिन्न होने लगा। इस बीच राज्यपाल धर्मवीर ने मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किये गये गवनर के भाषण से उन दो पराग्राफो को निकाल दिया जिनमे राज्यपाल और केन्द्रीय सरकार पर आक्षेप किये गये थे। इससे मन्त्रिमण्डल और गवनर के सम्बन्धो मे भी तनाव उत्पन्न हो गया। परिणामस्वरूप गवनर धर्मवीर को वापस बुला लिया गया और धवन को प० बगाल का गवनर नियुक्त कर दिया गया। पर तु यह परिवर्तन फ्रट के आन्तरिक भेदो को समाप्त न कर सका और राज्य मे अव्यवस्था बढने लगी। परिणामस्वरूप 1970 मे प० बगाल मे राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। माच 1971 मे फिर चुनाव हुए जिसमे मार्क्सवादियो को 108 और काग्रेस को 105 स्थान प्राप्त हुए। दोनो ने मिलकर अजय मुखर्जी के नेतृत्व मे लोकतान्त्रिक मिली जुली सरकार (democracy coalition government) का निर्माण किया। पर तु यह सरकार भी बहुत देर तक काय न कर सकी। इसी बीच बगला देश की समस्या उत्पन्न होने व शरणार्थियो की समस्या भी उत्पन्न हो गयी। अत

---

1 इस सयुक्त मोर्चे मे शामिल होने वाले अनेक दल थे जसे मा- वादी, बगला काग्रेस, क्रान्तिकारी समाजवादी दल, ससोपा एकता के द्र, वकस पार्टी, फारवड ब्लाक, प्रसोपा आदि।

सरकार ने त्याग पत्र दे दिया और राज्य पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। सन् 1972 के चुनाव में कांग्रेस सत्ता में आ गयी जो अब तक शासन कर रही है।

4 पंजाब—पंजाब भी चौथे चुनाव के बाद संयुक्त सरकार के अधीन आ गया। यद्यपि इस चुनाव में भी कांग्रेस को अकेले सबसे अधिक स्थान मिले थे परन्तु प्रतिपक्ष के दल उसके साथ मिलना नहीं चाहते थे। परिणामस्वरूप गुरनामसिंह के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चे की सरकार का निर्माण हुआ। इस संयुक्त मोर्चे में शामिल होने वाले थे अकाली दल (संत फतेहसिंह ग्रुप और मास्टर तारासिंह ग्रुप), दोनों साम्यवादी दल, जनसंघ, रिपब्लिकन पार्टी, संसोपा और 6 निर्दलीय। परन्तु शीघ्र ही कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत अविश्वास के प्रस्ताव के पास होने से (फ्रंट में दल बदल होने के कारण) संयुक्त मोर्चे की सरकार गिर गयी। 1967 में ही लछमणसिंह गिल ने कांग्रेस सहयोग से सरकार का निर्माण किया परन्तु यह सरकार भी टिकाऊ सिद्ध नहीं हुई। अतः राष्ट्रपति शासन के कुछ काल बाद 1969 में मध्यावधि चुनाव हुए। चुनाव के बाद फिर गुरनामसिंह के मंत्रिमण्डल का निर्माण हुआ, परन्तु क्योंकि उन्हें अकाली दल ने नेतृत्व से हटा दिया था अतः प्रकाशसिंह बादल की सरकार बनी परन्तु वह भी टिकाऊ न हो सकी। अतः जून 1971 में प्रकाशसिंह बादल ने त्याग पत्र दे दिया और राज्य पर राष्ट्रपति शासन लागू हो गया। 1972 के चुनावों में कांग्रेस विजयी हुई अतः ज्ञानी जैलसिंह के नेतृत्व में उसी की सरकार आज वहाँ विद्यमान है।

## समीक्षा प्रश्न
## (Review Questions)

1 'भारतीय राजनीति में पूर्व और पश्चिम की राजनीतिक संस्थाओं का मिश्रण है' क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? कारण लिखिये।

2 'भारतीय राजनीति की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं आधुनिकता, परम्परा और साधुता' (मोरिस जोन्स) इस कथन के संदर्भ में भारतीय राजनीति की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

3 "प्रजातान्त्रिक राजनीति के मूल्यों और साधनों को अपनाते हुए भी भारतीय समाज में जाति केन्द्रीय स्थान ग्रहण किये हुए है" (प्रो० रुडोल्फ) व्याख्या कीजिये।

4 भारतीय राजनीति में जाति और राजनीति एक दूसरे पर क्रियायें और प्रतिक्रियायें करती रहती हैं।' व्याख्या कीजिये।

5 भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन कहाँ तक उचित है ? इस सम्बन्ध में क्या नीति रही है ?

6 "आधुनिक भारत में गम्भीर निराशा करने वाली समस्या भाषा की समस्या है" आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

7 "अनेक विघटनकारी तत्वो के बाद भी भारतीय प्रजातन्त्र सबल है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? व्याख्या कीजिये।

8 भारत मे ससदात्मक प्रजातन्त्र कहाँ तक सफल है ?

9 "दल-बदल अवसरवादी राजनीति है। इस कथन के सदभ मे दल बदल राजनीति के अर्थ को स्पष्ट करते हुए राजनीति पर उसके प्रभावो का उल्लेख कीजिये।

10 आन्दोलन की राजनीति (politics of agitation) से आप क्या समझते हैं ? क्या विरोध का यह सवैधानिक तरीका है ?

11 "प्रतिपक्ष निबल होते हुए भी निर्जीव नही। इस कथन के सदभ मे भारतीय राजनीति मे प्रतिपक्ष (opposition) की भूमिका का उल्लेख कीजिये।

12 "मिली जुली सरकारे ससदीय प्रणाली की विचारधारा के विपरीत है।' सन 1967–71 के अनुभवो, विशेषकर बिहार, उत्तरप्रदेश, केरल, पश्चिमी बगाल के अनुभवो का उदाहरण देते हुए उक्त कथन की व्याख्या कीजिये।

पुस्तक 5

# राजनीतिक दल प्रणाली और दबाव समूह

**(The Party System and Pressure Groups)**

1 राजनीतिक दल प्रणाली

2. दबाव समूह

अध्याय **1**

# राजनीतिक दल प्रणाली
## (The Party System)

"राजनीतिक दल लोकतन्त्र के साधन और सन्देश वाहिका हैं"

**दलों का अर्थ और लोक तन्त्र मे महत्व**—राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियो का सगठित समूह है जो सार्वजनिक समस्याओ पर समान विचार रखते हैं, जो मूल भूत सिद्धान्तो पर सहमत हैं, जिनके राष्ट्रीय उद्देश्य हैं और जो सामूहिक प्रयास द्वारा शासन सत्ता को सवैधानिक साधनो द्वारा प्राप्त करने की कोशिश करते हैं तथा घोषित नीतियो को कार्यान्वित करने का प्रयास करते हैं। दूसरे शब्दो मे, दल, जैसाकि लीकॉक ने कहा है, "एसी सयुक्त पूँजी-कम्पनी है जिसमे प्रत्येक सदस्य अपनी राजनीतिक शक्ति का अश प्रदान करता है।' बर्क के अनुसार "राजनीतिक दल उन व्यक्तियो का समूह है जो किसी विशेष सिद्धान्त के अनुसार अपने सयुक्त श्रम से राष्ट्रीय हितों की उन्नति करना चाहते हैं।" स्पष्ट है कि राजनीतिक दलो के निर्माण के लिये व्यक्तियो के समूह और सगठन, उनमे सैद्धान्तिक मतक्यता राष्ट्रीय हित और सवैधानिक साधन आवश्यक तत्व हैं। क्योकि समाज मे सार्वजनिक समस्याओ के प्रति व्यक्तियो के दृष्टिकोण, उनके उपागम (approaches) भिन्न भिन्न होते हैं अत भिन्न भिन्न राजनीतिक दलो का विद्यमान होना स्वाभाविक है।

लोकतन्त्र मे राजनीतिक दलो का अस्तित्व अपरिहार्य है। वस्तुत लोकतान्त्रिक सरकारो की कल्पना राजनीतिक दलो के बिना की ही नही जा सकती। किसी ने भी यह बताने का प्रयास नही किया कि प्रतिनिध्यात्मक सरकार राजनीतिक दलो के बिना किस प्रकार कार्य कर सकती है। लोवेल (Lowell) ने ठीक लिखा है कि "किसी महान् राष्ट्र म सम्पूर्ण जनता द्वारा सरकार की धारणा निस्सन्देह एक मन गढ त कल्पना है। क्योकि जहाँ कही मताधिकार विस्तृत है वहा दलो का अस्तित्व निश्चित है और नियन्त्रण वास्तविक रूप म उस दल क हाथो म ही होगा जिसका बहुमत होगा अर्थात् जिसके पक्ष मे मतधारण का बहुमत होगा।"

दल लोकतन्त्र के साधन और आधारशिला हैं। दल उनके 'प्राण', 'हृदय' और 'आत्मा' हैं। ये लोकतान्त्रिक यन्त्र म उपस्नेहन तेल तुल्य (lubricating oil)

हैं। ये शासन के चतुर्थ अंग हैं। लोकतान्त्रिक राज्यो मे निर्वाचन, दलीय निर्वाचन होता है, नीतियां दलीय होती हैं, सरकार का निर्माण दलीय आधार पर होता है। निर्वाचन के लिए प्रत्याशी दल के आधार पर खड़े किये जाते हैं, उनके लिए प्रचार दल करता है, चुनाव खर्च दल करता है, उनके लिये निर्वाचन घोषणा पत्र (election manifesto) दल ही निकालते हैं, जिसके आधार पर मतदाता प्रत्याशियों को मत देते हैं, इन्ही दलीय घोषणा पत्रो के आधार पर प्रत्याशी निर्वाचन जीतते है तथा ससद मे दलीय नीतियो का समर्थन करते हैं। स्पष्ट है कि प्रारम्भ से अन्त तक लोकतान्त्रिक सरकार दलीय सरकार है। मेकाइवर ने ठीक लिखा है कि राजनीतिक दलो के बिना "सिद्धान्त का एक सा विवरण, नीति का व्यवस्थित विकास, ससदीय चुनावो की वैधानिक विधि को नियमित रूप से ग्रहण नही किया जा सकता और न ही किसी प्रकार की स्वीकृत संस्थाये हो सकती हैं जिनके द्वारा कोई दल शक्ति प्राप्त करना चाहता है या उसे स्थिर रखना चाहता है।"[1]

दल ही पक्ष और विपक्ष दोनो होते है। बहुमत प्राप्त दल सरकार का निर्माण करता है और अल्पमत प्राप्त दल जन हित के आधार पर उसकी नीतियो की आलोचना करता है। अत दल शासन का रक्षक, आलोचक और सुधारक है। दल जहा सत्तारूढ दल को निरकुश होने से बचाते हैं वहा नागरिको की स्वतन्त्रता की रक्षा भी करते हैं, इस दृष्टि से दल स्वतन्त्रता के प्रहरी हैं। दल ही नागरिको की शिकायतें ससद मे प्रस्तुत करते हैं और उन्हे दूर कराने का प्रयास करते हैं। इस तरह दल सीजरतन्त्र (caesarism—निरकुशता) से नागरिको की रक्षा करते हैं। जैसाकि जनिग्स ने लिखा है "जब तक विपक्ष विद्यमान है अधिनायक तन्त्र हो ही नही सकता"।

दल विचारो और सिद्धान्तो मे मतैक्यता उत्पन्न करते हैं विचारो के दलाल के रूप मे कार्य करते हैं और उदासीन एव अनभिज्ञ मतदाताओ को शिक्षित, जागरूक एव क्रियाशील बनाते हैं। दल ही जटिल राजनीतिक समस्याओ को सरल रूप मे जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं और राष्ट्रीय विषयो पर जनमत का निर्माण करते है। दल ही अमूर्त मतदाताओ को मूर्त बनाते हैं जैसाकि ब्राइस ने लिखा है कि "दल मतदाताओ के समूह की अराजकता मे से व्यवस्था पैदा करते हैं।" इस तरह दलो के अभाव मे मतदाता या तो निष्क्रिय हो जायगे या विनाशकारी। दल ही सरकार, ससद और जनता के बीच कडी का काम करते है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राजनीतिक दल लोकतान्त्रिक सरकार के लिये अपरिहार्य है, लोकतान्त्रिक सरकार दलीय सरकार होती है और समुद्र मे ज्वार भाटे की तरह लोकतान्त्रिक शासन मे उनका स्थान निश्चित है।

1 MacIver The Modern State, p 396

## भारतीय राजनीतिक दलो की प्रकृति
## (The nature of Indian Political Parties)

**भूमिका या विकास (Introduction or development)**—विश्व के प्रत्येक लोकतान्त्रिक राज्य मे दलीय प्रणाली की प्रकृति (स्वरूप) देश की राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो और आवश्यकताओ के अनुरूप होती है। भारतीय दलीय प्रणाली इसका अपवाद नही है।

भारत मे राजनीतिक दलो के विकास की प्रक्रिया पश्चिमी देशो मे दलो के विकास की प्रक्रिया से भिन्न रही है। उदाहरणतया जहा यूरोप म वर्ग विशेष ने सत्तारूढ कुलीनतान्त्रिक वर्ग को अपदस्थ करने के लिये दलो का निर्माण किया वहा भारत मे राष्ट्र के सभी वर्गों ने (पूजीपति, मध्यम वर्ग, मजदूर वर्ग), जो कांग्रेस के अन्तर्गत सगठित थे, विदेशी शासन का मिल कर विरोध किया क्योंकि सभी इस सामान्य उद्देश्य से प्रेरित थे कि देश स्वतन्त्र हो। दूसरे, जहा यूरोप मे दलो का निर्माण विचारधारा और तार्किक मीमासा का परिणाम था वहा भारत मे दलो का निर्माण विदेशी शासन का अन्त करने और सामाजिक पुनरुत्थान के लिये हुआ था। सभी दल देश की परिस्थितियो को सुधारना चाहते थे।[1] स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब कांग्रेस ने, जो स्वतन्त्रता आन्दोलन के काल मे राष्ट्रीय सगठन था, अपने आपको राजनीतिक दल मे सगठित कर लिया तो कांग्रेस के अन्दर विद्यमान विरोधी समूह उससे पृथक हो गये और उसका विरोध करने लगे। इस तरह भारत मे दलो का विकास पृथक विचारधारा के आधार पर कांग्रेस से बाहर नही हुआ बल्कि कांग्रेस से ही हुआ है। उदाहरणतया भारतीय समाजवादी (प्रसोपा, ससोपा, समाजवादी दल), साम्यवादी आदि कांग्रेस के अन्दर विद्यमान कांग्रेस समाजवादी दल (CSP) के ही वशज (descendant) है। जन सघ के सस्थापक डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी नेहरू मन्त्रिमण्डल (कांग्रेस मन्त्रिमण्डल) के सदस्य थे। स्वतन्त्र दल के सस्थापक राजाजी, मिनू मसानी आदि किसी समय कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ताओ मे थे। वर्तमान मे अनेक दलो का निर्माण —जैसे केरल कांग्रेस, भारतीय क्रान्ति दल (BKD), बगला कांग्रेस, उत्कल कांग्रेस (बीजू पटनायक का प्रगति दल), *हरियाणा कांग्रेस आदि असन्तुष्ट एव असहमत कांग्रेसियो द्वारा ही किया गया है।* इस तरह भारत मे दलो का विकास पृथक या स्वतन्त्र विचारधारा के आधार पर *नही हुआ बल्कि कांग्रेस से ही हुआ है। तीसरे यूरोप मे नागरिको को वयस्क* मताधिकार प्राप्त करने के लिए पर्याप्त सघर्ष करना पडा। परन्तु भारतीय नागरिको को वयस्क मताधिकार के लिये कठोर सघर्ष नही करना पडा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही उन्हे यह अधिकार प्राप्त हो गया। अत वे इसका प्रयोग उस सावधानी से नही करते जिस सावधानी और विवेक से यूरोपीय मतदाता इसका प्रयोग निर्वाचन के समय करते हैं। भारतीय मतदाता निर्धन, अशिक्षित और पिछडा हुआ है। उस पर परम्परा जाति, धर्म आदि का अत्यधिक प्रभाव है। यह आज भी

1 See Kothari Rajni Politics in India p 153

शासको को 'देवता' के रूप मे देखता है और उसके 'दर्शनो का अभिलाषा रहता है। भारत मे व्यक्ति पूजा अत्यधिक है। शासको का विरोध 'पाप और अधम' समझा जाता है यह स य है कि पिछले वर्षो मे हुए निर्वाचनो ने भारतीय मतदाता को जागरूक किया है और वह इस अधिकार के प्रति सचेत भी प्रतीत होता है पर तु आज भी उसमे वचारिक परिपक्वता का अभाव है, उसमे अनिश्चितता और न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति न होने क कारण, निराशा और हताशा (frusration) है।

## भारतीय राजनीतिक दलो की विशेषताए (लक्षण)
## (Features or attributes of Indian political parties)

भारतीय राजनीतिक दलो की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं —

1 **बहुदलीय प्रणाली (Multi party system)**—भारत एक लोकतान्त्रिक देश है। इसका सविधान साम्यवादी देशो के सविधानो की भाति किसी एक दल को मान्यता प्रदान नही करता और पश्चिमी लोकतान्त्रिक देशो की भाति विशेष कर ब्रिटेन की भाति, यहा द्वि दलीय प्रणाली का विकास नही हुआ। भारतीय सविधान सभी को विचारो की अभिव्यक्ति की स्वतत्रता और सघ, सगठन और समूह की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। भारत एक बहु सस्कृतियो, बहु जातियो, बहु धर्मो, बहु भाषाओ वाला देश भी है। ये सस्कृतियाँ और जातियाँ अपनी पृथक पहचान (separate identity) को बनाये रखना चाहती हैं। अत भारत मे बहु राजनीतिक दलो का होना स्वाभाविक है। यहाँ अनेक अखिल भारतीय, क्षेत्रीय तदथ और क्षालर राजनीतिक दल विद्यमान है। कुल मिलाकर भारत मे 50 से भी अधिक राजनीतिक दल हैं। प्रमुख दल हैं—अखिल भारतीय काग्रेस (अब इसके दो सगठन हैं सत्तारूढ काग्रेस और सगठन काग्रेस), प्रसोपा (PSP), ससोपा (SSP), समाजवादी दल, (SP साम्यवादी दल (CPI, CPI (M), CPI (M L), जनसघ, स्वतत्र दल भारतीय लोक दल (BLD), द्रमुक (DMK), अकाली दल मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा राम राज्य परिषद, बगला काग्रेस, उत्कल काग्रेस (बीजू पटनायक की प्रगति पार्टी) केरल काग्रेस, हरियाणा काग्रेस झारखण्ड (हल) दल रिपब्लिकन दल आल पार्टी हिल लीडर्स कान्फ्रेन्स (APHLC), किसान मजदूर और पक्ष, आदि। अनेक दल निर्वाचन के समय स्थानीय नेतृत्व के इद गिद उत्पन्न होते है और निर्वाचन के बाद राजनीतिक रगमच मे ओझल हो जाते हैं। दलो का उदगम और पतन काग्रेस के आशीर्वाद और अभिशाप पर भी निर्भर रहा है।

2 **एक दल प्राधान्य प्रणाली (One party dominant system)**—भारत मे बहुदलीय प्रणाली होते हुए भी भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली म एक दल का प्राधान्य रहा है। जहाँ फ्रा स जसे देशो म बहुदलीय प्रणाली होन से एक दल का सरकार का गठन होना कठिन रहा है वहाँ भारत मे दलो की बहुतायत के बाद भी काग्रेस का, शासन सत्ता पर प्राधान्य रहा है। इस विशेषता को 'एक प्रमुखता

ीय प्रणाली' (one dominant party system) और "एक दल प्राधान्य णाली" (one party dominant system) की संज्ञा दी गयी है। बन्धु १० मेरिस जोन्स, रजनी कोठारी और गोपाल कृष्ण ने अपनी रचनाओं में इसी इपॉलोजी (Typology प्रकार विज्ञान) का प्रयोग किया है। इस टाईपॉलोजी प्रयोग का कारण यह है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से, कम से कम द्र मे, शासन सत्ता पर एक दल (कांग्रेस) का प्राधान्य रहा है। यद्यपि केन्द्र म , 1969 के कांग्रेस विघटन के समय, इसकी प्राधान्यता को चुनौती दी गयी थी तु सत्तारूढ कांग्रेस साम्यवादी, द्रमुक और अकाली दल के समर्थन से इस चुनौती सफलतापूर्वक सामना कर सकी। सन् 1971 के संसदीय चुनावो मे सत्तारूढ ग्रेस फिर पूर्ण बहुमत से निर्वाचनों मे विजयी हुई और उसकी प्राधान्यता बनी रही।

परन्तु राज्य स्तर पर इस टाइपॉलोजी (एक दल प्राधान्य प्रणाली) का ाग अर्द्ध सत्य ही रहा है। राज्य स्तर पर न केवल 1967 के निर्वाचन मे बल्कि े प्राधान्य काल मे भी कांग्रेस को बाह्य और आन्तरिक चुनौतियो का सामना ा पडा। केरल मे 1957 मे ही साम्यवादियो की सरकार बनी थी और 1967 चुनावो ने तो राज्य स्तर पर कांग्रेस के प्राधान्य को झकझोर दिया था। उसे र राज्यो मे विपक्ष मे बैठना पडा। यद्यपि मिली जुली सरकारो का जीवन अल्प ीन ही रहा परन्तु इसके निर्माण ने यह सिद्ध कर दिया कि राज्यो की शासन ' पर उसका एकाधिकार नही। 1972 के निर्वाचनो मे यद्यपि कांग्रेस अधिकांश ों मे पुन सत्ता मे आ गयी परन्तु 'प्रतिद्वन्द्वि प्राधान्यता' (competitive minance) की प्रवृति विद्यमान है। सन् 1967 से तामिलनाड मे द्रमुक की ार है। जून 1975 के गुजरात चुनावो के बाद वहा जनता मोर्चे की सरकार निर्माण हुआ है। रजनी कोठारी ने ठीक लिखा है कि "भारतीय प्रणाली एक प्राधान्य प्रणाली की थी। यह प्रतिद्वन्द्वि दलीय प्रणाली थी जिसमे प्रतिद्वन्द्व दयाँ असमान भूमिका निभा रही थी।"[1]

कांग्रेस को केवल बाहर से ही चुनौतियाँ नहीं दी गयी थी बल्कि उसकी ान्यता को स्वय कांग्रेस के अन्दर से अनेक चुनौतिया दी गयी थी। दल की ान्तरिक गुटबन्दियाँ, दल के अन्दर सत्ता के स्थानो, संगठन और शासन के सम्बन्धो, ान्तरिक दलीय ढाचे और स्थानीय नेतृत्व ने दल के प्राधान्य को अनेक चुनौतियाँ दी।[2] इस तरह कांग्रेस के भीतर पाये जाने वाले गुटो ने ही विरोधी दल की ा का अदा किया। जिस ढंग से उत्तरप्रदेश मे चन्द्रभानु गुप्त ने (UPPCC

---

Kothari Rajni "The Congress 'System in India Asian Survey vol IV (Dec 1969) Also see Kothari Rajni Politics in India ch V

See Kochanek, Stanley A The Congress Party of India The Dynamics of One-Party Democracy

अध्यक्ष) मुख्य मन्त्री सम्पूर्णानन्द को और उडीसा मे पटनायक ने मेहताव को पद त्यागने के लिए बाध्य किया।[1] वह दल प्राधान्य को अभिव्यक्त नही करता बल्कि भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली म असन्तुलन (imbalanc ) को अभिव्यक्त करता है। आज कर्नाटक मे मुख्य मन्त्री देवराज अस और प्रदेश काग्रेस अध्यक्ष एच० के० पाटिल मे गम्भीर मतभेद हैं। पाटिल ने अस पर अनेक आरोप भी लगाये है।

विचारधारा के दृष्टिकोण से तो "एक दल प्राधान्यता' को प्राधा यता की सज्ञा देना भी उचित नहीं क्योकि काग्रेस ने कभी अपने आपको एक विचारधारा से नही बाधा। इसकी मुख्य प्रवृत्ति मध्यम मार्गी रही है, यद्यपि इसमे दक्षिण प थी, वाम पन्थी तत्व सवदा विद्यमान रहे हैं। इसे ठीक ही खुली दलीय प्रणाली (open party system)की सज्ञा दी गयी है। जैसाकि मोरिस जो स ने लिखा है कि काग्रेस खुली दलीय प्रणाली है क्योकि इसमे दूसरे दलों को सगठन बनाने और काय करने की स्वतन्त्रता होती है। आन्तरिक रूप मे भी काग्रेस अनेक विचारो को स्थान देती रही है जैसे दक्षिण पन्थी, वाम पन्थी मध्यम मार्गीय विचारो का।"[2]

3 सुदृढ़ विरोधी दलो का अभाव—ससदात्मक लोकतत्र की सफलता के लिय सुदृढ राजनीतिक दलो की आवश्यकता होती है परन्तु भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली मे इसका अभाव रहा है। विरोधी दल ही सरकार की नीतियो की आलोचना कर सरकार के विकल्प को प्रस्तुत करते हैं। पर तु भारत मे विपक्ष इतना बुरी तरह स विभक्त रहा है कि न तो कोई विरोधी दल अकेले और न सयुक्त रूप से काग्रेस का विकल्प प्रस्तुत करने मे सफल हुआ है। 27 वर्षों के कटु अनुभवो के बाद भी विपक्ष विभक्त है। सन् 1967 मे जब राज्यो मे सयुक्त सरकारो का निर्माण हुआ तो यह आशा की जाती थी कि सगठित विरोधी दलो का विकास होगा पर तु ये आशायें पूण नही हुई। सन् 1974 मे सात दलो के विलय से भारतीय लोक दल (B L D ) का उदय अवश्य हुआ है पर तु वह काग्रेस को चुनौती देने मे असमर्थ है। उनकी चुनाव अनुगामिता ही नगण्य है।[3] यद्यपि 1975 मे गुजरात चुनावो से पूव फेडरल पार्टी के विचार को जन्म दिया गया पर तु अभी वह गर्भस्थ अवस्था मे ही है। जब तक विरोधी दल अपनी पृथक पहचान को बनाये रखना चाहेगे तब तक

1 See Morris Jones, W H : The Government and Politics of India, p 206

2 See Morris Jones W H 'Parliament and Dominant Party Indian Experience Parliamentary Affairs, Dec 1964 pp 296 307

3 जून 1975 के गुजरात राज्य विधान सभा के निर्वाचनो मे पहल वार, भिन्न भिन्न रगों के अन्तगत गैर साम्यवादी पार्टियो (सगठन काग्रेस, जनसघ भारतीय लोक दल, सोशलिस्ट पार्टी, राष्ट्रीय श्रमिक पार्टी आदि) ने पहली बार सामा य प्रोग्राम और सामान्य नेतृत्व के अन्तगत चुनाव लड़ा है।

दल ध्रुवीकरण की ओर बढ़ते हैं और चुनाव गुजर जाने पर विघटित हो जाते हैं । पामर ने ठीक लिखा है कि "भारतीय राजनीति, अन्य स्थानों की भाँति विचित्र बिस्तर मैत्रियों को जन्म देती है ।"[1]

6 दलीय प्रणाली से असन्तोष—भारतीय राजनीतिक दलों ने भारतीय राजनीति को सगठित किया है, उसका आधुनिकीकरण किया है, सामाजीकरण किया है लोगों की साभेदारी को बढ़ावा दिया है । इतना ही नही, दलों ने ही राजनीतिक जागृति उत्पन्न की है और सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन के लिए संस्थागत ढाँचे को प्रस्तुत किया है परन्तु फिर भी दलों में असंतोष व्याप्त हैं और उन्हें दूषित संस्थाय समझा जाता है । भारत में अनेक एसे प्रबुद्ध, नेता समूह और आन्दोलन विद्यमान हैं, जो दल विहीन राजनीति (partyless politics) की कल्पना ही नही करते बल्कि भारतीय लोकतन्त्र में लिए वांछित भी समझते हैं । महात्मा गांधी के सर्वोदय अनुयायी विशेषकर विनोबा भावे और जयप्रकाश नारायण दल विहीन राजनीति की स्थापना चाहते हैं । परन्तु आश्चर्य यह है कि इस विचारधारा के विद्यमान होने पर भी भारत में दलों का विकास आकस्मिक हुआ है और आज इनकी संख्या 50 से भी अधिक है ।

7 विचारधारा की अस्पष्टता व अनिश्चितता—भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली की एक विशेषता यह है कि यहाँ के दलों में विचारधारा की अस्पष्टता और अनिश्चितता पाई जाती है अर्थात् दलों का सैद्धान्तिक आधार बहुत पतला है। कांग्रेस जैसे अखिल भारतीय राजनीतिक दल के भी कोई ठोस, निश्चित और स्पष्ट सिद्धान्त नहीं । इसमें दक्षिण पंथी, वाम पन्थी, मध्यममार्गीय सभी विचारधाराओं के समर्थक पाये जाते हैं । इसकी नीतियाँ निर्वाचनों में जीतने और सत्ता में बने रहने से प्रभावित रही हैं । उदाहरणतया 1971 के संसदीय चुनावों में "गरीबी हटाओ" का नारा किसी सुनिश्चित रचनात्मक कार्यक्रम पर आधारित नहीं था वरिक "इंदिरा हवा" का मतों को प्राप्त करने के लिये चुनाव करिश्मा (charisma चमत्कार) था इतना ही नहीं कांग्रेस ने भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न नीतियों का अनुसरण किया है । उदाहरणतया 1971 के संसदीय निर्वाचनों में कांग्रेस ने साम्यवादियों के साथ समझौता किया, तामिलनाद में द्रमुक (DMK) से समझौता किया, 1972 के राज्य विधान सभाओं के निर्वाचन में एक राज्य में साम्यवादियों के साथ समझौता किया और दूसरे राज्य में उसका विरोध किया है । इतना ही नहीं, कांग्रेस की राष्ट्रीय धर्म निरपेक्ष नीतियों के होने पर भी केरल में साम्प्रदायिक, सकीर्ण वृत्ति वाली मुस्लिम लीग के साथ सरकार में साझेदार है । और तो और जातिवाद की खुल्लम-खुल्ला भर्त्सना करते हुए भी कांग्रेस ने, कम से कम राज्य स्तर पर प्रत्याशियों के

---

1 'In India as elsewhere politics makes str nge b d fellows
Palmer Norman D Ibid, p 208

भारत मे दो-तीन दलो का विकास नहीं हो सकता और विपक्ष सुदृढ़ नहीं हो सकता और विपक्ष के विभक्त होने का लाभ कांग्रेस प्राप्त करती रहेगी। यह सच है कि निर्वाचनों से पूर्व या बाद में संयुक्त मोर्चों, फ्रन्टो और महासगठनो का निर्माण किया गया है परन्तु उन्हें वाछित सफलता मिलना तो दूर क्या स्थिति को भी बनाये नहीं रख पाये। चुनावो मे मोर्चों, फ्रन्टो और महा सगठनो के पराजित होने का मूल कारण यह था कि व अस्थायी मन्त्रियाँ (shifting alliances) थी, उनके पास रचनात्मक कार्यक्रम का अभाव था और वे "कांग्रेस हटाओ" के नकारात्मक पहलू पर आधारित थे। वस्तुत जिस बात की आवश्यकता है वह मोर्चे, फन्टो और महासगठनो की नहीं बल्कि सुदृढ़ और सगठित विरोधी दल की है जिनकी कोई स्पष्ट विचारधारा हो और जो जन साधारण के समक्ष रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत करने की क्षमता रखत हो।

4 विपक्ष की प्रकृति दबाव समूहों जसी है—भारत म विरोधी दलो की प्रकृति विरोधी दलो के स्थान पर दबाव समूहो की अधिक रही है। इसका कारण यह है कि उन्हें सत्ता के लाभ (कुछ समय को छोड़कर) प्राप्त नही हुए और न ही व सरकार का विकल्प प्रस्तुत करन की स्थिति मे हैं। अत उन्होने कांग्रेस दल के अन्दर विद्यमान गुटो के माध्यम से उसकी नीतियो और उद्देश्यो को प्रभावित करने का प्रयास किया है। अनेक बार तो व सीमान्त म रहकर ही उसकी नीतियों को प्रभावित करते हैं।

5 खण्डीकरण ध्रुवीकरण और खण्डीकरण (Fragmentation Polarization and fragmentation)—भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली की एक विशेषता यह रही है कि इसम विघटन ध्रुवीकरण और विघटन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रही है। इस रोग से केवल विरोधी दल ही नही बल्कि कांग्रेस भी पीड़ित रही है। इस रोग ने ही दल-बदल, फ्लोर परित्याग (floor crossing), अस्थिर राजनीति, विवर्ती मन्त्रियो आदि को जन्म दिया है। इस वृत्ति ने ही कांग्रेस मे मोर्चों, फ्रन्टो और महासगठनो को बल दिया है। खण्डीकरण ध्रुवीकरण और खण्डीकरण की यह प्रणाली केवल 1967 के चुनावो से ही उत्पन्न नही हुई बल्कि कुछ मात्रा म यह विशेषता, भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली को राष्ट्रीय आन्दोलन स विरासत म ही प्राप्त हुई है। उदाहरणतया 1948 म कांग्रेस समाजवादी दल कांग्रेस स पृथक हुआ, आचार्य जे० बी० कृपलानी न प्रथम चुनाव स पूर्व कांग्रेस स पृथक होकर असहमता (dissidents) स किसान मजदूर प्रजा पार्टी (KMPP) का निर्माण किया कांग्रेस के असन्तुष्ट एव असहमत सदस्यो ने ही 1959 मे राजाजी के नेतत्व मे स्वतत्र दल की रचना की बगला कांग्रेस, केरल कांग्रेस आदि भी ऐसे दल हैं जो कांग्रेस से अलग होकर बनाये गये हैं। समाजवादियो का इतिहास ही खण्डीकरण ध्रुवीकरण और खण्डीकरण का रहा है—कभी प्रसोपा कभी ससोपा और कभी समाजवादी दल का निर्माण किया गया। भारतीय साम्यवादी भी तीन दलों मे CPI, CPI (M), CPI (M–L) मे विभक्त हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि कांग्रेस के विरोध मे विरोधी

दल ध्रुवीकरण की ओर बढते हैं और चुनाव गुजर जाने पर विघटित हो जाते हैं । पामर ने ठीक लिखा है कि "भारतीय राजनीति, अन्य स्थानों की भांति विचित्र विस्तर मैत्रियों को जन्म देती है ।"[1]

6 दलीय प्रणाली से असंतोष—भारतीय राजनीतिक दलों ने भारतीय राजनीति को सगठित किया है, उसका आधुनिकीकरण किया है, सामाजीकरण किया है लोगों की साझेदारी को बढावा दिया है । इतना ही नहीं दलों ने ही राजनीतिक जागृति उत्पन्न की है और सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन के लिए संस्थागत ढांचे को प्रस्तुत किया है परन्तु फिर भी दलों मे असंतोष व्याप्त हैं और उन्हें दूषित संस्थाय समझा जाता है । भारत मे अनेक ऐसे प्रबुद्ध, नेता समूह और आन्दोलन विद्यमान है, जो दल विहीन राजनीति (partyless politics) की कल्पना ही नही करते बल्कि भारतीय लोकतन्त्र के लिये वांछित भी समझते है । महात्मा गाधी के सर्वोदय अनुयायी विशेषकर विनोबा भावे और जयप्रकाश नारायण दल विहीन राजनीति की स्थापना चाहते हैं । परन्तु आश्चर्य यह है कि इस विचारधारा के विद्यमान होने पर भी भारत मे दलों का विकास आकस्मिक हुआ है और आज इनकी संख्या 50 से भी अधिक है ।

7 विचारधारा की अस्पष्टता व अनिश्चितता—भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली की एक विशेषता यह है कि यहा के दलो मे विचारधारा की अस्पष्टता और अनिश्चितता पाई जाती है अर्थात् दलों का सैद्धांतिक आधार बहुत पतला है । कांग्रेस जैसे अखिल भारतीय राजनीतिक दल के भी कोई ठोस निश्चित और स्पष्ट सिद्धान्त नही । इसमे दक्षिण पंथी, वाम पंथी, मध्यममार्गीय सभी विचारधाराओ के समर्थक पाये जाते है । इसकी नीतिया निर्वाचनो मे जीतने और सत्ता में बने रहने से प्रभावित रही है । उदाहरणतया 1971 के ससदीय चुनावो में "गरीबी हटाओ" का नारा किसी सुनिश्चित रचनात्मक कार्यक्रम पर आधारित नही था बल्कि "इंदिरा हवा" का मतो को प्राप्त करने के लिये चुनाव करिश्मा (charisma चमत्कार) था इतना ही नही कांग्रेस ने भिन्न भिन्न परिस्थितियों मे भिन्न भिन्न नीतियो का अनुसरण किया है । उदाहरणतया 1971 के ससदीय निर्वाचनो मे कांग्रेस ने साम्यवादियो के साथ समझौता किया, तामिलनाद मे द्रमुक (DMK) से समझौता किया, 1972 के राज्य विधान सभाओ के निर्वाचन मे एक राज्य मे साम्यवादियो के साथ समझौता किया और दूसरे राज्य मे उसका विरोध किया है । इतना ही नही, कांग्रेस की राष्ट्रीय धर्म निरपेक्ष नीतियो के होने पर भी केरल मे साम्प्रदायिक, संकीर्ण वृत्ति वाली मुस्लिम लीग के साथ सरकार मे साझेदार है । और तो और जातिवाद की खुल्लम-खुल्ला भर्त्सना करते हुए भी कांग्रेस ने, कम से कम राज्य स्तर पर प्रत्याशियो के

1 ' In In[illegible] as elsewhere politics makes str nge b d fellows Palmer Norman D Ibid, p 208

चयन और चुनाव प्रचार मे जाति का सहारा लिया है या कम से कम उनके निर्णय इस तत्व से प्रभावित रहे हैं।

भारतीय विरोधी दल भी अनिश्चितता की स्थिति मे है। समाजवादियो को अपनी स्पष्ट विचारधारा का ही ज्ञान नही, साम्यवादियो की अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की विचारधारा होने हुए भी आ ध्र और केरल मे चनाव अपील जाति (आ ध्र मे कामा जाति और केरल मे एजावस जाति) पर आधारित है। मुस्लिम लीग मुस्लिम जाति, अकाली दल सिक्ख जाति, रिपब्लिकन दल अछूत जाति हिंदू महासभा हिंदू जाति पर आधारित है। जनमघ यद्यपि हिंदू जाति पर आधारित नही, परन्तु उसके समथन का आधार हिन्दी भाषाई राज्यो तक सीमित है। राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ (RSS) उसके अनुशासित अग के रूप मे काय करता है। यद्यपि औपचारिक या सवैधानिक दृष्टि से दोनो मे कोइ सम्बन्ध नही है। द्रमुक (DMK) जसे दल तो केवल क्षेत्रवाद पर ही आधारित है। कुछ भाषाई समुदाय इतने बल शाली रहे हैं कि उन्होने अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये पृथक समितियो का गठन किया जसे गुजरात मे महागुजरात जनता परिषद्, महाराष्ट्र मे सयुक्त महाराष्ट्र समिति और आ ध्र मे तेलगाना प्रजा समिति, आदि। स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिक दलो मे निश्चितता और स्पष्ट विचारधारा का अभाव होने से वह जाति भाषा, क्षेत्र धम, आदि तत्वो से प्रभावित रहे हैं।

8 **निदलीय सदस्यों का महत्व**—निदलीय सदस्य ससदीय लोकतन्त्र के लिये शुभ नही होते। उनके न तो कोई अपने रचनात्मक काय होते हैं और न ही कोई नीतियाँ। वे नीति विहीन, दिशा विहीन आदश विहीन सदस्य होते हैं जो राजनीति म अवसरवादिता दल बदल राजनीतिक अनैतिकता, अस्थाई मैत्रियो, अस्थिर मन्त्रिमण्डलो आदि को जन्म देते हैं। निदलीय सदस्य भारतीय लोकतन्त्र को वास्तविक चुनौती है। परन्तु आश्चय तो यह है कि निर्वाचनो मे दलीय सदस्यो को पर्याप्त लोकमत और लोक सभा तथा राज्य विधान सभाओ म पर्याप्त स्थान प्राप्त हुए हैं।

9 **विरोध की नीति (style) आन्दोलनकारी रही है**—भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली मे विरोध की रीति (style of opposition) की दो विशेषतायें रही हैं। प्रथम तो यह कि सरकारी नीतियो का विरोध केवल सवधानिक साधनो द्वारा नही किया गया बल्कि राष्ट्रीय आन्दोलनो के इतिहास से वरासत मे प्राप्त आन्दोलन के साधनो द्वारा—प्रदशन, हड़ताल घेराव धरना, बन्द, बहिष्कार आदि द्वारा किया गया है। आश्चय की बात तो यह है कि भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली मे इन रीतियो को स्वीकार किया जाता है। दूसरे, विरोध केवल बुद्धि जीवियों तक सीमित रहा है, सव साधारण व्यक्ति इससे अछूता रहा है। यद्यपि जयप्रकाश नारायण द्वारा 1974 से चलाया गया सम्पूर्ण क्रान्ति का आन्दोलन सवसाधारण व्यक्ति को अपने अधिकारो के प्रति सचेत कर रहा है परन्तु उसकी सफलता कितनी है इसका अनुमान लगाना कठिन है। यह भविष्य का इतिहास ही बता सकेगा। वतमान मे

इतना ही कहा जा सकता है कि भूखे नंगे, धन की चिन्ता में ग्रस्त, निरक्षर, अनभिज्ञ मतदाता से राजनीति में सक्रिय भाग लेने की अपेक्षा करना दुष्कर है। वह 'रोटी' से चिंतित है 'मतदान या अधिकारों' की वास्तविकता से नहीं। अधिकारों का तो वह अर्थ ही नहीं समझता।

10 आदर्श और मूल्यों में समानता—भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली की एक विशेषता यह रही है कि इसमें पक्ष और विपक्ष के आदर्शों और मूल्यों में साम्यता पाई जाती है। दोनों (केवल नक्सलवादियों[1] को छोड़कर) संविधान द्वारा स्थापित संसदीय संस्थाओं को बनाये रखना चाहते हैं, दोनों भारतीय समाज का पुनरुत्थान चाहते हैं। उनका विरोध संस्थाओं में नहीं उद्देश्यों की प्राप्ति के साधनों में है।

11 नेतृत्व का प्रभाव—भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली पर नेतृत्व का विशेष प्रभाव रहा है। स्वतन्त्रता से पूर्व कांग्रेस पर महात्मा गांधी का, जब से वे राजनीति में आये विशेष प्रभाव था, स्वतन्त्रता के बाद विशेषकर 1950 में पटेल की मृत्यु के बाद कांग्रेस पर जवाहरलाल नेहरू का प्राधान्य था। नेहरू का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि किसी में उनका विरोध करने का साहस ही नहीं होता था। सन् 1967 से कांग्रेस पर श्रीमती इन्दिरा गांधी का प्रभाव रहा है। जिस ढंग से राज्यों के मुख्य मन्त्री अपने अस्तित्व के लिये नेतृत्व पर निर्भर करते हैं वह नेतृत्व के प्राधान्य को अभिव्यक्त करता है कांग्रेस दल ही केवल नेतृत्व से आच्छादित नहीं रहा, विरोधी दलों में नेतृत्व में भी यही प्रवृत्ति पायी जाती है। द्रमुक (DMK) पर 'अन्ना' का और मार्क्सवादियों पर नम्बूदरीपाद का नेतृत्व प्रभावकारी रहा है। "व्यक्ति पूजा अर्थात् नेतृत्व पूजा की विशेषता भी भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली को राष्ट्रीय आन्दोलन और एतिहासिक अनुभवों से विरासत के रूप में प्राप्त हुई है।

12 दल प्रणाली के विकास में सरकार की भूमिका—विकास योजनाओं के माध्यम से, जिसमें नौकरशाही की भूमिका भी निर्णायक रही है, दलों ने अपने संगठनात्मक आधार के ताने बाने को बुनने का प्रयास किया है। वित्तीय प्रसाधनों का प्रयोग दलों ने अपने उद्देश्यों के लिए किया है। इस प्रक्रिया में कांग्रेस अधिक लाभान्वित हुई है और विपक्ष कम। परन्तु इसका एक लाभ यह हुआ है कि राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न होने पर भी विकास योजनाओं में बाधा प्रस्तुत नहीं हुई।

13 राजनीतिज्ञों का महत्व सरकार के साथ सम्बन्धित रहने तक सीमित रहा है—भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली में राजनीतिज्ञों का महत्व, चाहे वे किसी समय कितने ही महान प्रबुद्ध क्रियाशील नेता क्यों न रहे हों केवल उस समय तक रहा है, जब तक उनका सम्बन्ध सरकार से रहा है। सम्बन्ध विच्छेद होते ही स

1 नक्सलवादी संसदीय संस्थाओं, निर्वाचनों, मतपत्रों आदि में विश्वास नहीं करते। वे राजनीतिक हत्याओं, हिंसा और आतंक में विश्वास करते हैं।

"विस्मरण व्यक्ति' (forgotten men)[1] बन गये। इस विशेषता ने दलों में कुछ मात्रा तक अनुशासन रखने में सहयोग दिया है।

## स्वस्थ राजनीतिक दलों के विकास में बाधायें

### (Hindrances to the growth of healthy party system)

भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली में अनेक तत्व ऐसे विद्यमान हैं, जो स्वस्थ राजनीतिक दलों के विकास में बाधा प्रस्तुत करते हैं। इन बाधाओं में प्रमुख बाधायें निम्न हैं —

(i) दलों में विचारधारा की अस्पष्टता और अनिश्चितता,
(ii) एक दल प्राधान्य व्यवस्था,
(iii) सुदृढ़ विरोधी दल का अभाव,
(iv) दलों का साम्प्रदायिक आधार जो राष्ट्रीयता, धर्म निरपेक्षता और लोकतन्त्र को चुनौती देते हैं,
(v) दल विहीन राजनीति (partyless politics) के विचार का विद्यमान होना,
(vi) शुद्ध संवैधानिक साधनों में अविश्वास—आन्दोलन की रीति। नक्सलवादी तो राजनीतिक हत्याओं हिंसा और आतंक में विश्वास करते हैं, आदि।

उपर्युक्त सभी बिन्दुओं की विस्तृत व्याख्या इस अध्याय में यथा स्थान कर दी गयी है अत यहां उसे दोहराने से कोई लाभ नहीं।

## भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण

### (Classification of Indian political parties)

सन् 1953 में दलीय स्थिति पर टिप्पणी करते हुए प० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "कांग्रेस के अतिरिक्त भारतीय राजनीतिक दलों को चार समूहों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ ऐसे राजनीतिक दल हैं जिनके अपने आर्थिक सिद्धान्त हैं। फिर साम्यवादी दल और उसके सहयोगी संगठन हैं। फिर भिन्न भिन्न नामकरणों को लिये हुए अनेक साम्प्रदायिक दल हैं जो संकीर्ण साम्प्रदायिक विचार धारा का अनुसरण करते हैं और फिर अनेक स्थानीय दल समूह हैं जिनकी अपील प्रान्त या उससे भी कम क्षेत्र तक सीमित है।"[2]

नेहरूजी द्वारा भारतीय राजनीतिक दलों का किया गया उपर्युक्त वर्गीकरण आज भी उतना ही सत्य है जितना कि वह उस समय था जब उसे वर्गीकृत किया गया था। फिर भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से भारतीय राजनीतिक दलों को मोटे तौर पर निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकरण किया जा सकता है —

1 इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जैसे सी० राजगोपालाचार्य, कृष्णा मेनन, गुलजारीलाल नन्दा, आदि।

2 The Hindustan Times March 19 1953 Quoted by Palmer, Norman D The Indian political system (second edn) p 208

A क्षेत्र के आधार पर दलों का वर्गीकरण क्षेत्र के आधार पर भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण मोटे तौर पर दो भागों में किया जा सकता है (i) अखिल भारतीय राजनीतिक दल, और (ii) क्षेत्रीय राजनीतिक दल।

(i) अखिल भारतीय राजनीतिक दल—अखिल भारतीय राजनीतिक दल व दल हैं जिनका कार्य क्षेत्र समूचे भारत में हैं और जिनके संगठन की इकाइयाँ निम्न से निम्न स्तर पर भी विद्यमान हैं। इनके अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सिद्धांत हैं और विकास के अपने कार्यक्रम है। कांग्रेस, समाजवादी दल, (प्रसोपा PSP, ससोपा SSP, समाजवादी दल SP), साम्यवादी दल, जनसंघ स्वतन्त्र दल, भारतीय लोक दल आदि अखिल भारतीय राजनीतिक दलों के उदाहरण हैं।

अखिल भारतीय राजनीतिक दलों का अखिल भारतीय स्तर पर संगठन होने का यह अभिप्राय नहीं कि उन्हें भारत के सभी क्षेत्रों में समान समर्थन या उनका सबमें समान प्रभाव है। कुछ अखिल भारतीय दलों का प्रभाव क्षेत्र एक या दो या तीन राज्य या भारत के कुछ खण्डों में हो सकता है। उदाहरणतया जनसंघ का प्रभाव हिन्दी भाषाई राज्यों में (उत्तर भारत के राज्यों में विशेषकर उत्तरप्रदेश मध्यप्रदेश आदि) अधिक है जबकि दक्षिणी भागों में जहाँ हिन्दी का विरोध है, इसकी निर्वाचन अपील अभी तक नगण्य रही है। इसी तरह साम्यवादियों के संगठन प्रत्येक राज्य में होने पर भी उनकी निर्वाचन अपील विशेषकर पश्चिमी बंगाल, केरल और आन्ध्र राज्यों में रही है। स्वतन्त्र दल की निर्वाचन अपील भी गुजरात राजस्थान और उड़ीसा राज्यों तक सीमित रही है।

अखिल भारतीय राजनीतिक दलों का राजनीतिक व्यवहार भी सभी राज्यों या सभी स्थितियों में एक सा नहीं रहा। अनेक बार स्थानीय तत्व इतने बलशाली रहे हैं कि अखिल भारतीय राजनीतिक दलों ने केन्द्र में एक प्रकार की, एक राज्य में दूसरे प्रकार की और एक अन्य राज्य में किसी और प्रकार की नीति का अनुसरण किया है। उदाहरणतया 1967 के निर्वाचनों के बाद कांग्रेस ने विरोधियों के साथ मिलकर मिली जुली सरकारों का निर्माण करने से इन्कार कर दिया और भिन्न-भिन्न राज्यों में पक्ष-परित्याग (defections) को बढ़ावा दिया विशेषकर उन व्यवस्थापिका सदस्यों को अपने दल में निमन्त्रित किया जिन्होंने स्वतन्त्र (independent) उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़े थे। परन्तु 1969 के विघटन के बाद, 1971 के संसदीय निर्वाचनों में सत्तारूढ़ कांग्रेस (इन्दिरा गांधी कांग्रेस) ने तमिलनाडु में द्रमुक (DMK) के साथ निर्वाचन समझौते किये और 1972 के निर्वाचन के बाद केरल में मुस्लिम लीग जैसे साम्प्रदायिक दल के साथ संयुक्त सरकार का निर्माण किया। इस विवर्ती (shifting) स्थिति ने अनेक बार दल के मुख्यालय (HQ) और स्थानीय कार्यालयों में भिन्नतायें और कटुतायें भी उत्पन्न की हैं। दूसरी ओर, स्वतन्त्र दल का स्वरूप यदि बिहार और राजस्थान में अभिजातीय (aristocratic) रहा है, वहां आन्ध्र में इसका स्वरूप लोकप्रिय (popular) रहा है।

(ii) क्षेत्रीय राजनीतिक दल—क्षेत्रीय राजनीतिक दल वे दल हैं जिनका कार्य क्षेत्र समूचे भारत में न हो कर क्षेत्र विशेष तक सीमित है। भारत वस्तुत इतना बड़ा देश है कि इसमें अनेक राष्ट्रीयतायें निवास करती हैं। प्रत्येक की अपनी भिन्न संस्कृति, लिपि और भाषा है। प्रत्येक अपनी पृथक पहचान (identity) को बनाये रखना चाहती है। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसी क्षेत्रीय समस्यायें हैं जिनका समाधान क्षेत्रीय स्तर ही हो सकता है। अत क्षेत्रीय दलों का भारतीय राजनीतिक प्रणाली में विद्यमान होना अस्वाभाविक बात नहीं। क्षेत्रीय दलों के मुख्य उदाहरण हैं द्रमुक (DMK) जिसका कार्य क्षेत्र तमिलनाडु तक सीमित है। पंजाब का अकाली दल भी क्षेत्रीय दल का उदाहरण है जिसकी कार्य सीमायें केवल पंजाब तक सीमित हैं।

B प्रकृति के आधार पर दलों का वर्गीकरण—प्रकृति के आधार पर भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण मोटे तौर पर दो भागों में किया जा सकता है (i) धर्म निरपेक्षतावादी, और (ii) साम्प्रदायिक राजनीतिक दल।

(i) धर्म निरपेक्षतावादी दल—धर्म निरपेक्षतावादी वे दल हैं जो सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखते हैं और धर्म, जाति, भाषा, प्रांत आदि या इनमें से किसी एक आधार पर नागरिकों में भिन्नता नहीं करते। ये दल सभी को समान समझते हैं और सभी को विकास के समान अवसर प्रदान करना चाहते हैं। अखिल भारतीय स्तर के राजनीतिक दल, कांग्रेस, साम्यवादी, स्वतन्त्र दल, जनसंघ, इसी वर्गीकरण में आते हैं। इनके दलों की सदस्यता किसी जाति या धर्म विशेष पर निर्भर नहीं करती बल्कि सभी के लिये खुली रहती है।

धर्म निरपेक्षता का यह अर्थ नहीं कि दलों ने राजनीतिक अवसरौचित्य (political expediency) के आधार पर जाति का प्रयोग नहीं किया वस्तुतः इस रोग से वे दल भी पीड़ित रहे हैं जो खुल्लम-खुल्ला जातिवाद की भर्त्सना करते हैं परन्तु चुनाव में प्रत्याशियों का चयन और समर्थन के लिये जाति का सहारा लेते हैं। यह तत्व कांग्रेस में भी पाया जाता है, विशेषकर राज्य स्तर पर, जितना कि साम्यवादी दल में (केरल में साम्यवादी दल को एजावस (Ezhavas) जाति और आन्ध्र में कम्मा जाति का समर्थन प्राप्त है और निर्वाचन में यह इन जातियों का प्रयोग करती है)। जनसंघ की अपील हिन्दुवाद पर आधारित नहीं यद्यपि उसके महायक संगठन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (RSS) की अपील इसी पर आधारित है।

(ii) साम्प्रदायिक दल—साम्प्रदायिक दल वे दल हैं जो जाति, धर्म या भाषा विशेष पर आधारित हैं। निर्वाचन में समर्थन प्राप्त करने के लिये ये जाति विशेष पर निर्भर करते हैं। अपने आपको खुले रूप से साम्प्रदायिक कहने वाले दलों की संख्या कम है परन्तु इस वर्गीकरण में केरल की मुस्लिम लीग और पंजाब के अकाली दल को लिया जा सकता है। केरल मुस्लिम लीग विभाजन के पूर्व की मुस्लिम लीग का ही अवशेष है। इसके सदस्य मुसलमान हैं और उन्हीं के हितों की सुरक्षा ...

मे लिये रक्षित की गयी है। मकाली दल की सदस्यता सकल सिक्खों के लिये खुली है। यह पन्थ (सिक्ख धर्म) की रक्षा करना चाहती है और खालिस्तान (sikhistan) की स्थापना चाहती है। रिपब्लिकन दल तो अस्पृश्य जातियों (untouchable) पर आधारित है। रामराज्य परिषद् जैसे कुछ ऐसे साम्प्रदायिक दल हैं जो साम्प्रदायिक होने के साथ पारम्परिक (traditional) भी हैं और कुछ साम्प्रदायिक होने के साथ आधुनिक भी हैं। झारखण्ड (हॅल), आल पार्टी हिल लीडस कान्फ्रेंस (APHLC) एस दल हैं जो स्थानीय होने के साथ (local and communitarian) भी हैं।

C विचारधारा (सिद्धान्त) के आधार पर दलों का वर्गीकरण—विचारधारा के आधार पर भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण मुख्यतया तीन भागों में किया जा सकता है (i) दक्षिणपन्थी (rightists), (ii) वामपन्थी (leftists), और (iii) मध्यममार्गी (centrists) विचारधाराओं में इस मोटे वर्गीकरण के अन्तर्गत अनेक उपखण्ड हैं जैसे वामपन्थियों में उदार, उग्र तथा अति वामपन्थी और मध्यम मार्गियों में "मध्य-से दाँये" (right of-centre) और "मध्य से बायें" (left of centre) आदि उपखण्ड विद्यमान हैं।

(i) दक्षिणपन्थी दल—दक्षिण पन्थी दल वे दल हैं जो यथा स्थिति (status quo) में विश्वास करते हैं। क्योंकि ये सामाजिक और आर्थिक जीवन पर राज्य का न्यूनतम हस्तक्षेप चाहते हैं, अतः इन्हें रूढिवादी, अनुदारवादी और प्रतिक्रियावादी कहते हैं। स्वतन्त्र दल, जनसंघ, भारतीय लोक दल इसी वर्गीकरण के अन्तर्गत आते हैं। ये दल देश को वामपन्थ से बचाना चाहते हैं। ये राज्यवाद, समाजवाद और योजना के विरोधी हैं। ये व्यक्ति की स्वतन्त्रता में विश्वास करते हैं और उद्योग पर राज्य का न्यूनतम हस्तक्षेप चाहते हैं।

(ii) वामपन्थी दल—वाम पन्थी दल वे दल हैं जो परिवर्तन के इच्छुक हैं और वर्तमान सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन लाना चाहते हैं। क्योंकि ये परिवर्तन चाहते हैं अतः इन्हें प्रगतिवादी भी कहते हैं।

वाम पन्थियों को दो उप-खण्डों में बाटा जा सकता है (a) उदार वामपन्थी और (b) उग्र वामपन्थी। उदार वामपन्थियों को समाजवादी कहा जाता है। प्रसोपा (PSP), ससोपा (SSP) और समाजवादी दल (SP) इसके प्रमुख उदाहरण हैं। इनकी विचारधारा अस्पष्ट और असंगतियों से पूर्ण हैं वस्तुतः इन दलों के नेताओं को यह स्पष्ट ही नहीं कि वे किस विचारधारा का अनुसरण करना चाहते हैं। क्या वे कोई विचारधारा चाहते भी हैं या नहीं, यह भी स्पष्ट नहीं। क्या वे गांधीवादी समाजवाद, फेबियनवाद या मार्क्सवाद का समर्थन करना चाहते हैं या कि इनमें से किन्हीं दो या तीनों का मिश्रण चाहते हैं?

उग्र वामपन्थियों को और तीन उप खण्डों में विभक्त किया जा सकता है (i) संसदीय लोकतन्त्र में विश्वास करने वाले और संवैधानिक साधनों का प्रयोग

करने वाले साम्यवादी जैसे भारतीय साम्यवादी दल (CPI) के सदस्य, (ii) संसदीय लोकतन्त्र मे विश्वास करने वाले, परन्तु उग्र साधनो का प्रयोग करने वाले साम्यवादी जैसे भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) CPI (M) के सदस्य, (iii) संसदीय लोकतन्त्र मे विश्वास न करने वाले, राजनीतिक हत्या आतंक और हिंसा का प्रयोग करने वाले साम्यवादी जैसे भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) CPI (M L) के सदस्य। इस तीसरी श्रेणी (category) के वाम पन्थी साम्यवादियो को नक्सलवादी या माओवादी (naxalites or maoists) कहा जाता है।

(iii) मध्यम वर्गीय दल—मध्यम वर्गीय दल, व दल हैं जिनकी कोई सुदृढ और स्पष्ट विचारधारा नही, जिनमे सन्तुलन और समायोजन की अपार शक्ति है। इस वर्गीकरण के अन्तर्गत मुख्य उदाहरण कांग्रेस दल का है जो समाजवादियो और साम्यवादियो, अनुदारवादियो और प्रगतिवादियो, पारस्परिक और आधुनिक, राष्ट्रीय और क्षेत्रीय, धर्म निरपेक्ष और साम्प्रदायिक विचारधाराओ का अपने अन्दर सन्तुलन और समायोजन (balance and accommodation) कर सकती है। कांग्रेस के इसी स्वरूप को संश्लिष्ट (*composite*) *कहा जाता है। यदि यह* "समाजवादी ढाचे के समाजवाद (the socialist pattern of society) के उद्देश्य को अपना कर समाजवादियो को (विशेषकर ससोपा को) उद्देश्यहीन बना सकती है तो भूमि सुधारो की नीति म ढील देकर स्वतन्त्र दल के समर्थको (विशेषकर बडे बडे जमींदारो) को अपने मे मिला सकती है और क्षेत्रवाद और जातिवाद के ढग के प्रभाव को नष्ट करने के लिये द्रमुक और मुस्लिम लीग से साठ-गाठ कर सकती है। यदि मोरिस जोन्स की शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो कांग्रेस "अरस्तुवादी दल' (*aristotelian party*)[1] *है जिसने मध्यम मार्ग अपनाया है। पामर का मत* है कि नेहरू और इन्दिरा गाधी के काल मे कांग्रेस की नीति मध्य से बायें (left of centre)[2] की रही है। कांग्रेस वस्तुत लोकतन्त्र भी चाहती है और समाजवाद भी। यह मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत निजी उद्योगो को रियायतें भी देना चाहती है।

D दलों की आन्तरिक कार्यवाही मे वास्तविक संवैधानिक लोकतन्त्र के आधार पर दलों का वर्गीकरण—भारत मे कुछ दल ऐसे हैं जैसे प्रसोपा (PSP) जो *अपनी आन्तरिक कार्यवाही मे साधारण से साधारण सदस्य को भी दलीय नीतियों* और निर्णयो को प्रभावित करने की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। दूसरी ओर, ऐसे दल भी हैं जैसे झारखण्ड (हल) दल जिनका या तो कोई संविधान नही और यदि है भी तो वह प्राय मृत पत्र (dead letter) के समान है। झारखण्ड दल तो जयपाल सिंह

---

1 Morris Jones W H The Government and politics of India (Indian edn 1974) p 172

2 Palmer Norman D Ibid p 216

की सत्ता और नेतृत्व पर ही निर्भर है। दलीय अनुशासन की दृष्टि से जनसंघ का संविधान भी सदस्यों से कड़े अनुशासन की माग करता है।

E **परम्परा और आधुनिकता के आधार पर दलो का वर्गीकरण**—परम्परा और आधुनिकता के आधार पर भी दलो का वर्गीकरण किया जा सकता है। राम राज्य परिषद यदि परम्परा को द्योतक है तो साम्यवादी दल आधुनिकता का। स्वतन्त्र दल तो परम्परा और आधुनिकता का मिश्रण है। यदि इसके संस्थापक राजाजी परम्परा के द्योतक हैं तो मीनू मसानी आधुनिकता के। जैसाकि मौरिस जान्स ने लिखा है कि "सत्यता यह है कि भारतीय राजनीतिक ग्रा दोनो मे आधुनिकता और परम्परा एक दूसरे को प्रभावित करने वाली जुड़वा विशेषतायें रही है जिनके मिश्रण का अनुपात सगठनो के स्तरो मे भिन्न भिन्न रहा है, प्रारम्भिक स्थाना पर परम्परा की 'शैली और विचार' शक्तिशाली हो सकते है, यदि पृष्ठभूमि और प्रशिक्षण के आधार पर नही तो राजनीतिक अनुभव के आधार पर उच्च नेता आधुनिक बनने का प्रयास करते हैं।' [1]

**तदथ एव झालर सगठन** (Ad hoc and fringe organization)—भारतीय राजनीतिक प्रणाली मे कुछ ऐसे दल है जिन्हे तदथ और झालर सगठना (दलो) की सज्ञा दी जाती है। तदथ सगठन प्राय उन राजनीतिज्ञो द्वारा रचित किये गये हैं जो मूल सगठन के नेतृत्व या कार्यवाहियो से असन्तुष्ट या असहमत (disgruntled or dissidents) रहे हैं। उनके उदाहरण है बगला काग्रेस, केरल काग्रेस बिहार काग्रेस, उडीसा काग्रेस (बीजू पटनायक की प्रगति पार्टी) हरयाणा कांग्रेस आदि। झालर सगठन वे सगठन है जिनका वर्तमान भारतीय राजनीतिक प्रणाली मे अस्तित्व प्राय नगण्य है। हिन्दू महासभा, राज्य सभा परिषद् और रिपब्लिकन पार्टी इनके उदाहरण हैं। अनेक बार भाषाई जातियो ने भी तदथ समूहो या समितियो को जन्म दिया है जसे गुजरात मे महागुजरात जनता परिषद् महाराष्ट्र मे सयुक्त महाराष्ट्र समिति और व आन्ध्र मे तेलगाना प्रजा समिति आदि।

## एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली—क्या यह ससदीय सस्थाओ को जीवित रखती है ?

### (A dominant party system—does it sustain parliamentary institutions ?)

भारतीय राजनीतिक दल विज्ञान (stasiology) की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि इसमें, थोडे से काल को छोड कर, एक दल (कांग्रेस) का प्रभुत्व रहा है। सत्ता पर प्राय काग्रेस का एकाधिकार रहा है। यद्यपि शासन सत्ता प्राप्त करने के लिये कांग्रेस के अनेक प्रतिद्वन्द्वी रहे परन्तु वे अपने प्रयासो म असफल रहे। सन् 1967 के चौथे चुनाव परिणामो ने कांग्रेस के प्रभुत्व को अवश्य झकझोर दिया परन्तु 1969 के मध्यावधि चुनावो, 1971 के ससदीय चुनावो और 1972 के चुनावो ने

1 Morris Jones W H Ibid, p 178

फिर एक बार शासन सत्ता पर काग्रेस का प्रभुत्व स्थापित कर दिया। इस तरह स्वतन्त्रता प्राप्ति से भारतीय राजनीति पर काग्रेस का ही प्रभुत्व बना रहा है, जिस अनेक लेखको ने 'एक दलीय राज्य (one party state) की भी सज्ञा दी है।

काग्रेस प्रभुत्व को बनाये रखने मे सहायक तत्व—भारतीय राजनीति में अनेक तत्व ऐसे विद्यमान रहे हैं जिन्होंने काग्रेस के प्रभुत्व को बनाये रखने में महत्व पूर्ण भूमिका निभाई है। इनमे प्रमुख तत्व निम्न हैं —

(i) स्वतन्त्रता आन्दोलन मे काग्रेस की भूमिका अद्वितीय थी उसके बलिदान बहुत थे। उसी के नेतृत्व मे राष्ट्र ने विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त की थी। भारतीय जन मानस काग्रेस के नेतृत्व से परिचित ही नहीं था बल्कि उसके प्रति मन में गहरा विश्वास भी रखता था। अत भारतीय जन मानस ने विरोधी दलो का समर्थन करने के स्थान पर काग्रेस का अप्रार्थित समर्थन (unsolicited support) किया। काग्रेस के नेतृत्व मे राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर भारतीय जन मानस सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता भी उसी के नेतृत्व में प्राप्त करना चाहता था।

(ii) काग्रेस दल ही वस्तुत एक ऐसा राजनीतिक दल है जिसे अखिल भारतीय दल कहा जा सकता है। यद्यपि समाजवादी साम्यवादी, जनसघ भारतीय लोक दल आदि ऐसे राजनीतिक सगठन हैं जिन्हें अखिल भारतीय दल की सज्ञा दी जाती है परन्तु किसी एक का अखिल भारतीय स्तर पर लोक समर्थन (popular support) नहीं और न ही अखिल भारतीय स्तर पर किसी एक दल की सगठनात्मक इकाइयाँ हैं। कुछ लोगो का सगठन तो दो तीन या कुछ राज्यो तक ही सीमित है जहाँ काग्रेस को समर्थन सभी वर्गों मे प्राप्त होता है वहाँ अन्य दलो के समर्थन का आधार सीमित है, साम्यवादी दल मुख्यत पश्चिमी बगाल केरल और आन्ध्र प्रदेश तक सीमित हैं जनसघ हिन्दी भाषाई क्षेत्र मे ही प्रभाव रखता है, द्रमुक तामिलनाडु तक सीमित है आदि। काग्रेस के सगठन की इकाइया प्रत्येक गाँव वार्ड और नगर मे विद्यमान हैं जिससे अन्य दलो की तुलना मे उसका जन सम्पर्क अधिक है।

(iii) भारतीय राजनीति पर काग्रेस का प्रभुत्व इस कारण भी विद्यमान रहा है कि विपक्ष आपस मे बुरी तरह विभक्त है। प्रत्येक दल अपनी पृथक पहचान (identity) को बनाये रखना चाहता है। यद्यपि हाल ही मे "सघीय दल" (federal party) के विचार को जन्म दिया गया है परन्तु यह अपनी प्रारम्भिक स्थिति से आगे नहीं बढ सका। यद्यपि अनेक बार निर्वाचन से पूर्व अनेक प्रकार की निर्वाचन मैत्रियाँ उत्पन्न की गयी परन्तु वे अवसरौचित्य (expediency) पर आधारित थीं, दाम आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं थी। अत निर्वाचन के बाद वे समाप्त हो गयी। 1967 के बाद जो मिली-जुली सरकारें बनी वे बुरी तरह असफल हुई।

विपक्ष के विभक्त रहने का एक गम्भीर परिणाम यह निकला है कि निर्वाचन मे इन मतो का बहुमत प्राप्त करने पर भी उन्हे लोक सभा और राज्य विधान सभाओ मे कम स्थान प्राप्त हुए हैं जबकि काग्रेस को निर्वाचनो मे कुल मतों का

बहुमत न प्राप्त होने पर भी लोक सभा और राज्य विधान सभाओं में अधिक स्थान प्राप्त हुए।

(iv) शासन सत्ता में निरंतर बने रहने के कारण कांग्रेस के हाथों में संरक्षण (patronage) की अपार शक्ति केन्द्रित हो गयी है। यह न केवल अपने समर्थकों को आश्रय देने की स्थिति में है। बल्कि उन्हें भी अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हो जाती है। जो सत्ता या पदों से प्राप्त होने वाले लाभों को प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं। इस तरह पक्ष त्याग को बढावा देकर कांग्रेस अपनी दुर्बल स्थिति को भी सबल बना लेती है। कांग्रेस विकासकारी योजनाओं और विस्तार सेवाओं (development projects and extension services) द्वारा अपार सेवायें प्रदान कर सकती है। शासन सत्ता से वंचित रहने के कारण विपक्ष में संरक्षण, लाभप्रद और सेवायें प्रदान करने में असमर्थ है[1]। रजनी कोठारी ने ठीक लिखा है कि दल की प्राधान्यता "इसकी सत्ता और व्याप्यता की ऋणी है।"[2]

(v) कांग्रेस की कोई ठोस या निश्चित विचारधारा नहीं रही। इसने सर्वदा मध्यम मार्गी स्थिति (centrist position) को बनाये रखा है। यही कारण है कि इसने स्थिति के अनुकूल दक्षिणपंथी या वामपंथी विचारों को अपने में सन्तुलित और समायोजित कर उनके मतों को प्राप्त करने का प्रयास किया है जैसाकि मौरिस जोन्स ने लिखा है कि कांग्रेस अपनी स्थिति को परिवर्तित करने में इतनी दक्ष रही है कि इसने सर्वदा मध्यम मार्गी स्थिति को बनाये रखा है और दूसरों को परिधीय स्थिति के भिन्न भिन्न समूहों में छोड़ दिया है।[3] इतना ही नहीं, कांग्रेस ने समाजवादी या अनुदारवादी, जैसी भी, स्थिति ने मांग की दलों के तत्वों उद्देश्यों और नीतियों को अपनाकर उन्हें जीर्ण कर दिया। उदाहरणतया 1955 में अवादी अधिवेशन में 'समाजवादी ढांचे के समाजवाद (the socialist poattern of society) को अपनाकर प्रसोपा (PSP) को उद्देश्यहीन बना दिया।

(vi) कांग्रेस ने जिन प्रारम्भिक समस्याओं का समाधान किया उसका उसने निर्वाचन समर्थन (electoral support) प्राप्त करने में पूरा लाभ उठाया। उदाहरणतया विभाजन से उत्पन्न होने वाली समस्याओं जैसे शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या का समाधान किया, देशी राज्यों का भारतीय संघ में विलय किया विघटनकारी एवं पृथकतावादी प्रवृत्तियों को नियन्त्रित रखा तथा पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से नागरिकों के सामाजिक और आर्थिक स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयास किया। कांग्रेस के इन रचनात्मक कार्यों से जनता अत्यधिक प्रभावित हुई और उसे अप्रार्थित समर्थन प्रदान किया।

1 The Congress had the loaves to eat and fishes to distribute, while the opposition had neither the loaves nor the fishes

2 Kothori, Rajni Ibid p 201

3 Morris Jones W H The Government and Politics of India p 176

उपर्युक्त कारण से ही कांग्रेस की प्रभुत्वपूर्ण स्थिति रही है। परन्तु यह स्थिति केवल केन्द्र में रही है, राज्यों में उसके प्रभुत्व को अनेक प्रकार की चुनौतियाँ दी गयी हैं। ये चुनौतियाँ जहाँ दल की आन्तरिक गुटबन्दियों से उत्पन्न हुई हैं वहाँ विरोधी दल भी उसे ये चुनौतियाँ देते रहे हैं। राज्यों में, कांग्रेस के प्रभुत्व काल में भी (1951–67), केरल में नम्बूदरी पाद के नेतृत्व में साम्यवादी सरकार का निर्माण हुआ, 1967 से तामिलनाद में द्रमुक (DMK) की सरकार है, 1967 में अनेक राज्यों में मिली जुली सरकारों का निर्माण हुआ। यद्यपि ये अल्पकाल तक ही जीवित रहीं परन्तु उन्होंने इस तथ्य को सिद्ध कर दिया कि राज्यों में शासन सत्ता पर कांग्रेस का एकाधिकार नहीं। इन तत्वों के अतिरिक्त कांग्रेस की आन्तरिक गुटबन्दी ने राज्यों में उसके प्रभुत्व पर प्रहार किया है। अनेक राज्यों में तो कांग्रेस के संगठन ने (अर्थात् प्रदेश कांग्रेस समिति) कांग्रेस मुख्यमन्त्री का विरोध करते हुए अपने आपको हाई कमाण्ड या राज्य की जनता के समक्ष, वैकल्पिक सरकार (alter native government) के रूप में प्रस्तुत किया। उदाहरणतया उत्तर प्रदेश में चन्द्र भानु गुप्त ने मुख्यमन्त्री सम्पूर्णानन्द को पद त्यागने के लिये और उड़ीसा में पटनायक ने मेहताब को पद त्यागने के लिये बाध्य किया।[1] आज कर्नाटक के कांग्रेसी मुख्य मन्त्री देवराज उर्स को प्रदेश कांग्रेस समिति के अध्यक्ष एच० के० पाटिल चुनौती देते हैं। इस तरह व्यक्ति द्वेषों और प्रतिद्वन्द्विताओं के कारण कांग्रेस संगठन (PCC) ने सत्तारूढ़ कांग्रेस पक्ष का विरोध किया। ये सभी तत्व एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली के प्रभुत्व को प्रतितुलित (neutralize) करते हैं। अतः इसे एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली कहने के स्थान पर इसे कम से कम राज्य स्तर पर प्रतिद्वन्द्वित दलीय प्रणाली (competitive party system) कहना चाहिये। वस्तुतः एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली की दो प्रमुख विशेषता रही हैं जैसाकि रजनी कोठारी ने लिखा है कि "प्रभुत्वपूर्ण दल के अन्दर बहुविधता है जो इसे अधिक प्रतिनिध्यात्मक बनाती है इसको अधिक नमनीयता प्रदान करती है और आन्तरिक प्रतिद्वन्द्विता को जीवित रखती है। उसी समय यह दल के बाहर के समूहों और आन्दोलनों को अपने में मिलाने के लिये तयार हैं और इस तरह अन्य दलों को शक्ति प्राप्त करने से रोकता है।[2] एक अन्य स्थान पर रजनी कोठारी ने लिखा है कि "कांग्रेस पृथक राजनीतिक दल होने के स्थान पर मतैक्यता का ढांचा अधिक रही है।"[3]

---

1 Morris Jones W H Ibid, p 206

2 See Kothari, Rajni The Congress 'System in India, in his Party System & Election Studies, p 3 Quoted by Hardgrave Jr Ibid, p 124

3 "The Congress has been more a frame work of consensus than a discrete political party Kothari Rajni Politics in India p 176

## क्या एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली संसदीय संस्थाओं का पोषण करती है ?

प्रो० मोरिस जोन्स जैसे लेखकों का मत है कि प्रभुत्वपूर्ण दलीय व्यवस्था ने संसदीय संस्थाओं को नष्ट नहीं किया बल्कि उनका पोषण किया है[1] जबकि नामन डी० पामर जैसे लेखकों का मत है कि एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली ने स्वस्थ दलीय प्रणाली के उद्गम में बाधा प्रस्तुत की है ।[2] प्रो० जोन्स का मत है कि एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली ने राजनीतिक शैलियों (रीतियों) (political style) का एकीकरण करने में सहायता की है । यदि एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली नहीं होती तो पारम्परिक सामाजिक समूह अपने पृथक राजनीतिक संगठनों को निर्मित करने में प्रेरित होते जिनका क्षेत्र प्रदेश होता, जिनकी रीतियां आधुनिक होने के स्थान पर पारम्परिक (traditional) होती, जिनका नेतृत्व प्राधिकृत (ascriptive and authoritarian) होता और जो न्यूनतम मात्रा में नीतियों से प्रेरित होते ।

प्रो० जोन्स का मत है कि कांग्रेस ने एक महान् शिक्षक के रूप में कार्य किया है । अपनी मध्यममार्गीय विचारधारा में इसने अनेक विचारधाराओं को सन्तुलित एवं समायोजित किया है और अनेक अतिवादी, परम्परावादी विचारधाराओं को आधुनिक विचारधाराओं से प्रभावित किया है । एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली ने परंपरा और आधुनिकता में सन्तुलन पैदा किया है जैसाकि मौरिस जोन्स ने लिखा है कि एक प्रभुत्वपूर्ण दल (कांग्रेस) ने "केवल समस्तरीय अर्थ में ही नहीं जिसमें भिन्न भिन्न विचारों और हितों को संगठित किया जाता है बल्कि महत्वपूर्ण विषमस्तरीय अर्थ में भी परिष्कृत से लेकर साधारण और पारम्परिक राजनीति के सभी स्तरों तक को एक दूसरे के सम्पर्क में लाने और व्याख्या करने में एकीकृत अभिकर्ता के रूप में कार्य किया है ।"[3]

एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली स्वतन्त्रता के प्रारम्भिक वर्षों में राजनीतिक एकता और स्थिरता उत्पन्न करने में वरदान सिद्ध हुई । विघटन से उत्पन्न समस्याओं का समाधान शरणार्थियों का पुनर्वास, राज्यों का पुनर्गठन, देशी रियासतों का भारतीय संघ में विलय, विघटनकारी तत्वों का दमन आदि समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना इस कारण हो सका कि देश में एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली थी ।

एक प्रभुत्वपूर्ण दलीय प्रणाली ने भारतीय संविधान के लोकतान्त्रिक आधार को नष्ट नहीं किया बल्कि तनाव और संकट के काल में भी उसे बनाये रखा है । निर्वाचनों में जनमानस का भाग यथापूर्व बना रहा है और कांग्रेस ने मतपत्रों से ही शासन सत्ता को प्राप्त किया है । इसने सर्वसत्तावादी, एकत्ववादी प्रवृत्तियों को

1 See Morris Jones, W H Ibid, pp 174–175

2 See Palmer, Norman D The Indian Political System (Second edn ) p 206

3 Morris Jones, W H Ibid, p 175

ज म नही दिया वल्कि विपक्ष के निवल होने पर भी दल की ग्रान्तरिक गुटव ी ने विपक्ष का काय किया ग्रौर ग्रतिवादी वृत्तियो को वढावा देने के स्थान पर उहे ग्रपनी मध्यमार्गीय नीतिया मे समेट लिया। ग्राज विपक्ष का कुचला नही जाता (यद्यपि यदा कदा इसका ग्रारोप लगाया जाता है) वल्कि उसे काग्रेस की नीतिया की ग्रालोचना करने, उसकी उपलब्धियो पर कटाक्ष करने ग्रौर प्रशासनिक भ्र टाचार की भत्सना करने की स्वत त्रता दी जाती है। यहा सम्पूण क्राति लाने वाले तत्व भी उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार ग्रनुदारवादी ग्रौर प्रतिक्रियावादी तथा साम्यवादी ग्रौर नक्सलवादी। विपक्ष कितना स्वरमान (vocal) है यह इस तथ्य से सिद्ध है कि ग्रसुर (MISA) कानून मे परिवतन करने वाले विधेयक को विपक्ष के सगठित विरोध पर सरकार को वापस लेना पडा।

पामर की यह विचारधारा केवल ग्रद्ध सत्य है कि एक प्रभुत्वपूण दलीय प्रणाली न स्वस्थ विपक्ष क विकास मे वाधा प्रस्तुत की है। यदि यह मान भी लिया जाय कि एक प्रभुत्वपूण दलीय प्रणाली ने विपक्ष के विकास को ग्रवरुद्ध किया है तो इस बात स भी इकार नही किया जा सकता कि विप न स्वय बुरी तरह विभक्त है। उसके पास सामाजिक ग्रौर ग्रार्थिक कायक्रम का ग्रभाव है। वह केवल नकारात्मक तत्व "काग्रेस हटाग्रो" पर ग्राधारित रहा है। यदि उसके पास कोई रचनात्मक कायक्रम होता तो भारतीय मतदाता ग्राज इतना योग्य है कि वह नीतियो ग्रौर ग्रादर्शों के सम्ब ध मे निणय कर लेता। उसका सयुक्त सरकारो का ग्रनुभव ग्रच्छा नही। दूसरे भारत मे सर्वोदय जसी विचारधारायें ग्रौर जय प्रकाश नारायण जसे प्रभावशाली नेता विद्यमान हैं जिन्हें दलीय लोकतन्त्र मे विश्वास ही नही ग्रौर जो दलविहीन लोकत त्र (partyless democracy) की कल्पना करते हैं। ये तत्व भी स्वस्थ दलो के विकास मे बाधा प्रस्तुत करते हैं।

उपयुक्त वर्णन से स्पष्ट है कि एक प्रभुत्वपूण दलीय प्रणाली ने ससदीय सस्थाग्रो को नष्ट नही किया बल्कि उनका पोषण किया है ग्रौर किन्ही परिस्थितियो मे तो विपक्ष के ग्रभाव म दल की ग्रान्तरिक गुटबन्दी ने विपक्ष का काय किया है।

## दल विहीन शासन या दल विहीन लोकतन्त्र
## क्या प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र मे यह सम्भव है ?
### (Partyless government or partyless democracy—Is it possible in a representative democracy?)

पश्चिमी लोकतन्त्र म पले हुए व्यक्तियो के लिये प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र मे दलविहीन शासन या दल विहीन लोकतन्त्र की स्थापना तो दूर उसकी कल्पना भी दुष्कर है। राजनीतिक दल उनकी राजनीतिक व्यवस्था के अभिन्न अग हैं। उन देशो म भी जहा के सविधान निर्मातायो ने दलो की कल्पना ही नहीं की थी, जस ग्रमरीकी सविधान निर्मातग्रो ने, ग्रौर जो निर्वाचको को दलो के दूषित परिणामो स विमुक्त रखना चाहते थे, वहाँ भी दलो का विकास इतनी गति स हुग्रा

है कि उच्च से उच्च सार्वजनिक पद और निम्न से निम्न सार्वजनिक पद के लिये प्रत्याशियो के चयन, निर्वाचन के सचालन, सरकार के निर्माण, नीतियों की कार्यान्विति और लोककल्याण के लिये राजनीतिक दलो की आवश्यकता अपरिहार्य समझी जाती है। जैसा कि मुनरो ने लिखा है कि जिस पत्थर को (संविधान) निर्माताओ ने अस्वीकार कर दिया था वह किनारे का मुख्य पत्थर बन गया है।[1]

वस्तुत इन देशो मे लोकतन्त्र की कल्पना राजनीतिक दलों के बिना नही की जाती। परन्तु एशिया के देशो मे कुछ ऐसी विचारधाराये विद्यमान हैं जो दलो को अपनी परम्परागत भावनाओ और मूल्यो के विपरीत समझते है। उदाहरणतया, जहा पाश्चात्य लोकतन्त्र मे सघर्ष को राजनीतिक प्रक्रिया का अभिन्न अग समझा जाता है, हितो और निष्ठाओ का विरोध अवश्यम्भावी और अपरिहार्य समझा जाता है, सत्ता और सरक्षण के लिये प्रतिद्वन्द्वी राजनीतिक दलो के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है वहा भारत मे आधुनिक राजनीतिक दलो की व्यवस्था को परम्परागत भारतीय मूल्यो और भावनाओ के विपरीत समझा जाता है। भारतीय भावना का आधार सघर्ष प्रतिद्वन्द्विता और स्वार्थ नही बल्कि सहयोग, समन्वय और सर्वहित है। यहा सत्ता पद और भौतिक सुखो के स्थान पर लोक सेवा और आध्यात्मिक सुखो पर बल दिया जाता है। अत भारत मे आज भी ऐसे समूह और नेता विद्यमान हैं जो राजनीति के स्थान पर लोकनीति और राजनीतिक दलो के स्थान पर दल विहीन राजनीति' की बात करते हैं।

भारत मे दल विहीन शासन और दल विहीन लोकतन्त्र की विचारधारा इस तथ्य से भी शक्ति ग्रहण करती है कि दलो की बहुतायता होने पर भी यहा एक दल का (कांग्रेस) प्रभुत्व रहा है। उस स्थिति मे भी एक दल का प्रभुत्व रहा है जब उस कभी भी लोक मतो का बहुमत प्राप्त नही हुआ। यह विरोधी दलो की निर्वाचन मे असफलता और निराशा का भी परिणाम है और अस्थिर राजनीतिक स्थिति, पक्ष परित्याग (defections) की राजनीति तथा अनैतिक राजनीति और प्रशासनिक भ्रष्टाचार से भी शक्ति ग्रहण करती है। भारत मे राष्ट्रीय एकीकरण और कुशल प्रशासन के लिये भी दल विहीन लोकतन्त्र या दल विहीन शासन की माग की जाती है।

दल-विहीन शासन एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह के शासन की स्थापना नही चाहता। ऐसा शासन दल विहीन हो सकता, है लोकतान्त्रिक नही। दल विहीन शासन तो इस बात की माग करता है कि जनता के प्रतिनिधि दलीय आधार पर कार्य करने के स्थान पर सामाजिक आधार पर कार्य करें, राजनीति के स्थान पर लोकनीति को महत्व दें, लोक इच्छा की अभिव्यक्ति के लिये निर्वाचनो और ससदों के स्थान पर अन्य साधनो पर भी बल देते हैं जिनकी वे व्याख्या नहीं करते।

1 (The stone which the builders rejected has become the chief stone of the corner —Munro)

भारत मे महात्मा गाधी और उनके सर्वोदय अनुयायी विशेषकर आचार्य विनोबा भावे और जयप्रकाश नारायण दल विहीन लोकतन्त्र और दल विहीन शासन के समर्थक हैं। सर्वोदय समाज दलो को महत्व नही देता। उसका विश्वास है कि दल समाज को विभक्त करते हैं। अनुचित प्रचार, निर्वाचकों को भ्रष्ट करने के लिये धन का प्रयोग, विरोधियो पर शारीरिक आक्रमण, दलीय भावनाओ के परिणाम हैं। सर्वोदयवादियों का कहना है कि सत्ता प्राप्त करने के लिये दल दूषित संघर्ष को जन्म देते हैं, दलीय तन्त्र लोकतन्त्र का स्थान ले लेता है और दलीय अनुशासन व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का स्थान ले लेता है अर्थात् "मतदाता सिमट और सिकुड़ कर रह जाता है।" जयप्रकाश नारायण ने लिखा है कि "दलीय पद्धति लोगों को भेड़ो की स्थिति मे ला देना चाहती है जिनका एकाधिकार केवल नियत समय पर गड़रियों को चुन लेना है जो उनके कल्याण की चिन्ता करेंगे।"[1] सर्वोदय समाज ऐसे लोकतन्त्र की स्थापना चाहता है जो दलों तथा दलीय भावनाओ और पक्ष तथा प्रतिपक्ष से मुक्त हो।

दल विहीन राजनीति, दलीय राजनीति और निर्वाचन की कार्य पद्धति के स्थान पर सामुदायिक सर्व सम्मति (community consensus) और बहुमत के निर्णय के स्थान पर मतैक्यता (consensus) को महत्व देती है। यह प्रत्यक्ष निर्वाचनो के स्थान पर विशाल अप्रत्यक्ष निर्वाचन या नाम निर्देशन (indirect elections or nominations) की व्यवस्था चाहती है। यह ग्राम पंचायत मे ही ग्राम के वयस्क नागरिको को प्रत्यक्ष रूप मे हिस्सा लेने की व्यवस्था करती है। शेष उच्च श्रेणियो (पंचायतो) के लिये अप्रत्यक्ष निर्वाचन या नाम निर्देशन की व्यवस्था करती है अर्थात् थाना पंचायत को ग्राम पंचायतें, जिला पंचायतो को थाना पंचायतें, प्रदेश (प्रान्तीय) पंचायतो को जिला पंचायतें और राष्ट्रीय पंचायत को प्रान्तीय पंचायतें निर्वाचित करेंगी। इस तरह इस दल विहीन राजनीति मे वयस्क नागरिकों का प्रत्यक्ष भाग ग्राम पंचायत मे होगा, उच्च पंचायतो मे नही।

*दल विहीन लोकतन्त्र कोरा आदर्श मात्र है—जहाँ कहीं मताधिकार विस्तृत* है अर्थात् जहाँ वयस्क मताधिकार है जहाँ लोगो को राज्य के कार्यों मे हिस्सा लेने का अधिकार है वहा निर्वाचन और दलीय प्रणाली अनिवार्य है। निर्वाचनों मे मताधिकार के प्रयोग द्वारा लोग महत्वपूर्ण सार्वजनिक विषयो पर अपने विचारो का अभिव्यक्त कर सकते हैं, अमुक नीति या योजना का समर्थन या विरोध कर सकते हैं।

दल विहीन लोकतन्त्र इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि दलो का उद्गम

1 नारायण, जयप्रकाश समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ० 46

भिन्न-भिन्न समस्याओं के प्रति भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों (approaches) के कारण होता है जो एक दूसरे के असंगत होते हैं। मानव की प्रकृति (स्वभाव) और व्यवहार भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न होता है। मानव के विचार कभी स्थिर नहीं होते बल्कि ज्ञान, परिस्थिति और अनुभव के आधार पर बदलते रहते हैं अतः समान विचारों वाले व्यक्ति अपनी विचारधारा की संगठित अभिव्यक्ति के लिये अपने आपको समूहों में संगठित कर लेते हैं। इन संगठित समूहों को ही राजनीतिक दल कहा जाता है। हो सकता है कुछ राजनीतिक दल यथा स्थिति का समर्थन करें, कुछ सीमित राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का और कुछ आमूल परिवर्तनों का हो सकता है कुछ परम्परावादी हों और कुछ आधुनिक और कुछ दोनों का मिश्रण भी हो सकते हैं। लोकतन्त्र में लोग इन्हीं भिन्न भिन्न राजनीतिक दलों के समर्थन द्वारा अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हैं और उन्हें कार्यान्वित कराने का प्रयास करते हैं। लोकतन्त्र में दलों का आधार ही इस मान्यता पर आधारित है कि वे किसी विचारधारा को अभिव्यक्त करते हैं।

दल विहीन शासन की यह मान्यता कि निर्वाचन के बाद संसद सदस्य दलीय दृष्टिकोण को त्याग दें, यह न तो सम्भव है और न आवश्यक। निर्वाचन में प्रत्याशियों का चयन दल करते हैं, उनके लिये चुनाव खर्च दल करते हैं, उन्हें जिताने का प्रयास दल करते हैं तथा मतदाता भी दलीय चुनाव घोषणाओं (election manifesto) के आधार पर उनका निर्वाचन करते हैं। इन सब बातों के बाद व्यवस्थापिका के सदस्यों से यह आशा करना कि वे दलीय भावना से ऊपर उठ कर कार्य करें, यह असम्भव है।

प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र में दल ही, जिसका बहुमत होता है, सरकार का निर्माण करते हैं और अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रयास करते हैं, आदि। यदि दल अल्प संख्या में है तो वह सत्तारूढ़ दल का विरोध करता है, उसकी त्रुटियों को प्रकाशित करता है और जनमत को जागरूक रखने के साथ उसे प्रभावित भी करता है। इस तरह राजनीतिक दलों के बिना लोकतान्त्रिक शासन का विचार कोरा आदर्श और कल्पना है जो कभी पूरी होने वाली नहीं।

दल विहीन शासन या दल विहीन लोकतन्त्र की यह मान्यता है कि व्यवस्थापिका के सदस्यों को भिन्न भिन्न विचारधाराओं का परित्याग कर राष्ट्रीय और सामाजिक हितों में काम करना चाहिये। परन्तु यह मान्यता दल विहीन शासन की माग नहीं करती बल्कि सर्व दलीय शासन (all party government) की माग करती है।

दल विहीन शासन या लोकतन्त्र दल विहीन निर्वाचन की माग करता है, परन्तु भारत में संसद और राज्य विधान सभाओं के निर्वाचनों की बात तो दूर नगरपालिकाओं और ग्राम पंचायतों के निर्वाचन भी दल विहीन भावना से नहीं लड़े जाते।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि दल विहीन लोकतन्त्र या दल विहीन शासन का विचार कोरा आदर्श है। लोकतन्त्र मे राजनीतिक दल समुद्र मे ज्वारभाटे की भांति अपरिहार्य है। जिन्होने इनका प्रथम द्वार से निष्कासन करने का प्रयास किया है, उन्होने ही इसे पीछे के द्वार से स्वीकार किया है। भारत में जिस बात की आवश्यकता है वह दल विहीन शासन या दल विहीन लोकतन्त्र की नही बल्कि सुदृढ, शुद्ध सिद्धान्तवादी राजनीतिक नतिकता रखने वाले दलो की आवश्यकता है जो सत्तारूढ दलो का विरोध करने और वैकल्पिक सरकार का निर्माण करने मे सक्षम हो।

## दल बदल राजनीति
(Politics of defection)

"दल बदल राजनीति को भारतीय राजनीति का स्वरूप और उसके निर्धारक तत्वो" के अध्याय मे देखिये।

## भारतीय राजनीतिक दलो का सगठन, नीतिया और कार्यक्रम
(Organization policies and programmes of Indian political parties)

### 1 भारतीय राष्ट्रीय काग्रस
(The Indian National Congress)

**काग्रेस का सगठन (Organization of Congress)**—भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ही एक ऐसा राजनीतिक सगठन है जिसकी इकाइयाँ प्रत्येक ग्राम, नगर जिला और प्रदेश मे हैं। निम्न से निम्न स्तर पर स्थानीय समितियाँ हैं जो ग्राम, नगर या वार्ड मे विद्यमान हैं। इनसे ऊपर क्षेत्रीय (bloc) समितियाँ हैं इनके ऊपर जिला समितियाँ है फिर प्रदश समितियाँ और फिर अखिल भारतीय काग्रस समिति (AICC), कार्यकारिणी (CWC) और काग्रेस अध्यक्ष दल के केन्द्रीय अभिकरण हैं। स्थानीय समितिया का निर्वाचन दल के सदस्य करते हैं और उच्च समितिया का निर्वाचन निम्न समितियाँ करती हैं। प्रदश काग्रेस समितियाँ (PCC) अखिल भारतीय काग्रेस समिति का निर्वाचन करती है। ब्लाक या वार्ड समितियो की सख्या 5000 है, जिला या नगर काग्रेस समितियो की सख्या लगभग 450 है, 20 प्रदश और 6 क्षेत्रीय काग्रेस समितियाँ हैं।[1]

सिद्धान्त रूप मे काग्रेस के वार्षिक अधिवेशन सर्वोच्च नीति निर्माण निकाय है परन्तु व्यवहार म उनका स्वरूप दल सम्मेलन (rallies) से बढ कर कुछ नहीं। हजारो की सख्या म जो प्रतिनिधि काग्रेस के इन वार्षिक अधिवेशनो मे भाग लते हैं वे बिना किसी वाद विवाद के दलीय हाई कमाड (high command)[2] द्वारा तैयार या स्वीकृत प्रस्तावो का अनुमोदन कर देते हैं।

---

1 Quoted from Palmer Ibid, p 214

2 नीति निर्माण करने वाले उच्चतम नेताओ के मण्डल को हाई कमाड कहते हैं।

दल के केन्द्रीय अभिकरणा मे पाच अभिकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनके नाम हैं अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (AICC), कार्यकारिणी (CWC) जिसे हाई कमाण्ड (high command) की संज्ञा दी जाती है, कांग्रेस ससदीय दल (CPP) ससदीय मण्डल (parliamentary board) और केन्द्रीय चुनाव समिति (central election committee), अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (AICC) का निर्वाचन प्रदेश कांग्रेस समितियाँ (PCC)[1] करती हैं। इसके अधिवेशन नियमित रूप से नहीं होते। सिद्धान्त रूप मे यह दल की नीति निर्धारक निकाय है परन्तु व्यवहार मे उसका यह काय औपचारिक है क्योंकि कार्यकारिणी (CWC) द्वारा लिये गये निर्णयों को यह प्राय अनुमोदन कर देती है।

कांग्रेस दल के सगठन मे सबसे महत्वपूर्ण निकाय कार्यकारिणी (CWC) है जिसका निर्वाचन अखिल भारतीय कांग्रेस समिति करती है। इसका एक अध्यक्ष (जिसे कांग्रेस अध्यक्ष कहते हैं) और 20 सदस्य होते हैं। इन 20 सदस्यो मे 7 निर्वाचित और 13 कांग्रेस अध्यक्ष द्वारा मनोनीत होते है। इस समिति मे कांग्रेस के उच्चतम नेता होते है, प्रधान मन्त्री, मन्त्रिमण्डल के महत्वपूर्ण सदस्य अनिवार्यत इसके सदस्य होते है। क्योंकि कार्यकारिणी मे दल के उच्चतम सदस्य होते हैं अत वस्तुत यही दल हाइ कमाण्ड है। कांग्रेस की मूल नीतिया और निर्णय इसी के द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (AICC) तो केवल उनका अनुमोदन करती है जो केवल औपचारिकता है। परामर्श और समर्थन के लिये नेहरूजी इस कार्यकारिणी के सदस्यो पर ही निर्भर करते थे। कांग्रेस कार्यकारिणी के महत्व पर प्रकाश डालते हुए पामर ने लिखा है कि यह "कार्यपालिका ही नहीं बल्कि छाया मन्त्रिमण्डल भी है और नियमित मन्त्रिमण्डल से अधिक वास्तविक शक्ति और प्रभाव का उपभोग करती है।[2]

कांग्रेस ससदीय दल (CPP) कांग्रेस के केन्द्रीय अभिकरणा मे एक अन्य महत्वपूर्ण निकाय है। प्रधान मन्त्री इस ससदीय दल का नेता होता है। कांग्रेस दल के ससद सदस्य ही इसके सदस्य होते हैं क्योंकि कांग्रेस का अभी तक ससद मे बहुमत रहा है अत ससद कक्ष मे निर्णय लेने के स्थान पर कांग्रेस ससदीय दल की गुप्त बैठकों मे ही निर्णय ले लिये जाते हैं परन्तु ये निर्णय उन निर्णयों से भिन्न नहीं होते जो हाई कमाण्ड पहले ही ले चुकी होती है। फ्रैंक मोरेस इसकी महत्वता बताते हुए लिखते है कि "भारत मे प्रमुख निर्णय न तो ससदीय स्तर पर और न ही सत्तारूढ़ दल द्वारा लिये गये है बल्कि एक दल के अन्दर एक छोटे समूह द्वारा लिये गये हैं। कांग्रेस मे ये निर्णय कार्यकारिणी द्वारा लिये जाते हैं जिस पर आधिपत्य कांग्रेस अध्यक्ष का नहीं बल्कि प्रधान मन्त्री का होता है।[3]

---

1 प्रदेश कांग्रेस समितिया (PCC) राज्य स्तर पर कांग्रेस सत्ता के केन्द्र हैं।
2 Palmer Ibid p 215
3 Moraes Frank India Today p 163 Also see Johari J C Indian Government and politics p 482

कांग्रेस दल के अन्य दो महत्वपूर्ण अभिकरण संसदीय मण्डल (parliamentary board) और केन्द्र चुनाव समिति हैं। संसदीय मण्डल में 6 सदस्य होते हैं जिसका निर्वाचन अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (AICC) करती है। यह राज्य स्तर पर दल और सरकार को निर्देशन देता है तथा उनमें समन्वय उत्पन्न करता है। केन्द्रीय चुनाव समिति में 12 सदस्य होते हैं। यह समिति सभी चुनावों में दलीय प्रत्याशियों का चयन करती है तथा चुनावों का संचालन करती है।

**कांग्रेस दल की सदस्यता**—कांग्रेस दल की सदस्यता तीन प्रकार की है (i) प्राथमिक, (ii) सक्रिय, और (iii) सह-सदस्यता। प्राथमिक सदस्यता प्रत्येक उस व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है जिसकी आयु 18 वर्ष से ऊपर हो, कांग्रेस उद्देश्यों को स्वीकार करता हो तथा जिसने उसने लिखित घोषणा की हो और जो 25 पैसे वार्षिक चन्दा देता हो। प्राथमिक सदस्यता को "चार आने" (four anna membership) वाली सदस्यता भी कहा जाता है। सक्रिय सदस्यता प्रत्येक उस व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है जो दो वर्ष तक उसका प्राथमिक सदस्य रह चुका हो, जिसकी आयु 21 वर्ष से अधिक हो, जो एक रु० वार्षिक चन्दा देता हो, जो खादी पहनता हो, जो मद्य का प्रयोग न करता हो, जो छुआछूत को न मानता हो, जो साम्प्रदायिक एकता में विश्वास करता हो तथा दूसरे धर्मों के प्रति आदर भाव रखता हो और जो रचनात्मक कार्य या सामाजिक सेवा में कुछ समय व्यतीत करता हो। प्राथमिक सदस्यों की संख्या लगभग 60 लाख है और सक्रिय सदस्यों की संख्या एक लाख है[1]। सह सदस्यों (associate members) की संख्या प्रत्यक्षिक नहीं होती। इन्हें उस समय ही यह सदस्यता प्रदान की जाती है जब कांग्रेस के किसी कार्य से उन्हें सम्बन्धित किया जाता है।

**कांग्रेस की नीतियां और उद्देश्य (Aims and objectives of the Congress)**—स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व कांग्रेस की नीतियों का मूल उद्देश्य देश को विदेशी सत्ता से मुक्ति दिलाना था। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इसका मूल उद्देश्य अपने आपको सत्ता में बनाये रखना है और उसके फलों को भोगना तथा लाभों को दल के सदस्यों में वितरित करना है। इसकी घोषित नीतियों का उद्देश्य सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करना, समाजवादी समाज की स्थापना करना, अल्प संख्यक वर्गों, पिछड़ी हुई जातियों विशेषकर अनुसूचित जातियों और जन जातियों का उत्थान करना, भूमि सुधार और शहरी सम्पत्ति की सीमाबन्दी करना, बेकारी को दूर करना, रोजगार की व्यवस्था करना, गरीबी हटाना, उत्पादन और वितरण के साधनों पर सरकारी नियन्त्रण रखना, मूल उद्योगों पर सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित करना आदि है। संक्षेप में कांग्रेस की नीतियों का मूल उद्देश्य लोकतन्त्र, धर्म निरपेक्ष समाजवाद की स्थापना करना है।

1 See Palmer, Ibid p

काग्रेस की नीतियो को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है —

1 **स्पष्ट एव निश्चित विचारधारा का अभाव**—काग्रेस रग बिरगी विचार धारा वाले ऐसे लोगो का राजनीतिक सगठन है जिन्हे किसी एक विचारधारा से बाधा नही जा सकता। एक तरफ इसमे रूढिवादी, अनुदारवादी, दक्षिण पथी विचारधारा के समर्थक सदस्य रहे हैं तो दूसरी ओर प्रगतिवादी आमूल परिवर्तन वादी वामपन्थी विचारधारा के समर्थक भी इसके सदस्य रहे हैं। काग्रेस का यह विषम जातीय एव सर्वदेशनी (heterogeneous and omnibus nature) स्वरूप उसे वसीयत मे प्राप्त हुआ है। स्वय गाधीजी रूढिवादी और आमूल परिवर्तनवादी दोनो ही थे। जसाकि पामर ने लिखा है कि 'कुछ विषयो म गाधीजी रूढिवादियो से भी अधिक रूढिवादी थे और कुछ अन्य विषयो मे आमूल परिवर्तनवादियो से भी अधिक आमूल परिवर्तनवादी थे।"[1] राबर्ट आई० क्रेन ने भी लिखा है कि 'प्रथम सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय से काग्रेस का आन्तरिक इतिहास अगणित विशेष हितो और भिन्न भिन्न दृष्टिकोणो मे मिलाप का इतिहास रहा है।' पामर के ही शब्दो मे "जब काग्रेस स्वतन्त्रता प्राप्ति का मुख्य सगठन था वह भिन्न भिन्न पृष्ठ भूमियो और हितो वाले लोगो को अपनी पक्तियो मे शामिल कर सकती थी। बिना किसी गम्भीर राजनीतिक बदहजमी के यह छाता या सर्वदेशनी (umbrella or omnibus organization) सगठन के रूप मे काय कर सकती थी।[2]

2 **गाधीवाद समाजवाद, उदारवाद, लोक सेवी राज्य का मिश्रण**—काग्रेस नीतियो मे अनेक विचारधाराओ का मिश्रण स्पष्ट नजर आता है विशेषकर गाधीवादी समाजवादी, उदारवादी, लोक सेवी राज्य की विचारधारायें प्रतिलक्षित होती है। काग्रेस गाधीवाद के सर्वोदय समाज से अत्यधिक प्रभावित है। विकेन्द्रीकृत व्यवस्था कुटीर उद्योगो ग्राम आत्म निर्भरता, समाज सेवा के काग्रेस सिद्धान्तो मे गाधीवादी सर्वोदय समाज के दर्शन किये जा सकते हैं। आर्थिक विषमताओ को दूर करना सम्पत्ति को कुछ हाथो मे केन्द्रित होने से रोकना, रोजगार की व्यवस्था करना, उत्पादन और वितरण के साधनो पर सरकारी नियन्त्रण मूल उद्योगो पर सार्वजनिक स्वामित्व आदि सिद्धान्तो मे समाजवाद के दर्शन किये जा सकते हैं। मिश्रित अर्थ व्यवस्था मे मुक्त उद्यम के अधिकार की स्वीकृति मे उदारवाद के दर्शन किये जा सकते हैं। पिछडे हुए वर्गो के उत्थान और समाज सेवी नीतियो मे लोक कल्याणकारी राज्य के दर्शन किये जा सकते हैं। इस तरह काग्रेस नीतियो मे गाधीवाद समाज वाद, उदारवाद और लोक सेवी राज्य के सिद्धान्तो का अद्वितीय मिश्रण है। और तो और किसी एक दृष्टिकोण को सिद्ध करने के लिए इनका प्रयोग पारस्परिक विनिमय शीलता (interchangeably) के रूप म किया जाता है। जैसाकि पामर ने लिखा है कि 'गाधीवादी आदर्शो का दिखावा करते हुए (भारत मे) मुख्य प्रवृति सुदृढ समाज

1 Palmer, Ibid, p 211
2 Palmer, Ibid pp 210-211

वादी भावना सहित, लोक कल्याणकारी राज्य की ओर रही है। सन् 1955 के अवादी प्रस्ताव के बहुत पहले कांग्रेस ने समाजवादी ढांचे के समाज के उद्देश्य को स्वीकार कर लिया था यद्यपि समाजवादी स्वरूप की सूक्ष्म रूप रेखा के और आवश्यक शर्तों के सम्बन्ध में पूर्ण सहमति न थी। नेहरू और उसके बाद उनकी पुत्री इंदिरा गाधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने निजी क्षेत्र को पर्याप्त रियायतें देते हुए मध्य से वाम मार्ग को अपनाया है।"[1]

3 समाजवादी ढांचे का समाज (Socialist pattern of society)—आर्थिक विचारधारा समाजवादी ढांचे के समाज को स्थापित करना चाहती है। यह समाजवादी ढांचा लोकतांत्रिक समाजवाद पर आधारित है। कांग्रेस के उच्चतम नेता इस बात को कहने थकान अनुभव नहीं करते कि वे लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना चाहते हैं। परन्तु यह इतनी अस्पष्ट विचारधारा है कि इसका कुछ भी अर्थ हो सकता है। इसका अर्थ मिश्रित अर्थ व्यवस्था के नियन्त्रण में मुक्त व्यापार भी हो सकता है और सार्वजनिक हित में निजी सम्पत्ति और उद्योग का राष्ट्रीयकरण भी। इतना अवश्य है कि यह समाज न तो सर्वसत्तावाद को स्वीकार करता है और न अत्यधिक केन्द्रीयकरण को। यह तो विकेन्द्रीकृत सामाजिक व्यवस्था की कल्पना करता है जिसके मूल आदर्श लोकतन्त्र धर्मनिरपेक्षता सामाजिक न्याय और आर्थिक अवसर की समानता, साम्प्रदायिक एकता आदि हैं। जहां यह मूल उद्योगों पर (जैसे लोहा, इस्पात, कोयला, सीमेंट, विद्युत, परिवहन, संचार साधन आदि) सार्वजनिक स्वामित्व का इच्छुक है वहां यह निजी क्षेत्र को भी रियायतें देने का समर्थक है। अर्थात् सार्वजनिक क्षेत्र के साथ निजी क्षेत्र को भी बनाये रखना चाहता है। इस लोकतान्त्रिक समाजवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सामाजिक परिवर्तनों के लिये यह गोली (bullet) अर्थात् हिंसक साधनों का प्रयोग नहीं करता बल्कि मत पत्रों (ballots) अर्थात् संवैधानिक साधनों का प्रयोग करता है।

कांग्रेस द्वारा समाजवादी ढांचे के समाज की स्वीकृति ने अन्य समाजवादी दलों (जैसे प्रसोपा और ससोपा) और साम्यवादी दलों (जैसे CPI CPI (M), CPI (ML) के विकास को अवरुद्ध किया है। आज कांग्रेस उसी प्रकार समाजवाद के नाम से पहचानी जाती है जिस प्रकार कि अन्य समाजवादी या साम्यवादी दल समाजवाद से पहचाने जाते हैं। जैसा कि जार्ज बेली ने लिखा है कि "भारत का समाजवादी दल न तो समाजवादी दल है और न ही साम्यवादी दल बल्कि कांग्रेस ही समाजवादी दल है। अनेक दशाब्दियों पूर्व इसने समाजवाद को अपने में समेट लिया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से पंचवर्षीय योजनाओं और विकास कार्यक्रमों के रूप में भारत के महान् समाजवादी प्रयास कांग्रेस द्वारा ही चिंतित किये गये, उसी के द्वारा मार्यान्वित किये गये तथा उसी के द्वारा कार्यान्वित किये जा रहे हैं।"[2]

1 Palmer, Ibid p, 216
2 Bailey, George, "Pandit Nehru's One Party Democracy The Reporter, No 13 1955 p 31 Quoted by Palmer Ibid p 216

4 सत्ता में अटूट बने रहने की इच्छा—कांग्रेस की घोषित नीति समाजवादी ढांचे के समाज की स्थापना अवश्य है[1] परन्तु समाजवाद से लगाव उसका उस समय तक ही है जिस समय तक उसकी सत्ता को चेतावनी नही दी जाती। अर्थात् वह समाजवाद की स्थापना से कही अधिक महत्व सत्ता को देती है। अपने आपको सत्ता मे बनाये रखने के लिये कांग्रेस ने ऐसी नीतियो का अनुसरण किया है (विशेषकर प्रादेशिक स्तर पर) जो न तो लोकतन्त्र की रक्षा करती है और न ही समाजवाद की वस्तुत ये नीतिया कांग्रेस की घोषित नीतियो के विरुद्ध भी हैं। उदाहरणतया कांग्रेस न पक्ष त्याग (defections) की नीति को बढावा देकर सुदृढ सयुक्त विरोधी पक्ष को उभरने ही नही दिया, ससद के मन्त्रिमण्डल के सयुक्त उत्तरदायित्व की परम्परा को स्वीकार न कर ससदीय लोकतन्त्र के अर्थ को ही बदल दिया है। राष्ट्रीय मतैक्यता के नाम पर इसने ऐसे राजनीतिक दलो साम्प्रदायिक समूहो और स्थानीय नेताओ के साथ मिलाप (accommodate) किया है अर्थात् ऐसे वर्गीय, जातीय नेताओ को अपने दल मे स्थान दिया है जो कांग्रेस की राष्ट्रीय धर्म निरपेक्ष, लोकतान्त्रिक, समाजवादी नीतियो पर ही कुठाराघात करते हैं। सत्ता मे बने रहने के लोभ के कारण ही कांग्रेस की घोषित नीतियो और उपलब्धियो मे महान अन्तर पाया जाता है। इसी ने ही आधुनिकता और परम्परा मे तनाव उत्पन्न किया है। मायरन वीनर ने ठीक लिखा है कि "जीतने के प्रयास मे कांग्रेस अपने आपको स्थानीय सत्ता और ढांचे के अनुकूल बना लेती है। यह उन लोगो मे से भरती (सदस्यो की भरती) करती है जिनके पास स्थानीय सत्ता और प्रभाव है इससे ऐसी राजनीतिक प्रणाली का उदय हुआ है जो शासन, जिसकी समाज और अर्थव्यवस्था को आधुनिक बनाने की इच्छा है, और दल मे, जिसे चुनाव जीतने के लिये अपने आपको स्थानीय वातावरण के अनुकूल बनना है, पर्याप्त तनाव को जन्म देती है।"[2]

5 कांग्रेस की विदेश नीति—कांग्रेस की विदेश नीति के मूल तत्व शान्तिवाद, पचशील सहअस्तित्व, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और सस्थाओ के प्रति आस्था, असलग्नता आदि है। कांग्रेस पडोसी देशो के साथ, चीन पाकिस्तान सहित, अच्छे सम्बन्ध बनाने की इच्छुक है। यह उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद जाति भेद का

1 कांग्रेस ने कुछ कार्य ऐसे अवश्य किये हैं जो समाजवादी समाज की स्थापना मे सहायक हो सकते हैं। जसे बडे बडे बको का राष्ट्रीयकरण राजाओ के प्रिवी पर्स की समाप्ति, सविधान मे 25 वा सशोधन जिसने अनुच्छेद 31 मे मुआवजे (compensation) के स्थान पर राशि (amount) शब्द को जोड दिया। परन्तु ये कार्य वास्तविक होने के स्थान पर दिखावे के अधिक हैं।

2 Weiner Myron Party Building in a New Nation p 15 Also see Hardgrave Jr Ibid p 125

विरोधी है। यह किसी देश के आन्तरिक मामला में हस्तक्षेप नहीं करना चाहती परन्तु साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलना की समर्थक है। इसकी नीति असलग्नता की है अर्थात् यह पश्चिमी या पूर्वी गुटों के साथ सैनिक समझौतों की इच्छुक नहीं। परन्तु इसकी विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चुपचाप बैठन की नहीं वरन् सक्रिय भूमिका निभाने की इच्छा रखती है। जैसाकि नेहरूजी ने सितम्बर 1949 में कहा था कि जहां स्वाधीनता संकट में हो, न्याय खतरे में हो आक्रमण की घटना हुई हो वहां हम न तो तटस्थ रह सकते हैं और न तटस्थ रहेंगे।

### कांग्रेस का गुटीय स्वरूप
### (The factional character of the Congress)

कांग्रेस का आन्तरिक स्वरूप गुटबन्दी का रहा है। इसका मूल कारण यह है कि इसका संगठन लचीला है और इसकी नीतियों और कार्यक्रमों में स्पष्ट विचार धारा का अभाव है। कांग्रेस को प्राय मध्यमवर्गीय (centrists) कहा जाता है। यद्यपि इसमें दक्षिणपंथियों (rightists) और वामपंथियों (leftists) का प्रभाव भी पर्याप्त रहा है। नेहरू और इंदिरा गांधी की नीतियों को तो 'मध्य से वायें' (left-of centre) की संज्ञा दी गयी है। वस्तुत हर प्रकार की विचारधारा के लोग इसमें पाये जाते हैं जैसे उदारवादी लोकतन्त्रवादी रूढिवादी, अनुदारवादी, परम्परावादी, समाजवादी साम्यवादी आमूल परिवर्तनवादी, आदि। ये भिन्न भिन्न विचार धारा वाले लोगों के अपने अपने विशेष हित और स्वार्थ होते हैं जिनकी पूर्ति के लिये वे न्यूनाधिक मात्रा में कांग्रेस की नीतियों, उद्देश्यों और कार्यक्रमों को प्रभावित करते रहते हैं तथा अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने और सत्ता के लाभों को प्राप्त करने का प्रयास करते रहते हैं। यही भिन्न भिन्न हित, स्वार्थ और दबाव समूह ही कांग्रेस में गुटबन्दी का जन्म दाता हैं।

कांग्रेस में आन्तरिक गुटों और आन्तरिक दलों के विद्यमान होने का एक कारण यह है कि उसने राष्ट्रीय आन्दोलन के अपने उदार और संश्लिष्ट (eclectic and composite) स्वरूप को बनाये रखा है। यह सामाजिक और सैद्धान्तिक भिन्नताओं में सन्तुलन और समायोजन उत्पन्न करती रहती है। इस सन्तुलन और समायोजन की प्रक्रिया ने कांग्रेस को सजातीय (homogeneous) बनाने के स्थान पर विजातीय (heterogeneous) बनाया है। जैसाकि गोपाल कृष्ण ने लिखा है कि "दल ने अपने संश्लिष्ट स्वरूप को बनाये रखा है परन्तु बहकाने वाले तत्वों के अन्धाधुन्ध मेल ने उसे अधिक विजातीय बना दिया है क्योंकि आर्थिक विकास, समाजवाद और लोकतन्त्र के इर्द गिर्द उत्पन्न की गयी अनन्यता दिखावटी रही है।"[1] पॉल आर० ब्रास ने भी लिखा है कि कांग्रेस ने समायोजन और मेल जोल की नीति को अपनाया

1 Krishna Gopal One Party Dominance, p 29 Also see Hardgrave Jr Ibid p 125

है, इसने पारम्परिक व्यवस्था को बदलने के स्थान पर उसे प्रभावित किया है। भारत मे आधुनिकता एक तरफा प्रक्रिया नही। यदि राजनीतिक सस्थाय समाज का आधुनिकीकरण करती है तो समाज भी सस्थाओ को पारम्परिक बनाता है।

काग्रेस के आ तरिक गुट और दल, काग्रेस की भाति किन्ही ठोस विचार धाराओ या सिद्धांतो पर आधारित नहीं। प्राय ये व्यक्ति विशेष के इद गिद घूमने ह या ये निजी प्रतिस्पर्धा (personal rivalries) पर निभर करते ह या सत्ता के लाभो को प्राप्त करने के लिये उत्पन्न होते ह। जैसाकि हाडग्रेव जूनियर ने लिखा है कि आन्तरिक 'सघष सैद्धान्तिक नही व्यक्तिगत है और अस्थिर राजनीतिक सघो से निश्चित होता है।[1] पाल ब्रास ने भी लिखा है कि 'मित्रताये बनती ह और ग्रुप नेताओ की पारस्परिक सुविधा और सत्ता राजनीति मे अस्थायी साझेदारी के आधार पर विघटन और पक्ष—परित्याग (difections) उत्पन्न होते है।'

काग्रेस की आन्तरिक गुटब दी ने ही अनेक पथक राजनीति दलो को जन्म दिया है परन्तु पृथक होने के बाद भी ये दल अपनी छाया के रूप म काग्रेस मे कुछ तत्वो को छोड आते हैं और बाद म इन्ही छाया तत्वो के माध्यम से या सीमा त म रहकर काग्रेस की नीतियो और उद्देश्यो को प्रभावित करते रहे है। जैसाकि हाडग्रेव जूनियर ने लिखा है कि "पृथक दलो के रूप मे कांग्रेस छतरी से सगठित समूह प्रकट हुए हैं परन्तु प्रत्यक ने अपने सिद्धांतो के अनुरूप गुट को कांग्रेस के अन्दर छोड दिया। इस तरह प्रत्येक विरोधी दल ने जनसघ, स्वतन्त्र दल, समाजवादी, साम्यवादी कांग्रेस मे प्रवेश के अवसरो को बनाय रखा है जो उसे अपनी आकृति मे कही अधिक प्रभाव प्रदान करती है।'[3]

भारतीय राजनीतिक प्रणाली म सुदृढ विरोधी दलो के विकास न होने का एक कारण यह है कि काग्रेस की स तुलन और समायोजन की प्रवति न विरोधी दलो की नीतिया, उद्देश्यो और समथन के आधारो को अपना लिया है। इस प्रवत्ति ने जहा विरोधी दलो के विकास को अवरुद्ध किया है वहा काग्रेस मे गुटब दी और सिद्धा तहीनता को जन्म दिया है और अपन आपको जीवित रखा है। जसाकि हाडग्रेव ने लिखा है कि विरोध को क्षति पहु चा कर ही काग्रेस ने अपने आपको जीवित रखा है। उदाहरणतया 1955 मे काग्रेस ने अवादी म "समाजवादी ढाचे के समाजवाद (the socialist pattern of society) के उद्देश्य को स्वीकार कर प्रजा समाजवादी दल (PSP) की शक्ति को क्षीण कर दिया। स्वतन्त्र दल की शक्ति को क्षीण करने के लिये काग्रेस ने सामन्तवादियो और जमीदारो (जो स्वतन्त्र दल के समर्थक समझे जाते हैं) को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये अपनी भूमि सुधारो की नीति मे ढील दे दी। अनेक दलो के क्षेत्रीय और जातीय आधार को निर्बल करने के लिये काग्रेस ने क्षेत्रवाद भाषावाद और जातिवाद से, कम से कम राज्य और स्थानीय स्तर पर, समझौते किये। तामिल नाद म द्रमुक (DMK) का शिथिल करने

1 Hardgrave Jr Ibid p 126
2 Hardgrave Jr Ibid p 124

के लिए कामराज के नेतृत्व में गैर ब्राह्मण मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया, भाषा के आधार पर दलीय हितों को देखते हुए, राज्यों का पुनर्गठन किया। कांग्रेस यद्यपि जातिवाद की भर्त्सना करती है परन्तु निर्वाचनों में प्रत्याशियों का चयन और चुनाव प्रचार शुद्ध सिद्धान्तों के आधार पर नहीं किया जाता, निर्वाचन क्षेत्र में जाति प्रमुख (dominant caste) का ध्यान रखा जाता है।

कांग्रेस की आंतरिक गुटबन्दी के परिणाम—कांग्रेस की आंतरिक गुटबन्दी के दो प्रकार के प्रभाव रहे हैं (1) नकारात्मक और सकारात्मक। नकारात्मक दृष्टि से इसके अनेक कुप्रभाव रहे हैं प्रथम किसी भी राजनीतिक दल में गुटों का अस्तित्व उसकी जीवन शक्ति और कार्यक्षमता पर कुप्रभाव डालता है। दूसरे, गुटबन्दियों से कौशलता और न्याय की लोलुप होती हैं अतः ये राजनीतिक दल के व्यापक आधार को अवरुद्ध करती हैं। तीसरे, इन गुटबन्दियों ने दलीय निष्ठा और अनुशासन को चुनौतियाँ दी हैं जिन्होंने न केवल कांग्रेस की प्रतिमा को धूमिल किया है बल्कि उस पक्ष को प्रभावित करने वाला और सामान्य को विभाजित करने वाला संगठन बना दिया है। चौथे आंतरिक गुटबन्दियों ने उन राज्यों में भी अस्थिर राजनीतिक स्थिति को उत्पन्न किया है जहाँ कांग्रेस की स्थिति सुदृढ़ है। यह अस्थिरता न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्येक कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों में पाई जाती है परन्तु उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल इससे विशेष प्रभावित रहे हैं। पाँचवें आंतरिक गुटबन्दियों ने कांग्रेस की धर्म निरपेक्षता राष्ट्रीयता और समाजवाद, आदि पर ही प्रहार किया है। कांग्रेस की आंतरिक गुटबन्दियाँ केवल "व्यक्तित्व" के इर्द गिर्द ही विद्यमान नहीं रही बल्कि समूह जाति सम्प्रदाय और धर्म पर भी आधारित रही हैं। इनमें से कुछ धर्म और हितों को विशेष रूप से प्रभावी रहे हैं। यदि कांग्रेस 28 वर्षों के निरन्तर शासन में भी अपने समाजवादी ढाँचे के समाजवाद के उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल रहा है तो इसका मूल कारण ये आंतरिक गुट हैं जो अपने स्वार्थी हितों की पूर्ति के लिए कांग्रेस कार्यक्रमों में बाधा डालते हैं। यद्यपि 1963 में कामराज योजना द्वारा गुटबन्दी के प्रभाव को कम करने का प्रयास किया गया परन्तु यह योजना भी अपने उद्देश्य में सफल हुई और गुटबन्दी का रोग कांग्रेस में आज भी विद्यमान है।

यह सत्य है कि गुटबन्दी के प्रभाव अन्ततः दल के संगठन और राष्ट्र के व्यापक हितों के विरुद्ध सिद्ध होते हैं परन्तु फिर भी इन आन्तरिक गुटों के अनेक सकारात्मक प्रभाव भी निकले हैं उदाहरणतया इन्होंने एकीकरण मतैक्यता (con sensus) समायोजन (adjustment) मेल जोल (accommodation) की प्रवृत्तियों को भी जन्म दिया है और सर्वसत्तावादी एकत्ववादी प्रवृत्तियों के विकास को अवरुद्ध किया है। इन आंतरिक गुटों ने ही कांग्रेस को एकात्मीय (monolithic) बनाने के स्थान पर बहुवादी (pluralistic) रूप प्रदान किया है। दूसरे सुदृढ़ विरोधी दलों के अभाव में कांग्रेस के आंतरिक गुट ही विरोधी दल (विपक्ष opposition) के रूप में कार्य करते रहे हैं। कुछ लेखकों और पर्यवेक्षकों का यह मत है कि कांग्रेस के संगठन (organisational wing) ने कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल के विपक्ष के रूप में

काय किया है और अपने आपको वैकल्पिक सरकार (alernative government) क रूप म, काग्रेस हाई कमाण्ड और राज्य के लोगो के समक्ष प्रस्तुत किया है। उदाहरणतया चन्द्रभान गुप्त (UPPCPP के अध्यक्ष) ने डा सम्पूर्णान द (उत्तर प्रदेश क काग्रेसी मन्त्रिमण्डल के मुख्य मन्त्री) के विकल्प मे अपने आपको प्रस्तुत किया। इसी प्रकार उडीसा मे मेहताब न पटनायक के विकल्प मे अपने आपको प्रस्तुत किया। रजनी कोठारी ने लिखा है कि "दल के शासनात्मक और सगठनात्मक भागो के सघष न वस्तुत द्विदलीय प्रणाली को गठित किया। "हाडग्रेव जूनियर का विश्वास है कि इसकी (कांग्रेस दल की) पक्तियां क आतरिक गुट और आतरिक दल ही विरोध के आधार रह हैं। तीसरे, काग्रेस की आतरिक गुटबन्दियो ने एकीकरण की क्रिया मे सहयोग दिया है। क्योकि ये गुटबन्दियाँ केवल एक वग, जाति, या हित पर आधारित नही अत "दबाव समायोजन और मेल मिलाप की" की निर तर प्रक्रिया द्वारा व एक दूसरे पर प्रभाव डालती रहती हैं। जसाकि पॉल आर ब्रास ने लिखा है कि सभी गुट नेता जाति स बाहर मित्रता को ढूढने की कोशिश करते हे क्योकि जिस बात की व इच्छा रखते है वह केवल जाति के दावो (अधिकारो) का *विस्तार मात्र नहीं बल्कि वह राजनीतिक सत्ता है जिसको वे प्राप्त करना चाहते हैं।* चौथे, गुटो ने काग्रेस के सामाजिक आधार को व्यापक बनाया है। प्रत्येक गुट केवल एक जाति या वग का ही समथन प्राप्त करना नही चाहता बल्कि अनेक जातियो और वर्गो का समथन प्राप्त करने की कोशिश करता है। अत इस प्रक्रिया मे वह जाति क आधार को धम निरपेक्ष या अन्य राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक भावनाओ स प्रभावित करते अर्थात् जाति का राजनीतिकरण करने की कोशिश करता है **पाचवे** आतरिक गुटो ने जहा 1967 के चुनावो मे काग्रेस को गम्भीर क्षति पहुचाई है वहा कम से कम 1967 तक, जसाकि वीनर ने लिखा है "गम्भीर अ तदलीय सघष होन पर भी लोक समथन के आधार को बनाये रखा है।"

**सकट और फूट—1969 का काग्रेस विघटन** (Crisis and split—1969 Congress split)—काग्रेस का इतिहास आ तरिक झगडो सकटो मतभेदो, विरोधी और षडयन्त्रो का इतिहास रहा है। कभी उद्देश्यो की प्राप्ति के साधनो मे मतभेद के आधार पर कभी नतृत्व के प्रश्न को लेकर, कभी सगठन या शासन मे लाभ के पदो से वचित रहने से असन्तुष्ट और असहमत सदस्यो के कारण और कभी सगठन के नेतृत्व (organizational leadership) और शासन के नेतृत्व (administrative leadership) म मतभेदो के कारण और कभी विचारधाराओ मे भिन्नता के कारण उत्पन्न हुए हैं।

काग्रेस म केवल स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही सकट उत्पन्न नही हुए बल्कि स्वतन्त्रता से पूव भी ये सकट और मतभेद विद्यमान थे। काग्रेस म सवप्रथम सकट बीसवी शताब्दी के आरम्भ म उदारवादियो और उग्रवादियो के मध्य उत्पन्न हुआ था और साधनो मे गम्भीर मतभेद के कारण 1907 म सूरत मे काग्रेस दो भागो म

विभक्त हो गयी थी। आठ वर्ष तक विभक्त रहने के पश्चात 1916 में लखनऊ में दोनो भाग एक हो गये परन्तु फिर भी कुछ भेद तो विद्यमान रहे। सन् 1920 में महात्मा गाधी द्वारा काग्रेस का नेतृत्व सम्भालने के बाद भी भेद विद्यमान रहे। स्वय गाधीजी जो प्रथम युद्ध काल मे शासन के सहयोगी थे युद्ध के बाद (रौलट विधेयक जलियावाला बाग हत्याकाण्ड और खिलाफत के प्रश्न पर) शासन के विरोधी हो गये। असहयोग आन्दोलन (1920–1922) के प्रश्न पर ही काग्रेस विभाजित थी गाधीवादी इसके समर्थक थे और उग्रवादी नेता तथा बाद मे जिन्होने स्वराज्य दल की स्थापना की जैसे देशबन्धु चितरञ्जन दास, बिपिनचन्द्र पाल, मदन मोहन मालवीय, ऐनी बेसेन्ट, आदि इसके विरोधी थे। असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव पास होने के बाद जब काग्रेस एक जुट हो कर आन्दोलन कर रही थी तो चौरी चौरा काण्ड के प्रश्न पर महात्मा गाधी द्वारा इसे वापस लेने पर उग्र मतभेद उत्पन्न हुए और एक बार तो गाधी के नेतृत्व को भी चेतावनी दी गयी। "परिषदा मे प्रवेश" के प्रश्न पर काग्रेस 1923 मे दिल्ली अधिवेशन मे परिवर्तनवादियो (changers) और अपरिवर्तनवादियो (non changers) मे विभक्त हो गयी। सन 1937 के प्रान्तीय निर्वाचनो मे जब काग्रेस को छ प्रान्तो मे पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ तो मन्त्रि मण्डलो मे निर्माण के प्रश्न पर काग्रेस विभाजित थी। काग्रेस समाजवादी दल के सदस्य, विशेषकर सुभाष चन्द्र बोस और नेहरू मन्त्रिपदो को स्वीकार करने के विरोधी थे परन्तु राजगोपालाचार्य, डा० राजेन्द्र प्रसाद, सरदार पटेल आदि नेता मन्त्रिपदो को स्वीकार करने के पक्ष मे थे। 1939 मे काग्रेस अध्यक्ष पद के निर्वाचन के समय काग्रेस स्पष्टतया गाधीवादी और बोस गुटो मे विभक्त थी। श्री बोस ने गाधीजी द्वारा समर्थित डा० पट्टाभि सीतारमय्या को पराजित अवश्य किया परन्तु काग्रेस कार्यकारिणी (CWC) मे विरोध के कारण श्री बोस को त्याग पत्र देना पडा और उन्होने काग्रेस के अन्दर 'फारवर्ड ब्लाक' (forward bloc) की स्थापना की।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी काग्रेस मे अनेक गुट और हित विद्यमान रहे हैं जिनके दृष्टिकोण एक दूसरे से भिन्न रहे हैं। इन गुटो मे से कुछ तो स्वय काग्रेस से अलग हो गये और कुछ को काग्रेस से निकाल दिया गया। 1948 मे महात्मा गाधी की हत्या के बाद काग्रेस समाजवादी दल काग्रेस से पृथक हो गया। प्रथम चुनाव के कुछ समय पूर्व काग्रेस असहमतो (dissidents) ने जे० बी० कृपलानी के नेतृत्व मे किसान मजदूर प्रजा पार्टी (KMPP) का निर्माण किया। इसी दौर मे भारत के प्रथम राष्ट्रपति के प्रश्न पर काग्रेस नेहरू और पटेल गुटो मे विभक्त हो गयी थी। जहा नेहरू गुट सी० राजगोपालाचार्य के पक्ष मे था वहा पटेल गुट डा० राजेन्द्र प्रसाद के पक्ष मे था। अन्तत पटेल गुट की विजय हुई और डा० राजेन्द्र प्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति बने। पटेल गुट ने पुरुषोत्तमदास टण्डन के काग्रेस अध्यक्ष पद पर निर्वाचित होने मे नेहरू-पटेल गुट के मतभेद उग्र हो गये परन्तु

सितम्बर 1950 मे पटेल की मृत्यु के बाद पटेल ग्रुप को धक्का लगा और 1951 मे प० जवाहरलाल कांग्रेस अध्यक्ष चुन लिये गये। इस तरह संगठनात्मक नेतृत्व और शासनात्मक नेतृत्व नेहरू के हाथो मे सग्रहित हो गया और 1964 मे मृत्यु तक संगठन और शासन पर नेहरूजी का आधिपत्य रहा। 1951–1963 के काल मे जितने भी कांग्रेस अध्यक्ष बने जैसे यू० एन० ढेबर (U N Dhebar) इंदिरा गाधी, संजीव रेड्डी डी० संजीवय्या, वे सब प्रधान मन्त्री नेहरू के बंदी (captive)[1] थे और उन्ही की आज्ञाओ का पालन करते थे। इस काल मे कांग्रेस अध्यक्ष को, फ्रैंक मोरिस के शब्दो मे "प्रधान मन्त्री के नेतृत्व मे कांग्रेस केन्द्रीय सरकार के उपस्वी कार्यालय" जैसे की सज्ञा दी जाती थी। इस तरह शासन के नेतृत्व को संगठन के नेतृत्व से कोई चुनौती नही थी।

यह सत्य है कि नेहरू काल मे कांग्रस विघटित नही हुई और विरोधी तत्व दब रहे (क्योकि नेहरू के व्यक्तित्व को चेतावनी देने का साहस किसी मे नही था) परन्तु फिर भी कांग्रेस असहमतो ने अनेक राज्यो मे इस काल मे भी पृथक संगठन बनाये और विरोधी दलो के साथ साठ गाठ करने का प्रयास किया जैसे उत्तरप्रदेश मे 'पीपल्स कांग्रेस पार्टी (Peoples Congress Party) का निर्माण हुआ, ट्रावनकोर कोचीन मे कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी (Congress Democratic Party) का निर्माण किया गया, पश्चिमी बगाल मे कृषक प्रजा मजदूर पार्टी (Krishak Praja Mazdoor Party) आदि।

मई 27, 1964 मे नेहरू की मृत्यु के बाद कांग्रेस मे फूट के तत्व बलशाली होने लगे और प्रधान मन्त्री पद के लिये सब श्री लालबहादुर शास्त्री और मोरारजी देसाई प्रत्याशी के रूप मे सामने आये। परन्तु कांग्रेस अध्यक्ष कामराज ने जिसे 'किंग मेकर" (king maker) की सज्ञा दी जाती थी, मुकाबले को टालने के लिये, दलीय अनुशासन को बनाये रखने के लिये और मतक्यता (consensus) प्राप्त करने के लिये कांग्रेस कार्यकारिणी की सदस्य सख्या 42 कर दी जिसमे कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य, मुख्य मन्त्रियो, कांग्रेस ससदीय दल, केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के प्रमुख मन्त्रियो आदि को शामिल किया गया। इसमे कृष्णा मेनन को भी निमन्त्रित किया गया। माइकेल ब्रेकर ने इस वृहद्ध कार्यकारिणी को "गणराज्य की महान परिषद" (the grand council of the republic)[2] की सज्ञा दी है। अत्यधिक दबाव के कारण मोरारजी देसाई ने अपने नामाकन (nomination) को वापस ले लिया और लालबहादुर शास्त्री का निर्वाचन सर्वसम्मति से हो गया। कांग्रेस विघटन से बच गयी।

---

1 This terminology has been used by Hardrave Jr Robert L in his India Government & politics in a Developing Nation, p 130

2 Quoted in Kochanek, The Congress Party, p 89 Also see Hardrave Jr Ibid, p 132

जनवरी 1966 में लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद प्रधानमन्त्री पद के लिये फिर दो प्रत्याशी सामने आये। इस समय दो प्रत्याशी थे श्रीमती इन्दिरा गांधी और मोरारजी देसाई। इस बार मोरारजी देसाई अपना नामांकन वापस लेने के लिये तयार नहीं हुए जसाकि माइकेल ब्रेचर ने लिखा है कि "मतक्यता की राजनीति ने स्पष्ट संघर्ष की राजनीति' के सामने घुटने टेक दिये। दलीय निर्वाचन में श्रीमती इन्दिरा गांधी की विजय हुई। उन्हें 355 मत प्राप्त हुए जबकि मोरारजी देसाई को 169 मत प्राप्त हुए[1]। यद्यपि चुनाव के बाद मोरारजी देसाई ने श्रीमती इन्दिरा गांधी का समर्थन करने का आश्वासन दिया परन्तु इसने यह स्पष्ट कर दिया कि दल में गहरे मतभेद हैं। शीघ्र ही दलीय संगठन और इन्दिरा गांधी में मतभेद उत्पन्न हो गये। तनाव, संघर्ष, गुटबन्दी और षड्यन्त्र ने दल में गहरा स्थान प्राप्त कर लिया।

1967 के चौथे चुनाव में कांग्रेस की पराजय—चौथे चुनाव से पूर्व अनेक असन्तुष्ट और असहमत कांग्रेसियों ने जिन्हें शासन या दल में कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं थे राज्यों में पृथक कांग्रेसी संगठनों को जन्म दिया और विरोधी दलों के साथ साठ गांठ भी की। उदाहरणतया उडीसा में जन कांग्रेस का जन्म हुआ जिसने स्वतन्त्र दल के साथ निर्वाचन सन्धियां (electoral alliances) स्थापित की, राजस्थान में जनता पार्टी का उदय हुआ जिसने कांग्रेस के विरोध में विरोधी दलों के साथ निर्वाचन सन्धियां की। इसी प्रकार बिहार में जन क्रान्ति दल, मध्य प्रदेश में जन कांग्रेस और पंजाब में जनता पार्टी का उदय हुआ। उत्तरप्रदेश और आन्ध्र प्रदेश में यद्यपि पृथक कांग्रेसी दलों का निर्माण नहीं किया गया परन्तु तनाव, फूट, विरोध आदि तत्व यहां भी विद्यमान थे, इन का परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस का लगभग सभी राज्यों में बहुमत गिर गया और अनेक राज्यों में तो इसे विरोध पक्ष में बैठना पड़ा। कांग्रेस को उस समय के 15 राज्यों में से केवल 7 में बहुमत प्राप्त हुआ।

एक दृष्टि से कांग्रेस की चौथे चुनाव में पराजय ने इन्दिरा गांधी की स्थिति को मजबूत किया। राज्यों के अनेक कांग्रेसी नेताओं (congress state bosses) को पराजय का मुंह देखना पड़ा और बिना किसी विरोध के ये नेता इन्दिरा गांधी के मार्ग से दूर हो गये या कम से कम उनके प्रभाव में अत्यधिक कमी आई। दूसरे, चुनाव पराजय ने नेतृत्व के प्रश्न पर मतैक्यता पर बल दिया जैसाकि कोचनक ने लिखा है कि "चुनाव पराजयों ने पहले से ही निर्बल बनाई गयी पार्टी में फूट विघटन को टालने के लिये नेतृत्व के प्रश्न पर मतैक्यता उत्पन्न करने के लिये जबरदस्त दबाव को जन्म दिया।"

सैद्धान्तिक मतभेद (Ideological differences)—चौथे निर्वाचन के बाद केन्द्र में इन्दिरा गांधी की सरकार बनी जिसमें मोरारजी देसाई उप प्रधान मन्त्री थे तथा वित्त विभाग भी मोरारजी देसाई के पास था। सरकार ने सामाजिक परिवर्तन

1 See Hardgrave Jr Ibid, p 133

को शीघ्र लाने के लिये एक दस सूत्री कार्यक्रम तैयार किया जिसमे बकों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न भी शामिल था। श्री मोरारजी देसाई तथा उन जैसी विचार धारा रखने वाले अभिपद (syndicates) बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विरोधी थे। अप्रेल 1969 के फरीदाबाद अधिवेशन मे काग्रेस अध्यक्ष निजलिंगप्पा (Nijalingappa) प्रगतिशील उपायो (progressive measures) की कडे शब्दो म आलोचना की और सरकारी उपक्रमो (public undertakings) की कुशलता की माग की और निजी एकाधिकार उपक्रमो की प्रशसा की। इदिरा गाधी ने काग्रेस अध्यक्ष निजलिंगप्पा का विरोध किया और य विचार व्यक्त किये कि सावजनिक क्षेत्र मे लाभ हो या नही, यह स्वय मे एक साध्य है। फरीदाबाद अधिवेशन म यद्यपि दोनो विचारधाराओ मे प्रत्यक्ष तोड फोड तो नही हुई परन्तु इस अधिवेशन न दोनो गुटो के गम्भीर मत भेदो को स्पष्ट कर दिया।

इन्दिरा गाधी के बिखरे हुए विचार (Stray thoughts of Indira Gandhi)—अप्रेल 1969 के फरीदाबाद अधिवेशन मे ही यह स्पष्ट हो गया था कि काग्रेस मे दो प्रकार की विचारधारायें काय कर रही थी। एक विचारधारा अभिपदो (syndicates) की थी जो सामाजिक परिवतन की ओर धीरे धीरे और सावधानी से बढना चाहते थे। दूसरी विचारधारा सकेतको (indicates) की थी जो शीघ्र और आमूल परिवतन लाने के इच्छुक थे। जुलाई 1969 के बगलौर अधिवेशन मे इन्दिरा गाँधी ने 'बिखरे हुए विचारो' (stray thoughts) के नाम स एक प्रपत्र प्रस्तुत किया जिसमे काग्रस की आर्थिक नीति के सम्बन्ध मे कुछ प्रस्ताव थे। इस प्रपत्र म जिन प्रस्तावो का मुख्यतया उल्लेख किया गया था वे थे प्रमुख व्यावसायिक बको का राष्ट्रीयकरण, सामान्य बीमा का राष्ट्रीयकरण, भूमि, शहरी आय और सम्पत्ति की सीमा बन्दी, एकाधिकार प्रवृत्तियो का दमन करने के लिये लाइसेन्स नीति मे परिवतन, औद्योगिक लाभो मे श्रमिको का हिस्सा, भूमि सुधारो की शीघ्र कार्यान्विति, आदि। इन्दिरा गाधी के इस कायक्रम से अभिपद (syndicates) खुश नही थे पर तु राष्ट्र के वातावरण को देखते हुए उन्होने इस कायक्रम को राजनीतिक उपयोगिता (political expediency) के रूप मे स्वीकार कर लिया।

राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के प्रश्न पर मतभेद (Differences over presidential candidate)—राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के प्रश्न को लेकर सिंडीकेटस और इण्डीकेट्स मे उग्र मत भेद ही उत्पन्न नही हुए बल्कि इसी प्रश्न ने अन्तत काग्रेस के 1969 के विघटन को भी जन्म दिया जो काग्रेस इतिहास की स्थायी घटना बन गयी है।

परम्परा के अनुसार राष्ट्रपति पद के लिये प्रत्याशी का नाम काग्रेस ससदीय दल के द्वारा प्रस्तावित किया जाता है। परन्तु ससदीय दल के द्वारा राष्ट्रपति पद के

लिये जो नाम प्रस्तुत किये गये थे,[1] वे कांग्रेस के संगठन को पसन्द नहीं थे। क्योंकि उस समय सिंडीकेटस प्रभाव में थी अतः उनके द्वारा समर्थित प्रत्याशी संजीव रेड्डी (जो उस समय लोकसभा के स्पीकर थे) को राष्ट्रपति पद के लिये नामांकित किया गया। संजीव रेड्डी के नामांकन का समर्थन करने वालों में इंदिरा गांधी भी थी। परन्तु 3–4 महीनों में ऐसी घटनाये घटी कि कांग्रेस का विघटन अनिवार्य हो गया। ये घटनायें मुख्यतया निम्न थी—

(i) श्री वी० वी० गिरि ने, जो कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहे थे, राष्ट्रपति पद से त्याग पत्र दे दिया और राष्ट्रपति पद के लिये चुनाव लड़ने की घोषणा कर दी। सिन्डीकेटस का अनुमान था कि वी० वी० गिरि ने इंदिरा गांधी के समर्थन पर यह निर्णय लिया है।

(ii) यह अनुभव करते हुए कि कुछ कांग्रेसी एम० पी० और एम० एल० ए० संजीव रेड्डी की उम्मीदवारी का समर्थन नहीं करेंगे, कांग्रेस अध्यक्ष निर्जलिंगप्पा ने दलीय सचेतक (party whip) जारी किया कि कांग्रेस एम० पी० और कांग्रेस एम० एल० ए० कांग्रेस के प्रत्याशी संजीव रेड्डी का समर्थन करें। निर्जलिंगप्पा ने इंदिरा गांधी से भी ऐसा ही सचेतक (whip) जारी करने के लिये कहा।

(iii) बंगलौर अधिवेशन के बाद इंदिरा गांधी ने मोरारजी देसाई से वित्त विभाग को छीन लिया। साथ ही अपनी रेडिकल (Radical) नीतियों का परिचय देने के लिये इंदिरा गांधी ने 14 बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। मोरारजी देसाई ने आत्म सम्मान के लिये उप प्रधान मन्त्री पद और मन्त्रिमण्डल से त्याग पत्र दे दिया।

(iv) कांग्रेस अध्यक्ष निर्जलिंगप्पा और प्रधान मन्त्री इंदिरा गांधी ने एक दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप लगाये। यह हवा फल रही थी कि राष्ट्रपति चुनाव के बाद सिन्डीकेट के सदस्य केन्द्र में राष्ट्रपति की अपरक्षित शक्तियों का प्रयोग कर इंदिरा गांधी को अपदस्थ करने का प्रयास करेंगे तथा जन संघ और स्वतन्त्र दल के साथ मिल कर मिली जुली सरकार (Coalition government) का निर्माण करेंगे। इंदिरा गांधी ने निर्जलिंगप्पा पर जनसंघ और स्वतन्त्र दल के साथ सांठ गांठ (गुप्त समझौते) का आरोप लगाया, निर्जलिंगप्पा ने इंदिरा गांधी पर साम्यवादियों के साथ सांठ गांठ का आरोप लगाया।

(v) इंदिरा गांधी ने कांग्रेस प्रत्याशी संजीव रेड्डी के लिये सचेतक (whip) जारी करने से इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं इंदिरा गांधी के समर्थकों ने राष्ट्रपति निर्वाचन में "अन्तरात्मा" और 'स्वतन्त्र मतदान' (free vote) की मांग करना शुरू कर दिया।

1 संसदीय दल ने प्रथम तो वी० वी० गिरि का समर्थन करने के लिये कहा था और बाद में जगजीवनराम का नाम राष्ट्रपति पद के लिये नामांकित किया था।

उपर्युक्त घटनाओं ने, जो बड़ी तीव्र गति से बढ़ रही थी, सिंडीकेट और इन्डीकेट के मत भेदों को चरम सीमा तक पहुँचा दिया। राष्ट्रपति निर्वाचन में कांग्रेस प्रत्याशी संजीव रेड्डी पराजित हो गये और स्वतन्त्र उम्मीदवार वी० वी० गिरि विजयी हुए।

राष्ट्रपति निर्वाचन में सिन्डीकेटम बुरी तरह पराजित हुए थे और उन कांग्रेस सदस्यों पर अनुशासनात्मक कार्यवाही करने पर तुले हुए थे जिन्होंने कांग्रेस प्रत्याशी संजीव रेड्डी को पराजित करने में विरोधियों का साथ दिया था। यद्यपि चह्वाण और सुब्राह्मण्यम ने दोनों गुटों में समझौता कराने का प्रयास किया परन्तु यह एकता धुंधली ही रही क्योंकि सैद्धान्तिक मतभेद गम्भीर थे। निर्जलिंगप्पा ने सुब्राह्मण्यम और फखरूद्दीन अली अहमद को कांग्रेस कार्यकारिणी से निकाल दिया, दूसरी ओर इन्दिरा गांधी ने उन चार मन्त्रियों से त्याग पत्र मांगे जिन्हें सिन्डीकेट्स समझा जाता था। 3 नवम्बर, 1969 को इन्दिरा गांधी ने रेलमन्त्री रामसुभग सिंह को मन्त्रिमण्डल से निकाल दिया दूसरी ओर कांग्रेस कार्यकारिणी ने जिसमें केवल सिन्डीकेट्स के सदस्य ही शामिल हुए थे इन्दिरा गांधी पर "षडयन्त्र, अनुशासन हीनता और भ्रष्टाचार" का आरोप लगा कर 12 नवम्बर, 1969 को उन्हें कांग्रेस की प्राथमिक सदस्यता से वंचित कर दिया। कांग्रेस कार्यकारिणी ने इन्डीकेट्स की इस मांग को भी अस्वीकार कर दिया कि अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (AICC) का विशेष अधिवेशन बुलाया जाय। कांग्रेस कार्यकारिणी ने कांग्रेस संसदीय दल से पृथक नेता के निर्वाचन के लिये निर्देश दिये। परन्तु कांग्रेस संसदीय दल ने इन्दिरा गांधी पर अपने विश्वास को प्रकट किया और इन्दिरा गांधी की प्राथमिक सदस्यता के समाप्त करने के कार्य को अवैध और अन्यायपूर्ण बताया। निर्जलिंगप्पा पर अविश्वास अभिव्यक्त किया, सुब्राह्मण्यम को अन्तरिम कांग्रेस अध्यक्ष चुन लिया गया और बाद में जगजीवनराम को नई (सत्तारूढ) कांग्रेस ने अपना अध्यक्ष चुना। दूसरी ओर सिन्डीकेट्स के 65 सदस्यों ने मोरारजी देसाई के निवास स्थान पर एक बैठक की। इन्होंने रामसुभग सिंह को लोकसभा और एस० एन० मिश्र को राज्य सभा में अपना नेता नियुक्त किया। मोरारजी देसाई संसदीय पार्टी के चेयरमैन निर्वाचित किये गये। इस तरह कांग्रेस की आन्तरिक फूट ने कांग्रेस का विघटन किया। आज ये दो पृथक दल हैं जिन्हें संगठन कांग्रेस (Congress–O) और सत्तारूढ कांग्रेस (Congress–R) के नाम से जाना जाता है।

कांग्रेस फूट का तत्काल परिणाम यह निकला कि इन्दिरा गांधी की सरकार का लोकसभा में बहुमत समाप्त हो गया परन्तु द्रमुक (DMK), साम्यवादियों और अकालियों के समर्थन ने उसने सत्तारूढ कांग्रेस को पदच्युत होने से बचा लिया। इन्दिरा गांधी ने अपने तथा कथित रेडिकल (radical) कार्यक्रम और 'गरीबी हटाओ' की दुहाई देते हुए 1971 में संसद के निर्वाचन कराये जिसमें उसे आशा से भी अधिक स्थान प्राप्त हुए। अब इन्डीकेट्स आज सत्तारूढ़ है और संगठन कांग्रेस अपने अस्तित्व को बचाने में संघर्ष कर रही है।

## 2 समाजवादी दल
## (The Socialist Parties)

भारतीय समाजवादी दलो का इतिहास विघटन और विलयन का इतिहास रहा है। परस्पर अव्यवस्थित और अस्थिर होने से इन्हे निराशा और असफलताओ का सामना करना पडा है। आपस मे विभक्त होने और प्रभावपूर्ण राष्ट्रीय नेतृत्व के अभाव मे ये न तो चुनाव अनुगामिता को प्राप्त कर सके हैं और न ही काग्रेस के विरुद्ध सुदृढ सुसगठित, सयुक्त लोकतात्रिक समाजवादी मोर्चा बनाने मे सफल रहे हैं। ये तो अपनी विचारधारा के बारे मे भी स्पष्ट नही। क्या ये समाजवाद, गाधीवाद राष्ट्रवाद और लोकतन्त्र का सश्लेषण चाहते हैं या कि किसी अन्य प्रकार से लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना चाहते हैं? इस तरह भारतीय समाजवादी असगतिया अनिर्णयो और असफलताओ से ही पीडित रहे हैं। जैसाकि थामस ए० रुश्च ने लिखा है कि 'विचारधारा, ससदीय कौशल और प्रोग्राम के सम्बन्ध मे इनके नेताओ मे असगतिया और अनिर्णय स्पष्ट दिखाई देते हैं। वे इस बात पर भी सहमत नही कि उन्हे किसी विचारधारा की आवश्यकता है या विचारधारा किसे कहते हैं या क्या वे मार्क्सवाद और गाधीवाद का सश्लेषण चाहते है या कि भारतीय सदर्भ मे किसी नवीन प्रयोजनात्मक लोकतात्रिक समाजवाद के सिद्धान्त की खोज करना चाहते हैं दलीय सकटो से भी ये पीडित रहे हैं जैसे राष्ट्रीय नेतृत्व, विचारधारा सगठन और कौशल (strategy) मे वाछित परिवर्तनो को द्वितीय सोपानो और सदस्यो तक प्रभावपूर्ण ढग से पहुँचाने की अयोग्यता, भारतीय राजनीति मे अपनी भूमिका का सही मूल्याकन करने और उस पर दृढतापूर्वक डटे रहने (पालन करने) मे असफलता और सार्वजनिक विपत्ति और दलीय विद्रोह की स्थिति मे ससजन (cohesion) बनाये रखने मे असफलता आदि।[1]

भारतीय समाजवादी काग्रेस समाजवादी दल के ही वशज (discendants) मे से हैं। इनके इतिहास का पाच चरणो मे विभक्त किया जा सकता है। पहला चरण 1934 से 1948 तक का चरण है जब कि समाजवादी कांग्रेस के अन्दर काग्रेस समाजवादी दल (CSP–Congress Socialist Party) के रूप मे कार्य करते रहे। परन्तु इस काल मे वे काग्रेस पर अपना नियन्त्रण स्थापित नही कर सके। इन्होने प्रान्तीय स्वायत्तता के काल मे कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो 1946 मे सवैधानिक सभा और नेहरू मन्त्रिमण्डल मे भाग लिया। दूसरा चरण 1948 से 1952 तक का चरण है जब काग्रेस समाजवादी दल के सदस्यो ने काग्रेस से पृथक होकर स्वतन्त्र समाजवादी दल के रूप मे कार्य करना शुरू किया और रचनात्मक कार्य, ससदीय कार्यप्रणाली और अहिंसक आन्दोलन द्वारा अर्थात् "फावडे, मत और जेल" (the spade the vote and prison) द्वारा काग्रेस को चेतावनी देने का प्रयास किया। इस काल मे कांग्रेस समाजवादी दल के सदस्यो का काग्रेस से पृथक होने का मुख्य कारण वह था जिसमे काग्रेस के भीतर अन्य राजनीतिक दलो मे विद्यमान रहने पर

मनाही कर दी गयी थी। इसी वर्ष मे कांग्रेस न सहमतो का एक समूह आचार्य कृपलानी के नेतृत्व मे कांग्रेस से पृथक हो गया था और उन्होने किसान मजदूर प्रजा पार्टी (KMPP) के नाम से एक पृथक संगठन का निर्माण कर लिया था। इन दोनो दलो को विश्वास था कि वे कांग्रेस को प्रथम चुनाव मे पराजित करने या कम से कम उसका दृढ विरोध करने मे सफल होगे। परन्तु प्रथम निर्वाचन परिणामो ने उनमे निराशा को जन्म दिया। तीसरा चरण 1952 से 1955 तक का चरण है जब स्वतन्त्र समाजवादी दल और किसान मजदूर प्रजा पार्टी ने अपने राजनीतिक अस्तित्व को बचाने के लिये दोनो दलो का विलय कर अगस्त 1952 एक नये राजनीतिक दल को जन्म दिया जिसे प्रजा समाजवादी दल (प्रसोपा PSP) की संज्ञा दी गयी। कुछ समय बाद ही पश्चिमी बंगाल का फारवर्ड ब्लाक भी इसमे शामिल हो गया। आचार्य कृपलानी को प्रसोपा का सभापति और अशोक मेहता को महासचिव नियुक्त किया गया। परन्तु प्रसोपा भी सगठित रूप से कार्य न कर सका। इसके मुख्यतया दो कारण थे प्रसोपा-कांग्रेस सहयोग के प्रश्न पर जयप्रकाश नेहरू पत्राचार ने अनेक प्रकार की अटकलबाजियो को जन्म दिया। यद्यपि दोनो मे कोई संयोग उत्पन्न न हुआ परन्तु इसने प्रसोपा सगठन को निर्बल अवश्य किया। दूसरे प्रसोपा के प्रमुख नेता जयप्रकाश नारायण गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित होकर राजनीति से अलग हो गये थे। उन्होने विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन को अपना जीवन अर्पित कर दिया और दल विहीन लोकतन्त्र (Partyless Democracy) के विचार का प्रचार करने लगे। चौथा चरण 1955 से 1964 तक का चरण है। इस चरण की अनेक महत्वपूर्ण विशेषताये हैं। कांग्रेस के साथ सहयोग के प्रश्न पर प्रसोपा 1953 से ही विभक्त थी। अशोक मेहता का विश्वास था कि 'पिछड़े हुए समाज की राजनीतिक बाध्यताये'[2] कांग्रेस के साथ सहयोग की माग करती है। उसकी यह धारणा थी कि भारत जैसा समाज, जिसके स्रोत दुर्लभ हैं विरोध की विलासिता को सहन नही कर सकता। प्रसोपा मे दूसरे गुट का नेतृत्व डॉ॰ राम मनोहर लोहिया कर रहे थे जो कांग्रेस के साथ सहयोग के पक्ष मे नही था। यह गुट कांग्रेस और साम्यवादी दल दोनो से "समान दूरी" (equi distance) रखने के पक्ष मे था। जब 1955 मे कांग्रेस ने अवाडी अधिवेशन मे "समाजवादी समाज" (Socialist Pattern of Society) के आदर्श को स्वीकार कर लिया तो अशोक मेहता गुट मे और डॉ॰ राम मनोहर लोहिया गुट मे कांग्रेस सहयोग के प्रश्न पर उग्र मतभेद हो गये। अपने आपको कांग्रेस के समाजवादी समाज से पूर्ण पृथक करने के लिये डॉ॰ लोहिया अधिक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण अपनाना चाहते थे अतः उन्होने प्रसोपा के अन्दर एक युयुत्सु (लडाकू जगजू) पक्ष की स्थापना की। इस पर डा॰ राममनोहर लोहिया को प्रसोपा से बाहर निकाल दिया गया। डा॰ राममनोहर लोहिया ने दिसम्बर 1955

2 Quoted by Weiner, Myron Party Politics in India p 31 Also see Hardgrave Jr Ibid p 143

## 2 समाजवादी दल
### (The Socialist Parties)

भारतीय समाजवादी दलों का इतिहास विघटन और विलयन का इतिहास रहा है। परस्पर अव्यवस्थित और अस्थिर होने से इन्हें निराशा और असफलताओं का सामना करना पड़ा है। आपस में विभक्त होने और प्रभावपूर्ण राष्ट्रीय नेतृत्व के अभाव में ये न तो चुनाव अनुगामिता को प्राप्त कर सके हैं और न ही कांग्रेस के विरुद्ध सुदृढ़ सुसंगठित संयुक्त लोकतान्त्रिक समाजवादी मोर्चा बनाने में सफल रहे हैं। ये तो अपनी विचारधारा के बारे में भी स्पष्ट नहीं। क्या ये समाजवाद, गांधीवाद, राष्ट्रवाद और लोकतन्त्र का संश्लेषण चाहते हैं या कि किसी अन्य प्रकार से लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना चाहते हैं? इस तरह भारतीय समाजवादी असंगतियों अनिर्णयों और असफलताओं से ही पीड़ित रहे हैं। जैसा कि थामस ए० रुबच ने लिखा है कि 'विचारधारा, संसदीय कौशल और प्रोग्राम के सम्बन्ध में इनके नेताओं में असंगतियां और अनिर्णय स्पष्ट दिखाई देते हैं। ये इस बात पर भी सहमत नहीं कि उन्हें किसी विचारधारा की आवश्यकता है या विचारधारा किसे कहते हैं या क्या वे मार्क्सवाद और गांधीवाद का संश्लेषण चाहते हैं या कि भारतीय संदर्भ में किसी नवीन प्रयोजनात्मक लोकतान्त्रिक समाजवाद के सिद्धान्त की खोज करना चाहते हैं ... दलीय संकटों से भी ये पीड़ित रहे हैं जैसे राष्ट्रीय नेतृत्व विचारधारा संगठन और कौशल (strategy) में वांछित परिवर्तनों को द्वितीय सोपानों और सदस्यों तक प्रभावपूर्ण ढंग से पहुँचाने की अयोग्यता, भारतीय राजनीति में अपनी भूमिका का सही मूल्यांकन करने और उस पर दृढ़तापूर्वक डटे रहने (पालन करने) में असफलता और सार्वजनिक विपत्ति और दलीय विद्रोह की स्थिति में समंजन (cohesion) बनाये रखने में असफलता आदि।'

भारतीय समाजवादी कांग्रेस समाजवादी दल के ही वंशज (discendants) में से हैं। इनके इतिहास को पांच चरणों में विभक्त किया जा सकता है। पहला चरण 1934 से 1948 तक का चरण है जब कि समाजवादी कांग्रेस के अन्दर कांग्रेस समाजवादी दल (CSP–Congress Socialist Party) के रूप में कार्य करते रहे। परन्तु इस काल में वे कांग्रेस पर अपना नियन्त्रण स्थापित नहीं कर सके। इन्होंने प्रान्तीय स्वायत्तता के काल में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों, 1946 में संवैधानिक सभा और नेहरू मन्त्रिमण्डल में भाग लिया। दूसरा चरण 1948 से 1952 तक का चरण है जब कांग्रेस समाजवादी दल के सदस्यों ने कांग्रेस से पृथक होकर स्वतन्त्र समाजवादी दल के रूप में कार्य करना शुरू किया और रचनात्मक कार्य, संसदीय कार्यप्रणाली और अहिंसक आन्दोलन द्वारा अर्थात् फावड़े, मत और जेल' (the spade the vote and prison) द्वारा कांग्रेस को चेतावनी देने का प्रयास किया। इस काल में कांग्रेस समाजवादी दल के सदस्यों का कांग्रेस से पृथक होने का मुख्य कारण वह ताव था जिसमें कांग्रेस के भीतर अन्य राजनीतिक दलों में विद्यमान रहने पर

मनाही कर दी गयी थी। इसी बात में कांग्रेस से असहमति हुआ एक समूह आचार्य कृपलानी के नेतृत्व मे कांग्रेस से पृथक हो गया था और उन्होने किसान मजदूर प्रजा पार्टी (KMPP) के नाम से एक पृथक संगठन का निर्माण कर लिया था। इन दोनों दलों को विश्वास था कि वे कांग्रेस को प्रथम चुनाव मे पराजित करने या कम से कम उसका दृढ विरोध करने मे सफल होंगे। परन्तु प्रथम निर्वाचन परिणामो ने उनमे निराशा को जन्म दिया। तीसरा चरण 1952 से 1955 तक का चरण है जब स्वतन्त्र समाजवादी दल और किसान मजदूर प्रजा पार्टी ने अपने राजनीतिक अस्तित्व को बचाने के लिये दोनो दलों का विलय कर अगस्त 1952 एक नये राजनीतिक दल को जन्म दिया जिसे प्रजा समाजवादी दल (प्रसोपा PSP) की संज्ञा दी गयी। कुछ समय बाद ही पश्चिमी बंगाल का फारवर्ड ब्लाक भी इसमे शामिल हो गया। आचार्य कृपलानी को प्रसोपा का सभापति और अशोक मेहता का महासचिव नियुक्त किया गया। परन्तु प्रसोपा भी संगठित रूप से कार्य न कर सका। इसके मुख्यतया दो कारण थे, प्रसोपा कांग्रेस सहयोग के प्रश्न पर जयप्रकाश नेहरू पत्राचार ने अनेक प्रकार की अटकलबाजियो को जन्म दिया। यद्यपि दोनो मे कोई सन्योग उत्पन्न न हुआ परन्तु इसने प्रसोपा संगठन को निर्बल अवश्य किया। दूसरे प्रसोपा के प्रमुख नेता जयप्रकाश नारायण गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित होकर राजनीति मे अलग हो गये थे। उन्होने विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन को अपना जीवन अर्पित कर दिया और दल विहीन लोकतन्त्र (Partyless Democracy) के विचार का प्रचार करने लगे। चौथा चरण 1955 से 1964 तक का चरण है। इस चरण की अनेक महत्वपूर्ण विशेषतायें हैं। कांग्रेस के साथ सहयोग के प्रश्न पर प्रसोपा 1953 से ही विभक्त थी। अशोक मेहता का विश्वास था कि पिछड़े हुए समाज की राजनीतिक बाध्यतायें"[2] कांग्रेस के साथ सहयोग की माग करती है। उसकी यह धारणा थी कि भारत जैसा समाज, जिसके स्रोत दुर्लभ हैं विरोध की विलासिता को सहन नही कर सकता। प्रसोपा मे दूसरे गुट का नेतृत्व डॉ॰ राम मनोहर लोहिया कर रहे थे जो कांग्रेस के साथ सहयोग के पक्ष मे नही था। यह गुट कांग्रेस और साम्यवादी दल दोनो से "समान दूरी' (equi distance) रखने के पक्ष मे था। जब 1955 मे कांग्रेस ने अवाडी अधिवेशन मे समाजवादी समाज" (Socialist Pattern of Society) के आदर्श का स्वीकार कर लिया तो अशोक मेहता गुट मे और डॉ॰ राम मनोहर लोहिया गुट मे कांग्रेस सहयोग के प्रश्न पर उग्र मतभेद हो गये। अपने आपको कांग्रेस के समाजवादी समाज से पूर्ण पृथक करने के लिये डा॰ लोहिया अधिक क्रांतिकारी दृष्टिकोण अपनाना चाहते थे अतः उन्होने प्रसोपा के अन्दर एक युयुत्सु (लड़ाकू जन जू) पन्थ की स्थापना की। इस पर डा॰ राममनोहर लोहिया को प्रसोपा से बाहर निकाल दिया गया। डा॰ राममनोहर लोहिया ने दिसम्बर 1955

---

2 Quoted by Weiner, Myron Party Politics in India, p 31 Also see Hardrave Jr Ibid p 143

म एक नये भारतीय समाजवादी दल की स्थापना की। इस साल की एक अन्य विशेषता यह है कि अशोक मेहता, अपने साथियों के साथ, कांग्रेस में मिल गये और 1963 में उन्होंने योजना आयोग के उप सभापति (Deputy Chairmanship) पद को स्वीकार कर लिया। अशोक मेहता ने यद्यपि कांग्रेस प्रसोपा सगठनों में सहयोग की दृष्टि से इस कदम को उठाया था परन्तु प्रसोपा ने अशोक मेहता को दल से निकाल दिया। इसके बाद प्रसोपा और लोहिया ग्रुप के भारतीय समाजवादियों में विलय की बात शुरू हो गयी और 1964 में एक नये समाजवादी दल को जन्म दिया गया जिसे संयुक्त समाजवादी दल (ससोपा-SSP) की संज्ञा दी गयी। पांचवा चरण 1965 से आज तक का चरण है। इस काल का भारतीय समाजवादी दलों का इतिहास भी गम्भीर फूट का इतिहास रहा है। प्रसोपा ससोपा प्रमोत्काल (PSP-SSP honeymoon) कुछ समय तक ही जीवित रहा और 1965 में अनेक छोटे छोटे समाजवादी समूह नजर आने लगे। यद्यपि प्रसोपा और ससोपा में आचार्य नरेन्द्र देव एस० एम० जोशी राजनारायण सिंह, चन्द्रशेखर, एच० वी० कामथ प्रेम भसीन, कपूरी ठाकुर श्री नाथपाई, जार्ज फर्नेन्डिस मधु दण्डवत, मधु लिमये जैसे योग्य कार्यकर्ता हैं परन्तु राष्ट्रीय नेतृत्व और स्पष्ट विचारधारा के अभाव में वे निर्वाचन अनुगामिता को बढ़ा नहीं सके। अगस्त 1971 में PSP और SSP ने फिर एकता के प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया और समाजवादी पार्टी (SP) को जन्म दिया इसका उद्देश्य अन्य बातों सहित बेघर वालों को घर भूमिहीनों को भूमि और बेरोजगारों को रोजगार दिलाना है। समाजवादी दल पहले के समाजवादियों की भांति विभक्त है। स्पष्ट है कि जैसा कि एल० पी० सिंह ने लिखा है, 'अवसरवादिता, अनुशासनहीनता निर्वाचन पराजयें भविष्य के निर्वाचनों में निराशावाद की सम्भावनाओं और समाजवाद के प्रश्न पर नेताओं में द्वैध वृत्ति ने दल में निरंतर पक्ष त्याग (defections) और समाजवादी कार्यकर्ताओं के मनोबल को कम करने में सहयोग दिया है।

**प्रसोपा की नीतियाँ और उद्देश्य (Aims and Objectives of PSP)**— प्रसोपा "शांतिमय साधनों द्वारा एसे लोकतान्त्रिक समाज की स्थापना चाहता है जो सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक शोषण से मुक्त हो।" यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखते हुए समतावादी सामाजिक व्यवस्था के आधार पर देश का पुनर्निर्माण चाहता है। यद्यपि यह कांग्रेस पर दोषारोपण करता है कि उसकी वृत्ति पूंजीवादी (Capitalist mentality) है परन्तु फिर भी यह "लोकतांत्रिक समाजवादी नीतियों को कार्यान्वित करने के लिये कांग्रेस सहित उन सभी दलों के साथ सहयोग करने के लिये तैयार है जो राष्ट्रवाद धर्मनिरपेक्षता लोकतन्त्र और समाजवाद में विश्वास करते हैं।

प्रसोपा का कथन है कि किसानों तथा अन्य ग्रामीण लोगों के साथ अभी तक अच्छा व्यवहार नहीं किया गया उन्हें अभी भी भूमि से निष्कासित किया जाता है

भूमि सुधार प्राय मत मात्र रह है। केवल व लोग ही सुविधाये प्रा त कर पाये है जिनकी पहुँच ऊपर तक है। जरूरतमन्दो की ओर ध्यान नही दिया जाता। इसलिये प्रसोपा ऐसे भूमि सुधारो का समथक है जिससे "भूमि जोतने वाला ही भू स्वामी हो।' यह सहकारी विपणन ऋण (Coopertive marketing credit) का विकास करना चाहता है। यह फसल बीमा (Crop insurance) नीति का समर्थक है। यह किसानो को कृषि वस्तुओ का उचित मूल्य दिलाने, सम्पन्न किसानो से गल्ला वसूल करने का समथक है। यह शहरी सम्पत्ति का परिसीमन करने, सम्पत्ति कर लगाने, उचित मूल्य की दुका। खोलने का समथक है। यह न्यूनतम वेतनो, बेरोजगारी भत्ता, वृद्धावस्था पेशन की व्यवस्था करने का समथक है।

ससोपा ससद की सर्वोच्चता के सिद्धान्त मे विश्वास करता है और प्रशासन मे भ्रष्टाचार को दूर करना चाहता है। यह नागरिक स्वतन्त्रताओ का समथक है और राष्ट्रपति की सकटकालीन शक्तियो को सीमित करना चाहता है।

विदेश नीति के सम्बन्ध मे प्रसोपा और काग्रेस मे कोई अ तर नही। यह असलग्नता की नीति का समथक है और तटस्य देशो के साथ सहयोग की नीति अपनाने के पक्ष मे है। यह पाकिस्तान के साथ विवादो को शाति एव मित्रता पूवक हल करना चाहता है। यह चीनी विस्तार को रोकना चाहता है, सयुक्त राष्ट्र सघ को शक्तिशाली बनाना चाहता है, हिन्दमहासागर की स्वत त्रता बनाये रखना चाहता है। यह जातिवाद का विरोधी है और परमाणु अस्त्रो को सीमित करना चाहता है।

**ससोपा की नीतिया और उद्देश्य** (Aims and Objectives of SSP)—ससोपा अपने आपको एक क्रांतिकारी दल कहता है जो उग्र सामाजिक परिवतन मे विश्वास करता है। इसकी मा यता है कि तीसरे विश्व मे समाजवाद के विकास के लिये पूँजीवाद और समाजवाद दोनो ही असगत है। यह सत्ता के विकेन्द्रीकरण मे विश्वास करता है और छोटी-छोटी इकाइयो—ग्राम, कस्बा, जिला—म सत्ता को प्रदान करना चाहता है। इसकी विचारधारा समतावादी (egalitarian) है। यह सम्पत्ति के अधिकार को उस सीमा तक सुरक्षित रखना चाहता है जिसमे भाडे के मजदूरो की आवश्यकता न हो। यह सभी आय को 1000 रु० तक सीमित करना चाहता है। भू स्वामित्व पर सीमायें लगाना चाहता है तथा अतिरिक्त भूमि को निधन किसानो, भूमिहीन मजदूरो मे बाटना चाहता है। यह सप्तवर्षीय सिचाई योजना बनाने का इ छुक है।

ससोपा शासन और शिक्षा के क्षेत्र मे पिछडी हुई जातियो, अनुसूचित जातियो और जन जातियो के लिये 60 प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखना चाहता है। यह राज्य पाल, कलक्टर आदि के पदो को समाप्त करना चाहता है।

ससोपा अ ग्रेजी भाषा का विरोधी है। उसकी मा यता है कि अ ग्रेजी का बना रहना 'विदेश दमन' और 'राष्ट्रीय अपमान का द्योतक है। अत ससोपा

प्रशासन मे हिन्दी का प्रयोग करना चाहता है। हिन्दी के विकास के साथ-साथ ससोपा क्षेत्रीय भाषाओ के विकास के पक्ष मे भी है।

ससोपा अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये गाधीवादी सविनय अवज्ञा, सत्याग्रह, घेराव आदि शस्त्रो का प्रयोग करता है। हड़ताल को यह सरकारी मान्यता दिलाना चाहता है।

विदेश नीति के सम्बन्ध मे ससोपा असलग्नता की नीति को अधिक रचनात्मक बनाना चाहता है, राष्ट्र मण्डल से पृथक होना चाहता है और तिब्बत को स्वाधीन बनाकर भारत चीन सीमाओ को निश्चित करना चाहता है।

**निर्वाचन अनुगामिता**—भारतीय समाजवादी दलो की निर्वाचन अनुगामिता प्रभावशाली नही रही। 1962 के चुनावो मे प्रसोपा के लोक सभा मे केवल 12 सदस्य थे और लोहिया ग्रुप के केवल 6 सदस्य थे। 1967 के निर्वाचनो मे ससोपा को लोक सभा मे 23 स्थान प्राप्त हुए।

## 3 भारतीय साम्यवादी दल
## (Communist Party of India)

**भूमिका (Introduction)**—भारतीय साम्यवादी दल का उद्गम श्रमिको और कृषको (workers and peasants) के क्षेत्रीय सगठनो से हुआ है। औपचारिक रूप से इसकी स्थापना 1924 मे की गयी। आरम्भ मे इसका सम्बन्ध ब्रिटेन का साम्यवादी पार्टी से घनिष्ठ था। यह कोमिन्टन (Comintern) के नियन्त्रण मे था और मास्को के निर्देशनो का पालन करती थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की कटु आलोचक होने से ब्रिटिश सरकार ने इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया और इसे आवश्यक रूप से गुप्त रूप मे अपनी गतिविधियो को जारी रखना पडा। कुछ समय के लिये यह काग्रेस समाजवादी दल (Cong ess Socialist Party) मे शामिल हो गयी परन्तु 1939 मे काग्रेस से इसे निकाल दिया गया।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान और बाद मे साम्यवादी दल का दृष्टिकोण बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण और राष्ट्र विरोधी रहा। द्वितीय युद्ध के आरम्भ मे युद्ध साम्यवादियो के लिय साम्राज्यवादी युद्ध (imperialist war) था परन्तु 1941 मे जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया तो यही साम्राज्यवादी युद्ध भारतीय साम्यवादियो के लिय "मुक्ति युद्ध" (War of Liberation) और 'जन युद्ध' (Peoples War) बन गया। युद्ध के प्रश्न पर जब भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने महात्मा गाधी के नेतृत्व मे ब्रिटिश सरकार से असहयोग की नीति अपनाई और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिय "भारत छोडो" आन्दोलन (Quit India Movement) का सगठन किया तो भारतीय साम्यवादी दल ने ब्रिटिश सरकार से सहयोग की नीति अपनाई। इतना ही नही साम्यवादियो ने गांधीजी की निन्दा भी की और मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माग का समर्थन भी किया। इसने विद्यार्थियो, श्रमिको और किसान सगठनो मे घुसपैठ करके राष्ट्रीय शक्तियो को छिन्न भिन्न करने ... का विस्तार भी

किया। साम्यवादियो के इस दृष्टिकोण को देखकर ब्रिटिश सरकार ने साम्यवादी दल पर से प्रतिबन्ध हटा लिया। इससे साम्यवादी दल की सदस्यता मे आश्चयजनक वृद्धि हुई और जन समूहा पर उसका प्रभाव भी पडा परन्तु उस पर "राष्ट्र विरोधी कलक" भी लग गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी भारतीय साम्यवादियो की नीतिया को राष्ट्रीय नही कहा जा सकता। इसके सम्बन्ध अतिरिक्त देशीय (extra territorial) है। यदि भारतीय साम्यवादी दल (CPI) मास्को का पिछलग्गू है तो भारतीय साम्य वादी दल (मार्क्सवादी) पीकिंग का पिछलग्गू है। भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी लेनिनवादी) तो आतकवादियो, हत्यारा और उग्रवादियो का गिरोह है।

**साम्यवादी दल का सगठन**—साम्यवादी दल का सगठन उसी प्रकार का है जिस प्रकार कि विश्व के अन्य दलो का सगठन है। विद्यार्थी, औद्योगिक श्रमिक, किसान और सफेदपोश बाबू मिलकर साम्यवादी दल का निर्माण करते है। जिन व्यक्तियो को साम्यवादी सिद्धान्तो म विश्वास है और जिनकी आयु 18 वष से ऊपर है वे इसके सदस्य बन सकते है। सदस्यता प्राप्त करते समय दल के प्रति भक्ति रखने की शपथ लेनी पडती है, उसके नियमो का पालन करना पडता है तथा उसका चन्दा नियमित रूप से देना पडता है।

निम्न से निम्न स्तर पर दल का एक 'कक्ष' (cell) होता है जिसके दो या तीन सदस्य होते है। इस कक्ष को शिक्षा सस्थाओ, फैक्टरियो, कार्यालयो, कारखाना आदि मे स्थापित किया जाता है। कक्ष स ऊपर ग्राम कम्बे, जिला और प्रान्तीय समितियां होती है। इन समितियो का सचालन मण्डल (governing body) होता है जिसे कायकारी समिति (executive committees) कहते है। इस सचालन मण्डल का एक सचिव और पाच सदस्य होते। भारतीय साम्यवादी दल का सर्वोच्च अग "अखिल भारतीय काग्रेस" (All India Party Congress) है। यह काग्रेस दल की समिति और महासचिव (General Secretary) का निर्वाचन करती है जो मिलकर दल की मुख्य कायपालिका कहलाते है। दल की आन्तरिक कोर (inner core) होती है जिसे पालिटब्यूरो (Politbureau) कहते हैं। इस आन्तरिक कोर मे महासचिव सहित दल के महत्वपूर्ण सदस्य शामिल होते हैं। यही कोर (पालिटब्यूरो) दल की नीतियो का निर्माण करता है, अत यह अपरिहाय अग है।

**नीति और उद्देश्य**—भारतीय साम्यवादियो की नीति 'नव माओवादी चालो' (neo maoist tactics) की रही है। इसने समाजवादियो प्रगतिशील बुर्जुआ वर्गों से सहयोग की नीति को अपनाया है, शान्तिमय साधना और मत पत्रा की शक्ति मे विश्वास अभिव्यक्त किया है और ससद के माध्यम स समाजवादी परिवतना म आस्था व्यक्त की है। अप्रैल 1958 मे अमृतसर अधिवेशन म भारतीय साम्यवादी दल ने अपनी राष्ट्रीय विश्वसनीयता को इन शब्दो मे अभिव्यक्त किया

"भारतीय साम्यवादी दल शान्तिमय साधना द्वारा पूर्ण लोकतन्त्र और

समाजवाद को प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसका विचार है कि शक्तिशाली जन आन्दोलन के विकास द्वारा, संसद में बहुमत प्राप्त करके और जन स्वीकृति के समर्थन द्वारा, श्रमिक वर्ग तथा उसके साथी प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रतिरोध को पराजित (वशीभूत) कर सकते हैं और आर्थिक, सामाजिक और राज्य संरचना में मूल भूत परिवर्तन लाने के लिये संसद को लोक इच्छा का आश्वस्त यन्त्र बना सकते हैं।"[1]

विश्व के अन्य समाजवादियों की भांति भारतीय साम्यवादी दल का उद्देश्य भी समाजवाद और साम्यवाद का विस्तार करना तथा सर्वहारा के नेतृत्व में जन लोकतन्त्र की स्थापना करना है। साम्यवादी दल कम्पनियों के सामाजीकरण, जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन उद्योगों, विदेशी कम्पनियों और बैंकों के राष्ट्रीयकरण, सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार रोजगार की व्यवस्था, जोत की सीमा घटाने, किसानों को सस्ते दर पर ऋण देने, कच्चा माल उपलब्ध कराने तथा उचित मजदूरी देने और हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगाने के पक्ष में है।

साम्यवादी दल साम्प्रदायिकता अस्पृश्यता और जाति प्रथा का विरोधी है। यह धर्म निरपेक्षता का पोषक है और पिछड़े हुए तथा अल्पसंख्यक वर्गों को संरक्षण देने के पक्ष में है। यह पुलिस संगठन को समाप्त कर राष्ट्रीय नागरिक सेना (national militia) की स्थापना चाहता है। यह राज्य संरचना में परिवर्तन का इच्छुक है। यह संसद की सर्वोच्चता में विश्वास करता है, यह न्यायाधीशों के लिये वरिष्ठता के नियमों को स्वीकार नहीं करता। यह राज्य सभा और विधान परिषदों (अर्थात् उच्च सदन) को समाप्त करने का इच्छुक है। यह राज्यों को अधिक अधिकार देने के पक्ष में है। यह शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन कर उसे तकनीकि (technology) ज्ञान पर आधारित करना चाहता है।

विदेश नीति के सम्बन्ध में साम्यवादी दल विश्व के अन्य समाजवादी राष्ट्रों से अच्छे एवं सुदृढ सम्बन्धों के पक्ष में है। यह पाकिस्तान सहित अन्य पड़ौसी देशों के साथ अच्छे सम्बन्धों को बनाने पर बल देता है। यह साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, जातिवाद रंग भेद की नीति का विरोधी है। जहां कहीं भी साम्राज्यवाद के चंगुल से छुटकारा पाने के लिये उपनिवेशों के लोग संघर्ष में लीन हैं वहां साम्यवादी दल सहायता देने के पक्ष में है।

भारतीय साम्यवादी दल की उपर्युक्त नीतियों और उद्देश्यों से स्पष्ट है, जैसा कि हाडग्रेव ने लिखा है कि जहां अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के प्रति सैद्धान्तिक वचनबद्धता को पूरा करने के लिये बाध्य है वहां इसने अपनी राष्ट्रीय पहचान को भी बनाये रखने का प्रयास किया है।

भारतीय साम्यवादियों की एक विशेषता यह भी है उनके कौशल ऊपर के

1 Quoted by Hardrave Jr Robert L Ibid p 143

निर्देशों पर इतना अधिक निर्भर नहीं करते जितना कि स्थानीय परिस्थितियों और समस्याओं पर निर्भर करते हैं। यही कारण है कि अखिल भारतीय स्तर का दल होने पर भी साम्यवादियों की दिशा कांग्रेस की भांति क्षेत्रीय है। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद और साम्यवादी विचारधाराओं और सिद्धान्तों के प्रति भक्ति रखते हुए भी स्थानीय और क्षेत्रीय हितों की अपील करते हैं। केरल और आन्ध्र में तो इसकी अपील जातियों पर आधारित है। उदाहरणतया केरल में एजावस (ezhavas) और आन्ध्र में कामा (kammas) जातियां साम्यवादियों का समर्थन करती हैं। जैसाकि मार्शल विण्डमिलर ने 1956 में कहा था कि भारतीय साम्यवादी दल इस बात में विश्वास करता है कि 'वास्तविक सत्ता मुख्यतः राज्य स्तर पर निवास करती है और राष्ट्रीय पदों को प्राप्त करने के स्थान पर किसी विशेष क्षेत्र या श्रमिक संघ के संगठन में जन समूह की अनुगामिता (mass following) अधिक महत्वपूर्ण है।" नवम्बर 1956 में साम्यवादी दल के महामन्त्री अजय घोष ने कहा था कि 'समाजवादी समाज में विभिन्न स्वरूपों' को मान्यता देनी होगी।

**साम्यवादी दल में विभाजन—तीन साम्यवादी दल–भारतीय साम्यवादी दल (CPI), भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) CPI(M)** भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी लेनिनवादी) CPI (M L)—भारतीय साम्यवादी दल की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि यह सिद्धान्त में अनुशासनबद्ध होते हुए भी अनुशासन हीन रहा है। सुदृढ़ नेतृत्व के अभाव और मार्ग की स्पष्टता के अभाव में यह दल आज अनेक गुटों में विभक्त है जैसे CPI CPI, (M), CPI, (M L) जैसाकि एलनराय ने लिखा है कि "भारतीय साम्यवादी दूसरे देशों के साम्यवादियों से भिन्न नहीं सिवाय इसके कि दूसरे साम्यवादियों की तुलना में भारतीय साम्यवादियों ने अनेक त्रुटियां की हैं, अनेक दिशा परिवर्तन किये हैं और अनेक कलाबाजियां लगायी हैं।'

प्रारम्भ से ही भारतीय साम्यवादी दो गुटों में विभक्त रहे हैं। यदि एक गुट कम युद्धकारी (less belligerent) और कम सिद्धान्तवादी (less doctrinaire) रहा है तो दूसरा अधिक युद्धकारी और कट्टर सिद्धान्तवादी रहा है। एक का विश्वास है कि शांतिमय साधनों द्वारा, मत पत्रों की शक्ति और संसद में बहुमत प्राप्त करके वांछित समाजवादी परिवर्तन लाये जा सकते हैं और जन आन्दोलन के माध्यम से प्रतिक्रियावादी शक्तियों को पराजित किया जा सकता है दूसरे का विश्वास है कि सत्तारूढ़ बुर्जुआ अपनी अधिमान्य स्थिति को स्वेच्छा से कभी नहीं त्यागेगा। उसे तो बन्दूक की नोक अर्थात हिंसा, राजनीतिक हत्या और क्रांति द्वारा ही अपदस्थ किया जा सकता है। एक कांग्रेस सहित, प्रगतिवादी लोकतान्त्रिक बुर्जुआ तत्वों के साथ सहयोग के पक्ष में है तो दूसरा उनका विरोध करना चाहता है अर्थात एक साम्राज्यवाद सामन्तवाद को मुख्य शत्रु समझता है और श्रमिकों, बुर्जुआ, समूहों साम्राज्यवाद विरोधी, सामन्तवाद विरोधी दलों के साथ मिलकर 'ऊपर से संयुक्त मोर्चा' (united front from above) बनाना चाहता है दूसरा पूंजीवाद और बुर्जुआ को

अपना शत्रु समझता है और श्रमिकों, किसानों और छोटे छोटे बुर्जुआ के साथ मिल कर "नीचे से संयुक्त मोर्चा" (united front from below) बनाना चाहता है। दूसरे शब्दों में, एक "राष्ट्रीय लोकतांत्रिक मोर्चे" में विश्वास करता है और दूसरा "जनता के लोकतांत्रिक मोर्चे" में। जहां पी०सी जोशी जैसे साम्यवादी नेहरू सरकार के समर्थक थे वहां बी० टी० रणदिवे उसका विरोध करते थे। ये मार्क्सवादी नेहरू को "साम्राज्यवादियों का दौड़ता हुआ कुत्ता" (running dog of imperialism) और "पूंजीपतियों और जमींदारों का बन्दी" कहकर निन्दित करते थे। एक ने चीन के भारत पर आक्रमण को आक्रमण (aggressoni) की संज्ञा देकर चीन के कार्य की भर्त्सना की। इतना ही नहीं, अन्य दलों की भांति यह गुट भारत चीन सीमा में मकमोहन (McMohan) रेखा को मानता है और खोई हुई भूमि को फिर से लेने और मातृभूमि की रक्षा हेतु इकट्ठा होने की अपील भी की। दूसरे ने चीनी आक्रमण को आक्रमण की संज्ञा नहीं दी और न ही उसके कार्य की भर्त्सना की बल्कि चीन के कार्य को "सीमा विवाद" की संज्ञा दी जो असत युद्ध में परिवर्तित हो गया। यह गुट चीन के साथ विवाद को शांतिपूर्ण उपायों से सुलझाना चाहता है। संक्षेप में भारतीय साम्यवादी दल के दो गुट हैं, एक दक्षिण पंथियों और नम्र साम्यवादियों का गुट है जो रूस का पिछलग्गू एवं पक्षपाती है, दूसरा वामपंथियों अर्थात् मार्क्सवादियों का गुट है जो चीन का पिछलग्गू एवं पक्षपाती है। दक्षिणपंथी या नम्र साम्यवादियों में प्रमुख नेता हैं एस० ए डांगे, राजेश्वर राव, एन के कृष्णन, इन्द्रजीत गुप्त एस जी सरदेसाई आदि। दूसरे प्रमुख नेता हैं नम्बूदरीपाद, ज्योतिबसु, सुन्दरैया, हरीकिशन सिंह सुरजीत, आदि। हार्डग्रेव जूनियर ने दोनों साम्यवादी गुटों के भेदों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि 'सामाजिक आचरण, समर्थन के आधार और विचारधारा के क्षेत्र में साम्यवादी दल अपने जन्मकाल से ही विभाजित रहा है।'

भारतीय साम्यवादियों में भेद उत्पन्न होने के मूल कारण हैं (i) रूस और चीन के प्रति दृष्टि। यदि दक्षिण पंथी या नम्र दलीय साम्यवादी रूस के संशोधनवाद में विश्वास करते हैं तो वाम पंथी या उग्र दलीय साम्यवादी चीन के मार्क्सवाद (माओवाद) में विश्वास करते हैं। (ii) चीन के भारत पर आक्रमण के प्रश्न पर मत भेद है। दक्षिण पंथी चीन की भर्त्सना करते हैं, खोई हुई भूमि को वापस लेना चाहती है तथा मातृभूमि की रक्षा हेतु सरकार की नीति का समर्थन करते हैं। वाम पंथी चीन के आक्रमण की भर्त्सना नहीं करते तथा सीमा विवाद को शान्तिमय साधनों से सुलझाना चाहते हैं। (iii) सामाजिक परिवर्तन के लिये साधनों में भिन्नता है। दक्षिण पंथी जन आंदोलन मत पत्रों और संसद द्वारा सामाजिक परिवर्तन के का इच्छुक है। वाम पंथी क्रांति, हिंसा हत्या में विश्वास करते हैं। (iv) प्रगतिशील लोकतांत्रिक शक्तियों के साथ सहयोग के प्रश्न पर भिन्नतायें है। दक्षिण पंथी राष्ट्रीय लोकतांत्रिक मोर्चे की व्याख्या के पक्ष में हैं अर्थात्

"ऊपर से सयुक्त मोर्चे" के पक्ष मे हैं जबकि वामपथी "जनता के लोकतांत्रिक मोर्चे" के पक्ष हैं और "नीचे से सयुक्त मोर्चे" के पक्ष मे हैं। दूसरे शब्दो मे भारतीय साम्यवादियो की मुख्य समस्या यह रही है कि किन समूहो, दलो या वर्गों को मित्र और किन को शत्रु समझें।

उपयुक्त भिन्नताम्रो, भिन्न भिन्न दृष्टिकोणो और समस्याम्रो के कारण ही भारतीय साम्यवादी दल म जुलाई, 1964 मे पहली बार विभाजन तब हुआ जब तेनाली मे विरोधी (मार्क्सवादी) साम्यवादियो ने अपना पृथक सम्मेलन बुलाया। गोपालन के नेतृत्व मे लोकसभा मे, 11 साम्यवादियो ने अपना पृथक गुट बना लिया। इस नये दल ने अपना नाम भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) (CPI M) रखा।

मार्क्सवादी भी बहुत देर तक इकट्ठे मिल कर काम न कर सके क्योंकि इनमे भी कुछ उग्र तत्व (extremist elements) ऐसे थे जिन्हे ससदीय लोकतन्त्र मे ही विश्वास नही था। जिनकी धारणा थी कि शांतिपूर्ण उपायो द्वारा जनता के लोकतन्त्र की स्थापना और समाजवादी परिवर्तनो को नही लाया जा सकता। मार्क्सवादियो का यह गुट राजनीतिक हत्याम्रो, आतक, दमन और हिंसा मे विश्वास करता है। ये चीनी आदर्श का अनुसरण करते हैं और किसान विद्रोहो, हथियार बन्द लडाई और छापामार युद्धो का सहारा लेते हैं। यह तत्काल सशस्त्र सघर्ष, ग्रामो की मुक्ति और नगरो की घेरेबन्दी (immediate armed struggle, the liberation of the countryside, and encirclement of the cities) मे विश्वास करते हैं। यह आन्दोलनकर्ताम्रो (agitators) का गिरोह (समूह) है जिन्हे नक्सलवादी कहा जाता है।

नक्सलवाद पश्चिमी बगाल के दार्जिलिंग जिले के नक्सलबारी स्थान की देन है जहा उग्र मार्क्सवादियो ने किसान आन्दोलनो को सगठित किया, बडे बडे जमीदारो की भूमि को जबरदस्ती छीनकर भूमिहीन किसानो म वितरित किया। बलपूर्वक फसल उपजी और काटी। इतना ही नही इन्होने 'जनता के न्यायालयो' की स्थापना भी की। चीन ने नक्सलवादियो की इन गतिविधियो को बढ़ावा दिया, और नक्सलवादियो द्वारा प्राप्त क्षेत्र को 'लाल जिला' (Red district) और "स्वतन्त्र या विमुक्त आधार" (liberated bare) कह कर सम्बोधित किया। भारत सरकार के लिये चीन की इन गतिविधियो पर चिन्ता व्यक्त की गयी, और चीन की इस कार्यवाही को भारत के आन्तरिक मामलो म हस्तक्षेप बताया। पश्चिमी बंगाल के वामपन्थी (मार्क्सवादियो) सयुक्त मोर्चे की सरकार की स्थिति बहुत व्याकुल हो गयी। नक्सलवादी आन्दोलन को सीमित करने और शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के प्रश्न पर वामपन्थी सयुक्त मोर्चे की स कार की पंक्तियो मे तनाव उत्पन्न हो गया, मार्क्सवादियों मे विभाजन हो गया।

नक्सलवादी आन्दोलन केवल पश्चिमी बंगाल तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि आन्ध्र प्रदेश और केरल मे भी यह आन्दोलन फैल गया। आन्ध्र म ह्ा नागीरेड्डी और केरल मे कोसला रामदास के नेतृत्व मे इसी प्रकार के नक्सलवादी आन्दोलनो का सगठन किया गया। सन् 1969 मे भिन्न भिन्न नक्सलवादी पार्टियो को मिलाकर एक नये सगठन को जन्म दिया गया जिसे भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी लेनिनवादी) कहते हैं। इसके प्रथम अध्यक्ष चारू मजूमदार थे जिनकी मत्यु जेल मे अगस्त 1972 मे हुई। चारू मजूमदार चीन के क्रान्तिकारी मार्ग के प्रशसक थे और माओ की भाति इस बात मे विश्वास करते थे कि "राजनीतिक सत्ता बन्दूक की दुनाली मे से निकलती है।' उनका कहना था कि "नक्सलवादी भारतीय भूमि पर माओवाद का पहला प्रयोग ' है।

नक्सलवादियो का समूह इस समय बहुत छोटा है और इस समय इस सभी भारतीय माओवादियो (वामपन्थियो, मार्क्सवादियो) का समर्थन प्राप्त नही परन्तु भारत के ससदीय प्रजातन्त्र को इस जैसे समूहो से ही वास्तविक खतरा है। जैसाकि एम० एफ फ्रान्डा ने लिखा है कि यही "युयुत्सु भारतीय साम्यवादियो को सगठनात्मक विकल्प प्रदान करता है जो मार्क्सवादियो और भारतीय साम्यवादियो की निर्वाचन सम्बन्धी नीतियो को अस्वीकार करते हैं।" पामर ने भी लिखा है कि "यद्यपि माओवादी 'धारा' गैर माओवादी विचारधारा से छोटी है परन्तु भारतीय राजनीतिक प्रणाली को चेतावनी देने मे अधिक गतिशील और सशक्त है।।

साम्यवादी दल के उपयुक्त त्रिकोणीय विभाजन के प्रभावो को एम० जे० अकबर ने बडे सुन्दर शब्दो मे इस प्रकार अभिव्यक्त किया है "सन 1972 मे स्थिति का सजीव पहलू यह है कि भारतीय साम्यवादी दल (CPI) कांग्रेस का समर्थन कर रही है। इसका प्रभाव यह है कि एक साम्यवादी दल दूसरे साम्यवादी दल को कुचलने मे सरकार की सहायता कर रहा है। सन् 1967-71 के दौरान मार्क्सवादियो को अपने अनेक सच्चे कार्यकर्ताओ से हाथ धोने पडे क्योकि वे उभरते हुए माओवादी दल (CPI-ML) मे शामिल हो गये। इसका निहितार्थ (मतलब) स्पष्ट है। तीन दिशाओ मे विभाजन। इस तरह तीनो एक, दूसरे को नष्ट करने मे अपनी शक्ति को खर्च कर रहे है। यही कारण है कि न तो अकेले और न ही सयुक्त रूप म (भारतीय) साम्यवादी सत्तारूढ कांग्रेस के विकल्प के रूप म अपने आपको प्रस्तुत करने मे सफल हो रहे हैं।'

**साम्यवादी दलों का निर्वाचनों मे निष्पादन (Performance of Communist Parties in Elections)**—विरोधी दलो मे साम्यवादी दल ही ऐसा दल है जिसका केन्द्रीय ससद और लगभग सभी राज्य विधान सभाओ म प्रतिनिधित्व है। वस्तुत इसने प्रत्येक निर्वाचन म अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयास किया है केरल म 1957 म साम्यवादी आन्दोलन के इतिहास मे पहली बार निर्वाचनो क माध्यम स ई० एम० एस नम्बूदिरीपाद के नेतृत्व म साम्यवादी सरकार का निर्माण

किया गया। चौथे निर्वाचन के बाद केरल और पश्चिमी बंगाल में संयुक्त मोर्चों की सरकारों का निर्माण हुआ जिनमें प्रमुख घटक थी। सन 1971 के संसदीय निर्वाचनों और 1972 के राज्य विधानसभाओं के निर्वाचनों में भारतीय साम्यवादी दल ने इन्दिरा गांधी (सत्तारूढ़) की कांग्रेस के साथ निर्वाचन सम्बन्धी समायोजन (electoral adjustments) किये। यह सत्य है कि साम्यवादियों ने किसी एक कौशल (strategy) को नहीं अपनाया। यदि केन्द्र में इसने सत्तारूढ़ दल के साथ सहयोग किया तो राज्यों में कहीं कांग्रेस का साथ दिया और कहीं कांग्रेस का विरोध किया।

साम्यवादी दल (दलों) की चुनाव अनुगामिता (electoral following) काफी है और इन्हें लगभग 10 प्रतिशत मत प्राप्त होते रहे हैं। सन् 1952 के निर्वाचनों में इसे 3 30 प्रतिशत मत प्राप्त हुए, 1962 में 9 96 प्रतिशत। सन् 1962 में साम्यवादी दल को लोकसभा में 29 स्थान प्राप्त हुए और यह सबसे बड़ा विरोधी दल था। राज्य विधानसभाओं में भी इसे 153 स्थान प्राप्त हुए। साम्यवादी दल में विभाजन के बाद सन् 1967 के निर्वाचन में भी इसे 9% मत प्राप्त हुए। साम्यवादियों (CPI) को 4 80 प्रतिशत और मार्क्सवादियों (CPI–M) को 4 28 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। यद्यपि मतों का प्रतिशत 1962 के निर्वाचनों की तुलना में कम था परन्तु लोकसभा में दोनों को मिलाकर 42 (साम्यवादियों को 23 और मार्क्सवादियों को 19) स्थान प्राप्त हुए और राज्य विधानसभाओं में 249 (साम्यवादियों को 122 और मार्क्सवादियों को 127) स्थान प्राप्त हुए। सन 1969 के मध्यवर्ती निर्वाचनों में भी इनकी स्थिति ठीक थी जैसाकि पामर ने लिखा है कि "बिहार में ये स्वयं खड़े हो सकने थे, पंजाब में इन्होंने कुछ खोया और पश्चिमी बंगाल में तो इन्होंने अपनी स्थिति को और सुदृढ़ किया। बंगाल में साम्यवादियों को 30 और मार्क्सवादियों को 80 स्थान प्राप्त हुए।

यह सत्य है कि साम्यवादियों ने हर निर्वाचन में अपनी स्थिति को सुधार कर उसे सुदृढ़ किया है परन्तु इनका प्रभाव तीन राज्यों (आन्ध्र, केरल और पश्चिमी बंगाल) में ही अधिक है। भारत के केन्द्र उत्तर प्रदेश में तो साम्यवादियों का प्रभाव कम हुआ है। उत्तर प्रदेश में साम्यवादियों का प्रतिनिधित्व घट कर 4 प्रतिशत और मार्क्सवादियों का 1 प्रतिशत रह गया है।

## 4 भारतीय जनसंघ
## (Bhartiy Jan Sangh or Peoples Party)

भारतीय राजनीतिक दलों में जन संघ ही एक ऐसा राजनीतिक दल है जिसकी प्रेरणा के स्रोत भारत तथा भारतीय संस्कृति में ढूंढे जा सकते हैं। जहाँ कांग्रेस किसी ठोस विचारधारा से प्रेरित नहीं या अच्छाई से अच्छी स्थिति में यह भिन्न भिन्न विचारधाराओं का मिश्रण है, जहां साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद अपनी प्रेरणा के स्रोतों को ढूंढते है, जहां समाजवादी सिद्धान्तों के बारे में ही नहीं, कभी प्रजातन्त्र और कभी साम्यवाद और कभी लोकतान्त्रिक सामाजवाद

प्र रणा या स्रोत है, वहाँ भारतीय जन सघ की विचारधारा "भारतीय सम्कृति और "भारतीयकरण' स प्रेरित है। उसकी नीतियाँ, उद्देश्य और मापदण्ड इन्हीं दो तत्वा पर आधारित है और इन्ही मे वह अपने उद्देश्यो का सिद्धि को प्राप्त करना चाहता है। सक्षेप मे भारतीय जनसघ की विचारधारा भारतीयता से प्रभावित है।

जन सघ की स्थापना डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी द्वारा सन् 1951 में की गयी थी। सन् 1953 मे मुकर्जी की मृत्यु के बाद इस दल का नतृत्व श्री दीन दयाल उपाध्याय के हाथो मे रहा। उसके बाद इसक प्रमुख नेता सवश्री बलराज मधोक, एम० एल० सोंधी, अटल बिहारी वाजपेयी और लाल कृष्ण अडवानी रहे हैं।

जन सघ एक दक्षिण प थी (Rightist) राजनीतिक दल ह। अत इसे उन्हीं वर्गों और समूहा का समथन प्र प्त है जो दक्षिण पथी विचारधारा म विश्वास करते हैं। इसका समथन करने वाले प्रमुख वर्गों मे व लोग हैं जो पाकिस्तान म शरणार्थी बन कर भारत आये, या इस कुछ भूतपूव नरेशा का समथन प्र प्त है या इसे उन लोगो का समथन प्राप्त है जो पाकिस्तान के प्रति दृढ नीति अपनाने के पक्ष मे हैं या इसे उन समूहो का समथन प्राप्त है जो आर्थिक क्षेत्र में राज्यवाद (statism) के स्थानपर अधिक स अधिक आर्थिक स्वतन्त्रता मे विश्वास करत हैं। यह लोक-कल्याण कारी राज्य की स्थापना चाहता है परन्तु समाजवादी राज्य की नहीं, यद्यपि हाल क कुछ वर्षो मे इसने साम्यवादी नीतियो के साथ कुछ समझौता करने का प्रयास किया है। सन् 1951 म देव प्रसाद घोष ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा था कि "समाजवादी राज्य दास राज्य का स्वरूप ग्रहण कर लेता है और यदि समाजवाद समानता लाता भी है तो यह दासता और कृपि दासता का समानता है।'

जनसघ एक अखिल भारतीय राजनीतिक दल है परतु इसका प्रभाव क्षेत्र कवल उत्तर के हिन्दी भाषाई राज्यो तक ही सीमित है। इसका मूल कारण सम्भवत यह है कि जनसघ हिन्दी भाषा का समथक है और हिन्दी को अग्रेजी के स्थानो पर राज्यो की सम्पक भाषा (link language) बनाना चाहता है। दक्षिण के राज्यों म यह इस कारण अपना प्रभाव क्षेत्र नही बढा सका कि वे हिन्दी विरोधी राज्य हैं। हिन्दी भाषाई राज्यो मे भी जनसघ का प्रभाव क्षेत्र मुख्यत उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश म है यद्यपि राजस्थान, पजाब हरियाणा और केन्द्र शासित प्रदेश दिल्ली म भी पर्याप्त प्रभाव है।

जनसघ की नीतियाँ और उद्देश्य—जन सघ की नीतिया और उद्देश्यो को निम्न शीर्षका के अ तगत उल्लिखित किया जा सकता है —

1 भारतीय राष्ट्रीयता मे अटूट विश्वास—जन सघ 'एक देश, एक राष्ट्र, एक सस्कृति और कानून के शासन' मे विश्वास करता है। यह बहुमत और अल्पमत की दृष्टि से नही सोचता बल्कि सामान्य भारतीय नागरिकता के रूप मे सोचता है। यह सभी को भारतवासी के रूप म देखता है, हिन्दू मुस्लिम सिक्ख, ईसाई, आदि के रूप म नही देखता। यह जाति, धम, भाषा आदि या इनमे से किसी एक आधार

पर नागरिको मे किसी प्रकार की भिन्नता नही करता। यह किसी सम्प्रदाय के स्थान पर भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति भक्ति भाव पदा करता है। यह सभी को कानून का समान सरक्षण प्रदान करता है। यह सभी के लिये समान नागरिक सहिता का निर्माण करना चाहता है।

जन सघ भारतीय सस्कृति, उसकी परम्पराम्रो और मूल्यो को सुरक्षित रखना चाहता है। यह शिक्षा प्रणाली मे प्राचीनता (परम्परा) और आधुनिकता का मिश्रण चाहता है। यह शिक्षा को न तिकता और देश भक्ति की भावनाम्रो से म्रोत प्रोत करना चाहता है। यह "गाय" का रक्षक है और गौवध पर सवैधानिक प्रतिबन्ध चाहता है। यह आयुर्वेदिक उपचार का विकास करने के पक्ष मे है।

2 आर्थिक नीति—जन सघ आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण के पक्ष मे है। परन्तु सम्पत्ति के सवधानिक अधिकार को नष्ट करना नही चाहता। यह सम्पत्ति के अधिकार को बनाये रखना चाहता है परन्तु कृषि-भूमि सम्पत्ति और शहरी भूमि सम्पत्ति की सीमायें निर्धारित करना चाहता है। यह अधिक से अधिक और न्यून से न्यून आयो (incomes) को निर्धारित करना चाहता है। आयो की भिन्नता के अनुपात को यह 1 10 तक सीमित रखना चाहता है।

जन सघ अमीर गरीब की गहरी खाई को पाटना चाहता है और इसके लिये यह "उपभोग कर' (consumption tax) के पक्ष मे भी है। यह निधनता के विरुद्ध युद्ध छेडना चाहता है। यह बेरोजगारो को भत्ता देने, उद्योगो के प्रबन्ध मे श्रमिको को हिस्सा देने, छँटनी (retrenchment) को समाप्त करने लाभो की सीमा निर्धारित करने, मूल्यो को स्थिर रखने और समान काय के लिये समान वेतन देने के पक्ष मे है।

आर्थिक दृष्टि से जनसघ आत्म निर्भरता मे विश्वास करता है। यह विदेशी सहायता की वृत्ति को समाप्त करना चाहता है। सोवियत सघ पर बढती हुई निर्भरता को यह आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से हानिकारक समझता है। यह मूलभूत उद्योगो, रक्षा उद्योगो और बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे है। यह खानों चाय बागान तथा ऐसे ही उद्योगो का भारतीयकरण चाहता है।

जनसघ नये उद्योगो की स्थापना के लिये लाइसेन्स देने की व्यवस्था को राजनीतिज्ञो के हाथो से लेकर स्वायत्त सस्था (autonomus body) के विशेषज्ञों के हाथो मे सौंपना चाहता है। जनसघ वतमान पचवर्षीय योजनाम्रो के स्थान पर स्वावलम्बी स्वदेशी योजनाम्रो पर बल देता है। यह लघु और कुटीर उद्योगो का विकास करना चाहता है। खाद्यान के मामले मे यह आत्म निर्भर होना चाहता है, फालतू कृषि योग्य भूमि को भूमिहीन मजदूरो और अनुसूचित जातियो और जन जातियों और सेवा निवृत्त सैनिको मे वितरित कर देना चाहता है। जन सघ इस बात मे विश्वास करता है कि "भूमि उसी की है जो उसको जोतता है।" यह जनसघ

और बीमा योजनाओं का समर्थक है तथा खाद्यान्न में थोक व्यापार के राष्ट्रीयकरण का विरोधी है। यह जमाखोरी, मुनाफाखोरी व प्रति कठोर दण्ड की व्यवस्था का समर्थक है तथा उचित मूल्यों की दूकानों (Fair Price Shops) का जाल बिछाना चाहता है।

3 राज्य ढांचे के प्रति नीति—जन संघ राज्य की वर्तमान संघीय व्यवस्था में परिवर्तन का इच्छुक है। उसकी मान्यता है कि वर्तमान संघीय व्यवस्था एक ओर संघ और राज्यों में अनावश्यक प्रतिद्वंद्विता को जन्म देता है और दूसरी ओर राष्ट्र की एकता और सुदृढ़ता पर आघात पहुँचता है। अतः जन संघ एकात्मक राज्य की स्थापना के पक्ष में है। वह राज्यों में विधान परिषदों (उच्च-सदन) को समाप्त कर देना चाहता है। इसकी धारणा है कि राज्यों का पुनर्गठन सरकार की सुविधा या दलीय उपयोगिता के आधार पर या केवल भाषा के आधार पर न हो बल्कि सभी प्रशासनिक, विकास प्राथमिकताओं का ध्यान में रखकर राज्यों का पुनर्गठन किया जाय।

जन संघ प्रशासन में लाल फीताशाही, अकुशलता और भ्रष्टाचार का विरोधी है। भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए यह लोकपाल और लोकायुक्तों की स्थापना के पक्ष में है।

4 विदेश एवं सुरक्षा नीति—जनसंघ की विदेश नीति "प्रबुद्ध स्वार्थ" (enlightened self interest) पर आधारित है। यह शांति और युद्ध के प्रश्नों को तथा राष्ट्रों में पारस्परिक सम्बन्धों को शुद्ध राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से आंकता है, कोरे 'आदर्शों' की दृष्टि से नहीं। यह सत्य है कि जनसंघ ने विभाजन को स्वीकार किया और आज भी अखण्ड भारत के स्वप्न देखता है परन्तु इसकी नीति युद्ध लोलुपता या साम्राज्यवादी या "आक्रामक" नहीं बल्कि व्यावहारिकता और परस्परता (reciprocity) पर आधारित है। क्योंकि पाकिस्तान की नीति भारत विरोधी है और भारतीयों के प्रति घृणा पर आधारित है अतः यह पाकिस्तान के प्रति कठोर और दृढ़नीति अपनाने के पक्ष में है। यही कारण है कि ताशकन्द और शिमला समझौतों में भारत सरकार द्वारा पाकिस्तान के प्रति अपनाई गयी मृदुनीति का विरोधी है। जनसंघ कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग मानता है। और "आजाद कश्मीर" को वापस लेने का पक्षपाती है। कश्मीर समस्या को यू० एन० ओ० से वापस लेना चाहता है और अनुच्छेद 370 में कश्मीर राज्य को दिये गये विशेष स्तर (status) को समाप्त करना चाहता है। चीन के प्रति भी यह 'मृदु' (soft) नीति अपनाने के पक्ष में नहीं और चीन द्वारा हस्तगत की गई भारतीय भूमि को वापस लेना चाहता है।

जनसंघ राष्ट्रमण्डल की सदस्यता त्यागने के पक्ष में है और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों के साथ सम्बन्ध बढ़ाने के पक्ष में है। यह साम्यवादी रूस पर अधिक निर्भर रहने के पक्ष में नहीं बल्कि अन्य गैर-साम्यवादी देशों के साथ सम्बन्धों को

बढाने के पक्ष म है । यह उन अ तर्राष्ट्रीय विवादा मे भाग नही लेना चाहता जिनका प्रत्यक्षत भारत से सम्बन्ध नहीं ।

सुरक्षा के क्षेत्र मे जनसघ ग्रात्म निभरता पर विश्वास करता है, शस्त्रास्त्रो म वह देश को स्वावलम्बी बनाना चाहता है, सशस्त्र सेनाग्रा को आधुनिक ग्रस्त्रो स लैस करना चाहता है ग्रौर ग्रणु शक्ति का विकास कर ग्रणु शस्त्रो के भण्डार को निर्मित करना चाहता है ।

5 **निर्वाचन सम्बन्धी सुधार**—जनसघ की मान्यता है कि वतमान निर्वाचन पद्धति दूषित है क्योकि इसमे भ्रष्टाचार ग्रौर काले धन का बोलबाला होता है । ग्रत निर्वाचना का स्वतन्त्र ग्रौर निमल बनाने हेतु यह (i) निर्वाचन से पूव मन्त्रियो स मन्त्रिपद त्यागने की माग करता है, (ii)सरकारी वाहना के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाना चाहता है, (iii) मतो की गणना मतदान केन्द्रा के ग्राधार पर कराना चाहता है, (iv) चुनाव ग्रायोग को बहु सदस्यीय सस्था बनाना चाहता है ।

**निर्वाचन ग्रपील या ग्रनुगामिता** (Electoral Appeal or following)—ग्रन्य विरोधी दला की तुलना मे जनसघ की निर्वाचन ग्रपील या ग्रनुगामिता पर्याप्त है । सन् 1952 के प्रथम चुनाव मे जनसघ को लोक मतदान (popular vote) का 3 प्रतिशत प्राप्त हुग्रा । इसे लोक सभा मे 3 ग्रौर राज्य विधान सभाग्रो मे 34 स्थान प्राप्त हुए, सन 1957 के द्वितीय चुनाव मे इसे लोक सभा मे 4 ग्रौर राज्य विधान सभाग्रा मे 46 स्थान प्राप्त हुए सन् 1962 के तीसरे चुनाव मे इसे लोक सभा मे 14 ग्रौर राज्य विधान सभाग्रो मे 116 स्थान प्राप्त हुए, सन 1967 के चौथे चुनाव मे इसे लोक सभा मे 35 ग्रौर राज्य विधान सभाग्रो मे 267 स्थान प्राप्त हुए सन् 1971 के निर्वाचन म इसे लोक सभा मे 22 स्थान ग्रौर 1972 क चुनाव मे 105 स्थान राज्य विधान सभाग्रो म प्राप्त हुए । स्पष्ट है कि 1971 के लोक सभा ग्रौर 1972 के राज्य विधान सभा के चुनावो को छोडकर जनसघ की लोक ग्रपील का विस्तार हुग्रा है । सन् 1967 के निर्वाचन के बाद इसे ग्रनेक राज्यो में ग्रन्य दला के साथ मिल कर सरकार मे भाग लेने का ग्रवसर भी मिला । निर्वाचनो म जनसघ ने ग्रनेक दला के साथ निर्वाचन सम्बन्धी समायोजन (electoral adjustment) भी किया है । हाल ही मे जून 1975 क गुजरात चुनावो मे, जनसघ ने सगठन काग्रेस भारतीय लोकदल ग्रौर सयुक्त समाजवादी दल के साथ निर्वाचन सम्बन्धी समायोजन किया है ग्रौर जनता मोर्चे की स्थापना की है ।

जनसघ एक ग्रखिल भारतीय राजनीतिक दल है परन्तु इसका प्रभाव क्षेत्र हिन्दी भाषाई राज्यो तक ही सीमित रहा है । यद्यपि चौथे चुनाव के बाद इसने दक्षिणी भारत के राज्यो (ग्रहिन्दी भाषाई राज्यो) मे ग्रपना स्थान ढूढने का प्रयास किया है परन्तु यहा उसे ग्रधिक सफलता या ग्रनुगामिता (following) प्राप्त नही हो सकी । ग्रहिन्दी भाषाई क्षेत्रा मे इसका विकास न होने का एक कारण यह है कि यह हिन्दी का समथक है ग्रौर ग्रग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राज्यो की सम्पर्क

भाषा बनाना चाहता है। अहिन्दी भाषाई राज्य हिन्दी साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं। अहिन्दी भाषाई क्षेत्रों मे अब तक इसे केवल 1 स्थान ही (नागालैंड में) लोक सभा में प्राप्त हुआ है। हिन्दी भाषाई क्षेत्रों में भी उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश इसके केन्द्र माने जाते है। यद्यपि राजस्थान, पंजाब और हरियाणा और केन्द्रशासित प्रदेश दिल्ली में भी इसकी पर्याप्त अनुगामिता है जैसाकि बी० जी० वर्गीज ने लिखा है कि "जब तक जनसंघ नवीन आदर्श को प्रस्तुत नहीं करता तब तक यह हिन्दी क्षेत्रीय दल ही बना रहेगा।"

वर्तमान परिस्थितियों में जनसंघ ने अपने आपको समयानुकूल बनाने का प्रयास किया है। यद्यपि हिन्दी को सम्पर्क भाषा बनाना चाहता है परन्तु अंग्रेजी के साथ समझौता वृत्ति भी रखता है इसी तरह जनसंघ यद्यपि अत्यधिक राज्यवाद (statism) और समाजवाद का विरोधी है फिर भी इसने मूल और सुरक्षा उद्योगों और बैंकों के राष्ट्रीयकरण और विदेशी बागानों के भारतीयकरण पर बल दिया है। "भारतीयकरण" की इसकी विचारधारा 'हिन्दूकरण' नहीं बल्कि विघटनकारी प्रवृत्तियों का विरोध है, आदि।

**क्या भारतीय जनसंघ एक साम्प्रदायिक दल है ?**—भारतीय जनसंघ पर प्राय एक आरोप लगाया जाता है कि यह एक साम्प्रदायिक दल है। नेहरू जैसे नेताओं ने भी इसे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (RSS) का "अवैध शिशु" (illegitimate child)[1] कह कर निन्दित किया है। वर्तमान कांग्रेसी नेता तो प्राय इसी आधार पर जनसंघ की आलोचना करते हैं और अल्पमत वालों के समक्ष जनसंघ को इसी रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। परन्तु जनसंघ पर यह आरोप न केवल सत्य से दूर है बल्कि उसकी नीतियों और उद्देश्यों का सही मूल्यांकन भी नहीं है। यह सत्य है कि जनसंघ भारतीय संस्कृति मे विश्वास करता है और उसके आदर्शों और मूल्यों को सुरक्षित रखना चाहता है। परन्तु भारतीय संस्कृति केवल हिन्दू संस्कृति नहीं। भारतीय संस्कृति मे तो अनेक संस्कृतियों का मिश्रण है जिसमें हिन्दू मुस्लिम ईसाई बौद्ध, जैन आदि संस्कृतियों का मिश्रण है। भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखने का अर्थ हिन्दू संस्कृति मानना गलत है। दूसरे, यह सत्य है कि इसके प्रमुख नेता हिन्दू हैं परन्तु इसकी सदस्यता केवल हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं है। इसकी सदस्यता सभी जातियों के लिये खुली है। गैर हिन्दू भी इसके सदस्य हैं पश्चिमी बंगाल में तो जनसंघ का अध्यक्ष ही मुसलमान है और तमिलनाडु में जनसंघ की स्थापना एक ईसाई द्वारा की गयी है। तीसरे यह सत्य है कि जनसंघ संविधान द्वारा स्थापित धर्म निरपेक्षता को कांग्रेस द्वारा मुसलमानों के प्रति अपनाई गयी तुष्टिकरण की नीति का परिणाम मानता है परन्तु वह साम्प्रदायिकता का प्रसार नहीं करता, धर्म, जाति, भाषा या अन्य किसी धर्म आधार पर नागरिकों में

1 See Hardgrave Jr Robbert L Ibid p 150–151

भि नता नही चाहता। वह सभी को, बिना किसी भिन्नता के, नागरिकता के समान अधिकार प्रदान करना चाहता है। वह 'हिन्दू राज' नही चाहता "भारतीय राज्य' चाहता है। जनसघ के नेताओ ने अनेक बार अपनी असाम्प्रदायिकता को स्पष्ट किया है। **चौथे,** जनसघ 'बहुमत" और 'अल्पमत' की बात ही नही करता। वह तो भारतीय राष्ट्रीय एकता की बात करता है। **पाचवें** बलराज मधोक के "भारतीय करण के सिद्धात' (Theory of Indianisation) को लेकर कुछ आलोचको ने जनसघ को साम्प्रदायिक दल सिद्ध करने की कोशिश की है परन्तु इस सिद्धा त के आधार पर भी उस साम्प्रदायिक नही कहा जा सकता। यद्यपि इसम भारतीय मुसल मानो के भारतीयकरण की ओर सकेत था परन्तु फिर भी यह सिद्धा त हिन्दू राज्य की स्थापना की माग नही करता। इसका अर्थ तो यह है कि जो लोग अपने आपको "भारतीय सस्कृति और चिन्तन की मुख्य धारा' से पृथक मानते है जिनकी विचार धारा आज भी कलुषित है या वह राष्ट्रीयता पर आधारित है या जिनकी निष्ठा भारत के बाहर है उन्हे राष्ट्रीयता का पाठ पढाने की आवश्यकता है और किसी भी देश की सुरक्षा, एकता, अखण्डता और स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक तत्व है। इतना ही नही, जातीय सहिष्णुता और सद्भावना के लिये भी भारतीय राष्ट्रीयता का विकास आवश्यक है। अटलबिहारी वाजपेयी ने इस सिद्धा त को स्पष्ट करते हुए कहा था कि यह धार्मिक, जातीय, भाषाई या अ य ऐसी ही सकीर्ण और विघटन कारी वफादारियो को राष्ट्रीय वफादारियो (भक्ति) के नीचे रखना चाहता है। छठ, यह सत्य है कि जनसघ "अखण्ड भारत' की स्थापना चाहता है परन्तु यह न तो युद्ध लोलुप्त है और न ही "आक्रामक"। यह अपने राजनीतिक उद्देश्यो को सवधानिक साधनो (मतपत्रो) द्वारा ही प्राप्त करना चाहता है। स्पष्ट है कि जनसघ को साम्प्रदायिक राजनीतिक दल कहना गलत है। यह राष्ट्रीय दल है, जिसके राष्ट्रीय उद्देश्य हैं।

**जनसघ और राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ (Jan Sangh and RSS)**—जनसघ के सम्बन्ध मे प्राय एक प्रश्न यह किया जाता है कि इसका राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ (RSS) से क्या सम्ब ध है ? इसका उत्तर मई 1960 मे दीनदयाल उपाध्याय ने इन शब्दो मे दिया "दोनो मे सवधानिक दृष्टि से कोई सम्ब ध नही। केवल एक सम्बन्ध यह है कि दल के बहुत से सदस्य राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ के स्वय सेवक हैं राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ (RSS) तो एक सास्कृतिक सगठन है जो राजनीति मे भाग नही लेता।'[1] स्पष्ट है कि सवधानिक तौर पर जनसघ और राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ मे कोई सम्बन्ध नही परन्तु फिर भी इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके बहुत स सदस्य राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ के या तो सदस्य रहे हैं या आज भी हैं। कुछ लोगो

1 बलराज मधोक ने राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक दल के नाम स एक पृथक दल की स्थापना की।

मे तो इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ को जन सघ की "आन्तरिक सार" (inner core) भी कहा जाता है और जनसघ को राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ का 'राजनीतिक पक्ष' (political wing) भी कहा जाता है।

**जनसघ मे फूट**—भारतीय राजनीतिक दलो मे जनसघ अत्यधिक अनुशासित सगठन रहा है परन्तु फिर भी इसमे थोडे बहुत फूट के तत्व उस समय नजर आये जब बलराज मधोक को दल विरोधी वक्तव्यो के कारण दल से बाहर निकाल दिया गया। 1972 के निर्वाचन म बुरी तरह पराजित होने के बाद, बलराज मधोक और एम० एल० सोंधी जस नेताओ ने भागलपुर अधिवेशन मे चुनाव मे पराभाव (debacle) के लिये जनसघ के नेतृत्व को दोषी ठहराना शुरू कर दिया। जब मधोक को दल से निकाल दिया गया तो उस समय यह अनुमान लगाया जाता था कि दल मे दल-त्याग (defection) की समस्या उत्पन्न हो जायगी परन्तु यह समस्या गम्भीर रूप से उत्पन्न नही हुई और दल सदस्यो मे अनुशासन रखने मे सफल हुआ।

## 5 स्वतन्त्र दल
## (The Swatantra Party)

स्वतन्त्र दल की औपचारिक स्थापना अगस्त 1959 मे बम्बई म एक सम्मेलन मे की गयी। इसके सस्थापक व लोग थे जिन्हे काग्रेस मे घोर दक्षिण पन्थी (rightists) कहा जाता था। सी० राजगोपालाचार्य (राजाजी या सी० आर०), के० एम० मुन्शी, वी० पी० मेनन, एन० जी० रगा एम० आर० मसानी जस अनुभवी एव प्रबुद्ध राजनीतिज्ञ इसके सस्थापको मे से थे। परन्तु योग्य नेतृत्व के बाद भी स्वतन्त्र दल प्रारम्भिक सफलताओ के बावजूद भारतीय राजनीति मे अपना स्थायी स्थान बनाने मे असफल रहा है और पिछले कुछ समय से तो अन्य लोकतान्त्रिक रूढिवादी दलो के साथ इसके विलय की बात भी कही गयी है।

स्वतन्त्र दल एक रूढिवादी, प्रतिक्रियावादी और अनुदारवादी दल है। जैसाकि पामर ने लिखा है कि "1959 मे पहली बार एक एस रूढिवादी दल की स्थापना की गयी जो लोकतान्त्रिक व्यवस्था म विश्वास करता है"[1]। स्वतन्त्र दल यद्यपि काग्रेस की समाजवादी नीतियो के विरुद्ध प्रगतिशील, उदारवादी विकल्प के रूप म सामने आया परन्तु इसको न तो लोक अनुगामिता है और न ही ग्रामो मे इसकी शाखायें हैं। इसे तो भूतपूर्व नरेशो, सामन्तो, बडे बडे जमीदारो और उद्योग पतियो तथा एकाधिकार पूजीपतियो का समर्थन ही प्राप्त है। इसे उन लोगो का समर्थन भी प्राप्त है जो उदारवाद म विश्वास करते हैं।

**नीतियाँ और उद्देश्य**—स्वतन्त्र दल इस बात से इन्कार करता है कि उसकी नीतियाँ यथेच्छाचारिता पर आधारित हैं या यथेच्छाचारिता की प्रतिपादक और समर्थक हैं। परन्तु उसकी नीतियो और उद्देश्यो का अच्छी प्रकार इसी एक ना

1 Palmer Normam D Ibid p 221

मे, यथेच्छाचारिता मे, (laissez faire) अभिव्यक्त किया जा सकता है। स्वतन्त्र दल राज्यवाद, समाजवाद और साम्यवाद का घोर विरोधी है। यह आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र मे राज्य का न्यूनतम हस्तक्षेप चाहता है। यह राज्य को "रात्रि के चौकीदार' के रूप मे स्वीकार तो करता है परन्तु उसके कार्य क्षेत्र का विस्तार नही चाहता। इसका विश्वास है कि राजनीतिक बुराइयो की जड मे मूलत "परमिट-लाइसेन्स-कोटा" नीति है। उसका कहना है कि राज्य का कार्य शासन करना है, व्यापार करना नही। अत वह राज्य को उद्योग मे 'साझेदार' के रूप मे स्वीकार नही करता बल्कि 'सहायक और नियन्त्रक' के रूप मे स्वीकार करता है। वह राज्य का इसलिये बनाये रखना नही चाहता कि वह निजी उद्योग को समाप्त करदें बल्कि उसके अनुपूरक के रूप मे उसे बनाये रखना चाहता है। जैसाकि राजाजी ने कहा था कि "मेरा दल वस्तुत मुक्त उद्यम मच का राजनीतिक प्रक्षेप है।' यही कारण है कि स्वतन्त्र दल आर्थिक नियोजन का विरोधी है और नियोजन आयोग को समाप्त कर देना चाहता है।

स्वतन्त्र दल 'सत, परिवार और स्वतन्त्रता' को सुरक्षित रखना चाहता है। वह हर एक के पास सम्पत्ति रखने का समर्थक है। यही कारण है कि वह सवैधानिक अधिकार को बनाये रखता चाहता है भूमि की हदबन्दी और सहकारी खेती (cooperative farming) का विरोधी है। स्वतन्त्र दल का उदय ही वस्तुत उस समय हुआ जब कांग्रेस ने 1959 के नागपुर अधिवेशन मे सहकारी खेती के प्रस्ताव को पारित किया जो स्वतन्त्र दल की दृष्टि मे "साम्यवाद की ओर शाही सडक है। स्वतन्त्र दल ने 17 वें, 24 वे और 25 वे सवैधानिक सशोधनो, बैंको के राष्ट्रीयकरण और राजाओ के प्रिवी पर्स की समाप्ति का विरोध किया है।

स्वतन्त्र दल कांग्रेस और उसकी तथा कथित समाजवादी नीतियो का कट्टर विरोधी है। हॉवर्ड एल० अर्डमैन ने स्वतन्त्र दल को "ऐसे स्थानीय असहृत समूहो की नियन्त्रक कम्पनी की सज्ञा दी है जो केन्द्र मे कांग्रेस का प्रभावपूर्ण विरोध करने के लिय इकट्ठे हुए है।' कांग्रेस का पराजित करने के लिये वह किन्ही और कैसे भी दलो के साथ समझौता करने के लिये तैयार है। जैसाकि राजाजी ने एक बार कहा था कि कांग्रेस को पराजित करने के लिये व 'शैतान से भी मित्रता करने के लिये तैयार है। स्वतन्त्र दल ने कांग्रेस द्वारा अपनायी गयी आर्थिक नियोजन की नीति को 'नियोजित अव्यवस्था' की सज्ञा दी है। उसका कहना है कि कांग्रेस की नीतियां साम्यवादी कौशलो (tactics) से भरपूर हैं। राजाजी का विश्वास था कि कांग्रेस धार्मिक मूल्यो को गिरा रही है और "धन तथा "सम्पत्ति को अनावश्यक महत्व दे रही है। के एम मुन्शी ने कहा था कि 'कांग्रेस की मूर्खतापूर्ण आर्थिक नितियो का पहला शिकार सामान्य व्यक्ति हुआ है उसे मूल आवश्यकताओ म भी वचित कर दिया गया है। उसे निरन्तर खाद्य सकटो का सामना करना पडता

है खाद्य उत्पादन अनियोजित, न्यून और अनुमानित रहा है तथा इस पर कम खर्च किया गया है।

स्वतन्त्र दल का उद्देश्य देश में धर्म की स्थापना है परन्तु इसका धर्म, जैसाकि हाडग्रेव जूनियर ने लिखा है "कि हिन्दू कट्टरपंथी वाला धर्म नहीं। यह तो व्यापार समुदाय का धर्म है।" हावर्ड एल अर्डमन ने लिखा है कि उनका "अनुदारवादी परम्परा को इतना प्रतिबिम्बित नहीं करता जितना कि कांग्रेस के अन्दर पुराने उदारवादियों की स्थिति को अभिव्यक्त करता है।" स्वतन्त्र दल 'मार्क्सवादी समाजवाद" के स्थान पर "गांधीवादी समाजवाद" का समर्थन करता है। अपने उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए स्वतन्त्र दल ने 1960 में कहा था कि 'सामाजिक न्याय और कल्याण को तथाकथित समाजवाद की सक्रियता के अतिरिक्त अन्य मार्गों का अनुगमन करके भी प्राप्त किया जा सकता है सामाजिक न्याय और कल्याण को लाने के लिये हिंसा अथवा राज्य द्वारा आरोपित बाध्यताओं को प्रयोग में नहीं लाना चाहिये स्वतन्त्र दल व्यक्ति की काम करने की पहल को नष्ट करना नहीं चाहता। सन् 1969 के मध्यवर्ती चुनावों के बाद स्वतन्त्र दल ने अपने कार्यक्रमों में बेरोजगारी को कम करने और शिक्षित बेरोजगारों को काम देने के प्रोग्राम भी शामिल कर लिये हैं।

स्वतन्त्र दल की विदेश नीति पूर्णतया स्पष्ट नहीं यद्यपि 1962 के चीनी आक्रमण के बाद इसका विश्वास है कि असंलग्नता, पंचशील और सह-अस्तित्व की नीति अर्थहीन हो गयी है यह भारत को पश्चिमी गुट के साथ मिला देना चाहता है ताकि साम्यवादी आक्रमण के समय भारत को पूर्ण सैनिक व आर्थिक सहायता प्राप्त होती रहे। जहां साम्यवादी चीन के साथ यह कठोर दृष्टिकोण अपनाने के पक्ष में है वहां यह पाकिस्तान के साथ अपने सम्बन्धों को सुधारना चाहता है। इजराइल और फारमोसा के साथ यह कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना चाहता है।

निर्वाचन अनुगामिता—स्वतन्त्र दल की निर्वाचन अनुगामिता भिन्न भिन्न निर्वाचनों में भिन्न भिन्न रही है परन्तु इसे लोक अनुगामिता का सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं हुआ। सन् 1962 के निर्वाचन में स्वतन्त्र दल को लोकसभा में 22 और राज्य विधान सभाओं में 166 स्थान प्राप्त हुए सन् 1967 के चुनावों में इसे लोकसभा के 44 और राज्य विधान सभाओं में 255 स्थान प्राप्त हुए। सन् 1971 के चुनावों में इसे लोकसभा में केवल 8 स्थान प्राप्त हुए। यद्यपि इसने जनसंघ, सिन्डीकेट (संगठन कांग्रेस) और ससोपा के साथ मिलकर संयुक्त मोर्चा बनाया था।

स्वतन्त्र दल की अनुगामिता अधिक न होने के अनेक कारण हैं। प्रथम, यद्यपि इसके संस्थापक कट्टरपंथिता और अयुक्त हिंदू राष्ट्रवाद के समर्थक नहीं थे फिर भी इसे [illegible] और [illegible] की संज्ञा दी। नेहरूजी ने इसे प्रतिक्रियावादी दल [illegible] प्रकार के निहित हितों को अपने में मिलाये [illegible] दल की नीतियों का

अनुसरण किया जाय तो भारत का सर्वनाश हो जायगा।[1] दूसरे, समाजवाद विरोधी विचारधारा होने से इसे ग्रामो मे समर्थन प्राप्त नही हुआ है। साधारण नागरिक तो इसे भूतपूर्व नरेशो, जमीदारो बडे बडे उद्योगपतियो और पूजीपतियो की जमात मानता है और इसे प्रतिक्रियावादी, अनुदारवादी और रूढिवादी कह कर निन्दित करता है। तीसरे, कांग्रेस को पराजित करने के लिये इसने जिन्ही और कसे भी दलो के साथ समझौता किया है जिससे इसे अवसरवादी भी कहा गया है। कांग्रेस को पराजित करने के लिये राजाजी "शैतान' से भी समझौता करने के लिए तैयार थे। चौथे, राष्ट्रीय स्तर पर यद्यपि इसका दृष्टिकोण नम्र, धर्म निरपेक्षतावादी और राष्ट्रवादी रहा है परन्तु राज्य मे यह प्रतिक्रियावादी पिंजरे मे ही बन्द रहा है। उदाहरणतया यदि राजस्थान मे जयपुर की महारानी स्वतन्त्र दल का नेतृत्व करती है तो बिहार मे रामगढ के राजा के जनता दल से इसकी साठ गाठ थी और उडीसा मे गणतन्त्र परिषद के साथ भी जोकि राजाओ का ही दल है। इस तरह राज्यो मे स्वतन्त्र दल प्रतिक्रियावादी तत्वो से ही घिरा रहा है।

## 6 भारतीय लोक दल

**(The Bharatiya Lok Dal or People s Party of India)**

29 अगस्त 1974 को दिल्ली मे भारतीय राजनीतिक दल विज्ञान (stasiology) मे एक नये राजनीतिक दल की स्थापना की गयी जिसे भारतीय लोक दल कहते है। इस दल का जन्म सात दलो के विलय से हुआ था। इसमे शामिल होने वाले दल थे चौधरी चरणसिंह के नेतृत्व मे भारतीय क्रान्ति दल, पीलू मोदी के नेतृत्व मे स्वतन्त्र दल, बीजू पटनायक के नेतृत्व मे उत्कल कांग्रेस, बलराज मधोक के नेतृत्व मे राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक दल चारुराम के नेतृत्व मे किसान मजदूर दल, राज नारायण के नेतृत्व मे संयुक्त समाजवादी दल, और बाबा महेन्द्रसिंह के नेतृत्व मे पजाब की खेती बाडी जमीदार यूनियन।[2]

भारतीय लोक दल के समय यह आशा की जाती थी कि सगठन कांग्रेस और जनसघ का विलय भी इसमे हो जायगा। यद्यपि इन दोनो दलो की हमदर्दी भारतीय लोकदल से है परन्तु न तो सगठन कांग्रेस और न ही जनसघ इस दल मे शामिल हुआ। गोवा के स्वतन्त्र ससद सदस्य और जनसघ के दो भूतपूर्व ससद सदस्य मनोहरलाल सोधी और मेजर रणजीतसिंह भारतीय लोकदल मे शामिल हो गये। परन्तु सात दलो और इन सदस्यो के मिलने के बाद भी ससद मे भारतीय लोकदल के सदस्यो की सख्या 12 से अधिक नही हुई, जिसका अर्थ है कुल सदस्य सख्या का सिर्फ 3 प्रतिशत।[2] भारतीय क्रान्ति दल के नेता चौधरी चरणसिंह को भारतीय लोकदल का सभापति (chairman) चुना गया। दल ने भारतीय क्रान्ति दल के झण्डे और चिन्ह (flag and symbol) को अपने झण्डे और चिन्ह के रूप

1 Quoted by Palmer, Ibid, p 223

2 देखिये दिनमान, 15 9 1974, पृ 5

मे स्वीकार कर लिया )और ऐसा करना उचित भी था क्योंकि तीन दलों को छोड़कर (भारतीय क्रांतिदल, स्वतन्त्र दल और संयुक्त समाजवादी दल) बाकी दलों का स्वरूप स्थानीय था।

**भारतीय लोक दल के निर्माण के कारण—** भारतीय लोकदल के निर्माण के कारणों पर चौधरी चरणसिंह ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि हम एक भयानक सकट के क्षण मे इकट्ठे हुए हैं जबकि देश का हर व्यक्ति पीडा, निराशा भ्रष्टाचार, महगाई, बेरोजगारी, जोर और जुल्म का शिकार है। उनका कहना था कि 27 वर्षों के स्वशासन के बाद आज देश की प्रतिष्ठा सबसे निचले स्तर पर पहुँच गयी है, बाहरी शक्तियाँ हमारे अन्दरूनी मामलो मे हस्तक्षेप कर सकती हैं विध्वसक या विघटनकारी शक्तियाँ हमारे राष्ट्रीय तन्त्र को खतम करने पर तुली हुई हैं। राष्ट्रीय हित भुला दिया गया है। ऐसे अवसर पर यदि देश को सही रास्ते पर ले आने के लिये एक राष्ट्रीय विकल्प तैयार नही किया जाता तो देश का विनाश अवश्यम्भावी है। अत विकल्प के उसी स्वप्न को साकार करने के लिये भारतीय लोक दल की स्थापना की है।'[1] स्पष्ट है कि भारतीय लोकदल का जन्म सत्ताधारी काँग्रेस के राष्ट्रीय विकल्प (national alternative) के रूप में हुआ है।

**भारतीय लोकदल के उद्देश्य —** भारतीय लोक दल गैर-काग्रेसी, गैर साम्यवादी विचारो के प्रति समर्पित लोगो का मच है जिसका विश्वास है कि मार्क्सवाद भारतीय समस्याओ का समाधान करने मे सक्षम नही। यह 'मध्यम गाँधीवादी' (middle Gandhian path) के पक्ष मे है और लोकतन्त्र, राष्ट्रवाद, धर्म निरपेक्षता और सामाजिक न्याय के चार सिद्धान्तों म, जिन्हे वह चारपाई के चार पाये कहता है, विश्वास करता है

भारतीय लोक दल की नीतियो और उद्देश्यो को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है—

1 **आर्थिक एव सामाजिक नीतियाँ और उद्देश्य—**आर्थिक एव सामाजिक क्षेत्र म भारतीय लोकदल पूँजीवाद और साम्यवाद दोनो को देश के सामाजिक और आर्थिक विकास के सन्दर्भ मे अर्थहीन मानता है। वह गांधीवादी अर्थ व्यवस्था म विश्वास करता है तथा मध्यम गांधीवादी मार्ग (middle Gandhian path) को अपनाना चाहता है। यह ऐसी सामाजिक रचना चाहता है जो मूलत स्वनियोजित (self employment) पर आधारित हो। यह लघु उद्योगो को भारी उद्योगों से सरक्षण देने के पक्ष मे है। यह थोडे से उद्योगपतियो द्वारा पुज उत्पादन (mass production) नही चाहता। यह जन समूह (masses) द्वारा उत्पादन चाहता है। पूर्ण रोजगार मिलने तक यह इसी नीति को अपनाना चाहता है। यह हर प्रकार की जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन चाहता है और किसानों का निर्माण करना

1 देखिये दिनमान 8 9 1974 पृ 19

चाहता है वह ग्राम ऋण, अच्छे बीज, रासायनिक खाद, सिंचाई की सुविधायें, कृषि भूमि पर स्वामित्व प्रदान करना चाहता है। संक्षेप में भारतीय लोकदल भारी उद्योगों के स्थान पर कृषि को प्राथमिकता देता है, फिर लघु और कुटीर उद्योगों को और अन्त में भारी और वृहद उद्योगों पर बल देता है। अर्थात् यह नेहरू नीति को उलट कर, जिसमें वृहद् उद्योगों को प्राथमिकता दी गयी थी, कृषि और लघु एवं कुटीर उद्योगों पर बल देना चाहता है।

भारतीय लोकदल अनावश्यक आर्थिक नियन्त्रण में विश्वास नहीं करता, विशेष कर गेहूं के राष्ट्रीयकरण में इस दल का विश्वास नहीं। यह वेतनों पर आय कर को समाप्त कर देना चाहता है और अप्रत्यक्ष करों को भी कम करने के पक्ष में है। इसकी धारणा है कि अप्रत्यक्ष कर समाज के निधन वर्गों पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं।

भारतीय लोक दल पंचवर्षीय योजनाओं के स्थान पर आधारित संरचना योजनाओं (infra structural plan) पर बल देता है ताकि प्रत्येक राज्य, जिला अपने स्रोतों द्वारा अपनी योजनाओं का निर्माण करे। इससे केन्द्रीय सरकार का आर्थिक बोझ हल्का होगा और वह सामान्य राष्ट्रीय हित के अन्दर प्रश्नों पर जैसे विदेश नीति, सुरक्षा यातायत, राष्ट्रीय एकीकरण, आदि पर अधिक विचार कर सके।

2 *सत्ता का विकेन्द्रीकरण—भारतीय लोक दल* राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना चाहता है। यह राजनीतिक सत्ता के केन्द्रीकरण में विश्वास नहीं करता और इकाई की स्वायत्तता की कीमत पर केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली भी नहीं बनाना चाहता। इसका यह अर्थ नहीं कि दल निर्बल केन्द्र के पक्ष में है। यह केन्द्र को तो शक्तिशाली बनाना चाहता है परन्तु राज्य सरकारों को "जिला परिषद्' का स्तर प्रदान करना नहीं चाहता। यह अधिकतर सत्ता को निम्न से निम्न स्तर तक पहुँचाना चाहता है। यह राज्यों को अधिक स्वायत्तता देने के पक्ष में है। यह राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने का अधिकार राष्ट्रपति का नहीं सौंपना चाहता। यह राज्यपाल के स्थान पर विधान सभा को इस बात का निर्धारण करने की सत्ता प्रदान करना चाहता है कि, प्रमुख मन्त्रिमण्डल को बहुमत का समर्थन प्राप्त है या नहीं।

दल आर्थिक सत्ता का भी विकेन्द्रीकरण चाहता है और सम्पत्ति तथा उत्पादन के साधनों का अत्यधिक विकेन्द्रीकरण चाहता है।

3 *न्यायपालिका की स्वतन्त्रता*—भारतीय लोक दल न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के पक्ष में है। यह शीघ्र न्याय दिलाने के पक्ष में है परन्तु न्यायालय में हस्तक्षेप करने के पक्ष में नहीं। इसकी धारणा है कि न्यायालय का कर्तव्य संविधान की व्याख्या करना है, कार्यपालिका की इच्छानुसार निर्णय देना नहीं।

4 विदेश नीति—विदेश नीति के सम्बन्ध म भारतीय लोक-दल एक स्वतन्त्र, प्रभावशाली, राष्ट्रीय नीति के पक्ष मे है। इसकी धारणा है कि गुट निरपेक्षता (non alignment) की नीति शीत युद्ध के काल म लाभद हो सकता थी परन्तु आज इसकी उपयोगिता नहीं। दल की धारणा है कि व्यावहारिक धरातल पर गुट निरपेक्षता के नाम पर समय-समय पर बडी शक्तियों से किये गये गुटबन्धन मे परिवर्तन होते रहे हैं। अत दल महाशक्तियों से आर्थिक और सनिक सहायता लेने के पक्ष मे नही। दल का यह भी विश्वास है पिछले कुछ वर्षो स (विशेषकर 1971 से) भारत रूस पर अत्यधिक निर्भर करने लग गया है। अत दल स्वतन्त्र नीति के पक्ष मे है, पाकिस्तान सहित, पडोसी देशा के साथ सम्बन्धा का सुधारने के पक्ष मे है, परन्तु खोये हुए क्षेत्रा को वापस लेना चाहता है। दल सभी प्रकार के उपनिवेशवाद–चाहे वह पूँजीवाद के वेश (भूषा) मे हो या साम्यवाद के वेश म हो। दल उप महाद्वीपीय साझा बाजार निर्माण करने के पक्ष मे है।

वर्तमान समय म भारतीय लोक-दल सत्ताधारी कांग्रेस का राष्ट्रीय विकल्प प्रस्तुत करने मे सफल होगा, यह सन्दिग्ध है। जसाकि ब्रितानी साप्ताहिक इकानामिस्ट (Economist) ने टिप्पणी करते हुए लिखा था कि "भारत मे सत्ता परिवतन स्वतन्त्र चुनावो द्वारा सघीय स्तर पर होता दिखाई नही पडता। वतमान सत्ता का विरोध दश म मौजूद है और अब इस विरोध का एक प्रकार से पुनगठन हो रहा है, नयी कजरवेटिव (Conservative) पार्टी बनी है जो अपने को सत्ताधारी कांग्रेस का विकल्प बताता है।'

एक दृष्टि से भारतीय लोक दल का उदय वरदान सिद्ध हो सकता है। दलों के विलय की जिस प्रवृत्ति को इसने जन्म दिया है यदि उसका विकास हुआ तो यह भारतीय लोकतान्त्रिक ससदीय प्रणाली के लिये शुभ होगा क्योकि राष्ट्रीय स्तर पर द्वि या त्रि दलीय प्रणाली के विकास की सम्भावना बढ जायगी। हाल ही मे जनसघ, सगठन काग्रेस, समाजवादी दल और भारतीय लोक-दल के विलय के जो सुझाव रखे गये हैं वे यद्यपि अभी तक असफल हुए हैं परन्तु 'फेडरल पार्टी" का विचार तो सामने आया ही है और हो सकता है कि आगामी चुनावा तक इसको जीवन मिल जाये।

B क्षेत्रीय दल (Regional Parties)—भारतीय राजनीतिक दल विज्ञान (stasiology) की एक विशेषता यह रही है कि इसमे अखिल भारतीय दलो के साथ साथ क्षेत्रीय दला का अस्तित्व भी विद्यमान रहा है। क्षेत्रीय दलो के मुख्य उदाहरण है द्रमुक (DMK), अकाली दल, मुस्लिम लीग आदि। इन्हे क्षेत्रीय दलो की सज्ञा इसलिये दी जाती है कि इनका प्रभाव क्षेत्र विशेष तक सीमित रहता है। क्योकि ये जाति, धर्म, भाषा प्रदेश आदि पर आधारित हैं अत इन्हें साम्प्रदायिक दल भी कहा जाता है। इन आधारा पर क्षेत्रीय दलो का अस्तित्व इस बात का द्योतक है कि आज भी भारत मे क्षेत्र, जाति, धर्म भाषा आदि की समस्यायें गम्भीर

है और समय समय पर राष्ट्रीय एकता के विकास मे बाधा प्रस्तुत कर देते हैं जिनसे विघटनकारी प्रवृत्तियो को बढावा मिलता है।

अखिल भारतीय दलो की सख्या गिनी चुनी है परन्तु क्षत्रीय दलो की सख्या अत्यधिक है। क्षेत्रीय दलो मे केवल वे दल ही नही आते जो क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित हैं बल्कि वे तदर्थ (adhoc) और "झालर समूह" (fringe groups) भी शामिल किये जाते हैं जो स्थान, सम्प्रदाय, कबायली क्षेत्र, व्यक्तित्व, या निर्वाचन सम्बन्धी समायोजन (electoral adjustment) पर आधारित हैं। कबायली जातियो पर आधारित क्षेत्रीय दलो के उदाहरण हैं बिहार की झारकन्द पार्टी जिसे आज हल झारखन्द कहते हैं और असम तथा मेघालय की आल पार्टी हिल लीडर्स का फ्रेन्स (APHLC)। कुछ क्षेत्रीय दल काग्रेस असहमतो (dissidents) के दल हैं जस बगला काग्रेस, करल काग्रेस उत्कल काग्रेस हरियाणा काग्रेस। प्रगति पार्टी और बी० के० डी० काग्रेस असहमता की ही पार्टी थी। अन्य उदाहरण ऐस हैं जैसे जनता पार्टी, विशाल हरियाणा पार्टी लोकतान्त्रिक दल आदि। जो किसी नता के व्यक्तित्व के इद गिद चक्कर काटते हैं। कुछ मोर्चा फ्रन्ट आदि का उदय निर्वाचन सम्बन्धी समायोजन (electoral adjustments) के लिये होता है जस गुजरात मे जून 1975 के निर्वाचन से पूव सगठन काग्रेस जनसघ भारतीय लोक दल, समाजवादी दल का जनता फ्रन्ट (Janata front) और निर्वाचन के बाद उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। निर्वाचन सम्बन्धी समायोजन पर केवल विरोधी दलो का अधिकार ही नही अपितु सत्तारूढ काग्रेस ने भी साम्यवादी दल और केरल मे मुस्लिमलीग से समायोजन किया। अनेक क्षेत्रीय दल सम्प्रदाय पर आधारित है जसे अकाली दल, हिन्दू महासभा (यह तो अब लोप की स्थिति मे है) राम राज्य परिषद्, रिपब्लिकन पार्टी (अनुसूचित जाति सघ—scheduled cast federation)। कुछ क्षेत्रीय दल चरम वामपथी हैं जैस महाराष्ट्र की पीजेन्ट एण्ड वर्कर पार्टी (Peasants and Workers' Party) जिन्हे साम्यवादियो से पृथक करना कठिन है।

क्षेत्रीय दला मे कुछ क्षेत्रीय दल ऐसे हैं जसे तमिलनाडु की द्रमुक (DMK) जो अपने क्षेत्र मे काग्रेस से लोहा लेने की स्थिति मे है। पजाब का अकाली दल यद्यपि लोहा लेने की स्थिति म तो नही परन्तु पजाब मे यह एक ऐसी शक्ति है जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती। केरल मे मुस्लिमलीग सरकार निर्माण मे सहायक है चाहे उसका निर्माण काग्रेस द्वारा या वामपथी या दक्षिण पन्थिया द्वारा किया जाय। अन्य क्षेत्रीय दल तो केवल हल्फ (हाईफन–adjunct) मात्र है।

## 1 द्रमुक (DMK)

द्रमुक का पूरा नाम है द्रविड मुनेत्र कषगम (Dravida Munnetra Kazhagam) शाब्दिक दृष्टि से इसका अथ है तामिल विकास दल। उत्पत्ति की दृष्टि स इसकी जडे जस्टिस दल (justice party) और द्रविड कषगम (D K) मे देखी

जा सकती हैं अर्थात् द्रमुक द्रविड आन्दोलन की उत्पत्ति है जिसका उदय मद्रास में ब्राह्मण विरोधी संघर्ष के रूप में हुआ था। जैसाकि हैरिसन ने लिखा है कि "द्रविड़ आन्दोलन मूलतः तामिल लोगों का ब्राह्मणों और उत्तरी भारत के आर्थिक साम्राज्य वाद के विरुद्ध सामाजिक विरोध था।"[1]

जस्टिस दल, जिसे साउथ इण्डियन लिबरल फेडरेशन भी कहते हैं की स्थापना डा० सी० नातेसा मुदालियार, टी० एम० नायर और पानागल के राजा सर पी० थ्योगारोया चेट्टी (Sir P Theoagaroya Chetty) के नेतृत्व में बीसवीं शताब्दी की दूसरी दशाब्दी में (1917 में) की गयी। इसका उद्देश्य उन गैर ब्राह्मण (द्रविडियन) का सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक विकास करना था जो निर्धनता, निरक्षरता और अनभिज्ञता में डूबे हुए थे। द्वैध प्रणाली के अन्तर्गत यह दल कुछ समय तक मद्रास में सत्तारूढ़ भी रहा, जब कांग्रेस ने इसे अपदस्थ कर दिया। सन् 1938 में ई० वी० रामा स्वामी नाइकर, जिन्हें परियार (सन्त या साधु) भी कहा जाता था, जास्टिस दल के अध्यक्ष बने। आन्तरिक संकट उत्पन्न होने से परियार ने जस्टिस दल से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और 1944 में द्राविड कषगम (DK) की स्थापना की, जिसे द्रवडियन फेडरल (Dravidian federal) भी कहा जाता है। परियार के प्रमुख लेफ्टीनेन्ट थे सी एन अन्नादोराई, जिन्हें प्यार से "अन्ना" (Anna) कहा जाता था।

द्रविड कषगम (DK) एक कठोर संवृत (closed) निरकुंश, लोकतन्त्र विरोधी संगठन था जो ब्राह्मणों और पुरानिक हिन्दूवाद की रीतियों और संस्कारों द्वारा सम्पन्न की जाने वाली क्रियाओं का विरोधी था। इस तरह इसका स्वरूप ब्राह्मण विरोधी, ब्रिटिश विरोधी और धर्म विरोधी था। यह द्रविड परम्परा और तामिल संस्कृति पर बल देता था और राजनीतिक गतिविधियों द्वारा तामिल समुदाय के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये इच्छुक था। इतना ही नहीं, द्रविड कषगम द्रविड स्थान के रूप में स्वतन्त्र तामिल राज्य की स्थापना भी चाहता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इसने मद्रास, आन्ध्र, मैसूर, ट्रावनकोर, कोचीन राज्यों को मिलाकर एक पृथक द्रविडस्थान की स्थापना की मांग भी की। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु द्रविड कषगम ने अपने आपको अर्द्ध सैनिक संगठन के रूप में पुनर्गठित भी किया और राष्ट्रीय झण्डे और भारतीय संविधान का सम्मान करने से इन्कार किया।

परियार के प्रमुख लेफ्टीनेन्ट सी एन अन्नादोराई को अपने राजनीतिक गुरु की उपयुक्त गतिविधियाँ पसन्द नहीं थीं। अन्ना अराष्ट्रीय निरंकुश और लोकतन्त्र विरोधी नीतियों में विश्वास नहीं करते थे। जब परियार ने अपनी अराष्ट्रीय और लोकतन्त्र विरोधी नीतियों में परिवर्तन करने से इन्कार कर दिया तो अन्ना ने द्रविड कषगम से सम्बन्ध विच्छेद कर 1949 में द्रमुक (DMK) नाम से एक राजनीतिक दल की स्थापना की।

द्रमुक (DMK) का प्रारम्भिक दृष्टिकोण साम्प्रदायिक था। जैसाकि हार्ड

1 Harrison India The Most Dangerous Decades pp 122-124

ग्रेव ने लिखा है कि तमिलनाद मे (तामिल) सस्कृति के सामान्य चिह्नो का प्रयोग करते हुए, द्रविडियो के भूत के गौरव को ललकारते हुए और ब्राह्मणो बनियो और उत्तर के आर्यो द्वारा गैर ब्राह्मणो पर किये गये सामाजिक अत्याचार का सहारा लेते हुए द्रमुक ने लोगो को आत्म चेतन समुदाय मे ढालने का प्रयास किया। परन्तु द्रमुक ने शीघ्र ही अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को त्याग दिया और मद्रास के निघनो, निरक्षरो और दलित वर्गो के उत्थान का बीडा उठाया। समय पा कर इसने अपने सामाजिक आधार को भी चौडा कर लिया। द्रमुक मे यद्यपि मुदालियार (mudaliar) जाति का प्रभुत्व है परन्तु सहयोग के लिये यह सभी वर्गो (ब्राह्मण, गैर ब्राह्मण, दलित वर्गो आदि) से अपील करता है। यद्यपि द्रमुक का कार्यजन तमिलनाडु मे व्यापक न हो सका परन्तु फिर भी इसकी व्यापक अनुगामिता (large following) है नगरो मे निम्न वर्ग, सर्वहारा निम्न मध्यम वर्ग और बुद्धि जीवी आदि वर्गो का समर्थन इसे प्राप्त है। आज तो यह प्रभावपूर्ण सुसगठित, सोपानिक सरचना सगठन है। जहाँ द्रविड कषगम का दृष्टिकोण 'विरोध' और 'साम्प्रदायिक' था वहा द्रमुक का दृष्टिकोण प्रादेशिक होते हुए भी व्यापक है या कम से कम विघटनकारी तो नही। चीनी आक्रमण के बाद अर्थात् 1963 मे द्रमुक (DMK) ने अपने दल के सविधान मे परिवर्तन कर द्रविडस्थान की माँग को त्याग दिया। आज द्रमुक राज्यो के लिये अधिक स्वायत्तता की माग करता है। यह उत्तरी भारत के हिन्दी साम्राज्यवाद का भी विरोधी है।

द्रमुक का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढता ही गया है और प्रत्येक निर्वाचन मे इसने अपनी स्थिति का सुधारा है। सन 1952 के निर्वाचनो को इसने लडा ही नही सन् 1957 के निर्वाचनो मे इसे राज्य विधान सभा मे 15 और लोक सभा मे 2 स्थान प्राप्त हुए, सन् 1962 के निर्वाचनो मे राज्य विधान सभा मे यह बडा विरोधी दल था। इसे विधान सभा मे 50 और लोक सभा मे 7 स्थान प्राप्त हुए। सन् 1967 के निर्वाचनो मे इसने सब राजनीतिक पण्डितो की भविष्यवाणियो को गलत सिद्ध कर दिया और इसे राज्य विधान सभा के 231 स्थानो मे से 138 स्थान प्राप्त हुए। यद्यपि 1967 के निर्वाचनो मे कांग्रेस को हर राज्य मे कम स्थान प्राप्त हुए थे परन्तु कांग्रेस की जो दुर्गति तमिलनाडु मे हुई वह आश्चर्यजनक थी। कांग्रेस को तमिलनाडु मे केवल 49 स्थान प्राप्त हुए। द्रमुक के लिये सबसे महत्व की बात यह नही थी कि उसे राज्य विधानसभा मे स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ बल्कि यह थी कि इसने लोकसभा के जिन 25 स्थानो के लिये चुनाव लडा इसे सभी स्थानो पर विजय प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता के बाद भारतीय निर्वाचन के इतिहास मे यह पहला अवसर था जब किसी दल को उन सभी स्थानो पर विजय प्राप्त हुई जिनके लिये चुनाव लडा था। सन 1971 के निर्वाचनो मे द्रमुक को राज्य विधानसभा मे 234 स्थानो मे से 184 स्थान प्राप्त हुए और लोक सभा मे 23 स्थान। सन् 1967 से यह तमिलनाडु मे सत्ता पर विद्यमान है।

द्रमुक की नीति उग्र लोकवाद (radical populism) की है। यह समाजवादी अर्थ व्यवस्था में विश्वास करता है। यह बैंकों और परिवहन (transport) का राष्ट्रीयकरण चाहता है तथा भूमि का सुधार कर उसका पुनर्वितरण चाहता है। इन नीतियों का समर्थन करने के कारण ही द्रमुक ने 1969 में इंदिरा गांधी की सरकार का[1] साम्यवादियों के साथ मिलकर समर्थन किया और उस लोकसभा में गिरने से बचा लिया। सन् 1971 के निर्वाचन में द्रमुक ने कांग्रेस से कुछ सुविधायें भी प्राप्त कीं परन्तु कांग्रेस द्रमुक विनोदकाल (honeymoon) अल्पकाल तक ही विद्यमान रहा और दोनों फिर अलग हो गये।

पिछले कुछ वर्षों में द्रमुक में कुछ दरारें उत्पन्न हो गयी हैं जिससे द्रमुक की सुदृढ़ता पर यद्यपि प्रतिकूल प्रभाव तो नहीं डाला परन्तु उस पर भ्रष्टता के आरोप लगाकर उसे बदनाम किया है। एम जी रामचन्द्रन के नेतृत्व में अन्ना द्रमुक (ADMK) की स्थापना भी कर ली गयी है।

## 2 शिरोमणि अकाली दल
(Shiromani Akali Dal)

अकाली दल शुद्ध और हिन्दू संगठन है। सिक्ख सम्प्रदाय के सदस्य ही इसके सदस्य हो सकते हैं। हिन्दू इसमें शामिल नहीं हो सकते। अत यह शुद्ध साम्प्रदायिक संगठन है। इसका कार्य क्षेत्र केवल पंजाब है और पंजाब में भी केवल सिक्ख सम्प्रदाय पर इसका न्यूनाधिक प्रभाव है।

अकाली दल सिक्खों का सामाजिक और राजनीतिक संगठन है। इसका जन्म प्रथम महायुद्ध के बाद एक सुधार समूह के रूप में हुआ जो गुरुद्वारों में सुधार लाने का इच्छुक था और उन्हें कट्टर सिक्ख सम्प्रदाय के नियन्त्रण में लाना चाहता था। सन् 1925 में यह गुरुद्वारों को एक निर्वाचित समिति, जिसे शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति (SGPC) कहते हैं, के नियन्त्रण में लाने में सफल हो गया। इसका कार्यालय अमृतसर में स्वर्ण मन्दिर (golden temple) में है। अकाली दल के हाथों में गुरुद्वारों का प्रबन्ध आने से उसे महान पेटरोनेज (patronage संरक्षण) की शक्ति ही प्राप्त नहीं हुई बल्कि उनसे उत्पन्न होने वाली अक्षयनिधि (endowment) भी प्राप्त हुई। इससे अकाली दल की स्थिति पंजाब में सुदृढ़ हो गयी।

लगभग तीन दशाब्दियों तक अकाली दल पर मास्टर तारासिंह का आधिपत्य रहा। जैसाकि वलदेवराज नायर ने लिखा है कि 'सिक्ख, राजनीतिक विश्व में वह एक महामूर्ति की तरह बैठा रहा।'[2] सन् 1930 से 1962 तक या तो वह स्वयं

1 सन 1969 में कांग्रेस दल में फूट पड़ जाने के कारण कांग्रेस के कुछ असन्तुष्ट सदस्यों ने इंदिरा गांधी सरकार का समर्थन करना छोड़ दिया था और वे विरोधी पक्ष में बैठने लग गये थे। इन असहमतों (dissidents) को अब संगठन कांग्रेस कहा जाता है।

2 Master Tara Singh bestrode "the Sikh political world like a colossus Quoted by Palmer, Norman, D The Indian Political System Second edn p 236

प्रकाली दल का प्रध्यक्ष रहा या उसका कोई आश्रित (protege) या उसके प्रति भक्ति रखने वाला दलीय नेता। सन् 1962 मे सत फतेह सिंह के नेतृत्व मे एक पृथक प्रकाली दल की स्थापना हो गयी और इस गुट का प्रभाव प्रकाली दल पर दिन प्रति दिन बढने लगा। सन 1966 मे मास्टर तारा सिंह की मृत्यु हो गयी और 1969 मे मध्यवर्ती चुनाव से पूव दोनो गुट मिल गये। सन 1972 म सत फतेह सिंह की मृत्यु हो गयी। एक बार गुटो से वशीभूत होने पर प्रकाली दल गुटब दी से न बच सका और आज सन्त प्रकाली दल, मास्टर तारासिंह दल, फेरूमान प्रकाली दल, गुरुनामसिंह प्रकाली दल, निरलेपकौर प्रकाली दल, प्रादि क रूप म इसम अनेक गुट विद्यमान हैं। इन गुटो का विद्यमान होना प्रकाली नेताओ की निजी महत्वाकाक्षा का द्योतक है।

प्रकाली दल क दृष्टिकोण भिन्न भिन्न रहे हैं। धार्मिक दृष्टिकोण से यह 'पन्थ' (सिक्ख धम, समूह या समुदाय) का रक्षक है, भाषाई दृष्टिकोण से यह गुरुमुखी लिपि मे पजाबी को पजाब की राजभाषा (official language) बनाना चाहता है और सिक्ख राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति अर्थात् राजनीतिक दृष्टिकोण स यह 'सिक्ख स्वदेश (sikh homeland) अर्थात् सिक्खिस्तान (sikhistan) या पजाबी सूबे की स्थापन चाहता है।

गुरुद्वारो और सिक्ख धम की रक्षा हेतु पृथक सिक्ख स्वदेश अर्थात पृथक राज्य की माँग को मास्टर तारा सिंह ने स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूव भी प्रस्तुत किया था परन्तु अग्रेजो ने सिक्खो की इस माग को स्वीकार नही किया। सिक्ख वस्तुतः पाकिस्तान निर्माण के कटु विरोधी थे। क्योकि पाकिस्तान के बनने से पजाब मे उनका बहुमत अल्प मत मे रह जाने और सिक्खो की ज म भूमि ननकाना[1] के पाकिस्तान मे जाने की सम्भावना थी और पाकिस्तान के निर्माण के बाद ठीक यही हुआ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद मास्टर तारा सिंह ने सन् 1950 मे पजाबी सूबे के रूप मे 'सिक्ख स्वदेश" की माग को फिर प्रस्तुत किया और 1960 में उसे अद्ध सैनिक आदोलन का रूप दे दिया। जैसाकि बलदेवराज नायर ने लिखा है कि अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए प्रकाली दल ने तीन युद्ध कौशलो (strategies) को अपनाया—सवधानिक, घुस पैठ और आन्दोलनात्मक[2]। सन् 1965 में उस समय स्थिति गम्भीर हो गयी जब सत फतह सिंह ने सरकार को यह अन्तिम चेतावनी (ultimatum) दे दी कि यदि पजाबी सूबे की माग को स्वीकार न किया गया तो वे 15 दिन का आमरण उपवास रखेंगे और यदि उस समय तक जीवित रहेंगे

1 ननकाना साहब आज पाकिस्तान का भाग है।

2 See Nayar, Baldev Raj Minority Politics in the pb VI Also see Palmer, Ibid, p 236

तो 15 दिन के बाद आत्मदाह (self immolation) द्वारा अपने शरीर का अन्त करेंगे। पाकिस्तान के साथ युद्ध छिड़ जाने से यद्यपि संत फतेह सिंह ने आत्मदाह क्रिया को त्याग दिया परन्तु सरकार ने युद्ध के बाद पंजाबी सूबे की मांग को स्वीकार कर लिया और 1966 में भाषा के आधार पर पंजाब का पुनर्गठन किया गया तथा हरियाणा और पंजाब के दो राज्यों का जन्म हुआ। इस तरह भाषाई रूप में अकाली दल को 'सिक्ख स्वदेश' की प्राप्ति हुई जिसकी राज भाषा पंजाबी है। परन्तु चण्डीगढ़ के प्रश्न पर अभी भी हरियाणा और पंजाब में मतभेद है। यद्यपि प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी के पंच निर्णय (award) ने चण्डीगढ़ पंजाब को दे दिया परन्तु पंजाब इसके लिये फाजिलका से हाथ धोना नहीं चाहता।

अकाली दल के पास कोई निश्चित आर्थिक या सामाजिक कार्यक्रम नहीं। इसकी नीति अवसरवादिता की रही है। यही कारण है कि आरम्भ से राजनीति में भाग लेने के बाद भी इसकी निर्वाचन अपील (electoal appeal) उतनी नहीं जितनी की तमिलनाडु में द्रमुक (DMK) की है। यह तो सिक्खों की निष्ठा का भी दावा नहीं कर सकता। सन् 1967 तक पंजाब की राजनीति पर कांग्रेस दल छाया रहा और 1972 में फिर कांग्रेस दल की सत्ता प्राप्त करने में सफल रहा। अकाली दल को 1962 के निर्वाचनों में कुल मतों के 11.9 प्रतिशत मत ही प्राप्त हुए। पंजाबी भाषाई क्षेत्र में भी जहां सिक्खों की जनसंख्या 55 प्रतिशत थी वहां भी इसे 20 प्रतिशत मत ही प्राप्त हुए अर्थात् इसे सिक्खों के 40 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त नहीं हुए। क्योंकि 1967 के निर्वाचन में पंजाब विधान सभा में किसी दल को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ था अतः अकाली दल ने दूसरे दलों के साथ मिलकर गुरनाम सिंह के नेतृत्व में संयुक्त सरकार का निर्माण किया परन्तु यह सरकार गुटबंदी के वशीभूत होने पर अकाली नेताओं की निजी महत्वकांक्षाओं के कारण टिकाऊ न रह सकी। सन 1969 के मध्यावर्ती चुनाव में अकाली दल के दोनों गुटों (सन्त फतेह सिंह का अकाली दल और मास्टर तारासिंह का अकाली दल) को पहले से अधिक स्थान प्राप्त हुए। दूसरे दलों के साथ मिलकर गुरनाम सिंह के नेतृत्व में फिर संयुक्त सरकार का निर्माण किया गया परन्तु यह सरकार भी टिकाऊ न रह सकी। सन 1970 में प्रकाशसिंह बादल के नेतृत्व में फिर अकाली दल ने संयुक्त सरकार का निर्माण किया परन्तु यह भी अल्पकाल तक जीवित रह सकी। सन् 1972 के निर्वाचनों में अकाली दल को कांग्रेस के हाथों पराजय का मुंह देखना पड़ा।

## समीक्षा-प्रश्न
## (Review Questions)

1. भारत में दलीय व्यवस्था के स्वरूप की व्याख्या कीजिये।
2. भारत में दलीय प्रणाली की विशेषताओं का वर्णन कीजिये। विरोधी दलों की भारतीय राजनीति में क्या भूमिका रही है?

3 एक राजनीतिक दल की प्रधानता से आपका क्या तात्पर्य है ? भारतीय सन्दर्भ में उसकी उपयोगिता और सीमाओं पर प्रकाश डालिये।

4 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उद्देश्यों, नीतियों और कार्यक्रमों की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये।

5 "विपक्ष बुरी तरह विभक्त है।" यही तथ्य भारतीय राजनीतिक दल प्रणाली और संसदात्मक लोकतन्त्र को वास्तविक चुनौती प्रदान करता है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? कारण लिखिये।

6 1969 के कांग्रेस विभाजन के क्या कारण थे ? क्या यह दलीय संगठन और दलीय शासन के भेदों का परिणाम था या कि नेतृत्व और सिद्धान्तों का प्रश्न था।

7 भारत में प्रमुख राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये।

8 'दल विहीन' शासन से आप क्या समझते हैं ? क्या दलीय प्रणाली के दोषों का यह सही विकल्प है ?

9 क्षेत्रीय दलों से आप क्या समझते हैं ? क्या क्षेत्रीय दल भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में बाधक हैं। किन्हीं दो क्षेत्रीय दलों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

अध्याय **2**

# दबाव समूह
## (The Pressure Groups)

---

### परिचय (Introduction)

कोई भी राजनीतिक प्रणाली इस बात का दावा नही कर सकती कि वह किसी समाज मे विद्यमान सभी हितो का प्रतिनिधित्व करती है। समाज की किसी भी माग के प्रति उसकी क्रिया इस बात पर निर्भर करती है कि उस माग के प्रति कितना और किस समूह का समर्थन या दबाव है। भारतीय राजनीतिक प्रणाली की तो प्रमुख विशेषता ही यह रही है कि यह माग की वैधता या औचित्य से उतना प्रभावित नही हुई जितना कि जन आन्दोलन के उग्र साधनो जैसे जन रैलियां, महान् प्रदर्शनो सर्व व्यापी हड़तालो, बन्दो धरनाओ आदि से प्रभावित हुई है अर्थात् यह प्रणाली इस बात से अधिक प्रभावित हुई है कि "किसी माग के समर्थकों में अव्यवस्था फैलाने म कितनी क्षमता है। इस तत्व व प्रभाव को राष्ट्रीय, राज्यीय, स्थानीय सभी स्तरों पर उठने वाली मागो के प्रति अपनाये गये दृष्टिकोण में देखा जा सकता है। प्रश्न चाहे राज्यो के पुनर्गठन का हो या सार्वजनिक उद्योगो की स्थापना का हो या श्रमिक सघो, राज्य कर्मचारियो या विद्यार्थियो का हो सभी म यही नीति काम करती है। जैसाकि मायरन वीनर ने लिखा है कि किसी माग को इस लिये स्वीकार नहीं किया जाता कि वह उचित है, बल्कि इसलिये स्वीकार किया जाता है कि जो समूह उसकी माग कर रहा है उसके पीछे कितनी शक्ति है और वह कितना विनाश करने की क्षमता रखता है। विशाल परन्तु शान्तिमय समूहो की मागो के प्रति सरकार प्रायः अग्रिमाशील रही है जबकि उन समूहो की मांगो के प्रति पूर्ण रियायतें दे दी गयी जिन्होने अपनी मागो को हिंसक ढग से मनवाने के लिये उन पर दबाव डाला।"[1]

### अर्थ उद्देश्य एवं परिभाषा

लोकतान्त्रिक, सभ्य और औद्योगिक समाजो म जहा स्वतन्त्र भाषण, अभिव्यक्ति और सघ तथा समूह बनाने की आज्ञा होती है तथा नागरिक अपनी शिकायतो को दूर कराने के लिये याचिका (Petition) प्रस्तुत कर सकते हैं वहां भिन्न भिन्न समुदाय और वर्ग विद्यमान होते हैं। मतदाता अपने हितो की अभिव्यक्ति के लिये

---

1 Weiner, Myron The Politics of scarcity P 201

प्राय दो प्रकार के सगठनो का प्रयोग करते हैं जि ह राजनीतिक शब्दावली मे दबाव समूह और राजनीतिक दल कहा जाता है। दबाव समूह मतदाताओ के विशेष हितो (Special interests) ग्रौद्योगिक, व्यावसायिक, आर्थिक व गीय, धार्मिक सामाजिक, राजनीतिक आदि को अभिव्यक्त करने के साधन प्रदान करते हैं। पर तु राजनीतिक दल सामा य हितो (general interest) को अभि यक्त करने के साधन प्रदान करते करते हैं। दबाव समूह अपने समूह के सदस्यो की आवश्यकताओ की पूर्ति स ही सम्बधित होते हैं। वे न तो सभी नागरिको के सामा य हितो को अभिव्यक्त करते है और न ही उ हें अभिव्यक्त करने या दावा करते है। इस दृष्टि मे उनके उद्देश्य सीमित, सकीर्ण और विशेष प्रश्न या समस्या तक ही केद्रित होते ह। वे राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करना नही चाहते न ही मतदाताओ की स्वीकृति या अस्वीकृति के लिये निर्वाचन मे अपने प्रत्याशी खडे करते ह। उनके कोई राजनीतिक प्रोग्राम या नीतिया नही होती। व निर्णय नही लेते बल्कि निर्णय लेने वाला प्रक्रियाओ सार्वजनिक पदाधिकारियो, विधायको तथा सरकारी कर्मचारियो को प्रभावित करने का काम करते है। वे व्यक्तिगत सम्पक, मनोरजन के साधनो (भोजन, मद्यपान कामुक स्त्रियो का प्रयोग आदि) विदेशी यात्रा का लालच, घूस या प्रत्यक्षतया जन मत द्वारा उन्हें प्रभावित करने की कोशिश करते हैं कि व अमुक्त निर्णय या विधान के पक्ष या विपक्ष मे निणय ले या मतदान करे। इस तरह दबाव समूह दबाव द्वारा अपने समूह के सदस्यो के हितो की रक्षा करते हैं तथा सार्वजनिक नीतियो को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। उदाहरणतया दबाव समूह अपने समूह के सदस्यो के लिये अनुज्ञप्तिया (licences) प्राप्त करते हैं करो को लगाने या न लगाने मे दिलचस्पी लेते हैं सरकारी सहायता, सरक्षण और सुविधा प्राप्त करने की कोशिश करते है तथा किसी प्रमुख विधेयक को पास करवाने या न करवाने मे हिस्सा लेते है आदि। सक्षेप मे वर्तमान समय मे तो विधि निर्माण वस्तुत हितो, व्यक्तियो और सस्थाओ द्वारा प्रस्तुत विचारो को मिलाने और समायोजित करने की प्रक्रिया है

सहयोग और साथियो के साथ मिल कर काय करना मानव का स्वाभिवक गुण है अत सामा य हित रखने वाले व्यक्ति एकत्रित हो कर काय करते हैं। क्योकि राज्यो के कार्यों की प्रकृति निर्वैयक्तिक (impersonal) होती है अत सामा य हित वाले अपने आपको सघ या समूहो मे गठित कर लेते है। यही कारण है कि समाज मे अनेक प्रकार के समूह या सघ उत्पन्न हो जाते हैं जैसे कृषको, मजदूरो, औद्योगिक मजदूरो, मालिको, भूपतियो, अध्यापको, विद्यार्थियो व्यापारियो, डाक्टरो, इजीनियरो, सरकारी कर्मचारियों आदि। ये सभी सघ या समूह स्वेच्छिक होते हैं परन्तु, इनका क्षेत्र एक उद्योग, कार्यालय प्रशासनिक विभाग, प्रात, राज्य या अन्तर्राष्ट्रीय भी हो सकता है। सचार और आवागमन के साधनो के विकास और लोकतात्रिक प्रणाली के विद्यमान होने से ये समूह आधुनिक जीवन के अभिन्न अ ग बन गये हैं। जैसा कि कोरी और अब्राहम ने लिखा है कि एक ऐसा अनवरत समूह जीवन

(Spontaneous group life) प्रारम्भ हो चुका है जिसका इतिहास मे कोई सानी नही है।'[1]

दबाव समूह राजनीतिक दलो के प्रतिद्वन्दी नही बल्कि पूरक हैं। दबाव समूह ही राजनीतिक दलो को विशेष हितो की उपेक्षा करने से रोकते हैं और उन समायोजन (accommodate) की नीति अपनाने के लिये बाध्य करते हैं। कार्ल जे० फ्रेडरिक ने ठीक लिखा है कि दबाव समूह ही 'दलो के पीछे सक्रिय जन होते हैं।"[2] (the living public behind the parties) सगठित समूहो के महत्व पर प्रकाश डालते हुए वी० ओ० की० ने लिखा है कि "स्पष्टतया सगठित समूह अच्छाई या बुराई के लिये राजनीतिक प्रणाली मे प्रतिनिधित्व का काम करते हैं सगठित समूह भौगोलिक प्रतिनिधित्व के पूरक हैं।"[3]

दबाव समूहो की अपनी कोई ठोस नीति या कार्यक्रम नही होता। वे तो विशेष मसले (special issue) से ही सम्बन्धित होते हैं। परन्तु फिर भी वे "शक्ति सगठन" होते हैं और अपने सदस्यो के हितो और उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिये निरन्तर सक्रिय रहते हैं। ये स्वय द्वारा सचालित या प्रशासित साधनो के माध्यम से पत्र पत्रिकायें, रेडियो टेलीविजन आदि साधनो से या सीधे निजी सम्पर्क द्वारा, धन राशि या अन्य साधनो के प्रयोग द्वारा, अपने दावो को प्रस्तुत करते हैं एव उनके पक्ष मे समर्थन प्राप्त करते हैं।

दबाव समूहो का प्रभाव बहु-दलीय प्रणाली की अपेक्षा द्वि-दलीय प्रणाली में अत्यधिक होता है। इसका कारण यह कि बहु दलीय पद्धति मे दलो का स्वय का आधार इतना ग्राह्य और स्थानीय होता है कि वे स्वय ही दबाव समूह लगते हैं।

परिभाषा—हितबद्ध गुटो या दबाव समूहो की अनेक परिभाषायें दी गयी हैं जिनमे प्रमुख निम्न हैं —

1 मायरन वीजर के शब्दो मे हित या दबाव समूह ऐसा स्वेच्छित सगठित समूह है जो प्रशासनिक ढाँचे से बाहर हो और जो सरकारी कर्मचारियो के नामाकन अथवा नियुक्ति को, सावजनिक नीतियो को अपनाये जाने को उनके प्रशासन और निर्धारण को प्रभावित करने का प्रयास करता हैं।"

2 ओडीगार्ड के शब्दो मे 'दबाव समूह उस लोगो का औपचारिक सगठन है जिनके एक या अनेक सामान्य उद्देश्य एव स्वार्थ हो और जो घटनाओ के क्रम को,

1 Corry and Abraham Elements of Democratic Government, p 346
2 Friedrick Carl J Constitutional Government and Democracy p 460
3 Key V O Politics Parties and Pressure groups p 158–159

विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिये प्रभावित करने का प्रयत्न करें कि उनके अपने हितो की रक्षा एव वृद्धि करे।"

3 डविड ट्रूमेन के शब्दो मे "हितबद्ध गुट सहभाजित अभिवृति गुट (shared attitude group) है जो समाज के अन्य गुटो पर कतिपय दाव प्रस्तुत करता है। जब कभी यह गुट शासन की संस्थाओ पर या उनके माध्यम से दाव प्रस्तुत करता है तो उसे राजनीतिक हितबद्ध गुट कहते है। [1]

4 मकाइवर के शब्दो मे "दबाव समूह एसे सगठित या असगठित व्यक्तियो का जोड है जो दबाव के दाव पेचो का प्रयोग करता है।"[2]

5 जेगलर के शब्दो मे "दबाव समूह ऐसे व्यक्तियो का सगठित जोड है जो औपचारिक सरकारी पदो पर अपने समूह के सदस्यो को बिठाये बिना सरकारी निर्णयो के आशयो को प्रभावित करने का प्रयास करते ह। इस परिभाषा का आशय यह है कि यह व्यक्तियो का जोड है जो सचेत इकट्ठे हुए हैं, जो अपनी शक्ति को सम्मिलित करते है, सगठित नीति के प्रश्नो पर परामर्श करते है और अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिये कार्य करते ह। [3]

**हितबद्ध गुट–दबाव समूह–लॉबी—(Interest Group–Pressure Group–Lobby)**—हितबद्ध गुट, दबाव समूह और लाबी तीनो का मूल उद्देश्य अपने समूह के हितो की पूर्ति करना है। फिर भी इनमे कुछ सूक्ष्म भेद पाये जाते है जिन्हे अध्ययन की दृष्टि से समझ लेना आवश्यक है। रोसिटर ने इनके भेदो को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है समूह को हम "हितबद्ध गुट तब कहते है जब हम अपने आपको 'नदानिक' (रोगी) समझते हैं, जब हम अपने आपको 'सकटमय' समझते है तो वह समूह दबाव समूह बन जाता है और जब हम उन्हे राजधानियो म कार्य करते देखते हैं तो वह लॉबी का रूप धारण कर लेता है।"[4] दूसरे शब्दो मे जब सामान्य हित वाले व्यक्ति सगठित हो जाते है और अपने विशेष वर्ग के हितो की सिद्धि के लिये प्रयत्नशील रहते हैं तो उन्हे हितबद्ध समूह (गुट) कहते हैं जब ये सगठित हितबद्ध गुट विधायका

1 Truman, David The Govrnment Process, Quoted by George S Blair in his Americans legislatures Structure & Process p 228

2 MacIver Robert M Social Pressures Encyclopaedia of the Social Sciences, vol XII, p 347

3 Zeigler Harmon Interest groups in American Society, p 30 Quoted by Blair, Ibid, p 282

4 "We call them 'interest groups when we are feeling clinical 'pressure groups when we are fieling critical and lobbees' when are watching theur at work in our fifty one coitals" Rossiter Clinlon Parties & Potthes is America p 21 Quoted by Blair, Ibid p 280

प्रशासनिक अधिकारियो या अन्य निर्णय लेने वाले अधिकारियो पर दबाव या प्रभाव डालते है तो उन्हें दबाव समूह कहते हैं और जब दबाव समूहा के समर्थक व्यक्ति अभिकर्त्ता या वर्ग विधान सभा के गोष्ठी कक्ष (Lobby) मे विधायको पर यह प्रभाव डालते हैं कि वे किसी विधेयक या नीति के पक्ष या विपक्ष मे मतदान करें तो उसे लॉबी कहते हैं। इस तरह दबाव समूह लॉबी नही। दबाव समूह की गति विधिया लाबी से व्यापक और विशाल होती हैं जबकि लॉबइस्ट की गतिविधियां सीमित होती हैं। जहा दबाव समूह विधायको और जनहित लोगो को प्रभावित करने का प्रयास करता है वहा लॉबी या लाबिइस्ट केवल विधान मण्डल या विधायको को प्रभावित करने का प्रयास करता है। लाबी तभी क्रियाशील होती है जब विधान मण्डल के अधिवेशन हो रहे होते है और जब वे किसी विधेयक के पक्ष या विपक्ष मे दिलचस्पी रखते है। अधिकाश दबाव समूह राजधानियो मे अपनी लॉबियो को बनाये रखते है। अमरीका मे "चीनी लाबी" और 'कृषि लॉबी' तो अत्यधिक प्रसिद्ध है। दबाव समूहो के अनेक उदाहरण है जसे अमरीका मे उत्पादको का राष्ट्रीय समूह (National Association of Manufacturers of America), अमरीकन महाजनो का सघ (American Banker Association) अमेरिकन श्रमिक सघ American Federation of Labour), अमरीकन लीजन (American Legion), अमरीकन रेल रोड समुदाय (The Association of American Railroad) आदि, ब्रिटेन म राष्ट्रीय कृषक सघ (National Farmers Union), फेबीयन समाज (The Fabian Society) आदि, भारत मे अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC) इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (INTVC) फडरेशन आफ इण्डियन चम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इन्डस्ट्री (FICCI), अखिल भारतीय कारखाने दारो का सगठन अखिल भारतीय रेलवे मेन एसोसियेशन, अखिल भारतीय पोस्टल एण्ड टेलीग्राफ्स यूनियन, फोरम आफ फ्री इटरप्राइस (Foruom of free Enterprise), आदि

✓ **दबाव समूह और राजनीतिक दल—भिन्नतायें—(Pressure Groups and Political Parties–Differences)**—दबाव समूहा और राजनीतिक प्रक्रिया के क्षेत्र मे पर्याप्त समानता है क्योकि दोनो मूलत नीतियो की कार्यान्विति से सम्बन्धित है परन्तु दोनो के उद्देश्यो और कार्य क्षेत्रों मे अत्यधिक भिन्नता है। दोनो की भिन्नताओं को निम्न बिन्दुओ द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है —

1 दबाव समूह शासन सत्ता को प्राप्त करने का प्रयास नही करते। वे पदो को प्राप्त करना नही चाहते और न ही अपने सदस्यों को पद दिलाने की इच्छा रखते हैं। वे तो विधायको, निर्वाचित पदाधिकारियो, प्रशासनिक अधिकारियों तथा कर्मचारियो पर दबाव डाल कर सावजनिक नीति को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। दूसरी ओर राजनीतिक दल शासन सत्ता को प्राप्त करना चाहते हैं, य अपने

दल के सदस्यो को सावजनिक पद दिलाने के इच्छुक होते हैं। शासन सत्ता को प्राप्त कर वे सावजनिक नीतियो को स्वय निर्धारित करते एव कार्यान्वित करवाते हैं।

2 दवाव समूह निर्वाचना मे अपने प्रत्याशियो को उम्मीदवार के रूप मे खडा नही करते, वे निर्वाचन मे कोई प्रोग्राम या नीतियो की घोषणा नही करते, यद्यपि वे दलो द्वारा निर्वाचना मे खडे किये गये प्रत्याशियो के चयन मे दिलचस्पी रखते है और उनके चुनाव प्रचार मे वित्तीय या अन्य प्रकार की सहायता दे सकते है। दूसरे राजनीतिक दल निर्वाचनो के माध्यम से ही शासन सत्ता को प्राप्त करते है चुनाव मे अपने प्रत्याशियो को खडा करते हैं तथा जिताने का प्रयास करते हैं। चुनाव मे वे अपने कायक्रम की घोषणा भी करते हैं।

3 दवाव समूह उन्ही व्यक्तियो का समूह है जिनका विशेष विषय या मसले पर समान हित और दृष्टिकोण एक सा होता है अर्थात् विचारधारा की दृष्टि से दवाव समूह अधिक सयुक्त और सजातीय समूह (गुट) होता है। दबाव समूह मे विचारो को जितनी अधिक सगति (consistency) होगी दवाव समूह राजनीतिक दृष्टि से उतना अधिक प्रभावी होता है। दूसरी ओर राजनीतिक दल का आधार और उद्देश्य व्यापक होता है वह किसी विशिष्ट विशय या मसले से सम्बन्धित नही होता बल्कि सावजनिक अर्थात् सामान्य उद्देश्यो सम्बन्धित होता है। दलो का प्रभाव उनके व्यापक सामाजिक और राजनीतिक आधार पर निभर करता है। इस दृष्टि स दलो का काय क्षेत्र बहुरूपी होता है।

4 दवाव समूह की सदस्यता परस्पर व्यापी है (Over lapping) एक व्यक्ति एक समय पर उतने ही दवाव समूहो का सदस्य वन सकता है जितने कि उसके हित है। उदाहरणतया एक व्यक्ति एक समय पर पितृ समूहो (Parent groups), उपभोक्ता समूहो या सघो (Consumer s groups or Associations), मुहल्ला सघो, शिक्षक सघो आदि का सदस्य हो सकता है। यही कारण है कि दबाव समूह के सदस्यो की अपने समूह के प्रति भक्ति विभाजित ही नही होती बल्कि उपक्षित भी हो सकती है। इस तरह से दवाव समूह एक ढीला सगठन है। दूसरी ओर राजनीतिक दलो की सदस्यता अनन्य (exclusive) होती है। कोई व्यक्ति एक समय पर एक ही दल का सदस्य हो सकता है। यही कारण है कि अपने दल के प्रति सदस्यो की भक्ति एकाग्र होती है चाहे दल के सदस्य दल की किसी नीति स सहमत हो या न हो। दलीय अनुशासन या निर्देशन की उपेक्षा उस सदस्य के लिये राजनीतिक मृत्यु (political death) का निमन्त्रण हो सकती है। इस दृष्टि से दल का एक सुदृढ सगठन है।

## दबाव समूह और राजनीतिक दल—एक दूसरे के पूरक के रूप मे

**(Pressure Groups and Political Parties—Supplement each other)**

दवाव समूह और राजनीतिक दलो मे उपयुक्त भिन्नताओ के बाद भी व एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नही बल्कि सहायक है एक दूसरे के शत्रु नही मित्र हैं जहा

एक विशेष हितों की रक्षा कर समाज की सेवा करता है (यह आवश्यक नहीं होता कि विशेष हित सदैव सावजनिक हित के विरोधी होते हैं, विशेष हित भी समाज के एक अंग के हितों की पूर्ति करते हैं) यह सावजनिक हितों पर बल देकर उन्हें (विशेष हितों को) उनके पास (सावजनिक हितों में) साथ समन्वित करने का प्रयास करता है दबाव समूह ही राजनीतिक मांगों को स्पष्ट और संयुक्त करते हैं, सौदेबाजी द्वारा या तार्किक ढंग से दूसरे समूहों का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करते हैं और राजनीतिक सेवा में लगे व्यक्तियों तथा सावजनिक नीति निर्माण और क्रियान्वयन की विभिन्न प्रक्रियाओं को प्रभावित करके इन मांगों को अधिकाधिक सावजनिक नीति में बदलने का प्रयास करते हैं। दूसरी ओर, राजनीतिक दलों का यह प्रयास रहता है कि वैचारिक और सैद्धान्तिक कठोरता में समुचित लचीलापन रखते हुए व साम्प्रदायिक भावना से बाहर कर और अधिकाधिक हित समूहों को एक विशाल और संयुक्त रूप देने का प्रयास करते हैं। दूसरे शब्दों में दल व्यवस्था की स्थिति मध्यस्थता की होती है जो हित समूह व्यवस्था और अधिकारिक नीति निर्माण अभिकरणों में मध्यम मार्ग अपनाती है। जहां दल व्यवस्था दबाव समूहों के विघटनकारी और संकीर्ण हितों से सावजनिक हितों की रक्षा करती है वहां वह विभिन्न हितों को संयुक्त कर उन्हें सावजनिक रूप देने का प्रयास करती है। यही कारण है कि दल व्यवस्था और समूह व्यवस्था मिलकर ऐसे विधानों का निर्माण करती हैं जो विशेष और सामान्य दोनों हितों की रक्षा कर सकें। यह दोनों व्यवस्थायें मिल कर समाज में असन्तोष को दूर कर सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास करती हैं।

एक दृष्टि से तो दबाव समूह द्वि मार्गीय सन्तुलन (Two way balances) का कार्य करते हैं। एक ओर वे जन इच्छा को विधायका या प्रशासनिक अधिकारियों तक पहुंचा कर उनके निर्णयों की जन इच्छा के अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं दूसरी ओर वे प्रशासन की नीतियों और दृष्टिकोणों को जनता तक पहुंचा कर उसे शान्त करने का प्रयास करते हैं।

## हितबद्ध समूहों का वर्गीकरण तथा प्रभाव शक्ति
## (Classification of Interest Groups and their power of influence)

दबाव समूहों का वर्गीकरण करना कठिन है। वस्तुत यह समय, परिस्थिति आवश्यकता और हितों पर निर्भर करते हैं। समाज में जितने अधिक हित होंगे उतने ही अधिक दबाव समूह होंगे। यह समाज के औद्योगीकरण और विकास पर निर्भर करते है, शासन प्रणाली के स्वरूप और आकार पर निर्भर करते हैं। कुछ दबाव समूह स्थायी और अस्थायी हो सकते हैं कुछ संगठित और असंगठित हो सकते हैं कुछ आकार में छोटे और कुछ बड़े हो सकते हैं कुछ व्यावसायिक कुछ वर्गीय कुछ धार्मिक कुछ सामाजिक, कुछ आर्थिक कुछ उपभोक्ता कुछ कृषक कुछ औद्योगिक कुछ श्रमिक कुछ विद्यार्थियों कुछ साम्प्रदायिक कुछ सांस्कृतिक आदि से सम्बन्धित हो सकते हैं।

कुछ ऐसे दबाव समूह भी हो सकते हैं, जैसे भारत मे गाधीवादी सगठन, जो केवल विचारधारा से सम्बन्धित हो।

प्रत्येक दबाव समूह का प्रभाव अनेक कारणो पर निर्भर करता है जसे समूह के पास धन की मात्रा, उसके सदस्या की सख्या, उसके सदस्यो म सयोग शीलता (Cohesiveness) की मात्रा और सामाजिक प्रणाली के प्रति उसका बहाव। इन कारणों के अतिरिक्त अन्य अनेक कारण भी ऐसे है जो दबाव समूह की प्रभाव शक्ति को निर्धारित करने हैं। इनमे प्रमुख कारण निम्न हैं —

1 समूह का जीवन काल (age) और सामाजिक स्तर।
2 समूह के नेतृत्व की योग्यता, सुदृढता और नेतृत्व।
3 समूह का विशेष ज्ञान।
4 लॉबिंग के समय समर्थका या अभिकर्ताओ की योग्यता और कुशलता।
5 आन्तरिक सम्बन्ध।
6 हित की तीव्रता।
7 धन को व्यय करने की इच्छा और क्षमता।

कोई भी दबाव समूह अपने प्रभाव म तभी सफल हो सकता है जब वह उपयु क्त सभी कारणो का अनुकूल प्रयोग करने की क्षमता रखता है।

## हितबद्ध समूहो द्वारा अपनाई जाने वाली युक्तिया
## (Tactics employed by Interest Groups)

हितबद्ध समूह (गुट) अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार की युक्तियो (tactics) का प्रयोग करते हैं। इनमे प्रमुख निम्न है —

**1 विधायको का मनोरजन**—विधायको के मनोरजन के लिये हितबद्ध समूह अनेक प्रकार की दावता भोजनो, नाइट क्लबो, आदि का आयोजन करते है। इनके अतिरिक्त वे उन्हें अनेक प्रकार की सुविधाये प्रदान करते हैं जैसे विदेश यात्रा का आश्वासन, उच्च जीवन तथा अनेक प्रकार के तोफे तरफदारिया आदि।

**2 दलो के मत्त को प्रभावित करना**—दबाव समूह अपने विशेष हिता की पूर्ति के लिये विशेष प्रकार के दशन का समयन करते हैं। अत जब दल निर्वाचनो के लिये अपने प्रत्याशियो का चयन करते हैं तो दबाव समूह ऐसे व्यक्तिया का चयन कराते है जो उनके हितो के समथक है या उनके हिता से हमदर्दी रखने है। इसके बदले दबाव समूह प्रत्याशियो के चुनाव खच मे आर्थिक सहायता और चुनाव प्रचार का आश्वासन देते है। यह भी हो सकता है कि जिद्दी विधायको के विरुद्ध कानून कायदो का प्रयोग करे।

**3 घूस द्वारा विधायको को खरीदना**—विधायका को अपन हितो के पक्ष मे करने के लिये दबाव समूह सभी प्रकार के कायदे काम मे लाते है। इसके लिये वह हर प्रकार की घूस (स्त्री, शराब, धन) का प्रयोग करते ह। अमेरिका मे यह प्रथा

"माई वैस्ट विल्स" (Mae west bills or come up and see me sometime) के नाम से प्रसिद्ध है ।

4 आधार स्तर तरीका (Grass root Method)—इस युक्ति द्वारा दबाव समूह अपने हितों की पूर्ति के लिये सार्वजनिक जनता का समर्थन प्राप्त कर विधायकों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं । इसके लिये भी वे हर प्रकार के जन-साधन (Mass media) को—पत्र-पत्रिकायें, रेडियो, टी० वी० आदि प्रयोग में लाते हैं ।

5 असाधारण एवं सनसनी फैलाने वाले तरीके (Unusual or Sensational techniques)—इन तरीकों को बाधा प्रस्तुत करने वाले या दुखदाई तरीके भी कहा जा सकता है । कीफ (Keefe) इन्हें "विचित्र लॉबिंग" (Bizaree lobying)[1] की संज्ञा देता है । यह तरीका उन दबाव समूहों द्वारा अपनाया जाता है जो किसी उद्योग, कार्यालय या प्रतिष्ठान (concern) द्वारा छटनी किये गये कर्मचारियों या अधिकारियों द्वारा निर्मित किये जाते हैं और जो विधायकों का ध्यान उनकी समस्या के प्रति आकर्षित करने के लिए उद्योग, कार्यालय, प्रतिष्ठान या सार्वजनिक मार्गों की नाकाबन्दी करते हैं

6 न्यायालय—दबाव समूह जब उपर्युक्त साधनों द्वारा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं तो अपने हितों की रक्षा हेतु न्यायालय का शरण लेते हैं अर्थात् न्यायालय में याचिका प्रस्तुत कर अपने पक्ष में निर्णय लेते हैं। उदाहरणतया भारत में जब 1970 में 14 बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया था तो वहां के प्रबन्धकों ने अपने हितों की रक्षा हेतु मूल अधिकारों का सहारा लेते हुए न्यायालय से अपने पक्ष में निर्णय ले लिया ।

## दबाव समूहों का मूल्यांकन—गुण-दोष

दबाव समूहों को प्रायः हेय दृष्टि से देखा जाता है । उनके प्रति सामान्य दृष्टिकोण 'शत्रुता' (hostility) का है । उन्हें ऐसी पाप आत्मायें समझा जाता है जो सार्वजनिक अनैतिकता भ्रष्टाचार, घूसखोरी को बढ़ावा देती हैं । आलोचकों का कथन है कि ये तत्व प्रशासन पर दूषित प्रभाव डालते हैं जो सुदृढ़ सार्वजनिक नीति के लिये हानिकारक है । विधायकों के मतों को खरीद कर षडयन्त्रों को जन्म दिया जाता है । आलोचकों का यह भी मत है कि दबाव समूह अपने संकीर्ण और स्वार्थी हितों की पूर्ति के लिये सार्वजनिक मांगों और निर्वाचन मण्डल की आदर्श भावनाओं को विकृत (बिगाड़ने) करने की कोशिश करते हैं । 'दबाव (pressure) शब्द स्वभाव से ही इस बात का प्रतीक है कि अमुक कार्य को इसलिये नहीं किया गया या अमुक नीति को इसलिये नहीं अपनाया गया कि उसका औचित्य था बल्कि इसलिये किया गया या इसलिये अपनाई गयी कि उसको करने या अपनाने के लिये किसी सुदृढ़ संगठित समूह का दबाव था । भारत में तो इन्हें विघटनकारी तत्व समझा जाता है

1 Keefe and Ogul Quoted by Blair, Ibid, p 302

जो तर्कबुद्धि नीति और सावजनिक व्यवस्था मे बाधा है। आलोचको का कहना है कि जन-प्रदशनो आन्दोलनो हडतालो, दगो, घरनो, बन्दो आप को बढावा देकर ये हिसा का वातावरण पदा करते है।

उपर्युक्त अवगुणो और दोषो के बाद भी यह नही कहा जा सकता कि दबाव समूह निरथक, अनावश्यक और बेहूदा हैं। वस्तुत वे प्रजातात्रिक सभ्य और औद्योगिक प्रणाली के आवश्यक विशेषक (Adjunct) है। वे लोकतत्र की कार्यान्विति मे बाधक नहीं बल्कि प्रशासन मे नागरिको की साझेदारी और योगदान को सुदृढ करने मे सहायक हैं। जन सम्पक के साधनो द्वारा वे जनमत को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। लाखो लोग इन्ही दबाव समूहो के माध्यम से ही अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं। वे अनिर्णीत और अस्पष्ट जन भावनाओ को स्पष्ट करते है। पाइनर ने दबाव समूहो को ठीक ही 'तृतीय सदन सहायक शासन' (The Third House, the Assistant Government) की सज्ञा दी है। स्टीफन के० बेली और अन्य लेखको ने भी लिखा है कि हितबद्ध समूह बौद्धिक नेतृत्व के समथन के अतिरिक्त अनेक प्रकार के काय करते हैं। वे अपने सगठन मे राय (महमति) को जुटाते है, सामान्य राजनीतिक फ्रन्ट को निर्मित करने के लिये ये एक दूसरे को मिलान का प्रयास करते है, वे आधार स्तरो को उपजाऊ बनाते है, व जन साधनो का शोषण (प्रयोग) करते हैं और अपने जन सम्पक के साधनो का निर्माण करते हैं, व सुस्त (क्रियाहीन) अधिकारी वग को क्रियाशील बनाते है, व विधायको और गवनरो की लॉबी और चापलूसी करते हैं, अस्थायी पराजयो और धक्को की स्थिति मे वे शक्ति और प्रतिष्ठानो को निरतर बनाये रखत है। कभी कभी वे प्रति उद्देश्यो (Cross purpose) के रूप मे काय करते है परतु जब वे सुदृढ और समनुगत नेतृत्व (Coherent leadership) के अधीन इकट्ठे हो कर काय करते ह तो वे राजनीतिक प्रक्रिया मे अपरिहाय काय को सम्पन्न करते हैं।'

दबाव समूहो द्वारा किये जाने वाले उपयोगी काय निम्न है —

1 दबाव समूह लोकतात्रिक व्यवस्था मे विद्यमान अनेक जनो (Many publics) की मागो, शिकायतो और रचनात्मक विचारो को समायोजित करते है और इस तरह सामाजिक असन्तोष और गुटीय हताशा पैदा करने वाले क्षेत्रो को रोकते है।

2 अत्यधिक जटिल प्रश्नो पर विधायको को विशेषज्ञ राय (Expert Opinion) प्रदान करते हैं।

3 वे पारस्परिक सदिग्ध हित प्रहरी (Mutually suspicious watchdog) की भाति काय करते है। दूसरे समूहो की सूक्ष्म जिद्द पर व नाक सुकोडते है और काय मे व्यस्त विधायको, कायपालिका अधिकारियो और जन साधारण की उनकी जिद्द को प्रकट करते है।

4 अपने समूह के महत्त्व ग्गड़ो की राजनीतिक विषयो पर सूचना वितरण के माध्यम के रूप में कार्य करते हैं।

5 अपने समूह के सदस्यों में, जो प्राय रग बिरगी विचारधारा के होते हैं, मध्यस्थ उपकरण के रूप में काय करते हैं और इस तरह सामाजिक सघर्ष के तापमान को कम करते हैं।

6 कतिपय प्रयोजनों (Cause) के लिए व्यापक प्रचार करते हैं जनमत का निर्माण करते हैं और आवश्यक हो तो आन्दोलनों, प्रदर्शनों, रेलियों, हड़तालों धरनो च दा आदि का सहारा लेकर किसी अमुक नीति के पक्ष या विपक्ष मे वातावरण उत्पन्न करते हैं।

7 शासनाधिकारियो से निजी सम्पर्क बढाकर अपने प्रयोजनों के औचित्य सिद्ध करते है। इसके लिये वे ससदीय समितियो के समक्ष गवाही भी देते हैं।

## भारत मे हितबद्ध गुट (समूह)
## (Interest Groups in India)

**भारतीय हितबद्ध गुटों (समूहो) की विशेषतायें** (Features Indian Interest Groups) or **भारतीय हितबद्ध समूहों की प्रकृति** (Nature of Indian Interest Groups)—भारतीय हितबद्ध गुटो की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं

1 **स्वतन्त्र अस्तित्व का अभाव**—भारतीय हितबद्ध गुटो की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही। ये राजनीतिक दलों के सहायक अग मात्र बन कर रह गये हैं। उदाहरणतया अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस (AITUC) का सम्बन्ध साम्यवादी दल से, इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन काँग्रेस (INTUC) का काग्रेस से राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ का जनसघ से, फोरम ऑफ फ्री इन्टरप्राइस (Forum of Free Enterprise) का स्वतन्त्र दल से है। क्योकि ये दुर्बल और अविकसित हैं अत इनमे हितों को समायोजित करने और विस्तारशील सहभागिता (Expanding Participation) की प्रवृत्ति का अभाव है। ये तो केवल दलो के लिए शक्ति जुटाते (mobilize) हैं, स्वय हितो को समायोजित नही करते।

हितबद्ध गुटो (समूहो) के स्वतन्त्र रूप से विकसित न होने का एक कारण यह है कि भारत का सबसे प्रभावपूर्ण दल स्वय बिचौलियो (middleman) और मिलान (linkage) का काम करता है। काग्रेस दल (केन्द्रीय प्रशासनिक इकाइयाँ) स्वय राज्य प्रशासन के उपकरणों पर दबाव डालता है और जिन राज्यो मे काग्रेस सरकारें है (और अधिकाश राज्यो मे काग्रेस सरकारें हैं, केवल गुजरात मे फ्रट की सरकार है और तमिल नाडु मे डी० एम० के० की सरकार है) वहा प्रशासन इन दबावो के प्रति सवेदनशील (sensitive) रहता है। सत्य तो यह है कि काग्रेस

दल के भीतर ही इतने हितबद्ध गुट है कि वे ही विशिष्ठ हितो के अभिकर्ता के रूप मे काय करते है। जिससे स्वतन्त्र हितबद्ध गुटा के विकास की सम्भावना नही रहती और यदि कोई उत्पन्न भी होती है तो कोई न कोई दल उसे अपना अभिन्न अ ग बना लेता है। काग्रेस के अन्दर अनेक प्रकार के हितवद्ध गुटो को देखा जा सकता है जस (a) विचारधारा की दृष्टि से दक्षिणपथी, वामपथी, उग्र दक्षिण प थी, उग्र वाम प थी, केन्द्रित स्थिति रखने वाले गुट, केन्द्र से बाये और केन्द्र से दायें, आदि। (b) व्यावसायिक दृष्टि स ग्रामीण भू स्वामियो का प्रभाव भी पर्याप्त रहा है। (c) विशिष्ट हितो की दृष्टि मे नेशनल ट्रेड यूनियन काग्रेस (INTUC) और युवा काग्रेस (Youth Congress) प्रमुख हैं।

स्वतन्त्र हितबद्ध समूहो के विकसित न होने का दूसरा कारण यह है कि इनका क्षेत्र केवल नगरो या व्यवसायो तक सीमित रहा है। भारत की ग्रामीण जनता (और ग्रामो मे ही भारत की 80 प्रतिशत जनता निवास करती है) इसके प्रभाव से प्राय मुक्त है। यद्यपि कुछ किसान सगठन हैं जसे ऑल इण्डिया किसान सभा, न तो उनकी सख्या अधिक है और न ही उन्होने अभी स्वतन्त्र अस्तित्व ग्रहण किया है। जब कि शहरी, औद्योगिक और व्यावसायिक हितबद्ध समूहो का अस्तित्व ही पूणतया स्वतन्त्र नही तो ग्रामीण हितबद्ध समूहो के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना भी कठिन है।

2 **पारिवारिक और जातीय स्वरूप**—भारतीय हितबद्ध समूहो की दूसरी विशेषता यह है कि इनका सम्ब ध प्राय कुछ परिवारो जसे टाटा, बिडला, डालमिया और कुछ जातियो जसे मारवाडी, जैन, पारसी, चेटिटयार आदि से है। भारत मे प्रकाशित होने वाले अधिकाश दैनिक पत्रो पत्रिकाओ, शिक्षा सस्थाओ, आदि का सम्ब ध इन घरानो या जातियो या समुदायो मे है आग्ल भारतीय एसोसियशन, सनातन धम दक्षिणी सभा, आय प्रतिनिधि सभा, मारवाडी एसोसियशन हरिजन सेवा सघ, जाट सभा, वश्य महासभा, बगाली समाज, आदि। यद्यपि भारतीय नागरिकता एक ह फिर भी छात्रावास जातीय आधार पर बनाय गय है, छात्रवृत्तिया जातीय आधार पर वितरित होती हैं, सावजनिक पदा पर नियुक्तियो मे जाति तत्व बलशाली रहता है, आदि।

3 **विघटनकारी स्वरूप**—भारतीय हितबद्ध समूहा की तीसरी विशेषता यह है—प्रशासनिक इकाइया तथा निर्णयन अधिकारी वग (decision makers) इन्हे लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के आवश्यक [illegible] (adjunct) नहीं समझते। [illegible] नही व उन्हे व्यवस्था और [illegible] का विघटन करने वाले तत्व ही समझते [illegible] भारत मे निर्णयन अधिकारियों का [illegible] कि युक्तिपूर्ण नीति (rati[illegible] और सावजनिक हित (public [illegible]) [illegible] समूहो का प्रभाव [illegible]। [illegible] हितबद्ध गुटा की [illegible]

प्रशासनिक एव निर्णयन अधिकारियो का दृष्टिकोण उपेक्षा और अन्हम्य का होता है। इसका परिणाम यह होता है कि अपने सदस्यो के हितो और आवश्यकताओ की पूर्ति के लिय तथा प्रशासन को क्रियाशील बनाने के लिये हितबद्ध समूह आन्दोलनो जन प्रदशनो रैलिया, हडतालो, दगो, बन्दो, घरना तथा सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह के अय तरीको को अपनाते हैं जिमसे हिंसक वातावरण को बल मिलता है। एम अनेक उदाहरण हैं जहा सरकार हिंसक या दोलनो के आगे ही झुकी। उदहरणतया राज्यो के पुनगठन की माग को तभी स्वीकार किया गया जब दगे हुए भाषा के सम्ब ध म भी यही कहा जा सकता है। सावजनिक क्षेत्र म स्थापित किय जान वाले उद्यागो जसे सीमे ट, लोहा आदि उद्यागो के सम्ब ध मे, कमचारियो के वतनो की वृद्धि सम्ब ध म भी यही नीति अपनाई जाती है। इन सब उदाहरणो से हिंसा की शक्ति को बल व वैधता प्राप्त होती है। हितबद्ध समूहो मे ही नहीं बल्कि प्रत्येक नागरिक म यह भाव पैदा हो चुके है कि प्रशासन मसलो के औचित्य से नही बल्कि जन आन्दोलनो और हिंसक घटनाओं म ही चलता है। यही कारण है कि भारत म अय देशो की भाति हितबद्ध समूहो की क्रिया नीति के निर्माणात्मक चरण (format ve or initial stage) पर प्रभावी नही होती बल्कि उनकी कार्यान्विति क चरण पर प्रभावी होती है अर्थात् या तो पनब-ी (forestalling) करत हैं या उनमे परिवतन करने पर बल दत हैं।

4 राजनतिक वातावरण के बरोमीटर—भारतीय हितबद्ध समूहो की चौथी विशेषता यह है कि य लोगो और शिष्टजन (elite) मे मेल (link) के रूप मे काय करते हैं। एक ओर वे लोगों मे राजनीतिक सचेतता उत्पन्न करत हैं और दूसरी ओर व शिष्ट जन को लोगो की भावनाओ से अवगत करते हैं। इस तरह वे लोकतान्त्रिक सस्थाओ मे लोगा के विस्तारशील सहभागिता को बढ़ावा दत है। इतना ही नही हितबद्ध समूह उन भावनाओ का सस्थागत (institutionalise) करते हैं। इस तरह हितबद्ध समूह राजनीतिक वातावरण क एस ब रमीटर हैं जिनके आधार पर निर्णयन अधिकारी अपनी नीतिया को निर्धारित कर सकते हैं तथा उनका मूल्याकन कर सकते हैं। जसाकि ब्रूस एच० मिलन ने लिखा है कि "हितबद्ध समूह अपन सदस्यो की मूल मागो को नियोजित करते हैं उन्ह परितुलित (collate) करते हैं कभी कभी बहुमत के हित मे उनमे मिलावट करते हैं और अन्त मे वे उन्हें ऐसे स्वरूप मे उच्चारित करत हैं जिन पर समाज मे उपयुक्त स्थान पर काय किया जा सके। सक्षेप मे जब हितबद्ध समूह अपन सदस्यो के लिय समाज स कुछ मागो की पूर्ति के लिये दबाव डालत हैं वहा व उन्हें सयम मे भी रखते हैं।

5 सामाजिक एकीकरण के वाहन—भारतीय हितबद्ध समूहो की पाचवी विशेषता यह है कि वे लोगो म केवल राजनीतिक जागृति ही पदा नही करते, या राजनीतिक नेतृत्व के भण्डारो के रूप म ही काय नही करते बल्कि वे अपने नवीन और आधुनिक सगठनो मे (जो स्कूलो, रोडो, कुओ, रासायनिक खादों,

कारखाना, नौकरियों, आदि की माग करते हैं ऐसे भिन्न भिन्न प्रकृति, स्वभाव और दृष्टिकोण रखने वाले लोगो को सम्मिलित करते है जो परम्परा, रूढिवादिता, साम्प्रदायिकता, मताग्रहो मे जकडे हुए हैं ऐसे लोगो को अपनी पंक्तिया (ranks) मे शामिल कर वे विषय स्तरीय (Vertical) और सम स्तरीय (horizontal) एकीकरण की प्रक्रिया को बढावा देते ह। इस तरह भारतीय समाज मे विद्यमान दरा ो को भरने का प्रयास करते हैं।

6 पारस्परिक सहयोग की कमी—भारतीय हितबद्ध समूहो की छटी विशेषता यह है कि इनमे पारस्परिक सहयोग की कमी है। यही कारण है कि वे प्रशासन पर या विधान पर सयुक्त प्रभाव डालने की स्थिति मे नही हैं। इतना ही कुछ हितबद्ध समूहो (विशेष कर ट्रेड यूनियनो) के पारस्परिक सम्बन्ध अत्यधिक कटु हैं। इनमे किसी प्रकार की आचार सहिता का विकास नही हुआ। इनके सदस्य अपनी वफादारिया (loyalties) को बदलते रहते है और श्रमिक सघो के लाभ के स्थान पर निजी स्वार्थों की पूर्ति करते है।

## भारतीय हितबद्ध समूहो का वर्गीकरण
### (Classification of Indian Interest Groups)

भारतीय हितबद्ध समूहा को तीन भागो मे बाटा जा सकता है जो निम्न प्रकार से है—

(A) विशेष हितो वाले समूह (सगठन)
(Special interest groups or organization)
(B) सामुदायिक सघ (Community Associations)
(C) विचारधारा से सम्बधित समूह (सगठन)
(Interest groups or Organization based on Ideology)

A विशेष हितों वाले समूह (सगठन) (Special Interest groups or organization)—विशेष हितो से सम्बधित समूह भारत मे अनेक हैं। इह मुख्यत निम्न शीर्षको के अतर्गत व्यक्त किया जा सकता है—

1 व्यावसायिक समूह (Business groups)—वर्तमान राजनीतिक प्रणाली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमे व्यावसायिक समूहा का प्रवेश अत्यधिक है। राजनीतिक व्यवस्था चाहे रूस की भाति एकत्ववादी या सवसत्तावादी और एक दलीय हो या अमरीका और ब्रिटेन की भाति लोकतात्रिक और द्वि-दलीय हो या फ्रास और भारत की भाति लोकतात्रिक और बहु दलीय हो सबमे व्यावसायिक समूहो का प्रवेश अत्यधिक रहा है और आज भी है। अतर केवल इतना है कि अमरीका जसे विकसित औद्योगिक देशो मे व्यावसायिक हितबद्ध समूह स्पष्टतया सगठित होते हैं। वे अपने समथको या अभिकर्ताओ को स्थायी रूप से राजधानियो मे रखते है जो व्यक्तिगत सम्पक या लाबिग द्वारा या अन्य प्रभाव के साधनो द्वारा (मनोरजन, भोजन या घूस) विधायको और निर्णयन अधिकारियो की नीतियो के

पक्ष या विपक्ष म निणय लेने के लिए प्रभाव डालते रहते हैं अर्थात् वे व्यावसायिक हितो की रक्षा करते हैं। भारत जसे अविकसित औद्योगिक देश म व्यावसायिक हित समूह स्पष्टतया सगठित नही हैं। हाल ही म यह प्रवृत्ति भी बढने लगी है और भारत जसे देश मे भी व्यावसायिक हित समूहो का राजनीतिक दलो, विधान और प्रशासनिक कार्यों मे प्रवेश अत्यधिक है।

भारत के सभी प्रमुख राजनीतिक दल—काग्रस स्वतन्त्र, जन सघ (केवल साम्यवादी दल को छोड कर जो उद्योग मे सामाजीकरण और राज्यवाद में विश्वास करता है)—व्यावसायिक समूहो से प्रभावित रह हैं। इसमे सबसे अधिक लाभ काग्र स दल न उठाया है क्योकि वह दल ही स्वतन्त्रता प्राप्ति से सत्ता में रहा है। यदि दल व्यावसायिक समूहो स च े की राशि ' को प्राप्त करता है तो वह अनुज्ञप्तिया (licence) क माध्यम से उन्हे लाभान्वित भी कर सकता है। यही कारण है काग्र स की आर्थिक नीतियाँ समाजवादी ढाचे के समाज' से प्रभावित होन क नाम भी व्यावसायिक समूह उसी का समथन करने क इच्छुक रहे हैं। स्वतन्त्र दल की आर्थिक नीति यद्यपि व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता और न्यूनतम सरकारी हस्तक्षेप पर आधारित है फिर भी व्यावसायिक समूह उसका समथन इतना नही करते जितना कि काग्र स का। इसी प्रकार जनसघ भी व्यावसायिक समूहो स पूरा लाभ नही उठा सका। इस सबका कारण सम्भवत यही है कि व्यावसायिक समूह काग्र स को अनावश्यक नाराज करना नही चाहते और उसे साम्यवादी माग स रोकना चाहते है। दूसरी ओर यदि काग्रेस अपनी समाजवादी नीतियों को पूर्णतया कार्यान्वित नही कर सकी तो इसका मूल कारण यही है कि व्यावसायिक समूहो का प्रभाव उस पर अत्यधिक है। व्यावसायिक समूह भी सरकारी नीतियो की खुल्लम खुल्ला आलोचना नही करते। वे अनुनय, समझौते तथा समायोजन की नीति अपनाते हैं।

व्यावसायिक समूह अनेक प्रकार स राजनीतिक दलो की नीतियो को प्रभावित करते हैं। व दलो को च दा देते हैं उपहार देते हैं सावजनिक कोषो म दान देते हैं, औद्योगिक और शिक्षा सस्थाओ म (जिन्हें उद्योग द्वारा प्रशासित और सचालित किया जाता है) उच्च पदो को मन्त्रियो निगमन अधिकारियो और अन्य प्रशासनिक अधिकारियो के लिए उनके सम्बन्धियो मित्रो या जान-पहचान वालों के लिए सुरक्षित रखते हैं आदि। व्यावसायिक घरानो या जातियो द्वारा मन्दिरों धर्मशालाओं तथा शिक्षा सस्थाओ का निर्माण भी किया जाता है जो सावजनिक प्रयोग के लिए खोल दी जाती है।

भारत म व्यावसायिक समुदाय अपने सघो के माध्यम स ही राजनीति तथा प्रशासन और शासन को प्रभावित करने का प्रयास करती है। फेडरेशन आफ इण्डियन चेम्बस आफ कामस एण्ड इण्डस्ट्रीज (FICCI) व्यावसायिक समुदाय म शीष पर है। फेडरेशन का सदस्य प दिल्ली व्यापार, परिवहन, उद्योग कारखाने म बनी वस्तुओ

वित्त एव अन्य आर्थिक विषयो मे भारतीय व्यवसाय को प्रोत्साहन देना है। इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिये तथा उक्त आर्थिक हितो को प्रभावित करने वाले विज्ञापनो का यथासम्भव समर्थन या विरोध करना आदि। इसके अतिरिक्त आल इण्डिया मैनूफैक्चर्स आरगेनाइजेशन छोटे छोटे उद्योगपतियो का सगठन और एसोसियेटड चेम्बर्स ऑफ कामर्स विदेशी पूजीपतियो का सगठन है। ये दोनो सगठन फेडरेशन के समान नही परन्तु फिर भी उसके पूरक हैं।

भारतीय व्यवसाय सार्वजनिक सम्बन्धो और औपचारिक ससदीय लाबिंग से प्राय कम सम्बन्धित रहा है परन्तु उसने ससद के महत्त्वपूर्ण एव प्रभावशाली सदस्यों से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखा है। वस्तुत अनेक ससद सदस्यो केन्द्रीय और राज्य मन्त्रिमण्डलो के सदस्य तथा राजनीतिज्ञो का सम्बन्ध इन्ही व्यावसायिक घरानो से है या तो वे स्वय इनसे सम्बन्धित हैं या व्यवसाय द्वारा ही उनके लिए निर्वाचन व्यय और प्रचार किया जाता है। उदाहरणतया सवश्री टी० टी० कृष्णामाचारी होमी मोदी, ए० डी० पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास जी० एल० मेहता आदि इन्ही घरानो या समूहो से सम्बन्धित थे। ये व्यावसायिक समूह नई दिल्ली और राज्यो की राजधानियो मे अपने स्टाफ को बनाये रखते हैं जो व्यवसाय और प्रशासनिक निकायो और अभिकरणो से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखते है। अपने व्यवसाय के लिये अनुज्ञप्तियो (licences) प्राप्त करते हैं तथा व्यवसाय के अनुकूल विधि निर्माण करवाने का प्रयास करते हैं। व्यापारी वर्ग के प्रतिनिधि तो भिन्न भिन्न प्रकार की प्रशासनिक परामर्शदात्री समितियो मे निरन्तर भाग लेते रहते हैं। बिडलाज के सम्बन्ध मे तो यह कहा जाता है कि भारत के वित्त मन्त्री के चयन मे उसका प्रमुख हाथ होता है। डालमिया जैन उद्योगो के सम्बन्ध मे विविन चन्द्र बोस आयोग और बिडला उद्योग से सम्बन्धित डा० हजारी की रिपोर्टों पर सरकार ने इन घरानो के प्रभाव के कारण लीपा पोती कर दी।

भारत मे व्यावसाय की अन्य प्रमुख विशेषतायें भी हैं। जैसाकि व्यवसाय कुछ परिवारो से ही सम्बन्धित है। इनमे प्रमुख नाम है टाटा बिडला, डालमिया, सिंघानिया, थापर, आदि। कुछ जातियाँ ही व्यावसायिक जातिया हैं जैसे मारवाडी जैन, पारसी, चेट्टिया, महाराष्ट्र और मद्रास के उद्योगपति, आदि। भारत मे निकलने वाले दैनिक पत्रो जैसे हिन्दुस्तान टाइम्स, टाइम्स ऑफ इण्डिया, कामर्स कैपिटल, इण्डियन फाइनेन्स, ईस्टर्न इकानॉमिस्ट आदि का इन्ही व्यावसायिक घरानो या जातियो से सम्बन्ध है। भारत के छापाखाने के सम्बन्ध मे तो यह कहा जाता है कि यह उद्योग (Industry) नही बल्कि इस पर "उद्योग का स्वामित्व" (Owned by the Industry) है। यही कारण है कि पत्रो के सम्पादको को उस मात्रा मे स्वतन्त्रता नही जिस मात्रा मे उन्हें स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। हा० मे जिस ढग से हिन्दुस्तान टाइम्स के सम्पादक बी० जी० वर्गीस को अपने पदच्युत किया गया वह इस बात का प्रतीक है कि सम्पादको को घटनाओ

वसान की कितनी स्वतन्त्रता है। यह कहा जाता है कि इनकी पदच्युति में भारत सरकार का हाथ था क्योंकि उनका दृष्टिकोण शासन विरोधी था। सरकार ने उस बात को मानने से इन्कार किया है। इन व्यावसायिक समूहों या संघों की एक विशेषता यह है कि इनमें जहां कुछ समूह या संघ कार्य के आधार पर संगठित हैं जैसे इम्प्लायर्स फेडरेशन आफ इण्डिया, बाम्बे मिल ओनर्स एसोसियेशन आदि। वहां कुछ धर्म और जाति पर आधारित हैं जैसे मुस्लिम एवं मारवाड़ी चैम्बर्स आफ कामर्स आदि। ये सब व्यावसायिक दृष्टिकोण में एकता लाने व्यवसाय के स्तर को ऊंचा उठाने में क्रियाशील रहते हैं।

व्यावसायिक हित समूहों द्वारा राजनीतिक दलों को दी जाने वाली चन्दे की प्रथा अत्यन्त दूषित प्रथा है क्योंकि यह निर्वाचन प्रणाली को भ्रष्ट करती है। बम्बई उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश एम० सी० छागला ने जयन्ती लाल आर० कोटिया बनाम टाटा आइरन एण्ड स्टील इण्डस्ट्रीज (1957) के मुकदमें में इस प्रथा के खतरों को इन शब्दों में व्यक्त किया था "संसद का ध्यान इस ओर आकर्षित करने में हम यह अपना कर्तव्य समझते हैं कि कम्पनियों द्वारा राजनीतिक दलों की निधियों में चन्दे की प्रथा में अन्तर्निहित खतरा है। यह ऐसा खतरा है कि यदि इसका विकास तेजी से हुआ तो यह या तो लोकतन्त्र पर हावी हो जायगा या उसका गला घोंट देगा।"[1] सन् 1969 में कम्पनी संशोधन अधिनियम (Company Amendment Bill) द्वारा कम्पनियों द्वारा राजनीतिक दलों और व्यक्तियों को केवल निर्वाचन उद्देश्यों में चन्दे की प्रथा पर रोक लगा दी गयी। परन्तु यह अधिनियम प्रायः मृतक कानून (dead letter) की भांति रहा है क्योंकि जो चन्दा खुले रूप से दिया जाता था वह अब गुप्त रूप से दिया जाने लगा। 9 दिसम्बर, 1974 के निर्णय द्वारा कम्पनियों पर लगाया गया यह प्रतिबन्ध समाप्त कर दिया गया है अर्थात् अब कम्पनियां कानूनी सीमा के अन्तर्गत राजनीतिक दलों को चन्दा दे सकती हैं। कम्पनियां राजनीतिक दलों को 50 000 रु० या पिछले तीन वर्षों के सामान्य लाभ (average profit) का प्रतिशत चन्दे के रूप में दे सकती हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने अमरनाथ चावला बनाम कंवरलाल गुप्त के मुकदमे में (1974) यह अवलोकित किया था कि यदि एक उम्मीदवार के चुनाव व्यय की सीमा निर्धारित हो लेकिन उसके मित्रों समर्थकों तथा राजनीतिक पार्टी को यह स्वतन्त्रता हो कि उस उम्मीदवार के समर्थन में जितना चाहे धन खर्च कर सकते हैं तो चुनाव पर होने वाले खर्च की सीमा निर्धारित करने का मकसद ही विफल हो जायेगा इसमें लोकतान्त्रिक प्रक्रिया की शुद्धता के हित में यह जो व्यवस्था है वह अर्थहीन हो जायगी ऐसी स्थिति में धन के महत्व से उत्पन्न होने वाली जिस बुराई को समाप्त करने की मंशा है वह बढ़ जायगी तथा देश का सामान्य वातावरण दूषित हो

1 See Competition Master Jan 1975 p 334

जायगा विधायिका की यह नियत कभी भी नही रही होगी कि जो काम एक उम्मीदवार न कर सके, वही काम उसके समर्थक मित्रो या राजनतिक पार्टी को करने दिया जाये।"[1] सर्वोच्च न्यायालय के उक्त निर्णय के प्रभाव को समाप्त करने के लिये सरकार ने दिसम्बर 1974 मे जन प्रतिनिधित्व (सशोधन) अधिनियम म सशोधन कर "उम्मीदवार के निर्वाचन के सम्बन्ध मे एक राजनतिक पार्टी या अन्य सगठन व्यक्तियो के समूह या किसी भी व्यक्ति द्वारा किया गया या अधिकृत किया गया खर्च उस उम्मीदवार द्वारा किया गया खर्च नही माना जायगा।"[2] कम्पनियो द्वारा राजनतिक दलो को दिये जाने वाले चन्दे पर हटाये गये प्रतिबन्ध को भी इसी सन्दर्भ मे समझा जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कम्पनिया अब राजनतिक दलो को कानूनी सीमा के अन्तर्गत चन्दा दे सकती है।

2 श्रमिक सघ (Trade Unions)—भारत मे अनेक प्रकार के श्रमिक सघ विद्यमान हैं जिनका राजनीति म प्रवेश अत्यधिक है परन्तु फिर भी अन्य देशो की भाति व न तो अपने सदस्यो को व सेवायें प्रदान कर पाये है जिनके लिये उन्हें स्थापित किया गया था और न व अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रख सके हैं। जसा कि मायरन वीनर न लिखा है कि सघो का कमजोर सगठन है सदस्यता अत्यधिक है देय राशि (dues paying) सामित और अनियमित है और सघो की गतिविधियाँ हडताल प्रदशनो और चुनाव कार्यो तक सीमित है। बहुत कम मात्रा मे सघ अपन सदस्यो को सेवायें प्रदान करत है। विरोधी सघो का बोल-बाला है। सघो का नतृत्व अमदस्यो के हाथो मे है और उनका नियन्त्रण प्राय राजनीतिक दलो के हाथो मे है जो उनका प्रयोग अपने उद्देश्यो के लिय करते है।"[3]

भारत मे श्रमिक सघो क प्रभावशील न होन के अनेक कारण है जिन्हे निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

(1) **श्रमिक सघ दलो के विशेपक है**—भारत के प्रमुख श्रमिक सघ राजनीतिक दलो के विशेपक (adjunct) ही नही बल्कि उनके अभिन्न अग ही है। उदाहरणतया अखिल भारतीय ट्रेड-यूनियन काग्रेस (AITUC) का सम्बन्ध साम्यवादी दल से है, इण्डियन नशनल ट्रेड यूनियन काग्रेस (INTUC) का सम्बन्ध काग्रेस दल से है, हिन्दू मजदूर सभा (HMS) का सम्बन्ध समाजवादी दल से है और यूनाइटेड ट्रेड यूनियन काग्रेस (UTUC) का सम्बन्ध मार्क्सवादियो से है, आदि। इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन काग्रेस की स्थापना तो सरकारी आशीर्वाद से हुई थी। दलो से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होने के कारण इनमें स्वतन्त्र अस्तित्व का अभाव है।

---

1 देखिये दिनमान, दि० 8 दिसम्बर, 1974, पृ० 9

2 देखिये दिनमान दि० 29 दिसम्बर 1974, पृ० 74

3 See Weiner, Myron Ibid, p 93

(ii) **श्रमिक सघों मे अनुशासन की कमी**—भारतीय श्रमिक सघो म अनुशासन का भी अभाव है व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये न केवल श्रमिक सघो के सदस्य ही बल्कि कुछ मात्रा म नेतृत्व म भी सघ के प्रति अभक्ति पाई जाती है और वफादारियो को छोटे छोटे मसलो पर बदल दिया जाता है। इतना ही नही, सदस्य एक समय पर अनेक श्रमिक सघो के सदस्य बन जाते हैं जिसम उनकी भक्ति विभाजित हो जाती है।

(iii) **हित उच्चारण के स्थान पर स्थिरता और अनुशासन पर बल दिया जाता है**—श्रमिक सघो ने श्रमिको के हितो को उच्चारित करने के स्थान पर दलीय भक्ति स्थिरता और अनुशासन पर बल दिया है। उदाहरणतया भारत के सबसे बडे श्रमिक सघ इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन काग्रेस (INTUC) की भक्ति पहले काग्रेस दल के प्रति है, फिर सरकार के प्रति, फिर राष्ट्र के प्रति और अन्त म श्रमिको के प्रति है। वीनर ने भी लिखा है श्रमिक सघो ने मिताचार (moderation) की स्थिति को बनाये रखा है क्योंकि उनका विश्वास है कि श्रमिको के हितो की सुरक्षा राष्ट्रीय विकास पर निर्भर करती है और राष्ट्रीय विकास सुदृढ सरकार और सुदृढ काग्रेस दल पर निर्भर करती है।[1] स्थिरता और आर्थिक विकास के नाम पर श्रमिक सघ विशेष हितो को पोषित करने के स्थान पर अनुशासन के साधन बन कर रह गये हैं। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि जो श्रमिक सघ (INTUC) श्रमिको को नियन्त्रण मे रखती है और काग्रेस को कुछ मात्रा म नेतृत्व भी प्रदान करती है उसका काग्रेस की नीतियो के निर्माण और चुनाव मे प्रत्याशियो के चयन म कोई हाथ नही।

(iv) **सामान्य आचार सहिता का अभाव**—भारतीय श्रमिक सघो मे न केवल पारस्परिक सहयोग की कमी है बल्कि आचार सहिता के अभाव म उनके सदस्य अपनी वफादारियो को बदलते रहते है। इतना ही नही उनके पारस्परिक सम्बन्ध इतने कटु हैं कि सामान्य उद्देश्यो की प्राप्ति म भी वे सयुक्त हो कर काय नही कर सके। पारस्परिक रूप से विभक्त होने से उनकी एकता प्राय नष्ट हो चुकी है।

(v) **सामूहिक सौदाकारी (Collective bargaining) का अभाव**—भारत म श्रमिक सम्बन्धो म मुख्य भूमिका राज्य की रही है। श्रमिक सघ अच्छे वेतनो काय की सुविधाओ आदि को प्राप्त करने के लिये राज्य पर निर्भर करते हैं व्यवसाय के प्रबन्धको (Management) पर नही। राज्य का हस्तक्षेप भी इतना अधिक रहा है कि श्रमिक और प्रबन्धक दोनो ही राज्य के निर्वाचन या पचायती समझौते (arbitration) पर निर्भर करते हैं। यही कारण है कि श्रमिको और प्रबन्धको मे सामूहिक सौदेबाजी प्राय अनुपस्थित है। राज्य का दृष्टिकोण हडतालो और तालाबन्दियो (lockouts) को कम करना रहा है। राज्य श्रमिक या प्रबन्धको की विशेष मागो को राष्ट्रीय आर्थिक विकास के उद्देश्यो के अधीन समझता है।

[1] See Weiner, Myron Ibid p 78 79

(vi) श्रमिक संघों पर बाह्य प्रभाव—भारतीय श्रमिक संघों की एक विशेषता यह है कि उनका नेतृ व श्रमिक नेताओ के हाथो मे नही बल्कि मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियो और राजनीतिज्ञो के हाथो मे है। लाला लाजपतराय अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस के प्रथम अध्यक्ष थे। उसके बाद सर्वश्री चितरंजनदास सरोजिनी नायडू, जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाष चन्द्र बोस इस पद पर रहे। आज भी स्थिति प्राय यही है कि राजनीतिज्ञ और बुद्धिजीवी ही श्रमिक संघो का नेतृत्व करते हैं।

(vii) सीमित कार्य क्षेत्र—भारतीय श्रमिक संघ केवल उन नगरो तक सीमित है जहा उद्योग विद्यमान है। अर्थात् इनका सम्बन्ध औद्योगिक श्रमिको मे रहा है कृषक मजदूरो से नही। पारस्परिक सम्बन्ध न होने मे वे कोई संयुक्त नीति या कार्यक्रम नही अपना पाये।

3 छात्र संगठन (Student organization)—भारत मे छात्र संगठनो का इतिहास वस्तुत 1920 के असहयोग आन्दोलन से शुरू होता है जब विद्यार्थियो ने सरकारी स्कूलो और कॉलेजो को छोड कर राष्ट्रीय स्कूलो और कॉलेजो मे प्रवेश लेना शुरू किया। इतना ही नही, महात्मा गाँधी द्वारा संचालित असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन और भारत छोडो आन्दोलन मे विद्यार्थियो की भूमिका सक्रिय और प्रभावपूर्ण थी। सन् 1936 मे जब अखिल भारतीय छात्र संघ (All India Students Federation) की स्थापना की गई तो वह साम्यवादी दल के प्रभाव मे आ गया। आज स्थिति यह है कि प्राय प्रत्येक राजनीतिक दल ने अपने-अपने विद्यार्थी संगठन बना रखे है। छात्रो की राष्ट्रीय यूनियन (National Union of Students) और युवा काग्रेस छात्र संगठनो के अन्य उदाहरण हैं।

विद्यार्थी संघो या संगठनो के माध्यम से दल विद्यार्थी समुदाय मे घुसपैठ करके अपने राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु उनका प्रयोग करते है। चाहे प्रश्न स्कूलो और महाविद्यालयो के छात्र संघो के चुनाव से हो या शिक्षा के माध्यम से (medium of instructions) या राज्यो के सीमावर्ती झगडो से हो या विधान सभा के भग कराने का प्रश्न हो सबमे राजनीतिक दल विद्यार्थियो और उनके संघो का प्रयोग करते हैं। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है क्योकि जहा यह विद्यार्थियो की एकता को विभक्त करती है उन्हे अपने अध्ययन के क्षेत्र से विचलित करती है वहा उन्हे यह राजनीतिक दलो के उद्देश्यो के हथकण्डे बनाकर रख देती है। इन सबका परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी राजनीतिक दलो द्वारा आयोजित आन्दोलनो, हडतालो, प्रदर्शनो, रेलियो, धरनो, बन्दो, तोड फोड की कार्यवाहियो मे हिस्सा लेते हैं और ये तत्व उनमे अनुशासनहीनता और अवज्ञा की भावनायें पैदा करते हैं।

पिछले वर्षो के इतिहास से अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जहा छात्र संगठनो द्वारा संचालित आन्दोलनो का सम्बन्ध शिक्षा या विद्यार्थियो से सम्बन्धित समस्याओ से तो कम था परन्तु राजनीतिक प्रश्नो से अधिक था। उदाहरणतया कलकत्ता विद्यार्थियो मे बगाल बिहार विलय विवाद मे सक्रिय भाग लिया तमिलनाडु

मे विद्यार्थिया न हिन्दी भाषा को राज भाषा बनान का विरोध किया, उत्तर म विद्यार्थियो ने हिन्दी के समथन म विरोध किये । सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण जहा विद्यार्थिया ने सगठित हो कर निर्वाचित विधान सभा को इस आधार पर भग कराने म सफलता प्राप्त की कि विधायको ने लोगो का विश्वास खो दिया है, वह गुजरात विद्यार्थियो द्वारा नव निर्मित नव निर्माण समिति (Navi Nirman Samiti) थी जिसके दबाव के कारण 15 मार्च 1974 को गुजरात विधानसभा को राष्ट्रपति ने भग कर दिया । गुजरात म चिमन भाई पटेल के मन्त्रिमण्डल के पतन की शुरुआत विद्यार्थिया के उस छोटे से आन्दोलन म हुई थी जिसे उन्होंने इन्जिनियरिंग कालेजो म भोजन दामो (mess bills) म की गई थोडी सी वृद्धि के प्रति असन्तोष व्यक्त करने के लिय शुरु किया था ।[1] धीरे धीरे यह आन्दोलन शक्ति पकडता गया और मन्त्रिमण्डल पर भ्रष्टाचार के आरोप खाद्यान्नो, तेलो आदि की गम्भीर कमी और गम्भीर बेरोजगारी की समस्यायें विद्यार्थी आन्दोलन के अस्त्र बन गये इन सबने मिल कर विद्यार्थियो के नेतृत्व म मन्त्रिमण्डल का पतन किया । जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व मे बिहार म चलाये गये सम्पूर्ण क्रान्ति के आन्दोलन के पीछे सक्रिय शक्ति विद्यार्थिया की ही है । यद्यपि इसमे पूर्ण सफलता नही मिली परन्तु जिन विषयो का उभारा गया है उनका समाधान होना अनिवार्य है अन्यथा स्वय प्रजातन्त्र को खतरा उत्पन्न हो सकता है । मुख्यत ये समस्यायें हैं प्रशासन म भ्रष्टाचार विधायका को अपने निर्वाचक मण्डलो के प्रति उत्तरदायित्व विधायको का घराव और उनके त्याग पत्र की माग निष्क्रिय या भ्रष्ट होने पर विधानसभाओ को समय से पूर्व भग कराने की माग आदि । यद्यपि गुजरात म जून 1975 म हुए निर्वाचनो म निर्वाचन प्रत्याशियो के चयन म "नव निर्माण समिति की भूमिका अत्यधिक प्रभाव की नही रही परन्तु भविष्य इस दिशा की ओर अवश्य सकेत करता है ।

सक्षेप म, आज के विद्यार्थी और उनके सगठनो की मागें केवल शिक्षा शुल्को बसो या सिनमा घरो म रियायतो या अन्य सुविधाओ तक सीमित नही है आज व आन्दोलन की नीति अपनाते हैं उपकुलपतियो या आचार्यो और अध्यापको का ही घराव नही करत बल्कि मन्त्रिया ससद या विधान सभा के सदस्या का भी घराव करने हैं धरना देत हैं हडताल करते हैं, विधायको और मन्त्रिमण्डलो के इस्तीफे की माग करते है, सावजनिक सम्पत्ति का हानि पहुचाते हैं लोगा को कर न दने के लिय भी आवाहन करते है । अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर अपने विचार व्यक्त करते है और इन सबके लिय वे कष्ट सहन करते है पुलिस की लाठिया खाते हैं, गोलियो के शिकार बनते हैं आदि । विद्यार्थियो द्वारा इन साधनो को अपनाना और उक्त यातनाए निश्चित ही समाज और दश के लिये हानिकारक हैं परन्तु इन सबके लिय उत्तरदायी स्वय राजनीतिक दल (चाहे वह सत्तारूढ हो या प्रतिपक्ष म हो), जो

1 See The Competition Master April 1974 P. 47

विद्यार्थियो का प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्यो के लिये करते हैं। विद्यार्थियो को राजनीति का पाठ पढा कर उनसे अराजनीतिक बने रहने की अपेक्षा करना मूर्खता है। इसका एक मात्र विकल्प यह है कि विद्यार्थियो को अपने शिक्षा के क्षेत्र मे रहने दिया जाय और उन्हे अध्यापक का नेतृत्व प्रदान किया जाय। विद्यार्थियो मे उच्चारण की शक्ति है परन्तु उन सम्बद्धता और निर्देशन की आवश्यकता है।

4 कृषक समूह (Agrarian Groups)—जहा नगरो के श्रमिक सघ और छात्रो के सगठन सगठित हैं तथा उनमे उच्चारण की शक्ति है वहा ग्रामो के कृषक सघ असगठित हैं और उनमे उच्चारण की कमी है। भारत एक कृषि प्रधान देश है परन्तु फिर भी यहा कृषक सगठन निष्क्रिय हैं। राष्ट्रीय और राज्य की नीतियो को प्रभावित करन की क्षमता उनमे नही है। राज्य द्वारा उनके हितो के लिये अपनायी जाने वाली नीतियो को भी उनकी निष्क्रियता और भूमि-पतियो की क्रियाशीलता ने उन्हें प्रभावहीन बना दिया है। देश मे पचायती राज की स्थापना के बाद भी स्थिति प्राय यही है। इसका मूल कारण यह है इन सगठनो के पास धन के स्रोतो, सगठन और नेतृत्व का अभाव है। साधारण किसान आज भी रुढिवादी और परम्परा मे ग्रस्त है और आधुनिकता उसे प्रभावित नहीं कर पायी। वह मतदान मे भाग अवश्य लेता है परन्तु उसमे चयन' और विभेदीकरण (differentiation) की शक्ति नही। ग्रामो मे संकीर्ण जातीय या धार्मिक गुटो का अस्तित्व है जिससे कृषक सगठन परस्पर विभक्त है। भारतीय कृषको मे उस प्रकार के व्यावसायिक हित समूहो का विकास नहीं हो सका जिस प्रकार अमरीका मे है। अमरीकन फार्म ब्यूरो फेडरेशन (American Farm Bureau Federation) या पटरन्स ऑफ हस्बेन्डरी (Patrons of Husbandry) या फार्मर यूनियन (Farmers' union) जैसे सगठन भारत मे विद्यमान नही हैं।

भारत के अन्य हित बद्ध समूहो की भांति कृषक सगठन भी राजनीतिक दलो के विशेषक (adjunct) बन कर रह गये है। उदाहरणतया अखिल भारतीय किसान सभा (All India Kisan Sabha) साम्यवादियो के नियन्त्रण मे है हिन्द किसान पचायत समाजवादियो के नियन्त्रण मे है। काग्रस दल के अपने छोटे छोटे कृषक सगठन हैं परन्तु वे न तो काश्तकारो के और न भूमि हीन मजदूरो के हितो का प्रतिनिधित्व करने मे सफल हुए हैं। काग्रस दल की भूमि सुधार की नीतियाँ भी प्राय *"कागज के शेर"* सिद्ध हुई हैं। जब कभी भी भूमि की अधिकतम सीमा और भू सुधार सम्बन्धी अन्य कानूनो को पारित किया गया है तो भू पतियो ने उनकी कार्यान्विति मे बाधा प्रस्तुत की है और ये भू पति वे हैं जो काग्रस दल के या तो सदस्य है या उसका समर्थन करते हैं और उसके लिये चन्दे की राशि और वोट बैंक के अभिवक्ता के रूप मे कार्य करते है।

भारत मे अनेक प्रकार के कृषक विद्रोह भी हुए हैं। जैसे 1946-48 मे हैदराबाद राज्य के तेलगना क्षेत्र मे और तमिलनाडु के तंजोर क्षेत्र म। -

आन्दोलनो के पीछे साम्यवादियो का हाथ था। बगाल और केरल व नक्सलवादि द्वारा भी कृषक आन्दोलना को समय समय पर उकसाया गया है। परन्तु इ आन्दोलनो को यथा समय कुचल दिया गया।

**5 शिक्षित वर्गों से सम्बन्धित सगठन**—अन्य लोकतान्त्रिक देशा की भाति भारत म भी शिक्षित वर्गों के अनेक प्रकार के सगठन विद्यमान रह हैं और आज भी है। इन सगठनो का प्राय राजनीति स सम्बन्ध नही होता, विशेषकर सरकारी कर्मचारी सघ तो वधानिक रूप म किसी दल स सम्बन्ध नही रख सकते परन्तु फिर भी अपने हिता की रक्षा हेतु व न तो राजनीति स अछूते रहे हैं और न लोकतान्त्रिक समाज मे अछूते रह सकते हैं। यद्यपि व निर्वाचन के समय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रमुख राजनीतिज्ञो के निर्वाचन में अधिक रुचि रखते हैं तो बदले मे वे उ राजनीतिज्ञो से इस बात की अपेक्षा करते हैं कि व उनके हिता या उचित मागो का समथन करेंगे। बडे-बडे नगरो म जहा कमचारियो की सख्या पर्याप्त है वहा कमचारी सगठनो का दृष्टिकोण चुनाव परिणामो को अत्यधिक प्रभावित कर सकता है।

भारत मे शिक्षित वर्गों स सम्बन्ध रखन वाले मुख्य सगठन हैं ऑल इण्डिया यूनिवर्सिटी कॉलेज टीचस एसोसियशन (All India University College Teachers' Assoc ation) अखिल भारतीय मेडिकल कौंसिल (All India Medical Council) अखिल भारतीय रेलव मैन्स एसोसियशन (All India Railway Men's Association) अखिल भारतीय पोस्टल एण्ड टेलीग्राफ्स यूनियन (All India Postal and Telegraphs Union), अखिल भारतीय बार एसोसियशन (All India Bar Association) आदि। जब जब सरकार न किसी वग से सम्बन्धित विधि निर्माण के काय को अपने हाथो मे लिया है तब-तब ही सम्बन्धित वग अपने हिता की रक्षा हेतु तत्पर रहा है और विधान क्रिया पर यथा सम्भव प्रभाव डाला है। शिक्षक सघ विशेष रूप स सक्रिय रहे हैं। इन शिक्षित वर्गों की एक विशेषता यह रही है कि इन्होने अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिये श्रमिक सघो के साधना (Trade union methods) को अपनाया है अर्थात् 'कलम रोक हड़ताल (Pendown Strike) मद काय हडताल (Go slow strike), पूण हडताल (Complete strike) धरना प्रदशन आदि का सहारा लिया है।

**6 महिला सगठन**—महिलाओ के हिता की रक्षा करने हेतु भारत मे महिलाओ के सगठन भी विद्यमान है। इनमे सबसे प्रमुख सगठन अखिल भारतीय महिला सम्मेलन (All India Women's Conference) है जिसकी शाखायें सारे भारत म हैं। यह सम्मेलन पहले साम्यवादी दलो के प्रभाव म था परन्तु धीरे धीरे यह उनके प्रभाव स निकल कर काग्रस के प्रभाव मे आ गया है। यह सम्मेलन महिलाओ के कल्याण से सम्बन्धित अनेक प्रश्नो—विवाह, तलाक पारिवारिक अधिकार पतृक सम्पत्ति मे समान अधिकार सामाजिक स्तर आदि स विशेष रूप स सम्बन्धित रहा है। जब ससद म हिन्दू कोड बिल पर विचार हो रहा था तो इस सम्मेलन ने हितबद्ध समूह के रूप मे ससद सदस्या पर अत्यधिक प्रभाव डाला।

7 सांस्कृतिक समूह—सांस्कृतिक समूहों का मूल उद्देश्य किसी देश की संस्कृति का विकास करना तथा दूसरे देशों के सांस्कृतिक समूहों से मेल बढ़ा कर मित्रता और भ्रातृभाव पैदा करना होता है। यद्यपि ये अपना कार्य क्षेत्र सांस्कृतिक पहलुओं तक सीमित रखते हैं परन्तु वे इन सम्बन्धों के माध्यम से अर्थात् सांस्कृतिक शिष्ट मण्डलों, नृत्य मण्डलियों, अनुसंधान छात्रवृत्तियों, धार्मिक शिष्ट मण्डलों, धार्मिक मिशनों, शिक्षा संस्थाओं, पुस्तकालयों आदि के माध्यम से देश की राजनीति पर प्रभाव डालने की कोशिश करते हैं और अनेक परिस्थितियों में तो उनकी यह भूमिका विघटनकारी रूप ग्रहण कर लेती है। यद्यपि प्राय ये निजी संस्थाओं के माध्यम से कार्य करते हैं परन्तु वे सरकारी और गैर सरकारी आर्थिक सहायता भी प्राप्त करते हैं। भारत में सांस्कृतिक संगठनों के अनेक उदाहरण हैं जैसे भारत चीन मैत्री समाज, भारत रूस सांस्कृतिक संघ, अखिल भारतीय शांति परिषद् आदि। इन सांस्कृतिक समूहों की प्रमुख विशेषता यह रही है जो भारत के रूस व चीन से मैत्री सम्बन्धों के समर्थक है वे साम्यवादी नीति का समर्थन करते हैं और जो पश्चिमी देशों जैसे ब्रिटेन, अमरीका आदि देशों से मित्रता चाहते है वे पूंजीवादी व्यवस्था के समर्थक रहे है।

8 अनियत या अप्रतिमानित समूह (Anomic groups)—भारत में कुछ समूह ऐसे भी विद्यमान है जिनका कोई स्थायी संगठन नहीं और जिनकी मांगों का समर्थन करने के लिये कोई संगठन तैयार नहीं परन्तु फिर भी अपने असन्तोष को अभिव्यक्त करने के लिये जन प्रदर्शनों का सहारा लेते हैं और अव्यवस्था या अराजकता की स्थिति पैदा कर देते हैं। हिन्दी के सम्बन्ध में किये गये जन प्रदर्शनों और 1966 में नई दिल्ली में गाय वध पर प्रतिबन्ध लगाने के सम्बन्ध में किये गये जन प्रदर्शनों[1] को अनियत या अप्रतिमानित समूहों की संज्ञा दी जा सकती है। बिहार आन्दोलन के सम्बन्ध में किये गये जन प्रदर्शनों (यद्यपि इसे अनेक दलों का समर्थन प्राप्त और था) हाल ही में कलकत्ता और दिल्ली में किये गये जन प्रदर्शनों या रैलियों (यद्यपि इनके पीछे सत्तारूढ दल का हाथ था) को इसी सन्दर्भ में समझा जा सकता है। इन अनियत समूहों के पास अवज्ञा का कोई तार्किक आधार नहीं होता परन्तु क्योंकि प्रशासन उनकी समस्याओं के प्रति ध्यान नहीं देता या उनकी उपेक्षा करता है, (जैसे प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार दूषित निर्वाचन प्रणाली, कमर तोड महंगाई और बेरोजगारी) अत ये समूह गली, मुहल्ला और नगर प्रदर्शनों का रूप धारण कर लेते हैं जो प्राय हिंसक रूप धारण कर लेते हैं। इन अनियत समूहों ने "घेराव" और "जबरदस्ती त्यागपत्रों को लेने" का तरीका भी अपनाया है। दुर्भाग्य की बात यह है कि भारत में जन प्रदर्शनों, घेराव, हिंसा आदि उग्र साधनों का प्रयोग केवल अनियत समूहों न

---

1 इस प्रदर्शन में अन्य व्यक्तियों के सहित भाग लेने वाले प्रमुख व्यक्ति ऋषि मुनि, साधु, नगे साधु आदि थे।

ही नहीं किया वरन् उन राजनीतिक दलों ने भी किया है जो संवैधानिक साधनों में विश्वास करते हैं और जो अपने आपको गांधीवादी विचारधारा के अनुयायी बताते हैं। जब भारत में साम्यवादी और मार्क्सवादी उग्र आन्दोलनों के समर्थक हैं वरन् नक्सलवादी हिंसा और राजनीतिक हत्या के पुजारी हैं।

B सामुदायिक संघ—भारत में अनेक प्रकार की जातियाँ निवास करती हैं जिनकी अपनी मान्यताएँ हैं, पूजा की अपनी रीतियाँ हैं, सामाजिक लेन देन, विवाह आदि के अपने तरीके हैं, उनकी अपनी भाषा और संस्कृति है। इन जातियों की विशेषता यह है कि ये अपनी संस्कृतियों के गौरव में विश्वास करती हैं और उसे बनाये रखना चाहती हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्राय: जातियों ने अपनी जातियों से सम्बन्धित संघों और संगठनों का जन्म दिया है ताकि वे जाति के हितों को सुरक्षित रख सकें। जातियों द्वारा स्थापित किये गये प्रमुख संघों के नाम हैं भारतीय ईसाइयों का अखिल भारतीय सम्मेलन, पारसियों की केन्द्रीय एसोसियेशन, आंग्ल भारतीय एसोसियेशन, सनातन धर्म दक्षिणी सभा, आर्य प्रतिनिधि सभा, मारवाड़ी एसोसियेशन, नाडार महाजन संगम (Nadar Mahajan Sangam) वनियाकुला क्षत्रिय संगम (Vanniyakula Kshatriya Sangam) हरिजन सेवक संघ, जाट सभा, वैश्य महासभा, कायस्थ सभा, त्याग सभा आदि।

भारतीय सामुदायिक संघों में कुछ संघ इतने सुसंगठित हैं कि उनमें दूसरे समुदायों का प्रवेश प्राय: असम्भव है। जातियों द्वारा प्रशासित एवं संचालित उद्योगों और शिक्षा संस्थाओं में अन्य समुदायों के सदस्यों की नियुक्ति कठिन है। जातियों द्वारा अपनी जातियों के छात्रों को अनेक प्रकार की छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं, छात्रावास जाति पर आधारित हैं। यद्यपि सभी राजनीतिक दल जातिवाद की भर्त्सना करते हैं परन्तु निर्वाचनों में प्रत्याशियों के चयन के लिये जाति तत्व प्रभावशाली सिद्ध होता है। यद्यपि निर्वाचनों में जाति का नारा लगाना चुनाव भ्रष्टाचार है परन्तु फिर भी जाति से अपील की जाती है आदि।

सामुदायिक संघों में कुछ ने तो राजनीतिक दल का रूप ही ग्रहण कर लिया है। इसमें प्रमुख उदाहरण राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (RSS) का है जो यद्यपि अपने आप को एक सांस्कृतिक और धार्मिक संगठन मानता है परन्तु यह तथ्य किसी से छुपा नहीं कि जन संघ को शक्ति और नेतृत्व इसी संगठन से प्राप्त होती है।

जातीय और साम्प्रदायिक संघों को प्राय: विघटनकारी संघ समझा जाता है। इसका मूल कारण यह है कि भारत का विभाजन और पाकिस्तान का निर्माण साम्प्रदायिकता के कारण हुआ। स्वतन्त्रता के बाद भी ये तत्व जातिवाद, भाषावाद और क्षेत्रवाद के रूप में विद्यमान रहे हैं। भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन, द्राविडस्तान की माँग, पंजाबी सूबे की माँग, आदि इसी प्रवृत्ति को व्यक्त करते हैं। इस विघटनकारी प्रभाव के बावजूद भी सामुदायिक संघ जाति और धर्म के आधुनिकीकरण (Modernization) के लिये प्रभावशाली तत्व रहे हैं।" जहाँ इन समुदाय संघों ने

जाति की मागो का निर्माण कर उसके हितो को उच्चारित किया है वहा राजनीतिक प्रणाली म जाति के प्रवेश के लिये भी य मत्र ही उत्तरदायी रहे हैं। यह बात महत्वपूर्ण ह कि आज सामुदायिक सघो की शक्ति धार्मिक क्रियाओ पर इतनी निभर नहीं करती जितना कि उनकी सदस्य सख्या और राजनीतिक नियाशीलता पर निभर करती है। जसे जसे जातिया के आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक भेद कम होगे वैसे वसे इन समुदायो मे दूसरे समुदायो का प्रवेश अधिक होगा। आज स्थिति यह है कि कोई भी राजनीतिक दल शासन सत्ता को प्राप्त करने के लिये किसी एक जाति के समथन पर निभर नही रह सकता और जितना अधिक सामुदायिक सत्ता का विकास होगा उतनी अधिक समुदायिक सघो के सदस्यो की राजनीतिक प्रणाली म सहभागिता बढेगी और राष्ट्रीय एकीकरण का विकास होगा। हार्डग्रेव जूनियर ने ठीक लिखा है "जाति स्वय राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता का अखाडा बन कर रह गयी है।"[1]

**C विचारधारा से सम्बधित समूह (सगठन)**—विचारधारा से सम्बध रखने वाले समूह केवल भारत मे विद्यमान है। इनका सम्ब ध मुख्यत गाधीवादी विचारधारा से है। इस विचारधारा से सम्बध रखने वाले मुख्य सगठन ह सर्वोदय समाज, सव सेवा सघ हिदुस्तानी प्रचार सभा, तालीमी सघ आदि। ये सगठन नशाबन्दी, बेसिक शिक्षा सामाजिक, समानता, नतिकता, कुटीर उद्योगो का विकास और 'सत्ता रहित राजनीति' (Politics without power) से सम्बध रखते है और यथा सम्भव सरकार की नीतियो पर प्रभाव डालते रहते है।

गाधीवादी सगठनो की प्रमुख विशेषता यह है कि इन्ह देश की राजनीति म ही नही बल्कि बुद्धि जीवियो और साधारण जीवन मे भी अत्यधिक प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त है। विनोबा भावे का भू दान आन्दोलन अपने आप मे अद्वितीय है। उनकी शान्ति सेना ने सामाजिक शान्ति स्थापित करने मे पर्याप्त योगदान दिया है। डाकुओ की समस्या के समाधान के लिये इस सेना ने अद्वितीय काय किये हैं। इन सगठनो की दूसरी विशेषता यह है कि इनके सदस्यो की, श्री जयप्रकाश नारायण और श्री विनोबा भाव की, राजनीतिक के उच्च स्तरो तक पहुच है और व अपने व्यक्तित्व और त्याग के प्रभाव से राजनीति पर प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं। श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा सचालित 'समग्र क्रान्ति'' का आन्दोलन अपने आप म अद्वितीय है। यह वतमान प्रशासन और निर्वाचन प्रणाली के दोषो के प्रति प्रशासन का ही नही बल्कि जनता का भी ध्यान आकर्षित करता है और यदि यह निर्वाचक मण्डलो (साधारण मतदाताओ) को लोकतन्त्र मे अपने उत्तरदायित्वो और जन प्रतिनिधियो को अपने निर्वाचको के प्रति, उत्तरदायित्वा के प्रति जागरूक करने मे सफल होता है तो यह भारतीय लोकतन्त्र की अभूतपूव सेवा होगी।

---

1 "The caste itself has become an arene of political compe tition ' Hardgrave Jr Robert L Ibid, p 110

गाधीवादी विचारधारा के विकास के लिये विश्वविद्यालयो मे विशेष केन्द्र स्थापित किये गये है । ये केन्द्र गांधीवादी विचारधारा का भिन्न भिन्न विषयो पर अध्ययन करते है मनन करते है अनुसन्धान करते है और यथा सम्भव उसका विकास करते है ।

## समीक्षा प्रश्न
## (Review Questions)

1 हितबद्ध समूह किसे कहते है ? लोकतन्त्र मे इनकी भूमिका और महत्त्व पर प्रकाश डालिये ।
2 हितबद्ध समूह, दबाव समूह और लॉबी मे क्या अन्तर है ? क्या तीनो एक दूसरे के पूरक है ?
3 'दबाव समूह राजनीतिक दलो के प्रतिद्वन्द्वी नही वरन् उनके पूरक है' इस कथन के सन्दर्भ मे दबाव समूहो की प्रकृति और कार्यों पर प्रकाश डालिये ।
4 हितबद्ध समूह ऐसी पापी आत्मायें है जो राजनीतिक वातावरण को दूषित करते है ? क्या आप इस कथन से सहमत है ? कारण सहित व्याख्या कीजिये ।
5 भारतीय राजनीति के भिन्न दबाव गुटो की प्रकृति और भूमिका पर एक निबन्ध लिखिये ।
6 व्यावसायिक समूहो की भारतीय राजनीति मे क्या भूमिका है ?
7 दबाव समूहो के रूप मे भारतीय राजनीति मे विद्यार्थी सगठनो की भूमिका को स्पष्ट कीजिये । क्या विद्यार्थी सगठनो को दबाव समूह कहना उचित है ?
8 भारतीय दबाव समूह की क्या विशेषतायें है ?
9 दबाव समूहो और राजनीतिक दलो मे भिन्नताओ को स्पष्ट करते हुए दबाव समूहो के महत्त्व पर प्रकाश डालिये ।

# पुस्तक 6

# निर्वाचन

अध्याय 1 .

# निर्वाच

## ( The Elections

### परिचय (Introduction)

निर्वाचन लोकतन्त्र क आधार है और जनता की इच्छा जानने के प्रभावशा बैरोमीटर हैं । इनके माध्यम से ही साधारण नागरिक राज्य के प्रशासन में सक्रिय भाग ले सकता है । इस तरह निर्वाचन जहां शासन और जनता का जोड़न की आवश्य कड़ी है वहां वे लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के आवश्यक अंग हैं । परन्तु लोकतन्त्र के सफल संचालन के लिये केवल निर्वाचनो की ही आवश्यकता नहीं जितना कि इस बात की आवश्यकता है कि जो निर्वाचन सम्पन्न कराये जायें वे निष्पक्ष और स्वतन्त्र (and free) हों उनका संचालन निर्दलीय आधार पर हो और वे किसी समय सत्तारूढ दल के प्रभाव से मुक्त हों । निष्पक्ष और स्वतन्त्र निर्वाचनो की आवश्यक पर बल देते हुए संविधान सभा के सदस्य हृदयनाथ कुंजरू ने ठीक कहा था कि 'यदि निर्वाचन मशीनरी (यन्त्र) त्रुटिपूर्ण हो, या अकुशल हो या ऐसे व्यक्तियों द्वारा संचालित की जाती हो जिनकी सत्यनिष्ठा (ईमानदारी) पर भरोसा नहीं किया जा सकता तो लोकतन्त्र स्रोत के स्थान पर ही विषाक्त हो जायगा । इतना ही नहीं, लोग निर्वाचन से यह सीखने की बजाय कि मत का प्रयोग कस किया जाय जिस तरह अपने मत के विवेक सम्मत प्रयोग द्वारा वे संविधान में परिवर्तन और प्रशासन में सुधार ला सकते हैं वे यह सीखेंगे कि किस प्रकार षड्यन्त्र पर आधारित दलों का निर्माण किया जा सकता है और अपने उद्देश्यो को पूरा करने के लिए (या इच्छाओं की पूर्ति के लिये) वे किन अनुचित साधनो का प्रयोग कर सकते है ।'[1] टी॰ ई॰ स्मिथ ने भी लिखा है कि विशुद्ध निर्वाचन प्रशासन के लिए ऐसे प्रशासनिक यन्त्र की आवश्यकता है जो निष्पक्षता से और विभ्रान्ति के बिना निर्वाचन का संचालित करने की योग्यता रखता हो ।"

निष्पक्ष और स्वतन्त्र निर्वाचनो की आवश्यकता को अनुभव करते हुए भारतीय संविधान निर्माताओं ने, कनाडा का अनुसरण करते हुए निर्वाचन की

---

1 CAD Vol VIII, p 923

संवैधानिक मान्यता प्रदान कर दी। संविधान निर्माता लोगों ने इन राजनीतिक अधिकार को कितनी मात्रा में सुरक्षित रखना चाहते थे यह इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि उन्होंने एक पूरा अध्याय ही निर्वाचन तथा उससे सम्बन्धित पहलों पर लगा दिया। संविधान के अध्याय 15 के 6 अनुच्छेद (अनुच्छेद 324 से 329) निर्वाचन से ही सम्बन्धित हैं। इन अनुच्छेदों में निर्वाचन मशीनरी का पूरा उल्लेख है। संविधान निर्माताओं ने निर्वाचन के लिए इसलिए भी स्थायी व्यवस्था का प्रबन्ध किया कि लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था में निर्वाचन कभी भी दूर नहीं होते। कभी लोक सभा कभी राज्य विधान सभा, कभी स्थानीय संस्थाओं, कभी मध्यावधि निर्वाचन और कभी उप निर्वाचनों की आवश्यकता पड़ती ही रहती है।

## भारत में निर्वाचन मशीनरी
### (The Electoral Machinery in India)

भारतीय निर्वाचन मशीनरी के मुख्य अंग हैं निर्वाचन आयोग (Election Commission) मुख्य निर्वाचन आयुक्त (Chief Election Commissioner), निर्वाचन आयुक्त (Election Commissioner) प्रादेशिक आयुक्त (Regional Commissioner) मुख्य निर्वाचन अधिकारी (Chief Electoral Officer), रिटर्निंग अधिकारी (Returning Officer) पीठासीन अधिकारी (Presiding Officers), मतदान अधिकारी (Polling Officers) तथा निर्वाचन से सम्बन्धित स्टाफ, आदि।

निर्वाचन आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इस आयोग के अध्यक्ष को मुख्य निर्वाचन आयुक्त कहा जाता है। इसकी नियुक्ति भी राष्ट्रपति करता है। राष्ट्रपति अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति भी कर सकता है जिनकी संख्या वह स्वयं निर्धारित करता है। परन्तु राष्ट्रपति ने अभी तक किन्हीं निर्वाचन आयुक्तों को नियुक्त नहीं किया। सम्भवतः इसकी आवश्यकता ही अनुभव नहीं की गयी। अतः भारत की सारी निर्वाचन मशीनरी मुख्य निर्वाचन आयुक्त के अधीक्षण, निदेशन और नियन्त्रण में कार्य करती है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त के परामर्श पर राष्ट्रपति प्रादेशिक आयुक्तों को नियुक्त करता है जिनकी अवधि और सेवा की शर्तें भी राष्ट्रपति नियमों द्वारा निर्धारित करता है। सेवा की ये शर्तें संसद द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार ही होती हैं। प्रथम निर्वाचन में (1951-52) में राष्ट्रपति ने निर्वाचन आयोग के कार्य में सहायता के लिए चार प्रादेशिक आयुक्तों के पदों की स्वीकृति दी थी। परन्तु वस्तुतः दो ही नियुक्त किये गये थे। दूसरे चुनाव में (1957) राष्ट्रपति ने तीन उप-निर्वाचन आयुक्तों को अस्थायी रूप से नियुक्त किया।

निर्वाचन आयोग के अधीन प्रत्येक राज्य में एक निर्वाचन मशीनरी की स्थापना की गयी है जिसके अध्यक्ष को मुख्य निर्वाचन अधिकारी कहते हैं नियुक्ति निर्वाचन आयोग द्वारा राज्य सरकार के परामर्श पर की जाती

सरकार प्राय नामा की एक नामिका (panel) की सिफारिश करती है जिसम स एक को मुख्य निवाचन आयुक्त नियुक्त करता है। मुख्य निवाचन अधिकारी के काय म सहायता के लिए एक सहायक निर्वाचन अधिकारी भी होता है।

प्रत्येक जिले म एक रिटर्निंग अफसर होता है जो प्राय कलक्टर या डिप्टी कमिश्नर होता है। उसके नीचे सहायक रिटर्निंग अफसर, पीठासीन अधिकारी और मतदान अधिकारी काय करते हैं।

भारतीय संविधान के अध्याय 15 म उल्लिखित अनुच्छेदों की तीन प्रमुख विशेषतायें हैं प्रथम यह है कि सारी निवाचन मशीनरी, चाहे वह केन्द्र स सम्बन्धित हो या राज्यों से, केन्द्रीय निर्वाचन आयोग के अधीन है। अतः राज्यों म निर्वाचन के लिये संविधान पृथक निवाचन आयोग की व्यवस्था नहीं करता। केन्द्रीय आयोग अपने ही अधीन पदाधिकारियों को जस प्रादेशिक आयुक्तों, रिटर्निंग अधिकारियों, पीठासीन अधिकारियों आदि को निर्वाचन स सम्बन्धित कार्यों पर निर्देशन देता है, चाहे प्रश्न निर्वाचन के सचालन स सम्बन्धित हो, या निवाचन सूचियों की तयारी स हो या निवाचन स सम्बन्धित विवादों आदि से हो। यह व्यवस्था संविधान के अन्तगत प्राप्त मताधिकार का आश्वासन देती है। दूसरी यह कि निर्वाचन आयोग को कायपालिका के नियन्त्रण स पूर्णतया स्वतन्त्र रखा गया है।[1] संविधान को उसके कायकाल के दौरान उसके अहित म नहीं बदली जा सकती है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सेवा की शर्तों निर्वाचन आयुक्त कायकाल के समाप्त होने स पूव अपने पद से त्याग पत्र द सकता है परन्तु राष्ट्रपति उस समय से पूव स्वयं पदच्युत नहीं कर सकता। समय स पूव मुख्य निर्वाचन आयुक्त को उसी प्रकार हटाया जा सकता है जस कि सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को। अथात उस प्रमाणित कदाचार' (proved misbehaviour) और अयोग्यता (incapability) के आधार पर महाभियोग का प्रस्ताव सम्बोधित होने पर जो ससद के प्रत्येक सदन के उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत तथा प्रत्यक सदन की कुल सदस्य संख्या के आधे से अधिक सख्या द्वारा पारित किया गया हो, राष्ट्रपति उस समय स पूव पदच्युत कर सकता है। निर्वाचन आयुक्तों और प्रादेशिक आयुक्तों को भी राष्ट्रपति मुख्य निर्वाचन आयुक्त के परामश पर ही हटा सकता है। मुख्य निवाचन आयुक्त और सर्वोच्च न्यायालय की नियुक्ति म केवल यह अन्तर है कि जहां न्यायाधीशों की नियुक्ति जीवन पयन्त अर्थात 65 वष की आयु तक होती है वहां मुख्य निवाचन आयुक्त को केवल कुछ काल के लिए ही नियुक्त किया जाता है।

तीसरे, भारत म निर्वाचन क्षेत्रों के सीमाकन (Delimitation of Constituencies) के काय को भी कायपालिका और व्यवस्थापिका के नियन्त्रण म

1, See Art 324,

स्वतन्त्र रखा गया है। यह निर्वाचनों को निष्पक्ष और स्वतन्त्र बनाये रखने के लिए किया गया है। जहां अमरीका में जेरीमेंडरिंग (Gerrymandering) नाम की कुख्यात प्रथा विद्यमान है वहां भारत में इसके विकास की कोई सम्भावना नहीं। भारत में निर्वाचन क्षेत्रों के सीमांकन के लिए एक स्वतन्त्र आयोग की व्यवस्था की गयी है जिसे सीमांकन आयोग (Delimitation Commission) कहते हैं। इसकी स्थापना 1952 के सीमांकन आयोग अधिनियम द्वारा की गयी थी। इस सीमांकन आयोग के तीन सदस्य होते हैं जो मुख्य निर्वाचन आयुक्त की अध्यक्षता में कार्य करता है। इसके अन्य दो सदस्य सर्वोच्च या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश (चाहे कार्य कर रहे हों या सेवा निवृत्त हों) होते हैं। यह आयोग दस वर्ष के उपरान्त प्रत्येक जन गणना के साथ या प्रत्येक चुनाव से पूर्व यदि इसकी आवश्यकता अनुभव की गयी हो निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन करता है। इस आयोग की सहायता के लिए अधिनियम में प्रत्येक राज्य से दो से सात सहायक सदस्यों का प्रावधान है। ये सहायक सदस्य सम्बद्ध राज्य से लोक सभा के लिए या राज्य विधान मण्डलों के लिए निर्वाचित सदस्यों में से चुने जाते हैं। इस तरह आयोग की रचना में प्रत्येक राज्य तथा मुख्य राजनीतिक दलों को प्रतिनिधित्व मिल जाता है। निर्वाचन क्षेत्र के सीमांकन के सम्बन्ध में लोग व्यक्तिगत रूप में या संगठित रूप से आयोग के प्रस्तावों पर आपत्तियां या सुझाव प्रस्तुत कर सकते हैं। आयोग इन पर सार्वजनिक बैठकों में विचार करता है और उसके बाद सीमांकन आदेश की घोषणा की जाती है जिसे न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।

## निर्वाचन आयोग और उसके पदाधिकारियों की शक्तियाँ

निर्वाचन आयोग और उसके पदाधिकारियों की शक्तियों को निम्न बिन्दुओं द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है—

(a) निर्वाचन आयोग और मुख्य निर्वाचन आयुक्त की शक्तियां—निर्वाचन आयोग की शक्तियां विविध और बहुगुणी हैं। इसकी शक्तियों को निम्न बिन्दुओं द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

(i) राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति के निर्वाचनों को संचालित करना तथा उनका अधीक्षण, निर्देशन व नियन्त्रण करना।

(ii) संसद तथा राज्य विधान सभाओं व स्थानीय संस्थाओं के निर्वाचनों का संचालन करना तथा स्वतन्त्र और निष्पक्ष निर्वाचन के लिए उनका अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करना।

(iii) निर्वाचनों के लिए निर्वाचन सूचियां तैयार करना और प्रत्येक दस वर्ष के उपरान्त प्रत्येक जनगणना के साथ और प्रत्येक सामान्य निर्वाचन से पूर्व आवश्यकतानुसार परिशोधित (revise) करना।

(iv) निर्वाचन कार्यक्रम और निर्वाचन तिथियों की अधिसूचना निकालना ताकि नामांकन पत्रों को समय पर पेश किया जा सके और उनकी समय पर हो सके।

(v) निर्वाचन प्रबन्ध के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले विवादों की जांच के लिए अधिकारियों को नियुक्त करना।

(vi) निर्वाचन को सचालित करने के लिए आयोग राष्ट्रपति या राज्यपाल से आवश्यक कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए प्रार्थना कर सकता है।

(vii) राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना। इसके लिए आयोग ने एक कसौटी तैयार की है अर्थात् जो दल चुनाव में 3 प्रतिशत मत प्राप्त करे है तो उसे मान्यता दे दी जाती है।

(viii) राजनीतिक दलों को चुनाव चिन्ह प्रदान करना।

(ix) ससद या राज्य विधान सभाओं के सदस्यों की अनर्हताओं (disqua-fications) के सम्बन्ध में राष्ट्रपति या राज्यपाल को, जैसी भी स्थिति हो, पराम देना।[1]

(x) प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति के लिए राष्ट्रपति से प्रार्थना करना।

(xi) राजनीतिक दलों को आकाशवाणी पर चुनाव भाषणों की सुविधायें दिलाना।

(xii) प्रत्याशियों द्वारा कुल व्यय की राशि को निर्धारित करना।

(xiii) मतदाताओं को राजनीतिक प्रशिक्षण देना।

(xiv) निर्वाचन याचिकाओं आदि के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक परामर्श देना।

(xv) राजनीतिक दलों के लिए आचार सहिता (code of conduct) को निर्मित करना। उदाहरणतया फरवरी 1972 में राज्य विधान सभाओं के निर्वाचनों के समय आयोग ने एक आचार सहिता जारी की थी जिसमें इस बात पर बल दिया गया था कि राजनीतिक दल चुनाव के दौरान किसी ऐसे कार्य को न करें जिससे दलों के वर्तमान भेद उग्र रूप धारण कर लें दलों की आलोचना नीतियों और प्रोग्रामों तक सीमित हो दलों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनके समर्थक दूसरे दलों द्वारा आयोजित चुनाव सभाओं या प्रदर्शनों में बाधा प्रस्तुत न करें मतों को प्राप्त करने के लिए दल जाति या साम्प्रदायिक भावनाओं को अपील न करें मन्दिर मस्जिद गुरुद्वारा या चर्च का प्रयोग चुनाव कार्यों के लिए न किया जाय चुनाव के शान्तिपूर्ण सचालन के लिए कर्मचारियों का सहयोग करें भ्रष्ट प्रथाओं का प्रयोग न करें, मतदाताओं की पहचान चिटें साधारण कागज पर हों, आदि।

(b) **रिटर्निंग अफसर के कार्य**—निर्वाचन प्रशासन में रिटर्निंग अफसर जिला स्तर का अधिकारी है परन्तु निर्वाचन में उसकी स्थिति उस धुरी के समान है जिसके ऊपर सारी निर्वाचन व्यवस्था की सफलता निर्भर करती है। उसकी निष्पक्षता,

1 See Arts 103 and 192

(vi) नामांकन पत्रों की जाँच, प्रत्याशियों की घोषणा व चुनाव चिह्नों का आवंटन।

(vii) चुनाव घोषणा पत्र।

(viii) चुनाव अभियान तथा मतदाताओं का जुटाना।

(ix) मतदाताओं द्वारा मताधिकार का प्रयोग तथा निर्वाचन में उनकी भागीदारी।

(x) निर्वाचन परिणामों की घोषणा तथा पद की शपथ।

(i) मताधिकार—जन प्रतिनिधित्व कानून के अन्तर्गत भारत में वयस्क मताधिकार की प्रणाली स्थापित की गयी है अर्थात् मताधिकार प्राप्त करने के लिये कोई सम्पत्ति, धन की सीमा, शिक्षा लिंग आदि की योग्यतायें नहीं रखी गयी। प्रत्येक भारतीय नागरिक जिसकी आयु 21 वर्ष की है या उससे ऊपर है उसे मताधिकार प्राप्त है। वयस्क मताधिकार की व्यवस्था वस्तुतः भारतीय प्रजातन्त्र का मूल आधार है। भारतीय नागरिकों को वयस्क मताधिकार प्रदान कर संविधान निर्माताओं ने उस विश्वास को व्यक्त किया जो उन्हें भारतीय लोगों की अनुकूलनशीलता (adaptability) और योग्यता पर था। यह संविधान निर्माताओं का महान कदम था। जैसाकि निर्वाचन आयोग ने प्रथम चुनाव के बाद अपने प्रतिवेदन में कहा था कि 'यह निश्चय ही विश्वास का काम था। भारत के साधारण व्यक्ति में तथा उसकी व्यावहारिक बुद्धि में विश्वास।'[1]

स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय मतदाताओं की संख्या अत्यधिक सीमित थी। सन् 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत केवल 3% नागरिकों या [illegible] 10% नागरिकों को मताधिकार प्राप्त था, सन् 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत यह मताधिकार केवल 10% नागरिकों को प्राप्त था। मताधिकार न केवल सीमित था बल्कि साम्प्रदायिक और सम्पत्ति शिक्षा, कर उपाधि आदि से भी सम्बन्धित था। परन्तु भारतीय संविधान निर्माताओं ने स्वतन्त्रता के बाद भारत के प्रत्येक नागरिक को वयस्क मताधिकार प्रदान कर दिया। साम्प्रदायिक मताधिकार को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया। "एक आदमी एक मत का सिद्धान्त सर्वत्र विद्यमान है। आज भारत की आधी जनता मताधिकार का प्रयोग करती है अथवा मतदाताओं की संख्या 25 करोड़ से भी ऊपर है।

संविधान सभा के कुछ सदस्य ऐसे अवश्य थे जिन्होंने वयस्क मताधिकार की तर्कसंगतता पर सन्देह व्यक्त किये थे। उनका कहना था कि भारत का नागरिक

---

1 It was a momentous step, "an act of faith—faith in the common man of India and in his practical common sense." Government of India, Election Commission Report on the First General Elections in India 1951 52 p 10

अधिकांशत अशिक्षित है, निधन है, उसके पास निर्वाचन अनुभव का अभाव है, अत उससे मताधिकार के सही प्रयोग और प्रत्याशियो म विभिन्नता (discreteness) का अपेक्षा करना मूर्खता है। एक आलोचक ने वयस्क मताधिकार की तुलना "उस भरी हुई बन्दूक से की थी जो बच्चे के हाथ म दे दी गयी हो"[1] आलोचको का यह भी कहना था कि राजनीतिक जनोत्तेजक (political demagogues) भोली भाली, रूढिवादी जनता को बहकाकर उनमे मत प्राप्त कर लेंगे।

आलोचको की उपयुक्त आशकायें तथा सन्देह निराधार सिद्ध हुए हैं। यह सत्य है कि भारतीय मतदाता आज भी अशिक्षित और रूढिवादी है और जाति का भी उस पर प्रभाव है राजनीतिक चेतना की कमी नही। वह राष्ट्रीय या अतराष्ट्रीय समस्याओ से भले ही बेखबर या उनके प्रति उदासीन हो परन्तु वह कम स कम स्थानीय समस्याओ और विशेष कर उन समस्याओ से अवश्य ही परिचित है जिनमे वह दनिक जीवन म पीडित ह जसे प्रशासन म भ्रष्टता, खाद्यानो की कमी, गम्भीर महगाई, बेरोजगारी आदि। ये सब तत्त्व उसके निर्वाचन और मतदान व्यवहार पर प्रभाव डालते ह। सन् 1967 के चुनाव परिणाम (जिसम काग्रेस दल की प्रधानता झकझोर दी गयी) 1971 के मध्यावधि चुनाव जिसम निर्वाचक मण्डलो न पुन इन्दिरा गाधी के नेतृत्व म विश्वास प्रकट किया और जून 1975 के गुजरात चुनाव जिसम निर्वाचन मण्डलो न पुन काग्रेस के प्रति अविश्वास और प्रशासनिक भ्रष्टता, बढती हुई महगाई, बेरोजगारी के प्रति विरोध प्रकट किया ह, इस बात के स्पष्ट उदाहरण हैं कि भारतीय मतदाता चेतनशील ह और उन्हे आज इस बात का ज्ञान है कि वे निर्वाचन म अपने मतो से शासन का तख्ता उलट सकते ह। जसाकि नामन डी० पामर न लिखा है कि ये "निर्वाचन अधिकांशत निरक्षर लोगो की योग्यता के प्रभावशाली प्रदर्शन हैं कि व अपने मताधिकार का प्रयोग बुद्धिमता से कर सकते है।"[2] भारतीय मतदाताओ की राजनीतिक चेतना और बुद्धिमता इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि अवध (invalid) मतो का प्रतिशत कुल डाले गये मतो के 3 या 4 प्रतिशत से अधिक नही रहा।

**(ii) निर्वाचन क्षेत्रो का सीमाकन तथा सुरक्षित स्थान**—निर्वाचन प्रक्रिया का दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण निर्वाचन क्षेत्रो का सीमाकन है। क्योकि भारत म जन सख्या की वृद्धि अत्यधिक मात्रा म हो रही है अत सविधान निर्वाचन क्षेत्रो के सीमाकन की व्यवस्था करता है। परन्तु यहा भी सविधान ने निष्पक्ष और स्वतन्त्र

---

1 भारत म अब तक पाच सामान्य चुनाव (1951 52 1957, 1962, 1967 1971) और अनेक मध्यावधि और उप चुनाव हुए है और प्रत्येक चुनाव म भारतीय मतदाताओ न अपनी परिपक्वता का परिचय दिया है।

2 These elections have been impressive demonstrations of the ability of a largely illiterate people to exercise the franchise wisely Palmer Norman D The Indian Political System (Second edn) p 242

आयोग की स्थापना की है अर्थात निर्वाचन क्षेत्रों के सीमांकन की प्रक्रिया को कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से मुक्त रखा गया है। यही कारण है कि अमरीका की कुख्यात प्रथा जेरीमेंडरिंग (Gerrymandering) का भारत में विकास होने की सम्भावना नहीं।

भारत में निर्वाचन क्षेत्रों के सीमांकन के लिये एक सीमांकन आयोग की व्यवस्था है। इस आयोग के तीन सदस्य होते हैं जो मुख्य निर्वाचन आयुक्त की अध्यक्षता में कार्य करते हैं। इसके अन्य दो सदस्य सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश होते हैं। यह आयोग दस वर्ष के उपरान्त प्रत्येक जनगणना के साथ या प्रत्येक चुनाव से पूर्व निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन करता है। इस आयोग की सहायता के लिये अधिनियम में प्रत्येक राज्य से दो से सात सहायक सदस्यों का प्रावधान है। ये सहायक सदस्य सम्बद्ध राज्य से लोक सभा के लिये या राज्य विधान मण्डलों के लिये निर्वाचित सदस्यों में से चुने जाते हैं। इस तरह आयोग की रचना में प्रत्येक राज्य तथा मुख्य राजनीतिक दलों को प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

निर्वाचन क्षेत्र के सीमांकन के सम्बन्ध में लोग व्यक्तिगत रूप से या सगठित रूप से आयोग के प्रस्तावों पर आपत्तियां या सुझाव प्रस्तुत कर सकते हैं। आयोग इन पर सार्वजनिक बैठकों में विचार करता है और उसके बाद सीमांकन आदेश की घोषणा की जाती है जिसे न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।

प्रथम और द्वितीय निर्वाचनों में भारत में द्वि सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (Double member Consitituencies) थे परन्तु 1961 में एक अधिनियम द्वारा द्वि सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों को समाप्त कर दिया गया। आज सारे भारत में एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र ही है अर्थात प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक प्रतिनिधि ही निर्वाचित होता है। प्रत्येक राज्य की लोक सभा में उसके स्थान उसकी जन संख्या के आधार पर निर्धारित किये जाते है और राज्य के लिए निश्चित किये स्थानों को इस प्रकार बाटा जाता है कि प्रति सीट जन संख्या का अनुपात राज्य भर में समान हो।

भारत में यद्यपि पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया है फिर भी संविधान अनुच्छेद 330 में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों के लिये, उनकी जन संख्या के अनुपात में लोक सभा और अनुच्छेद 332 में राज्य विधान सभाओं में स्थानों को सुरक्षित रखा गया है। संविधान ने संविधान लागू होने के 10 वर्ष तक अर्थात 1960 तक इन स्थानों को सुरक्षित रखा था परन्तु इस अवधि को दो बार बढ़ा दिया गया है और अब सुरक्षित स्थानों की व्यवस्था 1980 तक है। ये अनुच्छेद इन जातियों के प्रतिनिधित्व का आश्वासन दिलाते हैं। इसी प्रकार संविधान अनुच्छेद 331 में राष्ट्रपति को लोक सभा में ऐंग्लो इण्डियन समुदाय के दो प्रतिनिधियों और अनुच्छेद 333 राज्यपाल को राज्य विधान सभा में एक प्रतिनिधि को नामांकित करने का अधिकार प्रदान करता है यदि उन्हें विश्वास हो जाय कि इस जाति को लोक सभा या राज्य विधान सभा, जैसी भी स्थिति हो, में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ।

(iii) निर्वाचन सूचियों की तयारी —निर्वाचन प्रक्रिया म निर्वाचन सूचियों की तैयारी एक महत्वपूर्ण चरण है क्योंकि निर्वाचन सूची म पजीकृत नागरिक को ही मताधिकार प्राप्त होता है और सूची म पजीकरण ही इस बात का प्रमाण है कि अमुक नागरिक की आयु 21 वष या उससे ऊपर है। प्रत्यक 21 वष आयु प्राप्त नागरिक को निर्वाचित सूचि म अपना नाम पजीकृत कराने का अधिकार है बशर्ते कि वह (i) भारत का नागरिक हो, (ii) निर्वाचन क्षेत्र का सामान्यत निवासी हो, (iii) न्यायालय द्वारा उसे विकृत मानस (पागल) घोषित न किया गया हो, (iv) निर्वाचन कानून व मतदान भ्रष्टाचार या किसी अपराध क कारण मतदान से वचित न किया गया हो। दूसरे शब्दों म जो भारत का नागरिक नहीं निर्वाचन क्षेत्र का निवासी नहीं पागल है अपराधी है या भ्रष्टाचार के आरोप म न्यायालय द्वारा दण्डित किया गया है जो उस निवाचन सूची म अपना नाम पजीकृत कराने का अधिकार नहीं।

भारत की निवाचन सूचियो की विशेषता यह है कि इन्हें निर्वाचन क्षेत्र के आधार पर तयार किया जाता है जाति धर्म, लिंग या समुदाय के आधार पर नहीं। निवाचन क्षेत्र म रहने वाले सभी नागरिकों के लिए चाहे व किसी धर्म का पालन करते हो किसी जाति के हो किसी भाषा का प्रयोग करते हो, एक ही निवाचन सूची तयार की जाती है। इस दृष्टि से अनुच्छेद 325 निर्वाचन म धर्म निरपेक्षता का पालन करता है। कोई मतदाता इस बात की माग नहीं कर सकता कि धर्म जाति या लिंग क आधार पर पृथक निवाचन सूची म उसका नाम पजीकृत किया जाय।

निवाचन सूचिया निवाचन आयोग क अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण म तयार की जाती है। जिला म स्थापित की गयी निवाचन शाखायें निर्वाचन आयोग की इस काय म सहायता करती हैं। यदि कोई नागरिक निर्धारित तिथि तक 21 वष की आयु ग्रहण कर लेता है या उसके बाद भी (परन्तु चुनाव की तिथि स पूर्व) यह आयु प्राप्त कर लेता है तो निर्वाचन सूची म सशोधन कर उसके नाम क पजीकरण की व्यवस्था है।

(iv) निर्वाचन की घोषणा—निवाचन की घोषणा राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और इस घोषणा स ही निर्वाचन म जान आनी शुरू हो जाती है। यह घोषणा निवाचन आयोग क परामर्श पर की जाती है। चुनाव की अधिसूचना गजट आफ इण्डिया म प्रकाशित की जाती है। इस घोषणा के बाद चुनाव दिन व तिथिया नामांकन पत्र जमा कराने उनकी जाच की तिथि, नामांकन पत्रो को वापस लेने की तिथि तथा चुनाव पूर्ण करने की तिथिया आदि के लिए चुनाव अधिसूचना जारी की जाती है।

(v) दलों द्वारा प्रत्याशियों का चयन—चुनाव प्रत्याशियों के चयन का अवसर दलों के लिए सरगर्मी का अवसर होता है क्योंकि यही एसा अवसर है जब दल के सदस्यों को सत्ता और प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए रास्ता मिलता है।

दल के लिए भी यह शक्ति जुटाने, सुदृढता दिखाने और अनुशासन को बनाये रखने की घडी होती है जैसा कि हार्डग्रेव जूनियर ने लिखा है कि "प्रत्याशियों का चयन नयी भर्ती और शक्ति जुटाने की महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।'

चुनाव प्रत्याशियों के चयन में अनेक प्रकार के आन्तरिक और बाह्य तत्वों का प्रभाव होता है। अनेक स्थितियों में दल के केन्द्रीय संगठन बलशाली होते हैं और कभी स्थानीय संगठन ही प्रभावपूर्ण होते हैं। दलों के आन्तरिक गुटों के लिए भी यह रस्साकशी का अवसर होता है क्योंकि प्रत्येक गुट अपने समर्थकों को चुनाव प्रत्याशी के रूप में खडा करना चाहता है। कभी कभी दल की वृद्ध पीढी (old guard) और युवा पीढी (youth organisations) में रस्साकशी होती है दल को व्यापक सामाजिकता प्रदान करने का तत्त्व भी अत्यधिक बलशाली होता है। अनेक बार व्यावसायिक समूहों, श्रमिक संघों सामुदायिक संघो, आदि का प्रभाव भी पडता है। इन प्रभावों के अतिरिक्त अन्य तत्व जो प्रभावी होते हैं उनमें प्रमुख हैं (i) इच्छुक (अभिलाषी) प्रत्याशी का दल के प्रति भक्ति, निष्ठा और आस्था (ii) दल के प्रोग्रामों के प्रति वचन बद्धता, (iii) विधायी अनुभव, रचनात्मक कार्यक्रम में योगदान, (iv) उसका सामाजिक और आर्थिक आधार (v) दल की निधि में आर्थिक योगदान आदि। यद्यपि प्रत्येक दल ऊपर से जाति की भर्त्सना करता है परन्तु किसी भी दल के निर्वाचन क्षेत्रों के लिए प्रत्याशियों के चयन में यह तत्व अत्यधिक बलशाली होता है। प्राय यह देखा गया है कि यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र में कोई प्रमुख जाति की बहुतायत है तो दल प्राय उसी जाति से प्रत्याशी का चयन करते हैं और यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र में दो या तीन जातियां लगभग बराबर हैं तो उनके मतों को निष्प्रभावन (neutralize) करने के लिए किसी अल्प जाति के सदस्य को प्रत्याशी के रूप में खडा कर दिया जाता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से अब तक केन्द्र में और प्राय सभी राज्यों में (1967 69 के कुछ काल को छोड कर और वर्तमान के तमिलनाडु, गुजरात और गोआ को छोडकर) कांग्रेस दल का प्रभुत्व रहा है अतः कांग्रेस टिकटों के लिए होड हमेशा लगी रहती है।

भारतीय निर्वाचन प्रणाली की एक विशेषता यह रही है कि यहां निर्दलीय प्रत्याशियों की संख्या अत्यधिक रही है और चुनाव में उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है।

**(vi) नामांकन, नामांकन पत्रों की जांच, प्रत्याशियों की घोषणा व चुनाव चिन्हों का आवंटन**—चुनाव प्रत्याशियों के चयन के बाद दल या स्वयं प्रत्याशी या उसका कोई अभिकर्ता निर्धारित तिथि और समय से पूर्व निर्धारित प्रपत्र को प्रधान नाम निर्देशन पत्र को रिटर्निंग अफसर के समक्ष प्रस्तुत करता है। इस नाम निर्देशन पत्र पर प्रत्याशी और निर्वाचन क्षेत्र के एक मतदाता के हस्ताक्षर द्वारा अनिवार्य हैं, नियमों के अनुसार नाम निर्देशन पत्र के साथ कानून द्वारा निर्धारित जमानत की

राशि को भी जमा कराना पड़ता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्रत्याशी को रिटर्निंग अफसर के समक्ष संविधान के प्रति निष्ठा और देश की प्रभुता और अखण्डता को अक्षुण्ण रखने की शपथ लेनी पड़ती है। नाम निर्देशन पत्र में, अन्य सूचनाओं के अतिरिक्त चुनाव चिन्ह के सम्बन्ध में अपनी पसन्द भी व्यक्त करता है।

रिटर्निंग अफसर सभी नाम निर्देशन पत्रों की घोषणा करता है तथा उनकी जांच करता है तथा वैध नाम निर्देशन पत्रों की घोषणा करता है तथा उन्हें प्रकाशित करवाता है। दलों के आरक्षित चुनाव चिन्ह उन दलों के अधिकृत सिफारिश के आधार पर उन दलों के प्रत्याशियों को दिये जाते हैं। निर्दलीय प्रत्याशियों को चुनाव आयोग द्वारा स्वीकृत चुनाव चिन्ह प्रदान किये जाते हैं। निर्वाचन आयोग द्वारा स्वीकृत मुख्य चुनाव चिन्ह हैं (i) दो बैलों की जोड़ी, (ii) गाय और बछड़ा, (iii) झोपड़ी, (iv) दीपक (v) दरांती और अनाज के पौधे का शीष, (vi) खड़ा हुआ शेर, (vii) मानव हाथ (viii) घोड़ा और सवार (ix) उगता हुआ सूर्य, (x) हाथी, (xi) मकान (xii) साइकिल, (xiii) फावड़ा (बेलचा) और भट्टी में कोयला भरने वाला (xiv) घड़ा (xv) सीढ़ी (xvi) मुर्गा (xvii) तीर-कमान, (xviii) वृक्ष (xix) तारा (xx) नाव (xxi) फूल (xxii) तराजू (xxiii) ऊँट, (xxiv) बैलगाड़ी, (xxv) अनाज को पछोरता हुआ किसान, (xxvi) दो पत्तियों वाली डाली, आदि।

(vii) चुनाव घोषणा पत्र—चुनाव से पूर्व प्रत्येक दल अपने कार्यक्रम की घोषणा करता है जिसे चुनाव घोषणा पत्र कहते हैं। इस घोषणा पत्र में प्रत्येक दल अपने आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रम को प्रस्तुत करता है। परन्तु भारतीय चुनावों की विशेषता यह है कि उन्हें कार्यक्रमों के आधार पर नहीं लड़ा जाता। वस्तुतः भारतीय मतदाता में अभी इतनी योग्यता नहीं आई कि वह दलों का चयन कार्यक्रम के आधार पर कर सके। मतदाता तो प्रायः राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों से अनभिज्ञ रहता है। कोई अखिल भारतीय मसले नहीं, केवल अखिल भारतीय शिकायतें हैं।[1] यहाँ चुनाव मुख्यतया व्यक्तित्व (personality) के आधार पर लड़ा जाता है और इसमें कांग्रेस दल को ही लाभ हुआ है। प्रथम दो तीन चुनाव कांग्रेस ने गांधी और नेहरू के नाम पर स्वतंत्रता संग्राम के लोगों के आधार पर, जीते और पांचवें चुनाव में 'इंदिरा हवा' (Indira wave) ने ही चुनाव पर जादू कर दिया। केवल 1967 का चुनाव ही ऐसा है जिसमें मतदाता ने विभिन्नता (discreteness) का प्रयोग किया परन्तु यहां भी चयन दलों के घोषणा पत्रों में उल्लिखित नीतियों के आधार पर नहीं बल्कि कांग्रेस के प्रति असंतोष बढ़ती हुई महगाई, सूखा और बेरोजगारी से पीड़ित होकर अपने अपने असन्तोष को व्यक्त करने के लिए विभिन्नता का प्रयोग किया।

1 There are no all India issues as such—there are only all India grievances' Times of India dt 14 2-1967 Quoted by Hardgrave Jr Ibid p 178

**(viii) चुनाव अभियान तथा मतदाताओं को जुटाना**—किसी दल का चुनाव अभियान अनेक बातों पर निर्भर करता है जैसे दल के वित्तीय स्रोत, दल का संगठन, दल के सदस्यों एवं कार्यकर्त्ताओं की कर्मठता और लोगों तक उनकी पहुंच, अनुनय और प्रभाव।

चुनाव अभियान में सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व 'धन' का होता है। प्रत्येक दल अपने वित्तीय स्रोतों को सुदृढ़ करने का प्रयास करता है जिसे वह सदस्यता शुल्क, चन्दा, सार्वजनिक सभाओं, धनाढ्य समर्थकों, निधि संग्रह अभियानों, काला धन कमाने वालों आदि से प्राप्त करता है। भारत में जितने भी दल है उन सबमें कांग्रेस दल की वित्तीय स्थिति अत्यधिक सुदृढ है। इसका मूल कारण यह है कि कांग्रेस स्वतन्त्रता प्राप्ति से केन्द्र और अधिकांश राज्यों में सत्तारूढ रही है और वह अपने समर्थकों अर्थात कांग्रेस निधि में चन्दा देने वालों को परमिटों और अनुज्ञप्तियों (licences) द्वारा लाभान्वित कर सकती है। अन्य दल अपने समर्थकों को यह संरक्षण प्रदान करने की स्थिति में नहीं हैं। उदाहरणतया 1965 में कामराज ने जो उस समय कांग्रेस अध्यक्ष थे, अपने जन्म दिवस पर कांग्रेस निधि के लिए 17 लाख रुपये इकट्ठे किये।

चुनाव कानून चुनाव व्यय की राशि भी निर्धारित करता है जो लोक सभा के निर्वाचन क्षेत्र के लिए 35000 रु० और राज्य विधान सभा के निर्वाचन क्षेत्र के लिए भिन्न भिन्न राज्यों में भिन्न है।[1] परन्तु वास्तविकता यह है कि चुनाव में इन राशियों के कई गुणा व्यय किया जाता है। और कानून द्वारा व्यय की निर्धारित राशि केवल कागजी महत्त्व रखती है यद्यपि प्रत्याशी चुनाव व्यय का हिसाब रिटर्निंग अफसर को देते है परन्तु वह प्रायः गलत होता है क्योंकि सामान्यतया लाखों रुपये चुनाव व्यय किए जाते हैं।

चुनाव अभियान में सबसे महत्वपूर्ण बात मतदाताओं को जुटाने की है। यह कार्य "उत्सव और संघर्ष" का मिश्रण होता है स्थानीय कार्यालय स्थापित किये जाते जाते हैं दल के कार्यकर्त्ताओं या अभिकर्ताओं को क्रियाशील बनाया जाता है, चारों तरफ प्रत्याशियों के इश्तिहार, चित्रित नारे, सभी प्रकार के वाहनों पर दलीय झण्डे, चिह्न आदि नजर आते हैं। इस अभियान में सबसे अधिक बल चुनाव चिह्न पर दिया जाता है क्योंकि अन्ततः इसी के आधार पर मतदाता मतदान करते हैं। चुनाव अभियान में जन प्रदर्शन किये जाते हैं, विशाल सार्वजनिक सभाओं या आयोजन किया जाता है भाषण मालाओं का कार्यक्रम जारी रखा जाता है जिसमें राष्ट्रीय स्तर के नेताओं से लेकर अभिनेताओं (actors) अभिनेत्रियों तक सभी भाग लेते हैं, गली मुहल्लों में सभायें की जाती है और घर घर जाकर प्रत्याशियों के लिए

---

1 इतना धन तमिलनाडु मे 12 जिलों से प्राप्त किया गया था। देखिये Hardgrave Jr Ibid, p 173

मत मांगे जाते है। यद्यपि संविधान चुनाव में जाति, धर्म, या सम्प्रदाय आदि के नारों या अपीलों की मनाही करता है परन्तु इनका प्रयोग गुप्त रूप से खुले आम किया जाता है। जाति के नेताओं को खरीदा जाता है और इस तरह मतों को प्राप्त किया जाता है, परन्तु चुनाव में 'धन' और 'जाति' का किस मात्रा में प्रभाव है, कहना कठिन है क्योंकि मतदान गुप्त है और मतदाता पर किसी प्रकार का दबाव या नियन्त्रण नहीं। जैसा कि भूतपूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त सेन वर्मा ने सन् 1969 में कहा था कि 'इस देश के मतदाता को स्वीकार करके आगे नहीं चला जा सकता। मतदाता को धन का प्रलोभन दिया जा सकता है, उसे किसी प्रत्याशी के वाहनों में लाया और ले जाया जा सकता है, परन्तु इन सुविधाओं के प्रयोग के बाद भी उसे उस प्रत्याशी के पक्ष में मतदान करने में संकोच नहीं होगा जिसे वह अच्छा समझता है।'[1] यद्यपि संविधान चुनाव कार्यों के लिए धार्मिक स्थानों (मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों, चर्च आदि) के प्रयोग की मनाही करता है परन्तु इन स्थानों का प्रयोग भी किया जाता है।

**(ix) मतदाताओं द्वारा मतदान का प्रयोग तथा निर्वाचनों में उनकी साझेदारी**—चुनाव के दिन मतदाता अपने मत का प्रयोग करता है परन्तु यह कहना कठिन है कि उसने किस आधार[2] पर मतदान किया। पिछले पांच चुनावों के बाद यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत के मतदाता आज भी अधिकांशतः निरक्षर हैं निर्धन हैं, रूढ़ियों में फंसा हुआ है उसके हित जातीय और साम्प्रदायिक हैं, वह उच्चारण की क्षमता नहीं रखता, राष्ट्रीय मसलों में वह चिन्तित नहीं परन्तु इन सबके बाद भी आज के मतदाता यह जानते हैं कि वह शासन को अपने मतदान द्वारा बदल सकते हैं। वह इस बात को भी जानता है कि मतों को खरीदने वाला और चुनाव अभियान में लाखों रुपया खर्च करने वाला किस उद्देश्य से चुनाव लड़ रहा है, आदि। यद्यपि उसमें दलों के आर्थिक और सामाजिक नीतियों में विभिन्नता की क्षमता नहीं परन्तु वह निजी और स्थानीय समस्याओं से अवश्य परिचित है और वे अपने प्रतिनिधियों से कम से कम उनके समाधान या उनके निजी हितों की पूर्ति[3] की आशा अवश्य रखते हैं और आवश्यकता होने पर अपने असंतोष को भी व्यक्त करते हैं जैसाकि 1967 के चुनावों में और जून 1975 के गुजरात चुनावों में कांग्रेस के विरुद्ध असंतोष को अभिव्यक्त किया है। राजनीति वस्तुतः

---

1 See Times of India, dt 8-12-1969 डा० दिनेश चन्द्र चतुर्वेदी की पुस्तक 'भारतीय शासन और राजनीति' से उद्धृत, पृ 305

2 मतदान पर कौन से तत्व प्रभावी होते हैं इसके लिए विस्तृत वर्णन पुस्तक चार में दिया गया है।

3 Hardgrave Jr writes 'The voters expect the MLA to be the broker between the man and the elite Ibid, p 185

"मरणाग' और नाम का पारम्परिक क्रिया पर्यवसित नहीं किया जा सकता, उस नाम को जीवित रखा जाता है। 1

(४) निर्वाचन परिणामों की घोषणा तथा पदा... यह अंतिम चरण है जब मतों की गणना कर ... नित घोषित कर दिया जाता है। सदस्य और राज... प्रतिज्ञान से पूर्व पद की शपथ लिया जाता है।

## भारतीय निर्वाचनो की
## या
## भारतीय निर्वाचनो की वि
## (Nature of Indian Electi
## Or
## (Features of Indian Elec

भारतीय निर्वाचनों में कुछ ऐसी विशेषतायें हैं ... बिन्दुओं तक व्यक्त किया जा सकता है—

1 विश्व का विशाल लोकतन्त्र—भारतीय चुन... षता यह है कि ये चुनाव विश्व में सबसे विशाल होते हैं ... देशों की इतनी जनसंख्या नहीं जितने यहां मतदाता हैं ... के निर्वाचन में यहां मतदाताओं की संख्या 17 करोड़ ... निर्वाचन में यह संख्या 19 करोड़ 30 लाख थी, 196... 21 करोड़ 60 लाख थी 1967 के निर्वाचन में य... 1971 के मध्यावधि निर्वाचन में 25 करोड़ थी और ... आधी जनसंख्या को मताधिकार प्राप्त है। चुनावों में मत... की संख्या यद्यपि अधिक नहीं रही फिर भी इसे असन्तोष... प्रथम चुनाव में मतदान करने वालों की संख्या 45 47 ... में 47 74 प्रतिशत थी, तीसरे चुनाव में 56 29 प्रतिश... 61 33 प्रतिशत थी।

भारत के विशाल चुनावों का संचालन अपने आ... है परन्तु फिर भी कुछ छुटपुट घटनाओं को छोड़ निर्वाचन ... व्यवस्थित ढंग से सम्पन्न हुए हैं। प्रथम निर्वाचन के सम... लगे वहां द्वितीय चुनाव को 19 दिन तृतीय चुनाव को ... 10 दिन ही लगे। इन चुनावों को सम्पन्न कराने के ... अधिकारियों आदि की सेवाओं का प्रयोग किया जाता ...

1 See Bailey F G Politics and Soci... 1959 p 141 Quoted by Hardgrave ...

है "इसे नैतिक अपीलों द्वारा
फायदा की मात्राओं में इसे

की शपथ—निर्वाचन प्रक्रिया
हुमत प्राप्त प्रत्याशी को निर्वा-
विधान सभा के सदस्यों को

...कृति

...षतायें
...ons)

...ions)

जो अद्वितीय हैं। इन्हें निम्न

...वों की सबसे प्रमुख विशे-
...। अन्य अनेक लोकतान्त्रिक
...। उदाहरणतया 1951-52
... 60 लाख थी, 1957 के
... के निर्वाचन में यह संख्या
... संख्या 24 करोड़ थी और
... आज तो प्राय भारत की
...दान करने वाले मतदाताओं
...जनक नहीं कहा जा सकता।
... प्रतिशत थी, दूसरे चुनाव
... थी और चौथे चुनाव में

...प में एक गम्भीर समस्या
...प्राय शान्तिपूर्ण और बड़े
...न कराने में जहां 4 महीने
... 10 दिन चौथे चुनाव को
... लिए लाखों कर्मचारियों,
...।

...l Change Orissa in
Ibid, p 186

(ii) **अशिक्षित, निधन परन्तु समझदार मतदाता**—भारतीय जनता का अधिकांश भाग ग्रामों में निवास करता है जो निरक्षरता, निधनता और रूढ़िवादिता के शिकार हैं परन्तु फिर भी पिछले चुनावों का अनुभव यह सिद्ध करता है कि भारतीय मतदाता निरक्षर होते हुए भी समझदार है। प्रथम दो या तीन चुनावों में वह भले ही मतों के महत्त्व को अधिक न समझता हो परन्तु आज उसे यह आभास है कि वह या वे अपने मतों के प्रयोग द्वारा शासन के तख्ते को बदल सकते हैं। यद्यपि उसमें आज भी दलों प्रोग्रामों या नीतियों में विभिन्नता करने (discreteness) की कमी है परन्तु वह उन समस्याओं को अच्छी तरह समझता है जिनमें वह दैनिक जीवन में (जैसे भ्रष्टाचार बढ़ती हुई महगाई बेरोजगारी आदि) सम्बन्धित है। उदाहरणतया यदि उसने 1967 के चुनावों में अपने असंतोष को व्यक्त करने के लिए कांग्रेस का भण्डाफोड़ कर प्रतिपक्ष को यह महसूस करा दिया कि उसे राजनीतिक स्थिरता की आवश्यकता है, गाली-गलौज की भाषा और असंसदीय व्यवहार की नहीं' और उसी मतदाता ने 1971 में कांग्रेस का साथ दिया तो उसी ने जून 1975 के गुजरात चुनाव में कांग्रेस का मान मर्दन कर उसे बता दिया कि जिसकी समस्याओं का शीघ्र समाधान अति आवश्यक है।

(iii) **मतदान का आधार राष्ट्रीय विषय नहीं होते**—भारतीय निर्वाचनों की तीसरी विशेषता यह है कि यहां मतदाता सिद्धान्तों प्रोग्रामों या नीतियों के आधार पर मतदान नहीं करता। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों और समस्याओं से वह अनभिज्ञ ही नहीं रहता बल्कि उदासीन भी रहता है। और दुर्भाग्य की बात यह है कि जो राजनीतिक दल चुनाव घोषणा पत्रों (Election Manifesto) की वकालत हैं वे उन पर चुनाव नहीं लड़ते। जैसाकि टाइम्स ऑफ इण्डिया ने लिखा था कि 'कोई अखिल भारतीय मसले नहीं केवल अखिल भारतीय शिकायतें हैं।' निरक्षरता का शिक्षित वर्ग भले ही चुनाव घोषणा पत्रों से प्रभावित होता हो (परन्तु भी इसका प्रभाव असंदिग्ध है) परन्तु साधारण मतदाता तो उससे अछूता है।

भारतीय चुनावों में नीतियों के स्थान पर व्यक्तित्व और "नेतृत्व' का अत्यधिक प्रभाव है और महान नेताओं का प्रभाव तो जादू' की भांति होता है जैसे कि गांधी नेहरू और इन्दिरा का। इस प्रभाव में भारतीयों के संस्कारों का प्रभाव भी अत्यधिक बलशाली है क्योंकि भारतीय अपने नेताओं की भूलों और कमजोरियों के लिए उन्हें दण्डित करना या उनका विरोध करना नहीं जानते। गम्भीर कठिनाइयों और राष्ट्रीय हानियों पर भी वे नेतृत्व के परिवर्तन में विश्वास नहीं करते।

भारत में एक अनेक समूह जातियां और सम्प्रदाय हैं जिनका समर्थन परम्परा से (चाहे इसका कारण कुछ भी रहा हो) एक ही दल (कांग्रेस) को दिया जाता है। उदाहरणतया मुसलमानों, ईसाइयों और अनुसूचित जातियों तथा जन जातियों के मत प्राय कांग्रेस को ही दिये जाते हैं। यह तत्त्व न तो चुनावों के

के लिये शुभ कहा जा सकता है। निर्वाचकों में विभिन्नता
ना और लोकतन्त्र की अनिवार्य आवश्यकता है।
ना में जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा, क्षेत्र आदि तत्त्वों के
है परन्तु यह तत्त्व किसी से छुपा नहीं कि जो दल खुले में
वे ही गुप्त रूप में या परदे के पीछे इन्हीं तत्वों का सहारा
में तो चुनाव के दौरान इस नारे का खुले आम प्रयोग
की बेटी जाट का, जाट का वोट जाट को।" इतना ही
नों और समूहों से सामूहिक मत प्राप्त करने के लिये उस
मूह के पुरोहित वर्ग या मुख्य नेताओं और व्यक्तियों का
न पर दबाव डाला जाता, धमकाया जाता है, उन्हें खरीदा
रों। में काले, आइरिश, या इटालियन वोट पाये जाते
'रेड्डी वोट" (Reddy Vote) और "जाट वोट" (Jat

में भ्रष्टाचार के विविध रूप सामने आये हैं। सामान्यतया
प्रयोग तो है ही, इसके अतिरिक्त, डर, आतंक, भय,
दवारों को खरीदना, अपहरण आदि तत्व भी इसमें शामिल
कि सत्तारूढ़ दल चुनाव के समय ऐसे साधनों का प्रयोग
क धोखे' और "भ्रम' की संज्ञा दी जा सकती है जैसे
ओं की घोषणा जो चुनाव के बाद प्रायः कागज पर ही
विशेष सुविधाओं को प्रदान करना आदि।
में विदेशी और देशी धन का प्रयोग भी अत्यधिक है।
संगठनों, छात्र संस्थाओं, साम्स्कृतिक संस्थाओं एवं युवा
रित होता है। यदि सी०आई०ए०, के अभिकर्ता चुनाव में
और रूस की एजेन्सियाँ भी सक्रिय रहती हैं। देशी धन भी,
Money) की संज्ञा दी जा सकती है, अत्यधिक प्रयोग में
र व्यापारिक और व्यावसायिक समूहों द्वारा जो अपने
ने हैं, चन्दे के रूप में राजनीतिक दलों की निधियों को
काँग्रेस दल अत्यधिक फायदे की स्थिति में है क्योंकि
समर्थकों को परमिटों और अनुज्ञप्तियों (licences) द्वारा

व न्यूनाधिक मात्रा में मतदाता के व्यवहार पर प्रभाव
समय कौनसा तत्त्व अत्यधिक बलशाली सिद्ध होता है
मतदान गुप्त होता है और उस समय मतदाता पर कोई

Ir Ibid, p 181

(ii) **अशिक्षित, निर्धन परन्तु समझदार मतदाता**—भारतीय जनता का अधिकाश भाग ग्रामो म निवास करता है जो निरक्षरता, निर्धनता और रूढिवादिता के गढ है परन्तु फिर भी पिछले चुनावो का अनुभव यह सिद्ध करता है कि भारतीय मतदाता निरक्षर होते हुए भी समझदार है। प्रथम दो या तीन चुनावो म वह भले ही मतो के महत्त्व को अधिक न समझता हो परन्तु आज उसे या सामूहिक रूप से उन्हें आभास है कि वह या वे अपने मतो के प्रयोग द्वारा शासन के तख्ते को बदल सकते है। यद्यपि उसम आज भी दलो, प्रोग्रामो या नीतियो मे विभिन्नता करने (discreteness) की कमी है परन्तु वह उन समस्याओ को अच्छी तरह समझता है जिनसे वह दैनिक जीवन म (जैसे भ्रष्टाचार बढती हुई महगाई, बेरोजगारी आदि) सम्बन्धित है। उदाहरणतया यदि उसने 1967 के चुनावो म अपने असतोष को व्यक्त करने के लिए काग्रेस को झकझोर दिया तो उसी ने 1971 म काग्रेस का साथ देकर प्रतिपक्ष को यह महसूस करा दिया कि उसे राजनीतिक स्थिरता की आवश्यकता है 'गाली-गलौज की भाषा और असंसदीय व्यवहार की नही", और उसी मतदाता ने जून 1975 के गुजरात चुनाव मे काग्रेस का मान मर्दन कर उसे बता दिया कि उसकी समस्याओ का शीघ्र समाधान अति आवश्यक है।

(iii) **मतदान का आधार राष्ट्रीय विषय नहीं होते**—भारतीय निर्वाचनो की तीसरी विशेषता यह है कि यहा मतदाता सिद्धान्तो प्रोग्रामो या नीतियो के आधार पर मतदान नही करता। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयो और समस्याओ से वह अनभिज्ञ ही नही रहता बल्कि उदासीन भी रहता है। और दुर्भाग्य की बात यह है कि जो राजनीतिक दल चुनाव घोषणा पत्र (Election Manifesto) को निकालते है वे उन पर चुनाव नही लडते। जैसाकि टाइम्स ऑफ इण्डिया ने लिखा है कि कोई अखिल भारतीय मसले नही केवल अखिल भारतीय शिकायतें हैं। भारत का शिक्षित वर्ग भले ही चुनाव घोषणा पत्रो से प्रभावित होता हो (परन्तु यहा भी इसका प्रभाव असन्दिग्ध है) परन्तु साधारण मतदाता तो उससे अछूता है।

भारतीय चुनावो म नीतियो के स्थान पर 'व्यक्तित्व' और नेतृत्व" का अत्यधिक प्रभाव है और महान नेताओ का प्रभाव तो 'जादू' की भाति होता है जैसाकि 'गाधी', 'नेहरू' और इन्दिरा का। इस प्रभाव म भारतीयो के संस्कारो का प्रभाव भी अत्यधिक बलशाली है क्योकि भारतीय अपने नेताओ की भूलो और कुकर्मों के लिये उन्हे दण्डित करना या उनका विरोध करना नही जानते। गम्भीर त्रुटियो और राष्ट्रीय हानियो पर भी वे नेतृत्व के परिवर्तन म विश्वास नही करते।

भारत म ऐसे अनेक समूह जातियो और सम्प्रदाय हैं जिनका समर्थन परम्परा से (चाहे इसका कारण कुछ भी रहा हो) एक ही दल (कांग्रेस) को दिया जाता है। उदाहरणतया मुसलमानो ईसाइयो और अनुसूचित जातियो तथा जनजातियो के मत प्राय कांग्रेस को ही दिये जाते हैं। यह तत्व न तो चुनावो क

लिये और न लोकतन्त्र के लिये शुभ कहा जा सकता है। निर्वाचकों में विभिन्नता का स्वभाव होना निर्वाचना और लोकतन्त्र की अनिवार्य आवश्यकता है।

संविधान निर्वाचना में जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा, क्षेत्र आदि तत्त्वों के प्रयोग की मनाही करता है परन्तु यह तत्त्व किसी से छुपा नहीं कि जो दल खुले में इनकी भर्त्सना करते है वे ही गुप्त रूप में या परदे के पीछे इन्ही तत्वों का सहारा लेते रहे है। हरियाणा में तो चुनाव के दौरान इस नारे का खुले आम प्रयोग किया गया था कि 'जाट की बेटी जाट को, जाट का वोट जाट को।'' इतना ही नहीं बिरादरियों, समुदायों और समूहों से सामूहिक मत प्राप्त करने के लिये उस बिरादरी, समुदाय या समूह के पुरोहित वर्ग या मुख्य नेताओं और व्यक्तियों का प्रयोग किया जाता है, उन पर दबाव डाला जाता, धमकाया जाता है, उन्हे खरीदा जाता है। जिस प्रकार अमरीका मे काले, आइरिश, या इटालियन वोट पाये जाते है उसी प्रकार भारत मे 'रेड्डी वोट" (Reddy Vote) और "जाट वोट" (Jat Vote) पाये जाते है।[1]

भारतीय चुनावों में भ्रष्टाचार के विविध रूप सामने आये है। सामान्यतया धन, स्त्री और मदिरा का प्रयोग तो है ही, इसके अतिरिक्त, डर, आतंक, भय, जालसाजी, विरोधी उम्मीदवारों को खरीदना, अपहरण आदि तत्व भी इसमे शामिल है। अद्वितीय बात तो यह कि सत्तारूढ दल चुनाव के समय ऐसे साधनों का प्रयोग करता है जिन्हे "सार्वजनिक धोखे" और "भ्रम' की संज्ञा दी जा सकती है जैसे चुनाव से पूर्व नई योजनाओं की घोषणा जो चुनाव के बाद प्रायः कागज पर ही रहती है, विशेष अनुदान, विशेष सुविधाओं को प्रदान करना, आदि।

भारतीय चुनावों में विदेशी और देशी धन का प्रयोग भी अत्यधिक है। विदेशी धन प्रायः श्रमिक संगठनों, छात्र संस्थाओं, सांस्कृतिक संस्थाओं एवं युवा संगठनों के माध्यम से वितरित होता है। यदि सी०आई०ए०, के अभिकर्ता चुनाव में सक्रिय रहते है तो चीन और रूस की एजेंसियां भी सक्रिय रहती है। देशी धन भी, जिसे काले धन (Black Money) की संज्ञा दी जा सकती है, अत्यधिक प्रयोग मे लाया जाता है। विशेषकर व्यापारिक और व्यावसायिक समूहों द्वारा जो अपने हितों की पूर्ति करना चाहते हैं, चन्दे के रूप में राजनीतिक दलों की निधियां को भरा जाता है। इसमे भी कांग्रेस दल अत्यधिक फायदे की स्थिति में है क्योंकि सत्तारूढ होने से वह अपने समर्थकों को परमिटों और अनुज्ञप्तियों (licences) द्वारा लाभ पहुंचा सकती है।

उपर्युक्त सभी तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा मे मतदाता के व्यवहार पर प्रभाव डालते है परन्तु मतदान के समय कौनसा तत्त्व अत्यधिक बलशाली सिद्ध होता है यह कहना कठिन है क्योंकि मतदान गुप्त होता है और उस समय मतदाता पर कोई प्रभाव नहीं होता।

1 See Hardgrave Jr Ibid, p 181

(ii) अशिक्षित, निर्धन परन्तु समझदार मतदाता—भारतीय जनता का अधिकांश भाग ग्रामों में निवास करता है जो निरक्षरता, निर्धनता और रूढ़िवादिता के गढ़ है परन्तु फिर भी पिछले चुनावों का अनुभव यह सिद्ध करता है कि भारतीय मतदाता निरक्षर होते हुए भी समझदार है। प्रथम दो या तीन चुनावों में वह भले ही मतों के महत्त्व को अधिक न समझता हो परन्तु आज उसे या सामूहिक रूप से उन्हें आभास है कि वह या वे अपने मतों के प्रयोग द्वारा शासन के तख्ते को बदल सकते है। यद्यपि उसमें आज भी दलों, प्रोग्रामों या नीतियों में विभिन्नता करने (discreteness) की कमी है परन्तु वह उन समस्याओं को अच्छी तरह समझता है जिनसे वह दैनिक जीवन में (जैसे भ्रष्टाचार बढ़ती हुई महगाई, बेरोजगारी आदि) सम्बन्धित है। उदाहरणतया यदि उसने 1967 के चुनावों में अपने असन्तोष को व्यक्त करने के लिए कांग्रेस को झकझोर दिया तो उसी ने 1971 में कांग्रेस का साथ देकर प्रतिपक्ष को यह महसूस करा दिया कि उसे राजनीतिक स्थिरता की आवश्यकता है, "गाली-गलौज की भाषा और असंसदीय व्यवहार की नहीं" और उसी मतदाता ने जून 1975 के गुजरात चुनाव में कांग्रेस का मान मर्दन कर उसे बता दिया कि उसकी समस्याओं का शीघ्र समाधान अति आवश्यक है।

(iii) मतदान का आधार राष्ट्रीय विषय नहीं होते—भारतीय निर्वाचनों की तीसरी विशेषता यह है कि यहां मतदाता सिद्धान्तों, प्रोग्रामों या नीतियों के आधार पर मतदान नहीं करता। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों और समस्याओं से वह अनभिज्ञ ही नहीं रहता बल्कि उदासीन भी रहता है। और दुर्भाग्य की बात यह है कि जो राजनीतिक दल चुनाव घोषणा पत्रों (Election Manifesto) को निकालते हैं वे उन पर चुनाव नहीं लड़ते। जैसाकि टाइम्स ऑफ इण्डिया ने लिखा है कि 'कोई अखिल भारतीय मसले नहीं, केवल अखिल भारतीय शिकायतें हैं।" भारत का शिक्षित वर्ग भले ही चुनाव घोषणा पत्रों से प्रभावित होता हो (परन्तु यहां भी इसका प्रभाव असन्दिग्ध है) परन्तु साधारण मतदाता तो उससे अछूता है।

भारतीय चुनावों में नीतियों के स्थान पर "व्यक्तित्व" और "नेतृत्व" का अत्यधिक प्रभाव है और महान नेताओं का प्रभाव तो "जादू" की भांति होता है जैसाकि 'गांधी', 'नेहरू' और 'इन्दिरा' का। इस प्रभाव में भारतीयों के संस्कारों का प्रभाव भी अत्यधिक बलशाली है क्योंकि भारतीय अपने नेताओं की भूलों और कुकर्मों के लिये उन्हें दण्डित करना या उनका विरोध करना नहीं जानते। गम्भीर त्रुटियों और राष्ट्रीय हानियों पर भी वे नेतृत्व के परिवर्तन में विश्वास नहीं करते।

भारत में ऐसे अनेक समूह, जातियां और सम्प्रदाय हैं जिनका समर्थन परम्परा से (चाहे इसका कारण कुछ भी रहा हो) एक ही दल (कांग्रेस) को मिलता आता है। उदाहरणतया मुसलमानों, ईसाइयों और अनुसूचित जातियों तथा जन जातियों के मत प्राय कांग्रेस को ही दिये जाते हैं। यह तत्त्व न तो चुनावों के

लिये और न लोकतन्त्र के लिये शुभ कहा जा सकता है। निर्वाचकों में विभिन्नता का स्वभाव होना निर्वाचनों और लोकतन्त्र की अनिवार्य आवश्यकता है।

संविधान निर्वाचनों में जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा, क्षेत्र आदि तत्वों के प्रयोग की मनाही करता है परन्तु यह तत्त्व किसी से छुपा नहीं कि जो दल खुले में इनकी भर्त्सना करते हैं वे ही गुप्त रूप में या परदे के पीछे इन्हीं तत्वों का सहारा लेते रहे हैं। हरियाणा में तो चुनाव के दौरान इस नारे का खुले आम प्रयोग किया गया था कि "जाट की बेटी जाट को, जाट का वोट जाट को।" इतना ही नहीं बिरादरियों, समुदायों और समूहों से सामूहिक मत प्राप्त करने के लिये उस बिरादरी, समुदाय या समूह के पुरोहित वर्ग या मुख्य नेताओं और व्यक्तियों का प्रयोग किया जाता है, उन पर दबाव डाला जाता, धमकाया जाता है, उन्हें खरीदा जाता है। जिस प्रकार अमरीका में काले, आइरिश, या इटालियन वोट पाये जाते हैं उसी प्रकार भारत में 'रेड्डी वोट" (Reddy Vote) और "जाट वोट" (Jat Vote) पाये जाते हैं।[1]

भारतीय चुनावों में भ्रष्टाचार के विविध रूप सामने आये हैं। सामान्यतया धन, स्त्री और मदिरा का प्रयोग तो है ही, इसके अतिरिक्त, डर, आतंक, भय, जालसाजी, विरोधी उम्मीदवारों को खरीदना, अपहरण आदि तत्व भी इसमें शामिल हैं। अद्वितीय बात तो यह कि सत्तारूढ दल चुनाव के समय ऐसे साधनों का प्रयोग करता है जिन्हें "सार्वजनिक धोखे' और "भ्रम" की संज्ञा दी जा सकती है जैसे चुनाव से पूर्व नई योजनाओं की घोषणा जो चुनाव के बाद प्राय कागज पर ही रहती है, विशेष अनुदान, विशेष सुविधाओं को प्रदान करना, आदि।

भारतीय चुनावों में विदेशी और देशी धन का प्रयोग भी अत्यधिक है। विदेशी धन प्राय श्रमिक संगठनों, छात्र संस्थाओं, सांस्कृतिक संस्थाओं एवं युवा संगठनों के माध्यम से वितरित होता है। यदि सी०आई०ए०, के अभिकर्ता चुनाव में सक्रिय रहते हैं तो चीन और रूस की एजेंसियां भी सक्रिय रहती हैं। देशी धन भी, जिसे काले धन (Black Money) की संज्ञा दी जा सकती है, अत्यधिक प्रयोग में लाया जाता है। विशेषकर व्यापारिक और व्यावसायिक समूहों द्वारा, जो अपने हितों की पूर्ति करना चाहते हैं, चन्दे के रूप में राजनीतिक दलों की निधियां को भरा जाता है। इसमें भी कांग्रेस दल अत्यधिक फायदे की स्थिति में है क्योंकि सत्तारूढ होने से वह अपने समर्थकों को परमिटों और अनुज्ञप्तियों (licences) द्वारा लाभ पहुंचा सकती है।

उपर्युक्त सभी तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में मतदाता के व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं परन्तु मतदान के समय कौनसा तत्त्व अत्यधिक बलशाली सिद्ध होता है यह कहना कठिन है क्योंकि मतदान गुप्त होता है और उस समय मतदाता पर कोई प्रभाव नहीं होता।

---

1 See Hardgrave Jr Ibid, p 181

(iii) चुनावों पर एक दल का प्रभाव—भारत में बहुदलीय प्रणाली है परन्तु फिर भी चुनावों पर एक दल ही (कांग्रेस आई) हावी रहता है। यही दल चुनाव में सभी स्थानों के लिए अपने प्रत्याशियों को खड़ा करता है। अन्य दल तो सभी स्थानों के लिए अपने प्रत्याशियों को खड़ा करने की स्थिति में नहीं। इसका मूल कारण यही है कि कांग्रेस के वित्तीय स्रोत सुदृढ़ हैं और उसे चन्दे की अत्यधिक राशि प्राप्त होती है। जैसाकि ऊपर कहा गया है कांग्रेस अपने समर्थकों को संरक्षण (patronage) द्वारा लाभ पहुँचाने की स्थिति में है। दूसरे कांग्रेस दल का संगठन अन्य दलों की तुलना में अधिक संगठित है, उसके पास अखिल भारतीय स्तर के नेता हैं और अभी भी यह स्वतन्त्रता संग्राम में किये गये त्यागों के फलों को भोगता है।

(v) बहुपक्षीय मुकाबला (Multi-cornered Contest)—भारतीय चुनावों की एक विशेषता यह है कि यहाँ चुनाव प्रायः बहुपक्षीय होते हैं, सीधे दो दलों या दो प्रत्याशियों में मुकाबला बहुत कम होता है। इसका मूल कारण यह है कि भारत में प्रतिपक्ष निर्बल ही नहीं बल्कि विभक्त भी है। इसका लाभ कांग्रेस को मिलता है। प्रतिपक्ष के मत आपस में ही विभक्त हो जाते हैं। परन्तु जब कभी प्रतिपक्ष ने संयुक्त होकर रचनात्मक कार्यक्रम के आधार पर कांग्रेस का मुकाबला किया तो उसने उसे कड़ा मुकाबला दिया। परन्तु यहाँ भी 1971 के चुनाव परिणाम, कुछ और ही दिशा को व्यक्त करते हैं। इस चुनाव में जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी, संगठन कांग्रेस और संयुक्त समाजवादी दल के महान् राजनीतिक गठबन्धन को बुरी तरह पराजय का सामना करना पड़ा, उनकी आशायें मिट्टी में मिल गयीं, चुनाव विशेषज्ञों की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। इस चुनाव में 'इन्दिरा हवा' (Indira Wave) ने सभी अनुमानों को मिथ्या सिद्ध कर दिया। परन्तु जून 1975 के गुजरात चुनाव परिणाम यह सिद्ध करते हैं कि यदि प्रतिपक्ष सुदृढ़, सक्रिय और रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत कर सकता है तो वह कांग्रेस का विकल्प बन सकता है। इस चुनाव में पाँच दलों के फ्रन्ट को यद्यपि पूर्ण बहुमत नहीं मिला परन्तु वह कांग्रेस को पराजित करने, उसका मान मर्दन करने में तो सफल हुई।

(vi) निर्दलीय उम्मीदवार—भारतीय निर्वाचनों की एक विशेषता यह भी है कि चुनावों में निर्दलीय उम्मीदवारों की संख्या पर्याप्त होती है। 1951–52 के निर्वाचन में निर्दलीय उम्मीदवारों की संख्या कुल उम्मीदवारों की संख्या से एक तिहाई थी। यद्यपि 8 में से 7 निर्दलीय उम्मीदवार अपनी जमानतें भी खो बैठते हैं परन्तु फिर भी उन्हें कुछ सफलता तो मिलती ही है। भारत का मतदाता 'दल-चेतन' (Party oriented or Party conscious) है और वह अपने मत का प्रयोग समझदारी से करने का प्रयास करता है परन्तु फिर भी निर्दलीय उम्मीदवारों की संख्या विधानसभाओं में पर्याप्त रही है। 1971 के लोकसभा के मध्यावधि चुनावों में निर्दलीय सदस्यों को 8.3% मत पड़े और आज उनके सदस्यों की संख्या

30 के लगभग है। राज्य विधानसभाओं में इनकी संख्या पर्याप्त है। यह तत्त्व भारतीय निर्वाचन प्रणाली में एक दूषित तत्त्व है क्योंकि यह अ तत राजनीतिक अस्थिरता, पक्ष त्याग (defection), स्वार्थ आदि तत्त्वों को बढ़ावा देता है। क्योंकि निर्दलीय सदस्यों की कोई ठोस नीतियां या प्रोग्राम नहीं होते अतः उन्हें अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये दल बदलने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती।

(vii) **विषैला चुनाव अभियान**—भारतीय चुनावों की एक विशेषता यह है कि यहां चुनाव अभियान शुद्ध राजनीतिक साधनों के आधार पर संचालित नहीं किया जाता। चुनाव सभाओं में प्रत्याशियों और नेताओं पर व्यक्तिगत आक्षेप किये जाते हैं, गाली गलौज साधारण बात है कीचड़ उछाला जाता है। संक्षेप में चुनाव में हर अच्छे बुरे हथियार का प्रयोग किया जाता है। इस सब का मूल कारण यह है कि राजनीतिक दलों में आचार संहिता की कमी है और राष्ट्रीय चरित्र का अभाव है।

(viii) **राजनीतिक वेश्यावृत्ति या सिद्धांत रहित गठबन्धन**—भारतीय चुनावों की एक विशेषता यह भी है कि चुनाव के समय या चुनाव के बाद ऐसे अवसरवादी सिद्धान्त रहित गठबन्धन होते हैं जो अन्य देशों में नहीं पाये जाते हैं। इस रोग से केवल विरोधी दल ही नहीं बल्कि सत्तारूढ़ दल भी पीड़ित है। उदाहरणतया धर्म निरपेक्षता में विश्वास करने वाले कांग्रेस दल ने केरल में साम्प्रदायिक दृष्टिकोण अपनाने वाली मुस्लिम लीग से समझौता किया, इसी प्रकार लोकतन्त्र में विश्वास करने वाले कांग्रेस दल ने हिंसा में विश्वास करने वाले साम्यवादी दल से गठबन्धन किया। इतना ही नहीं कांग्रेस ने साम्यवादी दल के साथ संसद के चुनाव में तो समझौता किया परन्तु उसी साम्यवादी दल का राज्यों में विरोध किया। इतना ही नहीं सत्ता को अपने हाथ में बनाये रखने के लिये कांग्रेस ने ही दल बदल की दूषित प्रणाली को बढ़ावा दिया। प्रतिपक्ष ने भी ऐसे संगठन और संयुक्त मोर्चों और फ्रन्टों का निर्माण किया जिनके सिद्धान्तों में कोई सामंजस्य नहीं था। उदाहरणतया स्वतन्त्र दल और जनसंघ जैसे दक्षिण पंथी दलों ने मार्क्सवादियों जैसे वाम पंथी दलों से गठबन्धन किये। ये सब तत्त्व भारतीय राजनीति की वेश्यावृत्ति और सिद्धांत रहित वेश्या वृत्ति को स्पष्ट करते हैं।

(ix) **विधान सभा में प्राप्त स्थानों और दल को प्राप्त मतों में कोई सामंजस्य नहीं**—भारतीय निर्वाचनों की एक विशेषता यह रही है कि जिन दलों को विधान सभा में जो स्थान प्राप्त हुए हैं और जो मतों का प्रतिशत उन्हें प्राप्त होता है उनमें कोई सामंजस्य नहीं। उदाहरणतया 1951-52 के निर्वाचन में कांग्रेस को डाले गये मतों के 45% मत ही पड़े परन्तु लोक सभा में उसे 74 4 स्थान प्राप्त हुये परन्तु 1967 के चुनाव में कांग्रेस को 40 73 प्रतिशत मत पड़े परन्तु उसे 54 42 स्थान ही प्राप्त हुए। 1971 के मध्यावधि चुनाव में भी कांग्रेस को 43 6 मत ही पड़े परन्तु लोक सभा में उसे लगभग 70% स्थान प्राप्त हुए।

## निर्वाचनो का संक्षिप्त विवरण
### (A brief description of Elections)

संविधान लागू होने के समय से अब तक पाच सामान्य चुनाव हो चुके हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है—

**प्रथम चुनाव**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय नागरिकों के लिये यह पहला अवसर था जब उन्हे वयस्क मताधिकार के आधार पर अपने प्रतिनिधियो को निर्वाचित करने का अधिकार दिया गया था। इसमे कुल 17 करोड 60 लाख मतदाता थे। इसमे लोक सभा के 489 स्थानो और राज्य विधान सभाओ के 3,300 स्थानो के लिय चुनाव लडे गये, इन स्थानो के लिये 17,500 उम्मीदवार चुनाव मे खडे हुए जिनमे 240 महिलायें थी। खडे होने वाले प्रत्याशियो मे एक तिहाई से अधिक निदलीय सदस्य थे। इस चुनाव मे कुल मिलाकर 75 दलो ने भाग लिया। कांग्रेस दल ही एक ऐसा दल था जिसने सारे स्थानो के लिये अपने प्रत्याशी खडे किये।

प्रथम चुनाव मे कांग्रेस ही लोक सभा और अधिकाश राज्यो मे विजयी रही। लोक सभा मे इसे 489 स्थानो मे से 364 स्थान प्राप्त हुए, साम्यवादी दल को 16, समाजवादी दल को 12, किसान मजदूर प्रजा पार्टी को 9, हिन्दू महासभा को 4, जन सघ और राम राज्य परिषद् को तीन तीन, रिपब्लिकन पार्टी का 2, अन्य छोटे छोटे दलो को 35 और निदलीय उम्मीदवारो को 41 स्थान प्राप्त हुए। यद्यपि राज्य विधान सभाओ मे कांग्रेस विजयी रही थी परन्तु चुनाव परिणाम उसके लिये चिंता के विषय थे। प्रथम तो उसे कुल मतो के 45% मत ही प्राप्त हुए थे जो कुल मतो के आधे मे भी कम थे। दूसरे साम्यवादियो को अनेक राज्यो मे आश्चर्यजनक सफलता मिली थी और लोक सभा मे भी उसे 16 स्थान प्राप्त हुए थे। तीसरे निदलीय उम्मीदवारो की सख्या काफी थी जो इस बात का प्रतीक थी कि भारतीय मतदाताओ ने अनेक दलो को अस्वीकार किया था।

प्रथम चुनाव की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि "अन्धकार के पैगम्बरो" (Prophets of gloom) की भविष्य वाणियां मिथ्या सिद्ध हुई और अशिक्षित, अनभिज्ञ रूढिवादी मतदाताओ ने सिद्ध कर दिया कि उनमे मतदान की योग्यता है और लोकतन्त्र को कार्यान्वित करने की उनमे क्षमता है। प्राय सभी स्थानो पर चुनाव शान्तिपूर्ण एव व्यवस्थित ढग से हुए। यद्यपि निरक्षरता और रूढिवादिता तथा परम्पराओ ने कुछ कठिनाइयां अवश्य पैदा की परन्तु उन पर समुचित समाधान चुनाव चिह्न की प्रथा ने कर दिया। अत प्रथम चुनाव ने भारतीय लोकतन्त्र को उस रास्ते पर गतिमान कर दिया जिस मे वह अपने विराम की ओर निरन्तर बढ रहा है।

**दूसरे चुनाव (24 फरवरी से 11 मार्च 1957)**—दूसरा चुनाव भी पहले चुनाव की भांति एक महान काम था। यह भी विश्व का सबसे विशाल चुनाव था। इस चुनाव की मुख्य विशेषतायें निम्न थी।

(i) मतदाताओं की संख्या बढ़ कर 19 करोड़ 30 लाख हो गयी।

(ii) लोक सभा के स्थानों की संख्या 494 थी।

(iii) इन चुनावों को 3 सप्ताह में ही सम्पन्न करा दिया गया।

(iv) चुनाव आयोग को इस चुनाव में उन कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा जो उसे प्रथम चुनाव के समय अनुभव करनी पड़ी थी। इसका मूल कारण यह था कि चुनाव आयोग को प्रथम चुनाव के अनुभव के अतिरिक्त, प्रथम और द्वितीय चुनाव के काल के दौरान तीन राज्यों में मध्यावधि चुनावों (पेप्सू ट्रावनकोर, कोचीन और आन्ध्र प्रदेश में) और अनेक उप चुनावों से अनुभव प्राप्त हो गया था।

(v) चुनाव आयोग ने राष्ट्रीय स्तर पर 4 और राज्य स्तर पर 11 राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान की। राष्ट्रीय स्तर पर जिन दलों को मान्यता दी गयी उनके नाम हैं कांग्रेस, साम्यवादी दल, प्रजा समाजवादी दल और जनसंघ।

दूसरे चुनाव परिणामों ने भारत के राजनीतिक नक्शे में कोई परिवर्तन नहीं किया क्योंकि लोक सभा में और अधिकांश राज्यों में कांग्रेस को ही बहुमत प्राप्त हुआ। परन्तु जहां कांग्रेस ने लोक सभा में अपने स्थानों में वृद्धि की (लोक सभा में कांग्रेस को 494 स्थानों में से 371 स्थान प्राप्त हुए) वहां राज्य विधान सभाओं में उसे 300 से 400 स्थानों से हाथ धोने पड़े। यद्यपि साम्यवादी दल की स्थिति लोक सभा में प्रायः पहले चुनाव की भांति रही परन्तु राज्यों में उसने अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया, विशेष कर केरल में उसकी स्थिति पूर्ण बहुमत से थोड़ी कम थी (साम्यवादी दल को केरल विधान सभा में 60 स्थान प्राप्त हुए थे) परन्तु 5 निर्दलीय उम्मीदवारों के समर्थन से (जिनका साम्यवादी दल ने चुनाव में समर्थन किया था) उसने ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद के नेतृत्व में सरकार का निर्माण किया। यह साम्यवादी इतिहास में पहला अवसर था जब साम्यवादी दल ने लोकतान्त्रिक निर्वाचनों के माध्यम से शासन सत्ता को प्राप्त किया। इस चुनाव में हिन्दू महासभा के दो प्रमुख नेताओं (एन० सी० चटर्जी जो महासभा के अध्यक्ष थे और वी० जी० देशपाण्डे जो उसके महा सचिव थे) को पराजय का मुंह देखना पड़ा। राम राज्य परिषद् का तो एक भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ।

दूसरे चुनाव की एक विशेषता यह भी थी कि कुछ स्थानीय दल उभर कर सामने आये, विशेषकर उड़ीसा में गणतन्त्र परिषद्, मद्रास (तामलनाडु) में डी० एम० के०, बिहार में झारखण्ड पार्टी और बम्बई में संयुक्त महाराष्ट्र समिति और महा गुजरात जनता परिषद् ने अपनी स्थितियों को सुदृढ़ किया। यद्यपि चुनाव विशेषज्ञों ने यह भविष्यवाणी की थी कि ये चुनाव राष्ट्रीय और आर्थिक मसलों को लेकर लड़े जायेंगे, प्रादेशिक या भाषाई मसलों को लेकर नहीं परन्तु यह भविष्यवाणी मिथ्या सिद्ध हुई क्योंकि बम्बई में विशेषकर, प्रदेश और भाषा के तत्त्व बलशाली रहे। जैसा कि राश ने लिखा है कि "चुनाव अभियान सामान्य उक्तियों (cliche) में ही भरपूर था और मसलों से बचने की कोशिश

की गयी ।"[1] फिर भी इस चुनाव में निर्वाचन वर्ग (समूह) ने अपनी जीवन क्षमता (Viability) को अभिव्यक्त किया और साधारण से साधारण मतदाता ने भी यह स्पष्ट कर दिया कि वह मत, मतपत्र और मत पेटी के अर्थ को भली भांति समझता है और इनका प्रयोग करना जानता है ।

दूसरे चुनाव की एक विशेषता यह भी थी कि चुनाव से पूर्व अनेक प्रकार के चुनाव समझौते (election alliances or arrangements) किये गये । चुनाव समझौते पूर्णतया सिद्धान्तहीन थे और उनका मूल उद्देश्य कांग्रेस उम्मीदवारों का विरोध करना था । महत्वपूर्ण चुनाव समझौते पश्चिम बंगाल में किये गये । उदाहरण तया पांच वामपन्थी दलों (साम्यवादी प्रजा समाजवादी, क्रान्तिकारी समाजवादी फारवर्ड ब्लाक और मार्क्सवादी फारवर्ड ब्लाक) को मिला कर संयुक्त चुनाव समिति बनाई गयी ।

तीसरा चुनाव (16 फरवरी से 25 फरवरी, 1962)—तीसरे चुनाव की अपनी अनेक विशेषतायें थीं जिन्हें निम्न बिन्दुओं द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

1 यह पहला चुनाव था जिसमें सारे भारत में एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (Single Member Constituency) का प्रयोग किया गया था अर्थात् एक निर्वाचन क्षेत्र से एक प्रतिनिधि के निर्वाचित होने की व्यवस्था की गयी थी । पहले के चुनावों में कुछ द्वि-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (Double Member Constituencies) थे जहां से दो प्रतिनिधि चुने जाते थे । एक अनुसूचित जाति या जन जाति में से और एक सामान्य में से । परन्तु इन द्वि सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों को 1961 के अधिनियम द्वारा समाप्त कर दिया गया था ।

2 इस चुनाव की दूसरी विशेषता यह थी कि राष्ट्रीय और स्थानीय राजनीतिक दलों के भेद को समाप्त कर दिया गया और निर्वाचन आयोग ने उन दलों को राजनीतिक दलों के रूप में मान्यता प्रदान की जिन्हें कुल डाले गये मतों का 3% प्राप्त हुआ हो । इस तरह 1962 के चुनाव में 16 दलों को निर्वाचन आयोग द्वारा मान्यता दी गयी ।

3 इस चुनाव की तीसरी विशेषता यह थी कि मतदान प्रणाली में सुधार किया गया, विशेषकर अंकन पद्धति (marking system) में सुधार किया गया । अब मतदाता को मतपत्र पर केवल उस चिह्न पर क्रॉस (×) का निशान लगाना था जिसके लिये वह अपना मत देना चाहता था । अंकन पद्धति (marking system) की यह प्रणाली इतनी सफल हुई कि इसे स्थायी रूप से अपना लिया गया । अब एक ही मत पेटी प्रयोग में लायी गयी थी ।

4 इस चुनाव की एक विशेषता यह थी कि भारतीय राजनीतिक मंच पर एक नये दल का उदय हुआ जिसे स्वतन्त्र दल कहते हैं । यद्यपि इस दल की स्थापना

1 Roach India 1957 Elections p 76 Quoted by 'Palmer Norman D p 25,

सी० राजगोपालाचार्य के नेतृत्व मे सन् 1959 मे की गयी थी परन्तु इसने पहली बार 1962 के चुनाव मे हिस्सा लिया।

5 तीसरा चुनाव नेहरू युग का अंतिम चुनाव था।

तीसरा चुनाव पहले दो चुनावो की तुलना मे प्राय मन्द (dull) थे। पहले चुनावो की भांति इसमे हलचल कम थी। न तो कोई राष्ट्रीय मसले उभर कर सामने आये और न ही स्थानीय मसले उग्र हुए। इसने भारत के राजनीतिक स्वरूप मे कोइ विशेष परिवर्तन नही किया। कांग्रेस केन्द्र और राज्यो मे प्राय बहुमत म रही। केन्द्र मे यद्यपि इसे पिछले चुनाव से 10 स्थान कम प्राप्त हुए (1957 के चुनाव मे कांग्रेस को लोक सभा मे 371 स्थान प्राप्त हुए थे, 1962 के चुनाव मे कांग्रेस को 361 स्थान प्राप्त हुए) परन्तु इसके मतो के प्रतिशत मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। तीसरे चुनाव मे उनके प्रमुख नेताओ को पराजय का मुह देखना पडा।

मध्य प्रदेश मे कांग्रेस के मुख्य मन्त्री काटजू को पराजय का मुँह देखना पडा। कांग्रेस का प्रभाव यदि उत्तर मे कम हुआ तो पश्चिमी बगाल, महाराष्ट्र, मद्रास, (तमिलनाडु) और उडीसा मे उसका प्रभाव बढने लगा। इस चुनाव मे विरोधी दलो के अनेक नेताओ को पराजय का मुँह देखना पडा जसे निदलीय आचार्य कृपलानी प्रसोपा के अशोक मेहता, एन० जी० गोरे साम्यवादी दल के एस० ए० डागे, जनसघ के बलराज मधोक और स्वतन्त्र दल के एन० जी० रगा को भी पराजय का मुह देखना पडा।

तीसरे चुनावो मे मतदाताओ की सख्या बढकर 21 करोड 60 लाख तक पहुच गयी थी।

**चौथा चुनाव 15 फरवरी से 21 फरवरी 1967**—चौथा चुनाव भारतीय चुनावो के इतिहास मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसे ठीक ही प्रथम यथार्थ सामान्य चुनाव" (First true General Elections), "द्वितीय क्रान्ति" (Second Revolution), "मतपत्र द्वारा क्रान्ति" (Revolution by ballot), "भारतीय राजनीतिक विकास मे जल विभाजक" (Watershed in the political development of India) की सज्ञा दी जाती है। यह पहला चुनाव था जिसे "प्रतिद्वन्दिता" के आधार पर लडा गया था। यह पहला चुनाव था जिसने भारतीय राजनीतिक मानचित्र को ही बदल दिया था। इसने एक दलीय प्रभुता के युग को समाप्त कर दिया। इसने एक ऐसे युग को जन्म दिया जो अत्यधिक सहभागिता पर तो आधारित था परन्तु जो राजनीतिक अस्थिरता मिली-जुली राजनीति और अनिश्चित राजनीतिक गुटबन्दियों से आच्छादित था[1]। इसने बहु दलीय राजनीति और ध्रुवीकरण की राजनीति (Politics of Polarization) शासन म बाजार की नीनि

1 See Palmer, Norman D Ibid, p 258

की गयी।"[1] फिर भी इस चुनाव मे निर्वाचन वर्ग (समूह) ने अपनी जीवन क्षमता (Viabiity) को अभिव्यक्त किया और साधारण से साधारण मतदाता ने भी यह स्पष्ट कर दिया कि वह मत, मतपत्र और मत पेटी के अर्थ को भली भांति समझता है और इनका प्रयोग करना जानता है।

दूसरे चुनाव की एक विशेषता यह भी थी कि चुनाव से पूर्व अनेक प्रकार क चुनाव समझौते (election alliances or arrangements) किये गये। चुनाव समझौते पूर्णतया सिद्धान्तहीन थे और उनका मूल उद्देश्य काग्रेस उम्मीदवारों का विरोध करना था। महत्त्वपूर्ण चुनाव समझौते पश्चिम बगाल मे किये गये। उदाहरण तया पाच वामपन्थी दलों (साम्यवादी प्रजा समाजवादी, क्रान्तिकारी समाजवादी, फारवर्ड ब्लाक और मार्क्सवादी फारवर्ड ब्लाक) को मिला कर सयुक्त चुनाव समिति बनाई गयी।

तीसरा चुनाव (16 फरवरी से 25 फरवरी, 1962)—तीसरे चुनाव की अपनी अनेक विशेषतायें थी जिन्हें निम्न बिन्दुओं द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

1 यह पहला चुनाव था जिसमे सारे भारत मे एक सदस्यीय निर्वाचन क्षे (Single Member Constituency) का प्रयोग किया गया था अर्थात् एक नि क्षेत्र से एक प्रतिनिधि के निर्वाचित होने की व्यवस्था की गयी थी। पहले द म कुछ द्वि-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (Double Member Constituenc से दो प्रतिनिधि चुने जाते थे। एक अनुसूचित जाति या जन जाति सामान्य म से। परन्तु इन द्वि-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रो को 19( द्वारा समाप्त कर दिया गया था।

का सहारा लिया । इस सारे वातावरण मे चुनावो मे काग्रेस की पराजय होना कोई आश्चर्यजनक बात नही थी ।

चौथे चुनाव म मतदाताओ की सख्या बढ कर 25 करोड तक पहुँच गयी । इसमे मतदान करने वाले मतदाताओ का प्रतिशत 61 था जो अब तक के मतदान से सबसे अधिक था ।

चौथे चुनाव परिणामो की मुख्य विशेषतायें निम्न थी—

1 इसने राजनीतिक दृश्य को ही बदल दिया । भारतीय राजनीति पर काग्रेस दल का प्रभुत्व समाप्त हो गया । यद्यपि केन्द्र मे काग्रेस दल का बहुमत ही रहा परन्तु इसके सदस्यो की सख्या 361 (जो स्थान उसे 1962 के चुनाव मे प्राप्त हुए थे) से घटकर 283 रह गयी । राज्य विधान सभाओ मे इसकी पराजय अत्यधिक आश्चर्यजनक थी । उस समय के 17 राज्यो मे 8 राज्यो मे काग्रेस को बहुमत प्राप्त नही हुआ । बिहार, मद्रास, पजाब और पश्चिमी बगाल म इसकी हानिया अत्यधिक थी । केरल म लोक सभा के 19 स्थानो मे से काग्रेस को 1 स्थान प्राप्त हुआ और केरल राज्य विधान सभा के 133 स्थानो मे से काग्रेस का केवल 9 स्थान प्राप्त हुए । इस चुनाव मे प्रतिपक्ष मे सबसे अधिक लाभ स्वतन्त्र दल को हुआ जिसे लोक सभा म 44 स्थान प्राप्त हुए । जनसघ, मार्क्सवादी, डी० एम० के०, ससोपा, दलो की स्थिति म सुधार हुआ जिन्हे क्रमश 35, 25, 23 और 19 स्थान प्राप्त हुए ।

2 काग्रेस तथा प्रतिपक्ष के अनेक महारथियो को पराजय का मुह देखना पडा । काग्रेस के अध्यक्ष कामराज बगाल के अतुल्य घोष और बम्बई के एस० के० पाटिल को मुह की खानी पडी । चुनाव मे 9 केन्द्रीय मन्त्री, 4 मुख्य मन्त्री और अनेक राज्य मन्त्रिमण्डलो के मन्त्री पराजित हुए । प्रतिपक्ष के जो महारथी पराजित हुए उनमे प्रमुख थे आचार्य कृपलानी कृष्णा मेनन (जो चुनाव मे निर्दलीय प्रत्याशी के रूप म खडे हुए थे) एन० जी० रगा, आदि ।

3 चुनाव परिणामो ने काग्रेस को अवश्य झकझोर दिया, उसके स्थानो मे कमी हुई परन्तु इससे राजनीतिक स्थिति स्पष्ट सामने नही आयी । यह नही कहा जा सकता था कि काग्रेस को अस्वीकार कर निर्वाचक वर्ग ने किसको (वाम पन्थ को या दक्षिण पन्थ को) स्वीकार किया है । इसस केवल इतना स्पष्ट था कि मतदाताओ ने काग्रेस के प्रति असन्तोष को व्यक्त किया है । चुनाव परिणामो पर टिप्पणी करते हुए इण्डियन इन्सटीटयूट ऑफ पब्लिक ओपीनियन के प्रबन्धक निदेशक ई० पी० डब्लू डा० कोस्टा ने यह विचार व्यक्त किया कि ' भारतीय निर्वाचक वर्ग, जो नाटकीय पसन्द करने म अनिश्चय और अयोग्य समझा जाता है, क्रान्तिकारी परिवर्तन के चिह्न स्पष्ट कर रहा है । युवा पीढी कम शिक्षित लोग विशेषकर निरक्षर अल्पसंख्यक वर्ग और सबमे अधिक अप्रत्याशित (unpredirtable) निम्न आय समूह सबके सब अपनी मूल वफादारियो को पुन लिख रहे ह । प्रत्याशी के लिए यह सम्भवत

(Market Policy in Government), सौदेबाजी की प्रक्रिया (Process of bargaining) और अवसरवादिता (opportunism) और दल बदल (defection) की नीति को बढ़ावा दिया। इसने राजनीतिक सत्ता के केन्द्र को ही बदल दिया। सत्ता का केन्द्र नई दिल्ली से हटकर राज्यों की राजधानियों में पहुँच गया। चौथे चुनाव ने भारतीय निर्वाचक समूह की परिपक्वता का परिचय दिया और यह स्पष्ट कर दिया कि असाधारण मतदाता निरक्षर और अनभिज्ञ होते हुए भी समझदारी, बुद्धिमता और विभिन्नता (discreteness) से कार्य कर सकता है।

चौथे चुनाव की विशेषताओं का वर्णन करने से पूर्व उस राजनीतिक वातावरण का अध्ययन आवश्यक है जिसमें इसे लड़ा गया था और जिसका चौथे चुनाव परिणामों पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। तीसरे और चौथे चुनावों के बीच का काल अगणित उपद्रवों, तनावपूर्ण और असन्तुष्ट घटनाओं का काल था। इस काल में अक्टूबर–नवम्बर 1962 में चीन ने भारतीय सीमाओं पर आक्रमण किया और नेफा में भारतीय सेनाओं का पराभव (debacle) हुआ जिससे राष्ट्रीय सम्मान को धक्का लगा। दूसरे मई 1964 में प० नेहरू का देहान्त हो गया जिससे कांग्रेस को अत्यधिक हानि हुई। तीसरे राष्ट्र अभी साँस ही नहीं ले पाया था कि 'कच्छ की रन' (Rann of Kutch) में पाकिस्तान की सरगर्मी शुरू हो गयी और अभी यह शान्त ही हो पाई थी कि सितम्बर 1965 में पाकिस्तान ने घुसपैठ शुरू कर दी। यद्यपि इस युद्ध ने 1962 की हानि का कुछ पूरा किया परन्तु 1966 में ताशकन्द समझौते के बाद लाल बहादुर शास्त्री चल बसे। इससे राष्ट्र को हानि हुई परन्तु कांग्रेस में नेतृत्व की समस्या गम्भीर हो गयी। क्योंकि श्रीमती इन्दिरा गांधी को "समझौते" के रूप में स्वीकार किया गया था अतः उनकी स्थिति दृढ़ता की नहीं थी। इसी काल में अकाल पड़े वस्तुओं की कीमतें आकाश को छूने लगीं, खाद्यान्न की कमी होने लगी। बिहार और अन्य राज्यों के कुछ भागों में सूखे की स्थिति थी। यह युग जन प्रदर्शनों, बन्द घेराव आदि का युग भी था। गैर संवैधानिक (extra constitutional) साधनों का प्रयोग साधारण बात थी। नवम्बर 1966 में दिल्ली में 'गाय–वध" के विरुद्ध नागे साधुओं, ऋषि मुनियों ने विशाल प्रदर्शन किया जिसने हिंसा को जन्म दिया। इसी काल में पुरी के शंकराचार्य ने "गाय वध" समाप्त कराने के लिए आमरण अन रखा तथा सन्त फतेहसिंह ने पंजाबी सूबे की स्थापना के लिए आत्म बलि (self immolation) की धमकी दी। इन घटनाओं के अतिरिक्त चुनाव के लिए जिन प्रत्याशियों का चयन किया गया था उससे कांग्रेस के अनेक गुट असन्तुष्ट थे। इन असन्तुष्ट कांग्रेसी गुटों ने विरोधी कांग्रेसी संगठनों को जन्म दिया। इन सारी घटनाओं ने मिल कर सारे देश के वातावरण को दूषित कर दिया था जो कांग्रेस विरोधी होने के साथ साथ प्रतिपक्ष के लिए लाभकारी प्रतीत होता था। इस राजनीतिक वातावरण के साथ प्रतिपक्ष ने निर्वाचन साझेदारियों और समझौतों

का सहारा लिया । इस सारे वातावरण मे चुनावो मे काग्रेस की पराजय होना कोई आश्चयजनक बात नही थी ।

चौथे चुनाव मे मतदाताओ की सख्या बढ कर 25 करोड तक पहुँच गयी । इसमे मतदान करने वाले मतदाताओ का प्रतिशत 61 था जो अब तक के मतदान से सबसे अधिक था ।

चौथे चुनाव परिणामा की मुख्य विशेषतायें निम्न थी—

1 इसने राजनीतिक दृश्य को ही बदल दिया । भारतीय राजनीति पर काग्रेस दल का प्रभुत्व समाप्त हो गया । यद्यपि केन्द्र मे काग्रेस दल का बहुमत ही रहा परन्तु इसके सदस्या की सख्या 361 (जा स्थान उसे 1962 के चुनाव मे प्राप्त हुए थे) से घटकर 283 रह गयी । राज्य विधान सभाओ म इसकी पराजय अत्यधिक आश्चर्यजनक थी । उस समय के 17 राज्यो म 8 राज्या मे काग्रेस को बहुमत प्राप्त नही हुआ । बिहार, मद्रास, पजाब और पश्चिमी बगाल मे इसकी हानिया अत्यधिक थी । केरल मे लोक सभा के 19 स्थाना म से काग्रेस को 1 स्थान प्राप्त हुआ और केरल राज्य विधान सभा के 133 स्थानो म से काग्रेस को केवल 9 स्थान प्राप्त हुए । इस चुनाव म प्रतिपक्ष मे सबसे अधिक लाभ स्वत त्र दल को हुआ जिसे लोक सभा मे 44 स्थान प्राप्त हुए । जनसघ, माक्सवादी, डी० एम० के०, ससोपा, दलो की स्थिति म सुधार हुआ जिन्हे क्रमश 35, 25, 23, और 19 स्थान प्राप्त हुए ।

2 काग्रेस तथा प्रतिपक्ष के अनेक महारथियो का पराजय का मुह देखना पडा । काग्रेस के अध्यक्ष कामराज, बगाल के अतुल्य घोष और बम्बई के एस० के० पाटिल को मुह की खानी पडी । चुनाव म 9 केन्द्रीय मन्त्री, 4 मुख्य मन्त्री और अनेक राज्य मन्त्रिमण्डलो के मन्त्री पराजित हुए । प्रतिपक्ष के जो महारथी पराजित हुए उनमे प्रमुख थे आचार्य कृपलानी कृष्णा मेनन (जो चुनाव म निर्दलीय प्रत्याशी के रूप मे खडे हुए थे) एन० जी० रगा, आदि ।

3 चुनाव परिणामा ने काग्रेस को अवश्य झकझोर दिया, उसके स्थाना म कमी हुई परन्तु इससे राजनीतिक स्थिति स्पष्ट सामने नही आयी । यह नही कहा जा सकता था कि काग्रेस को अस्वीकार कर निर्वाचक वग ने किसी (वाम पक्ष को या दक्षिण पन्थ को) स्वीकार किया है । इससे केवल इतना स्पष्ट था कि मतदाताओ न काग्रेस के प्रति असन्तोष को व्यक्त किया है । चुनाव परिणामा पर टिप्पणी करते हुए इण्डियन इन्सटीटयूट आफ पब्लिक ओपीनियन के प्रबन्धक निदेशक ई० पा० डब्लू ड० कोस्टा ने यह विचार व्यक्त किया कि "भारतीय निर्वाचक वग, जो नाटकीय पसन्द करने मे अक्रिय और अयोग्य समझा जाता है, क्रान्तिकारी परिवर्तन के चिह्न स्पष्ट कर रहा है । युवा पीढी कम शिक्षित लोग विशेषकर निरक्षर अल्पसख्यक वग और सबसे अधिक अप्रत्याशित (unpredirtable) निम्न आय समूह सभी सब अपनी मूल वफादारियो को पुन लिख रहे है । प्रत्याशी के लिए यह सम्भवत

की इच्छा पर निभर करता है परन्तु चौथे चुनाव परिणामो ने सिद्ध कर दिया कि केद्र और राज्यो के राजनीतिक स्वरूप मे भिन्नता आन पर उनके सम्बन्धा म तनाव की स्थिति पदा हो सकती है और भारत का सघीय स्वरूप सघीय आधार पर पनप सकता है। राज्यपालो की नियुक्ति और राज्यो के लिये अधिक स्वायत्तता के प्रश्न सक्रिय बन गये।

पाचवा चुनाव (माच 1971)—भारतीय चुनावो के इतिहास मे यह पहला अवसर था जब लोक सभा को समय से पूव भग करा कर (लोक सभा को 27 दिसम्बर 1970 का भग कर दिया गया था) माच 1971 म लोक सभा के लिय मध्यावधि चुनाव कराये गये। ये मध्यावधि चुनाव अकारण ही नही कराये गये थे। इनके पीछे कुछ मूल प्रवत्तिया काय कर रही थी। प्रथम तो इन्दिरा गाधी नई काग्रेस की शक्ति को लोक सभा मे सुदृढ करना चाहती थी। सन् 1969 के काग्रेस विभाजन के बाद श्रीमती इन्दिरा गाधी की सरकार अल्पमत की सरकार थी। यद्यपि वह डी एम के, साम्यवादियो और अन्य छोट दलो के समथन से शासन का काय चला रही थी परन्तु उसके लिय सुदृढ समाजवादी नीतियो को अपनाना कठिन महसूस हो रहा था क्योकि उनके लिय लोक सभा मे ठोस बहुमत की कमी थी। दूसरे राजाओ के प्रिवी पस तथा उनके विशेषाधिकारो से सम्बन्धित कानून जब राज्य सभा म बहुमत की कमी के कारण पास न हो सका तो अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सरकार ने अध्यादेश जारी किया परन्तु इसे न्यायालय ने असवैधानिक घोषित कर दिया। इसी प्रकार 14 बको के राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित अध्यादेश को भी न्यायालय ने अवैध घोषित कर दिया। न्यायालय के ये दोनो निणय सरकार की प्रगतिशील नीतियो म बाधा थ। अत श्रीमती इन्दिरा गाधी लोगो का समथन प्राप्त कर अपनी समाजवादी, प्रगतिशील नीतियो को कार्यान्वित करना चाहती थी। तीसरे, श्रीमती इन्दिरा गाधी विरोधी दलो से आरम्भन (initiative) को छीन लेना चाहती थी अर्थात् वह प्रतिपक्ष को इतना समय नही देना चाहती थी कि वह अपने आपको सुदृढ रूप से सगठित कर सक। सगठन काग्रेस द्वारा जो अन्य विरोधी दलो के साथ गठबन्धन की बात चल रही थी श्रीमती गाधी उसे हतोत्साहित करना चाहती थी। चौथे सत्तारुढ काग्रेस को यह महसूस होने लगा था कि आर्थिक कठिनाइयो के बावजूद भी जनता उसके साथ थी क्योकि राज्यो मे विधान सभाओ के लिये जो चुनाव हुए थे तथा उप चुनावो के जो परिणाम निकले थे, उनमे सत्तारुढ काग्रेस के प्रति जनता ने असन्तोष व्यक्त नही किया था। अत इन सब कारणो से श्रीमती इन्दिरा गाधी ने अपनी सरकार को चुनाव के दाव पर लगा दिया और प्रचन्ड विजय पाई।

सन् 1971 के मध्यावधि चुनाव परिणामो ने न केवल राजनीतिक भविष्य वाणिया करने वाले विशेषज्ञो को झकझोर दिया बल्कि सारे देश के राजनीतिक वातावरण को पुन बदल दिया। सत्तारुढ काग्रेस चुनाव म केवल ि

4 भारतीय मतदाता स्वय राजनीतिक अस्थिरता से तग आ चुके थे और उन्हे सयुक्त सरकारो के कटु अनुभव अभी भूले नही थे। अत व केन्द्र म सुदृढ, सशक्त, और स्थिर सरकार की स्थापना चाहते थे। इसलिये निर्वाचक वग ने श्रीमती गाधी का साथ दिया।

जून 1975 का गुजरात चुनाव भारतीय चुनावो के इतिहास मे जून 1975 का गुजरात चुनाव अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। इस चुनाव की पहली विशेषता यह है कि यह मोरारजी देसाई के मरण व्रत का फल था और दूसरा यह कि जनता मोर्चे की सरकारो और विरोधी दलो के अस्तित्व का प्रश्न इसम निहित था। दोनो ही पक्षो मे भारतीय जनता ने अपनी जागरुकता और समझदारी का प्रमाण दिया। प्रथम तो मोरारजी देसाई चुनावो को जून म कराने म (जबकि काग्रेस इन्ही का सितम्बर म चुनाव करान की इच्छुक थी) सफल हुए। दूसरे चुनाव परिणामो ने स्पष्ट कर दिया कि गुजरात की जनता काग्रेस नेतृत्व और उसकी नीतियो से असन्तुष्ट है। तीसरे गुजरात चुनावो ने श्रीमती इन्दिरा गाधी की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा को काफी बडा आघात पहुँचाया। उन्होने इस चुनाव मे 11 दिन म 116 सभाओ को सम्बोधित किया और हर प्रकार से गुजराती मतदाताओ को अपन पक्ष म करने का प्रयास किया। श्रीमती गाधी ने श्रीकृष्ण और रणछोडराय के मन्दिरो की यात्रा की, राज्य कर्मचारियो को अन्तरिम सहायता दी गयी, अभावग्रस्त क्षेत्रो मे राहत कार्यों के लिये 15 करोड रुपये का लघुकालिक ऋण दिया गया, गेहूँ के भाव मे भी पाच रुपये क्विटल की कमी कर दी गयी,[1] आदि।

गुजरात चुनाव परिणामो ने काग्रेस को भग भग कर दिया। राज्य विधान सभा के 182 स्थानों मे से (चुनाव केवल 181 स्थानो के लिये लडे गये विराम ग्राम निर्वाचन मे जनता फ्रट म प्रत्याशी की मृत्यु होन से वहा चुनाव नही हुए) उसे केवल 75 स्थान प्राप्त हुए। सन् 1972 के चुनावो म काग्रेस का 168 स्थानो मे 140 स्थान प्राप्त हुए थे। यद्यपि जनता मोर्चे को बहुमत प्राप्त नही हुआ परन्तु फिर भी उसे सबसे अधिक स्थान प्राप्त हुए और उसने निर्दलीय और किमलोप के समर्थन से सरकार का निर्माण किया। जनता मोर्चे मे शामिल दलो का जो स्थान प्राप्त हुए थे वे इस प्रकार है–सगठन काग्रेस 56 (पहले उसे 16 स्थान प्राप्त थे), जनसघ 18 (पहले उसे 3 स्थान प्राप्त थे) भारतीय क्रान्ति दल 2, समाजवादी दल 2, एन० एल० पी० 1 और जनता मोर्चे द्वारा समर्थित निर्दलीय सदस्य 7[2] गुजरात चुनावो की विशेषता यह थी कि वाम पन्थी और साम्प्रदायिक दलो को एक भी स्थान नही मिला।

---

1 विस्तृत विवरण के लिये देखिये दिनमान 8 जून 1975, पृ० 19-20 और 22 जून 1975, पृ० 21 22

2 Figures Quoted are from Competition Master July, 1975, p 741

सदस्य थे प्रो० ये० डी दसाई, वी० एम० तारकुंडे, एम० आर० मसानी, पी० जी० मावनकर, ए० जी० नूरानी और ई० पी० डब्लू डिकास्टा (संयोजक)। समिति ने सात महीने तक निर्वाचन प्रणाली तथा मतदान सम्बन्धी सुधारों के सम्बन्ध में विचार किया। समिति के समक्ष सत्तारूढ़ कांग्रेस और प्रमुख के पक्ष को प्रस्तुत करने के लिये कोई प्रतिनिधि प्रस्तुत नहीं हुआ। समिति के समक्ष भाकपा, माकपा जनसंघ आदि अन्य दलों के प्रतिनिधि प्रस्तुत हुए। दलों के स्मृति पत्रों के अतिरिक्त समिति ने 112 व्यक्तियों के लिखित विचारों तथा 18 प्रमुख नेताओं तथा चिंतकों[1] की मौखिक गवाहियों पर विचार किया। समिति ने अपनी रिपोर्ट मार्च 1975 में प्रकाशित की। मुख्य समस्यायें और उन पर दिये गये सुझाव[2] प्रधानतः निम्न थे—

**1 निर्वाचन आयोग की स्वतन्त्रता एवं निष्पक्षता**—निर्वाचन में निर्वाचन आयोग की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता एक महत्त्वपूर्ण तत्व होता है। समिति का कहना था कि चुनाव आयुक्त के चयन का आधार ऐसा नहीं रहा जिससे जनमत के सभी वर्ग उनकी निष्पक्षता पर भरोसा रख सकें। समिति का कहना था कि इस पद पर अवकाश प्राप्त सरकारी अधिकारियों की नियुक्ति से यह धारणा बलवती हुई है कि इस तरह से लाभान्वित अधिकारी अपने पद के लिये सरकार के प्रति कृतज्ञ रहता। इससे चुनाव आयोग की प्रतिष्ठा गिरने का अनुमान हो सकता है।

समिति ने सुझाव दिया कि चुनाव आयोग का गठन इस प्रकार हो कि इसकी निष्ठा और न्यायप्रियता असंदिग्ध रहे अर्थात् चुनाव आयोग के सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति एक ऐसी समिति की सिफारिश से करे जिसमें प्रधान मन्त्री, विपक्ष के नेता या संसद में विपक्ष द्वारा मनोनीत कोई सदस्य और मुख्य न्यायाधीश हो।' क्योंकि चुनाव आयोग का स्वरूप लोक सेवा आयोग की भांति है अतः यह सुझाव दिया गया कि एक सदस्यीय चुनाव आयोग की जगह तीन सदस्यीय चुनाव आयोग की व्यवस्था की जाय। आयोग की सदस्यता का अधिकार अवकाश प्राप्त सरकारी कर्मचारी को नहीं मिलना चाहिये। संविधान की धारा 324 में जो अन्य चुनाव आयुक्तों की व्यवस्था है उसे लागू किया जाय (अभी तक किसी चुनाव में चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति नहीं की गयी) तथा राज्यों में भी चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति सम्बन्धी संवैधानिक प्रावधान को लागू किया जाय।

---

1 समिति के समक्ष जो प्रमुख नेता व चिंतक प्रस्तुत हुए वे थे भाकपा नेता इ० एम० एस० नम्बूदरीपाद, और पी० राममूर्ती, संगठन कांग्रेस के सुचेता कृपलानी तथा सिकन्दर बख्त, जनसंघ अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी, लोक दल के पीलू मोदी, बलराज मधोक, इण्डियन एक्सप्रेस के एस० मुलगावकर और हिन्दुस्तान टाइम्स के बी० जी० वर्गीज, आदि।

2 देखिये दिनमान दि० 8 दिसम्बर 1974, पृ० 9 और 16 मार्च, 1975, पृ० 7 9

भारतीय साम्यवादी दल, मार्क्सवादी दल और मुस्लिम लीग का एक भी चुना नही गया। चुनाव मे अनेक महारथियो का मान मदन हुआ जसे फतेहसिह राव गायकवाड प्रदेश काग्रेस के मन्त्री प्रबोध रावल, डा० ठ पटेल और किसान मजदूर लोक पक्ष (किमलोप) के अध्यक्ष चिमन भाई पराजय का मु ह देखना पडा।

गुजरात चुनाव परिणाम से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जि बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

(i) गुजरात के निर्वाचक वर्ग ने वाम पन्थ को अस्वीकार कर दिय काग्रेस का साम्यवादी दल से उसका गठबन्धन स्वीकार नही किया।

(ii) निर्वाचक वर्ग खोखले नारो और आश्वासनो से सन्तुष्ट नही। म काग्रेस को अस्वीकार कर गुजरात की जनता ने स्पष्ट कर दिया है काग्रेस अपने वायदो को पूरा नही करती और जनता की समस्याओ का समाधान नही करती तो आने वाले लोक सभा के चुनावो मे उसके स्था खतरा हो सकता है।

(iii) गुजरात के चुनावो ने यह स्पष्ट कर दिया है कि गर काग्रेस विभाजित होने से बचाया जा सकता है, विभिन्न विचारधाराओ और परम राजनैतिक दलो को एक मच पर खडा करके आपसी सहयोग के आधार पर किया जा सकता है और यदि जनता मोर्चे की सरकार स्थिर रहती है रचनात्मक काय करने म सफल रहती है तो वह राष्ट्रीय स्तर पर काग्रेस के को प्रस्तुत करन म सफल हो सकता है। अर्थात् प्रतिपक्ष के गैर साम्यवादी मिलाकर काग्रेस का विकल्प तयार किया जा सकता है जो भारतीय लो लिय चिरकाल तक रहने वाला लाभ होगा।

(iv) सन् 1975 म कई दलो की मिली जुली सरकार के प्रति आम मे उतना अविश्वास और सन्देह नही जितना कि 4 वर्ष पूर्व 1971 म था हवा" का जादू फीका पडता नजर आता है।

## भारतीय निर्वाचन प्रणाली–समस्यायें तथा सुधार या भारतीय प्रणाली में सुधारो पर जन समिति के सुझाव

**(Indian Flectoral System–Problems and Reforms) Or Prop Jana Samati on the Reforms of Indian Electoral System)**

भारतीय निर्वाचन प्रणाली को अधिक से अधिक जन प्रतिनि प्रणाली बनाने, उसम भारतीय जनता की सहभागिता (participation और निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र निर्वाचनो की व्यवस्था करने के लिय समय-स समय प्रकार के सुझाव प्रस्तुत किय गये हैं। इस सम्बन्ध मे सन् 1974 समाज (लोकतन्त्र के लिय नागरिक) (Citizen for Democracy) की श्रीजय प्रकाश नारायण ने एक सदस्यीय समिति का गठन किया। इस स

सदस्य थे प्रो० के० डी देसाई, वी० एम० तारकुंडे, एम० आर० मसानी, पी० जी० मावलंकर, ए० जी० नूरानी और ई० पी० डब्ल्यू डिकोस्टा (संयोजक)। समिति ने सात महीने तक निर्वाचन प्रणाली तथा मतदान सम्बन्धी सुधारों के सम्बन्ध में विचार किया। समिति के समक्ष सत्तारूढ कांग्रेस और द्रमुक के पक्ष को प्रस्तुत करने के लिये कोई प्रतिनिधि प्रस्तुत नहीं हुआ। समिति के समक्ष भाकपा, माकपा, जनसंघ आदि अन्य दलों के प्रतिनिधि प्रस्तुत हुए। दलों के स्मृति पत्रों के अतिरिक्त समिति ने 112 व्यक्तियों के लिखित विचारों तथा 18 प्रमुख नेताओं तथा चिंतकों[1] की मौखिक गवाहियों पर विचार किया। समिति ने अपनी रिपोर्ट मार्च 1975 में प्रकाशित की। मुख्य समस्यायें और उन पर दिये गये सुझाव[2] प्रधानतः निम्न थे—

1 **निर्वाचन आयोग की स्वतन्त्रता एवं निष्पक्षता**—निर्वाचन में निर्वाचन आयोग की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता एक महत्त्वपूर्ण तत्व होता है। समिति का कहना था कि चुनाव आयुक्त के चयन का आधार ऐसा नहीं रहा जिससे जनमत के सभी वर्ग उनकी निष्पक्षता पर भरोसा रख सकें। समिति का कहना था कि इस पद पर अवकाश प्राप्त सरकारी अधिकारियों की नियुक्ति से यह धारणा बलवती हुई है कि इस तरह से लाभान्वित अधिकारी अपने पद के लिये सरकार के प्रति कृतज्ञ रहेगा। इससे चुनाव आयोग की प्रतिष्ठा गिरने का अनुमान हो सकता है।

समिति ने सुझाव दिया कि चुनाव आयोग का गठन इस प्रकार हो कि इसकी निष्ठा और न्यायप्रियता असंदिग्ध रहे अर्थात् चुनाव आयोग के सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति एक ऐसी समिति की सिफारिश से करे जिसमें प्रधान मन्त्री, विपक्ष के नेता या संसद के विपक्ष द्वारा मनोनीत कोई सदस्य और मुख्य न्यायाधीश हों। क्योंकि चुनाव आयोग का स्वरूप लोक सेवा आयोग की भांति है अतः यह सुझाव दिया गया कि एक सदस्यीय चुनाव आयोग की जगह तीन सदस्यीय चुनाव आयोग की व्यवस्था की जाय। आयोग की सदस्यता का अधिकार अवकाश प्राप्त सरकारी कर्मचारी को नहीं मिलना चाहिये। संविधान की धारा 324 में जो अन्य चुनाव आयुक्तों की व्यवस्था है उसे लागू किया जाय (अभी तक किसी चुनाव में चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति नहीं की गयी) तथा राज्यों में भी चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति सम्बन्धी संवैधानिक प्रावधान को लागू किया जाय।

---

1 समिति के समक्ष जो प्रमुख नेता व चिंतक प्रस्तुत हुए वे थे भाकपा नेता ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद, और पी०। राममूर्ती, संगठन कांग्रेस के सुचेता कृपलानी तथा मिनदर वरत, जनसंघ अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी, लोक दल के पीलू मोदी, बलराज मधोक, इण्डियन एक्सप्रेस के एम० मुलगावकर और हिन्दुस्तान टाइम्स के बी० जी० वर्गीज, आदि।

2 देखिये दिनमान दि० 8 दिसम्बर 1974, पृ० 9 और 16 मार्च, 1975 पृ० 7 9

समिति ने यह भी सुझाव दिया कि केन्द्रीय सरकार द्वारा मतदान के लिये बनाये जाने वाले नियम तभी लागू हों जबकि संसद उनका अनुमोदन कर दे। यह भी कहा गया कि संसद या विधायिकाओं में कोई भी स्थान रिक्त होने पर अधिक से अधिक छह माह के भीतर उपचुनाव अवश्य कराये जायें।

2 धन की शक्ति—भारतीय निर्वाचनों में सबसे गम्भीर समस्या "धन की शक्ति है"। अर्थात निर्वाचनों में प्रत्याशियों या उनके समर्थकों, मित्रों और राजनीतिक दलों द्वारा बेतहाशा धन व्यय किया जाता है। इससे निर्वाचन प्रणाली का न केवल नैतिक पतन होता है बल्कि कानून द्वारा निर्वाचन व्यय के लिये निर्धारित की गयी सीमा महत्त्वहीन हो जाती है। जहां कानून संसद के निर्वाचन क्षेत्र के लिये केवल 35,000 रु० और विधान सभा के निर्वाचन क्षेत्र के लिये 9000 रु० से 13500 रु० की धन राशि निश्चित करता है वहां वास्तविकता यह है कि निर्वाचनों में लाखों रुपया खर्च किया जाता है। संसद सदस्य कृष्णकान्त का विश्वास है कि पूरी लोक सभा के चुनाव पर 70–80 करोड़ रुपये का व्यय आता है।[1] यद्यपि कानून प्रत्येक प्रत्याशी से निर्वाचन के व्यय का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने की मांग करता है परन्तु निर्वाचनों में किये गये खर्चों से स्पष्ट है कि वह लेखा जोखा मिथ्या और गलत होता है। जैसाकि निर्वाचन आयोग ने तीसरे चुनावों पर अपने प्रतिवेदन में कहा था कि "जहां चुनावों में कड़ा मुकाबला है वहां यथार्थ में गम्भीर प्रत्याशियों को चुनाव व्यय की निर्धारित अधिकतम सीमा से अधिक खर्च करना पड़ता है और वे वस्तुतः खर्च करते भी हैं।"[2]

एक दृष्टि से देखा जाय तो चुनाव व्यय के लिये निर्धारित की गयी अधिकतम सीमा वास्तविकताओं से बेखबर है। उदाहरणतया लोक सभा के एक निर्वाचन क्षेत्र के लिये चुनाव व्यय की अधिकतम सीमा 35,000 रु० है जबकि यदि निर्वाचन क्षेत्र के प्रत्येक मतदाता को एक पोस्ट कार्ड भी भेजा जाये तो उसके लिये कम से कम 75 हजार रुपये की आवश्यकता है, यदि यह मान लिया जाये कि उस निर्वाचन क्षेत्र में 7½ लाख मतदाता ही हैं और चुनाव जीतने के लिये केवल पोस्ट कार्ड भेजने की ही आवश्यकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त अनेक जीपों, साइकलों, इश्तहारों, पर्चों, जन प्रदर्शनों, सार्वजनिक सभाओं आदि की भी आवश्यकता होती है और इन सबके लिये धन की आवश्यकता होती है।

---

1 देखिये दिनमान दि० 15 दिसम्बर, 1974, पृ० 13

2 'Where elections are hotly contested the really serious candidates have to and do in fact, spend much more than the prescribed maximum limit Report on the Third General Elections Also see Competition Master January, 1975, p 365

निर्वाचन व्यय से सम्बंधित दो अन्य प्रमुख समस्यायें है प्रथम तो यह कि कानून प्रत्याशी पर चुनाव खर्च की सीमा निर्धारित करता है और उसे चुनाव व्यय के लेखे जोखे को प्रस्तुत करने के लिये भी कहता है परंतु वर्तमान कानून मे सबसे बडी त्रुटि यह है कि वह दलो, मित्रो और समर्थको द्वारा प्रत्याशियो पर किये जाने वाले खर्चो की न तो सीमा बाधता है और न ही दलो से चुनाव खर्च का लेखा जोखा ही मागता है। दूसरे शब्दो मे, चुनाव व्यय से सम्बंधित वर्तमान कानून एक हाथ से जो निर्धारित करता है दूसरे हाथ से उसे समाप्त कर देता है। सर्वोच्च न्यायालय ने अमरनाथ चावला बनाम कवरलाल गुप्त के मुकदमे[1] मे 4 अक्टूबर 1974 को निर्णय देते हुए अवलोकित किया था कि 'यदि एक उम्मीदवार के चुनाव व्यय की सीमा निर्धारित हो लेकिन उसके मित्रो, समर्थको तथा राजनैतिक पार्टी को यह स्वतन्त्रता हो कि उस उम्मीदवार के समर्थन मे जितना चाहे धन खर्च कर सकते हैं तो चुनाव पर होने वाले खर्च की सीमा निर्धारित करने का मकसद ही विफल हो जायेगा, इससे लोकतान्त्रिक प्रक्रिया की शुद्धता के हित मे यह जो व्यवस्था है वह अर्थहीन हो जायेगी, ऐसी स्थिति मे धन के महत्त्व से उत्पन्न होने वाली जिस बुराई को समाप्त करने की मंशा है, वही बढ जायेगी तथा देश का सामान्य वातावरण दूषित हो जायेगा, विधायिका की यह नियत कभी भी नही रही होगी कि जो काम एक उम्मीदवार न कर सके, वही काम उसके समर्थको, मित्रो या राजनतिक पार्टी को करने दिया जाये।"[2] इस सन्दर्भ मे सर्वोच्च न्यायालय ने चुनाव व्यय पर सीमा लगाने के उद्देश्यो की विवेचना करते हुए कहा था "किसी भी छोटे से छोटे व्यक्ति या दल के लिए यह सुविधा होनी चाहिए कि वह बडे से बडे धनी व्यक्ति या पार्टी के विरुद्ध समानता के आधार पर चुनाव लड सके और विशाल वित्तीय साधनो के कारण किसी भी व्यक्ति या पार्टी को लाभ नही मिलना चाहिये।'[3]

दुर्भाग्य की बात यह है कि सर्वोच्च न्यायालय के उपयुक्त निर्णय को प्रभावहीन बनाने के लिये पहले 19 अक्टूबर 1974 को एक अध्यादेश जारी किया गया और बाद मे जन प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम द्वारा मूल अधिनियम की चुनाव खर्च सम्बन्धी धारा 77(1) मे संशोधन कर यह व्यवस्था कर दी गयी कि किसी भी उम्मीदवार के निर्वाचन के सम्बंध मे एक राजनतिक पार्टी या अन्य

---

1 इस मुकदमे म सर्वोच्च न्यायालय ने दिल्ली सदर से कांग्रेस टिकट पर निर्वाचित श्री अमरनाथ चावला का निर्वाचन इस कारण रद्द किया था कि उसके चुनाव पर उसके दल, मित्रो और समर्थको ने निर्धारित सीमा से अधिक धन खर्च किया था।

2 देखिये दिनमान दि० 8 दिसम्बर 1974, पृ० 9

3 वही

समिति ने यह भी सुझाव दिया कि केन्द्रीय सरकार द्वारा मतदान के लिये बनाये जाने वाले नियम तभी लागू हो जबकि ससद उनका अनुमोदन कर दे। यह भी कहा गया कि ससद या विधायिकाओ मे कोई भी स्थान रिक्त होने पर अधिक से अधिक छह माह के भीतर उपचुनाव अवश्य कराये जायें।

2 **धन की शक्ति**—भारतीय निर्वाचना मे सबसे गम्भीर समस्या "धन की शक्ति है"। अर्थात निर्वाचनो मे प्रत्याशियो या उनके समथको, मित्रो और राजनीतिक दलो द्वारा बेतहाशा धन व्यय किया जाता है। इससे निर्वाचन प्रणाली का न केवल नतिक पतन होता है बल्कि कानून द्वारा निर्वाचन व्यय के लिये निर्धारित की गयी सीमा महत्त्वहीन हो जाती है। जहा कानून ससद के निर्वाचन क्षेत्र के लिये केवल 35,000 रु० और विधान सभा के निर्वाचन क्षेत्र के लिये 9000 रु० से 13500 रु० की धन राशि निश्चित करता है वहा वास्तविकता यह है कि निर्वाचनो मे लाखो रुपया खच किया जाता है। ससद सदस्य कृष्णकान्त का विश्वास है कि पूरी लोक सभा के चुनाव पर 70–80 करोड रुपये का व्यय आता है।[1] यद्यपि कानून प्रत्येक प्रत्याशी से निर्वाचन के व्यय का लेखा जोखा प्रस्तुत करने की माग करता है परन्तु निवाचनो मे किये गये खर्चो से स्पष्ट है कि वह लेखा जोखा मिथ्या और गलत होता है। जैसाकि निर्वाचन आयोग ने तीसरे चुनावो पर अपने प्रतिवेदन म कहा था कि "जहा चुनावो मे कडा मुकाबला है वहा यथाथ मे गम्भीर प्रत्याशियो को चुनाव व्यय की निर्धारित अधिकतम सीमा से अधिक खच करना पडता है और वे वस्तुत खच करते भी हैं।"[2]

एक दृष्टि से देखा जाय तो चुनाव व्यय के लिये निधारित की गयी अधिकतम सीमा वास्तविकताओ से बेखबर है। उदाहरणतया लोक सभा के एक निर्वाचन क्षेत्र के लिये चुनाव व्यय की अधिकतम सीमा 35,000 रु० है जबकि यदि निर्वाचन क्षेत्र के प्रत्येक मतदाता को एक पोस्ट काड भी भेजा जाये तो उसके लिये कम से कम 75 हजार रुपये की आवश्यकता है, यदि यह मान लिया जाये कि उस निर्वाचन क्षेत्र मे $7\frac{1}{2}$ लाख मतदाता ही हैं और चुनाव जीतने के लिये केवल पोस्ट काड भेजने की ही आवश्यकता नही होती। इसके अतिरिक्त अनेक जीपो, साइकलो, इश्तहारो, पर्चों, जन प्रदशनो, सावजनिक सभाओ आदि की भी आवश्यकता होती है और इन सबके लिये धन की आवश्यकता होती है।

---

1 देखिये दिनमान दि० 15 दिसम्बर, 1974, पृ० 13

2 'Where elections are hotly contested, the really serious candidates have to and do in fact, spend much more than the prescribed maximum limit Report on the Third General Elections Also see Competition Master January, 1975, p 365

निर्वाचन व्यय से सम्बंधित दो मुख्य प्रमुख समस्यायें है प्रथम तो यह कि कानून प्रत्याशी पर चुनाव खर्च की सीमा निर्धारित करता है और उसे चुनाव व्यय के लेखे जोखे को प्रस्तुत करने के लिय भी कहता है परन्तु वतमान कानून मे सबसे बडी त्रुटि यह है कि वह दलो, मित्रो और समथको द्वारा प्रत्याशियो पर किये जाने वाले खर्चो की न तो सीमा बाधता है और न ही दलो से चुनाव खर्च का लेखा जोखा ही मागता है। दूसरे शब्दो मे, चुनाव व्यय से सम्बन्धित वतमान कानून एक हाथ से जो निर्धारित करता है दूसरे हाथ से उसे समाप्त कर देता है। सर्वोच्च न्यायालय ने अमरनाथ चावला बनाम कवरलाल गुप्त के मुकदमे[1] मे 4 अक्टूबर 1974 को निर्णय देते हुए अवलोकित किया था कि 'यदि एक उम्मीदवार के चुनाव व्यय की सीमा निर्धारित हो लेकिन उसके मित्रो, समथको तथा राजनैतिक पार्टी को यह स्वतन्त्रता हो कि उस उम्मीदवार के समथन मे जितना चाहे धन खच कर सकते हैं तो चुनाव पर होने वाले खच की सीमा निर्धारित करने का मकसद ही विफल हो जायेगा, इससे लोकतान्त्रिक प्रक्रिया की शुद्धता के हित म यह जो व्यवस्था है वह अथहीन हो जायेगी, ऐसी स्थिति मे धन के महत्त्व से उत्पन्न होने वाली जिस बुराई को समाप्त करने की मशा है, वही बढ जायगी तथा देश का सामान्य वातावरण दूषित हो जायेगा, विधायिका की यह नियत कभी भी नही रही होगी कि जो काम एक उम्मीदवार न कर सके वही काम उसके समथकों, मित्रो या राजनैतिक पार्टी को करने दिया जाये।"[2] इस सन्दभ मे सर्वोच्च न्यायालय ने चुनाव व्यय पर सीमा लगाने के उद्देश्यो की विवेचना करते हुए कहा था "किसी भी छोटे से छोटे व्यक्ति या दल के लिए यह सुविधा होनी चाहिए कि वह बडे से बडे धनी व्यक्ति या पार्टी के विरुद्ध समानता के आधार पर चुनाव लड सके और विशाल वित्तीय साधनो के कारण किसी भी व्यक्ति या पार्टी को लाभ नही मिलना चाहिये।"[3]

दुर्भाग्य की बात यह है कि सर्वोच्च न्यायालय के उपयुक्त निर्णय को प्रभावहीन बनाने के लिये पहले 19 अक्टूबर 1974 को एक अध्यादेश जारी किया गया और बाद मे जन प्रतिनिधित्व (सशोधन) अधिनियम द्वारा मूल अधिनियम की चुनाव खच सम्बन्धी धारा 77(1) मे सशोधन कर यह व्यवस्था कर दी गयी कि किसी भी उम्मीदवार के निर्वाचन के सम्बन्ध म एक राजनैतिक पार्टी या अन्य

---

1 इस मुकदमे म सर्वोच्च न्यायालय ने दिल्ली सदर से काग्रेस टिकट पर निर्वाचित श्री अमरनाथ चावला का निर्वाचन इस कारण रद्द किया था कि उसके चुनाव पर उसके दल, मित्रो और समथको ने निर्धारित सीमा से अधिक धन खर्च किया था।

2 देखिये दिनमान दि० 8 दिसम्बर 1974, पृ० 9

3 वही

समिति ने यह भी सुझाव दिया कि केन्द्रीय सरकार द्वारा मतदान के लिये बनाये जाने वाले नियम तभी लागू हो जबकि संसद उनका अनुमोदन कर दे। यह भी कहा गया कि संसद या विधायिकाओं में कोई भी स्थान रिक्त होने पर अधिक से अधिक छह माह के भीतर उपचुनाव अवश्य कराये जायें।

**2 धन की शक्ति**—भारतीय निर्वाचनों में सबसे गम्भीर समस्या "धन की शक्ति है"। अर्थात निर्वाचनों में प्रत्याशियों या उनके समर्थकों, मित्रों और राजनीतिक दलों द्वारा बेतहाशा धन व्यय किया जाता है। इससे निर्वाचन प्रणाली का न केवल नैतिक पतन होता है बल्कि कानून द्वारा निर्वाचन व्यय के लिये निर्धारित की गयी सीमा महत्त्वहीन हो जाती है। जहां कानून संसद के निर्वाचन क्षेत्र के लिये केवल 35,000 रु० और विधान सभा के निर्वाचन क्षेत्र के लिये 9000 रु० से 13500 रु० की धन राशि निश्चित करता है वहां वास्तविकता यह है कि निर्वाचनों में लाखों रुपया खर्च किया जाता है। संसद सदस्य कृष्णकान्त का विश्वास है कि पूरी लोक सभा के चुनाव पर 70–80 करोड़ रुपये का व्यय आता है।[1] यद्यपि कानून प्रत्येक प्रत्याशी से निर्वाचन के व्यय का लेखा जोखा प्रस्तुत करने की मांग करता है परन्तु निर्वाचनों में किये गये खर्चों से स्पष्ट है कि वह लेखा जोखा मिथ्या और गलत होता है। जैसाकि निर्वाचन आयोग ने तीसरे चुनावों पर अपने प्रतिवेदन में कहा था कि "जहां चुनावों में कड़ा मुकाबला है वहां यथार्थ में गम्भीर प्रत्याशियों को चुनाव व्यय की निर्धारित अधिकतम सीमा से अधिक खर्च करना पड़ता है और वे वस्तुतः खर्च करते भी हैं।"[2]

एक दृष्टि से देखा जाय तो चुनाव व्यय के लिये निर्धारित की गयी अधिकतम सीमा वास्तविकताओं से बेखबर है। उदाहरणतया लोक सभा के एक निर्वाचन क्षेत्र के लिये चुनाव व्यय की अधिकतम सीमा 35,000 रु० है जबकि यदि निर्वाचन क्षेत्र के प्रत्येक मतदाता को एक पोस्ट कार्ड भी भेजा जाये तो उसके लिये कम से कम 75 हजार रुपये की आवश्यकता है, यदि यह मान लिया जाये कि उस निर्वाचन क्षेत्र में 7½ लाख मतदाता ही हैं और चुनाव जीतने के लिये केवल पोस्ट कार्ड भेजने की ही आवश्यकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त अनेक जीपों, साइकलों, इश्तहारों, पर्चों, जन प्रदर्शनों, सार्वजनिक सभाओं आदि की भी आवश्यकता होती है और इन सबके लिये धन की आवश्यकता होती है।

---

1 देखिये दिनमान दि० 15 दिसम्बर 1974, पृ० 13

2 'Where elections are hotly contested, the really serious candidates have to, and do in fact, spend much more than the prescribed maximum limit Report on the Third General Elections Also see *Competition Master* January, 1975, p 365

निर्वाचन व्यय से सम्बंधित दो अन्य प्रमुख समस्यायें है प्रथम तो यह कि कानून प्रत्याशी पर चुनाव खर्च की सीमा निर्धारित करता है और उसे चुनाव व्यय के लेखे जोखे को प्रस्तुत करने के लिये भी कहता है परन्तु वतमान कानून मे सबसे बडी त्रुटि यह है कि वह दलो, मित्रो और समथको द्वारा प्रत्याशियो पर किये जाने वाले खर्चो की न तो सीमा बान्धता है और न ही दलो से चुनाव खर्च का लेखा जोखा ही मागता है। दूसरे शब्दो मे, चुनाव व्यय से सम्बन्धित वतमान कानून एक हाथ से जो निर्धारित करता है दूसरे हाथ से उसे समाप्त कर देता है। सर्वोच्च न्यायालय ने अमरनाथ चावला बनाम कवरलाल गुप्त के मुकदमे[1] मे 4 अक्टूबर 1974 को निणय देते हुए अवलोकित किया था कि 'यदि एक उम्मीदवार के चुनाव व्यय की सीमा निर्धारित हो लेकिन उसके मित्रो, समथको तथा राजनैतिक पार्टी को यह स्वतन्त्रता हो कि उस उम्मीदवार के समथन मे जितना चाहे धन खच कर सकते हैं तो चुनाव पर होने वाले खच की सीमा निर्धारित करने का मकसद ही विफल हो जायगा, इससे लोकतान्त्रिक प्रक्रिया की शुद्धता के हित मे यह जो व्यवस्था है वह अथहीन हो जायेगी, ऐसी स्थिति मे धन के महत्त्व से उत्पन्न होने वाली जिस बुराई को समाप्त करने की मशा है, वही बढ जायेगी तथा देश का सामान्य वातावरण दूषित हो जायेगा, विधायिका की यह नियत कभी भी नही रही होगी कि जो काम एक उम्मीदवार न कर सके, वही काम उसके समथको, मित्रो या राजनतिक पार्टी को करने दिया जाये।"[2] इस सन्दभ मे सर्वोच्च न्यायालय ने चुनाव व्यय पर सीमा लगाने के उद्देश्यो की विवेचना करते हुए कहा था "किसी भी छोटे से छोटे व्यक्ति या दल के लिए यह सुविधा होनी चाहिए कि वह बडे से बडे धनी व्यक्ति या पार्टी के विरुद्ध समानता के आधार पर चुनाव लड सके और विशाल वित्तीय साधनो के कारण किसी भी व्यक्ति या पार्टी को लाभ नही मिलना चाहिये।"[3]

दुर्भाग्य की बात यह है कि सर्वोच्च न्यायालय के उपयुक्त निणय को प्रभावहीन बनाने के लिये पहले 19 अक्टूबर 1974 को एक अध्यादेश जारी किया गया और बाद मे जन प्रतिनिधित्व (सशोधन) अधिनियम द्वारा मूल अधिनियम की चुनाव खच सम्बन्धी धारा 77(1) मे सशोधन कर यह व्यवस्था कर दी गयी कि किसी भी उम्मीदवार के निर्वाचन के सम्बन्ध मे एक राजनतिक पार्टी या अन्य

---

1 इस मुकदमे मे सर्वोच्च न्यायालय ने दिल्ली सदर से कांग्रेस टिकट पर निर्वाचित श्री अमरनाथ चावला का निर्वाचन इस कारण रद्द किया था कि उसके चुनाव पर उसके दल, मित्रो और समथको ने निर्धारित सीमा से अधिक धन खर्च किया था।

2 देखिये दिनमान दि० 8 दिसम्बर 1974, पृ० 9

3 वही

मूलभूत परिवर्तन किये हैं जो उसकी आत्मा पर ही कुठाराघात करते हैं। आलोचकों ने इस प्रणाली के इन्हीं दोषों की ओर संकेत किया है। भारत में इस प्रणाली का लाभ मुख्यतया कांग्रेस को हुआ है यद्यपि कभी कभी तमिलनाडु, केरल और पश्चिमी बंगाल जैसे राज्यों में विरोधी दलों को भी हुआ है।

जन समिति ने भी बहुमत प्रणाली के उपर्युक्त दोषों को व्यक्त किया है। उसका इस सम्बन्ध में सुझाव यह है कि ऐसी प्रणाली अपनाई जाये कि बड़ी मात्रा में मत व्यर्थ न जायें और साथ ही सभी मतों का महत्त्व समान हो।

बहुमत प्रणाली के विकल्प के रूप में प्रतिपक्ष द्वारा कभी यह सुझाव दिया जाता है कि सूची प्रथा, एकल परिवर्तनीय मत प्रणाली, सामूहिक मतदान प्रणाली और द्वितीय मतदान आदि के तरीकों को अपनाया जाय। यह कहा जाता है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली भारतीय जनता का सही प्रतिनिधित्व करने में सफल होगी क्योंकि इसमें अल्पमत वालों को भी प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

बहुमत प्रणाली के विकल्प के उपर्युक्त जितने भी सुझाव दिये गये वे अव्यावहारिक हैं। इन सबमें सबसे बड़ा खतरा राजनीतिक अस्थिरता के उत्पन्न होने का है और 1967 के चुनाव परिणामों का अनुभव यह बताता है कि मिली-जुली सरकारें अस्थिर ही नहीं होतीं बल्कि ठोस, सुदृढ़ और राष्ट्रीय नीति अपनाने में भी असमर्थ होती है जैसा कि संविधान सभा में विचार व्यक्त किया गया था कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली विधायिका को विघटित कर देगी और स्थायी सरकार बनाना असम्भव हो जायगी।" इसके अतिरिक्त भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनाई गयी है जो संयुक्त उत्तरदायित्व की मांग करती है परन्तु संयुक्त सरकारों में इसका प्रायः अभाव देखा गया है क्योंकि इसके सदस्य दलीय नियन्त्रण और अनुशासन से बाध्य नहीं होते। इसके मन्त्रियों की भक्ति शासन के प्रति होने के स्थान पर अपने दल के प्रति होती है। इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के लिये अपेक्षाकृत शिक्षित, कुशल और विभिन्नता पर सबल वाले मतदाताओं की आवश्यकता होती है जिसका भारत में अभाव है।

कुछ का मत है कि बहुमत प्रणाली के दोषों को मतदान अनिवार्य बनाकर दूर किया जा सकता है। इस प्रकार का सुझाव देने वाले लोगों का मत है कि मताधिकार केवल नागरिक अधिकार ही नहीं बल्कि कर्तव्य भी है अतः प्रत्येक नागरिक को कानूनी तौर पर अपने अधिकार का प्रयोग करने के लिये बाध्य होना चाहिये। इस प्रकार के सुझाव देने वालों का यह भी कहना है कि इससे प्रजातन्त्र वास्तविक बनेगा और लोगों की राज्य के प्रशासन और देश के समक्ष आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों में हिस्सा लेने की रुचि बढ़ेगी। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या मतदान को इतने बड़े प्रजातान्त्रिक देश में अनिवार्य बनाया जा सकता है। यह प्रायः असम्भव है। यह ठीक है कि कुछ देशों में मताधिकार का जानबूझ कर प्रयोग न

करने पर दण्ड की व्यवस्था है जैसे ग्रास्ट्रेलिया ग्रौर न्यूजीलण्ड मे मताधिकार का प्रयोग न करने वालो को जुर्माना देना होता है। चिली मे ता एसे लागो को जेल भेजा जा सकता है। स्विटजरलैण्ड के कुछ केन्टोन्स म तो मताधिकार का प्रयोग ग्रनिवाय है परन्तु भारत म इन सभी सुझावा की ग्रावश्यकता नही। जिस बात की ग्रावश्यकता है वह यह कि नागरिको को इसके सम्ब ध म शिक्षित किया जाय ग्रौर इसके महत्व को समझाया जाय ताकि नागरिक ग्रधिक से ग्रधिक सख्या म मतदान का प्रयाग करें। इस प्रणाली म एक सुधार यह ग्रवश्य किया जा सकता है कि जीतने वाले प्रत्याशी के लिये कम से कम डाले गये (यदि कुल मता का नही हो सकता) मतो का 50% + 1 मत प्राप्त करना ग्रनिवाय कर दिया जाय ग्रौर यदि किसी प्रत्याशी को यह निर्धारित प्रतिशत प्राप्त न हो तो दो ग्रधिक मत प्राप्त करने वाले प्रत्याशियो के लिये पुन चुनाव कराया जाय ग्रौर जिसे बहुमत प्राप्त हो उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाय।

4 **मतदान की ग्रायु**—मतदान की ग्रायु के प्रश्न को लेकर भी राजनीतिक *हलको म काफी सरगर्मी रही है। वतमान म भारतीय सविधान वयस्क मताधिकार* की व्यवस्था करता है ग्रर्थात 21 वष प्राप्त होने वाले प्रत्येक नागरिक को मताधिकार प्राप्त होता है। यह सुझाव दिया जाता है कि इस ग्रायु को घटा कर 18 वष कर देना चाहिये ताकि भारत की युवा पीढी राज्य के प्रशासन म हिस्सा ले सके। भारत सरकार, चुनाव ग्रायोग, राज्य सरकारें तथा उन जसी विचारधारा रखने वाले लोक मतदान की ग्रायु घटाने के पक्ष म नही। जो व्यक्ति या राजनीतिज्ञ या सस्थायें इस परिवतन का विरोध करते है उनका कहना है कि भारतीय युवक या युवती 18 वष की ग्रायु म ग्रपरिपक्व, ग्रनभिज्ञ, ग्रनुत्तरदायी, ग्रनुशासनहीन रहती है। इनका यह भी कहना है कि युवक ग्रासानी से धोखे मे ग्रा जाते है ग्रौर सत्य ग्रसत्य ग्रौर ग्रच्छाई बुराई मे भिन्नता नही कर सकते हैं। ग्रालोचको का यह भी कहना है कि इससे मतदाता सूची मे 5 करोड नाम ग्रौर जुड जायेंगे, चुनाव खच बढ जायेगा ग्रौर चुनाव प्रब ध का काय कठिन हो जायगा। यह भी कहा जाता है कि 18 वष की ग्रायु वाले युवक युवतियो मे राजनीतिक परिपक्वता का ग्रभाव होता है परतु ये सब तक निराधार है।

भारतीय युवा पीढी न तो इतनी ग्रनुत्तरदायी है ग्रौर न ही इतनी ग्रनुशासन हीन। वस्तुत स्थिति यह है कि ग्राज का युवक ग्रधिक जागरूक ग्रौर चेतन है ग्रौर तथाकथित निपुण राजनीतिज्ञो की कुरीतियो, से ग्रच्छी तरह परिचित है। यह कहना भी मिथ्या है कि इससे चुनाव खच बढ जायेगा। यदि ऐसा है भी तो प्रजातन्त्र ग्रपनी कीमत मागती है ग्रौर इस ग्राधार पर 18 वष की ग्रायु वाले युवक-युवतियो को मतदान से वचित करना उनके साथ ग्रन्याय करना है। वस्तुत युवा पीढी को मताधिकार देकर राष्ट्रीय जीवन मे जान पैदा करना हागा। यदि 80 90 या 100 वष के वृद्धा को (जिसमे सम्भवत बुद्धि का ग्रभाव हो जाता है) मताधिकार का ग्रधिकार

जाता है। यद्यपि खुले म सभी राजनीतिक दल जाति धम और सम्प्रदाय आदि की भत्सना करते हैं परन्तु गुप्त रूप से निर्वाचन की सभी प्रक्रियाओ मे प्रत्याशियो का चयन, चुनाव अभियान, मतो के लिए अपील आदि म जाति, धम, और सम्प्रदाय का प्रयोग किया जाता है। इन दूषित दबावो के प्रभाव से बचने का एकमात्र विकल्प राष्ट्रीय शिक्षा का विस्तार और निरपेक्ष भावनाओ का विकास है। निधनता, आर्थिक असमानता आदि तत्वो को भी दूर किया जाना चाहिये।

समिति द्वारा जो अन्य सुझाव दिये गये—वे थे (i) ऐसी परम्परा विकसित की जाये कि ससद या विधान सभा भग करने की घोषणा के समय से अगले चुनाव तक तत्कालीन मन्त्रिमण्डल काम चलाऊ सरकार के रूप मे काय करे, (ii) इस तरह काम चलाऊ सरकार को किसी भी तरह की नीति विषयक घोषणा या वायदा नही करना चाहिये, *न किसी नयी योजना की शुरुआत करनी चाहिये, न ही किसी* किस्म का भत्ता या कर्ज देने की स्वीकृति या वेतन म वृद्धि की घोषणा करनी चाहिये (iii) इस दौरान सरकारी विमानो–गाडियो का उपयोग न करे, (iv) रेडियो और टेलीविजन को एक स्वशासित सस्था बनाया जाय और किसी भी मन्त्री या नेता को उस पर उसके अतिरिक्त कोई भी समय न दिया जाये जो कि राजनैतिक दलो के लिय चुनाव प्रचाराथ निर्धारित हो, (v) अधिकारियो के तबादले न किये जायें, (vi) इस दौरान सरकारी खर्चे पर विज्ञापन न कराये जाये, (vii) निर्वाचन क्षेत्र म सरकारी साधनो का उपयोग हो तो न्यायालयो को अधिकार होना चाहिये कि वे इस आधार पर चुनाव को अवध करार दे सकें, (viii) इस दौरान म सरकारी वाहन का प्रयोग केवल चुनाव अधिकारी की अनुमति से हो (ix) अनुचित कार्यों को भ्रष्ट काय करार दिया जाय।

**(vii) मतो की गणना**—समिति ने मतो की गणना के सम्बन्ध मे यह सुझाव दिया कि उन्ह मतदान केन्द्रो के हिसाब से की जाय। समिति का यह भी सुझाव था कि मत पत्र के प्रतिपर्ण (Counter foil) पर मतदाताओ के हस्ताक्षर लेने की प्रथा को समाप्त कर दिया जाय। जून 1975 मे गुजरात मे हुए चुनावो मे मत पत्र के प्रतिपर्ण पर हस्ताक्षर लेने की प्रथा को समाप्त कर दिया गया है।[1]

**(viii) निदलीय उम्मीदवार**—भारत म चुनावो म निदलीय उम्मीदवारो की सख्या इतनी अधिक होती है[2] कि वे मतदाताओ मे भ्रान्तियाँ पैदा करते हैं चुनाव परिणामो को विकृत करते है निर्वाचन प्रक्रिया मे जटिलता पैदा करते है और चुनावो के बाद दल बदल की नीति अपना कर राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न करते है। यद्यपि निर्वाचित निदलीय उम्मीदवारो की सख्या 5 प्रतिशत से अधिक कभी

---

1 See Competition Master, June, 1975 p 680

2 अनेक स्थानो पर निदलीय उम्मीदवारो की सख्या दलो द्वारा खडे किय गए उम्मीदवारो की सख्या मे भी अधिक होती है।

नही हुई परन्तु उन्हें 20 प्रतिशत तक मत प्राप्त हुए है जो मना की भयकर बरबादी है। अत यह आवश्यक है कि चुनावा म निर्दलीय उम्मीदवारा की सख्या न्यूनतम हो, उम्मीदवारो का दला द्वारा ही खडा किया जाय और जहा तक सम्भव हो मुकाबला बहुमुखी (Multi cornered) होने के स्थान पर सीधे दो उम्मीदवारा म हो। यदि सम्भव हो तो उन प्रतिनिधियो का वापस (Recall) बुलाने की व्यवस्था होनी चाहिये जिनका विधान सभा म निष्पादन (Performance) असन्तोषजनक हो या जो भ्रष्ट हो जाय। दल बदल करने वाले विधायक या ससद सदस्या को मजबूर किया जाना चाहिये कि वह/वे अपनी सदस्यता स त्याग पत्र दें और पुन चुनाव लडे आदि।

## समीक्षा-प्रश्न
### (Review Questions)

1 निर्वाचन आयोग की रचना कार्यों और महत्त्व की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

2 "निष्पक्ष और स्वतन्त्र चुनावा के लिए निष्पक्ष और स्वतन्त्र निर्वाचन मशीनरी की आवश्यकता है।" इस कथन के सन्दर्भ म भारतीय सविधान के उन उपबन्धो की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये जो भारतीय निर्वाचन मशीनरी की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता की रक्षा करते हैं? क्या इन उपबन्धो मे सुधार की आवश्यकता है?

3 भारतीय निर्वाचनो की मुख्य समस्या लोगो के यथार्थ प्रतिनिधित्व की है। वर्तमान बहुमत प्रणाली कहा तक लोगो का यथार्थ प्रतिनिधित्व करती है। क्या आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली वर्तमान बहुमत प्रणाली का सही विकल्प है? कारण सहित उत्तर लिखिए।

4 जन समिति या लोकतन्त्र के लिए नागरिक समिति (श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा नियुक्त समिति) द्वारा निर्वाचन प्रणाली मे सुझाये गये सुझावो की व्याख्या कीजिए। इन्हें कहा तक कार्यान्वित किया जा सकता है?

5 सर्वोच्च न्यायालय ने कवरलाल गुप्त बनाम अमरनाथ चावला विवाद (1974) मे राजनीति म द्रव्य (धन) शक्ति का विरोपन (पर्दाफाश) किया है।' इस कथन की व्याख्या करते हुए भारत मे लोकतन्त्र का द्रव्य आधारित होने की अपेक्षा जन आधारित बनाने हेतु सुझाव दीजिए।

6 "भारतीय निर्वाचक वर्ग सामान्यतया निरक्षर और अनभिज्ञ है परन्तु उसमे समझदारी की कमी नही। इस कथन के सन्दर्भ म पिछले पाच सामान्य निर्वाचनो मे उदाहरण देते हुए इस बात का स्पष्टीकरण कीजिए कि भारतीय राजनीति को प्रभावित करने तथा उसे दिशा देने मे भारतीय निर्वाचक वर्ग की क्या भूमिका रही है?

7 ' भारतीय राजनीतिक विकास मे 1967 का चुनाव जल विभाजक है।" आप इस कथन से कहा तक सहमत है ? इस निर्वाचन मे जो समस्याये उभर कर सामने आयी उनका सक्षिप्त मे वर्णन कीजिये ।

8 "यदि 1971 का चुनाव 1967 के पूव की स्थिति की पुनरावृत्ति थी तो जून 1975 का गुजरात का चुनाव 1967 की प्रवृत्ति की पुनरावत्ति है" आप इस कथन से कहा तक सहमत है ? उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए ।

9 निम्न टिप्पणियाँ लिखिये—

(a) मतदान अनिवाय होना चाहिये ।

(b) मतदान की आयु 18 वष होनी चाहिये ।

(c) निर्वाचन आयोग एक सदस्यीय आयोग न होकर सदस्यीय आयोग होना चाहिए ।

(d) वयस्क मताधिकार ।

(e) निवाचन क्षेत्र सीमाकन आयोग ।

(f) निर्वाचन व्यय की निर्धारित सीमा ।

---

# पुस्तक 7

## भारतीय विदेश नीति

अध्याय 1

# भारतीय विदेश नीति

## (India's Foreign Policy)

**विदेश नीति का अर्थ**—जिस नीति या कार्यक्रम द्वारा कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध निर्धारित करता है, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और सम्मेलनों में अपने प्रतिबिम्ब को प्रक्षेपित (project) करता है, युद्ध और शान्ति के प्रश्नों पर अपनी भूमिका निभाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाज में सर्वश्रेष्ठ सम्भाव्य स्थान प्राप्त करने का प्रयास करता है उसे उस राष्ट्र की विदेश नीति कहते हैं। यह नीति सदा उस राष्ट्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, भौगोलिक स्थिति और आर्थिक दुर्बलता व सुदृढ़ता पर आधारित होती है, यह राष्ट्रीय हितों से प्रेरित एवं प्रभावित होती है और निरन्तर परिवर्तित होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से प्रभावित होती रहती है। बुट लण्डन के शब्दों में किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति से अन्य राष्ट्रों के सन्दर्भ में उसका मार्ग निर्धारित होता है। वह एक कार्यक्रम होती है और उसका उद्देश्य होता है शान्तिपूर्ण उपायों या युद्धेतर उपायों से राष्ट्र के लिए सर्वश्रेष्ठ सम्भाव्य स्थिति को प्राप्त करना। उसके उद्देश्य होते हैं प्रादेशिक अखण्डता की सुरक्षा, राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा तथा लोगों के लिए समुचित जीवन स्तर की वृद्धि।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत की विदेश नीति स्वतन्त्र दृष्टिकोण और असंलग्नता की रही है। इसके उद्देश्य हैं विश्व शान्ति को बनाये रखना, युद्ध की सम्भावनाओं को टालना, विवादों का मध्यस्थता या विवाचन द्वारा निपटारा करना, जातिवाद, रंगभेद, साम्राज्यवाद का विरोध करना तथा राष्ट्रीय हितों की रक्षा करना है। भारत की विदेश नीति के सम्बन्ध में पं० जवाहरलाल नेहरू ने सितम्बर, 1946 में ही कह दिया था कि 'भारत वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्र में एक स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करेगा और गुटों की खींचतान से दूर रहते हुए विश्व के समस्त पराधीन देशों के लिए आत्म निर्णय का अधिकार प्रदान करने तथा जातीय भेदभाव की नीति का दृढ़तापूर्वक उन्मूलन करने का प्रयास करेगा। साथ में वह विश्व के अन्य स्वतन्त्रता प्रेमी और शान्तिप्रिय राष्ट्रों के साथ मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के प्रसार के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहेगा।

गर साम्यवादी देशो म भारत ही एक ऐसा देश है जिसकी घनी आबादी है, गुट निरपेक्ष राष्ट्रो म यही एक एसा देश है जिसे प्रधान राष्ट्र की सज्ञा दी जा सकती है, मिस्र और यूगास्लाविया के साथ मिलकर भारत ने गुट निरपेक्ष राष्ट्रो का नतृत्व किया है, अफ्रेशियाई राष्ट्रो म यह सबसे अधिक प्रभावशाली है। सक्षेप मे, भारत 'तीसरे विश्व (Third World) का प्रमुख प्रवक्ता, "शाति के वातावरण का मुख्य निर्माता (Chief architect of climate of place) और कूटनीतिक व्यवहार म "मृदुता और मिठास" का समथक है।

## भारतीय विदेश नीति को निर्धारित करने वाले तत्व
### (Factors shaping India's Foreign Policy)

प्रत्येक देश की विदेश नीति उसके राष्ट्रीय हितो पर आधारित होती है जो अनेक परस्पर विरोधी तत्वो जसे किसी देश की भौगोलिक स्थिति, उसकी आर्थिक और सनिक क्षमता, ऐतिहासिक और परम्परागत विचारधारायें, सामाजिक प्रथाएँ, नेताओ तथा राजनयज्ञो का दृष्टिकोण तथा व्यवहार आदि द्वारा प्रभावित होती रहती है। विभिन्न और परस्पर विरोधी तत्वो के प्रभावित होने के कारण किसी देश की विदेश नीति सभी समयो और सभी स्थितियो मे एक जसी नही हो सकती। यही कारण है कि प्रत्येक देश की विदेश नीति समय, परिस्थिति और आवश्यकतानुसार परिवर्तित होती रहती है। भारत की विदेश नीति भी इसका कोई अपवाद नही। उसके निर्धारण मे भी अनक वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ तत्वो ने योगदान दिया है। वस्तुनिष्ठ तत्वो म प्रमुख है भूगोल, अथतन्त्र और जनसख्या, आत्मनिष्ठ तत्वो मे प्रमुख है मनोबल और नेतृत्व।[1] इसे निर्धारित करने वाले मूल तत्व निम्न है —

1 **राष्ट्रीय हित** — जसा कि नेहरूजी ने कहा था कि "भारत की विदेश नीति की आधारशिला उसके राष्ट्रीय हितो की सुरक्षा है।" राष्ट्रीय हितो को परिभाषित करना कठिन है क्योकि वे अत्यन्त सूक्ष्म, जटिल और परिवतनशील होते है। फिर भी भारत की विदश नीति जिन राष्ट्रीय हितो म प्रभावित होती है उनम प्रमुख है भारत की भौगोलिक स्थिति उसकी स्थलीय सीमा, उसका विशाल समुद्री तट, उसका विदेशी व्यापार, सीमावर्ती राज्यो मे बसने वाले भारतीयो का कल्याण, उसकी आर्थिक कमजोरी, खाद्यानो का अभाव, उसके विकास के लिये विदेशी पूजी, और तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता, पाकिस्तान और साम्यवादी चीन के साथ बिगडते हुए सम्बन्ध, शान्ति की आवश्यकता, मित्रो की खोज तथा गुटो से पृथक रहकर उनसे मित्रतापूर्ण सम्बन्धो को बनाये रखने की आवश्यकता, अफ्रेशियाई राष्ट्रो की एकता, गैर साम्यवादी देशो म महत्वपूर्ण स्थान पाने की अभिलाषा आदि। सन् 1970 तक भारत प्राय

1 See Palmer, Norman D The Indian Political System, pp 265 66

सैनिक दृष्टिकोण से भी निबल था परन्तु 1971 मे बागला देश की घटनाओ, 1974 के अणु परीक्षण और 1975 के अन्तरिक्ष परीक्षण (भारत ने 19 अप्रैल 1975 को अन्तरिक्ष म आयभट्ट नाम का उपग्रह अन्तरिक्ष मे फेंका) के बाद भारत को सैनिक दृष्टि मे दुबल नही कहा जा सकता। इतना अवश्य है कि सैनिक सुरक्षा के प्रश्न ने भारतीय विदेश नीति को अत्यधिक प्रभावित किया है।

भारत की विदेश नीति किस प्रकार राष्ट्रीय हितो से प्रभावित रही है उसे निम्न उदाहरणो से स्पष्ट किया जा सकता है (i) भारत की विदेश नीति साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद विरोधी है परन्तु फिर भी ब्रिटिश सरकार ने मलाया के स्वाधीनता आन्दोलन को कुचलने के लिये जब सितम्बर, 1953 मे नेपाल से सेनायें मगायी तो भारत ने इन्हे अपनी भूमि से होकर जाने दिया। (ii) सन् 1956 म स्वेज सकट के समय भारत ने ब्रिटिश और फ्रासीसी हमले की कटु आलोचना की परन्तु साथ म नासीर को मृदु नीति अपनाने का सुझाव दिया क्योकि स्वेज नहर को खुले रखने म भारत के राष्टीय और व्यापारिक हित थे (iii) भारत शान्तिप्रिय और गुट निरपेक्ष राष्ट्र है परन्तु जब सन् 1971 मे बागला देश से आने वाले शरणार्थियो की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी और इस उप महाद्वीप मे युद्ध के बादल मण्डराने लगे तो अपनी सीमाओ की सुरक्षा के लिये और सकट की घडी के लिये मित्रता को सुदृढ करने के लिये *9 अगस्त, 1971 को रूस के साथ बीस वर्षीय सन्धि की।* ये सब उदाहरण भारतीय राष्ट्रीय हितो को अभिव्यक्त करते हैं और उसकी विदेश नीति के व्यावहारिक पहलुओ (real politik) स्पष्ट करते है। आज तो भारत विश्व म 'शक्ति' की राजनीति के महत्त्व को पहचानता है।

2 **भौगोलिक स्थिति**—भारत की विदेश नीति के निर्धारण म उसकी भौगोलिक स्थिति का अत्यधिक महत्त्व रहा है। यह विश्व धरातल के ऐसे भाग म स्थित है जहा भौगोलिक और सामरिक दृष्टि से "इसका स्थानीय, क्षेत्रीय और विश्व व्यापी महत्व"[1] है। भारत दक्षिण, दक्षिण पूर्व और पश्चिमी एशिया का 'धुरीय केन्द्र" (pivotal centre) है। जसाकि नेहरूजी ने एक बार कहा था कि "हम एशिया के सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भाग हिन्द महासागर के मध्य मे हैं। अतीत एव वतमान काल म हमारे सम्बन्ध पश्चिम एशिया दक्षिण पूर्व एशिया तथा सुदूरपूर्वी एशिया के साथ रहे है। यदि हम चाहे तो भी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।" भारत के भूतपूर्व गवनर जनरल लार्ड कजन ने 1903 मे ही कहा था कि भौगोलिक स्थिति उसे अधिकाधिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म अग्रणी स्थान की ओर ले जाने म भूमिका अदा करेगी।'[2]

---

1 See P P Karan 'India s Role in Geopolitics' India Quarterly, IX (April June 1953), 160 169, K M Panikkar India and the Indian Ocean Quoted by Palmer, Ibid, p 266

2 Quoted by Palmer Ibid, p 266

भारत की समुद्री और स्थलीय सीमाये उसकी विदेश नीति पर प्रभाव डालती हैं। भारत का समुद्री तट 3,500 मील और स्थलीय सीमाये 8,200 मील लम्बी है। केवल चीन के साथ भारत की सीमाये 1,500 मील लम्बी है जो विश्व मे किसी भी साम्यवादी देश की गर साम्यवादी देश के साथ सबसे लम्बी स्थलीय सीमा है। उत्तर मे दो महा साम्यवादी राष्ट्र ( चीन और रूस ) विद्यमान है। दक्षिण मे हिन्द महासागर, दक्षिण पूव मे बगाल की खाडी और दक्षिण पश्चिम मे अरब सागर विद्यमान है। भारत का विदेशा व्यापार इ ही मार्गो से होता है। अत समुद्री व स्थलीय सीमाओ की रक्षा के लिये भारत के चीन, रूस, नेपाल भूटान, बगला देश, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, बर्मा, थाईलण्ड लाओस आदि देशो से अच्छे सम्ब धो का होना अनिवाय है। चीन और पाकिस्तान के साथ अच्छे सम्ब ध न हाने के कारण भारत की स्थलीय सीमाओ की सुरक्षा के लिये भारत को उन देशो के साथ, विशेपकर ब्रिटेन के साथ, अच्छे सम्ब ध बनाये रखने की आवश्यकता है जिनका समुद्र पर स्वामित्व है। सक्षेप म, यदि स्थलीय सीमाओ की सुरक्षा के लिये साम्यवादी राष्ट्रो पाकिस्तान, अफगानिस्तान आदि से मित्रतापूण सम्ब धो की आवश्यकता है तो समुद्री तट की रक्षा के लिये तथा समुद्री मार्गो को खुला रखने के लिय पश्चिमी राष्ट्रो की मित्रता की आवश्यकता हे। यही कारण है कि भारत की विदश नीति के मूल आधार गुट निरपक्षता, मित्रो की खोज और शा तिपूण सम्ब धो की है।

हि द महासागर म भी भारत का सबमे बडा हित यह हे कि वह इसे "स्वतन्त्र क्षेत्र' (Free zone) बनाये रखना चाहता है। भारत इस बात को स्वीकार नही करता कि ब्रिटेन के इस क्षेत्र से हट जान स किसी प्रकार की "शक्ति शू यता" (Power Vacuum) की स्थिति पदा हागी। भारत की यह धारणा है कि यदि कोई शू यता उत्पन्न भी होगी तो हि द महासागर के समुद्र तटवर्ती राज्य (littoral States) इस शू यता को पूरा कर सकने की क्षमता रखते है। अत भारत डायगो गार्शिया म अमरीकी सनिक अडडा का उतना ही विरोधी है जितना कि इस क्षेत्र म बढते हुए प्रभाव का। भारत की धारणा है कि इस क्षेत्र म महाशक्तियो की गतिविधिया बढ जान से उसकी सीमाओ और व्यापार का खतरा उत्पन्न हो सकता है अत भारत इस क्षेत्र को "स्वत त्र क्षेत्र" "शा ति क्षेत्र" (Free Zone—Area of Peace) बनाये रखना चाहता हे।

3 आर्थिक और सनिक तत्त्व—आर्थिक और सनिक तत्त्वा ने भी भारत की विदेश नीति को अत्यधिक प्रभावित किया है। करीब दो सौ वष तक अग्रेजो का उपनिवश रहने के कारण भारत का आर्थिक ढाचा नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। अत स्वत त्रता प्राप्ति पर भारत की विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य भारत का आर्थिक पुनर्निर्माण कर उसे आत्म निभर बनाना था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु मूलत दो बातो की आवश्यकता थी। पहली तो यह कि आर्थिक विकास के लिये विदशी सहायता (पूँजी) और तकनीकी ज्ञान की सहायता निर्बाध रूप म पश्चिमी और रूसी गुट दोनो

के देशो मे प्राप्त होती रहे और दूसरे विश्व मे शान्ति बनी रहे ताकि इस विकास मे बाधा प्रस्तुत न हो। जसाकि श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित ने कहा था कि "युद्ध हमारे लिये साम्यवाद की अपेक्षा अधिक बडा सकट है।" उदाहरणार्तया स्वेज नहर के बन्द होने पर भारत को करोडो रुपया केवल भाडे के रूप म ही अतिरिक्त व्यय करना पडा। भारत की असलग्नता की नीति के मूल मे यही तत्त्व अर्तनिहित है कि दोनो गुट भारत के मित्र रह और दोना से आर्थिक और खाद्यान्नो की सहायता प्राप्त होती रहे।

सैनिक दृष्टि से भी भारत स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय, अत्यन्त निवल देश था और 1962 के चीनी आक्रमण ने तो उसकी सनिक शक्ति के खोखलेपन को स्पष्ट भी कर दिया था। परन्तु 1965 और 1971 के युद्धो ने तथा 18 मई 1974 के अणुपरीक्षण और 19 अप्रेल 1975 के अतरिक्ष मे छोडे गये आर्यभट्ट नाम के उपग्रह मे स्पष्ट है कि भारत आज सैनिक दृष्टि से दुबल नही और वह अपनी आत्म रक्षा की सामथ्य रखता हे। फिर भी, भारत के पास अपने विशाल समुद्री तट की रक्षा हेतु आज भी विशाल समुद्री बेडे की कमी है और भारत समुद्री मार्गों की रक्षा के लिये विदेशी सहायता पर निभर करता है।

**4 ऐतिहासिक, लोकतान्त्रिक परम्पराओ और विचारधाराओ का प्रभाव**— भारत की विदेशनीति पर अनेक परम्पराओ और विचारधाराओ का प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। परन्तु यहा भारत की विदेश नीति ने मध्यम माग (Middle way) अपनाया है। जहा भारतीय राजनीतिक सस्थाओ, ससदीय प्रणाली, प्रशासनिक व्यवस्था और कानूनी पद्धति पर ब्रिटेन का प्रभाव नजर आता है वहा उसकी अर्थ व्यवस्था पर समाजवादी प्रभाव नजर आता है। ब्रिटिश उदारवाद को स्वीकार करते हुए भी भारत ने समाजवादी समाज के ढाचे को स्वीकार किया है और व्यावहारिक होते हुए भी उसकी विदेश नीति म आदर्शो और नतिक मूल्या का समावेश है। उदाहरणतया भारत का शान्तिवाद भारतीय परम्परागत दशन की सहिष्णुता उदारता और मानवता पर आधारित ह बाह्य आक्रमणा (चीन और पाकिस्तान के आक्रमण) का सामना करते हुए भी भारत ने अपन आक्रमणकारियो के प्रति सहिष्णुता और मित्रता का हाथ बढाया है। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद का विरोध राष्ट्रो की स्वतन्त्रता के विचारो मे प्रभावित है जातीय या रगभेद की नीति का विरोध भारतीय मानवतावादी विचारो से प्रभावित है पचशील के सिद्धान्तो पर गाधी की अहिंसा और बुद्ध के अष्टमाग का प्रभाव है, आदि। नेहरूजी न अपनी रचना "दी डिस्कवरी ऑफ इण्डिया मे लिखा है कि "हम बहुत प्राचीन हैं, और पगचिह्न मिटी हुई शताब्दियाँ हमारे काना म निरतर कुछ कानाफूसी करती हैं।' [1]

---

1 Quoted by Palmer, Ibid, p 267

**5 वैयक्तिक प्रभाव**—किसी भी देश की विदेश नीति पर उन संस्थाओं और व्यक्तियों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता जो उसका संचालन करते हैं। उदाहरणतया देश के प्रधान मन्त्री, मन्त्रिमण्डल के सदस्यों विदेश मन्त्रालय, राजनयज्ञों (Diplomats), वैदेशिक विषयों की परामर्शदात्री समिति, समाचार पत्रों के सम्पादकीय लेखों, विदेश नीति पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। भारत की विदेश नीति इसका कोई अपवाद नहीं। भारत की विदेश नीति पर भारत के प्रधान मन्त्री प० नेहरू का प्रभाव अत्यधिक था। वस्तुतः प० नेहरू ही भारत की शान्तिवादी, असंलग्नता की नीति के कर्णधार थे। उनका शान्तिवादी, सहिष्णु, साम्राज्यवाद विरोधी, दृष्टिकोण ही भारतीय विदेश नीति में प्रतिबिम्बित होता है। भारत चीन सम्बन्ध में चीन में भारत के राजदूत श्री के० एम० पणिक्कर और कृष्णामेनन का अत्यधिक प्रभाव था।

**6 आन्तरिक शक्तियों और दबावों का प्रभाव**—किसी देश की आन्तरिक शक्तियां और दबाव समूह भी उसके निर्धारण में अत्यधिक भूमिका निभाते हैं। जब राष्ट्र आन्तरिक दृष्टि से अधिक सुदृढ और मनोवैज्ञानिक रूप से एकता के सूत्र में गुंथा होता है तो राष्ट्र की विदेश नीति भी अधिक स्पष्ट, सुदृढ और प्रभावशाली होती है। परन्तु जब राष्ट्र आन्तरिक फूट (मतभेदों) के कारण विभक्त होता है और राजनीतिक अस्थिरता पाई जाती है तो विदेश नीति प्रायः शिथिल और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर प्रायः निष्क्रिय और प्रभावहीन होती है। भारत की विदेश नीति भी इसका अपवाद नहीं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के 17 वर्षों तक भारत आन्तरिक, आर्थिक और सैनिक दृष्टि से निर्बल होने पर भी विश्व राजनीति में इस कारण अधिक योगदान दे सका कि श्री नेहरू का व्यक्तित्व अत्यधिक प्रभावशाली था और देश में उनका विरोध करने का साहस किसी में नहीं था। परन्तु उनकी मृत्यु के बाद (1964) भारतीय विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय स्थल पर शिथिल पड़ गयी, कम से कम यह स्थिति 1970 तक रही। परन्तु जब 1971 में श्रीमती गांधी का व्यक्तित्व उभर कर सामने आया तो कम से कम इस उप महाद्वीप में उनके व्यक्तित्व का निर्णायक प्रभाव पड़ने लगा। सन् 1971 में बंगला देश की स्वतन्त्रता, सन् 1974 में अणुबम का विस्फोट और सन् 1975 में आर्यभट्ट का अन्तरिक्ष में फेंके जाने से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की प्रतिष्ठा और प्रभाव का विकास हुआ।

## भारतीय विदेश नीति के मूल तत्त्व या लक्षण

### (Basic Principles or Features of India's Foreign Policy)

किसी भी देश की विदेश नीति के मूल तत्व उसके राष्ट्रीय हितों पर आधारित होते हैं। जैसाकि नेहरूजी ने दिसम्बर 1947 में लोक सभा में कहा था कि "विदेश नीति की आधारशिला उसके राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा है।" चार्ल्स हेवार्म ह्यूज ने भी कहा है कि 'विदेश नीतियों का निर्माण सूक्ष्म सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होता बल्कि यह राष्ट्रीय हितों के क्रियात्मक विचारों का परिणाम होती

है।" परन्तु ये राष्ट्रीय हित इतने विस्तृत जटिल और परिवतनशील होते हैं कि उन्ह सभी समयो के लिये लिपिबद्ध करना कठिन होता है। ये समय, परिस्थिति और आवश्यकतानुसार बदलते रहते है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय हितो का निर्माण परस्पर विरोधी, राजनीतिक, आर्थिक, सैनिक आदि हितो से भी होता है। परन्तु फिर भी विदेश नीति के कुछ ऐसे मूल आधार होते हैं जो उसे दिशा प्रदान करते हैं। यद्यपि इनका सवदा अक्षरश पालन नही किया जाता फिर भी व उस दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हैं जो किसी समय अपनाई गयी विदेश नीति म अन्तर्निहित होते हैं। उदाहरणतया भारतीय सविधान का अनुच्छेद 51 उसी दृष्टिकोण और दिशा को अभिव्यक्त करता है जो भारत के सविधान निर्माता भारतीय विदेश नीति को देना चाहते थे। इस अनुच्छेद के अनुसार भारत राज्य निम्न चीजो का प्रयास करेगा—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा म वृद्धि,

(ii) राष्ट्रो मे न्यायपूर्ण और सम्मानपूर्ण सम्बन्धो को बनाये रखना,

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति तथा विभिन्न राष्ट्रो की पारस्परिक सम्बन्धो मे सन्धियो के पालन के प्रति सम्मान बढाना,

(iv) विवाचन (arbitration) द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के निपटारे को प्रोत्साहन देना।

उपयु क्त अनुच्छेद के तत्त्वो से स्पष्ट है कि भारत की विदेश नीति के मूल आधार है अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा, शान्तिपूर्ण सहजीवन और पचशील। इनकी प्राप्ति के लिये भारत विश्व मे शान्ति स्थापित करने का प्रयास करता है, पडौसी तथा अन्य राष्ट्रो से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिय प्रयत्नशील रहता है, विभिन्न महाशक्तियो की गुटबन्दियो और सनिक समझौतो से पृथक रह कर असलग्नता की नीति का अनुसरण करता है, जातिभेद और रगभेद की नीति, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की नीति का घोर विरोध करता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून और सयुक्त राष्ट्र सध के सिद्धान्तो के प्रति गहरी आस्था प्रकट करता है आदि।

भारत की विदेश नीति के मूल तत्वो को निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

**1 शान्तिपूर्ण सहजीवन की नीति**—भारत की विदेश नीति के मूल तत्व पचशील के पाच सिद्धान्त है अथात भारत प्रत्येक राष्ट्र की प्रादेशिक अखण्डता और सम्प्रभुता का सम्मान करता है, किसी राष्ट्र पर आक्रमण करने या किसी राष्ट्र की सीमाओ का अतिक्रमण करने की इच्छा नही रखता। किसी राज्य के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप नही करता, सभी के साथ समान व्यवहार और सहयोग के लिये तयार रहता है। सक्षेप म, शान्तिपूर्ण सहजीवन भारतीय विदेश नीति का मूल तत्व है।

भारत युद्ध के किसी रूप को स्वीकार नही करता। उसकी मान्यता है कि युद्ध राज्यो मे पारस्परिक सद्भावना और सहयोग आर्थिक विकास और विश्व शान्ति मे सबसे बडी बाधा है। यही कारण है कि भारत की यही हार्दिक इच्छा है कि 'उसकी प्रगति को तथा सामान्य रूप से मानव जाति की उन्नति को खतरे मे डालने वाला कोई युद्ध न हो।' जैसाकि नेहरूजी ने 1952 म कहा था कि "हमारी पहली नीति तो यह होनी चाहिये कि हम ऐसी भीषण आपत्ति को घटित होने से रोकें, दूसरी नीति इससे बचने की होनी चाहिये और तीसरी नीति भी ऐसी स्थिति बनाने की होनी चाहिये कि यदि युद्ध छिड जाये तो हम उसको रोकने मे समर्थ हो सकें।" परन्तु भाग्य की विडम्बना यह है कि युद्ध न चाहते हुए भी भारत को स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से लेकर आज तक चार आक्रमणो का सामना करना पडा है, पहला 1947–48 मे पाकिस्तान का दूसरा 1962 म चीन का, तीसरा 1965 मे पाकिस्तान का, और चौथा 1971 म पाकिस्तान का।

भारत वस्तुत युद्ध की यथार्थता म विश्वास ही नही करता और सदा शान्ति बनाये रखने का प्रयास करता है। उसकी धारणा है कि युद्ध समस्याओ का स्थायी समाधान नही करते बल्कि नये युद्धो को जन्म देते है। अत अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के निपटारे के लिये भारत शान्तिमय साधनो द्विपक्षीय या त्रिपक्षीय वार्ताओ म समझौतो, मध्यस्थता, पंच निर्णय या विवाचन, आदि पर बल देता है। पाकिस्तान के साथ भी, जिसके भारत के साथ कटु सम्बन्ध रहे है, भारत शान्तिमय साधनो से अपने विवादो को हल करना चाहता है। उदाहरणतया स्वतन्त्रता प्राप्ति से नदियो के पानी पर चल रहे विवाद के कारण जो दोनो देशो मे तनाव था उसे 1960 मे सिन्धु जल सन्धि (Indus Water treaty) द्वारा हल किया गया। इस सन्धि पर स्वर्ग प्रधान मन्त्री नेहरू और राष्ट्रपति अयूब खाँ ने रावलपिण्डी म हस्ताक्षर किये। कच्छ, जो कि भारत का अग है, उस पर भी जब 1965 म पाकिस्तान ने आक्रमण किया तो समस्या के शान्तिपूर्ण हल के लिये एक निष्पक्ष ट्रिब्यूनल स्थापित करना स्वीकार कर लिया और भारत म कडे विरोध के बाद भी भारत सरकार ने राजनीतिक कारणो से प्रेरित होकर और सम्बन्धो को सुधारने हेतु ट्रिब्यूनल द्वारा किये गये निर्णय को स्वीकार कर लिया। सन् 1966 मे ताशकन्द समझौते म भी भारत ने पाकिस्तान को वे क्षेत्र लौटा दिये जो कश्मीर भारत सुरक्षा के लिए आवश्यक थे। सन् 1971 के युद्ध के बाद भी भारत ने पाकिस्तान के प्रति सद्भावना ... अपनाया और 1972 म शिमला म द्विपक्षीय वार्ताओ पर ... 1974 के त्रिपक्षीय समझौते द्वारा युद्ध बन्दियो को, ... 195 ... जिन पर बगला देश अमानुषिक हत्याओ के मुकदमे चलाना चाहता था, ...

केवल पाकिस्तान के साथ ही नही, भारत ने ...

विवादो का निपटारा शान्तिमय साधनो स किया है। ...

साथ चल रहे विवादो को शान्तिमय तरीको स हल किया गया है ...

रहने वाले भारतीयों की समस्या के सम्बन्ध मे, और 1,50,000 राष्ट्रीयताहीन व्यक्तियों (stateless persons) के सम्बन्ध मे जनवरी 1954 मे समझौता हुआ। इसी प्रकार पाक जलडमरूमध्य (Pak Strait) मे स्थित कच्छदीव टापू (Kach chdiv Island) के सम्बन्ध मे जून 1974 म समझौता हुआ। भारत सरकार ने इस द्वीप पर श्री लका का दावा स्वीकार कर लिया है। बगला देश के साथ भी सीमा सम्बन्ध मतभेदो को पारस्परिक समझौता द्वारा हल किया गया है। उदाहरणतया 1974 म दोनो देशो मे अनेक समझौते किये गये जसे सीमा सम्बन्धी समझौतो द्वारा बरुवाडी की समस्या का समाधान किया गया। यह क्षेत्र भारत को मिल गया और भारत ने सीमा स्थित दाहाग्राम और असनाग क्षेत्रो को बगला देश को दे दिये। इतना ही नही, दाहाग्राम और अगरपेटा को मिलाने के लिए भारत के बीच मे एक पट्टी (Corridor) बगला देश के लिए छोड दी गई। इसी प्रकार फरक्का बाध (Farakka barrage) के सम्बन्ध म भी समझौते हुए। बर्मा के साथ भी अगस्त 1974 मे सीमा सम्बन्धी मतभेदो को दूर करने के लिए समझौता किया गया। चीन के साथ भी भारत विवादो को शान्तिमय साधनो से निपटाना चाहता है परन्तु सम्भवतया चीन की इन भावना या समझौतो म रुचि नही।

केवल पडोसी देशो के साथ ही नही अपितु अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र मे भी भारत शान्ति का देवदूत माना जाता है उदाहरणतया कोरिया युद्ध (1950 53) म भारत न शान्ति स्थापित करने के अनेक प्रयास किये और पाच राष्ट्रो के आयोग म (Neutral Nations Repatriation Commission), जिसका अध्यक्ष भारत था, युद्धबन्दियो की समस्या का हल करने म सराहनीय कार्य किया। इसी प्रकार हिन्द चीन (Indo China) के सम्बन्ध मे 1954 के जेनेवा समझौते के बाद राजनीतिक समस्याओ का समाधान करने के लिए स्थापित किये गये अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग (International Control Commission) का भारत अध्यक्ष था। सन् 1956 मे स्वेज सकट के समय राष्ट्रपति नासीर की नीति का समर्थन करते हुए भी उसे मृदु नीति अपनाने का सुझाव दिया।

भारत देश की विदेश नीति का मूल आधार वस्तुत विश्व शान्ति और शान्तिवाद है। गुटो से पृथक रहने की उसकी असलग्नता की नीति का मूल उद्देश्य यही है। भारत शस्त्रो की होड का विरोधी है और विश्व शान्ति के लिए निःशस्त्रीकरण आवश्यक समझता है। भारत ही पहला देश था जिसने 1963 की आशिक अणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे। भारत न 1968 की परमाणु अस्त्र विस्तार निषेध सन्धि पर इसलिये हस्ताक्षर नही किये कि महा शक्तिया इस प्रकार की सन्धि द्वारा विश्व म परमाणु शक्ति पर अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहती है और छोटे तथा अल्पविकसित राष्ट्रो को उनकी दया पर निर्भर करना चाहती हैं।

आज भारत भी एक अणु सम्पन्न देश है और उसने 19 अप्रैल 1975 को आर्यभट्ट नाम का एक उपग्रह अंतरिक्ष में छोड़कर अपनी वैज्ञानिक और तकनीकी कुशलता का परिचय भी दिया है। परन्तु अणु शक्ति सम्पन्न होने पर भी भारत अपने पड़ोसी या अन्य राष्ट्रों को आतंकित करने की इच्छा नहीं रखता अणु या परमाणु अस्त्रों का निर्माण नहीं करना चाहता और न ही किसी भारतीय साम्राज्य की स्थापना करना चाहता है। आज भी भारत 'साथी' और "भाई" बनना चाहता है, "नेता" नहीं। भारत ने अणु शक्ति का विकास शांतिमय साधनों के लिए किया है। भारत इसके विकास से अपनी आर्थिक समस्याओं का समाधान करना चाहता है तथा गैस, तेल, विद्युत, स्वास्थ्य आदि साधनों में इसका प्रयोग करना चाहता है। परन्तु भारत का शान्तिवाद कोरा त्यागात्मक नहीं यह सकारात्मक भी है और जब कभी भारत पर युद्ध थोप दिया जाता है या उसकी सीमाओं का अतिक्रमण किया जाता है तो वह अपनी सुरक्षा करना भी जानता है।

2 असंलग्नता या गुट निरपेक्षता की नीति—एक शब्द जिससे भारत की विदेश नीति जानी जाती है वह है *असंलग्नता या गुट निरपेक्षता। जबसे इस नीति को गढ़ा गया है तब से भारतीय विदेश नीति के निर्माताओं के लिए यह* 'विश्वास का अवतरण' (an article of faith)[1] रही है और आज भी है। सन् 1962 के चीनी आक्रमण, 1965 के पाकिस्तानी आक्रमण, 1971 की भारत रूस सन्धि और पाकिस्तानी आक्रमण के समय इसकी अनेक बार अग्नि परीक्षा की गई और हर बार इसने अपनी गतिशीलता और व्यवहारवाद (dynamism and pragmatism) को अभिव्यक्त किया है। वस्तुत जैसाकि कृष्णा मेनन ने 1969 में कहा था कि भारत के लिए "असंलग्नता का कोई विकल्प नहीं", यह "नीति की स्वतन्त्रता" की अभिव्यक्ति है।[2] प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने इस वक्तव्य को बार बार दोहराया है कि न केवल 'द्विध्रुवीय विश्व' (Bipolar World) में बल्कि 'बहुध्रुवी विश्व' (Mutipolar World) और विश्व गुटों के शीतयुद्ध अर्थात समन्वय शैथिल्य (detente) की स्थिति में इसकी प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है।

असंलग्नता या गुट निरपेक्षता का अर्थ है कि विश्व के किसी भी गुट के साथ जुड़ा हुआ न होना, अर्थात् नाटो, सीटो या वार्सा संगठनों जैसे किसी सैनिक गठबन्धनों में शामिल न होना। यह ऐसी नीति है जो विश्व में स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करती और हर समस्या पर अपने विचारों को प्रकट करने और दृष्टिकोण को अपनाने के लिए स्वतन्त्र समझती है। यह किन्हीं पूर्वाग्रहों के आधार पर कार्य

---

1 Quoted by Palmer, Norman D The Indian Political System, p 273

2 Quoted by Palmer Ibid, p 273

नही करती। यह समस्याओं पर वस्तुनिष्ठ (objective) दृष्टिकोण अपनाती है, व्यक्तिनिष्ठ (subjective) नही।

असलग्नता की नीति को विविध नामो से पुकारा जाता है। इसे 'तटस्थता', (neutrality), 'गत्यात्मक तटस्थता' (dynamic neutrality) 'शान्तिवाद' तथा 'गुटबन्दियो से पृथक रहने की नीति दोहरे गठबन्धन (Double alignment) की नीति, आदि कहा जाता है। कुछ लेखक इसे नीति कहने के स्थान पर 'दृष्टिकोण' (attitude) कहना ही पसन्द करते हैं। पामर इसे व्यवहारवाद[1] (pragmatism) की संज्ञा देना पसन्द करते हैं। भारत देश की विदेश नीति के सम्बन्ध मे अभिव्यक्त किये गये ये विचार वस्तुत अनेक भ्रान्तियो को पैदा करते हैं। भारत की विदेश नीति तटस्थता की नही क्योकि तटस्थता एक स्थैतिक और नकारात्मक (static and negative) विचार है जबकि असलग्नता एक गतिशील और सकारात्मक (dynamic and positive) विचार है। जहा तटस्थता अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर पृथकता (Isolationism) का दृष्टिकोण अपनाती है वहा असलग्नता अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर पृथकता का दृष्टिकोण नही अपनाती बल्कि उन पर स्वतन्त्र रूप से विचार करती है, उनमे सहभागिता की भूमिका निभाती है और आवश्यकता हो तो विरोधी गुटो म या युद्ध क सघर्ष म सलग्न पक्षकारो म मध्यस्थता का कार्य करती है।

भारत की विदेश नीति असलग्नता की है। वह दोनो गुटो से अलग रहना चाहती है, दोनो की मित्रता चाहती है और दोनो से सहायता प्राप्त कर अपनी उन्नति करना चाहती है। वह दोनो महाशक्तियो की राजनीति म अपने आपको उलझाना नही चाहती परन्तु इसका यह अर्थ नही कि भारत की नीति चुपचाप बैठ कर तमाशा देखने की है। भारत ने हमेशा, अपने विचारो के अनुसार, न्याय, औचित्य और शान्ति का साथ दिया है और जब वह स्वय आक्रमणो का शिकार रहा है तो उसने अपनी सीमाओ की रक्षा भी की है। अपने स्वतन्त्र विचारो के अनुसार यदि भारत ने निःशस्त्रीकरण जाति भेदभाव और क्षेत्रीय सैनिक सगठनो की समस्याओ पर रूस का साथ दिया है तो हगरी और चेकोस्लोवाकिया म रूसी हस्तक्षेप की निन्दा भी की है। अपनी सीमाओ की रक्षा और इस उपमहाद्वीप म शान्ति बनाये रखने के लिये भारत ने 1971 मे भारत रूस सन्धि जैसी शान्ति सन्धि भी की है। सन् 1949 मे अमरीकी सीनेट म भाषण देते हुए प० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "जहा स्वतन्त्रता के लिये खतरा उपस्थित हो, न्याय को धमकी दी जाती हो, अथवा जहा आक्रमण होता हो वहा न तो हम तटस्थ रह सकते है और न तटस्थ रहेगे।" कृष्णा मेनन ने भी सयुक्त राष्ट्र सघ की महासभा म भारतीय विदेश नीति का

1 डा० दिनेश चन्द्र चतुर्वेदी की पुस्तक भारतीय शासन और राजनीति' से उद्धृत पृ० 427

विश्लेषण करते हुए कहा था कि "हम तटस्थ देश नहीं है ' हम युद्ध और शान्ति के सन्दर्भ में तटस्थ नहीं हैं । हम साम्राज्यवादियों अथवा अन्य देशों द्वारा आधिपत्य स्थापित करने के सन्दर्भ में भी तटस्थ नहीं है । हम नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में तटस्थ नहीं हैं । हम उन बड़ी आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में तटस्थ नहीं हैं जिनका कभी भी उदय हो सकता है हमारी स्थिति यह है कि हम शीत युद्ध के सन्दर्भ में गुट निरपेक्ष तथा अप्रतिबद्ध है ।' [1]

भारतीय विदेश नीति को पूर्णतया शान्तिवादी की भी संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि भारत अपनी सुरक्षा और युद्ध की सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर ही कार्य करता है । शान्ति की इच्छा रखते हुए भी उसे चार आक्रमणों का सामना करना पड़ा है।

भारत की विदेश नीति को पूर्णतया व्यवहारवाद की संज्ञा देना, जैसाकि पामर ने कहा है, भी गलत है क्योंकि व्यवहारवाद अन्ततः अवसरवाद को जन्म देता है जबकि भारत की विदेश नीति अवसरवादी नहीं । यदि इसमें राष्ट्रीय हितों का समावेश है तो इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि इसमें आदर्श और नैतिक भावनाओं का भी समावेश रहा है । इसमें मूलतः शान्ति का भाव छुपा है स्वार्थ का नहीं ।

पाकिस्तान और चीन ने भारत की विदेश नीति को दोहरे गठबन्धन की संज्ञा दी है । उनका कहना है कि भारत ने अमरीका और रूस दोनों से सहायता प्राप्त कर दोनों से गठबन्धन किये हैं । परन्तु भारतीय विदेश नीति को यह नामकरण भी गलत है क्योंकि विकास के लिये मित्रों से सहायता प्राप्त करना कोई गठबन्धन नहीं । वस्तुतः चीन और पाकिस्तान भारत के विकास और समृद्धि के विरोधी है ।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जिस एक शब्द से भारत की विदेश नीति अभिव्यक्त की जा सकती है वह है तटस्थता, व्यवहारवाद या दोहरी गठबन्धता नहीं बल्कि शान्तिवाद और असलग्नता या गुट निरपेक्षता है ।

**असलग्नता की नीति की अग्नि परीक्षा**–भारत की असलग्नता की नीति अनेक कसौटियों पर कसी गई है । यद्यपि इस नीति के आलोचकों ने हर सकट के उत्पन्न होने पर इसकी असफलता, इसके खोखलेपन और अव्यावहारिक पक्षों को उभाड़ने की कोशिश की परन्तु यह स्पष्ट हो चुका है कि विश्व चाहे द्वि ध्रुवी, रहे या बहु ध्रुवी, भारत चाहे अपने आर्थिक विकास के लिए पश्चिम या पूर्व (रूस) से सहायता ले या सीमाओं की रक्षा के लिए पश्चिम से सैनिक अस्त्र शस्त्र ले या भारत रूस जैसी शान्तिमय सन्धियों का निर्माण करे, भारत के लिए यही नीति सर्वोत्तम है, इसी से उसके राष्ट्रीय हितों की सर्वोत्तम सुरक्षा हो सकती है और इसी के माध्यम से इस उप महाद्वीप तथा विश्व में शान्ति स्थापित करने या संघर्ष में संलग्न पक्षों में सेतुबन्द का काम कर सकता है ।

---

1 डा० दिनेशचन्द्र चतुर्वेदी की पुस्तक भारतीय शासन और राजनीति से उद्धृत, पृ० 427

प्रारम्भ मे (1947–54) भारत की असलग्नता की नीति कुछ पश्चिम की ओर झुकी हुई नजर आती थी। इसका मूल कारण यह था कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत अपनी सीमाओं की रक्षा हेतु तथा अपने आर्थिक विकास हेतु आर्थिक और तकनीकी सहायता के लिए पश्चिम (विशेष कर ब्रिटेन) पर निर्भर करता था, भारत के विदेश व्यापार का 97% भाग पश्चिमी राष्ट्रो से होता था। इतना ही नही भारत का शिक्षित वर्ग पश्चिमी विचारधाराओ से अत्यधिक प्रभावित था। यही कारण है कि भारत ने पश्चिम का साथ देते हुए कोरिया युद्ध मे उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित किया और पूर्वी जर्मनी को यह कह कर मान्यता देने से इन्कार कर दिया कि इससे जर्मनी के विभाजन को स्वीकार करना होगा। वस्तुत यह काल भारत के "आदर्शवाद" और "उपयोगिताओ" का काल था और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उसकी भूमिका अन्तर्निहित शक्ति से कही अधिक थी।

सन् 1954 मे जब अमरीका ने सीटो(SLATO)[1] का निर्माण कर शीत युद्ध को भारत के दरवाजे पर ला कर खड़ा कर दिया और भारत के घोर विरोध पर भी अमरीका ने पाकिस्तान को अस्त्र शस्त्रो से सुसज्जित किया तो भारत की विदेश नीति रूस के पक्ष मे लहराने लगी। रूस और भारत के नेताओ ने 1955 मे (ख्रुश्चेव और नेहरू ने) एक दूसरे देश की सदभावना यात्रायें की। रूस ने भारत को भिलाई इस्पात कारखाने के लिए आर्थिक और तकनीकी सहायता भी दी। सन् 1956 मे स्वेज सकट उत्पन्न होने पर भारत ने, रूस की भांति, ब्रिटेन और फ्रास के आक्रमण की निन्दा की। सन् 1954–57 का काल भारत चीनी "प्रमाद काल" भी था जिसमे हिन्दी चीनी भाई भाई के नारे भी लगाये गये। परन्तु इस काल की विदेश नीति की सबसे बडी असफलता यह थी, जैसाकि इन्दर मलहोत्रा ने लिखा है कि "सरकार राष्ट्रीय सुरक्षा की आवश्यकताओ का विदेश नीति की आवश्यकताओ के साथ मिलाने मे निर्बल (अयोग्य) सिद्ध हुई।"[2] भारत को इस बात का अहसास अक्टूबर 1962 मे चीनी आक्रमण के समय हुआ।

चीनी आक्रमण ने (1962) भारत की असलग्नता की नीति को झकझोर दिया। इसके विरोधियो ने इसकी असफलता की घोषणा करना शुरू कर दिया और पश्चिमी गुट मे शामिल होने का सुझाव दिया जाने लगा। 21 नवम्बर 1962 के हिन्दुस्तान टाइम्स मे 'असलग्नता कहा" (Whither Neutrality) के शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित एक लेख में आचार्य कृपलानी ने कहा कि "चीनी आक्रमण से उत्पन्न स्थिति मे न तो भारत असलग्नता की नीति का अवलम्बन कर सकता है और न अमरीकी सहायता स्वीकार करने के बाद इसका दावा ही कर सकता है।' परन्तु प० नेहरू ने ब्रिटेन और अमरीका से सैनिक सहायता प्राप्त करते हुए भी इसी नीति

---

1 पाकिस्तान सीटो का सदस्य बनाया गया था।

2 Quoted by Palmer Ibid, p 275

के अनुसरण करने पर बल दिया। मगर भाषण देते हुए नेहरू जी ने कहा कि 'हम अपनी आर्थिक कठिनाई के कारण अपना मूल सिद्धांत को छोड़ते जा रहे हैं।" उनका कहना था, और यह सत्य भी सिद्ध हुआ, कि अमरीकी गुट में शामिल होने से भारत चीन सीमा संघर्ष का समाधान नहीं होगा बल्कि वह शीत युद्ध के अखाड़े में फंस जायगा। उन्होंने इस बात को दोहराया कि अमरीकी सहायता के बावजूद पाकिस्तान तथा कोरिया और जर्मनी का विभाजन हुआ और न जनवादी चीन का प्रश्न और न ही फारमोसा का गम्भीर मिल सका। आज की विश्व राजनीति भी यही सिद्ध करती है कि अमरीकी हस्तक्षेप के कारण ही पश्चिमी एशिया की समस्या का समाधान नहीं हुआ, वियतनाम की समस्या का हल वहां की राष्ट्रवादी शक्तियों ने किया और अमरीका दक्षिण वियतनाम से थू के शासन से पराजित होकर चला गया, आदि। वस्तुतः भारत ने असंलग्नता की नीति का अनुसरण इसलिए किया था कि भारत अपनी स्वतन्त्रता के साथ किसी से समझौता करने को तैयार नहीं था और गुट में मिलने का अर्थ है "अपना लंगर छोड़ना", "आत्मसम्मान" खोना अर्थात बहुमूल्य निधि (राष्ट्रीय स्वतन्त्रता) का विनाश करना।

मई 1964 में श्री नेहरू की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारियों ने असंलग्नता की नीति का अनुसरण ही नहीं किया बल्कि उसके प्रति अपनी 'आस्था' और 'विश्वास' को भी प्रकट किया है। यह सत्य है कि नेहरू जी की मृत्यु के बाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत ने अपनी भूमिका को दबी हुई आवाज से निभाया परन्तु 1971 में बंगला देश को स्वतन्त्र करा कर भारत ने सिद्ध कर दिया कि भारत राष्ट्रीय स्वतन्त्रता में लीन देशों की सहायता ही नहीं कर सकता बल्कि उनका मुक्तिदाता भी बन सकता है।

1965-71 के काल में विश्व की राजनीति में अत्यन्त गम्भीर परिवर्तन हुए शीत युद्ध में शिथिलता आई, प्राचीन वैमनस्य शान्त होने लगे, न केवल रूस और अमरीका एक दूसरे के निकट आये बल्कि चीन और अमरीका भी एक दूसरे के निकट आने लगे। इन्हीं परिस्थितियों में भारत को पहले 1965 में और फिर 1971 में पाकिस्तान के आक्रमण का सामना करना पड़ा। जब बंगला देश की समस्या पर विश्व की महाशक्तियां कार्य करने में असफल रहीं तो भारत ने अपनी सीमाओं की सुरक्षा के लिए 9 अगस्त 1971 को रूस के साथ 20 वर्षीय संधि की। इस संधि को भारत की असंलग्नता की नीति की कब्र कहा जाता है परन्तु यह इस संधि का सही मूल्यांकन नहीं। यह संधि संकट के समय के लिये "मित्र" उत्पन्न करती है 'सैनिक गठबन्धन नहीं' और मित्रों की खोज असंलग्नता का निषेध नहीं। यह वास्तविकता है कि भारत न तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में और न ही इस उप महाद्वीप में अपने स्वतन्त्र ढंग से कार्य करने की क्षमता को रूस के हाथों बेचा है। भारत की विदेश नीति की स्वतन्त्रता इस तथ्य से कि रूस और भारत में गहरी मित्रता और सहयोग की भावना होते हुए

ने रूस द्वारा "एशियाई सामूहिक सुरक्षा" के विचार को कोई बढ़ावा नहीं दिया और 18 मई 1974 के भारतीय अणु परीक्षण की तो रूस को हवा तक न लगने दी। 19 अप्रैल 1975 का भारतीय आर्यभट्ट[1] जहां भारत रूस की मित्रता का प्रतीक हो सकता है वहां वह भारत की अंतरिक्ष में स्वतन्त्र नीति का भी प्रतीक है। भारत ने हिन्द महासागर को केवल रूसी हस्तक्षेप से ही नहीं बल्कि अमरीकी हस्तक्षेप से भी मुक्त रखने पर बल दिया है। दायगो गार्शिया में बनाये जाने वाले अमरीकी सैनिक अड्डा का विरोध भारत ने खुल कर किया है।

यह सत्य है कि "प्राचीन विभाजन फीका पड़ गया है और आज विश्व में वैमनस्य शैथिल्य (detente) की स्थिति है और प्राचीन गुटबन्दियों का युग इतिहास की घटना मात्र बन कर रह गया है, शक्ति संरेखण (power alignment) में कुछ परिवर्तन हुआ है, राष्ट्र पारस्परिक मेल के लिए भारत के सेतुबन्द पर निर्भर नहीं करते बल्कि उनके मध्य हाट लाइन (Hot line) स्थित है, परन्तु वस्तुतः स्थिति यह है कि बहु ध्रुवी विश्व में भी असंलग्नता की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि द्विध्रुवी विश्व में थी। जैसाकि श्रीमती इन्दिरा ने जनवरी 1969 में कहा था कि "द्वि ध्रुवी विश्व में तो इसकी प्रासंगिकता और भी अधिक है।"[2] यद्यपि राष्ट्र आज एक दूसरे को समझने का प्रयास कर रहे हैं परन्तु इससे असंलग्नता की नीति का महत्त्व कम नहीं होता बल्कि और बढ़ जाता है।

3 *अफ्रेशियाई एकता—एशिया और अफ्रीका के देश पश्चिमी साम्राज्यवाद* के शिकार रहे हैं। आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से ये देश अल्पविकसित, अर्द्ध-विकसित या पिछड़े हुए हैं, लोगों का स्तर सामान्य जीवन स्तर से न्यून है। अतः भारत की विदेश नीति की एक विशेषता यह है कि जहां साम्राज्यवाद के चंगुल से स्वतन्त्र होने वाले इन क्षेत्रों के देशों की स्वतन्त्रता स्थाई रहे वहां ये देश पारस्परिक सहयोग द्वारा अपना आर्थिक और औद्योगिक विकास भी करें। राष्ट्रों की एकता बनाये रखने के लिये सर्व प्रथम मार्च 1947) में दिल्ली में एक एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया गया दूसरा सम्मेलन, इण्डोनेशिया के प्रश्न पर फिर जनवरी 1949 में दिल्ली में आयोजित किया गया। सम्मेलन में एशिया के 15 राज्यों और आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड ने भाग लिया। इस सम्मेलन के फलस्वरूप

---

1 *भारत ने आर्यभट्ट नाम का अपना पहला उपग्रह सोवियत प्रक्षेपण स्थल* (मास्को से थोड़ी दूर बियस झील के पास) से 19 अप्रैल, 1975 को अन्तरिक्ष में फेंका।

2 'In a bipolar world non alignment may have been easier to *understand, but in bimultipolar world it is even more rele*vant Mrs Gandhi, Indira Quoted by Palmer, Ibid pp 273–274

डोनेशिया मे डच साम्राज्य को पुन स्थापित करना असम्भव हो गया। 18 अप्रेल, 1955 को इण्डोनेशिया के नगर बाण्डु ग म अफ्रेशियाई देशा ने हिस्सा लिया जिसम उपनिवेशवाद का विरोध किया गया, पचशील के सिद्धान्ता म आस्था व्यक्त करते हुए उनका विस्तार किया गया तथा एक दूसरे के साथ सहयोग के वचन दिये गये। संयुक्त राष्ट्र सघ म भी इन राष्ट्रा की एकता महसूस की जाने लगी। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया और एशिया तथा अफ्रीका के देश स्वतन्त्र होते गये वैसे वैसे बाण्डु ग भावना (Bandung spirit) फीकी पडती गयी, राष्ट्रा के अपने स्वार्थ बढते गये और पारस्परिक झगडे उठने लगे। यही कारण है कि बाण्डु ग के सम्मेलन के बाद अफ्रेशियाई राष्ट्रा का कोई सम्मेलन नही हुआ। इस समय एशिया के दो महा-राष्ट्रा (चीन और भारत) के सम्बन्ध मधुर नही। भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध सामान्य नही। दूसरे, अनेक देशा के अपने सीमावर्ती झगडे है। तीसरे पश्चिम एशिया के राष्ट्रा द्वारा अपनाई गयी 'तेल अस्त्र की नीति' और तेल की कीमता मे की गयी अत्यधिक वृद्धि ने इस एकता के आधार को गहरा आघात पहुचाया है। तेल की कीमतें बढ जाने से एशिया के अल्पविकसित राष्ट्रा के औद्योगिक विकास की योजनाओं पर बडा दुष्प्रभाव पडा है। स्वय भारत इससे अत्यधिक प्रभावित हुआ है। इतना ही नही गुट निरपेक्ष कहलाये जाने वाला 'तृतीय विश्व" (Third World) अब दो भागो म विभक्त हो गया है जिसे "तृतीय' और चतुर्थ विश्व (Fourth world) की सज्ञा दी जाती है। "तृतीय विश्व" शब्द का प्रयोग अब तेल उत्पादक देशो के लिये किया जाता है जिनकी प्रति व्यक्ति आय प्रथम और द्वितीय विश्व कहलाये जाने वाले देशा के व्यक्तियो से भी अधिक है। चतुर्थ विश्व अब वह क्षेत्र है जो विश्व का सबसे निर्धन क्षेत्र माना जाता है। इसम अधिकाशत एशिया और कुछ अफ्रीका के देश (जो तेल उत्पादक देश नही हैं) सम्मिलित किये जाते हैं। सक्षेप मे, एशिया और अफ्रीका मे उपनिवेशवाद की कब्र खुद जाने से इन राष्ट्रा म एकता का आधार हिल गया और पारस्परिक सहयोग का स्थान प्रतिद्वन्द्विता और विवादो ने ले लिया। इन घटनाओ के विकसित होने के बाद भी भारत का प्रयास एशिया म पारस्परिक सहयोग और सद्भावना का विकास करना है। इसी उद्देश्य से हाल ही मे उप राष्ट्रपति जत्ती और विदेश मन्त्री चह्वाण की यात्राओ का आयोजन किया गया।

4 रग भेद, जाति भेद उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध—भारत रग भेद, जाति भेद, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को मानव जाति और विश्व शान्ति का शत्रु समझता है अत वह इन सब का घोर विरोध करता है। जहा कही जाति के आधार पर व्यक्तियो म भेद किया जाता है भारत उसका विरोध करता है चाहे प्रश्न अमरीका मे नीग्रोज के साथ भेदभाव का हो या दक्षिण अफ्रीका म रगभेद (apartheid) की नीति का हो या रोडेशिया म इयान स्मिथ द्वारा अफ्रीकी जनता को सवैधानिक अधिकारो से वचित किया गया हो, भारत इन सबका विरोध

करता है और दलित वर्गों को अपने अधिकार दिलाने के लिये प्रयत्नशील रहता है। भारत रंग भेद और जाति भेद की नीति का कट्टर विरोधी है, यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि भारत ने दक्षिण अफ्रीका की रंग भेद की नीति के कारण उससे राजनय सम्बन्ध विच्छेद कर रखे हैं। भारत मानव अधिकारों का पक्षपाती है और सभी जातियों को सभी वर्गों को अपने विकास के लिये मूल स्वतन्त्रतायें प्रदान कराने का समर्थक है।

भारत उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को विश्व शान्ति के लिये खतरा समझता है अतः वह इनका विरोध करता है। साम्राज्यवाद का रूप चाहे कूटनीतिक हो या आर्थिक भारत सभी का विरोध करता है। भारत ने सर्वदा उन राष्ट्रीय शक्तियों का समर्थन किया है जो स्वतन्त्रता संग्राम में लीन हैं। उदाहरणतया द्वितीय महायुद्ध के बाद जब हालैण्ड ने इण्डोनेशिया पर अपना साम्राज्य पुनः स्थापित करने का प्रयास किया तो भारत ने उसका घोर विरोध किया। इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये भारत ने अफ्रो-एशियन राष्ट्रों का सम्मेलन दिल्ली में आयोजित किया, संयुक्त राष्ट्र संघ में भी भारत ने इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। सन् 1956 में जब इंग्लैण्ड और फ्रांस ने मिस्र (Egypt) पर आक्रमण किया और स्वेज नहर को हड़पने की कोशिश की तो भारत ने उसका घोर विरोध किया। *इसी प्रकार भारत ने लीबिया ट्यूनिशिया मोरक्को, घनाया अलजीरिया आदि* अफ्रीकी राष्ट्रों के स्वतन्त्रता संग्राम में पूरा समर्थन किया। पश्चिम एशिया में भारत ने डालर साम्राज्यवाद का सर्वदा विरोध किया है और अरब राष्ट्रों का साथ दिया है। भारत फिलिस्तीनी जनता को अपने अधिकार दिलाने के लिये सर्वदा प्रयत्नशील रहा। हिन्दचीन में (वियतनाम लाओस कम्बोडिया थाईलैण्ड) अमरीकी हस्तक्षेप का भारत ने सर्वदा विरोध किया है। भारत सैनिक गुटों (नाटो सीटो वारसा पैक्ट आदि) का सर्वदा विरोधी रहा है क्योंकि ये संगठन राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के लिये घातक होते हैं। इस प्रकार महाशक्तियों के इशारे पर बनायी गयी कठपुतली सरकारों का भी भारत ने विरोध किया है। बंगला देश की स्वतन्त्रता में तो भारत की भूमिका एक मुक्तिदाता के रूप में रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास परिषद में भी भारत ने सक्रिय भूमिका निभायी है और इस बात पर बल दिया है कि स्वशासन न करने वाले प्रदेशों का शासन चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाना चाहिये।

संक्षेप में जहाँ कहीं मानवता जातिवाद साम्राज्यवाद सैनिकवाद या आतंकवाद से मुक्ति चाहती है। भारत ने वहाँ राष्ट्रीय स्वतन्त्रता में लीन शक्तियों का साथ दिया है।

**5 अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों (यू० एन० ओ०) और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति आस्था**— भारत विश्व के उन देशों में से एक है जिनकी विदेश नीति के लक्ष्य संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों से मिलते जुलते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की भांति भारत विश्व में शान्ति का समर्थक है युद्ध से दूर रहना चाहता है और दूसरे देशों को भी इस

भयार स्थिति मे रखना चाहता है, विवादो का पारस्परिक वार्तालापा, मध्यस्थता या विवाचन द्वारा हल किया जाता है तथा साम्राज्य और उपनिवेशवाद का विरोधी है। भारत का यह मत है कि विश्व की कल्पना संयुक्त राष्ट्र संघ के बिना नही की जा सकती। यही एक ऐसी संस्था है जो विश्व को भय, अभाव व रोग से मुक्ति दिला सकती है। यही कारण है कि भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा किये गये शांतिमय कार्यो, वैज्ञानिक अनुसंधानो और आर्थिक तथा सामाजिक कार्यो में हिस्सा लिया है। भारत ही सम्भवत एक मात्र ऐसा देश है जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ की उपेक्षा या उल्लंघना नही की, कश्मीर के प्रश्न पर भारत ने यू० एन० ओ० के प्रस्तावो को स्वीकार किया है। पाकिस्तान के आक्रमणकारी होते हुए भी भारत ने यू० एन० ओ० की विराम संधियो के प्रस्तावो को स्वीकार किया है, यू०एन०ओ० की माग पर भारत की शांति सेनायें कोरिया, मिस्र और कांगो भेजी गयी।

भारत संयुक्त राष्ट्र संघ के भिन्न भिन्न अंगो का सक्रिय सदस्य भी रहा है। भारत दो बार सुरक्षा परिषद् का सदस्य रहा है, श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित महा-सभा की अध्यक्षा रह चुकी है श्री बी० एन० राव अन्तराष्ट्रीय न्यायालय के सदस्य रह चुके है, स्वर्गीय डा० राधाकृष्णन् यूनस्को (UNESCO) के सर्वोच्च पद पर रह चुके हैं, आदि। भारत संयुक्त राष्ट्र के अनेक अभिकरणो, आयोगो, समितियो आदि का भी सदस्य रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व व्यापी संस्था बनाने मे भी भारत की भूमिका अद्वितीय रही है, विशेष कर उस समय (कोरिया युद्ध के बाद) जब महाशक्तियो मे यू० एन० ओ० की सदस्यता के प्रश्न पर गतिरोध उत्पन्न हो गया था। भारत की धारणा है कि सार्वलौकिक विश्व संगठन ही विश्व मे शांति स्थापित रखने मे सामर्थ्य हो सकता है। यही कारण है कि भारत ने उन देशो को भी संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता दिलाने का प्रयास किया, जैसे साम्यवादी चीन को, जिसका भारत के प्रति विरोधी दृष्टिकोण रहा है।

नि शस्त्रीकरण पर भी भारत की विदेश नीति यू० एन० ओ० के उद्देश्यो से मिलती है। भारत ने 1963 की अणु संधि पर हस्ताक्षर किये है यद्यपि 1968 की परमाणु संधि पर हस्ताक्षर नही किये। आज भारत एक अणु सम्पन्न देश है और उसने अन्तरिक्ष मे भी अपना आर्यभट्ट नाम का उपग्रह छोड दिया है परन्तु भारत के यह कार्य शांतिमय उद्देश्यो के लिये है। इतना अवश्य है कि आवश्यकता होने पर भारत इस ज्ञान का प्रयोग सैनिक उद्देश्यो के लिये भी कर सकता है। सम्भवत भारत की यह नीति चीन जैसे अणु सम्पन्न राष्ट्र तथा अन्य महाशक्तियो से 'परमाणु छतरी" प्राप्त न कर सकने से प्रभावित हुई है।

6 **राष्ट्रो से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध**--भारत की विदेश नीति की एक विशेषता यह है कि यह न केवल पड़ोसी देशो से बल्कि विश्व के सभी देशो से मैत्रीपूर्ण

करता है और दलित वर्गों को अपने अधिकार दिलाने के लिये प्रयत्नशील रहता है। भारत रंग भेद और जाति भेद की नीति का कितना विरोधी है, यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि भारत ने दक्षिण अफ्रीका की रंग भेद की नीति के कारण उससे राजनय सम्बन्ध विच्छेद कर रखे हैं। भारत मानव अधिकारों का पक्षपाती है और सभी जातियों या सभी वर्गों का अपने विकास के लिये मूल स्वतन्त्रतायें प्रदान कराने का समर्थक है।

भारत उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को विश्व शान्ति के लिये खतरा समझता है अतः वह इनका विरोध करता है। साम्राज्यवाद का रूप चाहे कूटनीतिक हो या आर्थिक, भारत सभी का विरोध करता है। भारत ने सर्वदा उन राष्ट्रीय शक्तियों का समर्थन किया है जो स्वतन्त्रता संग्राम में लीन हैं। उदाहरणतया द्वितीय महायुद्ध के बाद जब हालैण्ड ने इण्डोनेशिया पर अपना साम्राज्य पुनः स्थापित करने का प्रयास किया तो भारत ने उसका घोर विरोध किया। इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये भारत ने अफ्रेशियन राष्ट्रों का सम्मेलन दिल्ली में आयोजित किया, संयुक्त राष्ट्र संघ में भी भारत ने इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। सन् 1956 में जब इंग्लैण्ड और फ्रांस ने मिस्र (Egypt) पर आक्रमण किया और स्वेज नहर को हड़पने की कोशिश की तो भारत ने उसका घोर विरोध किया। इसी प्रकार भारत ने लीबिया, ट्यूनिशिया, मोरक्को, मलाया, अलजीरिया आदि अफ्रीकी राष्ट्रों के स्वतन्त्रता संग्राम में पूरा समर्थन किया। पश्चिम एशिया में भारत ने डालर साम्राज्यवाद का सर्वदा विरोध किया है और अरब राष्ट्रों का साथ दिया है। भारत फिलिस्तीनी जनता का अपने अधिकार दिलाने के लिये सर्वदा प्रयत्नशील रहा। हिन्दचीन में (वियतनाम, लाओस, कम्बोडिया, थाईलैण्ड) अमरीकी हस्तक्षेप का भारत ने सर्वदा विरोध किया है। भारत सैनिक गुटों (नाटो, सीटो, वारसा पैक्ट आदि) का सर्वदा विरोधी रहा है क्योंकि ये संगठन राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के लिये घातक होते हैं। इस प्रकार महाशक्तियों के इशारे पर बनायी गयी कठपुतली सरकारों का भी भारत ने विरोध किया है। बंगला देश की स्वतन्त्रता में तो भारत की भूमिका एक मुक्तिदाता के रूप में रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास परिषद में भी भारत ने सक्रिय भूमिका निभायी है और इस बात पर बल दिया है कि स्वशासन न करने वाले प्रदेशों का शासन चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाना चाहिये।

संक्षेप में, जहां कहीं मानवता जातिवाद, साम्राज्यवाद, सैनिकवाद या आतंकवाद से जूझती हुई है। भारत ने वहां राष्ट्रीय स्वतन्त्रता में लीन शक्तियों का साथ दिया है।

5. **अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों (यू० एन० ओ०) और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति आस्था**—भारत विश्व के उन देशों में से एक है जिनकी विदेश नीति के लक्ष्य संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों से मिलते जुलते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की भांति भारत विश्व में शान्ति का समर्थक है, युद्ध से स्वयं बचना चाहता है और दूसरे देशों को भी इस

भयरहित स्थिति से बचाना चाहता है, विवादों का पारस्परिक वार्तालापों, मध्यस्थता या निर्वाचन द्वारा हल करना चाहता है तथा साम्राज्य और उपनिवेशवाद का विरोधी है। भारत का यह मत है कि विश्व की कल्पना संयुक्त राष्ट्र संघ के बिना नहीं की जा सकती। यही एक ऐसी संस्था है जो विश्व को भय, अभाव व रोग से मुक्ति दिला सकती है। यही कारण है कि भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा किये गये शान्तिमय कार्यों, वैज्ञानिक अनुसंधानों और आर्थिक तथा सामाजिक कार्यों में हिस्सा लिया है। भारत ही सम्भवतः एक मात्र ऐसा देश है जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ की उपेक्षा या उल्लंघना नहीं की, कश्मीर के प्रश्न पर भारत ने यू० एन० ओ० के प्रस्तावों को स्वीकार किया है। पाकिस्तान के आक्रमणकारी होते हुए भी भारत ने यू० एन० ओ० की विराम सन्धियों के प्रस्तावों को स्वीकार किया है, यू०एन०ओ० की मांग पर भारत की शान्ति सेनायें कोरिया, मिस्र और कांगो भेजी गयी।

भारत संयुक्त राष्ट्र संघ के भिन्न भिन्न अंगों का सक्रिय सदस्य भी रहा है। भारत दो बार सुरक्षा परिषद का सदस्य रहा है, श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित महासभा की अध्यक्षा रह चुकी है, श्री बी० एन० राव अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्य रह चुके हैं, स्वर्गीय डा० राधाकृष्णन् यूनेस्को (UNESCO) के सर्वोच्च पद पर रह चुके हैं, आदि। भारत संयुक्त राष्ट्र के अनेक अभिकरणों, आयोगों, समितियों आदि का भी सदस्य रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का विश्व व्यापी संस्था बनाने में भी भारत की भूमिका अद्वितीय रही है, विशेष कर उस समय (कोरिया युद्ध के बाद) जब महाशक्तियों में यू० एन० ओ० की सदस्यता के प्रश्न पर गतिरोध उत्पन्न हो गया था। भारत की धारणा है कि सार्वलौकिक विश्व संगठन ही विश्व में शान्ति स्थापित रखने में सामर्थ्य हो सकता है। यही कारण है कि भारत ने उन देशों को भी संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता दिलाने का प्रयास किया, जैसे साम्यवादी चीन को, जिनका भारत के प्रति विरोधी दृष्टिकोण रहा है।

निःशस्त्रीकरण पर भी भारत की विदेश नीति यू० एन० ओ० के उद्देश्यों से मिलती है। भारत ने 1963 की अणु सन्धि पर हस्ताक्षर किये हैं यद्यपि 1968 की परमाणु सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये। आज भारत एक अणु सम्पन्न देश है और उसने अन्तरिक्ष में भी अपना आर्यभट्ट नाम का उपग्रह छोड़ दिया है परन्तु भारत के ये कार्य शान्तिमय उद्देश्यों के लिये हैं। इतना अवश्य है कि आवश्यकता होने पर भारत इस ज्ञान का प्रयोग सैनिक उद्देश्यों के लिये भी कर सकता है। सम्भवतः भारत की यह नीति चीन के अणु सम्पन्न राष्ट्र बनने और महाशक्तियों से 'परमाणु छतरी' प्राप्त न कर सकने से प्रभावित हुई है।

6 **राष्ट्रों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध**—भारत की विदेश नीति की एक विशेषता यह है कि यह न केवल पड़ोसी देशों से बल्कि विश्व के सभी देशों से मैत्रीपूर्ण

सम्बन्धो को उठाने का इच्छुक है। जैसाकि नेहरूजी ने कहा था कि इस "विशाल विश्व म कोई ऐसा देश नही है जिसके साथ हमारे सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण या विरोधी हो।" भारत ने अनेक देशो के साथ मैत्रीपूर्ण सन्धिया और समझौते किय हैं। जस स्विटजरलैण्ड, अफगानिस्तान, नेपाल, सिक्किम (अब यह भारतीय सघ का 22 वा राज्य है) इण्डोनेशिया, बर्मा, तुर्की, सीरिया, जापान फिलिपाइन्स, ईराक, मिस्र, रूस, बगलादेश आदि देशो के साथ मैत्रीपूर्ण सन्धिया की है। पाकिस्तान और चीन के साथ भी भारत मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो को स्थापित करने का इच्छुक है परन्तु इन दोनो देशो का दृष्टिकोण व्यावहारिक और सदभावना का होने के स्थान पर हठधर्मी अधिक है। भारत का मित्रतापूर्ण दृष्टिकोण तो इस एक तथ्य मे स्पष्ट है कि तीन बार पाकिस्तान के आक्रमण का शिकार होने के बाद भी भारत पाकिस्तान से सम्बन्धो को सामान्य बनाने का इच्छुक है और डाक, तार, व्यापार आदि के क्षेत्र म दोनो देशो म 1974 म समझौते हुए है। चीन का दृष्टिकोण तो मित्रतापूर्ण होने के स्थान पर उत्तेजनापूर्ण रहा है। जैसाकि प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने कहा था कि यद्यपि चीन ने जानबूझ कर उत्तेजनापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया है परन्तु हमने सदा धैर्यता और परिपक्वता के साथ प्रतिक्रिया की है।[1]

7 सेतुबन्ध का कार्य—भारत की विदेश नीति का एक उद्देश्य यह भी रहा है कि दो विरोधी गुटो म तनाव की स्थिति उत्पन्न होने पर सेतुबन्द का काम करना। जसाकि नेहरूजी ने कहा था कि "हमारा काम पुलो को बनाना है, तोडना नही" यद्यपि आज प्राचीन गुटो म परिवर्तन आने लगा है पारस्परिक वैमनस्य म शथिल्य (detente) की स्थिति उत्पन्न हो गयी है और दोनो महाशक्तियो म सीधे सम्पर्क के लिये हाट लाईन (Hot Line) बिछा दी गयी है परन्तु फिर भी आज भी इस विभक्त, सघर्षमय विश्व मे ऐसी शक्तियो की आवश्यकता है जो तनाव उत्पन्न होने की स्थिति मे सेतुबन्ध का कार्य कर सकें। भारत की असमानता की नीति इस भूमिका के लिये उपयुक्त है और रही है।

## भारतीय विदेश नीति का मूल्यांकन
### (Evaluation of India s Foreign Policy)

भारत की विदेश नीति अत्यधिक आलोचना और अत्यधिक प्रशसा का पात्र रही है। आलोचको के लिये यह अविवेकपूर्ण असफल, गोलमोली कोरा आदर्शवाद मित्रहीन और अव्यवहारिक नीति रही है जबकि प्रशसको के लिये यह राष्ट्रीय हितो को सुरक्षित रखने, आर्थिक विकास करने और विश्व म शान्ति स्थापित करने म सफल रही है। जिन आधारो पर भारतीय विदेश नीति की आलोचना और प्रशसा की गई है उन्हे निम्न बिन्दुओ द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है।

---

1 'China seems to be deliberately provocative but we have always reacted calmly and with maturity Quoted by Indian Express, dt 22-7-1975, p 1

**विपक्ष में दिये जाने वाले तर्क**—जिन आधारों पर भारतीय विदेश नीति की आलोचना की गयी है उनमे प्रमुख निम्न है—

1 **व्यावहारिकता का अभाव**—भारतीय विदेश नीति आवश्यकता से अधिक आदर्शमूलक, शान्तिवाद और तुष्टिकरण की रही है। इन सब का परिणाम यह हुआ है कि भारत अपने राष्ट्रीय हितो की रक्षा करने तथा शत्रुओ और मित्रो मे भिन्नता करने म असफल रहा है। अत्यधिक शान्तिवाद और पचशील पर बल देने के कारण भारत चीन के आक्रमणकारी इरादो को न पहचान सका। इतना ही नही, पचशील की आड म चीन तिब्बत को हडप गया और हजारो वर्गमील भारतीय भूमि को आज भी हस्तगत किये हुए है। दूसरी ओर पाकिस्तान के प्रति भारत की नीति प्राय तुष्टिकरण की रही है और यही कारण है कि वह भारत के लिये अधिक सरदद का कारण रहा है। पाकिस्तान के साथ तीन युद्धो के बाद भी भारत यह नही समझ सका कि शक्ति राजनीति के विश्व म 'शान्ति' या 'तुष्टिकरण' का महत्त्व प्राय सीमान्ति (marginal) हो सकता है। अत्यधिक शान्तिवाद मे भारत यह भूल गया कि राजनीति "सत्ता" पर आधारित होती है कोरी अहिंसा, और शान्ति पर नही। भारत ने पाकिस्तान और चीन के प्रति जितनी मृदु नीति अपनाई चीन और पाकिस्तान ने उतना ही हठधर्मी दृष्टिकोण अपनाया।

2 **विश्व राजनीति मे ठोस मित्रो का अभाव**—आलोचको का यह भी कहना है कि भारत की असलग्नता की नीति विश्व म ठोस मित्रो को प्राप्त करने मे असफल रही है। इतना ही नही, वह मित्र और शत्रु के भेद को समझने म भी असफल रही है, उन्ही राष्ट्रो ने भारत की कठिनाइ के समय साथ नही दिया जिनका साथ भारत न दिया। उदाहरणतया भारत ने अरब गणराज्य, इण्डोनेशिया, घाना आदि का सवदा साथ दिया परन्तु चीन के आक्रमण के समय ये राष्ट्र चुप बैठे रहे। अरब इजरायल सघर्ष मे भारत ने सवदा अरब राष्ट्रो का साथ दिया परन्तु बगला देश की समस्या उत्पन्न होन से विश्व के किसी राष्ट्र न सहायता नही की। बल्कि अरब राष्ट्रो की नीतिया ने सवदा भारतीय हितो को हानि पहुचाई है। उदाहरणतया 1956 मे स्वेज सकट उत्पन्न होने पर भारत के आर्थिक विकास की योजनाओ को अत्याधिक हानि हुई। सन् 1973-74 मे तेल सकट ने (जब अरब राष्ट्रो ने अरब इजरायल सघर्ष के बाद तेल अस्त्र का प्रयोग करते हुए तेल की कीमतो म अत्यधिक वृद्धि की) भारत सहित अल्प विकसित देशो की अर्थव्यवस्था को हानि पहुचाई। रबात म भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के साथ जो व्यवहार किया गया वह एक स्वतन्त्र धर्मनिरपेक्ष स्वाभिमानी, सार्वभौम राज्य के लिये अपमान की बात है, आदि।

3 **विदेशी आक्रमणो का शिकार**—आलोचको का कथन है कि भारत किसी गुट म सम्मिलित न होने के कारण विदेशी आक्रमणो का शिकार रहा है। सवश्री राजगोपालाचार्य, आचार्य कृपलानी, ए० डी० गोरवाला तथा उस जसी विचारधारा

रखने वाले लोगो का कथन है कि यदि भारत पश्चिम गुट म शामिल हो जाता तो न तो चीन भारत पर आक्रमण का विचार करता और न ही पाकिस्तान का दृष्टिकोण शत्रुतापूर्ण होता । इन लेखको का कहना है कि चीन फारमोसा, हागकाग, मकाओ, वियतनाम आदि को अपना क्षेत्र मानता है परन्तु उसने कभी भी इन प्रदेशो पर आक्रमण करने का विचार नही किया क्योकि इन देशो को अमरीका, ब्रिटेन या अन्य पश्चिमी शक्तियो का संरक्षण प्राप्त है । इन लेखको का यह भी कहना है कि 1962 म सेला, बोमदिला और वेलाग म जिन अपमानजनक पराजयो का सामना भारत को करना पडा वे सम्भवत न करनी पडती यदि भारत पश्चिमी गुटो से सम्बद्ध होता ।

4 शुद्ध, स्वतन्त्र, असलग्न नीति का अभाव—आलोचको, का कथन है कि *यद्यपि भारत की विदेश नीति को स्वतन्त्र और असलग्नता से जाना जाता है परन्तु* वास्तव मे भारत की नीति न तो पूर्णतया स्वतन्त्र रही है और न ही असलग्न । उदाहरण देते हुए आलोचक कहते है कि भारत अपने आपको साम्राज्यवाद विरोधी मानता है और इसका दावा भी करता है परन्तु उसी भारत ने मलाया के राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन करने के लिये अपनी सीमाओ से ब्रिटिश सेनाओ को गुजरने दिया । इसी प्रकार अरब इजरायल सघर्ष मे इजरायल के पक्ष को समझे बिना अरब राष्ट्रो का अन्धाधुन्ध समर्थन किया । जहा भारत न पश्चिमी जगत द्वारा सम्पन्न किये गये नाटो, सीटो जसे सगठनो की कडी भर्त्सना की वहा रूस द्वारा सगठित किय गये *वार्सा जैसे सगठनो की आलोचना उस मात्रा मे नही की । इसी प्रकार जहा वियतनाम* मे अमरीकी विदेश नीति भारत की कटु आलोचना का पात्र रही है वहा हगरी (1956) और चेकोस्लोवाकिया (1968) म रूसी हस्तक्षेप की अत्यधिक आलोचना नही की । धर्म निरपेक्ष राज्य होने पर भी रबात जसे मुस्लिम सम्मेलन म भारत के भाग लेने का कोई औचित्य नही था ।

आलोचको न भारत की असलग्नता की नीति को 'वेपन्दे के लोटे की नीति' कहा है जो कभी पश्चिम की ओर कभी पूर्व (रूस) की ओर झुकी हुई नजर आती है । यही कारण है कि भारत की विदेश नीति न केवल पश्चिम के समर्थकों की आलोचना का पात्र रही है बल्कि पूर्व (रूस) के समर्थको की आलोचना का पात्र भी रही है । रूसी दृष्टिकोण रखने वाले लेखको न भारत की विदेश नीति को पश्चिम की पिछलग्गू नीति कहा है । भारतीय साम्यवादी दल के अनुसार यह 'एग्लो अमरीकन साम्राज्यवादियो के साथ सहयोग छिपाने का आवरण मात्र है ।" गामिगर का मत है कि स्वतन्त्र नीति का दावा करते हुए भी भारत की विदेश नीति ग्रेट-ब्रिटेन और अमरीका की ओर झुकी हुई है ।" चीनी आक्रमण के समय भारत न अमरीका और ब्रिटेन से जो सैनिक सहायता प्राप्त की थी उस पर टिप्पणी करते हुए आचार्य कृपलानी न कहा था कि "ब्रिटेन और अमरीका स आर्थिक और सैनिक सहायता प्राप्त करने के बाद क्या भारत असलग्नता की नीति का दावा कर सकता

है।" रजनी पाम दत्त ने तो नेहरूजी को "एशिया के नये च्याग काई शेक" की संज्ञा दी। दूसरी ओर, पश्चिम के समर्थक लेखकों ने, मसानी के शब्दों में, भारतीय विदेश नीति को "रूसी उपग्रह की नीति" (Policy of Russian Satellite) की संज्ञा दी है। अगस्त 1971 की भारत रूस संधि पर यह टिप्पणी की गयी है कि भारत ने "अपनी विदेश नीति के मूल बिन्दु को (स्वतंत्रता और असंलग्नता को) दफना दी है।" इस संधि ने विश्व राजनीतिक समस्याओं पर भारत की 'आरम्भन की शक्ति' को लंगड़ा बना दिया है। इस संधि की आलोचना में यह भी कहा गया है कि इसने भारत के शत्रुओं (चीन और पाकिस्तान) को निकट लाने और कुछ मात्रा तक अमरीका को भी भारत से दूर करने में अवसर प्रदान किया है। संधि पर टिप्पणी करते हुए नेपाल के पत्र राईजिंग नेपाल (Rising Nepal) ने यह विचार व्यक्त किया था कि भारत की विदेश नीति "अर्द्ध तटस्थता" की है। बलराज मधोक की यह शंका थी कि "भारत रूस के सम्बन्धों में यह माईल स्टोन (mile stone) कहीं भारत की गर्दन के इर्द गिर्द एक पत्थर न हो जाय।" यह 'हाथी के साथ एक बिस्तर पर लेटने के समान थी" यह शंका भी व्यक्त की गई है कि इससे भारत में रूसी पिट्ठुओं को बढ़ावा मिलेगा और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत के लिये स्वतन्त्र रूप से कार्य करना कठिन होगा।

5 **दूसरे देशों की विदेश नीति को समझने में अक्षम**—भारत की विदेश नीति की यह कह कर भी आलोचना की गयी है कि वह दूसरे देशों की विदेश नीति को समझने और अपनी विदेश नीति को उसके साथ सम्बद्ध करने में असफल रही है। विशेषकर भारत पाकिस्तान और चीन को समझने तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महाशक्तियों की रण नीति को समझने में भी असफल रहा है। आलोचक कहते हैं, आचार्य कृपलानी के शब्दों में, कि "यदि भारत ने माओत्से तुंग को भली भांति समझा होता तो भारत चीन के हाथों परास्त न होता।" भारत का कूटनीतिक प्रचार अपने राष्ट्रीय प्रतिबिम्ब (समस्याओं पर भारतीय दृष्टिकोण) को सही ढंग से प्रक्षेपित (project) नहीं कर पाया।

**पक्ष में दिये जाने वाले तर्क**—भारतीय विदेश नीति के सम्बन्ध में की गयी उपर्युक्त आलोचनायें अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। इन आलोचनाओं में केवल इतना मात्र सत्यांश है कि भारत की नीति आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी और भावना प्रधान रही है। यह सत्य है कि भारत 'हिन्दी चीनी भाई भाई' के नारों में अपनी सुरक्षात्मक आवश्यकताओं को भूल गया और पाकिस्तान के प्रति तुष्टिकरण की नीति से उसे उसके आक्रमणों का शिकार होना पड़ा परन्तु यह कहना अत्युक्तिपूर्ण एवं अतिरंजित है कि भारत की विदेश नीति अपने राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित रखने में असफल रही है या यह केवल 'कोरी बकवास मात्र' (unmitigated nonsense) है। वस्तुतः आलोचकों ने भारतीय विदेश नीति की आलोचना करते समय इस बात की उपेक्षा की है कि भारतीय विदेश नीति के भी कुछ राष्ट्रीय

हित है जिनकी उसने सुरक्षा करनी है, उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता, प्रभुसत्ता और प्रादेशिक अखण्डता को बनाये रखना है, तथा भारतीय जन मानस के आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिये उसे आर्थिक समृद्धि की आवश्यकता है। इन तीना उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिये भारत को दूसरे देशो से आर्थिक, सैनिक और तकनीकी सहायता की आवश्यकता है।

भारत की विदेश नीति की सफलता की प्रामाणिकता तो इस बात से ही स्पष्ट है कि दूसरे देशो से सभी प्रकार की सहायता लेते हुए भी यह किसी गुट से बाधित नही अर्थात भारत स्वतन्त्र और असलग्न नीति का अनुसरण कर रहा है, आक्रमण का शिकार होने पर भी भारत विश्व शांति का इच्छुक और मित्रता बढाने का समर्थक रहा है, इस उप महाद्वीप मे शक्तिशाली होते हुए भी (आज तो भारत एक अणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र है) इसे साम्राज्यवाद से घृणा है, भारत ऐसे स्वतन्त्र विश्व की कल्पना करता है जिसमे सभी देश शांति और सह-अस्तित्व के आधार पर कार्य करें।

निम्न तथ्य स्पष्ट करते हैं कि भारत की विदेश नीति अपने राष्ट्रीय उद्देश्यो को प्राप्त करने मे सफल रही है—

1 **दोनो गुटो के शासनाध्यक्षो की प्रशसा की पात्र**—भारत देश की विदेश नीति की सफलता इस बात से प्रमाणित होती है कि यह दोनो गुटो के शासनाध्यक्षो की प्रशसा की पात्र रही है। भारतीय सरक्षण सेनाओ द्वारा कोरिया मे किये शांति कार्य और मध्यस्थता की सराहना न केवल राष्ट्रपति आइजनहावर ने की बल्कि स्टालिन ने भी की। जैसाकि 1962 मे ख्रुश्चेव ने कहा था कि "भारत की तटस्थ नीति ने विश्व रगमच पर भारी राजनीतिक और नैतिक शक्ति प्राप्त करली है।"

2 **दोनो गुटो से सहायता प्राप्त करने मे सफलता**—भारतीय विदेश नीति की सफलता इस बात मे भी स्पष्ट होती है कि किसी गुट से सम्बन्धित न होते हुए भी भारत ने न केवल सकटो मे (विदेशी आक्रमण की स्थिति मे) बल्कि शांतिकाल मे भी अपने सैनिक और विकास कार्यो के लिये दोनो गुटो से सहायता प्राप्त की है। उदाहरणतया 1962 के चीनी आक्रमण के समय भारत को ब्रिटेन, अमरीका और रूस तीनो से सहायता प्राप्त हुई। आर्थिक उत्थान और समृद्धि के लिये भारत को न केवल अमरीका से बल्कि रूस से भी सहायता प्राप्त हुई। यदि तारापुर के अणु बिजलीघर, दुर्गापुरा और रूरकेला के इस्पात कारखाने पश्चिमी शक्तियो (अमरीका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी) के सहयोग के उदाहरण हैं तो भिलाई का इस्पात कारखाना, हरिद्वार, हैदराबाद और मद्रास मे भारी मशीनो के कारखाने तथा ऋषिकेश मे दवाई बनाने का कारखाना रूसी सहयोग के उदाहरण हैं। यदि भारत किसी एक गुट मे सम्मिलित होता तो भारत दूसरे गुट की सहायता सहयोग और सद्भावना से वंचित रह जाता।

उसके सहायक अंगो मे इन असलग्न राष्ट्रो की शक्ति के प्रभाव को महसूस किया जाता है । असलग्न राष्ट्रो की अगुवाही भारत ही करता है । पाँचवें, चीनी आक्रमण ने यद्यपि असलग्नता की नीति को झकझोर दिया परन्तु उसने उसे यथार्थवादी बना दिया अर्थात भारत शान्ति के लिये 'शक्ति' के महत्त्व को समझने लगा । सन् 1971 म बगला देश की मुक्ति 1974 के अणु विस्फोट और 1975 के आर्यभट्ट के अन्तरिक्ष म फेंके जाने के बाद तो भारत की शक्ति और प्रभाव को भी महसूस किया जाने लगा है । दक्षिण पूर्वी एशिया के राष्ट्र भारत को आज 'केवल एक नैतिक शक्ति के रूप मे ही नही देखते बल्कि एक शक्तिशाली देश के रूप म भी उसका आकलन करते ह ।'[1] पश्चिमी और पूर्वी शक्तिया भी इस अनुभव करने लगी हैं । इस महाद्वीप की राजनीति मे अब भारत की उपेक्षा नही की जा सकती । छठे भारत की असलग्नता की नीति ने ही उसे आत्म निर्भरता का पाठ पढाया है । यदि भारत किसी गुट मे शामिल हो जाता, जैसा कि कुछ लेखक इसका समर्थन करते हैं, तो भारत न केवल विचारो की दृष्टि से भी पराधीन हो जाता बल्कि आर्थिक और सैनिक दृष्टि से भी पराधीन हो जाता । उदाहरणतया पाकिस्तान, सीटो, सेन्टो से सम्बन्धित होने से सैनिक अस्त्र शस्त्रो के लिये गुटीय राज्यो पर निर्भर करता है जबकि भारत सैनिक दृष्टि से आज प्राय आत्म निर्भर है खाद्यान्न के क्षेत्र म कमी होने पर भी उसका प्रयास आत्म निर्भरता की ओर है । सातवें, यह भारत की मैत्रीपूर्ण नीति का ही परिणाम है कि दो तीन राष्ट्रो को छोडकर भारत के सम्बन्ध सभी राष्ट्रो से मैत्रीपूर्ण हैं । हाल ही म बगला देश के साथ सीमाओ बेरूबाडी और फरक्का बाध के सम्बन्ध म, बर्मा के साथ सीमा सम्बन्धी और श्री लका के साथ भारतीय नागरिको राष्ट्रिकताहीन व्यक्तियो (Stateless persons) पाक जलडमरूमध्य म स्थित कच्चदीव टापू के सम्बन्ध मे समझौते हुए है । आठवें यदि यह मान भी लिया जाय कि अरब इजराईल सघर्ष म भारत का दृष्टिकोण अरबो के पक्ष म रहा है तो भी यह भारत के आर्थिक और सामरिक हित म है ताकि भारत के व्यापार के लिये स्वेज नहर और पश्चिमी एशिया के हवाई मार्ग खुले रह और तेल अबाध रूप से प्राप्त होता रहे । नवें, जो ईरान 1971 तक पाकिस्तान का पक्षधर था वह अब भारत पाकिस्तान सम्बन्धो म तटस्थ हो चला है । दसवें सोवियत रूस से सहायता लेते हुए भी भारत ने अपनी प्रभुसत्ता को दाव पर नही लगाया भारतीय विदेशी नीति की यह एक ऐसी सफलता है जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती ।

सक्षेप मे, भारत की विदेश नीति के निर्माताओ न विदेश नीति के जिन लक्ष्यो को निर्धारित किया था—शान्तिवाद गुट निरपेक्षता अफ्रो एशियाई एकता, आदि—वे लक्ष्य ही भारत की विदेश नीति के पात्र हैं और इन्ही के माध्यम से भारत अपने राष्ट्रीय हितो, राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रभुसत्ता और अखण्डता तथा आर्थिक समृद्धि

1 देखिये दिनमान *4 मई 1975 पृ० 18-19*

को प्राप्त करने का प्रयास करता है। अगर कोई अ तर आया है तो वह यह है कि समय, राष्ट्र की सुरक्षा और आर्थिक विकास की आवश्यकताओ ने इसे यथार्थवादी बना दिया है। यह भारतीय विदेश नीति की कुशलता और क्रियाशीलता का परिचायक है उसकी असफलता का नही। श्रीमती गाधी ने जिस स्वतन्त्र विदेश नीति की अवधारणा की है वह न तो महज नतिक है, न ही इसका महत्त्व केवल कागजी है। उसका स्पष्ट राजनीतिक आशय है और वह भारत के राष्ट्रीय हितो पर आधारित है। उसकी बुनियाद ह शक्ति, उसकी अभिव्यक्ति हे शक्ति प्रदशन, लकिन उसका उद्देश्य आक्रमण नही बल्कि केवल राष्ट्रीय हितो की सुरक्षा हे दरअसल श्रीमती गाधी रूस, अमरीका और चीन तीनो के साथ अच्छे सम्बन्ध कायम कर भारत को बराबरी का दर्जा दिलाना चाहती हे। वह जानती है कि भारत को महाशक्ति का दर्जा दिलाये बिना भारत की समस्याओ का निदान नही।"[1] पोकरण विस्फोट और आर्यभट्ट का यही उद्देश्य हे।

## पचशील के सिद्धान्त
## (Principles of Panchsheel)

पचशील के शाब्दिक अर्थ है आचरण के पाच सिद्धा त।" पचशील के सिद्धान्तो का सवप्रथम उच्चारण महात्मा बुद्ध ने किया था। बुद्ध ने इन्हे पाच व्रतो म अभिव्यक्त किया था। ये व्रत थे अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचय, सत्य भाषण और मद्यत्याग। महात्मा बुद्ध के इन पाच व्रतो का सम्बन्ध व्यक्ति क आचरण अर्थात् व्यवहार मे था। आधुनिक समय म इण्डोनेशिया के डा० सुकर्ण ने 1 जून, 1945 को अपनी विदश नीति के सम्बन्ध म पाज्यशिला (Panjashila) के सिद्धान्तो की स्थापना की थी। ये पाच सिद्धान्त थे—राष्ट्रवाद मानवता मे विश्वास, स्वाधीनता, सामाजिक न्याय और ईश्वर विश्वास। राष्ट्रो के पारस्परिक सम्बन्धो का निर्धारित करन मे जिन पाच सिद्धातो का निर्माण अप्रैल 1954 म तिब्बत के सम्बन्ध म भारत और चीन के बीच हुए एक समझौते मे, किया गया था उन्ह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र म पचशील के सिद्धातो के नाम से जाना जाता है। दूसर शब्दो म, जहा महात्मा बुद्ध के पाच सिद्धातो का सम्बन्ध व्यक्ति के आचरण से था जहा डा० सुकर्ण के पाच सिद्धात एक राष्ट्र की विदेश नीति से सम्बन्धित थे वहा भारत और चीन द्वारा प्रतिपादित सिद्धातो का सम्बन्ध राष्ट्रो के पारस्परिक सम्बधो सहअस्तित्व के प्रश्नो और विश्व शान्ति से है। चीन के प्रधान मन्त्री चाऊ एन-लाई और भारतीय प्रधान मन्त्री प० नेहरू न 28 जून, 1954 को इन सिद्धान्तो को सयुक्त बयान मे दोहराया। पचशील के ये पाच सिद्धान्त निम्न थे —

(1) सभी राष्ट्र एक दूसर की प्रादेशिक अखण्डता और सम्प्रभुता का सम्मान कर।

---

1 देखिये दिनमान दिनाक 11 अगस्त, 1974 पृ० 18 19

(ii) कोई राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण न करे और दूसरा की राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण न करे। किसी राज्य की सीमा को कोई दूसरा राज्य भग न करे।

(iii) कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के आन्तरिक मामला म हस्तक्षेप न करे।

(iv) प्रत्येक राज्य एक दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करें तथा पारस्परिक हित म सहयोग प्रदान करे अर्थात् सभी देश समान हैं, कोई न बडा है और न कोई छोटा। सबको इसी सिद्धान्त पर आचरण करना चाहिये।

(v) सभी राष्ट्र शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व के सिद्धान्त म विश्वास करें तथा इसी सिद्धान्त के आधार पर एक दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक रह तथा अपनी पृथक-पृथक सत्ता एव स्वतन्त्रता बनाये रखे।

**पचशील के सिद्धान्तो का मूल्यांकन**—पचशील के सिद्धान्त आलोचना और प्रशसा दोनो के पात्र रहे हैं। जिन आधारा पर पचशील के सिद्धान्तो की आलोचना और प्रशसा की गयी है उनमे प्रमुख निम्न हैं —

**आलोचना**—पचशील के सिद्धान्तो की निम्न आधारो पर आलोचना की जाती है—

1 **कोरा आदर्शमात्र**—पचशील के सिद्धान्तो की यह कह कर आलोचना की गयी है कि ये सिद्धान्त कोरे आदर्श हैं जिनका अन्तर्राष्ट्रीय जगत के ठोस व्यावहारिक सबधो मे महत्त्व कम है। आलोचको का कथन है कि यथार्थ परिस्थितियो मे इनका अनुसरण करना कठिन है। यही कारण है कि इनकी तुलना 1815 के पवित्र सघ (Holy Alliance) तथा 1927 के केलॉग-ब्रियां पैक्ट से की गई है। इन सिद्धान्तो को व्यर्थ भी कहा जाता है क्योकि पचशील का कोई सिद्धान्त ऐसा नही जिसे सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर मे उल्लिखित न किया गया हो।

2 **सिद्धान्तो की कार्यान्विति के लिए मशीनरी का अभाव**—पचशील के सिद्धान्तो के निर्माताओ न इन सिद्धान्तो का निर्माण तो किया परन्तु इनकी कार्यान्विति के लिए कोई सस्था स्थापित नही की और न ही कोई ऐसी व्यवस्था की कि आक्रमण, हस्तक्षेप या अतिक्रमण की घटनायें घटित ही न हो। इन सिद्धान्तो म इस बात की भी व्यवस्था नही कि यदि युद्ध हो जाये तो उसे कैसे दूर किया जा सकता है। अत इनकी उपयोगिता सन्दिग्ध है। ये सिद्धान्त यथा स्थिति के भी पोषक है। अत ये अव्यावहारिक भी हैं।

3 **पापपूर्ण परिस्थितियो की उपज**—जिस पृष्ठभूमि मे इन सिद्धान्तो की रचना की गयी वह पापपूर्ण थी। सिद्धान्तो की रचना राष्ट्रो की स्वायत्तता और अखण्डता की रक्षा के लिए की गयी थी ताकि कोई राष्ट्र किसी राष्ट्र के आन्तरिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप न करे। परन्तु भारत ने तो तिब्बत की स्वायत्तता के अपहरण मे चीन का साथ दिया। जसाकि आचार्य कृपलानी ने कहा था कि यह महान सिद्धान्त

पापपूर्ण परिस्थितियों की उपज है" क्योंकि यह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रूप से हमारे साथ सम्बद्ध एक प्राचीन राष्ट्र के विनाश पर हमारी स्वीकृति पाने के लिए प्रतिपादित किया गया था।"

4 **प्रतिपादकों द्वारा इन सिद्धान्तों की कब्र खोद दी गई**—पंचशील के सिद्धान्त भारतीय राजनीति की हार सिद्ध हुए है। भारत की राजनीति इस तथ्य को ही न समझ सकी कि जब चीन "हिन्दी चीनी भाई भाई" के नारे लगा रहा था तो वह भीतर ही भीतर भारत पर आक्रमण की तैयारी कर रहा था। चीन ने पहले 1959 मे तिब्बत को पूर्णतया हड़प कर लिया और बाद मे 1962 मे भारत पर आक्रमण कर इन सिद्धान्तो की कब्र खोद दी। भारत को भी पाकिस्तान के साथ तीन आक्रमणो का सामना करना पड़ा है। अन्य राष्ट्रो ने इन सिद्धान्तो को मानते हुए भी इनकी उल्लंघना की है। रूस ने पंचशील के सिद्धान्तो को मान्यता देने के पश्चात 1956 मे हंगरी मे और 1968 मे चेकोस्लोवाकिया मे हस्तक्षेप किया। इण्डोनेशिया ने मलेशिया के प्रति आक्रामक नीति का अनुसरण किया। ब्रिटेन और फ्रांस ने 1956 मे मिस्र पर आक्रमण करके इन सिद्धान्तो की कब्र खोदी, अमरीका की विदेश नीति ने भी इनकी उल्लंघना की है। संक्षेप मे, प्रतिपादकों और समर्थकों द्वारा इन सिद्धान्तो की उल्लंघना इनके खोखलेपन को अभिव्यक्त करती है। राष्ट्रो ने इन सिद्धान्तो के प्रति ऊपरी दिखावा किया है इन्हे व्यवहार मे लागू नही किया।

महत्त्व—पंचशील के सिद्धान्तो की उपर्युक्त आलोचना के बाद भी इनका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे विशेष महत्त्व रहा है और आज भी है। इन सिद्धान्तो ने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की जड पर ही कुठाराघात किया है। इन्होने 'शीत युद्ध के कोहरे' को हटाने का प्रयास किया है। इन्होने इस बात पर बल दिया है कि किसी भी शक्तिशाली राष्ट्र को कम शक्तिशाली राष्ट्रो पर राजनीतिक, सैनिक या आर्थिक शर्ते नही लादनी चाहिये। अर्थात ये राष्ट्रो मे प्रादेशिक और आर्थिक साम्राज्यवाद के सिद्धान्तो पर ही कुठाराघात करते है। दूसरे शब्दो मे, ये सिद्धान्त शक्तिशाली राष्ट्रो द्वारा दूसरे देशो मे कठपुतली सरकारो के निर्माण, विद्रोहात्मक कार्यो और राष्ट्रो की स्वतन्त्रता और अखण्डता मे हस्तक्षेप की निन्दा करते हैं। यदि इन सिद्धान्तो का राष्ट्र पालन करें तो पारस्परिक सहयोग के आधार पर विश्व को अभाव, भय, दरिद्रता, निरक्षरता और बीमारी से छुटकारा दिलाया जा सकता है।

पंचशील के सिद्धान्तो मे सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व का है। इस सिद्धान्त की स्वीकृति और कार्यान्विति ही विश्व मे स्थायी शान्ति स्थापित कर सकती है। इस सिद्धान्त के आधार पर ही परस्पर विरोधी विचारधारा वाले राष्ट्र एक दूसरे से सहयोग कर सकते हैं और वस्तुतः इस सिद्धान्त के आभास

ने ही महाराष्ट्रों में पारस्परिक वैमनस्य में शैथिल्य (detente) की स्थिति पैदा की है, न केवल अमरीका और रूस ही एक दूसरे के निकट आय हैं और उन्होंने विज्ञान और अन्तरिक्ष के क्षेत्र में सहयोग की भावना को बढ़ावा दिया है बल्कि इस सिद्धान्त के आभास ने ही अमरीका और चीन को एक दूसरे को निकट लाने में सहयोग दिया है। अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन की फरवरी 1972 की पीकिंग यात्रा के समय जारी की गई संयुक्त विज्ञप्ति में भी प्रणालियों, विचारधाराओं और सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संगठनों में भेद होते हुए भी पंचशील के आधार पर पारस्परिक सम्बन्धों के सामान्यीकरण की बात पर बल दिया गया। राष्ट्रों द्वारा पंचशील के सिद्धान्तों, विशेषकर सह अस्तित्व के सिद्धान्त में, आस्था ही इनकी सफलता और महत्त्व का प्रमाण है। इन्हीं सिद्धान्तों की स्वीकृति और कार्यान्विति ही विश्व में तनाव को कम कर सकती है और स्थायी शान्ति का आधार बन सकता है। इनका विकल्प संघर्ष, युद्ध और विनाश है।

यह सत्य है कि पंचशील के सिद्धान्तों में आदर्श भाव अधिक है परन्तु राष्ट्रों के जीवन में भी आदर्शों का उतना ही महत्त्व है जितना कि व्यक्ति के जीवन में। ये आदर्श ही राष्ट्रों में सद्भावना सहयोग आदि की भावनाएं पैदा करते हैं। सन् 1955 के एशिया और अफ्रीका के 29 राष्ट्रों ने बाण्डुंग में जिन 10 सिद्धान्तों की स्थापना की थी वे वस्तुतः पंचशील के सिद्धान्तों का ही विस्तार मात्र थे। यूरोप की सुरक्षा और सहयोग के सम्मेलन ने (Conference on Security and Co operation in Europe—CSCE) जिन दस्तावेजों को तैयार किया है वे वस्तुतः पंचशील के सिद्धान्तों का विस्तार मात्र है। इन दस्तावेजों पर हेलसिंकी में 35 राष्ट्रों के शासनाध्यक्ष (अमरीका रूस सहित) हस्ताक्षर करेंगे। इन दस्तावेजों में चार पिटारों (Four Baskets) का निर्माण किया गया है। पिटारा एक अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों (Inter State relations) से सम्बन्धित है जिसमें 10 सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है 'पिटारा दो' (Basket 2) आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी पर्यावरणी (environmental) सहयोग से सम्बन्धित है, पिटारा तीन वर्ते हुए मानव सम्पर्कों से सम्बन्धित है और पिटारा चार अनुवर्ती प्रबन्धों (follow up arrangements) से सम्बन्धित है। यह दस्तावेज जहां वैमनस्य शैथिल्य (detente) की विजय है वहां पंचशील के सिद्धान्तों विशेषकर सह अस्तित्व के सिद्धान्तों की भी विजय है।[1]

## पड़ौसी देशों के साथ भारत के सम्बन्ध

### (India's Relations with its neighbours)

भारत के पड़ौसी देशों में प्रमुख देश हैं। चीन रूस और पाकिस्तान। नेपाल, भूटान, बर्मा, श्री लंका, बंगला देश भी भारत के पड़ौसी देश हैं। चीन और पाकिस्तान

1 See Article of T V Parasuram 'Triumph of detente published in Indian Express dt 29-7-1975, p 4

को छोडकर भारत के सभी पडौसी देशा के साथ मित्रतापर्ण सम्बन्ध है । रूस और बगला देश के साथ भारत के घनिष्ठ सम्बध है; भूटान भारत के सरक्षण म है (सिक्किम 36 वे संशोधन द्वारा भारत का 22 वा राज्य बन गया है, पहने यह भारत के सरक्षण म था), नेपाल और बर्मा के साथ भारत के सम्बध अच्छे है । श्री लका के साथ सम्बन्धो म अनेक सुधार हुए हैं । श्री लका म परवासी भारतीय नागरिको और राष्ट्रिकताहीन व्यक्तियो (Stateless persons) की समस्याओ और पाक जल डमरूमध्य म कच्छदीव टापू की समस्याओ का समाधान समझौते द्वारा हो गया है । बगला देश के साथ भी अनेक प्रकार के समझौतो द्वारा सीमाओ का सीमाकन किया गया है, बेरूबाडी और फरक्का बाध के सम्बन्ध म समझौते किये गये है आदि ।

## भारत पाकिस्तान सम्बन्ध
## (Relations with Pakistan)

भारत और पाकिस्तान निकटतम पडौसी है । दोनो एक दूसरे के लिये "प्रथम सुरक्षा पक्ति" (First Line of Defence) है परन्तु फिर भी दोनो के सम्बन्धो म इतना तनाव रहा है जितना कि किसी अन्य देशो के पारस्परिक सम्बन्धो म (अरब इजरायल सघर्ष को छोड कर) नही रहा । जसाकि माइकेल ब्रेकर ने लिखा है कि "स्वतन्त्र राज्यो के अपने सक्षिप्त इतिहास म तीव्रता की भिन्न भिन्न मात्राओ म, भारत और पाकिस्तान अघोषित युद्ध की स्थिति म रहे है । [1] ज्योती भूषण दास गुप्त ने भी लिखा है कि 'भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धो म मतभेद रहे है कभी अप्रत्यक्ष और कभी प्रत्यक्ष परन्तु सबदा मतभेद । [2] भारत और पाकिस्तान म तनाव का मूल कारण भय, शका घृणा, प्रतिस्पर्धा, जातीय वमनस्य और शत्रुता का दृष्टिकोण रहा है । जसा कि इश्तियाक हुसन कुरशी ने लिखा है कि 'भारत का भय सवदा पाकिस्तान की विदेश नीति पर छाया रहा है । पाकिस्तानियो की दृष्टि म पाकिस्तान की प्रतिरक्षा समस्या अधिकाशत भारत के विरुद्ध प्रतिरक्षा की समस्या है । पाकिस्तान के लिये साम्यवादी घुसपठ या वास्तविक साम्यवादी आक्रमण गौण तत्व है, क्योकि भारतीय सकट की तुलना म सदैव दूर और अप्रत्यक्ष दिखाई देते है । तात्कालिक और क्रमिक सकट विशेष परिस्थितियो म भारत से आता हुआ लगता है । तनाव और "जहाद" की स्थिति ने दोना देशो की विदेश नीति के प्रत्येक चरण और अन्तराष्ट्रीय समस्याओ पर दृष्टिकोण और उपागम को प्रभावित किया है ।

---

1 India and Pakistan have been in a state of undeclared war with varying degrees of intesity throughout their brief history as independent states Brecher Michael Nehru A Political Biography (London 1959) p 576

2 Relations between India and Pakistan have been one of discord sometimes latent sometimes manifest but discord all the same [Gupta Jyoti Bhusan Das Indo Pakistan Relations 1947 55 (Amsterdam, 1958), p 34

भारत पाकिस्तान सम्बन्धो को प्रभावित करने वाली मुख्यतया तीन प्रकार की समस्यायें रही हैं। एक प्रकार की समस्यायें व है जो "विभाजन' स उत्पन्न हुई हैं दूसरी प्रकार की समस्यायें वे है जो मूलत पाकिस्तान के शासका द्वारा जानबूझकर अपनायी गयी भारत विरोध नीति अर्थात "जहाद" (धार्मिक युद्ध की नीति स उत्पन्न हुई है। अथात य समस्यायें पाकिस्तान के साम्प्रदायिक आधार म उत्पन्न हुई हैं। तीसरी प्रकार की समस्यायें तब उत्पन्न हुई जब पाकिस्तान ने सीटो, सन्टो की सदस्यता स्वीकार कर इस उप महाद्वीप को शीत युद्ध का अखाडा बनान का प्रयास किया।

**1 विभाजन से उत्पन्न होने वाली समस्यायें**—विभाजन न अनेक प्रकार की समस्यास्याओ को जन्म दिया जिन्हाने भारत पाकिस्तान सम्बन्धो म तनाव की स्थिति को उत्पन्न किया है। य समस्याये थी आमदनी तथा कज का बटवारा एव लागत धन के सम्बन्ध म सन्तोषजनक विभाजन, मुद्रा एव व्यापारिक सम्बन्ध, विस्थापिता की सम्पत्ति की समस्या, दशी रियासता के विलयन की समस्या, नदिया के पानी की समस्या आदि।

विस्थापितो की सम्पत्ति की समस्या, नदियो के पानी की समस्या और देशी राज्या के विलयन की समस्याओ पर दोनो राज्या के गम्भीर मतभेद थे। जो हिन्दू शरणार्थी पाकिस्तान मे अपनी सम्पत्ति छोड कर आये थे उसका मूल्य तीन हजार करोड था जबकि जो मुसलमान भारत में अपनी सम्पत्ति छोड कर गये थ उसका मूल्य तीन सौ करोड था। सन् 1950 म नहरू लियाकत अली समझौते द्वारा इस समस्या का समाधान किया गया। नदियो के पानी के सम्बन्ध म 1960 म विश्व बैंक की मध्यस्थता से सिन्धु जल सन्धि (Indus Water Treaty) द्वारा समझौता हुआ। इस समझौते पर प्रधान मन्त्री नहरू, और राष्ट्रपति अयूबखा ने रावलपिण्डी मे हस्ताक्षर किये। दशी राज्या के सम्बन्ध मे, विशेषकर जुनागढ, हैदराबाद और कश्मीर राज्या के सम्बन्ध मे, दोनो दशो म भिन्नतायें रही है। जहा जुनागढ, हैदराबाद की समस्यायें समाप्त हो गयी है वहा कश्मीर के भारत मे विलयन की समस्या आज भी दोनो देशा म तनाव का कारण बनी हुई है। वस्तुत कश्मीर की समस्या ऐसे ज्वालामुखी की तरह है जो समय समय पर लावा उगलती रहती है और इसने तीन युद्धा (1947 48, 1965, 1971) को जन्म दिया है। अलाप भाइवेल ने लिखा है कि 'कश्मीर समस्या अनिवायत भूमि या पानी की समस्या नही, यह 'लोगो और प्रतिष्ठा की समस्या है।"

**2 घृणा और वमनस्य अर्थात् जहाद की नीति से उत्पन्न होने वाली समस्यायें**—दूसरी प्रकार की समस्यायें वे है जो पाकिस्तान के साम्प्रदायिक आधार स उत्पन्न हुई है और जिन्हाने घृणा और वैमनस्य की प्रेरणा दी है। जातीय वमनस्य को पाकिस्तान के शासनाध्यक्षो ने जान बूझकर बनाय रखा है और समय समय पर साम्प्रदायिक भावनाओ को कभी भाषणा द्वारा कभी चल चित्रा द्वारा और कभी

रेडियो प्रसारण द्वारा निरन्तर बनाये गया है। दुर्भाग्य की बात यह है कि इस साम्प्रदायिक विष का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और संगठनों में भी अभिव्यक्त किया जाता है। वस्तुतः पाकिस्तान ने भारत के साथ सम्बन्धों को सुधारने की कभी यथार्थ इच्छा व्यक्त नहीं की और भारत के "युद्ध नहीं करो" (No War Pacts) के सुझावों को कभी स्वीकार नहीं किया।

सम्बन्धों को सुधारने के लिए अनेक बार प्रयास किये गये हैं परन्तु हर बार वे असफल हुए हैं। सन् 1962 63 में, कभी कलकत्ता में और कभी रावलपिण्डी में स्वर्ण सिंह भुट्टो वार्तायें हुई परन्तु इनसे कोई लाभ नहीं हुआ। सन् 1962 में भारत पर चीनी आक्रमण के समय पाकिस्तान ने भारत की कड़ी आलोचना की। इतना ही नहीं पाकिस्तान ने अधिकृत कश्मीर का एक बहुत बड़ा भाग चीन को दे दिया। भारत के विरोध का पाकिस्तान पर कुछ असर न हुआ। सितम्बर 1973 में हजरत बाल काण्ड को लेकर पाकिस्तान ने भारत में विशेषकर कश्मीर में साम्प्रदायिक दंगे कराने का प्रयास किया। पूर्वी पाकिस्तान (अब बंगला देश) में साम्प्रदायिक दंगे भी हुए जिनमें हजारों व्यक्तियों को अपनी जान से हाथ धोने पड़े। इसकी प्रतिक्रिया भारत में भी हुई। सन् 1964 में "जासूसी षड्यन्त्रों" का पता लगने से दोनों देशों के सम्बन्धों में तनाव की स्थिति फिर पैदा हो गयी और नवम्बर 1964 में राजशाही में भारतीय हाई कमिश्नर के कार्यालय को बन्द कर दिया गया।

**कच्छ का युद्ध**—"कच्छ की रन" (Runn of Kutch) को लेकर पाकिस्तान ने अप्रैल 1965 में इस क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। यह लड़ाई जून 1965 तक चली जब ब्रिटिश प्रधान मन्त्री विल्सन की मध्यस्थता द्वारा युद्ध विराम हुआ। समस्या के समाधान के लिए तीन व्यक्तियों का एक ट्रिब्यूनल बनाया गया जिसके निर्णय पर उग्र प्रतिक्रिया होने पर भी भारत ने उसे स्वीकार कर लिया।

**1965 का युद्ध**—कच्छ समझौते की अभी स्याही सूखने भी न पाई थी कि पाकिस्तान ने अगस्त 1965 में बड़े पैमाने पर कश्मीर में घुसपैठियों को (छापामार सैनिकों का) भेजना शुरू कर दिया और कश्मीर में विद्रोह भड़काने के लिए साम्प्रदायिक विष का सहारा लिया। इतना ही नहीं, 1 सितम्बर 1965 को पाकिस्तान ने अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा पार कर छम्ब जूरिया क्षेत्र में (कश्मीर क्षेत्र में) आक्रमण कर दिया और 5 सितम्बर 1965 को अमृतसर के हवाई अड्डा पर हमला कर दिया। भारत ने जवाबी कार्यवाही की और दोनों देश अघोषित युद्ध में संलग्न हो गये। अयूब खां ने तो स्पष्ट कह दिया था कि "हम लोग अब युद्ध की स्थिति में हैं।" संयुक्त राष्ट्र संघ की मध्यस्थता से 23 सितम्बर 1965 को युद्ध विराम हुआ।

इस युद्ध में यद्यपि दोनों पक्षों ने अपनी अपनी विजय के दावे किये परन्तु इससे पाकिस्तान को निराशा और भारत को कुछ लाभ ही हुआ। पाकिस्तान को

निराशा इस बात से हुई कि (i) न तो वह कश्मीर मे विद्रोह या भारत मे साम्प्रदायिक दंगे भड़का सका, (ii) न चीन ने युद्ध मे भाग लिया, (iii) न सीटो और सेन्टो से उसे मनचाही सैनिक सहायता प्राप्त हो सकी। इस युद्ध ने जहां पाकिस्तान की तानाशाही के खोखलेपन को स्पष्ट कर दिया और पाकिस्तानी सैनिक शासन पर ही संदेह व्यक्त करने लगे वहां इस युद्ध ने उसे यह एहसास भी करा दिया कि धर्म के आधार पर भारत के मुसलमानों को भड़काया नहीं जा सकता और कश्मीर को हिंसा या पशु शक्ति द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस युद्ध ने पिण्डी पीकिंग-जकार्ता धुरी की गरिमा को शान्त कर दिया। दूसरी ओर, इस युद्ध ने जहां भारतीय 'नेट विमानों' की कुशलता और अमरीकी 'पटन टैंको' की निष्प्राणता को स्पष्ट किया वहां 1962 के चीनी आक्रमण से भारत के सैनिक मनोबल का जो मानमर्दन हुआ था उसने वह पुनः प्राप्त कर लिया। दूसरे शब्दो मे, इस युद्ध ने भारत को आत्मनिर्भर और शक्तिशाली प्रदर्शित करते हुए भारत को इस उप महाद्वीप मे एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप मे प्रकट किया।

**ताशकन्द सम्मेलन**—सन् 1965 के युद्ध ने सोवियत संघ की कूटनीति को इस क्षेत्र मे अपनी भूमिका निभाने का अवसर दिया और उसके प्रयासो से पाकिस्तानी राष्ट्रपति अयूब खां और भारतीय प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री ने 10 जनवरी 1966 को रूसी नगर ताशकन्द मे एक समझौता किया जिसे ताशकन्द समझौता कहते हैं। इस समझौते की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने लोकार्नो भावना, जेनेवा भावना, वियाना भावना और कैम्प डेविड भावना की भांति ताशकन्द भावना को जन्म दिया अर्थात् ताशकन्द भावना ने अन्तर्राष्ट्रीय सदभावना के वातावरण को उत्पन्न किया और विश्व समस्याओं को सद्भावना के वातावरण मे हल करने पर बल दिया जाने लगा। भारत पाकिस्तान सम्बन्धो मे नये मोड़ को जन्म दिया। इस समझौते द्वारा दोनो देशो ने यह आश्वासन दिया कि वे "बल प्रयोग का सहारा नहीं लेंगे, विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझायेंगे, एक दूसरे के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप नहीं करेंगे तथा विरोधी प्रचार को निरुत्साहित करेंगे तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करेंगे।

**घृणा और वैमनस्य**—ताशकन्द समझौते पर अभी स्याही भी सूखने न पाई थी कि जुलाई अगस्त 1966 मे सीमाओं पर सैनिक हलचल पुनः शुरू हो गई और 1967 मे उग्रनूर क्षेत्र मे फिर दोनो देशों के सैनिकों मे भड़पें हुईं। इस तरह ताशकन्द ने जिस सद्भावना के वातावरण को उत्पन्न किया था वह समाप्त हो गया और घृणा और वैमनस्य का वातावरण फिर गम्भीर रूप लेने लगा जिसका विस्फोट 1969 मे रबात मुस्लिम शिखर सम्मेलन के समय हुआ जब पाकिस्तानी राष्ट्रपति याह्या खां ने भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के साथ बैठने से इन्कार कर दिया।

**इण्डियन एयरलाइन्स के जहाज का अपहरण तथा लाहौर मे आग लगाने की घटना**—30 जनवरी 1971 को भारत के इण्डियन एयरलाइन्स के जहाज के

अपहरण की घटना और फिर 2 फरवरी 1971 को लाहौर हवाई अड्डे पर आग लगाकर उसे ध्वस्त किये जाने तथा लाहौर रेडियो स्टेशन द्वारा टेलिविजन पर इस घटना के प्रदर्शन ने दोनों देशों में तनाव की स्थिति में घी की आहुति दी। प्रतिक्रिया के रूप में भारत ने भारतीय आकाश में पाकिस्तान के असैनिक विमानों की उड़ान का निषेध कर दिया।

**पाकिस्तान का गृह युद्ध तथा स्वतन्त्र बंगलादेश का निर्माण**—पाकिस्तान में गृह युद्ध के शुरू होने का मूल कारण शेख मुजीबुरहमान की अवामी पार्टी की दिसम्बर 1970 के चुनावों में विजय थी। जब राष्ट्रीय एसेम्बली के अधिवेशन को राष्ट्रपति याह्या खां ने स्थगित कर दिया तो 15 मार्च 1971 को शेख मुजीब ने स्वाधीन बंगला देश की घोषणा कर दी। याह्या खां ने विद्रोह को कुचलने के लिए अमानुषिक अत्याचार किये, मुजीब को बंदी बना लिया गया, हजारों की तादाद में बंगाली बुद्धि जीवियों की हत्यायें की गयी, स्त्रियों का अपहरण किया गया तथा लाखों की संख्या में लोग शरणार्थी बन कर सीमा लांघ कर भारत आने लगे। भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी ने विदेशों की यात्रा द्वारा विश्व की महाशक्तियों तथा अन्य राष्ट्रों को समस्या की गम्भीरता और भारतीय अर्थव्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव को बताते हुए शांति स्थापित करने के लिए अनुरोध किया। परन्तु भारत के प्रयास असफल हो गये। पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने "युद्ध हिस्टीरिया' (war hysteria) का वातावरण उत्पन्न कर दिया था, युद्ध की धमकियां दी जा रही थी और चीनी सहायता की दुहाई दी जा रही थी। अमरीकी विशेष दूत डा० कीसिंगर ने भी स्पष्ट कर दिया था कि यदि चीन पाकिस्तान की सहायता करता है तो भारत को अमरीकी सहायता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। परिस्थितिवश भारत ने रूस के साथ 9 अगस्त 1971 को एक 20 वर्षीय संधि की परन्तु यह सन्धि भारत पर पाकिस्तानी आक्रमण को न टाल सकी। जब 3 दिसम्बर 1971 को पाकिस्तान ने भारतीय हवाई अड्डों पर हमले किये तो भारत ने जवाबी कार्यवाही की, 6 दिसम्बर 1971 को भारत ने बंगला देश को मान्यता दे दी और 16 दिसम्बर को पाकिस्तान के पूर्वी क्षेत्र के कमाण्डर जनरल नियाजी ने 93,000 पाकिस्तानी सिपाहियों के साथ भारतीय जनरल जगतसिंह अरोड़ा के सामने आत्म समर्पण कर दिया। भारत के एक तरफा युद्ध विराम को पाकिस्तान ने स्वीकार कर लिया।

**1971 से भारत पाकिस्तान सम्बन्ध**—1971 के युद्ध अर्थात बंगला देश की स्वाधीनता के बाद भारत पाकिस्तान सम्बन्धों को निर्धारित करने वाली मुख्य समस्यायें निम्न रही है—

(i) युद्ध बंदियों का प्रश्न

(ii) पाकिस्तान द्वारा बंगला देश को मान्यता देने का प्रश्न

(iii) कश्मीर समस्या तथा अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा।

**शिमला समझौता**—उपयुक्त समस्याओं पर विचार करने के लिए भारतीय प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी और पाकिस्तान के राष्ट्रपति भुट्टो का शिखर सम्मेलन 28 जून 1972 को शिमला में शुरू हुआ। दोनों देशों ने शिमला में 2 जुलाई 1972 को जिस समझौते पर हस्ताक्षर किये उसे शिमला समझौता कहते है। इस समझौते की प्रमुख विशेषतायें यह है कि दोनों देशों ने "अपने मतभेदों को द्वि-पक्षीय वार्ता द्वारा शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने, पारस्परिक वमनस्य, घृणित प्रचार और विवादों को समाप्त कर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने, डाक, तार सेवा तथा संचार व्यवस्था स्थापित करने व्यापारिक और आर्थिक सहयोग का प्रयास करने तथा विज्ञान और सांस्कृतिक क्षेत्रों में आदान प्रदान करने आदि का आश्वासन दिया।

**पाकिस्तान द्वारा बंगला देश को मान्यता तथा त्रिपक्षीय समझौता**—पाकिस्तान ने शिमला समझौते की भावना को लागू करने में अनावश्यक देरी की जिससे इस उप महाद्वीप मे तनाव की स्थिति बनी रही। पाकिस्तान ने लाहौर मुस्लिम सम्मेलन के बाद फरवरी 1974 में बंगला देश को मान्यता दी जिससे त्रि पक्षीय वार्तालाप के द्वार खुल गये। 5 अप्रैल 1974 को भारत पाकिस्तान बंगला देश के मध्य त्रि पक्षीय समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार युद्ध बंदियों को, उन 195 युद्ध बंदियों सहित जिन पर बंगला देश जन सहार और अमानुषिक हत्याओं के लिए अभियोग लगाना चाहती थी, 31 मार्च 1974 तक वापस लौटा दिया गया पाकिस्तान ने बंगाल में रह गये पाकिस्तानियों को वापस लेने का वायदा किया तथा भारत पाकिस्तान में संचार साधनों, यात्रा सुविधा, वाणिज्य आदि विषयों पर वार्ता के द्वार खुल गये।

**भारत पाकिस्तान वार्तायें**- जमीन और युद्ध बन्दियों की वापसी के बाद भारत और पाकिस्तान ने अपने सम्बन्धों को सुधारने के लिए डाक तार, जहाजरानी व्यापार आदि सम्बन्धों पर वार्ताओं के दौर को शुरू करना चाहा परन्तु जो वार्तायें 10 जून 1974 को शुरू होने वाली थी पाकिस्तान ने उन्हें यह कह कर एक तरफा समाप्त कर दिया कि भारत के अणु परीक्षण (18 मई 1974) ने वातावरण को दूषित कर दिया है अतः समझौते के लिए उप महाद्वीप में शान्ति या सामान्य सम्बन्धों के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं है। बाद में सितम्बर 1974 में जो वार्तायें इस्लामाबाद में हुई, उनके फलस्वरूप डाक, तार और यात्रा सुविधाओं की व्यवस्था को फिर से चालू किया गया, 30 नवम्बर 1974 को भारत पाकिस्तान के मध्य एक ऐतिहासिक व्यापार समझौता हुआ। इससे भारत और पाकिस्तान के बीच 1965 से जो व्यापार बन्द पड़ा था उसे पुन स्थापित किया गया। जहाजरानी के सम्बन्ध में भी समझौता हो चुका है और फरवरी 1975 में व्यापारी जहाजों पर दोनों देशों के बन्दरगाहों में प्रवेश पर लगाई गई पाबन्दियां हटाई गई हैं परन्तु

दुर्भाग्य की बात यह है कि वायु मार्ग सम्बन्धी समझौते के सिलसिले मे आयोजित उच्च स्तरीय वार्ता सफल नही हुई है। असहमति का मुख्य कारण यह है कि पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संस्था (ICAO) म भारत के विरुद्ध दायर किये गये अभियोग को तब तक वापस लेने के लिए तयार नही जब तक दोनो देशा के बीच हवाई मार्ग की सुविधा के सिलसिले मे व्यापक समझौता नही हो जाता। यद्यपि व्यापारिक समझौता से राजनीतिक सम्बन्धो के सुधरने की आशा की जा सकती है परन्तु पाकिस्तान ने न तो भारत के साथ और न बगला देश के साथ अभी कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये है।

3 पाकिस्तान की गुटीय नीति—भारत पाकिस्तान सम्बन्धो म कटुता पैदा करने वाली एक प्रमुख समस्या पाकिस्तान की गुटीय और शस्त्रो की होड की नीति है। वस्तुत पाकिस्तान ने सीटो (1954) और सेन्टो (1955) जसे सनिक सगठनो का सदस्य बन कर शीत युद्ध को भारत के दरवाजे पर लाकर खडा कर दिया। दूसरे पाकिस्तान न अपनी सनिक शक्ति को बढाने के लिए, भारत विरोधी प्रचार का सहारा लेकर, अमरीका से ही नही बल्कि सेन्टो शक्तिया, विशष कर ईरान से प्रचुर मात्रा म सैनिक सहायता प्राप्त की। इतना ही नही, भारत चीन सम्बन्धो म बिगाड आने मे पाकिस्तान ने चीन की हमदर्दी प्राप्त करने की कोशिश की और उससे अन्य शस्त्रो को प्राप्त किया। पश्चिमी शक्तिया भी इस उप महाद्वीप म पाकिस्तान को भारत के सन्तुलन मे बनाये रखना चाहती ह, सम्भवत, इसलिए कि वे समझती हैं कि यदि भारत को शान्ति का समय मिल गया तो वह एक महान शक्ति न बन जाय। अमरीका न तो भारत के विरोध पर पाकिस्तान को अस्त्र ही नही दिये बल्कि आर्थिक सहायता के क्षेत्र मे भी दोना को समान समझा है जबकि भारत आबादी की दृष्टि से पाकिस्तान से पाच गुणा है। आज भी पाकिस्तान भारत के शान्तिमय नाभिकीय विस्फोट की दुहाई देकर अमरीका से युद्ध सामग्री प्राप्त कर रहा ह। सक्षेप म, पाकिस्तान अपने जन्मकाल स कभी ब्रिटेन, कभी अमरीका और कभी चीन के हाथो का खिलौना रहा है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट ह कि भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध उनके जन्म काल से ही तनावपूर्ण रहे है। यद्यपि सम्बन्धो को सुधारने के लिए अनेक बार उच्च स्तरीय वार्ताए की गयी है परन्तु उनम कोई सुधार नही हुआ। शिमला भावना अपने पूर्ण रूप म फलित नही हुई। सम्बन्धो के सुधार मे सबसे बडी बाधा "कश्मीर" है। कश्मीर समस्या पाकिस्तान क लिए कामधेनु है क्योकि इसे जीवित रख कर ही पाकिस्तानी सरकार सत्ता और देश पर अपनी पकड रख सकती है।"[1] समय समय पर पाकिस्तानी शासक कश्मीरियो को भडकाते रहते है। शेख अब्दुल्ला

---

1 देखिये दिनमान। 16 फरवरी 1975, पृ० 17

के साथ भारतीय सरकार द्वारा किये गये समझौते के समय ही पाकिस्तान के राष्ट्रपति भुट्टो ने कश्मीर वासियों को हडताल की सलाह दी। दोनों देशों के नागरिकों मे सीधे सम्पर्क के अभाव मे पाकिस्तान के शासकों ने अपने अस्तित्व के लिए विरोधी प्रचार का सहारा लिया है। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए श्री भुट्टो यह भी कहते हैं कि 'भारत पाकिस्तान के क्षेत्रों को हडपने की योजनायें बना रहा है।"[1] जब तक पाकिस्तान के शासक इस प्रकार के विरोधी और घृणित प्रचार मे विश्वास रखेंगे तब तक भारत पाकिस्तान सम्बन्धों मे यथार्थ सुधार नही हो सकते। यह सत्य है कि पोखरण मे विस्फोट से और अन्तरिक्ष मे आर्यभट्ट नाम के उपग्रह को फेंक कर भारत ने इस उप महाद्वीप मे शक्ति सन्तुलन अपने पक्ष मे कर लिया है। परन्तु यह सन्तुलन तो सर्वदा भारत के पक्ष में रहा है क्योंकि आकार, आबादी और साधनों की दृष्टि से भारत पाकिस्तान से सर्वदा शक्तिशाली रहा है और सर्वदा रहेगा।

## कश्मीर समस्या
## ( Kashmir Problem )

भारत पाकिस्तान सम्बन्धों मे कटुता, वैमनस्य, घृणा, द्वेष और तनाव पैदा करने मे जितना उत्तरदायित्व कश्मीर समस्या का है उतना किसी और समस्या का नहीं। इस समस्या को लेकर पाकिस्तान ने इस उप महाद्वीप मे ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, संगठनों और संस्थाओं मे भारत विरोधी दृष्टिकोण अपनाया है। कभी प्रचार द्वारा, कभी रेडियो प्रसारण द्वारा और कभी घुसपैठियों द्वारा पाकिस्तान ने केवल कश्मीर मे ही नहीं अपितु भारत मे भी साम्प्रदायिक दंगे भड़काने का प्रयास किया। पाकिस्तान ने पश्चिमी शक्तियों, विशेष कर अमरीका, के साथ द्वि-पक्षीय संधियों द्वारा इस महाद्वीप मे शस्त्रास्त्रों की होड को जन्म दिया। पाकिस्तान ने ही सीटो और सेन्टो जैसे सैनिक संगठनों का सदस्य बनकर शीत युद्ध को भारत के दरवाजे पर लाकर खडा कर दिया। पाकिस्तान ने ही तीन बार ( 1947–48, 1965, 1971 ) भारतीय भूमि पर आक्रमण करके युद्ध की स्थिति पैदा कर दी। दुर्भाग्य की बात यह है कि सुरक्षा परिषद ने कश्मीर समस्या पर न्याय और औचित्य की भावना से विचार करने के स्थान पर राजनीतिक प्रतिबद्धताओं के आधार पर विचार करना शुरू कर दिया और आक्रान्त को आक्रान्ता के साथ मिलाने का प्रयास किया। यही कारण है कि कश्मीर समस्या आज भी भारत और पाकिस्तान मे तनाव का कारण बनी हुई है। यह समस्या ऐसे ज्वालामुखी की तरह है जो कभी भी लावा उगल सकती है। जैसाकि माइकेल ब्रेकर ने लिखा है कि 'कश्मीर भारत और पाकिस्तान के संघर्ष की जड का प्रतीक है। यही वह सैद्धांतिक दरार है जो लडाई का अन्तिम क्षेत्र है। इसी ने 1947 मे उप महाद्वीप को पृथक पृथक कर

1 दक्षिण दिनमान 2 फरवरी 1975, पृ० 20

दिया । यही उस द्वि राष्ट्र सिद्धान्त के औचित्य का अन्तिम परीक्षण है[1] जिस पर पाकिस्तान आधारित है और उसके बने रहने का आधार है ।"

कश्मीर समस्या का उद्गम भारत के विभाजन मे निहित है। भारत स्वतन्त्रता अधिनियम ने जहा भारत और पाकिस्तान के दो अधिराज्यो (Dominions) को जन्म दिया वहा देशी राज्यो को यह स्वतन्त्रता भी प्रदान की कि वे स्वेच्छा से किसी अधिराज्य मे मिल सकते थे या अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रख सकते थे । कश्मीर के राजा ने अपने राज्य के स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रखने का निश्चय किया । परन्तु पाकिस्तान कश्मीर को अपने अधिराज्य मे मिलाना चाहता था । अत उसने पहले आर्थिक दबाव द्वारा (अनाज, नमक, पट्रोल भेजना बन्द कर दिया) और बाद मे उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त के कबायलियो के माध्यम से, जो पाकिस्तान के रास्ते आते थे, 22 अक्टूबर 1947 को काश्मीर पर आक्रमण किया । थोडे ही समय म कबायली श्रीनगर के निकट बारामूला तक पहुँच गये । स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए कश्मीर के राजा ने भारत म विलय की प्रार्थना की । भारत ने कश्मीर के राजा की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए युद्ध समाप्ति पर जनमत सग्रह (Referendum) की शर्त के साथ उसे भारत का अग मान लिया ।

भारत के बार बार आग्रह करने पर भी जब पाकिस्तान ने कश्मीर मे कबायलियो के प्रवेश को नही रोका तो भारत ने यू० एन० ओ० के चार्टर की धारा 34 और 35 के अनुसार 1 जनवरी, 1948 को सुरक्षा परिषद के समक्ष शिकायत की कि पाकिस्तान से सहायता प्राप्त कर उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त के कबायलियो ने भारतीय भूमि पर आक्रमण किया है जिससे 'अन्तराष्ट्रीय शान्ति भग होने का भय है । अत सुरक्षा परिषद आक्रमण को खदेडने और शान्ति बनाये रखने के लिये आवश्यक कदम उठाये । भारत ने सुरक्षा परिषद म इस समस्या को इस कारण प्रस्तुत किया था कि उसे वहा न्याय मिलने की सम्भावना थी परन्तु, जसाकि बाद की घटनाओ ने सिद्ध कर दिया, कि यह भारत की भूल थी । सुरक्षा परिषद मे समस्या का समाधान होने के स्थान पर वह शीत युद्ध के अखाडे मे फस गयी ।

कश्मीर समस्या का समाधान करने के लिये सयुक्त राष्ट्र सघ (UNO) ने जो समय समय पर प्रयास किये उनमे प्रमुख निम्न है —

1 21 अप्रेल, 1948 को 5 सदस्यो के एक आयोग की रचना की जिसे **'भारत और पाकिस्तान के लिये सयुक्त राष्ट्र के आयोग** (United Nations Commission for India and Pakistan) की सज्ञा दी गयी ।

2 एक अन्य प्रस्ताव द्वारा सुरक्षा परिषद ने यह सिफारिश की कि कश्मीर से

---

1 सन् 1971 मे बगला देश के निर्माण से द्वि राष्ट्र सिद्धान्त का आधार नष्ट हो चुका है ।

विदेशी कबायली, पाकिस्तान के नागरिक और बड़ी मात्रा में भारतीय सेनायें हटा ली जाये और जनमत संग्रह के लिये उचित वातावरण तैयार किया जाय।

3 संयुक्त राष्ट संघ के आयोग ने भारत और पाकिस्तान के साथ विचार विमर्श के बाद 13 अगस्त, 1948 को ब द करन का सुझाव दिया। आयोग ने जो सिफारिशे की वे निम्न थी —

(a) पाकिस्तान अपनी सेनायें कश्मीर से हटा ले तथा विदेशी कबायलियो और कश्मीर म सामान्य रूप से न रहने वाले पाकिस्तानी नागरिको को वहा से हटाने का प्रयास करे।

(b) पाकिस्तानी सेना द्वारा खाली किये गये क्षेत्र का प्रबन्ध आयोग के निरीक्षण म स्थानीय अधिकारी करें।

(c) जब पाकिस्तान उपयुक्त दोनो शर्तों की पूर्ति कर दे और उसकी सूचना भारत को दे दे तो भारत भी अपनी सेना का अधिकाश भाग कश्मीर से हटा ले।

(d) अन्तिम समझौता होने तक भारत युद्ध विराम की सीमाओ के भीतर उतनी ही सेनायें रखे जितनी इस प्रदेश मे कानून और व्यवस्था के लिये आवश्यक हैं।

4 संयुक्त राष्ट्र संघ के आयोग के प्रयासो द्वारा 1 जनवरी, 1949 को युद्ध विराम (Cease fire) हुआ जिसकी देखरेख के लिये विभिन्न राष्ट्रो के निरीक्षक नियुक्त किये गये। जनमत संग्रह के लिये अमरीकी नागरिक **श्री चेस्टर निमिटज को नियुक्त किया गया**। परन्तु भारत पाकिस्तान मे जनमत संग्रह के सिद्धान्तो पर समझौता न होने के कारण चेस्टर निमिटज ने त्याग पत्र द दिया। **मैक्नाटन योजना** (Mcnaughton Plan) म भी आक्रान्त और आक्रान्ता को एक स्तर पर रखा गया था अत भारत ने इसे स्वीकार नही किया।

5 सन् 1950 मे सुरक्षा परिषद ने **सर ओवन डिक्सन** (Sir Owen Dixon) को समस्या का समाधान करने और कश्मीर से दोनो पक्षो की सेनायें हटाने (demilitarization) के लिये नियुक्त किया गया। डिक्सन ने पाकिस्तान की नियमित सेनाओ के कश्मीर म प्रवेश को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध की संज्ञा दी। पाकिस्तान को आक्रान्ता मानते हुए भी डिक्सन न काश्मीर मे दोनो पक्षो की सेनायें हटाये जान पर बल दिया। भारत को यह सुझाव म जूर नही था क्योकि आक्रान्त का आक्रान्ता के साथ मिलाना यायोचित नही था। अपनी अन्तिम योजना म डिक्सन न कश्मीर के विभाजन का सुझाव दिया अर्थात पाकिस्तानी सेनाओ के अधिकार म क्षेत्र को पाकिस्तान को द दिया जाय और भारतीय सेनाओ के अधिकार म क्षेत्र को भारत को दे दिया जाय और कश्मीर घाटी के भाग्य का निर्णय जनमत संग्रह द्वारा किया जाय जाय। जब यह योजना भी दोनो पक्षो को स्वीकार न हुई तो डिक्सन न सुरक्षा परिषद् म यह सिफारिश की कि दोनो पक्षो क सीधी वार्ता द्वारा समस्या का समाधान करने के लिय कहा जाय।

6 डिक्सन आयोग की असफलता के बाद सुरक्षा परिषद ने मार्च, 1951 में डा० फ्रेंक ग्राहम (Dr Franc Graham) को समस्या का समाधान करने के लिये नियुक्त किया गया परन्तु डिक्सन आयोग की भांति ग्राहम आयोग भी असफल रहा।

काश्मीर समस्या के सम्बन्ध म दोनो देशो के प्रधान मन्त्रियो मे लन्दन, कराची और नई दिल्ली म वार्तायें भी हुई, पत्र व्यवहार भी हुए परन्तु समस्या का कोई समाधान न हो सका।

सन् 1953–54 मे कुछ ऐसी घटनाये घटी जिन्होने काश्मीर समस्या पर गम्भीर प्रभाव डाले। पाकिस्तान ने अमरीका से सैनिक सहायता प्राप्त की और 1954 मे वह सीटो और 1955 मे सेन्टो जसे सैनिक सगठनो का सदस्य बन गया अर्थात् पाकिस्तान के इरादा ने शीतयुद्ध को भारत के दरवाजे पर लाकर खडा कर दिया और इस उप महाद्वीप मे शस्त्रो की होड को जन्म दिया। अमरीका की दिलचस्पी भी रूस के साथ लगने वाले गिलगित क्षेत्र मे सैनिक अड्डे बनाने की थी। यद्यपि अमरीकी राष्ट्रपति ने अपने वक्तव्यो म यह आश्वासन देने का प्रयास किया कि पाकिस्तान को दी जाने वाली सैनिक सहायता का प्रयोग भारत के विरुद्ध नहीं किया जायगा परन्तु भारतीय प्रधान मन्त्री ने 1 मार्च, 1954 को कहा कि "आक्रमण होता है और उसे रोकने का कोई प्रयत्न नही किया जाता अमरीका ने (कश्मीर पर पाकिस्तानी) आक्रमण की आज तक निन्दा नही की और हम यह कहा जाता रहा है कि हम शान्ति बनाये रखने के लिये इस पर आग्रह नहीं कर।" जब 1955 मे सोवियत प्रधान मन्त्री बुलगानिन और साम्यवादी दल के सचिव श्री ख्रुश्चेव भारत आये तो उन्होने कश्मीर का भारत का अग मानते हुए कहा कि "आप चोटी पर खडा होकर आवाज दे दीजिएगा और हम आपकी सहायतार्थ आ जायेंगे।" इसी बीच कश्मीर की सविधान निर्मात्री परिषद ने काश्मीर के भारत के साथ विलय का निश्चय लिया और कहा गया कि 26 जनवरी, 1957 को काश्मीर भारत के साथ अन्तिम रूप मे मिल जायगा। श्री नेहरू ने 13 अप्रेल, 1956 के भाषण म स्पष्ट कर दिया कि 1954–56 की घटनाओ ने (पाकिस्तान को अमरीकी सैनिक सहायता, पाकिस्तान का सैनिक सगठनो म शामिल होना तथा काश्मीर सविधान निर्मात्री परिषद् के निर्णय ने) जनमत सग्रह के मूल आधार को नष्ट कर दिया है, अत इसकी अब कोई आवश्यकता नही।

7 पाकिस्तान के अनुरोध पर सुरक्षा परिषद ने 16 जनवरी, 1957 को (26 जनवरी, 1957 को काश्मीर सविधान निर्मात्री परिषद् के निर्णय के अनुसार काश्मीर का अन्तिम विलय भारत म होने वाला था) काश्मीर समस्या पर पुनर्विचार किया गया और यह प्रस्ताव रखा गया कि सुरक्षा परिषद के प्रधान स्वीडन के गुन्नार जारिंग (Gunnar Jarring) भारत और पाकिस्तान जाकर इस समस्या का

सुलझाने का प्रयास करें और परिषद् को सुझाव दें कि कश्मीर के विसैन्यीकरण (demilitarization) तथा जनमत संग्रह होने तक संयुक्त राष्ट्र की आपातकालीन सेना (U N Emergency Force) को कश्मीर भेजा जाये या कि नहीं। भारतीय प्रतिनिधि श्री कृष्णा मेनन ने संयुक्त राष्ट्र की आपातकालीन सेनाओं के भेजे जाने का विरोध किया रूस ने भारत का साथ दिया और कहा कि "कश्मीर के प्रश्न का निर्णय वहां की जनता कर चुकी है और वह भारत का अभिन्न अंग है।" जब सुरक्षा परिषद में 20 जनवरी को प्रस्ताव पर मतदान हुआ तो रूस ने निषेधाधिकार का प्रयोग करते हुए प्रस्ताव को रद्द कर दिया। अन्य प्रस्ताव द्वारा, जिसमें संयुक्त राष्ट्र संघ की आपातकालीन सेनाओं को भेजने की व्यवस्था नहीं थी, गुन्नार जारिंग को भारत भेजा गया परन्तु दोनों देशों की यात्राओं के बाद गुन्नार जारिंग ने प्रतिवेदन में कहा कि वह ऐसे ठोस प्रस्ताव रखने में असमर्थ हैं, जिनसे समस्या का समाधान हो सके। प्रतिवेदन में उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि "पिछले नौ वर्षों में कश्मीर की स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया है।"

8 दिसम्बर, 1957 को फ्रैंक ग्राहम को पुनः समस्या का समाधान करने के लिये भेजने का निश्चय किया गया। जनवरी फरवरी, 1958 को ग्राहम भारत-पाकिस्तान सरकारों से वार्तालाप करते रहे और 3 अप्रैल 1958 को जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया उसमें पुरानी बातों को ही दोहराया गया था। इस प्रतिवेदन में भी पाकिस्तान को आक्रान्ता घोषित नहीं किया गया था।

9 सन् 1962 में आयरलैण्ड ने सुरक्षा परिषद में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें कहा गया था कि समस्या के समाधान के लिये दोनों देश प्रत्यक्ष वार्ता प्रारम्भ करें और ऐसी कोई कार्यवाही न करें जिससे उस क्षेत्र में शान्ति भंग होती हो। क्योंकि कश्मीर भारत का अभिन्न अंग बन चुका था अतः भारत ने प्रस्ताव को मानने से इन्कार कर दिया। रूस ने भी अपने निषेधाधिकार के प्रयोग द्वारा प्रस्ताव को रद्द कर दिया।

सन् 1962 63 में पाकिस्तान ने भारत के विरोध पर भी, कुछ ऐसे कदम उठाये जो उसके वैमनस्य और विरोध को व्यक्त करते थे। सन 1962 में चीनी आक्रमण के समय पाकिस्तान ने भारत विरोधी दृष्टिकोण अपनाया, फरवरी 1963 में चीन के साथ समझौता करके पाकिस्तान ने अधिकृत कश्मीर का एक बहुत बड़ा भू भाग चीन को दे दिया। दिसम्बर, 1963 में श्रीनगर के हजरत बाल मस्जिद से पैगम्बर मुहम्मद साहब का पवित्र बाल चोरी होने पर पाकिस्तान ने साम्प्रदायिक दंगे भड़काने की कोशिश की और जो सरगर्मी उत्पन्न हुई पाकिस्तान ने उसे 'कश्मीरियों के विद्रोह' की संज्ञा दी और संयुक्त राष्ट्रसंघ से हस्तक्षेप की मांग की। शेख अब्दुल्ला ने जेल से छूटते ही आत्म निर्णय के अधिकार और जनमत संग्रह की मांग की।

10 **1965 और 1971 के युद्ध और कश्मीर**—सुरक्षा परिषद के माध्यम से कश्मीर को प्राप्त करने मे असफल होने पर पाकिस्तान ने सैनिक शक्ति के आधार पर कश्मीर को हस्तगत करने का प्रयास किया। इस उद्देश्य से पाकिस्तान ने अपने सनिको को छापामार युद्ध का प्रशिक्षण देकर कश्मीर भेजना शुरू कर दिया ताकि व हवाई अड्डो, छावनियो और महत्त्वपूण मार्गो पर अधिकार जमाने का प्रयास करे। पाकिस्तानी छापामारो ने युद्ध-विराम रखा को पार कर कश्मीर मे घुसपैठ शुरू कर दी। सयुक्त राष्ट्रसघ के मुख्य सनिक पयवेक्षक जनरल निम्मा ने इसकी सूचना महासचिव को भी दी। 1 सितम्बर, 1965 को पाकिस्तानी सेनाओ ने छम्ब, अखनूर क्षेत्र मे बडे पैमाने पर आक्रमण कर दिया। भारतीय सैनिको ने जवावी कायवाही मे न केवल घुसपठिया का मफाया कर दिया बल्कि पाकिस्तानी सेनाओ के हौमले भी पस्त कर दिय। भारतीय सेनाओ न लाहौर, कसूर, डेरा बाबा नानक तथा स्यालकोट क्षेत्रा म भी मोर्चे खोल दिय। स्थिति को गम्भीर होते देख, सयुक्त राष्ट्र-सघ न दोनो देशा से युद्ध विराम की अपील की और दोनो देशो का आदेश दिये कि वे 22 सितम्बर, 1965 तक युद्ध विराम कर दें और अपनी अपनी सेनाओ को 5 अगस्त, 1965 की स्थिति मे ले जायें। दोनो दशो ने युद्ध विराम को स्वीकार कर लिया।

सन् 1971 का भारत पाकिस्तान युद्ध बगला देश की समस्या से उत्पन्न हुआ था परन्तु इसमे भी कश्मीर समस्या को सम्मिलित कर लिया गया था। जब पाकिस्तान ने कश्मीर पर ही हमला किया तो भारतीय सेनाओ न कारगिल, गुरेज, टिथवल उरी, पूछ आदि क्षेत्रो मे अनेक पाकिस्तानी चौकियो पर अपना अधिकार कर लिया।

उपयु क्त वर्णन मे स्पष्ट है कि कश्मीर की समस्या आज भी भारत पाकिस्तान सम्बन्धो म तनाव का कारण बनी हुई है।

## ताशकन्द समझौता
## (Tashkent Agreement)

सन् 1965 के युद्ध विराम के बाद भारतीय सीमाओ पर पूर्ण शान्ति स्थापित नही हुई थी। युद्ध अवश्य समाप्त हो गया था परन्तु युद्ध का वातावरण अभी विद्यमान था और छोटी सी घटना सीमा पर तनात दोनो देशो की सेनाओ म झडपो का कारण बन जाती थी। इस स्थिति को समाप्त करने के लिये सोवियत राजनय काफी सक्रिय था। अन्तत सोवियत प्रधानमन्त्री श्री कोसिजिन के प्रयासो के फल स्वरूप भारत के प्रधानमन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खा ताशकन्द म 4 जनवरी 1966 को पारस्परिक वार्तालाप के लिये एकत्रित हुए। सोवियत मध्यस्थता से दोनो देशो म 10 जनवरी 1966 को ताशकन्द म जो समझौता हुआ वह ताशकन्द समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते की महत्त्व-पूर्ण विशेषतायें निम्न हैं —

1 भारत और पाकिस्तान अच्छे पडौसियो की तरह सम्बन्ध स्थापित करेंगे, वे बल प्रयोग का सहारा नही लेंगे और अपने विवादो को शान्तिपूर्ण तरीके से सुलझाने का प्रयास करेंगे। दोनो ने इस बात को महसूस किया कि दोनो म तनाव की स्थिति हानिकारक है।

2 दोनो देश युद्ध विराम का पालन करेंगे तथा 25 फरवरी तक अपनी सेनाओ को 5 अगस्त 1965 की स्थिति म ले जायेंगे।

3 भारत और पाकिस्तान एक दूसरे के आन्तरिक मामला म हस्तक्षेप नहीं करेंग।

4 दोनो देश एक दूसरे के विरुद्ध किसी प्रकार के प्रचार को निरुत्साहित करेंगे तथा ऐसे प्रचार को प्रोत्साहन देंगे जो दोना म मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो को बढावा देते हो।

5 दोनो देशो के उच्चायुक्त अपनी अपनी जगह पर लौट जायेंगे और दोना देशा म सामान्य राजनय सम्बन्ध फिर से स्थापित किये जायेंगे।

6 दोना देश आर्थिक, व्यापारिक और सास्कृतिक सम्बन्धो को पुन स्थापित करने पर विचार करेंगे।

7 युद्ध बन्दियो की अदला-बदली का काय किया जायगा।

8 दोना पक्ष शरणार्थियो, निष्कासिता और गर कानूनी रूप से बसने वाला की समस्याओ से सम्बन्धित प्रश्नो पर बातचीत जारी रखेंगे अर्थात दोना पक्ष ऐसा वातावरण उत्पन्न करेंगे जिससे जनता मे भगदड समाप्त हो।

9 जिन विषया का दोनो देशो से सीधा सम्बन्ध है, उन पर विचार के लिये, दोना पक्षा की सर्वोच्च एव अन्य स्तरो पर बठकें होती रह अर्थात दोना देशा की सयुक्त समितिया अपनी अपनी सरकारा के विषयो पर परामश दें।

10 दोना देशो के शासनाध्यक्षो न सोवियत राजनय के प्रति अपनी कृतज्ञता को अभिव्यक्त किया।

**ताशकन्द समझौते का मूल्याकन**—ताशकन्द समझौते की आलोचना दोनो देशा म की गयी। पाकिस्तान म इसकी आलोचना का आधार यह था कि उसे अपने लक्ष्य काश्मीर का पाने म किसी प्रकार की सफलता नही मिली थी। भारत म इस समझौते की आलोचना का आधार यह था कि हाजीपीर कारगिल और टिथवाल के महत्त्वपूर्ण दर्रा को पाकिस्तान का लौटाना एक भयकर सामरिक भूल थी। इन्ही दर्रो के द्वारा पाकिस्तान कश्मीर मे घुसपैठिया को भेजता था। यह भारतीय सनिको के पराक्रम तथा बलिदान के साथ विश्वासघात था। एक भारतीय कमाण्डर ने ये विचार व्यक्त किये थे कि 'उनको इ[illegible] तानो को पुन युद्ध करना पडेगा।" यह भविष्य वाणी अक्षरश सत्य सिद्ध हुई। दूसरे भारत के लिये पाकिस्तानी वायदो पर विश्वास करना कठिन था। तीसरे, भारत ने सोवियत राजनय दबाव के कारण ही इस

समझौते पर हस्ताक्षर किये थे, क्योंकि ऐसा न करने से काश्मीर पर सोवियत समर्थन के खो जाने का भय था। चौथे, जैसाकि बाद की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया, पाकिस्तान ने न तो भारत के प्रति घृणा और वैमनस्य की भावनाओं को त्यागा और न ही तनाव के वातावरण को शिथिल किया।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी ताशकन्द का भारत पाकिस्तान सम्बन्धों में अपना महत्व है। इसने तत्काल संकट को टाल दिया और भारत ने रूस को साक्षी बनाते हुए पाकिस्तान को शक्ति का प्रयोग छोड़ने पर सहमत कर लिया। दूसरे, इसने चीन-पाकिस्तान संयुक्त मोर्चे के खतरे को कम कर दिया। तीसरे, इसने दोनों देशों में समस्याओं के निवारण की आशा बढ़ा दी। चौथे, इसने अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के वातावरण को भी उत्पन्न किया और विश्व की समस्याओं को सद्भावना के वातावरण में हल करने पर बल दिया। ताशकन्द भावना की तुलना लोकार्नो, जेनेवा, वियाना और कैम्प डेविड भावना से की जाने लगी।

## शिमला समझौता
## (Simla Agreement)

सन् 1971 के भारत पाकिस्तान युद्ध के बाद अर्थात् बंगला देश की मुक्ति के बाद इस उपमहाद्वीप में स्थायी शान्ति स्थापित करने और भारत पाकिस्तान सम्बन्धों में सुधार लाने के उद्देश्य से भारतीय प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी और पाकिस्तान के राष्ट्रपति श्री जुल्फीकार अली भुट्टो का एक शिखर सम्मेलन 28 जून, 1972 को शिमला में शुरू हुआ। यह पहला अवसर था जब दोनों देशों के शासनाध्यक्षों ने बिना किसी तीसरे देश की मध्यस्थता से सीधे सम्पर्क द्वारा वार्तायें शुरू की। दोनों देशों के शासनाध्यक्षों ने शिमला में 2 जुलाई, 1972 को जिस समझौते पर हस्ताक्षर किये उसे शिमला समझौता कहते हैं। इस समझौते की महत्वपूर्ण विशेषतायें निम्न हैं —

1 दोनों देश पारस्परिक वैमनस्य और विवादों को समाप्त कर पारस्परिक मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को स्थापित करेंगे तथा इस महाद्वीप में स्थायी शान्ति की स्थापना के लिये कार्य करेंगे ताकि दोनों देश अपने साधनों और शक्ति का प्रयोग अपने देश की जनता के कल्याण में उपयोग कर सकें। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु दोनों देशों ने निम्न बातों पर सहमति प्रकट की —

(a) दोनों देश अपने मतभेदों को द्विपक्षीय वार्ता द्वारा शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने का प्रयास करेंगे।

(b) संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार, दोनों देश एक दूसरे के विरुद्ध बल का प्रयोग नहीं करेंगे, सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करेंगे तथा एक दूसरे की राजनीतिक स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

2 दोनों देश एक दूसरे के विरुद्ध घृणित प्रचार नहीं करेंगे और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करेंगे।

3 पारस्परिक सम्बन्धो म सामान्यता लाने के लिये दोना देशो मे डाक, तार सेवा तथा जल, थल, वायु मार्गों द्वारा पुन सचार व्यवस्था स्थापित की जायगी। यात्रिया (नागरिको) को एक दूसर देश म ग्रान जाने की सुविधा दी जायगी। दोना देशो म व्यापारिक और आर्थिक सहयोग का प्रयास किया जायगा विज्ञान और सास्कृतिक क्षेत्रा म आदान प्रदान किया जायगा।

4 भारतीय और पाकिस्तानी सनायें अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सीमा म लौट जायेंगी। दोना देश जम्मू कश्मीर म 17 दिसम्बर, 1971 को हुए युद्ध विराम के फलस्वरूप नियन्त्रण रेखा को मानेंग। सनाम्रा की वापसी इस समझौते के लागू हाने के 30 दिन के भीतर पूरी हो जायगी।

दोना देशा के राज्याध्यक्षा की भविष्य मे फिर वार्तायें होगी जिनमे युद्ध बन्दियो एव नागरिका की वापसी, जम्मू कश्मीर के अन्तिम हल तथा कूटनीतिक सम्बन्धा को फिर से स्थापित करने आदि समस्याम्रो का शान्तिपूर्ण हल किया जाता है।

**शिमला समझौते का मूल्याकन**—शिमला समझौता आलोचना और प्रशसा दोनो का पात्र रहा है। आलोचको का कहना है कि यह भारत का पाकिस्तान के समक्ष आत्म समपण था। भारत के सनिको ने जिस युद्ध को युद्ध मैदान मे जीता था, उसे भारत की कूटनीति न शिमला म खो दिया अर्थात भारत युद्ध जीतकर भी हार गया और पाकिस्तान युद्ध हार कर भी जीत गया। आलोचको का यह कहना है कि कश्मीर समस्या का स्थायी हल ढूढे बिना पाकिस्तान के 5,139 वग मील क्षेत्र को लौटाना राजनीतिक सफलता नही कहा जा सकता। इस समझौते मे भारत को केवल 79 वगमील भूमि ही वापस मिलनी थी। दूसरे शब्दा म, आलोचको का कहना था कि शिमला समझौते ने कश्मीर पर पाकिस्तान से सौदेबाजी करने का अवसर हाथ मे खो दिया है। दूसरे, आलोचको का यह भी कहना था कि श्री भुट्टो के आश्वासना पर विश्वास करना राजनीतिक परिपक्वता का परिचायक नही था क्योकि श्रीभुट्टो किसी समय अपने दृष्टिकोण को बदल सकते हैं और पश्चिमी या चीनी इशारे पर नाच सकते है। श्री समर गुहा का तो यह विश्वास था कि शिमला समझौता ताशकन्द म किये गये आत्म समपण से भी बुरा था।

उपर्युक्त आलोचनाम्रो के बाद भी शिमला समझौते का अपना विशेष महत्व है। प्रथम तो यह कि इस समझौते द्वारा पाकिस्तान ने पहली बार भारत के साथ अनाक्रमण सन्धि की है। दूसरे शब्दो मे, श्री भुट्टो न पाकिस्तान के भूतपूव शासको द्वारा अपनाई गयी इस नीति को त्यागा है कि कश्मीर की समस्या का हल हुए बिना दानो देशो म अनाक्रमण सधि नही हो सकती। दूसरे, इस समझौते का सबसे बडा महत्व इस बात म है कि भारत और पाकिस्तान ने पारस्परिक मतभेदो को शान्तिपूर्ण ढग से निपटाने के लिये द्विपक्षीय वार्ताम्रो को स्वीकार किया है। इसका अथ यह है

कि किन्ही तीसरे पक्षों को दोनो देशों में षड्यन्त्र का अवसर नहीं मिलेगा। जैसाकि एक समीक्षक ने लिखा है कि "इस समझौते में न भारत की विजय थी और न पाकिस्तान की। यह दोनो देशों की समझदारी की विजय थी। इस समझौते से सबसे अधिक चोट विदेशी षड्यन्त्रकारियों तथा साम्राज्यवादी शक्तियों को, जो इस महाद्वीप के देशों को आपस में लड़ा कर स्वार्थसिद्धि करते रहे थे, पहुंची है। तीसरे, शिमला समझौते की तुलना ताशकन्द समझौते से नहीं की जा सकती क्योंकि ताशकन्द समझौता रूस की मध्यस्थता का परिणाम था, दोनो देशों की द्विपक्षीय वार्ता का परिणाम नहीं था। इतना ही नहीं, जहां ताशकन्द समझौते में भारत ने जम्मूकश्मीर क्षेत्र में जीते गये क्षेत्र को वापस लौटा दिया था वहां शिमला समझौते द्वारा 17 दिसम्बर 1971 को वास्तविक नियन्त्रण रेखा को मान्यता दी गयी है। चौथे, शिमला समझौते ने एक "अच्छी शुरुआत" को आरम्भ किया है। यद्यपि शिमला समझौते की भावना को पूर्णतया लागू नहीं किया गया और पाकिस्तान ने बंगला देश को मान्यता देने में अनावश्यक देरी की[1] परन्तु फिर भी अप्रैल 1974 में जो त्रिपक्षीय समझौता हुआ है उससे युद्ध बंदियों की समस्या का समाधान हुआ है, सितम्बर 1974 में वार्तालाप द्वारा डाक, तार, यात्रा आदि के सम्बन्ध में समझौता हुआ है नवम्बर 1974 में व्यापार समझौता हुआ और फरवरी 1975 में व्यापारी जहाजों पर दोनो देशों की बन्दरगाहों में प्रवेश पर लगायी गयी पाबन्दियां हटायी गयी है। वायु मार्ग सम्बन्धी समझौता अभी तक सम्पन्न नहीं हो सका और कूटनीतिक सम्बन्धों को स्थापित नहीं किया गया।

## भारत–रूस सम्बन्ध

### (Indo–Russian Relations)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र की स्थायी मित्रता का दावा नहीं कर सकता परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत–रूस सम्बन्ध, कुछ छुट-पुट घटनाओं को छोड़ कर, निरन्तर मृदुता, मित्रता और घनिष्टता के रहे है। सन् 1971 की भारत–रूस सन्धि के समय से तो ये सम्बन्ध उत्तरोत्तर वृद्धि की ओर उन्मुख रहे हैं। क्या उद्योग, क्या व्यापार, क्या विज्ञान, क्या अन्तरिक्ष, क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सभी क्षेत्रों में दोनो के सम्बन्ध अटूट मित्रता के बनते चले जा रहे हैं। इस बढ़ती हुई मित्रता का प्रमाण इस एक तथ्य से मिल जाता है कि आर्यभट्ट नाम का पहला भारतीय भू उपग्रह सोवियत रूस के यन्त्रविदों और इन्जीनियरों की सहायता से अन्तरिक्ष में 19 अप्रैल 1975 को छोड़ा गया। दोनो देशों में भिन्न भिन्न क्षेत्रों में सहयोग के लिये अनेक संयुक्त आयोगों की स्थापना की गयी है, दोनो देशों

---

1 पाकिस्तान ने बंगला देश को मान्यता, लाहौर मुस्लिम सम्मेलन के बाद, फरवरी 1974 में मान्यता दी।

के शासनाध्यक्षों और उच्च पदाधिकारियों की यात्रायें निरन्तर होती रही हैं। संक्षेप में, दोनों देशों में एक-दूसरे के लिये अपरिमित सद्भावना (goodwill) विद्यमान है।

भारत रूस में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी कुछ एक समस्याओं पर दोनों के विचार भिन्न रहे हैं परन्तु विचारों की भिन्नता ने दोनों के सम्बन्धों को कभी दूषित नहीं किया। जब तक रूसी नेताओं ने भारत की विदेश नीति की स्वतन्त्रता और असंलग्नता को नहीं समझा था तब तक ही विचारों में भिन्नता उत्पन्न हुई। उदाहरणतया स्टालिन काल में भारत की विदेश नीति को 'निर्बल और अवसरवादी" कहा गया था। भारत में रूसी समर्थकों ने, जैसे रजनी पाम दत्त ने नेहरूजी को 'एशिया के नये च्यांग काई शेक' की उपमा दी थी और भारतीय साम्यवादी दल ने "भारत की तटस्थता की नीति को "एंग्लो-अमरीकन साम्राज्यवादियों के साथ सहयोग को छुपाने का आवरण मात्र कहा था।' जब 1950 में कोरिया के प्रश्न पर पश्चिमी शक्तियों की भांति भारत ने उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित किया, जब 1956 में हंगरी और 1968 में चेकोस्लोवाकिया में रूसी हस्तक्षेप की भारत ने निन्दा की, जब 1968 में रूस ने पाकिस्तान को सैनिक साजो सामान देने का निश्चय किया और 1970 में सोवियत विश्व कोष में छपे नक्शों में नेफा और लद्दाख चीन को चीन का हिस्सा बताया गया तो दोनों देशों में विचारों की भिन्नतायें उत्पन्न हुई परन्तु इन भिन्नताओं ने दोनों देशों में तनाव की स्थिति कभी उत्पन्न नहीं की।

भारत और रूस के सम्बन्धों में निरन्तर मृदुता और मित्रता रहने का मुख्य कारण यह है कि अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर भारत रूस के दृष्टिकोण में समानता पायी जाती है। उदाहरणतया उपनिवेशवाद के दृष्टिकोण में समानता पायी जाती है। उदाहरणतया उपनिवेशवाद के उन्मूलन, जातीय विभेद की नीति की समाप्ति, निःशस्त्रीकरण अणुबम और निषेधाधिकार आदि के प्रश्नों पर दोनों के विचार प्रायः समान हैं। कश्मीर और गोआ के प्रश्नों पर रूस ने हमेशा भारत का साथ दिया। कश्मीर के प्रश्न पर तो रूस ने सुरक्षा परिषद में वीटो का प्रयोग भी किया।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने भी भारत रूस को एक दूसरे के निकट लाने में सहयोग दिया है। उदाहरणतया जब अक्टूबर 1949 में चीन में साम्यवादी क्रान्ति हुई तो भारत ने उसका जोरदार समर्थन किया। इतना ही नहीं संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन को स्थान दिलाने के लिये भरसक प्रयास किया। इसमें भारत ने रूस की सहानुभूति प्राप्त की। सन् 1954 में सीटो के निर्माण द्वारा जब अमरीका ने शीत युद्ध को भारत के दरवाजे पर लाकर खड़ा कर दिया तो भारत का रूस के निकट आना स्वाभाविक था। सम्बन्धों को सुधारने के लिये दोनों देशों के शासनाध्यक्षों ने जून 1955 में एक दूसरे देश की सद्भावना यात्रायें कीं। सन् 1962 में चीनी आक्रमण के समय रूस ने दोस्त भारत की सहायता हेतु भाई चीन पर युद्ध बन्द करने के लिये

दबाव ही नहीं डाला बल्कि भारत को मिग (MIG 21) विमान भी प्रदान किये और उनके निर्माण के लिये भारत में एक कारखाना स्थापित करने के लिये आर्थिक और तकनीकी सहायता भी प्रदान की।

सन् 1965 के भारत पाकिस्तान युद्ध में सोवियत संघ की भूमिका सराहनीय रही। उदाहरणतया जब पश्चिमी राज्यों ने भारत की कार्यवाहियों को 'आक्रामक' कह कर सम्बोधित करना शुरू कर दिया तो रूस ने इसे 'आत्मरक्षा' के लिये अनिवार्य बताया, जब ईरान, तुर्की और इण्डोनेशिया ने पाकिस्तान का समर्थन का वचन दिया, जब आंग्ल अमरीकी गुट ने भारत को आक्रामक घोषित करने का षडयंत्र रचा, जब चीन ने 16 सितम्बर 1965 को भारत को तीन दिन की अन्तिम चेतावनी (ultimatum) दी तो सोवियत संघ ने इन सब शक्तियों को चेतावनी दी कि वे भारत पाकिस्तान विवाद में हस्तक्षेप करके स्थिति को बिगाडने का प्रयास न करें। सोवियत संघ की इस चेतावनी ने इन सब शक्तियों के हौसले पस्त कर दिये। इतना ही नहीं रूसी राजनय ने भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों को सुधारने के लिये अपने सत्प्रयत्न (good offices) अर्पित किये और रूसी प्रधानमंत्री कोसिजन के प्रयासों द्वारा ही भारत पाकिस्तान के शासनाध्यक्षों का एक सम्मेलन ताशकन्द में 4 जनवरी 1966 को शुरू हुआ और 10 जनवरी 1966 को दोनों देशों में एक समझौता हुआ जिसे ताशकन्द समझौता कहते हैं। जहां ताशकन्द समझौता एशिया की राजनीति में रूसी कूटनीति की महान विजय थी वहां भारत पाकिस्तान सम्बन्धों में यह सुधार का प्रयास भी था।

बंगला देश के प्रश्न पर भी रूस ने भारत का साथ दिया। जब भारतीय प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की विदेश यात्रा का कोई फल नहीं हुआ और वाशिंगटन–पिण्डी पीकिंग की चालें रंग लाने लगी तो इस उप महाद्वीप में शान्ति बनाये रखने के लिये भारत रूस ने 9 अगस्त 1971 को एक 20 वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि से जहां भारत रूस मैत्री में दृढता उत्पन्न हुई वहां इसने वाशिंगटन पिंडी पिकिंग के गठबन्धन की सम्भावनाएँ पस्त हो गयी। रूस ने पाकिस्तान को भी धमकी दी थी कि वह युद्ध के साथ खिलवाड न करे। इस सन्धि का सबसे बडा लाभ यह हुआ कि इसने भारत पाकिस्तान के सम्भावित संघर्ष में चीनी हस्तक्षेप पर पहले से ही रोक लगा दी। जब पाकिस्तान की सहायता हेतु अमरीकी सप्तम बेडा बंगाल की खाडी की ओर रवाना हुआ तो प्रक्षेपास्त्रों से युक्त रूसी युद्ध पोतों को भी हिन्द महासागर की ओर बढने के आदेश दे दिये गये। इसने सप्तम बेडे के हौसले पस्त कर दिये। जब अमरीकी गुट ने सुरक्षा परिषद में भारत विरोधी प्रस्ताव रखे तो रूस ने वीटो का प्रयोग कर उन्हें विफल कर दिया। संक्षेप में 1971 के भारत पाकिस्तान युद्ध में रूसी दृष्टिकोण भारत के दृष्टिकोण से मेल खाता था। इसने बंगला देश की समस्या का समाधान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

उपयु क्त वर्णन से स्पष्ट है कि रूस ने सकट काल मे हमेशा भारत का साथ दिया है। सुरक्षा परिषद मे चाहे प्रश्न कश्मीर का था या गोआ का, चाहे प्रश्न था चीन के आक्रमण का या भारत पाकिस्तान सम्बन्धो का या बगला देश की समस्या का रूस ने हमेशा भारत का साथ दिया।

रूस ने भारत की सहायता केवल सैनिक या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे ही नही की बल्कि औद्योगिक विकास मे आर्थिक और तकनीकी सहायता भी की है। भारत के मूल उद्योगो मे भिलाई इस्पात कारखाना रूसी सहयोग का प्रतीक है, बोकारो इस्पात कारखाने मे भी रूस ने सहयोग प्रदान किया है, राची का भारी मशीन उद्योग, हरिद्वार का भारी बिजली कारखाना, ऋषिकेश और हैदराबाद म स्थापित ऐन्टी बाइटिक कारखाने, राजस्थान की सूरतगढ फाम की यान्त्रिक खेती रूसी सहयोग के उदाहरण है। आर्थिक और व्यापारिक सहयोग के लिए दोनो देशो मे 29 नवम्बर 1973 को एक समझौता हुआ जिसमे उद्योग, विद्युत, कृषि, लोहा, इस्पात औद्योगिक गैस, तेल आदि क्षेत्रा म सहयोग का आश्वासन दिया गया। भारत रूस व्यापार मे भी अत्यधिक वृद्धि हुई है। भारत रूसी व्यापार जो 1953 मे 13 करोड रु० का था वह 1974 मे बढकर 618 करोड रु० का हो गया और 1975 मे इसके 750 करोड रु० तक बढने की आशा है।[1]

उपयु क्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत सनिक और आर्थिक विकास रूसी विदेश नीति का एक आवश्यक अग है। उसकी यह धारणा है कि एशिया मे चीन एक मात्र महाशक्ति न रहे। भारत रूस सम्बन्धो की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि सोवियत रूस स सभी प्रकार की सहायता लेते हुए भी भारत ने अपनी सम्प्रभुता को कभी दाव पर नही लगाया। भारत ने सवदा अपनी स्वतन्त्र नीति का अनुसरण किया। उदाहरणतया 1974 का अणु परीक्षण भारतीय नीति की स्वतन्त्रता का द्योतक है। दूसरे भारत ने एशियाई सामूहिक सुरक्षा के रूसी विचार को सवदा अव्यावहारिक बताया है। यद्यपि ब्रेजनेव अपनी 1973 की भारत यात्रा के समय भारतीय नेताओ को यह समझान का प्रयास किया कि "यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन की भाति अन्य महाद्वीपो म भी सामूहिक सहयोग और सुरक्षा की व्यवस्था की जा सकती है परन्तु भारतीय नेताओ ने इस सुझाव के प्रति कोई अनुकूल प्रतिक्रिया नही की।

## भारत–रूस सन्धि

**(Indo Russian Treaty)**

कारण—भारत रूस सन्धि के सम्पन्न होने मे उन घटनाओ का अत्यधिक महत्व है जो विश्व की राजनीति और इस उप महाद्वीप मे तीव्र गति से बढ रही थी। ये घटनायें मुख्यतया निम्न थी—

---

1 देखिये, दिनमान दिनाक 15 जून 1975, पृ० 17

**1 पीकिंग को रिझाने की वाशिंगटन की इच्छा**—अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन ने चीन के साथ सम्बन्धो म सुधार करने के लिए अपने विशेष दूत डा० किसिंगर को चीन की यात्रा पर भेजा। चीन मे गुप्त वार्ताओ के बाद राष्ट्रपति निक्सन की पीकिंग यात्रा की नाटकीय घोषणा की गई।

**2 वाशिंगटन-पिंकिंग पिण्डी गठबन्धन की सम्भावना**—क्योकि चीन के साथ अमरीकी सम्बन्धो के सुधार म पाकिस्तान ने मुख्य भूमिका निभाई थी अत ऐसी सम्भावना थी कि वाशिंगटन पीकिंग पिण्डी गठबन्धन की रचना की जायगी। अमरीका और चीन दोनो पाकिस्तान को एक सैनिक शक्ति बनाये रखने के समर्थक थे। हथियारो से लदे हुए जहाज पद्मा और सुन्दरबन अमरीकी बन्दरगाहो से रवाना हो चुके थे। जसाकि स्वर्णसिंह ने कहा था कि 'भिन्न भिन्न विश्व शक्तियो की सस्थिति (configuration) म परिवर्तन हो रहा था।"

**3 बगला देश की समस्या के सम्बन्ध मे महाराष्ट्रो की चुप्पी**—भारतीय प्रधान मन्त्री की विदेश यात्राओ के बाद भी महाराष्ट्रो ने बगला देश म हो रहे नरसहार और अत्याचारो के प्रति आखें मूद ली थी। लाखो की सख्या मे लोग शरणार्थियो के रूप मे पूर्वी पाकिस्तान (बगला देश) से भारत मे रह रहे थे। निकट भविष्य मे शरणार्थियो के इस तात के समाधान होने की कोई सम्भावना नहीं थी। इन शरणार्थियो के आने से भारतीय अर्थव्यवस्था और विकास कार्यों पर प्रतिकूल प्रभाव पडना शुरू हो गया था। इतना ही नही, भारत मे व्यावसायिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक समस्यायें भी उत्पन्न होनी शुरू हो गयी थी।

**4 अरब राष्ट्रो का विद्रोही रुख**—अरब राज्य न केवल बगला देश की समस्या को समझने मे असफल रहे थे बल्कि तानाशाही याह्या खा को सैनिक सहायता देकर नर-सहार और युद्ध वातावरण उत्पन्न करते रहे।

**5 भारत के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय सस्था का प्रयोग**—पश्चिमी शक्तियों ने, विशेषकर अमरीका ने बगला देश की समस्या को भारत पाकिस्तान की समस्या बनाने का षडयन्त्र रचा। सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रेक्षको की नियुक्ति के अमरीकी प्रस्ताव का यही उद्देश्य था। सयुक्त राष्ट्र सघ के महासचिव ऊ थाट का दृष्टिकोण भी पक्षपातपूर्ण था। उसने समस्या पर चुप्पी ठान कर अप्रत्यक्ष रूप से नर-सहार मे अपना सहयोग दिया।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि मे भारत अपने आपको एकाकी अनुभव करने लगा था भारतीय जन मानस में निराशा खिसियाहट, ग्लानि और पछताव की भावनायें पैदा हो रही थी। दूसरी ओर, रूस भी यह अनुभव करने लगा था कि वाशिंगटन पीकिंग का गठबन्धन रूस को विश्व राजनीति मे पिछाडने, हिन्द चीन की हटाने तथा एशिया मे रूस के प्रभाव क्षेत्र को कम करने की दोहरी तलवार थी। इन सब कारणो से रूस और भारत ने अपने मित्रतापूर्ण सम्बन्धो को सुदृढ करने, इस उ-

गतिहीन म शान्ति और सुरक्षा बनाये रखा तथा अपनी सीमाओं, प्रभुसत्ता अखण्डता और स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए 9 अगस्त 1971 का एक 20 वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये जो भारत रूस सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि पर भारतीय विदेश मन्त्री स्वर्णसिंह और रूसी विदेश मन्त्री ऐन्द्रे ग्रोमिको ने अपने-अपने राष्ट्र की ओर से हस्ताक्षर किये। यद्यपि यह सन्धि 20 वर्ष के लिए है परन्तु उसके बाद भी, जब तक सन्धि कर्ता राष्ट्रों में कोई इस सन्धि को समाप्त करने की इच्छा 12 महीने पूर्व व्यक्त न कर दे, इसे पांच वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है। यह सन्धि हिन्दी रूसी और अंग्रेजी भाषा में की गई है।

सन्धि की शर्तें—भारत रूस सन्धि में कुल 12 धारायें हैं। प्रथम 7 धारायें केवल कथन मात्र है। वास्तविक धारायें तो 8, 9 और 10 हैं जो सुरक्षा से सम्बन्धित है। धारा 9 सन्धि की मुख्य धारा (kingpin) है अर्थात् सबसे महत्त्वपूर्ण धारा 9 है। इसमें कहा गया है कि "सन्धि कर्ता राष्ट्रों में किसी पर आक्रमण या आक्रमण के भय की स्थिति में दोनों राष्ट्र, आक्रमण के भय को दूर करने के लिए एक दूसरे से तत्काल पारस्परिक विचार विमर्श करेंगे और दोनों राष्ट्रों की शांति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिए 'आवश्यक प्रभावशाली कदम' उठायेंगे। दोनों राष्ट्रों में कोई एक राष्ट्र किसी ऐसे तृतीय पक्ष को किसी प्रकार की सहायता नहीं देगा जो (सन्धि के) दूसरे पक्ष के साथ संघर्ष में संलग्न हो।" धारा 8 में यह कहा गया है कि दोनों सन्धि कर्ता राष्ट्र किसी अन्य राज्य या राज्यों से कोई गुप्त या सार्वजनिक समझौता नहीं करेगा जो इस सन्धि के विरुद्ध हो, कोई दूसरे पक्ष पर आक्रमण नहीं करेगा और अपनी सीमाओं का प्रयोग ऐसे नहीं होने देगा कि वह दूसरे पक्ष के लिए हानिकारक हो।

सन्धि का स्वागत—भारत में सन्धि का स्वागत सभी राजनीतिक दलों ने किया। इस सन्धि को भारत रूस सम्बन्धों के इतिहास में "महत्त्वपूर्ण चिन्ह" (important landmark) की संज्ञा दी गई है। स्वर्णसिंह ने इसे भारत रूस सम्बन्धों के मार्ग में "महत्त्वपूर्ण पत्थर" (important milestone) की संज्ञा दी है। मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेता ए०के० गोपालन ने इसकी यह कह कर प्रशंसा की कि 'यह भारत की पश्चिम पर निर्भरता का समाप्त कर देगी।' साम्यवादी दल के नेता हिरेन मुखर्जी ने इस "समकालीन इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण चिन्ह' (a landmark in contemporary history) की संज्ञा दी। वी० के० कृष्णा मेनन ने इसे असंलग्नता की विदेश नीति के अनुरूप' स्वीकार किया और इसे 'स्वस्थ विकास (a healthy development) की संज्ञा दी। जनसंघ के नेता ए० बी० वाजपेयी ने इसकी यह कह कर प्रशंसा की कि "यह भारत के लिए एक मित्र का उत्पन्न करती है इसने पाकिस्तान के आक्रमणकारी इरादों को रोक दिया है और इसने सम्भावित पाकिस्तानी आक्रमण की दशा में चीनी हस्तक्षेप पर

पहले से ही रोक लगा दी है।" इस संधि का विश्व 'शक्ति सन्तुलन' में भी अत्यधिक महत्त्व है। साम्यवादी दल ने इसकी यह कह कर प्रशंसा की कि यह एशिया में शान्ति और विकास के लिए ठोस कदम है।

संधि का मूल्यांकन—भारत रूस संधि जहां प्रशंसा की पात्र रही है वहां इसकी कटु आलोचना भी की गई है। संधि के पक्ष और विपक्ष में व्यक्त किये गये विचारों को निम्न बिन्दुओं द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है—

संधि के विपक्ष में तर्क—भारत रूस संधि की आलोचना निम्न बिन्दुओं के आधार पर की गई है—

1 असंलग्नता का परित्याग—इस संधि की यह कह कर उग्र आलोचना की गयी है कि इससे भारत ने अपनी परम्परागत असंलग्नता की नीति का परित्याग कर दिया है। आलोचकों का कथन है कि भारत विश्व राजनीति में पहले की भांति न तो स्वतन्त्रतापूर्वक न्याय कर सकेगा और न पूर्व पश्चिम के गतिरोध में सेतुबन्ध (bridge builder) का कार्य कर सकेगा। काठमण्डू के एक पत्र राइजिंग नेपाल (Rising Nepal) ने यह विचार व्यक्त किया कि संधि के बाद भारत की विदेश नीति तो 'अर्द्ध तटस्थता' की है। एक अन्य आलोचक के अनुसार भारत ने अपनी विदेश नीति के "मूल बिन्दु की कमर तोड़ दी है", "भारत ने अपनी आत्मरक्षण की शक्ति को लंगड़ा बना दिया है।"

2 भारत के रूसी उपग्रह बनने की सम्भावना—आलोचकों का कथन है संधि दो समान पक्षों में नहीं। रूस की तुलना में भारत सैनिक दृष्टि से निर्बल है। आलोचक संधि के विपक्ष में 'हंगरी' और 'चेकोस्लोवाकिया' तथा 'ब्रेजनेव सिद्धान्त' (सीमित सम्प्रभुता का सिद्धान्त) का हवाला देते हैं। एक आलोचक के अनुसार यह संधि "एक हाथी के साथ बिस्तर पर लेटने के समान है" (The treaty is like lying in bed with an elephant) बलराज मधोक जैसे आलोचकों का कथन है कि इससे भविष्य में भारत की सम्प्रभुता पर प्रहार हो सकता है। यह भी सम्भावना है कि रूस अपनी स्थिति से लाभ उठाते हुए भारत के सामाजिक और आर्थिक ढांचे को परिवर्तित करने का प्रयास करे। बलराज मधोक की यह शंका है कि यह संधि कहीं "भारत की गर्दन के इर्द गिर्द एक पत्थर न हो जाय (a milestone around India's neck)। उनका विश्वास है कि भारत रूस की मुट्ठी (grip) में आ सकता है। श्री मसानी ने तो इस संधि को सोवियत उपग्रहवाद की नीति की संज्ञा दी है (a policy of Soviet Satellism) आलोचकों का यह भी कथन है कि रूस भारत में अपने पिट्ठुओं (stooges) की सहायता से साम्यवाद का प्रसार करने का प्रयास करेगा। आलोचकों का यह भी कहना है कि हिन्द महासागर जैसे क्षेत्र में जिसे भारत दोनों महाशक्तियों के प्रभाव क्षेत्र से मुक्त रखना चाहता है रूस अपने समुद्री अड्डे को रखने की मांग को दोहरायेगा।

**3 भारत के शत्रुओं को एक दूसरे के निकट लाने मे सहायक**—आलोचकों का कथन है कि इस संधि से भारत के शत्रुओं, विशेषकर पाकिस्तान और चीन तथा चीन और अमरीका को एक दूसरे के निकट लाने म सहायक होगी। यह भी कहा जाता है कि इससे अमरीकी जनमत का वह भाग हतोत्साहित होगा जो भारत से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। यह भी शका व्यक्त की गई है कि क्या भारत चीन, पाकिस्तान और अमरीका की शत्रुता को एक साथ सहन कर सकता है ? आलोचकों का कथन है कि भविष्य म संधि से उत्पन्न होने वाली समस्यायें बढ सकती हैं। रूस चीन की मुठभेडें या रूस अमरीका की मुठभेड मे रूस कम से कम भारत के विरोध से मुक्ति पा चुका है। दूसरे शब्दों मे, यह संधि भारत को चीन रूस-अमरीका के त्रिकोणीय शीत युद्ध मे घसीटती है। इस दृष्टिकोण म यह संधि शीत युद्ध के क्षेत्र को सीमित करने के स्थान पर उसका विस्तार करती है। इतना ही नही यह संधि भारत चीन, भारत पाकिस्तान सम्बन्धों को सुधारने मे भी बाधा प्रस्तुत कर सकती है।

**4 जल्दबाजी मे की गयी संधि**—आलोचकों का कथन है कि भारत रूस संधि जल्दबाजी मे की गयी एक संधि है जिसकी आवश्यकता नही थी। जसाकि आचार्य कृपलानी ने कहा था कि "संधि की आवश्यकता नही थी। इसे जल्दबाजी म बनाया गया है इसके पक्ष मे व्यक्त किये गय विचार उतने ही उतावले है जितने कि संधि पर किये गये हस्ताक्षर हैं।' आलोचकों का कथन है कि संधि तभी उपयोगी सिद्ध हो सकता है जब भारत राजनीतिक आर्थिक और सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली हो।

**5 वास्तविक समस्याओं के प्रति उदासीन**—भारत रूस संधि की यह कह कर भी आलोचना की गयी है कि इसने भारत की किसी तत्कालीन समस्या का समाधान नही किया। संधि पर हस्ताक्षर होने के बाद जो सयुक्त विज्ञप्ति जारी की गयी उसमे "बगला देश की समस्या', 'शरणार्थियो की समस्या, 'भारत पर सम्भावित पाकिस्तानी चीनी आक्रमण की स्थिति म सैनिक सहायता आदि प्रश्नों पर कोई बल नही दिया। आलोचकों का कहना है कि 'विचार विमश" से बहुमूल्य समय ही नष्ट नही होता बल्कि युद्ध प्रयासो पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड सकते हैं। युद्ध तो तत्काल सुदृढ, एकाग्र और ठोस प्रयासों की माग करता है। आलोचकों का यह भी कहना था कि हो सकता है कि रूस भारत को उन अस्त्र शस्त्रो को देने से इकार कर दे जिसकी भारत को आवश्यकता हो।

**6 सैनिक संधि**—कुछ आलोचकों का विश्वास है कि यह संधि "वारसा समझौते" की तरह है। आलोचकों का कहना है कि यह सत्य है कि संधि को शांति मित्रता और सहयोग" की संधि की सज्ञा दी गयी है, संधि मे "सयुक्त कमाण्ड जैसी व्यवस्था नही है परन्तु सभी संधियों का अन्तर्निहित उद्देश्य 'सैनिक प्रबन्धो या समझौतो की व्यवस्था करना होता है और यदि इस प्रकार की संधियों का

उद्देश्य न हो तो उनका महत्त्व ही नही रहना। आलोचक कहते हैं कि सन्धि म "आक्रमण की स्थिति म तत्काल पारस्परिक विचार विमर्श और "आवश्यक प्रभावकारी कदमा का जिक्र इस ओर सकेत करते है। यह आक्रमण से बचाव की गर्ई सन्धि है और आक्रमण को खदेडने के लिए सनिक सहायता की आवश्यकता होती है। स्वतन्त्र दल के तत्वाधान म जो सगोष्ठी (Semenar) सितम्बर 1971 म हुई थी उसमे डा० सेठी ने मत व्यक्त किया था कि यह सधि "सैनिक सधि है और अन्य सनिक सधियो की भाति यह भी असमान पक्षो मे सन्धि है।"

सधि के पक्ष मे तर्क—उपर्युक्त आलोचनाओ के बाद भी भारत-रूस सन्धि के पक्ष मे अनेक तर्क दिये गये हैं। पक्ष म दिये गये तर्कों को निम्न बिन्दुओ द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है—

1 **भारत पाकिस्तान झगडो मे महाशक्तियो के हस्तक्षेप के विरुद्ध बीमा सुरक्षा**—सधि के पक्ष मे सबसे बडा तर्क यह दिया जाता है कि भारत-पाकिस्तान विवादो मे महाशक्तियो के हस्तक्षेप के विरुद्ध यह बीमा सुरक्षा है। इस सन्धि के बाद भारत पाकिस्तान विवादो मे किसी महाशक्ति का हस्तक्षेप तृतीय युद्ध को जन्म दे सकता है और कोई महाशक्ति विश्व युद्ध का खतरा मोल नही ले सकती। इस सधि का ठीक ही "रक्षा कवच" (Safeguard) की सज्ञा दी गई है। यह सन्धि सम्भावित वाशिगटन-पीकिंग पिण्डी धुरी के विरुद्ध चेतावनी है। इससे छुटकारा पाने तथा उसके प्रभाव को कम करने के लिए यह सधि एक उपचार है। जैसाकि स्वर्ण सिंह ने कहा था कि यह सधि "पारस्परिक सहयोग का विश्वसनीय आश्वासन" (a credible assurance of mutual cooperation) है। यह सधि उन राष्ट्रो के लिए प्रतिरोध (deterrent) का कार्य करेगी जो भारत के प्रति आक्रमणकारी इरादे रखते है।

2 **असलग्नता की नीति की गतिशीलता की द्योतक**—इस सधि ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारत की असलग्नता की नीति क्रियाहीन नीति नही बल्कि यह गत्यात्मक और क्रियाशील नीति है। इसने यह भी सिद्ध कर दिया है कि भारत शक्ति की यथार्थता को समझता है और अपने हितो की रक्षा करने और शान्ति स्थापित करने के लिए स्वय निर्णय ले सकता है। भारत की शान्ति की नीति भीरुता की नीति नही। भारत अपने हितो की रक्षा हेतु मित्रो की खोज कर सकता है और यह सन्धि रूस के रूप मे एक ठोस मित्र को उत्पन्न करती है। इसने यह भी सिद्ध कर दिया है कि "असलग्नता की नीति उद्देश्यो (राष्ट्रीय हितो) को प्राप्त करने के लिए साधन मात्र है, यह कोई धर्म नही जिसकी शपथ ली जाती है।" इसने जहा भारत की राजनीतिक परिपक्वता का परिचय दिया है वहा उसकी कूटनीति की गतिशीलता और व्यावहारिकता का परिचय भी दिया है।

3 **यह सनिक सन्धि नहीं, शान्ति की सन्धि है**—भारत रूस सन्धि पर सबसे बडा आरोप यह लगाया जाता है कि यह सनिक सन्धि है और इससे भारत ने अपनी

[illegible]

इस सन्धि [illegible] चीन [illegible] आलोचना [illegible] किया था [illegible] और [illegible] की भावना है। इसमें [illegible] और [illegible] दुष्ट इरादों (vicious designs) का [illegible] किया है। बोरिस पोनोमारेव (Boris Ponomarev) ने कहा था कि यह सन्धि [illegible] के लिए [illegible] की प्रमुख आधारशिला है [illegible] राष्ट्रीय [illegible] के लिए आधारशिला (Corner Stone) है।[1]

4. भारतीय स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता की रक्षक है भक्षक नहीं—भारत-रूस सन्धि भारतीय स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता की रक्षा करती है उसका भक्षण नहीं करती। इसे सोवियत उपनिवेशवाद की नीति कहना गलत है। [illegible] और [illegible] के [illegible] हुए [illegible] इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि [illegible], जन संख्या और प्राकृतिक [illegible] की दृष्टि से भारत [illegible] पर [illegible] नहीं। भारत स्वयं में एक शक्ति है जिसका अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना स्थान है। आज भारत स्वयं अणु सम्पन्न देश है। [illegible] लागू होता है। [illegible] के [illegible] का परिचय मिलता है और शक्तिशाली भारत [illegible] उसके [illegible] दूर से [illegible] नहीं। इस सन्धि ने सिद्ध कर दिया है कि सोवियत संघ की मित्रता प्राप्त करने के लिए भारत ने अपनी स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता को दाँव पर नहीं लगाया। इस सन्धि ने भारत की आत्म निर्भरता [illegible] कर लिया है। परमाणु परीक्षण, आयभट्ट का अन्तरिक्ष में छोड़ा जाना, रूस के एशियाई सामूहिक सुरक्षा के प्रस्ताव के प्रति अनुराग न दिखाना भारतीय विदेश नीति की स्वतन्त्रता और सुरक्षा का परिचायक है।

## भारत-चीन सम्बन्ध
## (Indo-Chinese Relations)

('साम्यवादी चीन के साथ मैत्रीपूर्ण एवं घनिष्ठ सम्बन्ध का तो प्रश्न ही नहीं उठता।') —के० एम० पणिक्कर

("चीन ने दुष्ट इरादों को छिपा रखा है और उसके प्रति दृढ़ नीति ही हम उससे बचा सकती है।) —अरविन्द

भारत–चीन सम्बन्धो के सम्बन्ध मे व्यक्त किये उपयुक्त कथन सत्य से भरपूर है। वस्तुत चीन और भारत मे मैत्रीपूर्ण एव घनिष्ठ सम्बन्ध उत्पन्न होने मे अनेक बाधायें हैं (i) एशिया मे भारत ही एक ऐसा देश है जो जनसख्या, शक्ति और प्राकृतिक साधनो मे चीन का प्रतिद्वन्द्वी बनने की क्षमता रखता है। क्योंकि चीन एशिया मे अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहता है अत भारत का शक्ति के रूप मे उभरना, आर्थिक दृष्टि से उसका सम्पन्न होना और राजनीतिक सुदृढता प्राप्त करना चीन के लिये ईर्ष्या, द्वेष और वैमनस्य का कारण है। दूसरे शब्दो म, भारत चीनी विस्तारवाद के मार्ग मे महानतम बाधा है। (ii) भारत की राजनीतिक, सामाजिक एव आर्थिक प्रणालिया एव सस्थायें चीनी साम्यवादी प्रणाली और उसकी सस्थाओ मे भिन्न है। तीसरे, भारत की परम्परागत एव वतमान नीति का मूल आधार पचशील के पाच सिद्धान्त है। यद्यपि नेहरू के बाद के काल मे भारत अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे शक्ति के महत्त्व को समझने लगा है और उसने परमाणु विस्फोट और अन्तरिक्ष मे आयभट्ट को भी छोड दिया है परन्तु भारत के इरादे साम्राज्यवादी या विस्तारवादी नही। भारत परमाणु अस्त्रो का निर्माण नही करना चाहता बल्कि उसके अनुसन्धान द्वारा अपनी आर्थिक समस्याओ (गैस, तेल, विद्युत स्वास्थ्य आदि) का समाधान करना चाहता है। भारत अपनी शक्ति से किसी को आतकित करना नही चाहता। दूसरी ओर, साम्यवादी चीन के इरादे साम्राज्यवादी और विस्तारवादी ह उसकी इच्छाये एशिया म एकाधिकार की ह और उसके साधन तोडफोड, आतक, भय, क्रान्ति मुक्ति युद्ध, छल, कपट और हिंसा आदि ह। माओतन्त्र और माओ नीति (Mao–archy and Mao policy) शक्ति को 'बन्दूक की नली' से प्राप्त करती है, यह बन्दूक और तलवार को राज्य का आधार मानती है इसके लिये सहअस्तित्व मूखता की निशानी है यह समाजवाद की स्थापना के लिये सशस्त्र क्रान्ति को अनिवाय मानती है आदि। भारत चीन सम्बन्धो के पिछले 25 वर्षो का इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि "प्रमोदकाल म भी जब हिन्दी चीनी भाई भाई के नारे लगाये जा रहे थे चीन अन्दर ही अन्दर अपने इरादो को छुपा रहा था और भारत पर आक्रमण की तैयारिया कर रहा था।

भारत चीन सम्बन्धो के इतिहास को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागो मे बाटा जा सकता है (i) प्रमोदकाल (1949–57) और (ii) मतभेदो, सघर्षो आक्रमणो और वैमनस्य तथा तनाव काल (1958–75)

(i) **प्रमोद काल (1949–57)**—यद्यपि चीन भारतीय मित्रता का हृदय से इच्छुक कभी नही रहा फिर भी साम्यवादी क्रान्ति के समय (अक्टूबर 1949) मे लेकर 1957 तक उसकी नीति भारत के प्रति कम स कम ऊपरी मित्रता की अवश्य रही। चीन के प्रति भारत का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही मित्रतापूर्ण रहा है। भारत उसकी मित्रता का हृदय से इच्छुक था और आज भी है। जैसाकि पामर ने लिखा है कि 'साम्यवादी चीन के प्रति नेहरू और उनके सहयोगियो का उपागम स्पष्ट रूप से त्रुटी

कारी था।"[1] विन्सेन्ट शीयन के शब्दों मे "चीनियो के साथ मित्रता प्राप्त करने मे जितना प्रयास नेहरू ने किया है उतना इस पृथ्वी पर किसी ने नहीं किया।"[2] अक्टूबर 1949 म चीन मे साम्यवादी क्रांति का भारत ने हृदय से स्वागत किया। गैर साम्यवादी देशो मे भारत ही ऐसा पहला देश था जिसने चीन को राजनय मान्यता प्रदान की। अमरीका की नाराजगी की कीमत पर भी भारत ने कोरियाई युद्ध मे चीन का समर्थन किया। यू० एन० ओ० मे भारत ने उस प्रस्ताव का विरोध किया जिसमे चीन को आक्रान्ता घोषित किया गया था। सितम्बर 1950 मे सेन फ्रांसिस्को मे 49 राष्ट्रो के साथ होने वाली जापानी संधि मे भारत इसलिये शामिल नही हुआ कि चीन को उसमे शामिल नही किया गया था। संयुक्त राष्ट्र संघ मे चीन को मान्यता दिलाने का भारत ने भरसक प्रयास किया। भारत ने उस समय भी चीन को मान्यता दिलाने का प्रयास किया जब चीन का भारत के प्रति दृष्टिकोण शत्रुतापूर्ण था। भारत ने सर्वदा अमरीका की उन नीतियो की आलोचना की जो चीन को अन्तराष्ट्रीय सम्मेलनो या संस्थाओ मे उसे 'उचित स्थान' (Rightful Place) दिलाने मे बाधा प्रस्तुत करती थी।

सन् 1954 57 का काल ना भारत चीन सम्बन्धो मे प्रमोद काल कहलाता है। दूसरे शब्दो म, इस काल मे ऐसा प्रतीत होता था कि भिन्न भिन्न राजनीतिक प्रणालियो के समर्थक होने पर भी (भारत मे प्रजातान्त्रिक प्रणालियां विद्यमान है और चीन म सर्वसत्तावादी प्रणालियां विद्यमान है) दोनो के अन्तराष्ट्रीय स्तर पर उद्देश्य समान हैं। इस काल म 29 जून 1954 को दोनो राष्ट्रो के मध्य एक 8 वर्षीय व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत भारत ने तिब्बत म अपने 'अतिरिक्त क्षेत्रीय अधिकारो (Extra territorial rights) को चीन को सौंप दिया। इस व्यापारिक समझौते की प्रस्तावना म ही पचशील के सिद्धान्तो की रचना की गयी। भारत ने तिब्बत म चीन की सम्प्रभुता को स्वीकार कर लिया। जून 1954 म जब चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ एन लाई भारत आये तो संयुक्त विज्ञप्ति म पचशील के सिद्धान्तो पर बल दिया गया। अक्टूबर 1954 मे प० नेहरू ने भी चीन की यात्रा की। अप्रैल 1955 मे बाण्डुग सम्मेलन म नेहरू और चाऊ एन लाई ने पूर्ण सहयोग के साथ कार्य किया। बाद मे भी गोवा के प्रश्न पर चीन ने भारत का साथ दिया और क्यूमाये (Quemoy) और टापुओ पर भारत ने चीन का समर्थन किया।

(ii) मतभेदो, संघर्षों, आक्रमणों और वैमनस्य का काल (1957–75)—यद्यपि प्रमोद काल मे भी भारत और चीन म कुछ मतभेद विद्यमान थे परन्तु 'मित्रता

1 See Palmer, Norman D The Indian Political System, p 286

2 Sheean, Vincent, Nehru Thee Yars of Power, p 185 Quoted by Palmer, Ibid p 286

और हिन्दी–चीनी भाई भाई के नशे मे भारत को उनका आभास नहीं हुआ और चीन अपने दुष्ट इरादा को मित्रता का स्वाग रच कर छुपाता रहा।

जिन समस्याओ ने भारत–चीन सम्बन्धो म तनाव पदा किया है व मुख्यतया निम्न हैं —

1 तिब्बत समस्या—भारत चीन सम्बन्धो मे मनभेदो और वमनस्य क मूल मे 'तिब्बत का प्रश्न' रहा है। चीन प्रारम्भ से ही तिब्बत की स्वत त्रता को समाप्त कर अपनी सीमाओ के साथ मिलाना चाहता था जबकि भारत तिब्बत की स्वत त्रता बनाये रखना चाहता था। अत तिब्बत को साम्राज्यवादी षडय त्रो से मुक्ति दिलाने के लिये चीन ने 1 जनवरी 1950 को तिब्बत पर आक्रमण कर दिया और भारत के विरोध पर चीन ने कडा रुख अपनाते हुए यह उत्तर दिया कि "पश्चिम की साम्राज्यवादी नीति से प्रभावित भारत चीन के आ तरिक मामला म हस्तक्षेप करने का साहस न करे।" जब 23 मई 1951 को चीन और तिब्बत मे समझौता हो गया (इसमे तिब्बत के वदेशिक सम्ब घो, व्यापार सुरक्षा, आवागमन पर चीन के निय त्रण को स्वीकार कर लिया गया था) तो मामला ठण्डा पड गया। पर तु चीन की हरकते निर तर जारी रही। सन् 1955 मे चीनियो न बडाहोती पर अधिकार कर लिया और अपनी एक सैन्य टुकडी भी वहा स्थापित करदी। अप्रल 1956 मे चीनी सेना की टुकडिया न दमजान और उत्तर प्रदेश के विलाग म पवेश किया। 1956 म शिपकी दर्रे (हिमाचल प्रदेश) और 1957 म लोहित क्षेत्र (नेफा) म चीनी सैनिको ने भारतीय सीमाओ का अतिक्रमण किया। जुलाई 1958 म चीनियो ने लद्दाख के खुरनाक किले पर अपना कब्जा कर लिया। इसी वष चीन ने एक भारतीय गश्ती दल का अक्साइचिन के उत्तर म ब दी बना कर उसके साथ दुव्यवहार किया। इतना ही नही, चीनियो ने अक्साइचिन (Akshai chin) के पठार मे सडक का निर्माण भी कर लिया।

भारत चीन सम्ब धो म उस समय अत्यधिक तनाव उत्पन्न हुआ जब तिब्बत मे माच 1959 मे चीन के विरुद्ध विद्रोह शुरू हुआ और भारत न तिब्बत के लोगो के प्रति अपनी हमदर्दी व्यक्त की।[1] यही से "हि दी चीनी प्रमोदकाल' का अ त शुरू होता है, यही से भारत चीन शीत युद्ध का प्रारम्भ होता है। 31 माच 1959 को तिब्बत के दलाई लामा (Dalai Lamba) भागकर भारत आ गये और भारत न उन्हे राजनीतिक शरण प्रदान कर दी तो चीन न इसे "शत्रुतापूर्ण काय बतलाया और भारत पर विस्तारवादी होने का आरोप भी लगाया। इतना ही नही चीन ने भारत को चुनौती दते हुए यह भी सूचित किया कि 'पचशील की शर्तो का अब वह अपनी सुविधा के अनुसार निभायेगा।' अगस्त 1959 म चीन ने नफा म लाग्जू (Longju) नाम की चौकी को भी हस्तगत कर लिया। नेहरूजी ने इस 'आक्रमण' की

1 From Statement of Pt Nehru, dt 30 3 1959 in Lok Sabha

सज़ा दी और भारतीय अखण्डता और सीमाओं की रक्षा करने के निश्चय को दोहराया। 8 सितम्बर, 1959 को चाऊ एन लाई ने भारत पर यह आरोप लगाया कि वह "तिब्बत में सशस्त्र विद्रोहियों को संरक्षण दे रहा है।"

सम्बन्धों को सुधारने के लिये चीनी प्रधान मन्त्री चाऊ एन लाई अप्रैल, 196 में भारत आये परन्तु दोनों देशों के मतभेद दूर न हो सके।

**2 सीमा विवाद**—दूसरी समस्या जिसने भारत चीन सम्बन्धों में कटुता पैदा की है वह है सीमा विवाद (Border Dispute)। सीमा विवाद का सिद्धान्त के ऊपर है उत्तर पूर्व में मैक मेहान रेखा (McMohan Line) और उत्तर पश्चिम में लद्दाख। जहां उत्तर पूर्व की सीमा के सम्बन्ध में 27 अप्रैल, 1914 के शिमला सम्मेलन का उल्लेख मिलता है वहां उत्तर पश्चिम की सीमा के सम्बन्ध में किसी सम्मेलन या अभिलेख का उल्लेख नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में जहां उत्तर पूर्वी सीमा मैक मेहान रेखा का परिणाम है वहां उत्तर-पश्चिमी सीमा परम्परागत सीमा पर आधारित है। शिमला सम्मेलन में ब्रिटिश, तिब्बत और चीनी प्रतिनिधियों ने वाह्य तिब्बत और भारत के बीच की ऊंची पर्वत श्रेणियों को सीमा मानकर एक नक्शे में लाल पैंसिल से निशान कर दिया। यही सीमा रेखा मैक महोन रेखा के नाम से प्रसिद्ध है। सन् 1959 तक चीन ने मैक महोन रेखा के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं की थी परन्तु इस वर्ष चीन ने यह दावा किया कि दोनों देशों के बीच सीमाओं का विधिपूर्वक निर्धारण कभी नहीं हुआ। अतः वह मैक मेहोन रेखा को पूर्णतया अस्वीकार करता है। वस्तुतः 1956 में ही 'चाइना पिक्टोरियल' में ही भारत और भूटान के अनेक प्रदेश चीन की सीमा के अन्तर्गत दिखाये गये थे। जब नेहरूजी ने चीन का ध्यान इन नक्शों की ओर दिलाया तो चीन ने इसे यह कहकर टाल दिया कि "ये नक्शे पुराने नक्शों के आधार पर छपे हैं" अतः इस सम्बन्ध में भारत को परेशान होने की आवश्यकता नहीं। यद्यपि भारतीय और चीनी प्रतिनिधि 1960 में रंगून में सीमाओं के सम्बन्ध में समझौते के आधार को ढूंढने के लिये एकत्रित हुए परन्तु कोई समझौता न हो सका। वार्ता के बाद जो प्रतिवेदन प्रकाशित किया गया उसमें (i) 50 हजार वर्गमील के भारतीय प्रदेश पर चीन ने अपना दावा प्रस्तुत किया अनाधिकृत रूप से 12 हजार वर्ग मील के इलाके पर उसने अपना अधिकार भी स्थापित कर लिया है (ii) चीन कश्मीर को भारत का अंग नहीं मानता आदि।

**20 अक्टूबर, 1962 का चीनी आक्रमण**—20 अक्टूबर 1962 को चीन ने भारत पर बड़े सुनियोजित ढंग से आक्रमण किया। यह आक्रमण उत्तर पूर्वी (नेफा) और उत्तरी पश्चिमी (लद्दाख) सीमाओं पर किया गया। यद्यपि लद्दाख क्षेत्र में भारतीय सेनाओं ने अपनी जागरूकता, शक्ति और साहस का परिचय दिया परन्तु नेफा क्षेत्र में भारतीय सेनाओं की पराजय हतोत्साहित करने वाली थी। नेफा में

चीनी सेनाओं ने भारतीय सेनाओं को पिछाड़ते हुए सेला और बोमडिला आदि पर कब्जा कर लिया। असम के मैदानों को भी खतरा उत्पन्न हो गया। इस क्षेत्र में चीन ने लगभग साढ़े चौदह हजार वर्गमील भारतीय क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। लद्दाख में चीनी सेनाओं ने 40 चौकियां भारत से छीन लीं और वे चुशूल तक आ पहुँचीं।

जिस आकस्मिक ढंग से 20 अक्टूबर 1962 को भारतीय सीमाओं पर चीन ने आक्रमण किया था उसी आकस्मिक ढंग से चीन ने 21 नवम्बर, 1962 को एक पक्षीय युद्ध विराम की घोषणा कर दी। इस घोषणा में कहा गया था कि यदि (i) चीनी सेनायें 7 नवम्बर, 1959 की 'वास्तविक नियन्त्रण रेखा' (Actual line of control) से 20 किलो मीटर अपनी ओर हट जायेंगी। सेना का हटना 1 दिसम्बर, 1962 से शुरू किया जायगा। (ii) चीनी सेनाओं के हटने से जो क्षेत्र खाली होगा उसमें चीनी सरकार अपनी असैनिक चौकियां स्थापित करेगी।

भारत ने यद्यपि युद्ध-विराम को स्वीकार कर लिया परन्तु उपर्युक्त दोनों शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। श्री नेहरू ने स्पष्ट कर दिया कि जब तक चीनी सेनायें 8 सितम्बर, 1962 की स्थिति तक वापस नहीं लौट जाती तब तक उससे कोई वार्ता नहीं हो सकती। चीन ने बाद में जीते हुए भारतीय प्रदेशों को भी खाली कर दिया, भारतीय सैनिक बंदियों को छोड़ दिया तथा भारत के सैनिक साजोसामान को भी लौटा दिया।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि चीन भारत पर आक्रमण कर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता था भारत की निर्बलता का प्रदर्शित करना चाहता था तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपमानित करना चाहता था। चीन को यह भी सम्भावना थी कि युद्ध की स्थिति में रूसी साम्यवादी भाई उसका साथ देगा, भारत में आन्तरिक दंगे होंगे, आदि। परन्तु चीन की ये कामनायें सफल न हो सकीं। अमरीका, ब्रिटेन और उसके बाद फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी आस्ट्रेलिया और कनाडा ने द्रुत गति से भारत की सैनिक सहायता की, रूस प्राय तटस्थ रहा और उसने चीन पर युद्ध बन्द करने के लिये दबाव डाला। मिस्र, यूगोस्लाविया और घाना जैसे तटस्थ राष्ट्रों का दृष्टिकोण बड़ा ही निराशाजनक रहा। आक्रमण की निन्दा करना तो दूर उन्होंने आक्रमण के समय चुप्पी साध ली। पाकिस्तान ने चीनी आक्रमण का लाभ उठाते हुए भारत की निन्दा करना शुरू कर दिया। पाकिस्तान ने चीनी आक्रमण को "सामान्य स्थानीय मामले" का रूप देने का प्रयास किया।

एक तरफा चीनी युद्ध विराम का उद्देश्य कुछ भी रहा हो उसे अपने मूल उद्देश्य में सफलता मिली। सैनिक, कूटनीतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसने भारत के खोखलेपन को स्पष्ट कर दिया। नेहरूजी ने भी इस बात को स्वीकार किया कि "हम अपने द्वारा रचित अकृत्रिम वातावरण में ही रह रहे थे" (We have

been living in an artificial atmosphere of our own creation) जहा चीनी आक्रमण ने भारत को झकझोर दिया वहा भारत की विदेश नीति के भविष्य को भी निर्धारित कर दिया अर्थात भारत आदशवादी नीति से निकलकर यथार्थवादी युग मे प्रवेश करने लगा और विश्व राजनीति मे शक्ति के महत्व को समझने लगा। उत्तर नहरू काल (Post Nehru period) मे भारत विदेश नीति का आधार "यथार्थवादिता" और "शक्ति" है। इस दृष्टि से चीनी आक्रमण भारत के लिये शुभ सिद्ध हुआ है।

**कोलम्बो प्रस्ताव** (Colombo Proposals)—युद्ध विराम के बाद, श्री लका की प्रधान मन्त्री भण्डारनायके से प्रेरणा पाकर छ राष्ट्रों (श्रीलका, बर्मा, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, मिस्र, घाना) के प्रतिनिधि 10–11 दिसम्बर, 1962 को कोलम्बो मे भारत चीन विवाद का हल ढूंढने स लिये एकत्रित हुए। इस सम्बन्ध मे श्रीमती भण्डारनायके पीकिंग और नई दिल्ली भी गयी। भारत चीन विवाद को हल करने के सम्बन्ध म जो प्रस्ताव 19 जनवरी, 1963 को प्रकाशित किये गये उन्ह कोलम्बो प्रस्तावो के नाम से जाना जाता है। ये प्रस्ताव निम्न थे —

(i) वतमान तथ्यत युद्ध विराम का समय भारत चीन विवाद का शान्तिपूर्ण ढग से हल करने के लिये सवथा उपयुक्त है।

(ii) भारत चीन सीमा के पश्चिमी क्षेत्रो से चीन 20 किलोमीटर और पीछे हट जाय जैसाकि चीन के प्रधानमन्त्री ने प्रस्तावित किया है।

(iii) भारत अपनी वतमान स्थिति को बनाये रखे।

(iv) सीमा विवाद का अन्तिम हल होने का तक चीनी सनिका द्वारा खाली किया गया क्षेत्र असैनिक क्षेत्र हो और उसकी निगरानी गैर सनिक चौकिया द्वारा की जाय। किन्तु इसम उस क्षेत्र म भारत और चीन दोनो की पहले की उपस्थिति का दावा खतम नही होगा।

(v) पूर्वी नेफा क्षेत्र म वास्तविक नियन्त्रण रेखा को दोनो सरकारे स्वीकार करलें।

(vi) मध्यवर्ती क्षेत्र की समस्या का समाधान शान्तिपूर्ण तरीकों से हो।

(viii) इससे दोना देशो म वार्ता के लिये माग प्रशस्त होगा।

कुछ स्पष्टीकरण के बाद भारत ने सम्पूर्ण कोलम्बो प्रस्तावो को स्वीकार कर लिया, परन्तु चीन ने इन्ह स्वीकार नही किया। जितने भी प्रस्ताव इस सम्बन्ध मे किये गय, चीन ने सबको अस्वीकार कर दिया।

**सन् 1963 से 1975 तक भारत चीन सम्बन्ध**—सन् 1963 न 1975 तक भारत चीनी सम्बन्धो का इतिहास भी कटुता और वमनस्य का इतिहास है। इस काल मे हुई घटनाओ से स्पष्ट है कि चीन भारत के साथ शान्तिपूर्ण ढग स अपनी समस्याओ का समाधान करने के लिय तयार नही। उसके शत्रुतापूर्ण इरादे इस एक

तथ्य से स्पष्ट हैं कि जब जब चीन को अवसर मिला है तब तब उसने भारत विरोधी नीति का अनुसरण किया है। उदाहरणतया 1963 64 के विदेशी दौरा म, विशेषकर पाकिस्तान के दौरे म, चाऊ एन लाई ने 'कश्मीर मे जनमत सग्रह का पाकिस्तानी माग का समथन किया, पाकिस्तान की सीटो से टो की सदस्यता का समथन किया तथा यह वक्तव्य दिया कि पाकिस्तान न इन सगठनो की सदस्यता का आत्म रक्षा के लिय स्वीकार किया है। चीन पाकिस्तान गठब धन भारत विरोध पर आधारित है अत भारत के मन मे उनका भय सदा छाया रहता है। सन् 1965 के भारत पाकिस्तान युद्ध मे चीन की अन्तिम चेतावनी (ultimatum) चीन पाकिस्तान गठब धन को अभिव्यक्त करते थे। 'नाथूला काण्ड और 'चोला काण्ड" मे यद्यपि भारतीय सैनिको न चीनी सनिको के दात खट्टे किय पर तु ये दोनो काण्ड चीन के दृष्टिकाण को अभिव्यक्त करते हैं। चीन की परमाणु शक्ति ने भी भारत का भयादोहन (Blackmail) करने का प्रयास किया। चीन ने नक्सलवादियो का छापामार युद्ध मे प्रशिक्षण ही नही दिया बल्कि उन्हें शस्त्रो से भी लेस किया है। सन् 1971 की बगला देश की घटनाओ म चीन ने पाकिस्तान का समथन किया। जहा भारत ने चीन की यू० एन० ओ० की सदस्यता का समथन किया वहा चीन ने यू० एन० ओ० मे बगला देश के प्रवेश को रोकने के लिये वीटो (Veto) का प्रयोग किया।'

सन् 1971–75 की विश्व राजनीति मे शथिल्य (detente) की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। एक दूसरे के कट्टर विरोधी राष्ट्रो ने एक दूसरे के निकट आने का प्रयास किया है। परन्तु भारत चीन के सम्ब ध इस काल मे भी कटुता के ही रहे हैं। भारत रूस मैत्री को चीन अपने लिये एक चुनौती समझता है। यही कारण है कि 1971 की भारत रूस स ध चीन की आखो मे खटकती है। पिंग पाग नीति न एक दूसरे को निकट लाने का प्रयास किया है। परन्तु सिक्किम के भारत मे विलय पर (1975) चीन ने भारत विरोधी दृष्टिकाण अपनाया और एक प्रचार अभियान छेड दिया। आज भी भारत चीन के प्रति मित्रता बढाने का इच्छुक है यद्यपि चीन इसका इच्छुक नही। डा० वी० पी० दत्त ने लिखा है "कि चीन के प्रति भारतीय नीति की परेशानी यह है कि यह प्रतिक्रिया की रही है, क्रिया की नही।"[1]

## भारत–अमेरिकी सम्बन्ध
### (Indo–American Relations)

"भारत अमेरिकी सम्बन्ध सक्रिय और यथाथ है पर तु मैत्रीभाव यदाकदा ही उपस्थित रहा है।[2] —रिचड एल० पाक

---

1 Vidya Prakash, India and China Quoted by Palmer Norman Ibid, p 291

2 Park, Richard L India s Foreign Policy 1964–68, p 201

भारत और अमेरिका दोनो प्रजातान्त्रिक देश है, दोनो प्रजातान्त्रिक प्रणालियो म विश्वास करते है। दोनो विश्व शांति और स्वतन्त्रता के इच्छुक हैं। जसाकि नेहरूजी न कहा था कि "दोना गणराज्य प्रजातान्त्रिक सस्थाग्रा और प्रजातान्त्रिक जीवन पद्धति के प्रति समान विश्वास रखते है और शांति तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये दृढ सकल्प है। ऐसी स्थिति मे इन दोनो के मध्य मित्रता और पारस्परिक सहयोग होना नितान्त स्वाभाविक है।" "एक दूसरे की कठोर आलोचना के बाद भी दोना देशो का दृष्टिकोण मैत्रीपूर्ण है, दोना का दृष्टिकोण आशसात्मक (appreciative) है। यह एसा दृष्टिकोण है जो एक दूसर को समझने तथा सम्बन्धो मे सुधार की इच्छा रखता है।"[1]

भारत और अमरिका दोनो म सम्बन्धो का सुधारने की इच्छा होते हुए मैत्रीभाव के स्थान पर मतभेदो का क्षेत्र अधिक चौडा रहा है। इसका कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ और इस उप महाद्वीप की विशिष्ट समस्याओ के प्रति दोनो देशो के दृष्टिकोणा म गम्भीर भिन्नतायें रही हैं। दूसरे, लोकतन्त्र का समथक होते हुए भी अमेरिका न विदेशो म तानाशाही शासना और शासको का समथन किया है और हथियारो की सप्लाई को निरन्तर जारी रखकर विश्व के भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे तनाव की स्थिति को बनाये रखा है। अमरिकी विदेश नीति पर प्रकाशित एक लेख मे दिनमान ने टिप्पणी करते हुए लिखा था कि 'घर मे लोकतन्त्र और बाहर तानाशाही, अमेरिका की विदेश नीति का आधार स्तम्भ रहे हैं, वीयतनाम हो या चिली ग्रीस हो या पुतगाल, अमेरिका ने आरम्भ से ही फौजी तानाशाहो का समथन किया और लोकतन्त्र के दमन म महत्त्वपूर्ण और सक्रिय योगदान दिया। सी० आई० ए० अमेरिकी विदश नीति का केवल एक कारगर अस्त्र है। अमरिकी विदेश नीति का दूसरा कारगर अस्त्र है उन देशा को हथियारो की सप्लाई जो कि अमेरिका के प्रभाव क्षेत्र म बने रह कर प्रतिद्वन्द्वी देशा के लिये चुनौती बन सकते है।[2] सक्षेप म, 'शांति का कपोत और तलवार' अमेरिकी विदेश नीति को अभिव्यक्त करते है।

भारत अमेरिकी सम्बन्ध कटुता मित्रता के अद्वितीय उदाहरण है। वस्तुत भारत अमेरिका सम्बन्धो मे लटट् (yo–yo)[3] की तरह उतार चढाव का कारण यह है कि, जसाकि सी० राजगोपालाचार्य न 1955 म कहा था, "इस पृथ्वी पर शान्ति स्थापित करने के अमरिकी साधन भारत का अपील नही करने।'[4] भारत अमरिकी

---

1 Nehru J L Quoted by Palmer, Norman D Ibid p 300

2 देखिये दिनमान दि० 2 माच, 1975

3 This terminology has been used by Robert Trumbull Quoted by Palmer, Norman Ibid, p 302

4 See the Hindustan Times dt 3-3-1955, Quoted by Palmer, Norman Ibid, p 301

सम्बन्धो पर प्रतिकूल एवं अनुकूल प्रभाव डालने वाले तत्वों को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है —

A भारत-अमेरिकी सम्बन्धो पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले तत्त्व —जो तत्त्व भारत अमेरिकी सम्बन्धो पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं या प्रतिकूल प्रभाव डालते रहे हैं उनमे प्रमुख निम्न है —

1 साम्यवाद—द्वितीय महायुद्ध के बाद अमेरिका की विदेश नीति पर साम्यवाद के हाथी और उसके भय का प्रभाव अत्यधिक बलशाली रहा है। यदि यह कहा जाये कि युद्धोत्तर काल म अमेरिकी विदेशी नीति का मूल आधार ही 'साम्यवाद के प्रसार को रोकना' ( Cont inment of Communism ) रहा है तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिये ही अमेरिका ने युद्धोत्तर काल म उन्ही फासीवादी तथा तानाशाही शासनो का समर्थन किया जिनके विरुद्ध उसने द्वितीय महायुद्ध म भाग लिया था। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये अमेरिका ने अपने आपको "विश्व का पहरेदार" बना लिया और सन्धियां, समझौतो और नाटो, सीटो जैसे सैनिक सगठनो के निर्माण द्वारा साम्यवाद के प्रसार को रोकने का प्रयास किया। जो राष्ट्र अमेरिका के साथ समझौतो या सैनिक सगठनो के माध्यम से सम्बद्ध नही हुआ अमेरिका ने उसे 'विरोधी या "शत्रु" या 'रूस के पिच्छलग्गु" की संज्ञा दी। सन् 1949 की चीनी साम्यवादी क्रान्ति से अमरीका बौखला उठा। वास्तविकता को न पहचानते हुए अमेरिका साम्यवादी चीन का विरोध करता रहा और फारमोसा स्थित च्याग काई शेक की सरकार को ही चीन की वास्तविक सरकार मानता रहा। अमेरिका के विरोध पर ही 1971 तक साम्यवादी चीन को सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता न मिल सकी। इतना ही नही अमेरिका ने चीन को उचित स्थान दिलाने मे भी आनाकानी की।

दूसरी ओर, भारत न तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय और न ही आज साम्यवादी हाथी से भयभीत है। भारत के लिये साम्यवादी हऊआ' चिन्ता का इतना अधिक विषय नही जितना कि उसके लिये आर्थिक विकास की समस्या है। अपने आर्थिक विकास के लिये भारत को न केवल विदेशी आर्थिक सहायता की आवश्यकता है अपितु यन्त्रो और तकनीशियनो प्राप्ति की भी आवश्यकता थी। अत भारत दोनो महाशक्तियो (अमेरिका और रूस) से मैत्री चाहता है, दोनो से आर्थिक सहायता चाहता है। इन्ही उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु भारत ने स्वतन्त्र एव असलग्न विदेश नीति का अनुसरण किया जो पिछलग्गुओ की सन्तान को पैदा करने वाले अमेरिकियो को ना पसन्द है। अमेरिका इस तथ्य को आज तक समझने मे असमर्थ रहा है कि भारत स्वय म एक शक्ति है और उसे पाकिस्तान के साथ समकक्ष नही रखा जा सकता। भारत अमेरिका की उस आधीनता को कभी स्वीकार नही कर सकता जिसे पाकिस्तान ने स्वीकार किया है।

भारत ने साम्यवादी चीन का समर्थन उसके जन्म काल से किया है। भारत

ही पहला गैर साम्यवादी देश था जिसने साम्यवादी चीन को राजनय मान्यता प्रदान की और, अमेरिका के विरोध पर भी, चीन को यू० एन० ओ० की सदस्यता दिलाने का उस समय भी प्रयास किया जब चीन भारत विरोधी नीति अपना रहा था। कोरिया युद्ध में भी जब अमरिका ने यू० एन० ओ० में प्रस्ताव द्वारा चीन को 'आक्रामक' घोषित किया तो भारत ने उसका विरोध किया। अमरिका तथा पश्चिमी जगत के छापाखानों ने कोरिया युद्ध में भारत की तटस्थता और शान्तिवादी नीति की खिल्ली उड़ाते हुए श्री नेहरू को डॉन क्विक्जाट (Don Quixote) की संज्ञा दी।

संक्षेप में, अमेरिका की साम्यवाद विरोधी नीति और साम्यवाद के प्रति भारत की तटस्थता की नीति भारत अमेरिकी सम्बन्धों में मतभेद का कारण रही है।

2 सैनिक संगठनों के सम्बन्ध में मतभेद—द्वितीय महायुद्ध के बाद महाशक्तियों में युद्धकालीन सहयोग समाप्त हो गया था। विश्वास भय, भय और वैमनस्य में परिवर्तित हो गया था। अतः अमेरिका ने एक के बाद एक ऐसे सैनिक संगठनों को जन्म दिया जिनसे विश्व में शान्ति स्थापित होने के स्थान पर शीत युद्ध से तीव्रता उत्पन्न हुई। अमेरिकी राज्यों का संगठन, नीटो, सेन्टो आदि इसके मूल उदाहरण हैं। भारत पहले से ही इस प्रकार के सैनिक संगठनों या क्षेत्रीय व्यवस्थाओं का विरोधी था। भारत की यह धारणा है कि इस प्रकार के सैन्य संगठन तनाव, सन्देह और वैमनस्य को बढ़ावा देते हैं। ये शान्ति के स्थान पर अशान्ति और सद्भावना के स्थान पर सन्देह उत्पन्न करते हैं। अतः भारत ने अमरिका की इस नीति की उग्र आलोचना की। संक्षेप में, जहां अमरिका सैनिक संगठनों को शान्ति और सुरक्षा के लिये आवश्यक समझता रहा है वहां भारत उन्हें "असुरक्षा, अनिश्चितता और अस्थिरता" पैदा करने वाले समझता रहा है। भारत की धारणा है कि ये संगठन 'युद्ध वृत्ति' युद्ध हिस्टीरिया (war hysteria), शस्त्रों की होड़ को जन्म देते हैं जो अन्ततः अशान्ति पैदा करते हैं।

3 अमेरिका का एकपक्षीय दृष्टिकोण—भारत अमरिका सम्बन्धों में मतभेदों का मूल कारण यह है कि भारत पाकिस्तान सम्बन्धों में अमेरिका ने एकपक्षीय दृष्टिकोण अपनाया है। चाहे कश्मीर का प्रश्न है या बंगला देश का, चाहे आर्थिक सहायता का प्रश्न है या सैनिक सहायता का प्रश्न, अमरिका ने सर्वदा भारत विरोधी दृष्टिकोण ही नहीं अपनाया बल्कि शरारतपूर्ण एवं शत्रुतापूर्ण दृष्टिकोण भी अपनाया है। यह जानते हुए भी कश्मीर भारत का अभिन्न अंग बन चुका है और कश्मीर विधान निर्मात्री सभा और जनता ने कश्मीर के भारत में विलय पर अपनी मोहर लगा दी है, फिर भी पाकिस्तान को प्रसन्न करने के लिये अमेरिका 'कश्मीर प्रश्न के राजनीतिक समाधान", जनमत संग्रह आदि की बात करता है। कश्मीर प्रश्न पर अमेरिका ने आक्रान्त को आक्रान्ता के साथ मिलाने का प्रयास किया

सेनाओ द्वारा किये जाने वाले नर सहार के प्रति आखें मूँद ली और फिर याह्या खा के तानाशाही शासन की पीठ पर थपथपी करते हुए, चीन के साथ मिल कर याह्या खा का युद्ध के लिये भडकाया (सन् 1971 मे किसिंगर की पीकिंग यात्रा मे विश्व म नये शक्ति गुट—वाशिंगटन पीकिंग–पिंडी धुरी—के निर्मित होने की सम्भावना थी)। अमरिका ने शरणार्थियो के प्रत्यावर्तन का सम्भव और सरल बनाने के लिये सीमा के दोनो ओर सयुक्त राष्ट्रीय प्रेक्षकों की नियुक्ति का सुझाव देकर बगला देश की समस्या को भारत पाकिस्तान की समस्या बनाने का प्रयास किया। इतना ही नही, भारत को अपमानित करने, डराने और धमकाने का प्रयास भी किया गया और यह भी कहा गया कि भारत पाकिस्तान युद्ध मे चीनी हस्तक्षेप पर अमेरिकी सहायता प्रदान नही की जायेगी। 9 अगस्त 1971 की भारत-रूस सन्धि से अमरिका हक्का बक्का रह गया। नवम्बर 1971 मे प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी की पश्चिम यात्रा बगला देश समस्या का शातिपूर्ण समाधान निकालने मे असफल रही। जब पाकिस्तान ने 3 दिसम्बर 1971 को भारत पर आक्रमण कर दिया तो 6 दिसम्बर 1971 को अमेरिका ने भारत को आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया। भारत ने जब पाकिस्तानी आक्रमण की प्रतिक्रिया की तो अमेरिका ने सयुक्त राष्ट्र सघ मे एक प्रस्ताव म यह कहा कि 'पूर्वी पाकिस्तान म भारत का सैनिक अभियान वास्तव म उस पर कब्जा करना है। यह कदम सयुक्त राष्ट्र सघ के एक सदस्य राष्ट्र के अस्तित्व पर खतरा है।' भारत के अमेरिकी दृष्टिकोण का उत्तर देने के लिये हनाई सरकार के साथ अपने राजनय सम्बन्धो के दर्जे को बढा कर राजदूत स्तर का कर दिया। अमेरिका का भारत विरोधी दृष्टिकोण उस समय नजर आया जब अमरिका ने भारत को डराने, धमकाने के लिये स्वचालित परमाणु शस्त्रो से सुसज्जित सातवें अमेरिकी बेडे का बगाल की खाडी की ओर रवाना होने के लिये आदेश दिये।

सक्षेप मे अमरिका न पाकिस्तान का अन्धाधुन्ध समर्थन कर उसे हथियारो की सप्लाई कर, सयुक्त राष्ट्र सघ मे भारत विरोधी नीति अपना कर तथा चीन से गठबन्धन बढा कर भारत अमरिकी सम्बन्धो म तनाव पैदा किया है। इतना ही नही अमेरिका ने भारत पर यह आरोप भी लगाने का प्रयास किया है कि "भारत एक शक्तिशाली देश बन कर पडोसी देशो को दबाना चाहता है।' सन् 1972 मे अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन की पीकिंग यात्रा के बाद जो सयुक्त विज्ञप्ति जारी की गई उसम भारत पाकिस्तान सम्बन्धो की चर्चा की गई। सन् 1975 म पाकिस्तान को हथियारो की सप्लाई शुरू कर अमेरिका ने पुन तनाव की स्थिति पैदा करने का प्रयास किया है।

**4 भिन्न भिन्न प्रश्नो पर मतभेद** —भारत अमेरिका सम्बन्धो म उपयुक्त मतभेदो के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रश्नो पर भी उनके दृष्टिकोण म गम्भीर मतभेद रहे हैं। ये मतभेद निम्न है —

(i) **गोआ के प्रश्न पर** अमेरिका न पुर्तगाली उपनिवेश का समर्थन किया।

अमेरिकी विदेश सचिव श्री जान फास्टर डलेस ने तो गोआ को "पुर्तगाल के एक प्रांत की संज्ञा दी।" इससे भारतीय भावनाओं को अत्यधिक ठेस पहुँची।

(ii) भारत रंगभेद की नीति का सदा विरोधी रहा है जबकि अमेरिका ने प्रत्यक्षतः और अप्रत्यक्षतः रंगभेद की नीति का समर्थन किया है। नवम्बर 1974 में अमेरिका ने, ब्रिटेन और फ्रांस के साथ मिल कर, सुरक्षा परिषद में, दक्षिण अफ्रीका को यू एन ओ से निष्कासित करने के प्रस्ताव पर, त्रिराष्ट्रीय वीटो (Triple Veto) का प्रयोग किया। इन्हीं राष्ट्रों ने दक्षिण अफ्रीका को सप्लाई किये जाने वाले 'सशस्त्र निषेधाज्ञा' (arms embargo) के प्रस्ताव पर पुनः 6 जून 1975 को त्रिराष्ट्रीय वीटो का प्रयोग किया। इन्होंने ही रोडेशिया के आयन स्मिथ के प्रजातीय शासन (racist regime) का समर्थन किया है। भारत इस दृष्टिकोण का विरोधी रहा है। भारत ने अमेरिका में नीग्रो के प्रति भेदभाव की नीति का भी विरोध किया है।

(iii) वियतनाम की समस्या पर भी भारत अमेरिका के मतभेद उग्र रहे हैं। वियतनाम में अमेरिकी नीति का भारत कटु आलोचक रहा है। अमेरिका ने अपना रोष प्रकट करने के लिये भारतीय प्रधान मन्त्री शास्त्री को दिया गया 1965 का निमन्त्रण यह कह कर वापिस ले लिया कि राष्ट्रपति जानसन कार्य में व्यस्त हैं। भारतीय जनता और सरकार ने इसे देश का अपमान समझा।

(iv) निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में भारत के विचार अमेरिका की तुलना में रूस के अधिक निकट हैं। भारत ने 1968 की परमाणु सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये। सन् 1974 का भारत का परमाणु विस्फोट अमरिका को नहीं भाया।

(v) अरब इजराईल संघर्ष में जहां अमेरिका ने इजराइल का पक्ष लिया है वहां भारत अरब देशों का समर्थक रहा है।

(vi) हिन्द महासागर में स्थित दियागो गार्सिया में अमेरिका द्वारा नौसैनिक अड्डा के निर्माण का प्रश्न भारत अमेरिका सम्बन्धों में मतभेद का मुख्य कारण बन गया है। इस क्षेत्र में अमेरिकी नौसैनिक अड्डा के निर्माण के लिये अमेरिकी प्रशासक यह तर्क देते हैं कि यदि अमेरिका यहां अड्डा का निर्माण न करे तो हिन्द महासागर में सोवियत नौसेना का जबर्दस्त विस्तार हो जायगा और शक्ति सन्तुलन बिगड़ जायगा। अमरिका के डेनियल पट्रिक मोयनिहन जैसे राजदूत तो दियागो गार्सिया को हिन्द महासागर कहने के स्थान पर मेडागास्कर सागर कहना पसन्द करते हैं। अमेरिका का यह भी कहना है कि रूस के मासालिया में बरबरा (Berbera) में, ईराक में उम सासर (Um Sasr) दक्षिण यमन में अदन (Aden) में अड्डे हैं। दूसरी ओर, भारत हिन्द महासागर में महाशक्तियों की उपस्थिति को शान्ति और अपनी सीमाओं की सुरक्षा के लिये घातक समझता है। भारत हिन्द महासागर को "शान्ति का क्षेत्र" (Zone of Peace) बनाये रखना चाहता है। अतः भारत दियागो गार्सिया में अमेरिकी नौसैनिक अड्डों के निर्माण का विरोधी है।

II भारत अमेरिकी सम्बन्धों पर अनुकूल प्रभाव डालने वाले तत्व —उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत अमेरिकी सम्बन्धों में गम्भीर मतभेद पाये जाते हैं और ये मतभेद ही दोनों देशों में कटुता का कारण हैं। परन्तु फिर भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से लेकर अब तक कुछ तत्व ऐसे और प्रश्न रहे हैं जिन पर भारत अमेरिका दृष्टिकोण में साम्य होने पर दोनों देशों में मधुर सम्बन्धों का विकास हुआ। जिन तत्वों ने भारत अमेरिका सम्बन्धों में अनुकूल प्रभाव डाला है उनमें प्रमुख निम्न हैं—

(i) दोनों देशों में एक दूसरे देश के नागरिकों का सम्मान स्वागत होता रहा है। हजारों की संख्या में भारतीय अनुसंधान कार्यों के लिए, शिक्षा या प्रशिक्षण के लिए, व्यापार या भ्रमण के लिए अमेरिका गये हैं और इसी प्रकार अमेरिका के नागरिक भी भारत आये हैं। इतना ही नहीं आज भारतीय विश्वविद्यालयों में अमेरिकी विषयों का अध्ययन किया जाता है और अमेरिकी विश्वविद्यालयों में भारतीय विषयों का अध्ययन किया जाता है।

(ii) अमेरिका ने भारत की खाद्यान्न की समस्या का समाधान करने के लिए भारत को प्रचुर मात्रा में सहायता दी है। अमेरिकी सद्भावना इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि 1974 में पब्लिक लॉ 480 (P L 480) की बकाया धनराशि में से अमेरिका ने 1,664 करोड़ की धनराशि अनुदान के रूप में भारत को दे दी।

(iii) सन् 1956 में स्वेज संकट के समय अमेरिका द्वारा अपनाई गई नीति का भारत ने समर्थन किया।

(iv) सन् 1962 में चीनी आक्रमण के समय अमेरिका द्वारा भारत को दी गई सैनिक सहायता के लिए भारत अपने आपको अनुगृहीत समझता है। भारत ने अपनी कृतज्ञता को अभिव्यक्त भी किया।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत अमेरिकी सम्बन्धों पर अनुकूल प्रभाव डालने वाले तत्वों की तुलना में प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले तत्व ही अधिक बलशाली रहे हैं। इसका मूल कारण यह है कि अमेरिकी राजदूत डेनियल पैट्रिक मोयनिहन के शब्दों में, अमेरिका ने "भारत की उपेक्षा और अवहेलना' की है, "अमेरिकी प्रशासक भारत की समस्याओं को समझ कर भी नहीं समझ पाते।" अमेरिकी राजदूत विलियम सक्सबी ने भी कहा है कि 'मैंने बहुत कोशिश की कि अमेरिका पाकिस्तान को हथियार न दे, मगर मैं इसमें विफल रहा।" भारत और अमेरिका के सम्बन्धों पर इससे अच्छी कोई टिप्पणी नहीं हो सकती[1]। सन् 1974 में डा० किसिंगर की भारत यात्रा के बाद यह आशा बढ़ गई थी कि अमेरिका भारत को 'महाशक्ति" स्वीकार करता है तथा भारत और पाकिस्तान को समान समझने का युग समाप्त होगया है तथा गन बोट कूटनीति' (gun boat diplomacy) को अब नहीं दोहराया जायगा परन्तु पाकिस्तान को हथियारों की सप्लाई शुरू कर अमेरिका

1 देखिये दिनमान दि० 2 3 1975 पृ 18

ने अपनी नीतियों को स्पष्ट कर दिया है। आर्थिक, वाणिज्य, विज्ञान, तकनीकी शिक्षा, सांस्कृतिक सहयोग आदि क्षेत्रों में संयुक्त आयोगों की स्थापना यद्यपि भारत अमेरिका सम्बन्धों को सुधारने में सहायक होगी परन्तु पाकिस्तान को हथियारों की सप्लाई निश्चित ही इस उपमहाद्वीप में शस्त्रों की होड़ को जन्म देगी और भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों में तनाव को बनाये रखने में सहायक होगी।

## भारत, ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल

### (India, Britain and the Commonwealth)

भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध अनेक शताब्दियों से चले आ रहे हैं। परन्तु जहाँ 1947 से पूर्व भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध उपनिवेश और साम्राज्य के थे वहाँ 1947 के बाद ये सम्बन्ध दो स्वतन्त्र सार्वभौम राज्यों के पारस्परिक उपयोगिता के सम्बन्ध हैं। स्वतन्त्रता संग्राम के कड़ुवे अनुभवों को भुलाते हुए भारत ने साम्राज्यवादी ब्रिटेन के साथ सम्बन्धों को केवल बनाये रखने का प्रयास ही नहीं किया बल्कि उन्हें समय समय पर सुधारने का प्रयास भी किया है। यद्यपि भारत ब्रिटिश सम्बन्धों को पूर्ण सौहार्द या मित्रता के नहीं कहा जा सकता, फिर भी ये सम्बन्ध समझदारी के अवश्य रहे हैं यद्यपि किन्हीं विशिष्ट समस्याओं पर ब्रिटिश दृष्टिकोण एकपक्षीय, अन्यायपूर्ण और शरारतपूर्ण भी रहा है।

भारत ब्रिटिश सम्बन्धों पर प्रतिकूल और अनुकूल प्रभाव डालने वाले तत्वों का उल्लेख करने से पूर्व उन कारणों को अध्ययन की दृष्टि से जान लेना उपयोगी होगा जो भारत ब्रिटिश सम्बन्धों को बनाये रखने में सहायक रहे हैं। ये कारण मुख्यतया निम्न हैं—

1 स्वतन्त्रता संग्राम के प्रमुख नेताओं का अभिविन्यास (Orientation) ब्रिटेन में हुआ था और ये ही वे नेता थे जिन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय शासन की बागडोर को सम्भाला। ये नेता ब्रिटिश इतिहास, साहित्य, राजनीतिक विचारों, संस्कृति आदि से भली भांति परिचित थे।

2 भारतीय संविधान ने जिन राजनीतिक संस्थाओं को स्थापित किया उन पर ब्रिटिश राजनीतिक संस्थाओं का प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। उदाहरणतया भारत की संसदात्मक प्रणाली, प्रशासनिक ढांचा, न्यायिक व्यवस्था, सचिव संगठन, शिक्षा पद्धति, व्यावसायिक तौर तरीके आदि ब्रिटिश नमूने पर आधारित हैं।

3 भारत अपने आर्थिक विकास के लिये विदेशी सहायता पर निर्भर करता था। इसके अतिरिक्त उसे विशेषज्ञों और यन्त्रों की आवश्यकता थी। ब्रिटेन के साथ सम्बन्धों को बना कर भारत पश्चिमी देशों से इस प्रकार की सहायता सरलता से प्राप्त कर सकता था। भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार भी पश्चिमी देशों के साथ होता है।

4 ब्रिटेन के साथ औपचारिक सम्बन्ध बनाये रखने का एक कारण यह भी था कि भारत अपने समुद्री तट की रक्षा के लिये ब्रिटिश नौसेना पर निर्भर रहता था।

**भारत ब्रिटिश सम्बन्धो पर प्रतिकूल और अनुकूल प्रभाव डालने वाले तत्व**—भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध सवदा सामान्य, सौहार्दपूर्ण या घनिष्ठ मित्रता के नही रहे। इनमे उतार-चढाव आता रहा है। भारत ब्रिटिश सम्बन्धो पर प्रतिकूल और अनुकूल प्रभाव डालने वाले तत्वो को निम्न बिन्दुओ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है —

A **प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले तत्व**—जिन तत्वा ने भारत ब्रिटिश सम्बन्धा पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है उनम प्रमुख निम्न हैं —

1 **स्वेज सकट**—सन् 1956 म जब ब्रिटेन ने, फ्राम और इजराइल के साथ मिलकर मिस्र पर आक्रमण किया ता भारत ने ब्रिटिश कायवाही की घोर निन्दा की। ब्रिटन के इस काय का भारत ने साम्राज्यवादी तरीका की पुनरावृत्ति की सज्ञा दी।

2 **भारत पाकिस्तान सम्बन्ध**—पाकिस्तान के प्रति ब्रिटेन का दृष्टिकोण हमेशा हमदर्दी पूर्ण और भारत विरोधी रहा है। न केवल स्वतन्त्रता के बाद बल्कि स्वतन्त्रता से पूव भी भारत म ब्रिटन की नीति इस देश की दो महान जातियो (हिन्दुओ और मुसलमानो) को भिडा कर अपने साम्राज्यवादी हितो की पूर्ति करना रहा है। वस्तुत धार्मिक आधार पर पाकिस्तान का निमाण ब्रिटिश धूतता का ही परिणाम था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कश्मीर तथा अन्य समस्याओ पर पाकिस्तान का समथन कर ब्रिटेन ने इस उप महाद्वीप म तनाव बनाये रखने मे सहयोग दिया। जब जब कश्मीर का प्रश्न सुरक्षा परिषद म प्रस्तुत किया गया तब-तब ब्रिटेन ने भारत विरोधी प्रस्तावो का समथन किया। सन् 1962 म चीनी आक्रमण के समय भारत को आर्थिक और सनिक सहायता देते समय ब्रिटेन ने भारत पर यह दबाव डालने का प्रयास किया कि भारत कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान के साथ वार्तालाप शुरू करे। यद्यपि सन् 1965 म कच्छ की रन पर भारत पाकिस्तान म सघष उत्पन्न होगया था और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री हैरल्ड विल्सन के प्रयासो से दोना देशो (भारत और पाकिस्तान) मे समझौता हो गया परन्तु यहा भी विल्सन की भूमिका भारतीय हितो से इतनी प्रभावित नही थी जितनी कि ब्रिटिश हितो से। कच्छ की रन म ब्रिटिश भूमिका तब शुरू हुई जब पीकिंग पिण्डी जकार्ता धुरी की सम्भावना ने दक्षिण और दक्षिणी-पश्चिमी एशिया मे ब्रिटिश हितो के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया। कच्छ की रन पर समझौते की स्याही भी सूखने न पायी थी कि पाकिस्तान न भारत पर आक्रमण कर दिया। जब भारत न पाकिस्तानी आक्रमण का उत्तर देने के लिये प्रतिक्रिया की तो ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री हैरल्ड विल्सन ने भारत की कायवाही को 'आक्रमण' की सज्ञा दी। दूसरे शब्दो म 1965 के भारत पाकिस्तान युद्ध मे ब्रिटिश समाज, ब्रिटिश छापाखाना और ब्रिटिश सरकार ने पाकिस्तान के प्रति हमदर्दी और सहायता का दृष्टिकोण अपनाते हुए उसका साथ दिया और भारत का विरोध किया।

सन 1971 की बगला देश की समस्या और दिसम्बर, 1971 के पाकिस्तानी आक्रमण के समय ब्रिटेन की नीति तटस्थता की रही।

3 नागो, विशेषकर कटागा और गोवा के प्रश्नो पर ब्रिटेन ने भारत विरोधी दृष्टिकोण अपनाया।

**4 प्रवासी भारतीयो की समस्या**—विदेशो म प्रवासी भारतीयो की समस्या को लेकर भारत ब्रिटिश सम्बन्धो म कटुता की स्थिति रही है। उदाहरणतया केनिया के प्रवासी भारतीयो के प्रश्न पर ब्रिटेन का दृष्टिकोण अन्यायपूर्ण और अमानवीय रहा है। जब 1968 मे केनिया सरकार ने अफ्रीकीकरण की लहर मे एशियाई लोगो के साथ गर नागरिको जसा व्यवहार करना शुरू किया और एशिया निवासी सुरक्षा के लिए ब्रिटेन भागने लग तो ब्रिटिश ससद न "एशियाई बाढ" को रोकने के लिए एक कानून पास कर दिया अर्थात उन एशियाई निवासियो को, जिनको ब्रिटेन ने पासपोर्ट जारी किय थे तथा जो ब्रिटिश नागरिकता प्राप्त कर चुके थ, ब्रिटेन म प्रवेश लेने से मनाही कर दी। ब्रिटिश की इस कायवाही पर भारत म ब्रिटिश विरोधी भावनाओ का विकास हुआ और अनेक भारतीयो ने भारत म ब्रिटिश सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण और राष्ट्रमण्डल की सदस्यता त्यागने की माग की।

**5 जाति तथा रग भेद की नीति**—जाति या रग के आधार पर व्यक्तियो म भेद की नीति का भारत सदा विरोधी रहा है जबकि ब्रिटेन सवदा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे इसका समथक रहा है। ब्रिटेन न दक्षिण अफ्रीका की रग भेद की नीति का समथन ही नही किया बल्कि उसे हथियारो की सप्लाई कर उसे सुदृढ करने का प्रयास भी किया। इसी तरह ब्रिटन ने अफ्रीकी निवासियो की स्वतन्त्रता की कीमत पर रोडेशिया की इयान स्मिथ की सरकार का यदि प्रत्यक्षत नही तो अप्रत्यक्षत समथन किया है। इस तरह ब्रिटन न बहुमत के शासन को कुचलने और राष्ट्रीय स्वतन्त्रताओ का गला घोटने का प्रयास किया ह।

**6 बी० बी० सी० की विकृत फिल्मे**—सन 1970 म बी० बी० सी० (BBC) द्वारा तयार की गई फिल्मो म भारत के जन जीवन के विकृत रूप को प्रदर्शित किया था। भारत मे इसका इतना विरोध किया कि 1970 मे भारत म बी० बी० सी० की सारी सुविधाये समाप्त कर दी।

**B अनुकूल प्रभाव डालने वाले तत्व**—उपयु क्त प्र नो पर भारत ब्रिटिश सम्बन्धो पर अवश्य कटुता उत्पन्न हुई पर तु फिर भी कुछ ऐसे प्रश्न भी रहे है जिन्होने भारत ब्रिटिश सम्बन्धो म सुधार किया है। य तत्व मुख्यतया निम्न है —

**1 राष्ट्रमण्डल**—भारत ब्रिटिश सम्बन्धो को बनाये रखन म राष्ट्रमण्डल एक महत्वपूर्ण कडी रही है। वस्तुत भारत न राष्ट्रमण्डल की सदस्यता स्वीकार कर उसे सजीव बनाने का प्रयास किया है। भारत प्रथम गर श्वेत (non-white) राष्ट्र था जिसन राष्ट्रमण्डल की सदस्यता को स्वीकार किया। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता को स्वीकार कर भारत न विश्व को आश्चयचकित कर दिया। इसके द्वारा भारत न विश्व को यह प्रमाण दे दिया कि भारत न केवल

परस्पर विरोधी विचारधाराओं (गणतन्त्र और राजतन्त्र) में सामंजस्य उत्पन्न कर सकता है बल्कि उस देश के साथ मधुर सम्बन्ध भी बनाये रख सकता है जिसने शताब्दियों तक भारत का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण किया। इतना ही नहीं राष्ट्रमण्डल की सदस्यता को स्वीकार कर भारत ने उसके आधार को अत्यधिक व्यापक बना दिया। भारत राष्ट्रमण्डलीय देशों में ही नहीं बल्कि विश्व का सबसे बड़ा प्रजातान्त्रिक देश है। अतः भारत का अनुसरण करते हुए एशिया और अफ्रीका के अनेक राष्ट्र राष्ट्रमण्डल के सदस्य बन गये। इस तरह राष्ट्रमण्डल श्वेत लोगों के यूरोपीय संगठन के स्थान पर यूरोपीय एशियाई और अफ्रीकी संगठन बन गया।

2 महारानी एलिजाबेथ की भारत यात्रा—सन् 1961 में ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ राजकीय यात्रा पर भारत में आयी। उनके आगमन से भारत ब्रिटिश सम्बन्धों में कुछ सुधार हुआ।

3 सन् 1962 में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो ब्रिटेन ने भारत की आर्थिक और सैनिक सहायता की। परन्तु भारत ने ब्रिटेन के इस दबाव का आदर नहीं किया भारत कश्मीर प्रश्न पर पाकिस्तान से वार्तालाप करें।

4 सन् 1971 के बंगला देश के प्रश्न पर तथा बाद में भारत पाकिस्तान युद्ध में ब्रिटेन प्रायः तटस्थ रहा।

5 सन् 1972 में ब्रिटिश विदेश मन्त्री सर एलेक डगलस ह्यूम की भारत यात्रा ने दोनों देशों के सम्बन्धों में सुधार की सम्भावना को बढ़ा दिया। श्री ह्यूम ने यात्रा के दौरान यह विचार भी व्यक्त किया कि "भारत अब एशिया में बहुत बड़ी ताकत के रूप में उभरा है, यदि चीन से ज्यादा नहीं तो उसके बराबर तो निश्चय ही।"

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत ब्रिटिश सम्बन्धों में जहाँ प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले तत्व विद्यमान रहे हैं वहाँ अनुकूल प्रभाव डालने वाले तत्व भी विद्यमान रहे हैं।

**क्या राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत के लिए लाभकारी है?**

कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था किसी अमुक राष्ट्र के लिए कितनी लाभकारी है यह इस बात पर निर्भर करता है कि उससे अमुक राष्ट्र के हितों की पूर्ति कहाँ तक होती है अर्थात उसकी सदस्यता अमुक राष्ट्र के आर्थिक, सैनिक राजनीतिक आदि हितों की पूर्ति करने में कहाँ तक सहायक है। राष्ट्रमण्डल अपने आप में किसी सदस्य राष्ट्र के हितों की पूर्ति करने में असमर्थ है क्योंकि यह, प्रधानमन्त्री इंदिरा गांधी के शब्दों में, "विचार विमर्श मंच से अधिक कुछ नहीं।" यद्यपि राष्ट्रमण्डल के सूत्र अत्यधिक गहरे और परम्परागत हैं परन्तु यह संगठन न तो कोई राज्य है न राष्ट्र, यह न कोई संधि है न समझौता इसकी सदस्यता न कोई अधिकार प्रदान करती है न कर्तव्यों या उत्तरदायित्वों को उत्पन्न करती है। यह शक्तिहीन, अनौपचारिक संगठन है। यह व्यावहारिक कम और भावात्मक अधिक है।

भारत के लिए राष्ट्रमण्डल न तो सैनिक दृष्टि से, न आर्थिक दृष्टि से और न ही राजनीतिक दृष्टि मे लाभकारी सगठन सिद्ध हुआ है । भारत को सैनिक सहायता जितनी अमेरिका और रूस से प्राप्त हुई है (और दोनो ही राष्ट्रमण्डलीय देश नही) उतनी राष्ट्रमण्डलीय देशो से प्राप्त नही हुई । रूस मे भारत को जो परिस्कृत (Sophisticated) नाविक और वायु सामग्री—पनडुब्बिया और अधिस्वनिक वायुयान (Super Sonic aircraft)—प्राप्त हुइ है वह सम्भवतया ब्रिटेन मे हम कभी भी प्राप्त नही होती । ब्रिटिश सैनिक सहायता और ब्रिटिश मण्डिया म अस्त्रो की खरीद राष्ट्रमण्डल की सदस्यता पर निभर नही करता । इतना ही नही, जब कभी ब्रिटेन का भारत को सैनिक सहायता प्रदान भी की तो वह भारतीय हितो या आवश्यकताओ से उतनी प्रेरित नही थी जितनी कि ब्रिटिश औद्योगिक और वाणिज्य क हितो से प्रेरित थी ।

आर्थिक और व्यापार के क्षेत्र म भी राष्ट्रमण्डल की सदस्यता कोई विशेष लाभ प्रदान नही करती । पचवर्षीय योजनाओ के लिए ब्रिटन द्वारा भारत का दी गयी आर्थिक सहायता एसी नही जिस पर नाज किया जा सके । प्रत्येक पचवर्षीय योजना म ब्रिटेन का अनुदान कम हुआ हे । अ य राष्ट्रमण्डलीय देशा की भारत को सहायता केवल प्रतीकात्मक रही है । ब्रिटन के साथ भारत का व्यापार कुछ वस्तुओ—चाय, कपास, कपडा, पटसन, आदि—तक ही सीमित है । इस तथ्य की उपक्षा नही की जा सकती कि राष्ट्रमण्डलीय देशा म व्यापार और आर्थिक सहायता राष्ट्रमण्डलीय सदस्यता पर निभर नही करती बल्कि द्वि पक्षीय वार्तालापा और समझौतो पर निभर करती है । यद्यपि ब्रिटेन "राष्ट्रमण्डलीय विशेष सुविधाओ" (Commonwealth Preference Arrangement) की बात का दोहराता है परन्तु वस्तुत यह विशेषाधिकार केवल राष्ट्रमण्डलीय देशा तक सीमित नही । दक्षिण अफ्रीका और आयरलैण्ड दोना राष्ट्रमण्डल के सदस्य नही परन्तु फिर भी ये दोना राष्ट्र "विशेष सुविधाओ" का लाभ उठाते रहे है । बमा और ईराक ने भी इनमे लाभ उठाया है । सन् 1964 मे तो श्रमिक दल की सरकार ने सभी राष्ट्रमण्डलीय देशा से आन वाले आयात माल पर 15% सीमा शुल्क लगा दिया । आज राष्ट्रमण्डलीय देशो के हिता के प्रतिकूल ब्रिटेन यूरोपियन आर्थिक समुदाय (European Economic Community) का सदस्य बन गया है ।

राजनीतिक दृष्टि स राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत के लिए लाभकारी या सुविधाजनक होने के स्थान पर एक सरदद रही है । पाकिस्तान ने राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलनो मे द्वि पक्षीय समस्याओ को उठाने का प्रयास किया जिसमे भारत को अनावश्यक घबराहट और प्रतिकूल प्रचार (adverse publicity) का सामना करना पडा । इतना ही नही राष्ट्रमण्डल का सदस्य होने से भारत ब्रिटेन की उपनिवेशवादी नीति की खुलकर आलाचना भी नही कर पाया । जहा फ्रेंच, डच और ...

उपनिवेशवादी नीति की कडी आलोचना की है वहा भारत ने ब्रिटेन की मलाया, कीनिया (Kenya) और साइप्रस मे उपनिवेशवाद नीति की आलोचना उतनी उग्रता से नही की । ब्रिटन की एक पक्षीय नीति ने भारत अमेरिका सम्बन्धो मे भी तनाव और जटिलतायें उत्पन्न की हैं, राष्ट्रमण्डलीय देशो ने भारतीय प्रवासियो के विरुद्ध अनेक प्रकार की रुकावटें पैदा की है । इतना ही नही, ब्रिटिश दृष्टिकोण के कारण राष्ट्रमण्डलीय देशो ने भारत को महत्त्व देने के स्थान पर साम्यवादी चीन को महत्त्व दिया है ।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से न तो सैनिक, न आर्थिक और न ही राजनीतिक लाभ हुआ है वरन अनेक परिस्थितियो मे परेशानी ही उठानी पडी है । यदि यो कहा जाये कि ब्रिटेन की नीतियो ने ही राष्ट्रमण्डल को निर्बल बना दिया है तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी । यही कारण है कि जब जब ब्रिटेन ने भारत विरोधी दृष्टिकोण अपनाया है तब-तब ही भारत मे राष्ट्रमण्डल की सदस्यता को त्यागने की माग की गयी । यद्यपि भारत राष्ट्रमण्डल के पतन के पक्ष मे नही परन्तु राष्ट्रमण्डल कोई ऐसी पवित्र सस्था भी नही जिसका सदस्य बने रहना भारत के लिए अनिवार्य हो । क्योकि भारत स्वेच्छा से इसका सदस्य बना है अत स्वेच्छा से वह इसकी सदस्यता त्याग सकता है । इसकी सदस्यता से भारत की स्वतन्त्रता या अखण्डता पर कोई आच नही आती । भारत म पुल को बाधना सीखा है तोडना नही । अत भारत राष्ट्रमण्डलीय कडी को बनाये रखने के पक्ष म है । कम से कम इसकी सदस्यता द्वारा भारत छ महाद्वीपो म बिखरे हुए अनेक राज्यो के साथ विशेष सम्पर्क तो बनाये रख सकता है ।

## भारत, दक्षिण एशिया दक्षिण पूर्वी एशिया तथा पश्चिमी एशिया
### (India, South Asia, South East Asia and West Asia)

भारत के पडौसी देशो म पाकिस्तान, चीन रूस आदि देश ही नही बल्कि दक्षिण एशिया के नेपाल, भूटान, बगला देश और श्री लका के देश भी है, दक्षिण पूर्वी एशिया के बर्मा कम्बोडिया, थाईलैंड (श्याम), लाओस, वियतनाम, मलाया, सुमात्रा, न्यूगिनी, इण्डोनेशिया, फिलिपाइन्स आदि के देश भी हैं, और पश्चिमी एशिया म अफगानिस्तान, मिश्र तथा अन्य अरब राज्य भी हैं । इन क्षेत्रो के देश भारत की तुलना म छोटे देश हैं परन्तु भारतीय सीमाओ की सुरक्षा, समुद्री तट की रक्षा तथा विदेशी व्यापार की सुरक्षा के लिए इन देशो के साथ भारत के मित्रतापूर्ण सम्बन्धो का होना आवश्यक है । यद्यपि इन देशो के साथ भारत के सम्बन्ध प्राय मधुर रहे है परन्तु फिर भी कुछ समस्यायें ऐसी रही है जिन्होने पारस्परिक सम्बन्धो मे तनाव और कटुता उत्पन्न की है । इन देशो के साथ भारत के सम्बन्धो को निम्न शीर्षको के अन्तर्गत व्यक्त किया जा सकता है—

**A दक्षिण एशिया के देशो के साथ भारत के सम्बन्ध**—भारत के अतिरिक्त

दक्षिण एशिया के अन्य देश है नेपाल, भूटान, बगला देश, श्रीलंका, आदि। इनके साथ भारत के सम्बन्धो का वर्णन निम्न प्रकार से हैं—

**1 भारत नेपाल सम्बन्ध** नेपाल भारत के उत्तर मे है और चीन द्वारा तिब्बत को हस्तगत करने के बाद भारत-चीन सम्बन्धो म नेपाल की भूमिका का राजनीतिक महत्त्व अत्यधिक बढ गया है। आज उत्तर से भारत की सुरक्षा बहुत कुछ नेपाल की सुरक्षा पर निर्भर करती है। जैसाकि प० जवाहरलाल नेहरू ने 17 मार्च 1950 को कहा था कि "जहा तक कुछ एशियाई गतिविधियो का सम्बन्ध है भारत और नेपाल के बीच कोई सनिक समझौता नही है परन्तु नेपाल पर किसी प्रकार के आक्रमण को भारत सरकार सहन नही कर सकती। नेपाल पर सम्भावित कोई भी आक्रमण अवश्यम्भावी रूप से भारत की सुरक्षा के लिए खतरा होगा।" डा० राजेन्द्र प्रसाद ने भी अक्टूबर 1956 म अपनी नेपाल यात्रा के दौरान कहा था कि "नेपाल की शान्ति और सुरक्षा को कोई भी खतरा भारत की शान्ति और सुरक्षा के लिए भी उतना ही बडा खतरा है। आपके (नेपाल के) मित्र हमारे मित्र हैं और हमारे (भारत के) आपके।'

सुरक्षा सम्बन्धी भारत और नेपाल के हित समान होने पर भी भारत नेपाल सम्बन्धो म अत्यधिक उतार-चढाव रहा है और अनेक बार तो ऐसी भी स्थिति उत्पन्न हुई है कि भारतीय हितो की उपेक्षा करते हुए अर्थात भारतीय हितो के विरुद्ध नेपाल न साम्यवादी चीन के साथ समझौते भी किये हैं। भारत नेपाल सम्बन्धो म तनाव उत्पन्न होने के अनेक कारण है। उदाहरणतया राजनीतिक गलतफहमियो (political misunderstanding) वस्तुओ के लिए पारगमन की सुविधाओ (transit facilities) और व्यापार सचालन के सम्बन्ध म मतभेद रहे हैं। **दूसरे**, नेपाल मे चीन की गतिविधिया भारत विरोधी और ध्वसात्मक रही है। स्थानीय शासनो के कल्याण के नाम पर अमरीका भारत को विस्तारवादी कहता है, पाकिस्तान भी नेपाल को, भारत के विरुद्ध अपनी ओर आकर्षित करने के अवसर ढूंढता रहता है। **तीसरे**, नेपाल के भूतपूर्व नरेश महेन्द्र और नेपाल के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री टका प्रसाद आचार्य का रुझान चीन के प्रति रहा है। श्री आचार्य तो साम्यवाद को ही एक मात्र ऐसा साधन मानते थे जो पूजीवादी व्यवस्था पर प्रभावपूर्ण ढग से प्रहार कर सकता था। इतना ही नही, श्री आचार्य भारत-चीन सम्बन्धो म सेतुबन्ध का कार्य करने की इच्छा रखते थे। नेपाल मे भारत-विरोधी भावना फलाने म जहा चीन, अमरीका और पाकिस्तान उत्तरदायी है वहा श्री आचार्य जसे नेताओ का उत्तरदायित्व भी कम नही। चीन भी नेपाल को रिझाने के लिए नेपालियो चीनियो मे एक ही "रक्त प्रवाह" की बात दोहराता रहा है। **चौथे** नेपाल द्वारा अपनाई गई कतिपय नीतियो ने भारत नेपाल सम्बन्धो म तनाव उत्पन्न किया है। उदाहरणतया श्री आचार्य के शासनकाल मे तिब्बत के सम्बन्ध मे नेपाल और चीन के मध्य एक सन्धि हुई। भारत द्वारा नेपाल को दी गयी आर्थि-

सहायता की उपेक्षा करते हुए चीन द्वारा प्राप्त 6 करोड की सहायता को महाराजा महेन्द्र ने "उदार व स्वार्थहीन" की संज्ञा दी। नेपाल चीन में एवरेस्ट पर्वत के सम्बन्ध में प्रारम्भिक समझौता नेपाल का भारत के प्रति विश्वासघात ही नही था बल्कि इसका उद्देश्य भारत को परेशान करना भी था। नेपाल द्वारा काठमण्डू ल्हासा सडक मार्ग बनाने के सम्बन्ध में चीन के साथ समझौता स्पष्टतया भारत विरोधी कदम था। इतना ही नही, महाराजा महेन्द्र ने तो अपने शासन के लिए साम्यवादी नेताओं का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश भी की। जब 1962 में चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो नेपाल ने तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाया।

भारत पर चीनी आक्रमण के बाद नेपाल चीन के वास्तविक इरादों को समझने लगा और भारत नेपाल सम्बन्धों मे सुधारो की सम्भावना बढ गयी। एक दूसरे देश के उच्च पदाधिकारियो, मन्त्रियो और शासनाध्यक्षो की यात्राओ द्वारा दोनो देशो के सम्बन्धो मे सुधार आने लगा। भारत ने नेपाल के लिए 9 करोड रुपये की लागत से सीमावर्ती कस्बे सुनौली और मध्यपूर्वी नेपाल में पोखरा घाटी के बीच 128 मील लम्बी सडक का निर्माण करने का निश्चय किया। काठमण्डू से भारतीय सीमा रक्सौल को जोडने वाली एक अन्य सडक योजना भी भारत ने अपने हाथ मे ली। इसके अतिरिक्त भारत ने अपने खर्चे से कोसी योजना पूरी करने का निश्चय किया। अगस्त 1971 में भारत नेपाल मे एक पचवर्षीय व्यापार समझौता हुआ जिसमे दोनो देशो ने एक दूसरे को "परम इष्ट राष्ट्रीय व्यवहार" (most favoured nations treatment) देने का वायदा किया। मई 1974 में भारत-नेपाल मे सिंचाई, विद्युत, सचार, उद्योग, कृषि आदि सम्बन्धी समझौते हुए। नेपाल मे करनाली नदी (Karnali River) के जल से विद्युत पैदा करने की सम्भावनाओ का पता लगाने के सम्बन्ध मे भी समझौता हुआ। यद्यपि 1974 75 मे सिक्किम मे हुई सवैधानिक घटनाओ से नेपाल मे हलचल पैदा हुई और नेपाल में भारत विरोधी प्रदर्शन भी हुए, परन्तु भारत नेपाल सम्बन्धो मे कोई गम्भीर तनाव पैदा नही हुआ।

**2 भारत भूटान सम्बन्ध**—भूटान एक अर्द्ध स्वतन्त्र राज्य है। सन् 1949 की सन्धि के अनुसार भूटान के विदेशी सम्बन्धो का प्रबन्ध भारत के हाथ मे है। भारत की पहल पर ही भूटान सन् 1971 में यू० एन० ओ० का और सितम्बर 1973 मे असलग्न राष्ट्रो का सदस्य बना। विदेशी सम्बन्धो के क्षेत्र मे भारत भूटान के विचारो में पूर्ण सहमति है। भारत भूटान की अनेक परियोजनाओ के लिए वित्तीय सहायता दे रहा है।

**3 भारत बगला देश सम्बन्ध**—सन् 1971 मे स्वतन्त्र, सार्वभौम, प्रजातान्त्रिक और धर्म निरपेक्ष बगला देश का उदय इस उप महाद्वीप मे सर्वोत्तम महत्त्व की घटना है। जहा इसने भारत को एक महाशक्ति के रूप मे उभारा है वहा इसने

स्वतन्त्र बगला देश के निर्माण के समय से लेकर अब तक 'भारत बगला देश के सम्बन्ध घनिष्ट मित्रता के रहे हे। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति दोनो का दृष्टिकोण समान रहा हे। दोनो राजनीतिक स्थिरता म विश्वास करते है, दानो अपने लागो के कल्याण और आर्थिक विकास के लिए शान्ति के इच्छुक है, दोना की विदेश नीति पचशील के सिद्धान्तो (सहअस्तित्व, अनाक्रमण, राजनीतिक सीमाओ का आदर, आदि) पर आधारित है, दाना गुट निरपक्षता की नीति म विश्वास करते है, दानो धम निरपेक्षता म विश्वास करते है तथा राष्ट्रो के मध्य झगडो का पारस्परिक समझौतो द्वारा हल करना चाहते है दोना उपनिवेशवाद रगभेद की नीति के विरोधी है, दोनो हिन्द महासागर को शान्ति का क्षेत्र बनाये रखना चाहते है।

बगला देश को मान्यता दिलाने म भारत की कूटनीतिक अत्यधिक सक्रिय रही है। जनवरी 1972 मे जब काहिरा म अफ्रेशियाई एकता सम्मेलन हुआ तो उसमे पाकिस्तान के विरोध पर भी बगला देश को सम्मेलन का स्थायी सदस्य बनाया गया। यद्यपि 1972 मे चीन के वीटो के कारण बगला देश यू० एन० ओ० का सदस्य न बन सका परन्तु जब फरवरी 1974 मे पाकिस्तान ने बगला देश को मान्यता दे दी तो बगला देश यू० एन० ओ० का सदस्य बन गया।

भारत बगला देश ने अपने सम्बन्धो को सुदृढ करने के लिये अनेक प्रकार की सन्धिया और समझौते किये हैं जिनमे प्रमुख निम्न हैं —

(i) **19 माच 1972 की मैत्री सन्धि**—भारत बगला देश के मध्य 19 माच, 1972 को एक 25 वर्षीय मैत्री सन्धि हुई जिस पर श्रीमती इन्दिरा गाधी और शेख मुजीबुरहमान न हस्ताक्षर किये। यह सन्धि भारत बगला देश म मैत्री, सद्भावना, सहयोग आदि की द्योतक है। इसके द्वारा ही दोनो देशो ने "एक दूसरे देश के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने, एक दूसरे देश की प्रादेशिक अखण्डता का आदर करने, विश्व शान्ति और सुरक्षा को मजबूत बनाने, उपनिवेशवाद, रगभेद तथा साम्राज्यवाद का उन्मूलन करने सघर्ष के स्थान पर सहयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ का समाधान करने का सकल्प लिया है। एक दूसरे देश पर आक्रमण या आक्रमण की सम्भावना पर दानो देश तत्काल आपस मे विचार विमर्श करेंगे, ताकि सकट को दूर किया जा सके। इस सन्धि मे यह भी व्यवस्था है कि दोना देश एक दूसरे के विरुद्ध किसी अन्य देश की सहायता नही करेंगे, एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे, किसी एक या अधिक देशो के साथ खुला या गोपनीय समझौता नही करेंगे और न ही किसी ऐसे उत्तरदायित्व को स्वीकार करेंगे जो इस सन्धि के विरुद्ध हो। इस सन्धि मे इस बात की भी व्यवस्था है कि दोनो देश सन्धि से उत्पन्न होने वाले मतभेदो का आपसी बातचीत द्वारा हल करेंगे, सनिक सन्धियो मे हिस्सा नहीं लेंगे तटस्थता और सन्धि शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व का अनुसरण करेंगे तथा नियमित तौर

पर सम्पर्क बनाये रखेंगे। इस संधि मे आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी सम्बन्धो के सम्बन्ध मे, व्यापार, परिवहन, सचार, बाढ नियन्त्रण, जल विद्युत, कला, साहित्य, शिक्षा, संस्कृति स्वास्थ्य आदि विषयो के सम्बन्ध मे भी व्यवस्था की गयी है।

(ii) **व्यापार समझौता**—25 मार्च, 1972 को भारत बगला देश म एक व्यापार समझौता हुआ। इस समझौते की विशेषता यह है कि यह सीमाओ के दोनो ओर सोलह सोलह किलोमीटर तक उन्मुक्त व्यापार की व्यवस्था करता है। इसमे आयात निर्यात और विनिमय सम्बन्धी कोई नियन्त्रण नही, दानो देश रुपये का आधार पर एक दूसरे से पचास करोड रुपये मूल्य तक माल भेज सकते है।

(iii) **आर्थिक सहायता**—बगला देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये भारत ने 25 करोड रुपये के मूल्य का माल और सेवायें आदि प्रदान करने का वचन दिया है। भारत ने बगला देश को 50 लाख पौण्ड की विदेशी मुद्रा का ऋण देने का भी निश्चय किया है।

(iv) **सांस्कृतिक समझौता**—भारत बगला देश के मध्य बढते हुए मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो का एक उदाहरण 30 दिसम्बर 1972 का सास्कृतिक समझौता भी है।

(v) **नियमित विचार विमर्श**—19 मार्च 1972 की भारत बगला देश संधि के अन्तर्गत भारत और बगला देश के मध्य सामान्य विषयो पर नियमित विचार-विमर्श होता रहता है। उदाहरणतया जून जुलाई 1972 मे भारत पाकिस्तान के मध्य शिमला म शिखर सम्मेलन होने से पूर्व भारत ने युद्ध बन्दियो, पाकिस्तान द्वारा बगला देश की मान्यता आदि प्रश्नो पर विचार विमर्श किया। यही कारण है कि शिखर सम्मेलन के बाद जो सयुक्त विज्ञप्ति जारी की गयी उसम युद्ध बन्दियो के सम्बन्ध मे कोई वक्तव्य नही था क्योकि पाकिस्तान ने उस समय तक बगला देश को कोई मान्यता नही दी थी। अप्रल, 1973 मे दोनो देशो ने (भारत और बगला देश) मानवीय समस्याओ पर विचार विमर्श करके एक त्रि सूत्री कार्यक्रम तैयार किया। इसी त्रि सूत्रीय कार्यक्रम के आधार पर भारत पाकिस्तान न अगस्त 1973 म मानवीय प्रश्नो पर एक समझौता किया।

(vi) **त्रि पक्षीय समझौता**—फरवरी 1974 मे लाहौर मुस्लिम सम्मेलन के बाद जब पाकिस्तान ने बगला देश को मान्यता प्रदान कर दी तो तीनो देशो मे (भारत पाकिस्तान बगला देशो मे) वार्ता का मार्ग खुल गया। 9 अप्रैल, 1974 को एक त्रि पक्षीय समझौता हुआ जिसमे बगला देश न उन 195 युद्ध बन्दियो पर मुकदमे चलाने के निश्चय को त्याग दिया जिन्होने बगला देश मे अमानुषिक अत्याचार किये थे, पाकिस्तान ने अपने अत्याचारो की निन्दा की तथा पाकिस्तानी नागरिको को वापस लेने का आश्वासन दिया।

उपयुक्त वर्णन से स्पष्ट है कि अपने स्वतन्त्रता सघर्ष के काल मे लेकर और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत बगला देश के सम्बन्ध घनिष्ट मित्रता, पारस्परिक विश्वास और सद्भावना के रहे हैं।

4 **भारत श्री लका सम्बन्ध**— *श्री लका भारत के दक्षिण मे स्थित एक छोटा द्वीप है।* सांस्कृतिक दृष्टि से श्री लका भारत के साथ जुडा हुआ है। यहा पर रहने वाले भारतीय तमिलनाडु प्रदेश के मूल निवासी है। श्री लका के अधिकाश निवासी बौद्ध धर्मावलम्बी हैं। सैनिक एव सामरिक दृष्टि से भी श्री लका का भारत के लिये महत्त्व अत्यधिक है। हिन्द महासागर मे भारत की समीपता के कारण श्री लका का सैनिक महत्त्व बढ जाता है।

प्राचीन समय से भारत श्री लका के सम्बन्ध घनिष्ठता के रहे हैं। इसका मूल कारण यह है कि भारत की भाति श्री लका की नीति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे शान्तिवाद, गुटनिरपेक्षता सह अस्तित्व, दूसरे देशो से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध आदि की रही है। भारत की भाति श्री लका भी राष्ट्रमण्डल का सदस्य है। कोलम्बो योजना के अन्तगत, जिसकी रचना 1950 मे कोलम्बो म राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्रियो के सम्मेलन मे की गयी थी दोनो देशो ने आर्थिक क्षेत्र मे पूर्ण सहयोग किया है।

भारत श्री लका मे मित्रतापूर्ण सम्बन्ध होते हुए भी कुछ समस्यायें ऐसी रही है जिनके कारण दोनो के सम्बन्धो मे तनाव की स्थिति रही है, विशेषकर श्री लका मे भारतीय प्रवासियो की समस्या और पाक जलडमरूमध्य (Pak Strait) मे स्थित कच्छद्वीप टापू (Kachchatıve Island) के सम्बन्ध मे दोनो देशो मे तनाव रहा है।

भारतीय प्रवासियो की समस्या के सम्बन्ध मे भारत और श्री लका के मध्य अनेक बार समझौते हुए है, परन्तु इस समस्या का पूर्ण हल अभी तक नही हुआ। श्री लका मे भारतीय प्रवासियो के सम्बन्ध मे सवप्रथम, 1949 मे 'नेहरू-कोटले वाला समझौता' हुआ जिसमे यह व्यवस्था की गयी थी कि जो भारतीय श्री लका की नागरिकता प्राप्त करना चाहते हैं उनके नाम एव रजिस्टर मे दज कर लिये जायें और जो अपनी भारतीय नागरिकता नही छोडना चाहते वे भारत लौट जायें। इस समझौते में गैर कानूनी भारतीय प्रवासियो को भारत लौट जाने के लिये कहा गया था और भविष्य मे भारतीयो के लिये श्री लका मे प्रवेश पर रोक लगा दी गयी थी। इस समझौते को पूर्णतया लागू नही किया गया। अत 1954 मे नेहरू कोटल वाला भेंट मे यह निश्चय किया गया "राष्ट्रीयताहीन व्यक्तियो की सख्या कम कर दी जाये पजीकरण (registratıon) क्रिया मे शीघ्रता लाई जाय और दो वष की अवधि मे इस काय को पूरा किया जाय। अक्टूबर 1964 मे श्री लाल बहादुर शास्त्री और श्री भण्डारनायके के मध्य पत्र व्यवहार द्वारा भारतीय प्रवासियो के सम्बन्ध मे जो समझौते हुए, जिसे भारत लका समझौता 1964 कहते हैं (India Ceylon Agreement, 1964) उनकी मुख्य बातें निम्न थी—

(i) श्री लका मे निवास करने वाले सभी भारतीय, जो अभी तक किसी देश के नागरिक नही, दोनो देशो म से किसी देश के नागरिक बन जायें।

(ii) यह अनुमान लगाया गया था कि श्री लका मे राष्ट्रीयताहीन व्यक्तियो (Stateless Persons) की कुल सख्या 9,75,000 है। यह निश्चय किया गया कि

इसमे 5,25,000 राष्ट्रीयताहीन व्यक्तियों को भारत अपनी नागरिकता प्रदान करे, 3,00,000 को श्री लका अपनी नागरिकता प्रदान करे और शेष 1,50,000 राष्ट्रीयताहीन व्यक्तियो के बारे मे निश्चय बाद म पृथक समझौते द्वारा किया जाय।

(iii) आगामी 15 वर्षों मे इस काय को पूरा किया जाय।

(iv) भारत लौटने वाले भारतीयो को सामान्य सुविधायें प्राप्त हो, जो अन्य विदेशियो को प्राप्त होती हैं परन्तु उन्हे विदेशो को धन भेजने की सुविधा प्रदान नही की जायगी।

(v) भारतीय अपनी कमाई हुई पूंजी को भारत ले जा सकेंगे परन्तु उसकी सीमा चार हजार से कम नही होगी।

उपयुक्त समझौते की आलोचना दोनो देशो म की गयी। भारत मे इसकी आलोचना इस आधार पर की गयी कि क्योकि भारतीय प्रवासी श्री लका मे प्राचीन समय से रह रहे थे अत उन्हे श्री लका की नागरिकता प्राप्त होनी चाहिये थे। इस समझौते की यह,कह कर भी आलोचना की गयी कि इस समझौते ने व्यक्तियो को एक 'वस्तु' (Commodity) मानकर दोना देशो ने आपस मे बटवारा कर लिया और सम्बन्धित व्यक्तियो से पूछने का प्रयास नही किया गया। इसके अतिरिक्त 1,50,000 राष्ट्रीयताहीन व्यक्तियो के भविष्य को अन्धकार मे छोड दिया गया।

जनवरी 1974 मे जब श्री लका की प्रधान मन्त्री श्रीमती भण्डारनायके भारत आई तो 1,50,000 राष्ट्रीयताहीन व्यक्तियो के सम्बन्ध मे भी समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार 75,000 भारतीय प्रवासियो को भारत ने वापस लेना स्वीकार कर लिया और शेष 75,000 को श्री लका ने अपनी नागरिकता प्रदान करने का निश्चय किया।

कच्छदीव टापू (Kachative) के सम्बन्ध मे भी जून 1974 मे भारत श्रीलका के मध्य हुए समझौते द्वारा निर्णय हो गया। भारत ने कच्छदीव टापू पर श्री लका की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया है।

उपयुक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत श्री लका ने पारस्परिक वार्ता और समझौता द्वारा, मैत्रीपूर्ण और सद्भावना के वातावरण मे पारस्परिक समस्याओ का समाधान कर लिया है। आज दोनो देशो के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण हैं।

**भारत और दक्षिण पूर्वी एशिया**—दक्षिण पूर्वी एशिया के प्रमुख देश हैं बर्मा, कम्बोडिया, वियतनाम, लाओस, थाईलैण्ड, फिलिपाइन्स, इण्डोनेशिया, सुमात्रा आदि। शुरू से ही इन देशो मे भारत को एक नैतिक शक्ति के रूप मे देखा जाता रहा है परन्तु 1971 के भारत पाकिस्तान युद्ध और स्वतन्त्र बगला देश की रचना के बाद तथा 1974 मे अणु शक्ति के विस्फोट और 1975 मे आर्यभट्ट के अन्तरिक्ष म फैंके जाने के बाद इन देशो मे भारत का अवकलन आज एक शक्तिशाली देश के रूप म ही किया जाता है।

**वर्मा और भारत** मे नीतियो या हिता सम्बन्धी कोई मतभेद नही। वस्तुत वर्मा भारत का ही अभिन्न अग था और 1935 के अधिनियम के अन्तगत 1 अप्रल, 1937 को इसे भारत स अलग कर दिया गया था। वर्मा और भारत मे मित्रतापूण सम्बन्ध होने का एक कारण यह भी ह कि भारत की भाति वर्मा की विदेश नीति भी शान्तिवाद, और गुट निरपेक्षता पर आधारित है, भारत की भाति वर्मा भी उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद का विरोधी है। भारत वर्मा सम्बन्धो म जिस समस्या ने तनाव पैदा किया है वह वर्मा म भारतीय प्रवासियो की है। क्योकि अधिकाश भारतीय प्रवासी भारत लौट आये हैं, अत भारत वर्मा सम्बन्धो म तनाव पदा करने वाली कोई समस्या नही। मई 1973 म दोनो देशो म एक "वायु समझौता" (Air Agreement) भी हुआ है।

**हिन्द चीन के मुक्ति मोर्चों** का भारत न सवदा समथन किया है। क्योकि भारत स्वय साम्राज्यवादी चालो का शिकार रहा है अत वह इस क्षेत्र म पश्चिमी साम्राज्यवादी चालो का कटु आलोचक रहा है। वस्तुत भारत उन गिन चुने दशो म से है जिन्होन शुरू से कम्बोडिया और वियतनाम म मुक्ति मोर्चों का समथन किया है यद्यपि ऐसा करते हुए भारत ने पश्चिमी महाशक्तियो, विशेषकर अमरीका, की नाराजगी भी मोल ली। यद्यपि भारत 1954 के जेनेवा सम्मलन म शामिल नही हुआ परन्तु हिन्द चीन की समस्या का शान्तिपूण ढग से समाधान करन के लिये जेनेवा सम्मेलन के विचाराथ छ प्रस्ताव रखे। जेनेवा सम्मेलन न, हिन्द चीन की राजनीतिक समस्याओ का समाधान करने के लिये जिन तीन सदस्यीय अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की भारत उसका अध्यक्ष था (अन्य सदस्य थे पोलण्ड और कनाडा)। सन् 1964 म जब अमरीका ने वियतनाम म प्रत्यक्ष रूप म सनिक हस्तक्षेप किया तो भारत ने उसकी घोर भत्सना की तथा इसे शान्ति क लिय खतरा माना। सन् 1971 के भारत पाकिस्तान युद्ध मे जब अमरीका न अपन सातवें वडे को वगाल की खाडी की ओर रवाना होन के आदेश दिये तो भारत ने प्रक्रिया के रूप म हनोई म अपन काउन्सल का दर्जा वढा कर उसे राजदूत स्तर का वना दिया। सन् 1972 मे भी भारत ने इस क्षेत्र म अमरीकी नीति का घोर विरोध किया। 1975 म जब इस क्षेत्र की मुक्ति सेनाओ को विजय मिली तो भारत न इनका हार्दिक स्वागत किया।

दक्षिण पूर्वी देशो म थाईलण्ड और फिलिपान्स ही ऐस दो देश है जिनके साथ भारत के मधुर सम्बन्ध नही कहे जा सकते। इसका कारण यह ह कि ये दोना दश सनिक समझौते (SEATO) से सम्बद्ध है और भारत सनिक गुटो को विश्व शान्ति के लिय खतरा समझता है।

इस क्षेत्र मे इण्डोनेशिया एक एसा देश है जिसक साथ भारत के सम्बन्धो म थोडा उतार-चढाव रहा है। वस्तुत भारत ही एक ऐसा दश था जिसन इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता को स्थायी वनाय रखन क लिए प्रयास किया और डच साम्राज्यवादी

चाला या विरोध किया । यू० एन० ओ० मे भी भारत ने इण्डोनेशियाई स्वतन्त्रता का समर्थन किया और अफ्रेशियाई सगठन एव एकता का प्रयास किया । परन्तु 1962 मे जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो इण्डोनेशिया ने, जो भारत की मित्रता का दम भरता था, अन्य असलग्न राष्ट्रो की भाति, चुप्पी ठान ली । सन् 1965 के भारत पाकिस्तान युद्ध मे इण्डोनेशिया का दृष्टिकोण शरारतपूर्ण ही नही अपितु शत्रुतापूर्ण भी था । इस युद्ध के समय इण्डोनेशिया ने पाकिस्तान को सनिक सहायता देने का आश्वासन दिया । ऐसा दिखाई देता था कि "पिण्डी पीकिंग जकार्ता धुरी' का निर्माण अवश्यम्भावी है । परन्तु सन् 1965–66 मे इण्डोनेशिया की आन्तरिक उथल पुथल ने इस धुरी को जन्म लेने से पूर्व ही नष्ट कर दिया । श्री सुहार्टो के सत्ता मे आने से इण्डोनेशिया का चीन के साथ प्रमोन्काल समाप्त हो गया और वह स्वतन्त्र नीति अपनाने लगा । इससे भारत इण्डोनेशिया के सम्बन्धो मे सुधार होने लगा । आज दोना देशा के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण है ।

**C भारत और पश्चिमी एशिया**—पश्चिम एशिया मे टर्की और ईरान को छोडकर भारत के सम्बन्ध अन्य अरब राष्ट्रो से मधुर है । ईरान के साथ भी पिछले 4 5 वर्षो से सम्बन्धो मे कुछ सुधार हुआ है । वस्तुत सन् 1971 तक जो ईरान पाकिस्तान का पक्षधर था वह अब कम से कम भारत पाकिस्तान सम्बन्धो मे अपेक्षाकृत तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाने लग गया है । अक्टूबर 2 से अक्टूबर 4, 1974 तक अपनी भारत यात्रा के दौरान ईरान के शाह के नवीन यथार्थवाद (realism) और व्यावहारिकतावाद (pragmatism) का परिचय दिया । 3 अक्टूबर 1974 के प्रेस सम्मेलन मे बोलते हुए ईरान के शाह ने कहा कि "ईरान पाकिस्तान का शस्त्र नही देगा यदि उसने भारत पर आक्रमण किया ।"[1] इतना ही नही, शाह ने इस क्षेत्र मे शान्ति और सहयोग पर बल दिया ।

मिस्र के साथ भारत के सम्बन्ध प्रारम्भ से ही अच्छे रहे है । भारत के प० जवाहरलाल नेहरू, मिस्र के नासिर और यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे गुट निरपेक्षता की नीति की आधारशिला ही नही रखी बल्कि उसे व्यावहारिक बनाने का प्रयास भी किया ।

भारत पश्चिम एशिया के देशा के सम्बन्धो की प्रमुख विशेषता यह रही है कि जहा भारत ने पश्चिमी एशिया के अरब राष्ट्रो का, विशेषकर अरब इजराइल सघर्ष मे समर्थन किया है वहा अरब राष्ट्रो का दृष्टिकोण भारत के प्रति मित्रतापूर्ण नही रहा । वस्तुत ये सम्बन्ध प्राय एकतरफा रहे हैं । उदाहरणतया जब 1965 मे ब्रिटिश फ्रेंच सेनाओ ने इजराइल के साथ मिलकर मिस्र पर आक्रमण किया तो भारत ने ब्रिटेन और फ्रास की घोर भर्त्सना की परन्तु जब 1962 मे चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो मिस्र ने चीन के आक्रमण की निन्दा करना तो दूर उसने इस

1 See Competition Master January, 1975, p 409

सम्बन्ध मे पूर्णतया चुप्पी ठान ली । सन् 1958 मे जब लेबनान मे अमरीकी सेनायें उतारी गयी तो भी भारत ने अमरीकी कार्यवाही की निन्दा की । जहा अरब इजराल संघर्ष म भारत ने अरब पक्ष का अन्धाधुन्ध समर्थन किया है वहा भारत पाकिस्तान सम्बन्धो मे कुछ अरब देशों ने तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाया है और कुछ न तो स्पष्टतया पाकिस्तान का समर्थन किया है। उदाहरणतया 1965 के भारत पाकिस्तान युद्ध म जार्डन ने खुलकर पाकिस्तान का समर्थन किया, साऊदी अरब जैसे राज्यो ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता भी प्रदान की । सन् 1971 की बगला देश की घटनाओ के प्रति अरब राज्यो का दृष्टिकोण चुप्पी का रहा क्योकि वे इसे पाकिस्तान का घरेलू मामला समझते थे । बगला देश की समस्या के प्रति अरब राज्यो का ध्यान आकर्षित करने के लिये जब जयप्रकाश नारायण काहिरा पहुचे तो मिस्र के राष्ट्रपति सधादत ने उनसे भेंट करने से मनाकर दिया । दिसम्बर 1971 मे जब पाकिस्तान ने भारत पर बडे पैमाने पर आक्रमण किया तो अरब राज्य या तो मौन रह या पाकिस्तान का समर्थन करते रह । सयुक्त राष्ट्र सघ की महासभा मे भी अरब राज्यो ने उस प्रस्ताव का समर्थन किया जो भारत विरोधी था । इतना ही नही लीबिया के नगर बेंघाजी मे 23 मार्च 1973 को जब 26 मुस्लिम राज्यो का सम्मेलन हुआ तो उसम भी भारतीय हितो के विरुद्ध युद्ध बन्दियो के प्रश्न को उठाया गया । भारत ने उस प्रस्ताव को "शरारतपूर्ण प्रस्ताव" की सज्ञा दी जिसमे युद्ध-बन्दियो का उल्लेख किया गया था ।

अरब राष्ट्रों ने कभी भी मित्रा और शत्रुओ म किसी प्रकार का भेद नही किया और जिन नीतियो का अनुसरण अरब राज्यो ने पश्चिमी राष्ट्रो के लिये किया उन्ही नीतिया का प्रयोग उन्होन भारत के विरुद्ध किया । उदाहरणतया जब स्वेज नहर को बन्द किया गया तो उससे भारत के व्यापार को करोडो रुपये का अतिरिक्त व्यय करना पडा । इसी प्रकार जब 1973 के अरब इजरायल संघर्ष के पश्चात अरब राज्या ने "तेल अस्त्र' का प्रयोग किया तो उसका कु प्रभाव न केवल विकसित राष्ट्रो पर पडा बल्कि भारत जसे अल्पविकसित राष्ट्र पर अत्यधिक पडा । तेल की कीमतें बढ जाने से उद्योग धन्धो पर गहरा प्रतिकूल प्रभाव पडा ।

अरब राष्ट्रो का दृष्टिकोण सर्वदा साम्प्रदायिक रहा है और उन्होने भारत की धर्म निरपेक्षता को समझने का प्रयास ही नही किया । इस विषय मे अरब राज्यो ने पाकिस्तान का समर्थन किया है । उदाहरणतया जेरूसलम मे अल अक्सा मसजिद के अग्निकाण्ड पर वार्तालाप के लिये जब 22 सितम्बर 1969 को इस्लामी देशो का शिखर सम्मेलन रबात मे हुआ तो पहले तो पाकिस्तान के विरोध पर भारत को निमन्त्रित नही किया गया और निमन्त्रण देने के बाद भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के साथ जो व्यवहार किया गया वह भारत राष्ट्र का अपमान था । अर्थात पाकिस्तान के राष्ट्रपति याह्या खा के अनुरोध पर भारत को सम्मेलन से निष्कासित कर दिया गया ।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत पश्चिमी एशियायी राष्ट्रों के सम्बन्ध एक तरफा मित्रता के रहे हैं। भारत को इनमे अधिक यथार्थवादी और व्यावारिकतावादी होने की आवश्यकता है।

## समीक्षा प्रश्न
### ( Review Questions )

1 *भारत विदेश नीति की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।*

2. उन सिद्धान्तो का जो भारतीय विदेश नीति के आधार समझे जाते है परीक्षण कीजिये। आपके विचार मे इन सिद्धान्तो का कहा तक व्यवहार मे पालन किया गया है ?

3 कश्मीर विवाद के सन्दर्भ मे 1947 से आज तक भारत पाकिस्तान सम्बन्धो की व्याख्या कीजिये।

4 भारत के उसके पडोसी देशो से, मुख्यतया चीन और पाकिस्तान से, सम्बन्धो का विवरण कीजिये।

5 'सन् 1971 मे बगला देश का उदय भारत की धर्म निरपेक्ष नीति की सफलता है" इसके सन्दर्भ मे भारत बगला देश सम्बन्धो पर एक निबन्ध लिखिये।

6 नेहरू काल और उत्तर नेहरू काल की भारतीय विदेश नीति मे क्या कोई अन्तर आया है ? यदि कोई अन्तर है तो उसका भारत की शान्तिवादी और गुट निरपेक्षता की नीति के सन्दर्भ मे विवरण कीजिये।

7 सक्षिप्त टिप्पणिया लिखिये—(i) असलग्नता की नीति, (ii) पचशील (iii) कश्मीर समस्या (iv) भारत सोवियत शान्ति, मैत्री और सहयोग सन्धि।

---

# Bibliography


| | | |
|---|---|---|
| 1 | Alexandrowics C H | Constitutional Development in India |
| 2 | Austin, Granville | The Indian Consitution Corner Stone of a Nation |
| 3 | Azad Maulana Abul Kalam | India Wins Freedom |
| 4 | Aziz, K K | The Making of Pakistan |
| 5 | Bahadur Dr Lal | The Muslim League Its History Activities and Achievements |
| 6 | Bannerjee, Surendra Nath | A Nation in the Making |
| 7 | Bose S C | The Indian Struggle |
| 8 | Chand, Tara | History of the Freedom Movement in India, Vols I to IV |
| 9 | Chatterji Amiya | The Constitutional Development of India |
| 10 | Chintamani, C Y | Indian Politics Since the Mutiny |
| 11 | Chirol | Indian Unrest |
| 12 | Constituent Assembly | Debates |
| 13 | Coupland | The Indian Problem |
| 14 | Garrat | An Indian Commentary |
| 15 | Gopal, Krishna | One Party Dominance |
| 16 | Gopal Ram | How India Struggled for Freedom |
| 17 | Gupta D C | Indian National Movement and Constitutional Development |
| 18 | Haqqi S A H | Union State Relations in India |
| 19 | Hardgrave Jr, Robert L | India Government and Politics in a Developing Nation |
| 20 | Jain, M P | Indian Constitutional Law |
| 21 | Johari, J C | Indian Government and Politics |
| 22 | Kaul and Shakdher | Practice and Procedure of Parliament |
| 23 | कश्यप, सुभाष | [illegible] |
| 24 | Keith, A B | A Constitutional History of India |
| 25 | Kothari Rajni | Politics in India |
| 26 | नारायण, डा० इकबाल | [illegible] |
| 27 | Narain, Dr Iqbal | Twilight and Dawn |

| | | |
|---|---|---|
| 28 | Majumdar, J C | History of Freedom Movement in India |
| 29 | Markandan, K C | The Amending Process and Constitutional Amendment in the Indian Constitution |
| 30 | Mehta & Patwardhan | The Communal Triangle |
| 31 | Morris Jones W H | Parliament in India |
| 32 | Morris Jones W H | The Government and Politics of India |
| 33 | Munshi K M | Advent of Independence |
| 34 | Palmer, Norman D | The Indian Political System |
| 35 | Pradhan | India's Struggle for Swaraj |
| 36 | Punniah K V | The Constitutional History of India |
| 37 | Pylee, M V | Constitutional Government in India |
| 38 | Sharma B M | The Republic of India |
| 39 | Shrinivasan N | Democratic Government in India |
| 40 | Singh, G N | Landmarks in Indian Constitutional and National Movement |
| 41 | Sittaramayya Dr Pattabhi | History of the National Movement in India |
| 42 | Varma, Dr V P | Modern Indian Political Thought |
| 43 | Weiner, Myron | Party Politics in India |
| 44 | Zakarias | Renascent India |